प्रकाशक की ओर से

सम्राट विक्रमादित्य के प्रतिबोधक प्रखरवादी श्रीमद् सिद्धसेनदिवाकरसूरीश्वरजी महाराज विरचित 'सन्मतितर्क-प्रकरण' की तर्कपंचानन श्रीमद् अभयदेवसूरीश्वरजी महाराज विरचित 'तत्त्वबोधविधायिनी' नामक विशद संस्कृत व्याख्या का सारभूत हिन्दीविवेचन (प्रथम खण्ड) प्रगट करते हुए आज हमारे आनन्द की कोई सीमा नही है।

सन्मतितर्कप्रकरण और उसकी संस्कृत व्याख्या दार्शनिक चर्चाओं का महासागर है। तत्त्वपिपासुओ के लिये सुधाकुंड है। अनेकान्तवाद के रहस्य को हस्तगत करने के लिये तेजस्वी प्रकाशदीप है। एकान्तवाद की हेयता को समझने/समझाने के लिये उत्तम साधन ग्रन्थ है। व्याख्याग्रन्थ की रचना को प्रायः सहस्र वर्ष बीत चुके है। इतने काल की अवधि मे श्रीमद् वादिवेताल श्री शान्तिसूरिजी महाराज, वादीदेवसूरिजी महाराज, महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज एवं पूज्य आत्मारामजी महाराज आदि अनेक महनीय महापुरुषो ने इस व्याख्याग्रन्थ का पर्याप्त लाभ उठाया है। किन्तु आज ऐसा युग आ गया है कि मुद्रित होने के बाद भी इस ग्रन्थरत्न का पठन-पाठन व्युच्छिन्नप्राय हो गया है। इसके दो कारण हैं-एक ओर बहुत ही अधिकृत लोगों की रुचि जितनी अन्यान्य शास्त्रों के पठन-पाठन में दिखती है उतनी ऐसे महान् ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन में नही दिखाई रही है। दूसरी ओर व्याख्या ग्रन्थ ऐसा तर्क जटिल है कि वर्तमान मे या तो कदाचित् कोई उसको पढना चाहे तो भी न स्वय पढ सकता है, न उसको पढाने वाला भी सुलभ है।

दर्शनप्रभावक ऐसे महनीय ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा विलुप्त न हो जाय यह सोचना श्री जैन शासन के अधिकृत आचार्य महाराज आदि के लिए आवश्यक हैं। परम सौभाग्य की बात है कि कर्मशास्त्रनिष्णात सिद्धान्तमहोदधि स्व. आचार्य भगवत श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज तर्कशास्त्रो के भी पठन-पाठन मे स्वयं रुचि व प्रयत्नशील होने से आप के द्वारा तैयार किये गए शिष्यरत्न में से एक न्यायविशारद और अनेको को ग्रन्थ की वाचना देने मे कुशल सिद्धान्त प्रिय आचार्यदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज के दिल मे इस ग्रन्थरत्न के अध्ययन को पुनर्जीवित करने की तमन्ना हुयी और व्याख्याग्रन्थ का अधिकृत मुमुक्षुवर्ग सरलता से अध्ययन कर सके इसलिये व्याख्याग्रन्थ के ऊपर सरल विवरण निर्माण करने का शुभ निर्णय कर लिया। किन्तु बहुविध शासनकार्य मे निरंतर निमग्न पूज्यश्री को बडी चाह होने पर भी समय का अवकाश नही मिलता था तो आखिर उन्होने इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये अपने प्रशिष्य रत्न सिद्धान्तदिवाकर आचार्यश्री विजय जयघोषसूरिजी महाराज के अन्तेवासी मुनिश्री जयसुन्दरविजयजी महाराज को अन्तर के आशीर्वादपूर्वक सरल विवरण के निर्माणार्थ प्रेरणा की। दूसरी और हमारे श्री संघ के (शेठ मोतीशा लालबाग जैन ट्रस्ट-बम्बई के ट्रस्टीओ को) ऐसे बडे ग्रन्थरत्न के मुद्रण प्रकाशन के

लिये प्रेरणा दी। श्रुतोद्धार के ऐसे महान् कार्य के अपूर्व लाभ को देखकर हमारे ट्रस्ट ने उक्त बहुमूल्य प्रेरणा का हर्ष से स्वागत किया और ट्रस्ट के ज्ञाननिधि मे से हिन्दी विवरणसहित मूल और टीकाग्रन्थ के मुद्रण प्रकाशन के लिये एक योजना बनायी गयी। उसका यह शुभ नतीजा है कि आज हिन्दी विवेचन से अलकृत मूलसहित व्याख्याग्रन्थ के सपूर्ण प्रथम खण्ड का मुद्रण-प्रकाशन करने के लिये हम सौभाग्यवत बने है।

दार्शनिक चर्चा के क्षेत्र मे सन्मतितर्कव्याख्या ग्रन्थ का अनूठा स्थान है। जैन दर्शन मे इस ग्रन्थरत्न की दर्शन प्रभावक शास्त्रो मे गिनती की गयी है। इतना ही नही किन्तु सम्यग्दर्शन की विशेष निर्मलता सम्पादनार्थ साधनरूप मे इस शास्त्र के अध्ययन को अति आवश्यक माना गया है। अनेकान्तवादी जैनदर्शन की भिन्न भिन्न चर्चास्पद विषयो मे क्या मान्यता है यह स्पष्ट जानने के लिये व्याख्याग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अधिकृत मुमुक्षु अध्येताओ को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिये ऐसे ग्रन्थो को सुलभ बनाना इस काल मे अत्यत आवश्यक है। ऐसी आश्यकता की पूर्ति इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन द्वारा करने का हमे जो पुण्य अवसर मिला है वह निस्सदेह हमारे लिये असीम आनन्द का विषय है।

सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात सुविशालगच्छाधिपति निरतरस्वाध्यायमग्न स्व. आचार्यदेव श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज साहेब के पट्टालकार न्यायविशारद उग्रतपस्वी आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज के हम अत्यन्त ऋणी हैं जिन्होने बहुमूल्य प्रेरणा देकर इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन के लिये हमे प्रोत्साहित किया। तदुपरात, इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन मे पू. पन्यास श्री राजेन्द्रविजयजी गणिवर्य की भी हमे पर्याप्त प्रेरणा एव सहायता प्राप्त हुयी है। तथा, पू मुनिश्री जयसुन्दरविजयजी महाराजने पूज्यपाद आचार्यभगवग के आदेशानुसार प्रथम खड के हिन्दी विवेचन का निर्माण किया, तथा हिन्दी विवेचन सहित मूल-व्याख्याग्रन्थ (प्रथम खण्ड) के सम्पादन का भी कार्य श्रुतभक्ति के शुभभाव से किया है। हमारे पर इन सब महात्माओ के अगणित उपकार है जिन को हम कभी बिसर नही सकेंगे।

गौतम आर्ट प्रिन्टर्स, ब्यावर (राजस्थान) के व्यवस्थापक श्री फतहचन्दजी जैन को धन्यवाद देना हमारा कर्त्तव्य है। दिलचस्पी के साथ धार्मिक ग्रन्थ के मुद्रण मे उन्होने भावपूर्वक उत्साह दिखाया है यह अनुमोदनीय है। साक्षात् या परम्परया जिन सज्जनो की ओर से इस ग्रन्थरत्न के मुद्रण एव प्रकाशनादि मे हमे प्रेरणा—आशीर्वाद एव सहायता प्राप्त हुयी है उन सभी के प्रति हम कृतज्ञताभाव धारण करते है। द्वितीयादि खडो के प्रकाशन की हमारी भावना अभग है। आशा है कुछ ही वर्षों मे हम उनके लिये भी सफल होगे। अधिकृत मुमुक्षुवर्ग ऐसे उत्तमग्रन्थरत्न के स्वाध्याय द्वारा जैन शासन की प्रभावना करके आत्मश्रेय. को प्राप्त करें यही एक शुभेच्छा।

—शेठ मोतीशा लालबाग ट्रस्ट के ट्रस्टीगण
एवं
लालबाग उपाश्रय आराधक जैन संघ

प्राक्कथन

—प० पू० आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

दुष्काल में घेवर मीले वैसा यह 'सम्मति-तर्क' टीका-हिंदी विवेचन ग्रन्थ आज तत्वबुभुक्षु जनता के करकमल में उपस्थित हो रहा है। आज की पाश्चात्य रीतरसम के प्रभाव में प्राचीन संस्कृत-प्राकृत शास्त्रों के अध्ययन में व चिंतन-मनन में दु खद औदासीन्य दिख रहा है। कई भाग्य-वानो को तत्त्व की जिज्ञासा होने पर भी संस्कृत, प्राकृत एवं न्यायादि दर्शन के शास्त्रों का ज्ञान न होने से भूखे तड़पते है, ऐसी वर्तमान परिस्थिति मे यह तत्त्वपूर्ण शास्त्र प्रचलित भाषा में एक पकवान्न-थाल की भांती उपस्थित हो रहा है।

दरअसल राजा विक्रमादित्य को प्रतिबोध करने वाले महाविद्वान् जैनाचार्य श्री सिद्धसेन-दिवाकर महाराजने जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद-अनेकांतवाद का आश्रय कर एकांतवादी दर्शनों की समीक्षा व जैनदर्शन की सर्वोपरिता की प्रतिष्ठा करने वाले श्री संमतितर्क (सन्मति तर्क) प्रकरण शास्त्र की रचना की। इस पर तर्कपंचानन वादी श्री अभयदेवसूरिजी महाराजने विस्तृत-व्याख्या लिखी जिसमें बौद्ध न्याय-वैशेषिक-सांख्यमीमांसकादि दर्शनों की मान्यताओं का पूर्वपक्षरूप मे प्रतिपादन एवं उनका निराकरण रूप में उत्तर पक्ष का प्रतिपादन ऐसी तर्क पर तर्क, तर्क पर तर्क की शैली से किया है कि अगर कोई तार्किक बनना चाहे तो इस व्याख्या के गहरे अध्ययन से बन सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु अन्यान्य दर्शनों का बोध एवं जैन दर्शन की तत्त्वों के बारे में सही मान्यता एवं विश्व को जैनधर्म की विशिष्ट देन स्वरूप अनेकान्तवाद का सम्यग् बोध प्राप्त होता है।

इस महान शास्त्र को जैसे जैसे पढते चलते है वैसे वैसे मिथ्या दर्शन को मान्य विविध पदार्थ व सिद्धान्त कितने गलत है इसका ठीक परिचय मिलता है, व जैन तत्त्व पदार्थो का विशद बोध होता है। इससे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, और प्राप्त सम्यग्दर्शन निर्मल होता चलता है। सम्यग्दर्शन की अधिकाधिक निर्मलता चारित्र की अधिकाधिक निर्मलता की संपादक होती है। इसीलिए तो 'निशीथ-चूर्णि' शास्त्र में संमति-तर्क आदि के अध्ययनार्थ आवश्यकता पडने पर आधा कर्म आदि साधु-गोचरी-दोष के सेवन में चारित्र का भंग नहीं ऐसा विधान किया है। यह संमति-तर्क शास्त्र बढिया मनः संशोधक व तत्त्व-प्रकाशक होने से इस पंचमकाल में एक उच्च निधि समान है। मुमुक्षु भव्य जीव इसका बार बार परिशीलन करें व इस हिन्दी विवेचन के कर्ता मुनिश्री अन्यान्य तात्त्विक शास्त्रों का ऐसा सुबोध विवेचन करते रहे यही शुभेच्छा !

वि० स० २०४० आषाढ कृ० ११

आचार्य विजय
भुवनभानुसूरि

सम्पादकीय भावोन्मेष

परमात्मा के असीम अनुग्रह से प्रथम बार हिन्दी विवेचन सहित सम्मतिप्रकरण के मूल और व्याख्याग्रन्थ के प्रथम खण्ड का सविवरण सम्पादन पूरा हो रहा है यह मेरे लिये आनन्दानुभूति का त्यौहार है। करिबन ३ वर्ष पहले पूज्यपाद गुरु भगवंत आचार्य श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से इस कार्य का मंगल प्रारम्भ हुआ था।

उस वक्त मूल और व्याख्या के प्रथम खण्ड के तीन सस्करण विद्यमान थे। (१) वाराणसेय श्री जैन यशोविजय पाठशाला की ओर से श्री यशोविजयग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'सम्मत्याख्यप्रकरण' इस नाम से सर्व प्रथम २०० पृष्ठ वाला प्रथम भाग वीर स० २४३६ मे छपा था जिस मे "विशेषणस्य सयोगविशेषस्य रचनालक्षणस्याऽसिद्धेः तद्वतो विशेष्यस्याप्यसिद्धिः" (प्रस्तुत सस्करण पृष्ठ ४६४-२) यहाँ तक व्याख्या पाठ विद्यमान था।

(२) गुजरात विद्यापीठ की ओर से सम्पूर्ण व्याख्या सहित इस ग्रन्थ का प्रथम खण्ड वि० स० १९८० मे प्रगट किया गया-जिसका सम्पादन प० सुखलाल और प० बेचरदास के युगल ने किया था। इस संस्करण मे पूर्व मुद्रित प्रथम खड (अपूर्ण) का कोई उल्लेख नही है।

(३) अमदाबाद की जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा की ओर से प्रताकार प्रथम खण्ड व्याख्यासहित वि० स० १९९६ मे प्रगट हुआ-जिसका सम्पादन मुनिश्री शिवानन्दविजय महाराज ने किया था। इस सस्करण मे पूर्व के किसी संस्करण का उल्लेख नही है और ग्रन्थ को देखने से यह अनुमान होता है कि मुनि श्री शिवानन्दविजयजी ने स्वतन्त्र परिश्रम से ही इसका सम्पादन किया होगा।

प्रस्तुत चौथे सस्करण मे दूसरे-तीसरे सस्करण के आधार से ही मूल और व्याख्या का पुनर्मुद्रण किया गया है, फिर भी अध्येतावर्ग की अनुकूलता के लिये बहुत ही छोटे छोटे परिच्छेदो में ग्रन्थ को विभक्त किया गया है, किन्तु उस वक्त यह पूरा खयाल रखा है कि कही भी संदर्भक्षति न हो। तदुपरात, प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर ग्रन्थ के मुख्यविषय के शीर्षक लगाये गये हैं। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के प्रारम्भ में सामान्यतया ननु, अथ तथा इति चेत्-उच्यते इत्यादि सकेत व्याख्याग्रन्थ में कही पर होते है तो कही नही भी होते-इस स्थिति मे पूर्वोत्तर पक्ष की पहचान के लिये वाक्यप्रारम्भ के आद्यशब्द के लिये भिन्न टाइप का उपयोग किया गया है। तदुपरांत, जहां जहा व्याख्या में 'ऐसा पहले कह दिया है' इस प्रकार का अतिदेश किया गया है उस स्थान को देखने के लिये हिन्दी विवेचन मे ही [ ] ब्रेकेट में पृष्ठ और पक्ति नम्बर दिये गये है, इसलिये दूसरे सस्करण में जो नीचे टिप्पणीयाँ दी गयी थी उनकी यहाँ आवश्यकता नही रही है, फिर भी अर्थ स्पष्टीकरण के लिये कुछ आवश्यक टीप्पण हमने स्वय लिखकर रखी है जो पूर्व संस्करण मे नही है।

पाठान्तरो का उल्लेख हमने यहाँ छोड दिया है, क्योकि हिन्दी विवेचन में अर्थसंगति के लिये जो पाठ उचित लगा उसी का यहाँ सग्रह किया गया है, फिर भी कही कही सदिग्ध पाठान्तर भी लिए गए हैं। इतना विशेष उल्लेखनीय है कि, पाठशुद्धि के लिये भूतपूर्व सम्पादको द्वारा अत्यधिक प्रयत्न किये जाने पर भी सामग्री के अभाव मे कितने ही पाठो को वैसे ही अशुद्ध छोड दिये थे, और ऐसे स्थलो में अन्य अन्य प्रतो मे जो पाठान्तर थे उनका उन्होने टिप्पणी मे उल्लेख कर रखा था। अशुद्ध पाठ के आधार से विवेचन कैसे किया जाय ? इस समस्या को हल करने के लिये हमने अनेक स्थल मे हस्तप्रतों की खोज की। लिम्बडी जैन सघ के भण्डार की प्रति का भूतपूर्व सम्पादको ने खास उपयोग किया नही था, किन्तु अर्थसगत पाठ की खोज के लिये कुछ स्थान मे यह प्रति हमारे लिये

उपयुक्त सिद्ध हुयी है (द्र. पृ. ३२२-४८१ इत्यादि)। इतना होने पर भी एक-दो स्थल मे ऐसे अशुद्ध पाठ थे जो हस्तप्रत के आधार से शुद्ध करना अशक्य था, वहाँ उस पाठ को वैसा ही रखना उचित समझा है। वैसे पाठो के ऊपर गहराई से ऊहापोह करके शुद्धपाठ कैसा होना चाहिये यह हमने नीचे टिप्पण मे दिखाया है और उसी के अनुसार हमने उसका विवेचन किया है (उदा० द्र० पृ० ४८२) यह पाठक वर्ग ध्यान मे रखेगे।

अध्ययन मे सरलता के लिये, व्याख्या और हिन्दी विवेचन में मूल और उत्तर विकल्पों की स्पष्टता के लिये A-B....इत्यादि अक्षरो का प्रयोग किया गया है। व्याख्याकार की शैली ऐसी है कि पूर्वपक्षी के प्रतिक्षेप मे पहले वे तीन-चार विकल्प प्रस्तुत करते है-उसके बाद एक एक विकल्प मे तीन-चार उत्तर विकल्प और उन एक एक उत्तर विकल्पो के ऊपर भी अनेक उत्तरोत्तर विकल्प प्रस्तुत करते है-ऐसे स्थलो मे अध्ययन कर्त्ता को 'यह उत्तर विकल्प कौन से मूल विकल्प का है ?' यह जानने मे A-B....इत्यादि अक्षरो से बहुत ही सुविधा रहेगी।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्त्तिक और तत्त्वसग्रह ग्रन्थ के जितने उद्धरण इस भाग मे आते हैं उनके लिये पूर्वसम्पादित सस्करण मे प्रमाणवार्त्तिक श्लोक क्रमांकादिक का निर्देश नही था जो इस संस्करण मे शामिल किया गया है। यद्यपि भूतपूर्व सम्पादक पडित युगल अपने पांडित्य के लिये विख्यात रहने पर भी उनके सम्पादनादि मे कुछ त्रुटिया अवश्य रह गयी है जिनका विस्तृत उल्लेख करना हम आवश्यक नही समझते, फिर भी सम्मति तर्कप्रकरण आद्य गाथा का उन्होने जो अनुवाद प्रस्तुत किया है उसके लिये कुछ आवश्यक कहना पडेगा कि या तो आद्य गाथा के अनुवाद मे उन्होंने गलती की है या तो जानबूझ कर उन्होने व्याख्याकार का अनुसरण न करके स्वमति कल्पित अर्थ लिख दिया है। मूल आद्य गाथा और उसका उन लोगो का किया हुआ अनुवाद इस प्रकार है —

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ।। १ ।।

अर्थः—भव-रागद्वेषना जितनार जिनोनु अर्थात् अरिहंतोनु शासन-द्वादशांग शास्त्रसिद्ध अर्थात् पोताना गुणथीज प्रतिष्ठित छे। केमके ते अबाधित अर्थोनुं स्थान-प्रतिपादक छे. पासे आवेलाओने अर्थात् शरणार्थीओने ते सर्वोत्तम सुखकारक छे अने एकान्तवादरूप मिथ्या मतोनु निराकरण करनारुं छे।"

यहाँ हमारा कथन यह है कि 'ठाणं' पद का अन्वय सिद्धत्थाणं पद के साथ नही है, किन्तु अणुवमसुहमुवगयाण पद के साथ है और व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरिजी ने 'अनुपमसुखवाले स्थान मे गये हुए' ऐसा अर्थ कर के जिनो का विशेषण दिखाया है। तात्पर्य, 'स्थान' शब्द का अन्वय 'उपगतानाम्' इस पद के साथ किया है (द्र पृ. ५३२) और इसी अर्थ के आधार पर ही आत्मविभुत्ववाद और मुक्ति सुखवाद को खड़ा किया जा सकता है। जब कि पडित युगल ने 'स्थान' शब्द का 'सिद्धार्थानाम्' पद के साथ अन्वय करके अर्थ किया है, फलतः उसमे से आत्मविभुत्ववाद का उत्थान कैसे किया जाय यह प्रश्न ही बन जाता है। ऐसा होने का कारण संभवतः ऐसा है कि पडितयुगल को ऐसा सशय हुआ होगा कि-'ठाण' शब्द को 'उवगयाण' के साथ जोडने पर 'सिद्धत्थाण' पद का अन्वय किस के साथ करना ? किन्तु टीकाकार महर्षि ने 'सिद्धत्थाण" पद का अन्वय 'शासन' पद के साथ ही किया है और तदनुसार हिन्दी विवेचन में इसका अर्थ स्पष्ट लिखा है (द्र. पृ. ४)।

हालाँ कि, इस संस्करण के मुद्रण समय मे अध्ययन कर्त्ता को सम्पूर्ण सुविधा रहे इस बात को ध्यान मे रखकर इस संस्करण को अतिसमृद्ध करने के लिये शक्य प्रयास किया है फिर भी जैन मुनि की एक स्थल मे चार मास से अधिक स्थिरता प्राय. नही होती यह पाठको के खयाल मे ही होगा। इस सस्करण मे शामिल किये गये हिन्दी विवेचन के प्रारम्भ से लेकर मुद्रण किये जाने तक करीब १५०० से २००० मील की पद यात्रा हो चुकी है-विहार मे आवश्यकता के अनुसार सभी ग्रन्थ सनिहित नही रख सकते, इस स्थिति मे, इस सस्करण के सम्पादन मे अपूर्णता और त्रुटि का सम्भव निर्मूल तो नही है। फिर भी पूर्व सस्करण की अपेक्षा इस सस्करण से विद्वानों को अधिक सतोष होगा यह विश्वास है।

हिन्दीविवेचन करते समय अनेक स्थलों में बहुविध कठिनता का अनुभव हुआ। क्लिष्टस्थल के स्पष्टीकरण के लिये घटो तक सोचना पडता था, फिर भी स्पष्टता नही होती थी, आखिर परमात्मा, श्रुतदेवता, ग्रन्थकार-व्याख्याकार और गुरुभगवत के चरणो मे भाव से सिर झुका कर चिंतन करने पर यह चमत्कार होता था कि देर तक सोचने से भी जो स्पष्ट नही होता था वह तुरन्त ही स्पष्ट हो जाता था, अथवा तो उसके स्पष्टीकरण के लिये आवश्यक कोई ग्रन्थ अकस्मात् ही कही न कही से मेरे पास आ जाता था और उसका जिज्ञासा से अवलोकन करने पर किसी आवश्यक विषय मे स्पष्टता मिल जाती थी। इतना होने पर भी कुछ दो-चार स्थल ऐसे भी होगे जिस की स्पष्टता करने मे मैं पूरा सफल नही हुआ हू यह मजबूरी की बात है।

हिन्दी विवेचन और इस भाग का सम्पादन करते समय परमकृपालु परमात्मा और श्री श्रुतदेवता की करुणादृष्टि सतत मेरे पर बरसती रही होगी, अन्यथा यह कार्य मेरे लिये अशक्य ही बना रहता। एतदर्थ परमकृपालु परमात्मा और श्री श्रुतदेवता के प्रति सदैव कृतज्ञ बने रहना यह मेरा परम कर्त्तव्य समझता हूँ। अथ च, सिद्धान्तमहोदधि-कर्मसाहित्यनिष्णात आचार्य भगवंत स्व. प० पू० श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज की कृपादृष्टि के प्रति जितना भी कृतज्ञताभाव धारण किया जाय वह कम ही रहेगा। तदुपरांत. न्यायविशारद उग्रतपस्वी प०-पू० आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज मेरे लिये जगम कल्पवृक्षतुल्य है। उन्ही की पवित्र छाया मे बैठ कर इस विवेचन-सम्पादन के लिये मैं कुछ समर्थ बन सका हूँ। तर्कशास्त्र का सुचारु रूप से अभ्यास यह आपकी ही अभीदृष्टि का सत्फल है। प० पू० शान्तमूर्त्ति स्व मुनिराज श्री धर्मघोषविजयजी महाराज के शिष्यरत्न, सिद्धान्तदिवाकर, सकलसघश्रद्धेय आचार्य गुरुदेव श्री विजयजयघोषसूरिजी महाराज का वात्सल्यपूर्ण सहकार इस कार्य मे साद्यन्त अनुवर्त्तमान रहा यह मेरा परम सौभाग्य है। अन्य अनेक मुनि भगवतो का इस कार्य में अनेकविध सहयोग प्राप्त हुआ है जिसको कभी बिसर नही सकते।

शेठ श्री मोतीशा लालबाग ट्रस्ट की ओर से ज्ञाननिधि मे से इस ग्रन्थ के मुद्रणादि का सम्पूर्ण भार वहन किया गया है, तथा गौतम आर्ट प्रिन्टर्स, ब्यावर (राज.) के व्यवस्थापक फतहचद जैन ने इस ग्रन्थ के मुद्रण मे जो दिलचस्पी दिखायी है-एतदर्थ ये दोनो धन्यवाद के पात्र है। तदुपरांत लिंबडी (सौराष्ट्र) नगर के निवासी जैन सघ श्री आणदजी कल्याणजी सस्था के ज्ञान भडार से अमूल्य हस्तप्रत की सहायता मिली यह भी अनुमोदनीय है। ऐसे महान् ग्रन्थरत्न का अध्ययन-अध्यापन द्वारा अधिकृत मुमुक्षुवर्ग आत्मश्रेय सिद्ध करे यही एक शुभेच्छा।

वि० स० २०४० — लि०—

पूना (महाराष्ट्र) — जयसुन्दरविजय

प्रस्तावना

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज के विरचित द्रव्यगुणपर्यायरास आदि द्रव्यानुयोग के ग्रन्थो का जब मैं अध्ययन करता था उसी काल से सम्मतिप्रकरण ग्रन्थ के अध्ययन की लिप्सा अन्त करण मे जग ऊठी थी चूंकि उपाध्यायजी महाराज के अनेक ग्रन्थो मे सम्मतिप्रकरण ग्रन्थ मूल और व्याख्या मे से अनेक अंशो का उद्धरण वार बार आते थे। यद्यपि मेरी यह गुंजाईश ही नही कि ऐसे बडे दिग्गज विद्वान् दिवाकरसूरिजी महाराज के ग्रन्थ और व्याख्या का विवेचन कर सकूँ। फिर भी जो कुछ हुआ है वह नि.सदेह गुरुकृपा का चमत्कार ही मानना चाहिये। स्वय उपाध्यायजी महाराज भी श्री सीमधरस्वामी की स्तवना मे कहते हैं—

> जेहथी शुद्ध लहिये सकल नयनिपुण सिद्धसेनादिकृत शास्त्रभावा।
> तेह ए सुगुरुकरुणा प्रभो! तुज सुगुण वयण-रयणाकरि मुज नावा ।।

अर्थः-हे प्रभो! आपके गुणालकृत वचनरूपी समुद्र मे तैरने के लिये हमारे पास एकमात्र सद्गुरु की करुणारुपी नौका ही है जिससे कि हम सकल नयवाद में निपुण श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी के बनाये हुए सम्मति आदि शास्त्रो के विशुद्ध भावों के किनारे पहुच सकते हैं।

वास्तव मे, चार अनुयोग मे द्रव्यानुयोग की निर्विवाद प्रधानता है, और गृहस्थो के लिये भी द्रव्यानुयोग का अधिकारोचित ज्ञान सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिये आवश्यक माना गया है तो गृहत्याग करके साधु बनने वाले पुण्यात्माओ के लिये तो पूछना ही क्या? उनके लिये तो द्रव्यानुयोग का सागोपाग अध्ययन परम आवश्यक है, अन्यथा उनका चरण-करण का सार उन्होने नही पाया है। महोपाध्यायजी स्वय कहते है—

"विना द्रव्य अनुयोगविचार, चरण-करणनो नही को सार" (द्रव्य-गुण-पर्यायनो रास १-२) द्रव्यानुयोग की महिमा के गुण-गान मे पू० उपाध्यायजी कितना भार देकर कहते है-देखिये, (-द्रव्य-गुणपर्यायरास टवा मे,)—

"शुद्धाहार-४२ दोषरहित आहार, इत्यादिक योग छइ ते तनु कहेता-नान्हा कहिइ। द्रव्य-अनुयोग जे स्व समय-पर समय परिज्ञान ते मोटो योग कहिओ।"

"ए योगि-द्रव्यानुयोगविचाररूप ज्ञानयोगइ जो रग-असग सेवारूप लागई-समुदायमध्ये ज्ञाना-भ्यास करता कदाचित् आधाकर्मादि दोष लागइ, तोहि चरित्रभग न होइ, भावशुद्धि बलवंत छइ, तेणइ इम पञ्चकल्पभाष्यइ भणिउ।"

"द्रव्यादिकनी चिताइ शुक्लध्याननो पणि पार पामिइ।"

"चरण करणानुयोगदृष्टि निशीथ-कल्प-व्यवहार-दृष्टिवादाध्ययनइं जघन्यमध्यमोत्कृष्ट गीतार्थ जाणवा। द्रव्यानुगोदृष्टि ते सम्मति आदि तर्कशास्त्रपारगामी ज गीतार्थ जाणवो, तेहनी निश्राइ ज अगीतार्थनइ चारित्र कहिवु।"

इस वचन सदर्भ से यह फलित होता है कि दृष्टिवाद के अभाव मे सम्मति आदि तर्कशास्त्रो के द्रव्यानुयोग के ज्ञाता हो ऐसे गुरु की निश्रा मे रहने पर ही अगीतार्थ मे चारित्र की सम्भावना रहती है अन्यथा नही। निशीथचूर्णि आदि ग्रन्थो मे भी दर्शन प्रभावक ❀ ग्रन्थरत्नो मे श्री सम्मति तर्क प्रकरण आदि ग्रन्थो का निर्देश किया गया है इसलिये आज या कल, किसी भी काल मे जैन मुनिवर्ग के लिये द्रव्यानुयोग और सम्मति प्रकरण आदि ग्रन्थ का अध्ययन कितना उपादेय है यह विस्तार से कहने की आवश्यकता नही रहती। उपर्युक्त अवतरणो को पढने से कोई भी विद्वान् यह समझ सकेंगे।

ग्रन्थकार परिचयः—

इस ग्रन्थ के मूलकार दिवाकरउपाधिविभूषित आचार्य श्री सिद्धसेनसूरीश्वरजी महाराज है। परम्परा से यह सिद्ध है कि वे सवत् प्रवर्त्तक विक्रमादित्य के प्रतिबोधक थे। आधुनिकवर्ग मे भी माना जाता है कि ये विक्रम की चौथी शताब्दी के बाद तो नही ही हुए, कारण, वि. स. ४१४ मे बौद्धो का पराजय करने वाले तार्किक मल्लवादीसूरिजी ने सम्मतिग्रन्थ के ऊपर करीब ७०० श्लोकपरिमित व्याख्या बनायी थी। अत. निश्चित है कि दिवाकरसूरिजी उनके पहले ही हुए है। तदुपरांत, प्राचीन ऐतिहासिक प्रबन्धग्रन्थो मे भी विक्रमादित्य नृप के साथ उनका घनिष्ट सम्बन्ध दिखाया जाता है इससे भी उनका समय वीर निर्वाण की पाचवी शताब्दी ठीक ही है। सम्मति प्रकरण के अतिरिक्त उन्होंने बत्रीश बत्रीशीयो का और न्यायावतार बत्रीशी का निर्माण किया है, जो जैन शासन का अमूल्य दार्शनिक साहित्यनिधि है, निश्चित है कि ये श्वेताम्बर परम्परा के ही आचार्य श्री वृद्धवादीसूरिजी के शिष्य थे। फिर भी कई दिगम्बर विद्वान उन्हे यापनीय परम्परावाले दिखा रहे है। दिगम्बर अनेक आचार्यो ने सम्मतिग्रन्थ आदि का पर्याप्त सहारा लिया है, श्वेताम्बर परम्परा का शायद इससे कुछ गौरव बढ जाय ऐसे भय से उमास्वाति महाराज या दिवाकरसूरिजी को यापनीय परम्परा मे शामिल कर देना यह शोभास्पद नही है। दिवाकरसूरि महाराज जिनशासन के उत्तम प्रभावको मे गिने जाते हैं।

व्याख्याकार परिचयः—

इस ग्रन्थ के 'तत्त्वबोधविधायिनी' व्याख्या के रचयिता है तर्क पचानन आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी महाराज। नवागी टीकाकार से ये सर्वथा भिन्न है और उनके पहले हो गये है। इस व्याख्या के रचयिता तर्क पचानन श्री अभयदेवसूरिजी ये चन्द्रगच्छ के आचार्य श्री प्रद्युम्नसूरिजी महा-

❀ दसणगाही—दसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-संमतिमादि गेण्हतो असथरमाणे ज अकप्पिय पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थ (नि० पहले उद्देशक की चूर्णि)। [यहाँ 'सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख देखकर दिगम्बर विद्वान यह समझते हैं कि अकलककृत सिद्धिविनिश्चय निशीथचूर्णि से पुराना है-किन्तु यह भ्रमणा है। वास्तव मे यहाँ अकलक से भी पूर्ववर्त्ती शिवार्यकृत सिद्धिविनिश्चयग्रन्थ का निर्देश है-देखिये पू० मुनिराजश्री जबूविजय म० सपादित-स्त्रीमुक्ति-केवलिमुक्ति प्रकरण पृ० १९]

राज के पट्टालकार शिष्य थे। उत्तराध्ययन सूत्र के पाइय वृत्ति के निर्माता वादिवेताल श्री शान्ति-सूरिजी, जिन का स्वर्गवास वि०सं० १०९६ मे होने का प्रसिद्ध है, वे अभयदेवसूरि महाराज का प्रमाण-शास्त्र के गुरुरूप मे सबहुमान उल्लेख करते हैं। इसलिये व्याख्याकार का समय वि० सं० ९५० से १०५० की सीमा मे माना गया है। प्रवचनसारोद्धार के वृत्तिकार श्री सिद्धसेनसूरिजी अपनी प्रशस्ति मे, पार्श्वनाथ चरित्र के रचयिता श्री माणिक्यचन्द्रसूरिजी पार्श्वनाथ चरित्र की प्रशस्ति मे और प्रभावक चरित्र की प्रशस्ति मे वादमहार्णव (सम्मतिव्याख्या) के कर्त्ता के रूप में श्री अभय-देवसूरि महाराज का सबहुमान स्मरण किया गया है। सम्मतिप्रकरण की विस्तृत प्रौढ व्याख्या आप की अगाध प्रज्ञा का उन्मेष है।

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थयुगल के कर्त्ता दिगम्बर आचार्य श्री प्रभाचन्द्र का समय विद्वानो मे वि० सं० १००० से ११०० के वीच मे माना जाता है क्योकि वादीवेताल श्री शान्तिसूरिजी और न्यायावतारवार्तिक के कर्त्ता आ० श्री शान्तिसूरिजी ने उसका उल्लेख नही किया किन्तु स्याद्वादरत्नाकर के कर्त्ता श्री वादिदेवसूरिजी जो वि०स० ११४३ से १२२२ के वीच हुए उन्होने अपने ग्रन्थ मे अनेक स्थलो मे आ प्रभाचन्द्र का नाम लेकर खडन किया है, आचार्य प्रभाचन्द्र की उत्तरावधि का ठोस निर्णायक प्रमाण यही है। इससे व अन्य प्रमाणो से तर्क पचानन श्री अभयदेव-सूरिजी, दिगम्बर श्री प्रभाचन्द्र के पूर्वकाल मे ही थे यह निश्चित होता है। इससे यह कल्पना निरस्त हो जाती है कि 'आचार्य अभयदेवसूरि महाराज ने प्रमेयकमलमार्त्तण्डादिग्रन्थ के सहारे अपनी व्याख्या का निर्माण किया था।' प्रत्युत इसी कल्पना मे औचित्य है कि प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थों के निर्माण मे सम्मति व्याख्या का पर्याप्त उपयोग किया है। सम्मति व्याख्या और उस ग्रन्थयुगल मे जो समान पदावली है उनको परीक्षकदृष्टि से देखने पर भी उक्त निश्चय हो सकता है, क्योकि कही कही जो अनुमान प्रयोग अभयदेवसूरि महाराज प्राचीन ग्रन्थो के वाक्यसंदर्भो को लेकर विस्तार से करते हैं, वहाँ आ प्रभाचन्द्र उतने विस्तार को अनावश्यक मान कर सक्षेप कर देते हैं। दूसरी वात यह है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति की चर्चा अभयदेवसूरि महाराज सक्षेप से करते हैं जव कि आ. प्रभाचन्द्र बडे विस्तार से करते है। यदि सम्मति व्याख्याकार के समक्ष ग्रन्थयुगल रहता तव तो इतनी वडी व्याख्या मे वे प्रभाचन्द्र के युक्तिसदर्भो की विस्तार से आलोचना करना छोड नही देते।

ग्रन्थयुगल के सम्पादक ने यह भी एक कल्पना की है कि वादिदेवसूरि महाराज ने ग्रन्थयुगल से स्याद्वादरत्नाकर मे बहुत उतारा किया है। वास्तव मे यह भी निर्मूल कल्पना है, क्योकि वादिदेव-सूरि महाराज की रचना का आधार मुख्यवृत्ति से अनेकान्तजयपताका और सम्मति व्याख्या ही रहा रहा है अत ग्रन्थयुगल के साथ जो अनेक स्थलों मे समानता है वह सम्मतिव्याख्यामूलक है, किन्तु नही कि ग्रन्थयुगलमूलक।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने अपने अनेक ग्रन्थो मे सम्मतिवृत्तिकार के व्याख्याग्रन्थ मे से उद्धरण दिये है। अन्य भी अनेक ग्रन्थकारो ने सम्मतिव्याख्या का अनेक स्थल मे आधार लिया है। व्याख्याकार अभयदेवसूरि महाराज स्वय पाच महाव्रत के धारक एव सम्यक् पालक थे। उनको श्वेताम्बर जैन गगन को आलोकित करने वाले उज्ज्वल चन्द्र कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही है।

मूलग्रन्थ का परिचयः—

दार्शनिक ग्रन्थरत्नो मे सम्मतितर्कप्रकरण एव उसकी आ० श्री अभयदेवसूरिकृत 'तत्त्वबोधविधायिनी' व्याख्या का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मूलग्रन्थ का नाम 'सम्मतिप्रकरण' है फिर भी सम्मतितर्क' इस नाम से यह प्रकरण अधिक प्रसिद्ध है। कारण, यह ग्रन्थ तर्कप्रकरणरूप है इसलिये 'सम्मति-तर्क प्रकरण' इस तरह की प्राचीन काल मे उसकी ख्याति रही होगी, कालान्तर मे 'तर्क' शब्द का 'सम्मति' शब्द के साथ प्रयोग होने लगा और 'प्रकरण' शब्द अध्याहार रहने लगा तब से 'सम्मतितर्क' यह उस का सक्षिप्तरूप विख्यात हो गया। अलबत्ता 'सन्मति—अर्थात् सम्यक्त्व शुद्ध मति जिससे प्राप्त होती है वैसे तर्क सन्मतितर्क, इस व्युत्पत्ति से इस शास्त्र का एक नाम 'सन्मति' भी कही पढने मे आता है किन्तु अधिकतर प्राचीन आचार्यो ने 'सम्मति' नाम का ही विशेष उल्लेख किया है, 'सन्मति' नाम का नही। 'सगता मतिः यस्मात्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर भी 'सम्मति' नाम सान्वर्थ प्रतीत होता है। मुख्यतया यह ग्रन्थ जैन दर्शन के अनेकान्तवाद से सम्बद्ध है, किन्तु एकान्त के निरसनपूर्वक ही अनेकान्त की प्रतिष्ठा शक्य होने से यहाँ मूल ग्रन्थ मे सक्षेप मे न्याय-वैशेषिक-बौद्ध दर्शनो की समीक्षा भी प्रस्तुत है। तदुपरात, मूल ग्रन्थ मे द्रव्यार्थिकादि नय, सप्तभगी, तथा ज्ञानदर्शनाभेदवाद इत्यादि जैन दर्शन के अनेक विषयो की महत्त्वपूर्ण चर्चा की गयी है।

व्याख्याग्रन्थ परिचयः—

'तत्त्वबोधविधायिनी' व्याख्या करिब २५००० श्लोकाग्र परिमित है और यह दार्शनिक चर्चाओ का भडार है। उस काल में प्रचलित कई दार्शनिक चर्चास्पद विषयो की इसमे समीक्षा की गई है। अनेकान्त दर्शन की सर्वोत्कृष्टता की स्थापना यही व्याख्याकार का लक्ष्यबिन्दु है और उसमे वे सफल रहे है। व्याख्या की शैली प्रौढ एव गम्भीर है। प्रस्तुत प्रथम खंड मे सिर्फ एक ही मूल कारिका की व्याख्या और उसके हिन्दी विवरण को शामिल किया है। प्रथम खंड के विषयो का विहगावलोकन इस प्रकार है—

मूल कारिका के **'सिद्धं सासणं'** इस अंश की व्याख्या मे ज्ञान के स्वत. प्रामाण्य-परतः प्रामाण्य की चर्चा मे अनभ्यास दशा मे परतः प्रामाण्य की प्रतिष्ठा की गयी है। वेद की अपौरुषेयता का निराकरण, वेद के प्रामाण्य का निराकरण, ज्ञातृव्यापार के प्रामाण्य का निराकरण भी यहाँ प्रसगत किया गया है। प्रसगतः अभाव प्रमाण का भी खण्डन किया गया है।

'जिनानाम्' इस कारिकापद की व्याख्या मे विस्तार से वेद की अपौरुषेयता का तथा शब्द की नित्यता का प्रतिषेध किया गया है। तदुपरात, सर्वज्ञ न मानने वाले नास्तिक एवं मीमासक के मत की विस्तार से आलोचना करके सर्वज्ञसिद्धि की गयी है। सर्वज्ञसिद्धि प्रस्ताव मे ही **'कुसमयविसासणं'** पद की व्याख्या दर्शायी गयी है।

'भवजिणाणं' पद की व्याख्या मे परलोक की प्रतिष्ठा कर के नास्तिक का निराकरण किया गया है और अनुमान के प्रामाण्य की स्थापना की गयी है। तदुपरात, ईश्वरकर्तृत्व की विस्तार से आलोचना की गयी है।

'ठाणमणोवमसुहउवगयाणं' इस पद की व्याख्या मे विस्तार से आत्मविभुत्ववाद का खण्डन किया है और मुक्ति मे सुख न मानने वाले नैयायिकमत का निराकरण किया गया है। प्रसगतः शब्द मे गुणत्व का निराकरण और द्रव्यत्व की सिद्धि की गई है।

व्याख्याकार की शैली ऐसी है कि वे एक दर्शन के सहारे अन्य दर्शन का खंडन करते हैं। इसके सामने किसी ने प्रश्न किया (द्र. पृ. १२८) कि आप जैन होकर भी बौद्ध की युक्तियो से मीमांसक के स्वत:प्रामाण्यवाद का खंडन क्यो करते हो ? इसके उत्तर में व्याख्याकार ने सम्मति (३/७०-पृष्ठ १२८) की ही गाथा तथा ग्रन्थकारकृत बत्रीशी की गाथा का उद्धरण दे कर यह रोचक समाधान किया है कि जैन दर्शन समुद्र जैसा है और वह अनेक जैनेतरदर्शन की सरिताओ का मिलन स्थान है, सभी दर्शन परस्पर सापेक्षभाव से मिलने पर सम्यग् दर्शन बन जाते हैं और परस्पर निरपेक्ष रहते हैं तभी मिथ्या दर्शन हो जाते हैं। अत: सर्वत्र बौद्धादिदर्शन के अवलम्ब से अन्य अन्य दर्शनों का खंडन करने मे हमारा यही दिखाने का अभिप्राय है कि स्वतत्र एक एक दर्शन मिथ्या है और परस्पर सापेक्ष सभी दर्शनो का समूह समीचीन दर्शन है और वही जैन दर्शन है, इसलिये कोई दोष नही है। आचार्य श्री का यह उत्तर जैन-जैनेतर सभी के लिये दिशा सूचक है।

मुमुक्षु जिज्ञासु अधिकृत विद्वद्वर्ग इस ग्रन्थरत्न का अध्ययन करके आत्मश्रेय सिद्ध करे यही शुभेच्छा। हिन्दी विवरण मे कही भी श्री जिनागम-सिद्धान्त के विरुद्ध अथवा मूलकार या व्याख्याकार महर्षि के आशय से विपरीत कुछ भी लिखा गया हो तो उसके लिये मिच्छामि दुक्कडम्।

वि० स० २०४०
अषाढ वदि १, शनिवार

मुनि जयसुन्दर विजय
जैन उपाश्रय-पुना
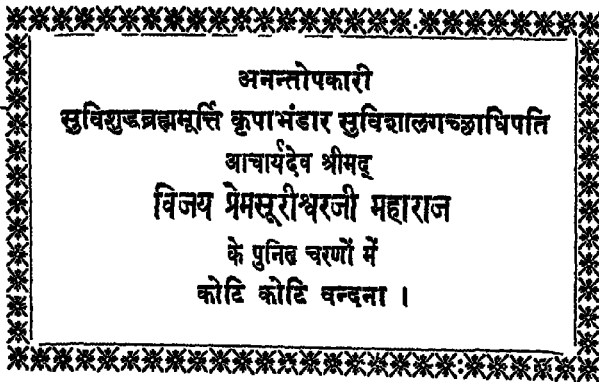
हिन्दी विवेचन सहित सम्मतिप्रकरणव्याख्या का

* विषयानुक्रम *

पृष्ठांक: विषय:

पृष्ठांक: विषय:

॥ श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

श्री विजयप्रेमसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरि विरचित

卐 सम्मतिप्रकरण 卐

श्री अभयदेवसूरिविरचित व्याख्या

* तत्त्वबोधविधायिनी *

(हिन्दी विवेचन सहित)

प्रथमः काण्डः

[पुरोवचन]

ओं अर्हं नमः। विक्रमीय संवत्सर प्रवर्त्तक दानवीर सम्राट् राजा विक्रमादित्य के प्रतिबोधक समर्थ तार्किक युगपुरुष श्री सिद्धसेन दिवाकर महाराज ने जैनदर्शन के 'श्री सम्मतितर्कप्रकरण' नाम के अलौकिक शास्त्र की रचना की।

इस शास्त्र में विश्व में अन्यत्र अप्राप्य विशिष्ट तत्त्व-सिद्धान्तरूप अनेकान्तवाद-नयवाद-ज्ञानस्वरूप इत्यादि का युक्तिपूर्ण निरूपण किया गया है। यह शास्त्र समझने मे अतिशय गहरा होने से एवं शास्त्र के कथित पदार्थों मे गर्भित एकान्तवादी, मतों के पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष की तर्कबद्ध विवेचना को खोज निकालना अत्यन्त कठिन होने से तर्कपंचानन श्रीमद् अभयदेवसूरिजी महाराज ने इस सम्मति नाम के प्रकरण पर तत्त्वबोधविधायिनी नाम की विशद व्याख्या का निर्माण किया है।

मूल ग्रन्थ एवं व्याख्या ग्रन्थ समझने मे कठिन होने से यहाँ इन दोनों का संक्षिप्त हिन्दी विवेचन किया जाता है। 'तत्त्वबोधविधायिनी' नाम की इस व्याख्या के मंगलाचरण मे व्याख्याकार यह कहते हैं—

[व्याख्याकार मंगलाचरण]

स्फुरद्वागंशुविध्वस्तमोहान्धतमसोदयम् ।
वर्धमानार्कमभ्यर्च्य यते सम्मतिवृत्तये ॥ १ ॥

अर्थः—चमकते हुये वाणी के किरणो द्वारा जिन्होंने मोहरूप अन्धकार के उदय का विध्वंस कर दिया है, ऐसे वर्धमानस्वामी रूप सूर्य की पूजा कर के मैं 'सम्मति' की व्याख्या के लिये यत्न करता हूँ ॥ १ ॥

प्रज्ञावद्भिर्यद्यपि सम्मतिटीकाः कृता सुबह्वर्थाः ।
ताभ्यस्तथापि न महानुपकारः स्वल्पबुद्धीनाम् ॥ २ ॥
शेमुष्युन्मेषलवं तेषामाधातुमाश्रितो यत्नः ।
मन्दमतिना मयाऽप्येष नात्र सम्पत्स्यते विफलः ॥ ३ ॥

[टीकाप्रारम्भः]

'इह च शारीरमानसानेकदुःखदारिद्र्योपद्रवविद्रुतानां निरुपमानतिशयानन्तशिवसुखानन्यसमाऽवन्ध्यकारणसम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मकपरमरत्नत्रयजिघृक्षया अतिगम्भीरजिनवचनमहोदधिमवतरितुकामानां तदवतरणोपायमविदुषां भव्यसत्त्वानां तद्दर्शनेन तेषां महानुपकारः प्रवर्त्तताम्, तत्पूर्वकश्चात्मोपकारः' इति मन्वानः आचार्यो दुष्षमाऽरसमाश्यामासमयोद्भूतसमस्तजनताहार्दसंतमसविध्वंसकत्वेनाऽवाप्तयथार्थाभिधानः सिद्धसेनदिवाकरः तदुपायभूतसम्मत्याख्यप्रकरणकरणे प्रवर्त्तमानः "शिष्टाः क्वचिदभीष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमाना अभीष्टदेवताविशेषस्तवविधानपुरस्सरं प्रवर्त्तन्ते" इति तत्समयपरिपालनपरस्तद्विधानोद्भूतप्रकृष्टशुभभावानल्पज्वलदनलनिर्दग्धप्रचुरतरक्लिष्टकर्माविर्भूतविशिष्टपरिणतिप्रभवां प्रस्तुतप्रकरणपरिसमाप्तिं चाकलयन् 'अर्हतामर्हत्ता शासनपूर्विका, पूजितपूजकश्च लोकः, विनयमूलश्च स्वर्गापवर्गादिसुखसुमनःसमूहानंदामृतरसोदग्रस्वरूपप्राप्तिस्वभावफलप्रदानप्रत्यलो धर्मकल्पद्रुम.' इति प्रदर्शनपरैर्भुवनगुरुभिरप्यवाप्तामलकेवलज्ञानसंपद्भिस्तीर्थकृद्भिः शासनार्थाभिव्यक्तिकरणसमये विहितस्तवत्वात् 'शासनमतिशयतः स्तवार्हम्' इति निश्चिन्वन् 'असाधारणगुणोत्कीर्त्तनस्वरूप एव च पारमार्थिकस्तव.' इति च संप्रधार्य शासनस्याभीष्टदेवताविशेषस्य प्रधानभूतसिद्धत्व-कुसमयविशासित्वार्हत्प्रणीतत्वादिगुणप्रकाशनद्वारेण स्तवाभिधायिकां गाथामाह—

अर्थ —यद्यपि बुद्धिमानो के द्वारा सम्मति ग्रन्थ की अनेक व्याख्याएँ बनायी गयी हैं जिसमे अर्थ का अति बहु विस्तार से प्रतिपादन है, फिर भी अति अल्प बुद्धिवालो के लिये उनसे महान् उपकार (महदंश मे) नही हो सकता ।।२।। [क्योंकि, वे व्याख्याएँ विशिष्ट निपुणमति से समझी जाय ऐसे गम्भीर विवेचनरूप है ।]

अर्थः—वैसे, अति अल्पबुद्धिवालो मे कुछ भी बुद्धिविशेष का प्रकटीकरण हो जाय इसलिये मैंने इस व्याख्या के प्रयत्न का आश्रय किया है । अलबत्ता, मैं भी मदबुद्धि हूँ, फिर भी मुझ से भी जो अधिक अल्प बुद्धि वाले लोग है उनको मेरी व्याख्या से प्रज्ञाविशेष का प्रकटन हो सकने के कारण मेरा यह प्रयत्न निष्फल नही जायेगा ।। ३ ।।

[आद्य मूलकारिका का अवतरण]

श्री सन्मतितर्कशास्त्र की प्रथम गाथा की व्याख्या के प्रारम्भ मे भूमिका बनाते हुये व्याख्याकार महर्षि कहते है—आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकरजी महाराज, सम्मति नाम के प्रकरण की रचना इसलिये करते हैं कि इस ससार मे शारीरिक और मानसिक अनेक दुःख और दरिद्रता के उपद्रव से भव्य जीव पीड़ित है—ये पीडित भव्य लोक अनुपम और निरतिशय अर्थात् सर्वोत्कृष्ट अनत मोक्षसुख के अनन्यसाधारण एव अमोघ कारणभूत सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन व सम्यक् चारित्र जो श्रेष्ठ

रत्नत्रयी कही जाती है, इस रत्नत्रयी को प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा से उस रत्नत्रयी के धारक यानी निदर्शक अति गम्भीर जिनप्रवचनरूप महासागर का वे अवगाहन करना चाहते हैं किन्तु उसमे अवगाहन करने के उपाय को नही जानते उन भव्य जीवो को उपाय का किसी प्रकार भी दर्शन हो जाय तो उनका महान् उपकार सम्पादित हो सके एवं उस उपकारपूर्वक अपनी आत्मा पर भी उपकार होगा ऐसा समझने वाले आचार्य इस सम्मति प्रकरण शास्त्र की रचना मे प्रवृत्त होते है।

मूलकार श्री सिद्धसेन दिवाकर महाराज 'दिवाकर' इस लिये कहे जाते हैं कि इस दूषम ❀पंचमआरक स्वरूप रात्रि के कारण समस्त लोगो के हृदय मे जो भारी अज्ञान व मोहरूप अन्धकार उत्पन्न हो गया है, उस अन्धकार के वे विनाशक हैं, इसलिये यथार्थरूप से 'दिवाकर' नाम प्राप्त किया है। ऐसे श्री सिद्धसेन दिवाकर महाराज जिनेन्द्रदेव के वचनस्वरूप महासागर मे अवगाहन करने मे उपायभूत सम्मति नाम के प्रकरण की रचना मे प्रवर्त्तमान हो रहे हैं। जब 'शिष्टपुरुष कभी इष्ट वस्तु मे प्रवर्त्तमान होते है तब पहले अपने इष्ट देवताविशेष की स्तुति पुरस्सर प्रवर्त्तमान होते हैं' इस शिष्टाचार का पालन करने मे तत्पर ग्रन्थकार देख रहे है कि इष्ट देवता की स्तुति करने से एक उत्कृष्ट शुभ भावस्वरूप प्रचंड जलती हुयी चिराग प्रकट होती है और इस जलती हुयी विशाल चिराग मे अतिप्रचुर क्लिष्ट कर्म भी दग्ध हो जाते हैं और इससे आत्मा मे एक विशिष्ट शुभ परिणति का प्रादुर्भाव होता है जिससे प्रस्तुत प्रकरण की समाप्ति होने वाली है। तात्पर्य, प्रस्तुत प्रकरण बीच मे खण्डित-अपूर्ण न रह कर समाप्ति तक पहुँचने वाला है।

अब मूल ग्रन्थ की आद्य कारिका मे जिन शासन यानी जिन प्रवचन की स्तुति क्यों की गयी है-इसका अवतरण दिखाते हुये व्याख्याकार कहते हैं—

मूलग्रन्थकार ऐसे निश्चय पर आये हैं कि शासन यानी प्रवचन अत्यंतस्तुति योग्य है। कारण त्रिभुवन गुरु, निर्मल केवलज्ञान की सपत्ति के स्वामी, श्री तीर्थंकर भगवान के द्वारा (प्रस्तुत) शासन (=प्रवचन) के प्रतिपाद्य अर्थ का प्रकाशन करते समय इस शासन की स्तुति की गई है। [द्रष्टव्य-आवश्यकनिर्युक्ति गाथा-५६७] 卐 यह स्तुति भी तीन बात दिखाते हुये की गयी है-[१] अरिहंतो की अर्हत्ता शासनपूर्वक होती है क्योकि शासन की उपासना करके जिननामकर्म उपार्जित करने द्वारा वे शासन की स्थापना करते है। [२] 'लोग=जनसमुदाय पूजित का पूजक होता है' इस न्याय से पूर्व मे तीर्थंकर आदि द्वारा शासन की पूजा को देखकर तत्तत्कालीन लोग शासन की पूजा करने लगते हैं। [३] शासन का विनय यह धर्म रूप कल्पतरु का मूल है इस वास्ते उपकारक शासन का विनय यानी स्तवना पूजा अति आवश्यक है। धर्म को यहा कल्पवृक्ष इस लिये कहा कि स्वर्ग-मोक्षादि रूप पुष्पसमूह का, आनद स्वरूप अमृत रस का तथा उच्चतम कक्षा की प्राप्ति स्वरूप फल का प्रदान करने मे धर्म ही समर्थ है-इसलिये वह कल्पवृक्ष है।

मूल ग्रन्थकार मंगलाचरण मे शासन को, वंदना न करके उपरोक्त रीति से शासन के अन्यत्र अप्राप्त असाधारण गुणों की स्तवना करते है। कारण, पारमार्थिक यानी तात्त्विक स्तवना वैसे गुणस्तवनारूप ही होती है। यह अपने दिल मे सुनिश्चित रखकर शासन को ही अपने इष्ट देवता-विशेष मानकर के उसके पारमार्थिक सिद्धत्व, कुमत-समुच्छेदकत्व एवं अर्हत्प्रणीतत्व इत्यादि शासन

❀ जैनमत प्रसिद्ध कालचक्र [Cycle of Time] मे अवसर्पिणी काल के छह विभागो मे से पचम विभाग।

卐 (१) तप्पुव्विया अरहया (२) पूइयपूता य (३) विणयकम्म च। कयकिच्चो वि जह कह कहए णमए तहा तित्थं॥

[सम्मतिप्रकरण-आद्य गाथा]

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥१॥

(त.वि) अस्याश्च समुदायार्थः एतत्पातनिकयैव प्रकाशितः, अवयवार्थस्तु प्रकाश्यते। 'शास्यते जीवाऽजीवादयः पदार्था यथावस्थितत्वेनानेने'ति शासनं=द्वादशांगम्। तच्च सिद्धं=प्रतिष्ठितं निश्चितप्रामाण्यमिति यावत् स्वमहिम्नैव, नातः प्रकरणात् प्रतिष्ठाप्यम्।।

[प्रामाण्यं स्वतः परतो वेति वादप्रारम्भः]

(त. वि.) अत्राहुर्मीमांसका:-अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्, तस्यार्थतथात्वप्रकाशकत्व प्रामाण्यम्। तच्च स्वतः (१) उत्पत्तौ, (२) स्वकार्ये यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे, (३) स्वज्ञाने च; विज्ञानोत्पादकसामग्रीव्यतिरिक्तगुणादिसामग्र्यन्तर-प्रमाणान्तर-स्वसंवेदनग्रहणानपेक्षत्वात्। अपेक्षात्रयरहितं च प्रामाण्यं स्वत उच्यते इति। अत्र च प्रयोगः "ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते* तत्स्वरूपनियताः यथाऽविकला कारणसामग्र्यंकुरोत्पादने। अनपेक्ष च प्रामाण्यमुत्पत्तौ, स्वकार्ये ज्ञप्तौ च" इति।

के गुणो के प्रकाशन द्वारा शासन की स्तवना करने वाली प्रथम गाथा को इस प्रकार कहते है- "सिद्ध सिद्धत्थाण"....इत्यादि—

मूलगाथा १ अर्थः-(रागद्वेषात्मक) भव के विजेता, अनुपमसुखवाले स्थान को प्राप्त, जिनो का (यानी सर्वज्ञो का, शासन) (प्रमाण से) सिद्ध अर्थो का (निरूपण करनेवाला) शासन, मिथ्यामतों का विघटन करने वाला एव सिद्ध है (यानी स्वत' प्रमाणभूत है)।

[यहाँ 'जिणाण' पद को कर्त्ता मे षष्ठी और 'सिद्धत्थाण' यहाँ कर्म मे षष्ठी विभक्ति लगी है और दोनो का अन्वय 'सासण' पद के साथ है]

व्याख्या:-इस मूल गाथा का समुदायार्थ पूर्व अवतरणिका से व्यक्त किया, अब अवयवार्थ यानी पदो का अर्थ प्रकाशित किया जाता है, वह इस प्रकार है—

'शासन':-अर्थात् जीव अजीव आदि पदार्थ यथार्थ स्वरूप से जिसमें प्रकाशित होते है वह शासन कहा जाता है और वह 'द्वादशाग' स्वरूप है। वह सिद्ध=प्रतिष्ठित है अर्थात् उसका प्रामाण्य सुनिश्चित है। यह प्रामाण्य अपनी महिमा के द्वारा ही स्वतः सिद्ध है, वास्ते इसी प्रकरण से सिद्ध करने की जरूर नही है। यहाँ स्व का अर्थ है स्वकीय, यानी स्व के उपदेशक जिनादि, उनकी महिमा से (यानी परतः) ही शासन=प्रवचन का प्रामाण्य सुस्थित है। मीमांसक वेद का प्रामाण्य स्वतः मानता है किंतु उपदेशक की महीमा से नही, इसलिये अब उसके मत की परीक्षा का प्रारम्भ हो रहा है-

[मीमांसक का स्वतः प्रामाण्य पक्ष]

[संदर्भ-अब पूर्वपक्षी मीमासक स्वत प्रामाण्य का सक्षिप्त प्रतिपादन करेगा। उसके सामने उत्तरपक्षी परत. प्रामाण्यवाद की सक्षिप्त स्थापना करेगा। पूर्वपक्षी मीमासक विस्तार से उसका खण्डन करेगा और अपने पक्ष की पुनः प्रतिष्ठा करेगा। उसके सामने उत्तरपक्षी विस्तार से स्वतः प्रामाण्य का खण्डन करके स्वपक्ष की प्रतिष्ठा करेगा।]

---

* द्रष्टव्य शास्त्रवार्त्ता० स्त० ७-श्लो० २७ पृ ९९ प. १।

अत्र परतः प्रामाण्यवादिनः प्रेरयन्ति-अनपेक्षत्वमसिद्धम् । तथाहि-उत्पत्तौ तावद् प्रामाण्यं विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणादिकारणान्तरसापेक्षं, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । तथा च प्रयोगः यच्चक्षुराद्यतिरिक्तभावाऽभावानुविधायि तत् तत्सापेक्षं, यथाऽप्रामाण्यम् । चक्षुराद्यतिरिक्त-भावाऽभावानुविधायि च प्रामाण्यमिति स्वभावहेतुः । तस्मादुत्पत्तौ परतः । तथा स्वकार्ये च सापेक्षत्वात्परतः । तथाहि-ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदया न ते स्वतो व्यवस्थितधर्मकाः, यथाऽप्रामाण्यादयः । प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयं च प्रामाण्यं तत्रेति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः । तथा ज्ञप्तौ च सापेक्षत्वात्परतः । तथाहि-ये संदेहविपर्ययाध्यासिततनवस्ते परतो निश्चितयथावस्थितस्वरूपाः यथा स्थाण्वादयः । तथा च संदेहविपर्ययाध्यासितस्वभाव केषाञ्चित्प्रत्ययानां प्रामाण्यमिति स्वभावहेतुः ॥

इस विषय मे मीमांसक कहते है-अर्थ के तात्त्विक स्वरूप के प्रकाशक ज्ञातृव्यापार को प्रमाण कहते है, ऐसे व्यापार मे अर्थ के तात्त्विक स्वरूप का जो प्रकाशकत्व है वही प्रामाण्य है । यह प्रामाण्य (१) उत्पत्ति मे कारणान्तर की अपेक्षा न रखता हुआ स्वतः सिद्ध है और (२) अपने यथावस्थित अर्थबोधरूप कार्य करने मे एव (३) अपने ज्ञान मे भी स्वत यानी स्वायत्त है । प्रामाण्य की स्वतः उत्पत्ति, स्वतः कार्यजनन एव स्वतः स्वबोध होने का कारण यह है कि वह किसी अन्य कारण की अपेक्षा नही रखता किन्तु विज्ञान की उत्पादक सामग्री से ही उन-तीन कार्य सम्पन्न होते है । परन्तु उस सामग्री भिन्न किसी गुणादि सामग्री अथवा किसी प्रामाणान्तर अथवा स्वसवेदन के लिये अन्य बोध की अपेक्षा नही रखता है । इन तीन अपेक्षाओ से रहित जो प्रामाण्य, वही स्वत. प्रामाण्य कहा जाता है । तात्पर्य, विज्ञान को उत्पन्न करने वाली जो सामग्री है उससे जैसे विज्ञान उत्पन्न होता है इसी प्रकार प्रमाण निष्ठ प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है, एव अर्थनिर्णय स्वरूप कार्य भी स्वतः उत्पन्न होता है, और प्रामाण्य का बोध भी स्वतः ही उत्पन्न होता है । इस सम्बन्ध मे इस प्रकार अनुमान प्रयोग किया जाता है 'ये यद्भाव प्रति'...इत्यादि卐

जो कारण जिन भावो के प्रति इतरानपेक्ष होते हैं, वे उन भावो के प्रति केवल अपने स्वरूप के साथ ही नियत होते हैं, अर्थात् उस सामग्री के अलावा किसी अन्य से सवद्ध नही होते है । जैसे, अकुर

卐 मीमासक के इस प्रतिपादन मे यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि उसने इन्द्रिय अथवा अर्थप्रकाश-स्वरूप विज्ञान को प्रमाण न कह कर ज्ञातृव्यापार को प्रमाण कहा है। यह व्यापार उसके मत में विज्ञानोत्पादक ज्ञातृगतक्रियात्मक है । तथा प्रामाण्य को भी विज्ञान का धर्म न बताकर उस व्यापार का ही धर्म बताया है । उसको उत्पत्ति मे स्वत कहने का यह आशय है कि वह व्यापार वक्तृगुणादि की अपेक्षा नही करता है, अत उसका धर्म प्रामाण्य भी गुणादि पर निर्भर नही है । मीमासक का कहना है कि यथावस्थित अर्थबोध यानी अर्थप्रकाश यह प्रामाण्य फल हैं और उसमे भी प्रामाण्य को अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नही होती । तथा, भट्टमीमासक मत मे प्रामाण्य का ज्ञान भी स्वत यानी ज्ञानग्राहक ज्ञाततालिंगक अनुमिति से होता है । तात्पर्य यह है कि मीमासक मत मे जो ज्ञानग्राही होता है वही प्रामाण्यग्राही भी होता है । प्रभाकर के मत मे ज्ञान स्वय स्व का और स्वगत प्रामाण्य का ग्राहक है । मुरारिमिश्र आदि प्रामाण्य का ज्ञान, स्वसवेदन को यानी स्वाश्रयज्ञान को ग्रहण करने वाले अनुव्यवसाय से होने का मानते हैं । प्रस्तुत मे मुख्यरूप से प्रभाकर और भट्ट मत की समीक्षा है । व्याख्याकार आगे जा कर यह दिखायेंगे कि ज्ञातृव्यापार स्वय ही एक असिद्ध वस्तु है इसलिये प्रामाण्य उसका धर्म नही है ।

के उत्पादन मे जो सपूर्ण कारण सामग्री अपेक्षित है वह उससे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ के साथ नियम से सम्बद्ध नही है। इसी प्रकार ज्ञातृव्यापार निष्ठ प्रामाण्य स्व की उत्पत्ति आदि मे ज्ञान की सम्पूर्ण सामग्री के स्वरूप से नियमतः संवद्ध है तव उससे अतिरिक्त किसी अन्य गुणादि सामग्री से नियमतः संवद्ध नही है। इसलिये कहा जाता है कि प्रामाण्य उत्पत्ति मे स्वतः है। वैसे यथावस्थित अर्थनिर्णयरूप कार्य मे और अपनी ज्ञप्ति मे भी स्वतः है।

[परतः प्रामाण्यवादी का अभिप्राय]

इस विषय में जो (बौद्धमतवाले) विद्वान् प्रामाण्य को उत्पत्ति मे परतः=परकी अपेक्षावाला अर्थात् परावलम्बी मानते हैं वे इस प्रकार प्रतिवाद प्रस्तुत करते हैं—❀

प्रामाण्य मे अनपेक्षत्व असिद्ध है। अर्थात् 'प्रामाण्य के लिए प्रामाण्याश्रय ज्ञान की उत्पादक सामग्री से अतिरिक्त कारण आदि की अपेक्षा नही है'-यह वात असिद्ध है। सामग्री के अलावा अन्य कारणों की अपेक्षा का होना सिद्ध है। वह इस प्रकार-

(१) प्रामाण्य अपनी उत्पत्ति के लिये स्वाश्रयज्ञान के जो उत्पादक कारण है उनसे भिन्न गुणादि कारणो की अपेक्षा रखता है क्योकि प्रामाण्य यह गुणादि सामग्री के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने वाला है। जैसे-गुणादि सामग्री रहती है तो प्रामाण्य उत्पन्न होता है, यदि नही रहती तो प्रामाण्य की उत्पत्ति भी नही होती है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है-जो चक्षु आदि से अतिरिक्त वस्तु के भाव या अभाव को अनुसरण करने के स्वभाव वाला होता है वह उस वस्तु की अपेक्षा करता है, जैसे-अप्रामाण्य। तात्पर्य यह है कि पीलिया [=काचकामल] दोष से दूषित नेत्र वाले को श्वेत वस्तु भी पीली दिखाई पडती है उसमे नेत्र के अलावा पित्त दोष कारणभूत है। यहाँ पित्त दोष रहने पर पीतदर्शन होता है, न रहने पर नही होता है-यही भाव-अभाव का अनुसरण हुआ। अतः पीतदर्शन (भ्रमज्ञान) पित्त दोष को सापेक्ष है। यद्यपि यह तो अप्रमाण ज्ञान की वात हुयी किन्तु जैसे अप्रामाण्य को विद्यमान ज्ञानसामग्री से अधिक दोष की अपेक्षा है वैसे प्रामाण्य को विद्यमान ज्ञान सामग्री से अधिक गुण की अपेक्षा होती है। इस स्वभावहेतुक अनुमान से प्रामाण्य उत्पत्ति मे परसापेक्ष सिद्ध होता है।

(२) प्रामाण्य अपने कार्य मे भी परसापेक्ष है। जैसे, जिनको अन्य वुद्धि के उदय की प्रतीक्षा करनी पडती है वे अपने कार्यधर्म की स्वतः व्यवस्था यानी संपादन नही कर सकते। जैसे कि अप्रामाण्य आदि। आशय यह है कि अप्रामाण्य का कार्य है अर्थ का अयथार्थ परिच्छेद, इस कार्य में उसको अन्य विसंवादी बुद्धि के उदय की प्रतीक्षा करनी पडती है, इसलिये वह स्वतः स्वकार्य संपादक नहीं है। प्रामाण्य भी यथावस्थित अर्थपरिच्छेदरूप अपने कार्य मे अन्य सवादीवुद्धि के उदय की प्रतीक्षा करता है इसलिये वह भी स्वतः स्वकार्यसपादक नही है। प्रस्तुत अनुमान प्रयोग मे हेतु का प्रकार विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि है। वह इस प्रकार—

साध्यधर्म के विरुद्ध धर्म जो होता है उसका यहाँ विरुद्ध पद से उल्लेख किया है। इस विरुद्ध धर्म से जो व्याप्त हो उसकी प्रतीति विरुद्ध व्याप्त उपलब्धि कही जाती है। प्रस्तुत मे स्वतः प्रामाण्यवादी के मत मे साध्य है, "स्वत. अर्थात् कारणान्तर-ज्ञानान्तर निरपेक्ष स्वकार्यरूप धर्म का व्यवस्था-

❀ बौद्धमत के आधार पर स्वत. प्रामाण्य के निरसन मे अन्तर्गत अभिप्राय के लिये द्रष्टव्य-पृ. १२८ पं. ६।

पकत्व-"। इसका विरुद्ध धर्म है-'कारणान्तर निरपेक्ष-ज्ञानान्तर निरपेक्ष स्वकार्यरूप धर्म व्यवस्थापकत्व का अभाव', इसका व्याप्त है 'प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयकत्व', अर्थात् कारणान्तर-ज्ञानान्तर की प्रतीक्षापूर्वक व्यवस्थापकत्व। इस विरुद्ध व्याप्त धर्म की प्रस्तुत मे होने वाली उपलब्धि=प्रतीति ही यहाँ विरुद्धव्याप्तोपलब्धि है। इसका साध्य है प्रामाण्य मे परसापेक्षत्व।

तात्पर्य, प्रमाणज्ञान का कार्य है वस्तु का यथार्थ परिच्छेद-प्रकाश। यह कार्य प्रमाणज्ञानोत्पादक कारणमात्र से नही होता किन्तु सवादिज्ञान के उदयरूप कारणान्तर से होता है। स्वतः प्रामाण्यवादियों के अनुसार अर्थ का यथार्थ प्रकाशरूप कार्य कारणान्तर की अपेक्षा नही रखता इस लिये यह कार्य स्वतः है। इस कार्य का स्वतोभाव यह स्वतःप्रामाण्यवादियों का साध्य है। इससे विरुद्ध है परतोभाव=पर से कार्योत्पत्ति। इससे व्याप्त धर्म है अर्थ के यथार्थ प्रकाश के लिये अन्य कारणो की अपेक्षा। इस विरुद्ध व्याप्त धर्म की उपलब्धि है विरुद्धव्याप्तोपलब्धि। इससे स्वतः-प्रामाण्यवादी का साध्य धर्म बाधित हो जाता है।

[२] इसी प्रकार प्रामाण्य, ज्ञप्ति में भी सापेक्ष होने से परतः है। अर्थात्, प्रामाण्य अपने निर्णय के लिए भी अन्य कारणो की अपेक्षा करता है इस लिये परतः है। इस विषय मे अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—जिन पदार्थो का स्वरूप सशय या भ्रम से ग्रस्त होता है उनका यथावस्थित स्वरूप अन्य कारणो के द्वारा निश्चित होता है। इस विषय में स्थाणु आदि दृष्टान्त है। दूर से देखने पर स्थाणु के विषय मे 'यह स्थाणु है या पुरुष है' इस प्रकार का संशय हो जाता है अथवा किसी को 'यह पुरुष है' ऐसा भ्रम ही हो जाता है। ऐसी संशयग्रस्त या भ्रमापन्न दशा में स्थाणु के यथार्थ स्वरूप का निश्चय स्थाणु के स्वरूपमात्र से नही होता किन्तु स्थाणु के निकट गमन एवं निपुण निरीक्षण से होता है। इसी प्रकार कुछ ज्ञानो का प्रामाण्य भी संदेहग्रस्त या भ्रमापन्न रहता है। यहां स्वभावहेतु साधक है, कुछ ज्ञानो का स्वभाव ही ऐसा है कि वे सशय-भ्रम ग्रस्त होते है। यह स्वभाव, ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति परत होने में साधक है इस लिए स्वभाव हेतु रूप हुआ।

स्वत' प्रामाण्यवादियो के अनुसार प्रमाणज्ञान का प्रामाण्य अपनी उत्पत्ति में, अपने कार्य में व अपनी ज्ञप्ति में स्वतः है, अर्थात् इन तीनों के लिये अन्य कारणो की अपेक्षा नही रखता। जो ज्ञान के उत्पादक हैं, उन्ही से ये तीन-ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य की उत्पत्ति, यथावस्थित पदार्थबोध रूप कार्य व प्रामाण्य की ज्ञप्ति उत्पन्न हो जाती है, तीनो मे अन्य कारणो की अपेक्षा नही होती। (१) उत्पत्ति मे,-प्रमाणज्ञान के उत्पादक कारणो से जैसे वह प्रमाण ज्ञान उत्पन्न होता है वैसे उसमें प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, (२) कार्य मे, ज्ञान जैसे अपने स्वरूप से ही पदार्थपरिच्छेदरूप कार्य करता है वैसे प्रामाण्य उसी ज्ञान स्वरूप से ही यथार्थ पदार्थपरिच्छेदरूप कार्य को करता है, किन्तु इस कार्यजनन मे अन्य कारण की अपेक्षा नही करता। (३) ज्ञप्ति मे जैसे ज्ञान स्वतः-प्रकाश्य मत में ज्ञान की ज्ञप्ति स्वतः होती है किन्तु इसके लिये कोई दूसरा ज्ञान करना होता नही—उदाहरणार्थ, घटज्ञान से घट का स्वरूप प्रकाशित हुआ उसी समय घटज्ञान का स्वरूप भी प्रकाशित हुआ किन्तु घटज्ञान को जानने के लिये कोई नया ज्ञान लाना नही पड़ता, अर्थात् घटज्ञान से भिन्न अन्य कारण की अपेक्षा नही करनी पडती। अनुभव ऐसा ही है कि जिस समय घटज्ञान-'अयं घटः' बोध होता है उसी समय 'घटमहं जानामि-घटं पश्यामि-घटज्ञानवान् अहं' ऐसा घटज्ञान का भी बोध होता है।

[(१) परत उत्पत्तिवादप्रतिक्षेपारम्भः-पूर्वपक्षः]

अत्र यत्तावदुक्तं-'प्रामाण्यं विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणादिकारणसव्यपेक्षमुत्पत्तौ'-तदसत्, तेषामसत्त्वात्। तदसत्त्वं च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः। तथाहि-न तावत्प्रत्यक्षं चक्षुरादीन्द्रियगतान् गुणान् ग्रहीतुं समर्थम्, अतीन्द्रियत्वेनेन्द्रियाणां तद्गुणानामपि प्रतिपत्तुमशक्तेः। अथानुमानमिन्द्रियगुणान् प्रतिपद्यते-तदप्यसम्यक्, अनुमानस्य प्रतिबद्धलिङ्गनिश्चयबलेनोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिबन्धश्च किं A प्रत्यक्षेणेन्द्रियगतगुणैः सह गृह्यते लिंगस्य, B आहोस्विदनुमानेनेति वक्तव्यम्। तत्र यदि प्रत्यक्षमिन्द्रियाश्रितगुणैः सह लिङ्गसम्बन्धग्राहकमभ्युपगम्यते, तदयुक्तम्, इन्द्रियगुणानामप्रत्यक्षत्वे तद्गतसम्बन्धस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्। ॐ 'द्विष्ठसंबधसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्' इति वचनात्।

दीपक का प्रकाश जिस प्रकार घटादि को प्रकाशित करता है इसी प्रकार दीपक को भी प्रकाशित करता है। दीपक से जैसे घटज्ञान होता है इसी प्रकार स्व का भी ज्ञान होता है, दीपक को देखने के लिये अन्य दीपक नही लाना पडता इसी प्रकार वस्तु के प्रकाशक ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाशक ज्ञान की अपेक्षा नही होती। इस प्रकार जैसे ज्ञान अपनी ज्ञप्ति मे स्वत. है वैसे ज्ञानगत प्रामाण्य भी अपनी ज्ञप्ति मे अर्थात् अपने ज्ञान के लिये स्वतः है, ज्ञान कारणो से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा नही रखता। अर्थात् जैसे ज्ञान का अनुभव वस्तु के अनुभव के साथ ही हो जाता है वैसे स्वत.प्रामाण्यवादो के मत मे ज्ञानप्रामाण्य का अनुभव भी वस्तु के अनुभव के साथ ही हो जाता है। साराश, 'अय घट.' इस अनुभव के साथ उसके प्रामाण्य का भी अनुभव एक साथ ही होता है। इसलिये प्रामाण्य अपने ज्ञान के विषय मे भी स्वत' है। यह स्वतः प्रामाण्यवादियो का अभिप्राय है। परत. प्रामाण्यवादी इनके विरुद्ध हैं।

[(१) प्रामाण्य उत्पत्ति में परतः नहीं है-पूर्वपक्ष]

स्वतःप्रामाण्यवादीः-आपने जो कहा-'प्रामाण्य यह ज्ञान के उत्पादक कारणों से भिन्न गुण आदि कारण की अपेक्षा उत्पत्ति के लिए रखता है'-यह कथन अयुक्त है। जिन गुणो की आप अपेक्षा कहते है वे गुण विद्यमान नही है-असत् है। जो असत् है उनकी अपेक्षा नही हो सकती। वे गुण असत् इसलिये है कि वे किसी प्रमाण से प्रतीत नही है। यह इस प्रकार-अगर आप 'गुण' करके इन्द्रियगत गुणों को पुरस्कृत करते हो तब चक्षु आदि इन्द्रियगत गुणो को जानने मे प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नही है। क्योकि-चक्षु आदि इन्द्रिय अतीन्द्रिय है इसलिये उनके आश्रित गुण भी अतीन्द्रिय होने से इन्द्रियो द्वारा उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो सकता। अगर आप कहे, 'अनुमान इन्द्रियो के गुणो को ग्रहण करेगा' तो यह भी कहना ठीक नही है, क्योकि प्रतिबन्ध अर्थात् व्याप्ति से युक्त हेतु के निश्चय के बल पर अनुमान का उत्थान होता है। प्रकृत स्थल मे इन्द्रिय गुणो का अनुमान करने के लिये जब हेतु का प्रयोग करते हैं तब इन्द्रिय के गुणो के साथ हेतु की व्याप्ति का निर्णय आवश्यक है किन्तु किसी भी प्रमाण से व्याप्ति संबध निश्चित नही हो सकता।

[प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रहण का असंभव]

यह इस प्रकार-A इन्द्रियगत गुणो के साथ हेतु का व्याप्ति नामक सबध प्रत्यक्ष से निश्चित

ॐ 'द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्' इत्युत्तरार्धम्।

B अथानुमानेन प्रकृतसंबंधः प्रतीयते । तदप्ययुक्तम्, यतस्तदप्यनुमानं किं C गृहीतसम्बन्ध-लिंगप्रभवम् D उताऽगृहीतसंबंधलिंगसमुत्थम् ? तत्र D यद्यगृहीतसम्बन्धलिंगप्रभवम् तदा किं E प्रमाण-मुता F ऽप्रमाणम् ? F यद्यप्रमाणम्, नातः सम्बन्धप्रतीतिः । अथ E प्रमाणं, तदपि न प्रत्यक्षम्, अनुमानस्य बाह्यार्थविषयत्वेन प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात् । किं तु अनुमानम्, तच्चानवगतसम्बन्धं न प्रवर्त्तते इत्यादि वक्तव्यम् । C अथावगतसंबन्ध, तस्यापि सम्बन्धः किं G तेनैवानुमानेन गृह्येत H उतान्येन ? G यदि तेनैव गृह्यते इत्यभ्युपगमः, स न युक्तः, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् । तथाहि-गृहीतप्रतिबन्धं तत् स्वसाध्यप्रतिबन्धग्रहणाय प्रवर्त्तते, तत्प्रवृत्तौ च स्वोत्पादकप्रतिबन्धग्रहः इत्यन्योन्य-संश्रयो व्यक्त । H अथान्येनानुमानेन प्रतिबन्धग्रहाभ्युपगमः, सोऽपि न युक्तः, अनवस्थाप्रसंगात् । तथाहि–तदप्यनुमानमनुमानप्रतिबन्धग्राहकमनुमानान्तराद् गृहीतप्रतिबंधमुदयमासादयति तदप्यन्यतो-ऽनुमानाद् गृहीतप्रतिबन्धमित्यनवस्था ।

होता है ? B अथवा अनुमान से निश्चित होता है ? यह आपको कहना होगा । A यदि आप मानते हैं कि-'इन्द्रियगत गुणो के साथ हेतु के व्याप्ति सबध का ग्राहक प्रत्यक्ष है'–तो यह युक्त नही है क्योकि–अतीन्द्रिय इन्द्रियो के गुण प्रत्यक्ष न होने से उन गुणो का सबध भी प्रत्यक्ष नही हो सकता । 'द्विष्ठ-सबंधसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्' यह एक प्राचीन वचन है जिसके अनुसार 'सबध दो पदार्थो मे रहता है उसका ज्ञान एक पदार्थ के अनुभव से नही हो सकता' । दोनो पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान हो तब सबध का ज्ञान हो सकता है ।

[अनुमान से हेतु में गुणों की व्याप्तिग्रहण का असंभव]

B अब यदि आप इन्द्रियगत गुणो और हेतु के व्याप्ति संबंध का निश्चय अनुमान से मानते है तो वह भी युक्त नही । क्योकि जिस अनुमान से आप यह निश्चय करते है वह अनुमान भी C निश्चित सबध वाले हेतु से उत्पन्न होता है ? या D अनिश्चित सबंध वाले हेतु से उत्पन्न होता है ? D यदि अनुमान इस प्रकार के लिंग से उत्पन्न है जिसका साध्य के साथ संबंध निश्चित नही है तो बताईये कि यह अनुमान E प्रमाण है अथवा F अप्रमाण ? यदि आप उसको F अप्रमाण कहते हैं तो उससे लिंगसबध का निश्चय नही हो सकता । यदि आप उसको E प्रमाण कहते है तो अनुमान प्रस्तुत होने से वह प्रत्यक्ष प्रमाणरूप नही हो सकता । क्योकि अनुमान बाह्यार्थ विषयक अर्थात् परोक्षविषयक होता है । परोक्षविषयक होने से उसको प्रत्यक्षरूप मे स्वीकार नही कर सकते । एवं प्रत्यक्ष पक्ष मे जो दोष कहे हैं-जैसे कि-अतीन्द्रिय इन्द्रियो के अतीन्द्रियगुण के साक्षात्कार की आपत्ति इत्यादि, वे यहा प्रमाण को प्रत्यक्षरूप मान लेने से सावकाश होगे । इसलिये अगृहीत सम्बन्ध लिङ्गक ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमाणरूप नही किन्तु अनुमानप्रमाणरूप लेना होगा । किन्तु ऐसा अनुमान बन नहीं सकता, क्योकि जब व्याप्ति सबंध का ज्ञान ही नही है तब विना व्याप्तिज्ञान अनुमान की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? (अथावगतसम्बन्ध ०) C अगर कहे कि इन्द्रियगुण साधक प्रथम अनुमान की व्याप्ति का साधक द्वितीय अनुमान ऐसे ही लिंग से उत्पन्न है जिसमे अपने साध्य को व्याप्ति निश्चित है । तो यहा भी प्रश्न है कि द्वितीय अनुमान के लिंग मे अपने साध्य की व्याप्ति का निश्चय G उसी द्वितीय अनुमान से होगा या H अन्य अनुमान से ? G अगर कहे उसी द्वितीय अनुमान से होता है–तो ऐसा कहना युक्त नही है–क्योकि इसमे अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा । यह इस प्रकार–

किं च, तदनुमानं स्वभावहेतुप्रभावितं, कार्यहेतुसमुत्थं, अनुपलब्धिलिंगप्रभवं वा प्रतिबन्धग्राहकं स्यात् ? अन्यस्य साध्यनिश्चायकत्वेन सौगतैरनभ्युपगमात्। तदुक्तम्-'त्रिरूपाणि च त्रिण्येव लिंगानि अनुपलब्धिः, स्वभावः, कार्यं च' इति। 'त्रिरूपाल्लिंगाल्लिंगिविज्ञानमनुमानम् [न्यायबिंदु सू०११-१२]' इति च। तत्र स्वभावहेतुः प्रत्यक्षगृहीतेऽर्थे व्यवहारमात्रप्रवर्त्तनफलः यथा शिंशपात्वादिर्वृक्षादिव्यवहारप्रवर्त्तनफलः। न च अक्षाश्रितगुणलिंगसम्बन्धः प्रत्यक्षतः प्रतिपन्नो, येन स्वभावहेतुप्रभवमनुमानं तत्सम्बन्धव्यवहारमारचयति।

[उसी अनुमान से व्याप्तिग्रहण में अन्योन्याश्रय]

(तथाहि-गृहीतप्रतिबन्ध तद्) (१) यहाँ मूल अनुमान 'इन्द्रिय गुणवत् स्वकार्याऽसाधारण-कारणत्वात् यथा कुठारः (तीक्ष्णतादिगुणवान्)'-गुणवत्ता इसमे व्यापक है और स्वकार्याऽसाधारण-कारणत्व व्याप्य है। इन दोनों की व्याप्ति का ज्ञान द्वितीय अनुमान से करना है। (२) वह इस प्रकार-'स्वकार्याऽसाधारणकारत्वं गुणव्याप्यम् असाधारणकारणवृत्तित्वात्'। अब इस द्वितीय अनुमान के लिंग मे व्याप्ति संबन्ध अगर उसी द्वितीयानुमान से ही निश्चित होगा तो इस प्रकार अन्योन्याश्रय होगा कि अपने लिंग का सम्बन्ध निश्चित होने पर वह द्वितीय अनुमान अपने साध्यभूत प्रथम अनुमान की व्याप्ति के ग्रहण मे प्रवृत्त होगा, और वह द्वितीय अनुमान प्रवृत्त होगा तभी अपने उत्पादक लिंग के व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण होगा। स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय है।

[अन्य अनुमान से व्याप्तिग्रहण में अनवस्था]

H यदि कहे, इस द्वितीय अनुमान की व्याप्ति का ज्ञान अन्य अनुमान के द्वारा होता है, तो यह भी युक्त नहीं है। क्योकि इस रीति से मानने पर अनवस्था आ जाती है। यह इस प्रकार-यह पूर्वोक्त अनुमान की व्याप्ति का ग्राहक तृतीय अनुमान भी अपनी व्याप्ति के ज्ञान के विना नही हो सकता और इस व्याप्ति ज्ञान के लिए भी अन्य अनुमान की आवश्यकता होगी। तथा वह अन्य अनुमान भी अपने हेतु और साध्य की व्याप्ति को जानने के लिये अन्य अनुमान की अपेक्षा करेगा। इस प्रकार अनवस्था होगी।

[व्याप्ति ग्राहक अनुमान के संभवित तीन हेतु]

इसके अतिरिक्त यह भी सोचना चाहिये कि जिस अनुमान को आप प्रथम अनुमान की व्याप्ति का ग्राहक कहते हो वह अनुमान क्या (१) स्वभाव हेतु से उत्पन्न है ? (२) कार्य हेतु से उत्पन्न है ? अथवा (३) अनुपलब्धि हेतु से उत्पन्न है ? इन तीनो से भिन्न किसी लिंग को बौद्ध लोग साध्य का साधक नही मानते हैं। कहा भी है—

'*त्रिरूपाणि च त्रिण्येव लिंगानि। अनुपलब्धिः, स्वभावः, कार्यं च' इति 'त्रिरूपाल्लिंगाल्लिंगिविज्ञानमनुमानम्'। [धर्मकीर्त्ति कृत न्यायबिंदु सूत्र ११-१२] इति च।

* पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्वरूपाणि।

नापि कार्यहेतुसमुत्थम्, अक्षाश्रितगुणलिंगसम्बन्धग्राहकत्वेन तत् प्रभवति, कार्यहेतोः सिद्धे कार्यकारणभावे कारणप्रतिपत्तिहेतुत्वेनाऽभ्युपगमात् । कार्यकारणभावस्य च सिद्धिः प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ-प्रमाणसम्पाद्या । न च लोचनादिगतगुणाश्रितलिंगसम्बन्धग्राहकत्वेन प्रत्यक्षप्रवृत्तिः येन तत्कार्यत्वेन कस्यचिल्लिंगस्य प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तिः स्यात् । तन्न कार्यहेतोरपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः ।

अनुपलब्धेस्त्वेवंविधे विषये प्रवृत्तिरेव न सम्भवति, तस्या अभावसाधकत्वेन व्यापाराभ्युपगमात् । न चान्यल्लिंगमभ्युपगम्यत इत्युक्तम् । न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तानां प्रामाण्योत्पादकत्वम् ।

अथ कार्येण यथार्थोपलब्ध्यात्मकेन तेषामधिगम । तदप्ययुक्तम्, यथार्थत्वाऽयथार्थत्वे विहाय यदि कार्यस्य उपलब्ध्याख्यस्य स्वरूपं निश्चितं भवेत्तदा यथार्थत्वलक्षणः कार्यस्य विशेषः पूर्वस्मात्कारणकलापादनिष्पद्यमानो गुणाख्यं स्वोत्पत्तौ कारणान्तरं परिकल्पयति । यदा तु यथार्थैवोपलब्धिः स्वोत्पादककारणकलापानुमापिका तदा कथमुत्पादकव्यतिरेकेण गुणसद्भावः ? अयथार्थत्वं तूपलब्धेः कार्यस्य विशेषः पूर्वस्मात्कारणसमुदायादनुपपद्यमानः स्वोत्पत्तौ सामग्र्यन्तरं परिकल्पयति । अत एव परतोऽप्रामाण्यमुच्यते । तस्योत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात् । न चेन्द्रियनैर्मल्यादि गुणत्वेन वक्तुं शक्यम्, नैर्मल्यं हि तत्स्वरूपमेव, न पुनरौपाधिको गुणः । तथाव्यपदेशस्तु दोषाभावनिबन्धनः । तथाहि—कामलादिदोषाऽसत्त्वान्निर्मलमिन्द्रियमुच्यते, तत्सत्त्वे सदोषम् । मनसोऽपि निद्राद्यभावः स्वरूपम्, तत्सद्भावस्तु दोषः । विषयस्यापि निश्चलत्वादिः स्वभावः चलत्वादिकस्तु दोषः । प्रमातुरपि क्षुदाद्यभावः स्वरूपम्, तत्सद्भावस्तु दोषः । तदुक्तम् 'इयती च सामग्री प्रमाणोत्पादिका' । तदुत्पद्यमानमपि प्रामाण्यं स्वोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणानपेक्षत्वात् स्वत उच्यते ।

इन तीनो मे जो स्वभाव हेतु है वह प्रत्यक्ष से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसमें केवल व्यवहार की प्रवृत्ति करता है, अन्य कोई कार्य नही करता । जैसे कि, शिंशपा आदि को वृक्षादि सिद्ध करने के लिये 'अय वृक्षः शिंशपात्वात्' इस प्रकार शिंशपात्व आदि जब हेतुरूप से प्रयुक्त किया जाता है तो वह स्वभावहेतु होता है जिससे शिंशपा मे वृक्ष का व्यवहार सिद्ध किया जाता है । प्रत्यक्ष अर्थ में स्वभाव हेतु की प्रवृत्ति होती है । किन्तु यहां इन्द्रियों के गुण अतीन्द्रिय होने से उनके साथ हेतु का व्याप्ति सबंध प्रत्यक्ष से निश्चित नही हो सकता । इसलिये स्वभाव हेतु से उत्पन्न अनुमान इन्द्रियगुणो के साथ हेतु के संबन्ध का व्यवहार प्रकाशित नही कर सकता ।

[कार्यहेतुक अनुमान से सम्बन्ध सिद्धि का अभाव]

(२) कार्य हेतु से जो अनुमान उत्पन्न होता है वह भी इन्द्रिय गुणो के साथ हेतु के व्याप्ति सम्बन्ध के प्रकाशन मे समर्थ नही हो सकता । कार्य-कारण भाव सिद्ध होने पर कारण के अनुमान मे कार्य को हेतुरूप से पुरस्कृत किया जाता है । जैसे कि 'वह्निमान् धूमात्' इसमे कार्य धूम यह हेतु रूप से पुरस्कृत किया है । यह आपको भी स्वीकार्य है । काय-कारणभाव की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ (अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक) प्रमाण से निश्चित होती है । अतीन्द्रिय चक्षु आदि मे रहने वाले अतीन्द्रिय गुणो के साथ लिंगसंबन्धग्राहक के रूप मे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही हो सकती जिससे यह कह सके कि इसके कार्यरूप मे किसी लिंग का प्रत्यक्ष होता है । इसलिए कार्यहेतु के द्वारा भी व्याप्ति का निश्चय नही हो सकता । अनुपलब्धि की तो इस प्रकार के विषय में प्रवृत्ति ही नही हो सकती । क्योंकि आप अनुपलब्धि को अभावसाधकरूप से उपयुक्त मानते हैं । परन्तु इन्द्रियगत

गुणो के साथ हेतु का सम्बन्ध अभावस्वरूप नही है। इन तीनों से अतिरिक्त किसी हेतु को आप स्वीकार नही करते और आपके मतानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाण से अतिरिक्त कोई भी प्रमाण नही है। अतः इन्द्रियगत गुणो का ज्ञान नही हो सकता। जो किसी भी देश-काल मे प्रमाण द्वारा प्रतीत नही होता है उसका सत् रूप से व्यवहार नही होता है, जैसे खरगोश का सीग। आपके द्वारा स्वीकृत इन्द्रियगत गुण प्रमाण के द्वारा किसी देश-काल मे प्रतीत नही होते इसलिये ज्ञान के उत्पादक कारणो से भिन्न गुण आदि सामग्री प्रामाण्य की उत्पादक है यह कैसे माना जाय?

[यथार्थोपलब्धि कार्य से गुणों की सिद्धि अशक्य]

यदि आप कहें–'अर्थ की यथार्थ प्रतीति इन्द्रियगत गुणो का कार्य है, इस कार्य से इन्द्रियगत गुणों का अनुमान होता है'–तो यह भी युक्त नही, क्योकि यहा प्रश्न होगा कि प्रतीति जो कार्य है वह यथार्थ होती है वा अयथार्थ? यथार्थ और अयथार्थ भाव को छोडकर प्रतीति का अन्य कोई सामान्य स्वरूप प्रसिद्ध नही है। यदि प्रतीति का यथार्थभाव और अयथार्थभाव के अलावा अन्य कोई सामान्यस्वरूप निश्चित हो तब कार्य का यथार्थभावरूप विशेषस्वरूप को उत्पन्न होने के लिये पूर्ववर्ती विज्ञान सामान्य के कारणो के समूहमात्र से उत्पन्न न होने के कारण, इन्द्रियगत गुण नामक अन्य कारण की अपेक्षा होती और तभी यथार्थभाव की अन्यथा अनुपपत्ति से उसका अनुमान भी हो सकता परन्तु सामान्यतः यथार्थभाव को छोडकर प्रतीति यानी विज्ञान का अन्य कोई स्वरूप है ही नही, इसलिए अपने उत्पादक कारणो से प्रतीति जब भी होती है तब यथार्थ ही होती है। हाँ, अगर दोषात्मक विशेष कारण आ जाय तब प्रतीति अयथार्थ होगी। इसलिए दोषात्मक विशेष कारण के अभाव मे अपने उत्पादक कारणो से यथार्थ प्रतीति ही उत्पन्न होने की वजह से यथार्थ उपलब्धि स्वरूप कार्यहेतु से ज्ञानोत्पादक कारणो के समूह की अनुमिति हो सकती है। इस दशा मे उत्पादक कारणसमूह से अतिरिक्त गुणो की सत्ता सिद्ध नही हो सकती। प्रतीतिस्वरूप कार्य का अयथार्थत्व तो विशेष धर्म है। इसलिए वह पूर्ववर्ती कारणो के समूह से नही उत्पन्न हो सकता, अत· इस अयर्थोपलब्धिरूप कार्यहेतु विशेष मे दोषादि अन्य कारण का अनुमान हो सकता है। यही कारण है-प्रतीति की अयथार्थता ज्ञान के सामान्य कारणो से नही उत्पन्न होती, किन्तु विशेष कारण की अपेक्षा रखती है। अतः अयथार्थ उपलब्धि अपनी उत्पत्ति के लिए सामान्य कारणो से अतिरिक्त दोषादि सामग्री की अपेक्षा रखती है। अतः इससे अयथार्थ उपलब्धि स्थल मे दोषादि का अनुमान होता है। इसलिए अप्रमाण्य को परतः अर्थात् पर की अपेक्षा से उत्पन्न होने का कहा जाता है। कारण अप्रामाण्य उत्पत्ति मे दोषापेक्ष है।

[दोषसिद्धि की समानयुक्ति से गुणसिद्धि का असंभव]

यदि आप कहे–'अप्रामाण्य मे कारणभूत दोषादि के समान प्रामाण्य मे इन्द्रियो का निर्मलभाव आदि गुण अपेक्षित हैं। उसके द्वारा ज्ञान का यथार्थभाव उत्पन्न होता है। यहा यह विवेक कर सकते हैं कि इन्द्रिय यह ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है और उनका निर्मलभाव प्रामाण्य की उत्पत्ति मे कारण है। अतः अप्रामाण्य के समान प्रामाण्य को भी परत· अर्थात् 'गुण' से उत्पन्न होने वाला मानना चाहिये'—तो यह कथन युक्त नही। इन्द्रियो का निर्मलभावस्वरूप गुण तो इन्द्रियो का स्वरूप ही है किन्तु किसी उपाधि से उत्पन्न होने वाला नही। जब निर्मलभाव इन्द्रिय का गुण है–ऐसा व्यवहार करते है तब यह व्यवहार दोषाभाव को लेकर होता है। अर्थात् वहां दोषाभाव ही

नाप्येतद्वक्तव्यम्—"तज्जनकानां स्वरूपमयथार्थोपलब्ध्या समधिगतम्, यथार्थत्वं तु पूर्वस्मात्कार्यावगतात्कारकस्वरूपादनिष्पद्यमानं किमिति गुणाख्यं सामग्र्यन्तर न कल्पयति" । प्रक्रियाया विपर्ययेणापि कल्पयितुं शक्यत्वात् । यतो न लोकः प्रायशो विपर्ययज्ञानात् स्वरूपस्थं कारणमप्यनुमिनोति किंतु सम्यग् ज्ञानात् । तथाविधे च कारकानुमानेऽशक्यप्रतिषेधा पूर्वोक्तप्रक्रिया । नापि तृतीयं यथार्थत्वाऽयथार्थत्वे विहाय कार्यमस्तीत्युक्तम् ।

अपि चार्थतथाभावप्रकाशनरूपं प्रामाण्यम् । तस्य चक्षुरादिकारणसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्त्यभ्युपगमे विज्ञानस्य किं स्वरूपं भवद्भिरपरमभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम् । न च तद्रूपव्यतिरेकेण विज्ञानस्वरूपं भवन्मतेन सम्भवति, येन प्रामाण्यं तत्र विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पन्नमुत्तरकालं तत्रैवोत्पत्तिमदभ्युपगम्येत, भित्ताविव चित्रम् ।

गुणस्वरूप हैं । इसकी उपपत्ति इस प्रकार है-कामल (नेत्रगोलक पर पित्त का आवरण) आदि दोषों के न रहने पर इन्द्रिय निर्मल कही जाती हैं । तात्पर्य, दोषो का अभाव यह इन्द्रियो का स्वरूप ही है । यदि कामल आदि दोष हो तभी इन्द्रिय दोषयुक्त कही जाती है, अन्यथा दोष के अभाव में इन्द्रिय गुणयुक्त इन्द्रिय कर के नहीं है-मात्र इन्द्रिय है वैसा ही कहा जाता है । मिद्ध अर्थात् निद्रा का अथवा इसके तुल्य अन्य जडतादि दोषो का अभाव मन का शुद्ध स्वरूप है । निद्रा आदि का सद्भाव मन का दोष है ।

ज्ञान के विषय का निश्चल याने स्थिर भाव आदि यह स्वभाव है । परन्तु चंचल भाव आदि दोष है । क्योंकि वस्तु अतीव कम्पमान होती है तब उसका यथार्थबोध नहीं हो सकता । भूख आदि का अभाव यह प्रमाता यानी प्रमाण ज्ञान करने वाले आत्मा का स्वरूप है । परन्तु भूख आदि का सद्भाव दोष रूप है । कहा भी है "प्रमाणो की उत्पादक सामग्री इतनी ही होती हैं ।" इसलिये प्रामाण्य जब उत्पन्न होता है तब अपने उत्पादक जो ज्ञानसामान्य के कारण हैं उनके अलावा गुणों को कारणरूप मे अपेक्षा नहीं करता इसलिये प्रामाण्य स्वतः कहा जाता है ।

[यथार्थत्व से गुणसामग्री कल्पना में प्रतिबन्दी]

यह भी आप नहीं कह सकते—

मात्र ज्ञान के उत्पादक कारणो का स्वरूप तो अयथार्थ ज्ञान से अनुमित हो जाता है, क्योंकि ज्ञान सामान्य की सामग्री अयथार्थ ज्ञान की जनक होती है । अगर कोई विशेष कारण (गुण) इसमे प्रविष्ट हो जाय तब ज्ञान यथार्थ उत्पन्न होगा । इसलिये ज्ञान का यथार्थभाव अयथार्थोपलब्धिरूप सामान्य कार्य से अनुमित कारणसमूहमात्र से उत्पन्न नहीं हो सकता । तब उसके लिये अर्थात् वह अपनी उत्पत्ति के लिये गुण नामक अन्य सामग्री का अनुमान क्यो नहीं करायेगा ?

ऐसा कहना इसलिये शक्य नहीं है कि-यहाँ इस प्रक्रिया को विपरीतरूप से होने की कल्पना भी कर सकते हैं । तात्पर्य यह है कि-गुणो के अनुमान के लिये जिस प्रक्रिया की आपने कल्पना की है उससे विपरीत रूप की भी प्रक्रिया को कल्पना की जा सकती है । यह इस प्रकार-जैसे आपने ज्ञानसामान्य की सामग्री से सहजरूप से अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने को एव गुणादि कारणविशेष के सहकार से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने की प्रक्रिया की कल्पना की है, वैसे उसके विपरीतरूप मे यह कहा

किं च यदि स्वसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावपि न प्रामाण्यं समुत्पद्यते, किंतु तद्व्यतिरिक्त-सामग्रीतः पश्चाद् भवति, तदा विरुद्धधर्माध्यासात् कारणभेदाच्च भेदः स्यात्। अन्यथा 'अयमेव भेदो भेदहेतु र्वा, यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च, स चेन्न भेदको विश्वमेकं स्यात्' [भामती] इति वचः परिप्लवेत। तस्माद्यत एव गुणविकलसामग्रीलक्षणात्कारणाद्विज्ञानमुत्पद्यते तत एव

जा सकता है कि ज्ञानसामग्री से सहजरूप से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है एव दोषादि कारण विशेष के सहकार से अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।

इस विपरीत प्रक्रिया के समर्थन मे लोक मे दिखाई भी पडता है कि प्राय: लोग पारमार्थिक स्वरूप वाले कारण का अनुमान विपरीत याने अयथार्थ ज्ञान से नही करते है, किन्तु सम्यग् यानी यथार्थज्ञान से ही करते है। जब इस प्रकार सम्यग् ज्ञान से ही कारणानुमान अर्थात् स्वरूपस्थ कारणो का अनुमान लोकसिद्ध है, तब जिस स्वत:प्रामाण्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया का प्रतिपादन पहले किया गया है उसका इनकार नही कर सकते। यह तो पहले भी कहा जा चुका है कि यथार्थभाव और अयथार्थभाव को छोड कर तीसरा कोई कार्य नही। अर्थात् ज्ञाननिष्ठ यथार्थत्व या अयथार्थत्व को छोड कर तीसरा कोई धर्म है ही नही जिसमे ज्ञानसामग्री सामान्य को प्रयोजक कहा जाय एवं साथ-साथ इस सामग्री मे गुण या दोष अन्तर्निविष्ट होने से उनको ज्ञान मे क्रमश: यथार्थता या अयथार्थता उत्पन्न होने मे प्रयोजन कहा जा सके। दर असल निर्मल इन्द्रियादि ज्ञानसामान्य की सामग्री से यथार्थ ज्ञान ही उत्पन्न होता है इसलिये यथार्थता यानी प्रामाण्य स्वत: है और दोष का सामग्री मे प्रवेश होने पर ज्ञान अयथार्थ उत्पन्न होता है। निष्कर्ष यह है कि कार्यलिंगक अनुमान पक्ष मे यथार्थोपलब्धि द्वारा इन्द्रियगत गुणो का अनुमान नही हो सकता।

[अर्थ तथा भाव प्रकाशनरूप प्रामाण्य से विरहित ज्ञानस्वरूप नहीं होता]

(अपि चार्थतथा०) इसके अतिरिक्त, पदार्थ के तात्त्विक स्वरूप के प्रकाशन अर्थात् प्रकाशकत्व को प्रामाण्य कहा जाता है। चक्षु आदि के कारणो की सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होने पर भी यदि अर्थ तथा भाव प्रकाशन यानी तात्त्विक (यथार्थ) प्रकाशकत्व की अनुत्पत्ति मानते है तो यह बताईये कि विज्ञान का उससे अन्य क्या स्वरूप आप मानते है? आपके मत मे अर्थ के तथाभाव यानी पारमार्थिक स्वरूप के प्रकाशन को छोडकर विज्ञान का ऐसा कोई अन्य स्वरूप नही हो सकता जिसको ज्ञान की उत्पत्ति होने पर भी तत्काल अनुत्पन्न और उत्तरकाल मे उत्पन्न होता है ऐसा कहा जा सके। इसलिये इस प्रकार का पश्चाद् उत्पन्न होने वाला प्रामाण्य मानना अयुक्त है। पूर्वकाल मे पदार्थ मे जो विद्यमान न हो और उत्तरकाल मे उस पदार्थ मे दिखाई दे वहाँ पदार्थ का मूलस्वरूप उससे रहित माना जाता है। जैसे, भित्ति पहले चित्र से रहित होती है। उसमे बाद मे चित्र की रचना की गयी तो भित्ति सचित्र दिखाई देती है। इसलिये भित्ति को मूलत: चित्र से रहित मानी जाती है और सचमुच ऐसी अचित्र भित्ति भी होती है। परन्तु वस्तु के तात्त्विक स्वरूप के प्रकाशन को छोड कर विज्ञान का स्वरूप कोई दिखाई नही देता और होता भी नही है। तब यह फलित होता है कि जब विज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थ तथा भाव प्रकाशन युक्त ही उत्पन्न होता है और वही प्रमाणज्ञान निष्ठ प्रामाण्य है। तात्पर्य, ज्ञान उत्पन्न होने के बाद उसमे कोई प्रामाण्य नाम का धर्म उत्पन्न होता है ऐसा नही दिखाई देता।

प्रामाण्यमपीति गुणवच्चक्षुरादिभावाभावानुविधायित्वादित्यसिद्धो हेतु । अत एवोत्पत्तौ सामग्र्यन्तरानपेक्षत्वं नाऽसिद्धम् । अनपेक्षत्वविरुद्धस्य सापेक्षत्वस्य विपक्षे सद्भावात् ततो व्यावर्त्तमानो हेतुः स्वसाध्येन व्याप्यते इति विरुद्धानैकान्तिकत्वयोरप्यभाव इति भवत्यतो हेतोः स्वसाध्यसिद्धिः ।

[परतः पक्ष में ज्ञान और प्रामाण्य में भेदापत्ति]

अपर च, यह भी ज्ञातव्य है कि यदि ज्ञान अपने उत्पादक कारणो से उत्पन्न होने पर भी उसमें प्रामाण्य उत्पन्न नही होता किन्तु ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा बाद में उत्पन्न हो तब ज्ञान और प्रामाण्य यानी प्रामाण्ययुक्त ज्ञान अर्थात् प्रमाण्यज्ञान मे भेद मानना पडेगा। (i) जिन पदार्थो मे विरुद्ध धर्म का सबंध होता है उनका भेद होता है। जैसे, शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श परस्पर विरुद्ध धर्म हैं इसलिये इन विरुद्ध धर्म से अध्यासित शीतजल और उष्ण तेज का भेद होता है। अथवा (ii) जिनके उत्पादक कारणो मे भेद होता है उनके कार्य मे भी भेद हो जाता है। जैसे, घट का कारण मिट्टी है और वस्त्र के कारण तन्तु हैं, इसलिये घट और वस्त्र मे भेद है। प्रस्तुत मे आपने जब प्रामाण्यशून्य विज्ञान की पहले उत्पत्ति मानी तब इसका अर्थ यह हुआ कि केवल विज्ञान अर्थतथाभावप्रकाशनस्वरूप नही है और प्रामाण्य अर्थतथाभावप्रकाशनस्वरूप है। इस प्रकार दोनों मे उक्त स्वरूप व स्वरूपाभाव नामक-दो विरुद्ध धर्मो का अध्यास हुआ। इससे विज्ञान और प्रामाण्य मे भेद प्रसक्त होगा। तात्पर्य, ज्ञान और प्रामाण्य मे भेद होना चाहिये। यह विरुद्ध धर्माध्यास प्रयुक्त भेद की आपत्ति हुई।

अब, कारणभेद से भेद आपत्ति इस प्रकार है-आपके मतानुसार ज्ञान के कारण चक्षु आदि इन्द्रिय हैं और प्रामाण्य के कारण गुण आदि हैं, इस प्रकार कारणो का भेद होने से भी ज्ञान और प्रामाण्य मे भेद की आपत्ति आएगी। यदि आप भेद की आपत्ति होने पर भेद नही मानेंगे तो इस विषय मे जो प्रसिद्ध वचन है वह मिथ्या सिद्ध होगा। प्रसिद्ध वचन इस प्रकार है—

('अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा०' इत्यादि) "यही भेद है कि जो विरोधी धर्म का सम्बन्ध है और यही भेद का प्रयोजक है जो इनके कारणो का भेद है। यदि विरुद्ध धर्मो का सम्बन्ध या कारण-भेद होने पर भी वस्तु मे भेद न होता हो तो समस्त ससार एक हो जाना चाहिये-अर्थात् भिन्न भिन्न पदार्थात्मक न होना चाहिये।"

[स्वस्वरूपनियतत्व और अन्यभावानपेक्षत्व के बीच व्याप्ति सिद्धि]

फलित यह होता है कि गुणरहित जिस सामग्रीरूप कारण से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी कारण से प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है इसलिये आपने प्रामाण्य की उत्पत्ति को परतः सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिया था कि 'प्रामाण्य गुणयुक्त चक्षु आदि इन्द्रियो के भावाभाव का अनुसरण करने वाला होता है'-वह हेतु अब असिद्ध हो जाता है क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त प्रामाण्य के प्रति विज्ञान कारण से अतिरिक्त कोई कारण ही नही है। इसीलिये हमने जो उत्पत्ति मे प्रामाण्य को स्वत. सिद्ध करने के लिये अन्य सामग्री की अपेक्षा के अभाव को हेतुरूप मे प्रस्तुत किया था वह हेतु अब असिद्ध नही रहता। जिनकी उत्पत्ति स्वत. नही होती है उन परतः होती है उन विपक्षो मे निरपेक्षता नही रहती किन्तु सापेक्षता रहती है। इस प्रकार विपक्ष में न रहने वाला हमारा अनपेक्षत्व हेतु स्वस्वरूप

अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा च शक्तिः प्रामाण्यम् । शक्तयश्च सर्वभावानां स्वत एव भवन्ति, नोत्पादककारणकलापाधीनाः । तदुक्तम्-'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् । नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥ १ ॥' [श्लो० वा० सू०-२-४७] एतच्च नैव सत्कार्यदर्शन-समाश्रयणादभिधीयते किंतु य कार्यधर्मः कारणकलापेऽस्ति स एव कारणकलापादुपजायमाने कार्ये तत एवोदयमासादयति यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपादयो घटेऽपि मृत्पिण्डादुपजायमाने मृत्पिण्डादि-रूपद्वारेणोपजायन्ते । ये पुनः कार्यधर्माः कारणेष्वविद्यमाना न ते कारणेभ्यः कार्ये उदयमासादयति तत एव प्रादुर्भवन्ति किंतु स्वतः, यथा घटस्यैवोदकाहरणशक्तिः । तथा विज्ञानेऽप्यर्थतथात्वपरिच्छेद-शक्तिः चक्षुरादिषु विज्ञानकारणेष्वविद्यमाना न तत एव भवति किंतु स्वत एव प्रादुर्भवति । किंचोक्तम्-'आत्मलाभे हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत् । लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥ १ ॥' [श्लो० वा० सू०-२-४८] तथाहि-'मृत्पिडदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते । उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते ॥ २ ॥ [तत्त्वसंग्रहे-२८५०] इति ।

नियतत्व रूप (देखीये पृष्ठ ४-प० १२) अपने साध्य के साथ व्याप्ति वाला सिद्ध हो जाता है अर्थात् साध्य 'स्वस्वरूपनियतत्व' यह व्यापक और हेतु 'अन्यभावानपेक्षत्व' यह व्याप्य सिद्ध होता है । सिद्ध व्याप्तिक होने से ही हमारे हेतु मे न विरुद्धता नामक हेत्वाभास है और न अनैकान्तिकत्व नामक हेत्वाभास है । इसलिये निर्दोष हेतु के द्वारा हमारे साध्य की सिद्धि निर्बाध हो जाती है ।

[शक्तिरूप होने से प्रामाण्य स्वतः ही है]

इसके अतिरिक्त प्रामाण्य इस प्रकार भी स्वतःसिद्ध है:- यह दिखाई पड़ता है-प्रामाण्य यह विज्ञान की शक्ति है और विज्ञान की यह शक्ति अर्थतथात्वपरिच्छेदरूप है अर्थात् पदार्थ के तात्त्विकभाव के प्रकाशनरूप है । यह शक्ति विज्ञानोत्पत्ति के साथ साथ सबद्ध हो जाती है । क्योकि सर्व पदाथ की शक्तियाँ स्वतः ही होती है, किन्तु वे पदार्थ के साथ अपने सम्बन्ध मे पदार्थ के उत्पादक कारणो के समूह की अपेक्षा नही करती । 'स्वत. सर्व... ... ०' इस श्लोकवार्त्तिक की कारिका मे भी यही कहा गया है कि-'समस्त प्रमाणो मे प्रामाण्य का सम्बन्ध स्वतः होता है यह समझ लेना चाहिये । क्योकि पदार्थ मे जो शक्ति स्वतः विद्यमान नही है उसको वहाँ उत्पन्न करने मे अन्य कोई भी समर्थ नही है' ।

[शक्ति का आविर्भाव कारणों से नहीं होता]

इस वस्तु का यानी शक्तियो की उत्पत्ति के स्वतस्त्व का कथन सत्कार्यवाद का आश्रय करके नही करते है क्योकि हम यह नही मानते कि प्रामाण्यशक्ति की अभिव्यक्ति होती है । किन्तु, शक्ति का आविर्भाव स्वत होता है यह कहने का हमारा अभिप्राय यह है-जो कार्यधर्म कारणसमूह मे रहता है वही कार्यधर्म, कारणसमूह से कार्योत्पत्ति होने पर उसी कारणधर्म से कार्य मे अभिव्यक्त हो जाता है । जैसे, मिट्टी के पिण्ड मे जो रूप आदि रहते हैं वे रूप आदि, मिट्टी के पिण्ड से घटोत्पत्ति होने पर घडे मे सो मिट्टी के रूपादि द्वारा उत्पन्न हो जाते है । इसलिये वे परतः उत्पन्न हैं । किन्तु कार्यो का जो धर्म कारणो मे विद्यमान नही है वे कारणो के द्वारा कार्य का उदय होने पर कारणो से ही अभिव्यक्त नही होते है किन्तु स्वतः ही अभिव्यक्त होते हैं, जैसे, उसी घट मे जल लाने की शक्ति । घट में रूपादि धर्म कारणगुण से उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार उसी घट में जलाहरण शक्ति कारणगुण से उत्पन्न नही

अथ-चक्षुरादेर्विज्ञानकारणादुपजायमानत्वात्प्रामाण्यं परत उपजायते इति यद्यभिधीयते-तदभ्युपगम्यत एव। प्रेरणाबुद्धेरपि अपौरुषेयविधिवाक्यप्रभवायाः प्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। तथाऽनुमानबुद्धिरपि गृहीताऽविनाभावानन्यापेक्षलिंगादुपजायमाना तत एव गृहीतप्रामाण्योपजायत इति सर्वत्र विज्ञानकारणकलापव्यतिरिक्तकारणान्तरानपेक्षमुपजायमानं प्रामाण्यं स्वत उत्पद्यत इति नोत्पत्तौ परतः प्रामाण्यम्।

होती क्योकि कारणभूत मिट्टीपिंड मे जलाहरण शक्ति है ही नही। इसलिये यह मानना होगा कि घट में यह शक्ति स्वतः आविर्भूत होती है।

इस प्रकार ज्ञान मे जो पदार्थ के तात्त्विक स्वरूप को प्रकाशित करने की शक्ति है वह ज्ञान के उत्पादक कारण चक्षु आदि मे विद्यमान नही होने से वह चक्षु आदि से उत्पन्न नही मान सकते किन्तु स्वतः ही प्रादुर्भूत होती है-ऐसा सिद्ध होता है।

यह केवल हमारा ही प्रतिपादन है ऐसा नही है किन्तु इस विषय मे कहा भी है कि-'आत्मलाभे हि०........' इत्यादि। अर्थः-"पदार्थो को अपने स्वरूपलाभ अर्थात् अपनी उत्पत्ति के लिये कारण की अपेक्षा होती है किन्तु पदार्थ जब उत्पन्न हो जाते है तब अपने कार्यों मे उनकी प्रवृत्ति स्वय ही होती है। जैसे कि-"घट अपनी उत्पत्ति के लिये मिट्टी के पिण्ड, दण्ड और चक्र आदि की अपेक्षा करता है, परन्तु जल लाने के अपने कार्य में उसको मिट्टी के पिण्ड आदि की अपेक्षा नहीं रहती।"

[विज्ञानकारण से प्रामाण्योत्पत्ति होने से परतः कहना स्वीकार्य]

यदि आप ज्ञान के कारण चक्षु आदि से प्रामाण्य उत्पन्न होता है इसलिये प्रामाण्य को परतः उत्पन्न अर्थात् पर की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाला कहते है तो इस वस्तु का तो हम स्वीकार ही करते है। जिसको आप पर की अपेक्षा से कहते हैं वह वस्तुतः स्व की अपेक्षा से है। जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उन्ही कारणो से अतिरिक्त किसी भी कारण से ज्ञान का प्रामाण्य उत्पन्न नही होता है—यही प्रामाण्य का स्वतोभाव है। धर्म की परत. उत्पत्ति का तात्पर्यार्थ यही है कि जहाँ मात्र धर्मी के कारणो द्वारा ही उस धर्म की उत्पत्ति नही होती है किन्तु धर्मी के कारणो से अतिरिक्त कारण की धर्म की उत्पत्ति मे अपेक्षा रहती है, अर्थात् उस धर्म की उत्पत्ति अतिरिक्त कारण द्वारा होती है। आप प्रामाण्य को परतः उत्पन्न इसलिये कहते हैं कि प्रामाण्य अपने स्वतन्त्र कारणों से उत्पन्न नही किन्तु विज्ञान के कारणो से उत्पन्न होता है, किन्तु हम इसी को स्वतः उत्पत्ति कहते हैं-केवल नाम के बदल देने से वस्तु का स्वरूप नही पलट जाता।

[प्रेरणाबुद्धि और अनुमान का स्वतः प्रामाण्य]

(प्रेरणाबुद्धेरपि०........इत्यादि) यही बात अपौरुषेय वाक्य के प्रामाण्य में लागू होती है, क्योंकि अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष के द्वारा नही उच्चरित ऐसे वाक्य से उत्पन्न होने वाली प्रेरणा अर्थात् विधि-निषेध जनित नोदना स्वरूप बुद्धि मे भी प्रामाण्य इसी प्रकार अपौरुषेय वाक्यो से ही उत्पन्न होता है। विधिवाक्य से जैसे विधि का ज्ञान उत्पन्न होता है वैसे ही विधिज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है। इसलिये विधिज्ञान का प्रामाण्य भी स्वतः उत्पन्न माना गया है। इसी प्रकार

[(२) स्वकार्ये परतः प्रामाण्यवादप्रतिक्षेपः–पूर्वपक्षः]

नापि स्वकार्येऽर्थतथाभावपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तमानं प्रमाणं स्वोत्पादककारणव्यतिरिक्त-निमित्तापेक्षं प्रवर्त्तत इत्यभिधातुं शक्यम् । यतस्तन्निमित्तान्तरमपेक्ष्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं किं A संवादप्रत्ययमपेक्ष्य प्रवर्त्तते, B आहोस्वित् स्वोत्पादककारणगुणानपेक्ष्य प्रवर्त्तत इति विकल्पद्वयम् । तत्र यद्याद्यो विकल्पोऽभ्युपगम्यते तदा चक्रकलक्षणं दूषणमापतति । तथाहि–प्रमाणस्य स्वकार्ये प्रवृत्तौ सत्यामर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ चार्थक्रियाज्ञानोत्पत्तिलक्षणः संवादः, तं च संवादमपेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्येऽर्थतथाभावपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तते इति यावत्प्रमाणस्य स्वकार्ये न प्रवृत्तिर्न तावदर्थक्रिया-र्थिनां प्रवृत्तिः, तामन्तरेण नार्थक्रियाज्ञानसंवादः, तत्सद्भावं विना प्रमाणस्य तदपेक्षस्य स्वकार्ये न प्रवृत्तिरिति स्पष्टं चक्रकलक्षणं दूषणमिति ।

अनुमानरूप ज्ञान भी, जिस लिंग यानी हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति प्रतीत हो चुकी है उसी लिंग द्वारा उत्पन्न होता है और इसमे हेतु को किसी अन्य के सहकार की अपेक्षा नही है। उस अनुमानज्ञान का प्रामाण्य भी उसी लिंग से उत्पन्न होता है। इस प्रकार समस्त ज्ञानो मे प्रामाण्य भी ज्ञान की उत्पत्ति के कारणो से ही उत्पन्न होता है। प्रामाण्य की उत्पत्ति के कारण, ज्ञान की उत्पत्ति के कारणो से भिन्न नही है। साराश, सर्वत्र विज्ञान के कारण समूह को छोड़कर अन्य किसी कारण को सापेक्ष होने वाला प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार प्रामाण्य उत्पत्ति मे परतः यानी पर की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाला नही है।

[(२) स्वकार्य में प्रामाण्य को परापेक्षा नहीं है–पूर्वपक्ष चालु]

जो प्रामाण्ययुक्त प्रमाणज्ञान का कार्य है–अर्थतथाभावपरिच्छेद, अर्थात् वस्तु के तात्त्विक स्वरूप का प्रकाश, इस कार्य मे जब प्रमाण ज्ञान प्रवृत्ति करता है तब वह अपने उत्पादक कारणो से भिन्न किसी अन्य निमित्त कारण की अपेक्षा करता है-ऐसा भी नही कह सकते। कारण, अगर कहे–प्रमाण अपने कार्य मे प्रवर्त्तमान होने के लिये किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा करता है तो यह बताइये कि कौन से निमित्त की अपेक्षा रख कर प्रमाण ज्ञान अपने कार्य मे प्रवृत्त होता है ? क्या A सवादीज्ञान की अपेक्षा रखकर ? या B अपने उत्पादक कारण गुणो की अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होता है ? ये दो विकल्प प्रस्तुत हो सकते है।

[संवादिज्ञान की अपेक्षा में चक्रक दोष]

इनमे से यदि A प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो चक्रक नाम का दोष प्राप्त होता है। दोष का स्वरूप इस प्रकार है-प्रमाण अर्थतथाभावपरिच्छेदस्वरूप अपने कार्य मे जब प्रवृत्त हो जायगा तभी अर्थक्रिया के अभिलाषियो की प्रवृत्ति होगी। उदाहरणार्थ-घट के प्रमाणज्ञान से घट को यथार्थता का निर्णय होने पर ही घटार्थी की घट मे प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति होने पर संवाद संपन्न होगा अर्थात् प्रमाणज्ञान निर्दिष्ट विषय की प्राप्तिस्वरूप अर्थक्रिया का ज्ञान उत्पन्न होगा, तथा, यह सवाद सपन्न होने पर ही प्रमाण अर्थ तथा भाव परिच्छेदस्वरूप अपने कार्य मे प्रवृत्त होगा। इसलिये जब तक यथार्थ वस्तुपरिच्छेदरूप अपने कार्य मे प्रमाण प्रवृत्त नही होगा तब तक अर्थक्रिया के अर्थात् प्रमाण निर्दिष्ट विषय की प्राप्ति के अभिलाषीयो की प्रवृत्ति नही होगी, इस

न च भाविनं संवादप्रत्ययमपेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तत इति शक्यमभिधातुम्, भाविनोऽसत्त्वेन विज्ञानस्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्वाऽसम्भवात् ।

B अथ द्वितीयः । तत्रापि किं C गृहीताः स्वोत्पादककारणगुणाः सन्तः प्रमाणस्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्वं प्रपद्यन्ते D आहोस्विदगृहीताः इत्यत्रापि विकल्पद्वयम् । तत्र D यद्यगृहीता इति पक्षः, स न युक्तः । अगृहीतानां सत्त्वस्यैवाऽसिद्धेः सहकारित्वं दूरोत्सारितमेव । अथ C द्वितीयः, सोपि न युक्तः, अनवस्थाप्रसंगात् । तथाहि-गृहीतस्वकारणगुणापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तते, स्वकारणगुणज्ञानमपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्षं प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तते, तदपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्षमित्यनवस्थासमवतारो दुर्निवार इति ।

अथ प्रमाणकारणगुणज्ञानं स्वकारणगुणज्ञानाऽनपेक्षमेव प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तते, तर्हि प्रमाणमपि स्वकारणगुणज्ञानाऽनपेक्षमेवार्थपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तिष्यत इति व्यर्थं प्रमाणस्य स्वकारणगुणज्ञानापेक्षणमिति न स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं प्रमाणमन्यापेक्षम् ।

प्रवृत्ति के विना 'अर्थक्रियाज्ञान' रूप सवाद नही होगा, संवाद के विना सवाद की अपेक्षा रखने वाला प्रमाण अपने कार्य मे प्रवृत्त नही होगा इस-प्रकार चक्रक नाम का दोष स्पष्ट लग जाता है ।

यदि आप इस दोष को हठाने के लिये कहते है-प्रमाण जव यथार्थवस्तुबोधरूप अपने कार्य मे प्रवृत्त होता है तव वर्त्तमान अथवा भूतकालीन नही किन्तु भावी सवाद ज्ञान की अपेक्षा करता है इसलिये इस को पूर्ववर्त्तिता अपेक्षित नही है, इसलिये चक्रक दोष नही लगता ।-तो यह कथन युक्त नही है क्योंकि भावी पदार्थ विद्यमान न होने से प्रमाणज्ञान को अपने कार्य मे प्रवृत्त होने मे वह सहकारी नही बन सकता ।

[कारणगुण अपेक्षा के दूसरे विकल्प की मीमांसा]

B यदि आप दूसरे विकल्प को स्वीकार करते है अर्थात् प्रमाण अपने कार्य में उत्पादक कारणों के गुणो को अपेक्षा रख कर प्रवृत्त होता है-इस प्रकार कहते है, तब इस पक्ष मे भी नये दो विकल्प उपस्थित होते है-C जब उत्पादक कारणो के गुण, प्रमाण को अपने कार्य मे प्रवृत्त होने मे प्रमाण के सहकारी बनते हैं तब वे ज्ञात रहते हैं ? या D अज्ञात ही रहते हैं ? D यदि आप कारणो के गुणो को अज्ञात होते हुए भी सहकारी कहते हैं तो यह पक्ष युक्त नही है । जो अज्ञात है उनकी सत्ता ही सिद्ध नही, अतः जब वे स्वय ही असिद्ध है तब उनके सहकारी बनने की बात ही कहाँ ? अर्थात् वे सहकारी नही हो सकते । C यदि आप दूसरे (वस्तुतः पहले) पक्ष का अभ्युपगम करके कहे-'कारणो के गुण ज्ञात होते है, और इसलिये अपने कार्य में प्रवर्त्तमान प्रमाण के सहकारी हो जाते हैं'-तो यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नही है । क्योंकि, इस पक्ष को मानने पर अनवस्था की आपत्ति खडी होती है । अनवस्था इस प्रकार है-अपने (यानी प्रमाण के) कारणगत गुण ज्ञात होने के बाद उनकी अपेक्षा से प्रमाण अपने कार्य मे प्रवृत्त होगा और कारणगुणविषयक ज्ञान भी प्रमाण रूप होने से वह अपने उत्पादक कारणगुणो के ज्ञात रहने पर ही स्वकार्य मे अर्थात् प्रमाणोत्पादककारणगुणयथार्थ-परिच्छेद मे प्रवृत्त होगा । वह भी कारणगुणज्ञानोत्पादककारण के गुण का ज्ञान होने पर ही स्वकार्य मे प्रवृत्त होगा । इस प्रकार अनवस्था के अवतार को नही रोका जा सकता ।

तदुक्तम्—जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
यावत्कारणशुद्धत्वं, न प्रमाणान्तराद् गतम् ।।
तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ।।
तस्यापि कारणशुद्धेन ज्ञानस्य प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीच्छंस्तु न क्वचिद् व्यवतिष्ठते ।। इति ।
[श्लो० वा० सू० २–४९ त: ५१]

तेन 'ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयाः' ०इति ❀प्रयोगे हेतोरसिद्धिः । तस्मात् स्वसामग्रीत उपजायमानं प्रमाणमर्थयाथात्म्यपरिच्छेदशक्तियुक्तमेवोपजायत इति स्वकार्येऽपि प्रवृत्तिः स्वतः इति स्थितम् ।

[कारणगुणज्ञान की अपेक्षा का कथन व्यर्थ है]

अब यदि आप इस अनवस्था को दूर करने के लिये कहते है–'प्रमाण के कारणगुणो का ज्ञान अपने कारणगुणों के ज्ञान की अपेक्षा विना ही अपने प्रमाणकारणगुणयथार्थपरिच्छेद रूप कार्य मे प्रवृत्त होता है।' तब जो बात आप प्रमाणकारणगुणो के ज्ञान के लिये कहते है वही बात प्रमाण को भी लागू हो सकती है। अर्थात् यह कह सकते है कि इस प्रकार प्रमाण भी अपने कारणगुणो के ज्ञान की अपेक्षा विना ही अर्थतथाभावपरिच्छेद रूप अपने कार्य मे प्रवृत्त हो सकता है। तब प्रमाण की स्वकार्य मे प्रवृत्ति के लिये अपने कारणो के गुणों के ज्ञान की अपेक्षा करना व्यर्थ है। फलतः, प्रमाण की अपने कार्य मे प्रवृत्ति होने के लिये अन्य की अपेक्षा नही रहती।

'जातेऽपि यदि०'...इत्यादि तीन श्लोको मे यही बात कही गई है जिसका सारांश यह है कि–

ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी अन्य प्रमाण से कारणो की शुद्धि (यानी दोषाभाव या गुण) प्रतीत न हो वहाँ तक अगर पदार्थ का निश्चय नही होता है तो इस दशा मे उन प्रमाणकारणो से अतिरिक्त कारणो द्वारा (शुद्धिविषयक) एक अन्य ज्ञान के जन्म की प्रतीक्षा करनी होगी क्योकि– जब तक कारणो की शुद्धि निश्चित नही है तब तक वह शुद्धि असत् (यानी शशसीग) तुल्य है। उस (शुद्धि विषयक) ज्ञान का भी प्रमाण भाव तब तक निश्चित नही होगा, जब तक उस शुद्धिविषयक ज्ञान के कारणो की भी शुद्धि का निश्चय नही है। इस प्रकार अन्य ज्ञानो का प्रमाणभाव भी अन्य अन्य ज्ञान की अपेक्षा करता है ऐसा मानने पर परतः प्रामाण्यवादी के मत मे प्रथम ज्ञान का ही प्रामाण्य सिद्ध नही हो सकेगा। क्योकि-अन्य अन्य ज्ञान की अपेक्षा का कही भी अन्त ही नही आयेगा।

[परतः प्रामाण्य पक्ष में हेतु की असिद्धि]

इससे यह निष्कर्ष आया-आपने जो 'ये प्रतीक्षित-प्रत्ययान्तरोदया. न ते स्वतो व्यवस्थित-धर्मका: यथाऽप्रामाण्यादय.' इस अनुमान का प्रयोग किया था उस प्रयोग में 'ज्ञानान्तरोदयप्रतीक्षा' हेतु असिद्ध है। इसलिये, प्रमाण जब अपनी सामग्री से उत्पन्न होता है तब अर्थतथाभावपरिच्छेद' रूप अपने कार्य की शक्ति से युक्त ही उत्पन्न होता है इसलिये प्रमाण अपने कार्य मे भी स्वत प्रवृत्त होता है, अन्य की अपेक्षा से नही। अब तक, प्रामाण्य की उत्पत्ति और प्रामाण्य का कार्य ये दोनो

❀ प्रयोग पृ० ५–प ५ मध्ये।

[(३) स्वतःप्रामाण्यज्ञप्तिसाधनम्-पूर्वपक्षः]

नापि प्रमाणं प्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम् । तद्धयपेक्षमाणं किं A स्वकारणगुणानपेक्षते, B आहोस्वित् संवादमिति विकल्पद्वयम् । A तत्र यदि स्वकारणगुणानपेक्षत इति पक्षः स्वीक्रियते, सोऽसङ्गतः, स्वकारणगुणानां प्रत्यक्षतत्पूर्वकानुमानाऽग्राह्यत्वेनाऽसत्त्वस्य प्रागेवक्ष प्रतिपादनात् । अथाऽभिधीयते-'यो यः कार्यविशेषः स स गुणवत्कारणविशेषपूर्वको यथा प्रासादादिविशेषः, कार्यविशेषश्च यथावस्थितार्थपरिच्छेदः इति स्वभावहेतुरिति'-एतदसम्बद्धं, परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वाऽसिद्धेः ।

तथाहि-परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वं किं A 1 शुद्धकारकजन्यत्वेन, A 2 उत संवादित्वेन, आहोस्विद् A 3 बाधारहितत्वेन, उतस्विद् A 4 अर्थतथात्वेनेति विकल्पाः । तत्र A 1 यदि गुणवत्कारणजन्यत्वेनेति पक्षः, स न युक्तः, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात् । तथाहि—गुणवत्कारणजन्यत्वेन परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वम्, तत्परिच्छेदत्वाच्च गुणवत्कारणजन्यत्वमिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् ।

स्वतः है इसकी चर्चा हुई । अब प्रामाण्य की ज्ञप्ति भी स्वतः है अर्थात् परतः नहीं है—इसका विचार किया जाता है:—

[(३) प्रामाण्य ज्ञप्ति में भी परतः नहीं है-पूर्वपक्ष]

प्रामाण्य के निश्चय के लिये भी प्रमाण अन्य किसी की अपेक्षा नही करता । यदि वह अपेक्षा करता है तो क्या [A] अपने कारणो के गुणो की अपेक्षा करता है ? अथवा [B] संवाद की अपेक्षा करता है ? A इनमे से यदि आप 'कारणो के गुणों की अपेक्षा करता है' इस पक्ष का स्वीकार करते हैं तो यह पक्ष असंगत है । क्योंकि हम पहले कह चुके हैं कि प्रमाण के कारणो के गुण न प्रत्यक्ष से प्रतीत हो सकते हैं और न प्रत्यक्षमूलक अनुमान से, इसलिये वे असत् हैं । अब यदि आप कहे-"जो जो विशेष कार्य होता है वह वह गुणवान कारणविशेष से उत्पन्न होता है, जैसे कोई विशिष्ट राजभवन, इसी प्रकार पदार्थ का यथार्थबोध भी कार्यविशेष है । इस प्रकार यहाँ स्वभाव हेतु अनुमान प्रयोजक होता है । जो जो कार्यविशेष है वह वह गुणवत्कारण निष्पन्न स्वभाव वाला होता है, तब प्रमाण यह कार्य विशेष होने से गुणवत्कारणनिष्पन्न होना चाहिये ।"-तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि ज्ञान मे यथावस्थितअर्थपरिच्छेदरूपता असिद्ध है ।

[ज्ञान में यथावस्थितार्थपरिच्छेदरूपता की असिद्धि में चार विकल्प]

असिद्ध इस प्रकार:—ज्ञान मे यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदरूपता किस आधार पर कहते हैं ? A (1) क्या ज्ञान शुद्ध यानी गुणवान् कारणो से उत्पन्न है इसलिये ? अथवा A (2) सवादी है इसलिये ? अथवा A (3) बाध से वर्जित है इसलिये ? अथवा A (4) पदार्थ का स्वरूप ज्ञानानुरूप है इसलिये ? ये चार विकल्प हो सकते है । इनमे से A (1) यदि पहले विकल्प मे ज्ञान गुणवान् कारणो से उत्पन्न होने के कारण यथार्थ प्रकाशक है यह पक्ष माना जाय तो इसमे अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति है, वह इस प्रकार.—ज्ञान गुणवान कारणो से उत्पन्न है यह सिद्ध होने पर ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक है यह सिद्ध होगा और वस्तु के यथार्थस्वरूप का प्रकाशकत्व सिद्ध होने पर ज्ञान की गुणवान कारणो से उत्पत्ति सिद्ध होती है । इस प्रकार अन्योन्याश्रय स्पष्ट है ।

क्ष द्रष्टव्य पृ० ८-५ ३ ।

अथ A2 सवादित्वेन ज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वं विज्ञायते, एतदप्यचारु, चक्रकप्रसंगस्यात्र पक्षे दुर्निवारत्वात् । तथाहि, न यावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषः सिद्धयति न तावत्तत्पूर्विका प्रवृत्तिः संवादार्थिनां, यावच्च न प्रवृत्तिर्न तावदर्थक्रियासवादः, यावच्च न संवादो न तावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वसिद्धिरिति चक्रकप्रसंगः प्रागेव* प्रतिपादित ।

अथ A3 बाधारहितत्वेन विज्ञानस्य यथार्थपरिच्छेदत्वमध्यवसीयते, तदप्यसङ्गतम्, स्वाभ्युपगमविरोधात् । तदुभ्यपगमविरोधश्च बाधाविरहस्य -तुच्छस्वभावस्य सत्त्वेन ज्ञापकत्वेन वाऽनङ्गीकरणात् । पर्युदासवृत्त्या तदन्यज्ञानलक्षणस्य तु विज्ञानपरिच्छेदविशेषाऽविषयत्वेन तद्व्यवस्थापकत्वानुपपत्तेः ।

(A4) अथार्थतथात्वेन यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषो विज्ञानस्य व्यवस्थाप्यते, सोऽपि न युक्तः, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् । तथाहि-सिद्धेऽर्थतथाभावे तद्विज्ञानस्यार्थतथाभावपरिच्छेदत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चार्थतथाभावसिद्धिरिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । तन्न कारणगुणापेक्षा प्रामाण्यज्ञप्तिः ।

(A2) अगर दूसरे विकल्प में ज्ञान सवादी होने के कारण तात्त्विक स्वरूप का प्रकाशक है ऐसा समझते है, तो यह भी युक्त नही है, क्योकि इस पक्ष मे चक्रक दोष की आपत्ति दुर्निवार है । यह इस प्रकार-जब तक ज्ञान मे वस्तु के यथार्थप्रकाशकत्वस्वरूप विशेष सिद्ध नही होता तब तक सवादार्थिओ की यथार्थपरिच्छेदपूर्वक होने वाली प्रवृत्ति नही हो सकती और जब तक प्रवृत्ति नही होती तब तक अर्थक्रिया से अर्थात् प्रमाण के द्वारा उत्पन्न होने वाले यथार्थपरिच्छेदरूप कार्य से संवाद नही हो सकता और जब तक सँवाद नही होता तब तक ज्ञान मे यथावस्थित अर्थप्रकाशकत्व की सिद्धि नही हो सकती । इस रीति से चक्रक की आपत्ति पहले ही दी जा चुकी है ।

(A3) अब यदि आप कहते है कि-बाध से रहित होने के कारण, ज्ञान का यथार्थपरिच्छेदत्व निश्चित होता है, तो यह भी अयुक्त है, क्योकि अपने मत के साथ विरोध होगा । विरोध इस प्रकार–आप बाधाभाव को तुच्छ मानते हैं, उसका न सत् रूप से स्वीकार करते है, न ज्ञापक रूप से । यदि आप बाधाभाव को पर्युदास प्रतिषेधरूप मान कर अभाव रूप नही किन्तु सद्रूप अर्थात् उससे भिन्न वस्तु के ज्ञानरूप मानते हैं तो इस प्रकार का बाधाभाव हो तो सकता है परन्तु वह ज्ञान के यथार्थ प्रकाशकत्व को विषय नहीं करता है, अर्थात् बाधाभावज्ञान का विषय कोई भिन्न ही है, इसलिए वह ज्ञान के यथार्थप्रकाशकत्व के विषय मे उदासीन होने से उसका व्यवस्थापक नही बन सकता

(A4) यदि आप कहते हैं कि-'अर्थतथात्व यानी वस्तु के ज्ञानानुरूपस्वरूप से ही ज्ञान का यथावस्थितार्थपरिच्छेदरूप विशेष धर्म निश्चित होता है' तो यह पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि इसमे अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति होगी । वह इस प्रकार-वस्तु का अर्थतथात्व सिद्ध हो जाय तो उस वस्तु का ज्ञान यथावस्थितार्थपरिच्छेदस्वरूप होने का सिद्ध होगा । और वस्तु का ज्ञान यथार्थपरिच्छेदस्वरूप होने का सिद्ध होने पर वस्तु के तथाभाव स्वरूप की सिद्धि होगी । इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट लगता है । इसलिये इन चार अवान्तर विकल्पो वाला आद्य पक्ष असिद्ध है, अर्थात् प्रामाण्य का निश्चय अपने कारणो के गुणो की अपेक्षा नही रखता है ।

---

* द्रष्टव्य पृ. १८–पं. ५ ।

(B) अथ संवादापेक्षः प्रामाण्यविनिश्चयः, सोऽपि न युक्तः, यतः B 1 संवादकं ज्ञानं किं समानजातीयमभ्युपगम्यते ? B 2 आहोस्विद् भिन्नजातीयम् ? इति पुनरपि विकल्पद्वयम् ।

B1 तत्र यदि समानजातीयं संवादकमभ्युपगम्यते, तदाऽत्रापि वक्तव्यम् B1a किमेकसंतानप्रभवं ? B1b भिन्नसंतानप्रभवं वा ? B1b यदि भिन्नसंतानप्रभवं समानजातीय ज्ञानान्तरं संवादकमित्यभ्युपगमः, अयमप्यनुपपन्नः, अतिप्रसंगात्, अतिप्रसंगश्च देवदत्तघटविज्ञानं प्रति यज्ञदत्तघटान्तरविज्ञानस्यापि संवादकत्वप्रसक्तेः । अथ B1a समानसन्तानप्रभव समानजातीयं ज्ञानान्तरं संवादकमभ्युपगम्यते, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्, किं तत् B1ac पूर्वप्रमाणाभिमतविज्ञानगृहीतार्थविषयम् ? B1ad उत भिन्नविषयम् ? इति ।

B1ac तत्र यद्येकार्थविषयमिति पक्षः, सोऽनुपपन्न, एकार्थविषयत्वे संवाद्य-संवादकयोरविशेषात् तथाहि–एकविषयत्वे सति यथा प्राक्तनमुत्तरकालभाविनो विज्ञानस्यैकसन्तानप्रभवस्य समानजातीयस्य न संवादकं तथोत्तरकालभाव्यपि न स्यात् । किं च, तदुत्तरकालभावि समानजातीयमेकविषयं कुत. प्रमाणत्वेन सिद्धम्-येन प्रथमस्य प्रामाण्यं निश्चाययति ? 'तदुत्तरकालभाविनोऽन्यस्मात् तथाविधादेव' इति चेत् ? तर्हि तस्याप्यन्यस्मात् तथाविधादेवेत्यनवस्था । अथ 'उत्तरकालभाविनस्तथाविधस्य प्रथमप्रमाणात् प्रामाण्यनिश्चयः'-तर्हि प्रथमस्योत्तरकालभाविनः प्रमाणात् तन्निश्चयः, उत्तरकालभाविनोऽपि प्रथमप्रमाणादिति तदेवेतरेतराश्रयत्वम् ।

[संवाद की अपेक्षा प्रामाण्यनिश्चय में अनेक विकल्प]

(B) यदि दूसरे विकल्प में आप कहे-प्रामाण्य का निश्चय सवाद की अपेक्षा से होता है तो यह भी युक्त नही है, क्योंकि यहां भी दो विकल्प है B1 सवादी ज्ञान सजातीय है अथवा B2 भिन्नजातीय है ?

B1 यदि आप संवादी ज्ञान को सजातीय मानते है तब यह बताईये कि वह सजातीय ज्ञान क्या B1a उसी ज्ञान सतान मे होने वाला है B1b अथवा उस ज्ञान सन्तान से भिन्न सन्तानो मे उत्पन्न होने वाला है ?- प्रश्न का तात्पर्य यह है कि सौगतमत मे ज्ञान का सतान अथवा प्रवाह ही ज्ञाता कहा जाता है । इसलिये उसके प्रति प्रश्न है जो सजातीयज्ञान सवादी है वह क्या B1a एक सतान मे अर्थात् एक ज्ञानप्रवाहरूप जीव मे उत्पन्न हुआ है ? अथवा B1b भिन्न भिन्न ज्ञानसतानरूप भिन्न भिन्न जीव मे उत्पन्न हुआ है ? B1b यदि भिन्न संतानो मे अर्थात् भिन्न जीवो मे उत्पन्न होने वाले सजातीय (सजातीय विषयक) ज्ञान को सवादी कहे तो यह पक्ष सगत नही है, क्योंकि अतिप्रसंग होगा अर्थात् अनिष्ट अर्थ की आपत्ति होगी । अतिप्रसग इस प्रकार–देवदत्त के घटज्ञान का संवादी यज्ञदत्तीय अन्य घट का ज्ञान भी हो जायगा । B1a यदि इस आपत्ति से बचने के लिये एक सन्तान मे उत्पन्न होने वाले सजातीय ज्ञान को सवादी माना जाय तो यहाँ भी यह बताना जरूरी है कि वह सवादी ज्ञान क्या B1ac प्रमाणरूप से स्वीकृत पूर्वकालीन विज्ञान से गृहीत अर्थ को विषय करता है ? B1ad अथवा भिन्न अर्थ को विषय करता है ?

[एकार्थविषय पक्ष में संवाद्य-संवादक भाव की अनुपपत्ति]

B1ac यदि आप कहे– वह सजातीय अन्यज्ञान पूर्वकालीन ज्ञान के अर्थ को ही विषय करता

अथ प्रथमोत्तरयोरेकविषयत्व-समानजातीयत्वैकसंतानत्वाऽविशेषेऽप्यस्त्यन्यो विशेषः, यतो विशेषाद् उत्तरं प्रथमस्य प्रामाण्यं निश्चाययति, न पुनः प्रथममुत्तरस्य। स च विशेषः उत्तरस्य कारणशुद्धिपरिज्ञानानन्तरभावित्वम्। ननु कारणशुद्धिपरिज्ञानमर्थक्रियापरिज्ञानमन्तरेण न सम्भवति, तत्र च चक्रकदोषः प्राक्॥ प्रतिपादित इति नार्थक्रियाज्ञानसम्भवः। सम्भवे वा तत एव प्रामाण्यनिश्चयस्य संजातत्वाद् व्यर्थमुत्तरकालभाविनः कारणशुद्धिज्ञानविशेषसमन्वितस्य पूर्वप्रामाण्यावगमहेतुत्वकल्पनम्। तन्न समानजातीयमेकसंतानप्रभवमेकार्थमुत्तरज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम्।

है, अर्थात् दोनो ज्ञान का विषय एक ही है- तो यह पक्ष अयुक्त है, क्योंकि यदि दोनो ज्ञानो का विषय एक ही अर्थ है तो 'कौन सवाद्य ज्ञान और कौन सवादकज्ञान ?' यह भेद नही हो सकेगा। अर्थात् अमुकज्ञान में सवाद्यता और अमुकज्ञान मे संवादकता स्थापन करने के लिये कोई वैशिष्ट्य नही है। यह इस प्रकार-दोनों ज्ञानो का एक ही विषय होने पर जैसे पूर्वकाल का ज्ञान उत्तरकाल मे होने वाले एक ही सतान मे उत्पन्न एवं सजातीय ज्ञान का संवादक नही होता, इसी प्रकार उत्तर काल मे होने वाले ज्ञान को भी पूर्वकाल के ज्ञान का सवादक नही होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त, वह उत्तरकाल मे होने वाला सजातीय और एकविषयक ज्ञान प्रमाणरूप से सिद्ध ही कहाँ है कि जिससे वह पूर्ववर्त्ती ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करा सके ? तात्पर्य, स्वयं प्रमाणरूप से असिद्ध ज्ञान दूसरे के प्रामाण्य का निर्णायिक नही हो सकता। यदि आप उस उत्तरकालवर्त्ती ज्ञान का प्रामाण्य उससे भी उत्तरकालभावि ज्ञान से निश्चित है ऐसा कहते हैं, तो अनवस्था होगी क्योकि उस उत्तरकाल भावि ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित करने के लिये उससे भी उत्तरकालभावी प्रमाणभूत ज्ञान की आवश्यकता होगी। इस आवश्यकता के प्रवाह का कही अत नही होगा। तात्पर्य, उत्तरकाल का प्रमाणज्ञान पूर्ववर्त्ती ज्ञान के प्रामाण्य को सिद्ध करेगा और उत्तरकालीन ज्ञान का प्रामाण्य अन्य उत्तरकालीन सजातीय और एक विषयवाले ज्ञान से सिद्ध होगा तो उसके प्रामाण्य का निश्चय भी अन्य उत्तरकालभावि ज्ञान से होगा। इसलिये अनवस्था आ जायेगी।

[अथोत्तरकालभाविनः०] इस अनवस्था को दूर करने के लिये यदि आप कहे "उत्तरकालभावी ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अन्य उत्तरकालभावी ज्ञान के द्वारा नही मानते, किन्तु प्रथम यानी पूर्वकालभावी प्रमाण से होता है।" तो वही अन्योन्याश्रय दोष लगेगा क्योकि प्रथमज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय उत्तरकालभावी प्रमाण से होगा और उत्तरकालभावी ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय पूर्वकालभावी ज्ञान से होगा।

[कारणशुद्धिपरिज्ञान यह उत्तरज्ञान की विशेषता नहीं है]

यदि कहा जाय कि— अलबत्ता प्रथमज्ञान और उत्तर ज्ञान मे एकविषयत्व एव समानजातीयत्व तथा एकविज्ञानसतानअन्तर्गतत्वस्वरूप अवैशिष्ट्य यानी समानता है किन्तु इन समानताओं के होने पर भी उत्तरज्ञान मे एक वैशिष्ट्य यह है कि जिस के कारण वह पूर्वज्ञान के प्रामाण्य को निश्चित करा सकता है, परंतु पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नही करा सकता। यह वैशिष्ट्य इस प्रकार है- उत्तरज्ञान कारणो की शुद्धि के ज्ञान अनन्तर उत्पन्न होता है,

॥ द्रष्टव्य पृ. २२-प. १।

B1ad अथ 'भिन्नार्थं तद् ज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम्,' तदप्ययुक्तम्; एवं सति शुक्तिकायां रजतज्ञानस्य तथाभूतं शुक्तिकाज्ञानं प्रामाण्यनिश्चायकं स्यात्। तन्न समानजातीयमुत्तरज्ञानं पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चायकम्।

B2 अथ भिन्नजातीयं प्रामाण्यनिश्चायकमिति पक्षः, तत्रापि वक्तव्यम्-B2a किमर्थक्रियाज्ञानं? B2b उतान्यद्? B2b तत्रान्यदिति न वक्तव्यम्, घटज्ञानस्यापि पटज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकत्वप्रसङ्गात्। B2a अथार्थक्रियाज्ञानं संवादकमित्यभ्युपगमः, अयमपि न युक्तः, अर्थक्रियाज्ञानस्यैव प्रामाण्यनिश्चयाभावे प्रवृत्त्याद्यभावतः चक्रकदोषेणाऽसम्भवात्। अथ 'प्रामाण्यनिश्चयाभावेऽपि संशयादपि प्रवृत्तिसम्भवान्नार्थक्रियाज्ञानस्याऽसम्भवः'-तर्हि प्रामाण्यनिश्चयो व्यर्थः। तथाहि-प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेण प्रवृत्तः 'विसंवादभाग् मा भूवम्' इत्यर्थक्रियार्थी प्रामाण्यनिश्चयमन्वेषते, सा च प्रवृत्तिस्तन्निश्चयमन्तरेणापि संजातेति व्यर्थः प्रामाण्यनिश्चयप्रयासः।

जबकि पूर्वज्ञान कारणशुद्धि ज्ञानपूर्वक नही है। इस वैशिष्ठ्य के कारण उत्तरज्ञान ही संवादक यानी पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक बन सकता है। किन्तु इस पर यह कह सकते है कि चक्रकदोष के लगने से कारण शुद्धिज्ञान का सम्भव ही नही है। यह इस प्रकार, कारण-शुद्धिज्ञान अर्थक्रियाज्ञान के विना नही हो सकता और अर्थक्रियाज्ञान सवादकज्ञान के विना नही होगा, एवं संवादकज्ञान कारणशुद्धि के ज्ञान के विना नही होगा। इस प्रकार अर्थक्रियाज्ञान की अपेक्षा करने मे चक्रक दोष लग जाता है। इस प्रकार प्रतिपादन पहले भी हो चुका है। चक्रकदोष के कारण अर्थक्रियाज्ञान का सभव नही है।

यदि मान लिया जाय कि किसी तरह अर्थक्रियाज्ञान हो सकता है, तो उसी के द्वारा प्रामाण्य का निश्चय भी हो जाने से कारणशुद्धि परिज्ञानविशिष्ट उत्तरकालभावी सवादक ज्ञान व्यर्थ हो जायगा। अर्थात् कारणशुद्धि के ज्ञानविशेष से युक्त सवादकज्ञान को पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करने के लिये हेतु के रूप मे मानना व्यर्थ हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि सजातीय व एक विज्ञान सतान मे उत्पन्न और एकार्थविषयक उत्तरवर्त्तीज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नही करा सकता।

[भिन्नविषयक ज्ञान से प्रामाण्य का अनिश्चय]

B1ad यदि आप यह कहे कि 'एकअर्थवाला ज्ञान नही किन्तु भिन्न अर्थवाला उत्तरवर्त्ती ज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक है'-तो यह भी युक्त नही है। यदि केवल भिन्नविषयक होने मात्र से उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य को निश्चित कर सकता है तो जब शुक्ति मे पहले रजत का ज्ञान, बाद मे प्रमाणभूत शुक्तिज्ञान होगा, वहा शुक्तिज्ञान भी पूर्व रजतज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक हो जाना चाहिये। क्योकि वहां दूसरा शुक्तिज्ञान रजतज्ञान का उत्तरवर्त्ती है और भिन्नविषयक भी है एव सजातीय भी है। तात्पर्य, कोई भी सजातीय उत्तरज्ञान चाहे वह एकार्थ हो या भिन्नार्थक, पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नही करा सकता।

[भिन्नजातीय संवादी उत्तरज्ञान के अनेक विकल्प]

यदि आप सजातीय उत्तरवर्त्ती सवादीज्ञान को नही, किंतु B2 भिन्नजातीय संवादी उत्तरज्ञान को पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक कहते हैं तो उस उत्तरज्ञान के विषय मे भी यह जिज्ञासा

किं च, अर्थक्रियाज्ञानस्यापि प्रामाण्यनिश्चायकत्वेनाऽभ्युपगम्यमानस्य कुतः प्रामाण्यनिश्चयः ? 'तदन्यार्थक्रियाज्ञानात्' इति चेत् ? अनवस्था । 'पूर्वप्रमाणात्' इति चेत् ? अन्योन्याश्रयदोषः प्राक् प्रदर्शितोऽत्रापि । अथार्थक्रियाज्ञानस्य स्वत एव प्रामाण्यनिश्चय', प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ? । तदुक्तम्—

यथैव प्रथमं ज्ञानं तत्संवादमपेक्षते ।
संवादेनापि संवादः पुनर्मृग्यस्तथैव हि ।। [ ]
कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता ।
प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना ।। [श्लो० वा० सू० २ श्लो० ७६]
संवादस्याथ पूर्वेण संवादित्वात् प्रमाणता ।
अन्योन्याश्रयभावेन न प्रामाण्यं प्रकल्पते ।। [ ] इति ।

होती है कि वह भिन्नजातीय सवादी उत्तरज्ञान क्या B2a अर्थक्रिया का ज्ञान है अथवा B2b उससे भिन्न कोई ज्ञान है ? अर्थक्रियाज्ञान से B2b भिन्न कोई ज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक है- ऐसा नही कह सकते क्योकि तव तो घटज्ञान भी पटज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक हो जाना चाहिये ।

B2a यदि अर्थक्रिया के ज्ञान को पूर्वज्ञान का सवादी यानी प्रामाण्य का निश्चायक माना जाय तो यह मान्यता भी युक्त नही है क्योकि अर्थक्रिया के ज्ञान मे ही प्रामाण्य का निश्चय जब नही है तो प्रवृत्ति आदि का सभव कैसे हो सकता है, और प्रवृत्ति के असभव से सवादकज्ञान भी नही हो सकेगा क्योकि चक्रकदोष की आपत्ति है । इसलिये अर्थक्रियाज्ञान पूर्वज्ञान के सवादक होने का सभव नही है । अत: यह पक्ष भी युक्त नही है । यदि कहा जाय कि-"अर्थक्रियाज्ञान पूर्वज्ञान का सवादक न होता हुआ प्रवर्त्तक नही है यह कहना उचित नही क्योकि प्रवृत्ति सशय-निश्चय साधारण ज्ञान से होती है, अत अर्थक्रियाज्ञान मे प्रामाण्य का निश्चय न हो तव भी सदेह से प्रवृत्ति हो सकती है, और इस कारण अर्थक्रियाज्ञान के प्रामाण्य का सदेह भी प्रवृत्ति द्वारा पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करा सकता है"-तो यह उचित नहीं, क्योकि तव तो प्रामाण्य का निश्चय व्यर्थ हो जाता है । तात्पर्य, प्रामाण्य का निश्चय होना ही चाहिये यह कोई आवश्यक नही रहा क्योकि उसके सदेह से भी प्रवृत्ति मान ली गयी है । इसका तथ्य यह है कि-जव कोई अर्थक्रिया का अभिलाषी प्रामाण्य निश्चित न होने पर भी प्रवृत्ति कर देता है तो भी 'मुझे विसवाद न हो' अर्थात् 'मेरी ज्ञानानुसारिणी प्रवृत्ति निष्फल न हो' इसके लिये उस ज्ञान के प्रामाण्यनिश्चय की अपेक्षा करता है । परन्तु आपके मतानुसार प्रवृत्ति प्रामाण्य के निश्चय विना भी हो गयी, इसलिये अव प्रामाण्य के निश्चय का यत्न व्यर्थ हो जाता है ।

[अर्थक्रियाज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कैसे होगा ?]

इसके अतिरिक्त आप प्रामाण्य निश्चय मे अर्थक्रियाज्ञान को कारण कहते है तो यह वताइये कि उस ज्ञान मे प्रामाण्य का निश्चय किससे होता है ? अगर कहे-'दूसरे अर्थक्रिया के ज्ञान से प्रामाण्य निश्चित हो सकता है'-तो इसमे अनवस्था होगी । अगर कहे-अर्थक्रिया के ज्ञान मे प्रामाण्य का निश्चय पूर्वकालवर्त्तीज्ञान से होगा, तो यहाँ भी पूर्व प्रदर्शित [पृ०२४ प०२३] अन्योन्याश्रय दोष लगेगा । इस

अथापि स्याद्-अर्थक्रियाज्ञानमर्थाभावे न दृष्टमिति न तत्स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्, साधनज्ञानं तु अर्थाभावेऽपि दृष्टमिति तत् प्रामाण्यनिश्चयेऽर्थक्रियाज्ञानापेक्षमिति। एतदप्यसंगतम्—अर्थक्रियाज्ञानस्याऽपि अर्थमन्तरेण संभवात्, न च स्वप्नजाग्रद्दशावस्थयोः कश्चिद्विशेषः प्रतिपादयितुं शक्यः।

अथ अर्थक्रियाज्ञानं फलावाप्तिरूपत्वान्न स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्, साधनविनिर्भासि पुनर्ज्ञानम् नार्थक्रियावाप्तिरूपं भवति, तत् स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्। तथाहि-जलावभासिनि ज्ञाने समुत्पन्ने पानावगाहनार्थिनः 'किमेतज्ज्ञानावभासि जलमभिमतं फलं साधयिष्यति उत न' इति जाताशंकाः तत्प्रामाण्यविचारं प्रत्याद्रियन्ते, पानावगाहनार्थावाप्तिज्ञाने तु समुत्पन्नेऽवाप्तफलत्वान्न तत्प्रामाण्यविचारणाय मनः प्रणिदधति। नैतत् सारम्-'अवाप्तफलत्वात्' इत्यस्यानुत्तरत्वात्।

अनवस्था और अन्योन्याश्रय को दूर करने के लिये अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वत. अर्थात् अन्य हेतु के विना अपने आप होगा ऐसा अगर माना जाय तब तो प्रथम ज्ञान के ही प्रामाण्य के निश्चय को भी स्वत· मानने मे द्वेष किस कारण से ? इसी विषय मे कहा भी गया है—

'जिस प्रकार प्रथम ज्ञान अपने सवाद की अपेक्षा करता है, सवाद को भी इसी प्रकार अन्य सवाद खोजना होगा। यदि किसी एक को स्वत. प्रमाण माना जाय तब तो पूर्वज्ञान के स्वतः प्रमाण होने मे आपको द्वेष किस कारण ? ॥ पूर्वज्ञान के साथ सवादी होने से उत्तरकालवर्त्ती सवाद प्रमाणभूत है ऐसा कह सकते हैं किन्तु यह नही बन सकता, क्योकि अन्योन्याश्रय दोष होने से अपने प्रामाण्य का निश्चय कराने मे समर्थ नही हैं'।

[अर्थ के विना भी अर्थक्रियाज्ञान का संभव]

अब यदि आप कहे-अर्थ के अभाव मे अर्थक्रियाज्ञान होता है वैसा नही देखा जाता, मतलब, अर्थ के होने पर ही अर्थक्रियाज्ञान होता है, अर्थात् वह ज्ञान कभी स्वविषयव्यभिचारी होता ही नही है, इसलिए अर्थक्रियाज्ञान अपने प्रामाण्य का निश्चय कराने में अन्य की अपेक्षा नही रखता। जब कि अर्थ-क्रिया का कारणभूत पूर्वज्ञान अर्थ के अभाव मे भी देखा जाता है, इसलिये वह प्रामाण्य-निश्चय के लिये अर्थक्रियाज्ञान की अपेक्षा करता है।-तो यह युक्त नही है, क्योकि अर्थक्रिया का ज्ञान भी अर्थ के विना स्वप्नदशा मे होता है ऐसा देखा जाता है। आप कहे-"वह ज्ञान तो स्वप्नदशा का और हम जाग्रत् दशा की वात करते है कि अर्थ विना अर्थत्रियाज्ञान नही होता है"-तो यह भी युक्त नही क्योकि स्वप्नदशा मे और जाग्रत्दशा मे होने वाले ज्ञान के स्वरूप मे किसी भी प्रकार के भेद का प्रतिपादन शक्य नही है क्योकि स्वप्नदशा मे भी जाग्रत् दशा के समान समस्त व्यवहार सच्चा ही प्रतीत होता है। इसलिये स्वप्नदशा का ध्यान रखा जाय तो यह नही कह सकते कि अर्थ के विना अर्थक्रियाज्ञान नही होता। फलत अर्थक्रियाज्ञान स्वत प्रमाणभूत नही किन्तु स्वप्रामाण्य निश्चय मे अन्य सापेक्ष है यह कहना होगा।

[अर्थक्रियाज्ञान फलप्राप्तिरूप होने का कथन असार है]

यदि यहाँ कहा जाय कि-अर्थक्रियाज्ञान पूर्वज्ञान के फल की प्राप्तिस्वरूप [यानी फलानुभूति-रूप] है और फल प्राप्त होने पर किसी को उस फलज्ञान मे प्रामाण्य की शका ही नही होती है।

तथाहि-यथा ते विचारकत्वाज्जलज्ञानावभासिनो जलस्य किं सत्त्वम् उताऽसत्त्वम् ? इति विचारणायां प्रवृत्ताः, तथा फलज्ञाननिर्भासिनोऽप्यर्थस्य सत्त्वाऽसत्त्वविचारणायां प्रवर्त्तन्ते, अन्यथा तदप्रवृत्तौ तदवभासिनोऽर्थस्याऽसत्त्वाशंकया तज्ज्ञानस्याऽवस्तुविषयत्वेनाऽप्रमाणतया शक्यमानस्य न तज्जलावभासिप्रवर्त्तकज्ञानप्रामाण्यव्यवस्थापकत्वम् । ततश्चान्यस्य तत्समानरूपतया प्रामाण्यनिश्चया-भावात् कथं अर्थक्रियार्थी प्रवृत्तिर्निश्चितप्रामाण्याद् ज्ञानाद् इत्यभ्युपगमः शोभनः ?

किं च भिन्नजातीयं B2 संवादकज्ञानं पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चायकमभ्युपगम्यमानमेकार्थम् B2c ? B2d भिन्नार्थं वा ? B2c यद्येकार्थमित्यभ्युपगमः स न युक्तः, भवन्मतेनाऽघटमानत्वात् । तथाहि-रूपज्ञानाद् भिन्नजातीयं स्पर्शादिविज्ञानं, तत्र च स्पर्शादिकमाभाति न रूपम्, रूपज्ञाने तु रूपम्, न स्पर्शादिकमाभाति, रूपस्पर्शयोश्च परस्परं भेद , न चावयवी रूपस्पर्शज्ञानयोरेको विषयतयाऽभ्युपगम्यते येनैकविषयं भिन्नजातीय पूर्वज्ञानप्रामाण्यव्यवस्थापकं भवेत् । अपि च एकविषयत्वेऽपि किं B2ca येन स्वरूपेण व्यवस्थाप्ये ज्ञाने सोऽर्थः प्रतिभाति, किं तेनैव व्यवस्थापके ? B2cb उतान्येन ? तत्र यदि तेनैवेत्यभ्युपगम. स न युक्त , व्यवस्थापकस्य तावद्धर्मार्थविषयत्वेन स्मृतिवदप्रमाणत्वेन व्यवस्थापकत्वा-ऽसंभवात् । अथ B2cb रूपान्तरेण सोऽर्थः तत्र विज्ञाने प्रतिभाति, नन्वेवं संवाद्य-संवादकयोरेक-विषयत्वं न स्यादिति B2d द्वितीय एव पक्षोऽभ्युगतः स्यात् , स चाऽयुक्तः, सर्वस्याऽपि भिन्नविषयस्यैक-संतानप्रभवस्य विजातीयस्य प्रामाण्यव्यवस्थापकत्वप्रसंगात् ।

इसलिए इसके प्रामाण्य का निश्चय स्वत सिद्ध होता है, अर्थात् अर्थक्रियाज्ञान अपने प्रामाण्य के निश्चय के लिये अन्य की अपेक्षा नही करता है । परन्तु विवादास्पद पूर्वज्ञान तो तृप्ति आदि अर्थक्रिया के साधनभूत जल आदि का निर्भासी है, वह फलावाप्तिरूप अर्थात् तृप्ति आदि अर्थक्रिया की प्राप्तिरूप नही है । अत वह अपने प्रामाण्य के निश्चय के लिये अन्य की अपेक्षा करता है, अत वह ज्ञान स्वत· प्रमाणभूत नही है । यह इस प्रकार–[जलावभासिनि...] जब जलावभासक ज्ञान उत्पन्न होता है तब जलपानार्थी या स्नानावगाहनार्थी लोग को शायद शका होती है कि हमारे ज्ञान मे भासित होने वाला जल हमारे वाछित फल की सिद्धि करे वैसा होगा या नही ? इस शका के कारण वे जलज्ञान के प्रामाण्य पर विचार की ओर आकृष्ट होते है । जबकि अर्थक्रिया के ज्ञान की स्थिति इससे विपरीत है, जैसे कि जलपान का अथवा स्नानावगाहन का ज्ञान जब हो गया तब तो उसका फल मिल ही गया है अर्थात् वह अवाप्त फल हो ही गया, अब फल प्राप्त हो जाने के कारण फलज्ञान प्रामाण्य का विचार करने के लिये मन लगाना नही पडता"–किन्तु यह कथन भी युक्त नही है क्योंकि 'अवाप्तफलता होने से' यह उत्तर कोई उत्तर नही है ।

[फलज्ञान में प्रामाण्य की शंका को अवकाश]

अवाप्तफलता का उत्तर असत् होने का कारण यह है कि-मनुष्य विचारक होने से जब जलज्ञान होता है तब विचार करने लगता है कि इस जलज्ञान मे भासमान जल का वास्तव मे सद्भाव है या असद्-भाव ? इसी प्रकार यहाँ भी विचारक मनुष्य किसी प्राप्तव्य अर्थ अर्थात् ज्ञानोत्तर प्रवृत्ति के फल का जब ज्ञान होता है तब विचार करने लगता है कि इस फलज्ञान मे भासमान अर्थ सत् है या असत् ? यदि वे इस प्रकार के विचार मे प्रवृत्ति नही करेंगे तब फलज्ञान मे भासमान अर्थ के असत् होने की शका होगी । और उस शका के कारण फलज्ञान मे 'शायद यह वस्तु के विना उत्पन्न हो गया हो अत हो सकता है वह प्रमाण न हो' इस प्रकार की शका हो सकती है । ऐसी दशा मे सशयग्रस्त

फलज्ञान भी प्रवर्त्तक जलज्ञान मे प्रामाण्य का निश्चय नही करा सकेगा। फलतः साधननिर्भासीज्ञान से अन्य फलज्ञान भी प्रथमज्ञान से समान होने के कारण, अर्थात् तृप्ति आदि फल का ज्ञान भी तृप्ति आदि के साधनभूत जलज्ञान के समान होने से, किसी मे भी प्रामाण्य का निश्चय नही हो सकता। इस दशा मे यह कैसे मान सकते है कि 'अर्थक्रिया अर्थात् फल के लिये प्रवृत्ति निश्चित प्रामाण्यवाले ज्ञान से ही होती है?' तात्पर्य, यह आपका अभ्युपगम सुचारु नही है।

[भिन्नजातीय संवादीज्ञान के उपर अनेक विकल्प]

इसके अतिरिक्त B2 भिन्नजाति के संवादकज्ञान को जो पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक मानते हैं वह क्या एकार्थक=B2c एकविषयवाला होता है? या भिन्नार्थक=B2d भिन्नविषयवाला? यह भी विचार करने योग्य है। यहाँ एकार्थ भिन्नार्थ का तात्पर्य यह है कि पूर्वज्ञान मे जो अर्थ प्रकाशित होता है वह अर्थ अगर सवादीज्ञान मे प्रकाशित हो तो वह एकार्थ यानी एकविषयवाला कहा जायगा और यदि पूर्वज्ञान मे प्रकाशित अर्थ से भिन्न अर्थ सवादीज्ञान मे प्रकाशित हो तो वह भिन्नार्थक यानी भिन्नविषयवाला कहा जायगा। B2c यदि आप सवादीज्ञान को एकार्थक मानते हैं तो वह युक्त नही है, क्योकि आपके मतानुसार वह सगत नही हो सकता। असगति इस प्रकार-स्पर्श आदि का ज्ञान रूपज्ञान से भिन्न जाति का है क्योकि वहाँ स्पर्श आदि की प्रतीति होती है, रूप की नही, रूपज्ञान मे रूप प्रतीत होता है स्पर्श आदि नही। रूप और स्पर्श के दो ज्ञान है इसलिए रूप एव स्पर्श का भेद सिद्ध होता है। फलत भिन्नजातीय सवादी उत्तरज्ञान एकार्थक न होने से पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का व्यवस्थापक नही हो सकता। अगर आप माने कि-'रूप व स्पर्श दोनो भिन्न होने पर भी उनका आश्रयभूत अवयवी एक ही है और वही पूर्वोत्तरज्ञान का विषय होने से पूर्वोत्तरज्ञान एकार्थ हो गये, अत सवादी उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का व्यवस्थापक हो सकेगा'-तो इस प्रकार मानना असभव है क्योकि पूर्वकालीन रूपज्ञान व उत्तरकालीन स्पर्शज्ञान का विषयभूत कोई एक अवयवी क्षणिकवाद पक्ष मे स्वीकार्य ही नही है जिससे भिन्नजातीय उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान के साथ एकविषयवाला होकर उसके प्रामाण्य का व्यवस्थापक बन सके, अर्थात् भिन्नजाति का उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य को निश्चित करने मे कारण हो सके।

(अपि च, एकविषयत्वेऽपि) फिर भी मान लिया जाय कि दोनो ज्ञान एकार्थक=एकविषयक है तो भी व्यवस्थाप्य पूर्वज्ञान मे जिसरूप से अर्थ प्रतीत होता है, क्या B2ca उसीरूप से व्यवस्थापक उत्तरज्ञान मे वह अर्थ भासित होता है? या किसी B2cb अन्यरूप से? यह सोचना चाहिये। B2ca यदि कहे--पूर्वज्ञान मे प्रतीत होने वाले रूप से ही वह उत्तरज्ञान मे प्रतीत होता है और इसलिए वह पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक हो सकता है-तो यह युक्त नही है क्योकि व्यवस्थाप्य ज्ञान मे जितने धर्म विषयभूत होते है वे सभी व्यवस्थापक ज्ञान के भी विषय हैं इसलिए व्यवस्थापकज्ञान स्मृति के समान हो जाता है अतः स्मृतिवत् वह प्रमाण नही है। स्मृतिज्ञान अनुभव के यावद्विषयो का ग्राहक होने से गृहीतार्थ ग्राहक है, अत. स्मृति को अनुभववत् प्रमाण नही माना जाता। प्रस्तुत मे उत्तरज्ञान भी वैसा ही है, इस लिये प्रमाणरूप नही होगा। जब वह स्वयं प्रमाणभूत नही तब वह पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक नही बनेगा।

(अथ रूपान्तरेण........) B2cb अब यदि आप संवादीज्ञान मे अर्थ को अन्य स्वरूप मे प्रतीत होना मानते है तो सवाद्य और सवादक ज्ञान का एक विषय नही रहता। इस दशा मे भिन्नरूप

तथा किं तत् B2E समानकालमर्थक्रियाज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम् ? आहोस्विद् B2F भिन्नकालम् ? यदि B2E समानकालं, किं B2Ea साधननिर्भासिज्ञानग्राहि ? उत B2Eb तद-ग्राहि ? इति पुनरपि विकल्पद्वयम् । यदि B2Ea तद्ग्राहि, तदसत्, ज्ञानान्तरस्य चक्षुरादिज्ञानेष्व-प्रतिभासनात्, प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन चक्षुरादिज्ञानानामभ्युपगमात् । अथ B2Eb तदग्राहि, न तर्हि तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम्, तदग्रहे तद्गतधर्माणामप्यग्रहात् ।

B2F अथ भिन्नकालं, तदप्ययुक्तम्; पूर्वज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नाशादुत्तरकालभाविविज्ञानेऽप्रति-भासनात्, भासने चोत्तरविज्ञानस्याऽसद्विषयत्वेनाऽप्रामाण्यप्रसक्तिस्तद्ग्राहकत्वेन न तत्प्रामाण्य-निश्चायकत्वम् । तदग्राहकं तु भिन्नकालं सुतरां न तन्निश्चायकमिति न भिन्नकालमप्येकसन्तानज भिन्नजातीयं प्रामाण्यनिश्चायकमिति न संवादापेक्षः पूर्वप्रामाण्यनिश्चयः । तेन ज्ञप्तावपि 'ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः' इति प्रयोगे हेतोर्नासिद्धिः । व्याप्तिस्तु साध्यविपक्षाऽतन्नियतत्वव्यापकात् सापेक्षत्वान्नि-वर्त्तमानमनपेक्षत्वं तन्नियतत्वेन व्याप्यते इति प्रमाणसिद्धैव ।

का प्रकाशक ज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कराता है यह B2d द्वितीय विकल्प मान लेना पड़ेगा- परन्तु वह भी युक्त नही है, यदि इस प्रकार माना जाय तो जो-जो भी एकविज्ञानसततिपतित एव विजातीय और पहले ज्ञान की अपेक्षा भिन्न विषयक होगा उन सभी को सवादी यानी पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक मानना पडेगा ।

[अर्थक्रियाज्ञान के ऊपर समानाऽसमानकालता का विकल्प]

भिन्नरूप प्रकाशक ज्ञान को प्रामाण्य निश्चायक मान भी लिया जाय तब भी यह प्रश्न होगा-जिस भिन्नजातीय सवादी अर्थक्रियाज्ञान को आप पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक मानते है, क्या वह पूर्वज्ञान का B2e समान कालीन है ? या B2f भिन्नकालीन है ? समानकालीन मानने पर भी दो विकल्प खडे होते है कि वह व्यवस्थापक अर्थक्रिया ज्ञान अर्थक्रिया के साधन का प्रकाशक जो पूर्वज्ञान है B2ea उसका ग्राहक है B2eb या नही ? इन सब विकल्पो का तात्पर्य यह है कि- जल से होने वाली तृप्ति जलरूप अर्थ की क्रिया है, उस अर्थक्रिया के ज्ञान का व्यवस्थाप्य जलज्ञान है और जल तृप्ति का साधन होने से जलज्ञान साधननिर्भासीज्ञान हुआ, दोनो परस्पर भिन्न जातीय है । अब जो तृप्ति का ज्ञान जलज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक बनेगा B2E वह समकालीन होता हुआ या B2F भिन्नकालीन होता हुआ ? प्रश्न का भाव यह है कि जब तृप्तिज्ञान होता है तब वह ज्ञान जिस काल मे जल का ज्ञान हुआ है उसी काल मे होने के कारण पूर्ववर्ती जलज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक है अथवा भिन्नकाल मे होने के कारण तृप्तिज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक है ?

यदि B2E समानकालीन होने के कारण प्रामाण्य का निश्चायक है ऐसा कहते हो तब भी यहाँ और दो विकल्प उपस्थित होते है- B2Ea अर्थक्रियाज्ञान साधननिर्भासी ज्ञान का ग्राहक है B2Eb या नही ? B2Ea यदि कहा जाय-अर्थक्रिया का ज्ञान साधननिर्भासी ज्ञान का ग्राहक है-तो यह युक्त नही है, क्योकि चक्षु आदि इन्द्रियो से जन्य ज्ञान मे किसी अन्य ज्ञान का ग्रहण नही होता है । चक्षु आदि इन्द्रियो से जन्य ज्ञान को अपने अपने रूपादि विषयो का ही ग्राहक माना गया है । B2Eb अब यदि आप अर्थक्रिया ज्ञान को साधननिर्भासी ज्ञान का ग्राहक नही मानते, तो जब धर्मी साधननिर्भासी ज्ञान ही गृहीत नही हुआ तब उसके प्रामाण्यस्वरूप धर्म का ग्रहण कैसे होगा ? क्योकि धर्म के आश्रय का

ग्रहण न होने पर धर्म का ग्रहण भी नही हो सकता। तात्पर्य, समानकालीन अर्थक्रियाज्ञान व्यवस्थाप्यज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक नही हो सकता।

B2F अगर कहे– भिन्नकालीन अर्थक्रियाज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक होगा तो [यहाँ भी दो विकल्प खडे होते हैं कि– B2Fa वह उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान का ग्राहक है B2Fb या नही? अगर कहे– B2Fa उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान का ग्राहक है तो] यह ठीक नही है क्योकि पूर्वज्ञान क्षणिक है इसलिये उत्पत्तिक्षणोत्तर नष्ट हो जाने से उत्तरक्षणभावी ज्ञान मे उसका ग्रहण नही हो सकता। कारण, प्रत्यक्ष मे विषय समानकालीन होकर ही कारण होता है। यदि उत्तरक्षणोत्पन्न ज्ञान नष्ट हो गये हुये पूर्वज्ञान को भी विषय करेगा तब तो उत्तरविज्ञान को असद्वस्तुविषयक मानना पड़ेगा और इस हालत मे उस उत्तरविज्ञान मे अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। इस कारण, उत्तरकालीन अर्थक्रियाविज्ञान पूर्वकालीन साधननिर्भासिज्ञान का ग्राहक होने पर भी स्वयं अप्रमाण होने से पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक नही हो सकता। (B2Fb दूसरे विकल्प मे) भिन्नकालीन ज्ञान पूर्ववर्त्तीज्ञान का यदि ग्राहक नही है तब वह सुतरा पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक नही हो सकता। क्योकि जब धर्मी पूर्वज्ञान स्वय ही गृहीत नही है तो इसका धर्म 'प्रामाण्य' कैसे गृहीत हो सकता है? इन समग्र विकल्पो के परामर्श से यह फलित हुआ कि एक विज्ञानसततिपतित एवं B2 भिन्न जातीय व F भिन्न कालीन उत्तरवर्त्ती अर्थक्रियाज्ञान पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक किसी भी हालत मे नही हो सकता।

इसलिये पूर्ववर्त्ती ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय संवाद की अपेक्षा से नही हो सकता। इस कारण यह फलित होता है कि प्रामाण्य की ज्ञप्ति के सबध मे जो यह प्रयोग किया था कि– 'ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षा. ते तत्स्वरूपनियता.' इत्यादि, अर्थात् जो जिस भाव के प्रति निरपेक्ष है वह तत्स्वरूप में नियत होता है। तात्पर्य, जो अर्थात् प्रामाण्य जिस भाव अर्थात् उत्पत्ति-ज्ञप्ति-कार्य इन भावों के प्रति निरपेक्ष है अर्थात् अन्य को अपेक्षा न रखने वाला है वह तत्स्वरूपनियत है अर्थात् नियमत स्वतः होने वाले है।'–[पृ० ५ प २०] इस प्रयोग मे हेतु अन्यानपेक्षत्व असिद्ध नही है, क्योकि उपरोक्त विवरण से यह सिद्ध हो गया कि प्रामाण्य की ज्ञप्ति मे कारणगुण एवं सवाद इत्यादि की अपेक्षा नही है।

[स्वतः प्रामाण्य साधक अनुमान के हेतु में व्याप्ति की सिद्धि]

(व्याप्तिस्तु... ... .०) 'जो अनपेक्ष है वह तत्स्वरूपनियत है' इस व्याप्ति पर आधारित यह अनुमान जो होता है कि 'प्रामाण्य तत्स्वरूपनियत अनपेक्षत्वात्' 'इसमे व्याप्ति का भी प्रामाण्य सिद्ध है, जैसे कि– साध्यविपक्ष अतन्नियतत्व का व्यापक जो सापेक्षत्व है उसके साथ कभी भी न रहने वाला जो अनपेक्षत्व हेतु है वह अपने साध्य तन्नियतत्व के साथ पूर्णतया व्याप्त है यानी अविनाभावी है– यह सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ– 'वह्निमान् धूमात्' यहाँ साध्यविपक्ष जलह्रद में से धूम निवर्त्तमान है इसलिये वह साध्य वह्नि से व्याप्त होता है। इसी प्रकार 'तन्नियत अनपेक्षत्वात्' इस अनुमान मे भी साध्यविपक्ष अतन्नियत मे से अनपेक्षत्व निवर्त्तमान है इसलिये वह अनपेक्षत्व साध्य तन्नियतत्व से व्याप्त है-यह प्रमाण सिद्ध ही है।

यतश्च न पूर्वोक्तेन प्रकारेण परतः प्रामाण्यनिश्चयः सम्भवति, ततो 'ये संदेहविपर्ययविषयीकृतात्मतत्त्वाः' इति प्रयोगे व्याप्त्यसिद्धिः । हेतोश्चासिद्धता, सर्वप्राणभृतां प्रामाण्ये सदेह-विपर्ययाभावात् । तथाहि-ज्ञाने समुत्पन्ने सर्वेषां 'अयमर्थः' इति निश्चयो भवति । न च प्रामाण्यस्य सदेहे विपर्यये वा सत्येष युक्तः । तदुक्तम् — ❀ "प्रामाण्यग्रहणात् पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम् । निरपेक्षं स्वकार्ये च" [श्लो० वा० सू० २ श्लो० ८३], इति । स्वार्थनिश्चयो हि प्रमाणकार्यम्, न च तत् प्रमाणान्तरं ग्रहणं चापेक्षते इति गम्यते । न चेतत् संशय-विपर्ययविषयत्वे सम्भवतीति ।

अथ प्रमाणाऽप्रमाणयोरुत्पत्तौ तुल्यं रूपमिति न संवाद-विसंवादावन्तरेण तयोः प्रामाण्याऽप्रामाण्यनिश्चयः, तदसत्, अप्रमाणे तदुत्तरकालमवश्यभाविनौ बाधक कारणदोषप्रत्ययौ तेन तत्राऽप्रामाण्यनिश्चयः, प्रमाणे तु तयोरभावात् कुतोऽप्रामाण्यशंका ? अथ तत्तुल्यरूपे तयोर्दर्शनात् तत्रापि तदाशका, साऽपि न युक्ता; त्रि-चतुरज्ञानापेक्षामात्रतस्तत्र तस्या निवृत्तेः । न च तदपेक्षातः स्वतःप्रामाण्यव्याहतिः अनवस्था वेत्याशंकनीयम्, संवादकज्ञानस्याऽप्रामाण्याशंकाव्यवच्छेदे एव व्यापारात् अपरज्ञानानपेक्षणाच्च ।

[परतः प्रामाण्य साधक अनुमान में व्याप्ति और हेतु की असिद्धि]

परतः प्रामाण्यवादी को यह भी ध्यान मे रहे कि पूर्वप्रदर्शित रीति से प्रामाण्य के निश्चय में पर की अपेक्षा का संभव ही नही है । इस कारण, परत प्रामाण्यवादी की ओर से पूर्व मे किये गये 'ये सदेहविपर्ययविषयीकृतात्मतत्त्वा (०विपर्ययाध्यासिततनव.) ते परतो निश्चितयथावस्थितस्वरूपा.' इस प्रयोग मे व्याप्ति असिद्ध है । एवं हेतु भी असिद्ध है । यह इस प्रकार -प्रस्तुत प्रयोग मे व्याप्ति यह है कि 'जहाँ जहाँ वस्तुस्वरूप संदेह व भ्रम से ग्रस्त होता है वहां वहां यथार्थ स्वरूप के निर्णय मे परसापेक्षता होती है ।' किंतु यह व्याप्ति सिद्ध नही हो सकती क्योकि प्रामाण्य के निश्चय मे सवादादिसापेक्षता ही सिद्ध नही है । एव हेतु 'सदेह-भ्रम-ग्रस्तता' प्रामाण्यरूप पक्ष मे असिद्ध है । क्योकि किसी भी प्राणी को प्रामाण्य के विषयमे सदेह और भ्रम होता नही है । (तथाहि.. ०) प्रामाण्य में किसी को भी सदेह और भ्रम नही होता यह इस प्रकार-जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब सभी को यह निश्चय हो जाता है कि 'यह अमुक अर्थ है' । यदि प्रामाण्य के विषय मे सदेह या भ्रम होता तो यह निश्चय नही होना चाहिये । कहा भी है-('प्रामाण्यग्रहणात्'....इत्यादि कारिका का अर्थ -)प्रमाण का प्रामाण्य गृहीत होने के पहले ही स्वरूप से अवस्थित है । वह अपने कार्य करने मे किसी अन्य की अपेक्षा नही करता । प्रमाण का कार्य है 'स्वार्थ' अर्थात् विषय का निश्चय । इसमे वह किसी अन्य प्रमाण की एव स्वग्रहण की अपेक्षा नही करता, अर्थात् प्रमाण उत्पन्न होते ही स्वविषय का निश्चय हो जाता है । यदि इस प्रमाणज्ञान के विषय मे सदेह या भ्रम सभवित होता तो अपने विषय का निश्चय निरपेक्षरूप से नही कर पाता ।

[प्रमाणज्ञान और अप्रमाणज्ञान का तुल्यरूप नहीं है]

यदि आप कहते है-'प्रमाणभूतज्ञान और अप्रमाणभूतज्ञान का स्वरूप उत्पत्ति में समान है । तात्पर्य, उत्पत्तिकाल मे दोनो ज्ञान सामान्यरूप से गृहीत होता है, किन्तु (विशेष रूप से अर्थात्) प्रमाण रूप से या अप्रमाणरूप से गृहीत नही होता है इसलिए अगर इसका ग्रहण करना हो तो सवाद या विसंवाद की अपेक्षा अवश्य रहेगी । इस के विना उन दोनो के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का निश्चय नही

❀ 'गृह्यते प्रत्ययान्तरैः' इति चतुर्थ पाद ।

तथाहि—अनुत्पन्ने बाधके ज्ञाने परत्र बाध्यमानप्रत्ययसाधर्म्यादप्रमाण्याशंका, तस्यां सत्यां तृतीयज्ञानापेक्षा, तच्चोत्पन्नं यदि प्रथमज्ञानसंवादि, तदा तेन न प्रथमज्ञानप्रामाण्यनिश्चयः क्रियते किंतु द्वितीयज्ञानेन यत् तस्याऽप्रामाण्यमाशंकितं तदेव तेनाऽपाक्रियते । प्रथमस्य तु स्वत एव प्रामाण्यमिति एवं तृतीयेऽपि कथंचित् संशयोत्पत्तौ चतुर्थज्ञानापेक्षायामयमेव न्यायः । तदुक्तम्—

एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ।। इति [श्लो०वा०सू०२, श्लो० ६१]

यत्र च दुष्टं कारणम् , यत्र च बाधकप्रत्ययः स एव मिथ्याप्रत्ययः, इत्यस्याप्ययमेव विषयः । चतुर्थज्ञानापेक्षा त्वभ्युपगमवादत उक्ता न तु तदपेक्षाऽपि भावतो विद्यते ।

हो सकता'– तो यह कथन युक्त नही है । जब अप्रमाणज्ञान उत्पन्न होता है तब उत्पत्ति के बाद बाधकज्ञान अथवा ज्ञान के उत्पादक कारणो मे रहे हुए दोष का ज्ञान अवश्य होता है। इस से अप्रामाण्य का निश्चय होता है– परन्तु प्रमाणभूत ज्ञान मे न बाधक ज्ञान होता है न कारण के दोष का ज्ञान होता है । इसलिये यहाँ कैसे अप्रामाण्य की शका हो सकेगी ?

(अथ तत्तुल्यरूपे. .) यदि आप कहते है–'अप्रमाणभूत ज्ञान के समान प्रमाणभूत ज्ञान मे स्वरूपत: तुल्यता यानी ज्ञानसामान्यरूपता होने से उसमे भी बाधक प्रत्यय व कारण दोष प्रत्यय इन दोनो का उद्भव दिखाई पडता है अत. वहाँ भी अप्रामाण्य की शका हो सकती है'– किन्तु यह शका भी अयुक्त है अर्थात् बाधक नही है, क्योकि उसी विषय मे तीन चार ज्ञानो का सहारा लेकर प्रमाता को अप्रामाण्य की शका दूर हो जाती है । निष्कर्ष, इसलिये प्रामाण्य का निश्चय स्वत· होता है । (न च तदपेक्षात: ०) अगर आप कहे– "तीन चार ज्ञानो की अपेक्षा रख कर अप्रामाण्य की शका दूर करने द्वारा यदि प्रामाण्य का निश्चय मानते है तब तो प्रामाण्य स्वत. नही हुआ । तात्पर्य, प्रामाण्य का स्वतोभाव व्याहत हो गया, बाधित हो गया । अथवा यहाँ अगर आप कहे कि तीन-चार ज्ञानो की अपेक्षा मात्र सामान्यत: प्रादुर्भूत अप्रामाण्य की शका दूर करने के लिये ही है इससे प्रामाण्य के स्वतस्त्व मे कोई हानि नही है, तो भी उन ज्ञानो मे भी अप्रामाण्य की आशका के होने पर अन्य तीन चार ज्ञानो की अपेक्षा करने से अनवस्था तो अवश्य होगी ।"–तो यह कथन युक्त नही है । जो ज्ञान सवाद कराते है वे केवल अप्रामाण्य की आशका को दूर करते है । प्रामाण्य के निश्चय के लिये उनकी अपेक्षा नही होती । इस तथ्य की स्पष्टता इस प्रकार है–

[संवाद ज्ञान केवल अप्रामाण्य शंका का निराकरण करता है]

मानो कि किसी ज्ञान उत्पन्न होने पर उसका कोई बाधक ज्ञान उत्पन्न नही हुआ फिर भी उस ज्ञान मे बाधित ज्ञानो के साथ सादृश्य होने के कारण अप्रामाण्य की शका हुई, तब ऐसी शका होने पर तृतीय ज्ञान की अपेक्षा रहती है और वह उत्पन्न हुआ । अब यदि वह तृतीयज्ञान प्रथमज्ञान का सवादी हो, तो प्रथम ज्ञान के अप्रामाण्य की शका दूर हो जाती है । यहाँ यह ध्यान मे रखने योग्य है कि प्रथम ज्ञान ने जिस अर्थ को प्रकाशित किया है उसी को वह भी प्रकाशित करता है तब भी वह तृतीय ज्ञान प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक नही है, किन्तु द्वितीय ज्ञान से प्रथम ज्ञान मे जिस अप्रा- माण्य की शका हुई थी उसका निवर्त्तक है । 'जैसे अप्रामाण्य शका का वह निवर्त्तक है वैसे प्रामाण्य का निश्चायक क्यो नही ?' ऐसी अगर शका की जाय तब उत्तर यह है कि प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का

अथ तृतीयज्ञानं द्वितीयज्ञानसंवादि तदा प्रथमस्याऽप्रामाण्यनिश्चयं, स तु तत्कृतोऽभ्युपगम्यत एव। किंतु द्वितीयस्य यदप्रामाण्यमाशंकितं तत् तेनाऽपाक्रियते, न पुनस्तस्य द्वितीयप्रामाण्यनिश्चायकत्वे व्यापारः। यत्र त्वभ्यस्ते विषयेऽर्थंतथात्वशंका नोपजायते तत्र बलादुत्पद्यमाना शंका तत्कर्तुरनर्थकारिणीत्यावेदितं वार्तिककृता—

आशंकेत हि यो मोहादजातमपि बाधकम्। स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्॥

न चैतदभिशापमात्रम्, यतोऽशंकनीयेऽपि विषयेऽभिशंकिनां सर्वत्रार्थाऽनर्थप्राप्तिपरिहारार्थिनामिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारसमर्थप्रवृत्त्यादिव्यवहाराऽसंभवाद् न्यायप्राप्त एव क्षयः, स्वोत्प्रेक्षितनिमित्तनिबन्धनाया आशंकाया. सर्वत्र भावात्।

निश्चय स्वत· ही हो जाता है। इसी प्रकार तृतीय ज्ञान में भी यदि किसी कारण से सशय उत्पन्न हो जाय और चतुर्थ ज्ञान की अपेक्षा करनी पडे तो वहा भी युक्ति का प्रकार यही है। कहा भी है-एवं त्रिचतुर....०इत्यादि, तात्पर्य-तीन चार ज्ञानो की उत्पत्ति से अधिक ज्ञान की आकाक्षा नही होती है। इतने से ही पूर्वज्ञान मे स्वतः प्रामाण्य व्याप्त हो जाता है। अर्थात् अप्रामाण्यशका से अबाध्य बन जाता है। जहाँ पर ज्ञान के कारण दूषित होता है और जहाँ बाधक ज्ञान होता है वही ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। इसका भी यही विषय है अर्थात् बाधक प्रत्यय क्या करता है ? यही कि जैसे पूर्व मे सवादी प्रत्यय अप्रामाण्य की शका का निवर्त्तक होता है वैसे वहा भी बाधक प्रत्यय अप्रामाण्य की शका की निवृत्ति करके अप्रामाण्य का निर्णय करता है किन्तु प्रामाण्य को छूता नही है। (चतुर्थ...) यहा जो चतुर्थज्ञान की अपेक्षा कही गयी है वह भी अभ्युपगमवाद से कही गयी है अर्थात् अर्थज्ञान को सुदृढ करने की अपेक्षा से चतुर्थ ज्ञान की अपेक्षा मान ली जाय तो भी प्रामाण्य के स्वतोभाव का निषेध नही हो सकता-- इस दृष्टि से उसको कहा गया है। परमार्थ से तो चतुर्थ ज्ञान की अपेक्षा नही होती है।

यदि तृतीय ज्ञान द्वितीय ज्ञान का सवादी हो, [यह वहा बनता है जहा प्रथम ज्ञान अप्रामाण्यज्ञानास्कदित हुआ और द्वितीयज्ञान अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित हुआ वहाँ प्रवृत्यादि के बाद तृतीय ज्ञान सवादी उत्पन्न होता हो] तब प्रथम ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय होता है अर्थात् प्रथम ज्ञान मे हुए अप्रामाण्य सदेह का निश्चय होता है और वह अप्रामाण्यनिश्चय सवादि तृतीय ज्ञान के द्वारा उत्पन्न हुआ है यह तो स्वीकार लिया जाता है परन्तु दूसरे ज्ञान मे यदि अप्रामाण्य की शका हुई हो, तो उसके निवारणार्थ भी तृतीय ज्ञान की आवश्यकता है, यानी उस शका को तृतीय ज्ञान दूर करता है किन्तु यह ध्यान रखे कि द्वितीय ज्ञान के प्रामाण्य को निश्चित करने मे तृतीय ज्ञान का कोई व्यापार नही है।

(यत्र त्वभ्यस्ते.) जहा विषय अभ्यस्त यानी परिचित रहता है वहा ज्ञान मे विषय के यथार्थ स्वरूप की शका नही होती। यदि वहा भी हठ से शका की जाय तो वह शका करने वाले का ही अनिष्ट करती है। इस तत्त्व को वार्त्तिककारने भी प्रकट किया है-(आशकेत . .इत्यादि) जो मूढता-अज्ञानता के कारण बाधक की प्रतीति न होने पर भी ज्ञान के अयथार्थ होने की शका करते चलता है वह सशयात्मा समस्त व्यवहारो मे नाश पाता है।

प्रेरणाजनिता तु बुद्धिरपौरुषेयत्वेन दोषरहितात् प्रेरणालक्षणाच्छब्दादुपजायमाना लिंगाऽऽप्तोक्ताक्षबुद्धिवत् प्रमाणं सर्वत्र स्वतः । तदुक्तम्—

चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिंगाऽऽप्तोक्ताऽक्षबुद्धिवत् ।। [श्लो० वा० सू० २ श्लो० १४८] इति ।

तस्मात् 'स्वतः प्रामाण्यम्, अप्रामाण्यं परत इति व्यवस्थितम् ।' अतः सर्वप्रमाणानां स्वतः सिद्धत्वाद् युक्तमुक्तम्-'स्वतः सिद्धं शासनं नातः प्रकरणात् प्रामाण्येन प्रतिष्ठाप्यम्' [पृ० ४ पं० ६] इदं त्वयुक्तम्—'जिनानाम्' इति । जिनानामसत्त्वेन शासनस्य तत्कृतत्वानुपपत्तेः, उपपत्तावपि परतः प्रामाण्यस्य निषिद्धत्वात् । इति ।।

यह केवल शाप नही है किन्तु हकीकत है, क्योंकि जो विषय शका करने योग्य नही है, उस विषय मे भी जो लोग शंका करते है, वे समस्त विषयो मे इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के त्याग के लिये प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप व्यवहार नही कर सकते है। इस कारण इस प्रकार के लोगों का नाश युक्तियुक्त है। अशकनीय विषयों मे शका न करने का कारण यह है कि स्वमतिकल्पित निमित्तो से की जाने वाली शंका तो सभी पदार्थों मे हो सकती है।

[प्रेरणाजनित बुद्धि का स्वतः प्रामाण्य]

जो बुद्धि वैदिक विधिवाक्य से उत्पन्न होती है वह विधिवाक्य पुरुषरचित नही होने से स्वतः प्रमाण है। जैसे कि हेतुजन्य अनुमिति, आप्त पुरुष के वचन से जन्य शब्दबोध और इन्द्रियो से जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान अपने अपने विषयो मे स्वत प्रमाणभूत होते हैं। उसका प्रामाण्य निश्चित करने के लिये किसी अन्य कारण की अपेक्षा नही रहती। मीमासा श्लोकवार्त्तिक मे कहा गया है कि-

जो बुद्धि विधिवाक्य से उत्पन्न होती है वह दोषरहित कारणो से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण है, जैसे कि हेतु से उत्पन्न, आप्तवचन से उत्पन्न और इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान।

दोषरहित धूम आदि हेतु से होने वाला अग्नि आदि का अनुमिति ज्ञान प्रमाण होता है। किसी आप्तपुरुष के वचन को सुन कर जो ज्ञान होता है वह भी दोषरहित वचन से उत्पन्न हुआ है इसलिये प्रमाण होता है। दोषरहित चक्षु आदि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी प्रमाण होता है। इन ज्ञानो के समान निर्दोष विधिवाक्य से उत्पन्न ज्ञान भी प्रमाण है। विधिवाक्य किसी पुरुष से उत्पन्न नही, किन्तु अपौरुषेय है नित्य है, इसलिये पुरुष के साथ सबध रखने वाले दोषो से युक्त पुरुष से उत्पन्न नही है। अत विधिवाक्यजन्य बोध अप्रामाण्य की संभावना से रहित है। कारणो के निर्दोष होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रमाण होता है। विधि वाक्य भी एक निर्दोष कारण है इस लिये उसके द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी प्रमाण है।

[शासन स्वतः सिद्ध होने से जिनस्थापित नहीं हो सकता-पूर्वपक्ष समाप्त]

इसलिये सिद्ध हुआ कि प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य पर की अपेक्षा से होता है, इस रीति से समस्त प्रमाणो का प्रामाण्य स्वत सिद्ध है, इसलिये उचित ही कहा गया है कि-'शासन स्वत. सिद्ध है, इस प्रकरण के द्वारा उसकी प्रामाण्यरूप से प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता नही है। (इद त्वयुक्तम्....) शासन स्वत प्रमाण है यह प्रतिपादन युक्तियुक्त होने पर भी आपने जो

[(१) उत्पत्तौ परतः प्रामाण्यस्थापने उत्तरपक्षः]

अत्र प्रतिविधीयते-यत्तावदुक्तम् 'अर्थतथाभावप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्'-[पृ०४ पं०८] तदयुक्तम्, पराभ्युपगतज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वेन निषेत्स्यमानत्वात्। यदप्यन्यदभ्यधायि तस्य यथार्थ-प्रकाशकत्वं प्रामाण्यम्, तच्चोत्पत्तौ स्वत, विज्ञानकारणचक्षुरादिव्यतिरिक्तगुणानपेक्षत्वात्'-[पृ० ४] तत्र प्रामाण्यस्योत्पत्तिरविद्यमानस्यात्मलाभः, सा चेन्निर्हेतुका "देश-काल-स्वभावनियमो न स्यात्" इत्यन्यत्र प्रतिपादितम्। किंच, गुणवच्चक्षुरादिसद्भावे सति यथावस्थितार्थप्रतिपत्तिर्दृष्टा, तद-भावे न दृष्टा इति तद्धेतुका व्यवस्थाप्यते, अन्वय-व्यतिरेकनिबन्धनत्वादन्यत्रापि हेतुफलभावस्य, अन्यथा दोषवच्चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी मिथ्याप्रतिपत्तिरपि स्वतः स्यात्। तथाभ्युपगमे "वस्तुत्वाद् द्विविधस्याऽत्र संभवो दुष्टकारणात्" [श्लो० वा० सू० २ श्लो० ५४] इति वचो व्याहतमनुषज्येत।

'जिनानां शासनम्' अर्थात् 'जिनो के द्वारा स्थापित किया गया शासन' ऐसा कहा वह युक्तियुक्त नही है, क्योकि 'जिन' जैसी किसी व्यक्ति का सद्भाव यानी सत्ता ही नही है वे असत् है, इसलिये जिनो के द्वारा रचित कोई शासन है यह वात सगत नही हो सकती। [तात्पर्य, प्रमाणभूत आगम शास्त्रो का कोई प्रवक्ता नही होता, और प्रमाणभूत आगम केवल वेद ही है।] यदि संगत हो तो भी शासन मे पर की अपेक्षा प्रामाण्य नही हो सकता क्योकि परतः प्रामाण्य का विस्तार से निषेध किया जा चुका है। [स्वत प्रामाण्यवाद पूर्वपक्ष समाप्त]

[(१) प्रामाण्य परतः उत्पन्न होता है-उत्तरपक्ष प्रारंभ]

इस विषय मे अब प्रतिकार किया जाता है-आपने जो कहा कि 'ज्ञाता का अर्थ के यथास्थित स्वरूप का प्रकाशक व्यापार प्रमाण होता है' यह युक्त नही है, क्योकि परपक्षियो ने जो ज्ञाता के व्यापार को प्रमाणरूप माना है उसका निषेध स्वतोभाव के खण्डन के बाद किया जाने वाला है।

इसके अतिरिक्त, स्वत प्रामाण्यवादी ने जो कहा कि 'अर्थ के यथास्थितस्वरूप का प्रकाशन वह प्रामाण्य है और वह उत्पत्ति मे स्वत है, क्योकि चक्षु आदि इन्द्रिय से भिन्न किसी गुण की अपेक्षा नही करता, इसलिये प्रामाण्य स्वत उत्पन्न होने वाला कहा जाता है।' (तत्र प्रामाण्यस्यो०....) वहाँ यह सोचना जरूरी है कि-'प्रामाण्य की उत्पत्ति' मे उत्पत्ति क्या है? 'जो पहले विद्यमान नही है उसका अस्तित्व मे आना' यही उत्पत्ति है। अगर यह उत्पत्ति निर्हेतुक यानी विना कारणसामग्री के हो जाती तब तो देशकालस्वभाव का नियम नहीं बन सकता। अर्थात् कार्योत्पत्ति अमुक ही देश मे, अमुक ही काल मे व अमुक ही स्वभाववाली नही बन सकती। उदाहरणार्थ, मिट्टी का पिंड घटस्वरूप बन जाने पर घट का अस्तित्व दिखाई देता है तो घट की उत्पत्ति कही जाती है। अब यह नियत घट की उत्पत्ति यदि विना कारण हो तब उसके उपादान भूत मिट्टीमय पिंड देश मे ही उत्पन्न होना, अमुक ही दिन मे उत्पन्न होना, अमुक ही दिन मे जलाहरणादि स्वभावयुक्त उत्पन्न होना-ऐसा नियत भाव नही बन सकता-इस बात का उपपादन अन्य स्थल मे किया गया है।

तात्पर्य यह है कि कारणो से अजन्य ऐसे परमाणु आकाश आदि विद्यमान नित्य पदार्थ किसी एक ही (उपादान) देश व एक ही काल मे नही रहता है। एव उनका स्वभाव भी नियत नही होता है, यानी कारणजन्य पदार्थो के समान तत्तत्कारणाधीन तत्तत्स्वभाव वाला नही होता है। यदि प्रामाण्य

यदपि 'अत्यक्षाऽक्षाश्रितगुणसद्भावे प्रत्यक्षाऽप्रवृत्तेः तत्पूर्वकानुमानस्याऽपि तद्ग्राहकत्वेनाऽव्यापारात् चक्षुरादिगतगुणानामसत्त्वात् तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं प्रामाण्यस्योत्पत्तावयुक्तं' [पृ०८] इत्युक्तम्; तदसंगतम् , अप्रामाण्योत्पत्तावप्यस्य दोषस्य समानत्वात् । तथाहि-"अतीन्द्रियलोचनाद्याश्रिता दोषाः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते ? उतानुमानेन ? न तावत् प्रत्यक्षेण, इन्द्रियादीनामतीन्द्रियत्वेन तद्गतदोषाणामप्यतीन्द्रियत्वे तेषु प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेः । नाप्यनुमानेन, अनुमानस्य गृहीतप्रतिबन्धलिंगप्रभवत्वाभ्युपगमात् , लिंगप्रतिबन्धग्राहकस्य च प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चात्र विषयेऽसम्भवात् , प्रमाणाऽन्तरस्य चात्रानन्तर्भूतस्याऽसत्त्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्"-इत्यादि सर्वमप्रामाण्योत्पत्तिकारणभूतेषु लोचनाद्याश्रितेषु दोषेष्वपि समानमिति तेषामप्यसत्त्वात् तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्याऽसिद्धत्वादप्रामाण्यमप्युत्पत्तौ स्वतः स्यात् ।

- की उत्पत्ति का कोई हेतु न हो तो आकाश के समान उसके देश-काल आदि का नियम भी नही होना चाहिये ।

[गुणवान् नेत्रादि के साथ प्रामाण्य का अन्वय-व्यतिरेक]

(किंच गुणव०....) इसके अतिरिक्त, 'गुणयुक्त चक्षु आदि इन्द्रिय होने पर विषय का यथार्थ प्रत्यक्ष देखा गया है, गुणयुक्त चक्षु आदि इन्द्रिय न होने पर यथार्थ प्रत्यक्ष नही देखा गया है ।' इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से यथार्थ प्रत्यक्ष यह गुणयुक्त इन्द्रिय हेतुक सिद्ध होता है अर्थात् यथार्थ प्रत्यक्ष व गुणयुक्त इन्द्रिय का हेतु-हेतुमद्भाव सिद्ध होता है । अन्य स्थान मे भी जहाँ हेतु-हेतुमद्भाव होता है वहा वह भी अन्वय और व्यतिरेक के अधीन ही होता है । अर्थात् जिन दोनो के बीच मे पौर्वापर्यरूप से अन्वय-व्यतिरेक उपलब्ध होता है, तात्पर्य, 'एक के होने पर दूसरे का उत्पन्न होना और उसके न होने पर दूसरे का उत्पन्न न होना' ऐसी परिस्थिति मिलती है वहाँ उन दोनो के बीच मे हेतु-हेतुमद्भाव अर्थात् कार्यकारणभाव होता है । अन्यथा, अन्वय-व्यतिरेक होने पर भी हेतु-हेतुमद्भाव न माना जाय तो वस्तु निर्हेतुक अर्थात् स्वत सिद्ध हो जाएगी । फलतः मिथ्या प्रतीति व दोषयुक्त चक्षु आदि इन्द्रिय इन दोनो के बीच में अन्वय-व्यतिरेक होने पर मिथ्या प्रतीति को भी स्वत. मानना पडेगा । फलतः अप्रामाण्य भी स्वत सिद्ध होगा । यह भी यदि मान लिया जायेगा तो यह जो आपका वचन है 'वस्तुत्वाद ०' इत्यादि, इसका व्याघात होगा । आशय यह है कि-"मिथ्या ज्ञान भी एक वस्तु है, वह दोषयुक्त कारणो से (भ्रम और सशय इन) दो प्रकार से उत्पन्न होता है ।"-इस वचन का व्याघात हो जायेगा ।

[गुणापलाप करने पर दोषापलाप की आपत्ति]

(यदपि 'अत्यक्षा०....) यह भी जो आप कह गये है-"इन्द्रियो मे रहने वाले अतीन्द्रिय गुणो की सत्ता के विषय मे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही हो सकती और जब प्रत्यक्ष होना अशक्य है तब प्रत्यक्ष पूर्वक होने वाले अनुमान की भी इन्द्रियाश्रित अतीन्द्रियगुणो के ग्रहण मे प्रवृत्ति नही हो सकती । इसलिये प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो से इन्द्रियो के गुणो का ज्ञान नही हो सकने के कारण इन्द्रिय के परपक्षमान्य गुण असत् हैं । इस लिये प्रामाण्य की उत्पत्ति व इन्द्रिय के गुण इन दोनो के बीच अन्वय-व्यतिरेक मानना युक्त नही है" यह पूरा कथन युक्तिसगत नही है, क्योकि आपने प्रामाण्य की उत्पत्ति के विषय मे जिस दोष का उद्भावन किया है वह दोष अप्रामाण्य की उत्पत्ति के विषय

यदपि 'अथ कार्येण यथार्थोपलब्ध्यात्मकेन तेषामधिगमः' [पृ० ११ पं० ७]इत्यादि 'यतो न लोकः प्रायशो विपर्ययज्ञानादुत्पादकं कारणमात्रमनुमिनोति किंतु सम्यग्ज्ञानात्' [पृ० १३ पं० ३] इत्यन्तमभ्यधायि; तदप्यसगतम्, यतो यदि लोकव्यवहारसमाश्रयणेन प्रामाण्याऽप्रामाण्ये व्यवस्थाप्येते तदाऽप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि परतो व्यवस्थापनीयम्। तथाहि-लोको यथा मिथ्याज्ञानं दोषवच्चक्षुरादिप्रभवमभिदधाति तथा सम्यग्ज्ञानमपि गुणवच्चक्षुरादिसमुत्थमिति तदभिप्रायादप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमप्युत्पत्तौ परतः कथं न स्यात्? तथाहि-तिमिरादिदोषावष्टब्धचक्षुष्को विशिष्टौषधोपयोगावाप्ताक्षिनैर्मल्यगुणः केनचित् सुहृदा 'कीदृक्षे भवतो लोचने वर्त्तेते' इति पृष्टः सन् प्राह-'प्राक् सदोषे अभूतामिदानीं समासादितगुणे संजाते' इति। न च नैर्मल्यं दोषाभावमेव लोको व्यपदिशति इति शक्यमभिधातुम्, तिमिरादेरपि गुणाभावरूपत्वव्यपदेशप्राप्तेः, तथा च अप्रामाण्यमपि प्रामाण्यवत् स्वतः स्यात्।

में भी समानरूप से लागू होता है। समानता इस प्रकार:—'जिन दोषो को आप अतीन्द्रिय नेत्रादि इन्द्रिय मे आश्रित मानते हैं वे प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं या अनुमान से? प्रत्यक्ष से उनकी प्रतीति नही हो सकती क्योकि इन्द्रिय अतीन्द्रिय होने से उनमे रहने वाले दोष भी अतीन्द्रिय है इसलिये उनमे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही हो सकती।

अनुमान से भी इन दोषो का ज्ञान नही हो सकता क्योकि अनुमान उस लिंग से उत्पन्न होता है जिसका साध्य के साथ व्याप्ति सबध ज्ञात होता है, किन्तु प्रस्तुत विषय मे ऐसा कोई प्रत्यक्ष या अनुमान सभवित नही है जो हेतुगत व्याप्ति का ग्राहक हो सके। एव प्रत्यक्ष व अनुमान मे अन्तर्भाव न हो सके ऐसा कोई अन्य प्रमाण नही है जिससे भी हेतुगत व्याप्ति का ज्ञान तथा इन्द्रियो के अतीन्द्रिय दोषो का ज्ञान हो सके। ऐसा कोई अतिरिक्त तीसरा प्रमाण नही है यह बात आगे स्पष्ट की जाने वाली है।'- (इत्यादि सर्वमप्रामाण्य०) इत्यादि जो कुछ प्रामाण्य के स्वतस्त्व पक्ष में कारणरूप से भासमान इन्द्रियगत गुणो की अकिंचित्करता सिद्ध करने के लिए कहा है वह सब अप्रामाण्य की उत्पत्ति मे कारणभूत लोचनादि आश्रित दोषो के विषय मे भी समान है। इस प्रकार दोष भी असत् सिद्ध हो जाने से अप्रामाण्य एव दोष के बीच अन्वयव्यतिरेक सिद्ध नही होगे। इसलिए अप्रामाण्य भी उत्पत्ति मे स्वत. हो जाएगा।

[लोकव्यवहार में सम्यग्ज्ञान को गुणप्रयुक्त माना जाता है]

इसके अतिरिक्त, आपने 'यदि यथार्थज्ञान रूप कार्य से गुण का ज्ञान होता है'. यहाँ से लेकर 'लोग प्राय उत्पत्ति के कारण का अनुमान भ्रान्त ज्ञान से नही किन्तु यथार्थ ज्ञान से करते हैं' यहाँ तक जो कहा है वह भी युक्त नही है। इसका कारण यह है कि-लोकव्यवहार का आश्रय लेकर यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य की व्यवस्था की जाय तो अप्रामाण्य के समान प्रामाण्य की प्रतिष्ठा भी पर की अपेक्षा से करनी चाहिये। यह इस प्रकार-लोग तो जिस प्रकार मिथ्या ज्ञान को दोषयुक्त चक्षु आदि से उत्पन्न होने वाला कहते है इस प्रकार सम्यग् ज्ञान को भी गुणयुक्त चक्षु आदि से उत्पन्न कहते है। इसलिये लोगो के अभिप्राय के अनुसार अप्रामाण्य के समान ही प्रामाण्य भी उत्पत्ति मे परत. यानी परसापेक्ष क्यो नही सिद्ध होगा? इसकी अधिक स्पष्टता इस प्रकार है-तिमिर आदि दोषो से युक्त नेत्रवाला मनुष्य किसी विशिष्ट औषध के उपयोग से नेत्रो मे निर्मलता स्वरूप गुण को प्राप्त

यदप्यभ्यधायि 'न च तृतीयं कार्यमस्ति' [पृ० १३-पं० ४] इति; तदप्यसम्यक्, तृतीयकार्याभावेऽपि पूर्वोक्तन्यायेन प्रामाण्यस्योत्पत्तौ परतः सिद्धत्वात्। यच्च 'अपि चार्थतथाभावप्रकाशनलक्षणं प्रामाण्यं..' [पृ० १०-पं० ६] इत्यादि....'विश्वमेकं स्यादिति वचः परिप्लवेत' [पृ० १४-पं० ३] इतिपर्यवसानमभिहितम्, तदपि अविदितपराभिप्रायेण। यतो न परस्यायमभ्युपगमः-'विज्ञानस्य चक्षुरादिसामग्रीतः उत्पत्तावप्यर्थतथाभावप्रकाशनलक्षणस्य प्रामाण्यस्य नैर्मल्यादिसामग्र्यन्तरात् पश्चादुत्पत्तिः', किंतु, गुणवच्चक्षुरादिसामग्रीतः उपजायमानं विज्ञानमागृहितप्रामाण्यस्वरूपमेवोपजायत इति।

ज्ञानवत् तदव्यतिरिक्तस्वभावं प्रामाण्यमपि परत इति गुणवच्चक्षुरादिसामग्र्यपेक्षत्वात् उत्पत्तौ प्रामाण्यस्यानपेक्षत्वलक्षणस्वभाव हेतुरसिद्धोऽनपेक्षत्वस्वरूप इति 'तस्मात्स्वत एव गुणविकलसामग्रीलक्षणात्' [पृ० १४-पं० ४] इत्याद्ययुक्तमभिहितम्। 'अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा च शक्तिः प्रामाण्यं, शक्तयश्च सर्वभावानां स्वत एव भवन्ति' इत्यादि [पृ० १६-१] यदभिधानं तदप्यसमीचीनम्। एवमभिधानेऽयथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तेरप्यप्रामाण्यरूपाया असत्याः केनचित् कर्तुमशक्तेः तदपि स्वतः स्यात्।

कर लेता है तब कोई मित्र उसे पूछता है 'आपके नेत्र कैसे हैं ?' तब वह उत्तर मे कहता है 'पहले मेरे नेत्र दूषित थे, अब वे गुण सपन्न हो गये है।' इसलिये यह कहना शक्य नहीं है कि-'लोग केवल दोषों के अभाव को ही निर्मलता कहते हैं'-क्योकि ऐसा कहने पर तो तिमिर आदि दोषों को भी गुणो के अभावरूप मे कहना होगा। साराश, लोकदृष्टि मे दोष के समान गुण भी स्वतंत्ररूप से प्रसिद्ध है, फिर भी गुणो की उपेक्षा करके प्रामाण्य को आप स्वत' मानते हैं, तो दोषो की उपेक्षा करके अप्रामाण्य को भी स्वत मानना होगा।

इसके अतिरिक्त आपने जो कहा है-'यथार्थोपलब्धि व अयथार्थ उपलब्धि को छोड कर ज्ञान का तीसरा कोई कार्य नही है'-वह भी समीचीन नही है। क्योकि तीसरा कार्य भले न हो तो भी पहले कही गयी युक्ति के अनुसार प्रामाण्य उत्पत्ति मे पर की अपेक्षा करता है यह सिद्ध हो चुका है। (यच्च 'अपि....) तथा आपने 'वस्तु के यथास्थितभाव का प्रकाशनरूप प्रामाण्य'..... .यहां से लेकर 'समस्त ससार एक हो जायेगा-यह वचन खण्डित हो जायेगा'. यहा तक जो कहा है वह सब प्रतिवादी के अभिप्राय को बिना समझे ही कहा है। क्योकि प्रतिवादी यह नही मानते कि चक्षु आदि सामग्री से ज्ञान पहले उत्पन्न होता है और उसमे वस्तु के यथार्थस्वरूप प्रकाशनात्मक प्रामाण्य, निर्मलता आदि अन्य सामग्री से बाद मे उत्पन्न होता है। प्रतिवादी तो यह मानते हैं कि गुणसहितचक्षु आदि सामग्री से जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब आगृहीत यानी उपजात प्रामाण्यस्वरूप वाला ही उत्पन्न होता है।

[प्रामाण्यरूप पक्ष में अनपेक्षत्व हेतु की असिद्धि]

फलतः जैसे ज्ञान उत्पत्ति मे परापेक्ष है उसी प्रकार ज्ञान से अभिन्न स्वभाव वाला प्रामाण्य भी परापेक्ष सिद्ध हुआ। इस प्रकार प्रामाण्य उत्पत्ति मे गुणयुक्त चक्षु आदि सामग्री की अपेक्षा रखता है इसलिये आपने जो 'अपेक्षा रहित होने से' इसको हेतुरूप मे कहा था वह आपका अनपेक्षत्व यानी 'निरपेक्षभाव' रूप स्वभाव हेतु असिद्ध हुआ। इसलिये आपने जो 'गुण से अतिरिक्त जिस

यदपि 'एतच्च नैव सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते' [पृ० १६–३] इत्यादि 'तदपेक्षा न विद्यते' [पृ० १६–११] इतिपर्यन्तमभिहितम्, तदपि प्रलापमात्रम्, यतोऽनेन न्यायेनाऽप्रामाण्यमपि प्रामाण्यवत् स्वत एव स्यात्। तदपि ही विपरीतार्थपरिच्छेदशक्तिलक्षणं न तिमिरादिदोषसङ्गतिमत्सु लोचनादिषु अस्तीति। अपि च, ज्ञानरूपतामात्मन्यसतीमाविर्भावयन्तीन्द्रियादयो न पुनर्यथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तिमिति न किंचिन्निमित्तमुत्पश्यामः।

कुतश्चैतदैश्वर्यं शक्तिभिः प्राप्तं यत इमाः स्वत एवोदयं प्रत्यासादितमहात्म्या न पुनस्तदाधाराभिमता भावविशेषा इति? न च तास्तेभ्यः प्राप्तव्यतिरेकाः यतः स्वाधाराभिमतभावकारणेभ्यो भावस्योत्पत्तावपि न तेभ्य एवोत्पत्तिमनुभवेयुः। व्यतिरेके स्वाश्रयैस्ततोऽभवन्त्यो न सम्बन्धमाप्नुयुः, भिन्नानां कार्य-कारणभावव्यतिरेकेणापरस्य सम्बन्धस्याभावात्, आश्रयाश्रयिसम्बन्धस्यापि जन्य-जनकभावाभावेऽतिप्रसंगतो निषेत्स्यमानत्वात्। धर्मत्वाच्छक्तेराश्रय इत्यप्ययुक्तम्, असति पारतन्त्र्ये परमार्थतस्तदयोगात्। पारतन्त्र्यमपि न सतः, सर्वनिराशंसत्वात्, असतोऽपि व्योमकुसुमस्येव न, तत्त्वादेव। अनिमित्ताश्च न देश-कालद्रव्यनियमं प्रतिपद्येरन्। तद्धि किंचित् क्वचिदुपलीयेत नवा यद् यत्र कथञ्चिद् आयत्तमनायत्तं वा। सर्वप्रतिबन्धविवेकिन्यश्चेच्छक्तयो, नेमाः कस्यचित् कदाचिद् विरमेयुरिति प्रतिनियतशक्तियोगिता भावानां प्रमाणप्रमिता न स्यात्।

सामग्री से विज्ञान उत्पन्न होता है उसी सामग्री से प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है, अत प्रामाण्य उत्पत्ति मे स्वतः है' इत्यादि जो कहा था वह अब अयुक्त सिद्ध होता है। (अर्थतथात्वपरिच्छेद..) इसी प्रकार आपने जो कहा था कि "वस्तु की यथार्थता के ज्ञानरूप जो शक्ति है वही प्रामाण्य है और सब भावो की शक्तिया स्वत ही होती है इसलिये भी प्रामाण्य स्वत है"-यह कथन भी युक्त नही है क्योकि यदि इस प्रकार कहा जाय तो अयथार्थरूप से अर्थ के प्रकाशन की शक्ति जिसको अप्रामाण्य कहा जाता है, उसके भी असत् होने पर उसको कोई उत्पन्न नही कर सकेगा इसलिये वह भी स्वत. होनी चाहिये।

[अप्रामाण्यात्मक शक्ति में भी स्वतोभाव आपत्ति]

आपने जो "सत्कार्यवाद को मानकर यह हम नही कहते." यहा से लेकर (जलाहरणादि मे घट को) उसकी यानी दड की अपेक्षा नही है'. यहा तक कहा था वह भी केवल प्रलाप है–अर्थहीन वचन है, क्योकि यदि आपकी इस युक्ति को माना जाय तब अप्रामाण्य भी प्रामाण्य के समान स्वत ही हो जाना चाहिये क्योकि विज्ञान निष्ठ अर्थतथाभावपरिच्छेदशक्तिरूप प्रामाण्य जैसे ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व नेत्रादि कारणो मे विद्यमान नही है वैसे ही विपरीतार्थपरिच्छेदशक्तिरूप अप्रामाण्य भी तिमिर आदि दोषयुक्त नेत्रादि कारणो मे ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व विद्यमान नही है इसलिये उसको भी स्वतः मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, 'इन्द्रिय आदि अपने भीतर मे अविद्यमान ज्ञानरूपता को उत्पन्न करते हैं परन्तु अर्थतथाभावपरिच्छेदशक्तिरूप प्रामाण्य को उत्पन्न नही करते,' इस पक्षपात मे कोई निमित्त नही दिखाई देता।

[शक्तियां स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकती]

यह भी विचारणीय है कि उपर्युक्त स्थिति मे शक्तियो ने यह ऐश्वर्य कहा से प्राप्त कर लिया जिससे ये शक्तिया तो स्वत-अपने आप उत्पन्न होने की महीमावाली है और उनके आधारभूत

व्यतिरेकाऽव्यतिरेकपक्षस्तु शक्तीनां विरोधाऽनवस्थोभयपक्षोक्तदोषादिपरिहाराद् विनाऽनुद्घोष्यः। अनुभयपक्षस्तु न युक्तः, परस्परपरिहारस्थितरूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वात् न च विहितस्य पुनस्तस्यैव निषेधः, विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधात्।

ज्ञानादि भावविशेष बेचारे स्वत उत्पन्न नही हो सकते। एवं ऐसा भी नही कह सकते है-कि ये शक्तिया अपने आधारभूत भावो से भिन्न हैं, जिससे अपने आधारभूत भावो के कारणो से भाव के उत्पन्न होने पर भी उन्ही कारणो से वे शक्तिया स्वय उत्पन्न न हो सके। (व्यतिरेके स्वाश्रयैं...) यदि इन शक्तियो को आधारभूतभावो से भिन्न माना जाय तो उन से उत्पन्न न होने के कारण इन शक्तियो का अपने आधारभूत भावो के साथ सबध नही होना चाहिये। जो पदार्थ भिन्न होते हैं उनमे कार्यकारणभाव को छोडकर कोई अन्य सबध नही होता। अलबत्ता आश्रय-आश्रयिभाव सबध हो सकता है, किन्तु यह भी यदि कार्य-कारण भाव न होने पर हो तो अतिप्रसग होने से ऐसे आश्रय-आश्रयिभाव का निषेध किया जाने वाला है।

[शक्ति का आश्रय के साथ धर्म-धर्मिभाव दुर्गम है]

(धर्मत्वाच्छक्ते....) अब यदि आप कहे-'शक्ति धर्म है इसलिये उसका आधारभूत धर्मी यह आश्रय भी है, क्योकि विना धर्मी धर्म नही रह सकता। तात्पर्य, कार्य-कारणभाव न होने पर भी आश्रय-आश्रयिभाव हो सकता है'-तो यह कथन भी युक्त नही है, क्योकि धर्म धर्मी का परतत्र होता है, अत परतन्त्रता न होने पर तात्त्विक दृष्टि से शक्ति धर्मरूप नही हो सकती। अगर कहे-परतन्त्रता जैसी कोई वस्तु ही नही है, क्योकि अगर वह हो तब सत् की है या असत् की ? सत् पदार्थ की परतन्त्रता नही हो सकती क्योकि जो सत् है वह किसी की भी अपेक्षा से रहित होता है और जो असत् है वह गगनकुसुमवत् असत् होने के कारण ही किसी की अपेक्षा से रहित होता है। (अनिमित्ताश्चेमा....) फिर यदि ये शक्तिया बिना निमित्त कारण होती हो तो वे देश-काल और द्रव्य के नियम का पालन नही करेगी। तात्पर्य, वे शक्तिया नियतरूप से अमुक ही देश मे रहने वाली, अमुक काल मे ही रहने वाली एव अमुक ही आश्रयद्रव्य में रहने वाली हो ऐसा नियम नही बन सकेगा। जो सत् पदार्थ निर्निमित्तक होता है वह किसी अमुक ही देश-काल या द्रव्य के साथ ही संबन्ध रखने वाला हो ऐसा नियम नही बन सकता। जो सर्वथा असत् होते हैं उनमे भी अमुक ही देश-काल और द्रव्य के साथ सबन्ध हो ऐसा नियम भी नही हो सकता। (तद्धि किंचित्....) तो यहा शक्ति के बारे मे दो विकल्प हो सकते है, शक्ति किसी अन्य को आयत्त है या अनायत्त ? अगर आयत्त हो तो उसमे उसकी लीनता होनी चाहिये और अनायत्त हो तब उसमे उसकी लीनता नही हो सकती। अब यदि शक्तिया सब प्रकार के नियत सबन्ध से मुक्त हो तो वे किसी भी पदार्थ मे से कभी भी व्यावृत्त नही होनी चाहिये। फलत सर्व भाव, नियत यानी अमुक अमुक शक्ति वाले अवश्य होते हैं यह जो प्रमाणसिद्ध है वह नही बन सकेगा।

[शक्ति आश्रय से भिन्नाऽभिन्न या अनुभय नहीं है]

शक्ति अपने आश्रय से व्यतिरिक्त है या अव्यतिरिक्त, इन दो पक्ष की सदोषता देखकर यदि व्यतिरिक्त-अव्यतिरिक्त यह उभय पक्ष का स्वीकार किया जाय तो वह तो प्रस्तुत करने की स्थिति में भी आप नही है, क्योकि व्यतिरिक्त और अव्यतिरिक्त इन दोनो का परस्पर विरोध है। अगर,

ये त्वाहुः-'उत्तरकालभाविनः संवादप्रत्ययान्न जन्म प्रतिपद्यते शक्तिलक्षणं प्रामाण्यमिति स्वत उच्यते, न पुर्नाविज्ञानकारणान्नोपजायत इति' ।-तेऽपि न सम्यक् प्रचक्षते, सिद्धसाध्यतादोषात् । अप्रामाण्यमपि चैवं स्वतः स्यात् । न हि तदप्युत्पन्ने ज्ञाने विसंवादप्रत्ययादुत्तरकालभाविनः तत्रोत्पद्यते इति कस्यचिदभ्युपगमः । यदा च गुणवत्कारणजन्यता प्रामाण्यस्य शक्तिरूपस्य प्राक्तनन्यायादवस्थिता, तदा कथमौत्सर्गिकत्वम्, तस्य दुष्टकारणप्रभवेषु मिथ्याप्रत्ययेष्वभावात् । परस्परव्यवच्छेदरूपाणामेकत्राऽसंभवात् । तस्माद् "गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावादप्रामाण्यद्वयाऽसत्त्वेनोत्सर्गोऽनपोहित एवास्ते"-[द्रष्टव्य-श्लो० वा० २-६५] इति वचः परिफल्गुप्रायम् ।

व्यतिरेक-अव्यतिरेक को व्यतिरेक सहित अव्यतिरेक नही किंतु एक विजातीय सम्बन्धविशेष रूप माना जाय तो यह प्रश्न होगा कि यह विजातीय सम्वन्ध उसके आश्रय से भिन्न है या अभिन्न ? इसके लिये भी अगर विजातीय सम्बन्ध माना जाय तो इस रीति से अनवस्था दोष की आपत्ति होगी। अगर व्यतिरेकसहित अव्यतिरेकरूप सम्बन्ध माना जायगा तो उभयपक्षोक्त दोष सहज आपन्न होगा। जब तक इन दोषो का परिहार न किया जाय तब तक शक्ति और भावो का भेदाभेद है इस पक्ष की घोषणा नही करनी चाहिये।

(अनुभयपक्षस्तु..) इस विषय मे जो अनुभय पक्ष है अर्थात् भेद और अभेद का निषेधरूप पक्ष है वह भी युक्त नही है। इस पक्ष के अनुसार आश्रय के साथ शक्ति का भेद भी नही है और अभेद भी नही है। तात्पर्य, शक्ति अपने आश्रय से न भिन्न है, न अभिन्न है इस प्रकार का अनुभय पक्ष युक्त नही है। क्योकि एक दूसरे को छोड कर रहने के स्वभाव वाले जो पदार्थ होते है, उदाहरणार्थ प्रकाश और अन्धकार, वहाँ यदि एक का निषेध हो तो दूसरे का विधान अवश्य होता है। भेद और अभेद परस्पर को छोड कर रहने के स्वभाव वाले हैं, यदि भेद है तो अभेद या भेदाभाव नही हो सकता। यदि भेद नही है तो अभेद का विधान हो जाता है। इसलिये जिसका विधान किया जाता है, उसका निषेध नही किया जा सकता। क्योकि एक ही पदार्थ के सम्वन्ध मे विधान और निषेध इन दोनो का विरोध है, इसलिये अनुभयपक्ष युक्त नही है।

[उत्तरकालीन संवादी ज्ञान से अनुत्पत्ति में सिद्धसाधन]

जो लोग कहते है-"शक्तिरूप प्रामाण्य उत्तरकाल भावि सवादी ज्ञान से उत्पन्न नही होता है, इसी कारण प्रामाण्य को स्वत कहा जाता है, नही कि विज्ञान के कारणो से प्रामाण्य उत्पन्न नही होता है इसलिये।"-उन लोगो का यह कथन भी युक्त नही है। क्योकि इस कथन मे सिद्ध-साध्यता का दोष आता है। कारण, प्रामाण्य के स्वतस्त्व का यह स्वरूप प्रतिवादी भी मानता है। वे भी कहते है कि प्रामाण्य उत्तरभावी सवादी ज्ञान से उत्पन्न नही होता है अब ऐसा मानने वाले प्रतिवादी के सामने यही सिद्ध करने का प्रयास करना यह सिद्धसाध्यतारूप दोष है। (अप्रामाण्यमपि .) इसके अतिरिक्त यदि इसी रीति से यानी सवादी ज्ञान से उत्पन्न न होने के कारण प्रामाण्य को स्वत कहा जायेगा तो अप्रामाण्य को भी स्वत मानना पडेगा क्योकि वह भी उत्तरकालभावी बाधकज्ञान से उत्पन्न नही होता। अप्रामाण्य के विषय मे भी 'पहले ज्ञान उत्पन्न होता है, बाद मे उसमे उत्तरकालभावी बाधक यानी विसवादी ज्ञान से अप्रामाण्य उत्पन्न होता है' इस प्रकार कोई मानता नही है।

(यदा च गुण. ०) फिर जब पहले कहे हेतु के द्वारा शक्तिरूप प्रामाण्य गुणवान कारणो से जन्य सिद्ध हो चुका है तब उसको औत्सर्गिक अर्थात् उत्सर्ग से ज्ञानसामान्य से उत्पन्न कैसे कहा जा

इतश्चैतद् वचोऽयुक्तम्-विपर्ययेणाप्यस्योद्घोषयितुं शक्यत्वात् । तथाहि-दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावात्प्रामाण्यद्वयाऽसत्त्वेनाऽप्रामाण्यमौत्सर्गिकमास्त इति ब्रुवतो न वक्त्रं वक्रीभवति ।

किंच गुणेभ्यो दोषाणामभाव इति न तुच्छरूपो दोषाभावो गुणव्यापारनिष्पाद्यः, तत्र व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पद्वारेण कारकव्यापारस्याऽसम्भवात्, भवद्भिरनभ्युपगमाच्च । तुच्छाभावस्याभ्युपगमे वा, 'भावान्तरविनिर्मुक्तो, भावोऽत्रानुपलम्भवत् ।
अभावः सम्मतस्तस्य हेतोः किं न समुद्भवः ।।' इति वचो न शोभेत ।

तस्मात् पर्युदासवृत्त्या प्रतियोगिगुणात्मक एव दोषाऽभावोऽभिप्रेतः । ततश्च गुणेभ्यो दोषाभाव इति ब्रुवता गुणेभ्यो गुणा इत्युक्तं भवति । न च गुणेभ्यो गुणाः कारणानामात्मभूता उपजायन्त इति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् स्वकारणेभ्यो गुणोत्पत्तिसद्भावाच्च । तदभावादप्रामाण्यद्वयाऽसत्त्वमपि प्रामाण्यमभिधीयते । ततश्च गुणेभ्यः प्रामाण्यमुत्पद्यत इति अभ्युपगमात् परतः प्रामाण्यमुत्पद्यत इति प्राप्तम् ।।

सकता है ? अर्थात् औत्सर्गिक नही कहा जा सकता । क्योकि दोषयुक्त कारणों से जन्य मिथ्याज्ञानों मे प्रामाण्य नही होता है । (परस्परव्यवच्छेद....) प्रामाण्य और अप्रामाण्य परस्पर के निषेधरूप है । वे दोनो एक धर्मी ज्ञान मे नही रह सकते । इसलिये श्लोकवार्त्तिक मे यह जो कहा गया है कि-'गुणो से दोषो का अभाव होता है, अर्थात् जहा गुण रहते हैं वहां प्रतिपक्षी दोष नही रह सकते । फलत: दोषों के अभाव से दो प्रकार का अप्रामाण्य अर्थात् सदेह और भ्रम भी नही रह सकता । इसलिये जो उत्सर्ग है अर्थात् ज्ञानमात्र मे प्रामाण्य होने का औत्सर्गिक नियम है वह निरपवाद है ।'-यह कथन सर्वथा असार है क्योकि पूर्वोक्तरीति से प्रमाणज्ञान गुणवत्कारणजन्य होता है-यह सिद्ध हो चुका है ।

[अप्रामाण्य को औत्सर्गिक कहने की आपत्ति]

पूर्वोक्त वचन असार होने का यह भी एक कारण है कि जो कुछ उसमे कहा गया है उसके विपरीत स्वरूप को भी घोषित किया जा सकता है-"जैसे कि, दोषो से गुणो का अभाव होता है, गुणो के न रहने से दो प्रकार का प्रामाण्य (प्रत्यक्ष का और अनुमान का प्रामाण्य) नही रहता, और इसके कारण अप्रामाण्य औत्सर्गिक रूप से रह जाता है, अर्थात् ज्ञानसामान्य के साथ सलग्न अप्रामाण्य दुर्निवार होता है"-कोई इस प्रकार बोले तो उसका मुह टेढा यानी वक्र नही होगा ।

इसके अतिरिक्त, गुणो से दोषो का अभाव उत्पन्न होता है-यह आपका कथन है-परन्तु दोषो का अभाव तुच्छ होने से वह गुणो के व्यापार से उत्पन्न नही हो सकता । जैसे कि वंध्यापुत्र, आकाश-कुसुम आदि तुच्छ स्वरूप के है, उनकी उत्पत्ति किसी भी कारण के व्यापार से नही होती । तुच्छ में कारको का व्यापार भिन्न और अभिन्न विकल्पो के द्वारा किसी भी प्रकार से सिद्ध नही होता ।

यदि तुच्छ स्वरूप दोषाभाव को गुणो के व्यापार से उत्पन्न होने वाला कहा जाय तो उस दोषाभाव से गुणों का व्यापार भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उसका दोषाभाव के साथ सबध न होने से उससे वह उत्पाद्य कैसे कहा जाय ? अगर कारणगुणो का व्यापार दोषाभाव से अभिन्न है तब वह व्यापार दोषाभाव के समान तुच्छ हो जायगा । अत: दोनो अवस्थाओ मे गुणों के व्यापार का सभव नही हो सकता । यह भी ध्यान देने योग्य है कि आप दोषाभाव को तुच्छ स्वरूप नही मानते । यदि दोषाभाव को तुच्छ स्वरूप माने तो आपका यह वचन कि-

ततश्च स्वार्थावबोधशक्तिरूपप्रामाण्यात्मलाभे चेत् कारणापेक्षा, काऽन्या स्वकार्यप्रवृत्तिर्या स्वयमेव स्यात् ? तेनाऽयुक्तमुक्तम्, 'लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु' ।। [पृ. १६-पं. ६] इति । घटस्य जलोद्वहनव्यापारात् पूर्वं रूपान्तरेण स्वहेतोरुत्पत्तेर्युक्तं मृदादिकारणनिरपेक्षस्य स्वकार्ये प्रवृत्तिरित्यतो विसदृशमुदाहरणम् । उत्पत्त्यनंतरमेव च विज्ञानस्य नाशोपगमात् कुतो लब्धात्मनः प्रवृत्तिः स्वयमेव ? तदुक्तम्–[श्लो० वा० सू० ४-५५,५६]

न हि तत्क्षणमप्यास्ते जायते वाऽप्रमात्मकम् । येनार्थग्रहणे पश्चाद् व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत् ।।१।।
तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार उच्यते । तदेव च प्रमारूपं, तद्वती करणं च धीः ।।२।। इति ।

भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत् ।
अभाव सम्मतस्तस्य हेतो कि न समुद्भव ।।

जिसका तात्पर्य है–"जो भाव अन्य भाव से रहित होता है वही उस भाव का अभाव माना जाता है । इसमे अनुपलभ दृष्टान्त है, और जब वह अभाव भावात्मक है तब उसकी हेतु से उत्पत्ति क्यो न होगी ?"–यह वचन शोभास्पद नही रहेगा । यहा अनुपलम्भ दृष्टान्त इस प्रकार है–किसी स्थान मे जब घट का अनुपलम्भ होता है तब वहा पट आदि प्रतीत होने पर ही होता है । पट आदि की प्रतीति न हो तो घट का अनुपलम्भ नही प्रतीत होता । पट आदि का ज्ञान ही घट के अनुपलम्भ काल मे प्रतीत होता है । इस प्रकार जब एक भावपदार्थ अन्य भावपदार्थ से रहित होता है तो वह अभाव कहा जाता है । अभाव शब्द से कहे जाने पर भी उसका स्वरूप भावात्मक होता है । भावात्मक होने के कारण उस अभाव की उत्पत्ति भी हेतुओ से होनी चाहिये, फलतः दोषाभाव तुच्छ अभाव नही किन्तु भावात्मक है ।

[दोषाभाव में पर्युदास प्रतिषेध कहने में परतः प्रामाण्य आपत्ति]

(तस्मात् पर्युदास....) निष्कर्ष यह कि दोषाभाव शब्द से जो दोष का निषेध होता है वह पर्युदास प्रतिषेध रूप है [अभाव दो रीति से अभिव्यक्त किया जाता है १ पर्युदास प्रतिषेध से २, प्रसज्य प्रतिषेध से । उदाहरणार्थ, 'घट पटो न' (=घट यह पट नही है) यह पर्युदास प्रतिषेध है और यहा एक भाव का दूसरे भाव मे तादात्म्य होने का निषेध किया जाता है । 'आकाश मे कुसुम नही है' यह प्रसज्य प्रतिषेध है और यहा एक भाव मे दूसरे भाव के अस्तित्व का निषेध किया गया है । अब प्रस्तुत] मे विज्ञान सामग्री के अन्तर्गत जो गुण है वही दोपाभावरूप है, अब दोषो का प्रतियोगी यानी विरोधी जो गुण है उन से वह दोषाभाव अभिन्न है । तो जब आप कहते है–गुणो से दोषो का अभाव होता है–तो इस का अभिप्राय यही हुआ कि गुणो से गुण उत्पन्न होते है, अर्थात् गुणो से ही कारणाभिन्न गुण उत्पन्न होते है–किन्तु यह मानना युक्तियुक्त नही है–क्योकि कोई भी कारक अपने स्वरूप मे क्रिया को नही उत्पन्न कर सकता । कुठार अपने से भिन्न काष्ट का तो छेदन कर सकता है किन्तु खुद का छेदन यानी दो टूकडे नही कर सकता ।

दूसरी बात यह है कि गुणो की उत्पत्ति गुण के उत्पादक कारणो से ही होती है, गुणो से नही, जब आप कहते है दोषो के अभाव के कारण दो प्रकार का अप्रामाण्य नही रहता, तब 'नही' को पर्युदास प्रतिषेध मानने पर अप्रामाण्य द्वय का अभाव ही प्रामाण्य होगा–तब उसका अर्थ होगा–प्रामाण्य गुणो से उत्पन्न होता है, इससे यह सिद्ध होगा कि प्रामाण्य की उत्पत्ति पर की अपेक्षा से होती है ।

तस्माज्जन्मव्यतिरेकेण बुद्धेर्व्यापाराभावात् तत्र च ज्ञानानां सगुणेषु कारणेष्वपेक्षावचनात् कुतः स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिरिति ? । किं तज्ज्ञानस्य कार्यं यत्र लब्धात्मनः प्रवृत्तिः स्वयमेवोच्यते ? 'स्वार्थपरिच्छेद'श्चेत् ? न, ज्ञानपर्यायत्वात् तस्यात्मानमेव करोतीत्युक्तं स्यात्, तच्चाऽयुक्तम्। 'प्रमाणमेतदित्यनन्तरं निश्चय'श्चेत ? न, भ्रान्तिकारणसद्भावेन क्वचिदनिश्चयाद् विपर्ययदर्शनाच्च। तस्माद् जन्मापेक्षया गुणवच्चक्षुरादिकारणप्रभवं प्रामाण्य परतः सिद्धमिति ।। 'अथ चक्षुरादिज्ञान-कारण०' [पृ. १७ प. १] इत्याद्ययुक्ततया स्थितम् ।

[आत्मलाभ के बाद स्वकार्य में स्वतः प्रवृत्ति अनुपपन्न]

इस प्रकार जब अपने स्वरूप के और अर्थ के प्रकाशन की जो शक्ति है वही प्रामाण्य है और उस प्रामाण्य की उत्पत्ति मे कारणो की अपेक्षा है तो उसकी वह कौनसी अन्य कार्यप्रवृत्ति होगी जो अपने आप हो जायेगी !! इसी कारण से आपका यह वचन भी–जब भाव पदार्थ उत्पन्न हो जाते है तब उनकी अपने कार्यो मे स्वय ही प्रवृत्ति होती है– अयुक्त सिद्ध होता है। जो घट का दृष्टान्त दिया गया है वह भी विसदृश होने से असगत है, घट स्वय जल को धारण करता है यह ठीक है किन्तु उसके पहले घट की उत्पत्ति अपने कारणो से भिन्नरूप के साथ हो जाती है, एव घट अन्य क्षणो मे अविनष्ट (स्थिर) रहता है, इसलिये उत्पत्ति के बाद घट की जो जलधारण मे प्रवृत्ति होती है उसमे चक्र आदि कारणो की अपेक्षा नही रहती। किन्तु विज्ञान पक्ष मे ऐसी बात नही है क्योकि उत्पत्ति के बाद तुरन्त ही ज्ञान का नाश माना जाता है। इस दशा मे ज्ञान अपनी उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाने से अपने कार्य मे प्रवृत्ति कैसे कर सकता है ? कहा भी है:—

नहि तत्क्षण. ... इत्यादि-इसका अर्थ-वह ज्ञान अप्रमारूप मे उत्पन्न नही होता है और क्षण भर भी टीकता नही है जिससे वह चक्षु आदि इन्द्रिय के समान उत्पत्ति के बाद अर्थ प्रकाशन मे प्रवृत्ति कर सके। इसलिये यह फलित होता है कि ज्ञान की उत्पत्ति ही अर्थ प्रकाशन की प्रवृत्तिरूप है और वही ज्ञान प्रमास्वरूप भी है। एव तन्निष्ठप्रामाण्यवाली बुद्धि ही करण है।

[ज्ञान की स्वातन्त्र्येण प्रवृत्ति किस कार्य में ?]

जब, बुद्धि यानी ज्ञान की जो उत्पत्ति है वही बुद्धि का व्यापार है, उत्पत्ति से अतिरिक्त कोई व्यापार नही है और यह ज्ञानोत्पत्ति कैसे होती है ? तो कहते है-ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिये गुण-युक्त कारणो की अपेक्षा रखते है, तो फिर ज्ञान की प्रवृत्ति स्वतत्र कैसे मानी जाय ? तात्पर्य यह है कि गुणयुक्त कारणो से ज्ञान की उत्पत्ति यही ज्ञान की प्रवृत्ति है, अब आप चाहते हैं ज्ञान की स्वतंत्ररूप से प्रवृत्ति होती है तो आप यह बताईये की ज्ञान की प्रवृत्ति किस कार्य मे होती है ? अर्थात् ज्ञान का वह कौनसा कार्य है जिसमे उत्पत्ति के बाद ज्ञान की प्रवृत्ति स्वय होती है ?

अगर कहे—अपने स्वरूप का और विषय का प्रकाशन रूप कार्य है-तो यह कहना युक्तियुक्त नही है, क्योकि अपने स्वरूप और विषय का प्रकाशन तो ज्ञान का ही दूसरा नाम है। तब तो फलित यह होगा-'ज्ञान प्रकाशन को करता है अर्थात् खुद को ही करता है।' यह तो युक्त नही है क्योकि कोई भी अर्थ अपने आप को उत्पन्न नही कर सकता। यदि आप कहे-ज्ञान का कार्य ज्ञान के बाद उत्पन्न होने वाला 'यह ज्ञान प्रमाण है' इस प्रकार का प्रामाण्यनिश्चय है, अब कोई आक्षेप नही रहेगा कि

अपौरुषेयविधिवाक्यप्रभवायास्तु बुद्धेः स्वतः प्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमो न युक्तः। अपौरुषेयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणतद्ग्राहकप्रमाणाऽविषयत्वेनाऽसत्त्वात्। सत्त्वेऽपि भवन्नीत्या तस्यैव गुणत्वात् तथाभूतप्रेरणाप्रभवायाः बुद्धेः कथं न परतः प्रामाण्यम्? किंच, अपौरुषेयत्वे प्रेरणावचसो, गुणवत्पुरुषप्रणीतलौकिकवाक्येषु तत्त्वेन निश्चितप्रामाण्यं, गुणाश्रयपुरुषप्रणीतत्वव्यावृत्त्या तत् तत्र न स्यात्। तथा च-[श्लो० वा० सू० २-१८४]

"प्रेरणाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः। कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिंगाप्तोक्ताक्षबुद्धिवत्॥"

इत्ययं श्लोक एवं पठितव्यः—

प्रेरणाजनिता बुद्धिरप्रमा गुणवर्जितैः। कारणैर्जन्यमानत्वार्दलिंगाप्तोक्तबुद्धिवत्॥

स्वतः प्रामाण्यपक्ष मे प्रामाण्य का निश्चय कैसे होगा? क्योकि ज्ञान कारण है और प्रामाण्य का निश्चय कार्य है, दोनो मे भेद है इसलिए कार्य-कारण भाव हो सकता है।–परन्तु यह कहना भी अयुक्त है, क्योकि सर्वदा प्रमाण के ही उत्पादक कारणो का सानिध्य हो ऐसा नियम नही है, कभी कभी भ्रान्ति के उत्पादक कारण भी उपस्थित रहते है और तव प्रामाण्य का निश्चय होना असभव है। इतना ही नही कभी विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान भी उत्पन्न होता है। (अथवा 'प्रमाणमेतद्' यह निश्चय होने के वदले 'अप्रमाणमेतद्' ऐसा भी निश्चय देखा जाता है।)

निष्कर्ष –आपने जो 'ज्ञान के कारण चक्षु आदि से. .' [पृ १७] इत्यादि कहा है वह अयुक्त है और इसलिये यह सिद्ध होता है कि गुणयुक्त चक्षु आदि कारणो से उत्पन्न होने वाला प्रामाण्य अपनी उत्पत्ति की अपेक्षा से स्वत नही उत्पन्न होता किन्तु परत यानी पर की अपेक्षा से उत्पन्न होता है।

[अपौरुषेयविधिवाक्यजन्य बुद्धि प्रमाण कैसे मानी जाय ?]

'अपौरुषेय वेदवचन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान मे प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत होती है' यह कथन भी युक्त नही है, क्योकि 'वचन अपौरुषेय होता है' ऐसा निर्णय करने वाला कोई प्रमाण सभावित नही है जिसका वह विषय बने–यह बात आगे बतायी जायेगी। फलत वाक्य मे अपौरुषेयत्व की सत्ता ही असिद्ध है। कदाचित् प्रतिवादी के कथनानुसार अपौरुषेयत्व मान भी लिया जाय तो वह भी आपके मत के अनुसार गुणरूप होने से अपौरुषेय वैदिक वाक्य गुणयुक्त ही सिद्ध होगा। अव उन वाक्यो से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा जायगा तो उस ज्ञान का प्रामाण्य पर यानी अपौरुषेयत्व गुण की अपेक्षा से ही उत्पन्न हुआ-ऐसा मानने मे क्या आपत्ति है? कुछ भी नही।

(किंच अपौरुषेयत्वे .....) उपरात, यह भी ज्ञातव्य है-वास्तव मे वेदवाक्य पौरुषेय ही है। फिर भी अगर आपौरुषेयत्व का आग्रह हो तब वे प्रमाणरूप नही हो सकेंगे। कारण, लौकिक वाक्यो मे इस प्रकार जब निश्चय होता है कि 'इन वाक्यो का प्रवक्ता कोई गुणवान् पुरुष है' तब उन वाक्य मे उससे प्रामाण्य का निर्णय होता है। वेद वाक्य अपौरुषेय होने पर जब वहाँ कोई रचयिता ही नही है तो गुणवान् रचयिता पुरुष तो सर्वथा नही है यह फलित होता है, तब गुणवत्पुरुष प्रणीतत्व न होने के कारण उन अपौरुषेय वाक्यो मे प्रामाण्य भी कैसे माना जा सकता है? अब तो, आप को 'प्रेरणाजनिता बुद्धि. . .' इत्यादि निम्नलिखित श्लोक भी दूसरी रीति से ही पढना होगा।

प्रेरणाजनिता बुद्धिः प्रमाण दोषवर्जितैः। कारणैर्जन्यमानत्वात् लिंगाप्तोक्ताक्षबुद्धिवद्॥

अर्थ:-वेदवाक्य से उत्पन्न बुद्धि दोषरहित वेदवाक्यादिकारणो से उत्पन्न हुई है इसलिये प्रमाण है जैसे, हेतु के द्वारा, आप्तवचन के द्वारा और इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न होने वाली बुद्धि प्रमाण होती है।

इस श्लोक को कुछ परिवर्त्तन के साथ इस रीति से पढना चाहिये—

प्रेरणाजनिता बुद्धिरप्रमा गुणवर्जितैः । कारणैर्जन्यमानत्वादलिंगाप्तोक्तबुद्धिवत् ॥

अर्थ.-वेदवाक्यो से उत्पन्न होने वाली बुद्धि गुणरहित वेदवाक्यो से उत्पन्न होने के कारण अप्रमाण है। जैसे, असद् हेतु और अनाप्त वचन से उत्पन्न बुद्धि अप्रमाण होती है।

[वेद वचन अपौरुपेय क्यों और कैसे ?]

[उपरोक्त कथन का तात्पर्य कुछ विस्तार से ज्ञातव्य है—मीमासक वादी मानते हैं—प्रामाण्य स्वतः है, एव वेद नित्य अर्थात् कर्तृ-अजन्य अनादिसिद्ध है। कर्तृ-अजन्य होने से वेदवाक्य मे दोष-वत्पुरुषजन्यत्व का सभव नही है, इसलिये वेदवाक्य सर्वथा यथार्थ है यानी प्रमाण है। अपौरुपेय मानने का हेतु यह है कि-वाक्यो मे पुरुष के ससर्ग से दोष उत्पन्न होता है, क्योंकि पुरुप अगर सदेह या भ्रम से अथवा वञ्चनबुद्धि से युक्त हो तब उसके सदेहादिप्रयुक्त वाक्य से प्रमाणभूत बोध के उदय का सभव नही है। वेदवाक्य मे जब उसका कोई प्रवक्ता ही नही है तब उस वाक्य मे पुरुष के सबन्ध से उत्पन्न होने वाले दोष की सभावना ही नही रहती। अत उन निर्दोष वाक्य से उत्पन्न ज्ञान प्रमाण ही होगा। जैसे कि निर्दोष यानी सद् हेतु से उत्पन्न अनुमान और निर्दोष इन्द्रिय से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान जन्मकाल मे ही प्रमाणरूप यानी स्वभाव से ही प्रमाणरूप मे उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ:—सूर्य किरणो मे कोई ऐसा पदार्थ मिलाजुला नही है जिससे उनमे विकार उत्पन्न हो, अत दोषरहित उन किरणो से वस्तु का शुद्ध रूप मे प्रकाशन होता है। इससे विपरीत, जब तृण-काष्ठ आदि भीगे रहते है तो उनसे उत्पन्न अग्नि धूम से मिला हुआ उत्पन्न होता है, इसलिये उसके किरण भी धूमिल होने के कारण दोषयुक्त होने से वस्तु को शुद्ध रूप मे प्रकाशित नही कर सकते। मीमासको का कहना है कि वेद वचन सूर्य किरण तुल्य हैं अर्थात् स्वत निर्दोष है। इसलिये उनसे उत्पन्न बोध प्रमाणरूप होता है।

इस के विरोध मे-परत प्रामाण्य वादी कहते हैं-जिन हेतुओ से आप वेदवाक्य जन्यबोध के प्रामाण्य को स्वत. सिद्ध मानते है, उन हेतुओ को कुछ बदल कर कहने से वेदवाक्यो द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अप्रमाणरूप से सिद्ध होता है। मीमासक कहते है-पुरुप संसर्ग से दोप उत्पन्न होते है, वेदवाक्यो का पुरुष के साथ कोई सबन्ध नही है इस लिये वेदवाक्य निर्दोष है। ठीक इस के विपरीत भी कहा जा सकता है कि-वाक्यो मे पुरुष ससर्ग से गुण उत्पन्न होते है-जैसे, विद्वान् पुरुप स्वय सत्य ज्ञान युक्त होता है इसलिये उसके वाक्य प्रमाण होते हैं। किंतु जो पुरुप गुणो से रहित है उस के वाक्य मे अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। दोषयुक्त हेतु से यदि अनुमिति होगी तो वह भी अप्रमाणरूप मे ही उत्पन्न होती है। दूर से धूलिपटल को देख कर किसी को धूम का भ्रम हो जाय तो वह धूम से अग्नि का भ्रान्त अनुमान करता, है, असद् हेतु प्रयोज्य वह अनुमान यथार्थ नही होता एवं चक्षु आदि इन्द्रियों मे निर्मलता न हो, कुछ रोग हो तब सीप भी रजतरूप मे दीखाई पडती है-किन्तु वहाँ रजत ज्ञान मिथ्या होता है। तात्पर्य, गुणरहित हेतु से उत्पन्न होने के कारण अनुमान भ्रान्तिरूप होता है और गुणरहित इन्द्रियो से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान भी भ्रान्तिरूप होता है। इस प्रकार-

अथ प्रेरणावाक्यस्याऽपौरुषेयत्वे पुरुषप्रणीतत्वाश्रया यथा गुणा व्यावृत्तास्तथा तदाश्रिता दोषा अपि। ततश्च तद्व्यावृत्तावप्रामाण्यस्यापि प्रेरणाया व्यावृत्तत्वात् स्वतः सिद्धमुत्पत्तौ प्रामाण्यम्। नन्वेवं सति गुणदोषाश्रयपुरुषप्रणीतत्वव्यावृत्तौ प्रेरणाया प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोर्व्यावृत्तत्वात् प्रेरणाजनिता बुद्धिः प्रामाण्याऽप्रामाण्यरहिता प्राप्नोति। ततश्च–

प्रेरणाजनिता बुद्धिर्न प्रमाणं न चाऽप्रमा। गुणदोषविनिर्मुक्तकारणेभ्यः समुद्भवात् ॥

इत्येवमपि प्राक्तनः श्लोकः पठितव्यः। अत एव यथा–[द्रष्टव्य श्लो० वा० सू०२–६८]

"दोषाः सन्ति न सन्तीति, पौरुषेयेषु चिन्त्यते। वेदे कर्तुरभावात्तु दोषाऽऽशंकैव नास्ति नः" ॥

इत्ययं श्लोकः एवंपठितस्तथैवमपि पठनीयः–

"गुणाः सन्ति न सन्तीति, पौरुषेयेषु चिन्त्यते। वेदेकर्तुरभावात्तु गुणाऽऽशंकैव नास्ति नः ॥"

प्रामाण्य की उत्पत्ति मे गुण कारण है और गुण पुरुषसबध से उत्पन्न होते है। प्रस्तुत मे-वेदवाक्यो के साथ गुणवत्पुरुष का सबंध न होने से वे भी गुणहीन है। फलत गुणहीन वेदवाक्य से जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी अप्रमाण होगा।]

[अपौरुषेय वचन न प्रमाण–न अप्रमाण]

मीमांसक की ओर से यदि यह कहा जाय-वैदिक विधिवाक्य अपौरुषेय होने से उनमे पुरुष की रचना से सबद्ध गुण जैसे निवृत्त है इसी प्रकार दोष भी निवृत्त है। वाक्य मे दोष भी पुरुष के सबध से उत्पन्न होता है, अत वेदवाक्यो मे दोष न रहने पर अप्रामाण्य नही रहेगा। इस लिये उससे जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह उत्पत्ति मे भी स्वत. प्रामाण्य से युक्त होगा।

किन्तु यह कथन युक्त नही है–कारण, इस दशा मे जब वेदवाक्य गुणवान् एव दोषवान् पुरुष के साथ असबद्ध हैं तो उन वेदवाक्य मे अप्रामाण्य की भाँति प्रामाण्य भी नही रहेगा, फलत वेदवाक्य जन्य बोध प्रामाण्य-अप्रामाण्य उभय से शून्य होना चाहिये। इसलिए आपने वेदवाक्य से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाणभूत सिद्ध करने के लिये जो पहले श्लोक पढा था 'प्रेरणाजनिता....' इत्यादि, उसको फिर से एक अन्य रीति से पढना चाहिये—

"प्रेरणाजनिता बुद्धि न प्रमाणं न चाऽप्रमा। गुणदोषविनिर्मुक्तकारणेभ्य समुद्भवात् ॥

अर्थ –गुण और दोष उभय से रहित कारणो द्वारा उत्पन्न होने से वैदिक विधिवाक्य से उत्पन्न ज्ञान न तो प्रमाण है, न तो अप्रमाण है।

[वेदवचन में गुणदोष उभय का तुल्य अभाव]

वेदवाक्यो से जन्य बुद्धि को स्वत प्रमाण सिद्ध करने के लिये मीमासक ने जो श्लोक पढा है—

'दोषा. सन्ति न सन्ती'ति पौरुषेयेषु चिन्त्यते। वेदे कर्तुरभावात्तु दोषाऽऽशकैव नास्ति नः ॥

अर्थ -पुरुषरचितवाक्यो के विषय मे यह चिन्ता की जाती है कि उनमे दोष है वा नही? परन्तु वेद का कोई कर्त्ता ही नही है इसलिए हमे दोषो की आशका होने का अवसर ही नही है।–

इस श्लोक को भी इस रूप से पढना चाहिये-

गुणा. सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु चिन्त्यते। वेदे कर्त्तुरभावात्तु गुणाऽऽशकैव नास्ति नः ॥

न च यत्रापि गुणाः प्रामाण्यहेतुत्वेनाऽऽशंक्यन्ते तत्रापि गुणेभ्यो दोषाभाव इत्यादि वक्तव्यम्, विहितोत्तरत्वात् । अपि च अपौरुषेयत्वेऽपि प्रेरणायाः न स्वतः स्वविषयप्रतीतिजनकव्यापारः, सदा संनिहितत्वेन ततोऽनवरतप्रतीतिप्रसंगात् । किंतु, पुरुषाभिव्यक्तार्थप्रतिपादकसमयाविर्भूतविशिष्ट-संस्कारसव्यपेक्षायाः । ते च पुरुषाः सर्वे रागादिदोषाभिभूता एव भवताऽभ्युपगताः । तत्कृतश्च संस्कारो न यथार्थः, अन्यथा पौरुषेयमपि वचो यथार्थं स्यात् । अतोऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमेऽपि समयकर्तृपुरुषदोष-कृताऽप्रामाण्यसद्भावात् प्रेरणायामपौरुषेयत्वाभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति । तदुक्तम्–[प्र०वा०२-२३१]

असंस्कार्यतया पुंभिः सर्वथा स्यान्निरर्थता । संस्कारोपगमे व्यक्तं गजस्नानमिदं भवेत् ॥

अर्थ -पुरुषरचितवाक्यो मे यह चिन्ता की जाती है-कि उनमे गुण है या नही ? परन्तु वेद का कोई कर्त्ता ही नही है । अत उनमे गुणो की आशका होने का अवसर ही नही है ।

'जहाँ पर शका होती हो कि गुण ये प्रामाण्य के कारणरूप मे कार्य करते है वहां गुणो से दोषों का अभाव ही अर्थात्प्राप्त होता है'–इत्यादि जो पहले मीमासको ने कहा है वह भी युक्त नही है क्योकि इसका उत्तर पहले दे दिया गया है । ('दोषाभाव' में प्रसज्यप्रतिषेध अभिप्रेत है या पर्युदास ? दोनो स्थिति मे अततः प्रामाण्य गुणप्रयुक्त ही सिद्ध होता है–यह पहले पृ० ४४ मे कह दिया है ।)

[अपौरुपेय वाक्य का प्रामाण्य अर्थाभिव्यंजक पुरुष पर अवलंबित]

यह भी ज्ञातव्य है कि–वेदवाक्य यदि अपौरुषेय है तो भी वह अपने विषय का स्वतः ज्ञान उत्पन्न करने का व्यापार नही करता । क्योकि वह नित्य एव सदा निकटवर्त्ती है, इसलिये यदि वह स्वय ज्ञानोत्पत्ति व्यापार मे सलग्न होगा तब सतत ही ज्ञानोत्पत्ति होती रहनी चाहिये, परन्तु नही होती है । इससे यह सूचित होता है कि वेदवाक्य स्वत स्वप्रतीतिजनक व्यापार वाले नही, किन्तु पुरुषाभिव्यक्त अर्थप्रतिपादक जो सकेत, उससे जन्य जो अर्थबोधसस्कार, उसकी सहायता से प्रेरणा-वाक्य अपने विषय की प्रतीति को उत्पन्न करता है । तात्पर्य, शब्दो का किस अर्थ के साथ वाच्य-वाचक भाव सबन्ध है–इस सकेत को अध्यापक पुरुष प्रकट करते है । जो लोग इस सकेत को जानते हैं उनको 'इस शब्द से यह अर्थ समझना' ऐसे सस्कार रूढ हो जाते है, तब उन्हे वेदवाक्य पढकर अर्थबोध होता है, इस प्रकार वेदवाक्य नित्य हो, अपौरुषेय हो, तब भी उनके अर्थ को जानने के लिये पुरुष की अनिवार्य आवश्यकता है । अब मीमासक मतानुसार मे सभी पुरुष रागादि दोष व्याकुल ही होते है, इसलिये पुरुष सकेत से जो सस्कार रूढ होगा वह यथार्थ नही हो सकता । अगर पुरुषसकेत द्वारा उत्पन्न सस्कार भी यथार्थ हो तब तो पुरुष प्रतिपादित वचन भी यथार्थ होना चाहिये । इस प्रकार वेद को अपौरुषेय मानने पर भी सकेत कारक पुरुषो मे दोष संभवित होने से पुरुषसकेत से उत्पन्न ज्ञान मे अप्रामाण्य उत्पन्न होना सभावित है । फलत वेदवाक्य को अपौरुषेय स्वीकार करना यह तो हाथी के स्नान तुल्य व्यर्थ है । हाथी नदी मे स्नान करता है तब उसके शरीर पर सलग्न धूलि दूर तो हो जाती है किन्तु स्नान करके बाहर आने पर तुरन्त ही सूढ से अपने शरीर पर धूलीप्रक्षेप करने लगता है–इससे उसका स्नान व्यर्थ होता है । ठीक इस तरह मीमासको ने वेदवाक्यों को दोष-असपृक्त रखने के लिये अपौरुषेय माना, किन्तु उनके अर्थ को समझने के लिये फिर पुरुष की अपेक्षा खडी हुई । अब पुरुष सदोष होने के कारण वेदवाक्यजन्य ज्ञान मे अप्रामाण्य आ पडा । इस प्रकार वेदवाक्यो को अपौरुषेय मानना व्यर्थ परिश्रम ही हुआ । कहा भी है–[प्रमाणवार्त्तिक २-२३१]

यदप्यभाषि-'तथानुमानबुद्धिरपि गृहीताविनाभावानन्यापेक्षे'त्यादि, [पृ० १७-पं० २] तदप्यचारु; अविनाभावनिश्चयस्यैव गुणत्वात्, तदनिश्चयस्य विपरीतनिश्चयस्य च दोषत्वात्। तदेव-मुत्पत्तौ प्रामाण्यं गुणापेक्षत्वात् परतः इति स्थितम्।

[(२) प्रामाण्यं स्वकार्येऽपि न स्वतः-उत्तरपक्षः]

यदप्युक्तम्-'नापि स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं प्रमाणं निमित्तान्तरापेक्षम्' इति, तदप्यसंगतम्। यतो यदि कार्योत्पादनसामग्रीव्यतिरिक्तनिमित्तानपेक्षं प्रमाणमित्युच्यते तदा सिद्धसाधनम्। अथ 'साम-ग्र्येकदेशलक्षणं प्रमाणं निमित्तान्तरानपेक्षम्'-तदप्यचारु; एकस्य जनकत्वाऽसम्भवात्। 'न ह्येकं किंचिज्जनकं, सामग्री वै जनिका' इति न्यायस्यान्यत्र व्यवस्थापितत्वात्।

असत्कार्यतया पुंभि., सर्वथा स्यान्निरर्थता । सत्कारोपगमे व्यक्त गजस्नानमिद भवेत् ।।

अर्थ-वेदवाक्य यदि पुरुष द्वारा सस्कारयोग्य न हो अर्थात् सकेत का अविषय हो तब वे निरर्थक हो जायेगे। अर्थात् किस वेदपद का क्या अर्थ है यह कोई पुरुप नही बतायेगा तो वेदवाक्य अर्थ हीन हो जायेगे। यदि वेदवाक्यो मे पुरुषो का सस्कार यानी सकेत-सूचन माना जाय तो वेदवाक्य अपौरुषेय मानना गजस्नान समान व्यर्थ है।

'अनुमानबुद्धि भी व्याप्तिज्ञान सापेक्ष एव अन्य निरपेक्ष लिंग से उत्पन्न होती हैं'.. इत्यादि जो मीमासक ने कहा है वह भी सुन्दर नही, क्योकि यहा व्याप्ति का निश्चय ही गुण है, व्याप्तिनिश्चय का अभाव और विपरीतनिश्चय यानी व्याप्ति आदि का भ्रान्तनिश्चय दोष है।

इस प्रकार प्रामाण्य उत्पत्ति मे गुणो की अपेक्षा करता है इसलिये पर की अपेक्षा से उत्पन्न होता है-यह सिद्ध हो गया।

(१-उत्पत्ति में प्रामाण्य के स्वतोभाव का निषेध पक्ष समाप्त)

[(२) स्वकार्य में प्रामाण्य के स्वतोभाव का निराकरण-उत्तर पक्ष]

यह जो कहा गया है-'प्रमाण जब अपने कार्य मे प्रवृत्ति करता है तब किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नही करता'-वह भी युक्त नही, क्योकि यहा यदि आपका तात्पर्य यह हो कि 'प्रमाण जब कार्य को उत्पन्न करता है तब कार्य को उत्पन्न करने मे जो कुछ सामग्री अपेक्षित होती है, प्रमाण उसीकी अपेक्षा करता है अन्य की नही करता है। अर्थात् कार्योत्पादक सामग्री से भिन्न किसी वस्तु की अपेक्षा नही करता' तो इसमे सिद्धसाधन दोष है। परत· प्रमाणकार्यवादी भी यही मानता है। उसके मतानुसार भी प्रमाण कार्योत्पादकसामग्री की ही अपेक्षा करता है, तदन्य किसी की नही।

यदि आप कहे-'प्रमाण के अर्थतथात्वपरिच्छेदरूप कार्य की उत्पत्ति मे जिस सामग्री की अपेक्षा है, प्रमाण भी उस सामग्री का एक अश ही है। यह अशरूप प्रमाण किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नही करता है।'-तो यह कथन भी युक्त नही, क्योकि 'कोई एक अर्थ किसी कार्य का कारण नही हो सकता।' इस तथ्य का समर्थन 'न ह्येक किञ्चिज्जनक, सामग्री वै जनिका' इस न्याय से अन्यत्र किया गया है। उस न्याय का भाव यह है कि एक ही अर्थ कार्य का उत्पादक नही होता है किन्तु सामग्री कार्य को उत्पन्न करती है। तब कैसे कहा जाय कि प्रमाण अन्य निमित्त की अपेक्षा नही करता है ?

किं च, नार्थपरिच्छेदमात्रं प्रमाणकार्यम्, अप्रमाणेऽपि तस्य भावात्। किं तर्हि ? अर्थतथात्व-परिच्छेदः। स च न ज्ञानस्वरूपकार्यः, भ्रान्तज्ञानेऽपि स्वरूपस्य भावात् तत्रापि सम्यगर्थपरिच्छेदः स्यात्। अथ स्वरूपविशेषकार्यो यथावस्थितार्थपरिच्छेद इति नातिप्रसंगः, तर्हि स स्वरूपविशेषो वक्तव्यः, किं (१) अपूर्वार्थविज्ञानत्वम्, उत (२) निश्चितत्वम्, आहोस्विद् (३) बाधारहितत्वम्, उतस्विद् (४) अदुष्टकारणारब्धत्वं, किं वा (५) संवादित्वमिति ?

तत्र (१) यद्यपूर्वार्थविज्ञानत्वं विशेषः, स न युक्तः, *तैमिरिकज्ञानेऽपि तस्य भावात् (२) अथ निश्चितत्वं, सोऽप्ययुक्तः, परोक्षज्ञानवादिनो भवतोऽभिप्रायेणाऽसंभवात्। (३) अथ बाधरहितत्वं विशेषः सोऽपि न युक्तः। यतो बाधाविरहस्तत्कालभावी A विशेषः उत्तरकालभावी B वा ? न A तावत्तत्कालभावी, मिथ्याज्ञानेऽपि तत्कालभाविनो बाधाविरहस्य भावात्। B अथोत्तर-

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रमाण का कार्य केवल अर्थ का ज्ञान नहीं, क्योंकि अर्थज्ञान तो अप्रमाण से भी होता है। तो प्रमाण का कार्य क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अर्थतथात्वपरिच्छेद अर्थात् अर्थ के सत्यस्वरूप का प्रकाशन। अगर यह कार्य ज्ञान के स्वरूपमात्र से हो जाता तब तो ज्ञान का स्वरूप भ्रान्तज्ञान मे भी होने से उससे भी वस्तु के सत्य स्वरूप का प्रकाशन हो जाना चाहिये।

[अर्थतथात्व का परिच्छेदक ज्ञानस्वरूपविशेष के ऊपर चार विकल्प]

अगर कहा जाय-'ज्ञान के सामान्य स्वरूप से नहीं किन्तु स्वरूपविशेष से अर्थ के यथास्थित रूप का प्रकाशन होता है, यह स्वरूपविशेष भ्रम ज्ञान मे न रहने से उसमे सत्यस्वरूपप्रकाशकत्व का अतिप्रसग नही होगा।' तब यह बताईये, यह स्वरूपविशेष क्या है ? प्रमाण का वह स्वरूप विशेष (१) क्या अपूर्वअर्थविज्ञानत्व है ? (२) अथवा निश्चितत्व है (३) या बाधरहितत्व है (४) कि वा दोषरहितकारणजन्यत्व है (५) या संवादित्व है ?

[ज्ञान का स्वरूपविशेष अपूर्वार्थविज्ञानत्व नहीं है]

इसमे मे से यदि (१) अपूर्वार्थविज्ञानत्व को विज्ञान का स्वरूप विशेष कहते हैं तो वह अयुक्त है क्योंकि तिमिर दोषयुक्त नेत्र वाले पुरुष के ज्ञान मे भी ऐसा अपूर्वार्थज्ञानत्वात्मक स्वरूपविशेष विद्यमान है किन्तु वहा सम्यग् अर्थपरिच्छेदकत्व नही है। (२) अगर निश्चितत्व को विज्ञान का स्वरूप विशेष कहते है तो यह भी अयुक्त है क्योंकि परोक्षज्ञानवादी मीमासक ज्ञान को ज्ञाततालिगक अनुमान से ग्राह्य मानते हैं इसलिये उनके अभिप्राय से ज्ञानमात्र परोक्ष होने से किसी भी ज्ञान मे स्वतोनिश्चितत्व होने का सभव ही नही है।

[ज्ञान का स्वरूपविशेष बाधविरह भी नहीं है]

(३) अगर बाधारहितत्व को विज्ञान का स्वरूप विशेष कहते हैं-तो यह भी ठीक नही है, क्योंकि ज्ञान मे बाधारहितत्व यह A तत्कालभावी यानी स्व(विज्ञान)समानकालभावी बाधाविरह-रूप है या B उत्तरकालभावी यानी विज्ञानोत्तरकालभावी बाधाविरह रूप है ? A स्वकालभावी बाधा-

*तिमिराख्य स वै दोषश्चतुर्थपटल गत। रुणद्धि सर्वतो दृष्टि लिंगनाशमत परम्॥ इति माधवकर।

कालभावी, तत्रापि वक्तव्यम्-किं B1 ज्ञातः स विशेषः उताऽज्ञातः B2 ? तत्र B2 नाऽज्ञातः, अज्ञातस्य सत्त्वेनाऽप्यसिद्धत्वात् । अथ B1 ज्ञातोऽसौ विशेषः, तत्रापि वक्तव्यम्-उत्तरकालभावी बाधाविरहः किं B1a पूर्वज्ञानेन ज्ञायते, B1b आहोस्विदुत्तरकालभाविना ?

B1a तत्र न तावत् पूर्वज्ञानेनोत्तरकालभावी बाधाविरहो ज्ञातुं शक्यः, तद्धि स्वसमानकालं सन्निहितं नीलादिकमवभासयतु, न पुनरुत्तरकालमप्यत्र बाधकप्रत्ययो न प्रवर्त्तिष्यत इत्यवगमयितुं शक्नोति, पूर्वमनुत्पन्नबाधकानामप्युत्तरकालबाध्यत्वदर्शनात् । B2b अथोत्तरज्ञानेन ज्ञायते, ज्ञायताम्, किंतूत्तरकालभावी बाधाविरहः कथं पूर्वज्ञानस्य विनष्टस्य विशेषः ? भिन्नकालस्य विनष्टं प्रति विशेषत्वाऽयोगात् ।

किंच ज्ञायमानत्वेऽपि केशोण्डुकादेरसत्यत्वदर्शनाद्, बाधाऽभावस्य ज्ञायमानत्वेऽपि कथं सत्यत्वम् ? तज्ज्ञानस्य सत्यत्वादिति चेत् ? तस्य कुतः सत्यत्वम् ? न प्रमेयसत्यत्वात्, इतरेतराश्रयदोष-

---

विरह को नही ले सकते, क्योकि यह तो मिथ्याज्ञान मे भी होता है, कारण-मिथ्याज्ञान का उदय बाधकज्ञान से असस्पृष्ट ही होता है, अत वह तत्कालभावी बाधाविरह से रहित ही हुआ ।

अगर आप कहे-B उत्तरकालभावी बाधाविरह विज्ञान का स्वरूप विशेष है, तो यह विकल्प भी मिथ्या है । क्योकि यहा प्रश्न होगा-वह उत्तरकालभावी बाधाविरह B1 ज्ञात होता हुआ विज्ञान का स्वरूप विशेष बनता है या B2 अज्ञात ही रहता हुआ ? B2 अज्ञात रहता हुआ वह बाधाविरह स्वरूप विशेष नही माना जा सकता क्योकि जो अज्ञात है उसके वहाँ होने पर भी वह सत् रूप से भी असिद्ध है, क्योकि जब अज्ञात ही है तब आप कैसे कह सकते है कि वह सत् है ? और जब वह सत् रूप से सिद्ध नही है तब विज्ञान का स्वरूपविशेष कैसे हो सकता है ? अब अगर कहे B1 ज्ञात होकर बाधाविरह विज्ञान का स्वरूप विशेष बनता है तब यह बताना होगा कि वह उत्तरकालभावी बाधाविरह B1a पूर्वज्ञान से ज्ञात होता है ? या B1b उत्तरकालभावी ज्ञान से ज्ञात होता है ?

यहाँ प्रथम विकल्प मानना अशक्य है, क्योकि पूर्वज्ञान से उत्तरकालभावी बाधाविरह का बोध होना शक्य नही है । कारण, ज्ञान अपने समानकालीन एव सॉन्निध्यवर्त्ती नील-पीतादि पदार्थ का बोध करा सकता है-यह तो स्वीकार्य है किंतु ज्ञान यह नही जान सकता कि उत्तरकाल मे भी यहाँ कोई बाधक ज्ञान नही उत्पन्न होगा । क्योकि ऐसा देखने मे आता है कि पूर्वकाल मे बाधक न भी उत्पन्न हो और वहाँ ज्ञान बाधित न भी हो, किन्तु उत्तरकाल मे बाधक ज्ञान उत्पन्न होता है और उससे पूर्वज्ञान बाधित भी होता है ।

अगर आप कहे-पूर्वज्ञान से नही सही, किन्तु उत्तरज्ञान से उत्तरकालभावी बाधाविरह ज्ञात होगा-तब इसमे हमारा कोई विरोध तो नही है, भले बाधाविरह इस प्रकार ज्ञात हो, किन्तु प्रश्न यह है कि उत्तरकालभावी बधाविरह ज्ञात होता हुआ भी विनष्ट पूर्वज्ञान का स्वरूपविशेष कैसे हो सकता है ? क्योकि, विनष्ट पदार्थ से भिन्न उत्तरकालवर्त्ती वस्तु उस विनष्ट पदार्थ का विशेष धर्म नही बन सकता । यह एक दोप है ।

[ज्ञायमान बाधविरह को सत्य कैसे माना जाय ?]

इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि बाधाविरह ज्ञात होता हुआ ही कार्य करता हो तब भी वह सत्य है या असत्य यह शका बनी रहेगी । क्योकि केशोण्डुक (=चक्षु के समक्ष कभी कभी दिखाई

प्रसंगात् । 'अपरबाधाभावज्ञानादि'ति चेत् तत्राप्यपरबाधाभावज्ञानादित्यनवस्था । अथ संवादादुत्तर-कालभावी बाधाविरहः सत्यत्वेन ज्ञायते, तर्हि सवादस्याप्यपरसंवादज्ञानात्सत्यत्वसिद्धिः, तस्याप्यपर-संवादज्ञानादित्यनवस्था । किं च, यदि संवादप्रत्ययादुत्तरकालभावी बाधाभावो ज्ञायमानो विशेषः पूर्व-ज्ञानस्याभ्युपगम्यते, तर्हि ज्ञायमानस्वविशेषापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तत इति कथमनपेक्षत्वात्तत्र स्वतः प्रामाण्यम् । अपि च 'बाधाविरहस्य भवदभ्युपगमेन पर्युदासवृत्त्या संवादरूपत्वम् , बाधावर्जितं च ज्ञानं स्वकार्ये अन्यानपेक्षं प्रवर्त्तते' इति ब्रुवता संवादापेक्षं तत्तत्र प्रवर्त्तत इत्युक्तं भवति ।

पडते हुए केशतुल्य आभासिक तन्तु) ज्ञात तो होता है फिर भी वह असत्य ही माना जाता है। इस प्रकार 'बाधाविरह ज्ञात होता हुआ भी सत्य नही है किन्तु असत्य ही है' यह असदिग्ध यानी निश्चितरूप से कैसे कह सकते है ? पदार्थ की सत्यता से या तो (i) उसके सत्यज्ञान से या (ii) सत्य-सवाद से सिद्ध हो सकती है ? अब इनमे से अगर कहे-बाधाविरह का ज्ञान सत्य है इसलिये वह बाधाविरह भी सत्य ही है, तब यहाँ भी प्रश्न होगा कि 'यह ज्ञान सत्य है' यह भी कैसे कह सकते हैं ? ज्ञान मे सत्यत्व सिद्ध होने का सभवत. दो तरीका है-(१) प्रमेय=विषय सत्य होने से (२) अपर बाधाभाव के ज्ञान से । इनमे से प्रथम विकल्प मे अन्योन्याश्रय दोष है क्योकि विषय 'बाधाविरह' सत्य होने पर उसका ज्ञान सत्य होगा और ज्ञान सत्य होने पर इसका विषय 'बाधाविरह' सत्य सिद्ध होगा । इस अन्योन्याश्रय दोष से विषयसत्यत्व (प्रमेयसत्यत्व) के आधार पर ज्ञान की सत्यता घोषित नही की जा सकती ।

दूसरे मे, अपरबाधाभावज्ञान से पूर्व बाधाविरह के ज्ञान की सत्यता कही जाय तो यह भी नही बन सकता क्योकि यहाँ फिर से यह प्रश्न होगा कि वह अपरबाधाभावज्ञान भी सत्य है यह कैसे माने ? अगर कहे 'उसकी सत्यता अन्य कोई बाधाभाव ज्ञान से सिद्ध करेंगे' तब तो ऐसे चलने मे अनवस्था दोष प्रसक्ति होगी ।

[संवाद से उत्तरकालीन बाधाविरह ज्ञान की सत्यता कैसे ?]

(अथ सवादादुत्तर०. .) यदि यह कहा जाय कि-उत्तरकालभावी बाधाविरह की सत्यता संवाद से सिद्ध होगी-तो यह भी ठीक नही है, क्योकि सवाद भी सत्य सिद्ध हुए विना बाधाविरह की सत्यता सिद्ध नही कर सकता । एव सवाद की सत्यता स्वतः सिद्ध तो है नही, इस लिए अन्य सवाद से सिद्ध करनी होगी, किंतु ऐसा करने मे फिर और सवाद अपेक्षित होगा, उसकी सत्यता के लिये फिर अन्य सवाद की अपेक्षा-इस प्रकार अनवस्था होगी ।

[उत्तरकालभावि बाधाविरहरूप विशेष की अपेक्षा में स्वतोभाव का अस्त]

(किं च यदि सवाद०...) अगर आप कहें-"अनवस्था दोष के कारण, अपर सवाद से प्रस्तुत संवाद की सत्यता मत सिद्ध हो, एव उससे उत्तरकालभावी बाधाविरह की सत्यता सिद्ध होकर इसके द्वारा पूर्व ज्ञान का प्रामाण्य मत सिद्ध हो, किन्तु उत्तरकालभावी बाधाविरह प्रस्तुत सवादप्रत्यय से ही ज्ञात हो सकता है और वही ऐसा बाधविरह पूर्वज्ञान का स्वरूपविशेष मानते हैं और इस विशेष-वाला पूर्वविज्ञान अपने यथावस्थित अर्थ प्रकाशन रूप कार्य मे प्रवृत्त होता है"-तब तो यह आया कि

किं च, किं विज्ञानस्य A स्वरूपं बाध्यते, B आहोस्वित्प्रमेयम्, C उतार्थक्रिया ? इति विकल्पत्रयम् । A तत्र यदि विज्ञानस्य स्वरूपं बाध्यते इति पक्षः, स न युक्तः, विकल्पद्वयाऽनतिवृत्तेः । तथाहि-विज्ञानं बाध्यमानं किं A1 स्वसत्ताकाले बाध्यते उत A2 उत्तरकालम् ? तत्र यदि A1 स्वसत्ताकाले बाध्यते इति पक्षः, स न युक्तः, तदा विज्ञानस्य परिस्फुटरूपेण प्रतिभासनात् । न च विज्ञानस्य परिस्फुटप्रतिभासिनोऽभावस्तदैवेति वक्तुं शक्यम्, सत्याभिमतविज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्गात् । A2 अथोत्तरकालं बाध्यत इति पक्ष, सोऽपि न युक्तः, उत्तरकालं तस्य स्वत एव नाशाभ्युपगमाद् न तत्र बाधकव्यापारः सफलः, 'दैवरक्ताः हि किंशुका' ।

पूर्वज्ञान अपने अर्थयथावस्थितज्ञान स्वरूप कार्य मे इस विशेष के सहकार से ही प्रवृत्त हुआ और इसके द्वारा अपने मे प्रामाण्य का साधक हुआ-ऐसी दशा मे उसमे स्वत प्रामाण्य कहाँ रहा ?

[पर्युदासनञ् से बाधाभावात्मक संवाद अपेक्षा की सिद्धि]

(अपि च बाधा०....) अपरच, इस प्रकार भी स्वत. प्रामाण्य सिद्ध नही हो सकता है-पूर्व विज्ञान अपने यथावस्थित अर्थप्रकाशनरूप कार्य मे जिस बाधाभाव से प्रवर्त्तमान आपको अभिप्रेत है वह बाधाभाव तो पर्युदासप्रतिषेध का ग्रहण करने से सवादरूप ही है, क्योकि बाधाभाव मे प्रसज्य प्रतिषेध लेने से तो मात्र 'सत्तानिषेध' यानी 'बाध का न होना' ही सिद्ध होता है जब कि पर्युदास प्रतिषेध लेने पर बाधाभाव को भावात्मक सवादरूप से गृहीत किया जा सकता है । तो जब यह कहते हैं कि ज्ञान बाधारहित होने पर जो अपने सत्यार्थप्रकाशन-कार्य मे प्रवृत्त होता है वह किसी की अपेक्षा विना ही अर्थात् स्वत ही प्रवृत्त हुआ-वह आपका कहना अयुक्त है क्योकि इसका अर्थ तो यही हुआ कि वह स्वकीय अर्थक्रिया के लिये बाधाभाव के रूप मे सवाद पर ही आधार रखता है । तब तो आपने सवादापेक्ष यानी परापेक्ष ही अर्थक्रियाकारित्व यानी परत प्रामाण्य ही मान लिया ।

[बाध किसका ? स्वरूप, प्रमेय या अर्थक्रिया का ?]

यह भी ज्ञातव्य है कि आप बाधविरहात्मक स्वरूपविशेष से ज्ञान की अपने कार्य मे स्वत प्रवृत्ति मानते है-उसमे तीन विकल्प है-बाधाभाव किस लिये अपेक्षित है ? क्या बाध रहे तो A विज्ञान का स्वरूप बाधित हो जाता है ? या B. विज्ञान का प्रमेय बाधित होता है ? अथवा C. विज्ञान की अर्थक्रिया बाधित होती है ?

(१) अगर बाध से विज्ञान का स्वरूप बाधित होता है-यह प्रथम पक्ष अगीकार करे तो यह उचित नही है-क्योकि इसमे दो विकल्प इस प्रकार अनिवार्य है-A1 बाध से बाधित होता हुआ विज्ञान क्या अपने सत्ताकाल मे बाधित होता है ? A2 या अपने उत्तरकाल मे बाधित होता है ? A1 प्रथम विकल्प ग्राह्य नही हो सकता, क्योकि विज्ञान अपने सत्ताकाल मे तो स्पष्टरूप से सवेदित होता है, वास्ते जिस काल मे विज्ञान का स्पष्टरूप से सवेदन हो रहा है उसी काल मे वहाँ बाध से बाध्य है-ऐसा नही कह सकते । तात्पर्य स्पष्टरूप से भासमान सवेदन का उसी काल मे इनकार नही किया जा सकता । क्योकि ऐसा इनकार करने मे भले इससे असद् विज्ञान का अभाव यानी असिद्धि हो किन्तु सत्यविज्ञान के भी अभाव की आपत्ति सिर पर आ गिरेगी ।

A2 (अथोत्तरकाल. .) अगर आप कहे-सभवित बाधक से विज्ञान का स्वरूप अपने उत्तरकाल मे बाधित होता है, तो यह भी ठीक नही, क्योकि सर्वक्षणिकवाद मे विज्ञान उत्तरकाल मे स्वत

B अथ प्रमेयं बाध्यत इत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः; यतः B1 प्रमेयं बाध्यमानं किं प्रतिभासमानरूपेण बाध्यते, B2 उताऽप्रतिभासमानरूपसहचारिणा स्पर्शादिलक्षणेनेति विकल्पनाद्वयम्। B1तत्र यदि प्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यत इति मतम्, तदयुक्तम्, प्रतिभासमानस्य रूपस्याऽसत्त्वाऽसंभवात्। अन्यथा सम्यग्ज्ञानावभासिनोऽप्यसत्त्वप्रसङ्गः। B2 अथाऽप्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यत इति मतम्, तदप्ययुक्तम्, अप्रतिभासमानस्य प्रतिभासमानरूपादन्यत्वात्। न चान्यस्याभावेऽन्यस्याभावः, अतिप्रसंगात्।

C अथार्थक्रिया बाध्यते, ननु सापि C1 किमुत्पन्ना बाध्यते, C2 उतानुत्पन्ना? C1 यद्युत्पन्ना, न तर्हि बाध्यते; तस्याः सत्त्वात्। C2 अथानुत्पन्ना, साऽपि न बाध्या, अनुत्पन्नत्वादेव। किं च, अर्थ-

---

ही नष्ट हो जाने का मानते है, जो नष्ट है उस पर बाधक की प्रवृत्ति क्या कर सकती है? अर्थात् वह सफल नही हो सकती। जैसे कि कहा गया है-'दैवरक्ता हि किंशुका.'। अर्थात् किंशुक यानी पलाश के पुष्प निसर्गत रक्तवर्णवाले होते हैं, इसलिये अब इसको फिर से रक्तवर्ण चढाने की जरूर नही है। अब कोई प्रयत्न करे भी तो वह व्यर्थ जाता है।

[प्रमेय का बाध-दूसरा विकल्प अयुक्त है]

B अगर कहे-सभवित बाधक से विज्ञान का स्वरूप नही किन्तु विज्ञान का प्रमेय यानी विषय बाधित होता है तो वह भी युक्त नही है, क्योकि यहाँ दो प्रश्न हैं-B1, बाधित होने वाला विषय जिस रूप से भासित होता हैं क्या उसी रूप मे बाधित होता है? B2 या अप्रतिभासमानस्वरूप के सहचारी ऐसे स्पर्शादि धर्मरूपेण बाधित होता है? उदा०-शुक्ति मे रजतज्ञान हुआ, वहाँ विषय रजत यह क्या प्रतिभासमान रजतत्व रूप से बाधित होता है? या अप्रतिभासमान रजतगत स्पर्शादिरूप से (या अप्रतिभासमान शुक्तित्व सहचारी स्पर्शादि रूप से) बाधित होता है? ऐसे दो प्रश्न हैं। B1 अब इनमे से अगर प्रतिभासमानरूप से विषय बाधित होता है यह पक्ष लिया जाय तो वह अयुक्त है चूंकि जो रूप प्रतिभासमान है उसका असत्त्व असभवित है। अर्थात् प्रतिभासमानरूप असत् नही हो सकता। कारण, जो असत् होता है उसका आकाशपुष्पवत् प्रतिभास ही नही हो सकता, अगर प्रतिभासमान है तो इसी से वह सत् सिद्ध होता है। अगर असत् वस्तु का भी प्रतिभास होता, यानी प्रतिभासमान वस्तु असत् होती तब तो सम्यग् ज्ञान मे भासमान वस्तु भी असत् होने की आपत्ति आयेगी।

B2 यदि प्रतिभासमानरूप से विषय बाधित होता है–यह पक्ष लिया जाय तो वह भी ठीक नही है क्योकि जो रूप अप्रतिभासमान है वह प्रतिभासमानरूप से भिन्न है, और इस भिन्नरूप से यदि विषय बाधित होता हो अर्थात् विषय का अभाव कहा जाता हो तब अन्य के अभाव मे अन्य का अभाव ही फलित हुआ, और इसमे तो अतिप्रसग आयेगा। उदा०-रजत का ज्ञान रजतत्वरूप से भी बाधित होगा अर्थात् रजत मे अप्रतिभासमान शुक्तित्वरूप से बाध मानने मे शुक्तित्व के अभाव से रजतत्व के अभाव की आपत्ति होगी क्योकि आपने अन्य के अभाव से अन्य के अभाव होने का विधान अगीकार किया है। निष्कर्ष–अप्रतिभासमान रूप से भी प्रमेय बाधित नही हो सकता।

[अर्थक्रिया का बाध-तीसरा विकल्प अयुक्त]

C बाध ज्ञान से जैसे विज्ञानस्वरूप एव प्रमेय बाधित नही हो सकता वैसे अर्थक्रिया भी बाधित नही हो सकती। अगर कहे कि अर्थक्रिया बाधित होती है तो यह बताईये कि C1 वह अर्थ-

क्रियाऽपि पदार्थादन्या, ततश्च तस्या अभावे कथमन्यस्याऽसत्त्वम् ? अतिप्रसगादेव । व्यवच्छेद्याऽसंभवे च बाधावर्जितमिति विशेषणस्याप्ययुक्तत्वात् , न बाधाविरहोऽपि विज्ञानस्य विशेषः ।

(४) अथाऽदुष्टकारणारब्धत्वं विशेषः, सोऽपि न युक्तः, यतस्तस्याप्यज्ञातस्य विशेषत्वमसिद्धम् । ज्ञातत्वे वा कुतोऽदुष्टकारणारब्धत्वं ज्ञायते ? 'अन्यस्मादवुष्टकारणारब्धाद्विज्ञानादि'ति चेत् ? अनवस्था । 'संवादाद्' इति चेत् ? ननु संवादप्रत्ययस्याप्यदुष्टकारणारब्धत्वं विशेषोऽन्यस्मादवुष्टकारणारब्धात् संवादप्रत्ययाद्विज्ञायत इति सैवाऽनवस्था भवतः सम्पद्यत इति । किं च, ज्ञानसव्यपेक्षमदुष्टकारणारब्ध-त्वविशेषमपेक्ष्य स्वकार्ये ज्ञानं प्रवर्त्तमानं कथं न तत्तत्र परतः प्रवृत्तं भवति !

क्रिया क्या उत्पन्न होने पर बाधित होती है अथवा C2 अनुत्पन्न ही बाधित होती है ? C1 उत्पन्न होने पर बाधित होने की बात अयुक्त है क्योकि जब वह उत्पन्न ही हो गयी तब इसको क्या बाधित होना है ? अर्थक्रिया का तात्पर्य है कार्य, उसका बाधित होने का मतलब है उसकी उत्पत्ति रुक जाना, जब वह उत्पन्न हो ही गया तब उत्पत्ति मे क्या रुकावट होने वाली है ? C2 अगर कहे-अनुत्पन्न अर्थक्रिया बाधित होती है तो यह भी अशक्य है क्योकि जो उत्पन्न ही नही हुयी, अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व असत् है उसका क्या बाध होगा ? फिर बाधज्ञानकाल मे उसकी रुकावट होने की बात भी कहाँ ?

यह भी ध्यान देने लायक है कि पुरोवर्त्तीरूप मे भासमान विज्ञान रूप पदार्थ की अर्थक्रिया भी उससे भिन्न है । अब आप कहते है कि बाध के ज्ञान से बाध्य होने वाली अर्थक्रिया है, तो यहाँ निष्कर्ष यह आया कि अर्थक्रिया बाधित होने पर पदार्थ बाधित हो जायेगा । यह कैसे बन सकता है ? क्योकि एक के अभाव मे अन्य का अभाव सिद्ध नही हो सकता अन्यथा वही अतिप्रसग दोष आ पडेगा। (व्यवच्छेद्या...)इस रीति से विज्ञानस्वरूप, प्रमेय और अर्थक्रिया तीनो मे कोई भी बाध्य नही हो सकता, तब बाधरहित इस विशेषण से व्यवच्छेद्य क्या है, अर्थात् कौन बाध्य है यह निश्चय न कर सकने से 'बाधरहित' यह विशेषण अयुक्त है । तात्पर्य, बाधविरह को भी विज्ञान का स्वरूपविशेष नही कह सकते ।

[अदुष्टकारण जन्यत्व स्वरूपविशेष नहीं हो सकता]

(४) अगर कहे, 'अदुष्टकारणारब्धत्व अर्थात् दोपरहितकारणजन्यत्व यही विज्ञान का स्वरूप-विशेष है'-तो यह भी ठीक नही है, क्योकि वह अज्ञात रहने पर उसमे विशेषकता ही असिद्ध है । यदि कहे-ज्ञात होता हुआ वह विशेषण बनता है, तो वह निर्दोषकारणजन्यत्व ज्ञात कैसे हुआ ? अगर कहे-निर्दोषकारणजन्य किसी दूसरे विज्ञान से यह ज्ञात होता है कि 'वह विज्ञान निर्दोषकारणजन्य है,' तब तो अनवस्था चलेगी । अगर कहे-सवाद यह भी एक बुद्धिरूप है-ज्ञानरूप है, वह भी जब तक निर्दोषकारणजन्यत्वरूप विशेष वाला ज्ञात न हो वहा तक प्रस्तुत विज्ञान का निर्दोषकारणजन्यत्व कैसे ज्ञात होगा ? और उसके लिये अन्य सवाद की आवश्यकता मानने पर आपको अनवस्था दोष लगेगा ।

(किंच ज्ञानसव्यपेक्ष....) इसके अतिरिक्त, जब निर्दोष कारणो से उत्पत्तिरूप स्वरूपविशेष भी ज्ञात हो करके ही अपना कार्य करेगा तब वह भी ज्ञानसापेक्ष हुआ और उस विशेष की अपेक्षा करके ज्ञान अपने यथार्थपरिच्छेदरूप कार्य मे प्रवृत्त होगा तो इस प्रकार प्रमाण अपने कार्य मे परतः ही प्रवृत्त हुआ-इस बात का अब इनकार कैसे करेंगे !

तथा, कारणदोषाभावः पर्युदासवृत्त्या भवदभिप्रायेण गुणः। ततश्चाऽदुष्टकारणारब्धमिति
ता गुणवत्कारणारब्धमित्युक्तं भवति। "कारणगुणाश्च प्रमाणेन स्वकार्ये प्रवर्त्तमानेनापेक्ष्यमाणनिश्चा-
ऽप्रमाणापेक्षा अपेक्ष्यन्ते, तदपि प्रमाणं स्वकारणगुणनिश्चायकं स्वकारणगुणनिश्चयापेक्षं स्वकार्ये प्रव-
त इत्यनवस्थादूषणम्,-जातेऽपि यदि विज्ञाने, तावन्नार्थोऽवधार्यते०" [पृ० १९-२०] इत्यादिना
थेन परपक्षे आसज्यमानं 'स्ववधाय कृत्योत्थापनं' भवतः प्रसक्तम्। अथाऽदुष्टकारणजनितत्वनिश्चय-
न्तरेणापि ज्ञानं स्वार्थनिश्चये स्वकार्ये प्रवर्त्तिष्यते, तदसत्; संशयादिविषयीकृतस्य प्रमाणस्य स्वार्थ-
श्चायकत्वाऽसंभवात्, अन्यथाऽप्रमाणस्यापि स्वार्थनिश्चायकत्वं स्यात्। तन्नाऽदुष्टकारणारब्धत्वमपि
शेषो भवन्नीत्या संभवति।

[पर्युदासनञ् से अदुष्टकारण गुण हो जायेंगे]

यहाँ जो दोषरहितकारणजन्यत्व को स्वरूपविशेष कहा गया उसमे जो कारणगत दोषाभाव
वक्षित है वह आपके मत से पर्युदास वृत्ति से गुणस्वरूप भावात्मक पदार्थ मे पर्यवसित होगा।
लतः दोषरहित कारणो से उत्पत्ति होने का जो कथन है उससे गुणवान् कारणो से उत्पत्ति होने की
त ही सूचित होती है। एवं च-"प्रमाण को अपने कार्य मे प्रवृत्त होने के लिये जिन कारणगुणो की
पेक्षा है वे अज्ञात रह कर प्रमाण को अपने कार्य मे प्रवृत्त होने के लिये सहायक नही बनते किन्तु
थार्थरूप से ज्ञात हो कर के अपेक्षित होते हैं। इसलिये कारणगुण का ज्ञान प्रमाणभूत होने के
त्ये किसी और निश्चायक प्रमाण की अपेक्षा रखेगे। वे भी प्रमाणकारणगुण अपने कारणगुणसापेक्ष
नना होगा। फलतः उन कारणगुणो का भी प्रमाणात्मक ज्ञान होने में उनके भी कारणगुणो का
श्चय अपेक्षित होगा। फलतः प्रत्येक प्रमाण अपने कार्य मे तभी प्रवृत्त होगा जब अपने अपने कारण-
णो का निश्चय होगा। इस निश्चय के लिये अपने कारणगुण एव उसके निश्चय की अपेक्षा रहेगी-
स प्रकार अनवस्था चलेगी।" इस प्रकार का जो अनवस्था दूषण "जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽव-
ार्यते०" (ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तब तक अर्थ निश्चित नही होता०) इत्यादि कारिका के उल्लेख
परतः प्रामाण्यवादी के पक्ष पर स्वत.प्रामाण्यवादी की ओर से आरोपित किया जाता था, यह तो
पने सिर ही आ पडा जो कि अपने ही वध के लिये *कृत्या का उत्थापन तुल्य हुआ। तात्पर्य, शत्रु-
ध के लिये उत्थापित कृत्यासज्ञक मत्रमय शक्ति का उत्थापन अपने ही वध के लिये फलित हुआ।

अगर कहा जाय-"ज्ञान की अदुष्ट कारण से उत्पत्ति होने के कारण स्वकार्य मे प्रवृत्ति होती है,
त्र वहाँ दोषाभाव को पर्युदासप्रतिषेधरूप मे कारणगुण का ग्रहण करना होता है किन्तु इस में अन-
स्था चलती है इसलिये अब हमारा कहना है कि अदुष्ट कारण से उत्पत्ति के निश्चय विना ही
ान स्वकीय यथावस्थित विषय के निश्चयरूप स्वकार्य मे प्रवृत्त होता है-तो कोई अनवस्था आदि
ापत्ति नही है"-तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि जिस प्रमाणज्ञान मे प्रामाण्य का सशय और
त्रम होता है वहाँ स्वविषय का यथास्थित निश्चय असभव है, किन्तु आपके हिसाब से वह सभवित

* प्राचीनकाल मे कुछ लोग शत्रु का विनाश करने के लिये कृत्या नाम की देवी की आराधना करते थे। आराधना
के बाद वह जब प्रकट होती थी तब आराधक की इच्छानुसार उसके शत्रु का नाश कर देती थी। परन्तु उसकी
आराधना मे अगर कही कुछ गलती हो गयी तो वह प्रकट हो कर उसके आराधक का ही नाश कर देती थी।
इसी को अपने वध के लिये कृत्या उत्थापन कहा गया है।

(५) अथ संवादित्वं विशेषः, सोऽभ्युपगम्यत एव, किन्तु संवादप्रत्ययोत्पत्तिनिश्चयमन्तरेण स न ज्ञातुं शक्यत इति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्, तदपेक्ष प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तत इति तत्तत्र परतः स्यात्। अत एव निरपेक्षत्वस्याऽसिद्धत्वात्पूर्वोक्तन्यायेन 'ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयाः, . .इति प्रयोगे [पृ० ५-पं० ५] नाऽसिद्धो हेतुः। एतेनैव यदुक्तं-

तत्राऽपूर्वार्थविज्ञानं, निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्धं, प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥ इति, तदपि निरस्तम्॥

यच्चोक्तम्-'यदि संवादापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तते तदा चक्रकप्रसंग.' [पृ० १८-A] तदसंगतम्, 'यथावस्थितपरिच्छेदस्वभावमेतत्प्रमाणम्' इत्येवंनिश्चयलक्षणे स्वकार्ये यथा संवादापेक्षं प्रमाणं प्रवर्त्तते न च चक्रकदोषः, तथा प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। यदपि 'अथ गृहीताः कारणगुणा' [पृ० १९] इत्याद्यभिधानम् तदपि परसमयानभिज्ञतां भवत' ख्यापयति, कारणगुणग्रहणापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तत इति परस्यानभ्युपगमात्। यच्चोक्तम्-'उपजायमानं प्रमाणमर्थपरिच्छेदशक्तियुक्तम्....' [पृ० २०] इति, तत्राऽविसंवादित्वमेव अर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिः, तच्च परतो ज्ञायते, तदपेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तते इति तत्तत्र परतः स्थितम्॥

होगा, क्योकि इस प्रमाण की अदुष्ट कारणो से उत्पत्ति का निर्णय तो अपेक्षित है नही, अन्यथा ऐसी अपेक्षा किये विना भी कोई ज्ञान स्वविषय का यथार्थ निश्चायक होकर प्रमाणरूप बनता हो तो अप्रमाण ज्ञान भी स्वविषय का यथार्थ निश्चायक हो जायगा। फलतः आपके हिसाब से निर्दोष कारणो से उत्पत्ति यह ज्ञान का स्वरूपविशेष होना असभव है।

[संवादित्व को स्वरूपविशेष कहने में परतःप्रामाण्यापत्ति]

[५] अब यदि सवादित्व को ज्ञान का स्वरूपविशेष कहेगे, तो यह तो हमे स्वीकृत ही है, किंतु कठिनाई यह है कि जब तक सवादज्ञान की उत्पत्ति का निश्चय नही होगा तब तक प्रस्तुत ज्ञान का सवादित्व यानी सवादसमर्थितत्वरूप स्वरूपविशेष ज्ञात नही हो सकता। यह वस्तु आगे स्पष्ट की जाने वाली है। अब यहाँ अगर प्रमाण को सवादसमर्थित बनाने के लिये सवाद ज्ञान की उत्पत्ति होना मान लेगे तब तो प्रमाण उसका सापेक्ष रह कर अर्थ का यथार्थपरिच्छेदरूप अपने कार्य मे प्रवर्त्तमान हुआ और उसमे उसका प्रामाण्य परत हुआ। इसीलिये प्रामाण्य मे निरपेक्षत्व यानी स्वतस्त्व सिद्ध न हो सकने से पूर्वोक्त प्रयोग मे सापेक्षत्व हेतु असिद्ध नही है। वह प्रयोग इस प्रकार था-"ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदया न ते स्वतोव्यवस्थितधर्मका यथाऽप्रामाण्यादय "=जो अन्यकारण के उदय को सापेक्ष हैं वे अपने धर्म की स्वत. व्यवस्था नही कर सकता। जैसे अप्रामाण्य अपनी उत्पत्ति मे दोषरूप कारण की उत्पत्ति को सापेक्ष है-इसलिये वह स्वत. व्यवस्थित धर्म वाला नही है"। इस प्रयोग मे कारणान्तरोदयसापेक्षता हेतु असिद्ध नही है।

(एतेनैव यदुक्त) इसी प्रतिपादन से आपका यह कथन भी खण्डित हो जाता है जिसमे कहा गया है कि-

तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चित बाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसम्मतम् ॥

अर्थ -जो निर्णयात्मक ज्ञान नूतनार्थग्राही एव बाधरहित तथा अदुष्टकारणजन्य हो वही ज्ञान प्रमाणरूप मे लोकस्वीकृत होता है।"

[३-प्रामाण्यनिश्चयो न स्वतः-उत्तरपक्षः]

'नापि प्रामाण्यं स्वनिश्चयेऽन्यापेक्षं' [पृ०२१] इत्युक्तं यत् तदप्यसत्, यतो निश्चयः तत्र भवन् किं A निर्निमित्तः उत B सनिमित्तः इति कल्पनाद्वयम् । A तत्र न तावन्निर्निमित्तः, प्रतिनियतदेशकालस्वभावाभावप्रसङ्गात् । B सनिमित्तत्वेऽपि किं B1 स्वनिमित्त उत B2स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः ? न तावत् B1स्वनिमित्तः, स्वसंविदितप्रमाणानभ्युपगमात् मीमांसकस्य । B2अथ स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः, तत्रापि वक्तव्यम्-तन्निमित्तं किं B2a प्रत्यक्षम्, B2b उतानुमानम् ? अन्यस्य तन्निश्चायकस्याऽसम्भवात् । तत्र यदि प्रत्यक्षं, तदयुक्तं, प्रत्यक्षस्य तत्र व्यापाराऽयोगात् । तद्धीन्द्रियसंयुक्ते विषये तद्व्यापारादुदयमासादयत् प्रत्यक्षव्यपदेशं लभते । न चेन्द्रियाणामर्थापरोक्षतालक्षणेन फलेन तत्संवेदनरूपेण वा सम्प्रयोगः, येन तयोर्यथार्थत्वस्वभावं प्रामाण्यमिन्द्रियव्यापारजनितेन प्रत्यक्षेण निश्चीयते ।

[संवाद की अपेक्षा दिखाने में चक्रक आदि दोष नहीं है]

यह जो कहा गया कि-प्रमाण अगर सवाद की अपेक्षा रख कर अपने कार्य में प्रवृत्ति करता है तो चक्रक दोष की आपत्ति होगी-यह कथन भी युक्त नही है। क्योंकि पहले वस्तु का बोध होता है, सवाद मीलने पर 'यह बोध यथावस्थितार्थपरिच्छेदस्वरूप प्रमाणात्मक ज्ञान है' यह निश्चय होता है। ऐसा निश्चय ही प्रमाण का कार्य है। इस वस्तु स्थिति का इनकार नही किया जा सकता। हाँ, प्रमाण के ऐसे स्वकार्य मे सवाद की अपेक्षा किस प्रकार है एवं इसमे चक्रक दोष कैसे नही लगता ? इसका प्रतिपादन आगे करेंगे।

(यदपि अथ गृहीता:...) एव 'अथ गृहीता कारणगुणा:...अर्थात् कारण के गुण गृहीत होने पर प्रमाण के कार्य मे सहकारी बनते है या गृहीत न होने पर भी सहकारी बनते हैं' ......इत्यादि जो कहा गया था वह आपका कथन आपकी परशास्त्र-अनभिज्ञता का सूचक है। अर्थात्, प्रतिवादी का सिद्धान्त न जानते हुए आप ऐसा कह गये है, क्योकि प्रतिवादी ने 'प्रमाण अपने कार्य मे कारणगुण के ज्ञान की अपेक्षा रख कर प्रवृत्त होता है' ऐसा नही माना है।

(यच्चोक्तं, उपजायमान...) यह भी जो आपने कहा था-प्रमाण उत्पन्न होता हुआ अर्थपरिच्छेद शक्ति सपन्न होता है-वह ठीक नही है, क्योकि वहाँ अर्थतथात्वपरिच्छेद की शक्ति क्या है ? यही कि अविसवादित्व, अर्थात् विसवाद न होना, और यह तो पर की अपेक्षा से ही जाना जा सकता है। इस वास्ते अविसवादित्व रूप अर्थतथात्वपरिच्छेद शक्ति स्वत ज्ञात नही होगी। एव प्रमाण अपने कार्य मे जब ऐसे अविसवादित्व की अपेक्षा करता है तब फलित यह हुआ कि प्रमाण स्वकार्य मे परत. यानी परावलम्बी है। [प्रमाण की स्वकार्य मे स्वत: प्रवृत्ति के पक्ष का खण्डन समाप्त]

[३-प्रामाण्य का निश्चय स्वतः नहीं होता-उत्तरपक्ष]

यह जो आपने कहा था कि 'प्रामाण्य अपने निश्चय में भी अन्य की अपेक्षा नही करता' यह भी ठीक नही है, क्योकि वहा दो प्रकार के विकल्प खडे होते हैं A-प्रामाण्य का निश्चय कारणनिरपेक्ष उत्पन्न होता है या B कारणसापेक्ष ? A कारणनिरपेक्ष उत्पन्न होता है यह नही मान सकते, क्योंकि इसमे 'नियतदेश-नियतकाल मे एव नियतस्वभावयुक्त उत्पन्न होना' यह नही बन सकेगा। अर्थात्,

नापि मनोव्यापारजेन प्रत्यक्षेण, एवंविधस्यानुभवस्याभावात् । नापि तयोरुत्पादकस्य ज्ञातृव्यापाराख्यस्य यथार्थत्वनिश्चायकत्वं प्रामाण्यं बाह्येन्द्रियजन्येन मनोजन्येन वा प्रत्यक्षेण निश्चीयते, तेन सहेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावात् । न चेन्द्रियाऽसम्बद्धे विषये ज्ञानमुपजायमानं प्रत्यक्षव्यपदेशमासादयतीत्युक्तम् ।

प्रामाण्य जब विना कारण ही उत्पन्न होगा तब तो जिस किसी भी देश-काल मे और जैसा-तैसा अनियतस्वभाववाला उत्पन्न होना चाहिये । B यदि दूसरा विकल्प ले कर प्रामाण्यनिश्चय निमित्तसापेक्ष मान लिया जाय तब यह प्रश्न होगा कि वह निमित्त कौन सा है ? B1 क्या वह स्वयं ही निमित्त है या B1 कोई अन्यनिमित्त है ? वहा स्वनिमित्तक निश्चय नही बन सकता । क्योकि मीमासक मत मे प्रमाण ज्ञान को स्वसविदित–स्वसवेद्य नही किन्तु ज्ञाततालिंगक अनुमिति ग्राह्य माना गया है । यदि आप प्रमाणनिश्चय को स्वनिमित्तक कहते है तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि प्रमाण स्वसवेद्य है । अब अगर स्वान्यनिमित्तक कहे–तब यह बताईये कि प्रामाण्यनिश्चय का वह अन्यनिमित्त कौन है, B2a प्रत्यक्ष अथवा B2b अनुमान ? तीसरा कोई प्रामाण्यनिश्चय का निमित्त यानी प्रामाण्यनिश्चायक नही हो सकता । यहाँ आप प्रत्यक्ष B2a को प्रमाण का निश्चायक माने तो यह नही बन सकता, क्योकि प्रत्यक्ष की प्रामाण्य के निश्चय मे प्रवृत्ति न तो इन्द्रियव्यापार द्वारा शक्य है, न मनोव्यापार द्वारा शक्य है । इन्द्रियसनिकृष्ट विषय मे इन्द्रिय व्यापार जन्य ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष' सज्ञा को प्राप्त करता है । किन्तु, इन्द्रिय से जो विषय का प्रत्यक्षरूप ज्ञान होता है उससे विषय ज्ञात होने से उसमे ज्ञातता उत्पन्न होती है और यह ज्ञातता अपरोक्षतास्वरूप है । अब मीमासको का कहना है कि इस ज्ञातता से जैसे ज्ञान गृहीत (अनुमित) होता है वैसे उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उससे गृहीत होता है, इस प्रकार प्रामाण्यनिर्णय के लिये अन्य सामग्री की अपेक्षा न रहने से प्रामाण्य स्वत निर्णीत कहा जाता है । किन्तु यह नही बन सकता, क्योकि इन्द्रिय का विषयनिष्ठ अपरोक्षता-ज्ञातता के साथ सप्रयोग यानी सनिकर्ष नही बन सकता । कारण, 'अर्थाऽपरोक्षता' रूप पदार्थ अर्थाऽपरोक्षज्ञान से घटित है और वह ज्ञान बाह्येन्द्रियसनिकृष्ट नही है । एव जैसे ज्ञान का भान ज्ञातता से होता है, वैसे अनुव्यवसायात्मक सवेदन से भी होने का माना जाता है । ज्ञातता के समान, जैसे इस सवेदन से ज्ञान का भान होता है उसी प्रकार इसके साथ साथ ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य का भी भान हो जाता है–इसलिये प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है ऐसा यदि कहा जाय तो यह भी ठीक नही है क्योकि सवेदन के साथ बाह्येन्द्रिय सनिकर्ष न हो सकने से इसका प्रत्यक्ष नही हो सकता, जिससे कि दोनो विकल्पो मे ज्ञातता एव सवेदन मे यथार्थत्वस्वरूप प्रामाण्य इन्द्रिय व्यापार जन्य प्रत्यक्ष से निश्चित किया जा सके ।

[मानस प्रत्यक्ष से प्रामाण्यग्रह अशक्य]

मनोव्यापार से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष से अर्थात् मानस प्रत्यक्ष से भी प्रामाण्य का निश्चय नही हो सकता, क्योकि ज्ञान सुखादि का जैसा आन्तरसवेदन होता है वैसा अर्थापरोक्षता और तत्सवेदन मे प्रामाण्य, का आन्तर सवेदन नही होता है । (नापि तयोरुत्पादकस्य...) अगर यह कहे–'इन इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष एव मानस प्रत्यक्ष से प्रामाण्य भले प्रत्यक्ष ग्राह्य न हो किन्तु इन दोनो के उत्पादक ज्ञाता के व्यापार मे रहा हुआ यथार्थता निश्चायकत्वरूप रूप प्रामाण्य इन्द्रियजन्य अथवा मनोजन्य प्रत्यक्ष से ग्राह्य होगा'–तो यह भी ठीक नही है । क्योकि ज्ञाता के व्यापार के साथ बाह्येन्द्रिय का सबध शक्य नही है । एव मन से ज्ञातृव्यापार का जैसे अनुभव है वैसे ज्ञातृव्यापार गत प्रामाण्य

B2b नाप्यनुमानतः प्रामाण्यनिश्चयः, पूर्वोक्तस्य फलद्वयस्य यथावस्थितार्थत्वलक्षणप्रामाण्य-निश्चये लिंगाभावात् ।

ज्ञातृव्यापारस्य पूर्वोक्तफलद्वयस्वभावकार्यलिंगसम्भवेऽपि न यथार्थनिश्चायकत्वलक्षणप्रामाण्य-निश्चायकत्वम् । यतस्तल्लिंगं संवेदनाख्यं, यथार्थत्वविशिष्टं तन्निश्चये व्याप्रियेत, निर्विशेषणं वा ? प्रथमपक्षे तस्य यथार्थत्वविशेषणग्रहणे प्रमाणं वक्तव्यं, तच्च न संभवतीति प्रतिपादितम् । निर्विशेषण-स्य फलस्य प्रामाण्यप्रतिपादकत्वे मिथ्याज्ञानफलमपि प्रामाण्यनिश्चायकं स्यादित्यतिप्रसंगः ।

तत्रैतत्स्यात्-पूर्वोक्तं फलद्वयमर्थसंवेदनार्थप्रकटतालक्षणमनुभवान्निश्चीयते, यथा तस्य स्वतः पूर्वोक्तस्वरूपनिश्चयः तथा यथार्थत्वस्याऽपि । यथाहि तत्संवेद्यमानं नीलसवेदनतया संवेद्यते, तथा

का अनुभव नही होता । साराश, प्रत्यक्ष से प्रामाण्य का निश्चय नही हो सकता है, क्योकि इन्द्रिय से असम्बद्ध विषय से उत्पन्न होते हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष संज्ञा ही प्राप्त नही होती-यह पहले कह दिया है ।

[अनुमान से भी प्रामाण्य का निश्चय असंभव]

अब अगर कहे-प्रामाण्य के निश्चय का निमित्त प्रत्यक्ष भले न हो किन्तु अनुमान हो सकता है अर्थात् अनुमान से प्रामाण्य का निश्चय करेंगे-तो यह भी ठीक नही है, क्योकि यथावस्थितार्थत्व= यथार्थता रूप प्रामाण्य के अनुमितिरूप निश्चय मे अर्थाऽपरोक्षता एव तत्संवेदन इन दोनो मे से एक भी लिंग रूप नही है । कारण, ज्ञातृव्यापार के स्वभाव या कार्यरूप मे ये दोनो में से कोई भी नही दिखाई पडता जो प्रामाण्य के अनुमान का साधक हो सके ।

[B2b संवेदनरूप लिंग से प्रामाण्यनिश्चय असंभव]

अगर आप कहे "यथार्थत्व निश्चय स्वरूप प्रामाण्य का अनुमान करने के लिए लिङ्ग क्यो नही है ? लिङ्ग मिलता है, वह यह कि ज्ञाता के व्यापार स्वरूप प्रमाणज्ञान के जो दो फल (कार्य) है विज्ञान-सवेदन एव अर्थप्राकट्य, वे ही कार्यात्मक लिङ्ग बनकर कारणभूत यथार्थत्व स्वरूप प्रामाण्य का अनुमान करा सकते है, जैसे 'कार्यधूम से कारण वह्नि का अनुमान"-तो यह भी ठीक नही, क्योकि यहा जो सवेदन रूप लिङ्ग लिया गया, उस पर सवाल यह है कि यह सवेदन (१) क्या यथार्थत्व विशिष्ट होकर ही अनुमिति रूप निश्चय मे प्रवृत्त होगा ? या (२) यथार्थत्व विशेषण विना ही अनुमापक होगा ? तात्पर्य, क्या यथार्थ ही सवेदन प्रामाण्य का निश्चायक है ? या जैसा तैसा भी सवेदन प्रामाण्यानुमापक है ? (प्रथमपक्षे)...पहले पक्ष मे हेतु ने जो 'यथार्थत्व' विशेषण ग्रहण किया, अर्थात् यथार्थ सवेदन ही हेतु वना, इसमे प्रमाण वताना चाहिए । किस प्रमाण से आप कहते है, कि हेतु 'सवेदन' यथार्थ ही है, अयथार्थ नही ? यह प्रमाण सभवित नही हैं, क्योकि इसमे अन्त मे अनवस्था आती है, यह पहले कहा जा चुका है ।

अगर ऐसा कहे-यथार्थत्व विशेषण विना ही तत्सवेदन 'स्वरूप फल (कार्य) यह हेतु वन कर कारणभूत विज्ञान के प्रामाण्य का प्रतिपादक यानी अनुमापक होता है तव तो यह आया कि शायद वह सवेदन मिथ्याज्ञान भी हो सकता है, फिर भी उससे इस तरह प्रामाण्य का प्रतिपादन माना जायगा तो किसी भी मिथ्याज्ञान के अयथार्थ फल से उसके जनक पूर्व मिथ्याज्ञान मे भी प्रामाण्य का निश्चय हो सकेगा । इस प्रकार 'हेतु यथार्थत्वविशेषण विना ही हेतु वनकर प्रामाण्य का निश्चायक है' इस दूसरे पक्ष मे अतिप्रसग की आपत्ति है ।

यथार्थत्वविशिष्टस्यैव तस्य संवित्तिः। न हि नीलसंवेदनादन्या यथार्थत्वसंवित्तिः-यद्येवम्, शुक्तिकायां रजतज्ञानेऽपि अर्थसंवेदनस्वभावत्वाद्यथार्थत्वप्रसक्तिः। स्मृतिप्रमोषादयस्तु निषेत्स्यन्ते इति नानुमानादपि तत्प्रामाण्यनिश्चयः।

यहाँ यह बचाव कर सकते है कि-पहले दो फल जो कहे गए, एक अर्थसवेदन व दूसरा-अर्थ प्रकटता यानी अर्थनिष्ट ज्ञातता वे दोनो अनुभव से निश्चित होते है, तो जैसे उनका पूर्वोक्त स्वरूप अर्थात् सवेदनरूपत्वादि स्वरूप स्वतः निश्चित होता है, उस प्रकार उसका यथार्थत्व-स्वरूप भी स्वत. निश्चित हो जाता है। जिस प्रकार बाह्य नील का सवेदन जब भी होता है तभी नील सवेदन रूप से ही सवेदन होता है अर्थात् 'इद नील-यह नील है' ऐसे अनुभव के अन्तर्गत ही 'इद नील पश्यामि-मैं इस नील को देख रहा हूँ'-यह अनुभव शामिल है ठीक उसी प्रकार नील सवेदन का अनुभव यथार्थत्व विशिष्ट ही होता है अर्थात् ऐसा अनुभव होता है कि 'इद नील प्रमिणोमि=मै इस नील को ठीक ही देख रहा हू!' फलत ऐसे स्वतः निश्चित प्रामाण्य वाले सवेदन से ही विज्ञान-प्रामाण्य का अनुमान होता है।

(न हि नीलसवेदनादन्या....) प्र०-नील सवेदन भले ही स्वत' सवेद्य होने से उसके होते ही उसका सवेदन हुआ किन्तु तद्गत यथार्थत्व का सवेदन कैसे हुआ?

उ०-जैसे नील सवेदन का सवेदन नीलसवेदन से कोई भिन्न नही, इस प्रकार यथार्थ नील-सवेदन के यथार्थत्व का सवेदन भी नील सवेदन से कोई भिन्न सवेदन नही है। अतः नील सवेदन जो सवेद्य हुआ वह यथार्थ रूप मे ही सवेद्य हुआ यह कह सकते हैं।

इस प्रकार निर्विशेषण अर्थात् यथार्थत्व विशेषण रहित अर्थ सवेदन स्वरूप फल यह अनुमिति मे हेतु बनकर विज्ञान के प्रामाण्य का अनुमापक हो सकता है।

अब यहाँ इस बचाव का खण्डन बताते है.-

(यद्यवेम् शुक्तिकाया....) अगर आप इस प्रकार सभी सवेदन को यथार्थत्व विशिष्ट ही मानते है, तब तो शुक्तिका (मोती की सीप) को देखकर कदाचित् 'इद रजतम्-यह रजत है-यह चादी है' ऐसा जो ज्ञान होता है वह भी अर्थ का सवेदन होने के नाते यथार्थ ही सवेदन होने की आपत्ति आएगी, क्योकि आप सवेदनमात्र को यथार्थत्व विशिष्ट ही सवेदन मानते है।

अगर आप कहें-"हा यह यथार्थ ही है, क्योकि 'इद=यह' इस अश मे तो सवेदन यथार्थ है ही, कारण वस्तु 'यह' यानी पुरोवर्ती है ही, और पूरोवर्ती रूप मे देख रहे हैं, और 'रजतम्' इस अश मे पूरोवर्ती के चाकचिक्य-चकचकाट को देखकर रजत का स्मरण हुआ है, और स्मरण मे कोई अयथार्थता नही। यहाँ आप इतना पूछ सकते है-

प्र०-अगर वह रजत का स्मरण हो तब तो उसमे 'तद् रजत'='वह चादी' ऐसा 'तद्=वह' का उल्लेख होना चाहिए, क्योकि स्मरण मे 'तद्=वह' का उल्लेख होता ही है, उदाहरणार्थ-बाजार मे मिले किसी आदमी को घर पर याद करते हैं तो 'वह आदमी', इस प्रकार 'वह' के उल्लेख के साथ ही याद करते है।

उ०-आपकी बात सही है किन्तु, यहा इतना विशेष है कि शुक्ति मे होने वाले रजत-ज्ञान मे 'स्मृति प्रमोष' होता है, अर्थात् स्मरणत्व अश चुराया जाता है, मतलब, वह ध्यान मे नही आता।

किं च, प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यनिश्चयनिमित्तत्वेऽभ्युपगम्यमाने स्वतः प्रामाण्यनिश्चयव्याहतिप्रसङ्गः, तन्नान्यनिमित्तोऽपि प्रामाण्यनिश्चयः। यदुक्तम् 'नापि प्रामाण्यं स्वनिश्चयेऽन्यापेक्षं, तद्ध्यपेक्षमाणं किं कारणगुणानपेक्षते'....इत्यादि[पृ. २१] तदनभ्युपगमोपालम्भमात्रम्। न ह्यस्मदभ्युपगमः यदुत स्वकारणगुणज्ञानात् प्रामाण्यं विज्ञायते, कारणगुणानां संवादप्रत्ययमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। संवदाप्रत्ययात्तु कारणगुणपरिज्ञानाभ्युपगमे तत एव प्रामाण्यनिश्चयस्यापि सिद्धत्वात् व्यर्थं गुणनिश्चयपरिकल्पनम्, प्रामाण्यनिश्चयोत्तरकालं गुणज्ञानस्य भावात्तन्निश्चयस्य प्रामाण्यनिश्चयेऽनुपयोगाच्च।

इसलिए वहाँ 'तत्=वह' का उल्लेख नही होता है। इस प्रकार शुक्तिका मे होने वाला 'इदं रजत' ज्ञान दोनो अश मे यथार्थ है।

अथवा स्मरण मे आये रजत की पुरोवर्ती शुक्ति के साथ जो भिन्नता है, जो भेद है, उस भेद का ग्रह यानी ज्ञान नही होता है, किन्तु भेदाग्रह रहता है इस लिए याद आये रजत एवं पुरोवर्ती अर्थ एकरूप मे ही भासते हैं।

साराश वहा 'इद' पदार्थ तो है ही, एव उससे वहा याद आता हुआ रजत भी जगत् मे कही है ही, विशेष इतना कि मात्र पुरोवर्ती से उसकी भिन्नता का यानी उसके भेद का ज्ञान नही होता है इतना ही, जिससे समान विभक्ति से 'इद रजत' यह उल्लेख होता है। फलतः शुक्तिका मे होता हुआ 'यह रजत है' यह ज्ञान भी इस प्रकार दोनो अश मे यथार्थ ही है।"-तो यह ठीक नहीं, क्योंकि—

[संवेदनमात्र यथार्थ ही-होता है' इस मत का खण्डनः-]

('स्मृतिप्रमोषादयस्तु)शुक्तिका मे रजतभ्रम को यथार्थ सिद्ध करने का यह आपका प्रयास निर्युक्तिक व लोकानुभवविरुद्ध है, शुक्तिका मे होने वाले रजतज्ञान को लोक तो भ्रम यानी अयथाथ ही मानते है। निर्युक्तिक इसलिए कि जो आपने स्मृति-प्रमोष व रजत-भेदाग्रह का उपन्यास किया उनका आगे खण्डन किया जाने वाला है। फलत वहा रजत स्मरण है ही नही, अगर होता तो 'वह रजत' इस रूप मे 'वह' के उल्लेख के साथ ही स्मरण का सवेदन होता। अतः वहा अयथार्थ रजतज्ञान ही प्राप्त होने से 'सभी सवेदन यथार्थ व विशिष्ट ही सवेदन होता है' यह आपका प्रतिपादन गलत है। इस प्रकार सवेदन अप्रामाण भी होता है इसलिए सवेदनमात्र मे प्रामाण्य का अनुमान नही कर सकते है। इस प्रकार अनुमान से भी विज्ञान के प्रमाण्य की सिद्धि नही हो सकती।

(किञ्च प्रत्यक्षानुमानयो ....) यह भी एक बात है कि प्रामाण्य के निर्णय मे अगर प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण को निमित्त मानेंगे, तो 'प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है' इस सिद्धान्त के व्याघात यानी भङ्ग की आपत्ति आएगी, क्योकि विज्ञान तो उत्पन्न हो गया, वह भी स्वत. सवेद्य, किन्तु उसके प्रामाण्य का निश्चय साथ ही न होने से जब बाद मे प्रत्यक्ष या अनुमान से करना है तब वहा प्रामाण्य-निर्णय स्वत. कहा रहा ? और प्रत्यक्ष-अनुमान पूर्वोक्तानुसार प्रामाण्य-निश्चय कराने मे पगु है। इस लिए फलित यह होता है कि आप के मत मे प्रामाण्य का निश्चय B2 अन्य निमित्त से भी नही हो सकता।

(यदुक्तम् नापि प्रामाण्य....) अब जो पहले आपत्ति दी गई थी कि-प्रामाण्य अन्य मापेक्ष भी नही है, क्योकि अगर वह अन्य की अपेक्षा करता है तो....इत्यादि, वह तो जो हम प्रामाण्य ज्ञान को

नाप्येकदा संवादाद् गुणान् निश्चित्य अन्यदा संवादमन्तरेणापि गुणनिश्चयादेव तत्प्रभवस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चय इति वक्तुं शक्यम्; अत्यन्तपरोक्षेषु चक्षुरादिषु कालान्तरेऽपि निश्चितप्रामाण्य-स्वकार्यदर्शनमन्तरेण गुणानुवृत्तेर्निश्चेतुमशक्यत्वात्। न च क्षणक्षयिषु भावेषु गुणानुवृत्तिरेकरूपैव सम्भवति, अपरापरसहकारिभेदेन भिन्नरूपत्वात्।

कारणगुण सापेक्ष मानते ही नही है उनके प्रति व्यर्थ का उपालम्भ है। ('नह्यस्मदभ्युपगमो...') क्योकि हमारा ऐसा मत नही है, कि 'प्रामाण्य-निर्णय विज्ञान के कारणगुण के ज्ञान पर आधारित है। 'कारणगुणज्ञान से प्रामाण्य निर्णीत होता है,' यह हमे स्वीकार्य ही नही है। यह न मानने का कारण यह है कि–

विज्ञान के कारण के गुणो का ज्ञान इतना सहज सरल नही है कि वह ऐसे ही हो जाए। इसके लिये तो संवादक ज्ञान की ओर देखना पडता है, सवादक ज्ञान के विना कारण के गुण जानना शक्य नही है। इसका कारण स्पष्ट है-प्रत्यक्ष-विज्ञान का कारण है इन्द्रिय और इन्द्रियो के गुण अतीन्द्रिय होते है, प्रत्यक्ष दृश्य नही। अत. वे तो तभी ज्ञात होते है कि जव सवादक ज्ञान हो। उदाहरणार्थ चक्षु से दूर रजत को देखा, वाद मे निकट गए, वह हाथ मे लिया और वह ठीक रजत ही मालुम पडा, यह सवादक ज्ञान हुआ। इससे अनुमान करेंगे कि हमारी चक्षु गुणयुक्त यानी निर्मल है वास्ते ठीक रजत को देखा। इस प्रकार चक्षु का निर्मलता गुण सवादक ज्ञान से प्रतीत हुआ।

(सवादप्रत्ययात्तु") अव अगर कारण गुणो का ज्ञान सवादक ज्ञान से होना मान लें, तव तो यह आया कि सवादक ज्ञान से कारणगुणज्ञान हुआ व कारणगुण-ज्ञान से प्रामाण्य का निर्णय मानना हुआ। ऐसा मानने की अपेक्षा तो यही मानना उचित है कि प्रामाण्य का निश्चय सवादक ज्ञान से ही सिद्ध होता है। वीच मे कारणगुण के निश्चय की कल्पना करना व्यर्थ है। जव कारणगुण ज्ञान के लिये सवादक ज्ञान तक तो जाना ही पडता है, तो वही सवादक ज्ञान प्रामाण्य का निर्णय करा देगा फिर व्यर्थ कारणगुणो का ज्ञान क्यो करना? ('प्रामाण्यनिश्चयोत्तरकाल) अगर आप का आग्रह है कि सवादक ज्ञान से कारण गुणो का ज्ञान होता ही है, तव तो यह समझ ले कि उसका कोई उपयोग नही है, क्योकि सवादक ज्ञान होते ही प्रामाण्य का निश्चय तो हो ही गया, अव इसके बाद कारणगुणो का ज्ञान होगा तो प्रामाण्यनिश्चय के पश्चाद् उत्पन्न होने वाले ऐसे कारणगुणो के ज्ञान का, प्रामाण्यनिश्चय करने मे कोई उपयोग न रहा।

[एक बार गुणों का निर्णय सर्वदा उपयोगी नहीं होता]

('नाप्येकदा सवाद...) यहा आप कह सकते है कि-'कारण गुण ज्ञान का उपयोग इस प्रकार है,-एकवार सवादक ज्ञान से चक्षुर्नैर्मल्यादि कारणगुणो का निश्चय कर लिया, तो इससे पता चला कि कारणभूत हमारी चक्षु गुणयुक्त यानी निर्मल है। अव वाद मे दूसरी बार जव किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान करेंगे वहा वह कारण गुण निश्चय ही प्रामाण्य का निश्चय करा देगा, वहा प्रामाण्यनिश्चय के किसी सवादक ज्ञान की कोई अपेक्षा नही रहेगी।'-किन्तु (अत्यन्तपरोक्षेपु...) यह आपका कथन विचारपूर्ण नही है, क्योकि नेत्रादि इन्द्रिय अत्यन्त परोक्ष है, अतीन्द्रिय है, तव उनमे एक नैर्मल्यादि गुण का निर्णय कर भी लिया, तव भी कालान्तर मे उन गुणो की अनुवृत्ति चलती ही रहेगी-यह निश्चय कैसे कर सकते है? अतीन्द्रिय गुणो का निर्णय प्रत्यक्ष रूप से तो होता नही, अत. जव भी वह कारणगुण

संवादप्रत्ययाच्चार्थक्रियाज्ञानलक्षणात् प्रामाण्यनिश्चयोऽभ्युपगम्यत एव, "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" [प्र.वा.१-३] इति प्रमाणलक्षणाभिधानात् । न च संवादित्वलक्षणं प्रामाण्यं स्वत एव ज्ञायत इति शक्यमभिधातुम् । यतः संवादित्वं संवादप्रत्ययजननशक्तिः प्रमाणस्य, न च कार्यदर्शनमन्तरेण कारणशक्तिर्निश्चेतुं शक्या । यदाहु-'नह्यप्रत्यक्षे कार्ये कारणभावगतिः' इति । तस्मादुत्तरसंवादप्रत्ययात् पूर्वस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते । न च संवादप्रत्ययात् पूर्वस्य प्रामाण्यावगमे संवादप्रत्ययस्यापरसंवादात् प्रामाण्यावगम इत्यनवस्थाप्रसङ्गात् प्रामाण्यावगमाभाव इति वक्तुं युक्तं, संवादप्रत्ययस्य संवादरूपत्वेनापरसंवादापेक्षाभावतोऽनवस्थानवतारात् ।

का निर्णय करना होगा तब प्रामाण्य निर्णयात्मक उनके कार्य के दर्शन के बिना वह होगा ही नही, प्रामाण्य निश्चय स्वरूप उनका कार्य देखकर के ही अनुमान से कारणगुण निर्णय करना होगा । फलतः पहले कारणगुण निर्णय का कोई उपयोग रहा नही यह सिद्ध होता है । तथा हमारे ❀क्षणिकवाद मे तो गुणो की स्थिर अनुवृत्ति वन ही नही सकती, क्योकि जब सभी भाव क्षणक्षयी है तब चक्षु आदि के एक वार निश्चय किये गए गुण भी क्षणक्षयी होने से दूसरे क्षण मे ही नष्ट भ्रष्ट हो गये, नये क्षण मे जो गुण उत्पन्न होगे वे उन गुणो से सर्वथा भिन्न ही हैं क्योकि उनके सहकारी आदि कारण सामग्री सर्वथा भिन्न है । अतः पूर्वक्षणवृत्ति गुणो की उत्तरक्षण मे अनुवृत्ति होने का कोई सभव ही नही है । अतः पूर्व मे किये गये कारणो का निर्णय भी उत्तरकाल मे उपयोगी नही रहा ।

फलित यह होता है कि प्रामाण्य का निश्चय कारणगुण ज्ञान से नही होता । 'प्रामाण्य का निश्चय सवादक ज्ञान से होता है' इस दूसरे पक्ष का तो हम स्वीकार करते है । यहा सवादक ज्ञान अर्थक्रियाज्ञान स्वरूप है, अर्थक्रिया का तात्पर्य है पदार्थजननक्रिया, पदार्थोत्पत्ति-कार्योत्पत्ति । प्रस्तुत मे, विज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् जो उसकी अर्थक्रिया का सवेदन होता है यह है विज्ञान की 'अर्थ क्रिया का ज्ञान,' विज्ञान के कार्य की जो उत्पत्ति, उसका ज्ञान है सवादक प्रतीति । क्योकि उससे विज्ञान के विषय का सवाद मिलता है । और इस अर्थक्रियाज्ञान स्वरूप सवादक प्रतीति से प्रामाण्य का निश्चय होना हम मानते है । प्रमाण का लक्षण भी यही कहा गया है कि "जो अ-विसवादी ज्ञान है वह प्रमाण होता है" मतलव जिसमे विसवाद नही, सवाद मिलता है वह प्रमाण है । इस लक्षण के अनुसार विज्ञान यह प्रमाण इसलिए है कि वाद मे उसकी सवादक प्रतीति मिलती है । और जो सवादि सवेदन मिला इसीसे प्रामाण्य निश्चित हो गया अत यह परत प्रामाण्य निर्णय हुआ ।

(न च सवादित्वलक्षणम्) यदि यह कहा जाय कि 'सवादित्व स्वरूप ही प्रामाण्य है और वह स्वत ही ज्ञात होता है, क्योकि सवादित्व यह सवाद सापेक्ष है- एवम् विज्ञान स्वत सवेद्य होने से विज्ञानसवेदन रूप सवाद भी स्वत हुआ तो तत्स्वरूप प्रामाण्य भी स्वत सवेद्य हुआ ही न ?'–इस प्रकार कहना ठीक नही, क्योकि प्रमाणविज्ञान का प्रामाण्य आप सवादित्वरूप वता रहे हैं और सवादित्व क्या है ? प्रमाण ज्ञान मे जो सवाद उत्पन्न करने की शक्ति है अर्थात् सवादजननशक्ति यही सवादित्व है । प्रमाण मे रही हुई यह शक्ति उसके कार्य सवाद को देखे विना 'वह प्रमाण मे है' यह कैसे जान सकते है ? कारण मे रही हुई कार्यशक्ति तभी जानी जाती है कि जव वाद मे उसका कार्य

❀ यह ध्यान मे रहे कि व्याख्याकार स्वत. प्रामाण्यवाद का खण्डन बौद्ध के मुह से करवा रहे है-यह अत मे स्पष्ट कर देंगे ।

न च प्रथमस्यापि संवादापेक्षा मा भूदिति वक्तव्यम्, यतस्तस्य संवादजनकत्वमेव प्रामाण्यम्, तदभावे तस्य तदेव न स्यात्। अर्थक्रियाज्ञानं तु साक्षादविसंवादि, अर्थक्रियालम्बनत्वात्, तस्य स्वविषये संवेदनमेव प्रामाण्यम्। तच्च स्वतःसिद्धमिति नान्यापेक्षा। तेन 'कस्यचित्तु यदीष्येत' [पृ २६] इत्यादि परस्य प्रलापमात्रम्।

देखा जाता है। ऐसा कहा भी है कि-'न हि अप्रत्यक्षे कार्ये कारणभावगतिः,' अर्थात् जब तक कार्य प्रत्यक्ष नही होता है तब तक कारण मे कारणता का ज्ञान नही होता। इसलिये मानना होगा कि प्रमाण मे सवादजनन शक्ति जानने के पहले सवाद रूप कार्य को देखना होगा, बाद मे उस शक्ति का एवं तत्स्वरूप प्रामाण्य का ज्ञान होगा। इसके उपर अगर यह कहे-'हाँ! आप सवाद से प्रामाण्य का ज्ञान कर लेंगे, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि वह सवाद भी प्रमाणभूत ही उपयुक्त होगा और इसका प्रामाण्य इसमे रही हुई तत्सवादजननशक्ति रूप है, वह भी उसके कार्य के सवाद दर्शन विना नही हो सकता। अगर सवाद की सवादजननशक्ति को ज्ञात करने के लिये उसके सवादरूप कार्य के दर्शन तक जायेंगे, तब तो इस प्रकार अनवस्था दोष की आपत्ति आयेगी, और इससे फलित यह हुआ कि प्रामाण्य का ज्ञान ही नही हो सकेगा।'-इस प्रकार कहना ठीक नही है क्योकि (सवादप्रत्ययस्य .) सवादक ज्ञान स्वय सवाद स्वरूप होने से उसका प्रामाण्य निश्चित करने के लिये दूसरे सवादी ज्ञान की कोई अपेक्षा नही रहती, इसलिए यहा अनवस्था दोष की आपत्ति का अवतार ही नही है। इस पर आप पूछ सकते है-

[संवाद का प्रामाण्यबोध स्वतः मानने में कोई दोष नहीं है]

प्र०-तब तो पहले विज्ञान को भी सवाद की अपेक्षा मत हो, वह भी सवादक ज्ञान के समान स्वत ही प्रमाणभूत होगा, एवं इसका प्रामाण्य स्वत. ही निर्णीत हो जायेगा।

उ०-यह नही कह सकते, क्योकि हम कह आये हैं कि विज्ञान का प्रामाण्य क्या है? सवाद-जननशक्ति अर्थात् सवादजनकत्व यही उसका प्रामाण्य है। अगर उसमे भ्रातिरूप होने से सवादजनकत्व नही है तब तो उसमे प्रामाण्य ही नही हो सकता, यह तो मूल ज्ञान की स्थिति है। अब सवाद को देखें तो समझा जाता है कि सवाद अर्थक्रियाज्ञान स्वरूप है, उदाहरणार्थ रास्ते पर दूर मे रजत को देखा, बाद मे वहाँ जा कर उसको हाथ मे लिया तो ठीक रजत ही मालुम पडा, तो यह रजत ज्ञान सवादरूप हुआ, वही प्रथम प्रमाण ज्ञान से उत्पन्न होने के नाते उसका अर्थक्रिया ज्ञान है, और इस सवादज्ञान तो साक्षात् अविसवादी है क्योकि वह तो अर्थक्रियास्वरूप रजतप्राप्ति के आलबन से उत्पन्न हुआ है इसलिये अब इसमे 'यह रजत ज्ञान प्रमाण होगा या नही?' इस शका को कोई अवसर ही नही है।

साराश सवादज्ञान स्वत प्रमाण है, उसका अपने विषय का सवेदन यही अपना प्रामाण्य है और सवाद का यह प्रामाण्य स्वत सिद्ध है। उसमे और किसी की अपेक्षा नही है।

(तेन कस्यचित्तु यदीष्येत..) इससे जो पहले कहा गया था कि 'कस्यचित्तु यदीष्येत' इत्यादि, यह तो परवादी का प्रलाप मात्र है क्योकि विज्ञान का प्रामाण्य सवादक ज्ञान से निश्चित होता है और सवादक ज्ञान यानी अर्थक्रिया ज्ञान का प्रामाण्य स्वत ज्ञात है। इस पर परवादी कह सकता है कि-

न चार्थक्रियाज्ञानस्याप्यवस्तुवृत्तिशंकायामन्यप्रमाणापेक्षयाऽनवस्थाऽवतार इति वक्तव्यम्, अर्थक्रियाज्ञानस्यार्थक्रियानुभवस्वभावत्वेनार्थक्रियामात्रार्थिनां भिन्नार्थक्रियात एतज्ज्ञानमुत्पन्नम्, उत तद्व्यतिरेकेणेत्येवंभूतायाश्चिन्ताया निष्प्रयोजनत्वात् ।

तथा हि-यथार्थक्रिया किमवयवव्यतिरिक्तेनावयविनाऽर्थेन निष्पादिता, उताऽव्यतिरिक्तेन, आहोस्विदुभयरूपेण, अथानुभयरूपेण, किं वा त्रिगुणात्मकेन, परमाणुसमूहात्मकेन वा, अथ ज्ञानरूपेण, आहोस्वित्संवृतिरूपेणेत्यादिचिन्ताऽर्थक्रियामात्रार्थिनां निष्प्रयोजना, निष्पन्नत्वाद्वाञ्छितफलस्य;

तथेयमपि किं वस्तुसत्यामर्थक्रियायां तत्संवेदनज्ञानमुपजायते, आहोस्विदवस्तुसत्यामिति । तृड्दाहविच्छेदादिकं हि फलमभिवाञ्छितम्, तच्चाभिनिष्पन्नं, तद्वियोगज्ञानस्य स्वसंविदितस्योदये इति तच्चिन्ताया निष्फलत्वम्, अवस्तुनि ज्ञानद्वयाऽसम्भवात् च ।

प्र०–ऐसी शका क्यो न हो कि अर्थक्रिया ज्ञान ही शायद असद् वस्तु का हुआ है, अब इस शका के निवारण के लिए अन्य सवादक प्रमाण की अपेक्षा रहेगी, एवं इस प्रकार क्या अनवस्था का अवतार सुलभ नही ?

उ०:–ऐसा मत कहिये, क्योकि अर्थक्रिया ज्ञान यह अर्थक्रिया अर्थात् कार्य का अनुभवस्वरूप है और जो पुरुष अर्थक्रिया मात्र का अर्थी है उसको 'यह ज्ञान किसी भिन्नअर्थक्रिया से उत्पन्न हुआ या अभिन्न अर्थक्रिया से हुआ' इस प्रकार की चिन्ता करना निष्प्रयोजन है–फिजुल है । उदाहरणार्थ, जलार्थी मनुष्य को दूर से 'यह जल है ऐसा लगता है' इस प्रकार ज्ञान हुआ । अब वह पास मे जाकर जल हाथ मे लेता है तो उसे जल प्राप्ति रूप अर्थक्रिया का ज्ञान होता है । अब क्या वहां वह चिन्ता करेगा कि 'यह जो अब जलप्राप्ति स्वरूप अर्थक्रिया का ज्ञान हो रहा है यह सचमुच जल का ज्ञान है ? या किसी जल भिन्न पदार्थ का ज्ञान है ?' नही, ऐसी चिन्ता-शका करने का कोई प्रयोजन नही, जब जल हाथ मे ही आ गया । इसलिए मानना होगा कि अर्थक्रिया ज्ञान स्वानुभव स्वरूप होने से स्वत' प्रमाण रूप से ही प्रतीत होता है किन्तु इसमे 'यह मिथ्याज्ञान है या सत्य-यथार्थ ज्ञान है' ऐसी शका को कोई अवसर ही नही जिससे पुन. उसके सवादक ज्ञान की अपेक्षा एव तदनुसारी अनवस्था की आपत्ति हो ।

[अर्थक्रिया के ऊपर शंका-कुशंका अनुपयोगी]

अर्थक्रिया ज्ञान स्वानुभवरूप होने से उसकी यथार्थता स्वसंविदित ही है ऐसा अगर नहीं मानेगे तो कई प्रकार की फिजुल चिन्ता-शका उपस्थित हो सकती है । उदाहरणार्थ-

(तथाहि-यथार्थक्रिया किमवयव. .) जैसे कि यह अर्थक्रिया स्वरूप जलप्राप्ति जो हुई वह क्या अवयव जल से भिन्न किसी अवयवी मे निष्पन्न हुई या सचमुच अवयवो से अभिन्न अवयवी जल से निष्पन्न जल प्राप्ति हुई अथवा अवयव-अवयवी उभयरूप जल मे निष्पन्न हुई ? या दोनो से भिन्न अनुभय रूप किसी पदार्थ से निष्पन्न हुई ? अथवा जल–जलेतर कोई पदार्थ नही किन्तु क्या सत्त्व-रजस्-तम इस त्रिगुणात्मक किसी पदार्थ मे हुई ? या अलग जल अवयवी जैसा कोई पदार्थ नही किन्तु क्या परमाणु समूहात्मक जल से निष्पन्न जल प्राप्ति है ? अथवा बाह्य कोई पदार्थ ही सत् नही किन्तु क्या ज्ञानस्वरूप जल मे निष्पन्न जलप्राप्ति रूप अर्थक्रिया है ? या आतर विज्ञान भी कोई

यत्र हि साधनज्ञानपूर्वकमर्थक्रियाज्ञानमुत्पद्यते तत्राऽवस्तुशंका नैवाऽस्ति । न ह्यतज्ज्ञानादग्निज्ञाने संजाते प्रवृत्तस्य दाहपाकाद्यर्थक्रियाज्ञानस्य सम्भव इत्यागोपालाङ्गनाप्रसिद्धमेतत् । न च स्वप्नार्थक्रिया-ज्ञानमर्थक्रियाऽभावेऽपि दृष्टमिति जाग्रदर्थक्रियाज्ञानमपि तथाऽऽशंकाविषयः । तस्य तद्विपरीतत्वात् । तथाहि, स्वप्नार्थक्रियाज्ञानम् अप्रवृत्तिपूर्वं व्याकुलमस्थिरं च, तद्विपरीतं तज्जाग्रद्दशाभावि, कुतस्तेन व्यभिचारः !

पारमार्थिक सत् पदार्थ नही किन्तु क्या सवृति स्वरूप आभास-ज्ञान मात्र से अर्थक्रिया यानी जल प्राप्ति निष्पन्न हुई ?

किन्तु इन प्रकार की चिन्ताओ का अर्थक्रिया के अर्थात् जल प्राप्ति आदि के अर्थी को कोई प्रयोजन नही होता । प्रयोजन न होने का कारण यह है कि उसके वाञ्छित फल सिद्ध हो गया है, जल प्राप्ति हो गई है ।

(तथयेमपि कि वस्तु०....) जिस प्रकार जलार्थी को जलज्ञान के अनन्तर जलप्राप्ति स्वरूप अर्थक्रिया से निस्वत है और किसी शका-कुशका से नही, इस प्रकार यहा भी विज्ञान के वाद जो अर्थ-क्रिया का सवेदन होता है इसमे भी क्या वह अर्थक्रिया सचमुच वस्तुसत् यानी वास्तविक होने पर उसका सवेदन हुआ ? या उससे भिन्न अर्थात् अवस्तुभूत होने पर सवेदन हुआ ? ऐसी शका नही होती है ।

(तृड्दाहविच्छेदादि....) देखिये, जलार्थी जल के पास जलपान करके तृप्त हुआ तब उसकी तृपा छिप गई, इप्ट-वाँछित जो था वह सिद्ध हो गया, तव उसको तृषाशान्ति का सवेदन स्वानुभव सिद्ध है । अव क्या वह चिन्ता करेगा कि यह तृषा शान्ति रूप अर्थक्रिया का ज्ञान सद्वस्तु मे हुआ है या असद् वस्तु मे ? नही, इस चिन्ता का कोई फल नही ।

प्र०–जहा शका होती है वहा भाव-अभाव दोनो का ज्ञान होने से उसे निश्चय तो करना पडता है कि क्या वह ज्ञान वस्तु मे हुआ है या अवस्तु मे ?

उ०–(अवस्तुनि ज्ञानद्वया....) अर्थक्रिया यह अगर सही पदार्थ न होती अर्थात् अवस्तु यानी मिथ्या वस्तु ही होती तो उसमे प्रमाण-अप्रमाण दोनो प्रकार का ज्ञान नही हो सकता । जल प्राप्ति व इससे तृपाशान्ति हो गई तव वहा कौन चिन्ता करने वैठता है कि यह ज्ञान सचमुच जल प्राप्ति व तृपा शान्ति मे हुआ या किसी मिथ्या वस्तु मे हुआ ?

'अवस्तुनि ज्ञानद्वयाऽसभवात्' । अर्थात् जो वस्तु आकाशकुसुमवत् मिथ्या है-असत् है–अलीक है उसके विषय मे दो प्रकार का ज्ञान यानी विधि-निषध उभय कोटि का सशयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, जैसे कि यहां आकाशकुसुम है या नही ? अथवा यह आकाशकुसुम है या नही ? इस प्रकार का सदेह नही हो सकता । वैसे ही अर्थक्रिया अगर असत् ही है तो उसके विषय मे यह शका नही हो सकती कि 'वह है या नही ।'

प्र०–भले वैसी शका नही, किन्तु अर्थक्रिया स्वय वस्तुसत् है या असत् ? ऐसी शका तो हो सकती है न ?

उ०–नही, जहा अर्थक्रिया ज्ञान साधनज्ञान पूर्वक ही होता है वहा अवस्तु की शका कदापि नही होती । उदाहरणार्थ-दूर से हमे अग्नि का ज्ञान हुआ 'वह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण' यह शका हो

यदि चार्थक्रियाज्ञानमप्यर्थमन्तरेण जाग्रद्दशायां भवेत्, कतरदन्यज्ञानमर्थाऽव्यभिचारि स्याद् यद्बलेनार्थव्यवस्था क्रियेत ? परतः प्रामाण्यवादिनो बौद्धस्य प्रतिकूलमाचरामीत्यभिप्रायवता तस्यानुकूलमेवाचरितम्। स हि 'निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः, प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्' इत्यभ्युपगच्छत्येव, भवता तु जाग्रद्दशा-स्वप्नदशयोरभेदं प्रतिपादयता तत्साहाय्यमेवाचरितम्, न हि तद्व्यतिरिक्तः

सकती है, किन्तु बाद मे हम पास गए व दाह-पाकादि देख कर-यह दाह-पाकादि विशिष्ट वस्तु अग्नि ही है ऐसा अर्थक्रिया ज्ञान हुआ, वहा अब शका नही होगी कि शायद यह अग्नि है या अनग्नि ? क्योकि यहा दाह-पाकादि का निर्णय उसके साधनभूत अग्निज्ञान पूर्वक हुआ है। अगर साधन ज्ञान पूर्वक अर्थक्रिया ज्ञान होते हुए भी शका हो सकती कि यह अग्नि है या नही ? तब तो फलित यह होगा कि शायद अनग्नि से भी दाह-पाकादि हो सके। किन्तु ऐसा कभी देखा नही कि अनग्नि को अग्नि समझ कर उसमे कोई प्रवृत्त हुआ तो उसको दाह-पाकादि अर्थक्रिया का ज्ञान होता हो ! यह बात एक ग्रामीण अनपढ गोवालन तक सुविदित है कि अनग्नि से कभी दाह-पाकादि होता नही है।

प्र०-(न च स्वप्नार्थक्रिया....) अगर अर्थक्रिया अवस्तुभूत होने पर अर्थक्रिया ज्ञान नही ही होता हो तब स्वप्न मे अर्थक्रिया न होने पर भी क्यो अर्थक्रिया ज्ञान दिखाई पडता है ? वैसे ही जाग्रत् अवस्था मे भी अर्थक्रिया के अभाव मे भी अर्थक्रिया ज्ञान सभवित क्यो नही ?

उ०-(तस्य तद्विपरीतत्वात्....) जाग्रत् अवस्था का अर्थक्रिया ज्ञान स्वप्नावस्था के अर्थक्रिया ज्ञान से विपरीत है। यह इस प्रकार, स्वप्न मे होने वाला अर्थक्रिया ज्ञान (१) प्रवृत्ति पूर्वक नही होता है एव (२) व्याकुल होता है, और (३) अस्थिर होता है, जब कि जाग्रद् दशा का अर्थक्रियाज्ञान इससे विपरीत अर्थात् प्रवृत्ति पूर्वक अव्याकुल व स्थिर होता है। उदाहरणार्थ, स्वप्न मे मोदक देखा, मोदकार्थी बन कर मोदक खाया व तृप्ति हुई, इस सब स्वाप्निक अर्थक्रिया ज्ञान मे (१) सचमुच प्रवृत्ति कहा हुई है ? स्वप्नवाला पुरुष तो वैसे ही निद्रा मे निश्चेष्ट पडा है। मोदक के प्रति सचमुच उसकी जाने की प्रवृत्ति, सचमुच मोदक ग्रहण की एव सचमुच भक्षण की कोई प्रवृति है ही नही। अभी स्वप्न मे तृप्ति तक की अर्थक्रिया का ज्ञान प्रवृत्ति पूर्वक नही हुआ है, (२) यह स्वाप्निक मोदकज्ञान व्याकुलज्ञान है, स्वस्थ चित का ज्ञान नही ? इसलिए तो दो मोदक खाने की शक्तिवाला पुरुष स्वप्न मे कभी २०-२० मोदक खा लेने का देखता है। (३) स्वाप्निक मोदकतृप्ति का अर्थक्रियाज्ञान अस्थिर होता है, जागने के बाद वह तृप्ति गायब हो जाती है और पुरुष भूखा ही ऊठता है। इनसे विपरीत, जाग्रद्दशा का अर्थक्रिया ज्ञान, जैसे कि मोदकतृप्तिज्ञान, प्रवृत्तिपूर्वक होता है, अव्याकुल यानी स्वस्थ चित्त का होता है एव स्थिर होता है, तृप्ति कई समय तक बनी रहती है।

(कुतस्तेन व्यभिचार....) इसलिए स्वप्न मे जब सचमुच तृप्ति का ज्ञान ही नही, सचमुच अर्थक्रियाज्ञान ही नही, तब इसके दृष्टान्त से जाग्रद् दशा के अर्थक्रियाज्ञान मे व्यभिचार कैसे लगा सकते हैं, कि बिना अर्थक्रिया ही अर्थक्रियाज्ञान होता है ?

(यदि चार्थक्रियाज्ञान०.) अजाग्रद् दशा मे अगर अर्थक्रिया के बिना भी अर्थक्रियाज्ञान होता हो (जैसे कि जलपान बिना भी तृषा शान्ति, अग्नि प्रवृति बिना भी दाहपाकादि होता हो) तब ऐसा कौन सा ज्ञान होगा जो अर्थ का व्यभिचारी न हो। सब ज्ञान मे अर्थव्यभिचार की शका हो सकती है तब ऐसा कौनसा अर्थ का अव्यभिचारी प्रमाणात्मक ज्ञान होगा कि जिस के बल पर प्रमेय अर्थ की व्यवस्था कर सकेंगे ?

प्रत्ययोऽस्ति यस्यार्थसंसर्गः । न चावस्थाद्वयतुल्यताप्रतिपादनं त्वया क्रियमाणं प्रकृतोपयोगि । तथाहि-सांव्यावहारिकस्य प्रमाणस्य लक्षणमिदमभिधीयते 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानं' इति । तच्च सांव्यवहारिकं जाग्रद्दशाज्ञानमेव, तत्रैव सर्वव्यवहाराणां लोके परमार्थतः सिद्धत्वात् । स्वाप्नप्रत्ययानां तु निर्विषयतया लोके प्रसिद्धानां प्रमाणतया व्यवहाराभावात् किं स्वतः प्रामाण्यमुत परत इति चिन्तायाः अनवसरत्वात् ।

तच्च जाग्रज्ज्ञाने द्वितीयदर्शनात् किं प्रमाणं किं वाऽप्रमाणम् ? तथा किं स्वतः प्रमाणं किं वा परतः ? इति चिन्तायाः. पूर्वोक्तलक्षणे 'जाग्रत्प्रत्ययत्वे सती'ति विशेषणाभिधाने स्वप्नप्रत्ययेन व्यभिचारचोदनप्रस्तावानभिज्ञतां परस्य सूचयति ।

फलत कोई भी ज्ञान अर्थ का निश्चित अव्यभिचारी न होने से अर्थ की व्यवस्था ही न हो सकने से अर्थमात्र का लोप हो जाएगा। इस प्रकार परत प्रामाण्यवादी बौद्ध के प्रति प्रतिकूल आचरण अर्थात् स्वत प्रामाण्य का समर्थन करने का अभिप्राय रखने वाले आप के द्वारा बौद्ध के अनुकूल ही आचरण कर दिया गया। यह इस प्रकार,—

(स हि निरालम्बना...) आपने अर्थ व्यवस्था लुप्त कर दी तो बौद्ध भी यही मानता है कि बाह्य अर्थ जैसा कुछ है ही नही, क्यो कि यह अनुमान होता है कि 'सर्वे प्रत्यया निरालम्बना', प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत् = अर्थात् जैसे स्वप्न ज्ञान बाह्यार्थ बिना ही निरालवन होता है वैसे ही सभी ज्ञान निरालम्बन, बाह्य किसी विषय के विना ही होते है, क्यो कि वे ज्ञानस्वरूप है।'

(भवता तु जाग्रद्दशा......) आपने स्वप्न दशा मे अर्थव्यभिचारी ज्ञान का दृष्टान्त लेकर जाग्रत् दशा के अर्थक्रिया ज्ञान भी अर्थव्यभिचारी होने की शका ऊठा कर अर्थक्रिया ज्ञान की दृष्टि से जाग्रद् दशा व स्वप्न दशा मे अभेद बता कर बाह्यार्थमात्र के विलोपक बौद्ध को सहायता ही कर दी।

(न हि तद्व्यतिरिक्त प्रत्ययो. .) आप यह नही कह सकते कि 'हम जिस अर्थक्रियाज्ञान मे अप्रामाण्य शका की सभावना करते है वह विलक्षण है 'क्योकि जाग्रद् दशा स्वप्न दशा के अर्थक्रिया ज्ञानो से कोई ऐसा अलग विलक्षण ज्ञान ही नही हो सकता जिसमे अर्थससर्ग हो। एव आपके द्वारा जाग्रद्दशा व स्वप्न दशा इन दोनो अवस्थाओ की अर्थव्यभिचारी ज्ञान से तुल्यता बताने का प्रयत्न प्रस्तुत मे उपयुक्त भी नही है। क्योकि प्रस्तुत है अर्थक्रियाज्ञान के प्रमाण्य मे स्वत या परत सवेद्यता का निर्णय। इसमे दोनो अवस्थाओ की तुल्यता वताने का क्या उपयोग है ? (तथा हि साव्यावहारिकस्य) यह इस प्रकार-साव्यावहारिक प्रमाण का यह लक्षण कहा जाता है कि 'प्रमाणम् अविसवादि ज्ञानम्' अर्थात् जिसमे अर्थ के साथ विसवाद न होता हो ऐसा ज्ञान प्रमाण है, ऐसा साव्यावहारिक ज्ञान जाग्रत् दशा वाला ही ज्ञान होता है। क्योकि लोक मे सब व्यवहार जाग्रतदशा के ज्ञान को लेकर ही वास्तव मे प्रसिद्ध है यानी चलते है, किन्तु स्वाप्निक ज्ञान को लेकर नही, (उदाहरणार्थ-स्वप्न से अपने घर में मोदको का घडा देखकर कोई लोगो को भोजन का निमन्त्रण नही देता है) कारण यह है कि लोग मानते हैं कि स्वप्नअवस्था का ज्ञान सद्विषय शून्य होने के कारण वह प्रमाणभूत है ऐसा व्यवहार नही होता है। और इसीलिए स्वाप्निक ज्ञान मे 'यह स्वत. प्रमाण है या परत. प्रमाण है ?' ऐसी चिन्ता का कोई अवसर ही नही है। तब जाग्रत दशा को अर्थक्रिया ज्ञान मे यह स्वतः प्रमाण नही, परत प्रमाण है, यह स्वाप्निक ज्ञान की तुलना से कैसे कह सकते ?

अपि च, अर्थक्रियाधिगतिलक्षणफलविशेषहेतुर्ज्ञानं प्रमाणमिति लक्षणे तत्फलं नैव प्रमाणलक्षणानुगतमिति कथं तस्यापि प्रामाण्यमवसीयते इति चोद्यानुपपत्तिः। यथाङ्कुरहेतुर्बीजमिति बीजलक्षणे नाङ्कुरस्यापि बीजरूपताप्रसक्तिस्ततो न विदुषामेवं प्रश्नः-कथमंकुरे बीजरूपता निश्चीयते ? इति। यथा चाङ्कुरदर्शनाद् बीजस्य बीजरूपता निश्चीयते, तथात्राप्यर्थक्रियाफलदर्शनात्साधनज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चय। न चार्थक्रियाज्ञानस्याप्यन्यतः प्रामाण्यनिश्चयादनवस्था, अर्थक्रियाज्ञानस्य तद्रूपतया स्वत एव सिद्धत्वात्। तदुक्तं-'स्वरूपस्य स्वतो गतिः.' इति।

(तच्च जाग्रज्ज्ञाने....इति चिन्ताया ....पूर्वोक्तलक्षणे... सूचयति) जब स्वाप्निक ज्ञान प्रमाणभूत ही नही है एव इसमे स्वतः प्रमाण या परत प्रमाण इस चिन्ता का कोई अवसर ही नही, तब जाग्रद्दशा के ज्ञान मे उसके बाद दूसरे अर्थक्रिया दर्शन होने से यह चिन्ता खडी होती है कि तब 'पूर्व ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण ?' 'अगर प्रमाणभूत है तो स्वतः प्रमाण है या परत. प्रमाण' ऐसी चिन्ता होने पर इसका निर्णय करने के लिये हम स्वाप्निक ज्ञान की ओर क्यो देखे ? हम तो पूर्वोक्त लक्षण मे जाग्रद् दशापन्न ज्ञानत्व को विशेषणविधया जोड देंगे। अर्थात् 'जो जाग्रद् दशापन्न अविसवादि ज्ञान है वह प्रमाण हैं' ऐसा लक्षण बनाएंगे, तब इसमे स्वप्न ज्ञान को लेकर व्यभिचार बताना यह परवादी की प्रस्ताव की अनभिज्ञता सूचित करता है। तब साव्यावहारिक जाग्रद् दशापन्न ज्ञान का प्रकरण प्रस्तुत है वहा स्वाप्निक ज्ञान को ले आना अप्रस्तुत ही है।

और भी बात है कि, 'जब अर्थक्रिया के अधिगम स्वरूप फलविशेष मे हेतुभूत ज्ञान प्रमाण है' ऐसा प्रमाण का लक्षण करेंगे तब पहला ज्ञान तो बाद मे होने वाले अर्थक्रिया ज्ञान का हेतु होने से प्रमाण लक्षण से लक्षित हुआ, किन्तु उसका फल अर्थक्रियाज्ञान प्रमाण लक्षण से लक्षित कहाँ हुआ ? वह तो तब हो कि जब वह हेतु बनकर किसी और अर्थक्रियाज्ञानरूप फल को उत्पन्न करे। जब इसमे प्रमाण का लक्षण नही आया तब इसके प्रामाण्य का निर्णय कैसे करेंगे ? यह प्रश्न खडा होगा, किन्तु यह प्रश्न उपपन्न नही-युक्तिसगत नही, क्योकि—

(यथाङ्कुरहेतुर्बीज ..) जिस प्रकार बीज का लक्षण बनाया कि– अंकुर का हेतु है वह बीज है, तो वहा यह कोई आपत्ति नही दी जाती है कि 'अंकुर मे भी बीजरूपता हो,' इसलिए विद्वानो के प्रति ऐसा प्रश्न नही किया जाता है कि बीज मे तो बीजरूपता अकुरजनन से निश्चित हुई किन्तु अकुर मे बीजरूपता का कैसे निर्णय करेंगे ?

(यथा चाङ्कुरदर्शनाद्....) कारण यह है कि, जिस प्रकार अकुर को देखकर उसके हेतुभूत बीज मे बीजरूपता निश्चित होती है, किन्तु अकुर मे कोई बीजरूपता का विचार नही करता है, ठीक इसी प्रकार यहां भी अर्थक्रिया स्वरूप फल को देख कर उसके साधनभूत पूर्व प्रमाण ज्ञान मे प्रमाणरूपता यानी प्रामाण्य निश्चित होता है किन्तु अर्थक्रियाज्ञान मे प्रमाणरूपता का विचार नही होता है।

(न चार्थक्रियाज्ञान०.) अगर कहे 'अर्थक्रियाज्ञान मे प्रामाण्य तो होता ही है तब कोई प्रामाण्य का निश्चय करने को जाय तो अनवस्था होगी', तो यह भी कहना ठीक नही क्योकि अर्थक्रिया ज्ञान प्रमाणज्ञान के फलरूप होने से प्रमाणरूपता उस मे स्वत. सिद्ध है। तात्पर्य, उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, प्रामाण्य सिद्ध करने की आवश्यकता नही, जैसे, अकुर बीज के फलस्वरूप होने से

न च स्वरूपे ज्ञानस्य भ्रान्तयः सम्भवन्ति, स्वरूपाभावे स्वसंवित्तेरप्यभेदेनाऽभावप्रसङ्गात् । व्यतिरिक्तविषयमेव हि प्रमाणमधिकृत्योक्तं-'प्रमाणमविसंवादिज्ञानं, अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्'- इति तथा 'प्रामाण्यं व्यवहारेणार्थक्रियालक्षणेन' इति च । तस्माद्यत्प्रमाणस्यात्मभूतमर्थक्रियालक्षण-पुरुषार्थाभिधानं फलं यदर्थोऽयं प्रेक्षावतां प्रयासः तेन स्वतःसिद्धेन फलान्तरं प्रत्यनङ्गीकृतसाधनान्तरा-त्मतया 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानं' इति प्रमाणलक्षणविरहिणा साधननिर्भासिज्ञानस्यानुल्लङ्घनीयरूपफल-प्रापणशक्तिस्वरूपस्य प्रामाण्याधिगमेऽनवस्थाप्रेरणा क्रियमाणा परस्याऽसंगतैव लक्ष्यते ।

ही स्वत सिद्ध है, वहा प्रश्न नही होता है कि वह कौन से दूसरे अकुर मे हेतु बन कर बीज-रूप बनता है ?

(तदुक्तम्-स्वरूपस्य स्वतो गति....) ऐसा कहा भी है कि 'स्वरूप मे स्वत गति होती हैं, उसका स्वत ज्ञान होता है' उदाहरणार्थ, जल या अग्नि को देखा उसका तो जलत्व अग्नित्व रूप से स्वत ही ज्ञात होता है, उसके सबन्ध मे भ्रान्ति होने की कोई सभावना नही, शक्यता नही ।

इसी प्रकार अर्थक्रियाज्ञान का स्वरूप स्वत ही ज्ञात होता है, उसमे भ्रान्ति का कोई सभव नही । स्वरूप मे भ्रान्ति का अर्थ यह है कि वस्तु मे अपना स्वरूप नही है, और वस्तु मे स्वरूप ही न होने से वस्तु मे स्वरूप जो अभेदेन अर्थात् अभिन्नतया भासमान होता है उसका अभेदेन बोध भी नही हो सकेगा ।

व्यतिरिक्तविषयमेव हि प्रमाण इत्यादि जो बात कही गई वह अपने से भिन्न पदार्थ विषयक प्रमाण को लेकर ही कही गई है नही कि अर्थ शून्य केवल विज्ञानवाद के हिसाब से, क्योकि उसमे प्रमाणज्ञानोत्तर यथार्थता का सवाद मिलने का कोई अवसर ही नही है । जबकि प्रमाण के लक्षण इस प्रकार मिलते है,-

(१) प्रमाणमविसवादिज्ञानम्-जिस ज्ञान के अनन्तर उसके विषय मे विसवाद नही होता है वह ज्ञान प्रमाण है । यहा अ विसवादन अर्थात् विसवाद न होना, यह क्या चीज है ? 'अर्थक्रिया स्थिति अविसवादनम्' अर्थक्रिया यानी ज्ञान के विषय की प्राप्ति की स्थिति यह विसवाद न होना है ।

(२) 'प्रामाण्य व्यवहारेण अर्थक्रियालक्षणेन' यह भी लक्षण यही कहता है कि अर्थक्रिया स्वरूप व्यवहार से प्रामाण्य निश्चित होता है अर्थात् जिस ज्ञान के अनन्तर उसके विषय की प्राप्ति रूप व्यवहार होता है वह प्रमाण है, इत्यादि प्रमाण लक्षणो से सूचित होता है कि-

(तस्माद् यत् प्रमाणस्यात्मभूतम् ...) इस लिए जो जो प्रमाण का अर्थक्रिया यानी इष्ट प्राप्ति स्वरूप पुरुषार्थ नाम का फल है जो कि स्वात्मभूत है और जिसके लिए प्रेक्षावान् पुरुषो का प्रयास होता है वह फल स्वत सिद्ध निश्चय रूप होता है । ऐसा स्वत.सिद्ध अर्थक्रियास्वरूप फल आगे किसी और फल के प्रति उक्त युक्ति से कारणान्तर रूप (कारणरूप) होता नही है फिर भी वह स्वत सिद्ध प्रमाण है यह सुनिश्चित है । इसलिए अब जो परवादी का कहना है कि 'अर्थक्रियाज्ञान रूप फल के प्रमाण का जो अविसवादी ज्ञान वह प्रमाण है' इस लक्षण से रहित हुआ और उसके द्वारा साधन दर्शक प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होना मानेगे तो अनवस्था आएगी, क्योकि वह अर्थक्रियाज्ञान क्यो पूर्व ज्ञान का प्रामाण्यदर्शक बनता है, इसीलिए कि अगर पूर्व ज्ञान मे अनुत्क्रान्त यानी अनुल्लघनीय स्वरूप का फल प्राप्त कराने की शक्ति न होती तो इससे सवादरूप उत्तर ज्ञानफल स्वरूप पैदा ही नही हो

अत एवेदमपि निरस्तं ॐयदुक्तं-'अनिश्चितप्रामाण्यादपि साधनज्ञानात् प्रवृत्तावर्थक्रियाज्ञानोत्पत्तावप्यवाप्तफला अपि प्रेक्षावन्तो यथा साधनज्ञानप्रामाण्यविचारणायां मनः प्रणिदधति,-अन्यथा तत्समानरूपापरसाधनज्ञानप्रामाण्यनिश्चयपूर्विकाऽन्यदा प्रवृत्तिर्न स्यात्,-तथाऽर्थक्रियाज्ञानस्यापि प्रामाण्यविचारणायां प्रेक्षावत्तयैव ते आद्रियन्ते, अन्यथाऽसिद्धप्रामाण्यादर्थक्रियाज्ञानात्पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चय एव न स्यादि'ति। 'अवाप्तफलत्वमनर्थकमिति'-तदप्ययुक्तं, अर्थक्रियाज्ञानस्य स्वत एव प्रामाण्यं, साधनज्ञानस्य तु तज्जनकत्वेन प्रामाण्यमिति प्रतिपादितत्वात् [पृ. ७१ पं. ५]।

यदप्यधायि-'यदि संवादात्पूर्वस्य प्रामाण्यं निश्चीयते तदा-श्रोत्रधीरप्रमाण स्यादितराभिरसंगतेः' [श्लो० वा० २-७७] इति-तदप्ययुक्तम्-गीतादिविषयायाः श्रोत्रबुद्धेरर्थक्रियानुभवरूपत्वेन स्वत एव प्रामाण्यसिद्धेः। तथा चित्रगतरूपबुद्धेरपि स्वत एव प्रामाण्यसिद्धिः, अर्थक्रियानुभवरूपत्वात्। गन्धस्पर्शरसबुद्धीनां त्वर्थक्रियानुभवरूपत्वं सुप्रसिद्धमेव।

सकता। पूर्व के साधन निर्भास ज्ञान मे ऐसी फल प्रापण शक्ति है इसीलिए तो फल दर्शन से पूर्वज्ञान की यह शक्ति ज्ञात होती है, फलतः प्रामाण्य ज्ञात होता है। जब ऐसा स्वीकार करेंगे तब फलरूप अर्थक्रिया ज्ञान में भी ऐसी फलान्तर प्रापण शक्ति हो तभी वह प्रमाणभूत हो सकता है, इसके लिए इसका फल देखना होगा जिससे इसका फलप्रापणशक्तिरूप प्रामाण्य निश्चित हो, इस प्रकार परवादी के द्वारा प्रेरित अनवस्था असगत है, क्योकि सवादरूप फल-अर्थक्रिया का ज्ञान स्वत.सिद्ध प्रमाण है।

इसीलिये, पहले जो कहा था कि-"जिस प्रकार प्रेक्षावान पुरुष प्रवर्तक ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित न रहने पर भी उस ज्ञान से अगर प्रवृत्ति करते है और उन्हे अगर कार्य-क्रिया ज्ञान उत्पन्न होता है तब तो वे फलप्राप्तिवाले हो गए, फिर भी प्रेक्षावान होने के कारण जिस प्रकार साधनभूत प्रवर्तकज्ञान के प्रामाण्य की विचारणा मे मन लगाते है कि लाओ देखने दो कि मेरा साधन-ज्ञान सच्चा ही था या नही ?-

(अन्यथा तत्समानरूपापरसाधन..) अगर ऐसी प्रामाण्दखोज न करे और समझता रहे कि पहले 'साधनज्ञान सच्चा है या जूठा' यह तलाश किये विना ही प्रवृत्ति की थी और वह सफल हुई थी, तब तो उसके समान अपर साधनज्ञान का भी प्रामाप्य निश्चित किये विना ही प्रवृत्ति कर लेता, किन्तु दरअसल साधनज्ञान के प्रामाण्य निश्चिय पूर्वक ही प्रवृत्ति होती है, वह न बनता।-

तो जिस प्रकार साधन ज्ञान के प्रामाण्य का विचार प्रेक्षावान पुरुष करते है उसी प्रकार अर्थ-क्रिया ज्ञान के प्रामाण्य का विचार करने मे भी प्रेक्षावत्ता के कारण प्रयत्न करते हैं, अन्यथा जिसका प्रामाण्य निश्चित नही है वैसे अर्थक्रिया ज्ञान से पूर्वज्ञान का प्रामाण्य कैसे निश्चित हो सके ? निश्चित न कर सकने से अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य की खोज करना जरूरी है"-वह सब निरस्त हो जाता है। तथा पहले जो कहा कि-'अवाप्तफलत्व' यानी 'अर्थक्रिया ज्ञान मे तो फल प्राप्त हो जाने से' इत्यादि यह कहना निरर्थक है, जैसे साधन ज्ञान के बाद मे प्रामाण्य विचारणा आवश्यक है वैसे अर्थक्रिया ज्ञान मे भी वह आवश्यक है।' इत्यादि, (तदप्ययुक्तम्, अर्थक्रिया .) वह भी अयुक्त है, क्योकि अर्थक्रिया ज्ञान स्वत ही प्रमाण हैं. उसका प्रामाण्य स्वतः निश्चित रहता है, जबकि साधन ज्ञान का प्रामाण्य सवादी अर्थक्रिया ज्ञान का उत्पादक होने से प्रमाणभूत है-यह पहले कहा जा चुका है।

ॐ अस्तरथा इद नोक्त किंतु पृ० २७ मध्येऽर्यत उक्तमित्यवधेयम्।

यदप्युक्तम्–[पृ० २८–६] 'किमेकविषयं, भिन्नविषयं वा संवादज्ञानं पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चायकमि'त्यादि, तत्रैकसंघातवर्त्तिनो विषयद्वयस्य रूपस्पर्शादिलक्षणस्यैकसामग्र्यधीनतया परस्परमव्यभिचारात्, स्पर्शादिज्ञानं जाग्रदवस्थायामभिवांछितस्पर्शादिव्यतिरेकेणाऽसम्भवद्भिन्नविषयमपि स्वविषयाभावेऽप्याशंक्यमान-रूपज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चाययतीति (न ?) तत्संगतमेव (म् ?)। अत एव रूपाद्यर्थाविनाभावित्वाद् ध्वनीनां तद्विशेषशंकायां कस्याञ्चिद्वीणादिरूपप्रतिपत्तौ तद्विशेषशंकाव्यावृत्तेस्तद्रूपदर्शनसंवादादपि प्रामाण्यनिश्चयः सिद्धो भवति।

पहले जो कहा गया कि–यदि सवाद से पूर्व ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित किया जाता है, तब तो श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाली बुद्धि अप्रमाण हो जाएगी क्योकि बाद मे होने वाली अन्य श्रोत्र बुद्धियो के साथ इसका सबध ही नही हो पाता। तो वे इसका प्रामाण्य कैसे निश्चित कर सके ? रक्तादि रूप अवस्थित रहता है तो प्रथम बुद्धि के बाद होने वाली बुद्धि खोज कर सकती है कि यह वही रूप है या अन्य। किन्तु शब्द तो सुनते ही नष्ट हो गया, इसकी बुद्धि की यथार्थता कैसे निश्चित कर सकेगे ? यह न हो सकने से श्रोत्रबुद्धि प्रमाण रूप से नही ग्रहण कर सकते है।—

(तदप्ययुक्तम् गीतादि....) यह कथन भी युक्त नही, क्योकि गीत आदि शब्दो की श्रोत्रबुद्धि स्वय अर्थक्रिया के अनुभव रूप होने से उसका प्रामाण्य स्वत· सिद्ध है। रास्ते मे देखा, 'वह रजत है' किन्तु वहा तो जाकर उसे हाथ मे ऊठाकर देखना पडता है कि वह सचमुच रजत है या नही ? जब कि गीत–शब्द सुनने के बाद देखना नही पडता कि वे सचमुच गीत–शब्द है या नही ? वे तो सुनते ही उसी रूप मे होने का निश्चित हो जाता है। इस लिए श्रोत्रबुद्धि स्वत प्रमाण है।

(तथा चित्रगतबुद्धेरपि .)इसी प्रकार किसी चित्र मे आलेखित रूप की बुद्धि का भी प्रामाण्य स्वत सिद्ध है। क्योकि वह बुद्धि भी स्वय अर्थक्रिया के अनुभवरूप होती है। गन्ध, स्पर्श व रस की बुद्धिया स्वय अर्थक्रियानुभव रूप है यह सुप्रसिद्ध है। जैसे कि नासिका के साथ गन्ध का सम्बन्ध होते ही यह सुगन्ध है या दुर्गन्ध इसका पता लग जाता है।

यह भी जो पहले कहा गया कि–पूर्व ज्ञान का सवादकज्ञान क्या एक ही विषय का हो कर पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक है या भिन्न विषय का ? इत्यादि, वहा भी यह समझने योग्य है कि एक सघात अर्थात् अवयवी मे रहे हुए रूप स्पर्श स्वरूप दो विषय एक सामग्री के अधीन होने से परस्पर मे अव्यभिचरित है, जैसे कि मुलायम रक्ततन्तु से बने हुए वस्त्र मे रक्त रूप व मुलायम स्पर्श एक दूसरे को व्याप्त हो कर ही रहते है, इसलिये जाग्रत अवस्था मे अभिवाछित यानी अनुभूयमान स्पर्श–रूपादि के अभाव मे उसका सभव ही नही है, अत वह स्पर्शज्ञान यद्यपि रूपविषयक नही किन्तु रूप भिन्न स्पर्श विषयक है फिर भी यानी रूपविषयता न होने पर भी जिसमे प्रामाण्य आशकित है ऐसे रूपज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय [अविनाभाव के कारण] करा देता है। अत. भिन्नविषयक ज्ञान से भी प्रामाण्य निश्चय होने की बात सर्वथा सगत ही है।

(अत एव रूपाद्यविनाभाविना ध्वनीना .) प्रामाण्य एकान्तेन एकविषयक सवादक ज्ञान से ही निश्चित हो ऐसा है, नही किन्तु कही भिन्न विषयक सवाद से भी प्रामाण्य का निश्चय करना पड़ता है। इसीलिए रूपादि के साथ ही सबध रखने वाले ध्वनियो मे अलबत्ता ध्वनि सुनकर यह ध्वनि है ऐसा प्रमाणभूत ज्ञान हो जाता है तो वहा ध्वनिज्ञान का स्वत प्रामाण्य हुआ, तथापि वहाँ 'कौनसे वाद्य-

यच्चोक्तं-[पृ. ३०-२] 'किं संवादज्ञानं साधनज्ञानविषयं तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति उत भिन्नविषयं'-इत्यादि, तदप्यविदितपराभिप्रायस्याभिधानम्, न हि संवादज्ञानं तद्ग्राहकत्वेन तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति किंतु तत्कार्यविशेषत्वेन, यथा धूमोऽग्निमिति पराभ्युपगमः।

यच्च संवादज्ञानात्साधनज्ञानप्रामाण्यनिश्चये चक्रकदूषणमभ्यधायि, [पृ ३२-१]-तदप्यसंगतम्। यदि हि प्रथममेव संवादज्ञानात् साधनज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तेत तदा स्यादेतद् दूषणम्, यदा तु वह्निरूपदर्शने सत्येकदा शीतपीडितोऽन्यार्थं तद्देशमुपसर्पंस्तत्स्पर्शमनुभवति, कृपालुना वा केनचित्तद्देशं वह्नेरानयने, तदाऽसौ वह्निरूपदर्शन-स्पर्शनज्ञानयोः सम्बन्धमवगच्छति-एवंस्वरूपो भावः एवम्भूत-प्रयोजननिर्वर्त्तक इति,-सोऽवगतसम्बन्धोऽन्यदाऽनभ्यासदशायामनुमानात् ममाऽयं रूपप्रतिभासोऽभिमतार्थक्रियासाधनः, एवंरूपप्रतिभासत्वात्, पूर्वोत्पन्नैवंरूपप्रतिभासवत्-इत्यस्मात्साधननिर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तते इति कुतश्चक्रकचोद्यावतारः ?!

विशेष की ध्वनि है-वीणा की या मृदग की ?' ऐसी शका पडने पर वहा जाकर वाद्य को देखना पडता है और देखकर 'यह वीणा हैं' ऐसा उसके रूप-रग विशेष से निर्णय करना पडता है, यह निर्णय होने पर शका निवृत्त हो जाने से पूर्व ध्वनि ज्ञान वीणासवधी होने के प्रामाण्य का निश्चय होता है, यहाँ सवादक वीणा का रूपदर्शन हुआ। इसलिए कह सकते हैं कि कभी भिन्न विषयक सवाद से भी प्रामाण्य निर्णय सिद्ध होता है।

तथा, यह जो कहा गया कि "क्या सवादक ज्ञान जो साधनज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक होता है वह क्या साधन ज्ञान के ही विषय को लेकर प्रवृत्त होता है या इससे भिन्न विषय को लेकर" इत्यादि-यह कथन भी सामने वालो का अभिप्राय विना समझे ही किया गया है, क्योकि सामने वाले का अभिप्राय यह नही कि सवादक ज्ञान पूर्व ज्ञान के विषय का ग्राहक है इसलिए उसका प्रामाण्य निश्चित करता है। ऐसा हो तब तो प्रश्न हो सकता है कि सवादक ज्ञान पूर्वज्ञान के विषय को विषय करने वाला होता है ? या इससे भिन्न विषय का होता हुआ उसके प्रामाण्य का निश्चायक है ?-किन्तु यह बात नही है। पर का अभिप्राय यह है कि सवादकज्ञान पूर्वज्ञान का कार्यविशेष होने से उसका प्रामाण्य निश्चित कराता है। जैसे अग्नि के बाद मे उत्पन्न होने वाला धूम अग्नि का कार्यविशेष होने से वह अग्नि का निर्णय कराता है।

तथा, जो संवादज्ञान से साधन ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय करने मे चक्रक दूषण दिया गया था वह भी असङ्गत है। क्योकि पहले से ही यदि सवाद ज्ञान से साधन ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करके ही मनुष्य प्रवृत्ति करता हो तब तो यह दूषण लगता। क्योकि पहले सवाद ज्ञान, बाद में प्रामाण्य ज्ञान, बाद मे प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से वस्तु का सवाद ज्ञान.. इस प्रकार चक्रक लगता। किन्तु ऐसी स्थिति नही है। उदाहरणार्थ, कोई शीत से पीडित नर, जिसने पहले अग्निरूप को देखा है वह अग्नि से भिन्न किसी अन्य प्रयोजन से जगल मे गया, वहाँ आग का दर्शन होता है, एवं निकट जाने पर आग की गरमी का स्पर्शानुभव भी होता है अथवा किसी कृपालु सज्जन के द्वारा उसी देश मे आग लाने पर अग्नि के रूपदर्शन के साथ गरमी का स्पार्शन ज्ञान होता है, तब इन दोनो के बीच के सबध का ज्ञान होता है कि इस प्रकार का रूप वाला पदार्थ इस प्रकार के शीतापनयनादि प्रयोजन का साधक है।

'अभ्यासदशायामपि साधनज्ञानस्यानुमानात् प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तते' इत्येके । न च तद्दशाया-मन्वयव्यतिरेकव्यापारस्याऽसंवेदनान्नानुमानव्यापार इत्यभिधातुं शक्यम्, अनुपलक्ष्यमाणस्यापि तद्व्यापारस्याऽभ्युपगमनीयत्वात्, अकस्माद् धूमदर्शनात् परोक्षाग्निप्रतिपत्ताविव, अन्यथा गृहीतविस्मृतप्रतिबन्धस्यापि तद्दर्शनादकस्मात् तत्प्रतिपत्तिः स्यात् । न चाध्यक्षैव साधनज्ञानस्य फलसाधनशक्तिरिति कथमध्यक्षेऽनुमानप्रवृत्तिः ? इति चोद्यम्, दृश्यमानप्रदेशपरोक्षाग्निसंगतेरिव तज्जननशक्तेरप्रत्यक्षत्वेन अनुमानप्रवृत्तिमन्तरेण निश्चेतुमशक्यत्वात् । तदुक्तम्—

तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः । स्मरणादभिलाषेण व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥ [ ] इति ।

(सोऽवगत सम्बन्धोऽन्यदा. .) अब ऐसा सम्बन्ध जानने वाला पुरुष जहा तक अभ्यास नही हुआ वहा तक कही गया व ऐसे रूपवाला पदार्थ देखा तो उसको अनुमान होता है कि-'यह दिखाई देता पदार्थ मेरी इष्ट अर्थक्रिया का साधन है, क्योकि यह उसी प्रकार दृश्यमान रूप वाला पदार्थ है जैसे पूर्वोत्पन्न इस प्रकार रूपवाला पदार्थ इष्ट अर्थक्रिया का साधन था, वैसा यह भी साधन होगा।'- इस प्रकार के अनुमान से प्रथम जो साधननिर्भासी प्रवर्तक ज्ञान हुआ था उसके अर्थक्रिया कारित्व का निर्णय होने से उसके प्रामाण्य का निर्णय होता है व निर्णय कर प्रवृत्ति करता है, तब बताईये यहा चक्रक दोष को कहाँ अवकाश है ?

[अभ्यास दशा में प्रामाण्यानुमान के बाद प्रवृत्ति-एक मत]

जैसे अनभ्यासदशा मे चक्रक का अवतार नही है, उसी प्रकार अभ्यासदशा मे भी वह नही है। यद्यपि यहाँ दो वर्ग का अलग अलग मन्तव्य है फिर भी दोनो चक्रक दोष को नही मानते है।

प्रथमवर्ग का कहना है कि अभ्यासदशा मे भी साधनज्ञान का प्रामाण्य अनुमान से निश्चित कर के प्रवृत्ति होती है इस लिये यहा चक्रक अवसरप्राप्त नही है। प्रवृत्ति के आधार पर प्रामाण्य का निश्चय करना होता तब चक्रक की सभावना की जा सकती, किन्तु ऐसा नही है। यहाँ कोई भी यह नही कह सकता कि-'अन्वय-व्यतिरेक व्यापार यानी व्याप्ति का सवेदन न होने से अनुमान का व्यापार यहाँ नही मान सकते'-क्योकि व्याप्ति उपलक्षित न होने पर भी जैसे अकस्मात् धूमदर्शन के बाद परोक्ष अग्नि का अनुमान जहा हो जाता है वहा अन्वय-व्यतिरेक का अनुसधान मान लिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी वह मान लेना होगा। अगर व्याप्ति आदि के अनुसधान बिना भी अनुमान माना जाय तब तो जिस को व्याप्ति का अत्यत विस्मरण हो गया है उस को भी धूमादि को देख कर अग्नि आदि का ज्ञान हो जायगा। यह भी नही कह सकते कि-'साधन ज्ञान की फलजननशक्ति प्रत्यक्ष ही है अर्थात् उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो जायगा फिर अनुमानव्यापार वहा मानने की क्या जरूर ?'-क्योकि जैसे दृश्यमान पर्वतादि मे अग्निसबध परोक्ष होता है, प्रत्यक्ष-अग्राह्य है, इसलिये वहा अनुमान व्यापार के बिना उसका निर्णय नही हो सकता, उसी प्रकार वह फलजनन की शक्ति भी परोक्ष होने से उसका निर्णय अनुमानव्यापार के बिना नही हो सकता, निर्णय करने के लिये अनुमान का व्यापार आवश्यक ही है।

कहा भी है-"अर्थसवेदन के प्रभाव से [अन्वय व्यतिरेक का] स्मरण होता है और उससे उसकी दृष्टि अर्थात् प्रामाण्य का अनुमान होता है और तभी इच्छा होने पर दृष्ट-अनुभूत पदार्थो का व्यवहार होता है।"

अपरे तु मन्यन्ते 'अभ्यासावस्थायामनुमानमन्तरेणापि प्रवृत्तिः सम्भवति'। अथ अनुमाने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा, तदभावे न दृष्टा इत्यनुमानकार्या सा, नन्वेवं सत्यभ्यासदशायां विकल्पस्वरूपानुमानव्यतिरेकेणापि प्रत्यक्षात् प्रवृत्तिर्दृश्यते इति तदा तत्कार्या सा कस्मान्न भवति? तथाहि-प्रतिपादोद्धा-(?पदोद्गा)रं न विकल्परूपानुमानव्यापारः संवेद्यते अथ च प्रतिभासमाने वस्तुनि प्रवृत्तिः सम्पद्यते इति।

अथादावनुमानाद् प्रवृत्तिर्दृष्टेति तदन्तरेण सा पश्चात् कथं भवति? नन्वेवमादौ पर्यालोचनाद् व्यवहारो दृष्टः पश्चात् पर्यालोचनमन्तरेण कथं पुरःस्थितवस्तुदर्शनमात्राद् भवति इति वाच्यम्। यदि पुनरनुमानव्यतिरेकेण सर्वदा प्रवृत्तिर्न भवतीति प्रवर्त्तकमनुमानमेवेत्यभ्युपगमः, तथा सति प्रत्यक्षेण लिंगग्रहणाभावात् तत्राप्यनुमानमेव तन्निश्चयव्यवहारकारणम्, तदप्यपरलिंगनिश्चयव्यतिरेकेण नोदयमासादयतीत्यनवस्थाप्रसंगतोऽनुमानस्यैवाप्रवृत्तेर्न क्वचित् प्रवृत्तिलक्षणो व्यवहार इत्यभ्यासावस्थायां प्रत्यक्षं स्वत एव व्यवहारकृद् अभ्युपेयम्।

यहा कोई भी एक दूसरे पर अवलम्बित न होने से चक्रक दोष को अवकाश नही है।

[अभ्यासदशा में अनुमान विना ही प्रवृत्ति-दूसरा मत]

दूसरे वर्ग का मन्तव्य यह है कि अभ्यस्त दशा मे अनुमान व्यापार के विना भी वस्तु प्रत्यक्ष होने पर उसमे प्रवृत्ति हो सकती है। यह शका नही करनी चाहिये कि 'अनुमान होने पर ही प्रवृत्ति देखी जाती है, व अनुमान के अभाव मे वह नही होती, इसलिये प्रवृत्ति अनुमान का ही कार्य है अर्थात् प्रवृत्ति अनुमान के बाद ही होगी'-क्योकि अभ्यासदशा मे विकल्पात्मक अनुमान न होने पर भी प्रत्यक्ष से प्रवृत्ति होती है यह जब देखा जाता है तो फिर यहा भी पूर्वपक्षी के मत मे प्रवृत्ति को अनुमानकार्य क्यो नही माना जाता? । यह तो स्पष्ट है कि एक एक शब्द के उच्चारण होने पर बार बार विकल्प अर्थात् अनुमान के व्यापार का कोई संवेदन नही होता, फिर भी उस शब्दोच्चारण से सुनने वाले को जिस जिस अर्थ का प्रतिभास होता है उस अर्थ मे उसकी प्रवृत्ति हो जाती है।

[प्रत्यक्ष से अनुमाननिरपेक्ष प्रवृत्तिव्यवहार]

यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'प्रारम्भ मे तो प्रवृत्ति अनुमान से ही देखी जाती है तो फिर बाद मे विना अनुमान प्रवृत्ति कैसे मानी जाय?'-तो इसके उत्तर मे यह पूछना होगा कि प्रारभ मे सब लोग खूब सोच-विचार के प्रवृत्ति करते है और बाद मे अभ्यासवश पुरोवर्त्ती वस्तु के दर्शनमात्र से प्रवृत्ति कर लेते है-यह कैसे? अगर ऐसा ही माना जाय कि 'अनुमान विना प्रवृत्ति होती ही नही है इसलिये अनुमान ही प्रवर्त्तक है' तब तो कही भी प्रवृत्ति शक्य नही रहेगी, क्योकि-प्रत्यक्ष के प्रामाण्य के अनुमान मे उपयुक्त लिंग का ग्रहण प्रत्यक्ष से अशक्य है इस लिये वहा लिंग का निश्चय और व्यवहार, उभय का उपाय अनुमान ही हो सकेगा। अब वह अनुमान भी उसके लिंगनिर्णय के विना अशक्य होगा, इस लिए उस अनुमान के लिंगनिर्णय के लिये अन्य अनुमान करना होगा, इस प्रकार अनवस्था चलती रहेगी तो अनुमान की प्रवृत्ति ही दुर्घट हो जायेगी तो प्रवृत्तिरूप व्यवहार की तो बात ही कहा? फलत यही मानना चाहिये कि बार बार अभ्यास हो जाने पर अनुमान से प्रामाण्य-निर्णय विना भी स्वतः ही प्रत्यक्ष से प्रवृत्तिरूप व्यवहार सपन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष से प्रवृत्ति होने मे कोई चक्रक दोष नही लगता।

अनुमानं तु तादात्म्य-तदुत्पत्तिबद्धलिंगनिश्चयबलेन स्वसाध्यादुपजायमानत्वादेव तत्प्रापणशक्ति-युक्तं संवादप्रत्ययोदयात् प्रागेव प्रमाणाभासविवेकेन निश्चीयतेऽतः स्वत एव। तथाहि-यद् यतः उप-जायते तद् तत्प्रापणशक्तियुक्तं, तद्यथा प्रत्यक्षं स्वार्थस्य, अनुमेयादुत्पन्नं चेदं प्रतिबद्धलिंगदर्शनद्वारा-यातं लिङ्गिज्ञानमिति तत्प्रापणशक्तियुक्तं निश्चीयत इति। मूढं प्रति विषयदर्शनेन विषयोऽव्यवहारोऽत्र साध्यते; संकेतविषयख्यापनेन समये प्रवर्त्तनात्। तथाहि-प्रत्यक्षेऽप्यर्थाव्यभिचारनिबन्धन एवानेन प्रामाण्यव्यवहारः प्रतिपन्नः, अव्यभिचारश्च नान्यस्तदुत्पत्तेः, सैव च ज्ञानस्य प्रापणशक्तिरुच्यते। तदुक्तम्-अर्थस्याऽसम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता। प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्॥ [ ] इति।

तस्मात् मूढं प्रति परतः प्रामाण्यव्यवहारः साध्यते। अनुमाने प्रामाण्यस्य प्रतिबद्धलिंगनिश्चया-नंतरं स्वसाध्याऽव्यभिचारलक्षणस्य तत उत्पन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात् न परतः प्रामाण्यनिश्चये चक्रक-चोद्यस्यावतारः। प्रत्यक्षे तु संवादात् प्रागर्थादुत्पत्तिः अशक्यनिश्चया इति संवादापेक्षैवानभ्यासदशायां तस्य प्रामाण्याध्यवसितिर्युक्ता।

[अनुमान से स्वतः प्रवृत्तिव्यवहार की सिद्धि]

अनुमान से प्रवृत्ति होने मे भी चक्रक दोष नही लगता। वह इस प्रकार-अनुमान भी प्रत्यक्षवत् स्वत. ही व्यवहार प्रयोजक है, क्योकि वह तादात्म्य और तदुत्पत्ति दो सबध से व्याप्ति वाले लिंग के निर्णय के बल पर अपने साध्य से उत्पन्न होता है, इसलिये वह साध्य-वह्नि आदि को प्राप्त कराने की शक्ति यानी उसके व्यवहार प्रयोजक सामर्थ्य से विशिष्ट ही उत्पन्न होता है एव प्रमाणाभास रूप ज्ञान से विभिन्नरूप मे स्वत. निश्चित रहता है इस लिये वहाँ सवादीज्ञान के उदय की प्रतीक्षा नही करनी पडती, सवादीज्ञान के उदय से पूर्व ही वह प्रमाणरूप से निश्चित रहता है इसलिये अनुमान से स्वत ही प्रवृत्ति हो जाती है। यह नियम है कि जो जिस वस्तु से उत्पन्न होता है वह उस वस्तु की प्रापणशक्ति से युक्त होता है, जैसे प्रत्यक्ष जिस वस्तु से उत्पन्न होता है उस वस्तु की प्रापणशक्ति वाला ही वह होता है। उसी प्रकार व्याप्ति वाले लिंग के दर्शन द्वारा अपने साध्य से साध्यज्ञान अर्थात् अनुमान उत्पन्न होता है इस लिये वह भी साध्य को प्राप्त कराने की शक्तिवाला निश्चित होता है। जो इस विषय में अनभिज्ञ है उसको प्रथम विषय ज्ञात कराया जाता है और फिर तद्विषयक व्यवहार दिखाया जाता है। चूँकि योग्य समय पर विषय मे प्रवृत्ति सकेत के विषय को व्यक्त करने के बाद ही हो सकती है। जैसे कि प्रत्यक्ष मे भी प्रामाण्य का व्यवहार अर्थ के अव्यभिचार पर ही अवलम्बित है, और यहाँ अव्यभिचार तदुत्पत्ति से भिन्न नही है और इसी को ज्ञान की प्रापणशक्ति कहते है। कहा भी है-

"विषय का असम्भव होने पर प्रत्यक्ष होने का सम्भव ही नही है इस लिये जैसे प्रत्यक्ष मे प्रमाणता होती है उसी रीति से व्याप्यत्वस्वभाव भी अनुमेय अर्थ के विना असम्भवित होने से अनुमान का प्रामाण्य अक्षुण्ण होता है-इस प्रकार अनुमान को प्रत्यक्षवत् व्यवहार हेतु मानने मे अर्थाविनाभावित्व और उसका प्रामाण्य दोनो समान है।"

उपरोक्त रीति से, अनभिज्ञ के प्रति परत प्रामाण्य व्यवहार सिद्ध किया जाता है। अनुमान मे साध्याविनाभावित्व असिद्ध भी नही है क्योकि व्याप्तिविशिष्ट लिग निश्चय के बाद साध्य से ही अनुमानोत्पत्ति होने से स्वसाध्याव्यभिचार रूप प्रामाण्य प्रत्यक्ष से सिद्ध है-इस लिये परत. प्रामाण्य

अत उत्पत्तौ, स्वकार्ये, ज्ञप्तौ च सापेक्षत्वस्य प्रतिपादितत्वाद् 'ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः' इति प्रयोगे हेतोरसिद्धिः। यतश्च संदेहविपर्ययविषयप्रत्ययप्रामाण्यस्य परतो निश्चयो व्यवस्थितोऽतः 'ये संदेह-विपर्ययाध्यासिततनवः' इति प्रयोगे न व्याप्त्यसिद्धिः।

यदप्युक्तम्-'सर्वप्राणभृतां प्रामाण्यं प्रति संदेहविपर्ययाभावादसिद्धो हेतुः' [पृ. ३२-२] इत्यादि-तदप्यसत्, यतः प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रमाणाऽप्रमाणचिन्तायामधिक्रियन्ते नेतरे।

ते च कासांचिद् ज्ञानव्यक्तिनां विसंवाददर्शनाज्जाताशंका न ज्ञानमात्रात् 'एवमेवायमर्थः' इति निश्चिन्वन्ति, नापि तज्ज्ञानस्य प्रामाण्यमध्यवस्यन्ति, अन्यथैषां प्रेक्षावत्तैव हीयत इति संदेहविषये कथं न संदेहः ? तथा कामलादिदोषप्रभवे ज्ञाने विपर्ययरूपताऽप्यस्तीति तद्बलाद् विपर्ययकल्पनाऽन्यज्ञानेऽपि संगतैवेति प्रकृते प्रयोगे नासिद्धो हेतुरिति भवत्यतो हेतोः परतःप्रामाण्यसिद्धिः।

के निश्चय मे कही भी चक्रकदूषण का अवतार नही है। किन्तु प्रत्यक्ष मे विलक्षणता यह है कि-'वह अर्थ से उत्पन्न हुआ है' यह निश्चय सवाद के पूर्व करना शक्य ही नही है इस लिये अनभ्यास दशा मे प्रामाण्य का अधिगम सवाद सापेक्ष ही मानना युक्तिसगत है।

[पूर्वपक्षव्याप्ति में हेतु की असिद्धि]

उपरोक्त प्रतिपादन का अब यह निष्कर्ष फलित होता है कि प्रामाण्य अपनी उत्पत्ति, अपना कार्य और अपना निश्चय, तीनो मे परसापेक्ष है, अत स्वतः प्रामाण्यवादी ने यह जो अनुमान प्रयोग किया था कि 'ये यद्भाव प्रत्यनपेक्षा. ते तत्स्वरूपनियता.'. .इत्यादि, उसमे अनपेक्षत्व हेतु असिद्ध है। और हमने यह भी सिद्ध किया कि-सदेह और विपर्यय से ग्रस्त जो ज्ञान होता है उसके प्रामाण्य का निश्चय स्वत नही किन्तु परत.=पर सापेक्ष होता है-इसलिये परत.प्रामाण्य पक्ष की सिद्धि मे जो अनुमान प्रयोग हमने किया था कि-'ये सदेहविपर्ययाध्यासिततनवः ते परतो निश्चितयथावस्थितस्वरूपा.'-इसमे व्याप्ति असिद्ध नही है।

(यदप्युक्तम्,-सर्वप्राणभृता..) यह जो कहा गया कि-'सर्व जीवो को प्रामाण्य निश्चित करने मे सदेह-विपर्यास नही होता है अत हेतु असिद्ध है'....इत्यादि,-यह भी कहना मिथ्या है, क्योकि जो प्रेक्षापूर्वकारी अर्थात् सोच-समझकर कार्य करने वाले होते है वे ही 'अपना ज्ञान प्रमाणभूत है या अप्रमाण' उसकी चिन्ता करने के अधिकारी है, और उनको यह चिन्ता सहज होती ही है, दूसरे अप्रेक्षापूर्वकारी जीवो को ऐसी चिन्ता करने का अधिकार ही नही। तो सब जीवो के लिए ऐसा नियम कैसे बनाया जाय कि उनको अपने ज्ञान को प्रामाण्य के विषय मे चिन्ता ही नही होती है कि यह ज्ञान प्रमाण है या सदेह या विपर्यास यानी भ्रमरूप है ?

[परतः प्रामाण्यसाधक अनुमान में हेतु असिद्ध नहीं है]

वे प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष कुछ कुछ ज्ञान व्यक्तिओ का वाद मे विसवाद देखकर, नया कोई ज्ञान होने पर शकाशील हो जाते है कि 'यह ज्ञान सवादी होगा या विसवादी' अथवा 'प्रमाण होगा या अप्रमाण ?' इसलिये विचारक लोक प्रत्यक्षादिज्ञान होते ही 'यह पदार्थ जैसा दीखता है वैसा ही है' ऐसा निर्णय नही बाँध लेते है, एव उस ज्ञान को निश्चित रूप से प्रमाण भी नही मान लेते हैं। अन्यथा 'यह ज्ञान भ्रान्त है या अभ्रान्त ?' ऐसी जाच किये विना ही उसको प्रमाण मान लिया जायगा

यदपि-[पृ. ३२-७] 'प्रमाणतदाभासयोस्तुल्यं रूपम्' इत्याद्याशंक्य 'अप्रमाणे अवश्यंभावी बाधकप्रत्ययः, कारणदोषज्ञानं च' इत्यादिना परिहृतम् , तदपि न चारु, यतो बाध-कारणदोषज्ञानं मिथ्याप्रत्ययेऽवश्यं भावि, सम्यक्प्रत्यये तदभावो विशेषः प्रदर्शितः, स तु किं A बाधकाऽग्रहणे, B तदभावनिश्चये वा ? A पूर्वस्मिन् पक्षे भ्रान्तदृशस्तद्भावेऽपि तदग्रहणं दृष्टं कञ्चित् कालं; एवमत्रापि तदग्रहणं स्यात् । तत्रैतत् स्यात्-भ्रान्तदृशः कञ्चित् कालं तदग्रहेऽपि कालान्तरे बाधकग्रहणम् , सम्यग्दृष्टौ तु कालान्तरेऽपि तदग्रहः, नन्वेतत् सर्वविदां विषयः, नार्वाग्दृशां व्यवहारिणामस्मादृशाम् ।

B बाधकाभावनिश्चयोऽपि सम्यग्ज्ञाने B1 किं प्रवृत्तेः प्राग्भवति उत B2 प्रवृत्त्युत्तरकालम् ? यदि पूर्वः पक्षः स न युक्तः भ्रान्तज्ञानेऽपि तस्य संभवात् प्रमाणत्वप्रसक्तिः स्यात् । अथ प्रवृत्त्युत्तरकाल बाधकाभावनिश्चयः, सोऽपि न युक्तः, बाधकाऽभावनिश्चयमन्तरेणैव प्रवृत्तेरुत्पन्नत्वेन तन्निश्चयस्याऽकिंचित्करत्वात् । न च बाधकाभावनिश्चये प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनि किंचिन्निमित्तमस्ति । अनुपलब्धिर्निमित्तमिति चेत् ? न, तस्या असम्भवात् ।

तव उनकी प्रेक्षावत्ता यानी बुद्धिमता मे क्षति अवश्य होगी । इसलिये अगर सदेहास्पद ज्ञान होगा तो उसमे सदेह क्यो नही होगा ? अवश्य होगा ।

(तथा कामलादिदोषप्रभवे...) तथा दूसरी वात यह है कि कमलारोग मे नेत्र पर पीत्त का आवरण रूप दोष से जो ज्ञान होता है वह विपरीत होता है, इसलिये उसके आघार पर अन्य अन्य ज्ञान मे विपर्यय की कल्पना का होना भी युक्ति से सगत है । साराश, ज्ञान मे प्रथमतः प्रामाण्य न मान ले कर प्रेक्षापूर्वक ही ज्ञान मे प्रामाण्य निश्चित किया जाता है, इसलिये प्रस्तुत प्रयोग मे हेतु असिद्ध नही है, इस कारण प्रामाण्य परत सिद्ध होता है ।

[सम्यग्ज्ञान के बाद बाधाभावरूप विशेष किस प्रकार होगा ?]

"प्रमाण और अप्रमाण दोनो उत्पत्ति मे तुल्यरूप वाले होते है इसलिये सवाद के बिना प्रामाण्य का निश्चय अशक्य है" इस आशका को ऊठाकर जो यह परिहार किया गया था कि -'अप्रमाण ज्ञान के बाद बाधक प्रत्यय का और कारण दोष ज्ञान का उदय अवश्य होने से अप्रामाण्य निश्चय हो जायगा, प्रमाण की उत्पत्ति के बाद दोनो मे से एक का भी उदय न होने से वहाँ अप्रामाण्य शका निरवकाश है ।'-यह परिहार भी सुन्दर नही है क्योकि मिथ्याज्ञान के बाद बाध और कारण दोषज्ञान अवश्यभावी हैं और प्रमाणज्ञान मे उनका अभावरूप जो विशेष दिखाया गया है उसके ऊपर दो विकल्प है । A एक यह कि बाधक का ग्रहण न होने पर उसका अभाव मान लिया गया है या B दूसरा, बाधक के अभाव का ठोस निश्चय कर के उसके अभाव को विशेष रूप मे दिखाया जाता है ? A प्रथम पक्ष मे यह जानना जरूरी है कि भ्रान्त पुरुषो को बाधक होने पर भी कुछ समय तक उसका बोध नही होता है यह देखा गया है तो प्रस्तुत मे भी उसी प्रकार बाधक का अग्रहण हो सकता है । ऐसी स्थिति मे यह होगा कि अगर वह भ्रान्त दर्शन होगा तव कुछ काल तक बाधक का ग्रह न होने पर भी कालान्तर मे बाधक ग्रह होगा । अगर वह सम्यग् बोध रूप होगा तो बाधकग्रह कालान्तर मे भी नही होगा । किन्तु इस प्रकार कालान्तर मे बाधक का ग्रह होगा या नही यह तो सर्वज्ञ का विषय है-हमारे जसे अल्पज्ञ व्यवहर्त्ताओ का विषय नहो है ।

[बाधकाभावनिश्चय पूर्वकाल में या उत्तरकाल में ?]

B बाधकाभावनिश्चय रूप दूसरे विकल्प मे, वह बाधकाभावनिश्चय B1 सम्यग्ज्ञान के

तथाहि-बाधकानुपलब्धिः किं प्रवृत्तेः प्राग्भाविनी बाधकाभावनिश्चयस्य प्रवृत्युत्तरकालभाविनो निमित्तम्, अथ प्रवृत्युत्तरकालभाविनी ? इति विकल्पद्वयम्। तत्र यदि पूर्वः पक्षः, स न युक्त, पूर्वकालाया बाधकानुपलब्धेः प्रवृत्युत्तरकालभाविबाधकाभावनिश्चयनिमित्तत्वाऽसम्भवात्। न ह्यन्यकाला अनुपलब्धिरन्यकालमभावनिश्चयं विदधाति, अतिप्रसंगात्। नापि प्रवृत्युत्तरकालभाविनी बाधकानुपलब्धिस्तन्निश्चयनिमित्त, प्राक् प्रवृत्तेः 'उत्तरकाल बाधकोपलब्धिर्न भविष्यति' इति अर्वाग्दशिना निश्चेतुमशक्यत्वेन तस्या असिद्धत्वात्। नापि प्रवृत्युत्तरकालभाविन्यनुपलब्धिस्तदैव निश्चीयमाना तत्कालभाविबाधकाभावनिश्चयस्य निमित्त भविष्यतीति वक्तुं शक्यं, तत्कालभाविनो निश्चयस्याऽकिंचित्करत्वप्रतिपादनात्।

किं च बाधकानुपलब्धिः सर्वसम्बन्धिनी किं तन्निश्चयहेतुः, उताऽऽत्मसंबंधिनी ? इति पुनरपि पक्षद्वयम्। यदि सर्वसम्बन्धिनीति पक्षः, स न युक्तः, तस्या असिद्धत्वात्। नहि 'सर्वे प्रमातारो बाधकं

बाद प्रवृत्ति होने के पहले ही होता है या B2 उत्तरकाल मे ? B1 पहले ही होता है यह कहना अयुक्त है क्योंकि प्रवृत्ति के पहले बाधकाभाव का निश्चय तो भ्रान्तज्ञान के सबध मे हो सकता है तो भ्रान्तज्ञान मे प्रामाण्य की आपत्ति होगी। B2 यदि सम्यग्ज्ञानस्थल मे प्रवृत्ति के उत्तरकाल मे बाधकाभावनिश्चय का होना कहा जाय तो वह भी अयुक्त है क्योंकि प्रवृत्ति तो बाधकाभावनिश्चय के विना भी हो गयी, उसके बाद चाहे वह बाधकाभाव निश्चय होता है तो भी निकम्मा है। तथा यह भी ज्ञातव्य है कि सम्यग्ज्ञानजनित सफल प्रवृत्ति के बाद 'बाधक नही है' ऐसा निश्चय करने वाला कोई निमित्त भी नही है। बाधक की अनुपलब्धि को निमित्त नही मान सकते क्योंकि उसका सम्भव नही है।

[बाधकानुपलब्धि का असम्भव]

बाधकानुपलब्धि का असम्भव इस प्रकार है-यहा दो विकल्प ऊठ सकते हैं-(१) क्या प्रवृत्ति के पहले होने वाली अनुपलब्धि प्रवृत्ति के उत्तरकाल मे होने वाले बाधकाभावनिश्चय मे निमित्त कारण है ? (२) या प्रवृत्ति के बाद मे होने वाली अनुपलब्धि उस निश्चय मे निमित्त कारण है ?

वहाँ अगर प्रथम पक्ष लिया जाय तो वह ठीक नही है क्योंकि प्रवृत्ति के पूर्वकाल मे होने वाली अनुपलब्धि, प्रवृत्ति के उत्तरकालभावी निश्चय का निमित्त बने यह सभवित नही है। कारण, अन्यकालीन अनुपलब्धि अन्यकाल मे अभावनिश्चय नही करा सकती क्योंकि इसमे अतिप्रसंग दोष है-आज तो अनुपलब्धि है और दो तीन वर्ष के बाद अभाव का निश्चय होने की आपत्ति होगी।

(नापि प्रवृत्युत्तर० ...) दूसरा विकल्प भी नही बन सकता कि-'प्रवृत्ति के उत्तरकाल में होने वाली अनुपलब्धि उत्तरकालभावी अभावनिश्चय मे निमित्त कारण बने'-क्योंकि जो वर्त्तमानकालीन विषय का ही प्रत्यक्ष कर सकता है उसको प्रवृत्ति के पहले यह निश्चय कैसे होगा कि 'प्रवृत्ति के बाद बाधक की उपलब्धि नही रहेगी' ? ऐसा निश्चय शक्य नही है इसलिये वह अनुपलब्धि असिद्ध होने से बाधकाभावनिश्चय का निमित्त नही हो सकती। (नापि प्रवृत्यु०....) यह भी कहना शक्य नही है कि 'प्रवृत्ति के उत्तरकाल मे होने वाली अनुपलब्धि उस काल मे ही निश्चित हो कर उसी काल मे बाधाकाभावनिश्चय कराने मे निमित्त हो सकेगी'-क्योंकि प्रवृत्ति के उत्तरकाल मे होने वाला अभावनिश्चय अकिंचित्कर है, उसका कोई उपयोग या फल नही है यह तो पहले कह दिया है।

नोपलभन्ते' इति अर्वाग्दर्शिना निश्चेतुं शक्यम् । अथात्मसंबन्धिनीत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः, आत्मसंबन्धिन्या अनुपलब्धेः परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् । तन्न बाधाभावनिश्चयेऽनुपलब्धिर्निमित्तम् ।

नापि संवादो निमित्तं, भवदभ्युपगमेनानवस्थाप्रसंगस्य प्रतिपादितत्वात् । न च बाधाभावो विशेषः सम्यक्प्रत्ययस्य सम्भवतीति प्रागेव प्रतिपादितम् [पृ ५६-२]। कारणदोषाऽभावेऽप्ययमेव न्यायो वक्तव्य इति नाऽसावपि तस्य विशेषः । किं च कारणदोष-बाधकाभावयोर्भवदभ्युपगमेन कारणगुण-संवादकप्रत्ययरूपत्वस्य प्रतिपादनात् तन्निश्चये तस्य विशेषेऽभ्युपगम्यमाने परतः प्रामाण्यनिश्चयोऽभ्युपगत एव स्यात्, न च सोऽपि युक्तः, अनवस्थादोषस्य भवदभिप्रायेण प्राक् प्रतिपादितत्वात् ।

यदप्युक्तम्-'एवं त्रित्रतुरज्ञान०' [पृ ३३] इत्यादि, तत्रैकस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं, पुनरप्रामाण्यं, पुनः प्रामाण्यमित्यवस्थात्रयदर्शनाद् बाधके, तद्बाधकादौ वाऽवस्थात्रयमाशंकमानस्य कथं परीक्षकस्य नाऽपरापेक्षा येनानवस्था न स्यात् ?! यदप्युक्तम् 'अपेक्षातः' [पृ ३२-१०] इत्यादि तदप्यसंगतं, यतो

[बाधकानुपलब्धि के ऊपर नया विकल्पयुग्म]

बाधकाभावनिश्चय के निमित्त कारणरूप मे स्वीकृत बाधकानुपलब्धि पर पुनः दो पक्ष ऊठा सकते है-(१) क्या वह अनुपलब्धि सर्वसम्बन्धिनी यानी सभी को होने वाली लेते हो या (२) मात्र आत्मसंबंधिनी अर्थात् केवल अपने से ही संबंध रखने वाली ? अगर सर्वसंबंधि अनुपलब्धि का पक्ष किया जाय तो वह अयुक्त है क्योंकि ऐसी अनुपलब्धि ही असिद्ध है । 'सभी प्रमाताओ को यानी किसी भी प्रमाता को बाधक का उपलम्भ नही होता' ऐसा निश्चय केवलवर्त्तमानदर्शी पुरुष नही कर सकता । (अथात्मसंबंधि० ...) अगर-आत्मसंबंधि अनुपलब्धि निमित्त बनेगी, यह दूसरा पक्ष माना जाय तो वह भी ठीक नही है क्योकि परकीय चित्तवृत्ति मे आत्मीय अनुपलब्धि अनैकान्तिक दोषयुक्त है । आशय यह है कि अन्य अन्य पुरुष की चित्तवृत्ति मे माया-कपट हो फिर भी हमे उसका उपलम्भ नही होता, उसकी अनुपलब्धि होने पर भी माया-कपट के अभाव का निश्चय नही हो जाता । तात्पर्य, अनुपलब्धि बाधाभाव का निश्चय करने के लिये निमित्त नही बन सकती ।

[बाधकाभावनिश्चय संवाद से शक्य नहीं है]

संवाद भी बाधकाभावनिश्चय का निमित्त नही बन सकता, क्योकि आपके अभिप्राय से तो यहाँ अनवस्था दोष लगने का प्रतिपादन पहले हो चुका है । यह भी पहले कह दिया है कि बाधाभाव सम्यक् बोध का ऐसा कोई स्वरूप विशेष नही है जिससे अर्थतथात्वपरिच्छेद उसका कार्य हो सके । 'बाधाभाव सम्यक् बोध का विशेष नही बन सकता' इस बात की सिद्धि जिन मे युक्तियो का उपन्यास किया है वे सभी युक्तिओ का उपन्यास 'कारण दोष का अभाव भी सम्यग् बोध का विशेष नही है'-इस बात की सिद्धि मे करना है, अर्थात् कारणदोष का अभाव भी सत्य बोध का विशेष नही बन सकता ।

यह भी ज्ञातव्य है कि आप के पूर्वोक्त अभिप्राय से तो कारणदोष के अभाव का ज्ञान कारण गुणज्ञानरूप है और बाधक के अभाव का ज्ञान संवादविषयक ज्ञानरूप है । अतः प्रामाण्य के निश्चय मे यदि बाधाभाव को विशेषरूप मे अपेक्षित माना जाय तो फलस्वरूप संवादकज्ञान की ही अपेक्षा सिद्ध होने से आपने परतः प्रामाण्यनिश्चय को ही स्वीकार लिया और वह आपके लिये उचित नही है क्योकि आपने ही पहले उसमे अनवस्था दोष का प्रतिपादन किया है ।

नाऽयं छलव्यवहारः प्रस्तुतः येन कतिपयप्रत्ययमात्रं निरूप्यते। न हि प्रमाणमन्तरेण बाधकाशंका-निवृत्तिः, न चाशंकाव्यावर्त्तकं प्रमाणं भवदभिप्रायेण सम्भवतीत्युक्तम्।

तथा कारणदोषज्ञानेऽपि पूर्वेण जाताशंकस्य कारणदोषज्ञानान्तरापेक्षायां कथमनवस्था-निवृत्तिः ?-'कारणदोषज्ञानस्य तत्कारणदोषग्राहकज्ञानाभावमात्रतः प्रमाणत्वान्नाऽत्रानवस्था। यदाह-

यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदान्यन्नैव मृग्यते।
निवर्त्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः॥ [श्लो० वा० सू० २ श्लो० ५२]'

-एतच्चानुद्‌घोष्यम्, प्रागेव विहितोत्तरत्वात्।

[तीन-चार ज्ञान की अपेक्षा करने में परापेक्षा का स्वीकार]

यह जो आपने कहा था कि-"पूर्व ज्ञान मे अप्रामाण्य की शका वाला दूसरा ज्ञान हो जाय तो तीसरे ज्ञान की अपेक्षा रहती है और वह तीसरा ज्ञान यदि प्रथम के साथ संवादी हो तब दूसरे ज्ञान से आशंकित अप्रामाण्य की शका को दूर कर देता है और प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य स्वत सिद्ध होता है। अगर तीसरा ज्ञान भी आशकित हो जाय तो चौथे ज्ञान से वह दूर हो जाती है। इस प्रकार तीन-चार ज्ञान से अधिक की अपेक्षा नही रहती"-यह भी ठीक नही, क्योंकि इसमे अप्रामाण्यशंका न होने तक प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य, फिर अप्रमाण्यशका होने पर अप्रामाण्य और तीसरे ज्ञान से शका दूर होने पर पुनः प्रामाण्य, ऐसी तीन अवस्थाएँ देखी जाती है; इस लिये बाधक के विषय मे परीक्षक को अन्य अन्य ज्ञान की अपेक्षा अवश्य होगी। अथवा बाधक आदि मे भी उसी प्रकार तीन अवस्था के दर्शन से पुन पुन शका करने वाले परीक्षक को अन्य अन्य ज्ञान की अपेक्षा होने पर अनवस्था दोष क्यो नही लगेगा ?।

यह भी जो कहा था कि-'सवाद की अपेक्षा मानने पर स्वत प्रामाण्य का व्याघात और अनवस्था नही है क्योकि सवाद केवल अप्रामाण्य शका निवर्त्तन मे ही उपयुक्त है' इत्यादि वह भी सगत नही है क्योकि यह बुद्धिमान् विद्वानों के बीच चर्चा हो रही है, कोई छल व्यवहार प्रस्तुत नही है जिससे केवल अमुक अमुक ही ज्ञान के प्रामाण्य का विचार किया जाय और सवादकज्ञानों के प्रामाण्य का विचार छोड दिया जाय। यह पहले भी कह दिया है कि प्रमाण के विना बाधकशका का निवर्त्तन अशक्य है और आप के अभिप्राय से बाधकशका का निवर्त्तक प्रमाण सम्भवयुक्त नही है।

[कारणदोषज्ञान की अपेक्षा में अनवस्था]

यह भी एक प्रश्न है-मिथ्याज्ञान के बाद जो उसके कारणो मे दोषावगाही ज्ञान होगा 'वह प्रमाण है या नही' ऐसी अगर भूतपूर्व मिथ्याज्ञान साधर्म्य देखकर जिसको शका हो जायगी उसके निवारण के लिये उस ज्ञान के कारणो के दोषो का अन्वेषण करने पर अन्य अन्य कारणदोषज्ञान की अपेक्षा होती चलेगी तो इस प्रकार अनवस्था दोष क्यो नही लगेगा ?

इसके समाधान में स्वतः प्रमाणवादी कहे कि-"कारणदोषज्ञानोत्पत्ति के बाद उस ज्ञान के उत्पादक कारणो का दोषग्राही ज्ञान अगर उत्पन्न होगा-तब तो वह कारणदोषज्ञान के अप्रामाण्य को प्रसिद्ध कर देगा किन्तु ऐसा ज्ञान उत्पन्न नही होगा तब तो उसके अभाव मात्र से ही कारणदोषज्ञान प्रमाणरूप से सिद्ध हो जाने से कोई अनवस्था को अवकाश ही नही होगा। जैसे कि श्लोकवार्त्तिक में कहा है-

न च दोषाऽज्ञानाद् दोषाभाव, सत्स्वपि दोषेषु तदज्ञानस्य सम्भवात्। सम्यग्ज्ञानोत्पादनशक्तिवैपरीत्येन मिथ्याप्रत्ययोत्पादनयोग्य हि रूपं तिमिरादिनिमित्तमिन्द्रियदोषः, स चातीन्द्रियत्वात् सन्नपि नोपलक्ष्यते। न च दोषा ज्ञानेन व्याप्ताः येन तन्निवृत्त्या निवर्त्तेरन्। दोषाभावज्ञाने तु संवादाद्यपेक्षायां सैवाऽनवस्था प्राक् प्रतिपादिता।

एतेनैतदपि निराकृतं* यदुक्तं भट्टेन—[द्र० तत्त्वसंग्रहे २८६१-२-३]

तस्मात् स्वतः प्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितं। बाध-कारणदुष्टत्वज्ञानाभ्यां तदपोद्यते॥
पराधीनेऽपि चैतस्मिन्नानवस्था प्रसज्यते। प्रमाणाधीनमेतद्धि स्वतस्तच्च प्रतिष्ठितम्॥
प्रमाणं हि प्रमाणेन यथा नान्येन साध्यते। न सिध्यत्यप्रमाणत्वमप्रमाणात् तथैव हि॥ इति।

"ज्ञान की जब स्वत प्रमाणता मानते है तब दूसरे किसी (सवादादि) के अन्वेषण की जरूर नही है। और कारण दोष का ज्ञान न होने से अप्रामाण्य की शका अनायास निवृत्त होती है।"—

ऐसे समाधान की उद्घोषणा भी व्यर्थ है क्योकि कारणदोष ज्ञान और सवादादि की चर्चा कर के इस समाधान का प्रत्युत्तर पहले ही प्रदर्शित किया गया है।

[दोष का ज्ञान होने का नियम नहीं है]

दोषज्ञान न होने मात्र से दोषो के अभाव की कल्पना कर लेना ठीक नही है क्योकि दोष होने पर भी उसका ज्ञान न हो यह सभवित है। सम्यग् ज्ञान के उत्पादन की शक्ति से विपरीत यानी मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने मे योग्य ऐसा जो तिमिरादिरोग निमित्त इन्द्रिय का रूप यह एक ऐसा दोष है जो अतीतिन्द्रिय होने से विद्यमान होने पर भी उपलक्षित नही होता। कदाचित् यह तर्क किया जाय कि—'दोष रहने पर उसका ज्ञान अवश्य होता, ज्ञान नही होता है उसी से दोषाभाव सिद्ध होता है'—तो यह तर्क ठीक नही, क्योकि दोषज्ञान दोष का व्यापक होता तब तो दोषज्ञान निवृत्ति से अर्थात् उसके अभाव से दोषो की निवृत्ति होने की शक्यता थी किन्तु दोषज्ञान दोष का व्यापक नही है इसलिये दोषज्ञान के अभाव से दोष के अभाव का प्रतिपादन नही किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय दोषाभाव के निर्णय के विना नही हो सकता, और दोषाभावनिर्णय के लिये सवादादि की अपेक्षा ध्रुव होने से अनवस्था दोष लगता है यह पहले कहा हुआ है।

[विस्तृत मीमांसकोक्ति का निराकरण]

पूर्वोक्त विवेचन से यह कथन भी निराकृत हो जाता है जो 'तस्मात् स्वतः' इत्यादि कारिका से भट्ट ने कहा है—[ये कारिका वर्त्तमान मे श्लोकवार्तिक मे नही, तत्त्वसग्रह मे उपलब्ध है।]

"इसलिये (परत प्रामाण्य संभवित न होने से) सभी ज्ञानो का उत्सर्गमार्ग से स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है। केवल दो स्थानो मे उसका अपवाद है-१ जहा बाध ज्ञान होता है और २- जहा कारणो के दुष्टत्व यानी दोषो का ज्ञान होता है।

अप्रामाण्य का ज्ञान यद्यपि परावलबी यानी बाधज्ञानादि पर अवलम्बित है फिर भी यहाँ अनवस्था को प्रवेश नही है। क्योकि बाधज्ञान प्रमाणाधीन है और प्रमाण का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है।

प्रमाण जैसे अन्य प्रमाण से सिद्ध नही होता उसी प्रकार अप्रमाण्य भी अप्रमाण ज्ञान से सिद्ध नही होता। "किंतु प्रमाणज्ञान से ही सिद्ध होता है।"

---

* निराकृतमित्यस्याग्रे 'तथाहि' [पृ० ८६-१] इत्यादिना योग ।

स्यान्मतं "यद्यप्यन्यानपेक्षप्रमितिभावो बाधकप्रत्यय., तथाऽप्यबाधकतया प्रतीत एवान्यस्याऽप्रमाणतामाधातुं क्षमो नान्यथेति," सोऽयमदोष', यत -[द्र० तत्त्व० २८६५-७०]

बाधकप्रत्ययस्तावदर्थान्यत्वावधारणम् । सोऽनपेक्षप्रमाणत्वात् पूर्वज्ञानमपोहते ।।
तत्रापि त्वपवादस्य स्यादपेक्षा क्वचित् पुनः । जाताशंकस्य पूर्वेण ❀साप्यन्येन निवर्त्तते ।।
बाधकान्तरमुत्पन्नं यद्यस्यान्विच्छतोऽपरम् । ततो मध्यमबाधेन पूर्वस्यैव प्रमाणता ।।
卐अथान्यदप्रयत्नेन सम्यगन्वेषणे कृते । मूलाभावान्न विज्ञानं भवेद् बाधकबाधनम् ।।
ततो निरपवादत्वात् तेनैवाद्यं बलीयसा । बाध्यते तेन तस्यैव प्रमाणत्वमपोह्यते ।।
एवं परीक्षकज्ञानत्रितयं नातिवर्त्तते । ततश्चाजातबाधेन नाशंक्य बाधक पुनः ।। इति ।

मीमासक अपने प्रतिपक्षी को कहता है कि कदाचित् आप यह कहे कि-'बाधकप्रत्यय का प्रामाण्य अन्य सापेक्ष न होने पर भी जब तक वह स्वय बाधकरहित होने का निश्चित न हो तब तक वह अपने बाध्यज्ञान के अप्रामाण्य का आधान यानी प्रतिपादन करने मे समर्थ नही हो सकता-' किन्तु इसमे कोई दोष नही है क्योंकि बाधकप्रत्ययस्तावद......इत्यादि कारिकाओ मे हमने इस निर्दोषता का इस तरह प्रतिपादन किया ही है कि—

बाधकप्रत्यय का मतलब है 'पूर्वज्ञान अपने विषय से विपरीत है' ऐसा अवधारण करने वाला ज्ञान। यह ज्ञान अपने प्रामाण्य मे परावलम्बी नही है इस लिये उससे पूर्वज्ञान का अपोह यानी अप्रामाण्य प्रकाशित होता है। [२८६५]

कदाचित् इस बाधकप्रत्यय मे भी पूर्वकालीन मिथ्याज्ञान के साधर्म्य से प्रमाता को शका पड जाने से अपवाद की अपेक्षा हो जाय यानी उसमे अप्रामाण्य है या नही इसके निर्णय की आवश्यकता हो जाय तो उसकी भी निवृत्ति यानी पूर्त्ति अन्य अप्रामाण्यशकानिवारक ज्ञान से हो जाती है। [२८६६]

कदाचित् प्रमाता की इच्छा न होने पर भी बाधकप्रत्यय का ही अन्य बाधज्ञान उत्पन्न हो गया, तब तो वह मध्यम बाधकप्रत्यय ही बाधित हो जाने से प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य निर्बाध रहता है। [२८६७]

किन्तु जब योग्य प्रयत्न से कडी जाँच-पडताल करने पर भी मूल यानी कारण न होने से बाधकप्रत्यय का बाध करने वाला विज्ञान उत्पन्न नही हुआ तब तो—[२८६८]

कोई अपवाद यानी अप्रामाण्य का प्रयोजक न होने से वह बाधकप्रत्यय बलवान हो कर आद्य ज्ञान को बाधित कर देता है इसलिये आद्यज्ञान का प्रामाण्य अपोदित हो जाता है अर्थात् वह अप्रमाण सिद्ध होता है। [२८६९]

इस रीति से परीक्षकपुरुष को भी तीनज्ञान से अधिक आगे जाने की जरूर नही रहती, अतएव बाधक के बाधक की उत्पत्ति न होने पर पुन.पुन. बाधक की शका करनी नही चाहिये। [२८७०]

तस्मात् स्वत.. यहा से लेकर नाशक्य बाधक पुन........यहां तक भट्ट ने उपरोक्त रीति से जो कुछ कहा वह सब हमारे पूर्वोक्त अनवस्थादि दोष की ध्रुवता आदि प्रतिपादन से निरस्त हो जाता है-वह इस प्रकार-

भट्ट ने अपने उपरोक्त ग्रन्थ से स्वत. प्रामाण्य पक्ष के व्याघात का परिहार किया है और परीक्षक को तीन ज्ञान से अधिक ज्ञान की अपेक्षा न होने से अनवस्था दोष का परिहार किया है किन्तु

❀'साप्यल्पेन' इति, 卐'अथानुरूपयत्नेन' इति च तत्त्वसंग्रहे ।

तथाहि-अनेन सर्वेणाऽपि ग्रन्थेन स्वत प्रामाण्यव्याहति. परिहृता परीक्षकज्ञानत्रितयाधिकज्ञानानपेक्षयाऽनवस्था च, एतद्द्वितयमपि परपक्षे प्रदर्शितं प्राक् न्यायेन। यच्चान्यत् पूर्वपक्षे परत -प्रामाण्ये दूषणमभिहितं तच्चानभ्युपगमेन निरस्तमिति न प्रतिपदमुच्चार्य दूष्यते।

[प्रेरणाबुद्धिर्न प्रमाणम्]

प्रेरणाबुद्धेस्तु प्रामाण्यं न साधननिर्भासिप्रत्यक्षस्येव संवादात्, तस्य तस्यामभवात्। नाप्यव्यभिचारिलिंगनिश्चयबलात् स्वसाध्यादुपजायमानत्वादनुमानस्येव। किं च प्रेरणाप्रभवस्य चेतसः प्रामाण्यसिद्धचर्थं स्वतःप्रामाण्यप्रसाधनप्रयासोऽयं भवताम्, चोदनाप्रभवस्य च ज्ञानस्य न केवलं प्रामाण्यं न सिध्यति, किंत्वप्रामाण्यनिश्चयोऽपि तत्र न्यायेन सम्पद्यते। तथाहि—

यद् दुष्टकारणजनितं ज्ञानं न तत् प्रमाणं, यथा तिमिराद्युपद्रवोपहतचक्षुरादिप्रभव ज्ञानम्, दोषवत्प्रेरणावाक्यजनितं च 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिवाक्यप्रभवं ज्ञानम्, इति कारणविरुद्धो-

---

हमारे पूर्वोक्त युक्तिसदर्भ से भट्ट के पक्ष मे स्वत: प्रामाण्य का व्याघात कैसे है और अनवस्था दूर करने पर भी पुन पुन: कैसे लगी रहती है यह बता दिया है। पूर्वपक्षी ने अपने पूर्वपक्ष के प्रतिपादन मे हमारे परत प्रामाण्य पक्ष मे और भी जो जो दूषण अन्य अन्य विकल्प जाल रच कर उद्भावित किया है, उन विकल्पो का अभ्युपगम न करने से ही वे दूषण टल जाते है इस लिये पूर्वपक्ष की पक्ति पक्ति का अनुवाद कर उसमे दोषोद्भावन को यहा हम छोड देते है।

[प्रेरणाबुद्धि प्रमाण ही नहीं है]

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'प्रेरणाजनिता तु बुद्धि' [पृ ३५] इत्यादि अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोक्ति की भाँति प्रेरणावाक्य अर्थात् वेदवाक्य जनित बुद्धि भी स्वत प्रमाणभूत है'-यह भी ठीक नही है, क्योकि साधननिर्भासी प्रत्यक्ष का प्रामाण्य सवाद पर अवलम्बित है जैसे तृप्ति आदि अर्थक्रिया के साधनरूप जल का प्रत्यक्ष होने पर जब समीप मे जाते है तो जलउपलब्धि होती है और उससे तरस भी मिट जाती है तो इस सवाद से उस प्रत्यक्ष का प्रामाण्य सिद्ध होता है। प्रेरणाबुद्धि के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये कोई भी सवाद नही है, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस प्रेरणावाक्यजनित अग्निहोत्र मे स्वर्गहेतुता की बुद्धि का सवादी अन्य कोई ज्ञान नही होता इसलिये प्रत्यक्ष की तरह उसका प्रामाण्य कैसे माना जाय ? अनुमान की भाँति भी उसका प्रामाण्य नही मान सकते क्योकि अनुमान अपने साध्य से अव्यभिचारी लिंगनिर्णय के बल पर खडा होता है। प्रस्तुत मे अग्निहोत्र होम मे स्वर्गहेतुता का अनुमान कराने वाला कोई अव्यभिचारी लिंग ही नही है।

दूसरी बात यह है कि भट्टादि मीमासको का स्वत: प्रामाण्य प्रसिद्ध करने का समूचा प्रयास अन्त मे तो प्रेरणावाक्यजनित चेतस् यानी बुद्धि के प्रामाण्य को निर्बाध सिद्ध करने के लिये ही है, किन्तु परिणाम ऐसा विपरीत है कि प्रेरणाजनित बुद्धि का प्रामाण्य सिद्ध होना तो दूर रहा, उसका अप्रामाण्य ही युक्तिसमूह से आप को प्राप्त होता है। वह युक्तिसमूह इस प्रकार है—

[प्रेरणाजनित ज्ञान दोषप्रयुक्त होने से अप्रमाण]

जो ज्ञान दुष्ट कारणो से उत्पन्न होता है वह प्रमाण नही होता, जैसे तिमिरादि दोष के उपद्रव से ग्रस्त नेत्रादिजन्य ज्ञान। 'अग्निहोत्र का होम करे' इत्यादिवाक्यजन्य ज्ञान यह दोषयुक्त प्रेरणा-

पलब्धिः । न चाऽसिद्धो हेतुः, भवदभिप्रायेण प्रेरणायां गुणवतो वक्तुरभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैर्जन्यमानत्वस्य प्रेरणाप्रभवे ज्ञाने सिद्धत्वात् ।

अथ स्यादयं दोषो यदि वक्तृगुणैरेव प्रामाण्यापवादकदोषाणां निराकरणमभ्युपगम्यते, यावता वक्तुरभावेनापि निराश्रयाणां दोषाणामसद्भावोऽभ्युपगम्यत एव । तदुक्तम्-[श्लो०वा० ७, ६२-६३]

शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम् । तदभावः क्वचित् तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ।।
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे सङ्क्रान्त्यसम्भवात् । यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ।। इति ।

भवेदप्येवं, यद्यपौरुषेयत्वं कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्ध स्यात्, तच्च न सिद्धं, तत्प्रतिपादकप्रमाणस्य निवर्त्स्यमानत्वात् । अत एव चेदमप्यनुद्घोष्यम्-[श्लो० वा० सू० २-श्लो० ६८]

तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाऽप्रमाणत्वं नाशङ्कामपि गच्छति ।।

तेन गुणवतो वक्तुरनभ्युपगमाद् भवद्भिः अपौरुषेयत्वस्य चासम्भवादनिराकृतैर्दोषैर्जन्यमानत्वं हेतुः प्रेरणाप्रभवस्य चेतसः सिद्धः, दोषजन्यत्व-अप्रामाण्ययोरविनाभावस्यापि मिथ्याज्ञानेऽन्यत्र

वाक्य से उत्पन्न ज्ञान है । इस प्रकार यहाँ कारणविरुद्धोपलब्धि रूप हेतु प्रयोग है-प्रमाणज्ञान के कारण गुणवान् होते हैं, उससे विरुद्ध दोषयुक्त कारण यहाँ उपलब्ध हैं इसलिये कारणविरुद्धोपलब्धि हुयी । अगर यहाँ हेतु असिद्ध होने की शका की जाय कि-'दोषवत् प्रेरणावाक्यजन्यत्व हेतु मे, प्रेरणा वाक्य के दोष ही कहाँ सिद्ध है जिससे दोषवत्प्रेरणावाक्यजन्यत्व हेतु उपलब्ध हो सके'-तो यह हेतु-असिद्धि की शका निर्मूल है क्योकि मीमासक मतानुसार प्रेरणावाक्यो का कोई गुणवान् वक्ता है ही नही, वाक्यान्तर्गत दोषो का निराकरण वक्ता के गुणो से होता है, किन्तु यहाँ गुणवान् वक्ता न होने से दोष का निराकरण नही होगा, तो यह सिद्ध होगा कि प्रेरणावाक्यजनित ज्ञान गुणो से अनिराकृत दोष वाले ऐसे वाक्य से उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार हेतु असिद्ध नही है ।

[वक्ता न होने से दोषाभाव होने की शंका]

यदि यह कहा जाय कि-"यह तथाकथित दोष तब हो सकता है जब प्रामाण्य के अपवादक दोषो का निराकरण मात्र वक्ता के गुणो से ही होता है ऐसा माना जाय । किन्तु दोषो का अभाव इस प्रकार भी हो सकता है-प्रेरणावाक्य का कोई वक्ता ही नही है, वक्ता न होने से दोष कहा रहेगे ? वाक्यगत गुणदोष तो वक्तागत गुणदोष से ही प्रयुक्त होता है । जब वाक्य का कोई वक्ता ही नही है तो तदाश्रित दोषो का वाक्य मे उतर आना भी सभव नही है । तात्पर्य, वक्ता न होने से आश्रयहीन दोषो के अभाव को हम मानते ही है । कहा भी है –

"शब्द मे दोष का उद्भव वक्ता को अधीन है यह तो सिद्ध ही है । दोष का अभाव कही पर वक्ता गुणवान होने से होता है ।

क्योकि उसके गुणो से दूरोत्क्षिप्त दोषो का फिर शब्द मे सक्रमण सम्भवित नही है । अथवा वक्ता ही न होने से आश्रयहीन बने हुए दोषो का (वाक्य मे) सम्भव नही होता ।"-

[वेद में अपौरुषेयत्व सिद्ध नहीं है-उत्तर]

किन्तु यह मीमासक कथन युक्त नही है, क्योकि वैसा तब हो सकता यदि वेदवचन में पुरुषा-

निश्चितत्वात् तद्विरुद्धत्व-अनैकान्तिकत्वयोरप्यभाव इति भवत्यतो हेतो. प्रेरणाप्रभवे ज्ञाने प्रामाण्याभावसिद्धिः ।

[ज्ञातृव्यापारः न प्रमाणसिद्धः]

किंच, प्रमाणे सिद्धे सति 'किं तत्प्रामाण्यं स्वत परतो वा' ? इति चिन्ता युक्तिमती, भवदभ्युपगमेन तु तदेव न सम्भवति । तथाहि-ज्ञातृव्यापारः प्रमाणं भवताऽभ्युपगम्यते, न चासौ युक्तः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाहि-प्रत्यक्षं वा तद्ग्राहकं, अनुमानं, अन्यद्वा प्रमाणान्तरम् ? तत्र यदि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकमभ्युपगम्येत तदाऽपि वक्तव्यम्-स्वसंवेदनम्, बाह्येन्द्रियजं, मनःप्रभवं वा ? न तावत् स्वसंवेदनं तद्ग्राहकम्, भवता तद्ग्राह्यत्वानभ्युपगमात् तस्य । नापि बाह्येन्द्रियज, इन्द्रियाणां स्वसम्बद्धेऽर्थे ज्ञानजनकत्वाभ्युपगमात् । न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां सम्बन्धः, प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात् । नापि मनोजन्य प्रत्यक्षं ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणग्राहकम्, तथा प्रतीत्यभावात् अनभ्युपगमाच्च ।

ऽजन्यत्व किसी प्रमाण से सिद्ध रहता, किन्तु वही असिद्ध है क्योंकि वेद मे अपौरुषेत्व के साधक-प्रमाण का आगे निराकरण किया जाने वाला है । इसलिये यह भी उद्घोष करने योग्य नही है कि–

'वेदवाक्य का कोई वक्ता न होने से वहाँ अपवाद से मुक्ति सुलभ है, अत' वेद मे अप्रामाण्य शका को प्राप्त नही होता' ।–क्योंकि अपौरुषेयत्व का खण्डन आगे किया जायेगा ।

निष्कर्ष यह आया कि वेद का अपौरुषेयत्व सम्भव नही है और उसका कोई गुणवान् वक्ता भी नही है इसलिये प्रेरणावाक्यजन्य ज्ञान मे अनिराकृत दोषो से जन्यमानत्व रूप हेतु वेद के अप्रामाण्य की सिद्धि के लिये कहा गया है वह सिद्ध होता है । जहाँ दोषजन्यत्व होता है वहाँ अप्रामाण्य होता है यह अविनाभावरूप नियम शुक्ति मे रजत अवभासक ज्ञान मे सिद्ध है-निश्चित है । इसलिये दोषजन्यत्व हेतु मे न तो विरोध का उद्भावन हो सकता है, न तो व्यभिचार दोष का उद्भावन हो सकता है । इसलिये इस दोषजन्यत्व रूप हेतु से प्रेरणावाक्यजन्य ज्ञान मे प्रामाण्य के अभाव की सिद्धि निष्कटक है ।

[ज्ञातृव्यापार प्रमाणसिद्ध नहीं है]

'प्रामाण्य स्वतः है या परत ' इस सम्बन्ध मे स्वत प्रामाण्यवादी के साथ जो कुछ विचार किया जाता है वह भी प्रमाण के सिद्ध होने पर ही करना युक्तियुक्त यानी सार्थक है । किन्तु महत्त्व की बात यह है कि स्वतः प्रामाण्यवादी के मतानुसार प्रमाण की सिद्धि ही सम्भव नही है । वह इस रीति से–पूर्वपक्षी ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण कहते हैं-किन्तु वह घटता नही, क्योंकि 'ज्ञातृव्यापार यह प्रमाण है' इसका ग्राहक कोई प्रमाण नही है । प्रमाणाभाव इस प्रकार–वह कौनसा प्रमाण है जो 'ज्ञातृव्यापार यह प्रमाण है–इसका ग्राहक हो ? A प्रत्यक्ष उसका ग्राहक है या B अनुमान अथवा C अन्य कोई प्रमाण ?

A यदि प्रत्यक्ष को उसका ग्राहक मानते हो तो यहाँ भी आपको कहना होगा कि वह A1 स्वसवेदन प्रत्यक्ष है या A2 बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष है अथवा A3 मनोजन्य है ? A1 स्वसवेदनप्रत्यक्ष तो ज्ञातृव्यापार का ग्राहक नही है क्योंकि ज्ञातृव्यापार को आप स्वसवेदनप्रत्यक्षग्राह्य मानते ही नही । क्योंकि स्वसवेदनप्रत्यक्ष का ग्राह्य स्वमात्र है, ज्ञातृव्यापार नही । A2 बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से भी वह अग्राह्य है, क्योंकि आप भी यह मानते है कि इन्द्रियो से सम्बन्धित अर्थ का ही ज्ञान

अथानुमानं तद्ग्राहकमभ्युपगम्यते, तदप्ययुक्तम्, यतोऽनुमानमपि 'ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनाद-संनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' इत्येवंलक्षणमभ्युपगम्यते। सम्बन्धश्चान्यसम्बन्धव्युदासेन नियमलक्षणोऽभ्युपगम्यते। यत उक्तं-सम्बन्धो हि न तादात्म्यलक्षणो गम्यगमकभावनिबन्धनम्। ययोर्हि तादात्म्यं न तयोर्गम्यगमकभावः तस्य भेदनिबन्धनत्वात्, अभेदे वा साधनप्रतिपत्तिकाल एव साध्यस्यापि प्रतिपन्नत्वात् कथं गम्यगमकभावः ? अप्रतिपत्तौ वा यस्मिन् प्रतीयमाने यन्न प्रतीयते तद् ततो भिन्नम्, यथा घटे प्रतीयमानेऽप्रतीयमानः पटः, न प्रतीयते चेत् साधनप्रतीतिकाले साध्यं, तदा तत् ततो भिन्नमिति कथं तयोस्तादात्म्यम् ?

किंच, यदि तादात्म्याद् गम्य-गमकभावोऽभ्युपगम्यते तदा तादात्म्याऽविशेषाद् यथा *प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वस्य गमकम्, तथाऽनित्यत्वमपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य गमकं स्यात्। अथ प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेवाऽनित्यत्वनियतत्वेन निश्चितम् नाऽनित्यत्वं तन्नियतत्वेन, निश्चयापेक्षश्च गम्य-

---

इन्द्रियजन्य होता है। ज्ञातृव्यापार इन्द्रियो से सम्बन्धित नही है, क्योंकि इन्द्रियों से सम्बन्धित विषय रूप-रसादि ही है यह नियमत सिद्ध है। A3 मनोजन्य प्रत्यक्ष भी ज्ञातृव्यापार रूप प्रमाण का ग्राहक नही क्योकि न तो ऐसा अनुभव होता है, न तो कोई ऐसा मानता है कि 'ज्ञातृव्यापार यह प्रमाण है'– ऐसी मुझे मानसिक प्रतीति होती है।

[अनुमान से ज्ञातृव्यापार का ग्रहण अशक्य]

अब कहा जाय कि–अनुमान से ज्ञातृव्यापार रूप प्रमाण का ग्रहण होता है–तो यह भी अयुक्त है, क्योकि अनुमान का सर्वमान्य स्वरूप यह है कि–दो पदार्थ के बीच सम्बन्धज्ञान होने पर उन सम्बन्धीयो मे से एक देश यानी एक अर्थ का दर्शन होने पर अन्य असनिकृष्ट यानी अदृश्य अर्थ का बोध होना यह अनुमान है। [जैसे धूम और अग्नि के बीच सबन्ध ज्ञात होने पर धूम के दर्शन से अप्रत्यक्ष अग्नि का परोक्षबोध होता है।] सम्बन्ध भी जैसा तैसा नही, अविनाभावरूप नियम यानी व्याप्ति नामक सम्बन्ध से अन्य सबधो का त्याग करके मात्र नियमरूप सम्बन्ध ही यहा विवक्षित है– माना जाता है। क्योकि कहा है कि तादात्म्य रूप सबध बोध्य-बोधकभाव का नियामक नही है। जिन दो के बीच मे तादात्म्य होता है उन दो का गम्य-गमक भाव नही होता है क्योकि गम्य-गमक भाव भेदमूलक है। यदि गम्य-गमकभावनियामक सबध अभेद होगा तो जिस काल मे गमक यानी साधन का बोध होगा उसी वक्त गम्य यानी साध्य का भी बोध हो जाने से साध्य और साधनमे गम्य-गमक भाव ही कैसे हो सकेगा। एक साथ जिन का बोध होता है उनका गम्य-गमक भाव नही होता। जिस काल मे साधन का बोध होता है उस काल मे साध्य का बोध अगर नही होता है तो उन दोनो का भेद सिद्ध होगा। क्योकि यह व्याप्ति है कि जिसकी प्रतीति काल में जो प्रतीत नही होता वह उससे भिन्न होता है। जैसे कि घट की प्रतीति काल मे पट की प्रतीति नही होती है तो पट घट से भिन्न होता है। उसी प्रकार साधन की प्रतीतिकाल मे अगर साध्य प्रतीत नही होता है तो साधन से साध्य का भेद सिद्ध होता है फिर उन दोनो का तादात्म्य कैसे ?

---

*'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' का अर्थ है जो प्रयत्न के बिना नहीं होता है। 'प्रयत्न अन्तरा(=विना)न भवति इति प्रयत्नानन्तरीयकत्व' यह उसकी व्युत्पत्ति है।

गमकभावः इति; तर्हि 'यस्मिन्निश्चीयमाने यन्न निश्चीयते' इत्यादि पूर्वोक्तमेव दूषणं पुनरापतति। अपि च प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेवाऽनित्यत्वनियतत्वेन निश्चितमिति वदता स एवाऽस्मदभ्युपगतो नियमलक्षणसम्बन्धोऽभ्युपगतो भवति।

नाऽपि तदुत्पत्तिलक्षणः सम्बन्धो गम्यगमकभावनिबन्धनम्, तथाऽभ्युपगमे वक्तृत्वादेरप्यसर्वज्ञत्वं प्रति गमकत्व स्यात्। अथ सर्वज्ञत्वे वक्तृत्वादेर्बाधकप्रमाणाभावात् सर्वज्ञत्वादिभ्यो वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धेति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वान्नायं गमकस्तर्हि धूमस्याप्यनग्नौ बाधकप्रमाणाभावात् ततो व्यावृत्तिः संदिग्धेति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादग्निं प्रति गमकत्वं न स्यात्।

[तादात्म्य से गम्यगमकभाव नहीं बन सकता]

यह ज्ञातव्य है कि दो वस्तु के बीच तादात्म्य होने से गम्य-गमक भाव माना जाय तो जैसे प्रयत्नजन्यत्व को अनित्यत्व का गमक माना जाता है उसी प्रकार दोनो के बीच तादात्म्य होने पर अनित्यत्व भी प्रयत्नजन्यत्व का गमक हो जाने की आपत्ति होगी। बौद्धमत मे दो ही सम्बन्ध से गम्य-गमक भाव माना जाता है, तादात्म्य और तदुत्पत्ति। प्रयत्नानन्तरीयकत्व और अनित्यत्व के बीच तदुत्पत्ति यानी कारण-कार्य भाव तो है नहीं, केवल तादात्म्य है, इसलिये उपरोक्त आपत्ति अवश्य होगी। यदि कहा जाय कि–'तादात्म्य होने पर भी प्रयत्नानन्तरीयकत्व ही अनित्यत्व के नियतरूप से निश्चित है, अनित्यत्व प्रयत्नानन्तरीयकत्व के नियतरूप से निश्चित नही है, इसलिए अनित्यत्व प्रयत्नानन्तरीयकत्व का गमक होने की आपत्ति नही है, क्योकि गम्य-गमकभाव एक का दूसरे के साथ नियतरूप से किये गये निश्चय पर अवलम्बित है।'–तो इस कथन से तादात्म्य गम्य-गमकभावनियामक सम्बन्धरूप से सिद्ध नही हो सकता क्योकि यहाँ भेद आपत्ति रूप दूषण आ पडता है, क्योकि पहले कह आये है कि जिसका निश्चय होने पर जो अनिश्चित रहता है वह उससे भिन्न होता है। दूसरी बात यह है कि 'प्रयत्नानन्तरीकत्व अनित्यत्व के नियतरूप से निश्चित है' यह जो आपने कहा उसमे 'नियतरूप से' इसका अर्थ है 'नियमविशिष्ट रूप से'। अत हमने जो पहले अविनाभाव रूप नियम ही गम्य-गमक भाव का नियामक सबध सिद्ध होने का कहा था उसी का आपने भी स्वीकार कर लिया।

[तदुत्पत्तिसंबंध से गम्यगमकभाव नहीं बन सकता]

गम्य-गमक भाव को तदुत्पत्तिसबन्धमूलक भी नही मान सकते क्योकि ऐसा मानने पर वक्तृत्वादि धर्म असर्वज्ञता का गमक होने की आपत्ति होगी, क्योकि असर्वज्ञपुरुष से वचनवाक्यो की उत्पत्ति देखी जाती है। यदि यह शका की जाय कि-'वक्तृत्व धर्म सर्वज्ञपुरुष मे होने मे कोई बाधक युक्ति या प्रमाण नही है और सर्वज्ञ असर्वज्ञता का विपक्ष है, इसलिये विपक्षभूत सर्वज्ञ मे वक्तृत्व धर्म का अभाव है या नही, इस सदेह को अवकाश है। तात्पर्य, हेतु भूत वक्तृत्व धर्म की विपक्षभूत सर्वज्ञ से व्यावृत्ति सदिग्ध होने से सदिग्धव्यभिचार दोषवाला हेतु हो गया इसलिये वह असर्वज्ञता का गमक नही हो सकेगा'–तो ऐसी शका के विरुद्ध यह आपत्ति आयेगी कि धूम हेतु भी अग्नि का गमक नही होगा, क्योकि अग्नि के विपक्षभूत अर्थात् जहाँ अग्नि होने का निश्चित हो ऐसी सभी गृह आदि मे धूम का अभाव ही हो यह निश्चय करने की सामग्री न होने से उसका भी सदेह हो सकता है क्योकि वहाँ भी धूम की सत्ता होने मे कोई बाधक प्रमाण या युक्ति नही है। इसलिये अग्नि के प्रति धूम की गमकता भी विलुप्त हो जायगी।

अथ "कार्यं धूमो हुतभुजः, कार्यधर्मानुवृत्तितः, स तदभावेऽपि भवन् कार्यमेव न स्यात्" इत्यनग्नौ धूमस्य सद्भावबाधकं प्रमाणं विद्यत इति नासौ सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकस्तर्हि एतद् प्रकृतेऽपि वक्तृत्वादौ समानमिति तस्याप्यसर्वज्ञत्वं प्रति गमकत्वं स्यात्।

किं च, कार्यत्वे सत्यपि वक्तृत्वादेः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनाऽसर्वज्ञत्वं प्रत्यनियतत्वाद् यद्यगमकत्वं तर्हि स एवाऽस्मदभ्युपगतो नियमलक्षण संबन्धोऽभ्युपगतो भवति। अपि च, तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणसंबन्धाभावेऽपि नियमलक्षणसंबन्धप्रसादात् कृत्तिकोदय-चन्द्रोद्गमन-प्रद्यतनसवित्रुद्गम-गृहीताण्डपिपीलिकोत्सर्पण-एकाम्रफलोपलभ्यमानमधुररसस्वरूपाणां हेतूनां यथाक्रमं भाविशकटोदय-समानसमयसमुद्रवृद्धि-श्वस्तनभानूदय-भाविवृष्टि-तत्समानकालसिन्दूरारुणरूपस्वभावेषु साध्येषु गमकत्वं सुप्रसिद्धम्। संयोगादिलक्षणस्तु संबन्धो भवतैव साध्यप्रतिपादनांगत्वेन निरस्त इति तं प्रति न प्रयस्यते।

[विपक्षबाधक तर्क उभयत्र समान है]

पूर्वपक्षी:-आपने जो कहा कि-'अग्नि के विपक्ष मे धूम की सत्ता होने मे कोई बाधक प्रमाण नही है'-यह मिथ्या है, क्योकि बाधक प्रमाण यह रहा-धूम अग्नि का कार्य है क्योकि कार्य के जो गुणधर्म होते है उनकी उसमे अनुवृत्ति है, अब यदि वह अग्नि के अभावस्थल मे भी रहेगा तो वह उसका कार्य ही न होगा, अर्थात् उसके कार्यत्व के भग की आपत्ति होगी।-इस प्रकार का बाधक तर्क विद्यमान होने से धूम हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति यानी विपक्ष मे उसका अभाव सदिग्ध नही रहता किन्तु निश्चित हो जाता है।

उत्तरपक्षी -ऐसा तर्क तो प्रस्तुत स्थल मे भी समान ही है-वक्तृत्व असर्वज्ञता का कार्य दिखाई देता है क्योकि उसमे भी कार्यधर्म की अनुवृत्ति उपलब्ध है। यदि वह असर्वज्ञता का कार्य होने पर भी असर्वज्ञता के अभावस्थल मे रहेगा तो वह उसका कार्य न हो सकेगा, अर्थात् उसके कार्यत्व के भग की आपत्ति होगी। तो इस प्रकार वक्तृत्व भी असर्वज्ञता के गमक हो जाने की आपत्ति तदवस्थ रहती है।

[वक्तृत्व को अनियत मानने पर नियम की सिद्धि]

दूसरी बात यह है कि वक्तृत्व हेतु यह असर्वज्ञ का कार्य होने पर भी उसको विपक्षव्यावृत्ति सदिग्ध होने से असर्वज्ञत्व के प्रति नियमत सबद्ध न होने से असर्वज्ञता का गमक नही बन सकता है तो उसका निष्कर्ष यह फलित हुआ कि बौद्ध ने जो तदुत्पत्तिरूप सबध गम्य-गमकभाव नियामक माना है वह अयुक्त है और हमने जो अविनाभावरूप नियम यानी व्याप्ति को गम्य-गमकभाव नियामक सबन्ध रूप मे माना है वही ठीक है और आपने भी यहां उसका स्वीकार किया।

इस बात पर भी बौद्ध को ध्यान देना जरूरी है कि जहा तादात्म्य और तदुत्पत्ति मे से एक का भी सम्भव नही होता ऐसे कई स्थलो मे नियमात्मक सबध की कृपा से साध्य की गमकता हेतु मे सुप्रसिद्ध है-वे स्थल क्रमश इस प्रकार हैं—

हेतु	साध्य
A कृत्तिका नक्षत्र का उदय हुआ।	A अब शकट नक्षत्र का उदय होगा।
B चन्द्र का उदय हुआ।	B इस काल मे ही समुद्र मे भरती आई होगी।

एवं परोक्तसंबंधप्रत्याख्याने कृते सति । नियमो नाम संबंधः स्वमतेनोच्यतेऽधुना ।।
कार्यकारणभावादिसंबन्धानां द्वयी गतिः । नियमाऽनियमाभ्यां स्यादनियमादतद्गता ।।
सर्वेऽप्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम् । नियमात् केवलादेव न किंचिन्नानुमीयते ।। इत्यादि ।

स च सम्बन्धः a किमन्वयनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, उत b व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण इति विकल्पद्वयम् । तत्र यदि प्रथमो विकल्पोऽभ्युपगम्यते, तत्रापि वक्तव्यम्-किं a1 प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः, a2 उतानुमानेन इति ? a1 न तावत् प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः, अन्वयस्य हि रूपं 'तद्भावे तद्भावः' । न च ज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वेनाभ्युपगतस्य प्रत्यक्षेण सद्भावः शक्यते ग्रहीतुम्, तद्ग्राहकत्वेन प्रत्यक्षस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात् त्वयानभ्युपगमाच्च । नापि ज्ञातृव्यापारसद्भावे एवार्थप्रकाशनलक्षणस्य हेतोः सद्भावः प्रत्यक्षेण ज्ञातुं शक्यः, तस्यातीन्द्रियव्यापारजेन प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्तेः, तदशक्तिश्च अक्षाणां तेन सह सम्बन्धाभावात् । नापि स्वसंवेदनलक्षणेन प्रत्यक्षेण पूर्वोक्तस्य हेतोः सद्भावः शक्यो निश्चेतुम्, भवदभिप्रायेण तत्र तस्याऽव्यापारात् । तत्र प्रत्यक्षेण साध्यसद्भावे एव हेतुसद्भावलक्षणोऽन्वयो निश्चेतुं शक्य. ।

C आज सूर्योदय हुआ है।	C कल अवश्य सूर्योदय होगा ।
D चिंटीयाँ अपने अण्डे लेकर भाग रही है ।	D मेघवृष्टि होगी ।
E किसी एक आम्र फल का मधुर रस उपलब्ध हुआ ।	E उस काल मे वह आम्र फल सिंदुर जैसा रक्त-वर्ण वाला होगा ।

उपरोक्त हेतुओ का अपने अपने साध्य के साथ कोई तादात्म्य नही है । एवं उन साध्यो से हेतुओं की उत्पत्ति भी नही हुई है । फिर भी ये हेतु अनेक साध्यो का अविनाभावि है, अर्थात् उन हेतुओं के होने पर साध्य के होने का अतूट नियम है, इसी नियम के प्रभाव से उन हेतुओं से अपने अपने साध्यो का आनुमानिक बोध उदित होता है । सयोग-समवाय आदि सम्बन्ध साध्य का बोध कराने मे अगभूत नही हो सकता है यह तो बौद्ध ने ही स्व स्वग्रन्थ मे सिद्ध कर दिया है इसलिये गम्य-गमकभावनियामक सबधता का खडन करने के लिये पृथग् प्रयास करने की जरूर नही रहती ।

उपरोक्त रीति से बौद्धवादी कथित सबध का निराकरण किये जाने पर [नियमवादी कहता है कि] अब हमारे मत से नियम नाम के सम्बन्ध की बात की जाती है ।

कार्य-कारणभाव आदि सभी सबधो के बारे मे दो ही विकल्प हैं कि या तो वे नियमबद्ध हो या नियम से अबद्ध हो । नियम मे अबद्ध होने पर तद्गता यानी तद् की गमकता अर्थात् साध्य-बोधकता नही हो सकती ।

नियमविकल सभी सम्बन्ध अनुमान की उत्पत्ति के कारण नही है और केवल नियमरूप सम्बन्ध मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसका अनुमान न हो सके ।

[ज्ञातृव्यापार का नियम संबंध कैसे प्रतीत होगा ?]

[सदर्भ--अनुमान से ज्ञातृव्यापार का ग्रहण नही हो सकता यह बात चल रही है-उसमे जिन दो का सबन्ध ज्ञात रहे तब एक के दर्शन से अन्य परोक्षअर्थ की अनुमान बुद्धि होती है यह कहा था । वह सबंध नियमरूप ही हो सकता है यह सिद्ध करने के बाद अब यह बताना है कि ज्ञातृव्यापार के साथ नियम सबध वाला दूसरा कोई नही है इसलिये ज्ञातृव्यापार असिद्ध है क्योंकि,]

a2 नाप्यनुमानेन तन्निश्चयः, अनुमानस्य निश्चितान्वयहेतुप्रभवत्वाभ्युपगमात् । न च तस्यान्वयः प्रत्यक्षसमधिगम्यः पूर्वोक्तदोषप्रसंगात् । अनुमानात् तन्निश्चयेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषावनुषज्येत इति प्रागेव प्रतिपादितम् । न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरं सम्भवति । तन्न अन्वयनिश्चयद्वारेण ज्ञातृव्यापारे साध्ये पूर्वोक्तस्य हेतोर्नियमलक्षण. सम्बन्धो निश्चेतुं शक्य ।

वह नियमात्मक सबन्ध की प्रतीति a अन्वय के निश्चय से या b व्यतिरेक के निश्चय से होती है ये दो विकल्प विचारणीय हैं। यदि प्रथम विकल्प लिया जाय तो वहाँ भी दो प्रश्न है-a1 क्या वह अन्वय निश्चय प्रत्यक्ष से होता है अथवा a2 अनुमान से ? a1 प्रत्यक्ष से अन्वय का निश्चय नही हो सकता क्योंकि अन्वय का आकार है 'एक के होने पर ही दूसरे का होना'। प्रस्तुत में अन्वय का यह संभवित आकार है 'ज्ञातृव्यापार के होने पर ही अर्थप्रकाशनरूप हेतु का होना'। किन्तु प्रमाण-रूप से स्वीकृत यह ज्ञातृव्यापार प्रत्यक्ष से तो गृहीत होता नही, क्योकि 'प्रत्यक्ष से ज्ञातृव्यापार का ग्रहण नही होता' यह निषेध पहले ही कर दिया है और प्रतिवादी ज्ञातृव्यापार को प्रत्यक्षयोग्य मानता भी नहीं है। तात्पर्य, 'ज्ञातृव्यापार के होने पर' यह अन्वय का एक अंश प्रत्यक्ष योग्य नही है। 'ज्ञातृव्यापार होने पर ही अर्थप्रकाशन रूप हेतु का होना' इस अन्वय का जो दूसरा अश अर्थ प्रकाशन है वह भी प्रत्यक्ष से जाना जा सके ऐसा नही है, क्योकि उसमे इन्द्रिय के व्यापार की पहुच न होने से इन्द्रिय-व्यापारजन्य प्रत्यक्ष से उसकी प्रतिपत्ति अशक्य है। अशक्य इस लिये कि इन्द्रियों का अर्थप्रकाशन के साथ कोई सबध ही नही है जो उसका प्रत्यक्ष करा सके। इन्द्रिजन्यप्रत्यक्ष जैसे असमर्थ है वैसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष यानी मानसप्रत्यक्ष भी असमर्थ है, अत: उससे भी पूर्वोक्त अर्थप्रकाशनरूप हेतु के सद्भाव का निश्चय अशक्य है। क्योकि प्रतिवादी के अभिप्राय से, अर्थ प्रकाशन से निश्चय मे स्व-संवेदन प्रत्यक्ष का कोई व्यापार नही है। उपसहार-'साध्य ज्ञातृव्यापार के सद्भाव मे ही हेतु-अर्थ 'प्रकाशन का सद्भाव' इस अन्वय का निश्चय प्रत्यक्ष से नही हो सकता।

[अनुमान से अन्वयनिश्चय अशक्य]

a2 "अनुमान से अन्वय का निश्चय होगा, अर्थात् 'ज्ञातृव्यापार होने पर ही अर्थप्रकाशनरूप हेतु का होना' यह निश्चय अनुमान से होगा"-यह भी कहना शक्य नही है, क्योकि यह सर्वमान्य है कि जिस हेतु मे साध्य का अन्वय पूर्व निश्चत हो उसी हेतु से अनुमान का जन्म होता है। यहाँ अर्थ प्रकाशनरूप हेतु मे ज्ञातृव्यापार रूप साध्य का अन्वय प्रत्यक्ष से पूर्व निश्चित है यह नही कहा जा सकता क्योकि उस मे दोष प्रसङ्ग है जो 'न तावत् प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः' इत्यादि से पहले बताया है। अनुमान से ज्ञातृव्यापार के साथ अर्थ.काशनरूप हेतु के अन्वय का निश्चय करने जाओगे तो अन-वस्था होगी क्योंकि वह अनुमान भी निश्चितान्वय वाले हेतु से ही मानना होगा और उस हेतु के अन्वय का निश्चय करने के लिये अन्य अनुमान ढूंढना होगा, उसके हेतु के अन्वयनिश्चय के लिये भी अन्य अनुमान....इस प्रकार अनवस्था चलेगी। यदि कहा जाय कि-'द्वितीय अनुमान के अन्वय का निश्चय अन्य अनुमान से नही करना है किंतु पूर्व अनुमान से ही सिद्ध हो जायगा'-तो इसमे अन्योन्याश्रय दोप लगेगा, क्योकि प्रथम अनुमानजनक हेतु के अन्वय का निश्चय द्वितीय अनुमान से होगा और द्वितीय अनुमानजनक हेतु के अन्वय का निश्चय प्रथम अनुमान होने पर होगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रित होने से दो मे से एक भी न होगा। यह सब पहले भी कहा जा चुका है। अन्य कोई प्रमाण से अन्वय का निश्चय होने की सभावना ही नही है क्योकि प्रत्यक्ष और अनुमान से

b नापि व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण, यतो व्यतिरेकः 'साध्याभावे हेतोरभाव एव' इत्येवंस्वरूपः, न च प्रकृतस्य साध्यस्याभाव' प्रत्यक्षेण समधिगम्यः, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, अनभ्युपगमात्, अभावप्रमाणवैयर्थ्यप्रसंगाच्च। नाप्यनुमानादिसद्भावग्राहकप्रमाणनिश्चेयः, अत एव दोषात्। अथाऽदर्शननिश्चेय इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः, यतोऽदर्शनं किमनुपलम्भरूपं ? आहोस्विद् अभावप्रमाणस्वरूपमिति वक्तव्यम्।

तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, यतोऽत्रापि वक्तव्यम्-अनुपलम्भः किं दृश्यानुपलम्भोऽभिप्रेतः, आहोस्विद् अदृश्यानुपलम्भ इति ? तत्र यद्यदृश्यानुपलम्भः प्रकृतसाध्याभावनिश्चायकोऽभिप्रेतः तदाऽत्रापि कल्पनाद्वयम्-किं स्वसम्बन्धी अनुपलम्भस्तन्निश्चायकः, उत सर्वसम्बन्धी ? यद्यात्मसम्बन्धी तन्निश्चायकः, स न युक्तः, परचेतोवृत्तिविशेषैस्तस्यानैकान्तिकत्वात्। अथ सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भस्तन्निश्चायक इत्यभ्युपगमः, अयमप्ययुक्तः, सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्याऽसिद्धत्वात्।

अन्य कोई तीसरे प्रमाण का सभव ही नही है। निष्कर्ष- ज्ञातृव्यापार को सिद्ध करने वाले अर्थप्रकाशनरूप हेतु का अपने साध्य के साथ नियमरूप सम्बन्ध a अन्वय निश्चय के द्वारा निश्चित नही हो सकता।

[व्यतिरेकनिश्चय से ज्ञातृव्यापार के नियम का अनिश्चय]

b व्यतिरेक निश्चय द्वारा भी ज्ञातृव्यापार साध्य के साथ अर्थप्रकाशन हेतु का नियम सम्बन्ध का बोध नही हो सकता। क्योकि व्यतिरेक का स्वरूप है-'साध्य न होने पर हेतु का अवश्य अभाव होना'। अब सवाल यह है कि प्रस्तुत 'ज्ञातृव्यापार साध्य नही है'-यह कैसे जाना जाय ? प्रत्यक्ष से तो यह जानना अशक्य है, क्योकि प्रत्यक्षज्ञान केवल भावविषयक ही होता है, अत. अभावविषयकत्व के साथ उसका विरोध है। इसलिये आप (मीमासक) के मत मे प्रत्यक्ष मे अभावविषयकत्व मान्य नही है। अगर वह मान भी लिया जाय तो अभाव ग्रहण के लिये आपने जो एक स्वतन्त्र अभाव प्रमाण माना है वह बेकार हो जायगा क्योकि अभाव का ग्रह प्रत्यक्ष से ही हो जायेगा फिर उसकी क्या जरूर ?

अनुमान से भी साध्याभाव का निश्चय अशक्य है, क्योकि उसमे भी प्रत्यक्षपक्षत् वविरोध, अनभ्युपगम और अभावप्रमाणव्यर्थता प्रसङ्ग, ये दोष लग सकते है। अब यदि यह कहा जाय कि साध्य के अदर्शन से अर्थात् साध्य का दर्शन न होने से उसके अभाव का निर्णय होगा तो इस पर दो विकल्प प्रयुक्त है, (१) वह अदर्शन क्या साध्य के अनुपलम्भरूप है या (२) वह अभाव प्रमाणस्वरुप है यह कहो।

[अनुपलम्भरूप अदर्शन के अनेक विकल्प]

अनुपलम्भ और अभावप्रमाण रूप दो विकल्प मे अगर प्रथम पक्ष माना जाय तो वह तर्कसगत नही-क्योकि यहा भी बताना होगा कि-अनुपलम्भ के दो प्रकार मे से आप को कौन सा ग्राह्य है-दृश्यानुपलम्भ या अदृश्यानुपलम्भ ? यदि ज्ञातृव्यापार रूप साध्य अदृश्य है इसलिये उसके अनुपलम्भ को प्रकृत ज्ञातृव्यापाररूप साध्य के अभाव का निश्चायक मानते हो तो यहा भी बताना होगा कि तत्सम्बन्धी दो कल्पना मे से आपको कौनसी मान्य है-स्वसम्बन्धी अनुपलम्भ या सर्व सम्बन्धी अनुपलम्भ ?, दो कल्पना का तात्पर्य इस प्रश्न मे है कि केवल अपने को साध्य का उपलम्भ नही है इतने से ही साध्याभाव सिद्ध है ? या सभी को साध्य का उपलम्भ नही होता, इसलिये उसके

अथ दृश्यानुपलम्भस्तन्निश्चायक इति पक्षः, सोऽप्यसंगतः, यतो दृश्यानुपलम्भश्चतुर्धा व्यवस्थितः-स्वभावानुपलम्भः, कारणानुपलम्भः, व्यापकानुपलम्भः, विरुद्धविधिश्चेति । तत्र यदि स्वभावानुपलम्भस्तन्निश्चायकत्वेनाऽभिमतः, स न युक्तः, स्वभावानुपलब्धस्यैवंविधे विषये व्यापाराऽसम्भवात् । तथाहि-एकज्ञानसंसर्गिणस्तुल्ययोग्यतास्वरूपस्य भावान्तरस्याऽभावव्यवहारसाधकत्वेन पर्युदासवृत्त्या तदन्यज्ञानस्वभावोऽसावभ्युपगम्यते, न च प्रकृतस्य साध्यस्य केनचित् सहैकज्ञानसंसर्गित्वं संभवतीति नात्र स्वभावानुपलम्भस्य व्यापारः ।

नाऽपि कारणानुपलम्भः प्रकृतसाध्याभावनिश्चायकः, यतः सिद्धे कार्यकारणभावे कारणानुपलम्भः कार्याभावनिश्चायकत्वेन प्रवर्त्तते, न च प्रकृतस्य साध्यस्य केनचित् सह कार्यत्वं निश्चितम्, तस्याऽदृश्यत्वेन प्रागेव प्रतिपादनात् । प्रत्यक्षानुपलम्भनिबन्धनश्च कार्यकारणभाव इति कारणानुपल-

अभाव की सिद्धि होती है ? यदि आत्मसम्बन्धी याने अपने को उपलम्भ नही होता—यह प्रथम विकल्प साध्याभाव का निर्णायक कहा जाय तो यह अयुक्त है क्योकि उसमे व्यभिचार दोष है, वह इस प्रकार-जिस वस्तु का अपने को उपलम्भ नहीं होता फिर भी दूसरे की चित्तवृत्ति को उसका उपलम्भ हो सकता है-तो वहाँ उस वस्तु का अभाव नही माना जाता, तब यहाँ भी केवल अपने को साध्य का उपलम्भ नही होता है, फिर भी दूसरे की चित्तवृत्ति मे उसका उपलम्भ होता हो तो उसका इनकार नही हो सकता, तो यहाँ साध्य का अभाव केवल स्वसम्बन्धी अनुपलम्भ से सिद्ध नही हो सकता है-यही व्यभिचार हुआ ।

यदि दूसरा विकल्प मानकर कहा जाय कि 'सभी को साध्य का उपलम्भ नही होता' तो यह भी अयुक्त ही है, क्योकि 'ज्ञातृव्यापार रूप साध्य का किसी को भी उपलम्भ ही नही होता' यह सर्वथा असिद्ध है, क्योकि अल्पज्ञ व्यक्ति ऐसा नही बता सकते ।

[दृश्यानुपलम्भ के विविध विकल्प]

अब यदि प्रथम विकल्प को मानकर यह कहे कि ज्ञातृव्यापार का अनुपलम्भ यह दृश्य का अनुपलम्भ है और उससे ज्ञातृव्यापार के अभाव का निश्चय होगा, तो यह भी सगत नही है, क्योकि दृश्यानुपलम्भ का चार प्रकार है-स्वभावानुपलम्भ, कारणानुपलम्भ, व्यापकानुपलम्भ, और विरुद्ध विधि यानी विरुद्धोपलब्धि । इनमे से यदि पहला स्वभावानुपलम्भ ज्ञातृव्यापार के अभाव का निश्चायक माना जाय तो वह युक्त नही है, क्योकि ज्ञातृव्यापार के अभाव के निर्णय मे स्वभावानुपलम्भ का कुछ भी व्यापार सभवित नही है । वह इस प्रकार—स्वभावानुपलम्भ मे अनुपलम्भ शब्द मे नञ् का प्रयोग पर्युदासवृत्ति से है, प्रसज्यवृत्ति से नही है, इसलिये स्वभावानुपलम्भ का अर्थ होता है प्रकृत साध्य से इतर का उपलम्भ = ज्ञान । ऐसा अर्थ फलित होने का कारण यह है कि जहाँ दो वस्तु एकज्ञानससर्गी होते है अर्थात् एक ही ज्ञान दोनो को विषय करने वाला होता है और इस प्रकार दोनो की एकज्ञान के विषय होने की तुल्य योग्यता होती है तब दोनो मे से एक का ही उपलम्भ होने पर दूसरी वस्तु के अभाव का व्यवहार किया जाता है । जैसे भूतल और घट तुल्य योग्यता वाले होने से तथा एक ही ज्ञान के ससर्गि होने से जब शून्य भूतलमात्र का उपलम्भ होता है तब घट के अभाव का व्यवहार किया जाता है । प्रस्तुत मे प्रकृतसाध्य का कोई एकज्ञानससर्गी होने की सभावना ही नही है, इसलिये स्वभावानुपलम्भ की प्रस्तुत मे कोई गति शक्य नही है ।

म्भोऽपि न तन्निश्चायकः । व्यापकानुपलम्भस्तु सिद्धे व्याप्य व्यापकभावे व्याप्याभावसाधकोऽभ्युपगम्यते, न च प्रकृतसाध्यव्यापकत्वेन कश्चित् पदार्थो निश्चेतुं शक्यः, प्रकृतसाध्यस्यादृश्यत्वप्रतिपादनात् । तन्न व्यापकानुपलम्भोऽपि तन्निश्चायकः ।

विरुद्धोपलब्धिरप्यत्र विषये न प्रवर्तते । तथाहि–एको विरोधोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् सहानवस्थानलक्षणो निश्चीयते शीतोष्णयोरिव विशिष्टात् प्रत्यक्षात्, न च प्रकृतं साध्यमविकलकारणं कस्यचिद् भावे निवर्त्तमानमुपलभ्यते तस्याऽदृश्यत्वादेव । द्वितीयस्तु परस्परपरिहारस्थितिलक्षण:, सोऽपि लक्षणस्य स्वरूपव्यवस्थापकधर्मरूपस्य दृश्यत्वाभ्युपगमनिष्ठो दृश्यत्वाभ्युपगमनिमित्तप्रमाणनिबन्धनो न प्रकृतसाध्यविषये संभवति, तन्न ततोऽपि प्रस्तुतसिद्धिः । तन्न साध्यस्याभावनिश्चयोऽनुपलम्भनिबन्धन. ।

[कारणानुपलम्भ से ज्ञातृव्यापार का अभावनिश्चय अशक्य]

कारणानुपलम्भ से प्रकृत साध्य के अभाव का निश्चय माना जाय तो यह भी सभव नही है, क्योकि दो वस्तु मे कार्यकारणभाव सिद्ध हो वहाँ कारण के अनुपलम्भ से कार्य के अभाव का निश्चय किया जा सकता है । किंतु प्रकृत साध्यके प्रति किसी की कारणता ही निश्चित नही है क्योकि वह अदृश्य है यह पहले कहा जा चुका है । यह भी समझना चाहिये कि कार्यकारणभाव तो प्रत्यक्ष–अनुपलम्भमूलक होता है इसलिये जब तक अनुपलम्भ अनिश्चित रहेगा तव तक कार्य–कारण भाव ही सिद्ध नही होगा तो कारणानुपलम्भ से प्रकृत साध्य के अभाव निश्चय की बात ही कहाँ ? व्यापकानुपलम्भ भी प्रकृत साध्य के अभाव का निश्चय नही करा सकता। उसका कारण यह है कि दो वस्तु मे व्याप्यव्यापक भाव सिद्ध होने पर व्यापक की अनुपलब्धि से व्याप्य का अभाव सिद्ध होता है । प्रकृत साध्य तो दृश्य नही अदृश्य है ऐसा कहा गया है, इसलिये उसके व्यापकरूप मे किसी पदार्थ का निश्चय ही शक्य नही है जिसके अनुपलम्भ से उसका अभाव सिद्ध हो सके ।

[विरुद्धोपलब्धि से ज्ञातृव्यापाराभाव का अनिश्चय]

प्रकृत साध्य के अभाव निश्चय मे विरुद्धोपलब्धि भी असफल है । जैसे, विरोध दो प्रकार का सभवित है १ सहानवस्थानरूप, जब एक भाव की कारणसामग्री अविकल होने पर भी अन्य भाव की उपस्थिति मे उसकी सदा अनुत्पत्ति या अभाव ही रहता है तब निश्चित होता है कि यहाँ सहानवस्थानरूप विरोध है जैसे कि विशिष्ट प्रत्यक्ष यानी स्पार्शन प्रत्यक्ष से, शीत स्पर्श के रहने पर उष्ण स्पर्श वहा नही रह सकता और उष्ण स्पर्श रहने पर शीत स्पर्श वहाँ नही रह सकता । प्रस्तुत मे जो साध्य है वह अविकल कारणवाला होता हुआ किसी अन्य भाव की उपस्थिति मे कभी न रहता हो -ऐसा देखा नही गया क्योकि वह साध्य ही अदृश्य है । दूसरा परस्परपरिहार रूप विरोध है, दो पदार्थ सदा के लिये एक-दूसरे के अभाव मे एक दूसरे के आक्षेपक हो जैसे गोत्व और गोत्वाभाव, तो उन दोनो का परस्परपरिहार रूप विरोध कहा जाता है । यह विरोध गो के स्वरूप का व्यवस्थापक असाधारण गोत्व धर्म के दृश्य होने पर ही अवलम्बित है तथा गोत्व को दृश्य मानने मे निमित्त भूत जो प्रत्यक्ष प्रमाण, तन्मूलक है । तात्पर्य, प्रत्यक्ष प्रमाण से गोत्व जब दृश्य यानी साक्षात्कार विषयीभूत होता है तभी गोत्व और गोत्वाभाव के बीच प्रत्यक्ष प्रमाण से परस्परपरिहाररूप विरोध का निश्चय होता है । प्रस्तुत मे जो प्रकृत साध्य है वह तो अदृश्य है इसलिये उसके दूसरे प्रकार का विरोधी भी

साधनाभावनिश्चयोऽपि नाऽदृश्यानुपलम्भनिमित्तः, उक्तदोषत्वात् । दृश्यानुपलम्भनिमित्तत्वेऽपि न स्वभावानुपलम्भस्तन्निमित्तम्, उद्दिष्टविषयाभावव्यवहारसाधकत्वेन तस्य व्यापाराभ्युपगमात् । अनुद्दिष्टविषयत्वेऽपि यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्र साधनाभाव इत्येवं न ततः साधनाभावनिश्चयः, तन्निश्चयश्च नियमनिश्चयहेतुरिति न स्वभावानुपलम्भोऽपि तन्नियमहेतुः ।

नापि कारणानुपलम्भः, यतः कारणं ज्ञातृव्यापार एवार्थप्रकटतालक्षणस्य हेतोर्भवताऽभ्युपगम्यते, न चासौ प्रत्यक्षसमधिगम्य इति कुतस्तस्य सम्प्रति [? तं प्रति] कारणत्वावगमः ? इति न कारणानुपलम्भोऽपि तदभावनिश्चयहेतुः । व्यापकानुपलम्भेऽप्ययमेव न्यायः, यतो व्यापकत्वमपि पूर्वोक्तहेतुं प्रति ज्ञातृव्यापारस्यैवाभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽन्यस्य व्यापकत्वे साध्यविपक्षाद् व्यापकनिवृत्तिद्वारेण निवर्त्तमानमपि साधनं न साध्यनियतं स्यात् ।

उपलब्ध नही हो सकता जिससे उसके अभाव का निश्चय किया जा सके । निष्कर्ष यह आया कि प्रकृत साध्य के अभाव का निश्चय अनुपलम्भमूलक नही है ।

[अर्थप्राकट्यरूप साधन के अभाव का अनिश्चय]

ज्ञातृव्यापार रूप साध्य के अभाव का निश्चय जैसे अनुपलम्भनिमित्तक नही है वैसे अर्थप्रकटता रूप साधन के अभाव का निश्चय भी अनुपलम्भमूलक होना शक्य नही है । यदि उसे अदृश्यानुपलम्भमूलक माना जाय तो उसमे भी स्वसम्बन्धी-सर्वसंबन्धी आदि विकल्प लागू करने पर वे ही दोष आयेंगे जो साध्याभाव के निश्चय मे लगाये हैं । दृश्यानुपलम्भमूलक माना जाय तो उसमें चार विकल्प पूर्ववत् लागू करने पर पहले विकल्प मे, साधनाभाव का निश्चायक स्वभावानुपलम्भ नही हो सकता क्योंकि उसका व्यापार पर्युदासनञ्वृत्ति से पूर्वकथित एकज्ञानसंसर्गि ऐसे भावान्तर के अभाव का व्यवहार सिद्ध करने मे ही है, क्योंकि वह अन्यज्ञानस्वभाव है । कदाचित् पूर्वकथितविषयक उसका व्यापार न भी माना जाय तो भी 'जहाँ जहाँ साध्याभाव हो वहाँ वहाँ साधन का अभाव होता है' इस प्रकार के व्यतिरेक निश्चय का अंगभूत साधनाभाव का निश्चय तो उससे कथमपि शक्य नही है । साधनाभाव का निश्चय तो उक्त व्यतिरेक के निश्चय मे अंगभूत होने से जब तक साधनाभाव का निश्चय स्वभावानुपलम्भ से नही होगा तब तक स्वभावानुपलम्भ यह व्यतिरेक निश्चयमूलक उक्त नियम की सिद्धि मे हेतु भी नही बन सकता-यह तो स्पष्ट बात है ।

[कारणानुपलम्भ और व्यापकानुपलम्भ से साधनाभाव का अनिश्चय]

कारणानुपलम्भ भी साधनाभाव का निश्चायक नही हो सकता, क्योंकि अर्थप्रकटतारूप हेतु का जो आपने जनक माना है ज्ञातृव्यापार, उसका अधिगम प्रत्यक्ष से तो संभव नही है फिर अर्थप्रकटता के प्रति उसकी कारणता का ग्रह कैसे किया जाय ? फलित यह होता है कारणानुपलम्भ भी साधनाभाव के निश्चय का हेतु नही बन सकता । व्यापकानुपलम्भ में भी यही न्याय लागू होता है । क्योंकि अर्थप्रकटता हेतु का व्यापक प्रस्तुत में साध्यभूत ज्ञातृव्यापार को ही मानना होगा । उससे इतर अन्य किसी को व्यापक मानने पर उस व्यापक की जहाँ जहाँ निवृत्ति (=अभाव) होगी वहाँ तो साधनाभाव की सिद्धि हो सकेगी किन्तु ज्ञातृव्यापार के अभावस्थल में साधनाभाव की निवृत्ति निश्चित न हो सकेगी । फलत व्यतिरेक निश्चय द्वारा साधन का साध्य के साथ नियम अनिश्चित ही रहेगा ।

अथ यथा सत्त्वलक्षणो हेतुः क्षणिकत्वलक्षणसाध्यव्यतिरिक्तक्रमयौगपद्यस्वरूपपदार्थान्तर-व्यापकनिवृत्तिद्वारेणाऽक्षणिकलक्षणाद् विपक्षाद् व्यावर्त्तमानः स्वसाध्यनियतस्तथा प्रकृतोऽपि हेतुर्भवि-ष्यति। असम्यगेतद्, यतस्तत्रापि यद्यर्थक्रियालक्षणसत्त्वव्यापके क्रमयौगपद्ये कुतश्चिद् प्रमाणाद् क्षणिके सिद्धे भवतः तदा तन्निवृत्तिद्वारेण विपक्षाद् व्यावर्त्तमानोऽपि सत्त्वलक्षणो हेतुः स्वसाध्यनियतः स्याद्, अन्यथा तत्र व्यापकवृत्त्यनिश्चये राश्यन्तरे क्षणिकाऽक्षणिकरूपे तस्याशंक्यमानत्वेन तद्व्याप्य-स्यापि नैकान्ततः क्षणिकनियतत्वनिश्चयः। न च प्रकृतसाध्येऽयं न्यायः, तस्यात्यन्तपरोक्षत्वेन हेतु-व्यापकभावान्तराधिकरणत्वाऽसिद्धेः। तन्न व्यापकानुपलम्भनिमित्तोऽपि विपक्षे साधनाभावनिश्चयः।

नापि विरुद्धोपलब्धिनिमित्तः, प्रकृतसाध्यस्यात्यन्तपरोक्षत्वेन तदप्रतिपत्तौ तदभावनियतविपक्ष-स्याप्यप्रतिपत्तितस्तेन सहार्थप्रकाशनलक्षणस्य हेतोः सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः। परस्परपरि-

---

[सत्त्व हेतु से क्षणिकत्व के साधन का असंभव]

यहाँ कोई शका करते हैं कि–"जैसे सत्त्व हेतु का जो क्षणिकत्व साध्य है उससे अतिरिक्त सत्त्व का व्यापक, क्रम यानी क्रम से कार्यों को करना' और 'यौगपद्य यानी एक साथ सर्व कार्यों का करना' ये दो अन्य पदार्थ हैं, उनकी अक्षणिक भाव से निवृत्ति भी यह कह कर बतायी जाती है कि अक्षणिकभाव क्रम से अन्य अन्य कार्यों को नही उत्पन्न कर सकता, क्योकि कि तब स्वभावभेद की आपत्ति आती है, एव एकसाथ भी सर्व कार्य नही कर सकता क्योकि तब दूसरे क्षण बेकार बन जाने से सत्त्व का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व उसमे नही रहेगा। इस प्रकार अक्षणिकभावरूप विपक्ष से क्रम-यौगपद्य व्यापकद्वय की निवृत्ति बता कर सत्त्वरूप व्याप्य की निवृत्ति सिद्ध करके क्षणिकत्व रूप अपने साध्य के साथ उसकी व्याप्यता सिद्ध की जाती है, उसी रीति से प्रकृत साध्य से इतर व्यापक की निवृत्ति द्वारा अर्थप्रकटतारूप हेतु की ज्ञातृव्यापार रूप साध्य के साथ नियतता क्यो नही दिखाई जा सकती ?"–किन्तु यह शका समीचीन नही है, क्योकि ऐसा तभी कहा जा सकता है जब क्षणिकवाद मे क्षणिक पदार्थ मे किसी प्रमाण से अर्थक्रिया स्वरूप सत्त्व के व्यापक क्रम और यौगपद्य निश्चित हो तब अक्षणिक भाव से उनकी निवृत्ति से सत्त्वरूप हेतु की निवृत्ति बताने द्वारा क्षणिकत्व साध्य के साथ सत्त्व हेतु के नियम की सिद्धि की जा सकती है, किन्तु क्षणिक भाव मे क्रम-यौगपद्य का किसी प्रमाण से निश्चय ही नही है। इस निश्चय के विना अर्थात् क्रम-यौगपद्यरूप व्यापक का क्षणिकभाव मे निश्चय किये विना भी यदि क्षणिकत्व के साथ सत्त्व का नियम पूर्वोक्त रीति से मान लिया जाय तो राश्यन्तर वादी अर्थात् पदार्थ क्षणिक नही है, अक्षणिक भी नही है किंतु तीसरे ही राशि यानी तीसरे प्रकार का अर्थात् क्षणिकाक्षणिक उभयरूप है ऐसा जो मानते है वे भी कहेगे कि क्रम और यौगपद्य 'क्षणिकाक्षणिक' भाव मे भले अनिश्चित हो किंतु वे दोनो क्षणिकभाव मे और अक्षणिकभाव मे घटित न होने से वहा से निवृत्त होता हुआ उसके व्याप्य अर्थक्रियात्मक सत्त्व की भी निवृत्ति कर देने से आखिर 'क्षणिकाक्षणिक' भाव से उसकी व्याप्ति की कल्पना की जा सकती है। तो ऐसा कहने पर एकान्तक्षणिकत्व के साथ सत्त्व की व्याप्ति का भी निश्चय नही हो सकेगा। और सच बात तो यह है कि प्रकृत साध्य ज्ञातृव्यापार मे तो उक्त कथन भी लागू नही हो सकता क्योकि साध्य ही अत्यन्त परोक्ष है इसलिये हेतु का उससे अन्य कोई व्यापक भी सिद्ध नही है, तब उसका अधिकरण भी असिद्ध होने से विपक्षादि का निश्चय न होने पर साधन के अभाव का निश्चय दूरतरवर्त्ती हो जाता है। निष्कर्ष यह आया कि विपक्ष मे साधन के अभाव का निश्चय व्यापकानुपलम्भ द्वारा भी शक्य नही है।

हारस्थितिलक्षणस्तु विरोधोऽन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरर्थप्रकाशनाऽप्रकाशनयोः संभवति, न पुनरर्थप्रकाशन-ज्ञातृव्यापारयोः, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वाभावात् । नापि ज्ञातृव्यापारनियतत्वादर्थप्रकाशनस्य साध्य-विपक्षेण विरोध इति शक्यमभिधातुम्, अन्योन्याश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि-सिद्धे तन्नियतत्वे तद्विपक्ष-विरोधसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तन्नियतत्वसिद्धिरिति स्पष्ट एवेतरेतराश्रयो दोषः । तन्न विरुद्धोपलब्धिनि-मित्तोऽपि विपक्षे साधनाभावनिश्चय ।

अथाऽदर्शनशब्देन अभावाख्यं प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तमभिधीयते, तदप्यनुपपन्नम्, तस्य तन्निमित्तत्वाऽसंभवात् । तथाहि-निषेध्यविषयप्रमाणपंचकस्वरूपतयाऽऽत्मनोऽपरिणामरूपं वा तदभ्यु-पगम्येत, तदन्यवस्तुविषयज्ञानरूपं वा ? गत्यन्तराभावात् । तदुक्तम्-[श्लो० वा० सू० ५-श्लो० ११]

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ।।

तत्र यदि 'निषेध्यविषयप्रमाणपंचकरूपत्वेनाऽऽत्मनोऽपरिणामलक्षणमभावाख्यप्रमाणं साधना-भावनियतसाध्याभावस्वरूपव्यतिरेकनिश्चयनिमित्तं' इत्यभ्युपगमः, स न युक्तः, तस्य समुद्रोदकपल-परिमाणेनानैकान्तिकत्वात् ।

[साधनाभाव का निश्चय विरुद्धोपलब्धि से अशक्य]

विरुद्धोपलब्धि से भी साधनाभाव का निश्चय सभवित नही, क्योकि अर्थप्रकाशनरूप प्रकृत हेतु का ज्ञातृव्यापार रूप साध्य तो अत्यन्तपरोक्ष होने से उसका अवगम न होने पर साध्याभाव से नियत जो साध्य का विपक्ष है वह भी अनवगत ही रह जायेगा और उसके अनवगत रहने पर उसके साथ अर्थप्रकाशनरूप हेतु का सहानवस्थान रूप विरोध भी सिद्ध नही हो सकता । परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध तो एक दूसरे का व्यवच्छेद करने वाले अर्थ-प्रकाशन और अर्थ-अप्रकाशन के बीच हो सकता है किन्तु अर्थप्रकाशन और ज्ञातृव्यापार परस्पर व्यवच्छेद रूप न होने से उन दोनो के बीच उसका सभव नही है । यह भी कहना शक्य नही कि–'अर्थप्रकाशन रूप हेतु ज्ञातृव्यापार रूप साध्य के साथ नियत यानी व्याप्त होने से साध्य के विपक्ष के साथ उसका विरोध होना ही चाहिये ।'–कारण, साध्य के साथ हेतु का नियम सिद्ध करने के लिये उसके निश्चायक व्यतिरेक का तो अभी विचार चल रहा है तब उसी नियम को सिद्ध जैसा मानकर यह कैसे कहा जा सकता है कि विरोध उस नियम से सिद्ध है ? ऐसा कहने पर तो अन्योन्याश्रय दोष ही लगेगा, क्योकि उस नियम के सिद्ध होने पर साध्य का विपक्ष के साथ विरोध सिद्ध होगा और विरोध सिद्ध होने पर वह नियम सिद्ध होगा । इस प्रकार यह मानना होगा कि विपक्ष मे साधन के अभाव का निश्चय जो कि नियम के निश्चय मे उपयोगी है वह विरुद्धोपलब्धि के द्वारा शक्य नही है ।

[अभाव प्रमाण से व्यतिरेक का निश्चय दुःशक्य]

अब नियमसाधक व्यतिरेकनिश्चय की सिद्धि के लिये पूर्व मे कहे गये 'अदर्शननिश्चेय' शब्द मे अदर्शन शब्द से अभावनाम के प्रमाण को लेकर उसको व्यतिरेक निश्चय का निमित्त माना जाय तो यह सगत होने वाला नही है, क्योकि दो विकल्प से विचार करने पर अभाव प्रमाण उसका निमित्त ही नही बन सकता । प्रथम विकल्प-'जिस वस्तु का निषेध करना है उसको विषय करने वाले प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणरूप मे आत्मा का परिणत नही होना' इसी को अभावप्रमाण कहते है ? या

अथान्यवस्तुविषयविज्ञानस्वरूपमभावाख्यं प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तमिति पक्षः, सोऽपि न युक्तः विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि–किं तत् साध्यनियतसाधनस्वरूपादन्यद् वस्तु यद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानमित्युच्यते ? यदि यथोक्तसाधनस्वरूपव्यतिरिक्तं पदार्थान्तरं तदा वक्तव्यम्-तद् एकज्ञानसंसर्गि साधनेन सह उतान्यथा ? इति । यदि यथोक्तसाधनेनैकज्ञानसंसर्गि तदा तद्विषयज्ञानात् सिध्यति यथोक्तसाधनस्याभावनिश्चयः प्रतिनियतविषयः, किंतु 'यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्रावश्यंतया साधनस्याप्यभावः' इत्येवंभूतो व्यतिरेकनिश्चयो न ततः सिध्यति सर्वोपसंहारेण साधनाभावनियतसाध्याभावनिश्चयश्च हेतोः साध्यनियतत्वलक्षणनियमनिश्चायक इति नैकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भादभावाख्यात् प्रमाणाद् व्यतिरेकनिश्चयः ।

दूसरा विकल्प–उस विषय से अन्य वस्तु का ज्ञान हुआ–इसको अभाव प्रमाण कहना है ? इन दो विकल्प से अतिरिक्त तीसरी कोई सभावना अभावप्रमाण मे शक्य नही । कहा भी है–

"प्रत्यक्षादि अर्थापत्तिपर्यन्त पाच प्रमाण की किसी विषय मे अनुत्पत्ति यह अभावप्रमाण का लक्षण है–यह अनुत्पत्ति विवक्षित विषय के ज्ञानरूप मे आत्मा के अपरिणामरूप हो सकती है या तो उस विषय से अन्य किसी विषय के ज्ञानरूप हो सकती है ।" [श्लो० वा० ५–११]

इन दो विकल्प मे से प्रथम विकल्प का अगीकार करके यह कहा जाय कि–निषेध्यविषय स्पर्शी पाच प्रमाण रूप मे आत्मा का अपरिणामरूप अभावप्रमाण, साधनाभाव व्याप्यभूत साध्याभाव यानी 'जहाँ साध्याभाव है वहाँ साधनाभाव है' इस प्रकार के व्यतिरेक के निश्चय का निमित्त होगा ।–तो यह युक्त नही है, कारण, समुद्र जल का जो पल परिमाण है उसमे अभावप्रमाण का व्यभिचार है । तात्पर्य यह है कि समुद्र के जल का परिमाण कितने पल है यह हम प्रत्यक्षादि–अर्थापत्ति पर्यन्त प्रमाणो से जानते नही है क्योकि उसकी सख्या विशाल है, इसलिये प्रत्यक्षादि पाचो प्रमाण से वह अगोचर है, किन्तु 'वह है ही नही' यह तो हम नही कह सकते अर्थात् वहा अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति मानी नही जाती ।

[अन्यवस्तुज्ञान से व्यतिरेक निश्चय का असंभव]

यदि दूसरे विकल्प के अगीकार मे यह कहा जाय कि जिस वस्तु का निषेध करना है उससे अन्य वस्तु का ज्ञानरूप अभाव प्रमाण व्यतिरेक निश्चय का निमित्त बनेगा–तो यह पक्ष भी युक्तिसगत नही है, क्योकि यहा जो आगे दो विकल्प दिखायेंगे उनमे से एक भी घटता नही है । पहला विकल्प–जिस विषय के ज्ञान को अन्यज्ञानरूप अभावप्रमाण कहा गया है वह विषय क्या साध्यनियतहेतुस्वरूप से अन्य कोई वस्तु है ? दूसरा विकल्प या उस हेतुस्वरूप से भिन्न अपना अभाव ही है ? [यह दूसरा विकल्प व्याख्याकार आगे चलकर बतायेंगे] प्रथम विकल्प मे भी दो अवान्तर विकल्प है–(१) साध्यनियतहेतुस्वरूप से अन्य जो पदार्थ है वह हेतु के साथ एक ज्ञान ससर्गि है (२) या नही है ? यदि साध्यनियत हेतु के साथ एक ज्ञान ससर्गि है तो उस विषय के ज्ञान से प्रतिनियत विषय वाला उक्त हेतु के अभाव का निश्चय अवश्य सिद्ध होगा किंतु 'जहाँ जहाँ साध्य नही है वहाँ वहाँ हेतु नही है' इस प्रकार के व्यतिरेक का निश्चय सिद्ध नही हो सकता । साध्याभाव के जितने भी प्रसिद्ध अधिकरण हो उन सभी को उद्देश करके यदि यह निश्चय किया जा सके कि 'जहाँ जहाँ साध्याभाव है वहाँ वहाँ साधनाभाव है' तभी ऐसे निश्चय से 'हेतु साध्य का नियतचारी है' ऐसे
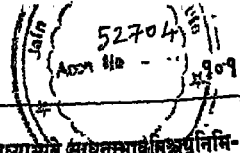
अथ तदसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भस्वरूपमभावाख्यं प्रमाणं साध्याभावे साधनाभावनिश्चयनिमित्तम्, तदप्यसम्बद्धम्, अतिप्रसंगाद् । न हि पदार्थान्तरोपलम्भमात्रादन्यस्य तत्तुल्ययोग्यतारूपस्य तेन सहैकज्ञानाऽसंसर्गिणः पदार्थान्तरस्याभावनिश्चयः, अन्यथा सह्योपलम्भाद् विन्ध्याभावनिश्चयः स्यात् ।

अथ तथाभूतसाधनादन्यस्तदभावः, तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं, तद् विपक्षे साधनाभावनिश्चयनिमित्तम् । ननु तदपि ज्ञानं किं 'यत्र यत्र साध्याभावः तत्र तत्र साधनाभावः' इत्येवं प्रवर्त्तते, उत 'क्वचिदेव साध्याभावे साधनाभावः' इत्येवं ? तत्र यद्याद्यः कल्पः स न युक्तः, यथोक्तसाधनविविक्तसर्वप्रदेशकालप्रत्यक्षीकरणमन्तरेण एवंभूतज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात् । सर्वदेशप्रत्यक्षीकरणे च कालाविविप्रकृष्टानन्तप्रदेक्षप्रत्यक्षीकरणवत् स्वभावादिव्यवहितसर्वपदार्थसाक्षात्करणात् स एव सर्वदर्शी स्यादित्यनुमानाश्रयणं सर्वज्ञाभावप्रसाधनं चानुपपन्नम् ।

अथ द्वितीयपक्षाभ्युपगमः, तदा भवति ततः प्रतिनियते प्रदेशे साध्याभावे साधनाभावनिश्चयः घटविविक्तप्रत्यक्षप्रदेशे इव घटाभावनिश्चयः–किन्तु तथाभूतात् साध्याभावे साधनाभावनिश्चयान्न

नियमरूप सम्बन्ध का निश्चय हो सकता है, अन्यथा नही । इसलिये यह फलित हुआ कि हेतु के साथ एकज्ञानसर्सगि पदार्थान्तर के ज्ञानरूप अभावप्रमाण से व्यतिरेक का निश्चय नही हो सकता ।

दूसरे अवान्तर विकल्प मे यह कहा जाय कि-साध्याभाव होने पर साधनाभाव का निश्चय, हेतु के साथ एक ज्ञान सबधी न होने वाले पदार्थान्तर के उपलम्भात्मक अभाव प्रमाण से होगा–तो यह भी सबधरहित प्रलापमात्र है, क्योकि इसमे एक अतिप्रसग दोष लगता है । जो पदार्थान्तर हेतु की तुल्य योग्यतास्वरूप वाला नही है और हेतु के साथ एकज्ञानसर्सगि भी नही है ऐसे पदार्थान्तर के उपलम्भ मात्र से अन्य पदार्थ के अभाव का निश्चय हो जाय यह बात मानने मे नही आती, अगर ऐसी भी बात मान ली जाय तो सह्याद्रि का उपलम्भ होने पर विन्ध्यपर्वत के अभाव का निश्चय हो जाने का अतिप्रसग होगा, क्योकि सह्याद्रि भी विन्ध्यपर्वत के साथ एक ज्ञान ससर्गि नही है एव तुल्य योग्यतास्वरूपवाला भी नही है ।

[साधनान्य स्वाऽभाव के ज्ञान से साधनाभाव का निश्चय अशक्य]

दूसरे मुख्य विकल्प मे यह कहा जाय कि जिस विषय के ज्ञान को अन्यज्ञानरूप अभाव प्रमाण कहना है वह विषय साध्यनियतहेतुस्वरूप से अन्य होता हुआ अपना अभाव ही है और इस अभाव सबधी ज्ञान ही तदन्यज्ञान रूप है जो विपक्ष मे हेतु के अभाव के निश्चय का निमित्त बनेगा–तो यहाँ दो प्रश्न है-(१) इस प्रकार के तदन्यज्ञानरूप अभाव प्रमाण का क्या यह आकार है-'जहाँ जहाँ साध्य नही है वहाँ वहाँ साधन भी नही है'-अथवा (२) यह आकार कि 'किसी प्रदेश मे साध्य नही है तो वहां साधन भी नही है' ? इन दो कल्प मे से प्रथम कल्प का स्वीकार अयुक्त है-क्योकि एवविध साधन रहित जितने भी प्रदेश और जो जो काल है उन सभी का प्रत्यक्ष जब तक न हो तब तक सकल साध्याभाव वाले देश काल मे साधनाभाव का ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता । यदि व्यतिरेक निश्चय करने वाले को सर्वदेश-काल का प्रत्यक्ष होता है तो जैसे उसे कालादि से दूरतरवर्त्ती अनन्त प्रदेशो का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार स्वभावादि से व्यवहित परमाणु आदि समस्त अतीन्द्रिय पदार्थो का साक्षात्कार हो जाने से अनुमान का आशरा लेना ही व्यर्थ होगा एव सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने का प्रयास भी निष्फल होगा ।

व्यतिरेको निश्चितो भवति । साधनाभावनियतसाध्याभावस्य सर्वोपसंहारेण निश्चये व्यतिरेको निश्चितो भवति, अन्यथा यत्रैव साध्याभावे साधनाभावो न भवति तत्रैव साधनसद्भावेऽपि न साध्यमिति न साधनं साध्यनियतं स्यादिति व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तो न हेतोः साध्यनियमनिश्चयः स्यात् । तन्न द्वितीयोऽपि पक्षः ।

अथ न प्रकृतसाधनाभावज्ञानं तद्विविक्तसमस्तप्रदेशोपलम्भनिमित्तं येन पूर्वोक्तो दोषः, किन्तु तद्विषयप्रमाणपंचकनिवृत्तिनिमित्तम् । तदुक्तम्-[श्लो० वा० सू० ५ अभाव प० श्लो० १]

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥

नन्वत्रापि वक्तव्यम्-किं सर्वदेश-कालावस्थितसमस्तप्रमातृसम्बन्धिनी तन्निवृत्तिस्तथाभूतसाधनाभावज्ञाननिमित्तं, उत प्रतिनियतदेशकालावस्थितात्मसम्बन्धिनी इति कल्पनाद्वयम् ।

यद्याद्या कल्पना सा न युक्ता, तथाभूतायास्तन्निवृत्तेरसिद्धत्वात् । न चाऽसिद्धाऽपि तथाभूतज्ञाननिमित्तम्, अतिप्रसंगात्-सर्वस्यापि तथाभूतज्ञाननिमित्त स्यात्, केनचित् सह प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात्, अनभ्युपगमाच्च । न हि परेणापि प्रमाणपंचकनिवृत्तेरसिद्धाया अभावज्ञाननिमित्तताऽभ्युपगता, कृतयत्नस्यैव प्रमाणपंचकनिवृत्तेरभावसाधनत्वप्रतिपादनात् ।

गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते । तदान्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ।
[श्लो वा सू ५ अर्था श्लो. ३८] इत्यभिधानात् ।

यदि दूसरा प्रश्नकल्प मान ले तो वहाँ जिस देश मे साध्याभाव का निश्चय है उस प्रतिनियत देश मे साधनाभाव का निश्चय शक्य है, जैसे घटशून्य भूतल को प्रत्यक्ष देखने पर घटाभाव का निश्चय भूतल मे होता है । किंतु इस प्रकार के अभाव प्रमाण से साध्य के अभाव मे साधनाभाव का निश्चय होने पर भी जिस प्रकार के व्यतिरेक का निश्चय अभिप्रेत है वह नही हो सकता । वह तो तभी होता यदि साधनाभावनियत साध्याभाव का सर्वोपसहार करके अर्थात् सभी देश काल के अन्तर्भाव से निश्चय हो । अन्यथा जहाँ साध्याभाव रहने पर भी साधनाभाव न रहेगा वहाँ साधन के रहने पर भी साध्य न रहने से वह साधन साध्यनियत नही होगा । निष्कर्ष यह आया कि हेतु-साध्य के बीच नियमात्मक सबध के निश्चय मे व्यतिरेकनिश्चय निमित्त नही हो सकता । इसलिये अन्वयनिश्चयवत् व्यतिरेकनिश्चय से नियमनिश्चय होने का दूसरा पक्ष भी अयुक्त है ।

उक्त के विरोध मे प्रतिवादी कहता है कि-अर्थप्रकटतारूप प्रकृतसाधन के अभावज्ञान मे साधनशून्य सर्वदेशकाल का उपलम्भ निमित्त ही नही है, अत उस उपलम्भ को अशक्य बताकर जो पूर्व मे दोष दिया गया है वह नही लगेगा । साधनाभावज्ञान का निमित्त तो 'प्रत्यक्षादि पाँच मे से उस विषय मे किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति का न होना' यही है । जैसे कि कहा है—

जिस वस्तु के स्वरूप मे वस्तु की सत्ता जानने के लिये प्रमाण पचक प्रवृत्त नही होता वहाँ अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है ।

इस कथन पर व्याख्याकार प्रतिवादी को कहते है कि यह बताईये कि-पूर्वोक्त साधनाभावज्ञान का निमित्तभूत प्रमाण पचक की निवृत्ति क्या सर्वदेशकालगत समस्त प्रमातृलोक सम्बन्धी मानी जाय या केवल सीमित देशकालगतस्वमात्रसम्बन्धी मानी जाय ? ये दो कल्पना है ।

न चेन्द्रियादिवदज्ञाताऽपि प्रमाणपंचकनिवृत्तिरभावज्ञानं जनयिष्यतीति शक्यमभिधातुम्, प्रमाणपंचकनिवृत्तेस्तुच्छरूपत्वात्। न च तुच्छरूपाया जनकत्वम्, भावरूपताप्रसक्तेः, एवंलक्षणस्य भावत्वात्। तन्न सर्वसम्बन्धिनी प्रमाणपंचकनिवृत्तिर्विपक्षे साधनाभावनिश्चयनिबन्धनम्। नाप्यात्मसम्बन्धिनी तन्निमित्तम्, यतः साऽपि किं तादात्विकी, अतीतानागतकालभवा वा? न पूर्वा, तस्या गंगापुलिनरेणुपरिसंख्यानेनानैकान्तिकत्वात्। नोत्तरा, तादात्विकस्यात्मनस्तन्निवृत्तेरसंभवाद् असिद्धत्वाच्च। तन्न आत्मसंबन्धिन्यपि प्रमाणपंचकनिवृत्तिस्तज्ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तम्, तन्न अन्यवस्तुविज्ञानलक्षणमप्यभावाख्यं प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तम्।

प्रथम कल्पना युक्त नही है, क्योकि सर्वदेश काल मे सभी प्रमाता को प्रकृत साधन के विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाण पचक की निवृत्ति है यह बात असिद्ध है। असिद्ध होने पर भी उस निवृत्ति से तथाभूत साधन के अभाव की कल्पना की जाय तो अनिष्ट प्रसंग होने वाला है क्योकि ऐसी असिद्ध निवृत्ति तो सभी प्रमाता को सुलभ हो सकती है, उसकी प्रत्यासत्ति किसी भी प्रमाता से दूर नही है अतः सभी प्रमाता को तथाभूत साधन का अभावज्ञान हो जायगा। यह बात आपको भी मान्य नही है। आशय यह है कि असिद्ध प्रमाण पचक निवृत्ति को अभाव ज्ञान का निमित्त आप भी नही मानते क्योकि प्रयत्न करने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाणपचक की प्रवृत्ति न हो तभी उसकी निवृत्ति को अभावसाधनरूप मे बताया गया है। श्लोकवार्त्तिक मे भी यही कहा गया है कि–

"उन देशो मे बार बार जाने पर भी यदि पदार्थोपलब्धि नही होती तो उसका दूसरा कोई कारण न होने से वहाँ वह पदार्थ ही असत् समझा जाता है"।

[अज्ञात प्रमाणपंचकनिवृत्ति से अभावज्ञान अशक्य]

असिद्ध प्रमाणपचक निवृत्ति अभाव ज्ञान का निमित्त नही है–इसके विरुद्ध यह कहना भी शक्य नही है कि–'जैसे इन्द्रिय स्वय अतीन्द्रिय होने के कारण ज्ञात न होकर भी ज्ञानजनक होती है इस प्रकार अज्ञात भी प्रमाणपचकनिवृत्ति अभावज्ञान को उत्पन्न करेगी।'–क्योकि इन्द्रिय तो भावात्मक वस्तु है, प्रमाणपचकनिवृत्ति अभावात्मक तुच्छ है, तुच्छ किसी का जनक नही हो सकता, अन्यथा वह तुच्छ न होकर भावरूप बन जायेगा क्योकि उत्पादकतालक्षणयुक्त वस्तु भावात्मक होती है। इस का सार यह है कि विपक्ष मे साधनाभाव का निश्चय प्रमाणपचकनिवृत्तिमूलक नही है।

एव आत्मसबंधिप्रमाणपचकनिवृत्तिमूलक भी वह नही हो सकती क्योकि यहा दो विकल्प घट नही सकते। प्रथम विकल्प-जिस काल मे साधनाभाव का निश्चय करना है, क्या उस काल में आत्मसबधी प्रमाणपचकनिवृत्ति को उसका निमित्त मानेंगे या दूसरा विकल्पः–अतीत–अनागत काल सबधी निवृत्ति को भी उसका निमित्त मानेंगे? प्रथम विकल्प की बात युक्त नही है क्योंकि यहा अनैकान्तिक दोष इस प्रकार लगता है कि गगातटसगी जितने रेणु कण है उनका सख्या परिमाण जानने के लिये तत्कालीन आत्मसम्बन्धी प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण वहां निष्फल हैं फिर भी वहाँ सख्या परिमाण का अभाव नही माना जाता। अतीतानागतकालीनवाला दूसरा विकल्प भी युक्त नही, क्योकि तत्कालसबन्धी आत्मा मे अतीत अनागत काल सबन्धी प्रमाणपंचक की निवृत्ति की सभावना ही नही हो सकती और वह सिद्ध भी कहाँ है? इसलिये प्रमाणपचक निवृत्ति साधनाभाव निश्चय का निमित्त नही बन सकती। सारे विचारो का निष्कर्ष यह है कि विज्ञानमन्यवस्तुनि०'

[प्रासंगिकमभावप्रमाणनिराकरणम्]

यच्च–गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ।।
[श्लो० वा० सू० ५, अभाव प० श्लो० २७]

इत्यभावप्रमाणोत्पत्तौ निमित्तप्रतिपादनम्, तत्र किं वस्त्वन्तरस्य प्रतियोगिसंसृष्टस्य ग्रहणं आहोस्विद् असंसृष्टस्य ? तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः प्रतियोगिसंसृष्टवस्त्वन्तरस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणे प्रतियोगिनः प्रत्यक्षेण वस्त्वन्तरे ग्रहणाद् नाऽभावाख्यप्रमाणस्य तत्र तदभावग्राहकत्वेन प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ वा प्रतियोगिसत्त्वेऽपि तदभावग्राहकत्वेन प्रवृत्तेर्विपर्यस्तत्वान्न प्रामाण्यम् । अथ प्रतियोग्य-संसृष्टवस्त्वन्तरग्रहणं तदा प्रत्यक्षेणैव प्रतियोग्यभावस्य गृहीतत्वात्तत्राभावाख्यं प्रमाणं प्रवर्त्तमानं व्यर्थम् । अथ प्रतियोग्यसंसृष्टतावगमो वस्त्वन्तरस्याभावप्रमाणसंपाद्यस्तर्हि तदप्यभावाख्यं प्रमाणं प्रतियोग्यसंसृष्टवस्त्वन्तरग्रहणे सति प्रवर्त्तते, तदसंसृष्टतावगमश्च पुनरप्यभावप्रमाणसंपाद्य इत्यनवस्था ।

तथा, प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं किं वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य अथाऽसंसृष्टस्य ? यदि संसृष्टस्य तदा नाऽभावप्रवृत्तिरिति पूर्ववद्वाच्यम् । अथाऽसंसृष्टस्य स्मरणं, ननु प्रत्यक्षेण वस्त्वन्तराऽसंसृष्टस्य प्रति-

---

कारिका का अन्य वस्तु विज्ञानात्मक द्वितीय प्रकार का अभावप्रमाण 'साध्याभावे साधनाभावः' इस व्यतिरेकनिश्चय का निमित्त नही बन सकता ।

[मीमांसक मान्य अभाव प्रमाण मिथ्या है]

अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में वस्त्वन्तर का ग्रहण और प्रतियोगि के स्मरण को निमित्त बताते हुए जो यह कहा जाता है कि–

"वस्तु (अन्य वस्तु) की सत्ता गृहीत होने पर प्रतियोगी के स्मरण से इन्द्रियनिरपेक्ष 'वह नही है' इस प्रकार का मानस ज्ञान होता है ।"

यहाँ दो विकल्प सगत नही होते । प्रथम विकल्प यह है कि जो अन्य वस्तु का ग्रहण होता है वह प्रतियोगिविशिष्ट रूप से या दूसरा विकल्प–प्रतियोगि अविशिष्ट रूप से ? प्रथम का स्वीकार अयुक्त है क्योंकि प्रतियोगि सहित अन्य वस्तु (भूतलादि) का प्रत्यक्ष से ग्रहण होने पर अन्य वस्तु में प्रत्यक्ष से प्रतियोगी का ही ग्रहण हो गया फिर उसके अभाव को ग्रहण करने मे अभावनामक प्रमाण की प्रवृत्ति कैसे ? अगर प्रवृत्ति होगी और प्रतियोगी के रहने पर भी उससे प्रतियोगी के अभाव का ग्रहण होगा तो कहना होगा कि वह अभावग्रहण मिथ्या है इसलिये उसमे प्रामाण्य ही नही है । दूसरे विकल्प का स्वीकार भी युक्त नही है क्योंकि प्रतियोगि से असंसृष्ट (=रहित) अन्यवस्तु का ग्रहण होने पर प्रत्यक्ष से ही प्रतियोगी का अभाव गृहीत हो गया फिर उसके ग्रहण में अभावनामक प्रमाण की प्रवृत्ति व्यर्थ हो जायेगी । यदि यह कहें कि–'अन्य वस्तु मे प्रतियोगी की असंसृष्टता प्रत्यक्ष से कहाँ गृहीत हुई है ? वह तो पहले भी अभाव प्रमाण से ही गृहीत हुयी है'–तो इस पर भी यही कहना है कि जैसे प्रस्तुत अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति के पूर्व असंसृष्टता ग्राहक अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति हुयी वैसे उस असंसृष्टताग्राहि अभावप्रमाण की प्रवृत्ति भी अन्य अभावप्रमाण से प्रतियोगी असंसृष्ट अन्य वस्तु के ग्रहण के बाद ही होगी । वहाँ भी प्रतियोगिअसंसृष्टता का बोध अन्य अभाव प्रमाण से करना होगा–इस प्रकार अनवस्था दुर्निवार है ।

योगिनो ग्रहणे तथाभूतस्य तस्य स्मरणं नान्यथा, प्रत्यक्षेण च पूर्वप्रवृत्तेन वस्तत्वन्तराऽसंसृष्ट-प्रतियोगिग्रहणे पुनरप्यभावप्रमाणपरिकल्पनं व्यर्थम् । 'वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया ।।' [श्लो० वा० सू० ५, अभाव प० श्लो० २] इत्यभिधानात् तदर्थं तस्य परिकल्पनम्, तच्च प्रत्यक्षेणैव कृतमिति तस्य व्यर्थता ।

अथाऽत्राप्यभावप्रमाणसंपाद्यः प्रतियोगिनोवस्त्वन्तराऽसंसृष्टताग्रहस्तर्हि तथाभूतप्रतियोगि-ग्रहणे तथाभूतस्य तस्य स्मरणम्, तत्सद्भावे चाऽभावप्रमाणप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तौ च तस्याऽसंसृष्टताग्रहः, तद्ग्रहे च स्मरणमित्येवं चक्रकचोद्यं भवन्तमनुबध्नाति । नापि वस्तुमात्रस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमित्यभिधातुं शक्यम्, तथाभ्युपगमे तस्य वस्त्वन्तरत्वासिद्धेः, प्रतियोगिनोऽपि प्रतियोगित्वस्य च, इति न प्रतियोगिनो नियतरूपस्य स्मरणमिति सुतरामभावप्रमाणोत्पत्त्यभावः ।

[प्रतियोगिस्मरण से अभावप्रमाण की व्यवस्था दुर्घट]

प्रतियोगीस्मरण को निमित्त कहा गया है वहाँ भी दो विकल्प सावकाश है प्रथम विकल्प-प्रतियोगी का स्परण अन्य वस्तु (भूतलादि) से ससृष्टरूप मे मानना ? या दूसरा विकल्प उस से असंसृष्ट मानना ? अगर ससृष्टरूप मे माना जाय तो पहले कहे गये अनुसार अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति ही अशक्य होगी । यदि असंसृष्ट का स्मरण माने तो यहाँ यह तो मानना ही होगा कि प्रत्यक्ष से अन्य वस्तु से असंसृष्टरूप मे प्रतियोगी का ग्रहण होने पर ही वैसे स्मरण को अवकाश होगा, अन्यथा नही । अब स्मृति से पूर्व प्रवृत्त प्रत्यक्ष से ही प्रतियोगी मे अन्य वस्तु की असंसृष्टता का ग्रहण हो गया तो फिर अभाव प्रमाण की व्यर्थ कल्पना क्यो की जाय ? श्लोक वार्त्तिक मे-असकीर्ण वस्तु की सिद्धि उसके ग्राहक प्रमाण के प्रामाण्य पर अवलम्बित है, ऐसा कहा गया है तो उस का तात्पर्य यह है कि भावग्राहक प्रमाण प्रत्यक्षादि भावात्मक है तो अभावग्राहक प्रमाण अभावात्मक होना चाहिये अन्यथा भाव और अभाव की सकीर्णता हो जायगी । इस से यह सिद्ध होता है कि अभाव-प्रमाण की कल्पना अभाव ग्रहण के लिये की गयी है किंतु पूर्वोक्त रीति से यदि उसका ग्रहण प्रत्यक्ष से ही हो गया तो फिर अभावप्रमाण की व्यर्थता स्पष्ट है ।

[अभावप्रमाण पक्ष में चक्रकावतार]

प्रत्यक्ष से-प्रतियोगी मे अन्यवस्तु से असंसृष्टता का ग्रहण न मान कर अभावप्रमाण से ही माना जाय तो यहाँ चक्रक दोष का अनुबंध आपको लगेगा क्योकि अन्यवस्तु से असंसृष्ट प्रतियोगी का ग्रहण होने पर उस प्रकार का उस का स्मरण होगा, स्मरण के होने पर तन्निमित्तक अभावप्रमाण की प्रवृत्ति होगी । अभावप्रमाण की प्रवृत्ति होने पर अन्यवस्तु की असंसृष्टता का ग्रह होगा और यह ग्रह होने पर स्मरण होगा । यह कहे कि-भूतलादि अन्य वस्तु का जो ग्रहण होता है वह केवल तद्वस्तुरूप से ही होता है प्रतियोगी संसृष्ट-असंसृष्टरूप से नही होता-तो यह शक्य ही नही क्योकि तब वह भूतलादिअन्यवस्तुरूपता ही असिद्ध हो जायेगी, एव प्रतियोगी घटादि केवल घटादिरूप से ही गृहीत होगा तो उस का प्रतियोगित्व भी असिद्ध हो जायगा । इस का दुष्परिणाम यह होगा कि अन्य वस्तु भूतलादि मे अभाव के प्रतियोगीरूप मे घटादि का नियताकार स्मरण ही नही होगा जो अभावग्रह मे अति जरूरी है । स्मरण न होने पर फिर अभावप्रमाण की उत्पत्ति का तो नितान्त अभाव हो जायेगा ।

किंच, यदि अभावाख्यं प्रमाणमभावग्राहकमभ्युपगम्यते तदा तमेव प्रतिपादयतु, प्रतियोगिनस्तु निवृत्तिः कथं तेन प्रतिपादिता स्यात् ? अथाभावप्रतिपत्तौ तन्निवृत्तिप्रतिपत्तिः । ननु सापि निवृत्तिः प्रतियोगिस्वरूपाऽसंस्पर्शिनी, ततश्च तत्प्रतिपत्तौ पुनरपि कथ प्रतियोगिनिवृत्तिसिद्धिः ? तन्निवृत्तिसिद्धेर ? [? द्धयेऽपर]तन्निवृत्तिसिद्धचभ्युपगमे अपरा तन्निवृत्तिस्तथाऽभ्युपगमनीयेत्यनवस्था ।

किंच अभावप्रतिपत्तौ प्रतियोगिस्वरूपं किमनुवर्त्तते व्यावर्त्तते वा ? अनुवृत्तौ कथं प्रतियोगिनोऽभावः ? व्यावृत्तौ कथं प्रतिषेधः प्रतिपादयितुं शक्यः ? 'तद्विविक्तप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिषेधः' इति चेत् ? न, तदप्रतिभासने तद्विविक्ततायाः एव प्रतिपत्तुमशक्तेः । 'प्रतियोगिप्रतिभासाद् नायं दोषः' इति चेत् ? क्व तर्हि प्रतिभासः ? यदि प्रत्यक्षे, न युक्तः, तत्सद्भावसिद्धचा तन्निवृत्त्यसिद्धेः । 'स्मरणे तस्य प्रतिभास' इति चेत् ? न, तत्रापि येन रूपेण प्रतिभाति न तेनाऽभावः, येन प्रतिभाति न तेन निषेधः । तदेवं यदि प्रतियोगिस्वरूपादन्योऽभावस्तथापि तत्प्रतिपत्तौ न तन्निवृत्तिसिद्धिः । अनन्यत्वेऽपि तत्प्रतिपत्तौ प्रतियोगिनः प्रतिपन्नत्वाद् न निषेधः ।

[अभाव प्रमाण से प्रतियोगिनिवृत्ति की असिद्धि]

नयी एक बात यह विचारणीय है कि अगर अभावनामक प्रमाण को अभाव का ग्राहक माना है तो उस से प्रतियोगी ऊल्लेख शून्य केवल अभाव का ही प्रतिपादन होना चाहिये, फिर उससे प्रतियोगी की निवृत्ति यानी प्रतियोगी गर्भित अभाव का प्रतिपादन कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि अभाव का बोध होने पर बाद मे उससे प्रतियोगी की निवृत्ति का बोध होता है तो यहाँ भी प्रतियोगी अस्पर्शी केवल निवृत्ति का ही बोध मानना चाहिये । तब फिर से यही प्रश्न ऊठेगा कि अभावप्रमाण से केवल निवृत्ति का ही बोध हो सकता है तो प्रतियोगीनिवृत्ति की सिद्धि कैसे होगी ? इस निवृत्ति की सिद्धि के लिये अगर अन्य तथाभूत निवृत्ति का अगीकार करे तो उस की भी सिद्धि के लिये अन्य तथाभूत निवृत्ति माननी पडेगी तो अनवस्था चलेगी ।

[अभाव गृहीत होने पर प्रतियोगी का निषेध कैसे ?]

अभावप्रमाण वादी को यह भी प्रश्न है कि अभावप्रमाण से अभावबोध होने पर प्रतियोगी के स्वरूप की अनुवृत्ति होती है या निवृत्ति ? अगर अनुवृत्ति होती है तो फिर उसका अभाव कैसे हो सकता है ? प्रतियोगी की अनुवृत्ति होने पर तो उसका सद्रूप से बोध होने की सभावना है किंतु उसके अभाव का बोध नही हो सकता । अगर कहे अनुवृत्ति नही, निवृत्ति मानते है तो वहाँ प्रतियोगी का निषेध कैसे होगा ? प्रतियोगी के निषेध के लिये तो उसका भान आवश्यक है ।-'प्रतियोगी से विविक्त यानी विरहित का बोध होता है इसलिये प्रतियोगी का निषेध करते है'-ऐसा नही कह सकते क्योंकि प्रतियोगी के प्रतिभास के विना प्रतियोगी विविक्तता का ग्रहण होना अशक्य है । यदि कहा जाय कि-'उस वक्त प्रतियोगी का प्रतिभास होता है इसलिये विविक्तता के ग्रहण से निषेध शक्य है'-तो इस पर प्रश्न होगा कि कौनसे विज्ञान मे वहाँ प्रतियोगी का प्रतिभास होता है, प्रत्यक्ष मे या स्मरण मे ? यदि प्रत्यक्ष मे प्रतियोगी का प्रतिभास माने तो वह अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष से तो उसके सद्भाव की सिद्धि होने पर उसकी निवृत्ति ही असिद्ध हो जायगी । स्मरण मे प्रतियोगी का प्रतिभास माना जाय तो वह ठीक नही है क्योंकि जिस अतीतादि रूप से उसका प्रतिभान होता है उस रूप से तो वहाँ उसका अभाव है ही नही और जिस वर्त्तमानादिरूप से उसका भान होता है

अपि च तद् अभावाख्यं प्रमाणं निश्चितं सत् प्रकृताभावनिश्चयनिमित्तत्वेनाऽभ्युपगम्यते ? आहोस्विद् अनिश्चितं ? इति विकल्पद्वयम् । यद्यनिश्चितमिति पक्षः, स न युक्तः, स्वयमव्यवस्थितस्य खरविषाणादेरिव अन्यनिश्चायकत्वाऽयोगात् । इन्द्रियादेस्त्वनिश्चितस्यापि रूपादिविज्ञानं प्रति कारणत्वाद् निश्चायकत्वं युक्तम् न पुनरभावप्रमाणस्य, तस्यापरज्ञानं प्रति कारणत्वाऽसम्भवात्, तदसम्भवश्च प्रमाणाभावात्मकत्वेनाऽवस्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्यैव प्रमेयाभावनिश्चयरूपत्वेनाऽभ्युपगमार्हत्वात् ।

नापि द्वितीयः पक्ष', यतस्तन्निश्चयोऽन्यस्मादभावाख्यात् प्रमाणादभ्युपगम्येत ? प्रमेयाभावाद् वा ? तत्र यदि प्रथमपक्षः स न युक्तः, अनवस्थाप्रसंगात् । तथाहि-अभावप्रमाणस्याभावप्रमाणान्निश्चितस्याभावनिश्चायकत्वम्, तस्याप्यन्याभावप्रमाणाद्, इत्यनवस्था । अथ प्रमेयाभावात् तन्निश्चयः, सोऽपि न युक्तः इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् । तथाहि-प्रमेयाभावनिश्चयात् प्रमाणाभावनिश्चयः, सोऽपि प्रमाणाभावनिश्चयाद् इति इतरेतराश्रयत्वम् । नापि स्वसंवेदनात् प्रमाणाभावनिश्चयः, तस्य भवताऽनभ्युपगमात् । तन्न अभावाख्यं प्रमाणं सभवति । सम्भवेऽपि न तत् 'प्रमाणचिन्तार्हमिति प्रतिपादितम्, प्रतिपादयिष्यते च प्रमाणचिन्तावसरेऽत्रैव । तन्नाभावप्रमाणादपि विपक्षे साधनाभावनिश्चयः । अतो न अदर्शननिमित्तोऽपि प्रकृतव्यतिरेकनिश्चयः, तदभावाद् न प्रकृतसाध्ये प्रकृतहेतोर्नियमलक्षणसंबन्धनिश्चयः ।

उस रूप से उसका निषेध नही हो सकता क्योकि उस रूप से निषेध करने के लिये तो उस रूप से उसका प्रतिभान जरूरी है । इसप्रकार यह फलित होता है कि प्रतियोगीस्वरूप से अभाव यदि भिन्न हो तो भी उसका वोध होने पर प्रतियोगी की निवृत्ति सिद्ध नही हो सकती । यदि वह अभाव प्रतियोगी स्वरूप से अभिन्न है तव तो अभाव का ग्रहण उस के प्रतियोगी के ही ग्रहणस्वरूप होने से उसका निषेध अशक्य है ।

[स्वयं अनिश्चित अभावप्रमाण निरुपयोगी है]

अभावप्रमाण के अन्य भी दो विकल्प नही घट सकते । प्रथम विकल्प-अभावनामक प्रमाण स्वय निश्चित होकर प्रकृत अभावनिश्चय के निमित्तरूप मे माना गया है ? या दूसरा विकल्प-स्वय अनिश्चित होकर ? स्वय अनिश्चित होकर वह अभावनिश्चय का निमित्त वने यह प्रथम विकल्प ठीक नही है क्योकि जो अपने आप मे व्यवस्थित यानी निश्चित नही है जैसे कि गधे का सीग आदि, वह अन्य पदार्थ का निश्चायक नही हो सकता । यद्यपि इन्द्रियादि अतीन्द्रिय पदार्थ स्वयं अज्ञात होते हैं फिर भी वे यत रूपादिज्ञान के कारणरूप मे सिद्ध है अत स्वय अनिश्चित होने पर भी उस की अन्यनिश्चायकता हो सकती है, किन्तु अभावप्रमाण की तो नही ही हो सकती । कारण, वह किसी भी प्रकार के ज्ञान का कारण वनता हो यह सभवित नही है । सम्भवित इसलिये नही है कि वह स्वय प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण के अभावरूप मे माना गया है और अभाव तुच्छ होने से अवस्तुभूत है । अगर वह वस्तुभूत हो तो उसे ही प्रमेयाभाव के निश्चयरूप मे मान लेना उचित है न कि प्रमाण पचकनिवृत्तिरूप ।

[अभावप्रमाण का निश्चय करने में अनवस्थादि]

अभावनामक प्रमाण स्वय निश्चित होकर प्रकृत अभावनिश्चय का निमित्त वनता है- यह द्वितीय पक्ष भी उचित नही है । क्योकि स्वय निश्चित रहने वाला वह अभावप्रमाण अन्य कोई अभावनामक प्रमाण से निश्चित होता है या प्रमेयाभाव से ? यदि प्रथम पक्ष लिया जाय तो अनवस्था

न चान्वय-व्यतिरेकनिश्चयव्यतिरेकेणान्यतः कुतश्चित् तन्निश्चयः, नियमलक्षणस्य संबन्धस्य यथोक्तान्वयव्यतिरेकव्यतिरेकेणाऽसम्भवात् । तथाहि-य एव साधनस्य साध्यसद्भावे एव भावः अयमेव तस्य साध्ये नियमः, साध्याभावे साधनस्यावश्यंतयाऽभाव एव यः अयमेव वा तस्य तत्र नियमः । अतो यदेवान्वयव्यतिरेकयोर्यथोक्तलक्षणयोर्निश्चायकं प्रमाणं तदेव नियमस्वरूपसम्बन्धनिश्चायकम्, तन्निश्चायकं च प्रकृतसाध्यसाधने हेतोर्न सम्भवतीति प्रतिपादितम् । तस्मानुमानादपि ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणसिद्धिः ।

अथापि स्यात्-बाह्येषु कारकेषु व्यापारवत्सु फलं दृष्टम्, अन्यथा सिद्धस्वभावानां कारकाणामेकं धात्वर्थं साध्यमनङ्गीकृत्य कः परस्परं सम्बन्धः ! अतस्तदन्तरालवर्त्तिनी सकलकारकनिष्पाद्या-

---

दोष का प्रसग होने से वह युक्त नही है वह इस प्रकार-प्रकृताभावनिश्चायक अभावनामक प्रमाण का निश्चय अन्य अभावनामक प्रमाण से होगा । वह अन्य अभावनामक प्रमाण यदि स्वय अनिश्चित रहेगा तो काम नही आयेगा इसलिये उसका निश्चायक अन्य अभावप्रमाण मानना होगा, इस रीति से अनवस्था चलेगी । 'प्रमेयाभाव से अभावप्रमाण का निश्चय होगा' यह दूसरा पक्ष इतरेतराश्रयदोष प्रसग के कारण युक्त नही है । इतरेतराश्रय इस प्रकार-प्रमेयाभाव के निश्चय से प्रमाणाभाव का यानी प्रत्यक्षादिप्रमाण पचकनिवृत्तिरूप अभावप्रमाण का निश्चय होगा और इस अभावप्रमाण का निश्चय होने पर उस प्रमेयाभाव का निश्चय होगा इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जाता है ।

प्रमाणाभाव यानी अभावप्रमाण स्वय स्वनिश्चायक है अर्थात् स्वसवेदन से ही उसका निश्चय होता है यह तो अभाव प्रमाणवादी मीमासक बोल भी नही सकता क्योकि उसके मत मे प्रमाण को स्वप्रकाश नही माना जाता । निष्कर्ष यह आया कि किसी भी रीति से अभावनामक प्रमाण का सभव नही है । कदाचित् सभव होने पर भी उपरोक्त रीति से वह असगत होने से उसके विषय मे प्रमाण-चिन्ता करने लायक नही है-यह कुछ अश मे तो कह दिया है और आगे चल कर इसी ग्रन्थ मे कहा भी जायेगा जब प्रमाण चिन्ता का अवसर आयेगा । अभी तो प्रस्तुत मे यह सिद्ध हुआ कि विपक्ष मे साधनाभाव का निश्चय अभाव से नही होता । इसी लिये 'साध्याभाव होने पर साधनाभाव होता है । यह व्यतिरेक-निश्चय अदर्शन के निमित से भी नही होता है यह भी सिद्ध हुआ । और व्यतिरेक निश्चय अशक्य होने पर प्रकृत साध्य और प्रकृत हेतु का नियमात्मक सवध भी निश्चित नही होता है । [अभाव प्रमाण चर्चा समाप्त]

[नियमरूप संबंध का अन्य कोई निश्चायक नहीं है]

अन्वय निश्चय और व्यतिरेकनिश्चय के अभाव मे अन्य कोई ऐसा साधन नही है जिससे नियम का निश्चय हो, क्योकि पूर्वकथित अन्वय-व्यतिरेक निश्चय के अभाव मे नियम रूप सम्बन्ध की कोई सभावना ही नही है । वह इस प्रकार-'साध्य का सद्भाव होने पर ही जो साधन का सद्भाव होता है यही 'साधन का साध्य मे नियतभाव' यानी नियम है । तथा 'साध्य का अभाव होने पर जो साधन का अवश्यमेव अभाव होता है' यही साध्य का साधन के साथ नियम है । इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकथितस्वरूप वाले अन्वय-व्यतिरेक का निश्चायक जो प्रमाण है वही नियमस्वरूप सम्बन्ध का भी निश्चायक है । यह तो पहले ही कह दिया है कि प्रकृत साध्य ज्ञातृव्यापार को सिद्ध करने के लिये अर्थप्रकाशन रूप हेतु मे नियमसम्बन्ध निश्चायक कोई प्रमाण नही है । निष्कर्ष यह है कि द्वितीय मूल विकल्प मे अनुमान से भी ज्ञातृव्यापाररूप प्रमाण की सिद्धि नही हो सकती ।

ऽभिमतफलजनिका व्यापारस्वरूपा क्रियाऽभ्युपगन्तव्या, इति प्रकृतेऽपि व्यापारसिद्धिरिति ।-एतद-सम्बद्धं, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-व्यापारोऽभ्युपगम्यमानः किं कारकजन्योऽभ्युपगम्यते आहोस्विद् अजन्य इति विकल्पद्वयम् । तत्र यद्यजन्य इति पक्षः सोऽयुक्तः, यतोऽजन्योऽपि किं भावरूपोऽभ्युपगम्यते आहोस्विदभावरूपः ? यद्यभावरूप इत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः, यतोऽभावरूपत्वे तस्याऽर्थप्रकाशलक्षण-फलजनकत्वं न स्यात्, तस्य फलजनकत्वविरोधात् । अविरोधे वा फलार्थिनः कारकान्वेषणं व्यर्थं स्यात्, तत एवाभिमतफलनिष्पत्तेर्विश्वमदरिद्रं च स्यात् । तन्नाभावरूपो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः ।

अथ भावरूपोऽभ्युपगमविषयः, तदाऽपि वक्तव्यम्-किमसौ नित्यः आहोस्विद् अनित्य इति ? तत्र यदि नित्य इति पक्षः, सोऽसंगतः, नित्यभावरूपव्यापाराभ्युपगमेऽन्धादीनामप्यर्थ-दर्शनप्रसंगः, सुप्ताद्यभावः, सर्वसर्वज्ञताभावप्रसंगश्च । कारकान्वेषणवैयर्थ्यं तु व्यक्तम् । अथाऽनित्य इत्यभ्युपगमः, सोऽप्यलौकिकः, अजन्यस्य भावस्याऽनित्यत्वेन केनचिदनभ्युपगमात् । अथ वदेत्-मयैवाभ्युपगत', तत्रापि वक्तव्यम्-किं कालान्तरस्थायी उत क्षणिकः ?

[व्यापार सिद्धि के लिये नविन कल्पनाएँ]

ज्ञातृव्यापार को सिद्ध करने के लिये यदि पुन. यह कहा जाय कि-'कोई भी बाह्य कारक उदासीन रहे तब तक कार्योत्पत्ति नहीं हो पाती किंतु उदासीनता को छोडकर सक्रिय (=व्यापारवत) बने हुए बाह्य कारको के रहते ही फलोत्पत्ति देखी जाती है । ऐसा न माने तो यह प्रश्न दुरुत्तर हो जायगा कि अपने अपने स्वभाव से सम्पन्न बाह्य कारक चक्र किसी एक 'छिद्' आदि धातु के छेदन क्रियादि अर्थ को सिद्ध करने मे उद्यत होगा तब उन कारको मे परस्पर सवादी ऐसा कौन सम्बन्ध होगा जिससे एक कार्य के साथ उन कारको का मेल बन सके ? इसलिये यही मानना होगा कि कारको का सनिधान और छेदन क्रिया निष्पत्ति इनके बीच मे सकल कारको से उत्पन्न वाछित फल निष्पादक कुठार की दृढ प्रहारादि कोई एक व्यापार स्वरूप क्रिया होती है । तो इसी प्रकार प्रस्तुत में भी प्रमाणोत्पत्ति के पूर्व ज्ञाता का कोई न कोई व्यापार सिद्ध होता है ।'-

किंतु यह बात सवघरहित है क्योकि इसके उपर .कोई विकल्प घटता नही है । जैसे कि-प्रथम विकल्प, बीच मे जिस व्यापार की कल्पना की जाती है वह कारको से उत्पन्न होता है या (दूसरा विकल्प) उत्पन्न ही नही होता ? दूसरा विकल्प नही घट सकता, क्योकि उसके उपर दो प्रश्न है-(A) वह अजन्य व्यापार भावरूप मानते है ? या (B) अभावरूप ? अभावरूप का अगीकार करेंगे तो वह अयुक्त है यदि वह अभावरूप होगा तो उसमे अर्थप्रकाशन स्वरूप फल की जनकता नही घटेगी, क्योकि अभाव को किसी कार्य की उत्पादकता के साथ विरोध है । विरोध नही है यह तो नही कह सकते क्योकि तब तो फलार्थी की कारको की खोज व्यर्थ हो जायगी, कारण, सर्वत्र सुलभ अभाव से ही वाछित फल उत्पन्न हो जाने से विश्व मे फिर कौन दरिद्र रहेगा । निष्कर्ष-अभावरूप व्यापार नही माना जा सकता ।

[अजन्य भावरूप व्यापार नित्य है या अनित्य ?]

(A) अजन्य व्यापार को यदि भावस्वरूप माना जाय तो यहाँ भी कुछ कहना है-क्या वह नित्य है या अनित्य ? अगर नित्य पक्ष माना जाय तो वह सगत नही है, क्योकि कारक-व्यापार को नित्यभाव रूप मानने पर अन्ध पुरुष को भी पदार्थों का दर्शन होने की आपत्ति होगी, एवं सुषुप्ति

यदि कालान्तरस्थायी तदा "क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते" [ ] इति वचः परिप्लवेत ; कारकान्वेषणं चात्रापि पक्षे फलार्थिनामसगतम्, कियत्कालस्थाय्यजन्यभावरूपव्यापाराभ्युपगमे तत्कालं यावत् तत्फलस्यापि निष्पत्तेः आव्यापारविनाशमर्थप्रकाशलक्षणकार्यसद्भावादन्धत्व-मूर्छादीनामभावः स्यात् ।

अथ क्षणिक इति पक्षः, सोपि न युक्तः, क्षणानन्तरं व्यापाराऽसत्त्वेनार्थप्रतिभासाभावाद् अपगतार्थप्रतिभास सर्वं जगत् स्यात् । अथ स्वत एव द्वितीयादिक्षणेषु व्यापारोत्पत्तेर्नायं दोषः, अजन्यत्वं तु तस्यापरकारकजन्यत्वाभावेन । नैतदस्ति, कारकानायत्तस्य देश–कालस्वरूपप्रतिनियमाभावस्वभावतायाः प्रतिपादनात् । किंच, अनवरतक्षणिकाऽजन्यव्यापाराभ्युपगमे तज्जन्यार्थप्रतिभासस्यापि तथैव भावात् सुप्ताद्यभावदोषस्तदवस्थः । तन्नाजन्यव्यापाराभ्युपगमः श्रेयान् ।

दशा का अभाव हो जायगा, तथा सभी लोग सर्वज्ञ बन जाने की आपत्ति होगी । कारको की खोज की निरर्थकता तो स्पष्ट है क्योकि भावरूप व्यापार से प्रमाणफलधारा सतत वहती रहेगी तो सुषुप्ति मे ज्ञानाभाव कैसे होगा ?

अगर कहे कि अजन्य भावात्मक व्यापार अनित्य है यह हम मानते हैं–तो वह भी लोकबाह्य है, क्योकि अजन्य भाव को कोई भी बुद्धिमान् लोक अनित्य नही मानते । अब आप कहेगे कि-हम अजन्यभाव को अनित्य मानते है-तो उस पर भी दो प्रश्न हैं–C क्या वह अन्यकाल मे [कुछ क्षणो तक] रहने वाला अनित्य है ? या D सर्वथा क्षणिक है ?

[व्यापार कालान्तरस्थायी नहीं हो सकता]

C यदि अजन्य भावात्मक अनित्य व्यापार को कालान्तरस्थायी माना जाय तो आपका यह वचन निरर्थक होगा कि "वह (क्रिया) क्षणिक होने के नाते अन्य काल मे अवस्थित नही रहती" । तथा इस पक्ष मे भी फलार्थिओ द्वारा कारको की खोज व्यर्थ हो जाने की आपत्ति दुर्निवार है, क्योकि व्यापार कारकजन्य नही है । तथा, कुछ समय तक जीने वाले अजन्य भावात्मक व्यापार को मानने मे अन्धापन और वेहोशी का भी अभाव हो जाने की आपत्ति होगी क्योकि जितने काल वह जीने वाला है उतने काल मे तो उसके फल की निष्पत्ति निर्बाधरूप से हो जायेगी, अर्थात् व्यापार नष्ट हो जाय तब तक तो (नाश के पहले) अर्थप्रकाश स्वरूप कार्य हो ही जायगा फिर अन्धा किसको कहना, बेहोश किसको बताना ? ।

[क्षणिक अजन्य व्यापार पक्ष भी अयुक्त है]

(B) यदि अजन्य भावात्मक अनित्य व्यापार क्षणिक होने का पक्ष किया जाय तो वह भी अयुक्त है, क्योकि एक ही क्षण के बाद त्वरित व्यापारध्वस हो जाने से अर्थ का किसी को भी प्रतिभास ही नही होगा तो सारे जगत् मे अर्थ प्रतिभास का दुष्काल पड जायेगा । यदि यह कहे कि–दूसरे क्षण मे नये नये व्यापार की उत्पत्ति हो जाने से कोई दुष्काल आदि दोष नही होगा एव इस उत्पत्ति के साथ पूर्वकथित अजन्यत्व को कोई विरोध होने की भी सभावना नही है क्योकि नया नया व्यापार अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है, अन्य कारको को पराधीन जन्यता उसमे नही है ।'– तो यह ठीक नही है । क्योकि पहले यह कह आये है कि जो कारकाधीन नही होता उसका स्वभाव किसी देश-काल या स्वरूप के बन्धन मे नही होता । दूसरा एक दोष यह है–नित्य नये नये व्यापार

अथ जन्यो व्यापार इति पक्षः कक्षीक्रियते, तदाऽत्रापि विकल्पद्वयम्-किमसौ जन्यो व्यापारः क्रियात्मक उत तदनात्मक इति ? तत्र यदि प्रथमः पक्षः स न युक्तः, अत्राऽपि विकल्पद्वयानतिवृत्तेः। तथाहि-साऽपि क्रिया किं स्पन्दात्मिका उत अस्पन्दात्मिका ? यदि स्पन्दात्मिका तदाऽऽत्मनो निश्चलत्वाद् अन्येषां कारकाणां व्यापारसद्भावेऽपि व्यापारो न स्यात्, यदर्थोऽयं प्रयासस्तदेव त्यक्तं भवतैवमभ्युपगच्छता। अथाऽपरिस्पन्दात्मिका क्रिया व्यापारस्वभावा। न, तथाभूतायाः परिस्पन्दाऽभावरूपतया फलजनकत्वायोगात्, अभावस्य जनकत्वविरोधात्। न च क्रिया कारणफलापान्तरालवर्त्तिनी परिस्पन्दस्वभावा तद्विपरीतस्वभावा वा प्रमाणगोचरचारिणी इति न तस्याः सद्व्यवहारविषयत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्। इति न क्रियात्मको व्यापारः।

नापि तदनात्मको व्यापारो अंगीकर्त्तुं युक्तः, तत्रापि विकल्पद्वयप्रवृत्तेः। तथाहि-किमसावक्रियाऽऽत्मको व्यापारो बोधस्वरूपः, अबोधस्वभावो वा ? यदि बोधस्वरूपः, प्रमातृवत्त प्रमाणान्तरगम्यताऽभ्युपगन्तुं युक्ता। अथाऽबोधस्वभावः, नायमपि पक्षः, बोधात्मकज्ञातृव्यापारस्याऽबोधात्मकत्वाऽसंभवात्। न हि चिद्रूपस्याऽचिद्रूपो व्यापारो युक्तः, 'जानाति' इति च ज्ञातृव्यापारस्य बोधात्मकस्यैवाभिधानात्। तन्न अबोधस्वभावोऽपि व्यापारः।

की उत्पत्ति मानने पर उससे जन्य नया नया अर्थप्रतिभास भी आप को मानना पडेगा, तो पूर्ववत् सुषुप्ति आदि के अभाव की आपत्ति दुर्निवार रहेगी। निष्कर्ष-अजन्य व्यापार का अंगीकार किसी भी तरह कल्याणकर नही है।

[जन्य व्यापार क्रियारूप है या अक्रियारूप ?]

व्यापार कारकजन्य है यह पक्ष माना जाय तो यहा भी दो विकल्प को अवकाश है-[१] यह जन्य व्यापार क्या क्रियात्मक है, [२] या क्रियानात्मक है ? यदि प्रथम का पक्ष किया जाय तो वह भी युक्त नही है क्योंकि यहाँ दो विकल्प का अतिक्रम शक्य नही है, [A] क्रियात्मक व्यापार पक्ष मे क्रिया का स्वरूप स्पन्दात्मक है, [B] या अस्पन्दात्मक ? अगर कहे-[A] स्पन्दात्मक मानते हैं, तब तो अन्य कारकों के व्यापार का अस्तित्व संभव होने पर भी आत्मा निश्चल=अक्रिय होने से उसमे क्रियात्मक व्यापार की संगति नही होगी। क्या अच्छा किया आपने ?! ज्ञाता के व्यापार को सिद्ध करने के लिये तो यह उपक्रम किया और यहा आकर उसी का त्याग कर दिया।

[B] यदि अस्पन्दात्मक क्रिया को व्यापार स्वभाव माना जाय तो यह उचित नही, क्योंकि व्यापार स्वभाव अस्पन्दात्मक क्रिया का अर्थ हुआ परिस्पन्दाभावरूप क्रिया। ऐसी क्रिया फलोत्पादक नही हो सकती क्योंकि अभाव का उत्पादकता के साथ विरोध है।

क्रिया चाहे स्पन्दात्मक हो या उससे विपरीत स्वभाव वाली हो, कारणो का संनिधान और कार्योत्पत्ति के बीच किसी भी रूप मे वह क्रिया प्रमाणपथ संचरणशीला यानी प्रमाण से गृहीत नही होती, अतः सद्रूप से व्यवहार के विषयरूप मे उस क्रिया का अंगीकार युक्त नही है। निष्कर्ष, व्यापार क्रियारूप नही हो सकता।

[अक्रियात्मक व्यापार ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप ?]

व्यापार को अक्रियात्मक रूप मे मान लेना भी युक्त नही है। कारण, यहाँ भी दो विकल्प सामने आयेंगे, (१) क्रियानात्मक व्यापार क्या बोधस्वरूप है या (२) अबोधस्वरूप है (१) यदि

किं च, असौ ज्ञातृव्यापारो धर्मिस्वभावः, उत धर्मस्वभावः ? इति पुनरपि कल्पनाद्वयम् । धर्मिस्वरूपत्वे ज्ञातृवन्न प्रमाणान्तरगम्यत्वमित्युक्तम् । धर्मस्वभावत्वेऽपि धर्मिणो ज्ञातुर्व्यतिरिक्तो व्यापारः, अव्यतिरिक्तः, उभयम्, अनुभयं चेति चत्वारो विकल्पाः । न तावद् व्यतिरिक्त, तत्त्वे संबन्धाभावेन 'ज्ञातुर्व्यापारः' इति व्यपदेशाऽयोगात् । अव्यतिरेके ज्ञातैव तत्स्वरूपवद् नापरो व्यापारः । उभयपक्षस्तु विरोधमपरिहृत्य नाभ्युपगमनीयः । अनुभयपक्षस्तु अन्यान्यव्यवच्छेदरूपाणामेकविधानेनापरनिषेधादयुक्तः इति प्रतिपादितम् ।

किं च व्यापारस्य कारकजन्यत्वाभ्युपगमे तज्जनने प्रवर्त्तमानानि कारकाणि किमपरव्यापारभाञ्जि प्रवर्त्तन्ते, उत तन्निरपेक्षाणि ? इति विकल्पद्वयम् । यद्याद्यो विकल्पः, तदा तद्व्यापारजननेऽपि तैरपरव्यापारभाग्भिः प्रवर्त्तितव्यम्, तज्जननेऽप्यपरव्यापारयुग्भिः प्रवर्त्तितव्यमित्यनवस्थितेर्न फलजननव्यापारोद्भूतिरिति तत्फलस्याप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गाद् न व्यापारपरिकल्पनं श्रेयः । अथ अपरव्यापारमन्तरेणापि फलजनकव्यापारजनने प्रवर्त्तन्ते इति नायं दोषः, तर्हि प्रकृतव्यापारमन्तरेणापि फलजनने प्रवर्त्तिष्यन्त इति किमनुपलभ्यमानव्यापारकल्पनप्रयासेन ?

वह बोधस्वरूप होगा तो प्रमाता को जैसे अन्य कोई प्रमाण का विषय नही मानते है उस प्रकार बोधात्मक व्यापार को भी अन्य प्रमाण का विषय मानना युक्त नही होगा। (२) अबोधस्वभाव व्यापार का पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि ज्ञाता का व्यापार बोधात्मक ही होने से उसकी अबोधस्वरूपता का सभव नही है। ज्ञाता स्वय ज्ञानमय है इसलिये उसके व्यापार को अज्ञानमय मानना अयुक्त है। 'जानता है' इस प्रकार बोधात्मक ही ज्ञातृव्यापार बोला जाता है। फलित यह होता है कि ज्ञातृव्यापार अबोधस्वरूप नही हो सकता।

[ज्ञातृव्यापार धर्मरूप है या धर्मिरूप ?]

यह भी विचार करने योग्य है कि यह ज्ञातृव्यापार स्वय धर्मिरूप है या धर्मरूप ? धर्मिस्वरूप होने पर तो ज्ञाता जैसे प्रमाणान्तर गम्य नही है वैसे व्यापार भी प्रमाणान्तर गम्य न होगा यह तो अभी ही बोधस्वभाव विकल्प मे कह दिया। धर्मरूप व्यापार पक्ष मे चार विकल्प है (१) धर्मिरूप ज्ञाता से वह व्यापार भिन्न है, (२) या अभिन्न है, (३) अथवा भिन्नाभिन्न उभयरूप है, (४) या फिर दोनो मे से एक भी नही ? भिन्न है-यह प्रथम पक्ष ठीक नही है क्योकि तब उसका धर्मी के साथ कोई सबध न होने से 'ज्ञाता का व्यापार' इस प्रकार नही बोल सकेंगे। यदि अभिन्न माना जाय तो वह ज्ञातारूप ही हुआ, जैसे उस ज्ञाता का स्वरूप उससे अभिन्न होता है तो वह ज्ञातारूप ही होता है इसलिये व्यापार धर्मी से कोई अलग तत्त्व नही हुआ। भिन्नाभिन्न उभय पक्ष विरोध का परिहार किये विना नही माना जा सकता क्योकि भिन्न और अभिन्न परस्पर विरोधी होने से एकरूप नही हो सकता। 'भिन्न-अभिन्न दोनो मे से एक भी नही' यह चौथे विकल्प के ऊपर तो पहले भी कहा है कि जो अन्योन्य व्यवच्छेद स्वरूप होते है उनमे से एक का विधान करे तो दूसरे का निषेध बलाद् हो जाता है। इसलिये चौथा विकल्प अयुक्त ही है।

[व्यापार की उत्पत्ति में अन्य व्यापार की अपेक्षा है या नहीं ?]

व्यापार को कारकजन्य मानने के पक्ष मे यह भी दो विकल्प ऊठाने योग्य हैं-[१] व्यापारोत्पत्ति मे उपयुज्यमान कारक अन्य कोई व्यापार से सहकृत होकर प्रवृत्त होते है ? या [२] उसकी

किं चासौ व्यापारः फलजनने प्रवर्त्तमानः किमपरव्यापारसव्यपेक्षः ? अथ निरपेक्षः ? इत्यत्रापि कल्पनाद्वयम् । तत्र यद्याद्या कल्पना, सा न युक्ता, अपरापरव्यापारजननक्षीणशक्तित्वेन व्यापारस्यापि फलजनकत्वाऽयोगात् । अथ व्यापारान्तरानपेक्षः एव फलजनने प्रवर्त्तते तर्हि कारकाणामपि व्यापारनिरपेक्षाणां फलजनने प्रवृत्तौ न कश्चिच्छक्तिव्याघातः सम्भाव्यते । अथ व्यापारस्य व्यापारस्वरूपत्वान्नापरव्यापारापेक्षा, कारकाणां त्वव्यापाररूपत्वात् तदपेक्षा । का पुनरियं व्यापारस्य व्यापारस्वभावता ? यदि फलजनकत्वम्, तद् विहितप्रतिक्रियम् । अथ कारकाश्रितत्वम्, तदपि भिन्नस्य तज्जन्यत्वं विहाय न सम्भवतीत्युक्तम् । अथ कारकपरतन्त्रत्वम्, तदपि न, अनुत्पन्नस्याऽसत्त्वात् । नाप्युत्पन्नस्य, अन्यानपेक्षत्वात्, तथापि तत्परतन्त्रत्वे कारकाणामपि व्यापारपरतन्त्रता स्यात् ।

अपेक्षा किये विना ही प्रवृत्त होते है ? अगर प्रथम विकल्प माना जाय, तो उस द्वितीय व्यापार के उत्पादन मे उपयुज्यमान कारको अन्य कोई तृतीय व्यापार से सहकृत होकर प्रवृत्त होने चाहिये, तृतीय व्यापार के उत्पादन मे भी एव अन्य व्यापार सहकृत होकर कारको की प्रवृत्ति होगी । इस प्रकार अनवस्था चलेगी तो प्रस्तुत फलोत्पादक व्यापार का जन्म ही न हो सकेगा । तव प्रस्तुत फल की उत्पत्ति ही न होने की आपत्ति आने से व्यापार की कल्पना मे किसी का श्रेय नही है । यदि दूसरे विकल्प के पक्ष मे कहे कि अन्य कोई व्यापार के सहकार विना ही कारकसमूह प्रस्तुत व्यापारोत्पत्ति मे प्रवृत्त होगे तो उक्त अनवस्था दोप नही होगा ।'-तो प्रस्तुत व्यापार की अपेक्षा विना ही कारक समूह अर्थप्रकाशनरूप फल मे प्रवृत्त होगा, फिर जिसका उपलम्भ ही नही है वैसे व्यापार की कल्पना का कष्ट क्यो उठाया जाय ?!

[व्यापार को अन्य व्यापार की अपेक्षा है या नहीं ?]

व्यापार के विपय मे अन्य भी दो कल्पनाएँ सावकाश है, (१) फलोत्पत्ति मे प्रवर्त्तने वाले व्यापार को अन्य व्यापार की अपेक्षा रहती है ? (२) या नही रहती है ? आद्य कल्पना का यदि स्वीकार करे तो वह अयुक्त है । कारण, उस दूसरे व्यापार को भी नये अन्य व्यापार की अपेक्षा रहेगी, उस को भी नये अन्य व्यापार की, इस प्रकार अन्त ही नहीं आयेगा तो प्रस्तुत व्यापार की शक्ति तो अन्य अन्य नये व्यापार के उत्पादन मे ही क्षीण हो जायेगी, उससे अर्थप्रकाशनरूप फल की उत्पत्ति न हो सकेगी । दूसरी कल्पना मे, अन्य व्यापार की अपेक्षा माने विना ही फलोत्पत्ति मे प्रवृत्ति मानी जाय तो यह भी सभावना हो सकती है कि कारकसमूह भी व्यापार की अपेक्षा किये विना ही फलोत्पत्ति मे प्रवृत्त हो सकने से उसकी भी शक्ति का व्याघात नही होगा ।

यदि यह कहा जाय कि- 'व्यापार तो स्वयं व्यापारस्वरूप है इसलिये उसको अन्य व्यापार की अपेक्षा न होना सहज है, किंतु कारकसमूह व्यापारात्मक नही है इसलिये उसको व्यापार की अपेक्षा हो सकती है ।'- तो इस पर प्रश्न है कि 'व्यापार की व्यापारस्वभावता' यानी क्या ? यदि व्यापारस्वभावता को फलजनकतारूप माने तो उसके प्रतिकार मे 'अन्य कारको की व्यर्थता हो जाने की आपत्ति' पहले वता चुके है । यदि व्यापारस्वभावता को 'कारकाश्रितता' रूप यानी 'कारकों मे आश्रित होना' इस स्वरूप मे मानी जाय तो इस सम्वन्ध में भी पहले कारको की शक्ति के विषय मे कहा है कि- कारको से भिन्नता होने पर यदि वे कारकजन्य नही होगे तो कारको मे आश्रित नहीं हो सकते क्योकि तज्जन्यत्व के सिवा और कोई सम्वन्ध वहाँ संगत नही होता इत्यादि । यदि व्यापार-

अथैवं पर्यनुयोगः सर्वभावप्रतिनियतस्वभावव्यावर्त्तक इत्ययुक्तः । तथाहि-एवमपि पर्यनुयोगः सम्भवति-वह्नेर्दाहकस्वभावत्वे आकाशस्यापि स स्यात्, इतरथा वह्नेरपि स न स्यादिति ।-स्यादेतत् यदि प्रत्यक्षसिद्धो व्यापारस्वभावो भवेत्, स च न तथेति प्रतिपादितम् । तत एवोक्तम्—

स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे यदि पर्यनुयुज्यते । तत्रोत्तरमिदं युक्तं न दृष्टेऽनुपपन्नता ।। [ ]

तन्न व्यापारो नाम कश्चिद् यथाभ्युपगत परैः ।

'अथानुमानग्राह्यत्वे स्यादयं दोष, अत एवार्थापत्तिसमधिगम्यता तस्याभ्युपगता' । ननु दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टकल्पनाऽर्थापत्तिः तत्र कः पुनरसौ भावो व्यापारव्यतिरेकेण नोपपद्यते यो व्यापारं कल्पयति? 'अर्थ' इति चेत्? का पुनरस्य तेन विनाऽनुपपद्यमानता? -नोत्पत्तिः, स्वहेतुतस्तस्या भावात् ।

स्वभावता को कारकपराधीनता रूप मानी जाय तो यह भी असगत है क्योकि अनुत्पन्न व्यापार असत् होने से कारको का पराधीन नही हो सकता और उसे उत्पन्न मानने पर फिर अन्य की पराधीनता क्यो होगी ? उत्पत्ति के बाद भी कारको की पराधीनता कहते है तो उसके विपरीत, कारकसमूह को ही व्यापारपराधीन क्यो न माना जाय ?

[वस्तु स्वरूप के अनिश्चय की आपत्ति अशक्य]

पूर्वपक्षी:- व्यापारस्वभावता के ऊपर आपने जो विविध प्रश्न किये, ऐसे प्रश्न हर चीज पर करते रहेंगे तो उन प्रश्नो से सभी पदार्थो के विशिष्ट स्वभाव का निवर्त्तन हो जायगा, यानी किसी भी पदार्थ का कुछ भी स्वरूप ही निश्चित न हो सकेगा । इसलिये ऐसे प्रश्न अयुक्त है । जैसे, कोई प्रश्न करे कि क्या अग्नि दाहक स्वभाव हो सकता है ? नही हो सकता, क्योकि तब तो आकाश भी दाहकस्वभाव मानना पडेगा, उसको दाहक स्वभाव न मानना हो तो अग्नि को भी दाहक स्वभाव क्यो माने ? इत्यादि, तो अग्नि का स्वभाव अनिश्चित रहेगा ।

उत्तरपक्षी – हो सकता है, यदि अग्नि के दाहकस्वभाव की भाँति व्यापारस्वभाव भी प्रत्यक्षसिद्ध होता । किंतु वह प्रत्यक्षसिद्ध नही है यह बात तो पहले ही हो गयी है । तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष से जो सिद्ध नही होता उसी के विषय मे तथोक्त प्रश्नो को अवकाश है, जो प्रत्यक्षसिद्ध है उसके विषय मे नही, क्योकि कहा गया है— "स्वभाव प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी उसके ऊपर प्रश्न कोई करे तो उसका यही स्पष्ट उत्तर है कि जो बात दृष्ट यानी प्रत्यक्षसिद्ध है उसमे कोई अनुपपत्ति नही होती ।"

निष्कर्ष– अन्य वादीओ ने जैसे व्यापार को माना है वैसा कोई व्यापार है नही ।

[व्यापार अर्थापत्तिगम्य होने का कथन अयुक्त]

व्यापारवादी:- व्यापार प्रत्यक्षसिद्ध न होने से पूर्वोक्त विकल्पो की सभावना और उसमे दोषपरम्परा का प्रवेश व्यापार को यदि हम अनुमानसिद्ध माने तब तो ठीक है किंतु इसीलिये व्यापार को हम अनुमानबोध्य न मान कर अर्थापत्तिप्रमाणबोध्य मानते है जिससे वे सब दोष निरवकाश बने ।

उत्तरपक्षी:- अर्थापत्ति से अदृष्टभाव की कल्पना वहाँ होती है जहाँ दृष्ट या श्रुत किसी एक पदार्थ की उपपत्ति उस अदृष्ट भाव के विना शक्य न हो । प्रस्तुत मे वह कौनसा भाव है जो व्यापार के अभाव मे अनुपपन्न होने से व्यापार की कल्पना करनी पडे ?

किं च, प्रसावर्थः किम् एकज्ञातृव्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानस्तं कल्पयति ? उत सर्वज्ञातृव्यापार-मन्तरेण ? इति वक्तव्यम् । तत्र यदि सकलज्ञातृव्यापारमन्तरेणेति पक्षः तदान्धानामपि रूपदर्शनं स्यात्, तद्व्यापारमन्तरेणार्थाभावात् सर्वज्ञताप्रसंगश्च । अथ एकज्ञातृव्यापारमन्तरेणानुपपत्तिस्तर्हि यावदर्थसद्भावस्तावत् तस्यार्थदर्शनमिति सुप्ताद्यभावः ।

अथ अर्थधर्मोऽर्थप्रकाशतालक्षणो व्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानः तं कल्पयति । ननु साऽप्यर्थ-प्रकाशताऽर्थधर्मो यद्यर्थ एव तदाऽर्थपक्षोक्तो दोषः, अथ तद्व्यतिरिक्तः, तदा तस्य स्वरूपं वक्तव्यम् । 'तस्यानुभूयमानता सा' इति चेत् ? न, पर्यायमात्रमेतत् न तत्स्वरूपप्रतिपत्तिरिति स एव प्रश्नः । किं च प्रकाशोऽनुभवश्च ज्ञानमेव, तदनवगमे तत्कर्मतायाः सुतरामनवगम इत्यर्थप्रकाशता-ऽनुभूयमानते स्वरूपेणानवगते कथं ज्ञातृव्यापारपरिकल्पिके ?

व्यापारवादी.– अर्थ ही ऐसा है जिसकी व्यापार के विना उपपत्ति नही।

उत्तरपक्षीः– व्यापार के विना अर्थ की अनुपपत्ति का क्या मतलब है ? 'व्यापार के विना अर्थ उत्पन्न नही होता' ऐसा आशय अयुक्त है क्योकि अर्थ की उत्पत्ति तो अपने कारणो से ही होती है, व्यापार से नही ।

[एकज्ञातृव्यापार और सर्वज्ञातृव्यापार अर्थापत्तिगम्य कैसे ?]

दूसरी बात– आपको यह कहना होगा कि अर्थ की अनुपपत्ति क्या एक ज्ञाता के व्यापार के विना होती है ? या सकलज्ञाताओं के व्यापार के विना ? यदि दूसरा विकल्प सकलज्ञाताओं के व्यापार के विना अर्थानुपपत्ति को मानेंगे तब तो एक आपत्ति यह होगी कि अन्ध पुरुष को भी रूप का दर्शन होगा, क्योकि वह भी सकलज्ञाताओं मे अन्तर्गत है, अत: उसके व्यापार के विना भी अर्थ अनुपपन्न ही रहेगा, फलत. अर्थ की उपपत्ति से अन्ध पुरुष का भी रूपग्रहणानुकुल व्यापार आपको मानना पडेगा, तो फिर अन्धपुरुष को रूपदर्शन क्यों नही होगा ? दूसरी आपत्ति यह होगी कि सकल ज्ञाता सर्वज्ञ वन जायेंगे, क्योकि किसी भी अर्थ की उपपत्ति ही तभी होगी जब उसमे सकलज्ञाता का व्यापार माना जायेगा, तो फिर कोई भी अर्थ किसी भी ज्ञाता को अज्ञात न रहेगा ।

यदि प्रथम विकल्प-एकज्ञाता के व्यापार विना अर्थ की अनुपपत्ति मानी जाय तो जब तक अर्थ की सत्ता रहेगी वहाँ तक उस एक ज्ञाता का सतत व्यापार भी मानना होगा क्योकि उस के विना वह अनुपपन्न है । व्यापार सतत रहेगा तो तज्जन्य अर्थदर्शन भी सतत चालु रहेगा, तो वह ज्ञाता कभी सो नही पायेगा, उसका आराम ही हराम हो जायेगा, क्योकि अर्थदर्शन चालु रहने पर कभी भी नीद नही आती ।

[अर्थप्रकाशता की अनुपपत्ति से ज्ञातृव्यापार की सिद्धि असंभव]

व्यापारवादीः– अर्थ की अनुपपत्ति से अर्थप्रकाशतारूप अर्थधर्म की अनुपपत्ति अभिप्रेत है । आशय यह है कि ज्ञातृव्यापार के विना अर्थ की प्रकाशता (यानी ज्ञानविषयता) उपपन्न न होने से ज्ञातृव्यापार की कल्पना होती है ।

उत्तरपक्षीः– वह अर्थप्रकाशतारूप अर्थधर्म क्या अर्थरूप ही है या उससे भिन्नस्वरूप है ? यदि अर्थरूप ही हो तब तो अर्थपक्ष मे जो दोष बताया गया वह लगेगा । यदि अर्थ से भिन्नरूप अर्थप्रकाशता है तो उसका क्या स्वरूप है यह बताओ ।

किं च, अर्थप्रकाशतालक्षणोऽर्थधर्मोऽन्यथानुपपन्नत्वेनाऽनिश्चितः तं कल्पयति ? आहोस्विद् निश्चितः ? इति । तत्र यद्याद्य कल्प , स न युक्त', अतिप्रसङ्गात् । तथाहि-यद्यनिश्चितोऽपि तथात्वेन स तं परिकल्पयति तदा यथा तं परिकल्पयति तथा येन विनाऽपि स उपपद्यते तमपि किं न कल्पयति विशेषाभावात् ? अथाऽनिश्चितोऽपि तेन विनाऽनुपपद्यमानत्वेन निश्चितः स तं परिकल्पयति तर्हि लिंगस्यापि नियतत्वेनाऽनिश्चितस्यापि स्वसाध्यगमकत्वं स्यात्, तथा चार्थापत्तिरेव परोक्षार्थनिश्चायिका नानुमानमिति पट्प्रमाणवादाभ्युपगमो विशीर्येत ।

अथान्यथानुपपद्यमानत्वेन निश्चितः स धर्मस्तं परिकल्पयति तदा वक्तव्यम्-क्व तस्यान्यथानुपपन्नत्वनिश्चयः ? यदि दृष्टान्तधर्मिणि तदा लिंगस्यापि तत्र नियतत्वनिश्चयोऽस्तीत्यनुमानमेवार्थापत्तिः स्यात् । एवं चार्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भूतेति पुनरपि प्रमाणषट्काभ्युपगमो विशीर्येत ।

व्यापारवादीः- अर्थप्रकाशता यह अर्थ की अनुभूयमानता (यानी अनुभवविषयतारूप) है ।

उत्तरपक्षी:- यह गलत है, क्योकि अर्थप्रकाशता का स्वरूप हमने पूछा उसके उत्तर मे आपने केवल पर्यायवाची शब्द ही दिया, स्वरूप का कुछ भी स्पष्टीकरण नही किया । इसलिये वह तो अप्रतिपन्न ही रहा। तो उसकी प्रतिपत्ति के लिये फिर से आपको वही प्रश्न करना होगा कि अर्थप्रकाशता का क्या स्वरूप है ?

दूसरी वात यह है कि प्रकाशता और अनुभूयमानता का अर्थ होगा क्रमश प्रकाश का कर्म तथा अनुभव का कर्म । इसमे प्रकाश और अनुभव तो ज्ञानात्मक ही है । जब तक वे दोनो अज्ञात रहेगे तब तक उसकी कर्मता तो बेशक अज्ञात ही रहेगी । तात्पर्य, अर्थप्रकाशता और अनुभूयमानता ही स्वरूप से अज्ञात रहेगी तो उसकी अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञातृव्यापार की कल्पना की तो बात ही कहाँ ?

[अर्थप्रकाशता धर्म निश्चित रहेगा या अनिश्चित ?]

व्यापारवादी को अन्य भी दो विकल्पो का सामना करना होगा- (१) वह अर्थप्रकातास्वरूप अर्थधर्म व्यापार के विना अनुपपद्यमान है इस प्रकार निश्चित न होने पर भी व्यापार की कल्पना करायेगा ? या (२) निश्चित होने पर ही ? (१) इसमे यदि प्रथम कल्प माना जाय तो वह अयुक्त है क्योकि इसमे यह अतिप्रसग होगा- अगर व्यापार के विना अनुपपद्यमान है इस प्रकार निश्चित न होने पर भी अर्थधर्म व्यापार की कल्पना करायेगा तो जैसे उसकी कल्पना कराता है वैसे ही-जिसके विना वह उपपद्यमान है ऐसे घट-पटादि की भी कल्पना क्यो न करायेगा ? जबकि दोनो मे कोई मुख्य भेद तो है नही । दूसरा दोप यह है कि अगर 'अर्थधर्म व्यापार के विना अनुपपद्यमान है' । इस प्रकार निश्चित न होने पर भी अर्थधर्म ज्ञातृव्यापार की कल्पना करायेगा तो अनुमान मे लिग (हेतु) भी 'साध्य होने पर ही हेतु होता है' इस प्रकार साध्य के साथ नियतरूप से जब निश्चित नही होगा तव भी अपने साध्य का बोध उत्पन्न कर देगा । ऐसा होने पर अर्थापत्ति ही परोक्षार्थनिर्णय को उत्पन्न कर देगी, तो अनुमानप्रमाण की आवश्यकता न रहने से मीमासक का 'छ. प्रमाण होते हैं' इस वाद का स्वीकार हत-प्रहत हो जायेगा ।

[अर्थापत्ति-अनुमान का भेद समाप्त होने की आपत्ति]

व्यापारवादी - (२) दूसरा कल्प हम मान लेगे कि 'अर्थप्रकाशतास्वरूप अर्थधर्म व्यापार के विना अनुपपद्यमान है' ऐसा निश्चित होने पर ही वह अर्थधर्म व्यापार की कल्पना कराता है ।

अथ साध्यधर्मिणि तन्निश्चय इत्यनुमानात् पृथगर्थापत्तिः ? तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-कुतः प्रमाणात् तस्य तन्निश्चयः ? यदि विपक्षेऽनुपलम्भात्, तन्न युक्तम्, सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धत्वप्रतिपादनात् । आत्मसंबंधिनस्तु अनैकान्तिकत्वादिति नान्यथानुपपद्यमानत्वनिश्चयः ।

किं च अर्थापत्त्युपस्थापकस्यार्थानुभूयमानतालक्षणस्यार्थधर्मस्य य एव स्वप्रकल्प्यार्थाभावेऽवश्यंतयाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चयः, स एव स्वप्रकल्प्यार्थसद्भावे एवोपपद्यमानत्वनिश्चय इत्यर्थापत्त्युपस्थापकस्यार्थस्य स्वसाध्यानुमापकस्य च लिंगस्य न कश्चिद्विशेष इत्यनुमाननिरासेऽर्थापत्तेरपि निरासः कृत एवेति नार्थापत्तेरपि ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणनिश्चायकत्वम् ।

उत्तरपक्षी:- यहाँ भी आपके सामने दो विकल्प हैं- आपको कहना होगा कि अर्थधर्म की अन्यथानुपपत्ति का निश्चय आपने कहाँ किया ? [A] दृष्टान्त के धर्मी में ? (या [B] साध्यधर्मी मे ?) A यदि दृष्टान्त मे जिस का धर्मीरूप से निर्देश किया जाता है वहाँ अन्यथानुपपत्ति का निश्चय होने का कहेंगे तो ऐसा ही अनुमान में होता है, अर्थात् अनुमान मे भी दृष्टान्तधर्मी में ही लिंग का साध्य के साथ नियतत्व का निश्चय होता है तो आपकी अर्थापत्ति अनुमानरूप ही वन गयी । अर्थात् अनुमान के गृह मे अर्थापत्ति चली आयी, अनुमान से पृथक् न रही, तो फिर से एक बार आपका षट्प्रमाणवाद का स्वीकार हत-प्रहत हो जायेगा ।

[साध्यधर्मि में अन्यथानुपपत्ति का निश्चय किस प्रमाण से ?]

[B] यदि कहे कि- साध्य को जहाँ सिद्ध करना है उस धर्मी मे अर्थधर्म की अन्यथानुपपत्ति का निश्चय वाला दूसरा पक्ष मानेंगे, इसलिये अर्थापत्ति अनुमान से पृथग् होगी-तो यहाँ भी व्यापारवादी को उत्तर देना होगा कि साध्यधर्मी में किस प्रमाण से अन्यथानुपपत्ति का निश्चय किया ? इसके उत्तर मे यह कहना युक्त नही है कि विपक्ष मे यानी साध्यशून्य स्थल मे अर्थधर्म का अनुपलम्भ होने से उसकी अन्यथानुपपत्ति का निर्णय हुआ । युक्त इसलिये नही है कि साध्यशून्य विपक्ष मे सभी प्रमाता को अर्थधर्म के अनुपलम्भ का निश्चय होता है यह कहना शक्य न होने से वह असिद्ध है यह कहा गया है । व्यापारवादी के ही केवल विपक्ष मे अनुपलम्भ से अन्यथानुपपत्ति का निश्चय नही माना जा सकता क्योंकि विपक्ष मे अर्थधर्म की सत्ता होने पर भी किसी दोष वश उसका उपलम्भ व्यापारवादी को न होने से व्यापारवादी का अनुपलम्भ अनैकान्तिकदोष से घिरा हुआ है ।

[अर्थापत्तिस्थापक अर्थ और लिंग में तात्त्विकभेद का अभाव]

दूसरी बात यह है कि-'अर्थापत्ति का उत्थान करने वाला अर्थानुभूयमानतास्वरूप अर्थधर्म अपने द्वारा कल्पनीय व्यापाररूप अर्थ के विना नियमतः अनुपपद्यमान है' इस प्रकार का निश्चय और दूसरी ओर, 'वह अर्थधर्म अपने द्वारा कल्पनीय व्यापाररूप अर्थ के होने पर ही उपपद्यमान है' इस रीति का निश्चय, इन दो निश्चियो मे एक निश्चय व्यतिरेक मुखी है और दूसरा अन्वयमुखी है किन्तु दोनों एक ही अर्थ के निश्चायक होने से उन दोनो मे कोई भेद नही है-दोनो एक ही है । तथा अपने साध्य को सिद्ध करने वाला लिंग भी उपरोक्त प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक आधार पर अवलम्बित है । तो अर्थापत्ति का उत्थान करने वाला अर्थ (अर्थानुभूयमानता) और अपने साध्य को सिद्ध करने वाला लिंग [हेतु] इन दोनो के बीच क्या अन्तर रहा ? कुछ नही । अतः ज्ञातृव्यापार ग्राहक अनुमान का ही जब खडन हो चुका है तो अर्थापत्ति का भी खडन हो ही जाता है ।

येऽपि 'संवित्त्याख्यं फलं ज्ञातृव्यापारसद्भावे सामान्यतोदृष्टं लिंगम्' आहुः, तन्मतमप्यसम्यक्, यतः संवेदनाख्यस्य लिंगस्य किम् अर्थप्रतिभासस्वभावत्वम् ? उत तद्विपरीतत्वम् ? इति कल्पनाद्वयम् । तत्रार्थप्रतिभासस्वभावत्वे किमपरेण ज्ञातृव्यापारेण कथितेनेति वक्तव्यम् । 'तदुत्पत्तिस्तेन विना न संभवति' इति चेत् ? न, इन्द्रियादेस्तदुत्पादकस्य सद्भावाद् व्यर्थं तत्परिकल्पनम् । 'क्रियामन्तरेण कारककलापात् फलाऽनिष्पत्तेः तत्कल्पना' इति चेत् ? नन्विन्द्रियादिसामग्र्यस्य क्व व्यापारः इति वक्तव्यम् । 'क्रियोत्पत्तौ' इति चेत् ? साऽपि क्रिया क्रियान्तरमन्तरेण कथं कारककलापादुपजायत इति पुनरपि चोद्यम् । क्रियान्तरकल्पनेऽनवस्था प्राक् प्रतिपादितैव, तन्नार्थप्रतिभासस्वभावत्वेऽन्यो व्यापारः कल्पनीयः, निष्प्रयोजनत्वात् ।

साराश, ज्ञातृव्यापारात्मक प्रमाणस्वरूप का निश्चय अर्थापत्ति से नही हो सकता ।

[अर्थसंवेदन रूप लिंग से ज्ञातृव्यापार की सिद्धि विकल्पग्रस्त]

जिन लोगों का कहना है कि-'सविंत्ति यानी अर्थसवेदन नामक फल, ज्ञातृव्यापार की अनुमिति में 'सामान्यतोदृष्ट' सज्ञक लिंग है' । [सामान्यरूप से जिसमे अन्वय और व्यतिरेक दोनो व्याप्ति उपलब्ध हो वह सामान्यतो दृष्ट लिग कहा जाता है ।]-यह मत भी समीचीन नही है । कारण, इस मत मे विरोधी दो कल्पनाएँ है-[१] सवेदन लिंग अर्थप्रतिभासस्वभाव है ? या [२] उससे विपरीत है ? यदि सवेदन स्वय ही अर्थप्रतिभासस्वभाव हो तब उसीको प्रमाण मान लेना चाहिये, दूसरे ज्ञातृव्यापार के कथन की फिर क्या जरूर यह बताओ !

व्यापारवादीः ज्ञातृव्यापार के विना सवेदन की उपपत्ति नही होती, इसलिये ज्ञातृव्यापार की बात कहने योग्य है ।

उत्तरपक्षीः-यह बात असगत है । सवेदन के उत्पादक इन्द्रियादि है और वे विद्यमान है तब ज्ञातृव्यापार की कल्पना निरर्थक है ।

व्यापारवादी -इन्द्रियादि कारकवृ द निष्क्रिय होने पर सवेदन की उत्पत्ति नही होती है । तात्पर्य, क्रिया के विना कारकवृ द से सवेदनफल की उत्पत्ति न होने से बीच मे क्रियारूप व्यापार की कल्पना होती है ।

उत्तरपक्षीः- यदि क्रिया से फल निष्पत्ति होती है तो इन्द्रियादि सामग्री क्या निरूपयोगी है या किसी कार्य मे उसका भी व्यापार है ? यह बताओ ।

व्यापारवादीः - इन्द्रियादि सामग्री का व्यापार क्रिया की उत्पत्ति मे है इसलिये वह निरर्थक नही है ।

उत्तरपक्षीः—इसमे और एक प्रश्न होगा कि इन्द्रियादि से जैसे क्रिया के विना सवेदन की सीधे ही उत्पत्ति नही होती तो इन्द्रियादि से अन्य क्रिया के विना वह प्रथम क्रिया भी कैसे उत्पन्न होगी ? यदि प्रथम क्रिया की उत्पत्ति के लिये दूसरी क्रिया मानेगे तो फिर तीसरी-चौथी भी माननी होगी और इस प्रकार अनवस्था होगी यह तो पहले भी क्रिया पक्ष मे कह आये है । साराश, संवेदन यदि अर्थप्रतिभासरूप हो तो दूसरे कोई व्यापार की कल्पना नही हो सकती क्योकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है ।

अथ द्वितीया कल्पनाऽभ्युपगम्यते, सापि न युक्ता। यतोऽर्थस्य संवेदनं तद् भवज्ज्ञातृव्यापार-लिंगतां समासादयति, सा च तदसंवेदनस्वभावस्य कथं संगता? शेषं तु पूर्वमेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते।

किं च, अर्थप्रतिभासस्वभावं संवेदनम्, ज्ञाता, तद्व्यापारश्च बोधात्मको नैतत् त्रितयं क्वचिदपि प्रतिभाति। अथ-'घटमहं जानामि' इति प्रतिपत्तिरस्ति, न चैषा निह्नोतुं शक्या, नाप्यस्याः किंचिद् बाधकमुपलभ्यते, तत् कथं न त्रितयसद्भावः? तथाहि-'अहम्' इति ज्ञातुः प्रतिभासः, 'जानामि' इति संवेदनस्य, 'घटम्' इति प्रत्यक्षस्यार्थस्य, व्यापारस्य त्वपरस्य प्रमाणान्तरतः प्रतिपत्तिरित्यभ्युपगमः।'-अयुक्तमेतत्, यतः कल्पनोद्भूतशब्दमात्रमेतत्, न पुनरेषवस्तुत्रयप्रतिभासः। अत एवोक्त-माचार्येण-'एकमेवेदं संविद्रूपं हर्ष-विषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं समुत्पश्यामः, तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्'।

[ ]

किं च, व्यापारनिमित्ते कारकसम्बन्धे विकल्पद्वयम्-किं पूर्वं व्यापारः पश्चात् संबन्ध? उत

[अर्थाप्रतिभासस्वभाव संवेदन संभव ही नहीं है]

दूसरी कल्पना (अर्थप्रतिभासस्वभावविपरीतस्वभाव) का यदि स्वीकार करे तो वह भी अयोग्य है। कारण, अर्थ का अप्रतिभास होते हुए यदि वह ज्ञातृव्यापार का लिंग बनता है तो उसकी लिंगरूपता अर्थसंवेदनस्वभावता प्रयुक्त हुई। तात्पर्य यह है कि संवेदन और प्रतिभास शब्द मे तो नाम मात्र का अन्तर है, अब यदि ज्ञातृव्यापार का लिंगभूत संवेदन अर्थसंबधी है तो वह अर्थप्रतिभासरूप ही हुआ, अर्थात् अर्थप्रतिभासस्वभाव होने से ही वह ज्ञातृव्यापार का लिंग बना तो अर्थाप्रतिभासस्वभावता यानी अर्थासंवेदनस्वभावता की कल्पना स्वीकारने पर संवेदन की लिंग-रूपता ही कैसे संगत होगी? शेष बात का निर्णय तो पहले ही हो गया है कि अन्वयनिश्चय और व्यतिरेक निश्चय ज्ञातृव्यापार के संबंध मे घटते नही है, इसलिये यहा पुनरुक्ति नही करेंगे।

दूसरा यह भी ज्ञातव्य है कि अर्थप्रतिभासस्वभावसंवेदन, ज्ञाता और उसका बोधात्मक [प्रमाणात्मक] व्यापार यह त्रैविध्य किसी भी अनुभव में प्रतिफलित नही होता, फिर संवेदनभिन्न व्यापार को कैसे माना जाय?

शंकाः—'घटमहं जानामि'-"मैं घट को जानता हूँ" यह एक निर्बाध अनुभव है, इसका अप-लाप नही हो सकता। उसमे कोई बाधक भी उपलब्ध नही है। तो इसमे त्रैविध्य का सद्भाव क्यों न माना जाय?। त्रैविध्य तो स्पष्ट ही है, जैसे—'अहम्' यह ज्ञाता का प्रतिभास है 'जानामि' यह संवेदन का प्रतिभास हुआ, 'घटम्' यह प्रत्यक्षीभूत अर्थ का प्रतिभास है। हाँ एक व्यापार बाकी रहा, किन्तु वह भी अन्य प्रमाण से ज्ञात होता है इसलिये उसका स्वीकार किया है। तो यह कैसे कहा जाय कि-त्रैविध्य अनुभव में नही है?

उत्तरः—यह प्रश्न अयुक्त है, क्योकि जिन शब्दो से आपने त्रैविध्य का प्रतिपादन किया वे केवल कल्पना का ही विलास है-अर्थशून्य है, वास्तव मे उक्त रीति से तीन वस्तु का प्रतिभास होता नही है। इसीलिये तो पूर्वकालीन आचार्य ने यह कहा है कि-'संवेदनरूप यह (चैतन्य) एक ही है जिसको हम कभी हर्ष मे, कभी गहरे शोक में, इस प्रकार अन्य अन्य आकारों मे पलटता हुआ देखते हैं। चाहे उसकी ज्ञान, ज्ञाता आदि जो कुछ भी संज्ञा करनी है वह कर लो।'

पूर्वं सम्बन्ध; पश्चाद् व्यापारः ? पूर्वस्मिन् पक्षे न व्यापारार्थः सम्बन्ध, पूर्वमेव व्यापारसद्भावात् । उत्तरस्मिन् पुनर्विकल्पद्वयम्-संबन्धे सति किं परस्परसापेक्षाणां स्वव्यापारकर्तृत्वम् ? उत निरपेक्षाणाम् ? सापेक्षत्वे स्वव्यापारकर्तृत्वानुपपत्तिः, अनेकजन्यत्वात् तस्या । निरपेक्षत्वे किं मीलनेन ? ततश्च संसर्गावस्थायामपि स्वव्यापारकरणादनवरतफलसिद्धिः, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । तन्न युक्तं व्यापारस्याऽप्रतीयमानस्य कल्पनम् । को ह्यन्यथा संभवति फलेऽप्रतीयमानकल्पनेनाऽऽत्मानमायासयति ? अन्यथासंभवश्च इन्द्रियादिषु सत्सु फलस्य प्रागेव दर्शितः, इन्द्रियादेः तवाभ्युपगमनीयत्वात् ।

इतोऽपि संवेदनाऽऽख्यं फलमपरोक्षं व्यापारानुमापकमयुक्तम्, स्वदर्शनव्याघातप्रसक्तेः । तथाहि-भवता शून्यवादपरतःप्रामाण्यप्रसक्तिभयात् स्मृतिप्रमोषोऽभ्युपगत , विपरीतख्यातौ तयोरवश्यभावित्वात् । तथाहि-

१-तस्यामन्यदेशकालोऽर्थस्तद्देशकालयोरसन् प्रतिभाति, न च उद्देशत्वाद्यसत्त्वस्यात्यन्ताऽसत्त्वस्य चासत्प्रतिभासे कश्चिद्विशेषः यथाऽन्यदेशाद्यवस्थितमाकारं कुतश्चिद् भ्रमनिमित्ताद् ज्ञानं दर्शयति तथा अविद्यावशादत्यन्तासन्तमपि किं न दर्शयति ? तथा च कथं शून्यवादाद् मुक्तिः ?

[व्यापार और कारक संबंध का पौर्वापर्य कैसे ?]

यह जो कहा गया था कि इन्द्रियादि सामग्री अन्तर्भूतकारको के मिलन की सार्थकता क्रियात्मक व्यापार को उत्पन्न करने मे है-उस पर भी दो विकल्प है-[A] पहले व्यापार होता है और बाद मे कारको का अन्योन्य मिलन होता है ? अथवा [B] पहले कारको का मिलन होने के बाद व्यापार उत्पन्न होता है ? [A] आद्य कल्प मे कारको का मिलन व्यापार के लिये नही हुआ, क्योंकि उसके पहले ही व्यापार तो विद्यमान है ।

[B] दूसरे कल्प मे फिर से दो विकल्प का सामना करना होगा । १-व्यापार के लिये कारको के मिलने पर वे सब कारक अन्योन्य की अपेक्षा से अपने व्यापार को जन्म देते है ? या २-अन्योन्य निरपेक्ष रह कर अपने व्यापार को जन्म देते है ? १-अन्योन्य की अपेक्षा करने पर तो स्व यानी स्वय व्यापार के कर्त्ता ही नही हुये क्योकि व्यापार कोई एककारक जन्य नही रहा किन्तु अनेक कारकजन्य हुआ । २-अन्योन्य की अपेक्षा न होने के दूसरे विकल्प मे तो कारको के मिलन का प्रयोजन ही क्या ? जब मिलन निरर्थक हुआ तो उसका मतलब यह हुआ कि अन्य कारको की असंसर्ग दशा मे भी कारक अपने व्यापार को करता है । तात्पर्य, अगर उसको अन्य की अपेक्षा नही है तो जब तक कारक जीयेगा तब तक निरन्तर सवेदनरूप फल उत्पन्न होता रहेगा । न तो ऐसा किसी ने देखा है, न तो वह इच्छनीय है, इसलिये निष्कर्ष यह हुआ कि प्रतीति मे न आने वाले व्यापार की कल्पना अयुक्त है । व्यापार के विना भी यदि फलोत्पत्ति का सभव हो तो अप्रतीत व्यापार की कल्पना का कष्ट कौन करेगा ? । इन्द्रियादि के रहने पर व्यापार विना भी फलोत्पत्ति का सभव तो पहले बताया है, तथा व्यापारवादी को भी इन्द्रियादि अवश्य मानना है ।

[शून्यवादादि भय से स्मृतिप्रमोषाभ्युपगम]

यह भी एक कारण अपने ही दर्शन का व्याघातरूप है जिससे मानना होगा कि संवेदनसंज्ञक अपरोक्ष फल से व्यापार की अनुमिति का होना अयुक्त ठहरेगा । वह इस प्रकार-शून्यवाद की आपत्ति

तथा परतःप्रामाण्यमपि मिथ्यात्वाशंकायां कस्यचिज्ज्ञानस्य बाधकाभावान्वेषणाद् वक्तव्यम्, तदन्वेषणे च सापेक्षत्वं प्रमाणानामपरिहार्यं विपरीतख्यातौ। ततो न कस्यचिद् ज्ञानस्य मिथ्यात्वम्, तदभावान्नान्यदेशकालाकारार्थप्रतिभासः, नापि बाधकाभावापेक्षा। भ्रान्ताभिमतेषु तु तथाव्यपदेशः स्मृतिप्रमोषात्। यत्र तु स्मृतित्वेऽपि 'स्मरामि' इति रूपाऽप्रवेदनं कुतश्चित् कारणात् तत्र स्मृतिप्रमोषोऽभिधीयते।

एव परतः प्रामाण्यस्वीकार के भय से आपने भ्रम स्थल मे विपरीतख्याति न मानकर स्मृति का प्रमोष यानी स्मृतिअश में गुप्तता मानी है। यदि विपरीतख्याति मानें तो शून्यवाद की आपत्ति और परतः प्रामाण्य की आपत्ति निर्बाध होने वाली है।

वह इस प्रकार– विपरीतख्याति में अन्य देश और अन्य काल में अवस्थित रजतादि वस्तु शुक्ति देश मे उस काल मे न होते हुये भी दिखाई देती है यह माना जाता है। अब यह सोचना चाहिये कि भासमान वस्तु का 'उस देश-काल मे असत्त्व' माने या 'अत्यन्त असत्त्व' माने, चाहे जो कुछ माने, फिर भी असत्रूप से उस वस्तु के प्रतिभास मे कोई भेद नही होता। अगर ज्ञान अन्यदेशवर्त्ती वस्तु के आकार को किसी भ्रान्तिनिमित्त से उस देश मे दिखाता है तो अविद्यारूप भ्रान्तिनिमित्त से अत्यन्तासत् अर्थ को भी क्यो नही दिखा सकता ? ! इस प्रकार यदि असत् ही पदार्थ का भान अविद्या से माना जाय तो शून्यवाद की आपत्ति से छूटकारा कैसे होगा ? क्योकि भासमान समस्त वस्तु अत्यन्त असत् होने पर भी अविद्या से उसका प्रतिभास हो सकता है।

[ज्ञानमिथ्यात्वपक्ष में परतः प्रामाण्यापत्ति]

परतः प्रामाण्य की आपत्ति भी विपरीतख्याति मे सभव है। बाधक उपस्थित होने पर ज्ञान को भ्रमात्मक यानी विपरीत ख्यातिरूप माना जाता है। मान लो कि किसी ज्ञान में वह मिथ्या होने की शका का उदय हुआ। अब इस के निराकरण के लिये बाधकाभाव का अन्वेषण करना होगा, अर्थात् उस ज्ञान के प्रामाण्य का समर्थन बाधकाभाव प्रदर्शन से करना होगा तो परतः प्रामाण्य भी कहना होगा। इस प्रकार विपरीतख्याति मे बाधकाभाव के अन्वेषण मे प्रमाणो की सापेक्षता अनिवार्य हो जायगी। इससे बचने के लिये मीमासको ने यह माना है कि कोई भी ज्ञान मिथ्या नही होता। मिथ्या न होने से अन्यदेशकालवर्त्ती पदार्थ के आकार का प्रतिभास भी नही मानना पडेगा, इसलिये विपरीतख्याति और शून्यवाद की आपत्ति नही होगी। तथा बाधकाभाव की अपेक्षा न रहेगी, तब परत प्रामाण्य स्वीकार की आपत्ति भी नही होगी।

जिस ज्ञान को भ्रान्त माना जाता है वह वस्तुतः भ्रम न होने पर भी स्मृति अंश का प्रमोप होने से उसे भ्रान्त कहा जाता है वह इस प्रकार–'इद रजतम्' यह एक शुक्तिस्थल में रजतावभासी प्रतीति है [जिस को भ्रम माना जाता है] इस प्रतीति मे 'इद' अश से सामने पडे हुये शुक्ति आदि वस्तु के प्रतिभास का उल्लेख होता है, 'रजतम्' इस अश से पूर्वानुभूत रजत के साम्य आदि किसी निमित्त से होने वाले स्मरण का अर्थात् उस स्मृति में भासमान रजत का उल्लेख होता है। यद्यपि उसका स्मृतिविषयत्व रूप से उल्लेख नही होता, अर्थात् रजत स्मरण का स्मरणरूप से भान उसमें नही होता, उसी को स्मृतिप्रमोष कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ "मैं-याद करता हूं" इस प्रकार स्मरण की स्पष्ट प्रतीति होती है वहाँ स्मृति का अप्रमोष है यानी स्मृति अंश गुप्त नही रहता। किंतु जहाँ "मैं

अस्मिन् मते 'रजतम्' इति यत् फलसंवेदनं तत् किं प्रत्यक्षफलस्य सतः, किं वा स्मृतेः ? यदि प्रत्यक्षफलस्य तदा यथा 'इदम्' इति प्रत्यक्षफलं प्रतिभाति तथा 'रजतम्' इत्यपि, ततश्च तुल्ये प्रतिभासे 'एकं प्रत्यक्षम्-अपरं स्मरण' इति किंकृतो विशेषः ? अथ उक्तम् 'स्मरणस्यापि सतस्तद्रूपानवगमात् तेनाकारेणावगमः' । तत् किं 'रजतम्' इत्यत्राप्रतिपत्तिरेव ? तस्यां चाभ्युपगम्यमानायां कथं स्मृतिप्रमोषः ? अन्यथा मूर्च्छाद्यवस्थायामपि स्यात् । अथ 'इदम्' इति तत्र प्रत्ययाभावान्नासौ । ननु 'इदम्' इत्यत्रापि वक्तव्यं-किमाभाति ? 'पुरोऽवस्थितं शुक्तिशकल' इति चेत् ? ननु किं प्रतिभासमानत्वेन तत् प्रतिभाति ? उत संनिहितत्वेन ?

प्रतिभासमानत्वेन तथाभ्युपगमे न स्मृतिप्रमोषः, शुक्तिकाशकले हि स्वगतधर्मविशिष्टे प्रतिभासमाने कुतो रजतस्मरणसंभावना ? न हि घटग्रहणे पटस्मरण संभवः । अथ शुक्तिका-रजतयोः साद-

---

याद करता हूँ" इस प्रकार स्मृतिरूप का प्रवेदन किसी कारण से नही होता वहाँ स्मृति प्रमोष कहा जाता है, यानी वहाँ स्मृति अश गुप्त रहता है, इस लिये वह अनुभव मे स्फुरित नही होता ।

['रजतम्' यह संवेदन प्रत्यक्षरूप या स्मृतिरूप ?]

[स्मृतिप्रमोपवादी के मत में अब स्वदर्शन व्याघातदोष होने से कैसे अपरोक्ष सवदेन नामक फल, व्यापार का अनुमापक नही हो सकता इसकी मीमासा का प्रारम्भ करते पहले, स्मृतिप्रमोष होने पर 'इद रजतम्' ज्ञान की आलोचना की जाती है-] 'इद रजतम्' इस ज्ञान मे 'रजतम्' यह जो अपरोक्ष फल सवेदन है वह प्रत्यक्षात्मक फल का सवेदन है या स्मृतिरूप का सवेदन है ? अर्थात् 'रजतम्' इस सवेदन को प्रत्यक्षरूप मानते है या स्मृति रूप ? यदि प्रत्यक्षफल का सवेदन माना जाय तो यह प्रश्न उठेगा कि-जैसे 'इदम्' इसरूप से प्रत्यक्षफल का प्रतिभास होता है उसी प्रकार 'रजतम्' यह भी प्रत्यक्षफल का प्रतिभास होने पर, वह कौनसा विशेष फर्क है जिससे प्रतिभास दोनो स्थल में समान होने पर भी एक 'इद' प्रतिभास को प्रत्यक्ष माना जाता है और दूसरे 'रजतम्' प्रतिभास को स्मरण माना जाय ?

प्रमोषवादी -हमने कहा तो है कि स्मरणात्मक वह सवेदन होते हुये भी स्मृतिस्वरूप का वेदन न होने से प्रत्यक्ष जैसे आकार से ही उसका बोध होता है ।

उत्तरपक्षीः-यहाँ प्रश्न है कि क्या 'रजतम्' इस अश मे कोई प्रतिपत्ति यानी बोध ही नही है ? यदि 'नही है' ऐसा मानेगे तो उस अंश मे स्मृति का प्रमोष भी क्यो माना जाय ? कुछ बोध के न होने पर भी स्मृतिप्रमोष मानना हो तब तो बेहोश अवस्था मे भी स्मृतिप्रमोष मानना होगा, क्योकि उस वक्त कुछ बोध नही होता ।

प्रमोषवादीः-बेहोशी मे 'इदं' इस प्रकार रजत के विषय मे ज्ञान नही होता इस लिये स्मृति प्रमोष वहाँ नही मानते ।

उत्तरपक्षीः-यहाँ भी प्रश्न है कि 'इदं' इस अंश मे भी क्या भासता है ? यह बताईये ।

प्रमोषवादीः-सामने पडा हुआ सीप का टुकडा ।

उत्तरपक्षीः-यहाँ भी दो प्रश्न है १-प्रतिभास होता है इसलिये सीप का वेदन होता है, या २-संनिहित होने से सीप का वेदन होता है ?

स्यात् शुक्तिप्रतिभासे रजतस्मरणम् । न, तस्य विद्यमानत्वेऽप्यकिंचित्करत्वात् । यदा ह्यसाधारणधर्माध्यासितं शुक्तिस्वरूपं प्रतिभाति तदा कथं सदृशवस्तुस्मरणम् ? अन्यथा सर्वत्र स्यात् ? सामान्यमात्रग्रहणे हि तत् कदाचिद् भवेदपि, नाऽसाधारणस्वरूपप्रतिभासे । तत्र 'इदम्' इत्यत्र शुक्तिकाशकलस्य प्रतिभासनात् तथा व्यपदेशः ।

सन्निहितत्वेनाऽप्रतिभासमानस्यापि तद्विषयत्वाभ्युपगमे इन्द्रियसम्बद्धानां तद्देशवर्त्तिनामण्वादीनामपि प्रतिभासः स्यात् । न चाऽप्रतिभासमानानामिन्द्रियादीनामिव प्रतीतिजनकानामपि तद्विषयता संगच्छते । तत्र 'इदं' इत्यत्र शुक्तिकाशकलप्रतिभासः, नापि 'रजतम्' इत्यत्र स्मृतित्वेऽपि तस्याः स्वरूपेणानवगमात् 'प्रमोषः' इत्यभ्युपगमो युक्तः ।

[शुक्ति प्रतिभासमान होने पर स्मृतिप्रमोष दुर्घट है]

(१) प्रतिभासमान होने से यदि सीप का वेदन मानते हैं तो उससे रजतस्मृति का प्रमोष मानने की जरूर ही नही है । यदि उस वक्त रजत के स्मरण का सम्भव होता तब तो स्मृति का प्रमोष मानना जरूरी था किन्तु उस वक्त रजतस्मरण की कोई सभावना ही नही है जबकि अपने मे रहे हुये धर्म से सवलित सीप का टुकडा ही भास रहा है । ऐसी सभावना भी नही कि जाती कि घट का ज्ञान हो रहा हो उस वक्त पट का स्मरण होवे ।

प्रमोषवादी –सीप और रजत मे इतना साम्य है कि एक सीप का प्रतिभास होने पर रजत का स्मरण हो आता है ।

उत्तरपक्षी -यह हम नही मानते, क्योकि साम्य होने पर भी वह अकिंचित्कर होने से रजतस्मरण का संभव नही है । क्योकि आपके मत मे तो 'इद' रूप से जब असाधारणधर्मविशिष्ट सीप का स्वरूप ही भासता है तो वहाँ सदृश वस्तु के स्मरण की सभावना कैसे की जाय ? अन्यथा हर चीज के वेदन करते समय उनके सदृश वस्तुओ का स्मरण होता ही रहेगा जो किसी को इष्ट या मान्य नही है । हाँ ! यदि सीप का वेदन विशिष्टरूप से न मान कर केवल सामान्यरूप से माना जाय तब तो सदृशवस्तु के स्मरण की सभावना ठीक है । किन्तु जब आप उसका असाधारणरूप से ही 'इद' इस प्रकार प्रतिभास मानते है तो सदृशवस्तु के स्मरण की सभावना नही हो सकती । अतः 'इदम्' इस रूप से सीप खण्ड का प्रतिभास होता है इसलिये 'रजतम्' इस अश मे स्मृति प्रमोष का व्यपदेश और मूर्छा मे 'इद' प्रतिभास न होने से स्मृति प्रमोष नही होता यह कथन उचित नही है ।

[सीप का प्रतिभास और रजत का स्मृतिप्रमोष अयुक्त है]

(२) यदि कहे कि प्रतिभासमान होने से नही किंतु वहाँ सीपखण्ड सनिहित होने से ही 'इद' इस ज्ञान को सीपखण्डविषयक मानते है तो सनिहित होने के कारण उस देश मे विद्यमान और इन्द्रिय से सबद्ध ऐसे अणु-धूलीकण आदि का भी प्रतिभास हो जायेगा । सच बात यह है कि जो प्रतिभासमान नही होता वह प्रतीति का जनक होने पर भी उसमे प्रतीतिविषयता मानना संगत नही है जैसे इन्द्रियादि । इन्द्रियादि प्रतीति के कारण है फिर भी उसका प्रतिभास ज्ञान मे न होने से ज्ञान को तद्विषयक नही मानते है । उपरोक्त कथन का सार यह है कि-'इद' इस रूप मे सीपखण्ड का प्रतिभास होता है और 'रजतम्' इस अश मे स्मरण होने पर भी स्मृति का स्वकीयरूप से बोध न होने से स्मृति अश मे 'प्रमोष' होता है-यह आपकी मान्यता युक्त नही है ।

अथ स्मृतिरप्यनुभवत्वेन प्रतिभातीति तत्प्रमोषोऽभ्युपगम्यते। नन्वेवं सैव शून्यवाद-परतः प्रामाण्यभयादनभ्युपगम्यमाना विपरीतख्यातिरापतिता। न चात्राऽप्रतिपत्तिरेव 'रजतं' इत्येवं स्मरणस्यानुभवस्य वा प्रतिभासमानात्।

इदमत्रैदम्पर्यम्-अर्थसंवेदनमपरोक्ष सामान्यतो दृष्टं लिंगं यदि ज्ञातृव्यापारानुमापकमभ्युपगम्यते तदा स्मृतिप्रमोषे 'रजतम्' इत्यत्र सवेदनम् ? उताऽसवेदनम् ? प्रतिभासोत्पत्तेः सवेदनेऽपि रजतमनुभूयमानतया न संवेद्यते, स्मृतिप्रमोषाभावप्रसंगात्, नापि स्मर्यमाणतया, प्रमोषाभ्युपगमात्, विपरीतख्यातिस्तु नाभ्युपगम्यते, तद् 'रजतम्' इत्यत्र संवेदनस्याऽपरोक्षत्वाभ्युपगमेऽपि प्रतिभासाभावः प्रसक्तः।

किं च, स्मृतिप्रमोषः पूर्वोक्तदोषद्वयभयादभ्युपगतः, तच्च तदभ्युपगमेऽपि समानम्। तथाहि-सम्यग् रजतप्रतिभासेऽपि आशङ्कोत्पद्यते-'किमेष स्मृतावपि स्मृतिप्रमोषः, उत सम्यगनुभवः' इति सापेक्षत्वाद् बाधकाभावो[?वा]न्वेषणे परतः प्रामाण्यम्, तत्र च भवन्मतेनानवस्था प्रदर्शितैव। यत्र हि स्मृतिप्रमोषस्तत्रोत्तरकालभावी बाधकप्रत्ययः, यत्र तु तदभावस्तत्र स्मृतिप्रमोषाऽसंभव इति कथं न बाधकाभावापेक्षायां परतःप्रामाण्यदोषभयस्यावकाशः ?

[स्मृति की अनुभवरूप में प्रतीति में विपरीतख्याति प्रसंग]

यदि 'स्मृति का ही अनुभवरूप मे भासित होना' इसको स्मृतिप्रमोष कहा जाय तब तो विपरीतख्याति जिसका शून्यवाद और परतः प्रामाण्य आपत्ति के भय से आप स्वीकार करना नही चाहते-वही सामने आकर खडी हो जायगी। यह भी नही कह सकते कि-वहाँ केवल शुक्ति का 'इद' इस रूप से अनुभव होता है और कुछ भी अनुभव मे नही आता-क्योकि 'रजत' इस प्रकार रजत का प्रतिभास वहाँ निष्प्रतिबन्ध होता है, चाहे वह प्रतिभास स्मृतिरूप हो या अनुभवरूप हो-यह बात अलग है।

[व्यापारवादी को स्वदर्शनव्याघात प्रसक्ति]

अब यह देखना है कि सवेदनात्मक फल को अपरोक्ष मानते हुये ज्ञातृव्यापार का अनुमापक मानने पर व्यापारवादी के अपने सिद्धान्त का व्याघात कैसे होता है-स्मृतिप्रमोष उपरोक्त आपत्ति के भय से मानना होगा इत्यादि पूरे कथन का तात्पर्य यह है कि सवेदनरूप फल को अपरोक्ष मानना है और उसको सामान्यतोदृष्ट लिंग बनाकर ज्ञातृव्यापार की अनुमिति को फलित करना है। किंतु इसमें स्वदर्शन व्याघात प्रसक्त होगा। स्मृतिप्रमोष मे जो 'रजतम्' यह सवेदन अपरोक्ष है यह सर्वविदित होने पर उसकी मीमासा करनी पडेगी कि वह वास्तव मे सवेदनरूप है ? ऐसा प्रश्न इसलिये कि रजत प्रतिभास की उत्पत्ति होने से यदि वहाँ रजत का सवेदन माना जाय तो भी अनुभूयमानत्व यानी अनुभवविषयत्वरूप से वह सवेदन नही घटेगा क्योकि तब तो वहा रजत का 'अनुभव' सिद्ध होने पर स्वदर्शन का व्याघात है। स्मर्यमाणरूप से वहा रजत का सवेदन भी नही माना जा सकता क्योकि व्यापारवादी तो वहाँ स्मृति का प्रमोष मानता है, स्मृति का उल्लेख मानेगा तो पुन. स्वदर्शन व्याघात होगा। विपरीतख्याति मानने पर सवेदनरूपता घट सकती है किन्तु उसको मानना नही है। परिणाम यह हुआ कि 'रजतम्' इस सवेदन को अपरोक्ष मानने पर भी उसके प्रतिभास की अनुभूति या स्मृतिरूप से सगति न हो सकने के कारण उसका अभाव ही अन्त मे प्रसक्त हुआ।

शून्यवाददोषभयमपि स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमेऽवश्यंभावि । तथाहि-ध्वस्तश्रीहर्षाद्याकारः अनुत्पन्न-शंखचक्रवर्त्याद्याकारश्च ज्ञाने यः प्रतिभाति सोऽवश्यं ज्ञानरचितोऽसन् प्रतिभाति, रजतादिस्मृतेरप्यसन्नि-हितरजताकारप्रतिभासस्वभावत्वात् तत्सत्त्वं तदुत्पत्तावसंनिहितं नोपयुज्यते इति असदर्थविषयत्वे ज्ञानस्य कथं शून्यवादभयाद् भवतः स्मृतिप्रमोषवादिनो मुक्तिः ? तन्न स्मृतिप्रमोषः ।

कश्चायं स्मृतिप्रमोषः ? किं स्मृतेरभावः ? उतान्यावभासः ? आहोस्विद् अन्याकारवेदित्वम् ? इति विकल्पाः । तत्र नासौ स्मृतेरभावः, प्रतिभासाभावप्रसंगात् । अथान्यावभासोऽसौ तदाऽत्रापि वक्त-व्यं-किं तत्कालोऽन्यावभासोऽसौ ? अथोत्तरकालभावी ? यदि तत्कालभावी अन्यावभासः स्मृतेः प्रमो-षस्तदा घटादिज्ञानं तत्कालभावि तस्याः प्रमोषः स्यात् । अथोत्तरकालभाव्यसौ तस्याः प्रमोषः, तद-प्ययुक्तम्, अतिप्रसंगात् । यदि नामोत्तरकालमन्यावभासः समुत्पन्नः, पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वेना-ऽभ्युपगतस्य तत्त्वे किमायातम् ? अन्यथा सर्वस्य पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वप्रसंगः ।

[स्मृति प्रमोष के स्वीकार में भी परतःप्रामाण्य भय]

स्वदर्शन व्याघात उपरांत दूसरी बात यह है कि पूर्वोक्त दोषयुगल के भय से जो स्मृतिप्रमोष माना है, उसको मानने पर भी वह भय तदवस्थ ही है। वह इस प्रकार-जब कभी रजत का सच्चा प्रतिभास होगा वहा भी यह शका सभवित है कि 'क्या यहा रजत की स्मृति होने पर भी वह गुप्त है या यह सच्ची अनुभूति ही है ?' इस शका को हटाने के लिये यदि बाधकाभाव की शोध करेंगे तो वह अपेक्षित होने से प्रामाण्य परतः हो जायगा, और इसमे तो आपके मतानुसार अनवस्था दिखाई गयी है। जहाँ स्मृतिप्रमोष होगा वहाँ उत्तरकाल मे बाधकज्ञान उत्पन्न होगा, और जहाँ बाधकज्ञान का अभाव रहेगा वहाँ उस ज्ञान के सत्य होने से स्मृतिप्रमोष का सभव नही रहेगा-इस प्रकार बाधकाभाव की अपेक्षा रहने पर परत प्रामाण्यदोष भय को अवकाश क्यो नही मिलेगा ?

[स्मृतिप्रमोष स्वीकार में भी शून्यवाद भय]

स्मृति प्रमोष मानने पर शून्यवाददोष के भय से भी मुक्ति नही है। श्री हर्षादि आकार का ध्वंस और शखचक्रवर्त्ती आदि आकार की अनुत्पत्ति से विशिष्ट जो कुछ भी ज्ञान मे प्रतिभासित होता है वह केवल ज्ञान से ही रचित यानी ज्ञानभिन्न कोई उसका कारण न होने से असत् ही प्रतिभासित होता है यह मानना जरूरी है, क्योकि उसको स्मृति का विषय नही मान सकते। कारण, रजत स्मृति से जो रजताकार प्रतिभास होगा वह असनिहित रजत का होगा किन्तु 'इद रजतम्' यहाँ तो असनिहित रूप से रजतप्रतिभास होता है। इसलिये 'इद रजतम्' इस भ्रम ज्ञान मे असनिहित रजतसत्त्व का कोई उपयोग नही है। तात्पर्य 'इद रजत' ज्ञान का विषयभूत रजत असत् है। इस प्रकार ज्ञान जब असदर्थ विषयक भी होगा तो किसी भी ज्ञान के विषय को परमार्थ सत् मानने की आवश्यकता न रहने से शून्यवाद प्रसक्त होगा। ऐसा होने पर स्मृति प्रमोषवादी को शून्यवाद के भय से भी मुक्ति कहाँ है ? साराँश, स्मृति का प्रमोष आदरणीय नही है।

[स्मृतिप्रमोष के ऊपर विकल्पत्रयी]

स्मृतिप्रमोष के सम्बन्ध मे और भी तीन विकल्प हैं-स्मृतिप्रमोष क्या ? (१) स्मृति का अभाव है ? (२) अथवा अन्यावभास यानी अन्य ज्ञानरूप है ? (३) या अन्याकारवेदन है ?

अथान्याकारवेदित्वं तस्या असौ, तदा विपरीतख्यातिः स्यात् न स्मृतिप्रमोषः। कश्चासौ विपरीत आकारस्तस्याः ? यदि स्फुटार्थावभासित्वम्, तदसौ प्रत्यक्षस्याकारः कथं स्मृतिसम्बन्धी ? तत्सम्बन्धित्वे वा तस्याः प्रत्यक्षरूपतैव स्यात् न स्मृतिरूपता। अत एव शुक्तिकायां रजतप्रतिभासस्य न स्मृतिरूपता तत्प्रतिभासेन व्यवस्थाप्यते, तस्य प्रत्यक्षरूपतया प्रतिभासनात्।

नापि बाधकप्रत्ययेन तस्याः स्मृतिरूपता व्यवस्थाप्यते, यतो बाधकप्रत्ययः तत्प्रतिभातस्यार्थ-स्याऽसद्रूपत्वमावेदयति, न पुनस्तज्ज्ञानस्य स्मृतिरूपताम्। तथाहि-बाधकप्रत्यय एवं प्रवर्त्तते 'नेदं रजतम्'। न पुनः 'रजतप्रतिभासः प्रकृत स्मृतिः' इति। तन्न स्मृतिप्रमोषरूपता भ्रान्तदशामभ्युपगन्तुं युक्ता। अतो नायमपि सत्पक्षः।

---

(१) स्मृति का अभाव यह तो स्मृति प्रमोष नहीं ही है क्योंकि तब प्रतिभास का ही अभाव आपन्न होगा। क्योंकि 'रजत' अंश मे आप स्मृति के अलावा दूसरे ज्ञान को मानते नही।

(२) अब कहिये कि वह अन्य ज्ञानात्मक है-अर्थात् 'रजत' यह ज्ञान होता है उस वक्त स्मृति-भिन्न किसी ज्ञान का होना यह स्मृतिप्रमोष है-तो यहाँ दो प्रश्न है [A] वह अन्यावभास 'रजत' इस ज्ञान का समानकालीन है ? या [B] उत्तरकाल भावी है ? A, अगर समानकालभावि अन्या-वभासी ज्ञान को स्मृति का प्रमोष कहा जाय तब तो 'रजत' इस ज्ञान के काल मे किसी को भी घटादिज्ञान होगा वह स्मृति का प्रमोष बन जायगा। B, उत्तरकालीन अन्यावभास स्मृति का प्रमोष है तो यह भी युक्त नही है क्योंकि इसमे अतिप्रसग इस प्रकार होगा-यदि उत्तरकाल मे कोई भी अन्यावभास उत्पन्न हुआ तो उससे वह पूर्वकालीन ज्ञान सबध विना ही स्मृतिप्रमोष रूप मान लेने में क्या सिद्ध हुआ ? यदि विना सबध ही पूर्वज्ञान को स्मृतिप्रमोष कह देना है तो जिस जिस ज्ञान के उत्तरकाल मे कोई अन्य ज्ञान उत्पन्न होगा वे सभी ज्ञान पूर्वकालीन ज्ञान हो जाने से स्मृति प्रमोषरूप कहना होगा-यही अतिप्रसङ्ग है।

(३) तृतीय विकल्प मे स्मृतिप्रमोष को अन्याकारवेदनरूप माना जाय तब तो वह स्मृति प्रमोष नही हुआ किन्तु स्पष्टरूप से विपरीत ख्याति ही हुई। वहा यह भी प्रश्न होगा कि वह अन्याकार यानी विपरीत आकार कैसा है ? यदि स्फुट अर्थावभास को ही विपरीत आकार कहेंगे तो वह प्रत्यक्ष का ही आकार हुआ क्योंकि प्रत्यक्ष के अलावा किसी भी ज्ञान में स्फुटार्थावभास नही होता। फिर उसे स्मृतिसबधी क्यो मानते हो ? अथवा वह अन्याकार स्फुटार्थावभास रूप होकर यदि स्मृति सम्बन्धी होगा तो स्फुटावभासवाली होने से स्मृति भी प्रत्यक्षरूप ही हो जायगी, स्मृतिरूप नही रह सकेगी। यही कारण है कि सीप मे होने वाले रजतावभास मे स्मृतिरूपता रजत प्रतिभास से ही सिद्ध नही की जा सकती क्योंकि रजतावभास वहाँ प्रत्यक्ष रूप ही प्रतीत होता है, वह स्मृति-रूपता मे कैसे साक्षि होगा।

भ्रमज्ञानोत्तरभावी बाधकज्ञान से भी 'रजत' इस ज्ञान की स्मृतिरूपता सिद्ध नही होती क्योंकि बाधक प्रतीति से तो भ्रमज्ञान मे भासित रजत की असद्रूपता ही आवेदित होती है किन्तु भ्रमज्ञान की स्मृतिरूपता का उससे आवेदन नही होता। वह इस प्रकार-बाधक प्रतीति 'यह रजत नही है' इस प्रकार ही उत्पन्न होती है, 'प्रस्तुत रजतप्रतिभास स्मृति है' इस रूप मे उत्पन्न नही होती।

तत्रार्थसंवेदनस्वरूपमप्यपरोक्षं सामान्यतो दृष्टं लिंगं प्राभाकरैरभ्युपगम्यमानं ज्ञातृव्यापार-लक्षणप्रमाणानुमापकमिति, मीमांसकमतेन प्रमाणस्यैवासिद्धत्वात् कथं यथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्ति-स्वभावस्य प्रामाण्यस्य स्वतः सिद्धिः ? न हि धर्मिणोऽसिद्धौ तद्धर्मस्य सिद्धिर्युक्ता। अतो न सर्वत्र स्वतः प्रामाण्यसिद्धिरिति स्थितम् ।

इसलिये भ्रान्त दृष्टिवालों का भ्रमज्ञान स्मृतिप्रमोषगर्भित है यह मानना ठीक नही है। साराश, स्मृतिप्रमोष वाद यह कोई आदर योग्य पक्ष नही है।

[अर्थसंवेदन से ज्ञातृव्यापारात्मक प्रमाण की असिद्धि]

उपरोक्त का सार यह निकला कि प्रभाकर के अनुगामीयों ने जो अपरोक्ष अर्थसंवेदन को सामान्य तो दृष्ट लिंगरूप से मानकर उससे ज्ञातृव्यापारस्वरूप प्रमाण की अनुमिति का होना कहा है वह नितान्त अयुक्त है। अरे ! जब मीमासक के मत मे प्रमाणरूप से अभिमत ज्ञातृव्यापार ही असिद्ध है तो यथावस्थितार्थ की परिच्छेदशक्ति रूप स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि ही कैसे ? धर्मी प्रमाण ही जब सिद्ध नही हो सकता तो स्वतः प्रामाण्यरूप उसके धर्म की सिद्धि युक्त नही हो सकती। इसलिए, अन्ततः यही सिद्ध होता है कि उत्पत्ति आदि में कही भी स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि नही है।

[प्रामाण्यवाद समाप्त]

[वेदापौरुषेयतावादप्रारम्भः]

"शब्दसमुत्थस्य तु अभिधेयविषयज्ञानस्य यदि प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तदा अपौरुषेयत्वस्याऽसंभवाद् गुणवत्पुरुषप्रणीतस्तदुत्पादकः शब्दोऽभ्युपगंतव्यः, अथ तत्प्रणीतत्वं नाऽभ्युपगम्यते तदा तत्समुत्थज्ञानस्य प्रामाण्यमपि न स्यादि"त्यभिप्रायवानाचार्यः प्राह-'जिनानाम्'। रागद्वेषमोहलक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनास्तेषां 'शासनं' तदभ्युपगन्तव्यमिति प्रसङ्गसाधनम्।

न चात्रेद प्रेर्यम्-"यदि-जिनशासनं जिनप्रणीत्वेन सिद्धं=निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगमनीयम्, अन्यथाप्रामाण्यस्याप्यनभ्युपगमनीयत्वात् - इति प्रसंगसाधनमत्र प्रतिपाद्यत्वेनाऽभिप्रेतम्-तत्किमिति बौद्धयुक्त्याऽऽर्हतेन त्वया स्वतः प्रामाण्यनिरासोऽभिहितः ?"-यतः सर्वसमयसमूहात्मकत्वमेवाचार्येण प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्। यद् वक्ष्यत्यस्यैव प्रकरणस्य परिसमाप्तौ, यथा-

भद्दं मिच्छद्दंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ [सम्मति० ३/७०]

इत्यादि। अयमेवार्थो बौद्धयुक्त्युपन्यासेन समर्थितः। अन्यत्राप्यन्यमततोपक्षेपेणान्यमतनिरासेऽयमेवाभिप्रायो द्रष्टव्यः, सर्वनयानां परस्परसापेक्षाणां सम्यग्मतत्वेन, विपरीतानां विपर्ययत्वेनाचार्यस्येष्टत्वात्। अत एवोक्तमनेनैव द्वात्रिंशिकायाम्—

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥ [४/१५]

['जिनानां' पदप्रयोग की सार्थकता का प्रदर्शन]

प्रथम कारिका मे जो 'जिनाना शासन' यह कहा है उसकी सार्थकता के लिये व्याख्याकार महर्षि एक प्रसगापादन दिखलाते है—

"अगर शब्द से उत्पन्न अभिधेयविषयक ज्ञान को प्रमाण मानना है तो उस प्रमाणज्ञान का उत्पादक शब्द अपौरुषेय यानी पुरुषप्रयत्न से अजन्य तीन काल मे भी सभवित न होने से गुणवान् पुरुष के प्रयत्न से जन्य ही मानना चाहीये।" इस अभिप्राय को मनोगत रखकर आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकरजी ने 'जिनानाम् शासन' यह प्रयोग किया है। राग-द्वेष और मोह ये तीन आत्मा के अनादिकालीन शत्रु है, उन पर विजय पाने वाले प्रबुद्धात्मा को 'जिन' कहा जाता है। प्रमाणबोधजनक शब्दरूप 'शासन' उन्ही का होता है यह मानना चाहीये। इस प्रकार यह प्रसगसाधन हुआ।

[बौद्धमतावलम्बन से स्वतः प्रामाण्य के प्रतीकार में अभिप्राय]

यह शका नही करनी चाहीये कि—"यदि आप जिनशासन को जिनप्रणीत यानी जिनोपदिष्ट होने के कारण सिद्ध यानी सुनिश्चितप्रामाण्यविशिष्ट मानते हो और 'जिनप्रणीत न होने पर प्रामाण्य ही अस्वीकार्य हो जायगा' इस प्रकार के प्रसगसाधन को 'जिनाना शासन' इस प्रयोग से प्रतिपाद्य होने का अभिप्राय दिखलाते हो तो फिर आपने जो स्वत' प्रामाण्य का निराकरण, स्वय आर्हत=अरिहत के मतानुगामी होने पर भी बौद्धप्रतिपादित युक्तिओ से क्यो किया ?"

इस शका के निषेध का कारण यह है कि आचार्य दिवाकरजी ने यहाँ 'सर्व दर्शनो के समूहा-

अथापि स्यात्-यदि प्रामाण्यापवादकदोषाभावो गुणनिमित्त एव भवेत् तदा स्यादेतत् प्रसङ्गसाधनम्, यावताऽपौरुषेयत्वेनापि तस्य सम्भवात् कथं प्रसङ्गसाधनस्यावकाशः ?

असदेतत्-अपौरुषेयत्वस्याऽसिद्धत्वात्। तथाहि-किमपौरुषेयत्वं शासनस्य A प्रसज्यप्रतिषेधरूपमभ्युपगम्यते ? उत B पर्युदासरूपम् ? तत्र यदि A प्रसज्यरूपं तदा किं C सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम् ? D उत अभावप्रमाणवेद्यम् ? यदि C सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, तदयुक्तम्, सदुपलम्भकप्रमाणविषयस्याभावत्वानुपपत्तेः, अभावत्वे वा न तद्विषयत्वम्, तस्य तद्विषयत्वविरोधाद्, अनभ्युपगमाच्च।

त्मक ही जैन दर्शन है' यही प्रतिपादन करने का अभिप्राय रखा है। वे स्वय ही इस सम्मतिप्रकरण की समाप्ति मे कहेगे—

'संविग्नजनो के लिये सुखबोध्य, मिथ्यादर्शनो के समूहात्मक, सुधानिष्यन्दतुल्य, ऐश्वर्यसमृद्ध जिनवचन का कल्याण हो !' इत्यादि........।

हमने जो बौद्धयुक्ति के उपन्यास से स्वत. प्रामाण्यवाद का प्रतिवाद किया इस मे भी उपरोक्त अर्थ का ही समर्थन किया गया है। अन्यत्र भी इस ग्रन्थ मे जहाँ जहाँ एक मत की युक्ति से अन्यमत का खडन किया गया है उसमे अंतर्निहित आशय यही है कि परस्पर निरपेक्ष सभी नयवाद मिथ्या है और अन्योन्यसापेक्ष समूहात्मक सभी नयवाद ही जिनशासनरूप यानी प्रमाणभूत-सम्यक् है। आचार्य श्री को भी यही इष्ट है। जैसा कि उन्होने ही द्वात्रिंशिका ग्रन्थ मे कहा है–

"हे नाथ ! जैसे समुद्र मे सर्व सरिताओ का मिलन होता है वैसे आप मे भी दृष्टिओ का मिलन हुआ है। हाँ, उन एक एक दृष्टि मे आपका दर्शन नही होता, जैसे कि पृथक् सरिताओ मे समुद्र का भी दर्शन नही होता।" [ग्रन्थकार विरचित द्वात्रिंशिकाप्रकरणो मे चौथी द्वा० श्लो० १५]

[दोषाभावापादक अपौरुषेयत्व ही असिद्ध है]

यदि यह कहा जाय कि-किसी वाक्य मे प्रामाण्य का अपवाद दोपप्रयुक्त होता है, दोप न रहने पर वाक्य स्वतः प्रमाण होता है। दोप का विरह गुण के होने पर ही हो ऐसा यदि कोई नियम होता तब तो आपने जो प्रसगसाधन दिखाया है वह ठीक था किंतु वाक्य को अपौरुषेय मानने पर भी दोष विरह का पूर्ण सभव है। तो आपके प्रसगसाधन को अब कहाँ अवकाश रहेगा ?—

तो यह ठीक नही है। क्योकि अपौरुषेय शासन ही सर्वथा असिद्ध है। वह इस प्रकार-शासन मे जो अपौरुषेयत्व अभिप्रेत है उसमे पौरुषेयत्व का प्रतिषेध [A] प्रसज्यप्रतिषेधरूप मानते हैं या [B] पर्युदासप्रतिषेधरूप ? प्रसज्यप्रतिषेध मानने पर यह अर्थ होगा कि वेदशास्त्र पुरुष के प्रयत्न विना ही उत्पन्न है। तो यहाँ पुरुषप्रयत्नाभाव किस प्रमाण से ग्राह्य है-[C] सद् वस्तु के उपलम्भक प्रमाण से ? या [D] अभाव प्रमाण से ग्राह्य है ? वेदापौरुषेयवादी मीमासक के मत मे प्रत्यक्ष से अर्थापत्ति तक पाँच सदुपलम्भक प्रमाण है और अभावप्रमाण अभावग्राही है। इनमे से [C] सदुपलम्भकप्रमाण से वाक्यजनक पुरुषाभाव को ग्राह्य बताना अयुक्त है, क्यो कि सदुपलम्भकप्रमाण का विषय कभी भी अभावात्मक नही घटता, अथवा अभाव मे सदुपलम्भकप्रमाण की विषयता नही घट सकती। क्योकि अभाव मे सदुपलम्भकप्रमाण की विषयता विरुद्ध है और आप उसे मानते भी नही है।

अभावप्रमाणग्राह्यत्वाभ्युपगमेऽपि वक्तव्यम्-किमभावप्रमाणं ज्ञानविनिर्मुक्तात्मलक्षणम् ? उत अन्यज्ञानस्वरूपम् ? प्रथमपक्षेऽपि किं सर्वथा ज्ञानविनिर्मुक्तात्मस्वरूपम् ? आहोस्विद् निषेध्यविषयप्रमाणपंचकविनिर्मुक्तात्मलक्षणम् ? इति । प्रथमपक्षे नाऽभावपरिच्छेदकत्वम्, परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मत्वात्, सर्वथा ज्ञानविनिर्मुक्तात्मनि च तदभावात् । निषेध्यविषयप्रमाणपंचकविनिर्मुक्तात्मनोऽपि नाभावव्यवस्थापकत्वम्, आगमान्तरेऽपि तस्य सद्भावेन व्यभिचारात् । तदन्यज्ञानमपि यदि तदन्यसत्ताविषयं स्यात् नाभावप्रमाणं स्यात्, तस्य सद्विषयत्वविरोधात् ।

'पौरुषेयत्वादन्यस्तदभावस्तद्विषयज्ञानं तदन्यज्ञानम् अभावप्रमाणमि'ति चेत् ? अत्रापि वक्तव्यम्-किमस्योत्थापकम् ? प्रमाणपंचकाभावश्चेत् ? नन्वत्रापि वक्तव्यम्-किमात्मसबन्धी, सर्वसम्बन्धी वा प्रमाणपंचकाभावस्तदुत्थापकः ? न सर्वसम्बन्धी, तस्याऽसिद्धत्वात् । नात्मसंबन्धी, तस्याऽऽगमान्तरेऽपि सद्भावेन व्यभिचारित्वात् । 'आगमान्तरे परेण पुरुषसद्भावाभ्युपगमात् प्रमाणपंचकाभावो नाभावप्रमाणसमुत्थापक' इति चेत् ? न, पराभ्युपगमस्य भवतोऽप्रमाणत्वात् । प्रमाणत्वे वा वेदेऽपि नाभावप्रमाणप्रवृत्तिः, परेण तत्रापि कर्तृपुरुषसद्भावाभ्युपगमात्, प्रवृत्तौ वाऽऽगमान्तरेऽपि स्यात्, अविशेषात् । न च वेदे पुरुषाभ्युपगमः परस्य मिथ्या, अन्यत्रापि तन्मिथ्यात्वप्रसक्तेः ।

[पुरुषाभावग्राहक अभावप्रमाण के संभवित विकल्पों का निराकरण]

[D] पुरुषाभाव को अभावप्रमाणग्राह्य मानने पर कहिये कि-[E] वह अभावप्रमाण ज्ञानशून्य आत्मपरिणाम रूप है ? या [F] अन्यवस्तु के ज्ञानरूप है ? [श्लो० वा अभावपरिच्छेद के ११ वे श्लोकानुसार ये दो विकल्प किये गये है] प्रथम पक्ष [E] मे भी दो विकल्प है-[G] सर्वथा ज्ञानशून्य आत्मस्वभाव रूप है ? या [H] जिसका निषेध अभिप्रेत है उसके विषय मे प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण ज्ञान से रहित आत्मस्वभावरूप है ? प्रथम विकल्प मे [G] वैसा सर्वज्ञानशून्य आत्मपदार्थ अभाव का परिच्छेदक नही होगा क्योकि परिच्छेद यह ज्ञान का धर्म है और सर्वथा ज्ञानशून्य आत्मा मे परिच्छेद रूप ज्ञान धर्म का तो अभाव है । [H] निषेध्य विषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणपचकरहित आत्मा से भी अभाव की व्यवस्था दुर्घट है क्योकि वेदभिन्न बौद्धादि आगम मे भी कर्तृ पुरुष के विषय मे प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण की गति न होने से बौद्धागम मे निषेध्यविषय प्रमाणपंचकरहित आत्मस्वरूप अभावप्रमाण है किन्तु अपौरुषेयत्व को वहाँ आप नही मानते हैं-तो वैसा अभाव प्रमाण व्यभिचारी हुआ, अर्थात् वह वेदवाक्य मे पुरुषाभाव का साधक न रहा । [F] अन्य वस्तु के ज्ञान रूप अभावप्रमाण यदि अन्य वस्तु की सत्ता को विषय करने वाला होगा तो वह अभाव प्रमाण ही नही होगा क्योकि अभावप्रमाण का सद्विषयत्व के साथ तीव्र विरोध है । आशय यह है कि पुरुषाभाव के साधक अभावप्रमाण को किसी अन्य वस्तु के ज्ञान रूप माना जायेगा तो वह अन्य वस्तु जो भी होगी उसकी सत्ता का वह ग्राहक अवश्य होगा । ऐसा होने पर उसका अपना स्वरूप हो मिट जायगा । क्योकि सत्ता के ग्राहक प्रमाण प्रत्यक्षादि पाच ही होते हैं-अभाव प्रमाण नही ।

[पौरुषेयत्वाभावविषयक ज्ञान अभावप्रमाणरूप घट नहीं सकता]

अपौरुषेयवादी -अन्य ज्ञानरूप अभावप्रमाण का आशय यह है कि-पौरुषेयत्व से अन्य जो उसी का अभाव, उसको विषय करने वाला ज्ञान । तात्पर्य, पौरुषेयत्वाभावविषयक ज्ञान ही अभावप्रमाण है ।

किं च, प्रमाणपंचकाभावः किं ज्ञातोऽभावप्रमाणजनकः ? उताज्ञातः ? यदि ज्ञातः तदा न तस्यापरप्रमाणपंचकाभावाद्ज्ञप्तिः, अनवस्थाप्रसङ्गात् । नाऽपि प्रमेयाभावात्, इतरेतराश्रयदोषात् । अथाज्ञातस्तज्जनकः, न, समयानभिज्ञस्यापि तज्जनकत्वप्रसङ्गात्, न चाज्ञातः प्रमाणपंचकाभावोऽभावज्ञानजनकः, 'कृतयत्नस्यैव प्रमाणपंचकाभावोऽभावज्ञापकः' इत्यभिधानात् । न चेन्द्रियादेरिव अज्ञातस्यापि प्रमाणपंचकाभावस्याभावज्ञानजनकत्वम्, अभावस्य सर्वशक्तिरहितस्य जनकत्वविरोधात् । अविरोधे वा भावेऽपि 'अभाव' इति नाम कृतं स्यात् ।

उत्तरपक्षी.– इस प्रकार के अभाव प्रमाण का कौन उपस्थापक है यह कहो !

अपौरुषेयवादीः—प्रत्यक्षादि पाच प्रमाण का अभाव ।

उत्तरपक्षीः—यह बताईये कि आत्मसंबधी प्रमाणपचकाभाव उसका उत्थापक है ? या सर्वसवधी ? तात्पर्य, प्रमाणपचक की उपलब्धि केवल आपको ही नही है ? या सभी को नही है ? 'सभी को नही हैं' यह बात तो असिद्ध है । 'केवल आपको नही हैं' इतने से वेद मे पुरुषाभाव सिद्ध नही हो सकता क्योकि इसमे अनैकान्तिक दोष है, अन्य बौद्धादि आगम के प्रणेता पुरुष के विषय मे भी आपको प्रमाणपचक की उपलब्धि नही है किंतु आप उसे अपौरुषेय नही मानते है ।

अपौरुषेयवादीः—अन्य बौद्धादिवादीयो उनके आगमो को तो पुरुषप्रणीत मानते हैं इसलिये वहाँ प्रमाणपचकाभाव कोई अभावप्रमाण का प्रयोजक नही होगा ।

उत्तरपक्षीः—अन्यवादियो का मन्तव्य आपके लिये प्रमाणभूत न होने से आप ऐसा नही कह सकते । यदि आप अन्यवादी के मन्तव्य को प्रमाण मानते है तब तो वेद में भी अभावप्रमाण प्रवृत्ति अशक्य है क्योकि अन्यवादी तो वेद के भी कर्त्ता पुरुष को मानते है । इस तथ्य की ओर आख मु द कर भी आप वेद मे अभावप्रमाण की प्रवृत्ति मानेगे तो अन्य बौद्धादि आगम मे भी अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति अनिवार्य होगी क्योकि दोनो के आगम मे कोई विशेष अन्तर नही है ।

अपौरुषेयवादीः--वेद पुरुषरचित होने की अन्यवादीयो की मान्यता मिथ्या है इसलिये अभावप्रमाण की प्रवृत्ति निर्बाध होगी ।

उत्तरपक्षीः—तब तो अन्यवादीयो की उनके आगम मे पुरुषप्रणीतत्व की मान्यता मे भी मिथ्यात्व का प्रसग होगा और तब उनके आगम को भी अपौरुषेय मानने की आपत्ति होगी ।

[प्रमाणपंचकाभाव के संभवित विकल्पों का निराकरण]

यह भी विचारणीय है कि-(१) प्रमाणपचक का अभाव प्रगट रह कर अभावप्रमाण का उपस्थापक होगा ? या (२) गुप्त रह कर ? (१) यदि 'प्रगट रह कर' ऐसा कहेगे तो उसका ज्ञान किससे होगा ? अन्य प्रमाणपचकाभाव से उसका ज्ञान नही मान सकेंगे क्योकि उस अन्य प्रमाणपचकाभाव को भी प्रगट होकर उसके ज्ञापक मानने पर अनवस्था चलती रहेगी । प्रमेय के अभाव से प्रमाणपचकाभाव की ज्ञप्ति नही मानी जा सकेगी क्योकि, प्रमेयाभाव का ज्ञान प्रमाणपचकाभाव से और प्रमाणपचकाभाव का ज्ञान प्रमेयाभाव से इस तरह अन्योन्याश्रय दोप लगेगा ।

(२) गुप्त रहकर प्रमाणपचकाभाव अभावप्रमाण का उपस्थापक नही हो सकता क्योकि [श्लोकवार्त्तिक ५–३८ मे] आपने ही पहले यह कहा है कि 'जब प्रयत्न करने पर भी पाच में से किसी

'न तुच्छात्तदभावात् तदभावज्ञानम्' किन्तु प्रमाणपंचकरहितादात्मन' इति चेत् ? न, आगमान्तरेऽपि तथाभूतस्यात्मन सम्भवादभावज्ञानोत्पत्तिः स्यात् । 'प्रमेयाभावोऽपि तद्धेतुस्तदभावाद् नागमान्तरेऽभावज्ञानं'-इति चेत् ? न, अभावाभावः प्रमेयसद्भावः, तस्य प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनाऽनिश्चये कथमभावाभावप्रतिपत्तिः ? 'अभावज्ञानाभावात् तत्प्रतिपत्तिर्न सदुपलम्भप्रमाणसद्भावाद्' इति चेत् ? न, अभावज्ञानस्य प्रमेयाभावकार्यत्वात् तदभावाद् नाभावावगतिः, कार्याभावस्य कारणाभावव्यभिचारात् । अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्याभावप्रतीतावपि नेष्टसिद्धिः ।

प्रमाण की प्रमेय मे प्रवृत्ति न हो तभी प्रमाणपचक का अभाव उस प्रमेय के अभाव का ज्ञापक हो सकता है ।'-प्रमाणपचकाभाव को गुप्त मानने पर यह कथन विरुद्ध होगा ।

यह नही कहा जा सकता कि-जैसे इन्द्रिय गुप्त रह कर भी ज्ञानजनक होती है उसी प्रकार प्रमाणपचकाभाव भी गुप्त रह कर अभाव ज्ञान को उत्पन्न क्यो नही करेगा ?-क्योकि प्रमाणपचकाभावभावात्मक न होने से, उसमे कोई भी शक्ति ही नही है । शक्तिहीन अभाव मे कायजनकता विरोधग्रस्त है । विरोध न होने पर तो वह भाव ही होना चाहिये फिर 'अभाव' शब्द तो उसके लिये नाममात्र का रहेगा ।

[प्रमाणपंचकरहित आत्मा से पुरुषाभाव का ज्ञान अतिव्याप्त है]

अपौरुषेयवादीः-हम यह नही कहते कि तुच्छतापन्न प्रमाणपचकाभाव से पुरुषाभाव का ज्ञान होता है, किन्तु हमारा कहना है कि प्रमाणपचकाभावविशिष्ट आत्मा से अभावज्ञान होता है ।

उत्तरपक्षीः-अन्य बौद्धादि आगम मे भी प्रमाणपचकाभावविशिष्ट आत्मा का सद्भाव होने से, तथाभूत आत्मा से अन्य आगमो मे भी पुरुषाभाव के ज्ञान की उत्पत्ति होगी तो क्या आप उनको अपौरुषेय मानेगे ?

अपौरुषेयवादीः-केवल तथाभूत आत्मा ही अभावज्ञान का हेतु नही है किन्तु जिस प्रमेय का अभावज्ञान करना हो उस प्रमेय का अभाव भी उसमे हेतु है । अन्य आगमो मे रचयिता पुरुषात्मक प्रमेयाभाव रूप हेतु का अभाव होने से अन्य आगमो मे पुरुषाभाव का यानी अपौरुषेयता का ज्ञान दु शक्य है ।

उत्तरपक्षीः-यह कथन ठीक नही है क्योकि प्रमेयाभावरूप हेतु के अभाव का अर्थ है प्रमेय का सद्भाव । बौद्धादि के आगम रचयिता पुरुषात्मक प्रमेय का सद्भाव प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से निर्णीत नही है, तो आपने अन्य आगम मे रचयिता पुरुषात्मक प्रमेय के अभाव के अभाव का ज्ञान कैसे कर लिया ?

अपौरुषेयवादीः-हमने प्रमेयाभावाभाव यानी प्रमेय का ज्ञान सदुपलम्भक किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण के सद्भाव से नही किया है किन्तु 'अन्य आगम मे रचयिता पुरुष का अभाव है' इस प्रकार के ज्ञान के न होने से किया है ।

उत्तरपक्षीः-यह गलत बात है, अन्य आगम मे प्रमेयाभाव का ज्ञान तो प्रमेयाभाव का कार्य है इसलिये प्रमेयाभाव के ज्ञान के अभाव से प्रमेयाभाव यानी प्रमेय का बोध हो नही सकता । क्योकि प्रमेयाभाव के ज्ञान का अभाव यह कार्याभावरूप है और प्रमेयाभाव उस

क्वचित् प्रदेशे घटाभावप्रतिपत्तिस्तु न घटज्ञानाभावात् किंत्वेकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात्। न च पुरुषाभावाभावप्रतिपत्तावयं न्यायः, तदेकज्ञानसंसर्गिण कस्यचिदप्यभावात्। न पुरुष एव तदेकज्ञानसंसर्गी, पुरुषाभावाभावयोर्विरोधेनैकज्ञानसंसर्गित्वाऽसम्भवात्, सम्भवेऽपि न पुरुषोपलम्भभावात् तदभावाभावप्रतिपत्तिः, तदुपलम्भस्यैव तत्प्रतिपत्तिरूपत्वात्, अत एव विरुद्धविधिरप्यत्र न प्रवर्त्तत इति।

किं च कस्याभावज्ञानाभावात् प्रमेयाभावाभावः-वादिनः? प्रतिवादिनः? सर्वस्य वा? यदि वादिनोऽभावज्ञानाभावात्नागमान्तरे प्रमेयाभावः, वेदेऽपि मा भूत्, तत्रापि प्रतिवादिनोऽभावज्ञानाभावस्याऽविशेषात्। अथागमान्तरे वादि-प्रतिवादिनोरुभयोरप्यभावज्ञानाभावान्न प्रमेयाभावः, वेदे तु प्रतिवादिनोऽभावज्ञानाभावेऽपि वादिनोऽभावज्ञानसद्भावात्। न, वादिनो यदभावज्ञानं तत् सांकेतिकम्, नाभावबलोत्पन्नं; आगमान्तरे प्रतिवादिनोऽप्रामाण्याभावज्ञानवत्। न च सांकेतिकादभावज्ञानादभावसिद्धिः, अन्यथाऽऽगमान्तरेऽपि ततोऽप्रामाण्याभावसिद्धिप्रसंगः। तन्नागमान्तरे वादिनो-

---

कार्य का कारण है, कारण होने पर भी कभी अन्य सहकारी के अभाव मे कार्याभाव हो सकता है इसलिये कार्याभावरूप प्रमेयाभावज्ञानाभाव यह प्रमेयाभावरूप कारण के अभाव का व्यभिचारी होने से कारण के अभाव का यानी प्रमेयाभाव का अर्थात् प्रमेय का बोधक नही हो सकता। 'प्रमेयाभावज्ञानरूप कार्य का अभाव होने पर प्रमेयाभावरूपकारण का अभाव अवश्य होना चाहिये' इस प्रकार का प्रतिबन्ध [=व्याप्ति] रूप सामर्थ्य अगर कार्याभाव मे होता तब तो ठीक था लेकिन उस प्रकार के सामर्थ्य से शून्य 'प्रमेयाभावज्ञान का अभाव' प्रतीत होने पर भी आपकी इष्टसिद्धि यानी प्रमेयाभावरूप कारण के अभाव की सिद्धि [अर्थात् अन्यआगम मे पुरुष की सिद्धि] नही हो सकती।

[घटाभावबोध और पुरुषाभावाभावबोध में न्याय समान नहीं है]

किसी भूतलादि प्रदेश मे जो घटाभाव का बोध होता है वह केवल घटज्ञान के न होने मात्र से नही होता किन्तु घट के होने पर उसके साथ समानज्ञान का ससर्गी यानी तुल्यवित्तिवेद्य भूतलरूप पदार्थान्तर के उपलम्भ से होता है पुरुषाभावाभाव का बोध इस न्याय से नही किया जा सकता, क्योंकि पुरुषाभावाभाव का कोई एकज्ञानससर्गि अन्य किसी पदार्थ का ही अभाव है। पुरुष ही पुरुषाभाव का एकज्ञानससर्गी नही माना जा सकता जिससे केवल पुरुष उपलब्ध होने पर पुरुषाभाव का अभाव ज्ञात हो सके। कारण, पुरुष का भाव और अभाव परस्पर विरुद्ध होने से पुरुष और पुरुषाभाव कभी एकज्ञानससर्गी नही हो सकते। कदाचित् इसका सभव मानले तो भी पुरुष के उपलम्भ से पुरुषाभावाभाव का बोध नही मान सकते क्योंकि पुरुष का उपलम्भ पुरुषाभावाभाव का ही उपलम्भ है, अर्थात् दोनों मे ऐक्य होने से जन्य-जनक भाव नही है। यही कारण है कि यहाँ विरुद्ध विधि का प्रवर्त्तन नही है। परस्पर मे विरोध होने पर एक के अभाव मे उसके विरोधी का विधान शक्य होता है किन्तु यहाँ ऐसा कोई विरोध नही है।

[वादि-प्रतिवादी के या किसी के भी अभावज्ञानाभाव से प्रमेयाभावाभावसिद्धि अशक्य]

यह भी विचारणीय है कि किसके अभावज्ञानाभाव से प्रमेयाभावाभाव मानेगे? [१] वादी के? [२] प्रतिवादी के? [३] या सभी के? [१] यदि वादी को यानी अपौरुषेयवेदवादी को अन्य

ऽभावज्ञानाभावाद् गतिः। नापि प्रतिवादिनोऽभावज्ञानाभावात् तत्र तद्गतिः, वेदेऽपि तत्प्रसंगाद्। अत एव न सर्वस्याभावज्ञानाभावात्। असिद्धश्च सर्वस्याभावज्ञानाभावः, तन्नात्मा प्रमाणपंचकविनिर्मुक्तोऽभावज्ञानजनकः।

अथ वेदानादिसत्त्वमभावज्ञानोत्थापकम्। नन्वत्रापि वक्तव्यम्-ज्ञातमज्ञातं वा तत् तदुत्थापकम्। न ज्ञातम्, तज्ज्ञानाऽसम्भवात्, प्रत्यक्षादेस्तज्ज्ञापकत्वेनाप्रवृत्तेः, प्रवृत्तौ वा तत एव पुरुषाभावसिद्धेरभावप्रमाणवैयर्थ्यम, अनादिसत्त्वसिद्धेः पुरुषाभावज्ञाननान्तरीयकत्वात्। नाप्यज्ञातं तत् तदुत्थापकम्, अगृहीतसमयस्यापि तत्र तदुत्पत्तिप्रसंगात् केनचित् प्रत्यासत्ति-विप्रकर्षाभावात्। तन्न अनादिसत्त्वमपि तदुत्थापकमिति नाभावप्रमाणात् पुरुषाभावसिद्धिः। न चाभावप्रमाणस्य प्रामाण्यम्, प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् प्रतिषेत्स्यमानत्वाच्च।

बौद्धादि आगम मे प्रमेयाभाव का निषेध यानी प्रमेय को माना जाय तो उसी प्रकार, प्रतिवादि को स्वागम से भिन्न वेदागम मे अभावज्ञान का अभाव होने से वेद मे भी प्रमेयाभाव नही होगा अर्थात् रचयिता पुरुषात्मक प्रमेय का निषेध नही होगा। क्योकि वेद मे प्रतिवादि को जो अभावज्ञानाभाव है वह अन्य आगम मे जैसा वादी को है वैसा ही है, कोई अन्तर उसमे नही है।

अपौरुषेयवादीः–अन्य बौद्धादि आगम मे हमे वादी को और प्रतिवादी को, दोनो को रचयिता पुरुष के अभाव का ज्ञान नही है, इसलिये उसमे प्रमेयाभाव नही है, अर्थात् प्रमेय-पुरुष का सद्भाव मान सकते हैं। किन्तु वेद मे ऐसा नही है, यहाँ प्रतिवादी को अभावज्ञान का अभाव होने पर भी हमे वादी को अभावज्ञान है ही। यही दोनो मे विशेष अन्तर है।

उत्तरपक्षीः–यह कोई तात्त्विक अन्तर नही है क्योकि वादी को जो वेद मे अभावज्ञान है वह अभाव के बल से यानी वास्तव मे अभाव है इस हेतु से नही हुआ है किन्तु साकेतिक है, यानी वादी को अपनी परम्परा भक्ति से यह वासना बन गयी है कि वेद मे रचियता पुरुष का अभाव है। जैसे कि-अन्य बौद्धादि आगम मे प्रतिवादी को अप्रामाण्य के अभाव का ज्ञान अपनी पारपरिकवासना से रहता है। इस प्रकार के साकेतिक अभावज्ञान से वस्तु का अभाव कभी सिद्ध नही होता, अन्यथा प्रतिवादी के आगम मे भी प्रतिवादी के अप्रामाण्याभावज्ञान से अप्रामाण्याभाव यानी प्रामाण्य सिद्ध होगा। निष्कर्ष, वादी के अभावज्ञानाभाव से प्रमेयाभावाभाव का बोध शक्य नही है।

[२] प्रतिवादी के अभावज्ञानाभाव से भी आगम मे प्रमेयाभावाभाव का बोध नही माना जा सकता, क्योकि प्रतिवादी को वेद मे अभावज्ञान न होने से वेद मे भी प्रमेयाभावाभाव यानी प्रमेय रचयिता पुरुष के सद्भाव की आपत्ति होगी [३] जब वादी-प्रतिवादी के अभावज्ञानाभाव से प्रमेयाभावाभाव की सिद्धि नही मानी जा सकती तो सभी के अभावज्ञानाभाव से प्रमेयाभावाभाव की सिद्धि होने की सभावना ही नही है। दूसरी बात यह है कि सर्वसबन्धी अभावज्ञानाभाव हो भी नही सकता। साराश, प्रमाणपचकरहित आत्मा वेद मे पुरुषाभावज्ञान का जनक नही बन सकता।

[अनादि वेदसत्त्व अभावज्ञान प्रयोजक नहीं है]

अपौरुषेयवादीः–'वेद की सत्ता अनादिकालीन है' यही वेदरचयिता पुरुष के अभावज्ञान का उत्थापक मान लो।

अथ पर्युदासरूपमपौरुषेयत्वम्। किं तत् पौरुषेयत्वादन्यत् सत्त्वम्? तस्यास्माभिरप्यभ्युपगमात्। नाऽनादिसत्त्वम्, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्। तथाहि-न तावत् तद्ग्राहकं प्रत्यक्षम्, अक्षानुसारितया तथाव्यपदेशात्, अक्षाणां चानादिकालीनसंगत्यभावेन तत्सम्बद्धतत्सत्त्वेनाऽप्यसम्बन्धाद् न तत्पूर्वकप्रत्यक्षस्य तथा प्रवृत्तिः। प्रवृत्तौ वा तद्वद् अनागतकालसम्बद्धधर्मस्वरूपग्राहकत्वेनापि प्रवृत्तेर्न धर्मज्ञनिषेधः। तथा, "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तम्, विद्यमानोपलम्भनत्वात्" [जैमि०सू०१-१-४] इति सूत्रम्; "भविष्यति न दृष्टं च, प्रत्यक्षस्य मनागपि। सामर्थ्यं"....[श्लो० वा० सू० २ श्लो० ११५] इति च वार्त्तिकं व्याहतं स्यादिति न प्रत्यक्षात् तत्सिद्धिः।

उत्तरपक्षी:-यहाँ भी बताईये कि (१) अनादिसत्त्व ज्ञात होकर अभावज्ञानोत्थापक होगा? या (२) अज्ञात रह कर भी? [१] ज्ञात रह कर अभावज्ञानोत्थापक नही हो सकता। कारण, वेद के अनादिसत्त्व का ज्ञान होना ही असम्भव है। प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण उसके ज्ञापकरूप में प्रवर्त्तमान नही है और यदि कदाचित् प्रत्यक्षादि की प्रवृत्ति हो तब अभाव प्रमाण ही निरर्थक हो जायगा क्योंकि उससे ही पुरुष का अभाव अनुमान से सिद्ध हो जायेगा, वेद मे अनादिसत्त्व यह वेदकर्तृपुरुषाभावज्ञान रूप साध्य का नान्तरीयक यानी अविनाभावी हेतु है, इसलिये हेतु से साध्यसिद्धि दुष्कर नही है। [२] अज्ञात अनादि सत्त्व अभावप्रमाणजनक नही हो सकता, क्योंकि जिन लोगो को समय का यानी 'वेद अनादि है' इस प्रकार के पारस्परिक सकेत का ज्ञान नही है उन सब को भी वेद मे पुरुषाभावज्ञान-की उत्पत्ति हो जायगी। कारण, वादी को जैसे प्रत्यासत्ति का विप्रकर्ष यानी सनिकर्ष का अभाव नही है वैसे सभी को भी नही है। अर्थात् वादी को जैसे वेद का अनादि सत्त्व अज्ञात है वैसे सभी को अज्ञात है। साराश, अनादिसत्त्व किसी भी प्रकार अभावज्ञानोत्थापक न होने से अभावप्रमाण से वेदकर्त्ता पुरुष का अभाव सिद्ध नही हो सकता। अभावप्रमाण यह कोई वास्तव मे प्रमाण भी नही है क्योंकि पहले उसके प्रामाण्य का खडन किया गया है, एव आगे भी किया जायेगा। [प्रसज्यप्रतिषेध रूप अपौरुषेयत्व का A विकल्प समाप्त]

[B] प्रसज्यप्रतिषेध विकल्प का त्याग कर यदि दूसरा विकल्प-अपौरुषेयत्व मे पर्युदास प्रतिषेध है-यह स्वीकार लिया जाय तो उस पर प्रश्न है-वह क्या पौरुषेयत्व से अन्य सत्त्व रूप है? ऐसा अपौरुषेयत्व तो हम भी मानते हैं किन्तु इससे वेदप्रणेता का अभाव कैसे सिद्ध होगा? 'अपौरुषेयत्व अनादिसत्त्वरूप है' ऐसा पर्युदास नही मान सकते क्योंकि इस प्रकार के अपौरुषेयत्व का यानी वेद मे अनादिसत्त्व का ग्राहक कोई प्रमाण नही है। वह इस प्रकार-प्रत्यक्ष तो उसका ग्राहक नही है, क्योंकि जो इन्द्रिय यानी अक्ष का अनुसरण करे उसकी प्रत्यक्ष सज्ञा की जाती है। इन्द्रिय का अनादिकाल के साथ सम्बन्ध न होने पर अनादिकाल से सम्बद्ध वेदसत्त्व के साथ भी सम्बन्ध न घटने से इन्द्रियानुसारी प्रत्यक्ष की वहा प्रवृत्ति नही हो सकेगी। यदि अतीतकाल मे प्रवृत्ति शक्य हो तो फिर भविष्य काल से सम्बद्ध धर्म के स्वरूप को ग्रहण करने मे भी उसकी प्रवृत्ति शक्य है-तो फिर आप धर्मज्ञ का निषेध नही कर सकेंगे। आशय यह है कि मीमासक धर्मतत्त्व का ज्ञान केवल वेद के विधि-वाक्य से ही जन्य मानते है। कारणभूत-भविष्यकालीन धर्मतत्त्व के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध न होने से धर्म का कोई प्रत्यक्ष ज्ञाता [=धर्मज्ञ] नही हो सकता। जैसे कि जैमिनी सूत्र मे कहा है [सत्सम्प्रयोगे ..इत्यादि]-"इन्द्रियो का सद् विषय के साथ सबध होने पर जिस बुद्धि का जन्म होता है वह प्रत्यक्ष है। यह धर्मज्ञान मे निमित्त नही हो सकता क्योंकि विद्यमान=वर्त्तमान वस्तु का ही

नाप्यनुमानात्, तस्याभावात्। अथ-

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ। कालत्वात्, तद्यथा कालो वर्त्तमानः समीक्ष्यते। [ ]

इत्यतोऽनुमानात् तत्सिद्धिः। न, अस्य हेतोरागमान्तरेऽपि समानत्वात्। किंच, यथाभूतो वेदकरणाऽसमर्थपुरुषयुक्त इदानीं तत्कर्तृपुरुषरहितः काल उपलब्ध', अतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालत्वात् साध्यते? उत अन्यथाभूतः? यदि तथाभूतस्तदा सिद्धसाध्यता। अथान्यथाभूतस्तदा संनिवेशादिवदप्रयोजको हेतुः।

तथाहि-यथाभूतानामभिनवकूपप्रासादादीनां सन्निवेशादि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन व्याप्तमुपलब्धं ताथाभूतानामेव जीर्णकूप-प्रासादादीनां तद् बुद्धिमत्कारणत्वप्रयोजकत्वानन्यथाभूतानाम् [? प्रयोजक नान्यथाभूतानाम्] यदि पुनरन्यथाभूतस्याप्यतीतस्यानागतस्य कालस्य तद्रहितत्वं साधयेत् कालत्वम्, तदाऽन्यथाभूतानामपि भूधरादीना सन्निवेशादि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं साधयेत्, न तस्य [? ततश्च] सर्वजगज्ज्ञातुः कर्त्तुश्चेश्वरस्य सिद्धेश्चान्यथाभूतकालभावसिद्धिरतीवाऽ [? द्धे रतीवाऽ] पौरुषेयत्वसाधनं च वेदानामनवसरम्।

इन्द्रिय से उपलम्भ होता है।" ऐसा अर्थवाला जैमिनी सूत्र [१-१-४] तथा उस ग्रन्थ की टीका श्लोकवार्त्तिक मे कहा है-[भविष्यति न दृष्ट च....इत्यादि]-"भावि धर्मरूप अर्थ के ग्रहण मे प्रत्यक्ष का लेश भी सामर्थ्य देखा नही गया।" अब अनादिसत्त्व के विषय मे यदि प्रत्यक्ष प्रवृत्ति मानेंगे तो सूत्र और वृत्ति वचन का व्याघात होगा।

[वेद का अनादिसत्त्व अनुमान से सिद्ध नहीं]

अनुमान से भी वेद का अनादि सत्त्व सिद्ध नही है क्योकि तत्साधक कोई अनुमान नही है।

अपौरुषेयवादी:-इस अनुमान से अपौरुषेयत्व की सिद्धि हो सकती है-"अतीत और अनागत काल वेदकर्त्ता से शून्य है, क्योकि वे कालात्मक है-जैसा कि वर्त्तमान काल वेदकर्त्ता से शून्य देखा जाता है।"

उत्तरपक्षी:-इस अनुमान से अपौरुषेयत्व की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि वेद से इतर बौद्धादि आगम का भी वर्त्तमानकाल तो कर्तृशून्य देखा जाता है इसलिये समान हेतु से अन्य आगम मे भी अतीतानागतकालीन कर्तृशून्यता सिद्ध होने की आपत्ति होगी।

दूसरी बात यह है कि-(१) वर्त्तमान मे वेदरचना मे असमर्थ पुरुषवाला जैसा काल वेदकर्त्ता रहित उपलब्ध होता है, क्या वैसा ही यानी वेदरचना मे असमर्थपुरुषविशिष्ट ही अतीत-अनागत काल कर्तृशून्यतया सिद्ध करना है? या (२) इससे विपरीत यानी वेदरचनासमर्थपुरुष सहित काल कर्तृशून्यतया सिद्ध करना चाहते है? (१) यदि वेद रचना मे असमर्थपुरुषविशिष्ट काल कर्तृशून्यतया सिद्ध करना है तो यहा जो हमारे मत से भी सिद्ध है उसी को आप साध्य बना रहे हो, अर्थात् आपका परिश्रम व्यर्थ है।

(२) यदि उससे विपरीत काल मे कर्तृविरह सिद्ध करना है तो कालत्व हेतु अप्रयोजक यानी असमर्थ हो जायगा जैसे कि सनिवेशादि हेतु न्यायमत मे अप्रयोजक बन जाता है।

[कालत्व हेतु की अप्रयोजकता]

संनिवेश हेतु की अप्रयोजकता इस प्रकार है-सनिवेश यानी अवयवो की रचना विशेष को हेतु करके

अथ तथाभूतस्यैवातीतस्यानागतस्य वा कालस्य तद्रहितत्वं साध्यते । न च सिद्धसाध्यता, अन्यथाभूतस्य कालस्याभावात् । न. 'अन्यथाभूतः कालो नास्ति' इति कुतः प्रमाणादवगतम् ? यद्य-न्यतः तत एवापौरुषेयत्वसिद्धिः, किमनेन ? 'अतोऽनुमानात्' चेत् ? न, 'अन्यथाभूतकालाभावात् अतोऽनुमानात् तद्रहितत्वसिद्धिस्तत्सिद्धेस्तत्सिद्धिः' इतीतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् । तदेवमन्यथाभूतकाल-स्याभावाऽसिद्धेस्तथाभूतस्य तद्रहितत्वसाधने सिद्धसाधनमिति ।

नापि शब्दात्तत्सिद्धिः, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगः [? गात्,] तदेवमन्यथा कथं वेदवचनमस्ति* [? न चैवं वेदवचनमस्ति] नापि विधिवाक्यादपरस्य मवद्भिः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते । अभ्युपगमे वा पौरुषेयत्वमेव स्यात् । तथाहि तत्प्रतिपादकानि वेदवचांसि श्रूयन्ते-"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे"

नैयायिक भूधरादि मे जब ईश्वर कर्तृत्वसिद्ध करना चाहता है तब उसको यह कहा जाता है कि सनिवेश हेतु सकल भूधरादि मे बुद्धिमत्कारपूर्वकत्व का ज्ञापक नही है, किन्तु नये किये गये कूप-प्रासादादि मे जैसे 'यह किसी का बनाया हुआ है' यह बुद्धि होती है इस प्रकार की कृतबुद्धि जिस जीर्णकूपादि मे हो उसी मे बुद्धिमत्पूर्वकत्व के साथ सनिवेश की व्याप्ति होने से जीर्णकूपादि में ही कर्तृत्व की सिद्धि होती है, भूधरादि मे तथाप्रकार की कृतबुद्धि का उदय न होने से, सनिवेश हेतु तथा प्रकार के बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व के साथ व्याप्त न होने से भूधरादि मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व की सिद्धि नही होती। अब यदि वेदकारणाऽसमर्थपुरुषयुक्त काल से विपरीत काल मे भी कालत्व हेतु पुरुषाभाव का साधक होगा तो कृतबुद्धि जहाँ नही होती ऐसे भूधरादि मे अव्याप्त भी सनिवेशादि हेतु बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व को सिद्ध कर देगा। भूधरादि मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व सिद्ध होने पर तो जगत्कर्त्ता और अखिल विश्वज्ञाता ईश्वर सिद्ध हो जाने पर वेदकरणसमर्थपुरुषयुक्त कालरूप भावी की सिद्धि हो जाने से अर्थात् वेदकर्त्ता पुरुष ईश्वर सिद्ध हो जाने से मीमांसको का वेद मे अपौरुषेयत्व सिद्ध करने का प्रयास अतीव=अत्यंत अवसर अनुचित हो जायगा।

[अन्यथा भूतकाल का असम्भव सिद्ध नहीं है]

अपौरुषेयवादीः- वेदकरणासमर्थपुरुष विशिष्ट अतीत और अनागत काल मे ही हम अपौरु-षेयत्व वेद मे सिद्ध करते है। इसमे जो सिद्धसाध्यता दोष बतलाया, वह ठीक नही है, क्योंकि उससे विपरीत काल की समावना कर के आप सिद्ध साध्यता कहते हैं किंतु उससे विपरीत काल ही नही है।

उत्तरपक्षी--'उससे विपरीत काल नही है। यह आपने किस प्रमाण से जान लिया ? अगर प्रस्तुतानुमान से भिन्न किसी प्रमाण से आपने यह जाना है तो उसी प्रमाण से वेद मे अतीतानागत काल मे अपौरुपेयत्व सिद्ध हो जायगा, तो प्रस्तुत अनुमान का क्या प्रयोजन ? यदि कहे कि 'प्रस्तुत अनुमान से ही 'उस से विपरीत काल के अभाव का पता लगाया'- तो यह असंगत है क्योंकि उससे विपरीत काल का अभाव सिद्ध होने पर प्रस्तुत अनुमान से अतीतादिकाल मे पुरुषरहितत्व सिद्ध होगा और पुरुषरहितत्व सिद्ध होने पर 'उससे विपरीत काल का अभाव' सिद्ध होगा--इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष लगेगा। तो इस प्रकार वेदकरणासमर्थपुरुष विशिष्ट अतीतादि काल से विपरीत

* एतद्विषये प्रमेयकमलमार्त्तंडे "न चाऽपौरुषेयत्वप्रतिपादकं वेदवाक्यमस्ति, नापि विधिवाक्यादपरस्य परै प्रामाण्यमिष्यते" [पृ ३९९ पंक्ति १५-१६] इति पाठ ।

[ऋग्वेद अष्ट० ८, मं० १०, सू० १२१] "तस्यैव चैतानि निःश्वसितानि" [बृह० उ० अ० २, ब्रा० ४, सू० १०] "याज्ञवल्क्य इति होवाच" [बृह० उ० अ०२, ब्रा० ४, सू०१], तन्न शब्दादपि तत्सिद्धिः ।

नाप्युपमानात् तत्सिद्धिः । यदि हि चोदनासदृशं वाक्यमपौरुषेयत्वेन किंचित् सिद्धं स्यात् तदा तत्सादृश्योपमानेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुपमानात् सिद्धं स्यात्, न च तत्सिद्धम्, इत्युपमानादपि न तत्सिद्धिः ।

नाप्यर्थापत्तेः । अपौरुषेयत्वव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य वेदे कस्यचिद्धर्मस्याभावात् । नाऽप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदस्याऽपौरुषेयत्वं परिकल्पयति, आगमान्तरेऽपि तस्य धर्मस्य भावादपौरुषेयत्वं स्यात् । न चासौ तत्र मिथ्या, वेदेऽपि तन्मिथ्यात्वप्रसंगात् ।

अथागमान्तरे पुरुषस्य कर्तुरभ्युपगमात् पुरुषाणां च सर्वेषामपि आगमादिषु रक्तत्वात् तद्द्वेष [? दोष]जनितस्याऽप्रामाण्यस्य तत्र सम्भवाद् नाऽप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मस्तत्र सत्यः, वेदे त्वप्रामाण्यजनकदोषास्पदस्य पुरुषस्य कर्तुरभावादप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मः सत्यः ।

यानी वेदकरणसमर्थपुरुषविशिष्ट अतीतादि काल का अभाव जब सिद्ध नही है तो वेदकरणासमर्थपुरुषविशिष्ट अतीतादि काल मे कालत्व हेतु से वेद रचयितापुरुषाभाव को सिद्ध करने मे सिद्ध साध्यता दोष अनिवार्य है ।

[अपौरुषेयत्वसाधक कोई शब्दप्रमाण नहीं है]

शब्दप्रमाण से भी अपौरुषेयत्व सिद्ध नही हो सकता क्योकि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष बैठा है- शब्द प्रामाण्य सिद्ध होने पर वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध होगा और अपौरुषेयत्व सिद्ध होने पर तत्प्रतिपादक शब्द का प्रामाण्य सिद्ध होगा । दूसरी बात यह है कि "वेद अपौरुषेय है" ऐसा कोई वेदवचन भी नही है । यह भी उल्लेखनीय है कि आप वेद मे भी जो विधिवाक्य हैं केवल उन्ही को प्रमाण मानते हैं, अनुवाद परक वाक्यो को प्रमाण नही मानते । यदि उनको भी प्रमाण मान ले तब तो वेद पौरुषेय सिद्ध होगे । जैसे कि- वेद कर्त्ता के सूचक अनेक वचन उपलब्ध होते है–

१– हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे ।

२– तस्यैव चैतानि नि श्वसितानि ।

३– याज्ञवल्क्य इतिहोवाच ।

इन वाक्यो से हिरण्यगर्भ और याज्ञवल्क्य की वेदकर्तृता स्पष्ट सूचित हो रही है । निष्कर्ष –शब्द प्रमाण से वेद का अपौरुपेयत्व सिद्ध नही है ।

[उपमान से अपौरुषेयत्व की असिद्धि]

उपमान प्रमाण से भी अपौरुपेयत्व की सिद्धि दूर है । प्रेरणावाक्य को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये उनके जैसा अन्य कोई वाक्य अपौरुपेय मानना चाहिये जिसके सादृश्य रूप उपमान से प्रेरणावाक्य की अपौरुषेयता सिद्ध की जाय । किन्तु ऐसा कोई भी अन्य वाक्य मीमासक को अपौरुषेय रूप मे स्वीकार्य ही नही है- सिद्ध भी नही है । इस लिये उपमान प्रमाण से भी उसकी सिद्धि नही है ।

कुतः पुनस्तत्र पुरुषाभावः निश्चितः ? 'अन्यतः प्रमाणादि'ति चेत् ? तदेवोच्यताम्, किमर्थापत्त्या ? 'अर्थापत्ति'श्चेत् ? न, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-अर्थापत्तितः पुरुषाभावसिद्धावप्रामाण्याऽ[भाव]सिद्धिः, एतत्सिद्धौ चार्थापत्तितः पुरुषाभावसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम् । चक्रकचोद्यं चाऽत्रापि-तथाहि, यद्यप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदेऽपौरुषेयत्वं कल्पयति, आगमान्तरेऽप्यसौ धर्मस्तत् किं न कल्पयति ? तत्र पुरुषदोषसम्भवादसौ धर्मो मिथ्या, तेन तत्र तन्न कल्पयति, वेदे कुतः पुरुषाभावः ? अर्थापत्तेश्चेत्, तदागमान्तरे स स्याद्, इत्यादि तदेवावर्त्तते इति चक्रकानुपरमः ।

नाप्यतीन्द्रियार्थप्रतिपादनलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदे पुरुषाभावं कल्पयति, आगमान्तरेऽपि समानत्वात् । न चाऽप्रामाण्याभावे पुरुषाभावः सिध्यति, कार्याभावस्य कारणाभावं प्रति व्यभिचारित्वे-

---

[अर्थापत्ति से अपौरुषेयत्व की असिद्धि]

अर्थापत्ति प्रमाण से भी अपौरुषेयत्व सिद्ध नही है । कारण, वेद मे कोई ऐसा धर्म नही है जो वेद अपौरुषेय न माने तो न घट सके ।

अपौरुषेयवादः-अप्रामाण्याभाव यह ऐसा धर्म है जो वेद को अपौरुषेय न मानने पर नही घट सकता, इसलिये वह अपौरुषेयत्व की कल्पना करवाता है ।

उत्तरपक्षीः-यह गलत बात है क्योकि अन्य बौद्धादि आगम मे भी अप्रामाण्याभावरूप धर्म सभवित होने से अन्य आगम को भी अपौरुषेय मानना पडेगा । अन्य आगम मे अप्रामाण्याभावरूप धर्म मिथ्या नही मान सकते, अन्यथा वेद मे भी अप्रामाण्याभावरूप धर्म मिथ्या मानना पडेगा ।

अपौरुषेयवादीः-अन्य आगमो मे पुरुष को कर्त्ता माना है । पुरुष तो सब अपने अपने आगमो मे सरागी होने से उन पुरुषो के दोषो से उनके आगमो मे अप्रामाण्य का जन्म सभव होने से वहाँ अप्रामाण्याभावरूप धर्म वास्तव मे सत्य नही है । जब कि वेद का अप्रामाण्यापादकदोषयुक्त कोई कर्त्ता पुरुष न होने से उसमें अप्रामाण्याभावस्वरूप धर्म सत्य है ।

[पुरुषाभावनिश्चय में कोइ प्रमाण नहीं]

उत्तरपक्षी.-वेद मे पुरष का अभाव कैसे निश्चित किया ? यदि दूसरे किसी प्रमाण से वेद में पुरुष के अभाव का निश्चय किया है तो उस प्रमाण का ही उपन्यास करो, अर्थापत्ति की क्या जरूर ? अर्थापत्ति से यदि उसका निर्णय मानेंगे तो इतरेतराश्रय दोष होगा जैसे, अर्थापत्ति से पुरुषाभाव सिद्ध होने पर वेद मे अप्रामाण्याभाव सिद्ध होगा और वह सिद्ध होने पर अर्थापत्ति से पुरुषाभाव सिद्ध करेगा । इस प्रकार स्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष है ।

चक्रक दोष का भी यहाँ भय होगा-जैसे, अगर अप्रामाण्य अभावरूप धर्म अनुपपन्न हो कर वेद मे पुरुषाभाव की कल्पना करायेगा तो अन्य आगम मे भी वह धर्म पुरुषाभाव की कल्पना करायेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में आपको कहना पडेगा कि अन्यत्र पुरुष दोष का सम्भव होने से अप्रामाण्याभावरूप धर्म मिथ्या हो गया इसलिये अन्य आगम मे अप्रामाण्याभावरूप धर्म पुरुषाभाव की कल्पना नही करायेगा । तो इस पर पुन. यह प्रश्न आयेगा-वेद मे पुरुषाभाव कैसे निश्चित किया ? तो इसके उत्तर मे आप अर्थापत्ति को प्रस्तुत करेंगे, तब फिर से यही बात आयेगी कि अन्यागम में भी अर्थापत्ति से पुरुषाभाव का निश्चय हो जायगा इत्यादि वही का वही चक्र घुमता रहेगा उसका अन्त नही आयेगा ।

नान्यथानुपपन्नत्वाऽसंभवात् । अप्रतिबद्धाऽसमर्थस्य पुरुषस्याभावसिद्धावपि न सर्वथा पुरुषाभावसिद्धिः, पुरुषमात्रस्यापि[?स्याऽ]निराकरणात् । इष्टसिद्धिश्च अप्रामाण्यकरणस्य तत्कर्तृत्वेनास्माकमप्य-निष्टत्वात् । नापि प्रामाण्यधर्मोऽन्यथानुपपद्यमानो वेदे पुरुषाभावं साधयति, आगमान्तरेऽपि तुल्यत्वात् । शेषमत्र चिंतितमिति न पुनरुच्यते ।

[शब्दनित्यत्वसिद्धिपूर्वपक्षः]

'परार्थवाक्योच्चारणान्यथाऽनुपपत्तेस्तत्प्रतिपत्ति'रिति चेत् ? अयमर्थः-स्वार्थेनावगतसंबंधः शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति, अन्यथाऽगृहीतसंकेतस्यापि पुंसस्ततो वाच्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात् । स च संबंधावगमः प्रमाणत्रयसंपाद्यः । तथाहि-यदैको वृद्धोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसंगतये प्रतिपादयति-'देवदत्त ! गामस्याज एनां शुक्लां दण्डेन' इति-तदा पार्श्वस्थितोऽव्युत्पन्नसंकेतः शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टादर्शनाद् अनुमानतो गवादिविषयां प्रतिपत्तिमवगच्छति, तत्प्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या शब्दस्य च तत्र वाचिकां शक्तिं स एव परिकल्पयति । स च प्रमाणत्रयसं-पाद्योऽपि संगत्यवगमो न सकृद्वाक्यप्रयोगात् संभवति, व्यावयात् संमुग्धार्थप्रतिपत्तावन्वयवशक्तेरावापोद्वा-पाभ्यां निश्चयात् । तदभावे नान्वय-व्यतिरेकाभ्यां वाचकशक्त्यवगमः, तदसत्त्वाद् न प्रेक्षावद्भिः परावबोधाय वाक्यमुच्चार्यम् । उच्चार्यते च परावबोधाय वाक्यम्, अतः परार्थवाक्योच्चारणान्य-थानुपपत्त्या निश्चीयते धूमादिरिव गृहीतसंबंधोऽर्थप्रतिपादकः शब्दो नित्यः । तदुक्तम्-"दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्द" इति ।

[अतीन्द्रियार्थप्रतिपादन अपौरुषेयत्वसाधक नहीं है]

अपौरुषेयवादीः-वेद मे ऐसे अर्थ दिखाये है जो अतीन्द्रिय हैं,- तो 'अतीन्द्रियार्थप्रतिपादन' रूप धर्म अर्थापत्ति से पुरुषाभाव की कल्पना करायेगा क्योकि उसके विना वह अनुपपन्न है ।

उत्तरपक्षी:-यह अनुचित है, क्योकि अन्य आगम के लिये भी यही बात समानरूप से कही जा सकती है । दूसरा यह भी ज्ञातव्य है कि वेद मे अप्रामाण्य न होने पर भी पुरुषाभाव सिद्ध नही हो सकता क्योकि-अप्रामाण्य पुरुष का कार्य है, कार्याभाव होने पर कारण का अवश्य अभाव रहे यह कोई नियम न होने से कार्याभाव कारणाभाव का व्यभिचारी है-अत पुरुषाभाव के विना अप्रामाण्या-भाव की अनुपपत्ति का कोई सभव ही नही है । हाँ, जिस पुरुष का वेद के साथ कोई प्रतिबन्ध यानी सबध ही नही है अथवा जो वेद की रचना मे समर्थ नही है ऐसे पुरुष का अभाव किसी प्रमाण से सिद्ध हो सकता है किंतु सर्वथा पुरुषकर्तृत्व का अभाव किसी भी प्रकार सिद्ध नही है । क्योकि पुरुष-मात्र का किसी भी प्रमाण से निराकरण नही होता । ऐसा वेद कर्त्ता जो अप्रामाण्योत्पत्ति का असा-धारण कारण हो वह तो हमे भी इप्ट न होने से वैसे पुरुष की अभाव सिद्धि मे तो हमारी भी इप्ट सिद्धि ही है ।

यह वात भी नही है कि वेद का प्रामाण्य पुरुषाभाव के विना न घट सकने से प्रामाण्य पुरुषा-भाव को सिद्ध कर सके, क्यो कि तव अन्य आगम मे भी समानरूप से प्रामाण्यद्वारक पुरुषाभाव सिद्धि होगी । 'अन्य आगम मे प्रामाण्य मिथ्या है । इत्यादि चर्चा पूर्ववत् ही की जा सकती है इस लिये पुनरुक्ति करना व्यर्थ होगा ।

"वेदापौरुपेयत्व निराकरण समाप्त"

अथ मतम्-भूयोभूय उच्चार्यमाणः शब्दः सादृश्यादेकत्वेन निश्चीयमानोऽर्थप्रतिपत्तिं विदधाति, न पुनर्नित्यत्वात्, तत्र किंचिन्नित्यत्वपरिकल्पनेन प्रमाणबाधितेन। तदयुक्तम्, सादृश्येन शब्दादर्थाऽप्रतिपत्तेः। न हि सदृशतया शब्दः प्रतीयमानो वाचकत्वेनाध्यवसीयते, किंत्वेकत्वेन। तथा ह्येवं प्रतिपत्तिः 'य एव संबन्धग्रहणसमये मया प्रतिपन्नः शब्दः स एवायम्' इति।

[अनित्यपक्ष में शब्द के परार्थोच्चारण का असंभव]

शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिये मीमासक अपने पक्ष की विस्तार से प्रतिष्ठा करता है-

शब्द का अनादिसत्त्व परार्थवाक्योच्चारण की अन्यथानुपपत्ति से गृहीत हो सकता है। कहने का भाव यह है-शब्द से अपने अर्थ का प्रतिपादन तभी होता है जब अपने अर्थ के साथ उसका सकेत-रूप सबध श्रोता को ज्ञात हो। अन्यथा जिस पुरुष को सकेतज्ञान नही है उसको भी शब्द से वाच्यार्थ का बोध हो जायेगा। यह सकेतज्ञान तीन प्रमाणो से सपन्न होता है-जैसे, जब कोई वृद्ध पुरुष अन्य किसी सकेतज्ञ को यह सूचन करता है-हे देवदत्त! दड से उस श्वेत गाय को यहाँ लाओ! इस वक्त निकट मे अवस्थित सकेतज्ञान रहित पुरुष इन शब्दो का प्रत्यक्षत: श्रवण करता है और उस वाक्य के अर्थ को भी प्रत्यक्ष देखता है। तथा सकेतज्ञ श्रोता की विषयक्षेपणादि यानी धेनु-आनयनादि चेष्टा को देखने से उस वाक्य के धेनु आदि अर्थबोध का अनुमान करता है। धेनु आदि अर्थ का बोध शब्दगत प्रतिपादनशक्ति के विना अनुपपन्न हो कर अर्थापत्ति से उसकी कल्पना करवाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति तीन प्रमाणो से सकेतज्ञान केवल एकबार वाक्य सुन लेने से नही हो जाता। किन्तु एकबार वाक्य से समुदायार्थ यानी शब्दसमुदाय का अर्थ ज्ञात होने पर आवाप और उद्वाप से उस शब्दसमुदाय के अवयव शब्दो के अर्थ का निश्चय होता है। आवाप-उद्वाप यानी इन शब्दो मे से कौन से शब्द का धेनु अर्थ हुआ और किस शब्द का आनयन अर्थ हुआ इत्यादि ऊहापोह। इस प्रकार के ऊहापोह बराबर उस वाक्य को सुन ने पर ही होता है। यदि शब्द अनित्य होगा तो उसका पुन पुनः उच्चारण असमव हो जाने से अन्वय और व्यतिरेक से जो 'गो' शब्द की वाचकशक्ति का बोध होना चाहिये [जैसे कि पहले 'गो' शब्द के साथ आनयन क्रिया का प्रयोग सुनकर धेनु का आनयन किया किन्तु बाद मे 'गो' के बदले 'अश्व' का प्रयोग होने पर 'गो' के बदले अश्व का आनयन हुआ किन्तु गो का आनयन नही हुआ-इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से गो शब्द की धेनु अर्थ मे वाचकशक्ति का बोध होना चाहिये] वह नही होगा और सकेतज्ञान न होने पर दूसरे को प्रबोधित करने के लिये बुद्धिमन्तो को वाक्य प्रयोग ही नही करना होगा। किन्तु वे दूसरे को प्रबोधित करने के लिये वाक्यप्रयोग करते है-यह अनेक वार किया जाने वाला वाक्यप्रयोग शब्द की नित्यता के विना अनुपपन्न होने से यह निश्चित होता है कि धूमादि की भाँति व्याप्ति जैसा सबध [सकेत] ज्ञात रहने पर अग्नि आदि अर्थ का बोध कराने वाला शब्द नित्य है। कहा भी गया है कि 'वेद वाक्य का उपदेश दूसरे के लिये होता है इसलिये शब्द नित्य है।'

[सादृश्य से शब्द में एकत्वनिश्चय से अर्थबोध का असंभव]

यदि यह कहा जाय कि-'वार वार शब्द प्रयोग होने पर साम्य के कारण ऐक्यरूप से शब्द का निश्चय होता है और उसीसे अर्थ का वोध होता है। आशय यह है कि शब्द नित्य होने से अर्थ

किं च, सादृश्यादर्थप्रतिपत्तौ भ्रान्तः शब्दादर्थप्रत्ययः स्यात् । नह्यन्यस्मिन् गृहीतसंकेतेऽन्य-स्मादर्थप्रत्ययोऽभ्रान्तः, यथा गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽश्वशब्दाद् गवार्थप्रत्ययः । न च भूयोऽवयवसामा-न्ययोगस्वरूपं सादृश्यं शब्दे संभवति, विशिष्टवर्णात्मकत्वाच्छब्दस्य, वर्णानां च निरवयवत्वात् । न च समानस्थानकरणजन्यत्वलक्षण सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्, परकीयस्थानकरणादेरतीन्द्रियत्वेन तज्जन्य(न्यत्व)स्याप्यप्रतिपत्तेः । न च गत्वादिविशिष्टानां गादीनां वाचकत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्, गत्वादिसामान्यस्याभावात् । तदभावश्च गादीनां नानात्वाऽयोगात्, तदयोगश्च प्रत्यभिज्ञया गादीना-मेकत्वनिश्चयात् । अत एव न सामान्यनिबन्धना गादिषु प्रत्यभिज्ञा, भेदनिबन्धनस्य सामान्यस्यैव गादि-ष्वभावात्, कुतस्तन्निबन्धना गादिषु प्रत्यभिज्ञा ?

का बोध नही करवाता किन्तु साम्य के कारण एकत्वाध्यवसाय से अर्थ बोध होता है । इसलिये प्रमाण बाधित नित्यत्व की कल्पना से क्या लाभ ? !'

यह बात अयुक्त है-कारण, सादृश्य शब्दहेतुक अर्थबोध का हेतु न होने से उससे अर्थबोध नही माना जा सकता । जिस शब्द की साम्यरूप से प्रतीति होती है उसका ऐक्यरूप से अध्यवसाय हो सकता है, किंतु वाचक रूप से उसका अध्यवसाय होने का अनुभव नही है । साम्य के कारण जो बोध होगा वह इस प्रकार होगा कि–'सकेत ज्ञान के काल मे जिस शब्द का बोध किया था, यह वही शब्द है ।' इसमे तो एकत्व का अनुभव है-वाचकत्व का नही । वाचकरूप से शब्द का अनुभव न होने पर उससे अर्थबोध कैसे माना जाय ?

[सादृश्य से होने वाले शब्दबोध में भ्रान्तता आपत्ति]

यह भी सोचना चाहिये कि-यदि अर्थबोध शब्द से न होकर सादृश्य से मानेंगे तो शब्द से जो अर्थबोध होता है वह भ्रमात्मक हो जायेगा चूंकि जिसमे वाचकरूप सकेतज्ञान किया है उससे अर्थबोध न होकर अन्य से होने वाला अर्थज्ञान भ्रमभिन्न नही हो सकता है जैसे कि 'गो' शब्द मे सकेत ज्ञान होने के बाद अश्वशब्द से धेनुरूप अर्थ का ज्ञान भ्रमभिन्न नही होता ।

दूसरी बात यह है कि सादृश्य का अर्थ है दो पदार्थ मे अनेक समान अशो का योग । ऐसे सादृश्य का शब्द मे सभव ही नही है । कारण, शब्द विशिष्ट प्रकार के वर्ण रूप है और वर्ण स्वय निरवयव होता है । निरवयव होने के कारण शब्द मे अनेक समान अशो का योग यानी सादृश्य का सभव नही हो सकता । यदि कहे कि यहा 'समान तालु आदि स्थान और समान कारण से उत्पत्ति' रूप सादृश्य विवक्षित है तो इसका शब्द मे ग्रहण भी सभव नही है क्योकि प्रयोग करने वाले पुरुष का स्थान-करणादि सब अतीन्द्रिय है, इसलिये तज्जन्यत्व का ग्रहण असभव है । यदि कहे कि-'सकेत ज्ञानकाल मे जो गकारादि व्यक्ति का श्रवण किया था उस वक्त उस गकारादिगत गत्वादि जाति से विशिष्ट गकारादि मे ही सकेत ज्ञान किया था इसलिये व्यवहार काल मे भी गत्वादि जाति विशिष्ट ही गकारादि के श्रवण से अर्थबोध होने मे कोई आपत्ति नही है'-तो यह मानना ठीक नही है, क्योकि गत्वादि कोई जाति ही नही है । जाति तो अनेक व्यक्ति समवेत होती है जब कि गकारादि व्यक्तिओ की विभिन्नता असिद्ध है । असिद्धि इसलिये कि-"यह वही गकार है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा से गकारादि का एकत्व सुनिश्चित है । यही कारण है कि वह प्रत्यभिज्ञा एक गत्वादिमवलम्बिनी भी नही मानी

किं च, किं गत्वादीनां वाचकत्वम् उत गादिव्यक्तिनाम् ? न तावद् गत्वादीनाम्, नित्यत्वेनाऽस्मदभ्युपगमाश्रयणप्रसङ्गात्। नापि गादीनां वाचकत्वम्, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-किं गत्वादिविशिष्टं व्यक्तिमात्रं वाचकम्, उत गादिव्यक्तिविशेषः ? तत्र न तावद् गादिव्यक्तिविशेषः, सामान्ययुक्तस्यापि तस्यानन्वयात्। अनन्विताच्च नार्थप्रतिभासः। नापि गादिव्यक्तिमात्रम्, यतस्तदपि व्यक्तिमात्रं किं सामान्यान्तर्भूतम् उत व्यक्त्यन्तर्भूतम् ? इति कल्पनाद्वयम्। यदि सामान्यान्तःपाति तदा पुनरपि नित्यस्य वाचकत्वमित्यस्मत्पक्षप्रवेशः। अथ व्यक्त्यन्तर्भूतमिति पक्षः तदाऽनन्वयदोषस्तदवस्थित इति।

किं च, यद्यनित्यः शब्दः तदाऽऽलम्बनरहिताच्छब्दप्रतिभासमात्रादर्थप्रतिपत्तिरभ्युपगता स्याद्। तथाहि-शब्दश्रवणम्, ततः संकेतकालानुभूतस्मरणम्, ततः तत्सदृशत्वेनाध्यवसायः, न चैतावन्तं कालं शब्दस्यावस्थानं भवत्परिकल्पनया, तद् वाचकशून्यात् तत्प्रतिभासादर्थप्रतिपत्तिः स्याद्। अतोऽर्थप्रतिभासाभावप्रसंगाद् नानित्यत्वं शब्दस्य ॥

जा सकती क्योकि व्यक्तिभेद असिद्ध होने से तन्मूलक गत्वादि जाति का गकारादि मे सभव ही नही है तो गकारादि मे 'यह वही गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा को गत्वादिजातिगतएकत्वमूलक कैसे माना जाय ?

[गकारादि में वाचकता की अनुपपत्ति]

तदुपरात, आपको यह सीधा प्रश्न है कि आप गत्वादि को वाचक मानते है ? या गकारादि व्यक्ति को ? गत्वादि जाति को आप वाचक नही मानते है चूकि तब तो जाति नित्य होने से 'नित्य शब्द वाचक है' इस हमारे पक्ष मे आप को चले आना पडेगा। गकारादि व्यक्ति इसलिये वाचक नही हैं कि उस पर लगाये जाने वाले विकल्प सगत नही होते। जैसे-गत्वादि जाति विशिष्ट व्यक्तिमात्र वाचक है ? या कोई विशिष्ट गकारादि व्यक्ति ? द्वितीय विकल्प मे विशिष्ट गादि व्यक्ति वाचक नही हो सकती क्योकि वह गत्वादिसामान्य युक्त होने पर भी उसका कोई सबध अर्थ के साथ व्यक्ति आनन्त्य के कारण सम्भव नही है और सबध के विना अर्थ का प्रतिभास शक्य नही है। गकारादि केवल व्यक्ति भी अर्थवाचक नही हो सकती चूकि उसके ऊपर दो कल्पना होगी १-सामान्य मे अन्तर्भूत व्यक्ति वाचक है ? २-व्यक्ति अन्तर्भूत व्यक्ति वाचक है ? इसमे प्रथम कल्पना सामान्यान्तःपाती व्यक्ति को वाचक माने तब तो सामान्यान्तर्भूत व्यक्ति सामान्यरूप होने से नित्य की ही वाचकता का घोष करने वाले हमारे मत मे आप चले आये। दूसरी कल्पना-व्यक्ति मे अन्तर्भूत व्यक्ति यानी जो जाति रूप नही है ऐसी व्यक्ति को वाचक माने तो ऐसी व्यक्ति अनत होने के कारण अर्थ के साथ उनके नियत सम्बन्ध की अनुपपत्ति का दोष तदवस्थ रहता है।

तदुपरात-यदि शब्द को अनित्य यानी क्षणिक मानेगे तो शब्द प्रतिभास काल मे उसका आलम्बन शब्द तो रहेगा नही तो आलम्बनशून्य केवल शब्दप्रतिभास से ही अर्थबोध मानना पडेगा। वह इस प्रकार-सबसे पहले तो शब्द का श्रवण होगा, पश्चात् सकेतकाल मे अनुभूत शब्द का स्मरण होगा, पश्चात् 'यह उसके समान है' ऐसा सादृश्याध्यवसाय होगा। इतने काल तक आप के मतानुसार शब्द का अवस्थान तो रहेगा नही। तो यही मानना पडेगा कि अर्थबोध वाचक शब्द से शून्य, केवल शब्द प्रतिभास से ही हुआ है। यह तो हो नही सकता कि वाचक शब्द विना अर्थबोध हो जाय तात्पर्य, वाचक शब्द विना अर्थबोध ही नही होगा, इसलिये शब्द को नित्य मानना चाहिये।

[पूर्व पक्ष समाप्त]

[शब्दानित्यत्वस्थापन-उत्तरपक्ष]

अत्र प्रतिविधीयते-यदुक्तम् 'दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्य. शब्दः, अनित्यत्वे पुनः पुनरुच्चारणाऽसम्भवाद् न समयग्रहः, तदभावे शब्दादर्थप्रतिपत्तिर्न स्यादिति परार्थशब्दोच्चारणान्यथानुपपत्तेर्नित्यः शब्दः'-तदयुक्तम्, अनित्यस्यापि धूमादेरिवावगतसबन्धस्यार्थप्रत्यायकत्वसम्भवात् शब्दस्य। न हि धूमादीनामप्येकैव व्यक्तिरग्न्यादिप्रतिपादिका किन्त्वन्यैव । न चानाश्रितसमानपरिणतीनां सर्वधूमादिव्यक्तीनामर्वाग्दशा स्वसाध्येन सम्बन्धः शक्यो ग्रहीतुम्, असाधारणरूपेण सर्वधूमादिव्यक्तीनामदर्शनात्। न च लिंगानुमेयसामान्ययोः तत्र सबन्धग्रहणं, शब्देऽप्यस्य न्यायस्य समानत्वात् ।

न च 'धूमत्वाद् मया प्रतिपन्नोऽग्निः' इति प्रतिपत्तिः किन्तु धूमादिति । सा च लिंगानुमेययोः सामान्यविशिष्टव्यक्तिमात्रयोः सबन्धग्रहणे सति सामान्यविशिष्टाग्निव्यक्त्यवगमे युक्ता, न च धूमसामान्यादग्निसामान्यस्य । यथा च-सामान्यविशिष्टस्य विशेषस्य अनुमेयत्वं वाच्यत्व वाऽभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा सामान्यमात्रस्य दाहाद्यर्थक्रियाऽजनकत्वे ज्ञानाद्यर्थक्रियायाश्च सामान्यसाध्यायास्तत्रैव समुत्पत्तेर्दाहाद्यर्थिनामनुमेयवाच्यप्रतिभासात् प्रवृत्त्यभावेन लिंगि-वाच्यप्रतिभासयोरप्रामाण्यप्रसंगः-तथा धूमशब्दयोस्तद्विशिष्टयोः तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम्, न्यायस्य समानत्वात् ।

[शब्द अनित्य होने पर भी अर्थबोध की उपपत्ति]

शब्दनित्यत्ववाद का अब प्रतीकार किया जाता है-पूर्वपक्षी ने जो यह कहा-"दर्शन यानी वेद परावबोधार्थ होने से शब्द नित्य है। यदि वह अनित्य होगा तो उसका पुनरुच्चारण शक्य न होने से उसमे सकेतज्ञान न होगा। सकेतज्ञान के अभाव मे शब्द से अर्थबोध नही होगा। इस प्रकार परार्थशब्द-प्रयोग की अन्यथा अनुपपत्ति होने से शब्द नित्य सिद्ध होता है"-यह गलत है। जैसे धूमादि अनित्य होने पर भी व्याप्तिसम्बन्धज्ञाता को अग्निरूप अर्थ का बोध उत्पन्न करता है वैसे शब्द अनित्य होने पर भी अर्थबोधक हो सकता है। यह बात नही है कि जब जब अग्निबोध होता है तब एक ही धूमव्यक्ति हेतु होती है, किन्तु पृथक् पृथक् ही होती है। तथा, जिनकी समान परिणति का अवलम्बन नही किया गया है ऐसे सर्व धूमादि व्यक्तिओ का अपने साध्य के साथ व्याप्तिरूप सबध ग्रहण वर्त्तमान द्रष्टा के लिये शक्य नही है। क्योकि वर्त्तमान द्रष्टा को कभी समस्त धूमव्यक्तिओ का उनके असाधारणरूप से दर्शन ही नही होता तो उनका व्याप्तिरूप सम्बन्ध ग्रहण वह कैसे करेगा? यह नही कह सकते कि-'व्याप्तिरूप सम्बन्ध ग्रहण काल मे व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सबध ग्रहण नही होता किन्तु लिंग सामान्य का साध्य सामान्य के साथ ही ग्रहण होता है'-क्योकि ऐसा तो शब्द के लिये भी कहा जा सकता है कि अर्थ सामान्य का शब्द सामान्य मे ही सकेत ग्रह किया जाता है-शब्द व्यक्ति मे नही।

[जातिविशिष्ट में ही व्याप्य-व्यापकभावसंगति]

दूसरी बात यह है कि धूम सामान्य से अग्नि सामान्य का बोध अनुभवविरुद्ध है क्योकि-"मैने धूमत्व से अग्नि का बोध किया" ऐसा अनुभव नही होता किन्तु "धूम से मैने अग्नि का बोध किया" ऐसा अनुभव होता है। यह अनुभव तभी सगत हो सकता है जब पूर्व मे धूमत्व जाति विशिष्ट और अग्नित्वजातिविशिष्ट मात्र का व्याप्य-व्यापक भाव सबध गृहीत किया हो और अभी उस सबध के स्मरण से अग्नित्व जाति विशिष्टाग्नि का बोध होता हो। उसके बदले केवल धूमसामान्य (धूमत्व) से अग्नि सामान्य का बोध माने तो वह अनुभव सगत नही होगा।

न चानुमेयत्व-वाच्यत्वसामान्यं व्यक्तिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानं तां लक्षयतीति लक्षणया प्रवृत्तिर्भविष्यतीति वक्तुं शक्यम्, क्रमप्रतीतेरभावात्। न हि लिंगवाचक-जनित-लिंगिवाच्यप्रतिभासे प्राक् सामान्यप्रतिभासः पश्चाद् व्यक्तिप्रतिभासः-इति क्रमप्रतीत्यनुभवः। न च लक्षणा संभवतीति प्रपंचतः प्रतिपादयिष्यामः-इत्यास्तां तावत्।

एवं सामान्यविशिष्टधूमादिलिंगस्य गमकत्ववद् गत्वादिविशिष्टगादिवाचकत्वे न किंचिन्नित्यत्वेन, तदभावेऽपि धूमादिभ्य इवार्थप्रतिपत्तिसंभवात्।

अथ धूमादौ सामान्यस्य संभवात् पूर्वोक्तेन न्यायेन गमकत्वमस्तु, शब्दे तु न किंचित् सामान्यमस्ति यद्विशिष्टस्य शब्दस्य वाचकभावः। 'शब्दत्वं' इति चेत्? न, गोशब्दस्य शब्दत्वविशिष्टस्य स्ववाच्ये न संबंधग्रहः, न च शब्दत्वमपि गादिषु विद्यते, गोशब्दत्व-गत्वादीनां तु सत्त्वे का कथा?! शब्दत्वादीनां स्वभावो वर्णान्तरग्रहणे वर्णान्तरानुसंधानाभावात्। यत्र सामान्यमस्ति तत्रैकग्रहणेऽपरस्यानुसंधानं दृष्टम् यथा शाबलेयग्रहणे बाहुलेयस्य, वर्णान्तरे च गादौ गृह्यमाणे न कादीनामनुसंधानम्। तन्न तत्र शब्दत्वादिसम्भवः। एतदप्युक्तम्—

यह भी ज्ञातव्य है कि-जैसे सामान्य विशिष्ट विशेष यानी अग्नित्वविशिष्टाग्नि आदि को ही अनुमेय अथवा शब्दवाच्य मानना पडता है, यदि विशिष्ट को अनुमेय अथवा वाच्य न मान कर अग्नि सामान्य को ही अनुमेय अथवा वाच्य माने तो अग्नि सामान्य से दाहादिरूप अर्थक्रिया का जन्म न होने से, तथा अग्निसामान्यसाध्यज्ञानादिरूप अर्थक्रिया का तो उसी समय उद्भव होने से, तथा दाहादि के अर्थी को अग्नि का प्रतिभास न होकर केवल अग्निसामान्यरूप अनुमेय अथवा वाच्यार्थ का भान होने से, दाहादि मे प्रवृत्ति न होगी और दाहादिप्रवृत्ति रूप अर्थक्रिया सिद्ध न होने से उस सामान्यरूप अनुमेय अथवा वाच्यार्थ के प्रतिभास को अप्रमाण मानने का अनिष्ट होगा-इस लिये विशिष्ट को ही अनुमेय अथवा वाच्य मानना आवश्यक है-[यह तो साध्य और वाच्य की बात हुई-अब हेतु और वाचक की बात-] उसी प्रकार, लिंग धूम और वाचक शब्द भी सामान्य रूप से वाचक न मान कर जातिविशिष्टरूप से ही लिंग अथवा वाचक मानना ही पडेगा-क्योंकि 'अन्यथा अप्रामाण्यापत्ति'रूप युक्ति दोनो ओर समान है। तात्पर्य, जातिविशिष्ट शब्द मे ही संकेतज्ञान आवश्यक है, केवल जाति अथवा व्यक्ति मे नही।

यह भी नही कहा जा सकता कि-"शब्द अथवा लिंग वाच्यत्वसामान्य अथवा अनुमेयत्वसामान्य को ही उपस्थित करता है, किन्तु व्यक्ति के विना सामान्य की उपपत्ति न होने से व्यक्ति को भी लक्षित करता है यानी उपस्थापित करता है, इस प्रकार लक्षणा से व्यक्ति का बोध होने पर प्रवृत्ति भी उसमे हो सकेगी"-इस कथन की अवाच्यता का कारण यह है-उक्त प्रकार की क्रमप्रतीति किसी को होती नही है। तात्पर्य, लिंग अथवा वाचकशब्द से प्रथम सामान्य का प्रतिभास पश्चात् व्यक्ति का प्रतिभास इस प्रकार के क्रम की प्रतीति का अनुभव लिंग और वाचक के प्रतिभास में किसी को भी नही होता। तथा, 'यहाँ लक्षणा का सभव भी नहीं है' यह विस्तार से आगे दिखाया जायेगा, अभी शांति रखो।

उपरोक्त रीति से, यानी जैसे धूमत्वादि सामान्यविशिष्ट धूमादि लिंग अग्नित्वविशिष्ट अग्नि का बोध कराता है उस प्रकार, गत्वादिविशिष्ट गादि शब्द को अर्थ का वाचक भी माना जा

यत' किमिदमनुसधानं भवतोऽभिप्रेतं यद् वर्णान्तरे गृह्यमाणे वर्णान्तरस्य नास्तीति प्रतिपाद्यते ? यदि गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि वर्ण ' इत्यनुसंधानाभावः-तदयुक्तम्-एवंभूतानुसंधानस्यानुभूयमानत्वेनाऽभावाऽसिद्धेः । अथ गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि कादिः' इत्यनुसंधानाभावान्न सामान्यसद्भावस्तदाऽत्यल्पमिदमुच्यते, शाबलेयादावपि व्यक्त्यन्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि बाहुलेयः' इत्यनुसन्धानाभावाद् गोत्वस्याप्यभावः प्रसक्तः ; अथ तत्र 'गौ गौः' इत्यनुगताकारप्रत्ययस्याऽबाधितस्य सद्भावाद् न गोत्वाऽसत्त्वम्-एतद्गादिष्वपि समानम् । तत्रापि 'वर्णो....वर्ण .' इत्यनुगताकारस्याबाधितस्य प्रत्ययस्य सद्भावात् कथ न वर्णेषु वर्णत्वस्य, गादिषु गत्वादेः, शब्दे शब्दत्वस्य सभवः, निमित्तस्य समानत्वात् ?

सकता है तो फिर नित्यत्व से क्या प्रयोजन ? शब्द नित्य न होने पर भी अनित्य धूमादि से अग्निबोध की तरह अनित्य शब्द से अर्थबोध सरलता से हो सकता है ।

[शब्द में जाति का संभव ही न होने की शंका]

नित्यत्ववादीः-धूमादि मे धूमत्व सामान्य का सभव है इस लिये पूर्वोक्त रीति से वह अग्निबोधक हो सकता है । किन्तु, शब्द तो सर्वथा सामान्यशून्य है तो सामान्यविशिष्ट हो कर शब्द का वाचकभाव कैसे माना जाय ? ! शब्द मे शब्दत्वरूप सामान्य होने की शका नही की जा सकती । चूंकि शब्दत्वजाति से विशिष्ट गोशब्द मे किसी को भी धेनुअर्थ प्रतिपादक सकेत का ग्रह नही होता । [यदि शब्दत्व जात्यवच्छेदेन धेनुअर्थ का सकेत माना जाय तो शब्दत्व जाति सर्वशब्दसाधारण होने से प्रत्येक शब्द धेनु अर्थ का बोधक हो जायगा] दूसरी बात, गकारादि वर्णो मे शब्दत्व जाति की भी विद्यमानता नही है तो तद्व्याप्य गोशब्दत्व अथवा गत्व आदि जाति होने की बात ही कहाँ ? शब्दत्वादि जाति शब्द मे न होने मे तर्क यह है-यदि उसमे जाति होती तो एक वर्ण के ग्रहणकाल मे अन्य वर्ण का भी अनुसधान होता, किन्तु वह नही होता है । जैसे कि गोत्वादि जाति धेनु आदि में विद्यमान है तो एक चित्रवर्ण वाली धेनु को देखने पर अन्य श्यामादिवर्णविशिष्ट धेनु का भी सामान्यमूलक अनुसधान होता है । तात्पर्य, जहाँ जाति होती है वहाँ एक व्यक्ति के ग्रहण काल मे अन्य व्यक्तिओ का भी तन्मूलक अनुसधान होता है, गकारादिवर्ण का श्रवण होने पर ककारादिवर्ण का अनुसधान प्रतीत नही होता इसलिये उसमे कोई शब्दत्वादि जाति का सभव नही है ।

उत्तरपक्षीः-उपरोक्त कथन अयुक्त है ।

[वर्णान्तरानुसंधान की उपपत्ति]

[अयुक्त इस प्रकार-] वह कौन सा अनुसधान आपको चाहीये जो एकवर्ण के ग्रहण काल मे अन्य वर्ण का ग्रहण नही होने का आप कहते है ? गकारादि अन्य वर्ण गृहीत होने पर 'यह भी वर्ण है' इस प्रकार का अनुसधान न होने की बात यदि करते हो तो यह ठीक नही, क्योकि जब गकारादि वर्णान्तर का अनुभव होता है तब 'यह भी वर्ण है' इस प्रकार का अनुसधान स्पष्टतः अनुभूत होने से उसका अभाव असिद्ध है ।

नित्यत्ववादीः-गकारादिवर्णान्तर का जब ग्रहण होता है तब 'यह भी ककारादि है' ऐसा अनुसधान न होने से सामान्य की सत्ता नही है ।

उत्तरपक्षी'-यह तो आपने बहुत कम कहा, इस प्रकार के अनुसन्धान की विवक्षा करने पर

तथाहि-समानाऽसमानरूपासु व्यक्तिसु क्वचित् 'समाना' इति प्रत्ययोऽन्वेति, अन्यत्र व्यावर्त्तते, यत्र च प्रत्ययानुवृत्तिस्तत्र सामान्यव्यवस्था, नान्यत्र। सा च प्रत्ययानुवृत्तिर्गादिष्वपिसमाना इति कथं न तत्र सामान्यव्यवस्था ? यदि पुनर्गादिष्वनुगताकारप्रत्ययसत्त्वेऽपि न गत्वादिसामान्यमभ्युपगम्यते तर्हि शाबलेयादिष्वपि न गोत्वसामान्यमभ्युपगमनीयम्, न हि तत्रापि तथाभूतप्रत्ययानुवृत्तिमन्तरेण सामान्याभ्युपगमेऽन्यद् निमित्तमुत्पश्यामः। अक्षजन्यत्वम्-अबाधितत्वादि च प्रत्ययस्योभयत्रापि विशेषः समानः। यदि चानुगताऽबाधिताऽक्षजप्रत्ययविशेषविषयत्वे सत्यपि गत्वादेरभावः, गादेरपि व्यावृत्ततथाभूतप्रत्ययविषयस्याभाव. स्यात्, ततश्च कस्य दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यत्वं साध्येत ?

अथ गादौ श्रोत्रग्राह्यत्वनिमित्तोऽनुगतः प्रत्ययो न सामान्यनिमित्तः। तदप्ययुक्तम्, श्रोत्रग्राह्यत्वस्यातीन्द्रियत्वेनानवगमे निमित्ताऽग्रहणे तद्ग्रहणनिमित्तानुगतप्रत्ययस्य गादावभावप्रसंगात्।

तो गोत्व का भी सद्भाव लुप्त हो जायगा, क्यो कि जब चित्र वर्णवाली धेनु रूप अन्य व्यक्ति का ग्रहण होता है तब 'यह भी श्यामवर्ण वाली है' ऐसा अनुसधान किसी को होता नही है।

नित्यवादीः-धेनु मे तो 'गौ....गौ...' इस प्रकार अबाधित अनुगताकार प्रतीति होती है इसलिये उसका सत्त्व सुरक्षित रहेगा।

उत्तरपक्षीः-गकारादि मे भी समान उत्तर है, वहाँ भी यह 'वर्ण... वर्ण....' इत्यादि अनुगताकार प्रतीति होती है जो अबाधित भी है तो वर्णो मे वर्णत्व सामान्य का, गकारादि मे गत्वादि-सामान्य का और शब्द मे शब्दत्व सामान्य का असभव कैसे ? अनुगताकार प्रतीतिरूप निमित्त दोनो पक्ष मे समान है।

[अनुगताकारप्रतीति के निमित्त का प्रदर्शन]

निमित्त समानता इस प्रकार है-गो-अश्व आदि अनेक प्रकार की व्यक्तिओ के समुदाय मे कही कही तो 'ये सब समान हैं' इस प्रकार की प्रतीति होती है जैसे धेनु के समुदाय में, तथा कही कही 'ये सब समान हैं' ऐसी प्रतीति नही होती जैसे गो-अश्व-महिष आदि मे। जहाँ समानाकार प्रतीति होती है वहाँ उसके निमित्तभूत सामान्य की कल्पना की जाती है, अन्यत्र नही की जाती। यह समानाकार प्रतीति का अन्वय गकारादि वर्ण मे भी तुल्य है तो उसमे सामान्य की कल्पना क्यो न की जाय ? समानाकार प्रतीति होने पर भी अगर गकारादि मे सामान्य नही मानना है तो चित्रवर्ण वाली-श्यामवर्णवाली आदि सकल धेनु मे एक गोत्व सामान्य की भी कल्पना मत करो। समानाकार प्रत्यय के अन्वय को छोड कर अन्य तो कोई निमित्त वहाँ दिखता नही है जो सामान्य को वहाँ मनावे। धेनु की समानाकार प्रतीति मे जैसे यह विशेषता है कि वह इन्द्रियसंनिकर्ष जन्य और अबाधित होती है वैसे गकारादि की प्रतीति मे भी यह विशेषता समान ही है। दूसरी बात यह है कि यदि समानाकार अबाधित इन्द्रियजन्य बुद्धिविशेष का विषय होते हुए भी वहाँ गत्वादि सामान्य को नही माना जायेगा तो असमानाकार अबाधित इन्द्रियजन्य बुद्धिविशेष का विषय होते हुए भी वहाँ गकारादि की सत्ता न मानने की आपत्ति होगी, कारण-अबाधित-इन्द्रियजन्य बुद्धिविशेष की विषयता दोनो ओर तुल्य होने पर भी एक ओर गकारादि की सत्ता मानी जाय और दूसरी ओर गत्वादि की सत्ता न मानी जाय इसमे केवल स्वमताग्रह ही निमित्त हो सकता है। यदि उक्त रीति से गकारादि शब्द को भी नही माना जायगा तो शब्द के अभाव मे वेद के परार्थत्वरूप हेतु से आप किसका नित्यत्व सिद्ध करेंगे ? !

न च प्रत्यभिज्ञया गादीनामेकत्वसिद्धेर्भेदनिबन्धनस्य तेषु गत्वादिसामान्यस्याभाव-इति युक्तमभिधानम्, गाद्येकत्वग्राहिकाया लूनपुनर्जातकेशनखादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात्। अथ दलितपुनरुदिते नखशिखरादौ प्रत्यभिज्ञायाः बाधितत्वेन भ्रान्तत्वं न पुनर्गादौ। ननु तत्र प्रत्यभिज्ञायाः किं बाधकम्? 'अन्तराले-ऽदर्शनं' इति चेत्? ननु गादावप्यन्तरालेऽदर्शनं समानम्। अथ दलितपुनरुदिते नखशिखरादावभाव-निमित्तमन्तरालेऽदर्शनम्, न गाऽऽवभावनिमित्तम्, किं पुनरत्राऽदर्शननिमित्तमिति वक्तव्यम्।

किमत्र वक्तव्यम्? अभिव्यक्तेरभावः।

अथ केयमभिव्यक्तिर्यदभावादन्तराले गाद्यप्रतिपत्तिः? वर्णादिसंस्कारः। अथ कोऽयं वर्णादिसंस्कारः? 'आत्म-मनःसंयोगपूर्वकप्रयत्नप्रेरितेन कोष्ठ्येन वायुना ताल्वादिसंयोग-विभागवशात् प्रतिनियतवर्णा-

[गकारादिशब्द में सामान्य का समर्थन]

नित्यवादीः-गकारादिवर्ण मे जो समानाकार प्रतीति होती है उसका निमित्त सामान्य नही है किन्तु श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व है।

उत्तरपक्षीः-यह गलत है। कारण, शब्द की श्रोत्रग्राह्यता तो अतीन्द्रिय है इसलिये प्रत्यक्ष से उसका ग्रहण ही नही होगा और उस निमित्त के अगृहीत रहने पर श्रोत्रग्राह्यतारूपनिमित्तग्रहमूलक यानी उसके निमित्त से होने वाली समानाकार प्रतीति भी गकारादि मे नही होने की आपत्ति होगी।

नित्यवादीः-गत्वादि सामान्य का स्वीकार व्यक्तिभेदमूलक ही है-अर्थात् व्यक्तिओ को अनेक मानने पर ही अनेक मे एकाकार प्रतीति का निमित्त सामान्य को माना जा सकता है। किन्तु यहाँ गकारादि की अनेकता यानी भेद सिद्ध नही है अपितु 'यह वही गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा से उनका एकत्व ही सिद्ध होता है। जब व्यक्तिभेद ही नही है तो तन्मूलक गत्वादि का भी अभाव सिद्ध हुआ।

उत्तरपक्षी-ऐसा मत कहो, क्योकि एकत्व साधक वह प्रत्यभिज्ञा तो भ्रम है उससे एकत्व सिद्ध नही हो सकता। जैसे बार बार काटने पर पुनः पुन. उत्पन्न होने वाले केश और नख आदि मे 'यह वही नख है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा हो जाती है किन्तु उसका विषय तो समानाकार अन्य नखादि होने से वह भ्रान्त मानी जाती है, ऐसा ही प्रस्तुत मे है।

नित्यवादीः-काट देने पर भी फिर से उत्पन्न होने वाले नख और वृक्षादि के शिखर मे जो एकत्व प्रत्यभिज्ञा होती है, उत्तर काल मे उसका बाध होने से उस प्रत्यभिज्ञा को भ्रान्त मानना ठीक है किन्तु गकारादि मे उत्तरकालीन बाध होने से उसके एकत्व की प्रत्यभिज्ञा भ्रम नही है।

उत्तरपक्षीः-नखादि प्रत्यभिज्ञा मे किस बाध का आपको दर्शन हुआ?

नित्यवादीः-प्रथम नख का छेद और नये नख की उत्पत्ति-दोनो के मध्य काल मे नख का दर्शन नही होता।

उत्तरपक्षीः-एक गकार के श्रवण के बाद दूसरे गकार का जब तक श्रवण नही होता उस मध्य काल मे गकार का भी दर्शन नही होता यह बात दोनो पक्ष मे समान है।

नित्यवादीः-नख-शिखरादि का छेद होने पर जो मध्य मे उसका अदर्शन होता है वहाँ तो उसका अभाव ही निमित्त होता है, गकारादि का मध्य मे अदर्शन उसके अभाव के कारण नही है।

उत्तरपक्षीः-तो फिर उसके अदर्शन का निमित्त क्या है?-

अभिव्यञ्जकत्वेन भेदमासादयता वक्तृमुखसमीपगतैः स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षेण, तद्देशस्थ च तूलादेः प्रेरणात् कार्यानुमानेन, देशान्तरे शब्दोपलब्ध्यन्यथाऽनुपपत्त्या च प्रतीयमानेन नित्यसर्वगतस्य गकारादेर्वर्णस्य, श्रोत्रस्य, उभयस्य चाऽऽवारकाणां वायूनामपनयनं यथाक्रम वर्णसंस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारश्चे'ति चेत् ?

ननु 'वर्णसंस्कारोऽभिव्यक्तिः' इत्यभ्युपगमे आवारकवायुभिर्विज्ञानजननशक्तिप्रतिघाताद् वर्णोऽपान्तराले ज्ञानं न जनयतीति अभ्युपगन्तव्यम् । सा च शक्तिर्वर्णस्वरूपात् कथञ्चिदभिन्नाऽभ्युपगंतव्या, एकान्तभेदे ततो वर्णादनुपकारे 'तस्य शक्तिः' इति सम्बन्धानुपपत्तेः, उपकारे वा तदुपकारिका अपरा शक्तिरभ्युपगंतव्या, तस्या अपि ततो भेदेऽनवस्था, अभेदे प्रथमैव शक्तिः कथञ्चिदभिन्नाऽभ्युपगमनीया, एवं हि पारम्पर्यपरिश्रमः परिहृतो भवति । तथाभ्युपगमे च तच्छक्तिप्रतिघाते वर्णस्वरूपमेव तदभिन्नमावारकेण प्रतिहतं भवति । ततश्च कथं नाऽनित्यत्वम् ?

[वर्णादिसंस्कारस्वरूप अभिव्यक्ति की प्रक्रिया]

नित्यवादी –इसमे क्या कहना ! मध्य मे गकारादि के अदर्शन का निमित्त है 'अभिव्यक्ति का अभाव'।

उत्तरपक्षीः–जिस के अभाव से मध्य मे गकारादि का बोध नही होता वह 'अभिव्यक्ति' क्या है ?

नित्यवादीः–वर्णादि का सस्कार।

उत्तरपक्षीः–यह वर्णादि का सस्कार भी क्या है ?

नित्यवादी–अभिव्यजक वायु से नित्य एव सर्वदेशव्यापक गकारादि वर्ण, श्रोत्र तथा तदुभय के आवारक वायुओ का जो अपसारण किया जाता है यही क्रमश वर्णसस्कार, श्रोत्रसस्कार और तदुभयसस्कार है। अपसारण करने वाले वायु का मूल उपादान कोष्ठगत वायु है। उसको आत्म–मनो द्रव्य के सयोग से उत्पन्न प्रयत्न द्वारा प्रेरणा मिलती है यानी वह क्रियान्वित होता है। उससे वह प्रेरित होकर ओष्ठ-तालु आदि स्थान मे जब आता है तो उसके साथ अभिघात और बाद मे विभाग होने से वह मूलतः एक होता हुआ भी स्थानभेद से विभक्त यानी भिन्न भिन्न हो जाता है अर्थात् अकार का अभिव्यजक, ककार का, चकार का अभिव्यजक, इस प्रकार तत्तद्वर्ण के अभिव्यजकरूप मे विभक्तता उस वायु मे आ जाती है। इस अभिव्यजक वायु की प्रतीति वक्ता के मुख समीप रहने वाले को स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्ष से होती है, दूरवर्त्ती सज्जनो को मुखसमीप रहे हुए रुई के आदोलन रूप कार्य को देखकर अनुमान से होती है, तथा दूरदेशान्तर मे अभिव्यजक वायु विना शब्दोपलब्धि की अनुपपत्ति से भी उस वायु की प्रतीति होती है-इस प्रकार तीन प्रमाण से वह अभिव्यजक वायु प्रतीतिसिद्ध है। इस वायु का धक्का लगने पर वर्ण श्रोत्र और तदुभय का आवारक वायु हठ जाने से वर्णो की अभिव्यक्ति होती है।

[वर्णसंस्कारपक्ष में शब्द अनित्यत्व प्राप्ति]

उत्तरपक्षी -वर्ण सस्कार को यदि अभिव्यक्ति मानी जाय तो यह भी मानना होगा कि आवारक वायु से वर्ण की विज्ञानोत्पादक शक्ति का प्रतिघात होने के कारण मध्यकाल मे वर्ण ज्ञानोत्पादक नही होता है। उस शक्ति और वर्ण दोनो का किंचिद् अभेद भी मानना होगा। कारण, यदि उस वर्ण से उसका एकान्त भेद मानेगे तो भिन्न शक्ति से वर्ण का कोई भला न होने से 'वर्ण की शक्ति'

व्यंजकेनापि शक्तिप्रतिबन्धापनयनद्वारेण विज्ञानजननशक्त्याविर्भावेन वर्णस्वरूपमेवाविर्भावितं भवतीति कथं न वर्णस्य व्यंजकजन्यत्वम् ? व्यजकावाप्तविज्ञानजननस्वरूपो वर्णो यदि तेनैव स्वरूपेणावतिष्ठते तदा सर्वदा तदवभासिज्ञानप्रसंगः, सर्वदा तज्जननस्वभावस्य भावात्, 'सहकार्यपेक्षा च नित्यस्य न भवति' इति प्रतिपादयिष्यामः । अजनने वा न तत्स्वभावतेति प्रथममपि ज्ञान न जनयेत् । यो हि यन्न जनयति न स तज्जननस्वभावः यथा शालिबीजं यवांकुरमजनयन्न तज्जननस्वभावम् । न जनयति च वर्णो व्यजकाभिमतवाय्वभिव्यक्तोऽपि सर्वदा स्वप्रतिभासिज्ञानमिति न सर्वदा तज्जननस्वभावः । तत्स्वभावाभावे चोत्तरकालं तदेवाऽनित्यत्वमिति व्यर्थमभिव्यक्तिकल्पनम् ।

अपि च, वर्णाभिव्यक्तिपक्षे कोष्ठ्येन वायुना यावद्वेगमभिसर्पता यावान् वर्णविभागोऽपनीतावरणः कुतस्तावत एव श्रवणं स्यात् न समस्तस्य वर्णस्येति खंडशस्तस्य प्रतिपत्तिः स्यात् । अथ वर्णस्य-

इस प्रकार का षष्ठी विभक्ति से प्रतिपाद्य सम्बन्ध घटित नही होगा । यदि भिन्न शक्ति से वर्ण का कुछ उपकार माना जाय तो उपकार करने वाली शक्ति मे उपकारानुकुल अन्य शक्ति माननी पडेगी, ये दोनो शक्तियो मे एकान्त भेद होने पर नयी नयी शक्ति की कल्पना का अन्त ही नही आयेगा । भेद न मान कर अभेद माने तो प्रथम शक्ति को ही वर्ण से किंचिद् अभिन्न मानना होगा जिससे अनवस्था आपादक परम्परा मानने का व्यर्थ परिश्रम न करना पडे । फलित यह हुआ कि आवारक वायु से जिस शक्ति का प्रतिघात किया जाता है वह शक्ति अपने आश्रय वर्ण से यदि किंचिद् अभिन्न मानते है तो शक्ति के प्रतिघात से अब तदभिन्न वर्ण स्वरूप का भी कुछ प्रतिघात यानी नाश सिद्ध हो गया तो फिर वर्ण मे अनित्यता का प्रसग क्यो नही होगा ?

[व्यंजक वायु से वर्णस्वरूप का आविर्भाव-जन्म]

यह भी सोचिये कि जब विज्ञानोत्पादन शक्ति के प्रतिबन्ध को दूर करने द्वारा व्यजक से जब विज्ञानजननशक्ति का आविर्भाव किया जाता है तो उससे तिरोभूत वर्णस्वरूप का ही आविर्भाव हुआ तो फिर व्यजक से वर्णस्वरूप का आविर्भाव यानी दूसरे शब्दो मे जन्म ही हुआ यह क्यो न माने ? नाश भी इस प्रकार मानना होगा--व्यजक सानिध्य मे वर्ण को विज्ञानजनन स्वरूप एक बार प्राप्त हो जाने के बाद वह वर्ण यदि उसी स्वरूप मे सदा अवस्थित रहेगा तो सतत उस वर्ण का अवभास होता ही रहेगा । कारण, विज्ञानजननस्वभाव सार्वदिक हो गया है । 'सहकारी कदाचित् अनुपस्थित रहने के कारण सततावभास का प्रसङ्ग नही होगा' यह नही कह सकते क्योंकि 'नित्य पदार्थ को कभी सहकारी की अपेक्षा नही रहती' यह आगे दिखाया जायेगा । इसलिये सततावभासापादक 'उस स्वरूप से वर्ण की अवस्थिति' को नही मान सकेंगे तब उस स्वरूप से वर्ण का नाश नही मानोगे तो कहाँ जाओगे ? व्यजक के रहने पर भी यदि वर्ण को विज्ञान जननस्वभाव नही मानेंगे तो प्रथम ज्ञान की भी उत्पत्ति न हो सकेगी । यह नियम है कि 'जो जिसको उत्पन्न नही करता वह तज्जननस्वभाव नही होता' । जैसे शालिबीज जव के अकुर को उत्पन्न नही करता तो शालिबीज जवाकुरजननस्वभाव भी नही होता । व्यजकत्वेन अभिमत वायु से अभिव्यक्त वर्ण भी यदि सर्वदा स्वावभासी ज्ञान उत्पन्न नही करता तो वह भी ज्ञानजननस्वभाव नही हो सकता । ज्ञानजननस्वभाव न होने पर उत्तरकाल मे वह अवश्य तद्रूप से नही रहेगा तो वर्ण का अनित्यत्व ही फलित हुआ यानी अभिव्यक्ति की कल्पना व्यर्थ हुयी ।

निरवयवत्वादेकत्रोत्सारितावरणः सर्वत्राऽपनीतावरणः इति नायं दोषस्तर्हि निर्विभागत्वादेकत्रापनीतावरणः सर्वत्र तथेति मनागपि श्रवणं न स्यात् । सर्वत्र सर्वात्मना वर्णस्य परिसमाप्तत्वात् सामस्त्येन श्रवणाभ्युपगमे वर्णस्याऽव्यापकत्वं अनेकत्वं च दुर्निवारम् । यदि चैकत्राऽभिव्यक्तो निर्विभागत्वेन सर्वत्राभिव्यक्तस्तदा सर्वदेशावस्थितैस्तस्य श्रवणं स्यात् ।

यदप्युच्यते-यथैवोत्पद्यमानोऽयमुत्पत्तिवादिनां पक्षे दिगादीनामविभागादविभक्तदिगादिसंबंधित्वेन स्वरूपेणाऽसर्वगतोऽपि सर्वान् प्रति भवन्नपि न सर्वैरवगम्यते, किन्तु यच्छरीरसमीपवर्त्ती वर्ण उत्पन्नस्तेनैवाऽसौ गृह्यते तथाऽस्मत्पक्षेऽपि स्वतः सर्वगतोऽपि वर्णो न सर्वैर्दूरस्थैरवगम्यते किन्तु यच्छरीरसमीपस्थोऽभिव्यक्तस्तैरेवेति व्यंजकध्वनिसंनिधानाऽसंनिधानकृत वर्णस्य श्रवणम् अश्रवणं च युक्तम् । एतदेवाह-[श्लो० वा० ६/८४-८५]

यथैवोत्पद्यमानोऽयं न सर्वैरवगम्यते ।। दिग्देशादिविभागेन सर्वान् प्रति भवन्नपि ।
तथैव यत्समीपस्थैर्नादैः स्याद्यस्य संस्कृतिः ।। तैरेव गृह्यते शब्दो न दूरस्थैः कथंचन । इति तदपि प्रलापमात्रम् -

[अभिव्यक्ति पक्ष में खंडित शब्द प्रतीति आपत्ति]

अभिव्यक्ति पक्ष मे खडश· बोध की भी आपत्ति होगी जैसे-कोष्ठीय वायु वेग पूर्वक जहाँ तक प्रसरेगा उतना वर्ण विभाग ही अनावृत होगा तो श्रवण भी उतने विभाग का ही होगा, सपूर्ण वर्ण का श्रवण नही होगा, तो खण्डित वर्ण की ही प्रतीति होगी, अखण्ड की नही ।

अभिव्यक्तिवादी.-वर्ण यह निरश वस्तु होने से किसी एक भाग मे आवरण के हठ जाने पर समस्त वर्ण ऊपर से आवरण हट जायेगा इस लिये खण्डित प्रतीति का दोष नही है ।

उत्तरपक्षी.-ओह ! तब तो किसी एक भाग मे आवरण के रह जाने पर समस्त वर्ण ऊपर आवरण रह जाएगा चूकि वर्ण स्वय निरश है, तो लेशमात्र भी वर्ण का श्रवण न होगा । यदि यह मानेगे कि-'वर्ण सर्वत्र सपूर्णरूप से परिसमाप्त यानी अभिव्याप्त है-कोई खूणा ऐसा नही है जहाँ वह सपूर्णतया अवस्थित न हो । इस लिये जिस जिस भाग मे आवरण दूर होगा वहाँ सपूर्ण ही वर्ण की उपलब्धि होगी ।'-तो इसमे वर्ण मे अनेकता की आपत्ति का निवारण न होगा क्योकि कोणे में एक एक अलग सपूर्ण वर्ण की तव उपलब्धि होगी वह वर्ण को एक मानने पर अशक्य है । यह भी नही कह सकते कि-"आवरण का अपसारण किसी एक मे होने पर भी उस भाग मे अभिव्यक्त वर्ण सपूणरूप से सर्वत्र ही अभिव्यक्त हो जाता है, आशिक रूप से किसी एक भाग मे नही क्योकि वर्ण का कोई अश ही नही है ।"-क्योकि ऐसा मानने पर तो वोलने वाला कही भी वोलेगा तो पूरे ब्रह्माण्ड मे रहे हुये सर्व लोगो को वह सुनाई देने की आपत्ति आयेगी ।

यह भी जो आप कहना चाहते है वह सव प्रलाप तुल्य है—

[उत्पत्ति–अभिव्यक्ति पक्ष में समानता का उद्भावन-शंका]

"उत्पत्तिवादीओ के पक्ष मे शब्द उत्पन्न होता है तो वह यद्यपि स्वरूप से सर्वगत नही होता किन्तु जिन दिशाओ मे वह उत्पन्न हुआ है उन दिशाओ का कोई विभाग-अश नही है, दिशा सर्वत्र व्यापक है, तो अविभक्त दिगादिसबधी होने के कारण वह सर्व दिशाओ मे रहे हुए श्रोताओ के लिये

यतो यदि व्यंजका वायवो यत्रैव संनिहितास्तत्रैव वर्णसंस्कारं कुर्युस्तदा स्यादप्येतत्, किंतु तथाभ्युपगमे वर्णस्य सावयवत्वम् अनभिव्यक्तस्वरूपादभिव्यक्तस्वरूपस्य च भेदादनेकत्वं च स्यात्। सर्वात्मना तु संस्कारे—

यच्छरीरसमीपस्थैर्नादैः स्याद् यस्य संस्कृतिः। तैर्यथा श्रूयते शब्दस्तथा दूरगतैर्न किम् ? । [ ] उत्पत्तिपक्षे तु अव्यापकत्वाद् यत्समीपवर्ती वर्ण उत्पन्नस्तेनैवासौ गृह्यते न दूरस्थैरिति युक्तम्। 'दिग्देशाद्यविभागेन' इति चातीवाऽसंगतम्, अविभागस्य कस्यचिद् वस्तुनोऽसंभवेनानभ्युपगमात्।

किंच, व्यापकत्वेन वर्णानामेकवर्णाऽऽवरणापाये समानदेशत्वेन सर्वेषामनावृतत्वाद् युगपत् सर्ववर्णश्रुतिश्च स्यात्। अथापि स्यात् प्रतिनियतवर्णश्रवणान्यथानुपपत्त्या व्यंजकभेदसिद्धेः प्रतिनियतै-

---

साधारण हो जाता है। इस प्रकार सर्व के प्रति साधारण होने पर भी वह सर्व को नही सुनाई देता किन्तु जिस देह के निकट वर्ण उत्पन्न हुआ हो, केवल उस देही को ही वह सुनाई देता है। उसी प्रकार हमारे अभिव्यक्तिपक्ष मे भी वर्ण जो कि दिक्सबधी होने के कारण नही किंतु स्वत ही सर्वगत है, फिर भी वर्ण सभी को नही सुनाई देता किन्तु जिस देही के निकट मे वह अभिव्यक्त होता है उनको ही वह सुनाई देता है। इस प्रकार अभिव्यजक ध्वनियो का सानिध्य और असानिध्य ही वर्ण के श्रवण-अश्रवण का प्रयोजक है-यह युक्त है। हमारे कुमारिल भट्टने भी यही कहा है-[उत्पत्तिपक्ष मे] उत्पन्न होता हुआ भी शब्द जैसे दिग् आदि का कोई विभाग न होने के कारण सर्व प्रति साधारण होता हुआ भी सर्व को नही सुनाई देता। उसी प्रकार [अभिव्यक्ति पक्ष मे] श्रोता के समीप उत्पन्न नादो से जिसको सस्कार होता है उसको ही वह सुनाई देता है-दूर रहे हुए सभी को नही।

[वर्ण में सावयवत्व और अनेकत्व की आपत्ति-उत्तर]

अभिव्यक्तिवादी का यह कथन प्रलापतुल्य इसलिये है कि-अभिव्यंजक वायुओ जिनके निकट मे होगे वहाँ ही वर्णसस्कार निष्पन्न करे ऐसा होने पर तो वह कथन ठीक था, किंतु ऐसा मानने पर वर्ण को सावयव मानना पडेगा क्योकि वर्ण व्यापक है और सस्कार समग्र वर्ण मे न होकर किसी नियत अश मे ही है-यह निरश वस्तु मे नही हो सकता। तथा अमुक देश मे वर्ण अभिव्यक्ति और अन्य देश मे अनभिव्यक्ति इस प्रकार वर्णस्वरूप मे भेद आपन्न होने से वर्ण अनेक हो जायेगे तो वर्ण के एकत्ववाद का भग होगा। किसी नियत अश मे वर्ण का सस्कार न मानकर सर्वात्मना यानी अखण्ड वर्ण मे सस्कार मानेगे तो-

जिस देही के निकट मे रहे हुये नादो से जिसका सस्कार होता है उसको जैसे शब्द सुनाई देता है वैसे दूर रहे हुए को भी क्यो नही सुनाई देता ? [सस्कार तो अखण्ड वर्ण मे सर्वत्र होने का मानते है]।

उत्पत्तिपक्ष मे-वर्ण व्यापक नही है इसलिये जिसके श्रोत्र के निकट वर्ण उत्पन्न होता है उसी को श्रवण होता है दूर रहे हुये सज्जनो को नही होता है-यह घट सकता है। दिग्-देश आदि का 'विभाग न होने से अविभक्तदिग् सबधी होने के कारण वर्ण सर्व के प्रति साधारण होता है' यह जो आपने कहा वह तो अत्यन्त अयुक्त है। क्योकि दिग् आदि किसी पदार्थ का [जैन मत मे] सभव न होने से स्वीकार्य नही है।

व्यंजकैः प्रतिनियताऽऽवारकनिराकरणद्वारेण प्रतिनियतवर्णसंस्काराद् न युगपत्सर्ववर्णश्रुतिदोषः । स्यादेतद् यदि व्यंजकानां वायूनां भेदः स्यात्, स चाऽऽवारकभेदनिबन्धनः, अन्यथा तदभेदेऽभिन्नावारकापनेतृत्वेन कुतो व्यञ्जकभेदः ? आवारकभेदोऽपि वर्णदेशभेदनिबन्धनः, अन्यथा समानदशानां यदेवैकस्यावारकं तदेवापरस्यापि इत्यावारकभेदो न स्यात् । देशभेदोऽपि वर्णानामव्यापकत्वे सति स्यात्, व्यापकत्वे तु परस्परदेशपरिहारेण वर्णानामवस्थानाभावान्न देशभेदः । न चाऽव्यापकत्वं वर्णानामभ्युपगम्यते भवद्भिरिति न देशभेदः, तदभावान्नावारकभेदः, तदसत्त्वान्न व्यंजकभेद इति युगपत्सर्ववर्णश्रुतिरिति तदवस्थो दोषः ।

नापि "आवारकाणां न वर्णपिधायकत्वेनावारकत्वं किन्तु वर्णे दृश्यस्वभावखंडनात् । व्यंजकानामपि न तदावारकापनेतृत्वेन व्यंजकत्व किन्तु वर्णे दृश्यस्वभावाधानात्, इति पूर्वोक्तदोषाभाव" इति वक्तुं शक्यम्, यत एवमभिधाने स्ववाचैव तस्य परिणामित्वमभिहितं स्यादित्यविप्रतिपत्तिप्रसंगः । तन्न वर्णसंस्कारोऽभिव्यक्तिरिति पक्षो युक्तः ।

[सकल वर्णों का एक साथ श्रवण होने की आपत्ति]

यह भी सोचिये कि- सभी वर्ण व्यापक हैं एव समानदेशवर्त्ती भी है- तो एक वर्ण का आवरण यदि दूर होगा तो सभी क ख आदि वर्णों का आवरण दूर हो जाने से एक साथ सभी वर्णो का श्रवण होने की आपत्ति आयेगी । अब यदि यह आशका करे कि- "एक साथ सभी वर्ण का श्रवण नही होता किंतु प्रतिनियत देश आदि मे ही प्रतिनियत वर्णादि का श्रवण होता है, यह तभी घट सकता है जब व्यजको मे भेद माना जाय । व्यजकभेद इस प्रकार सिद्ध होने पर प्रतिनियत व्यजक से प्रतिनियत वर्ण के आवारक वायु का ही अपसारण होने से प्रतिनियत वर्ण का ही सस्कार होगा और वही वर्ण सुनाई देगा । इस प्रकार एक साथ सभी वर्णो के श्रवण का दोष नही होगा ।"-यह आशका तभी हो सकती अगर व्यजक वायुओ का भेद मूलतः सिद्ध होता । किंतु आपके कथनानुसार तो वह आवारकभेदमूलक फलित होता है, क्योकि यदि आवारक वायु एक ही होगा तो एक ही व्यजक से एक आवरण का अपसारण हो जाने पर व्यजकभेद कैसे सिद्ध होगा ? आवारकभेद भी वर्णदेशभेदमूलक ही मानना होगा, अन्यथा सभी वर्ण का यदि एक ही देश मानेंगे तो एक वर्ण का जो आवारक होगा वही अन्य वर्णो का आवारक होगा तो आवारक भेद नही हो सकेगा । वर्णो का देशभेद भी वर्णो के अव्यापक मानने पर ही घट सकता है । व्यापक वर्ण होने पर एक-दूसरे के देश को छोडकर वर्णों का अवस्थान होना चाहिये वह नही होगा, तो देशभेद नही मान सकेंगे । अब आप वर्णो को व्यापक तो मानते नही है तो देशभेद नही होगा, उसके न होने पर आवरणभेद न होगा, उसके न होने पर व्यजकभेद भी नही माना जा सकेगा, तो एक साथ सभी वर्णो के श्रवण का दोष तदवस्थ ही रहता है ।

[शब्द में श्रव्य स्वभाव का मर्दन और आधान मानने में परिणामवाद प्राप्ति]

यह भी नही कहा जा सकता कि- "आवारक वायु वर्णो का पिधान यानी ढक्कन बनकर उनका आवारक नही है किन्तु वर्ण का जो प्रत्यक्षयोग्यस्वभाव है उस का मर्दन कर देते है इसलिये आवारक हैं । एव व्यजक वायु आवरण का अपसारण करते है इसलिये वे व्यजक नही है किंतु वर्ण मे प्रत्यक्षयोग्यस्वभाव का आधान करने से वे व्यजक कहे जाते है । इस प्रकार कोई भी

नापि श्रोत्रसंस्कारोऽभिव्यक्तिरिति पक्षो युक्तः। तस्मिन्नपि पक्षे सकृद् संस्कृतं श्रोत्रं सर्ववर्णान् युगपद् शृणुयात्। न हि अंजनादिना संस्कृतं चक्षु संनिहितं स्वविषयं किंचित् पश्यति किंचिन्नेति दृष्टम्। अथ व्यंजकानां वायूनां भिन्नेषु कर्णमूलावयवेषु वर्त्तमानानां संस्काराधायकत्वेनार्थापत्त्या प्रतिनियतवर्णश्रवणान्यथानुपपत्तिलक्षणया प्रतिनियतवर्णग्राहकत्वेन संस्काराधायकत्वस्य प्रतीतेर्नैकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं सर्ववर्णान् युगपद् गृह्णाति इति।

तथाहि-वायवीयशब्दपक्षे यथा गकारादेनिष्पत्त्यर्थं प्रयत्नप्रेरितो वायुर्नान्यं वर्णमुत्पादयति तथाऽस्मत्पक्षेऽप्यन्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्कारे समर्थो नाऽन्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्कारं विधास्यति। येषां तु ताल्वादिसंयोग-वियोगनिमित्तः शब्द इति पक्षः तेषां यथाऽन्यगकारादिजनकैः संयोग-विभागैर्नान्यो वर्णो जन्यते तथाऽस्मत्पक्षेऽपि नान्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्काराधायकव्यंजकप्रेरकैरन्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्काराधायकवायुप्रेरणं क्रियत इत्युत्पत्त्य-भिव्यक्तिपक्षयोः कार्यदर्शनान्यथानुपपत्त्या सम सामर्थ्यभेदः प्रयत्नविवक्षयोः सिद्धः।

पूर्वोक्त दोष को अवकाश नही।"-ऐसा कहने पर तो आपने अपनी जबान से ही शब्द मे स्वभावपरिवर्त्तनस्व रूप परिणामित्व का स्वीकार लिया, फिर तो कोई विवाद ही नही रहता। साराश, वर्णसस्काररूप अभिव्यक्ति का पक्ष असगत है, क्यो कि अन्ततः उत्पत्ति मे ही उसका पर्यवसान फलित होता है।

[श्रोत्रसंस्कारस्वरूप अभिव्यक्ति पक्ष की समीक्षा]

व्यजक वायुओ से श्रोत्र का सस्कार होता है-यह पक्ष भी युक्तिसगत नही है। इस पक्ष मे भी यह आपत्ति है कि एक बार श्रोत्र का सस्कार हो जाने पर सभी वर्ण एक साथ ही सुनाई देगे। ऐसा नही देखा गया कि नेत्र मे अजनादि लगाने पर निकट मे अवस्थित अपना एक विषय तो देखने मे आवे और दूसरा न आवे।

[श्रोत्रसंस्कारवादी का विस्तृत अभिप्राय]

संस्कारवादी'-श्रोत्र सस्कार पक्ष मे, भिन्न-भिन्न कर्णमूल के अवयवो मे रहे हुए व्यजक वायु श्रोत्र के सस्कार कर्त्ता है, व्यजकवायु सर्ववर्णो का ग्रहण एक साथ हो जाय इस प्रकार के सस्कार का आधान नही करते किंतु प्रतिनियत वर्ण का ग्रहण हो इसप्रकार के ही श्रोत्र सस्कार का आधान करते है, क्योकि इसप्रकार न माने तो वर्णो का एक साथ श्रवण न होकर प्रतिनियत्त वर्ण का ही श्रवण होता है यह बात नही घटेगी। इस अर्थापत्ति से होने वाली प्रतिनियत वर्णग्रहणानुकुल श्रोत्रसस्कार की प्रतीति से यह कहा जा सकता है कि एकवर्णग्राहकरूप मे ही श्रोत्र का सस्कार होने पर सर्ववर्णो का एक साथ ग्रहण होने की आपत्ति नही है।

[एकसाथ सकलवर्णश्रवणापत्ति का प्रतिकार]

एक साथ सभी वर्णो के ग्रहण की अनापत्ति इस प्रकार है-जो सज्जन विद्वान् शब्द को वायु परिणामरूप मानते है उनके मत मे गकारादि उच्चारण के लिये किये गये प्रयत्न से प्रेरित वायु से जैसे अन्य ककारादि वर्णोत्पत्ति नही होती, उसी प्रकार हमारे मत मे भी एक वर्ण का ग्रहण कराने वाले श्रोत्रसस्कार करने मे समर्थ व्यजक जो वायु होता है वह किसी अन्य वर्ण ग्रहण कराने वाले श्रोत्रसस्कार को नही करता है। जो विद्वान् शब्द को तालु आदि स्थानो मे वायु के सयोग-

अतश्च यदुक्तं कैश्चित्-"समानेन्द्रियग्राह्येष्वर्थेषु व्यंजकेषु न दृष्टो नियमः" इति-एतदयुक्तम्, अर्थापत्तेर्दृष्टान्तानपेक्षत्वात्। दृष्टश्च तैलाभ्यक्तस्य मरीचिभिः, भूमेस्तूदकसेकेन गन्धाभिव्यक्तिभेद इति कथं न व्यंजकनियमः? तदुक्तम् [श्लो० वा० सू० ६]

व्यंजकानां हि वायूनां भिन्नावयवदेशता। [७९ उत्तरार्द्धम्]

जातिभेदश्च तेनैव संस्कारो व्यवतिष्ठते। अन्यार्थं प्रेरितो वायुर्यथान्यं न करोति वः ॥८०॥
तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति। अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैर्नान्यो वर्णो यथैव हि ॥८१॥
तथा ध्वन्यन्तराक्षेपो न ध्वन्यन्तरसारिभिः। तस्मादुत्पत्त्यभिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तितः समः ॥८२॥
सामर्थ्यभेद सर्वत्र स्यात् प्रयत्न-विवक्षयोः ॥ ८३ पूर्वार्द्धं ॥ इति।

एतदसम्बद्धम्-इन्द्रियसंस्कारकाणां व्यंजकानां समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्येष्वर्थेषु प्रतिनियत-विषयग्राहकत्वेनेन्द्रियसंस्कारकत्वस्य कदाचिददर्शनात्। नह्यंजनादिना संस्कृतं चक्षुः संनिहितं सर्वविषयं

विभाग से शब्द की उत्पत्ति मानते है, उन के मत मे एक गकारादि वर्ण के जनक सयोगविभागों से जैसे अन्य वर्ण की उत्पत्ति नही होती, उसी प्रकार हमारे पक्ष मे भी एक वर्ण ग्रहण कराने वाले श्रोत्र सस्कार के आधायक व्यजक वायु का प्रेरक प्रयत्न अन्य वर्ण ग्रहण कराने वाले श्रोत्र संस्कार के आधायक व्यजक वायु को आदोलित नही करता है। इस प्रकार कार्यदर्शन की अनुपपत्ति से उत्पत्ति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष मे प्रयत्न और विवक्षा का भिन्न-भिन्न सामर्थ्य तुल्यरूप से सिद्ध होता है।

[व्यंजक का स्वभाव विचित्र होता है]

उपरोक्त हेतु से, यह जो किसी ने कहा है- [वह भी युक्त नही है-] "एक इन्द्रिय से ग्राह्य अर्थो और व्यजकों– इन का कोई नियम नही होता [कि अमुक व्यजक से अमुक ही अर्थ का ग्रहण हो, अन्य का नही]"-यह अयुक्त है-कारण, अर्थापत्ति से जो सिद्ध होता है उस मे कोई भी दृष्टान्त साधक या बाधकरूप अपेक्षित नही होता। क्योकि यह भी देखा जाता है कि तैलाभ्यगन करने के बाद उसके गन्ध की अभिव्यक्ति मिरचे को छिडकने से होती है जब कि भूमि के गन्ध की अभिव्यक्ति जल के छिंडकने से होती है, दोनो का गन्ध एक ही घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य है फिर भी अर्थ और व्यजक का नियत भेद दिखा जाता है तो उन का नियम क्यों नही है ? श्लोकवार्त्तिक [सू० ६] मे भी कहा है–

व्यजक वायुओ का देश भिन्न-भिन्न अवयव है। तथा उनमे जातिभेद भी है, इसीसे संस्कार की व्यवस्था होती है। जैसे आपके मत में एक वर्ण के लिये प्रेरित वायु अन्य वर्ण को उत्पन्न नही करता। ऐसे ही अन्य वर्ण के सस्कार मे समर्थ [प्रयत्न] अन्य वर्ण को उत्पन्न नही करेगा। जैसे भिन्न तालु आदि के सयोग से भिन्न वर्ण उत्पन्न नही होता, उसी प्रकार अन्य ध्वनि [नादवायु] का आक्षेपण अन्य ध्वनिजनको से नही होता। अत: कार्य की अर्थापत्ति से उत्पत्ति-अभिव्यक्ति पक्ष मे प्रयत्न और विवक्षा का सामर्थ्यभेद सर्वत्र समान ही है।

[इन्द्रियसंस्काराधायक व्यंजकों में वैचित्र्य नहीं है–उत्तर पक्ष]

संस्कारवादी का पक्ष सम्बन्धविहीन है। इन्द्रिय सस्कार करने वाले व्यजक वायु, समानदेश-वर्त्ती समानेन्द्रिय से ग्राह्य अर्थो मे प्रतिनियत किसी दो चार विषय का ही ग्रहण हो इस प्रकार का

किंचित् पश्यति, किंचिन्नेत्युपलब्धम् । तथा बाधिर्यनिराकरणद्वारेण बलातैलादिना संस्कृतं श्रोत्रं स्वग्राह्यान् गकारादीन् वर्णानविशेषेणैवोपलभमानमुपलभ्यते । एवं घ्राणादीनीन्द्रियाणि स्वव्यंजकैः संस्कृतानि स्वविषयग्राहकत्वेनाविशेषेण प्रवर्त्तमानानि प्रतीयन्त इति प्रकृतेऽप्ययमेव न्यायो युक्त. ।

किंच, इन्द्रियं संस्कुर्वद् व्यंजकं यदि यथावस्थितवर्णग्राहकत्वेनेन्द्रियसंस्कारं विदध्यात् तदा सकलनभस्तलव्यापिनो गादेः प्रतिपत्तिः स्यात्, न चासौ दृष्टा, अथाऽन्यथा न तर्हि वर्णस्वरूपप्रतिभास इति न तत्स्वरूपसिद्धिः । तन्न श्रोत्रसंस्कारोऽभिव्यक्तिः ।

नाप्युभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, प्रत्येकपक्षोक्तदोषप्रसंगात् । न चान्यप्रकारः संस्कारोऽभिव्यक्तिः संभवति, तद् अभिव्यक्तेरसंभवाद् नानभिव्यक्तिनिमित्तोऽन्तराले गादीनामनुपलम्भः, किन्तु दलितनखशिखरादिष्विवाभावनिमित्तः-इति लूनपुनर्जातनखादिष्विवापान्तरालादर्शनेन गादिप्रत्यभिज्ञाया बाध्यमानत्वादप्रामाण्यम् ।

अथ खंडितपुनरुदितकररुहसमूहविषयाया अपि प्रत्यभिज्ञायास्तत्सामान्यविषयत्वेन नाऽप्रामा-

---

ही सस्कार इन्द्रियो पर करे, ऐसा कभी देखा नही गया है । अजनादि लगाने पर नेत्रेन्द्रिय निकटवर्त्ती कोइ एक अपने विषय का ग्रहण करे और तत्समान अन्य का न करे ऐसा देखने में नहीं आया है । एव वलातैलादि से सस्कृत श्रोत्र बधिरता को दूर करने द्वारा स्वग्राह्य गकारादि सभी वर्णो को विना कोई पक्षपात सुन लेता है-यह स्पष्ट दिखाई देता है । तथा, अपने अपने व्यंजको से परिष्कृत घ्राणादि इन्द्रिय, विना किसी पक्षपात से अपने विषयो के ग्राहकरूप मे प्रवर्त्तती हुयी दिखाई देती हैं, इसलिये प्रस्तुत मे भी यही न्याय स्वीकार लेना युक्त है ।

दूसरी बात यह है कि-इन्द्रिय सस्कार करने वाला व्यजकवायु अगर यथार्थरूप मे वर्ण को ग्रहण करने मे सशक्त ऐसे इन्द्रियसस्कार को जन्म देगा तो समस्त ब्रह्माण्ड व्यापक गकारादि वर्ण का बोध होने लगेगा । किन्तु ऐसा कभी देखा नही है । तथा यदि यथार्थ रूप मे वर्णग्रहणसशक्त सस्कार को जन्म नही देगा तो वर्णस्वरूप का अवभास ही नहीं हो सकेगा । फलतः कोई स्वरूप ही वर्ण का सिद्ध नही होगा । साराश, अभिव्यक्ति श्रोत्रसस्कार रूप भी नही है ।

[उभय संस्कारस्वरूप अभिव्यक्ति की अनुपपत्ति]

तथा 'वर्ण और श्रोत्र तदुभय का सस्कार अभिव्यक्ति है' यह भी नही हो सकता क्योकि उभय पक्ष मे प्रयुक्त दोषो का प्रवेश इस पक्ष मे हो जायगा । अन्य किसी प्रकार से सस्कार स्वरूप अभिव्यक्ति का कोई सभव भी नही है, तो इस प्रकार किसी भी रीति से अभिव्यक्ति पक्ष उचित न होने से गकारादि का दो उच्चारण काल के मध्य मे अनुपलम्भ उसकी अनभिव्यक्ति के कारण नही माना जा सकता । किंतु यही मान लेना चाहिये कि उस काल मे उसका अभाव होता है जैसे कि नख के अग्र भाग को एक बार काट देने पर कुछ काल तक उसके अदर्शन मे उसका अभाव ही निमित्त होता है । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि गकारादि की पुनरुक्ति मे 'यह वही गकार है' ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह प्रमाण नही किन्तु भ्रान्त है, जैसे कि मध्यकाल मे न देखने के बाद पुनर्जात नख को देख कर भी यह प्रतीति होती है कि 'यह वही नख है'-किन्तु वह भ्रान्त होती है ।

[शब्दएकत्वप्रत्यभिज्ञा में बाधाभाव की आशंका]

नित्यवादीः-बार बार काट देने पर नये नये उगने वाले नखादि के समूह को विषय करने

ण्यम् , तस्यास्तद्विषयतयाऽबाध्यमानत्वात् । न चायं प्रकारो गादिविषयप्रत्यभिज्ञायाः सम्भवति, तथा-सूतकेशादिष्विव गादिभेदविषयाबाधितप्रतिभासाभावेन तद्भेदाऽसिद्धौ 'समानानां भावः सामान्यम्' इति कृत्वा तत्र सामान्यस्यैवाऽसम्भवात् । असदेतत्—

गादिष्वपि 'पूर्वोपलब्धगादेः सकाशाद् अयमल्पः, महान्, कर्कशः, मधुरो वा गादिः' इत्यबाधिताक्षजप्रतिभाससद्भावेन भेदनिबन्धनसामान्यसंभवस्य न्यायानुगतत्वात् । न च यथा तुरगजवस्य पुरुषेऽध्यारोपात् 'पुरुषो याति' इति प्रत्ययः व्यपदेशश्च तथा व्यंजकध्वनिगतस्याल्पकर्कशावेर्गादावुपचारात् तथाप्रत्ययः व्यपदेशश्चेत्यभ्युपगंतुं शक्यम्-तथाऽभ्युपगमे वाहीके गोप्रत्ययवद् गादिप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वेन गादिस्वरूपाऽसिद्धिप्रसंगात् । न हि भ्रान्तप्रत्ययसंवेद्या द्विचन्द्रादयः स्वरूपसंगतिमनुभवन्ति । न चाल्पमहत्त्वप्रत्यययोर्भ्रान्तत्वेऽल्पमहत्त्वे एव गादिविषये अव्यवस्थितस्वरूपे न पुनर्गादिको वर्णः, तत्प्रत्ययस्याऽभ्रान्तत्वात्, न चाऽन्यविषयप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वेऽन्यस्य तथाभावोऽतिप्रसंगादिति वक्तुं युक्तम् । यतो यद्यल्पमहत्त्वादिधर्मव्यतिरिक्तस्य गादेर्द्वित्वरहितस्येव निशीथिनीनाथस्य प्रत्यक्षविषयत्वं स्यात् तदैव तद् युज्येताऽपि वक्तुं, न च स्वप्नेऽपि तद्धर्मानध्यासितो गादिः केनचित् प्रतीयत इति कथं तस्य महत्त्वादिधर्मरहितस्य स्वरूपव्यवस्था ?

वाली प्रत्यभिज्ञा उस समुदाय मे रहे हुए सामान्य नक्षत्व आदि को विषय करती है और वह सामान्य एक होने से ऐक्यग्राहक प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य की उपपत्ति कर सकते हैं क्योकि उस सामान्य को प्रत्यभिज्ञा का विषय मानने मे कोई बाध नही है। किन्तु इस प्रकार से गकारादि प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य को उपपत्ति नही की जा सकती। कारण, सामान्य से अनुविद्ध भिन्न भिन्न केशादि की जैसे अबाधित प्रतीति होती है वैसे गकारादि के भेद को विषय करने वाला कोई अबाधित अनुभव नही होता। अत उनका भेद भी सिद्ध नही होता। जब भेद सिद्ध नही है तो उनमे सामान्यतत्त्व होने का भी सभव नही है क्योकि व्यक्ति अनेक होते हुए समान होने पर 'समानों का भाव=सामान्य' इस प्रकार के सामान्य का उसमे सभव हो सके, किन्तु यहाँ गकारादि की अनेकता यानी भेद असिद्ध होने से उनमे सामान्य की सिद्धि नही होगी। तो सामान्यविषयक मानकर गकारादि की प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य का उपपादन नही होगा। [फलत. गकारादि को एकमात्र व्यक्तिरूप मानकर उसकी प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण मानना ही होगा।]

[गकारादि वर्ण में भेदप्रतीति निर्बाध है--उत्तर पक्ष]

नित्यवादी का पूर्वोक्त कथन अयुक्त है। कारण, केशादि मे भेदप्रतीति होती है वैसे गकारादि मे भी--'पूर्व मे श्रुत गकारादि से यह अल्प [घनता वाला] है, अथवा महान् है, या कर्कश अथवा मधुर है' इस प्रकार भेदप्रतीति इन्द्रियो से निर्बाध होती है। तो भेदमूलक सामान्य का गकारादि मे सद्भाव मानना न्याययुक्त ही है।

यह नही मान सकते कि--'जैसे अश्व के वेग का अश्वरूढ पुरुष मे अध्यारोप=उपचार करने पर 'पुरुष जा रहा है' ऐसी बुद्धि या व्यवहार होता है-उसी प्रकार व्यंजक ध्वनि मे अन्तर्भूत अल्पत्व-कर्कशत्वादि का गकारादि मे अध्यारोप होने पर 'कर्कशो गकार' इत्यादि प्रतीति और व्यवहार हो जायेगा।' यदि ऐसा मानेंगे तो-बैलवाहक मे गोबुद्धि जैसे भ्रमात्मक होती है, गकारादि बुद्धि भी

अत एव महत्त्वादिधर्मयुक्तस्य सर्वदा प्रतीयमानत्वाद् गादेर्न तद्धर्मयुक्ततया प्रतीयमानस्य उपचरितप्रत्ययविषयता। तदुक्तम्-योऽह्यन्यरूपसंवेद्यः संवेद्येतान्यथाऽपि वा। स भ्रान्तो न तु तेनैव यो नित्यमुपलभ्यते ॥ [ ] इति। तन्न व्यंजकधर्माध्यारोपादुपचरितप्रत्ययविषयत्वं तथाभूतस्य गादेः, सर्वभावानामुपचरितप्रत्ययविषयत्वेन स्वरूपाभावप्रसंगात्। न च व्यंजकस्य प्रदीपादेरल्प महत्त्वभेदाद् व्यंग्यस्य घटादेरल्पमहत्त्वभेदप्रतिभासो दृष्टः।

अथ व्यंजकधर्मानुकारित्वं व्यंग्ये उपलभ्यते। तथाहि-एकस्वरूपमपि मुखं खड्गे प्रतिबिम्बितं दीर्घम्, आदर्शे वर्त्तुलम्, नीलकाचे गौरमपि श्यामं, व्यंजकधर्मानुकारितया प्रतिभासविषयमुपलभ्यते इति प्रकृतेऽपि तथा स्यात्। एतदप्यसंगतम्-दृष्टान्तमात्रादर्थाऽसिद्धेः, तस्य हि साध्य-साधन-प्रतिबंधसाधकप्रमाणविषयतया साध्यसिद्धावुपयोगो न स्वतन्त्रस्य। अन्यथा-"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः" [अमृतबिंदु उ० १२-१५] इत्यादिदृष्टान्तमात्रतोऽद्वैतवादिनोऽपि पुरुषाद्वैतसिद्धेः शब्दस्वरूपस्याप्यभावात् कस्योपचाराद् महत्त्वादिप्रतिभास इत्युच्यते ?

उसी तरह भ्रान्त हो जाने से उसके स्वरूप की भी सिद्धि नही हो सकेगी। भ्रमात्मक बुद्धि से जब चन्द्रयुगल का दर्शन होता है तो वह चन्द्र के एकत्व स्वरूप के साथ सगतिवाला नही होता।

यदि यह कहा जाय—'गकारादि सबधी अल्पत्व-महत्त्व की बुद्धि को हम भ्रान्त कहते है तो गकारादि सबद्ध अल्पत्व और महत्त्व को आप अव्यवस्थितस्वरूप वाले कह सकते है, किन्तु गकारादि वर्ण अव्यवस्थित स्वरूप वाला नही मान सकते। कारण, उसकी प्रतीति अभ्रान्त है। एक विषय की प्रतीति भ्रान्त यानी बाधित होने पर अन्य विषय प्रतीति को भ्रान्त् नही कहा जा सकता, अन्यथा एक भ्रान्तप्रतीति के उदाहरण से सभी प्रतीतियो मे भ्रान्तता मानने की आपत्ति होगी।'-तो यह कथन युक्त नही है क्योकि इसको तभी युक्त मान सकते है जब द्वित्व रहित चन्द्र जैसे पृथक् प्रतीति का विषय होता है वैसे अल्पत्व-महत्त्वादिधर्म को छोडकर पृथक् ही गकारादि की प्रतीतिविषयता सिद्ध होती। अरे ! स्वप्न मे भी किसी को अल्पत्वादि से विनिर्मुक्त गकारादि की प्रतीति नही होती तो फिर महत्त्वादि धर्म का परित्याग कर कैसे गकारादि वर्ण की स्वरूप व्यवस्था हो सकेगी ?

[गकारादि में भेदप्रतिभास उपचरित नहीं है]

महत्त्वादिधर्मविरहित गकारादि कभी भी प्रतीत नही होते इसीलिये महत्त्वादि धर्म सलग्न तया प्रतीत होने वाले गकारादि को उपचरित यानी भ्रान्त प्रतीति का विषय नही माना जा सकता क्योकि महत्त्वादिधर्मसलग्नतया ही सर्वदा गकारादि प्रतीत होते है। जैसे कि कहा है-'जिस एक रूप से जो सवेद्य होता है, यदि वह विपरीतरूप से सवेद्यमान हो तो वह भ्रान्त यानी भ्रम विषय बन जाता है, किन्तु जो हरहमेश उसी रूप से सवेद्यमान होता है वह भ्रान्त नही होता।' साराश, महत्त्वादिधर्म-विशिष्ट गकारादि को व्यजकधर्म का अध्यारोप मान कर उपचरित बुद्धि यानी भ्रम-बुद्धि की विषयता मानना सगत नही है। अन्यथा, सकल पदार्थो के स्वरूपाभाव का अतिप्रसंग होगा क्योकि उपचरितबुद्धिविषयता सभी मे मानी जा सकती है। ऐसा कभी भी नही देखा गया कि व्यजक प्रदीप-प्रकाशादि अल्प-महान् आदि भिन्न भिन्न होने पर प्रकाश्य घट-पटादि मे छोटे-बड़े का भेद प्रतिभासित होता हो।

मुखादीनां च छाया खड्गादौ संक्रान्ता तद्धर्मानुकारिणी प्रतिभाति न मुखादयः। न च गादीनां छाया व्यजकध्वनिसंक्रान्ता तद्धर्मानुकारिणी प्रतिभातीति शक्यम् वक्तुं, शब्दस्य भवताऽमूर्त्तत्वेनाभ्युपगमात्, अमूर्त्तस्य च मूर्त्तध्वनौ छायाप्रतिबिम्बनाऽसंभवात्। मूर्त्तानामेव हि मुखादीनां मूर्त्ते आदर्शादौ छायाप्रतिबिम्बनं दृष्टं, नाऽमूर्त्तानामात्मादीनाम्। अदृष्टे च ध्वनौ छाया प्रतिबिम्बिताऽपि न गृह्येत कथं तद्धर्मानुकारितया प्रतीतिविषयः?

न च ध्वनेः शब्दप्रतिभासकाले श्रवणप्रतिपत्तिविषयत्वम्, उभयाकारप्रतिपत्तेरसंवेदनात्। तत्र व्यंजके ध्वनौ प्रतिबिम्बिता गकारादिच्छाया प्रतिभाति। नाप्यमूर्त्ते गादौ ध्वनिच्छायाप्रतिबिम्बनं युक्तम्, अमूर्त्ते आकाशादौ घटादिच्छायाप्रतिबिम्बनानुपलब्धेः। तदयुक्तमुक्तम्-'खड्गादौ दीर्घ-

[व्यंजकध्वनियों के धर्मों का शब्द में उपचार होने की शंका]

उपचारवादी -ऐसे भी व्यग्य [=प्रकाश्य] पदार्थ होते है जो व्यजक के धर्मो का अनुकरण करते है। उदा० मुह का एक ही स्वरूप खड्ग मे प्रतिबिम्वत होने पर खड्गवत् लम्बा, वर्त्तुलाकार दर्पण मे गोलाकार, तथा गौरवर्ण होते हुये भी नीलवर्ण काच मे श्यामवर्णवाला, इस प्रकार उन उन व्यंजको के सदृशधर्म का अनुकरण करता हुआ उपचरितबुद्धि का विषय बनता है। तो प्रकृत में व्यजकध्वनिओ का अल्प-महान् धर्म व्यग्य मे उपलब्ध होने मे कोई असगति नही है।

उत्तरपक्षीः- यह बात भी असंगत है। कारण, केवल एक दो दृष्टान्त मात्र मिल जाने से पदार्थ सिद्धि नही होती। दृष्टान्त तो साध्य और हेतु की व्याप्ति के लिये साधक प्रमाण के विषयरूप मे साध्यानुमान मे उपयोगी होता है, उसका कोई स्वतन्त्र उपयोग नही है। अन्यथा "एक ही भूतात्मा भूत भूत मे अवस्थित है" [एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्] इस प्रकार के उपनिषद् वाक्य से प्रतिपादित चन्द्रप्रतिबिम्ब के दृष्टान्तमात्र से अद्वैतवादी का पुरुषाद्वैतवाद भी सिद्ध हो जायेगा-फिर न रहेगा शब्द, न रहेगा महत्त्वादि, तो किसके उपचार से मीमासक महत्त्वादि प्रतिभास की बात करेगा?

[अमूर्त्त का मूर्त्त में प्रतिबिम्ब संभव नहीं है]

खड्गादिव्यजक धर्म का अनुकरण करती हुयी जो दिखाई देती है वह मुखादि की छाया [=प्रतिबिम्ब] होती है, मुखादि स्वय नही होते। यह नही कहा जा सकता कि-"गकारादि की छाया का व्यजकनादो मे सक्रमण होता है तो गकारादि की छाया अल्पत्वादि धर्म का अनुकरण करती हुयी दिखाइ देती है किन्तु स्वय गकारादि अल्पत्वादिविशिष्ट नही होते।"-क्योकि आपके मतानुसार शब्द को अमूर्त्त माना गया है। अमूर्त्त शब्द की मूर्त्त व्यजक नादो मे छाया प्रतिबिम्बत होने का कोई सभव नही है। मूर्त्त दर्पणादि मे मूर्त्त मुखादि की छाया का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है किन्तु अमूर्त्त आत्मादि की छाया का प्रतिबिम्ब नही देखा गया। दूसरी बात यह है कि व्यजकनाद भी अदृश्य होते है तो उसमे प्रतिबिम्बित होने पर भी छाया का ग्रहण होना शक्य नही है तो फिर व्यजकधर्मो के अनुकरणकर्त्तारूप मे छाया का दर्शन कैसे माना जाय?

[महत्त्वादिधर्मभेदप्रतिभास यथार्थ होने से गादिभेदसिद्धि]

यह भी ध्यान देने की बात है कि जब शब्दप्रतिभास होता है उस काल मे नाद श्रावणप्रत्यक्ष का विषय नही बनता। क्योकि उसके प्रत्यक्ष होने पर 'नाद और शब्द' का उभयाकार सवेदन होना

मुखादिप्रतिभासवद् अल्प-महत्त्वादियुक्तशब्दप्रतिभासः' इति, दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्। अतो-ऽबाधितमहत्त्वादिभेदभिन्नगादिप्रतिभासाद् गादिभेदसिद्धेस्तन्निबन्धनस्य सामान्यस्य गादौ सद्भावाद् तन्निबन्धना प्रत्यभिज्ञा दलितोदितनखशिखरादिष्विव गादावभ्युपगमनीया।

अत एव धूमादीनामिवाऽनित्यत्वेऽपि गादीनां सामान्यसद्भावतः संगत्यवगमस्य सम्भवाद् न परार्थशब्दोच्चारणान्यथानुपपत्त्या तन्नित्यत्वकल्पना युक्ता। तद् गत्वादिविशिष्टस्य गादेरविवक्षित-विशेषस्य स्वार्थेन संगत्यवगमेन न किंचिन्नित्यत्वेन। यथा गोत्वादिविशिष्टस्य गोव्यक्तिमात्रस्य वाच्य-त्वे न कश्चिद्दोषः, तद्वद् वाचकत्वेऽपि। तद् अर्थप्रतिपादकत्वस्य अन्यथापि सम्भवात् 'दर्शनस्य परार्थ-त्वाद् नित्यः शब्दः' इत्ययुक्तमभिहितम्।

यत् पुनरुक्तम्-'सदृशत्वेनाऽग्रहणाद् न सादृश्यादर्थप्रतिपत्तिः' इति तत्र यदि सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं व्यक्तेः सादृश्यमभिप्रेतं तदा तस्य यथा व्यक्तिविशेषणस्य वाचकत्वं तथा प्रतिपादितम्। अथाऽन्यथाभूतं सादृश्यमत्र विवक्षितं तदा तस्य वाचकत्वानभ्युपगमात् स एव परिहारः। यत्तूक्तम्-

---

चाहिये, वह नही होता। निष्कर्ष यह हुआ कि व्यंजक नादो मे गकारादि की प्रतिबिम्बित छाया का भान नही होता। तथा, अमूर्त्त गकारादि मे ध्वनि की छाया प्रतिबिम्बित होने से ध्वनिगत महत्त्वादि का उपचार से गकारादि मे भान भी युक्त नही है। क्योंकि अमूर्त्त मे किसी पदार्थ का प्रतिबिम्ब उपलब्ध नही होता। उदा० अमूर्त्त आकाशादि मे घट-पटादि की छाया का प्रतिबिम्ब उपलब्ध नही होता। अतः यह जो कहा था कि 'खड्गादि मे जैसे मुख का लम्ब वर्त्तुलादि आकार प्रतिभास होता है वैसे अल्पमहत्त्वादि धर्मयुक्त शब्द का प्रतिभास होता है' यह अयुक्त कहा गया है। कारण, दृष्टान्त मूर्त्त का है और दार्ष्टान्तिक तो अमूर्त्त का है-इस प्रकार दोनो मे पूरा वैषम्य है। उपरोक्त रीति से महान्-कर्कशादि भेद से भिन्न भिन्न गकारादि का प्रतिभास निर्बाध सिद्ध होने से गकारादि का भेद भी सिद्ध होता है और तन्मूलक गत्वादि सामान्य का सद्भाव भी गकारादि मे मानना पडेगा। फलत, काट देने पर नये उगने वाले नखाग्र आदि मे सामान्यमूलक प्रत्यभिज्ञा की भाति गकारादि मे भी ऐक्य प्रत्यभिज्ञा को सामान्यमूलक मानना पड़ेगा।

[परार्थोच्चारण से शब्दनित्यत्व कल्पना असंगत]

उपरोक्त हेतु से, परार्थशब्दोच्चारण की अन्यथानुपपत्ति से शब्द मे नित्यत्व की कल्पना करना ठीक नही है। कारण, जिस प्रकार धूमादि लिंग अनित्य होने पर भी धूम सामान्य के प्रभाव से व्याप्ति सबंध का भान होता है उसी प्रकार अनित्य गकारादि को सुनने पर गत्वादि सामान्य के प्रभाव से सकेतोपस्थिति द्वारा शाब्दबोध हो सकता है। जब गत्वादिविशिष्ट गकारादि व्यक्ति का अपने अर्थ के साथ सबंध का अवगम किसी विशेष की अपेक्षा किये बिना ही शक्य है तो नित्यत्व मानने का कोई भी प्रयोजन नही है। दूसरी बात यह है कि गोत्वादि सामान्य से अनुविद्ध गोत्वादि मात्र को वाच्य मानने मे मीमासक को कोई दोष नही लगता है तो गत्वादिसामान्यानुविद्ध गकारादि शब्द व्यक्ति को वाचक मानने मे भी कोई दोष नही है। इसलिये आपने जो यह कहा था कि 'दर्शन परार्थ होने से शब्द नित्य है' यह भी ठीक नही है। कारण, शब्द अनित्य होने पर भी उससे अर्थ प्रतिपादन होने का पूरा सभव है।

'वर्णानां निरवयवत्वाद् न भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणस्य सादृश्यस्य सम्भव.'-तदत्यन्ताऽसंगतम्, वर्णानां भाषावर्गणारूपपरिणतपुद्गलपरिणामस्यैव सावयवत्वात्।

अथ पौद्गलिकत्वे वर्णानां महती अदृष्टकल्पना प्रसज्यते। तथाहि-शब्दस्य श्रवणदेशाऽऽगमनम्, मूर्त्ति-स्पर्शादिमत्त्वं चानुपलभ्यमानं परिकल्पनीयम्। तेषां च मूर्त्ति-स्पर्शानां सतामप्यनुद्भूतता कल्पनीया, त्वगग्राह्यत्व च परिकल्पनीयम्। ये चान्ये सूक्ष्मा भागास्तस्य कल्प्यन्ते तेषां च शब्दकरणवेलायां सर्वथानुपलभ्यमानानां कथ रचनाक्रमः क्रियताम्? उपलभ्यमानत्वेऽपि कीदृशाद् रचनाभेदाद् गकारादिवर्णभेदः? द्रवत्वेन च विना कथं वर्णावयवानां परस्परतः संश्लेषो वर्णनिष्पादकः? यद्यपि च कथंचित् कर्त्रा निष्पादिता वर्णास्तथापि आगच्छता कथं न वायुना विश्लेष? लघूनां तदवयवानामुदकादिनिबन्धनाभावात् निबद्धानामप्यागच्छतां वृक्षाद्यभिहितानां विश्लेषो लोष्टवत्। न चैकशब्दस्यैकश्रोत्रप्रवेशे मूर्त्तत्वेन प्रतिबद्धत्वादन्येषां श्रोतृणां तद्देशव्यवस्थितानामपि श्रवणमुपपद्यते, प्रयत्नान्तरस्यासत्त्वेन पुनर्निष्क्रमणाऽसम्भवात्। न चैकगोशब्दापेक्षयाऽवान्तरवर्णनानात्वकल्पनायामस्ति प्रयोजनम्, एकस्मादेव गोशब्दादर्थप्रतीतेः, अतो गकारादिवर्णनानात्वमदृष्टं परिकल्पनीयम्। न चैकस्यैव गोशब्दावयविनः सर्वासु दिक्षु गमनं युज्यत इत्यनेकादृष्टपरिकल्पना स्यात्। तदुक्तम्-

[सदृशत्वेन गादि का ग्रहण असंगत नहीं है]

यह जो कहा था कि-'वर्णो से परस्पर सादृश्य का ग्रहण न होने से सादृश्य से अर्थबोध नही हो सकता' इसमे दो बात है (१) यदि आप व्यक्ति के सादृश्य को समानपरिणामरूप सामान्यात्मक मान कर यह बात करते हो तो ऐसा गत्वादिसामान्य गकारादि शब्द व्यक्ति का विशेषण होकर जिस प्रकार वाचक बन सकता है उसका प्रतिपादन अभी ही हो चुका है। (२) यदि उक्त प्रकार से अन्यथा-अन्यविध सादृश्य के ग्रहण न होने का कहते है तो हम उस प्रकार के सादृश्य का स्वीकार ही नही करते हैं इसलिये वह अस्वीकार ही आपकी बात का परिहार कर देता है। यह भी जो आपने कहा था-'वर्ण निरंश पदार्थ होने से अनेक अवयवो के साम्यरूप सादृश्य का वर्ण मे होना संभव नही है'-वह भी अत्यन्त असगत है क्योंकि औदारिकादि आठ पुद्गल वर्गणा मे से एक भाषावर्गणा के रूप में परिणत पुद्गलो का स्कन्धादि परिणाम ही वर्ण है और स्कन्ध परिणाम अनेक पुद्गलनिर्मित होने से सावयव ही होता है।

[शब्द पौद्गलिकत्व के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ-मीमांसक]

मीमांसक – शब्द को यदि पौद्गलिक माना जाय तो बडी बडी अदृष्ट कल्पनाओ का कष्ट होगा। जैसे-अन्यत्र उत्पन्न शब्द का श्रोत्रदेशपर्यन्त आगमन तथा मूर्त्तत्व यानी सक्रियता एवं स्पर्श-रूपादि ये सब उपलब्ध न होने पर भी उनकी कल्पना करनी पडेगी। मूर्त्तत्व और स्पर्शादि मान लेंगे तो विद्यमान होने पर भी उन को अदृश्य यानी अनुद्भूत भी मानना होगा। तथा स्पर्श को त्वगिन्द्रिय से अग्राह्य कहना होगा। शब्द के सूक्ष्मावयवो की कल्पना करनी होगी। सूक्ष्मावयवो को मानने पर भी जब शब्दरचना की इच्छा होगी उस वक्त उनकी उपलब्धि सर्वथा न होने से उसकी रचना कैसे की जायेगी? कदाचिद् उनकी उपलब्धि मान ले तो किस प्रकार के रचनाभेद से गकारादिवर्णभेद निष्पन्न होगा यह दिखाना होगा। तथा उन अवयवो मे द्रवत्व न होने से वर्णनि-

शब्दस्याऽऽगमनं तावददृष्टं परिकल्प्यते ।। [१०७ उत्तरार्द्धम्]
मूर्त्तिस्पर्शादिमत्त्वं च तेषामभिभवः सतां । त्वगग्राह्यत्वमन्ये च सूक्ष्मा भागाः प्रकल्पिताः ।।
तेषामदृश्यमानानां कथं च रचनाक्रमः ? कीदृशाद् रचनाभेदाद्वर्णभेदश्च जायताम् ।।१०९।।
द्रवत्वेन विना चैषां संश्लेषः कल्प्यतां कथम् ? आगच्छतां च विश्लेषो न भवेद्वायुना कथं ।।
लघवोऽवयवा ह्येते निबद्धा न च केनचित् । वृक्षाद्यभिहितानां तु विश्लेषो लोष्टवद् भवेत् ।।१११।।
एकश्रोत्रप्रवेशे च नान्येषां स्यात्पुनः श्रुतिः । न चावान्तरवर्णानां नानात्वस्यास्ति कारणम् ।।
न चैकस्यैव सर्वासु गमनं दिक्षु युज्यते । [११३ पूर्वार्द्धम् श्लो० वा० सू० ६] इति ।

एतद् भवत्पक्षेऽपि सर्वं समानम् । तथाहि-'वायोरागमनं तावददृष्टं परिकल्प्यते' इत्याद्यपि वक्तुं शक्यत एव, केवलं वर्णस्थाने वायुशब्दः पठनीय इति कथं न भवत्पक्षेऽपि भूयस्यदृष्टपरिकल्पना ? अपि च भवत्पक्षेऽयमपरः परिकल्पनागौरवदोषः सम्पद्यते-वर्णस्य पूर्वाऽपरकोटयोः सर्वत्र देशेऽनुपलभ्यमानस्य सत्त्वं परिकल्पनीयम्, तस्य चावारकाः स्तिमिता वायवः प्रमाणतोऽनुपलभ्यमानाः

त्पादक एक दूसरे अवयवो का संश्लेष भी कैसे होगा ? यद्यपि किसी प्रकार कर्त्ता ने संश्लेष कर के वर्णो को वना भी लिया, किंतु दूर देश से आते समय वायु के झपाटे से वे विखर क्यो नही जायेंगे ? जलादि आश्लेपक द्रव्य के विरह मे केवल एक दूसरे सयोग मात्र से निवद्ध सूक्ष्म अवयवो जव दूर से आयेंगे तो वीच मे वृक्षादि के साथ टकरा कर विखर जायेंगे भी, जैसे मिट्टी का गोला । मूर्त्त होने के कारण जव एक शब्द एक श्रोत्र मे प्रवेश करेगा तो वहाँ ही चिपक जायेगा तो अन्य श्रोताओ उस देश में होने पर भी उन को उसका श्रवण नही होगा । कारण, विना कोई अन्य प्रयत्न किये ऐसे ही वह फिर से वहार निकल आने का सभव नही । तथा जव एक ही अखड गोशब्द की अपेक्षा 'ग-ओ' आदि अवान्तर वर्णविभाग की कल्पना मे कोई प्रयोजन नही है, तथापि आप करेंगे तो यह गकारादि वर्णवैविध्य की अदृष्ट कल्पना होगी । तथा एक ही अवयवीरूप गोशब्द का सर्व दिशाओ मे प्रसरण वुद्धिगम्य न होने से उसकी भी अदृष्टकल्पना करनी होगी ।-यह सव हमारे श्लोकवार्तिक कार भट्ट कुमारील ने भी कहा है- [श्लो० वा० सूत्र ६]

"शब्द के अदृष्ट ही आगमन की कल्पना की जाती है । शब्द की मूर्त्तता, स्पर्शादिमत्ता, तथा विद्यमान (स्पर्शादि का) अभिभव, त्वगिन्द्रिय से अग्राह्यता और उनके सूक्ष्म विभागो की कल्पना की जाती है । अदृश्य उनकी रचना का क्रम कैसा होगा ? किस प्रकार के रचनाभेद से वर्णभेद होगा ? द्रवत्व के विना उनके संश्लेप की कल्पना कैसे होगी ? (दूर से) आते हुए उनका वायु से विश्लेष क्यो नही होगा ? ये सूक्ष्म अवयव किसी से भी अवद्ध [अनाश्लिष्ट] रहते हुये आते समय वृक्षादि से अभिघात होने पर मिट्टी पिंड की भाँति क्यो न विखर जायेगा ? एक श्रोत्र मे प्रविष्ट हो जाने पर दूसरे को वे नही सुनाई देंगे । अवान्तर वर्णो के वैविध्य का कोई कारण भी नही है । तथा एक ही शब्द का सर्व दिशाओ मे गमन भी अयुक्त है ।" इत्यादि ।

[मीमांसकमत में भी उन समस्त दोषों का प्रवेश तदवस्थ-उत्तरपक्ष]

उत्तरपक्षी -उपरोक्त समग्र दोषपरम्परा आपके मत मे समान ही है. जैसे कि-'आपको वायु के अदृष्ट ही आगमन की कल्पना करनी होगी.......' इत्यादि सव कहा जा सकता है, केवल 'शब्द' के स्थान मे 'वायु' शब्द को लगा देना होगा । तो आपके मत मे वेसुमार अदृष्ट कल्पना कैसे

तदपनोदकाश्चान्ये तथाभूता एव व्यंजकाः परिकल्पनीयाः। तेषां चोभयरूपाणामपि शक्तिनानात्वं परिकल्पनीयम्। अस्मत्पक्षे तत् सर्वमपि नास्तीति कथमदृष्टपरिकल्पना गुर्वी ?

पौद्गलिकत्वं च शब्दस्य अम्बरगुणप्रतिषेधप्रस्तावे प्रमाणोपपन्नं करिष्यत इत्यास्तां तावत्। यत् पुनर्भ्रान्तत्वं शब्दादर्थप्रत्ययस्याभिहितं तद् धूमाल्लिगाल्लिगिप्रत्ययेन प्रत्युक्तम्। 'गत्वादिविशिष्टस्य गादेर्वाचकत्वमयुक्तम्, गत्वादेः सामान्यस्याऽसम्भवात्' तदनन्तरं निराकृतम्। यत् पुनरुक्तम्-'गादिव्यक्तिमात्रं गत्वादिविशिष्टं नोपपद्यते, तस्य सामान्यविशेषयोरन्यतरत्रान्तर्भावे एकत्र वाचकस्य नित्यत्वप्रसंगाद्, अन्यत्राऽनन्वयात् वाचकत्वाऽयोगात्'-एतदसारम्, व्यक्तिमात्रस्य सामान्यविशिष्टस्य पूर्वं वाचकत्वव्यवस्थापनात्। ता एव व्यक्तयोऽविवक्षिताऽसाधारणविशेषाः सामान्यविशिष्टव्यक्तिमात्रशब्दाभिधेयाः।

किंच, किं वर्णानां नित्यत्वमभ्युपगम्यते, उत वर्णक्रमस्य, आहोस्विद् वर्णाभिव्यक्तेः, किं वा तत्क्रमस्य ? तत्र न तावत् अभिव्यक्तेर्नित्यत्वं, तस्या निषिद्धत्वात्, अनिषेधेऽपि पुरुषप्रयत्नप्रेरितवायु-

---

नहीं है ? तदुपरात, आपके पक्ष मे तो और भी कल्पनाओ का गौरव दोष लब्धप्रसर है: जैसे-वर्ण की पूर्वकोटि और अपर कोटि के सत्त्व की, जो किसी भी देश मे प्रत्यक्षत. उपलभ्यमान नही है, कल्पना करनी होगी। उसके आवारक शान्त वायु की, जो प्रमाण से उपलभ्यमान नही है, कल्पना करनी पड़ेगी। तथा उस वायु के अपसारक वायु भी प्रमाण से उपलब्ध नही है उनकी व्यजकरूप मे कल्पना करनी होगी। तथा, दोनो वायु समान होने पर भी उनके अलग-अलग सामर्थ्य की कल्पना करनी होगी। हमारे पक्ष मे ऐसा कुछ भी नही है तो अदृष्ट कल्पना का गौरव कैसे होगा ?

[सादृश्य से अर्थबोधपक्ष में दी गयी आपत्तिओं का प्रतीकार]

'शब्द पौद्गलिक है' इस तथ्य की प्रमाण से उपपत्ति शब्द के आकाशगुणत्व के निराकरण के अवसर मे की जायेगी-उस को अभी रहने दो। किंतु आपने यह जो कहा था 'सादृश्य से अर्थ प्रतिपत्ति मानने पर शब्द से उत्पन्न अर्थबोध भ्रमात्मक होगा' इसका तो, धूमात्मक लिंग से लिंगी यानी अग्नि का बोध होता है किंतु वह भ्रान्त नही होता है इसलिये-प्रत्युक्त यानी प्रत्युत्तर हो जाता है। तात्पर्य, सदृश शब्द से अर्थबोध भी भ्रान्त नही कहा जा सकता। तथा, 'गत्वादिविशिष्ट गकारादि को वाचक मानना अयुक्त है क्योकि गत्वादि सामान्य का असभव है' यह जो कहा था वह भी गत्वादि सामान्य का सभव प्रदर्शित कर देने से निराकृत हो जाता है। तथा यह जो कहा था-'गत्वादि विशिष्ट गकारादि व्यक्ति मात्र वाचक नही हो सकता क्योकि यदि उसको सामान्यान्तर्भूत मानेंगे तो नित्य की ही वाचकता फलित होगी और विशेषान्तर्भूत मानेंगे तो उसका अर्थ के साथ सकेतादि अन्वय घटित नही होने से वाचकत्व न होगा'-यह भी सारहीन उक्ति है। क्योकि पहले ही हमने सामान्यविशिष्ट गकारादि व्यक्ति की वाचकता का उपपादन कर दिया है। आशय यह है कि हम सामान्य-विशेष को अत्यन्त भिन्न नही मानते किंतु व्यक्तिअन्तर्गत असाधारण विशेष की जब विवक्षा छोड दे तब उन्ही व्यक्तिओ को 'सामान्यविशिष्ट व्यक्तिमात्र' कहा जाता है।

[अपौरुषेयवादी वर्णादि चार में से किसको नित्य मानेगा ?]

यह भी विचारणीय है-A क्या आप वर्णो को नित्य मानते है ? B या वर्णक्रम को ? अथवा C वर्णाभिव्यक्ति को ? या D अभिव्यक्ति के क्रम को ?

जन्यत्वेनाऽपौरुषेयत्वाऽसम्भवात् । नाप्यभिव्यक्तिक्रमस्य, अभिव्यक्त्यभावे तत्क्रमस्याप्यभावात्, तत्पौरुषेयत्वे तस्यापि पौरुषेयत्वात् ।

अथैवं पौरुषेयत्वस्यानादिसिद्धस्य केनचिदादावकृतस्य सर्वपुरुषैः परिग्रहात् पुरुषाणां स्वातन्त्र्याभावादपौरुषेयत्वमुच्यते । तदुक्तम्-[श्लो० वा० सू०६ श्लो० २८८-२९०]

"वक्ता न हि क्रमं कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते । यथैवास्य परैरुक्तः तथैवैनं विवक्षति ।।
परोऽप्येवं ततश्चास्य संबन्धवदनादिता । तेनेयं व्यवहारात् स्यादकौटस्थ्येऽपि नित्यता ।।
यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता ।" इति ।

एतदसंबद्धम् – अपौरुषेयत्वप्रतिपादकप्रमाणस्याऽसिद्धत्वात् । अथ वर्णक्रमस्याऽपौरुषेयत्वमभ्युपगम्यते । तदप्यचारु, वर्णानां नित्यत्वेन कालकृतस्य तन्तुपटवत् व्यापकत्वेन देशकृतस्य मुक्तावली-मुक्ताफलमालावद् अस्याऽसम्भवात् ।

C अभिव्यक्ति तो नित्य नही है क्योकि वर्णसस्कारादि किसी भी रूप मे उसकी उपपत्ति न होने से उसका निषेध किया जा चुका है । यदि निषेध का स्वीकार न करे तो भी पुरुषप्रयत्न से आदोलित वायु द्वारा उस अभिव्यक्ति का जन्म होने से, अभिव्यक्ति को मानने पर भी उस का अपौरुषेयत्व नही घट सकेगा ।

D अभिव्यक्ति के क्रम को भी नित्य नही कह सकते । कारण, जब D अभिव्यक्ति ही असत् है तो उसका क्रम भी असत् है और यदि अभिव्यक्ति को सत् माने तो भी वह उपरोक्त रीति से पौरुषेय होने से उसका क्रम भी पौरुषेय ही मानना पडेगा ।

[पुरुषस्वातंत्र्य निषेधमात्र में अभिप्राय होने की शंका]

अपौरुषेयवादी –आपने जो अभिव्यक्ति और उसके क्रम को पौरुषेय दिखलाया उसमे हमारा विरोध नही है किंतु इस प्रकार की अभिव्यक्ति प्रवाह से अनादिकालीन सिद्ध है । ऐसा कभी नही हुआ कि पहले किसी ने ऐसी अभिव्यक्ति न की हो और बाद मे किसी ने उसका प्रथम प्रथम प्रारभ किया हो । तात्पर्य, सभी सज्जनो ने पूर्वकाल मे जैसी अभिव्यक्ति चली आती थी ऐसी ही अभिव्यक्ति को अपनाया । स्वतत्ररूप से किसी ने भी वेद रचना नही की । इस प्रकार वेद रचना मे किसी भी पुरुष का स्वातन्त्र्य न होने से हम उसे अपौरुषेय कहते है । जैसे कि श्लोकवार्त्तिक मे कहा है–

"कोई भी वक्ता ने स्वतन्त्ररूप से क्रम नही बनाया । जैसा क्रम उस को पूर्वजो ने बताया वैसा ही उसने भी बोलने को चाहा । दूसरे ने भी ऐसा किया । इसलिये सबधवत् इस की भी अनादिता हुयी । तो अभिव्यक्ति नित्य न होने पर भी उस व्यवहार से नित्यता हुयी । हम तो पुरुष की स्वतन्त्रता के प्रतिषेध मे ही प्रयत्नशील है ।"

उत्तरपक्षी.–अपौरुषेयत्व का कथन सबधशून्य है क्योकि अब तक इस प्रकार के अपौरुषेयत्व का साधक कोई प्रमाण सिद्ध नही हुआ ।

B 'वर्णक्रम को अपौरुषेय अर्थात् नित्य मानते है' ऐसा कहे तो वह भी सुन्दर नही है क्योकि वर्ण नित्य होने से 'तन्तु और उसके बाद वस्त्र' इस प्रकार के कालक्रम का, एव व्यापक होने से, मोती की माला मे 'एक बडे मोती के बाद दूसरा छोटा मोती' इस प्रकार के देशक्रम का कोई सभव नही है ।

अथ वर्णानामपौरुषेयत्वमङ्गीक्रियते, तदप्यसंगतम्, "य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः" इत्यभिधानात् वेदवल्लोकायतशास्त्रमपि प्रमाणं स्यादिति तदर्थानुष्ठानं भवतः प्रसज्यते। लौकिके च वाक्ये यो विसंवादः क्वचिदुपलभ्यते स भवन्नीत्या न प्राप्नोति। अथ लौकिक-वैदिकशब्दयोर्भेदोऽभ्युपगम्यते, तथा (? तदा) रागादिसमन्वितत्वाभ्युपगमात् सर्वपुरुषाणां न तेषां यथावस्थितवेदार्थपरिज्ञानम्, स्वयं वेदोऽपि न भवतां वेदार्थं प्रतिपादयति, नाऽपि वेदार्थप्रतिपादकमपौरुषेयं वेदव्याख्यानमवगतार्थं सिद्धं येन ततो वेदार्थप्रतिपत्तिः, लौकिकशब्दानुसारेण वेदशब्दार्थप्रकल्पनमपि तद्भेदाभ्युपगमेऽनुपपन्नमिति न वेदार्थप्रसिद्धिः स्यादिति न वैदिक-लौकिकशब्दयोर्भेदाभ्युपगमः श्रेयानिति लौकिकवद् वैदिकस्यापि पौरुषेयत्वमभ्युपगन्तव्यम्।

न च लौकिक-वैदिकशब्दयोः शब्दस्वरूपाऽविशेषे, संकेतग्रहण[स]व्यपेक्षत्वेनार्थप्रतिपादकत्वे, अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे सम्यते[? समाने]ऽपरो विशेषो विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेयाः लौकिका पौरुषेयाः स्युः। तथा, नियोगे[? यथानियोगं]चार्थप्रत्यायनमुभयोरपि। न च नित्यत्वे पुरुषेच्छावशादर्थप्रतिपादकत्वं युक्तं, उपलभ्यन्ते च यत्र पुरुषैः संकेतितास्तमर्थमविगानेन प्रतिपादयन्तः, अन्यथा नियोगाद्यर्थभेदपरिकल्पनमसारं स्यात्।

[वर्ण नित्य–अपौरुषेय होने पर लोकायतशास्त्रप्रामाण्य आपत्ति]

A यदि वर्णो को अपौरुषेय (नित्य) स्वीकार करते है तो वह भी असगत है क्योकि यह कहा जाता है कि "जो लौकिक शब्द है वे ही वैदिक शब्द है" तो यदि वेद की तरह लोकायत=नास्तिक के शास्त्र को भी आप नित्य अपौरुपेय मानेगे तो उसमे कहे गये अर्थ का अनुष्ठान भी आप का कर्त्तव्य होगा। तथा लौकिक वाक्य भी अपौरुषेय बन जाने से उनमे जो विसवाद कही पर दिखता है वह भी आप की नीति अनुसार प्राप्त नही होगा। [यानी किसी भी प्रकार उसकी उपपत्ति ही करनी होगी।]

यदि ऐसा भेद करे कि वैदिक वाक्य अपौरुषेय हैं और लौकिक वाक्य पौरुषेय हैं तो किसी भी पुरुष को वेद के सही अर्थ का पता नही लगेगा क्योकि सभी पुरुष राग-द्वेष से अभिव्याप्त होते है। आशय यह है कि राग-द्वेषयुक्त किसी भी पुरुष का किया हुया वेदार्थव्याख्यान विश्वसनीय नहीं होगा। तथा आपके मत मे वेद स्वय तो अपने अर्थ का प्रतिपादन करता नही है। तदुपरात, वेद के सही अर्थ का प्रतिपादक अपौरुषेय कोई वेद का व्याख्यान सिद्ध नही है जो स्पष्टार्थ हो और जिससे वेद का सही अर्थ जान सके। तथा वैदिक–लौकिक वाक्यो का भेद मानने पर लौकिक शब्द के अर्थों का अनुसरण कर के वेद के शब्दो के अर्थ की कल्पना योग्य नही है। इस प्रकार सभी रीति से वेद का सही अर्थ अप्रसिद्ध ही रहेगा अत वैदिक और लौकिक वाक्यो मे भेद का स्वीकार श्रेयस्कर नही है इसलिये लौकिक शब्दो की तरह वैदिक शब्दो को पौरुषेय मानना ही बुद्धिसंगत है।

[वैदिक और लौकिक शब्दों में कोई अंतर नहीं है]

लौकिक एव वैदिक शब्दो मे इतनी बात तो समान ही है कि दोनो शब्दो का स्वरूप तुल्य है, अर्थ का प्रतिपादन सकेतज्ञान पर अवलवित है, यदि उनका प्रयोग न किया जाय तो किसी पुरुष को नही सुनाई देना। जब इतनी समानता है तो ऐसी अब कौनसी विशेपता वेद में है जिसके

अतः पौरुषेयत्वनुमानादवसीयते । तथा हि- ये नररचितरचनाऽविशिष्टाः ते पौरुषेयाः यथाऽभिनवकूप-प्रसादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकूप-प्रासादादयः, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टं च वैदिकं वचनमिति प्रयोगः। न चात्राऽऽश्रयासिद्धो हेतुः, वैदिकीनां रचनानां प्रत्यक्षतः उपलब्धेः । नाप्य-प्रसिद्धविशेषणः पक्षः, अभिनवकूपप्रासादादिषु पुरुषपूर्वकत्वेऽस्य साध्यधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य सिद्ध-त्वात् । न च हेतोः स्वरूपाऽसिद्धत्वम्, वैदिकेषु वचनरचनासु विशेषग्राहकप्रामाणाभावेन तस्याऽभावात् ।

न चाऽप्रामाण्याभावलक्षणो विशेषस्तत्र इति शक्यमभिधातुम्, तथाभूतस्य विशेषस्य विद्यमान-स्यापि पौरुषेयत्वाऽनिराकरणत्वात् । यादृशो हि विशेष उपलभ्यमानः पौरुषेयत्वं निराकरोति तादृश-स्य विशेषस्याऽभावादविशिष्टत्वमुच्यते, न पुनः सर्वथा विशेषाभावात्, एकान्तेनाऽविशिष्टस्य कस्यचि-दभावात् । अप्रामाण्याभावलक्षणश्च विशेषो दोषवन्तमप्रामाण्यकारणं पुरुषं निराकरोति, न च गुणवन्तमप्रामाण्यनिवर्त्तकम् । न च गुणवतः पुरुषस्याभावात् अन्यस्य च तेन विशेषेण निर्वर्त्तितत्वात् सिद्धमेवाऽपौरुषेयत्वं वेदे इत्यभ्युपगमनीयम्, अपौरुषेयत्वस्य निराकृतत्वाद्, गुणवत्पुरुषाभावेऽप्रामाण्या-भावलक्षणस्य विशेषस्याभावप्रसंगात् नाऽसिद्धो नररचितवचनरचनाऽविशिष्टत्वलक्षणो हेतुः ।

कारण वैदिक शब्दो को अपौरुषेय समझा जाय और लौकिक शब्दो को पौरुषेय समझा जाय ? संकेत के अनुसार अर्थ का प्रतिपादन तो दोनो प्रकार मे तुल्य है । यदि वेद नित्य हो तो उसके संकेत को नित्य मानने की अपेक्षा पुरुषेच्छा रूप अनित्य संकेत द्वारा अर्थ का प्रतिपादन मानना युक्त नही है । किंतु जिस शब्द मे जिस अर्थ का पुरुषो ने संकेत किया है उस अर्थ को विसंवाद विना प्रतिपादन करने वाले ही शब्द उपलब्ध होते है इससे शब्द को भी अनित्य ही मानना चाहिये । यदि पुरुष कृत संकेतो को न माना जाय तो वैदिक शब्दो मे भिन्न-भिन्न संकेत अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ की प्रतिपादकता की कल्पना निरर्थक हो जायेगी ।

[अनुमान से वेद में पौरुषेयत्वसिद्धि]

इस अनुमान से भी वेद की पौरुषेयता ज्ञात होती है । जैसे-"जो पदार्थ मनुष्यरचित कृतिओ से भिन्न नही होते वे पुरुषरचित होते है, जैसे कि पुराने कुवा और महल आदि अभिनव निष्पन्न कुवा-महल आदि से भिन्न नही है तो वे पुरुषरचित ही होते है । वैदिक वाक्य भी मनुष्यरचित कृति से भिन्न है अत पौरुषेय सिद्ध होते है ।"

इस प्रयोग मे हेतु के आश्रय की असिद्धि नही है क्योंकि वैदिक वाक्यरचना अभी भी प्रत्यक्षतः उपलब्ध है । पक्ष का विशेषण यानी साध्यरूप से अभिमत धर्म भी अप्रसिद्ध नही है । कारण, नूतननिर्मित कुवा-महलादि पुरुष प्रयत्न पूर्वक होने से साध्यधर्म पौरुषेयत्व रूप विशेषण जगत्-विदित है । पक्ष मे हेतु की स्वरूपतः असिद्धि भी नही है क्योंकि-'पक्षभूत वैदिक वाक्य रचना मे मनुष्यरचितकृति साम्य नही है और वह केवल जीर्णकूपादि मे या बौद्धादि आगम मे ही है' इस प्रकार के भेद का ग्राहक कोई प्रमाण नही है इसलिये स्वरूपासिद्धत्वदूषण का अभाव है ।

[अप्रामाण्याभावरूप विशेषता अकिंचित्कर है]

अपौरुषेयवादी.-वेदरचना मे यह विशेषता है कि वेद मे अप्रामाण्य का अंश भी नही है ।

उत्तरपक्षी:-ऐसा कहना सरल नही है क्योंकि यह कोई ऐसी विशेषता नही है कि जिसकी

पौरुषेयेषु प्रासादादिषु नररचितरचनाऽविशिष्टत्वदर्शनादपौरुषेयेष्वाकाशादिष्वदर्शनाच्च नानैकान्तिकः । अथाऽपौरुषेयेष्वदृष्टमपि नररचितरचनाऽविशिष्टत्वं तत्र विरोधाभावादाशंक्यमानं संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकम् । न, अपौरुषेयेष्वपि नररचितरचनाऽविशिष्टत्वस्य भावे पौरुषेयत्वेन निश्चितेषु प्रासादादिषु सकृदपि तस्य सद्भावो न स्यात्, अन्यहेतुकस्य ततः कदाचिदप्यभावात्, भावे वा तद्धेतुक एवाऽसाविति नाऽपौरुषे तस्य सद्भावः शंकनीयः ।

अत एव न विरुद्धः । पक्षधर्मत्वे सति विपक्ष एव वृत्तिर्यस्य स विरुद्ध', न चास्य विपक्षे वृत्तिरिति प्रतिपादितम् । नापि १. कालात्ययापदिष्ट–२. प्रकरणसमा– ३. ऽप्रयोजकत्वानि हेतोर्दोषाः

विद्यमानता से पौरुपेयत्व का निराकरण हो जाय । हम अविशिष्टत्व–यानी विशेपाभाव इस लिये कहते है कि जिस प्रकार के विशेप की उपलब्धि होने पर पौरुपेयत्व का निराकरण हो जाय उस प्रकार के विशेप का अभाव है । सर्वथा अविशिष्टता तो किसी मे भी नही होती है । आपने जो अप्रामाण्य के अभाव को विशेपरूप मे उपन्यस्त किया वह तो अप्रामाण्य के हेतुभूत सदोप पुरुप के निराकरण मे सशक्त है किन्तु अप्रामाण्य के निवर्त्तक गुणवान् पुरुप का निराकरण नही हो सकता ।

अपौरुषेयवादीः–पुरुप कोई भी गुणवान् हो नही सकता इसलिये गुणवान् पुरुप की सत्ता-निवृत्ति होती है, दोपवान् पुरुप पूर्वोक्त अप्रामाण्याभाव विशेप से निवृत्त होता है तो वेद मे अपौरुपेयत्व सिद्ध हो गया ।

उत्तरपक्षीः-ऐसा आप मत मानीये, क्योंकि अपौरुपेयत्व का तो निराकरण हो गया है । यदि वेदकर्त्ता गुणवान् पुरुप नही मानेंगे तो वेद मे अप्रामाण्याभावरूप विशेप भी नहीं रह सकेगा । उससे अन्य ऐसा कोई विशेप नही है जिससे गुणी पुरुप की भी निवृत्ति हो । अतः पुरुषसत्ताऽनिवर्त्तक कोई विशेप न होने से 'मनुष्य रचितकृति से अविशिष्टता यानी तुल्यता' यह हेतु असिद्ध नहीं है ।

[अनैकान्तिक दोप उत्तरपक्षी के हेतु में नहीं है]

'नररचितरचना अविशिष्टता' इस हेतु मे अनैकान्तिकदोप भी नही है क्योंकि पुरुषनिर्मित महल आदि सपक्ष मे हेतु दृश्यमान है एव पुरुप-अरचित आकाशादि विपक्ष मे वह अदृश्यमान है ।

अपौरुषेयवादीः–अपौरुपेय आकाशादि मे नररचितरचनाऽविशिष्टत्व हेतु का दर्शन भले न हो किन्तु उसकी वहाँ विद्यमानता की सभावना मे कोई बाधक=विरोधी नही है इसलिये 'शायद यह हेतु वहाँ भी होगा' इस प्रकार की शका से विपक्ष में हेतु की व्यावृत्ति–अभाव शंकित हो जाने से संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिरूप अनैकान्तिक दोप लग जायेगा ।

उत्तरपक्षः–वह नही लग सकता । कारण, अपौरुषेय आकाशादि मे यदि नररचितरचनाऽविशिष्टत्व हेतु विद्यमान होगा तो पौरुषेयत्व मे निश्चित प्रासादादि मे कभी भी नररचितरचनाऽविशिष्टत्व का सद्भाव नहीं होगा, क्योंकि पौरुषेय का अर्थ है पुरुषहेतुक, यदि नररचितरचनाऽविशिष्टत्व पुरुषहेतुक नही होता यानी पुरुषान्यहेतुक होता तो उसका सद्भाव कभी भी पुरुषहेतुक [illegible] मे नहीं हो सकता । यदि नररचितरचनाऽविशिष्टत्व अपौरुषेय मे रह जाये तो अपौरुषेय प्रासादादि मे भी रहेगा तो प्रासादि पुरुषान्यहेतुक हो जाने से उनमे पौरुषेयत्व का सद्भाव नहीं होगा । यदि आप उनका सद्भाव मानना है तब तो सिद्ध हुआ कि पुरुषकृत प्रासादादि मे ही नररचितरचनाऽविशिष्टत्व रह सकता है अपौरुषेय मे कदापि नही, इसलिये विपक्ष अपौरुषेय मे हेतु की सत्ता [illegible] ।

सम्भवन्ति । तथाहि–प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वं हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वमुच्यते । न च यत्र स्वसाध्याऽविनाभूतो हेतुर्धर्मिणि प्रवर्त्तमानः स्वसाध्य व्यवस्थापयति तत्रैव प्रमाणान्तर प्रवृत्तिमासादयत् तमेव धर्मं व्यावर्त्तयति, एकस्यैकदैकत्र विधि–प्रतिषेधयोर्विरोधात् । तत्र बाधाऽविनाभावयोः सम्भव इति न कालात्ययापदिष्टत्वमविनाभूतस्य हेतोर्दोषः सम्भवति ।

२. प्रकरणसमत्वमपि प्रतिहेतोर्विपरीतधर्मसाधकस्य प्रकरणचिंताप्रवर्त्तकस्य तत्रैव धर्मिणि सद्भाव उच्यते । न च स्वसाध्याविनाभूतहेतुसाधितधर्मणो धर्मिणो विपरीतत्व सम्भवति, इति न विपरीतधर्माधायिनो हेत्वन्तरस्य तत्र प्रवृत्तिरिति न प्रकरणसमत्वमविनाभूतस्य हेतोर्दोषः । ३. अप्रयोजकत्वं तु पक्षधर्मान्वय–व्यतिरेकाणामन्यतमरूपाभावः, न च प्रकृते हेतौ तदभाव इति दर्शितम् ।

अथानुमानलक्षणयुक्तस्य प्रत्यनुमानस्याऽपौरुषेयत्वसाधकस्य सद्भावात प्रकरणसमता प्रकृतस्य हेतोः, अनुमानबाधितत्वं वा पक्षस्य दोषः । प्रत्यनुमानं च दर्शितम्–[श्लो० वा० सू० ७ श्लो० ३६६] वेदाध्ययनमखिल गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाऽध्ययन यथा ॥इति॥

[उत्तरपक्षी का हेतु में विरुद्धादि दोष का अभाव]

हेतु विपक्षवृत्ति होने की शका दूर हो जाने के विरुद्ध भी नही है । जो हेतु पक्ष मे विद्यमान होने के साथ सपक्ष मे विद्यमान न हो कर, केवल विपक्ष मे निवास करे उसी का नाम है विरुद्ध, नररचितरचनाऽविशिष्टत्व हेतु विपक्षनिवासी नही है-यह तो कह दिया है ।

१ कालात्ययापदिष्ट [=बाध]-२. प्रकरणसम [=सत्प्रतिपक्ष] और ३. अप्रयोजकत्व ये तीन दोष भी प्रस्तुत हेतु मे सभव नही है । जैसे कि-(१) प्रत्यक्ष अथवा आगम से कर्म यानी साध्य का निर्देश बाधित होने पर किसी हेतु का प्रयोग कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है । किन्तु ऐसा सभव नही है कि अपने साध्य का अविनाभावि हेतु पक्ष मे प्रवृत्त हो कर जब अपने साध्य की सिद्धि का उद्यम करे उसी वक्त (पूर्व मे नही-) दूसरा कोई प्रमाण आकर उस धर्म (=साध्य) का निवर्त्तन करे, क्योकि एक ही काल मे एक पक्ष मे एक ही धर्म का विधि-निषेध परस्पर विरुद्ध है । इस लिये बाध और अन्य प्रमाण का अविनाभाव ये दोनो का एक काल मे सभव न होने से फलित होता है कि अविनाभावी हेतु मे कालात्ययापदिष्टता दोष का सभव नही है ।

(२) प्रस्तुत साध्य की सिद्धि के प्रकरण मे चिन्ता उपस्थित करे ऐसा विपरीत साध्य का साधक प्रतिपक्षी हेतु का उसी पक्ष मे अस्तित्व होना-इसको प्रकरणसम दोष कहा जाता है । किन्तु जिस धर्मी मे अपने साध्य के अविनाभावि हेतु ने अपने साध्य को सिद्ध कर दिखलाया है ऐसे धर्मी का वैपरीत्य यानी प्रस्तुतसाध्य विरोधी साध्यवत्ता का वहाँ सभव ही नही है । प्रस्तुत पक्ष मे भी हेतु अपने साध्य का नितान्त अविनाभावि होने से विपरीत साध्य का साधक प्रतिपक्षी हेतु की प्रवृत्ति ही नही है इसलिये प्रस्तुत अविनाभूत हेतु मे प्रकरणसमत्व दोष भी नही है ।

(३) जिस हेतु मे पक्षधर्मता तथा साध्य के साथ अन्वय अथवा व्यतिरेक इन मे से किसी एक का अभाव हो उसको अप्रयोजक दोष कहा जाता है । [अपने साध्य का दृढ प्रयोजक यानी आपादक न हो वह अप्रयोजक है] प्रस्तुत हेतु मे किसी भी एक का अभाव नही है यह पहले दिखाया गया है ।

[हेतु में प्रकरणसमत्व का आपादन–पूर्वपक्ष]

यदि यह शका की जाय—

न चैतदाशंकनीयम्-'एवंविधे प्रत्यनुमानेऽभ्युपगम्यमाने कादम्बर्यादीनामप्यपौरुषेयत्वसिद्धिः'-यतस्तेषु बाणादीनां कर्त्तृणां निश्चयः, तथाहि-कालिदासकृतत्वेन कुमारसंभवादीनि काव्यानि अविगानेन स्मर्यन्ते ।

अथ-'वेदेऽपि कर्त्तृस्मरणमस्ति, तथा च केचिद् हिरण्यगर्भं वेदानां कर्त्तारं स्मरन्ति, अपरे अष्टकादीन् ऋषीन् ।-'सत्यम्, अस्ति न त्वविगीतं यथा भारतादिषु, तथा छिन्नमूलं च । स्मरणस्यानुभवो मूलं, न च वेदे कर्तृस्मरणस्य केनचित् प्रमाणेन मूलानुभवो व्यवस्थापयितुं शक्यः यदपि कर्तृसद्भावप्रतिपादकं वचनं कैश्चित् कृतम्-"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" [ऋग्वेद अष्ट० ८ मं० १०, सू० १२१] इत्यादि, तदपि मन्त्रार्थवादानां श्रूयमाणेऽर्थे प्रामाण्याऽयोगाद् न तत्सद्भावावेदकम् । तदुक्तम्-[श्लो० वा० ७-३६७]

"भारतेऽपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते । वेदे तु तत्स्मृतिर्या तु सार्थवादनिबन्धना ।।

एतदप्ययुक्तम्-यतः किमत्र प्रतिसाधनत्वेन विवक्षितम् ? किमध्ययनशब्दवाच्यत्वम् ? उत कर्तुरस्मरणम् ? पूर्वस्मिन् पक्षे निर्विशेषणो वा हेतुरपौरुषेयत्वप्रतिपादकः ? कर्त्रस्मरणविशिष्टो वा ?

प्रकृत हेतु मे प्रकरणसमता दोष तदवस्थ है । कारण, अनुमान के लक्षण से परिपूर्ण प्रतिपक्षी अनुमान अपौरुषेयता का साधन करने मे सज्ज है । अथवा प्रतिपक्षी अनुमान से पक्ष मे साध्य बाधित होने का दोष होगा । प्रतिपक्षी अनुमान, श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ मे इस प्रकार दिखाया है-"सपूर्ण वेदाध्ययन पूर्व पूर्व गुरुपरम्परागताध्ययन का अनुगामी है क्योकि वह वेद का अध्ययन है, जैसे कि आधुनिक वेदाध्ययन [जो गुरु परम्परा से ही हो रहा है] ।" [पूर्वपक्ष चालु]

शंकाः-ऐसे प्रतिपक्षी अनुमान को मान लेने पर कादम्बरी आदि ग्रन्थ मे भी अपौरुषेयत्वसिद्धि की आपत्ति होगी ।'

उत्तरः-यह शका करने लायक नही है क्योकि कादम्बरी आदि के तो बाणभट्ट आदि कर्त्ता सुनिश्चित है । निर्विवादरूप से कालिदास की कृति के रूप मे लोग कुमारसभवादि काव्यो को याद करते है ।

शंकाः-वेद के कर्त्ता को भी याद किया जाता है-उदा० कोई हिरण्यगर्भ को वेदकर्त्तारूप मे याद करते है । दूसरे विद्वान् अष्टक आदि ऋषि को याद करते है ।

उत्तरः-ठीक है आपकी बात, किंतु महाभारतादि के कर्त्ता जैसे निर्विवाद हैं वैसे वेदकर्त्ता निर्विवाद नही है । अपरच, वेदकर्त्ता का स्मरण विच्छिन्न मूल है । स्मरण का मूल है अनुभव । वेदकर्त्ता के स्मरण का मूलभूत अनुभव किसी भी प्रमाण से स्थापित नही किया जा सकता । तथा 'आगे हिरण्यगर्भ हुआ था' इत्यादि जो वेदकर्त्ता सद्भाव प्रतिपादक वचन किसी ने बनाया है वह भी मन्त्र विभाग और अर्थवाद मे पठित वाक्यो जिस अर्थ मे सुनते हैं उस अर्थ मे प्रमाण न होने से कर्त्ता के सद्भाव का आवेदक नही हो सकते । कहा भी है-महाभारत मे अपौरुषेयता हो सकती है किन्तु उसके कर्त्ता का स्मरण बाध पहुंचाता है । वेद के कर्त्ता का जो स्मरण है वह केवल अर्थवादमूलक है । [अनुभव मूलक नही है] । [पूर्वपक्ष समाप्त]

[वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतु की समालोचना-उत्तरपक्ष]

यह शंका भी अयुक्त है-आपने जो प्रतिपक्षी अनुमान मे हेतु प्रयोग किया है उसमे वेदाध्ययन-

निर्विशेषणस्य निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वपि भावादनैकान्तिकत्वम् । किंच, किं यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेवाध्ययनवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं साधयति, उतान्यथाभूतानाम् ? यदि तथाभूतानां तदा सिद्धसाधनम् । अथाऽन्यथाभूतानां तदा संनिवेशादिवदप्रयोजको हेतुः ।

अथ तथाभूतानामेव साधयति । न च सिद्धसाधनम्, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिवैकल्येन अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्यनिश्चितत्वात् । स्यादेतद्यदि प्रेरणायास्तथाभूतार्थप्रतिपादनेऽप्रामाण्याभावः सिद्धः स्यात्, यावता गुणवद्वक्तुरभावे तद् गुणैरनिराकृतैर्दोषैरपोदितत्वात् सापवादं प्रामाण्यमित्युक्तम् । तथाभूतां च प्रेरणामतीन्द्रियदर्शनशक्तिविकला अपि कर्तुं समर्था इति कुतस्तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात् ?

वाच्यत्व यानी क्या ? A अध्ययनशब्दनिरूपितवाच्यता अथवा B कर्त्ता की स्मृति न होना ? तथा, प्रथम पक्ष मे-A1 अपौरुषेयत्वसाधक हेतु A2 विशेषणशून्य ही समझना या 'कर्तृ-अस्मरण होने पर' ऐसा विशेषण लगाना है ? A1 यदि विशेषण नही लगायेगे तब तो जिसके कर्त्ता प्रसिद्ध हैं ऐसे महाभारतादि मे भी अनेक अध्ययन होने से अध्ययनशब्दवाच्यता हेतु रह जायेगा किंतु साध्य वहाँ नही है तो हेतु साध्य का द्रोही [व्यभिचारी] हुआ ।

दूसरी बात यह है–जिस प्रकार के पुरुषो [अर्वाग्दर्शी पुरुषो] का अध्ययन गुरुपरम्परापूर्वक देखा जाता है, क्या वैसे ही पुरुषों के अध्ययन मे ही अध्ययनशब्दवाच्यत्व से अध्ययनपूर्वकत्व सिद्ध करना चाहते हो ? या उन से भिन्न [सर्वज्ञ आदि] पुरुषो के अध्ययन मे भी ? प्रथम पक्ष मे अर्वाग्दर्शी पुरुषो का अध्ययन अध्ययनपूर्वक ही होता है-इसको हम भी मानते हैं तो सिद्धसाधन ही हुआ । अगर दूसरे पक्ष मे-अल्पप्रज्ञावाले पुरुषो से भिन्न पुरुषो के अध्ययन मे भी अध्ययनपूर्वकत्व सिद्ध करना चाहते हो तो हेतु मे अप्रयोजकत्व दोष उपस्थित होगा जैसे कि पहले बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व की सिद्धि मे सनिवेश आदि हेतु को अप्रयोजक दिखाया गया है । तात्पर्य यह है कि–तीक्ष्ण प्रज्ञावाले विद्वानो से किये गये वेदाध्ययन मे वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतु तो रहता है किंतु वहाँ वेदाध्ययनपूर्वकत्व नही भी होता है अतः साध्य विना हेतु रह गया ।

[तथाभूतपुरुष से अन्य सर्वज्ञादि कोई पुरुष असम्भाव्य नहीं है]

अपौरुषेयवादीः–हम प्रथम पक्ष का स्वीकार करते है कि तथाभूत [अल्पप्रज्ञावाले] पुरुषो के अध्ययन मे अध्ययनपूर्वकत्व की सिद्धि अभिप्रेत है । इसमे सिद्धसाधन की कोई बात नही है । कारण, तथाभूत पुरुष से अन्यथाभूत [सर्वज्ञादि] पुरुष सिद्ध नही है । हर मनुष्य अतीन्द्रियार्थदर्शनशक्ति से विकल ही होता है इसलिये वेदान्तर्गत अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक प्रेरणावाक्यो के प्रणयन मे असमर्थ ही होते हैं । तात्पर्य, सब तथाभूत ही हो गये, जब अन्यथाभूत कोई है ही नहो तो सिद्धसाधन कैसे ?

उत्तरपक्षीः-आपका यह कथन ठीक तभी हो सकता यदि अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक प्रेरणावाक्यो मे अप्रामाण्याभाव स्वतः सिद्ध रहता । किंतु पहले ही हमने कह दिया है कि वेदवाक्य का प्रामाण्य भी सापवाद है । आशय यह है कि वेदवाक्य का यदि कोई गुणवान् वक्ता नही मानेंगे तो वाक्यगत दोषो का निराकरण गुण से नही होगा, वे दोष रह जायेंगे और प्रामाण्य का अपवाद कर देंगे अर्थात् वेदवाक्य मे अप्रामाण्य का निश्चय या सशय हो जायगा ।

अथ न गुणवद्वक्तृकृतत्वेन चोदनायाः अप्रामाण्यनिवृत्तिः, किन्त्वपौरुषेयत्वेन, ततो नायं दोषः। ननु कुतः पुनरपौरुषेयत्वं चोदनाया अवगतम् ? यद्यन्यतोऽनुमानात् तदा तत एवाऽपौरुषेयत्वसिद्धेर्व्यर्थं प्रकृतमनुमानम्। 'अत एवानुमानात्' चेत् ? नन्वतोऽनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ प्रेरणाया अप्रामाण्याभावः, तदभावाच्च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषसद्भावः। अतः स्थितमेतत्-तथाभूतानां तथाभूताध्ययनसाधने सिद्धसाधनम्। तन्न निर्विशेषणो हेतुः प्राक्तनोऽपौरुषेयत्वं साधयति।

अथ सविशेषणो हेतुः पूर्वोक्तः प्रकृतसाध्यगमकस्तदा विशेषणस्यैव केवलस्य गमकत्वाद् विशेष्योपादानमनर्थकम्। 'भवतु विशेषणस्यैव गमकत्वम्, सर्वथाऽपौरुषेयत्वसिद्ध्या नः प्रयोजनमि'ति चेत् ? असदेतत्, यतः कर्त्रस्मरणं विशेषणं किमभावाख्यं प्रमाणम्, अर्थापत्तिः, अनुमानं वा ? यद्यभावाख्यमिति पक्षः, स न युक्तः, अभावप्रमाणस्य प्रामाण्याभावात्।

दूसरी बात यह है कि–जिसका प्रामाण्य सिद्ध नही है ऐसे प्रेरणावाक्य की रचना तो अतीन्द्रियदर्शन-शक्ति से विकल पुरुष भी करने मे समर्थ हैं तो फिर 'अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक प्रेरणावाक्य के प्रणयन मे कोई भी पुरुष समर्थ न होने से 'सब पुरुष तथाभूत ही हैं–अन्यथाभूत कोई नही है'– इसकी सिद्धि कहाँ से हो गयी जिससे सिद्धसाधनता न होने की बात आप करते हो ?

[अपौरुपेयत्व की सिद्धि दुष्कर–दुष्कर]

अपौरुषेयवादी:-वैदिक प्रेरणावाक्यो मे अप्रामाण्याभाव, इस लिये हम नही मानते कि वे गुणवान् वक्ता से उच्चारित है। किन्तु अपौरुपेय होने से ही वे अप्रामाण्यरहित हैं।

उत्तरपक्षी:-अरे ! यह प्रेरणावाक्यो का अपौरुषेयत्व कौन से प्रमाण से जान लिया ? क्या दूसरा कोई अनुमान किया ? तब तो उस अनुमान से ही इष्ट अपौरुषेयत्व की सिद्धि हो जाने से प्रेरणावाक्यो को अपौरुपेय सिद्ध करने वाला प्रकृत अनुमान बेकार है। तब तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त हुआ–प्रकृत अनुमान से अपौरुषेयत्व सिद्ध होने पर प्रेरणा वाक्यो मे अप्रामाण्यअभाव की सिद्धि और उस की सिद्धि होने पर अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक प्रेरणावाक्यरचना मे सामर्थ्य न होने से सकल पुरुषो के तथाभूतत्व यानी समानता की सिद्धि। इस से यह निःसंदेह सिद्ध होता है कि तथाभूत (अल्पज्ञ) पुरुषो के अध्ययन मे तथाभूताध्ययनपूर्वकत्व की सिद्धि करने मे सिद्धसाधन है। निष्कर्ष – विशेषणरहित अध्ययनशब्दवाच्यत्व हेतु से साध्यसिद्धि नही हो सकती।

A2 यदि प्रकृत साध्य अध्ययनपूर्वकत्व की सिद्धि मे अध्ययनशब्दवाच्यत्व हेतु का 'कर्त्ता का अस्मरणादि' कोई विशेषण माना जाय तो विशेष्यअंश का उपादान ही व्यर्थ हो जायगा, क्योकि केवल विशेषण ही साध्य की सिद्धि मे समर्थ है।

अपौरुषेयवादी –व्यर्थ हो जाने दो-कोई चिन्ता नही है। हमारा तो यही प्रयोजन है कि–सर्वथा–येन केन प्रकारेण अपौरुषेयत्व सिद्ध होना चाहीये।

उत्तरपक्षी:–B जब वह विशेषण कर्त्ता का अस्मरण ही अभिप्रेत है, तो यह बताईये कि कर्त्ता का अस्मरण यह कौन सा प्रमाण है जिससे अपौरुपेयत्व सिद्धि की आशा रखते हैं ? क्या [१] अभावप्रमाणरूप है ? [२] अर्थापत्तिरूप है ? या [३] अनुमान ? अभावप्रमाण वाला पक्ष बिलकुल युक्त नही है क्योकि अभावप्रमाण मे प्रामाण्य ही असिद्ध है।

निर्विशेषणस्य निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वपि भावादनैकान्तिकत्वम् । किञ्च, किं यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेवाध्ययनवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं साधयति, उतान्यथाभूतानाम् ? यदि तथाभूतानां तदा सिद्धसाधनम् । अथाऽन्यथाभूतानां तदा संनिवेशादिवदप्रयोजको हेतुः ।

अथ तथाभूतानामेव साधयति । न च सिद्धसाधनम्, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिवैकल्येन अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येनेदृशत्वात् । स्यादेतद्यदि प्रेरणायास्तथाभूतार्थप्रतिपादनेऽप्रामाण्याभावः सिद्धः स्यात्, यावता गुणवद्वक्तुरभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैरपोदितत्वात् सापवादं प्रामाण्यमित्युक्तम् । तथाभूतां च प्रेरणामतीन्द्रियदर्शनशक्तिविकला अपि कर्तुं समर्था इति कुतस्तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात् ?

वाच्यत्व यानी क्या ? A अध्ययनशब्दनिरूपितवाच्यता अथवा B कर्त्ता की स्मृति न होना ? तथा, प्रथम पक्ष मे-A1 अपौरुषेयत्वसाधक हेतु A2 विशेषणशून्य ही समझना या 'कर्तृ-अस्मरण होने पर' ऐसा विशेषण लगाना है ? A1 यदि विशेषण नही लगायेंगे तब तो जिसके कर्त्ता प्रसिद्ध हैं ऐसे महाभारतादि मे भी अनेक अध्ययन होने से अध्ययनशब्दवाच्यता हेतु रह जायेगा किंतु साध्य वहाँ नही है तो हेतु साध्य का द्रोही [व्यभिचारी] हुआ ।

दूसरी बात यह है– जिस प्रकार के पुरुषो [अर्वाग्दर्शी पुरुषो] का अध्ययन गुरुपरम्परापूर्वक देखा जाता है, क्या वैसे ही पुरुषो के अध्ययन मे ही अध्ययनशब्दवाच्यत्व से अध्ययनपूर्वकत्व सिद्ध करना चाहते हो ? या उन से भिन्न [सर्वज्ञ आदि] पुरुषो के अध्ययन मे भी ? प्रथम पक्ष मे अर्वाग्दर्शी पुरुषो का अध्ययन अध्ययनपूर्वक ही होता है-इसको हम भी मानते है तो सिद्धसाधन ही हुआ । अगर दूसरे पक्ष मे-अल्पप्रज्ञावाले पुरुषो से भिन्न पुरुषो के अध्ययन मे भी अध्ययनपूर्वकत्व सिद्ध करना चाहते हो तो हेतु मे अप्रयोजकत्व दोष उपस्थित होगा जैसे कि पहले बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व की सिद्धि मे सनिवेश आदि हेतु को अप्रयोजक दिखाया गया है । तात्पर्य यह है कि-तीक्ष्ण प्रज्ञावाले विद्वानो से किये गये वेदाध्ययन मे वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतु तो रहता है किंतु वहाँ वेदाध्ययनपूर्वकत्व नही भी होता है अत. साध्य विना हेतु रह गया ।

[तथाभूतपुरुष से अन्य सर्वज्ञादि कोई पुरुष असम्भाव्य नहीं है]

अपौरुषेयवादी:- हम प्रथम पक्ष का स्वीकार करते है कि तथाभूत [अल्पप्रज्ञावाले] पुरुषो के अध्ययन मे अध्ययनपूर्वकत्व की सिद्धि अभिप्रेत है । इसमे सिद्धसाधन की कोई बात नही है । कारण, तथाभूत पुरुष से अन्यथाभूत [सर्वज्ञादि] पुरुष सिद्ध नही है । हर मनुष्य अतीन्द्रियार्थदर्शनशक्ति से विकल ही होता है इसलिये वेदान्तर्गत अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक प्रेरणावाक्यो के प्रणयन मे असमर्थ ही होते है । तात्पर्य, सब तथाभूत ही हो गये, जब अन्यथाभूत कोई है ही नहो तो सिद्धसाधन कैसे ?

उत्तरपक्षी:-आपका यह कथन ठीक तभी हो सकता यदि अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक प्रेरणावाक्यो मे अप्रामाण्याभाव स्वतः सिद्ध रहता । किंतु पहले ही हमने कह दिया है कि वेदवाक्य का प्रामाण्य भी सापवाद है । आशय यह है कि वेदवाक्य का यदि कोई गुणवान् वक्ता नही मानेंगे तो वाक्यगत दोषो का निराकरण गुण से नही होगा, वे दोष रह जायेंगे और प्रामाण्य का अपवाद कर देंगे अर्थात् वेदवाक्य मे अप्रामाण्य का निश्चय या सशय हो जायगा ।

अथ वेदे कर्तृविशेषविप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तिरिति तत्र कर्तृस्मरणमसत्यम्, कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेष एव विप्रतिपत्तिर्न कर्तृमात्रे, तेन तत्र कर्तुः स्मरणस्य विरुद्धस्य सत्यत्वाद् नाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वं तेषु वर्त्तत इति नानैकान्तिकत्वम्। ननु 'वेदे सौगताः कर्तृमात्रं स्मरन्ति न मीमांसकाः' इत्येवं कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेर्यदि कर्तृस्मरणं मिथ्या तदा कर्तृस्मरणवद् अस्मर्यमाणकर्तृत्वमप्यसत्यं स्यात् विप्रतिपत्तेरविशेषात्, तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतुः। एतेन 'सत्यम्, वेदे कर्तृस्मरणमस्ति न त्वविगीतं, यथा भारतादिषु' इति निरस्तम्।

यदप्युक्तम्-'तथा छिन्नमूलं च वेदे कर्तृस्मरणम्। तस्यानुभवो मूलम्, न चाऽसौ तत्र तद्विषयत्वेन विद्यते' इति, तदप्यसंगतम्, यतः किं प्रत्यक्षेण तदनुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलत्वम्, उत प्रमाणान्तरेण? तत्र यदि प्रत्यक्षेणेति पक्षः, तदा वक्तव्यम्-किं भवत्सम्बन्धिना प्रत्यक्षेण तत्र तदनुभवाभावः? उत सर्वसम्बन्धिना तत्र तदनुभवाभावः? यदि भवत्सम्बन्धिना, तदाऽऽगमान्तरेऽपि तत्कर्तृग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेस्तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेनाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावादनैकान्तिकः पुनरपि हेतुः। अथ सर्वसम्बन्धिना प्रत्यक्षेणाननुभवः, असावसिद्धः, न ह्यर्वाग्दृशा 'सर्वथात्र तद्ग्राहकत्वेन प्रत्यक्षं न प्रवृत्तिमत्' इति निश्चेतुं शक्यमिति तत्र तत्स्मरणस्य छिन्नमूलत्वाऽसिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः।

विवाद संभव होने से उसके भी सामान्यतः कर्त्तास्मरण को मिथ्या कहना होगा और प्रस्तुत हेतु 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' अब कादम्बरी मे भी रह जाने से फिर से एकवार व्यभिचारी हो जायेगा क्योंकि कादम्बरी आदि में आप अपौरुषेयत्व नही मानते।

[वेदकर्तृस्मरण मिथ्या होने पर कर्तृ-अस्मरण भी मिथ्या होगा]

अपौरुषेयवादीः-वेद में कर्तृविशेष के लिये जैसा विवाद है, कर्तृसामान्य के लिये भी वैसा ही विवाद है, अतः वेद के कर्त्ता का स्मरण असत्य होना चाहिये। कादम्बरी आदि के विशिष्ट कर्त्ता मे विवाद होने पर भी सामान्यत कर्त्तामात्र मे कोई विवाद नही है क्योंकि उसमे तो हमारे सहित सब वादीगण कर्त्ता को मानते ही है। इस प्रकार कादम्बरी मे अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का विरोधी कर्त्तास्मरण ही सत्य होने से उसका विरोध्य अस्मर्यमाणकर्तृकत्वरूप हेतु विपक्षीभूत कादम्बरी मे नही रहेगा तो अनैकान्तिक दोष भी नही रहेगा।

उत्तरपक्षीः-अहो! आपने 'वेद मे बौद्धो को कर्त्तास्मरण है किन्तु मीमासको को नही है, ऐसे विवाद से कर्त्तास्मरण को यदि मिथ्या माना तो कर्त्ता अस्मरण भी मिथ्या ही मानना चाहिये क्योंकि विवाद तो एकदूसरे के प्रति तुल्य है। कर्त्ता-अस्मरण इस प्रकार मिथ्या होने पर फिर से एक वार अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु स्वरूपाऽसिद्ध हुआ, क्योंकि वेद मे भी वह नही रहा। इससे यह प्रलाप भी खडित हो जाता है जो आपने कहा था कि-"वेद मे कर्त्ता का स्मरण है यह बात सच है, किन्तु वह निर्विवाद नही है जैसे भारतादि में वह निर्विवाद है" इत्यादि..।

[कर्तृस्मरण की छिन्नमूलता का कथन असत्य]

यह जो आपने कहा था-'वेद के कर्त्ता का स्मरण छिन्नमूल है। स्मरण का मूल अनुभव होता है, वेदकर्त्ता को विषय करने वाला कोई अनुभव नही है'.....इत्यादि वह भी असगत है। आप A कर्त्ता

व्यावृत्तमस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपौरुषेयत्वेन व्याप्यत इति नानैकान्तिकत्वम् । न, परकीयस्य कर्तृ स्मरणस्य भवता प्रमाणत्वेनाऽनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा परैर्वेदेऽपि कर्त्तुः स्मरणात् 'अस्मर्यमा कर्तृकत्वात् इति प्रतिवाद्यसिद्धो भवन् भवतोऽप्यसिद्धः स्यात् ।

अथ वेदे सविगानं कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेः कर्तृस्मरणमसत्यम् । तथाहि-केचिद् हिरण्यगर्भं अपरेऽष्टकादीन् वेदस्य कर्तॄन् स्मरन्तीति कर्तृविशेषविप्रतिपत्तिः । नन्वेव कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेस्तद्वि षस्मरणमेवाऽसत्यं स्यात्तत्र, न कर्तृमात्रस्मरणम् । अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषविप्रतिपत्त कर्तृमात्रस्मरणस्याऽसत्यत्वेन तत्राप्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य सद्भावात् पुनरप्यनैकान्तिकत्व प्रकृतहेतो.

अत: अपौरुषेयत्वसाधक अनुमान मे जो दोष दिखाये जायेंगे उन से ही यह दूसरा विकल्प भी दूषि हो जाता है।

[कर्त्ता का अस्मरण अनुमानप्रमाणरूप नहीं हो सकता]

[३] अनुमान प्रमाण भी असगत है। 'वेद अपौरुषेय है क्योंकि उसके कर्त्ता रूप में किसी व स्मरण नही है।' ऐसे अनुमान प्रयोग में हेतु और साध्य का वैयधिकरण्य दोष है, अपौरुषेयत्व का प वेद है, उसमें स्मरणाभाव हेतु न रहकर वह तो आत्मा मे रहता है। अनुमान मे हेतु-साध्य व सामानाधिकरण्य आपके मत मे अवश्य होना चाहिये। 'जिसके कर्त्ता का स्मरण नही है ऐसा होने इस प्रकार परिष्कार युक्त हेतु का प्रयोग करने पर अब तो यह हेतु वेदरूप पक्ष में ही होने से यद्य वैयधिकरण्य दोष नही होगा किंतु महाभारतादि जो कि निश्चितरूप से सकर्तृक है, फिर भी उस कर्त्ता का स्मरण न होने से-उसमें भी वह हेतु रह जायेगा, तो वहा अपौरुषेयत्वरूप साध्य न होने व्यभिचार दोष होगा।

अपौरुषेयवादी:-अन्य बौद्धादि आगम [अथवा महाभारत आदि मे] कर्त्ता का अस्मर नही है किन्तु स्मरण ही है इसलिये विपक्षीभूत आगम से निवृत्तिमान 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' हेतु क अपौरुषेयत्व के साथ ही व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। अब अनैकान्तिक दोष नही रहेगा।

उत्तरपक्षी:-अन्य आगमो में अन्य दार्शनिको को कर्त्ता का स्मरण होने पर भी आप उस प्रमाण तो मानते नही है, इसलिये आपकी अपेक्षा तो वहा अस्मर्यमाण कर्तृकत्व रह जाने से य हेतु व्यभिचारी होगा ही। यदि आप अन्य दार्शनिको के मत को प्रमाण मान लेते है तब तो वेद भी उन लोगो को कर्त्ता का स्मरण होने से प्रतिवादीओ के लिये आपका हेतु वेदरूप पक्ष मे स्वरूप सिद्ध होने पर आपके लिये भी स्वरूपासिद्ध ही होगा क्योकि आप उनको प्रमाण मानते है।

[वेद में कर्तृसामान्य का स्मरण निर्बाध है]

अपौरुषेयवादी-वेद के कर्त्ताविशेष के विषय मे विविध मतभेद होने से कर्त्ता का स्मर विवादग्रस्त है इसलिये वह मिथ्या है। जैसे-कोई कहते है कि वेद का कर्त्ता हिरण्यगर्भ है, को कहते है कि अष्टकादि ऋषीओ ने वेद बनाये हैं। इस प्रकार कर्त्तास्मरण विवादग्रस्त है।

उत्तरपक्षी:-कर्त्ताविशेष विवादग्रस्त है तब कर्त्ताविशेष के स्मरण को ही असत्य कहन चाहिये किन्तु सामान्यत: कर्त्तास्मरण [=कोई न कोई उसका कर्त्ता तो जरूर है] को असत्य न कह सकते। यदि उसको भी असत्य कह देगे तब तो कादम्बरी आदि ग्रन्थ के कर्त्ताविशेष में

अथ वेदे कर्तृविशेषविप्रतिपत्तिवद् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तिरिति तत्र कर्तृस्मरणमसत्यम्, कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेष एव विप्रतिपत्तिर्न कर्तृमात्रे, तेन तत्र कर्तुः स्मरणस्य विरुद्धस्य सत्यत्वाद् नाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वं तेषु वर्त्तत इति नानैकान्तिकत्वम्। ननु 'वेदे सौगताः कर्तृमात्रं स्मरन्ति न मीमांसकाः' इत्येवं कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेर्यदि कर्तृस्मरणं मिथ्या तदा कर्तृस्मरणवद् अस्मर्यमाणकर्तृत्वमप्यसत्यं स्यात्, विप्रतिपत्तेरविशेषात्, तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतुः। एतेन 'सत्यम्, वेदे कर्तृस्मरणमस्ति न त्वविगीतं, यथा भारतादिषु' इति निरस्तम्।

यदप्युक्तम्–'तथा छिन्नमूलं च वेदे कर्तृस्मरणम्। तस्यानुभवो मूलम्, न चाऽसौ तत्र तद्विषयत्वेन विद्यते' इति, तदप्यसंगतम्, यतः किं प्रत्यक्षेण तदनुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलत्वम्, उत प्रमाणान्तरेण? तत्र यदि प्रत्यक्षेणेति पक्षः, तदा वक्तव्यम्–किं भवत्सम्बन्धिना प्रत्यक्षेण तत्र तदनुभवाभावः? उत सर्वसम्बन्धिना तत्र तदनुभवाभावः? यदि भवत्सम्बन्धिना, तदाऽऽगमान्तरेऽपि तत्कर्तृग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेस्तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेनाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावादनैकान्तिकः पुनरपि हेतुः। अथ सर्वसम्बन्धिना प्रत्यक्षेणाननुभवः, असावसिद्धः, न ह्यर्वाग्दृशा 'सर्वेषामत्र तद्ग्राहकत्वेन प्रत्यक्षं न प्रवृत्तिमद्' इति निश्चेतुं शक्यमिति तत्र तत्स्मरणस्य छिन्नमूलत्वाऽसिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः।

विवाद सभव होने से उसके भी सामान्यतः कर्त्तास्मरण को मिथ्या कहना होगा और प्रस्तुत हेतु 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' अब कादम्बरी मे भी रह जाने से फिर से एकवार व्यभिचारी हो जायेगा क्योंकि कादम्बरी आदि में आप अपौरुषेयत्व नही मानते।

[वेदकर्तृस्मरण मिथ्या होने पर कर्तृ-अस्मरण भी मिथ्या होगा]

अपौरुषेयवादीः–वेद में कर्तृविशेष के लिये जैसा विवाद है, कर्तृसामान्य के लिये भी वैसा ही विवाद है, अत. वेद के कर्त्ता का स्मरण असत्य होना चाहिये। कादम्बरी आदि के विशिष्ट कर्त्ता मे विवाद होने पर भी सामान्यतः कर्त्तामात्र मे कोई विवाद नही है क्योंकि उसमे तो हमारे सहित सब वादीगण कर्त्ता को मानते ही हैं। इस प्रकार कादम्बरी में अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का विरोधी कर्त्तास्मिरण ही सत्य होने से उसका विरोध्य अस्मर्यमाणकर्तृकत्वरूप हेतु विपक्षीभूत कादम्बरी मे नही रहेगा तो अनैकान्तिक दोष भी नही रहेगा।

उत्तरपक्षीः–अहो! आपने 'वेद मे बौद्धो को कर्त्तास्मरण है किन्तु मीमांसको को नही है, ऐसे विवाद से कर्त्तास्मरण को यदि मिथ्या माना तो कर्त्ता-अस्मरण भी मिथ्या ही मानना चाहिये क्योंकि विवाद तो एकदूसरे के प्रति तुल्य है। कर्त्ता-अस्मरण इस प्रकार मिथ्या होने पर फिर से एक वार अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु स्वरूपाऽसिद्ध हुआ, क्योंकि वेद मे भी वह नही रहा। इससे यह प्रलाप भी खडित हो जाता है जो आपने कहा था कि–"वेद मे कर्त्ता का स्मरण है यह बात सच है, किन्तु वह निर्विवाद नही है जैसे भारतादि मे वह निर्विवाद है" इत्यादि...।

[कर्तृस्मरण की छिन्नमूलता का कथन असत्य]

यह जो आपने कहा था–'वेद के कर्त्ता का स्मरण छिन्नमूल है। स्मरण का मूल अनुभव होता है, वेदकर्त्ता को विषय करने वाला कोई अनुभव नही है'....इत्यादि वह भी असगत है। आप A कर्त्ता

अथ प्रमाणान्तरेण तदनुभवाभावः, तत्रापि वक्तव्यम्-आगमलक्षणं किं तत् प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते ? उतानुमानस्वरूपम् ? अपरस्य प्रामाण्याऽसम्भवात् । तत्र यद्यागमलक्षणेन तदननुभव इति पक्षः, स न युक्तः, "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताऽग्रे" [ऋग्वेद] इत्यादेरागमस्य तत्र तत्सद्भावाऽऽवेदकस्य संभवात् । न च मन्त्रार्थवादानां स्वरूपार्थे प्रामाण्यमभावः इति वक्तुं शक्यम्, यतो मन्त्रार्थवादानां स्वाभिधेयप्रतिपादनद्वारेण कार्यार्थोपयोगिता, तेषां तत्राऽप्रामाण्ये विध्यर्थाङ्गताऽपि न स्यात् ।

अथानुमानेन तत्र तदननुभवः, सोऽपि न युक्तः, अनुमानेन तत्र तदनुभवस्य प्रतिपादितत्वात् । 'अथानुपलम्भपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं यद्यस्माभिर्हेतुत्वेनोच्येत तदा पूर्वोक्तप्रकारेणाऽसिद्धत्वानैकान्तिकत्वे स्याताम् । न तु तत्कर्त्रनुपलम्भपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः किंतु तदभावपूर्वकम्' । नन्वत्राऽपि यदि तदभाव' प्रमाणान्तरात् सिद्ध तदाऽस्यानुमानस्य वैयर्थ्यम् । न च तदभावप्रतिपादकमन्यत् प्रमाणमस्तीत्युक्तम् । अस्मादेवानुमानात् तदभावसिद्धिस्तदाऽतोऽनुमानात् तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं सिध्यति तत्सिद्धौ चाऽतोनुमानात् तदभावसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषात् तदवस्थं सविशेषणस्याऽप्यस्य हेतोरसिद्धत्वम् ।

का प्रत्यक्षानुभव न होने से स्मरण को छिन्नमूल दिखाते है ? B या अन्यप्रमाण से कर्त्ता का अनुभव न होने से ? A प्रत्यक्ष से अनुभव न होने का पक्ष यदि माना जाय तो यहाँ भी बताईये C केवल आप को ही प्रत्यक्ष से कर्त्ता के अनुभव का अभाव है ? या D सभी को प्रत्यक्ष से कर्त्ता के अनुभव का अभाव है ? C केवल आपको ही .यह पक्ष मानते है तो फिर से एक बार आपका 'अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्व' हेतु व्यभिचारी हो जायगा । कारण, आपको तो अन्य बौद्धादि आगम मे भी कर्त्ता का प्रत्यक्ष अनुभव नही है, अतः अन्य आगम के कर्त्ता का स्मरण भी इस प्रकार छिन्नमूल हो गया, तो अन्य आगम मे भी आपका हेतु 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' रह गया, किन्तु वहाँ अपौरुषेयत्व साध्य नही है ।

(D) यदि सभी को प्रत्यक्ष से कर्त्ता के अनुभव का अभाव वाला दूसरा पक्ष माना जाय तो इस प्रकार का अनुभवाभाव ही असिद्ध है, क्योकि 'वर्त्तमानद्रष्टा को किसी का भी प्रत्यक्ष, कर्त्ता के ग्राहक रूप मे प्रवृत्त नही है' ऐसा निश्चय होना शक्य ही नही है । अत वेद मे कर्त्ता के प्रत्यक्ष से अनुभव का अभाव सिद्ध न होने से स्मरण का छिन्नमूलत्व ही असिद्ध है-इस प्रकार स्मर्यमाणकर्त्तृकत्व ही वेद मे रह जाने से अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्व असिद्ध है ।

(B) यदि अन्यप्रमाण से कर्त्ता का अनुभव न होने से स्मरण छिन्नमूल होने का दूसरा पक्ष माना जाय वहाँ भी बताईये कि वह अन्य प्रमाण E आगमस्वरूप है या F अनुमानस्वरूप ? क्योकि अन्य किसी प्रमाण का सभव नही है । E आगमस्वरूप प्रमाणान्तर से वेदकर्त्ता का अननुभव है यह पहला पक्ष यदि माना जाय तो वह युक्त नही है क्योकि "हिरण्यगर्भ. समवर्त्तताग्रे" यह आगमवाक्य विद्यमान है जो वेदकर्त्ता के सद्भाव का स्पष्ट आवेदक है । 'मन्त्रार्थवादवाक्य यथाश्रुत अर्थ मे प्रमाण नही है' ऐसा नही कह सकते क्योकि मन्त्रार्थवाद वाक्य अपने वाच्यार्थ के प्रतिपादन द्वारा विधिबोधितसा ध्यार्थ मे उपयोगी होते है । अब यदि वे अपने वाच्यार्थ मे ही अप्रमाण होगे तो विध्यर्थ के अगभूत यानी विध्यर्थ मे उपयोगी नही बन सकेंगे ।

[अभावविशिष्ट कर्तृ-अस्मरण हेतु निर्दोष नहीं है]

(F) 'अनुमान से वेदकर्त्ता का अनुभव नही है' यह पक्ष भी युक्त नही है । क्योकि नररचनारचिताऽविशिष्टत्वहेतुक अनुमान से वेदकर्त्ता के अनुभव का प्रतिपादन पहले कर दिया है ।

अथ मतं-"यत्र सिद्धकर्तृकेषु भावेष्वस्मर्यमाणकर्तृकत्वं तत्र कर्त्तुः स्मरणयोग्यता नास्तीति निर्विशेषणस्यानैकान्तिकत्वं, वैदिकानां तु रचनानां सति पौरुषेयत्वेऽवश्यं पुरुषस्य कर्त्तुः तदर्थानुष्ठानसमयेऽनुष्ठातॄणां स्मरणं स्यात् । ते हि अदृष्टफलेषु कर्मस्वेवं निर्विचिकित्साः प्रवर्त्तन्ते यदि तेषां तद्विषयः सत्यत्वनिश्चयः, तस्याप्येवम्भावो यदि तदुपदेष्टुः स्मरणम्, यथा पित्रादिप्रामाण्यवशात् स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुपदेशात् प्रवर्त्तन्ते 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्टं तेनाऽनुष्ठीयते' । एवं वैदिकेष्वपि कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु तत्र स्मरण स्यात् । न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठातॄणां त्रैवर्णिकानां कर्त्तुः स्मरणमस्ति, अतः स्मरणयोग्यस्य कर्तुरस्मरणात् अपौरुषेयो वेदः । एवं चायं हेत्वर्थः-कर्तुः स्मरणयोग्यत्वेऽपि सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् अपौरुषेयो वेदः । न चैवंविधस्य हेतोः सिद्धकर्तृकेषु भावेषु वृत्ति, अतो नानैकान्तिकः । यत्र पौरुषेयत्वं तत्र सविशेषणो हेतुः न संभवतीति विरुद्धत्वमपि न विद्यते, विपक्षे वर्त्तमानः सपक्षेऽसन् विरुद्ध उच्यते, अस्य तु सविशेषणस्य प्रसिद्धपौरुषेये वस्तुन्यप्रवृत्तिः, नापि सपक्षे आकाशादावसत्त्वम्, अतःपरिशुद्धान्वयव्यतिरेकहेतुसद्भावात् कर्तृस्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादपौरुषेयो वेदः सिध्यति ।"—

अपौरुषेयवादीः-हम अनुपलम्भविशिष्ट अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु का यदि प्रयोग करे तब तो आपके कथनानुसार हेतु की असिद्धता और अनैकान्तिकता ये दो दोष प्रसक्त हो सकते है। किन्तु हम कर्त्ता के अनुपलम्भ से विशिष्ट अस्मर्यमाणकर्तृकत्व को हेतु ही नही बनाते, हम तो कर्त्ता के अभाव से विशिष्ट अस्मर्यमाणकर्तृकत्व को हेतु बनाते है। आशय यह है कि वेद कर्त्ता का अभाव है एव उसके कर्त्ता का किसी को भी अनुभव मूलक स्मरण नही है इस लिये वेद अपौरुषेय मानते है।

उत्तरपक्षीः-हेतु का विशेषण कर्तृ-अभाव क्या अन्य कोई प्रमाण से सिद्ध है ? यदि सिद्ध है तब तो उसी से इष्ट सिद्धि हो गयी, प्रस्तुत अनुमान तो व्यर्थ हुआ। किन्तु 'कर्त्ता के अभाव का साधक वैसा कोई अन्य प्रमाण है ही नही' यह तो कह दिया है। यदि इसी अनुमान से कर्तृ-अभाव रूप विशेषण की सिद्धि मानेगे तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा, जैसे-प्रस्तुत अनुमान से कर्त्ता का अभाव (रूप विशेषण) सिद्ध होगा। और प्रस्तुत अनुमान से कर्त्ता का अभाव सिद्ध होने पर तद्विशिष्ट-अस्मर्यमाणकर्तृकत्व रूप हेतु की सिद्धि होगी और विशिष्ट हेतु सिद्ध होने पर प्रस्तुतानुमान से कर्त्ता का अभाव (रूप विशेषण) सिद्ध होगा अत हेतुसिद्धिमूलक अनुमान और कर्त्ता का अभाव (रूप विशेषण) इन दोनो के बीच अन्योन्याश्रय दोष हुआ। इस प्रकार अभावपूर्वकत्वविशेषण विशिष्ट हेतु मे भी असिद्धि दोष तदवस्थ ही रहता है।

[कर्तृस्मरणयोग्यत्वविशिष्ट हेतु निर्दोष होने की आशंका]

अब अपौरुषेयवादी अपना मन्तव्य विस्तार से प्रस्तुत करता है—

परिस्थिति ऐसी है कि जिन पदार्थों का कर्त्ता सिद्ध है फिर भी उनमे अस्मर्यमाणकर्तृकत्व रह जाता है, वहाँ तो उनके कर्त्ता स्मरणयोग्य ही नही होता है इसलिये स्मरणयोग्यताविशेषणरहित केवल अस्मर्यमाणकर्तृकत्व को हेतु बनावे तो अनैकान्तिक अवश्यक होगा ही। [तात्पर्य, स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हमे हेतु रूप से अभिप्रेत है। यह सविशेषण हेतु का सिद्धकर्तृक भावो मे विशेषणाभावप्रयुक्त अभाव होने से अनैकान्तिक दोष नही रहेगा।] वैदिक रचनाओ की स्थिति कुछ भिन्न है-वैदिक रचनाएँ यदि पौरुषेय होती तो तदुक्त अर्थ के अनुष्ठानकाल मे अनुष्ठाताओ को उस कर्त्ता पुरुष

तदप्यसंबद्धम्-आगमान्तरेऽपि 'कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वाद्' इत्यस्य हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणाभावेन सद्भावसंभवात् संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकत्वस्य तदवस्थत्वात्। किंच, विपक्षविरुद्धं हि विशेषणं विपक्षाद्व्यावर्त्तमानं स्वविशेष्यमादाय निवर्तते इति युक्तम्, न च पौरुषेयत्वेन सह कर्त्तुः स्मरणयोग्यत्वस्य सहानवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितलक्षणो वा विरोधः सिद्धः। सिद्धौ वा तत एव साध्यसिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति विशेष्योपादानं व्यर्थम्।

का स्मरण भी अवश्य होता। कारण यह है कि वेदोक्त अर्थ के अनुष्ठाता को अदृष्टफलक क्रियाओ मे उनके फल के विषय मे सत्यत्व का निश्चय हो तभी नि संदेह हो कर उन क्रियाओ मे प्रवृत्ति करते है। फल के विषय मे सत्यत्व का यानी फलाऽव्यभिचार का निर्णय तभी हो सकता है यदि उसके उपदेशक का स्मरण हो। उदा० पुत्र-परिवार आदि को अपने पिता आदि मे प्रामाण्य का विश्वास रहने पर जिन क्रियाओ का फल अपने को अदृष्ट है ऐसी क्रियाओ मे भी पिता आदि के उपदेश से प्रवृत्ति होती है 'हमारे पिता आदि ने इसका उपदेश किया है इस लिये हमारे द्वारा यह अनुष्ठान किया जा रहा है' ऐसा समझ कर। इस प्रकार वैदिक कर्मो के अनुष्ठान काल मे भी यदि कोई वेद कर्त्ता उपदेशक होता तो उसका स्मरण अवश्य किया जाता। किंतु वेदोक्त अर्थ के अनुष्ठाता ब्राह्मण-क्षत्रिय या वैश्य विश्वसनीय होने पर भी किसी को वेद कर्त्ता का स्मरण नही है। इस प्रकार कर्त्ता स्मरणयोग्य होने पर भी उसका स्मरण न होने से वेद अपौरुषेय सिद्ध होते है। तो अब हमारे अनुमान मे उक्त हेतु का अर्थ यह है कि-'कर्त्ता स्मरणयोग्य होने पर भी कर्त्ता की स्मृति न होने से' वेद अपौरुषेय है। जिन भावो का कर्त्ता सिद्ध होने पर भी उसका स्मरण नही हो रहा है वहाँ तो उसका कर्त्ता स्मरणयोग्य ही नही है इस लिये 'स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' रूप सविशेषण हेतु उन भावो मे अविद्यमान होने से अनैकान्तिक दोष निरवकाश है। जो पौरुषेय होता है, उसमे यदि कर्त्ता का स्मरण होता है तो अस्मर्यमाणकर्तृकत्व विशेष्य नही रहेगा और यदि रहेगा तो उसका कर्त्ता स्मरणयोग्य न होने से उनमे विशेषण नही रहेगा, अर्थात् सविशेषण हेतु की विद्यमानता उसमे न रहने से हेतु मे विरोध दोष का सभव नही है। विरुद्ध इसको कहते है जो विपक्ष मे ही रहे और सपक्ष मे न रहे। पौरुषेयरूप मे प्रसिद्ध सिद्धकर्तृक भाव यहाँ विपक्ष है, उसमे यह सविशेषण हेतु रहता ही नही है, आकाशादि अपौरुषेय सपक्ष है उसमे यह सविशेषण हेतु अविद्यमान नही है किंतु विद्यमान है। इस प्रकार विशुद्ध अन्वय-व्यतिरेकशाली हेतु का पक्ष मे सद्भाव होने से यानी 'कर्त्ता स्मरणयोग्य होने पर भी अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' हेतु से वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है।

[स्मरणयोग्यत्वघटित हेतु अन्य आगम में संदिग्धव्यभिचारी है]

उत्तरपक्षी -अपौरुषेय वादी का यह पूरा कथन सबवविहीन है। कारण, सविशेषण हेतु मे भी अनैकान्तिक दोष तदवस्थ ही है। जैसे-अन्य बौद्धादि आगम मे भी 'कर्त्ता स्मरणयोग्य होने पर अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' रूप हेतु के सद्भाव मे कोई भी बाधक प्रमाण न होने से अन्य आगम मे भी इस हेतु के सद्भाव की शका का सभव है, किंतु वहाँ साध्य नही है, अत हेतु की विपक्ष से निवृत्ति सदिग्ध होने से अनैकान्तिक दोष अनिवार्य रहेगा। दूसरी बात यह है-विशेषण यदि विपक्ष का विरोधी होता तब तो विपक्ष से व्यावृत्त होता हुआ वह विशेष्य को भी विपक्ष से निवृत्त कर देता, यह ठीक है। किंतु पौरुषेय भावरूप विपक्ष के साथ स्मरणयोग्यत्वरूप विशेषण का न तो सहानवस्थानरूप विरोध सिद्ध है, न तो परस्परपरिहारस्थितिस्वरूप विरोध प्रसिद्ध है। तब उसकी विपक्ष से व्यावृत्ति कैसे मानी

यदप्युक्तम्-'तदर्थानुष्ठानसमयेऽवश्यंतया त्रैवर्णिकानामनिश्चिततत्प्रामाण्यानामप्रवृत्तिप्रसंगाद् सति कर्त्तरि तत्स्मरणं स्याद् न चाभियुक्तानामपि तदस्ति' इति, तदागमान्तरेऽपि समान नवेति चिन्त्यतां स्वयमेव। न चायं नियमः-अनुष्ठातारोऽभिप्रेतार्थानुष्ठानसमये तत्कर्त्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्ते, नहि पाणिन्यादिप्रणीतव्याकरणप्रतिपादितशाब्दव्यवहारानुष्ठानसमये तदनुष्ठातारोऽवश्यंतया व्याकरण-प्रणेतारं पाणिन्यादिकमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्ते इति स्पष्टम्, निश्चिततत्समयानां कर्तृस्मरणव्यतिरेकेणाऽप्य-विलम्बेन 'भवति' आदिसाधुशब्दोच्चारणदर्शनात्।

तद् स्थितमेतत्-सविशेषणस्यापि 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति हेतोर्वादिसंबन्धिनोऽनैकान्तिकत्वम्, प्रतिवादिसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वम्, सर्वसम्बन्धिनोऽपि तदेवेति नाऽस्माद्धेतोरपौरुषेयत्वसिद्धिः। अतोऽपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्छाशनस्याऽपौरुषेयत्वाऽसम्भवे यदि सर्वज्ञप्रणीतत्वं नाभ्युपगम्यते तदा प्रामाण्यमपि न स्यात्; तथा च 'धर्मे प्रेरणा प्रमाणमेव' इत्ययोगव्यवच्छेदेनावधारणमनुपपन्नम्। अथ प्रेरणाप्रामाण्यसिद्धयर्थं सर्वज्ञः प्रेरणाप्रणेताऽभ्युपगम्यते तदा "चोदनैव च भूतम्, भवन्तम्,

---

जाय? कदाचित् मान लिया जाय कि विरोध सिद्ध है, तो पौरुषेयत्व के विरोधी स्मरणयोग्यत्व को ही हेतु कर देने से वेद मे पौरुपेयत्व का अभाव सिद्ध हो जायगा फिर 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' विशेष्यपद का हेतु मे लगाना व्यर्थ ही होगा। [मुख्य बात तो यह है कि कर्तृस्मरणयोग्यत्व का पौरुषेयत्व के साथ कुछ भी विरोध ही नही है। ऐदयुगीन पौरुषेयभावो मे पौरुपेयत्व और कर्तृ-स्मरणयोग्यत्व का सहावस्थान देखा जाता है, इस लिये दो मे से एक भी प्रकार के विरोध की सभावना नही है।]

[कर्त्ता के स्मरणपूर्वक ही प्रवृत्ति होने का नियम नहीं है]

आपने जो यह कहा था-'वेद का यदि कोई कर्त्ता होता तो ब्राह्मणादि तीनो वर्ण के लोक वेदोक्त अर्थ के अनुष्ठान काल मे उसका स्मरण अवश्य करते चूंकि उसके विना प्रामाण्य अनिश्चित रह जाने से उन अनुष्ठानो मे वे प्रवृत्ति ही नही करते। किंतु कर्त्ता के स्मरण विना भी अभियुक्त यानी प्रामाणिक विश्वसनीय लोग प्रवृत्ति करते है इसलिये वेद का कोई कर्त्ता नही है'-इत्यादि इस बात के ऊपर तो आप खुद ही सोच लिजीये कि अन्य बौद्धादि आगम के विषय मे भी इसी युक्ति का तुल्यरूप से प्रयोग हो सकता है या नही? तात्पर्य यह है कि उपरोक्त युक्ति अन्य आगम मे भी तुल्यरूपेण लागू होने से वह अन्य आगम मे भी अपौरुपेय मानने की आपत्ति आयेगी।

दूसरे, यह नियम भी नही है कि-'वांछित अर्थ के अनुष्ठान काल मे उसके कर्त्ता का अनुस्मरण करके ही अनुष्ठाता लोग प्रवृत्ति करे'। ऐसा कही देखा नही है कि पाणिनी आदि विरचित व्याकरण से उपदिष्ट शाब्दिक व्यवहार का जब जब पालन किया जाता है तब वे व्यवहारकर्त्ता पहले नियमतः पाणिनी आदि व्याकरण रचयिताओ का स्मरण करे ही, और बाद में उस व्यवहार मे प्रवृत्ति करे। यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि 'भवति' आदि शब्दो का पाणिनी आदि रचित व्याकरण की सहायता से जिसने समय=सकेत निश्चित कर लिया है वह पाणिनी आदि कर्त्ता का स्मरण किये विना ही, देर लगाये विना ही 'भवति' आदि शुद्ध शब्दोच्चार करते है।

[शासन में अपौरुषेयत्व का असंभव होने से जिनकर्तृकतासिद्धि]

उपरोक्त चर्चा से यह सिद्ध होता है कि-अस्मर्यमाणकर्तृकत्व को विशेषण लगाने पर भी वादि के पक्ष मे, हेतु अनैकान्तिक और प्रतिवादी के पक्ष मे तथा सभी के पक्ष मे हेतु असिद्ध दोषग्रस्त ही रहता

भविष्यन्तम्, सूक्ष्मम्, व्यवहितम्-एवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम्, नान्यत् किंचनेन्द्रियम्"-इत्याद्यभिधानमसंगतं प्राप्नोतीत्युभयतः पाशारज्जुर्मीमांसकस्य। तत् स्थितमेतद् आचार्येण मीमांसकापेक्षया प्रसङ्गसाधनमेतदुपन्यस्तम्-यदि सिद्धं शासनमभ्युपगम्यते भवद्भिस्तदा जिनानां तत्-जिनप्रणीतम्-अभ्युपगन्तव्यमिति।

[सर्वज्ञवादप्रारम्भः]

अथ भवतु प्रेरणाप्रामाण्यवादिनां मीमांसकानामेतत् प्रसंगसाधनम्, ये तु तदप्रामाण्यवादिनश्चार्वाकास्तान् प्रति स्वप्रतिपत्तौ वा भवतः किं प्रमाणं? न च प्रमाणाऽविषयस्य सद्व्यवहारविषयत्वं युक्तम्। तथा हि-'ये देशकालस्वभावविप्रकर्षवन्तः सदुपलम्भकप्रमाणविषयभावमनापन्ना भावाः न ते प्रेक्षावतां सद्व्यवहारपथावतारिणः यथा नाकपृष्ठादयस्तथात्वेनाभ्युपगमविषयाः, तथा च समस्तवस्तुविस्तारव्यापिज्ञानसंपत्समन्वितः पुरुष, इति सद्व्यवहारप्रतिषेधफलाऽनुपलब्धिः।

है। अतः इस हेतु से अपौरुषेयत्व सिद्धि की आशा नही की जा सकती। इससे यह सिद्ध होता है कि अपौरुषेयत्व का साधक कोई प्रमाण न होने से शासन (आगम)की अपौरुषेयता का कुछ भी संभव नही है, अत' यदि शासन को सर्वज्ञ-उपदिष्ट न माना जाय तो उसका प्रामाण्य कथमपि स्थिर नही रहेगा। ऐसा होने से मीमासक जो भार देकर यह कहना चाहते है कि 'धर्म के विषय मे प्रेरणा प्रमाण ही है' ऐसा प्रेरणा मे प्रामाण्य के अयोग का व्यवच्छेद नही दिखा सकते क्योकि सर्वज्ञ प्रमाण है। अब यदि प्रेरणा का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये उसके रचयिता सर्वज्ञ का स्वीकार किया जाय तब आप मीमासको का यह वचन असगत हो जायगा कि-"प्रेरणा ही भूत, वर्त्तमान, भावि, सूक्ष्म और व्यवहित ऐसे ऐसे अर्थो का बोध कराने मे समर्थ है-दूसरा कोई इन्द्रियादि नही" [मीमा. शाव. सू०२ मे] यह वचन असगत हो जाने से मीमासक दोनो ओर बन्धनरज्जु से बद्ध हो जायगा।

समग्र वाद-विवाद का निष्कर्ष यह है कि 'जिनानां शासनम्' ऐसे प्रयोग से आचार्य दिवाकरजी ने मीमांसको के समक्ष प्रसंगापादन किया है-यदि शासन को आप सिद्ध यानी प्रमाणभूत मानते है तो उसको जिनो का यानी जिनेश्वर से विरचित है यह अवश्य मानना होगा।

[सर्वज्ञ की सत्ता में नास्तिकों का विवाद-पूर्वपक्ष]

नास्तिकः-विधिवाक्यात्मक वेद को ही प्रमाण मानने वाले मीमासको के प्रति 'जिनाना शासनम्' यह कह कर जो आपने प्रसगसाधन दिखलाया वह हो सकता है, क्योकि वेद को हम भी प्रमाण नही मानते है। किन्तु, 'शासन का प्रणेता जिन सर्वज्ञ है' इसमें भी हमारा विवाद है, तो वेद को अप्रमाण मानने वाले जो चार्वाकमतवादी है उनके प्रति सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये आपके पास कौनसा प्रमाण है? तथा आपने भी जो सर्वज्ञ का स्वीकार किया है उसके मूल मे कौनसा प्रमाण है? यदि उसमें कोई प्रमाण ही नही है तो उसको, सद्रूप मे यानी 'वह विद्यमान है' इस रूप मे व्यवहार का विषय बनाना युक्तिसंगत नही है। देखिये-जो पदार्थ देशविप्रकृष्ट, कालविप्रकृष्ट और स्वभावविप्रकृष्ट है [यानी किसी भी देश मे-किसी भी काल मे यत्किचित्स्वभावरूप मे बुद्धि-अगोचर है], तथा जो सत्पदार्थ के उपलभक प्रत्यक्षादि प्रमाण की विषयता से अनाश्लिष्ट है उनका बुद्धिमानो के द्वारा किये जाने वाले 'यह सत् है' इस प्रकार के सद्व्यवहाररूप मार्ग मे अवतरण नही होता, जैसे-कि देशकालस्वभावविप्रकृष्टरूप मे सर्वमान्य नाक पृष्ठादि (स्वर्ग आदि) पदार्थ। समस्तवस्तुसमूहव्यापकज्ञानसपत्ति से समन्वित पुरुष भी देश-काल-स्वभाव से विप्रकृष्ट एव सदुपलम्भकप्रमाणविषयता से अनाश्लिष्ट ही है,

न चाऽसिद्धो हेतुः। तथाहि-सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानालिंगितः पुरुषः प्रत्यक्षसमधिगम्यो वाऽभ्युपगम्येत, अनुमानादिसंवेद्यो वा ? न तावदध्यक्षगोचरः, प्रतिनियतसंनिहितरूपादिविषयनियमितसाक्षात्करणस्वभावा हि चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादितात्मलाभा ज्ञप्तयो न परस्थं संवेदनमात्रमपि तावदालम्बितुं क्षमाः, किमङ्ग ! पुनरनाद्यनन्तातीता-ऽनागत-वर्त्तमानसूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थसाक्षात्कारिसंवेदनविशेषम्, तदध्यासितं वा पुरुषम् ? अविषये चक्षुरादिकरणप्रवर्त्तितस्य ज्ञानस्य प्रवृत्त्यसम्भवात्। सम्भवे वाऽन्यतमकरणप्रवर्त्तितस्याऽपि ज्ञानस्य रूपादिसकलविषयग्राहकत्वेन संभवात् शेषेन्द्रियपरिकल्पना व्यर्था। न च सूक्ष्मादिसमस्तपदार्थग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम्, ग्राह्याऽग्रहणे तद्ग्राहकत्वस्यापि तद्गतस्य तेनाऽग्रहणात्। तदग्रहे च तद्धर्माध्यासितसंवेदनसमन्वितस्यापि न प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तिः।

नाप्यनुमानतः सकलपदार्थज्ञप्रतिपत्तिः, अनुमानं हि निश्चितस्वसाध्यधर्म धर्मिसम्बन्धाद् हेतोरुदयमासादयत् प्रमाणतामाप्नोति, प्रतिबन्धश्च समस्तपदार्थज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतोः किं प्रत्यक्षेण

अर्थात् वैसे पुरुष का किसी भी देश-काल मे यत्किंचित्स्वभावोपेत रूप में उपलम्भ नही होता। यह अनुपलब्धिरूप हेतु हुआ जिससे सर्वज्ञतया अभिप्रेत पुरुष मे सद्व्यवहार का प्रतिषेध फलित होता है।

[अनुपलब्धि हेतु की असिद्धि का निराकरण]

नास्तिक.-'सर्वज्ञ सद्व्यवहारविषय नही हैं' इस साध्य की सिद्धि मे हमने जो हेतु का उपन्यास किया है-वह हेतु असिद्ध भी नही है। वह इस प्रकार—

जिस पुरुष को आप सकलपदार्थ को साक्षात् करने वाले ज्ञान से आलिंगित मानते हो वह पुरुष १. प्रत्यक्षगोचर है ? २ या अनुमान से सवेद्य है ?

१. प्रथम विकल्प-प्रत्यक्ष गोचर नही कह सकते। कारण, चक्षु आदि बाह्यकरणभूत इन्द्रिय के व्यापार से उत्पन्न होने वाले विज्ञानो का स्वभाव ही ऐसा है कि वे अमुक अमुक निकटवर्त्ती रूप आदि विषयो से नियमित यानी तन्मात्रविषयो का ही साक्षात्कार करे, अन्य का नही, तो ऐसे विज्ञानों मे जब परकीय ज्ञानमात्र को भी ग्रहण करने का सामर्थ्य नही है तो फिर अनादि-अनत अतीत-अनागत और वर्त्तमानकालीन सूक्ष्म व्यवहितस्वभाव वाले सकल पदार्थो को साक्षात् करने वाले सवेदन विशेष को या तथाभूतसवेदनविशिष्ट पुरुष को ग्रहण करने का सामर्थ्य उन विज्ञानो मे होने की बात ही कहाँ ? क्योंकि चक्षुआदिइन्द्रियजन्य ज्ञान की अपनी विषयमर्यादा के बाहर रहे हुये पदार्थ में ग्रहणप्रवृत्ति होने का सम्भव नही है। यदि चक्षु आदि कोई एक इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान मे यह गुंजाइश होती तो पाँच मे से किसी भी एक इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान रूपादि सकल विषयो के ग्राहकरूप में संभव होने से शेष चार इन्द्रिय की कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी। यह भी विचारणीय है कि सर्वज्ञग्राही प्रत्यक्ष जब तक सूक्ष्म-व्यवहित समस्त पदार्थो का ग्रहण न कर लेगा तब तक उन पदार्थो को साक्षात् करने मे प्रवर्त्तमान सर्वज्ञ के ज्ञान का भी ग्रहण न हो सकेगा। क्योंकि 'सर्वज्ञ का ज्ञान समस्तज्ञेयग्राही है' ऐसा ज्ञानगत समस्तज्ञेयग्राहकता का ज्ञान हमारे लिये तब तक असम्भव है जब तक हमारा ज्ञान समस्तज्ञेयग्राही न हो। यह तो प्रसिद्ध ही है कि हमारा ज्ञान सकलज्ञेयग्राही नही है, इसलिये सकलज्ञेयग्राहि सवेदन से समन्वितपुरुषविशेष का ग्रहण (प्रथम विकल्प मे) प्रत्यक्ष से होने का सम्भव नही है।

गृह्यते, उतानुमानेन ? न तावदध्यक्षेण, अध्यक्षस्यात्यक्षज्ञानवत्सत्त्वसाक्षात्करणाक्षमत्वेन तदवगति-निमित्तहेतुप्रतिबन्धग्रहणेऽप्यक्षमत्वात्, न ह्यनवगतसंबन्धिना तद्गतसम्बन्धावगमो विधातुं शक्यः। नाप्यनुमानेन तद्गतसम्बन्धावगमः, तथाभ्युपगमेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषद्वयानतिवृत्तेः। न चाऽगृहीत-प्रतिबन्धाद्धेतोरुपजायमानमनुमानं प्रमाणतामासादयति।

तथा, धर्मिसम्बन्धावगमोऽपि न प्रत्यक्षतः, अनक्षज्ञानवत्प्रत्यक्षेऽक्षप्रभवस्याध्यक्षस्याऽप्रवृत्तेः, प्रवृत्तौ वाऽध्यक्षेणैव सर्वविदः सवेदनाद् अनुमाननिबन्धनहेतुव्यापारणं व्यर्थम्। न चानुमानतोऽप्यन-क्षज्ञानवतोऽवगमः, हेतु-पक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैव धर्मिग्राहकस्याऽप्रवृत्तेः, न चाऽप्रतिपन्नपक्ष-धर्मत्वो हेतुः प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्तिहेतुरिति नाऽनुमानतोऽपि सर्वज्ञप्रतिपत्तिः।

[सर्वज्ञ का उपलम्भ अनुमान से अशक्य]

अनुमान से भी सकलपदार्थज्ञाता का उपलम्भ शक्य नही है। अनुमान तभी प्रमाण बन सकता है, जब वह ऐसे हेतु से उत्पन्न हो जिसका अपने साध्यभूत धर्म के साथ (व्याप्ति रूप सम्बन्ध) और धर्मी के साथ सबन्ध होने का निश्चय हो। साध्यधर्म प्रस्तुत में सकलपदार्थज्ञाता की सत्ता है, उसके साथ हेतु का व्याप्ति सम्बन्ध किस प्रमाण से निश्चित होगा ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

प्रत्यक्ष से व्याप्ति का निश्चय शक्य नही है। कारण, साध्य अतीन्द्रियवस्तुज्ञान के सत्त्व के ग्रहण मे प्रत्यक्ष समर्थ नही है इसलिये अतीन्द्रियवस्तुज्ञाताग्रहणमूलक व्याप्ति के ग्रहण मे भी प्रत्यक्ष की क्षमता नही है। जिसका सम्बन्धी अज्ञात है उसके सम्बन्ध का भी ज्ञान हो नही सकता।

अनुमान से भी हेतुनिष्ठ व्याप्तिसम्बन्ध का बोध अशक्य है क्योकि यहाँ इतरेतराश्रय और अनवस्था दोषयुगल दुर्निवार है-१ इतरेतराश्रय -हेतुनिष्ठव्याप्ति का बोध जिस अनुमान से करना है उस अनुमान की कारणीभूत व्याप्ति भी यदि प्रथम अनुमान से गृहीत होगी तो प्रथम और द्वितीय अनुमान एक-दूसरे के आश्रित बन जायेंगे। २-अनवस्था -यदि द्वितीय अनुमान कारणीभूत व्याप्ति का बोध तृतीय अनुमान से करेंगे तो तृतीय अनुमान मे आवश्यक तदीयव्याप्तिज्ञान के लिये चौथा अनुमान करना पड़ेगा तो इसका कही भी अन्त नही आयेगा। यदि कहे कि-'व्याप्तिज्ञान के विना ही प्रथम अनुमान हो जायेगा इसलिये कोई दोष नही होगा'-तो यह समझ लो कि-व्याप्तिग्रह शून्य हेतु से होने वाला अनुमान कभी भी प्रमाणमुद्रा से अंकित नही होता।

[धर्मी सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष-अनुमान से अशक्य]

सर्वज्ञसत्त्वरूप साध्य धर्म का धर्मी जो सर्वज्ञ है उसके साथ हेतु का सम्बन्धज्ञान भी आवश्यक है किन्तु प्रत्यक्ष से वह नही हो सकता क्योकि अतीन्द्रियज्ञानवान के साक्षात्कार मे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की पहुच नही है। यदि इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष की वहाँ प्रवृत्ति शक्य है तो उस प्रत्यक्ष से ही सर्वज्ञ का सवेदन सिद्ध हो जाने से अनुमान के लिये हेतु का प्रयोग निरर्थक हो जायेगा। धर्मी अतीन्द्रियज्ञानवान का अनुमान से भी बोध शक्य नही है, क्योकि हेतु की पक्षवृत्तिता के ज्ञान के विना धर्मिग्राहक अनुमान की प्रवृत्ति ही शक्य नही है और हेतु की पक्षवृत्तिता यानी अतीन्द्रियज्ञानवान मे हेतु की वृत्तिता जब तक ज्ञात न हो तब तक, प्रतिनियत यानी अपने इष्ट साध्य, के अनुमान मे वह हेतु कारण नही बन सकता। इस प्रकार यह फलित होता है कि अनुमान से भी सर्वज्ञ का ज्ञान शक्य नही है।

किंच, सर्वज्ञसत्तायां साध्यायां त्रयीं दोषजातिं हेतुर्नातिवर्त्तते--असिद्ध-विरुद्धा-नैकान्तिकलक्षणाम् । तथाहि–सकलज्ञसत्त्वे साध्ये किं भावधर्मो हेतुः, उताभावधर्मः, आहोस्विदुभयधर्मः ? तत्र यदि भावधर्मस्तदाऽसिद्धः । अथाभावधर्मस्तदा विरुद्धः, भावे साध्येऽभावधर्मस्याऽभावाऽव्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । अथोभयधर्मस्तदोभयव्यभिचारित्वेन सत्तासाधनेऽनैकान्तिकत्वमिति न सकलज्ञसत्त्वसाधने कश्चित् सम्यग् हेतुः सम्भवति ।

अपि च यद्यनियतः कश्चित् सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेतस्तदा तत्कृतप्रतिनियतागमाश्रयणं नोपपन्नं भवताम् । अथ प्रतिनियत एक एवार्हन् सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते तदा तत्साधने प्रयुक्तस्य हेतोरपरसर्वज्ञस्याभावेन दृष्टान्तानुवृत्त्यसंभवादसाधारणानैकान्तिकत्वादसाधकत्वम् । किंच, यत एव हेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञस्तत एव बुद्धोऽपि स स्यादिति कुतः प्रतिनियतसर्वज्ञप्रणीतागमाश्रयणमुपपत्तिमत् ? ! इति न कश्चित् सर्वज्ञसाधको हेतुः ।

अथ सर्वे पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् , अग्न्यादिवदिति तत्साधनहेतुसद्भावः । तदसद्-यतोऽत्र किं सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सर्वपदार्थानां साध्यत्वेनाऽभिप्रेतम् , आहोस्वित् प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वमिति कल्पनाद्वयम् । यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, प्रतिनियतरूपादि-

[सर्वज्ञ सिद्धि में असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक दोषत्रयी]

यह भी ज्ञातव्य है-सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करने मे हेतु तीन दोषजाति का उल्लघन नही कर सकेगा । १-असिद्धि, २-विरोध, ३-व्यभिचार । वह इस प्रकार-सर्वज्ञसत्तारूप साध्य के ऊपर तीन प्रकार का हेतु सभवित है-A-भावधर्मरूप, B-अभावधर्मरूप, C-उभयधर्मरूप । ये तीनो नही घट सकते है, जैसे सर्वज्ञ सत्ता को सिद्ध करने वाला भावधर्मस्वरूप कोई हेतु प्रसिद्ध नही है इसलिये वह असिद्ध हुआ । अभावधर्मरूप हेतु विरोधी होगा क्योकि यहाँ साध्य भावात्मक है जब कि हेतु अभावधर्म हर हमेश अभाव का ही अविनाभावी होता है भाव का नही, बल्कि भाव का तो वह सदात्यागी ही होगा अत अभावधर्मरूप हेतु विरुद्ध हो गया । यदि भावाभावउभयधर्मस्वरूप हेतु की आशंका की जाय तो यहाँ व्यभिचार दोष लगेगा क्योकि साध्य भावात्मक है जो भाव मे ही रहेगा और हेतु तो उभय धर्मरूप होने से भाव और अभाव उभयत्र रहेगा अतः साध्याभाववाले में भी रह गया । अत यह निष्कर्ष मानना होगा कि सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करने वाला कोई वास्तविक निर्दोष हेतु नही है ।

यह भी विचारणीय है कि आप अनियतरूप से बुद्ध-महावीर भगवान आदि किसी भी एक सर्वज्ञ को सिद्ध करना चाहते है तो वैसे सर्वज्ञ से रचित प्रतिनियत यानी केवल जैन आगमो का ही आशरा लेना आपके लिये शोभास्पद नही है, आपको बुद्धादिप्रणीत आगम भी मान्य करना चाहिये । यदि प्रतिनियत ही एकमात्र अरिहत देव का सर्वज्ञरूप मे स्वीकार करके उसको साध्य बनायेगे तो वह अनुमान सर्वज्ञसत्ता का साधक नही हो सकेगा, क्योकि आपके माने हुए सर्वज्ञ से अन्य तो ऐसा कोई सर्वज्ञ है नही जिसको दृष्टान्त बनाकर हेतु की अनुवृत्ति यानी सपक्षवृत्तिता दिखा सके और हेतु जब सर्व सपक्ष व्यावृत्त होता है तो असाधारण-अनैकान्तिक दोष लगता है । दूसरी बात यह है कि जिस हेतु से आप अरिहतदेव को सर्वज्ञ सिद्ध करेगे, उसी हेतु से बुद्ध भी सर्वज्ञ सिद्ध हो सकते है जो आपको इष्ट नही है तो किसी नियत ही महावीरस्वामी आदि विरचित-प्रतिपादित आगमशास्त्र का आशरा लेना युक्तियुक्त नही है । कथन का तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञसत्त्व का साधक कोई भी हेतु नही है ।

विषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्न्यादिदृष्टान्तधर्मिणि प्रमेयत्वलक्षणस्य हेतोरुपलम्भाद् हेतुविरुद्धत्व-साध्यविकलदृष्टान्तदोषद्वयाघ्रातत्वात्। अथ द्वितीयः, सोऽप्यसंगत, सिद्धसाध्यतादोषप्रसंगात्।

तथा, प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानं १. किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमभ्युपगम्यते २. उत अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपम्, ३ आहोस्विद् उभयव्यक्तिसाधारणसामान्यस्वभावम्? इति विकल्पाः। तत्र यदि १ प्रथमः पक्षः, स न युक्तः, विवादाध्यासितपदार्थेषु तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्याऽसिद्धत्वात्, सिद्धत्वे वा साध्यस्यपि हेतुवत् सिद्धत्वाद् व्यर्थं हेतूपादानम्, तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्तेऽग्न्यादिलक्षणेऽसिद्धेः संदिग्धान्वयश्च हेतुः स्यात्। २. अथास्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वं हेतुस्तदा तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरेष्वतीन्द्रियेष्वसम्भवादसिद्धो हेतुः, सिद्धौ वा ततस्तथाभूतप्रत्यक्षत्वसिद्धिरेव स्यात्, तत्र चाऽविवाद इति न हेतूपन्यासः सफलः। ३. अथोभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्वसामान्यं हेतुरिति पक्षः, सोऽप्यसंगतः, अत्यन्तविलक्षणातीन्द्रिय-इन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाधारणस्य सामान्यस्याऽसम्भवात्, न हि शाबलेय-कर्कव्यक्तिद्वयसाधारणमेकं गोत्वसामान्यमुपलब्धमिति प्रमेयत्वसामान्यलक्षणो हेतुरसिद्ध इति नानुमानादपि सर्वज्ञसिद्धिः।

[सर्वपदार्थ में ज्ञानप्रत्यक्षत्वसाधक अनुमान का निराकरण]

सर्वज्ञसिद्धि के लिये यह अनुमान लगाया जाय कि–सम्पूर्ण पदार्थ किसी पुरुष को प्रत्यक्ष है क्योंकि वे प्रमेय है जैसे अग्नि आदि- इस प्रकार सर्वज्ञ साधक हेतु का सद्भाव दिखाया जाय तो वह भी अनुचित है क्योंकि यहाँ दो कल्पना प्राप्तावकाश है–१-सर्व पदार्थ मे समस्तज्ञेयसाक्षात्कारी एक ज्ञान की प्रत्यक्षता साध्यतया अभिप्रेत है? या २-प्रतिनियत तद् तद् विषय को साक्षात् करने वाले भिन्न-भिन्न अनेक ज्ञान की प्रत्यक्षता सर्व पदार्थों मे अभिमत है? इन दो मे से यदि आद्य पक्ष का स्वीकार करे तो वह युक्त नही है क्योंकि प्रमेयत्व हेतु सकलपदार्थ साक्षात्कारिएकज्ञानप्रत्यक्षता का व्याप्य नही देखा गया वलिक अग्नि आदि दृष्टान्त धर्मी मे उससे विपरीत यह देखा गया है कि प्रमेयत्व हेतु तो प्रतिनियत तद् तद् रूपादिविषयग्राहक भिन्न भिन्न अनेक ज्ञानप्रत्यक्षता का ही व्याप्य है। फलतः हेतु विरोधी साध्य का साधक होने के कारण हेतु मे यहाँ विरुद्धत्व दोष लगेगा और अग्नि आदि दृष्टान्त मे प्रस्तुत साध्य न रहने से साध्यवैकल्य दोष आयेगा। यदि दूसरे विकल्प मे, सर्व पदार्थो मे प्रतिनियत तद् तद् विषय ग्रहण करने वाले अनेक ज्ञान की प्रत्यक्षता को साध्य माना जाय तो यह मीमासक को इष्ट होने से सिद्धसाध्यता दोष लगेगा, अतः वह दूसरा विकल्प भी असगत है।

[प्रमेयत्व हेतु का तीन विकल्प से विघटन]

सर्वज्ञसिद्धि के लिये उपन्यस्त अनुमान मे जो प्रमेयत्व हेतु कहा गया है उसके उपर सभवित तीन विकल्प है। प्रमेयत्व का अर्थ है प्रमाणविषयत्व, तो यहाँ प्रमाण शब्द का क्या अर्थ समझना? क्या १. सकल ज्ञेय वस्तु का व्यापक यानी ग्राहक ऐसा कोई अतीन्द्रियअर्थग्राहीप्रमाण अभिप्रेत है? २ अथवा हम आदि को जो प्रमाणज्ञान होता है वह अभिप्रेत है? ३. या उक्त उभय विकल्प साधारण सामान्य प्रमाण अभिमत है? इन तीन मे से किस प्रकार के प्रमाण से निरूपित प्रमेयत्व को आप हेतु करते है?

नाऽपि शब्दात्, यतः शब्दोऽपि तत्प्रतिपादकोऽभ्युपगम्यमानः किं नित्यः उताऽनित्यः? इति कल्पनाद्वयम्। न तावद् नित्यः, सर्वज्ञबोधकस्य नित्यस्यागमस्याभावात्, भावेऽपि तत्प्रतिपादकत्वेन तस्य प्रामाण्याऽसम्भवात्, कार्येऽर्थे तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात्। अथाऽनित्यस्तत्प्रतिपादक इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः, यतोऽनित्योऽपि किं तत्प्रणीतः स तदवबोधकः, अथ पुरुषान्तरप्रणीत इति विकल्पद्वयम्। तत्र न सर्वज्ञप्रणीतः स तदवबोधक इति पक्षो युक्तः, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात्। तथाहि-तत्प्रणीतत्वे तस्य प्रामाण्यम्, ततः तस्य तत्प्रतिपादकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। नाऽपि पुरुषान्तरप्रणीतस्तदवबोधकः, तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रमाणत्वात्। तन्न शब्दादपि तस्य सिद्धि.।

अगर प्रथम विकल्प का ग्रहण किया जाय तो वह अयुक्त है, कारण, जिन पदार्थों के बारे मे विवाद हैं ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थो मे सकलज्ञेयव्यापक प्रमाण का प्रमेयत्व कही भी सिद्ध नही है। कदाचित् किसी प्रकार वह सिद्ध है तब तो साध्यसिद्धि उपरोक्त प्रकार के हेतु की सिद्धि मे ही अन्तर्भूत हो जाने से सर्वज्ञसिद्धि के लिये हेतु का प्रयोग व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि अग्नि आदि रूप दृष्टान्त मे सकलज्ञेयव्यापकप्रमाणप्रमेयत्वरूप हेतु सिद्ध न होने से साध्य के साथ हेतु की अन्वयव्याप्ति भी सदिग्ध बन जाती है।

दूसरे विकल्प में, हम आदि के प्रमाणज्ञान का प्रमेयत्व हेतु बनाया जाय तो हेतु की असिद्धि हो जायेगी, क्योंकि विवादास्पद अतीन्द्रियपदार्थो मे हमारे प्रमाणज्ञान का विषयत्वरूप प्रमेयत्व कभी भी सिद्ध नही है। अगर वह सिद्ध होता, तब तो अतीन्द्रियपदार्थों मे तथाप्रकार के प्रत्यक्षत्व की-जो साध्यरूप से अभिमत है, अनायास सिद्धि हो जाने से विवाद ही समाप्त हो जाता है, अब हेतु का प्रयोग करना निष्फल है।

तीसरे विकल्प में, अतीन्द्रियार्थग्राहिप्रमाणप्रमेयत्व और ऐन्द्रियकार्थग्राहिप्रमाणप्रमेयत्व एत-दुभयसाधारण सामान्यप्रमेयत्व को हेतु बनाया जाय तो यह पक्ष भी असगत है क्योकि अतीन्द्रियविषय-प्रमाणप्रमेयत्व और इन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्व ये दोनो व्यक्ति अत्यन्त विलक्षण है इसलिये तदुभय साधारण प्रमेयत्वसामान्य का कोई सभव नही है। शबल वर्ण धेनु और श्यामवर्ण धेनु मे गोत्व सामान्य हो सकता है किन्तु अत्यन्तविलक्षण शबलवर्ण धेनु और श्वेतअश्व मे साधारण हो ऐसा कोई सामान्य धर्म उपलब्ध नही है। अत तीसरे विकल्प मे प्रयुक्त प्रमेयत्वसामान्य हेतु असिद्ध होने से इस निष्कर्ष पर आना पडेगा कि अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि नही की जा सकती।

[शब्दप्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि अशक्य]

सर्वज्ञसिद्धि के लिये शब्द भी प्रमाण नही है। सर्वज्ञ की सिद्धि का सपादक जिस शब्द को माना जायेगा उसके उपर दो कल्पना सावकाश है कि वह शब्द नित्य होगा या अनित्य? नित्य शब्द से सर्वज्ञसिद्धि की आशा व्यर्थ है, कारण, सर्वज्ञ साधक कोई भी नित्य आगम प्रसिद्ध नही है। कदाचित् किसी के मत मे सर्वज्ञ का प्रतिपादक नित्य आगम प्रसिद्ध हो तो भी उस आगम मे प्रामाण्य असंभवित है। कारण, उस मत मे यह व्यवस्था की गयी है कि नित्य आगमवाक्य कार्य यानी प्रयत्नसाध्य स्वर्गादि साधनभूत यज्ञादि अर्थ मे ही प्रमाण है किन्तु सिद्ध नदी-पर्वत आदि अर्थ मे प्रमाण नही है।

अनित्य आगम सर्वज्ञ का प्रतिपादक हो यह पक्ष माना जाय तो वह भी युक्तिसगत नही है। कारण, यहा भी दो विकल्प सावकाश है-१. वह सर्वज्ञबोधक अनित्य आगम सर्वज्ञप्रणीत है या

नाऽपि उपमानात् तत्सिद्धिः, यत उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे साहश्यालम्बनं तदभ्युपगम्यते, न चोपमानभूतः कश्चित् सर्वज्ञत्वेन प्रत्यक्षतः सिद्धो येन तत्साहश्यादन्यस्य सर्वज्ञत्वमुपमानात् साध्यते, सिद्धौ वा प्रत्यक्षत एव सर्वज्ञस्य सिद्धत्वान्नोपमानादपि तत्सिद्धिः।

सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्यार्थस्य कस्यचिदभावाद् नार्थापत्तेरपि सर्वज्ञसत्त्वसिद्धिः। न चागमप्रामाण्यलक्षणस्यार्थस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानस्य तत्परिकल्पकत्वम्, अतीन्द्रिये स्वर्गाद्यर्थे तत्प्रणीतत्वनिश्चयमन्तरेण तस्य प्रामाण्याऽनिश्चयात्, अपौरुषेयत्वादपि तत्प्रामाण्यसम्भवात् कुतस्तस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानता? तन्नार्थापत्तितोऽपि तत्सिद्धिः।

अभावाख्यस्य तु प्रमाणस्याभावसाधकत्वेन व्यापाराद् न तत्सद्भावसाधकत्वम्। न चोपमानाऽर्थापत्त्यभावप्रमाणानां भवता प्रामाण्यमभ्युपगम्यत इति न तेभ्यस्तत्सिद्धिः। तदुक्तम्

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः। दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिंगं वा योऽनुमापयेत्॥
न चाऽऽगमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः। न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते॥

असर्वज्ञपुरुषप्रणीत है? प्रथम विकल्प-सर्वज्ञबोधक आगम सर्वज्ञप्रणीत है यह पक्ष इतरेतराश्रय दोष होने के कारण अनुचित है। जैसे, सर्वज्ञप्रणीत होने पर वह आगम प्रमाणभूत होगा, और प्रमाणभूत होने पर उससे सर्वज्ञ का यथार्थ प्रतिपादन किया जायगा--इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष स्पष्ट ही है। २ असर्वज्ञप्रणीत अनित्य आगम वाक्य सर्वज्ञ के प्रतिपादन मे समर्थ नही है क्योकि वह उन्मत्त वाक्य तुल्य हो जाने से अप्रमाण है। निष्कर्षः-शब्द प्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि अशक्य है।

उपमानप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि की आशा नही है। कारण, उपमानप्रमाण का विषय साहश्य होता है और साहश्य का भान उपमान और उपमेय दोनों को प्रत्यक्ष करने पर होता है, यहाँ कमनसीबी यह है कि ऐसा कोई सर्वज्ञपुरुष का दृष्टान्त प्रत्यक्ष से सिद्ध नही है जिसके साहश्य द्वारा अन्य किसी पुरुष मे उपमानप्रमाण से सर्वज्ञता की सिद्धि की जा सके। तथा वैचित्र्य यह है कि यदि वैसा कोई सर्वज्ञपुरुष दृष्टान्त प्रत्यक्ष से सिद्ध होता तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने से, उपमान से सर्वज्ञ की सिद्धि मानना नितान्त व्यर्थ है।

अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नही हो सकती। कारण, प्रत्यक्षादि छह प्रमाण से ऐसा कोई अर्थ ही प्रसिद्ध नही है जिसकी सर्वज्ञ का सत्त्व न मानने पर उपपत्ति न हो सके। आगम का प्रामाण्य यह कोई ऐसा अर्थ नही है जो सर्वज्ञ के बिना उपपन्न न होने से सर्वज्ञ की कल्पना का प्रयोजक हो सके। कारण यह है कि जब तक उस आगम मे सर्वज्ञप्रतिपादितत्व का निश्चय सभवबाह्य है तब तक अतीन्द्रिय स्वर्गादि अर्थ के स्वीकार मे वह आगम प्रमाण ही नही है। उपरात, आगम का प्रामाण्य [मीमासकमतानुसार] अपौरुषेयताप्रयुक्त भी होने का सभव है, अत' सर्वज्ञ के बिना आगम के प्रामाण्य की अनुपपत्ति कैसे कही जाय? तात्पर्य, अर्थापत्ति सर्वज्ञसद्भाव की साधक नही हो सकती।

अभावप्रमाण से भी सर्वज्ञसिद्धि दुःशक्य है क्योकि वह अभाव का साधक है, किसी के सद्भाव का साधक नही है। दूसरी बात यह है कि उपमान-अर्थापत्ति और अभावप्रमाण को आप (जैन विद्वान्) प्रमाण ही नही मानते है, अत उन से सर्वज्ञ की सिद्धि सभव नही है। श्लोकवार्त्तिक और तत्त्वसग्रह आदि मे कहा भी है-

न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् । नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥
[द्रष्टव्यं-तत्त्व सं० ३१८५-८६, तथा श्लो० वा सू० २-११७/१८]

ततो 'ये देश-काल०' इत्यादिप्रयोगे नाऽसिद्धो हेतुः। सद्व्यवहारनिषेधश्च अनुपलम्भमात्रनिमित्तोऽनेकधानेनान्यत्र प्रवर्त्तित इति अत्रापि तन्निमित्तसद्भावात् प्रवर्त्तयितुं युक्तः ।

अथ यथाऽस्माकं तत्सद्भावाऽऽवेदकं प्रमाण नास्ति तथा भवतां तदभावावेदकमपि नास्ति-इति सद्व्यवहारवदभावव्यवहारोऽपि न प्रवर्त्तितव्यः । तथाहि सर्वविदोऽभावः किं प्रत्यक्षसमधिगम्यः, प्रमाणान्तरगम्यो वा ? तत्र न तावत् प्रत्यक्षसमधिगम्य, यतः प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावाऽऽवेदकमभ्युपगम्यमानं किं 'सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न' इत्येवं प्रवर्त्तते ? उत 'क्वचित् कदाचित् कश्चित् सर्वज्ञो नास्ति' इत्येवं ? इति कल्पनाद्वयम् । तत्र यदि 'सर्वत्र सर्वदा सर्वो सर्वज्ञो न' इति प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिस्तर्हि न सर्वज्ञाभाव, तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वात् । न हि सकलदेशकालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण तदाधारमसर्वज्ञत्वमवगन्तुं शक्यम्, तत्साक्षात्करणे च कथं न तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञत्वम् ? इति नाद्यः पक्षः । द्वितीयेऽपि पक्षे न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति न प्रत्यक्षात् सर्वज्ञाभावसिद्धि ।

"इस काल मे हम लोगों को सर्वज्ञ का दर्शन नही होता है, अथवा उसका कोई एक देश (यानी अश अथवा पक्षधर्म) भी नही दिखता जो लिंग बनकर उसका अनुमान करावे ।

सर्वज्ञ का बोधक कोई नित्य आगम-विधिवाक्य भी नही है । वेदमन्त्रो में अर्थवादपरक वाक्यो का सर्वज्ञ मे तात्पर्यग्रह कल्पित यानी निश्चित नही है ।

तथा (अनित्य) आगम से सर्वज्ञसिद्धि शक्य नही है क्योकि वह आगम सर्वज्ञप्रणीत मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष है और अन्य असर्वज्ञपुरुषप्रणीत मानेंगे तो उसको प्रमाण कैसे माना जाय ?"

अब तक किये गये परामर्श का निष्कर्ष यही है कि नास्तिक की ओर से जो यह अनुमान प्रयोग किया गया है-"जो देश-काल-स्वभाव से विप्रकृष्ट होते हुए सद्वस्तु के उपलम्भक प्रमाण के विषयभाव से अनापन्न पदार्थ होते है वे बुद्धिमानो के सद्व्यवहारमार्ग के राही नही होते" इत्यादि, इस प्रयोग में सद्-उपलम्भकप्रमाणविषयभाव-अनापन्नता हेतु सर्वज्ञाभाव की सिद्धि मे असिद्ध नही है। तथा यह तो सुप्रसिद्ध है कि जिस वस्तु का उपलम्भ नही होता उसके सद्रूप से व्यवहार का निषेध अन्यत्र अनेक वार किया गया है तो सर्वज्ञ के विषय मे भी अनुपलम्भरूप निमित्त विद्यमान होने से सद्व्यवहार का निषेध उचित है ।'

नास्तिक यहाँ प्रतिवादी की ओर से विस्तृत आशका को उपस्थित करता है-प्रतिवादी आशका करता है कि,-

हमारे पास जैसे सर्वज्ञ के सद्भाव का प्रदर्शक कोई प्रमाण नही है, तथैव आपके पास सर्वज्ञाभाव का प्रदर्शक भी कोई प्रमाण नही है तो जैसे सद्व्यवहारप्रवर्त्तन का आप निषेध करते है, उसी प्रकार अभावव्यवहारप्रवर्त्तन का भी निषेध करना चाहिये । जैसे कि- सर्वज्ञ का अभाव क्या प्रत्यक्षगम्य है या प्रत्यक्षान्यप्रमाणगम्य है ? प्रत्यक्ष से तो सर्वज्ञाभाव नही जाना जा सकता । कारण, यदि आप प्रत्यक्ष को सर्वज्ञाभाव बोधक मानेंगे तो उसके ऊपर दो प्रश्न कल्पना सावकाश है-१ क्या- 'कही भी कभी भी कोई भी सर्वज्ञ नही है' इस प्रकार से प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है, २. या 'किसी जगह कोई एक काल मे कोई कोई पुरुष सर्वज्ञ नही है' इस प्रकार के प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है ?

अथ न प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावसाधकं किन्तु निवर्त्तमानम् । ननु यदि निखिलदेशकालाधारसकलपुरुषपरिषदाश्रितानन्तपदार्थसंविद्व्यापकम् कारण वा तद् स्यात् तदा तन्निवर्त्तमानं तथाभूत सर्वज्ञत्वं व्यावर्त्तयेद् नान्यथा, अतथाभूतनिवृत्तौ तन्निवृत्तेरसिद्धेः तथाभ्युपगमे वा स एव सर्वज्ञ इति न तेन तन्निषेधः । किं च, प्रत्यक्षनिवृत्तिर्यदि प्रत्यक्षमेव तदा स एव दोषः । अथ प्रत्यक्षादन्या तदाऽसौ प्रमाणं, अप्रमाणं वा ? अप्रमाणत्वे नातः सर्वज्ञाभावसिद्धिः । प्रमाणत्वे नानुमानत्वम्, सर्वात्मसंबन्धिन्यास्तन्निवृत्तेर्यथासंख्यमसिद्धानैकान्तिकत्वदोषद्वयसद्भावात् । न च तुच्छा तन्निवृत्तिस्तदभावज्ञापिका, तुच्छायाः केनचित् सह प्रतिबन्धाभावेन सर्वसामर्थ्यविरहेण च ज्ञापकत्वाऽसम्भवात् । तन्न प्रवर्त्तमानं निवर्त्तमानं वा प्रत्यक्षं तदभावं साधयति ।

यदि प्रथम विकल्प माने कि 'कही भी कभी भी कोई भी सर्वज्ञ नही है' इस प्रकार किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति मानी जाय तब तो सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही हुआ, बल्कि इस प्रकार के ज्ञानवाली व्यक्ति ही सर्वज्ञरूप मे सिद्ध हुई । कारण, सर्वदेश-कालवर्त्ती समग्र व्यक्तिओ मे रही हुयी असर्वज्ञता का, सर्वदेश-कालवर्त्ती समस्त पुरुषव्यक्ति का साक्षात्कार किये विना पता लगाना शक्य नही है । और वैसा साक्षात्कार किया जाय तब वह ज्ञानी पुरुष ही सर्वज्ञ क्यो नही होगा ? दूसरी कल्पना- 'किसी जगह कोई एक काल मे कोई कोई पुरुष सर्वज्ञ नही है' ऐसा माना जाय तो इसमे किसी भी प्रकार सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होता किन्तु 'अमुक व्यक्ति सर्वज्ञ नही है' इतना ही सिद्ध होता है । अत प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही है ।

[निवर्त्तमान प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभावसाधक नहीं है]

यदि नास्तिक कहेगा कि-'प्रत्यक्ष इसलिये सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नही करता कि वह सर्वज्ञाभावरूप विषय मे प्रवृत्ति करता है, किंतु सर्वज्ञ के विषय मे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही अपितु निवृत्ति है अत. यह निवर्त्तमान प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध किया जाता है'-तो इस पर प्रतिवादी आशका कार का कहना है कि निवृत्त होने वाला प्रत्यक्ष सर्वज्ञता की व्यावृत्ति यानी निषेध तभी कर सकता है जब अखिल देश-कालवर्त्ती समस्तपुरुष वर्ग के आश्रित अनन्त अनन्त पदार्थ सवेदन का वह निवर्त्तमान प्रत्यक्ष व्यापक होता अथवा तो कारण होता, अन्यथा नही । यदि निवर्त्तमान प्रत्यक्ष उक्त प्रकार के सवेदन का व्यापक या कारण नही होगा तो उससे सर्वज्ञता का निषेध नही हो सकेगा और यदि वह निवर्त्तमान प्रत्यक्ष उक्त प्रकार के सवेदन का व्यापक या कारण मानेंगे तब तो तथाभूत प्रत्यक्ष करने वाली व्यक्ति ही सर्वज्ञ बन जायेगी, अत एव सर्वज्ञ का निषेध नही हो सकेगा ।

यह भी सोचिये की वह सर्वज्ञनिषेध करने वाली प्रत्यक्षनिवृत्ति क्या है ? यदि प्रत्यक्षज्ञानात्मक है तब तो सर्वज्ञ अभाव प्रतिपादक प्रत्यक्ष पक्ष मे जो दोष दिया गया है वही दोष लगेगा । यदि प्रत्यक्षभिन्नज्ञानरूप है तो उसको अप्रमाण मानेंगे या प्रमाण ? यदि अप्रमाण मानेंगे तो सर्वज्ञाभाव सिद्धि का आशा मत करना । अगर प्रमाण मानेंगे तो वह दोषयुगलग्रस्त होने से अनुमान प्रमाणरूप नही होगी क्योकि-१. 'समस्त व्यक्ति को सर्वज्ञ का अनुमान नही होता' इस प्रकार की निवृत्ति असिद्ध है और २. केवल आत्मीय यानी आप को ही सर्वज्ञ साधक अनुमान नही होता अतः सर्वज्ञाभाव मानेंगे तो अनेकान्तिक दोष लगेगा क्योकि जिस विषय का आप को अनुमान नही होता उस वस्तु का भी सद्भाव तो प्रसिद्ध है । यदि उस निवृत्ति को तुच्छ मानेंगे तो वह सर्वज्ञाभाव की बोधक नही होगी ।

प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि तदभावो न तावदनुमानगम्यः, तदभावसाधकानुमानाभावात्। अथ 'विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवत्' इत्यनुमानं तदभावसाधकम्। नन्वत्र किं प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्व हेतुः, उत तद्विपरीतस्य, आहोस्विद् वक्तृत्वमात्रमिति वक्तव्यम्। यदि 'प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वात्' इति हेतुस्तदा विरुद्धो हेतुः, तथाभूतवक्तृत्वस्य सर्वज्ञे एव भावात्। अथ प्रमाणान्तरविसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वात्' इति हेतुस्तदा सिद्धसाधनम्, तथाभूतस्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेनाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात्। अथ वक्तृत्वमात्रं हेतुः। न, तस्य साध्यविपर्ययेण सर्वज्ञत्वेनाऽनुपलब्धेन सहानवस्थानलक्षणस्य, तदन्यवच्छेदस्वभावेन च परस्परपरिहारस्वरूपस्य च विरोधस्याऽभावाद् न ततो व्यावृत्तिसिद्धिरिति न स्वसाध्यनियतत्वम्, तदभावाच्च स्वसाध्यसाधकत्वम्।

अथ सर्वज्ञो वक्ता नोपलब्ध इति ततो व्यावृत्तिसिद्धिः। न, सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्याऽसम्भवात्, सर्वज्ञ एव वक्तृत्वमात्मन्युपलप्स्यते सर्वज्ञान्तरेण वा तत् तत्र संवेदिष्यत इति न सम्भवः सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य। अथ सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात् सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सम्भवः। ननु सर्वज्ञा-

---

कारण, तुच्छस्वरूप निवृत्ति को किसी भी वस्तु के साथ कोई भी सम्बन्ध न होने से उस वस्तु के विधि-निषेध करने का कोई सामर्थ्य उसमे न होने से वह सर्वज्ञाभाव की ज्ञापक नही हो सकती। फलित यह हुआ कि प्रथम विकल्प मे प्रवर्त्तमान या निवर्त्तमान किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नही कर सकता।

[सर्वज्ञाभाव अनुमानगम्य नहीं है]

दूसरे विकल्प मे, सर्वज्ञ का अभाव प्रत्यक्षान्य प्रमाण गम्य यदि मान लिया जाय तो भी वह प्रत्यक्षान्य प्रमाण अनुमान से गम्य नही माना जा सकता, कारण, सर्वज्ञाभाव का साधक कोई अनुमान अस्तित्व मे नही है।

शंकाः-विवादास्पद पुरुष व्यक्ति सर्वज्ञ नही है क्योकि वह वक्ता है जैसे कि शेरी मे घुमने-फिरने वाला पुरुष। इस अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो सकता है।

उत्तरः-यहाँ वक्तृत्व हेतु के ऊपर तीन विकल्प है, १-प्रमाणान्तर से सवादी अर्थ का वक्तृत्व, २-प्रमाणान्तर विसवादी अर्थ का वक्तृत्व और ३-केवल वक्तृत्व। ये तीन विकल्प मे से यदि प्रथम विकल्प मे यह कहा जाय कि प्रमाणान्तर से जिस वाक्य मे सवाद मिलता है ऐसे वाक्य का वक्तृत्व यानी भाषकत्व हेतु है तो हेतु विरुद्ध बन जायेगा क्योकि ऐसा भाषकत्व सर्वज्ञ के विना दूसरे का सम्भव न होने से हेतु सर्वज्ञ साधक ही बन जायगा। दूसरे विकल्प मे उससे विपरीत, प्रमाणान्तर-विसवादी अर्थभाषकत्व हेतु किया जाय तब तो सिद्धसाधन दोष लगेगा, कारण-विसवादी भाषण करने वाले पुरुष को हम कभी भी सर्वज्ञ नही मानते। यदि तीसरे विकल्प मे केवल वक्तृत्व सामान्य को हेतु किया जाय तो वह सर्वज्ञविरोधी न होने से सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नही कर सकता क्योकि साध्याभाव सर्वज्ञाभावाभाव यानी सर्वज्ञ आपको कही भी उपलब्ध ही नही है और जो अनुपलब्ध होता है उसके सहानवस्थानरूप विरोध नही होता। एव जो अन्य का व्यवच्छेदकस्वभाववाला नही होता उसका परस्पर परिहार रूप विरोध भी नही माना जाता। वक्तृत्व सर्वज्ञ का व्यवच्छेदकन होने से सर्वज्ञपरिहारेण अवस्थित नही माना जा सकता। अतः केवल वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञ की निवृत्ति सिद्ध

भावः कुतः सिद्धः ? अन्यतः प्रमाणात् चेत् तत एव तदभावसिद्धेरस्य वैयर्थ्यम् । 'अत एवानुमानात्' इति न वक्तव्यम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् । सिद्धेऽतोनुमानात् सर्वज्ञाभावे सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भसंभव-सामर्थ्याद् हेतोर्विपक्षतो व्यावृत्तिः स्यात्, तस्य च विपक्षाद् व्यावृत्तस्य तत्साधकत्वमिति व्यक्तमितरेत-राश्रयत्वम् । भवतु वा सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भसंभवस्तथापि सकलपुरुषचेतोवृत्तिविशेषाणामसर्वज्ञेन ज्ञातु-मशक्तेरसिद्ध सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भ इति न ततो विपक्षव्यावृत्तिनिश्चयो वक्तृत्वस्येति कुतः संदिग्ध-विपक्षव्यावृत्तिकाद् हेतोस्तदभावसिद्धिः ?

नापि स्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भात् तद्व्यतिरेकनिश्चय तस्य स्वपितृव्यपदेशहेतुनाऽप्यनैकान्ति-कत्वात् । न चैवंभूतादपि हेतोः साध्यसिद्धिः । तथाभ्युपगमे न कश्चिद् सर्वज्ञाभावमवबुध्यते, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवत्' इति तदभावावगमाभावस्यापि सिद्धिः स्यात् । अथान्यत्रापि हेतावयं दोषः समानः इति सर्वानुमानोच्छेद । तदयुक्तम्-अन्यत्र विपक्षव्यावृत्तिनिमित्तस्यानुपलम्भव्यतिरेकेण बाधकप्रमाणस्य सद्भावात् । न चात्रापि तस्य सद्भावः शक्यं वक्तुम्, तदभावस्य हेतुलक्षणप्रस्तावे वक्ष्यमाणत्वात् ।

न होने से वक्तृत्व हेतु की अपने साध्य के साथ व्याप्ति घट नही सकती और व्याप्ति के बिना वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञाभावरूप अपने साध्य की भी सिद्धि दूर है ।

[विपक्षीभूत सर्वज्ञ से वक्तृत्व हेतु की निवृत्ति असिद्ध]

यदि यह माना जाय कि 'सर्वज्ञ पुरुष की वक्ता के रूप में कभी उपलब्धि नही है अतः सर्वज्ञ के वक्तृत्व की निवृत्ति सिद्ध होती है' तो यह सगत नही है । कारण, 'किसी को भी सर्वज्ञ पुरुष की वक्ता के रूप मे उपलब्धि नही है' ऐसा तो सम्भव ही नही है क्यों कि जो स्वय सर्वज्ञ है वह अपने मे वक्तृत्व की उपलब्धि कर ही लेगा अथवा अन्य सर्वज्ञ पुरुष सर्वज्ञान्तर व्यक्ति में वक्तृत्व का सवेदन कर लेगा, अतः 'किसी को भी सर्वज्ञनिष्ठ वक्तृत्व का उपलम्भ नही होता' यह कहना असभव है ।

यदि यह कहा जाय–"सर्वज्ञ कोई है ही नही इस लिये 'सर्वज्ञ को अपने मे वक्तृत्व की उपलब्धि होगी' इत्यादि कहना व्यर्थ होने से 'सर्व को सर्वज्ञ की अनुपलब्धि' का पूर्ण सभव है"-तो यह भी ठीक नही, कारण–'सर्वज्ञ नही है' यह कैसे सिद्ध हुआ ? यदि दूसरे किसी प्रमाण से, तब तो उसी से उसका अभाव सिद्ध हो गया तो सर्वज्ञाभावसिद्धि के लिये अब वक्तृत्व की व्यावृत्ति का प्रदर्शन बेकार है । अगर कहे कि–"हमने जो अनुमान दिखाया है 'विवादास्पदव्यक्ति सर्वज्ञ नही है क्यो कि वक्ता है"–इसी अनुमान से सर्वज्ञाभाव सिद्ध है"-तो इसमे स्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष खडा है–आपके इस अनुमान से सर्वज्ञाभाव सिद्ध होने पर सर्वसम्बन्धि अनुपलम्भ के संभव बल पर वक्तृत्व हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति सिद्ध होगी और वह सिद्ध होने पर वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञाभाव सिद्ध होगा–इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष निर्विवाद है । कदाचित् उदार हो कर हम सर्वसम्बन्धी अनुपलब्धि को मान लेगे तो भी समस्तपुरुषो की चित्तवृत्ति मे क्या है यह विशेषत. जानने मे असर्वज्ञ व्यक्ति समर्थ नही है अत. सर्वसम्बन्धी सर्वज्ञानुपलब्धि की सिद्धि दूर है । इस प्रकार सर्वज्ञाभाव का विपक्षीभूत सर्वज्ञ से वक्तृत्व हेतु की निवृत्ति सिद्ध न होने से यह सदेह तो कम से कम होगा ही कि 'सर्वज्ञ मे वक्तृत्व होता है या नही' । जब तक इस सदेह का निराकरण नही होगा तब तक वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञ का अभाव कैसे सिद्ध होगा ?

किं च, सर्वज्ञप्रतिपादकप्रमाणाभावे तस्याऽसिद्धत्वात् तदभावसाधनायोपन्यस्यमानः सर्वोऽपि हेतुराश्रयासिद्ध इति न तस्मात्तदभावसिद्धिः। अथ तद्ग्राहकत्वेन प्रमाणं प्रवर्त्तत इत्याश्रयाऽसिद्धत्वाभावस्तर्हि तत्साधकप्रमाणबाधितत्वात् पक्षस्य न तत्साधनाय हेतुप्रयोगसाफल्यमिति नानुमानादपेथः सर्वज्ञाभावः। अपौरुषेयत्वस्य प्राक्तनन्यायेनाऽसिद्धत्वात् सर्वज्ञप्रणीतत्वानभ्युपगमे शब्दस्य पुरुषदोषसंक्रान्त्याऽप्रामाण्यान्न ततोऽपि तदभावसिद्धिः।

[स्वकीय अनुपलम्भ से विपक्षव्यावृत्तिनिश्चय अशक्य]

केवल आपको 'सर्वज्ञपुरुष वक्ता नहीं होता' इस प्रकार की अनुपलब्धि हो जाय इतने मात्र से सर्वज्ञपुरुष से वक्तृत्व की निवृत्ति का निश्चय नहीं माना जा सकता क्योंकि आपको तो 'यह मेरे पिता हैं' इस व्यपदेश का निमित्त स्वजनकत्व भी उपलब्ध नहीं है फिर भी आपके पिता में से स्वजनकत्व की निवृत्ति को आप नहीं मानते हैं अतः केवल स्वकीय अनुपलब्धि व्यावृत्ति की व्यभिचारिणी है। जिस हेतु की विपक्षव्यावृत्ति संदिग्ध हो ऐसे हेतु से साध्यसिद्धि नहीं मानी जा सकती। फिर भी यदि वह मान ली जाय तब तो "कोई भी पुरुष सर्वज्ञाभाव का ज्ञाता नहीं है क्योंकि वक्ता है जैसे शेरी में घूमता फिरता कोई पुरुष" इस प्रकार के अनुमान प्रयोग में वक्तृत्व हेतु की सर्वज्ञाभावज्ञाता रूप विपक्ष से व्यावृत्ति निश्चित न होने पर भी साध्यसिद्धि अनायास हो जायेगी, यानी सर्वज्ञाभाव के ज्ञान का अभाव सिद्ध हो जायगा।

शंकाः-यदि प्रत्येक हेतु पर सर्वसम्बन्धी और आत्मसबन्धी अनुपलब्धि के विकल्पों का प्रहार करते रहेंगे तो धूम हेतु की विपक्ष जलहृदादि में अनुपलब्धि पर भी विकल्पयुगल प्रयुक्त दोष समानरूप से सम्भव है-इसका कटु परिणाम यह होगा कि सभी अनुमान धराशायी हो जायेंगे।

उत्तरः-यह शंका अनुचित है क्योंकि अन्यत्र धूमादिहेतुक अग्नि के अनुमान में तो विपक्षव्यावृत्तिनिर्णायक केवल अनुपलम्भ ही नहीं अपितु बाधकप्रमाण तर्कादि भी उपस्थित है। प्रस्तुत में, विपक्षीभूत सर्वज्ञ में वक्तृत्व का सद्भाव माना जाय तो उसमें कोई बाधक प्रमाण का सद्भाव आप नहीं कह सकते क्योंकि सर्वज्ञ में वक्तृत्वसबन्ध का कोई प्रमाण बाधक नहीं है यह तो हम सर्वज्ञसाधक हेतु प्रयोग में आगे चल कर दिखायेंगे।

[सर्वज्ञाभावसाधक हेतु में आश्रयासिद्धि दोष]

यह भी सोचिये कि जब आपके मत में सर्वज्ञप्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं है तो वक्तृत्व हेतु का आश्रय पक्ष सर्वज्ञ स्वयं असिद्ध होने से उसके अभाव को सिद्ध करने के लिये जो कोई हेतु आप दिखायेंगे वह बेचारा आश्रयासिद्ध हो जायगा। यदि कहेंगे कि-सर्वज्ञ के ग्राहकरूप में प्रमाण की प्रवृत्ति होती है अतः हेतु का आश्रय सर्वज्ञ असिद्ध नहीं है-तब तो उसी सर्वज्ञसाधकप्रमाण से आप का पक्ष यानी सर्वज्ञाभाव, बाधित होने से उसकी सिद्धि के लिये हेतुप्रयोग निष्फल है। सारांश, सर्वज्ञ का अभाव अनुमान से भी बुद्धिगम्य नहीं है।

शब्द से भी सर्वज्ञाभाव की सिद्धि दूर है। कारण, शब्दप्रामाण्यप्रयोजकरूप में आशंकित अपौरुषेयत्व की तो पूर्वोक्त न्याय से असिद्धि हो गयी है। अब यदि शब्दप्रतिपादक को सर्वज्ञ नहीं मानेंगे तो उन शब्दों में पुरुषदोषों का संक्रमण संभव होने से प्रामाण्य नहीं रहेगा तो उन अप्रामाणिक शब्दों से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि की आशा ही कहाँ?।

न च तदभावाभिधायकं किंचिद् वेदवाक्यं श्रूयते, केवलं तद्भावाऽऽवेदकवेदवचनोपलब्धिर-विगानेन समस्ति-

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।। [श्वेताश्व० ३-१९]

तथा हिरण्यगर्भं प्रकृत्य "सर्वज्ञः०" इत्यादि । न च स्वरूपेऽर्थे तस्याऽप्रामाण्यम्, तत्र तत्प्रामाण्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । तन्न शब्दादपि तदभावसिद्धिः ।

नाऽप्युपमानात् तदभावावगमः, यत उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे साहश्यालम्बनमुदेति, अन्यथा—

तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् साहश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य साहश्यं वा तदन्वितम् ।। [श्लो. वा उपमा०-३७]

इत्यभिधानात् प्रत्यक्षेणोपमानोपमेययोरग्रहणे उपमेयस्मरणाऽसम्भवात् कथं स्मर्यमाणपदार्थविशिष्टं साहश्यम् साहश्यविशिष्टं वा स्मर्यमाणं वस्तु उपमानविषयः स्यात् ? तस्मादिदानींतनोपमानभूताशेष-पुरुषप्रत्यक्षत्वम्, उपमेयाशेषान्यकालमनुष्यवर्गसाक्षात्करणं चावश्यमभ्युपगमनीयम्, तदभ्युपगमे च स एव सर्वज्ञ इति कथमुपमानात् तदभावावगमो युक्तः ? अतो यदुक्तम्-[श्लो.वा.सू २-११३]

'यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ।।' तन्निरस्तम्, उपमानस्योक्तन्यायेनात्र वस्तुन्यवृत्तेः ।

[सर्वज्ञ वेदवचन से प्रसिद्ध है]

दूसरी बात यह है कि-सर्वज्ञाभाव का प्रतिपादक तो कोई भी वेदवाक्य नही है, बल्कि दूसरी ओर उसके सद्भाव का उद्घोषक अनेक वेदवचन निर्विवाद उपलब्ध होते हैं। जैसे कि श्वेताश्वतर उपनिषद् मे कहा है—

'जिस को हाथ-पैर नही है, जो जवन एवं ग्रहीता है, तथा विना चक्षु ही देखता है, विना श्रोत्र ही सुनता है, जो समग्र विश्व को जानता है किन्तु उसको जानने वाला कोई नही है, ऐसे पुरुषाग्रणी को महान कहते हैं'।

तथा हिरण्यगर्भ को उद्देश कर कहा गया है कि 'वह सर्वज्ञ है सर्वविद् है' इत्यादि। इन वेदवचनो को यथाश्रुत अर्थ मे अप्रमाण नही कह सकते क्योकि इनका प्रामाण्य हम आगे चल कर बताने वाले है। अत' फलित होता है कि शब्द प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही है।

[उपमानप्रमाण से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि दुष्कर]

उपमानप्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव नही जाना जा सकता, कारण, उपमान और उपमेय का प्रत्यक्ष प्रसिद्ध हो तब साहश्य के निमित्त से उपमान प्रमाण का उद्भव होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो-

"गवय के प्रत्यक्ष से जिस धेनु का स्मरण होता है वही धेनु गवयसाहश्य से विशिष्टरूप मे, अथवा उस धेनु से विशिष्ट साहश्य-उपमान प्रमाण का प्रमेय (यानी ग्राह्य) होता है" इस कथनानुसार प्रत्यक्ष से उपमान और उपमेय का ग्रहण नही होगा तो उपमेय का स्मरण जो कि आवश्यक है उसका संभव न होने से स्मृति मे उपस्थित धेनु से विशिष्ट साहश्य अथवा साहश्य से विशिष्ट ही

नाप्यर्थापत्तितस्तदभावावगम, तस्याः प्रमाणत्वेऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात्। तथाहि-'दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः' [मीमां० शाबर० सू० ५ पृ० ८, पं० १७]। नचासावर्थोऽन्यथानुपपद्यमानत्वानवगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम्-अन्यथा स येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चितस्तमपि परिकल्पयेत्, येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्-अनवगतस्यान्यथानुपपन्नत्वेन अर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वाऽसंभवात्, संभवे लिंगस्याप्यनिश्चितनियमस्य परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति तदपि नार्थापत्त्युत्थापकादर्थाद् भिद्येत।

स चान्यथानुपपद्यमानत्वावगमस्तस्यार्थस्य न भूयोदर्शननिमित्तः सपक्षे, अन्यथा 'लोहलेख्यं वज्रम्, पार्थिवत्वात्, काष्ठवत्' इत्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात्। नापि विपक्षे तस्यानुपलम्भनिमित्तोऽसौ,

---

स्मृति-उपस्थित धेनुरूप वस्तु उपमान प्रमाण का विषय कैसे होगा ? अब यदि आप उपमान प्रमाण से अपूर्ण प्रत्यक्ष वाले वर्त्तमान सकल अल्पज्ञपुरुष की भांति अतीत-अनागत सभी पुरुष को अपूर्णप्रत्यक्षवाले सिद्ध करना चाहते हो तो यहाँ वर्त्तमानकालीन सकल पुरुष उपमान हुआ और अतीतानागत सकल पुरुष उपमेय हुआ-उन सभी का यानी अतीत-वर्त्तमान-अनागत सकल पुरुषो का साक्षात्कार मानना आपके लिये आवश्यक हो गया। यदि यह मान लिया तब तो ऐसे साक्षात्कार का कर्त्ता ही सर्वज्ञ सिद्ध हुआ फिर उपमान प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव मानना कहाँ तक उचित होगा ? इसलिये, अतीत-अनागतकालीन लोगो के ज्ञान मे वर्त्तमानकालीन लोगो के ज्ञान की तुल्यता को सिद्ध करने के लिये आपने श्लोक वार्तिक मे जो यह कहा है कि-"वर्त्तमान लोगो मे जिसप्रकार के प्रमाणो से जिसप्रकार का अर्थ दर्शन दिखा जाता है, अतीतानागत काल मे भी वह ऐसा ही होता था"-यह आपका कथन ध्वस्त हो जाता है, क्योंकि उपरोक्त रीति से प्रस्तुत विवादास्पद विषय मे उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति ही शक्य नही है, कारण, वर्त्तमान मे सकल पुरुषो के प्रत्यक्ष का संभव नही है।

[अनुमान में अन्तर्भूत अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण ही नहीं है]

अर्थापत्ति प्रमाण से सर्वज्ञाभाव का पता नही लग सकता। कारण, यदि वह प्रमाण मानी जाय तो भी उसका अनुमान मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। वह इस प्रकार-

"देखा हुआ या सुना हुआ अर्थ अन्य प्रकार से उपपन्न न होने पर अदृष्ट अर्थ की कल्पना की जाय-यही अर्थापत्ति है" यह शाबरभाष्य का वचन है। इससे तो यह फलित होता है कि जिस अर्थ की अन्यथानुपपत्ति अज्ञात हो वह अदृष्ट-कल्पना का निमित्त नही बन सकता। अन्यथा, यदि अन्यथानुपपत्तिज्ञान विना भी वह अदृष्टार्थकल्पनानिमित्त होगा तो जिस के विना उसकी उपपत्ति निश्चित है उस अर्थ की भी कल्पना करा देगा क्योंकि अन्यथानुपपत्ति न हो या अज्ञात हो दोनो मे कोई फर्क नही है। अथवा जिसके विना उसकी अनुपपत्ति है किंतु अज्ञात है उसकी भी कल्पना नही करायेगा क्योंकि अर्थापत्ति का उपस्थापक अर्थ, अन्यथानुपपत्ति के होने पर भी 'अन्यथा अनुपपन्न है' इस प्रकार से ज्ञात नही होगा तब तक वह अदृष्टार्थ की कल्पना का निमित्त बने यह संभव नही है। यदि संभव हो, तब अनुमान में भी, जिस लिंग का अपने साध्य के साथ नियम ज्ञात नही है वह भी परोक्ष अर्थ के अनुमान को जन्म देगा, इस प्रकार अनुमान और अर्थापत्ति के प्रयोजक क्रमशः लिंग और अर्थ मे क्या अन्तर रहा ?

व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात् । किन्तु, विपर्यये तद्बाधकप्रमाणनिमित्तः, तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थस्य तत्र प्रवृत्तिमदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्यान्यथानुपपद्यमानत्वावगमेऽभ्युपगम्यमाने यावत् तस्यान्यथानुपपद्यमानत्वं नावगतं न तावदर्थापत्तिप्रवृत्तिः ।

अत एव यदुक्तम्-[श्लो० वा० सू० ५-अर्थापत्ति० ३०-३३]

अविनाभाविता चात्र तदैव परिगृह्यते । न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ॥

तेन सम्बन्धवेलायां सम्बन्ध्यन्यतरो ध्रुवम् । अर्थापत्त्यैव मन्तव्यः पश्चादस्त्वनुमानता ॥

इत्यादि, तन्निरस्तम्, एवमभ्युपगमेऽर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपादितत्वात् ।

स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः, आहोस्वित् स्वसाध्यधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्य इति ? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-किं तत् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं प्रमाणं साध्यधर्मिण्यपि साध्याऽन्यथानुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहोस्वित् दृष्टान्तधर्मिण्येव ? तत्र यद्याद्यः पक्षः तदाऽर्थापत्त्युत्थापकस्याऽर्थस्य लिंगस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारं प्रति न कश्चिद् विशेषः । अथ द्वितीयः, स न युक्तः, न हि दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपप-

[विपक्षबाधकप्रमाण से अन्यथानुपपत्ति का बोध]

अर्थापत्ति के प्रस्ताव मे, अर्थ की अन्यथानुपपत्ति का बोध आवश्यक है यह निश्चित हुआ, अब वह किस निमित्त से होगा यह सोचिये-सपक्ष मे बार बार कल्पनीय अदृष्ट अर्थ का उस अर्थ के साथ साहचर्य निमित्त नही है, क्योकि पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का काष्ठादि मे अनेकश. सहचार दृष्ट होने पर भी पार्थिवत्व हेतु से वज्र मे लोहलेख्यत्वरूप साध्य की सिद्धि नही होती । यदि केवल अनेकशः सहचारदर्शन मात्र निमित्त होता तब तो वज्र मे भी लोहलेख्यत्व की सिद्धि होने की आपत्ति होती । 'विपक्ष मे अदर्शन' यह भी अन्यथानुपपत्तिगमक नही है, कारण-विपक्ष में अभाव का निश्चय केवल अदर्शनमात्र से शक्य नही है यह निषेध तो पहले भी किया जा चुका है । सच बात यह है कि विपक्ष मे बाधक प्रमाण का सद्भाव ही अन्यथानुपपत्ति का बोधक हो सकता है । विपक्ष मे 'कल्पनीय अर्थ के विना अनुपपद्यमान अर्थ' की सत्ता मे बाध करने वाले प्रमाण की प्रवृत्ति भी अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवृत्ति के पहले ही माननी होगी । ऐसा न मानकर अर्थापत्ति से ही उसकी अनुपपद्यमानता का बोध मानेंगे तो यह अन्योन्याश्रय दोष होगा कि जहाँ तक अन्यथानुपपत्ति का बोध नही हुआ है वहाँ तक अर्थापत्ति की प्रवृत्ति नही होगी और जहाँ तक अर्थापत्ति की प्रवृत्ति नही होगी वहाँ तक अर्थापत्ति-प्रयोजक अर्थ की अन्यथा-अनुपपत्ति का बोध नही होगा । फलतः अर्थापत्ति की प्रवृत्ति ही रुक जायेगी ।

श्लोक वार्त्तिक मे अनुमान से अर्थापत्ति को भिन्न प्रमाण सिद्ध करने के लिये जो यह कहा गया है कि-"अर्थापत्ति से अदृष्ट अर्थ कल्पना के बाद ही, अनुपपद्यमान अर्थ के साथ उसका अविनाभाव गृहीत होता है, उसके पूर्व वह विद्यमान होने पर भी ज्ञात नही होता, अत. वह अनुमान उद्भावक नही होता है । अत अविनाभाव सबध के ग्रहण काल मे दो मे से एक सबधी का भान अर्थापत्ति से ही मानना होगा । हाँ, तत्पश्चाद् अविनाभाव ज्ञात हो जाने पर वहाँ अनुमान हो सकता है ।" इत्यादि यह भी उपरोक्त अन्योन्याश्रय दोष से ध्वस्त हो जाता है । क्योकि, यहाँ अर्थापत्ति का उत्थान असभव है यह कहा जा चुका है ।

द्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथा भवति । न च तथात्वेनाऽनिश्चितः स साध्यधर्मिणि स्वसाध्यं परिकल्पयतीति युक्तम् , अतिप्रसंगात् ।

अथ लिंगस्य दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणवशात् सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चयः, अर्थापत्त्युत्थापकस्य त्वर्थस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तात् प्रमाणात् सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थान्यथानुपपद्यमानत्वनिश्चयः, इति लिंगाऽर्थापत्त्युत्थापकयोर्भेदः । नास्माद् भेदादर्थापत्तेरनुमानं भेदमासादयति । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विपर्ययाद्धेतुव्यावर्त्तकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम् , अन्यथा 'सर्वमनेकान्तात्मकम् , सत्त्वात्' इत्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभावात् कथं तत्र प्रवर्त्तमानं बाधकं प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वनियतत्वमवगमयेत् सत्त्वस्य ? ।

[लिंग और साध्य के विना अनुपपन्न अर्थ-दोनों में विशेषाभाव]

अर्थापत्ति के उत्थान मे अन्यथानुपपत्ति का बोध प्रथम अपेक्षित है यह निश्चित हो जाने के बाद यह भी सोचना होगा कि वह बोध दृष्टान्त मे दिखाये गये धर्मी के विषय मे जो प्रमाण प्रवृत्त होगा, उससे सम्पन्न होगा ? अथवा अपने साध्य का जो धर्मी है उसमे प्रवृत्त होने वाले प्रमाण से सम्पन्न होगा ? यदि अन्यथानुपपत्ति का पूर्व निश्चय दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाण से सम्पन्न होने का पहला विकल्प मान्य करें तो यहाँ भी दो कल्पना है-१-दृष्टान्तधर्मी मे प्रवृत्त प्रमाण, साध्यधर्मी मे भी 'यह अर्थ अमुक साध्य के विना यहाँ अनुपपन्न है' इस प्रकार का निश्चय उत्पन्न करेगा ? या २-केवल दृष्टान्त धर्मी मे ही वैसा निश्चय उत्पन्न करेगा ? यदि प्रथम कल्पना का स्वीकार किया जाय तो अर्थापत्ति का उत्थापक अर्थ और अनुमान का प्रयोजक लिंग इन दोनो मे अपने अपने साध्य को प्रतिपादित करने के ढग मे कोई अन्तर नही रहा । कारण, अन्यथानुपपत्ति का दृष्टान्त मे ग्रहण और पक्ष-धर्मी मे साध्य का आपादन उभयत्र समान है । दूसरी कल्पना का स्वीकार भी उचित नही है क्योकि दृष्टान्त के धर्मी मे साध्य के विना उपपन्न न होने वाले अर्थ का तद्रूप से निश्चय दृष्टान्त के धर्मी मे साध्य की कल्पना मे उपयोगी हो सकता है किन्तु साध्यधर्मी को उससे क्या लाभ हुआ ? वहा तो अन्यथानुपपत्ति का बोध न होने से साध्य की कल्पना का अनुत्थान ही रहेगा । अर्थ की साध्य के विना अनुपपत्ति का साध्यधर्मी मे जहा तक निश्चय न हो वहा तक उस अर्थ से साध्यधर्मी मे अपने साध्य की कल्पना की जाय यह जरा भी उचित नही है, क्योकि तब तो किसी भी अर्थ से किसी भी धर्मी मे किसी भी प्रकार के साध्य की कल्पना कर सकने का अतिप्रसग आयेगा ।

[दृष्टान्तधर्मी और साध्यधर्मी के भेद से भेद असिद्ध]

यदि दूसरे विकल्प मे यह कहा जाय कि-"लिंग मे जो स्वसाध्यनियतत्व अर्थात् अपने साध्य से निरूपित व्याप्ति है उसका निश्चय दृष्टा त धर्मी मे प्रवर्त्तमान प्रमाण के बल पर सर्वोपसंहार से यानी सर्वत्र हो जाता है, प्रमाण प्रवृत्ति केवल दृष्टान्त धर्मी मे होती है किन्तु व्याप्तिग्रह सनिकर्ष-विशेष से धूम-अग्नि के सभी अधिकरण के विषय मे हो जाता है । अर्थापत्तिस्थल में कुछ अन्तर यह है कि यहाँ साध्यधर्मी में जो प्रमाण प्रवृत्त होता है, उससे अर्थापत्ति उत्थापक अर्थ का अपने साध्य अदृष्टार्थ के साथ नियतत्व सर्वोपसंहारेण अवगत होता है । इस प्रकार अर्थापत्ति मे और अनुमान में क्रमशः स्वसाध्यधर्मी मे प्रमाण-प्रवृत्ति और दृष्टान्तधर्मी मे प्रमाणप्रवृत्ति होने का अन्तर है ।"-प्रतिपक्षी कहता है कि-यह अन्तर भेदापादक अन्तर नही है यानी इतने मात्र भेद से अर्थापत्ति से अनुमान

न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च प्रवर्त्तमानेन प्रमाणेनाऽर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिंगस्य च यथाक्रमं प्रतिबंधो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणाऽर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदोऽभ्युपगंतुं युक्तः, अन्यथा पक्षधर्मत्वसहितहेतुसमुत्थादनुमानाद् तद्रहितहेतुसमुत्थमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणषट्कवादो विशीर्येत। 'नियमवतो लिंगात् परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविशेषाद् न ततस्तद् भिन्नम्' इत्यभ्युपगमे स्वसाध्याऽविनाभूतादर्थादर्थप्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादर्थापत्तेः कथं नाऽभेदः ? !

तदेव प्रमाणत्वेऽर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावाद् अनुमानस्य सर्वज्ञाभावप्रतिपादकस्य निषेधात् तन्निषेधे चार्थापत्तेरपि तदभावग्राहकत्वेन निषेधान्नार्थापत्तिसमधिगम्योऽपि सर्वज्ञाभावः।

अभावाख्यं तु प्रमाणमप्रमाणत्वादेव न तदभावसाधकम्। प्रमाणत्वेऽपि किमात्मनोऽपरिणामलक्षणं तत्, आहोस्विदन्यवस्तुविज्ञानलक्षणमिति ? तत्र यद्यात्मनोऽपरिणामलक्षणं तदभावसाधकमिति पक्षः स न युक्तः, तस्य सत्त्वेनाऽभ्युपगते परचेतोवृत्तिविशेषेऽपि सद्भावेनानैकान्तिकत्वात्। अथान्यविज्ञानलक्षणमिति पक्षः, सोऽप्यसंबद्धः, यतः सर्वज्ञत्वादन्यद् यदि किंचिज्ज्ञत्वं, तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं-तदा

का भेद फलित नही होता। कारण, अनुमान मे भी यह तो मानना ही होगा कि कभी कभी अपने साध्यधर्मी मे ही, साध्य व्यतिरेक द्वारा हेतु की व्यावृत्ति दिखाने मे प्रवर्त्तमान प्रमाण सर्वोपसहारेण स्वसाध्यनियतत्व का निश्चय उत्पन्न करता है। यदि यह नही मानेगे तो आपको एक अनुपपत्ति यह होगी कि-'सभी वस्तु अनेकान्तात्मक है क्योंकि सत् हैं' इस अनुमान मे सत्त्व हेतु की पक्षकुक्षि मे तमाम वस्तु प्रविष्ट हो जाने से कोई दृष्टान्तधर्मी ही बचा नही तो अनुमान मे स्वसाध्यनियतत्व का निश्चय केवल दृष्टान्तधर्मी मे ही प्रवर्त्तमान प्रमाण से होने का मानने वालों के मत मे यहाँ प्रस्तुत मे सत्त्व हेतु का अनेकान्तात्मकत्वरूप स्वसाध्यनियतत्व अवगत कराने वाला, विपक्ष मे, बाधक कौन सा प्रमाण होगा जो दृष्टान्तधर्मी मे प्रवृत्त होकर साध्य का बोध करायेगा ?

[हेतुभेद से अनुमानप्रमाणभेद की आपत्ति]

यह उचित नही है कि अर्थापत्ति उत्थापक अर्थ का प्रतिबन्ध साध्यधर्मी मे गृहीत होता है और लिंग का व्याप्तिग्रह दृष्टान्तधर्मी मे होता है इतने भेद मात्र से अर्थापत्ति-अनुमान का सर्वथा भेद मान लिया जाय। क्योंकि इस तरह प्रमाणभेद मानने पर तो पक्षधर्मताविशिष्ट हेतु से उत्पन्न अनुमान और पक्षधर्मता रहित हेतु से उत्पन्न अनुमान इन दोनों का भी भेद मान कर अलग अलग प्रमाण मानने पर षट् प्रमाण सख्या का अवधारणवाद तितर बितर हो जायेगा। यदि वहाँ ऐसा तर्क किया जाय-दोनो जगह यह समानता है कि व्याप्तिविशिष्ट लिंग से ही परोक्ष अर्थ का भान होता है, अतः पक्षधर्मता से शून्य और अशून्य हेतुद्वय जनित अनुमानद्वय मे भेद नही हो सकता"-तो अर्थापत्ति-अनुमान स्थल मे भी यह तर्क समान है कि दोनो जगह स्वसाध्य के अविनाभूत पदार्थ (चाहे वह अर्थापत्ति उत्थापक अर्थ हो या लिंग हो) से परोक्ष अर्थ का भान होता है। जब तर्क समान है तो अर्थापत्ति और अनुमान का भी अभेद क्यो न माना जाय ? ।

उपरोक्त का सार यह है कि अर्थापत्ति प्रमाणरूप होने पर अनुमान प्रमाण में उसका अन्तर्भाव हो जाता है और सर्वज्ञाभाव प्रतिपादक अनुमान का निषेध पहले किया गया है अतः उसके निषेध से, सर्वज्ञाभावग्राहक अर्थापत्ति का भी निषेध फलित हो जाने से यह निष्कर्ष मानना चाहिये कि सर्वज्ञाभाव अर्थापत्तिगम्य भी नही है।

अत्रापि वक्तव्यम्-किं सकलदेशकालव्यवस्थितपुरुषाधारं किंचिज्ज्ञत्वमभ्युपगम्यते, आहोस्वित्कतिपयपुरुषव्यक्तिसमाश्रितमिति? तत्र यदि समस्तदेशकालाश्रितपुरुषाधारं किंचिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं, तत् सर्वज्ञाभावप्रसाधकम्, तदयुक्तम्,-सकलदेश-कालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणव्यतिरेकेण तदाधारस्य किंचिज्ज्ञत्वस्य विषयीकर्त्तुमशक्तेर्न तद्विषयस्य तदन्यज्ञानस्य सर्वज्ञाभावावगमनिमित्तत्वं युक्तम्, सर्वदेशकालव्यवस्थिताशेषपुरुषसाक्षात्करणे च स एव सर्वदर्शी इति न तदभावाभ्युपगमः श्रेयान्।

अथ कतिपयपुरुषव्यक्तिव्यवस्थितं किंचिज्ज्ञत्वं तदन्यत्, तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं सर्वज्ञाभावाऽऽवेदकम् तदप्ययुक्तम्, तज्ज्ञानात् तदभावावगमे कतिपयपुरुषव्यवस्थितस्यैव सर्वज्ञत्वाभावः सिध्येत्, न सर्वत्र सर्वदा सर्वपुरुषेषु, तथा च सिद्धसाधनम्, अस्माभिरपि कुत्रचित् कस्यचिद् रथ्यापुरुषादेरसर्वज्ञत्वेनाऽभ्युपगमात्।

[अभावप्रमाण से सर्वज्ञ का प्रतिषेध अशक्य]

जो लोग अभावप्रमाण मानते हैं उनका वह प्रमाण वास्तव में प्रमाण ही न होने से सर्वज्ञाभावसाधक नही हो सकता। कदाचित् उसे प्रमाण माना जाय तो भी सर्वज्ञाभावसिद्धि के विषय मे वह विकल्पसह्य नही है। जैसे कि-उसके ऊपर दो विकल्प है-१ आत्मा का ज्ञानरूप में अपरिणामरूप वह है या २. अन्यवस्तु के विज्ञानस्वरूप वह है? [पहले, अभावप्रमाण के ये दो प्रकार होते हैं यह दिखाया है] यदि प्रथम विकल्प-'ज्ञानरूप मे आत्मा के अपरिणाम'रूप अभावप्रमाण सर्वज्ञाभावसाधक है यह माना जाय तो वह युक्तिसगत नही है, क्योंकि इसमे अनैकान्तिक दोप का संचार है जैसे-परकीय चेतोवृत्ति के ज्ञानरूप से अपनी आत्मा का परिणमन नही होता फिर भी परकीय चित्तवृत्ति को आप असत् नही, सत् मानते है।

[अन्यविज्ञानस्वरूप अभावप्रमाण का असंभव]

यदि दूसरे विकल्प मे सर्वज्ञाभाव साधक अभावप्रमाण अन्य विज्ञानरूप माना जाय तो यह भी संबधरहित है, क्योकि, सर्वज्ञत्व से अन्य किंचिज्ज्ञत्व [=अल्पज्ञत्व] और तद्विपयक ज्ञान यह अन्य विज्ञान-ऐसा आपका अभिप्राय यहाँ हो तो यहाँ हमे दो विकल्प दिखाना है कि सकलदेशवर्त्ती सर्वकालीन पुरुषो मे आश्रित किंचिज्ज्ञत्व को यहाँ आप प्रस्तुत करना चाहते हैं या कुछ अल्प पुरुप व्यक्ति मे आश्रित किंचिज्ज्ञत्व को? यदि प्रथम विकल्प मे, सर्वदेश-कालवर्त्तीपुरुष समाश्रित जो किंचिज्ज्ञत्व, तद्विषयक ज्ञान यही अन्यज्ञान अभावप्रमाणरूप हुआ और इसको आप सर्वज्ञाभाव का साधक मान रहे हो तो वह युक्तिबाह्य है क्योकि जब तक सर्वदेश-काल मे रहे हुए सकल पुरुपपर्षदा का साक्षात्कार न किया जाय तब तक उनमे रहा हुआ किंचिज्ज्ञत्व अपने ज्ञान को गोचर न हो सकने से ऐसा किंचिज्ज्ञत्वविषयक ज्ञानात्मक अन्य ज्ञान सर्वज्ञाभाव के बोध का निमित्त कभी नही हो सकता। यदि सर्वदेशकालवर्त्तीपुरुष के साक्षात्कार को शक्य माना जाय तब तो ऐसा साक्षात्कार करने वाला पुरुष ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी सिद्ध हो जाने से उसका अभाव मान लेना श्रेयस्कर नही है।

यदि कई एक पुरुषो मे रहे हुए किंचिज्ज्ञत्व का 'अन्य' शब्द से ग्रहण किया जाय और तद्विपयकज्ञानरूप तदन्यज्ञान को सर्वज्ञाभावसाधक कहा जाय-तो यह भी युक्त नहीं है, क्योकि इस प्रकार के तदन्यज्ञान से सर्वज्ञत्वाभाव सिद्ध होने पर भी वह सर्वज्ञाभाव कई एक पुरुपों मे रहा हुआ ही

अथ सर्वज्ञत्वादन्यः तदभावः, तद्विषयं ज्ञान तदन्यज्ञानं, तदाऽत्रापि किं 'सर्वदा सर्वत्र सर्वः सर्वज्ञो न' इत्येवं तत् प्रवर्त्तते, उत 'कुत्रचित् कदाचित् कश्चित् सर्वज्ञो न' इत्येवं ? तत्र नाद्यः पक्षः, सकलदेशकालपुरुषाऽसाक्षात्करणे तदाधारस्य तदभावस्यावगंतुमशक्यत्वात्; प्रदेशाऽप्रत्यक्षीकरणे तदाधारस्य घटाभावस्येव। तत्साक्षात्करणे च तदेव सर्वज्ञत्वम्, इति न तदभावसिद्धिः। अथ द्वितीयः पक्षः, तदा न सर्वत्र सर्वदा-सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति तदेव सिद्धसाधनम्। 'प्रमाणपंचकनिवृत्तेस्तदभावज्ञानम्' इत्यादि सर्वं प्रतिविहितमिति नाभावप्रमाणादपि तदभावावगमोऽभ्युपगन्तुं युक्तः।......

इत्यादि यत् तदप्यविदितपराभिप्रायस्य सर्वज्ञवादिनोऽभिधानम्।

यतो नास्माकं 'अतीन्द्रियसर्वज्ञादिपदार्थबाधकं प्रत्यक्षादिप्रमाणं स्वतन्त्रं प्रवर्त्तते' इत्यभ्युपगमः, अतीन्द्रियेषु स्वतन्त्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य भवदभिहितप्राक्तनदोषदुष्टत्वेन प्रवृत्त्यसम्भवात्। किंतु, प्रसंगसाधनाभिप्रायेण सर्वमेव सर्वज्ञप्रतिक्षेपप्रतिपादकं युक्तिजालमभिहितं यथार्थमभिधानमुद्दहद्भिर्मी-

---

सिद्ध होगा, किंतु सर्वत्र सर्वदा सर्वपुरुषो मे सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होगा। यह तो सिद्ध साधन हुआ यानी हमारी ही इष्टसिद्धि हुई क्योंकि कही पर किसी एक शेरी आदि में भटकते हुए पुरुषादि को हम भी सर्वज्ञ मानने के लिये तय्यार नही है।

[सर्वज्ञत्वाभावज्ञानरूप अन्यज्ञान से सर्वज्ञाभावसिद्धि अशक्य]

यदि 'तदन्यज्ञान' शब्द से, सर्वज्ञत्व से अन्य जो उसीका अभाव-तद्विषयकज्ञान को लिया जाय तो यहाँ भी पूर्ववत् दो विकल्प हैं-१ ऐसा तदन्यज्ञान 'सर्वत्र सर्वदा कोई भी सर्वज्ञ नही है' इस रूप मे प्रवृत्त मानते हैं या-२. 'कही पर कोई काल मे कोई एक सर्वज्ञ नही है' इस रूप मे ? प्रथम विकल्प युक्त नही है क्योंकि, जैसे देशविशेष का प्रत्यक्ष न होने पर तदाश्रित घटाभाव का प्रत्यक्ष नही होता उसी प्रकार सर्वदेशकालवर्त्ती सर्वपुरुष का प्रत्यक्ष न होने पर तदाश्रित सर्वज्ञत्व का अभाव भी नही जाना जा सकता। यदि किसी को सर्वदेशकालवर्त्ती पुरुषो का साक्षात्कार मान लिया जाय तब तो उसकी सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने से उसका अभाव सिद्ध नही हो सकेगा। द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है क्योकि इसमे सर्वत्र सर्वदा सर्वपुरुषो में सर्वज्ञत्व का अभाव तो सिद्ध नही होता किंतु कही पर किसी काल मे कोई एक पुरुष मे सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध होता है जिसमे हमारे इष्ट की सिद्धि होने से सिद्ध साधन दोष अनिवार्य है।

सर्वज्ञवादी की ओर से की गयी उपरोक्त चर्चा का सार यह है कि-'सर्वज्ञ के विषय मे पांचो प्रमाण निवर्त्तमान होने से सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान होता है" ऐसा जो प्रतिवादी का कहना है इसका पूरे जोर से प्रतीकार कर देने से अभावप्रमाण से भी सर्वज्ञ के अभाव का बोध आदर योग्य नही है।

नास्तिक कहता है कि सर्वज्ञवादी का यह (अथ यथाऽस्माकं....से किया गया) पूरा-प्रतिपादन हमारे अभिप्राय को विना समझे ही किया गया है।

[सर्वज्ञवादी कथन की अयुक्तता का हेतु—नास्तिक]

नास्तिक कहता है कि—हम यह नही मानते है कि अतीन्द्रियसर्वज्ञादिपदार्थ की सिद्धि मे बाध करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण की स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ति होती है। क्योंकि यह तो हम भी जानते है कि आपने

मांसकैः। अत एव तदभिप्रायप्रकाशनपरं भगवतो जैमिनेः सूत्रम्-"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम् [जैमिनीसूत्र १-१-४] इति, यतो नानेनापि सूत्रेण स्वातन्त्र्येण प्रत्यक्षलक्षणमभ्यधायि भगवता किंतु लोकप्रसिद्धलक्षणलक्षितप्रत्यक्षानुवादेन तस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं विधीयते।

न चैतदत्रापि वक्तव्यम्-"कतरस्य प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं विधीयते ? अस्मदादिप्रत्यक्षस्य-सर्वज्ञप्रत्यक्षस्य वा ? अस्मदादिप्रत्यक्षस्य तदनिमित्तत्वप्रतिपादने सिद्धसाधनम्। सर्वज्ञप्रत्यक्षस्य भवन्मतेनाऽप्रसिद्धत्वाच्छशविषाणस्येव कथं तं प्रत्यनिमित्तताविधिः ? अथापि स्यात्-परेण तस्याभ्युपगतत्वात् तं प्रत्यनिमित्तत्वं तत्प्रसिद्ध्यैवोच्यते-तदयुक्तम्, परीक्षापूर्वकत्वेनाभ्युपगमस्य स्थितत्वात्, तत्पूर्वकश्चेत् परस्याभ्युपगमस्तदा भवतोऽपि तस्य सद्भावः, परीक्षायाः प्रमाणरूपत्वात्, प्रमाणसिद्धं च न परस्यैव सिद्धम्, प्रमाणसिद्धस्य सर्वैरेवाभ्युपगमनीयत्वात्। अथ प्रमाणव्यतिरेकेण परेण सर्वज्ञप्रत्यक्षमभ्युपगतं तदाऽसौ प्रमाणाभावादेव नाभ्युपगमो युक्तः। न च प्रमाणाभ्युपगतस्यास्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणस्य सर्ववित्प्रत्यक्षस्य तं प्रत्यनिमित्तत्वं विधातु युक्तम्, यतोऽस्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणत्वं सर्ववित्प्रत्यक्षस्य धर्मादिग्राहकत्वेनैव, तच्चेत् प्रमाणतोऽभ्युपगतम् कथं तस्य तं प्रत्यनिमित्तत्वमुपपद्येत, तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् ? किं च, अयं परस्परविरुद्धोऽपि वाक्यार्थः स्यात्-'प्रमाणतो धर्मादिग्राहकं सर्ववित्प्रत्यक्षं यत् प्रसिद्ध तद् धर्मादिग्राहकं न भवती'ति।"--

---

जो दोष दिखाये है उनसे सदोष होने के कारण अतीन्द्रिय पदार्थो मे स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्षादि प्रमाण की प्रवृत्ति का सभव नही है। किन्तु सर्वज्ञविरोधीयो का अभिप्राय यह है कि, सत्-असत् आदि की मीमाँसा करने मे निपुण, अत एव सार्थक नाम धारण करने वाले मीमांसक विद्वानो ने जो सर्वज्ञ का विरोध करने वाला युक्तिकदम्बक प्रस्तुत किया है वह सब सर्वज्ञ के अभाव का स्वतन्त्ररूप से साधन करने के लिये नही किन्तु सर्वज्ञ के साधन मे आने वाली बाधायें ही प्रसगसाधन के रूप मे प्रस्तुत की गयी है। इसी अभिप्राय के यानी प्रसगसाधनरूप अभिप्राय के प्रकाशन मे तत्पर भगवान् जैमिनी का यह सूत्र भी है 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्'-जिसका अर्थ है पुरुष की इन्द्रियों का सत्पदार्थ के साथ सम्पर्क होने पर जिस बुद्धि का जन्म होता है उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। यहाँ उक्त सूत्र से स्वतन्त्ररूप से प्रत्यक्ष के लक्षण निर्माण में भगवान् सूत्रकार का तात्पर्य नही है किन्तु लोगो मे जो प्रत्यक्ष का लक्षण प्रचलित है उसका अनुवाद मात्र किया गया है। इस प्रकार लोकप्रचलित प्रत्यक्षलक्षण का अनुवाद करके सूत्रकार को तो यही विधान करना है कि उक्त प्रकार के लक्षण वाला प्रत्यक्ष धर्मविषयक तत्त्वज्ञान मे निमित्तभूत नही हो सकता। इसी आशय से उक्त सूत्र के अग्रिमाश मे कहा है 'अनिमित्त विद्यमानोपलम्भनत्वात्'-अर्थात् प्रत्यक्ष तो विद्यमान वस्तु का ही उपलम्भ करने वाला होने से धर्मज्ञान का वह निमित्त नही हो सकता, क्योकि धर्म के तत्त्वज्ञान काल मे धर्म भावि मे निष्पाद्य होने से स्वय अविद्यमान होता है इसलिये उसके प्रत्यक्ष का सम्भव नही है।

[सर्वज्ञवादी की ओर से अनिमित्तत्व का प्रतिक्षेप]

नास्तिक यहाँ सर्वज्ञवादी की ओर से पुन. प्रस्तुत एक दीर्घ निवेदन को अनुचित दिखाता है-

सर्वज्ञवादी जैमिनी सूत्रकार के उक्त अभिप्राय ऊपर यह पूछना चाहते हैं कि-किस प्रत्यक्ष को आप धर्मज्ञान का अनिमित्त दिखा रहे हो ? हम आदि के प्रत्यक्ष को या सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष को ? हमारे प्रत्यक्ष को धर्मज्ञान का अनिमित्त कहा जाय तो इसमे हमारी इष्टसिद्धि होने से सिद्धसाधन दोष

यतो न प्रसंगसाधने आश्रयासिद्धत्वादिदूषणं क्रमते, नहि प्रमाणमूलपराभ्युपगमपूर्वकमेव प्रसंगसाधनं प्रवर्त्तते । किं तर्हि ? 'यदि' अर्थाभ्युपगमदर्शनपूर्वकम् । अत एव "प्रसंगसाधनस्य विपर्ययफलत्वम्, विपर्ययस्य च अतीन्द्रियपदार्थविषयप्रत्यक्षनिषेधफलत्वम्, तन्निषेधे च-'किं प्रत्यक्षस्य धर्मिणो निषेधः, अथ तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वस्येति ? पूर्वस्मिन् पक्षे हेतूनामाश्रयासिद्धतेति प्रतिपादितम् । उत्तरत्र प्रत्यक्षत्वनिषेधे प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः, विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानलक्षणत्वात्"-इति न प्रेर्यम्, यतो विशेषनिषेधे तस्य विशेषरूपत्वेन सत्त्वस्यैव प्रतिषेधः, न च धर्म्यसिद्धत्वादिदोषः, 'यदि'अर्थस्याभ्युपगतत्वात् ।

लगेगा । दूसरी ओर सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष तो आपके मत मे अप्रसिद्ध है तो शशसिंगवत् उसके धर्मज्ञान मे अनिमित्त होने का विधान कैसे हो सकता है ?

यदि मीमासक कहेगा कि-पर वादी को सर्वज्ञ मान्य होने से उसके प्रति परमतप्रसिद्धि द्वारा पर वादी के प्रति 'सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष धर्मज्ञान का अनिमित्त है' यह विधान कर रहे है-तो यह अयुक्त है । कारण, 'अभ्युपगम तो परीक्षामूलक ही होना चाहिये' यह मर्यादा है, पर वादी का अभ्युपगम यदि परीक्षापूर्वक है तो वह आपका भी परीक्षामूलक होना जरूरी है । तथा परीक्षा स्वय प्रमाणरूप होने से यदि कोई परकीय अभ्युपगम प्रमाणसिद्ध है तो वह केवल पर के लिये नही किन्तु सभी के लिये प्रमाणसिद्ध होगा क्योकि प्रमाणसिद्ध भाव सभी को माननीय होता है । यदि प्रमाण के बिना ही पर वादी ने सर्वज्ञ प्रत्यक्ष को मान लिया है तब तो वह प्रमाण न होने से उसका अभ्युपगम करना उचित नही है-। यदि हमारे प्रत्यक्ष से सर्वथा विलक्षण सर्वज्ञ प्रत्यक्ष का स्वीकार प्रमाणमूलक है तब तो 'वह धर्मज्ञान का अनिमित्त है' ऐसा विधान नही कर सकते क्योकि सर्वज्ञप्रत्यक्ष और हमारे प्रत्यक्ष मे यही तो विलक्षणता है कि सर्वज्ञप्रत्यक्ष धर्मादि का ग्राहक है, हमारा वैसा नही है । ऐसे विलक्षण सर्वज्ञ प्रत्यक्ष का स्वीकार यदि प्रमाणमूलक है तो धर्मज्ञान के प्रति उसकी अनिमित्तता कैसे युक्तिसगत कही जाय ? क्योकि धर्मादि के ग्राहक रूप मे सिद्ध होने वाले सर्वज्ञप्रत्यक्ष के साधक प्रमाण से ही उसकी धर्मज्ञान-अनिमित्तता बाधित हो जाती है । दूसरी बात यह है कि "धर्मज्ञान प्रमाण से धर्मादिग्राहकरूप मे प्रसिद्ध जो सर्वज्ञ प्रत्यक्ष है वह धर्मादि का ग्राहक नही है" इस वाक्य का अर्थ परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादक है अत वह प्रमाण नही है । [सर्वज्ञवादी कथन समाप्त]

[नास्तिक द्वारा सर्वज्ञवादिकथित दूषणों का प्रतीकार]

नास्तिक ने सर्वज्ञवादी के उक्त प्रतिपादन को अवक्तव्य यानी 'न कहे जाने योग्य' इसलिये कहा है कि प्रसग साधन जिस विषय को लेकर किया जाता है वहा वह विषय असिद्ध रहने पर भी आश्रयासिद्धि आदि दूषण लागू नही होते । क्योकि यह कोई सिद्धान्त नही है कि प्रसगसाधन जिस परकीय अभ्युपगम के उपर किया जाता है वह परकीयमत प्रमाणमूलक ही होना चाहीये । 'प्रमाण मूलक नही तो कैसा होना चाहीये' ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'यदि' पद का जो अर्थ है कृत्रिम स्वीकार [इच्छा-न होने पर भी क्षणभर मान लिये गये] उसके प्रदर्शन पूर्वक होना चाहीये । अब, सर्वज्ञवादी को यह भी कहने का अवसर न रहा कि-"जहाँ प्रसंग साधन किया जाता है वहा परिणामत उसका विपर्यय ही फलित किया जाता है । प्रस्तुत मे सर्वज्ञ के विषय मे प्रसग साधन करने पर उसका विपर्यय यानी सर्वज्ञाभाव फलित होगा । विपर्यय का भी फल तो यही निपजाना है कि अती-

'कथं पुनरत्र प्रसंगः विपर्ययो वा क्रियते ?' इति चेत् ? तदुच्यते-"सार्वज्ञं प्रत्यक्षं यद्यभ्युपगम्यते तदा तद् धर्मग्राहकं न भवति, विद्यमानोपलम्भनत्वात् । न चासिद्धो हेतु । तथाहि-विद्यमानोपलम्भनमतीन्द्रियार्थजप्रत्यक्षम्, सत्संप्रयोगजत्वात् । अस्याप्यसिद्धतोद्भावने एवं वक्तव्यम् विवादगोचरं प्रत्यक्षं सत्संप्रयोगजम्, प्रत्यक्षत्वात्-तच्छब्दवाच्यत्वाद्वा । अस्मदादिप्रत्यक्षं सर्वत्र दृष्टान्त ।"-इति प्रसंगः । विपर्ययस्त्वेवम्-"तद् धर्मग्राहकं चेत् न विद्यमानोपलम्भनम्, अविद्यमानत्वाद् धर्मस्य । अविद्यमानोपलम्भनत्वे न सत्संप्रयोगजम् । असत्संप्रयोगजत्वे न प्रत्यक्षम् नापि तच्छब्दवाच्यम्" ।

प्रसंगसाधनाभिप्रायेणैव 'यदि' अर्थोपक्षेपेण वार्त्तिककृताप्यभिहितम्-

"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते ? ॥[ ] [श्लो०वा०सू० २-१११ उ०]

एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते । नूनं स चक्षुषा सर्वत्रसादीन् (?सर्वान् रसादीन्) प्रतिपद्यते ॥

न्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाला प्रत्यक्ष नही है । यहा दो प्रश्न है-१. उक्त निषेध मे अतीन्द्रियपदार्थविषयकप्रत्यक्षात्मक धर्मी का निषेध अभिमत है ? या अतीन्द्रियपदार्थविषयकज्ञान मे प्रत्यक्षत्वधर्म का निषेध अभिमत है ? प्रथम पक्ष मे जिस हेतु से आप धर्मी का निषेध करना चाहते हो वह आश्रयासिद्ध हो जायेगा क्योंकि धर्मीस्वरूप आश्रय ही असिद्ध है । दूसरे पक्ष मे प्रत्यक्षत्व धर्म का निषेध करने पर अतीन्द्रियपदार्थविषयकज्ञान को अन्य प्रमाणरूप से मानने की आपत्ति आयेगी क्योंकि जैसे ब्राह्मण्य का निषेध वैश्यत्वादि मे सम्मति सूचक होता है वैसे यहा प्रत्यक्षत्वरूप एक विशेष का निषेध अन्य प्रमाणरूप विशेष के विधान मे फलित होगा ।"

सर्वज्ञवादी के इस कथन को अप्रेर्य यानी अवसरशून्य दिखाने में नास्तिक का यह अभिप्राय है कि हम विशेष निषेध को अन्य अर्थ मे सम्मतिफलक नही मानते किंतु उस विशेषरूप से तद् तद् वस्तु के सत्त्व का निषेध ही सम्मत है । आपने जो धर्मीरूप आश्रय की असिद्धि का दोष दिखलाया है वह भी अनवसर है क्योकि पहले ही हमने कह दिया है कि हम धर्मी को 'यदि' पद के अर्थरूप मे ही स्वीकारते है ।

[सर्वज्ञाभावप्रतिपादक प्रसंग और विपर्यय]

सर्वज्ञवादी को यह जानना हो कि ये प्रसग-विपर्यय किस प्रकार कहते हो-तो यह हम दिखाते है—

प्रसग — सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष कदाचित् मान भी लिया जाय तो वह धर्मग्राहक नही होता । क्योकि वह प्रत्यक्ष विद्यमान का ही ग्राहक है । इस प्रयोग मे हेतु असिद्ध नही है, जैसे-अतीन्द्रियार्थजन्य प्रत्यक्ष विद्यमान का ग्राहक है क्योकि सत्पदार्थसम्पर्क से जन्य है । यहाँ भी हेतु में असिद्धि का उद्भावन किया जाय तो प्रतीकार मे यह कहेगे कि-विवादास्पद प्रत्यक्ष सत्पदार्थसम्पर्क जन्य है क्योकि प्रत्यक्ष है, अथवा प्रत्यक्षशब्दवाच्य है इसलिये । तीनो स्थल मे हमारे प्रत्यक्ष को दृष्टान्तरूप मे प्रस्तुत समझना । यह प्रसग हुआ ।

विपर्ययः—यदि वह प्रत्यक्ष धर्मग्राही है तो वह विद्यमान का ग्राहक नही होना चाहिये क्योकि धर्म उसकाल मे विद्यमान नही होता [किन्तु भावि मे निष्पाद्य होता है] । विद्यमान का उपलम्भक=ग्राहक न होने पर वह प्रत्यक्ष सत्पदार्थसपर्कजन्य नही होगा और सत्पदार्थसपर्कजन्य न होने पर वह न तो प्रत्यक्ष होगा, न तो प्रत्यक्षशब्द से व्यवहार योग्य होगा ।

यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत्" ॥
[श्लो० वा० सू० २/११३] पुनरप्युक्तम्-

येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥
[तत्त्व० ३१५९]

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तितः ॥
[श्लो० वा० सू० २-११४]

इत्यादि । तेनाऽत्रापि-स्वतन्त्रानुमानाभिप्रायेणाश्रयासिद्धत्वादिदूषणम् उपमानोपन्यासबुद्ध्या वाऽशेषो-पमानोपमेयभूतपुरुषपरिषत्साक्षात्करणे उपमानं प्रवर्त्तते-इत्यादि दूषणाभिधानं च सर्वज्ञवादिनः स्वजाड्याविष्करणमात्रकमेव । अतः 'अतीन्द्रियसर्वविदो न प्रत्यक्ष प्रवृत्तिद्वारेण निवृत्तिद्वारेण वाऽभाव-साधनम्' इत्यादि सर्वमभ्युपगमवादान्निरस्तम् ।

[श्लोकवार्त्तिककार के अभिप्राय का समर्थन]

श्लोकवार्त्तिककार ने भी 'यदि' पदार्थ के आरोपण द्वारा प्रसंग साधन मे अभिप्राय रख कर यह कहा है—

"यदि (वेद सहित) छह प्रमाणो से सर्ववस्तुज्ञाता कोई मौजुद हो तो उसका कौन निवारण करता है ? । [तात्पर्य, यदि सर्वज्ञ माना जाय तो वह प्रत्यक्षादि छह प्रमाणो से सर्व वस्तु का ज्ञाता होने का कदाचित् मान सकते है-ऐसा कहने मे, आखिर हमने सर्वज्ञ को मान लिया-यह बात नही है, अगर माना जाय तो ऐसा माना जाय-यह अभिप्राय है] ।

"एक ही (प्रत्यक्ष)प्रमाण वाले सर्वज्ञ की जो कल्पना करते है (उनके मत मे तो) वह सर्वज्ञ केवल नेत्र से ही सभी रस-गन्धादि को देख लेता होगा । "[तात्पर्य यह है कि एक ही नेत्रादि-इन्द्रिय से उसकी विषयमर्यादा का अतिक्रमण करके रसादि का ज्ञान मानना युक्तियुक्त नही है]

"वर्त्तमान काल मे जिस जाति के प्रमाण से जिस जाति के अर्थ का दर्शन उपलब्ध होता है, कालान्तर मे भी वह ऐसा ही था" [तात्पर्य, वर्त्तमानकालीन प्रमाणो का जैसा स्वभाव है कतिपयार्थ-दर्शन, यह स्वभाव भूतकाल मे भी ऐसा ही था, अन्य प्रकार का नही]

और भी कहा गया है—

"(भिन्न भिन्न प्रकार की) प्रज्ञा और बुद्धि आदि से अतिशय वाले जो मनुष्य दिखायी देते है वे भी अतीन्द्रिय अर्थ दर्शन से सातिशय नही है किन्तु (थोडे थोडे) अन्तर से है" [तात्पर्य, कोई २५-५० हाथ दूरस्थ वस्तु को देख सकता है तो कोई हजार दो हजार हाथ दूरस्थ वस्तु को देख सकता है-यही अतिशय है]

'जहाँ भी अतिशय देखा जाता है वह अपनी विषय मर्यादा का अतिक्रमण न करता हुआ ही देखा जाता है, दूरवर्त्ती पदार्थ का दर्शन और सूक्ष्म वस्तु का दर्शन-इस रूप मे ही देखा जाता है किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय से रूप का ग्रहण होता हो ऐसा नही देखा जाता है ।

उपरोक्त से यह फलित होता है कि सर्वज्ञवादी ने हमारे प्रसंगसाधन को स्वतन्त्र अनुमानरूप समझ कर जो आश्रयासिद्धि आदि दूषण कहा है, तथा अतीत अनागत पुरुषो मे वर्त्तमानपुरुषतुल्यता-

यच्चानुमानेन सर्वज्ञाभावसाधने दूषणमभिहितम्, 'किं प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वाद्' इत्यादि-तद् धूमादग्न्यनुमानेऽपि समानम्। तथाहि-तत्रापि वक्तुं शक्यते-किं साध्यधर्मिसम्बन्धी धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्त, उत दृष्टान्तधर्मिसम्बन्धी? तत्र यदि साध्यधर्मिसम्बन्धी हेतुस्तदा तस्य दृष्टान्तेऽसम्भवादनन्वयदोषः। अथ दृष्टान्तधर्मिसम्बन्धी, सोऽसिद्धः, दृष्टान्तधर्मिधर्मस्य साध्यधर्मिण्यसम्भवात्। अथोभयसाधारणं धूमत्वसामान्यं हेतुस्तदा तस्य विपक्षेऽनग्नौ विरोधासिद्धेः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन स्वसाध्याऽगमकत्वम्।

अथ विपक्षेऽनग्नौ धूमस्यानुपलम्भाद्, विरोधसिद्धेर्न संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वम्। नन्वत्रापि वक्तुं शक्यं-सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्याऽसम्भवात् अनग्नौ देशान्तरे कालान्तरे वा केनचिद् धूमस्योपलम्भात्।-'तदुपलब्धिमत कस्यचिदभावात् सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सम्भव' इति चेत्? केन पुनः प्रमाणेनानग्नौ धूमसत्त्वग्राहकपुरुषाभावो प्रतिपन्नः? यद्यन्यतः प्रमाणात्, तत एवानग्नेर्धूमस्य व्यावृत्तिसिद्धेर्व्यर्थं सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भलक्षणस्य विपक्षे धूमविरोधसाधकस्य प्रमाणस्याभिधानम्। अथ

सिद्धि के लिये हमारी ओर से उपमान प्रमाण के उपन्यास की आशका बुद्धि से जो यह कहा है कि उपमानभूत और उपमेयभूत सकल नरपर्षदा के साक्षात्कार होने पर ही उपमान प्रमाण प्रवृत्त हो सकता है-इत्यादि-इत्यादि-यह सब अपनी तुच्छ जाति का ही अनावरण करने जैसा है। तथा 'सर्वज्ञता अतीन्द्रिय होने से प्रवर्त्तमान या निवर्त्तमान किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष से उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता' इत्यादि यह भी जो सर्वज्ञवादी ने कहा है वह सब अभ्युपगमवाद से ही ध्वस्त हो जाता है। क्योंकि हम भी यह मानते ही है कि प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति या निवृत्ति से सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता।

[धूम से अग्नि के अनुमान में समान दोषारोपण-विरोधी]

आगे चलकर सर्वज्ञविरोधी कहता है कि सर्वज्ञवादी की ओर से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि मे जो दूषण दिये गये हैं-"प्रमाणान्तरसवादि अर्थ का वक्तृत्व हेतु बनायेगे या उससे विपरीत. " इत्यादि, यह सब धूमहेतु से अग्नि-अनुमान मे भी समानरूप से लागू किया जा सकता है जैसे यहा भी कहा जा सकता है-'अग्निमान् धूमात्' यहाँ साध्यधर्मीपर्वतवृत्तिधूम का हेतुरूप से उपन्यास करते है या दृष्टान्तधर्मी पाकशालागत धूम को हेतु करते है? यदि पर्वतवृत्तिधूम को हेतु करेंगे तो दृष्टान्त पाकशाला मे वह न होने से आप अन्वय व्याप्ति को ही सिद्ध नही कर सकेंगे। अगर दृष्टान्त पाकशाला गत धूम को हेतु करते है तो साध्यधर्मी पर्वत मे दृष्टान्त पाकशाला का धर्मभूत धूम का सभव न रहने से हेतु असिद्ध हो जायगा। यदि उभय साधारण धूमत्व रूप सामान्यधर्म को हेतु बनायेंगे तो अग्निशून्य विपक्ष तालाब आदि मे धूमत्व का किसी वस्तु के साथ विरोध सिद्ध न होने से वहाँ तालाब आदि मे धूमत्व के अस्तित्व का सदेह शक्य होने से हेतु की विपक्ष से निवृत्ति सदिग्ध हो जायेगी जिस से वह साध्यसिद्धि में दुर्बल बन जायेगा।

[धूम में विपक्षव्यावृत्ति के संदेह का समर्थन]

यदि यह कहा जाय कि-'अग्निशून्य विपक्ष मे धूम का उपलम्भ न होने से विरोध सिद्ध हो जाता है अत. विपक्ष से हेतु की निवृत्ति सदिग्ध नही रहती।'-तो यहाँ भी प्रतिवादी कह सकता है-अग्निशून्य किसी देशान्तर मे कोई एक काल में किसी पुरुष को धूम की उपलब्धि शक्य होने से सभी

तथाभूतानुपलम्भात् तदभावावगमः । ननु तथाभूतपुरुषाभावे तदनुपलम्भसंभवः, तत्संभवाच्च तथाभूत-पुरुषाभावसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वाद् न सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभवः, संभवेऽपि तस्याऽसिद्धेर्न विपर्यये विरोधसाधकत्वम् ।

अथात्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य धूमत्वलक्षणहेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिसाधकत्वम् । न, तस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् । अथानुपलम्भव्यतिरिक्तं धूमलक्षणस्य हेतोर्विपर्यये बाधकं प्रमाणमस्ति, न तु वक्तृत्वलक्षणस्य । किं पुनस्तदिति वक्तव्यम् ? 'अग्नि-धूमयोः कार्यकारणभावलक्षण-प्रतिबन्धग्राहकमि'ति चेत् ? कः पुनरसौ कार्यकारणभाव., किं वा तद्ग्राहकं प्रमाणम् ? 'अग्निभावे एव धूमस्य भावस्तदभावे चाभाव एवासौ, तद्ग्राहकं च प्रमाणं प्रत्यक्षानुपलम्भस्वभावम् । ननु किंचिज्ज्ञत्वस्य तद्व्यापकस्य वा रागादिमत्त्वस्य भावे एव वक्तृत्वस्य भाव स्वात्मन्येव दृष्टः, तदभावे चाभाव एवोपलादावविगानेनानुपलम्भतो ज्ञात इति कथं न विपर्यये सर्वज्ञत्वे वीतरागत्वे वा वक्तृत्वल-क्षणस्य हेतोर्बाधकं कार्यकारणभावलक्षणप्रतिबन्धग्राहकं प्रत्यक्षानुपलम्भाख्यं प्रमाणं दर्शनाऽदर्शनशब्द-वाच्यं युक्तम् ? न च दर्शनाऽदर्शनशब्दवाच्यस्यास्मदभ्युपगतप्रमाणस्य प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दवाच्यस्य वा भवदभिप्रेतस्य कश्चिद्विशेषः प्रकृतहेतुसाध्यप्रतिबन्धसाधन उपलभ्यते ।

को विपक्ष मे धूम की उपलब्धि न होने का सभव नही है। यदि विपक्ष मे धूम को उपलब्ध करने वाले पुरुष का अभाव होने से सभी को विपक्ष मे अनुपलब्धि का सम्भव है-ऐसा कहा जाय तो यह प्रश्न है कि विपक्ष मे धूमसत्ता के ग्राहक पुरुष का अभाव आपको किस प्रमाण से उपलब्ध हुआ ? यदि अन्य किसी प्रमाण से उपलब्ध हुआ हो तब तो उसी प्रमाण से विपक्ष मे धूमनिवृत्ति भी सिद्ध हो जाने से, विपक्ष मे धूमविरोध का साधक, सर्वसम्बन्धीअनुपलम्भस्वरूपप्रमाण का उपन्यास व्यर्थ है। यदि कहे कि-सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भ से ही विपक्ष मे धूमसत्ताग्राहक पुरुष का अभाव ज्ञात किया-तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष इस प्रकार लगेगा-विपक्ष मे धूमसत्ता ग्राहक पुरुषाभाव से सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भ की सिद्धि होगी और सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भ सिद्ध होने पर वैसे पुरुषाभाव की सिद्धि होगी। इस दोष के कारण सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भ का कोई सभव नही है। दूसरी बात यह है कि किसी प्रकार सभव मान ले, तो भी उसकी किसी प्रमाण से सिद्धि जब तक न की जाय तब तक विपक्ष मे केवल सभवमात्र से सर्वसबन्धी अनुपलब्धि विरोध की साधक नही बन सकती।

[आत्मीय अनुपलम्भ से धूम की विपक्ष व्यावृत्ति असिद्ध]

सर्वसबन्धी अनुपलम्भ पक्ष को छोड कर आप यदि यह कहे कि 'आत्मसबधी अनुपलम्भ यानी आपको उपलम्भ न होने के कारण धूम हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति सिद्ध की जायेगी।' तो यह ठीक नही है क्योकि परचित्तवृत्तिविशेष से यहाँ व्यभिचार दोष लगेगा। तात्पर्य, आपको तो परकीयचित्त-वृत्ति का भी कभी उपलम्भ नही होता किंतु इस अनुपलम्भ से उसकी व्यावृत्ति सिद्ध नही होती है।

यदि अनुपलम्भ को छोड कर विपक्ष मे धूमात्मक हेतु की सत्ता मे बाधक दूसरा कोई प्रमाण विद्यमान है किन्तु वक्तृत्वहेतु के लिये वह नही है ऐसा कहा जाय तो वह कौन सा प्रमाण है यह आपको बोलना चाहिये। यदि अग्नि और धूम के बीच कार्य कारणभावात्मक सम्बन्ध ग्रहण कराने वाला प्रमाण ही विपक्ष बाधक होने का कहा जाय तो यह दिखाईये कि उस कार्य-कारणभाव का क्या स्वरूप है और किस प्रमाण से वह गृहीत होता है ?

अथ किंचिज्ज्ञत्व-रागादिमत्त्वसद्भावेऽपि स्वात्मनि न तद्धेतुकं वक्तृत्वं प्रतिपन्नम् किंतु वक्तुकामताहेतुकम्, रागादिसद्भावेऽपि वक्तुकामताऽभावेऽभावाद्वचनस्य। नन्वेवं व्यभिचारे विवक्षापि न वचने निमित्तं स्यात् तत्राप्यन्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनात्, अन्यथा गोत्रस्खलनादेरभावप्रसंगात्। अथार्थविवक्षाव्यभिचारेऽपि शब्दविवक्षायामव्यभिचारः। न, स्वप्नावस्थायामन्यगतचित्तस्य वा शब्दविवक्षाऽभावेऽपि वक्तृत्वसंवेदनात्। न च व्यवहिता विवक्षा तस्य निमित्तमिति परिहारः, एवमभ्युपगमे प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसंगात् सर्वस्य तत्प्राप्तेः। तन्न वक्तुकामतानिमित्तमप्येकान्ततो वचनं सिद्धम्, व्यतिरेकाऽसिद्धे.। अन्वयस्तु किंचिज्ज्ञत्वेन रागादिमत्त्वेन वा वचनस्य सिद्धो, न वक्तुकामतया।

यदि यह कहा जाय कि-'अग्नि के सद्भाव मे ही धूम होता है और अग्नि के अभाव मे यही धूम नही ही होता है अग्नि-धूम का कारण-कार्य भाव है और प्रत्यक्ष एव अनुपलम्भ ही उस कारण-कार्य भाव का ग्राहक प्रमाण है। तात्पर्य, अग्नि होने पर धूम का प्रत्यक्ष और अग्नि के अभाव मे धूम का अनुपलम्भ उन दोनो के बीच कारण-कार्यभाव का उपलम्भक है।'-तो यह कुछ ठीक है किन्तु वक्तृत्व के लिये भी समान है जैसे-अल्पज्ञता अथवा तो उसका व्यापक रागादिमत्त्व जब होता है तभी वक्तृत्व होता है यह अपनी ही आत्मा मे दिखाई देता है, तथा अल्पज्ञता या रागादिमत्त्व न होने पर वक्तृत्व नही होता यह पाषाण खण्ड आदि मे निर्विवादरूप से वक्तृत्व के अनुपलम्भ से-प्रसिद्ध है। तो फिर, अल्पज्ञता या रागादिमत्त्व के साथ वक्तृत्व के कारणकार्यभावात्मक सबन्ध का ग्राहक जो प्रत्यक्ष-अनुपलम्भस्वरूप प्रमाण है जिस के लिये दर्शनाऽदर्शन शब्द का भी प्रयोग होता है वह प्रमाण विपक्षभूत सर्वज्ञ अथवा वीतराग मे वक्तृत्व हेतु की सत्ता मे बाधक क्यो न माना जाय ? हम जिस प्रमाण का दर्शनादर्शन शब्द से प्रयोग करते है, अथवा आप जिस प्रमाण का प्रत्यक्षानुपलम्भ शब्द से प्रयोग करते है उसमे कोई ऐसा पक्षपातरूप विशेष उपलब्ध नही है जो वक्तृत्व हेतु का अल्पज्ञता या रागादिमत्त्वरूप साध्य के साथ व्याप्तिसबन्ध के साधन मे लगाया जा सके।

[वक्तृत्व में वचनेच्छाहेतुकत्व की आशंका अनुचित]

यदि यह कहा जाय 'अपनी आत्मा मे अल्पज्ञता और रागादिमत्ता अवश्य है, फिर भी वह वक्तृत्व का हेतु नही है, वक्तृत्व का कारण तो बोलने की इच्छा-कामना है, जब बोलने की कामना नही होती तब रागादि के रहने पर भी वचन का उच्चार नही होता है।'-तो यह ठीक नही है क्योंकि इस प्रकार बोलने की इच्छा [=विवक्षा] को बीच मे लाकर रागादिमत्ता की हेतुता मे व्यभिचार दिखाया जायेगा तो विवक्षा भी वचनोच्चार का हेतु न बन सकेगी। कारण, कभी कभी बोलने की इच्छा कुछ अन्य शब्द की होती है और शब्दोच्चार कुछ अन्य हो जाता है यह देखने मे आता है। इस बात को असत्य मानेंगे तो गोत्रस्खलनादि-यानी गौतम आदि गौत्र के उच्चार की इच्छा होने पर स्खलना से कौण्डिन्यादि गोत्र का उच्चार हो जाता है यह सर्वजनअनुभवसिद्ध है उसका अभाव हो जायगा। यदि यह तर्क करे कि-'अर्थविवक्षा यानी अन्य कोई अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा रहने पर अन्य ही किसी अर्थ का प्रतिपादन हो जाता है इस प्रकार का व्यभिचार हो सकता है किन्तु शब्द विवक्षा यानी अन्य शब्द बोलने की इच्छा हो तब अन्य शब्द का उच्चार हो जाय ऐसा व्यभिचार नही होता।'-यह तर्क सगत नही है। कारण, शब्दोच्चार की कोई इच्छा न होने पर भी आदमी स्वप्नावस्था मे बकवास करता है और जब चित्त का ठीकाना नही होता उस वक्त बोलने की

अथ किंचिज्ज्ञत्वाद्यभावे सर्वत्र वक्तृत्वं न भवति-इत्यत्र प्रमाणाभावान्नाऽसर्वज्ञ-वक्तृत्वयोः कार्य-कारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः सिध्यति, तर्हि-वह्न्यभावे धूमः सर्वत्र न भवति-इत्यत्रापि प्रमाणाभावस्तुल्य इति न प्रतिबन्धग्रहः। अथाग्न्यभावेऽपि यदि धूमः स्यात् तदाऽसौ तद्धेतुक एव न भवेत्-इति सकृदप्यहेतोरग्नेस्तस्य न भावः स्यात्, दृश्यते च महानसादावग्नित इति नानग्नेर्धूमसद्भाव इति प्रतिबन्धसिद्धिः। ननु यथेन्धनादेरेकदा समुद्भूतोऽपि वह्निरन्यदाऽरणितो मण्यादेर्वा भवन्नुपलभ्यते, धूमो वा वह्नित उपजायमानोऽपि गोपालघुटिकादौ पावकोद्भूतधूमादप्युपजायते इत्यवगमस्तथा कदाचिदग्न्यभावेऽपि भविष्यतीति कुतः प्रतिबन्धसिद्धिः ?

अथ यादृशो वह्निरिन्धनादिसामग्रीत उपजायमानो दृष्टो न तादृशोऽरणितो मण्यादेर्वा, धूमोऽपि यादृशोऽग्नित उपजायते न तादृश एव गोपालघटिकादावग्निप्रभवधूमात्। अन्यादृशात् तादृशभावे तादृशत्वमहेतुकमिति न तस्य क्वचिदपि प्रतिनियमः स्यात्, अहेतोर्देश-काल-स्वभावनियमाऽयोगादिति नाग्निजन्यधूमस्य तत्सदृशस्य वाऽनग्नेर्भावः, भावे वा तादृशधूमजनकस्याग्निस्वभावतैवेति न व्यभिचारः। तदुक्तम्-

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा यद्यग्निरेव सः। अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत्" ॥ इत्यादि।

तदेतद् वक्तृत्वेऽपि समानम्—

इच्छा न होने पर भी सहसा शब्दोच्चार हो जाता है इस प्रकार वचनोच्चार कामना के अभाव में भी वक्तृत्व का संवेदन सभी को प्रसिद्ध है। इस व्यभिचार का निवारण यह कह कर नहीं हो सकता कि 'वहाँ पूर्वकालीन (यानी जाग्रत् कालीन) विवक्षा ही हेतु है' क्योंकि ऐसा मान लेने पर तो विवक्षा और शब्दोच्चार के बीच नियत ढंग का कार्य कारणभाव न रहने से सभी को जाग्रद् अवस्था आदि मे भी पूर्व पूर्व कालीन विवक्षा से ही शब्दोच्चार होने की आपत्ति होगी। साराश यह कि वचन का निमित्त विवक्षा है ऐसा एकान्तनियम सिद्ध नही है क्योंकि 'विवक्षा के अभाव मे शब्दोच्चार का भी अभाव होना चाहीये' यह व्यतिरेक सिद्ध नही है। तथा 'जब भी विवक्षा होती है तब शब्दोच्चार होता ही है' ऐसा अन्वय तो सिद्ध ही नहीं है बल्कि जब अल्पज्ञता या रागादिमत्ता होती है तब शब्दोच्चार होता है यह अन्वय सिद्ध ही है।

[असर्वज्ञता-वक्तृत्व के कार्य-कारणभाव की असिद्धि अन्यत्र तुल्य]

यदि यह कहा जाय कि–'अल्पज्ञतादि के अभाव मे कही भी वक्तृत्व नही होता है इस तथ्य में कोई प्रमाण नही होने से असर्वज्ञ और वक्तृत्व का कार्यकारणभावात्मक व्याप्ति नियम सिद्ध नहीं होता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अन्यत्र भी धूमाग्नि मे यह बात समान है–जैसे, 'अग्नि के अभाव मे धूम कही भी नहीं होता है इस बात मे भी प्रमाण का न होना तुल्य है अत. धूम-अग्नि में भी व्याप्ति सिद्ध नही होगी। यदि यह कहा जाय कि-'अग्नि के विरह मे यदि धूम रहेगा तो वह अग्निजन्य नही होगा, फिर तो एक बार भी अग्नि से धूम की उत्पत्ति नही होगी। किन्तु देखते तो हैं कि पाकशाला मे अग्नि से उसकी उत्पत्ति होती है। अतः अग्नि के विरह में धूमोत्पत्ति न होने से दोनों की व्याप्ति सिद्ध है"—तो यह ठीक नही है क्योंकि इन्धनादि से एक बार अग्नि की उत्पत्ति होती हुयी देखने पर भी दूसरी बार अरणिकाष्ठ के घर्षण से अथवा सूर्यकांत मणि आदि से भी

तथाहि-यदि सर्वज्ञे वीतरागे वा वचनं स्याद्, असर्वज्ञाद् रागादियुक्ताद् वा कदाचिदपि न स्याद्, अहेतोः सकृदप्यसम्भवाद्, भवति च तत् ततः, अतो न सर्वज्ञे तस्य तत्सदृशस्य वा सम्भवः- इति प्रतिबन्धसिद्धिः। अथ देशान्तरे कालान्तरे वाऽसर्वज्ञकार्यमेव वचनं न सर्वज्ञप्रभवमिति न दर्शनाऽदर्शनप्रमाणगम्यम्, दर्शनस्येयद्व्यापाराऽसम्भवाद् अदर्शनस्य च प्रागेवैवंभूतार्थग्राहकत्वेन निषिद्धत्वाद्। तर्हि, सर्वदाऽग्निप्रभव एव धूमोऽन्यभावे कदाचनापि न भवतीत्यत्रापि प्रत्यक्षस्य सन्निहितवर्त्तमानार्थ-

---

उसकी उत्पत्ति देखने मे आती है। तदुपरात, अग्नि से धूम की एकबार उत्पत्ति होती हुयी देखने पर भी दूसरी बार गोपाल घुटिका * (लोकभाषा मे हुक्का) आदि मे अग्निजन्य पूर्वधूम से नये धूम की उत्पत्ति देखने मे आती है तो इस प्रकार अग्नि के विना भी धूमोत्पत्ति हो जायेगी। अब आप अग्नि और धूम की व्याप्ति कैसे सिद्ध करेंगे ?

[धूम में अग्नि व्यभिचार न होने की आशंका का उत्तर]

यदि यह कहा जाय-"इन्धनादि सामग्री से जिस प्रकार का अग्नि उत्पन्न होता है वैसा अग्नि अरणिकाष्ठघर्षण या मणि आदि से उत्पन्न नही होता। तथा, अग्नि से जिस प्रकार का धूम उत्पन्न होता है वैसा धूम गोपालघटिका आदि मे अग्निजन्यधूम से उत्पन्न नही होता है। तात्पर्य, दोनो जगह भिन्न भिन्न जाति के अग्नि और धूम उत्पन्न होते हैं। जैसे कि-इन्धनादि से ज्वालारूप अग्नि उत्पन्न होता है और काष्ठघर्षण से मुर्मुर आदिरूप उत्पन्न होता है। यदि एक प्रकार के साधन से जैसा अग्नि और धूम उत्पन्न होता है वैसा का वैसा अग्नि और धूम अन्य प्रकार के साधन से भी उत्पन्न हो सकता है तब तो यह मानना होगा कि उस अग्नि और धूम का तादृश प्रकार निर्हेतुक ही है क्योकि उसका किसी के भी साथ नियत अन्वय-व्यतिरेक ही नही है। इस प्रकार, अमुक से ही अमुक प्रकार के अग्नि की या धूम की उत्पत्ति होती है-ऐसा कोई नियत भाव नही रहने की आपत्ति होगी। क्योकि जो निर्हेतुक होता है उसका न ही कोई नियत देश होता है, न कोई नियत काल होता है और न उसके स्वभाव का कुछ ठीकाना होता है। अत उक्त आपत्ति टालने के लिये यह मानना होगा कि अग्नि से जो धूम उत्पन्न होता है या उसके जैसा जो धूम होता है वह अग्नि के विरह मे उत्पन्न नही होता। यदि उसके विरह मे कोई धूम उत्पन्न होता है तो उस धूम का उत्पादक, अग्नि-स्वभाववाला नही होना चाहिये। इस प्रकार कार्य-कारण भाव मानने मे कोई व्यभिचार को अवकाश नही है। जैसा कि कहा गया है

"शक्रमूर्धा यानी वल्मीक [जिसमे से कभी धूम निकलता दिखता है] यदि अग्निस्वभाव है तो वह अग्नि ही है (उससे भिन्न नही है) और यदि वह अग्निस्वभाव वाला नही है तब तो वहाँ धूमोत्पत्ति की शक्यता कैसे ?"-

सर्वज्ञवादी के उपरोक्त वक्तव्य के विरुद्ध विरोधीयो का कहना यह है कि वक्तृत्व के लिये भी उपरोक्त सभी तर्क किये जा सकते है -

---

* तबाकु के धूम्रपान के लिये काष्ट या खोपरे के कोचले का बनाया हुया लम्बी नालयुक्त साधनविशेष जिसके निम्नभाग मे वर्तुलाकृति एक जलपात्र रहता है उसको घुटिका कहते हैं और ताम्बाकु का धूम जलसपर्क से ठण्डा होकर मुख मे आता है।

ग्राहकत्वेनाऽप्रवृत्तेः, अनुपलम्भस्यापि तद्विविक्तप्रदेशविषयप्रत्यक्षस्वभावस्यात्र वस्तुनि व्यापाराऽसम्भवाद् न कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः स्याद् ।

नाप्यनुमानतोऽपि प्रकृतः प्रतिबन्धः सिद्धिमासादयति, इतरेतराश्रयाऽनवस्थादोषप्रसंगस्य प्रदर्शितत्वात् । न चाऽन्यत् प्रतिबन्धप्रसाधकं प्रमाणमस्तीति प्रसिद्धानुमानस्यापि सर्वज्ञाऽभावाऽऽवेदकानुमाननिरासयुक्त्युपक्षेपमिच्छतोऽत्राभाव प्रसक्तः । अथ प्रसिद्धानुमाने साध्य-साधनयोः प्रतिबन्धः तत्प्रसाधकं च प्रमाणं किंचिदस्ति तर्हि स एव प्रतिबन्धः किंचिज्ज्ञत्व-वक्तृत्वयोः, तत्प्रसाधकं च तदेव प्रमाणं भविष्यतीति सिद्धः प्रतिबंधः किंचिज्ज्ञत्व-वक्तृत्वयोरग्निधूमयोरिव ।

अत एव 'व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र दर्श्यते तत् प्रसंगसाधनम्' इति तल्लक्षणस्य युष्मदभ्युपगमेनात्र सद्भावाद् भवत्येवातोऽनुमानात् सर्वज्ञाभावसिद्धिः । पक्षधर्मताऽभावप्रतिपादनं च यत् प्रकृतप्रसंगसाधने प्रतिपादितं तद् अभ्युपगमवादान्निरस्तम् । तत्र पक्षधर्मताया हेतो-

---

[असर्वज्ञ और भाषाव्यवहार के प्रतिबन्ध की सिद्धि]

वह इस प्रकार-सर्वज्ञ अथवा वीतराग से यदि भाषोत्पत्ति होती तो वह असर्वज्ञ अथवा रागादिमान् पुरुष से कभी भी नही होती । अकारणीभूत वस्तु से कभी भी कार्योत्पत्ति नही होती । किन्तु यहां असर्वज्ञादि से भाषा उत्पत्ति होती है, अत एव भाषा या तत्सदृश वस्तु सर्वज्ञ-वीतराग से उत्पन्न होने का सम्भव ही नही है । इस प्रकार असर्वज्ञ और वक्तृत्व का व्याप्तिसबन्ध सिद्ध होता है ।

यदि यह कहा जाय कि-'देशान्तर और कालान्तर से भाषा असर्वज्ञ का ही कार्य होती है, सर्वज्ञकार्य नही होती ऐसा उपलम्भ दर्शनाऽदर्शनप्रमाण से तो नही होता, क्यो कि दर्शन का व्यापार इतना समर्थ होने का सम्भव नही है और अदर्शन इस प्रकार के उपलम्भ के हेतुरूप में पहले निषिद्ध हो चुका है ।'-तो यह अन्यत्र भी कहा जा सकता है कि धूम हमेशा अग्नि से ही उत्पन्न होता है-अग्नि बिना कभी उत्पन्न नही होता, ऐसा उपलम्भ करने मे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति शक्य नही है क्योकि वह केवल सनिहित वर्त्तमान अर्थ का ही ग्राहक होता है । अनुपलम्भ भी जो वस्तु शून्य प्रदेश को प्रत्यक्ष करने का स्वभाव वाला होता है अतः-प्रस्तुत विषय मे उसका व्यापार सम्भव नही है । इसलिये यह फलित होता है-धूम और अग्नि का कार्यकारणभावरूप संबन्ध के ग्रहण मे प्रत्यक्षानुपलम्भ साधनभूत नही है ।

[प्रसिद्ध धूमहेतुक अनुमान के अभाव की आपत्ति]

अनुमान से भी धूम का अग्नि के साथ संबध सिद्धि पद प्राप्त नही है क्योकि प्रस्तुतानुमान-प्रयोजक व्याप्ति का ग्रहण यदि पूर्वानुमान से मानेंगे तो अन्योन्याश्रय और नये अनुमान से मानेंगे तो अनवस्था दोष लगेगा यह पहले ही बताया है । और तो कोई व्याप्तिसाधक प्रमाण है नही, फलतः सर्वज्ञाभाव साधक अनुमान के खंडनार्थ युक्ति का उपन्यास करने की वाछा वाले के मत मे प्रसिद्ध धूमहेतुक अग्नि अनुमान के भी उच्छेद की आपत्ति प्रसक्त हुयी ।

यदि कहे कि-'प्रसिद्ध अग्नि-अनुमान मे तो धूम और अग्नि का प्रतिबन्ध=व्याप्ति सबंध, एवं उसका साधक कोई प्रमाण, दोनो मौजुद है'-तो वही अल्पज्ञता और वक्तृत्व का भी प्रतिबन्ध हो जायेगा और वह प्रमाण यहा भी प्रतिबन्ध का साधक हो सकेगा । तात्पर्य, जैसे धूम और अग्नि का प्रतिबन्ध सिद्ध है वैसे अल्पज्ञता और वक्तृत्व का भी प्रतिबन्ध सिद्ध हो सकता है ।

रभावेऽपि गमकत्वस्य सिद्धत्वात् । शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थोऽनभ्युपगमान्निरस्त इति न प्रत्युच्चार्य दूषितः । अतोऽयुक्तमुक्तं 'सर्वज्ञवादिनां यथा तत्साधकप्रमाणाभावाद् न तद्विषयः सद्व्यवहारः तथा तदभाववादिनां मीमांसकादीनां तदभावग्राहकप्रमाणाभावादेव न तदभावव्यवहारः' इति, प्रसंगसाधनस्य तदभावसाधकस्य समर्थितत्वात् ।

अथ यद् अभ्यासविकलचक्षुरादिजनितं प्रत्यक्षं, तद् धर्मादिग्राहकं न भवति, इति प्रसंगसाधनात् सिध्यति, न पुनरन्यादृग्भूतम्, चोदनावदन्यादृशस्य धर्मग्राहकत्वाऽविरोधात् । ननु किं १. तज्ज्ञानं प्रतिनियतचक्षुरादिजनितं धर्मादिग्राहकम्, २. उताभ्यासजनितं, ३. आहोस्वित् शब्दजनितम्, ४. किंवाऽनुमानप्रभावितम् ? तत्र यदि चक्षुरादिप्रभवम्, तदयुक्तम्, चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवस्य तज्ज्ञानस्य धर्मादिग्राहकत्वाऽयोगात् । अत एव "यदि षड्भिः"..... इत्याद्युक्तं दूषणमत्र पक्षे ।

[प्रसंगसाधन से सर्वज्ञभावसिद्धि का समर्थन]

सर्वज्ञविरोधी कहता है कि सर्वज्ञाभाव के साधन मे सर्वज्ञवादी ने जो जो दूषण दिखाये है वे सब धूम से अग्नि अनुमान मे भी समान है यह उपरोक्त चर्चा से सिद्ध हुआ इतना ही नही अपितु वक्तृत्व हेतुक हमारे अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव भी अब सिद्ध होता है क्योकि प्रसंगसाधन का जो लक्षण है–'व्याप्य का स्वीकार व्यापक के स्वीकार का अविनाभावी है ऐसा जहाँ दिखाया जाता है वह प्रसगसाधन कहा जाता है'–इस प्रकार का प्रसगसाधन का लक्षण जो आपको स्वीकृत है वह आपके ही मतानुसार हमारे उक्त अनुमान मे मौजूद है ।

सर्वज्ञवादी ने हमारे प्रसगसाधन मे प्रतिपादित हेतु मे जो पक्षधर्मता के अभाव दोष का उद्भावन किया है वह तो दोषरूप न होने से हम उसका स्वीकार करके ही निराकरण ला देते हैं । कारण, स्वतंत्र साधन मे पक्षधर्मताऽभाव दोष बन सकता है किन्तु प्रसग साधन मे हेतु पक्षधर्म न होने पर भी व्याप्ति बल के आधार पर स्वसाध्यप्रतिपादक हो सकता है । अवशिष्ट जो सर्वज्ञवादी का पूर्वपक्ष है–उसमे जिस जिस विधान पर दोषारोपण किया गया है-वे विधान हमारे न होने से ही उक्त दोषों का विध्वस हो जाता है, अत उन एक एक विधान को लेकर उस पर दिये गये दूषणो को टालने का प्रयास आवश्यक नही है । अत सर्वज्ञवादी ने अपने वक्तव्य के प्रारम्भ मे जो कहा था–"सर्वज्ञवादी के पास जैसे सर्वज्ञ का साधक कोई प्रमाण न होने से उसके विषय मे सद्व्यवहार शक्य नही, उसी प्रकार सर्वज्ञविरोधी मीमांसको के पास सर्वज्ञ के अभाव का ग्राहक कोई प्रमाण न होने से उसके बारे मे अभाव व्यवहार भी नही हो सकता–" इत्यादि, यह सब युक्तिविकल कह दिया है । सर्वज्ञाभाव की सिद्धि मे प्रतिपादित प्रसंगसाधन का सविस्तर समर्थन किया गया है ।

[धर्मादिग्राहकतया अभिमत प्रत्यक्ष के ऊपर चार विकल्प]

मीमांसको ने जो यह कहा था कि-'प्रत्यक्ष धर्मादिग्रहण का अनिमित्त है क्योकि विद्यमानोपलम्भक है' इत्यादि, उसके ऊपर सर्वज्ञवादी शंका करें कि–योगानुष्ठानादि के अभ्यास विरह मे जो नेत्रादिजन्य प्रत्यक्ष होता है वही धर्मादि का अग्राहक होता है–प्रसगसाधन से केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है । किन्तु जैसे चोदना यानी विधिवाक्य से जन्य ज्ञान उपर्युक्त प्रत्यक्ष से विलक्षण होता

अथाऽभ्यासजनितं तदिति पक्षः-तथाहि-ज्ञानाभ्यासात् प्रकर्षतरतमादिप्रक्रमेण तत्प्रकर्षसम्भवे तदुत्तरोत्तराभ्याससमन्वयात् सकलभावातिशयपर्यन्तं संवेदनमवाप्यत इति। तदपि मनोरथमात्रम्, यतोऽभ्यासो हि नाम कस्यचित् प्रतिनियतशिल्पकलादौ प्रतिनियतोपदेशसद्भाववतो जन्मतो जनस्य संभाव्यते न तु सर्वपदार्थविषयोपदेशसंभवः। न च सर्वपदार्थविषयानुपदेशज्ञानसंभवो येन तज्ज्ञानाभ्यासात् सकलज्ञानप्राप्तिः, तत्संभवे वा सकलपदार्थविषयज्ञानस्य सिद्धत्वात् किमभ्यासप्रयासेन !

किं च, तदभ्यासप्रवर्त्तकं ज्ञानं यदि चक्षुरादिप्रतिनियतकरणप्रभवमप्यन्येन्द्रियविषयरसादिगोचरम् अतीन्द्रियार्थगोचरं च स्यात् तदा पदार्थशक्तेः प्रतिनियतत्वेन प्रमाणसिद्धायाः अभावात् प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसक्तिसद्भावात् सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः।

हुआ धर्म का ग्राहक होता है उसी प्रकार उपर्युक्त प्रत्यक्ष से विलक्षण योगी के प्रत्यक्ष से धर्मादि गृहीत होने मे कोई विरोध नही है।

सर्वज्ञविरोधी कहता है कि-इस विलक्षण प्रत्यक्ष के ऊपर चार मे से एक भी विकल्प घट नही सकता जैसे १-वह प्रत्यक्षज्ञान क्या अमुक ही प्रकार के नेत्रादि से जन्य है ? या २-अभ्यासजन्य है ? अथवा ३-शब्दजन्य है ? या ४-अनुमान के सहकार से उपकृत है ?

प्रथम विकल्प-धर्मादिग्राहक ज्ञान को नेत्रादिजन्य नही माना जा सकता क्योकि नेत्रादि इन्द्रिय तद् तद् रूप-रसादि विषय के ग्रहण मे ही सशक्त होने का नियम सर्वविदित होने से नेत्रादिजन्य ज्ञान धर्मादि का ग्राहक नही हो सकता। इसीलिये तो इस विकल्प मे 'यदि षड्भिः' इत्यादि कारिका से जो पूर्व मे उपहास रूप दूषण कहा गया है कि एक ही प्रमाण से सर्व वस्तु का ज्ञाता जिनको मान्य है उनके पक्ष मे नेत्रादि से सर्व रस गन्ध आदि का भी ग्रहण होता होगा-इत्यादि, वह नही टाल सकते।

[सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष अभ्यासजनित नहीं है]

यदि यह पक्ष माना जाय कि-"धर्मादिग्राहक प्रत्यक्ष अभ्यास जनित है, जैसे कि-ज्ञानाभ्यास से बोध के प्रकर्ष मे तर-तम भाव आदि का प्रक्रम यानी परम्परा से ज्ञान के उत्कर्ष का जब सभव दिखाई देता है तो उत्तरोत्तर अभ्यास के समन्वय यानी सम्यगासेवन से सकल पदार्थो की चरम सीमा को लाँघने वाला सवेदन प्रगट होता है।"-तो इस पर विरोधी का कहना है कि यह निष्फल मनोरथ मात्र है। कारण, जन्म से लेकर क्रमशः अमुक अमुक शिल्प कलादि के विषय मे उत्तरोत्तर तत् तत् प्रकार के उपदेश का सद्भाव यानी प्राप्ति जिस पुरुष को होती है उसको अमुक अमुक शिल्पकलादि के अभ्यास होने की सभावना है किन्तु सर्व पदार्थो के विषय का उपदेश आयु अल्पतादि के कारण, सभवित ही नही है। तथा उपदेश विना सर्व पदार्थविषयक ज्ञान का संभव भी नही है जिससे कि उपदेशप्रयोज्य ज्ञानाभ्यास का सभव हो, और सर्वविषयक ज्ञानाभ्यास का संभव न होने से सकलार्थज्ञानप्राप्ति भी कल्पनामात्र है। यदि सर्वार्थविषयकोपदेशानुकुल ज्ञान का सभव माना जाय तब तो उसीसे सर्वार्थविषयक ज्ञान भी सिद्ध हो जाने से अभ्यास द्वारा धर्मादिग्राहक प्रत्यक्षसिद्धि का प्रयास व्यर्थ है।

दूसरी बात यह है कि यदि वह अभ्यास प्रवर्त्तक ज्ञान, नेत्रादि तत् तत् इन्द्रियरूप करण से जन्य होने पर भी अन्येन्द्रिय के विषयभूत गन्ध-रसादि को विषय करेगा, अथवा अतीन्द्रिय अर्थ को ग्रहण करेगा, तो 'पदार्थो की शक्ति प्रतिनियत यानी मर्यादित ही होती है' यह बात प्रमाणसिद्ध नही हो

अथाभ्याससहायानां चक्षुरादीनामपि सर्वज्ञावस्थायामतीन्द्रियदर्शनशक्तिः । न च व्यवहारोच्छेदः-अस्मदादिचक्षुरादीनामनभ्यासदशायां शक्तिप्रतिनियमाद् अस्मदादय एव व्यवहारिण इति । एतदप्यसमीचीनम् , न खल्वभ्यासे सत्यप्यन्यतो वा हेतोः कस्यचिदतीन्द्रियदर्शनं चक्षुरादिभ्य उपलभ्यते, दृष्टानुसारिण्यश्च कल्पना भवन्तीति । किं च, सर्वपदार्थवेदने चक्षुरादिजनितज्ञानात् तदभ्यासः, तत्सहायं च चक्षुरादिकं सर्वज्ञावस्थायां सर्वपदार्थसाक्षात्कारि ज्ञानं जनयतीति कथमितरेतराश्रयमेतत् कल्पनागोचरचारि चतुरचेतसो भवत इति न द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तिक्षमः ।

अथ शब्दजनितं तज्ज्ञानम् । ननु शब्दस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्ये सर्वपदार्थविषयज्ञानसम्भवः, तज्ज्ञानसंभवे च सर्वज्ञस्य तथाभूतशब्दप्रणेतृत्वमितीतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः ।-अत एवोक्तम्-[श्लो० वा० सू० २-१४२] 'नर्ते तदागमत् सिध्येद् न च तेनागमो विना' ।। इति । न च शब्दजनितं स्पष्टाभमिति न तज्ज्ञानवान् सकलज्ञ इत्यभ्युपगम्यते, एवं च प्रेरणाजनितज्ञानवतो धर्मज्ञत्वम् ।-अत एवोक्तम्-"चोदना ही भूतं भवन्त"....इत्यादि । तन्न-तृतीयपक्षोऽपि युक्तिसंगतः ।

सकने से, मर्यादित शक्ति की महीमा से जो नियत प्रकार का कार्य-कारण भाव माना जाता है वह टूट जाने की आपत्ति आयेगी और इससे 'नेत्र से रूपज्ञान उत्पन्न होता है' इत्यादि सर्व व्यवहार उच्छेदाभिमुख हो जायेंगे ।

[चक्षु आदि से अतीन्द्रिय अर्थदर्शन का असंभव]

यदि सर्वज्ञवादी की ओर से यह कहा जाय—सर्वज्ञदशा मे अभ्यास की सहायता से नेत्रादि इन्द्रिय मे अतीन्द्रियार्थदर्शन की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है । यहाँ 'नेत्र से रूप का ही ग्रहण होता है, रस का नहीं' इत्यादि व्यवहार के उच्छेद हो जाने की आपत्ति प्राप्त नही होती क्योकि इस प्रकार के व्यवहार करने वाले तो हम लोग ही हैं और हमारी नेत्रादि इन्द्रियो को अभ्यास की सहायता न होने की दशा मे उक्त शक्ति का प्रतिनियतभाव तदवस्थ ही रहता है ।

विरोधी :–सर्वज्ञवादी का यह कथन अनुचित है, क्योकि यह तो निश्चय ही है कि—चाहे अभ्यासदशा हो या अन्य कोई भी हेतु हो, नेत्रादि इन्द्रिय से अतीन्द्रिय अर्थ का दर्शन किसी को भी होता हो यह देखा नही गया । कल्पना निरकुश नही हो सकती किन्तु जैसा देखा जाय तदनुसार ही हो सकती है ।

दूसरी बात यह है कि अन्योन्याश्रय दोष को अवकाश प्राप्त होगा - जैसे, सर्वपदार्थ का ज्ञान सिद्ध होने पर उपदेश द्वारा नेत्रादिजन्य उत्तरोत्तर ज्ञान से अभ्यास सिद्ध होगा और सिद्ध अभ्यास की सहायता से नेत्रादि इन्द्रिय सर्वज्ञदशा मे सकल पदार्थ को साक्षात् करने वाले ज्ञान को उत्पन्न करेगी- इस प्रकार जहाँ अन्योन्याश्रय दोष है ऐसा तथ्य आप जैसे चतुर पुरुष की कल्पना का विषय कैसे हो सकता है ? निष्कर्ष अभ्यास से सकलार्थवेदि प्रत्यक्षोत्पत्ति सम्भव नही है ।

[सर्वज्ञ का ज्ञान शब्दजन्य नहीं है]

यदि तीसरे पक्ष मे, धर्मादिग्राहक प्रत्यक्षज्ञान को शब्दजन्य माना जाय तो इतरेतराश्रय दोष इस प्रकार लगेगा-सर्वज्ञ कथित होने से शब्द का प्रामाण्य सिद्ध होने पर उस शब्द से सर्वपदार्थविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का सभव होगा और ऐसा ज्ञान यानी सर्वज्ञता सिद्ध होने पर वह प्रमाणभूतशब्दो का उपदेशक होगा । इसी दोष का प्रतिपादन श्लोकवार्त्तिक मे 'नर्ते तदागमात्'..इत्यादि से किया है कि

अनुमानजनितज्ञानेन तु सर्वविस्वे न धर्मज्ञत्वम्, धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापकलिङ्गत्वेनाऽभ्युपगम्यमानस्यार्थस्य तेन सह संबन्धासिद्धेः, असिद्धसम्बन्धस्य चाऽज्ञापकत्वान्न ततो धर्माद्यनुमानम्- इत्यनुमानजनितं ज्ञानं न सकलधर्मादिपदार्थाऽऽवेदकम्। किं च, तथाभूतपदार्थज्ञानेन यदि सर्वविदभ्युपगम्यते तदाऽस्मदादीनामपि सर्वविस्त्वमनिवारितप्रसरम्. 'भावाभावोभयरूपं जगत्, प्रमेयत्वात्' इत्यनुमानस्याऽस्मदादीनामपि भावात्। अस्पष्टं चानुमानमिति तज्जनितस्याप्यवैशद्यसंभवान्न तज्ज्ञानवान् सर्वज्ञो युक्तः।

अथानुमानज्ञानं प्रागविशदमपि तदेवाऽशेषपदार्थविषयं पुनः पुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयद् वैशद्यभाग् भवति, दृष्टं चाभ्यासबलाद् ज्ञानस्यानक्षजस्यापि काम-शोक-भयोन्माद-चौरस्वप्नाद्युपप्लुतस्य वैशद्यम्। नन्वेवं तज्ज्ञानवदतीन्द्रियार्थविद्विज्ञानस्याप्युपप्लुतत्वं स्यादिति तज्ज्ञानवतः कामाद्युपप्लुतपुरुषवद् विपर्यस्तत्वम्।

आगम के बिना सर्वज्ञ सिद्ध नही होगा और सर्वज्ञ के विना प्रमाणभूत आगम निष्पन्न नही होगा। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञान स्पष्टानुभवरूप होता है जब कि शब्दजन्यज्ञान अस्पष्ट होता है, अत. शब्दजनितज्ञानवान् पुरुष सकलार्थप्रत्यक्षकारी नही माना जा सकता। फलित यह हुआ कि शब्द जनित प्रत्यक्षज्ञानवान् कोई धर्मवेत्ता का सम्भव नही है किन्तु प्रेरणा (=विधिवाक्य) जनित ज्ञानवान् ही धर्मवेत्ता है। अत एव शाबरभाष्य मे कहा गया है कि-"प्रेरणा हि भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् कालीन सर्वपदार्थो के बोधन मे समर्थ है, और कोई इन्द्रियादि नही। सारांश, तृतीय पक्ष भी अयुक्त है।

[अनुमान से सर्वज्ञता प्राप्ति का असंभव]

चौथे विकल्प मे, यदि अनुमानज य सर्वपदार्थज्ञान द्वारा सर्वज्ञता मानी जाय तो भी इससे धर्मज्ञता सिद्ध नही हो सकती। कारण, धर्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय हैं, अतः उन अतीन्द्रियपदार्थो के ज्ञापक जिस पदार्थ को आप हेतु बनायेंगे उसका अपने साध्यभूत अतीन्द्रिय पदार्थो के साथ सम्बन्ध ही सिद्ध नही हो सकता। असिद्ध सबध वाला हेतु साध्य का ज्ञापक न हो सकने से धर्मादि का अनुमान नही किया जा सकता। अत चौथे पक्ष मे अनुमानजन्यज्ञान सकल धर्मादि पदार्थ का ज्ञापक नही हो सकता।

दूसरी बात यह है कि अनुमानजन्यज्ञान से सर्वज्ञता मानी जाय तो हम आदि मे भी सर्वज्ञता की अतिव्याप्ति का निवारण अशक्य होगा, क्योकि "जगत् भावाभावोभय स्वरूप है क्योकि प्रमेय है" इस अनुमान से प्रमेयत्वहेतुक भावाभावात्मक अखिल जगत् का अनुमानज्ञान सभी को हो सकता है। तीसरी बात यह है कि अनुमान स्पष्ट नहीं किन्तु अस्पष्ट होता है अतः तज्जन्यज्ञान मे विशदता यानी सर्वविशेषग्राहकता का सभव न होने से अनुमानजन्यज्ञानवान् पुरुष कभी सर्वज्ञ नही हो सकता।

[सर्वज्ञ ज्ञान में विपर्यास की आपत्ति]

यदि यह तर्क किया जाय कि-प्रारम्भ मे तो अनुमानज्ञान अविशद ही होता है किन्तु अखिल-पदार्थसबधी वही अनुमान पुन पुन जब भावित किया जाता है तब भावना चरमोत्कर्ष को प्राप्त होने से वही अनुमानज्ञान योगिज्ञानमय बन जाता है, उस समय अति विशद बन जाता है। यह कोई अदृष्ट कल्पना नही है क्योकि यह देखा जाता है कि ज्ञान इन्द्रिय जन्य यद्यपि न होने पर भी अभ्यास

अथ यथा रजो-नीहाराद्यावरणावृतवृक्षादिदर्शनमविशदं तदावरणापाये वैशद्यमनुभवति एवं रागाद्यावारकाणां विज्ञानाऽवैशद्यहेतूनामपाये सर्वज्ञज्ञानं विशदतामनुभविष्यतीति । असदेतत्, रागादीनामावरणत्वाऽसिद्धेः, कुड्यादीनामेव ह्यावारकत्व लोके प्रसिद्धं न रागादीनाम् । तथाहि-रागादिसद्भावेऽपि कुड्याद्यावारकाभावे विज्ञानमुत्पद्यमानं दृष्टम्, रागाद्यभावेऽपि कुड्याद्यावारकसद्भावे न विज्ञानोदय इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां कुड्यादीनामेवाऽऽवरणत्वावगमो न रागादीनामिति न रागादय आवारका इति न तद्विगमोऽपि सर्वविद्विज्ञानस्य वैशद्यहेतुः ।

किं च, सर्ववेदनं सर्वज्ञज्ञानेन किं समस्तपदार्थग्रहणमुत शक्तियुक्तत्वम्, आहोस्वित् प्रधानभूतकतिपयपदार्थग्रहणम् ? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तत्रापि वक्तव्यम्-किं क्रमेण तद्ग्रहणम् ? आहोस्विद् यौगपद्येन ? तत्र यदि क्रमेण तद्ग्रहणम्, तदयुक्तम्, अतीतानागतवर्त्तमानपदार्थानामपरिसमाप्तेस्तज्ज्ञानस्याप्यपरिसमाप्तितः सर्वज्ञताऽयोगात् । अथ युगपदनन्तातीतानागतपदार्थसाक्षात्कारि तद्वेदनमभ्युपगम्यते, तदप्यसत्, परस्परविरुद्धानां शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रतिभासाऽसम्भवात्, सम्भवे वा न कस्यचिदर्थस्य प्रतिनियतस्य तद् ग्राहकं स्यादिति किं तज्ज्ञानेन अस्मदादिभ्योऽपि व्यवहारिभ्यो हीनतर(? रेण) इति कथं सर्वज्ञः ?

यानी दृढ संस्कार के बल से, कामराग, शोक, भय, उन्माद, चोरभय, स्वप्नादि से जब चित्त उपप्लुत यानी अतिभावित हो जाता है तब तद् तद् विषय का विशद ज्ञान होता है [जैसे कामान्ध को अपनी प्रियतमा का साक्षात् आभास स्तम्भादि मे होता है] ।

इस तर्क के विरुद्ध हमे यह कहना है कि अभ्यास के बल से कामी पुरुष आदि को यद्यपि सोपप्लव ज्ञान का उदय होता है किन्तु वह विपर्यासमय होता है, सत्य नही होता । उसी प्रकार अभ्यासबल से जो अतीन्द्रियार्थज्ञाता का विज्ञान होगा वह भी सोपप्लव होने से विपर्यासमय ही होगा, सत्य नही होगा ।

[रागादि ज्ञानावारक नहीं है]

अब यदि ऐसा कहा जाय कि-जब वायुमण्डल धूलिव्याप्त हो जाता है अथवा तुहिनव्याप्त हो जाता है तब समीपवर्त्ती भी वृक्षादि का दर्शन धूंधला होता है स्पष्ट नही होता । किन्तु तुहिन या धूलि के बिखर जाने पर वृक्षादि का स्पष्ट दर्शन होता है-इसी प्रकार विज्ञान की अविशदता के हेतुभूत आवारक रागादि ध्वस्त हो जाने पर सर्वज्ञ का ज्ञान अत्यन्त विशदता को प्राप्त कर लेंगे-कोई दोष नही है ।

विरोधी के अभिप्राय से उपरोक्त आवरण की बात असत् है, क्योंकि रागादि की आवरणरूप मे सिद्धि नही है । लोक मे भी दिवार आदि ही आवरणरूप मे सिद्ध है, रागादि नही । जैसे-रागादि के होने पर भी दिवार आदि की आड न होने पर ज्ञानोत्पत्ति होती है किंतु रागादि के न होने पर भी दिवार आदि की आड होने पर ज्ञानोत्पत्ति नही होती-इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से दिवार आदि का ही आवरणरूप मे भान होता है न कि रागादि का । अतः रागादि आवरणरूप न होने से उसके विनाश को सर्वज्ञज्ञान की विशदता का सपादक नही माना जा सकता ।

[सर्वज्ञज्ञान की तीन विकल्पों से अनुपपत्ति]

सर्वज्ञज्ञान के ऊपर निम्नोक्त तीन विकल्प भी सगत नही हैं । विकल्प इस प्रकार के हैं-

किं च यदि युगपद् सर्वपदार्थग्राहकं तज्ज्ञानं तदेकक्षणे एव सर्वपदार्थग्रहणाद् द्वितीयक्षणेऽकिंचिज्ज्ञ एव स्यात्, ततश्च किं तेन तादृशाऽकिंचिज्ज्ञेन सर्वज्ञत्वेन ? न चानाद्यनन्तसंवेदनस्य परिसमाप्तिः, परिसमाप्तौ वा कथमनाद्यनन्तता ? किंच, सकलपदार्थसाक्षात्करणे परस्थरागादिसाक्षात्करणमिति रागादिमानपि स स्याद् विट इव। अथ रागादिसंवेदनमेव नास्ति न तर्हि सकलपदार्थसाक्षात्करणम्। तन्न प्रथमः पक्षः।

अथ शक्तियुक्तत्वेन सकलपदार्थसंवेदनं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते, तदपि न युक्तम्, सर्वपदार्थवेदने तच्छक्तेर्ज्ञातुमशक्तेः, कार्यदर्शनानुमेयत्वाच्छक्तीनाम्। किं च, सर्वपदार्थज्ञानपरिसमाप्तावपि 'इयदेव सर्वम्' इति कथं परिच्छेदशक्तिः ? अथ 'वेदनाऽभावादभावोऽपरस्येति सर्वसंवेदनम्'। अवेदनादभावो

१. सर्वज्ञज्ञान से जो सर्ववेदन आप मानते है वह समस्त पदार्थो का ग्रहणरूप है ? या-२. समस्त वस्तु को ग्रहण करने की शक्तिमत्तारूप है ? अथवा ३. मुख्य मुख्य कई एक पदार्थों का ग्रहणरूप है ?

यदि प्रथम पक्ष पर सोचा जाय तो यहाँ भी बताईये कि A क्रम से सर्ववस्तु का ग्रहण होता है या B एक साथ ही ? यदि क्रम से सर्ववस्तु का ग्रहण माने तो उसमे कोई युक्ति नही है। क्योंकि अतीत-अनागत-और वर्त्तमान कालीन पदार्थो-का-कही-भी अन्त न होने से क्रमशः सर्वपदार्थो-को विषय करने वाले ज्ञान का भी अन्त नही आने से अनन्त काल की अवधि मे भी सर्वपदार्थो का ग्रहण संभव नही है। यदि एक साथ अनन्त अतीत-अनागत पदार्थो को साक्षात् करने वाला सर्वज्ञ-ज्ञान मानते हो तो वह भी ठीक नही है कारण, शीतस्पर्श-उष्णस्पर्शादि जो परस्परविरुद्ध पदार्थ है उन-का एक ज्ञान मे एक साथ प्रतिभास सभवविरुद्ध है। यदि उसका संभव माना जाय, तो समुदितरूप से सर्ववस्तु का ज्ञान होने पर भी किसी भी प्रतिनियत अर्थ का प्रतिनियतरूप से ग्रहण करने वाला वह ज्ञान नही होगा, तो हम आदि व्यवहर्त्ता को जो कई एक पदार्थों का विशेषरूप से ज्ञान होता है-उससे भी हीन कक्षा वाले उस ज्ञान से क्या प्रयोजन ? और वह सर्वज्ञ भी कैसा ?

[एक साथ सर्वपदार्थग्रहण की सदोषता]

यह भी सोचिये कि एकसाथ ही सर्वपदार्थ को ग्रहण करने वाला सर्वज्ञज्ञान होगा तो प्रथम क्षण मे ही सभी पदार्थ को ग्रहण कर लेने से दूसरे क्षण मे आपका सर्वज्ञ कुछ भी न जान पायेगा तो इस प्रकार के कुछ भी न जानने वाली उस सर्वज्ञता से क्या लाभ ? तथा जिस सवेदन का प्रारम्भ और अन्त ही नही है ऐसे सवेदन की किसी भी विषय मे परिसमाप्ति यानी परिपूर्णअर्थग्राहकता सभव नही है, यदि सभव हो तो उस सवेदन को अनादि-अनन्त कैसे कहा जायगा जो किसी एक अर्थ के ग्रहण मे ही परिसमाप्त हो जाता हो ? तथा जो सर्वार्थ का साक्षात्कार करेगा वह परपुरुषगत-रागादि दोष का भी साक्षात्कार अवश्य करेगा, अत वह भी ठग पुरुष की भाँति रागादियुक्त हो जायगा। तात्पर्य यह है कि ठग पुरुष जैसे परकीय कपट को पीछानता हुआ स्वय भी प्रच्छन्न कपटी होता है वैसे आपका सर्वज्ञ भी परकीय कपटादि राग-द्वेष को पीछानता हुआ स्वय कपटी-रागी-द्वेषी क्यो नही होगा। साराश, सर्वपदार्थग्रहण वाले प्रथम पक्ष मे कोई सगति नही है।

[सकलपदार्थसंवेदन की शक्तिमत्ता असंगत है]

दूसरे विकल्प मे, यदि यह कहा जाय कि सर्वज्ञ का ज्ञान सर्व पदार्थो को ग्रहण करने में शक्तिशाली होता है, अत एव सर्वज्ञज्ञान को सकलपदार्थसवेदी माना जाता है'-तो यह भी अयुक्त

ऽपरस्येति कुतो निश्चयः ? 'तदपेक्षया तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात् तथाभूतानुपलब्ध्याऽभावनिश्चयः' इति चेत् ? एवं सति स एवेतरेतराश्रयदोषः-'सर्वज्ञत्वनिश्चये तदभावनिश्चयः, तदभावनिश्चये च सर्वज्ञत्वनिश्चयः' इति नैकस्यापि सिद्धिः। तन्न द्वितीयोऽपि पक्षः।

अथ यावदुपयोगि प्रधानभूतपदार्थजातं तावदसौ वेत्तीति तत्परिज्ञानात् सकलज्ञः, तदपि सर्वपदार्थवेदने नियमेन न संभवति, 'सकलपदार्थव्यवच्छेदेन तेषामेव प्रयोजननिर्वर्त्तकत्वम्' इति सकलपरिज्ञानमन्तरेणाऽशक्यसाधनमिति न तृतीयोऽपि पक्षो युक्तः।

किंच, नित्यसमाधानसंभवे विकल्पाभावात् कथं वचनम् ? वचने वा विकल्पसम्भवात् समाधानविरोधान्न समाहितत्वमिति भ्रान्तछाद्मस्थिकज्ञानयुक्तः स स्यात्। कथं वाऽतीतानागतग्रहणम्, अतीतादेः स्वरूपस्याऽसंभवात् ? असदाकारग्रहणे च तैमिरिकज्ञानवत् प्रमाणत्वं न स्यात्। अथातीतादिकमप्यस्ति, एवं सत्यतीतत्वादेरप्यभाव एवेति सर्वज्ञव्यवहारोच्छेदः। अथ प्रतिपाद्यापेक्षया तस्याभावः, तदप्ययुक्तम्, नहि विद्यमानमेवापेक्षया तदैवाऽविद्यमानं भवति। 'तस्यानुपलब्धेरविद्यमान-

---

है। कारण, शक्तियाँ सब अपने से उत्पादित कार्यात्मक लिंग से अनुमेय होती है अत जब तक सकल पदार्थ का सवेदनात्मक कार्यलिंग अनुपलब्ध रहे तब तक सर्वपदार्थग्रहण करने की शक्ति मान्य नही हो सकती। यह भी सोचिये कि कदाचित सर्वपदार्थ के ग्रहण मे ज्ञान की परिसमाप्ति मान ली जाय, फिर भी उस ज्ञान से गृहीत पदार्थ "ये सब इतने ही हैं [इन से अब कोई अधिक नही है]" इस प्रकार के ज्ञान की शक्ति का निर्णय कैसे करोगे ? यहाँ यह उत्तर दिया जाय कि 'उतने ही पदार्थो का वेदन होता है, अतिरिक्त किसी भी पदार्थ का सवेदन नही होता अत उसका अभाव है यह निर्णय हो जायेगा'-तो यहाँ फिर से प्रश्न होगा कि अतिरिक्त किसी भी अर्थ का सवेदन न होने से उसका अभाव है-यह निश्चय कैसे हुआ ? इसके उत्तर मे यदि कहा जाय-जहाँ तक सर्वज्ञज्ञान का विचार है, सर्व पदार्थ 'अगर होता तो जरुर उपलब्ध होता' इस प्रकार उपलब्धिलक्षण प्राप्त ही होते हैं, फिर भी अतिरिक्त पदार्थ की उपलब्धि नही होती इससे उनके अभाव का निश्चय किया जायेगा'-तो यहाँ ऐसा मानने मे स्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष है-जैसे, सर्वज्ञता का निश्चय होने पर अतिरिक्त पदार्थ का अभाव सिद्ध होगा और अतिरिक्त पदार्थ का अभाव सिद्ध होने पर सर्वज्ञता का निश्चय होगा'। फलत: दोनो मे से एक की भी निरपेक्षसिद्धि नही होगी। सारांश, दूसरा विकल्प भी असगत है।

[मुख्य-उपयोगी सर्वपदार्थ ज्ञान का असंभव]

तीसरे विकल्प मे, यदि ऐसा कहा जाय-उपयोग मे आने वाले मुख्य मुख्य पदार्थो के जितने समूह है उतने को वह जानता है और उतने पदार्थ के ज्ञान मात्र से ही वह सर्वज्ञ माना जाता है।-यह भी सभव नही है क्योकि समस्त वस्तु समूह को जाने विना कौन से पदार्थ उपयोगी एव मुख्य है-इसका ज्ञान संभववाह्य है। अन्य सकल पदार्थो को एक ओर रख कर 'इतने ही पदार्थ हमारे प्रयोजन के निष्पादक हैं' यह सर्व पदार्थ के ज्ञान विना सिद्ध नही किया जा सकता। अत: तीसरा विकल्प भी महत्त्वशून्य है।

[समाधिमग्न सर्वज्ञ का वचनप्रयोग असंभव]

यह भी तो सोचिये कि जब आप सर्वज्ञ केवलि को सदासमाहित यानी नित्य समाधिमग्न

त्वमेव' इति चेत् ? तदनुपलब्धिरेवास्तु कथमविद्यमानम् ? न ह्यन्यस्याभावेऽन्यस्याप्यभावः, अतिप्रसंगात् । 'तस्यासावविद्यमानत्वेन प्रतिभाति' इति चेत् ? स तर्हि भ्रान्तः, असद्विकल्पसम्भवात् तस्याऽसद्विकल्पस्य विषयीकरणात् सर्वज्ञोऽपि भ्रान्त एवेति कथं सर्ववित् ?

अथ विकल्पस्यापि स्वरूपेऽभ्रान्तत्वमेव, तेन तस्य वेदनं सर्वज्ञज्ञानमभ्रान्तम् । एवं तर्हि स्वरूपसाक्षात्करणमेव केवलं, कथमतीताद्यविद्यमानसाक्षात्करणम् ? ततश्चातीतानागतपदार्थाभावात् तत्साक्षात्करणाऽसंभवान्न तद्ग्रहणात् सर्वज्ञः । किं च स्वरूपमात्रवेदने तन्मात्रस्यैव विद्यमानत्वात् तद्वेदनेऽद्वैतवेदनाद् न सर्वज्ञव्यवहार, तद्भावे वा सर्वः सर्ववित् स्यात् । अथापि स्यात् सत्यस्वप्नदर्शनवदतीतानागतादिदर्शनं, ततो व्यवहार इति । तदप्ययुक्तम्, सत्यस्वप्नदर्शनस्य स्वरूपमात्रवेदने न सत्याऽसत्यविभागः किन्त्वानुमानिकः सत्यस्वप्नस्वरूपसंवेदनस्य तन्मात्रपर्यवसितत्वात् ।

मानते हैं तो समाधि उसी का नाम है जिसमें सर्व विकल्प शान्त हो जाते हैं अतः समाधिमग्न सर्वज्ञ चित्त मे विकल्पो की सभावना ही नही है। जब विकल्पो का सभव नही है तो वचन प्रयोग की संभावना की तो बात ही कहा ? क्योकि चित्त मे विकल्पजन्म विना वचन प्रयोग सभव नही होता। यदि आप सर्वज्ञ को वक्ता मानेंगे तो उसके चित्त मे विकल्प भी अवश्य होगा ही जो समाधिभाव का पूरा विरोधी है–फलतः आपका सर्वज्ञ समाधिरहित हो जायेगा। तात्पर्य, आपका वह सर्वज्ञ समाधिशून्य होने से छाद्मस्थिक यानी आवृत अवस्था मे होने वाले ज्ञान का आश्रय हो जायेगा जो ज्ञान प्रायः भ्रमात्मक ही होता है।

तथा यह भी प्रश्न है कि जब अतीतादि पदार्थ नष्ट-अजात होने से उसका कोई स्वरूप ही बच नही पाया है तो फिर उन अतीत और भावि पदार्थो का ज्ञान ही कैसे होगा ? यदि अतीत आदि के वर्त्तमान मे असद् ही आकार का वेदन मानेंगे तो तिमिर दोषग्रस्त नेत्र वाले का ज्ञान जैसे विपरीत होने से प्रमाणभूत नही होता उसी प्रकार यह सर्वज्ञज्ञान भी प्रमाण नही होगा। यदि कहा जाय कि अतीतादि भी विद्यमान है–तब तो वह वर्त्तमानरूप हो जाने से अतीत जैसा कुछ रह ही नही पाया तो अब अतीत-अनागत का ज्ञाता भी न रहने से सर्वज्ञ का व्यवहार भी उच्छिन्न हो जायेगा। यदि कहे कि अतीतादि विद्यमान होने पर भी उस वक्त प्रतिपाद्यरूप की अपेक्षा विद्यमान न होने से उसका अभाव भी होता है'–तो यह भी ठीक नही है क्योकि जो विद्यमान होता है वह किसी भी अपेक्षा से उस काल मे अविद्यमान नही हो सकता। यह नही कह सकते कि "उस वक्त उसकी उपलब्धि न होने से वह अविद्यमान है" क्योकि जिस की उपलब्धि नही होती उसको अनुपलब्ध ही माना जाय, अविद्यमान भी मानने की क्या जरूर ? एक वस्तु का अभाव होने पर कही भी दूसरी वस्तु के अभाव का व्यवहार नही हो सकता। अन्यथा अतिप्रसग यह होगा कि घट न होने पर पट के अभाव का व्यवहार किया जायेगा। यह भी नही कह सकते कि "सर्वज्ञ को वह अतीतादि पदार्थ अविद्यमानरूप मे ही भासित होता है–विद्यमानरूप से नही। किन्तु सर्वथा उसका भान नही होता ऐसा नही है"–यह इसलिये नही कह सकते कि अविद्यमान वस्तु को ग्रहण करने वाला सर्वज्ञ भ्रान्त हो जायेगा, क्योकि असद् वस्तु का भी (भ्रमात्मक) विकल्पज्ञान होता है तो अतीतादि को असद् विकल्प का विषय करने से वह सर्वज्ञ भ्रान्त ही हो गया, फिर तो वह सर्वज्ञ भी कैसे रहा ?

[स्वरूपमात्र के प्रत्यक्ष से सर्वज्ञता का असंभव]

यदि यह कहा जाय कि–'विकल्पज्ञान भी स्वस्वरूप के सवेदन मे अभ्रान्त ही होता है, विषय

किंच, अतीतानागतकालसंबन्धित्वात् पदार्थानामतीतानागतत्वम् । तद्धि भवत् किमपरातीतानागतकालसम्बद्धादभ्युपगम्यते आहोस्वित् स्वत एव ? यद्यपरातीततानागतकालसंबन्धात् कालस्यातीतानागतत्वं तदा तस्याप्यपरातीतानागतकालसम्बन्धादतीतानागतत्वम् , तस्याप्यपरस्मादित्यनवस्था । अथातीतानागतपदार्थक्रियासंबन्धात् कालस्यातीतानागतत्वं तेनायमदोषः । ननु पदार्थक्रियाणामपि कुतोऽतीतानागतत्वम् ? यद्यपरातीततानागतपदार्थक्रियासङ्गावात् तदाऽत्रापि सैवानवस्था । अतीतानागतकालसम्बन्धात् पदार्थक्रियाणामतीतानागतत्वं तर्हि कालस्याप्यतीतानागतपदार्थक्रियासम्बन्धादतीतानागतत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । तन्न प्रथमः पक्षः ।

संवेदन मे भले ही वह भ्रान्त हो । अत. स्वस्वरूप के सवेदनरूप सर्वज्ञज्ञान अभ्रान्त ही है । फिर सर्वज्ञ का अभाव कसे होगा ?'-तो इस पर यह प्रश्न खडा होगा कि जब वह सर्वज्ञज्ञान केवल अपने स्वरूप का ही साक्षात्कारि है तो वह अतीतादि जो अविद्यमान है उसके साक्षात्कार वाला कैसे होगा ? निष्कर्ष यह आया कि अतीत-अनागतादि पदार्थ विद्यमान न होने से उसका साक्षात्कार भी सम्भव न होने से अतीतादि का ग्रहण शक्य नही है, अतः कोई सर्वज्ञ भी नही है ।

दूसरी बात यह है कि जब सर्वज्ञ का विकल्पज्ञान अपने स्वरूप का ही सवेदी है तो उसका अर्थ यह हुआ कि जिसका सवेदन होता है वह स्वरूपमात्र ही विद्यमान है, और कुछ भी नही । तो स्वरूपमात्र के वेदन मे एकमात्र स्वरूपाद्वैत तत्त्व का ही वेदन सिद्ध होने से सर्वज्ञ का व्यवहार कैसे किया जायगा ? यदि केवल स्वरूपाद्वैत का वेदन ही सर्वज्ञ व्यवहार का निमित्त हो तब तो हम-आप आदि सब सर्वज्ञ हो जायेंगे ।

यदि यह कहा जाय-स्वप्न मे जैसे अविद्यमान भी भावि पदार्थ का सवेदन होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ को भी अतीत-अनागत सभी वस्तु का दर्शन होता है अतः उसका सर्वज्ञरूप मे व्यवहार भी होता है'-तो यह भी ठीक नही है । कारण, जो स्वप्नदर्शन सत्य होता है वह भी स्वरूपमात्र का ही यदि वेदन करता होगा तो उसके सत्य-असत्य होने का विवेक उसीसे नही होगा किन्तु अनुमान से करना होगा । क्योकि सत्यस्वप्न का स्वरूप सवेदन अपने सत्यत्व-असत्यत्व का ग्राहक नही होता किन्तु अपने सवेदनात्मकस्वरूप के ग्रहण मे ही वह पर्यवसित यानी चरितार्थ होता है । तात्पर्य, सर्वज्ञ ज्ञान स्वप्नज्ञान के उदाहरण से यदि भूतभावि अर्थ दर्शनरूप मानेगे तो उसके सत्य या असत्य होने का निर्णय अधूरा ही रह जायेगा ।

[अतीतत्व और अनागतत्व की अनुपपत्ति]

यह भी विचारने योग्य है कि-पदार्थों की भूत-भविष्यत्ता भूतकाल और भविष्यकाल पर अवलम्बित है तो काल की भूत-भविष्यत्ता किसके ऊपर अवलम्बित है ? क्या अन्य भूतकाल-भविष्यकाल पर अवलम्बित कही जाय अथवा उसको स्वावलम्बी ही मानी जाय ? प्रथम पक्षमे यदि अन्य भूत-भविष्यकाल के सम्बन्ध को काल की भूत-भविष्यत्ता का आधार माना जाय तो उस अन्य कालद्रव्य की भूत-भविष्यत्ता का आधारभूत अन्य भूत-भविष्यकाल सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी और उसके लिये भी अपर अपर भूत-भावि काल कल्पना का कही अन्त ही नही आयेगा । यदि ऐसा कहे कि काल की भूत-भविष्यत्ता तो भूत-भावि पदार्थो की क्रिया के सम्बन्ध से (उदा० सूर्य-चन्द्र की क्रिया के सम्बन्ध से) होती है । अतः पूर्वोक्त अनवस्था दोष निरवकाश है ।'-तो यहाँ भी प्रश्न है कि पदार्थो

अथ स्वरूपत एव कालस्यातीतानागतत्वं तदा पदार्थानामपि स्वत एवातीतानागतत्वमस्तु किमतीतानागतकालसंबन्धित्वेन ? तच्च पदार्थस्वरूपमस्मदाविज्ञानेऽपि प्रतिभातीति नातीतानागतपदार्थग्राहित्वेनास्मदादिभ्यः सर्वज्ञस्य विशेषः। अपि च सम्बन्धस्यान्यत्र विस्तरतो निषिद्धत्वान्न कस्यचित् केनचित् सम्बन्ध इत्यतीतानागतादिसंबद्धपदार्थग्राहिज्ञानमसदर्थविषयत्वेन भ्रान्तं स्यादिति न भ्रान्तज्ञानवान् सर्वज्ञः कल्पयितुं युक्तः।

भवतु वा सर्वज्ञः, तथाप्यसौ तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं न शक्यते, तद्ग्राह्यपदार्थाऽज्ञाने तद्ग्राहकज्ञानवतः केनचित् प्रमाणेन प्रतिपत्तुमशक्तेः। तदुक्तम्—[श्लो० वा० सू० २/१३४-३५]

सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत् तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ?॥
कल्पनीयास्तु सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव। य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते॥

न च तदपरिज्ञाने तत्प्रणीतत्वेनागमस्य प्रामाण्यमवगन्तुं शक्यम्, तदनवगमे च तद्विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिरप्यसंगता। तदुक्तम् - [श्लो० वा० सू० २-१३६]

के क्रिया की भूत भविष्यत्ता का आधार कौन है ? यदि अन्य अतीतानागतपदार्थक्रिया के सम्बन्ध से पूर्व पदार्थक्रिया मे भूत-भविष्यत्ता मानी जाय तो यहाँ भी पुनः पुनः अन्य अन्य अतीतानागत पदार्थ क्रिया की अपेक्षा का अन्त नही आयेगा यानी अनवस्था होगी। तथा पदार्थक्रिया की भूत भविष्यत्ता का आधार भूत-भाविकालसम्बन्ध को माना जायेगा तो काल की भूत-भविष्यत्ता पदार्थक्रिया पर अवलबित होने से खुल्लमखुल्ला इतरेतराश्रय दोष लग जायेगा। साराश, पदार्थों की भूत-भविष्यत्ता कालसम्बन्ध से मानने का पहला पक्ष असगत है।

[स्वरूपतः पदार्थों का अतीतत्वादि मानने में आपत्ति]

अगर दूसरे पक्ष मे, काल की भूत-भविष्यत्ता को स्वरूपतः यानी स्वावलम्वी ही मान लिया जाय तो पदार्थों की भूत-भाविता भी स्वत.=स्वावलम्बी ही भले हो, भूत-भाविकालसम्बन्ध द्वारा ही मानने की क्या जरूर ? इस विचार का तात्पर्य यह दिखाने मे है कि जव पदार्थ की भूत-भविष्यत्ता स्वरूपतः ही है तब तो पदार्थस्वरूप का ही अपर नाम हुआ भूत-भविष्यत्ता और पदार्थ का स्वरूप तो हमारे ज्ञान मे भी स्फुरित होता ही है तो फिर अतीतानागतकालीनपदार्थग्रहण को पुरस्कृत करके सर्वज्ञ की विशेषता यानी हमारे और सर्वज्ञ के ज्ञान का अन्तर दिखाना व्यर्थ है।

दूसरी बात यह है कि-किसी भी दो पदार्थों के बीच किसी भी प्रकार के सबन्ध के सद्भाव का अन्य स्थान मे विस्तार से प्रतिषेध किया गया है उसका भी सार यह है कि किसी भी पदार्थ का अन्य किसी वस्तु के साथ कोई सबन्ध नही है अत. अतीत और अनागत काल के साथ सम्बन्ध से विशिष्ट पदार्थों का ग्राहक ज्ञान, सम्बन्धरूप असत् पदार्थ का विषयी होने से भ्रमात्मक सिद्ध होता है। अत वैसे भ्रान्तज्ञान वाले सर्वज्ञ की कल्पना अनुचित है।

['यह सर्वज्ञ है' ऐसा कैसे जाना जाय ?]

कोई प्रमाण न होने पर भी क्षण एक सर्वज्ञ को मान लिया जाय, फिर भी जिस काल मे सर्वज्ञ को आप मानते हैं उस काल में भी असर्वज्ञपुरुषो की यह शक्ति नही होती कि वे सर्वज्ञ को पीछान सके। कारण, सर्वज्ञज्ञान से ग्राह्य जो सर्व पदार्थ है उन सब का ज्ञान किये विना उन पदार्थों के ज्ञान करने वाले पुरुष को जानने मे कोई प्रमाण समर्थ नही है। श्लोकवार्तिक मे भी कह है-

सर्वज्ञो नावबुद्धश्चेद् येनैव स्यान्न तं प्रति । तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥

तदेवं सर्वज्ञसद्भावग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात् तत्सद्भावबाधकस्य चानेकधा प्रतिपादितत्वात् सर्वज्ञाभावव्यवहारः प्रवर्त्तयितुं युक्तः । तथाहि–ये बाधकप्रमाणगोचरतामापन्नाः ते 'असद्' इति व्यवहर्त्तव्याः, यथा अंगुल्यग्रे करियूथादयः, बाधकप्रमाणगोचरापन्नश्च भवदभ्युपगमविषयः सकलपदार्थसार्थसाक्षात्कारीत्यसद्व्यवहारविषयत्वं सर्वविदोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

॥ इति पूर्वपक्षः ॥

"सर्वज्ञगृहीत पदार्थो के ज्ञान के अभाव मे सर्वज्ञ हयात होने पर भी 'यह सर्वज्ञ है या नही' ऐसी जिज्ञासा वालो को कैसे यह पता चलेगा कि 'यह सर्वज्ञ है' ?

(यदि इसके लिये दूसरा सर्वज्ञ माना जाय तो उस सर्वज्ञ को भी जानने के लिये दूसरे सर्वज्ञ की आवश्यकता होने पर) आपको अनेक सर्वज्ञ की कल्पना करनी होगी । क्योकि जो स्वय सर्वज्ञ नही है वह दूसरे सर्वज्ञ को नही जान सकता ।"

सर्वज्ञ अज्ञात होने पर उसके द्वारा रचित होने के कारण उसके आगम को प्रमाण मानना शक्य नही है । आगम प्रामाण्य अज्ञात रहने पर उस आगम से विहित अनुष्ठान मे प्रवृत्ति करना भी असगत है । जैसा कि कहा है —

"जिस को सर्वज्ञ अज्ञात है उसके वाक्यों का प्रामाण्य भी नही हो सकता क्योकि उन वाक्यों का मूल ही अज्ञात है, जैसे कि अन्य साधारण मनुष्य का वाक्य ।"

[सर्वज्ञ 'असद्' रूप से व्यवहारयोग्य–पूर्वपक्ष पूर्ण]

पूर्वपक्ष के उपसहार मे सर्वज्ञविरोधी कहता है कि जब उपरोक्त रीति से सर्वज्ञ के सद्भाव का ग्राहक कोई प्रमाण ही नही है और हमने सर्वज्ञ के सद्भाव के विरोधी अनेक युक्तिया दिखाई हैं तो अब सर्वज्ञ के अभाव का व्यवहार का प्रवर्त्तन करना उचित ही होगा । जैसे–जिनमे बाधक प्रमाण की विषयता प्राप्त है वे 'असद्' रूप से व्यवहार के लिये उचित हैं, जैसे अगुलि के अग्रभाग मे हस्तीवृंदादि । आपकी मान्यता का विषयभूत सर्वपदार्थसाक्षात्कारी सर्वज्ञ भी बाधकप्रमाणविषयताप्राप्त ही है अत सर्वज्ञ 'असद्' रूप से व्यवहार करने लायक है यह आप को अवश्य मानना होगा ।

सर्वज्ञविरोधी पूर्वपक्ष समाप्त ।

[सिहावलोकन –सर्वज्ञविरोधी पूर्वपक्ष मे सर्वज्ञ प्रमाणविषय न होने से असद्व्यवहारोचित होने का प्रतिपादन किया, तदनंतर सर्वज्ञवादी की ओर से यह विस्तृत आशका पेश की गयी कि सर्वज्ञाभाव मे प्रमाण न होने से असद्व्यवहार की प्रवृत्ति अनुचित है । इसके उत्तर मे सर्वज्ञविरोधी ने प्रसंगसाधन का अभिप्राय प्रस्तुत करके अपना समर्थन किया । तदनतर, पूर्वोक्त आशका मे जो वक्तृत्वहेतुक सर्वज्ञताभावसाधक अनुमान का खंडन किया गया था उसके प्रतिखडन मे धूमहेतुक अग्नि अनुमान के उच्छेद की विभीषिका विस्तार से प्रस्तुत की गयी । तदनन्तर सर्वज्ञप्रत्यक्ष की धर्मादिग्राहकता का चार विकल्प से खडन किया गया । तदनन्तर सर्वज्ञ की सर्ववेदनता का तीन विकल्प से खडन किया गया । उसके बाद अवशिष्ट शकाओ का उत्थान समाधान करके पूर्वपक्ष समाप्त किया गया है । अब उत्तर पक्ष में सर्वज्ञ की सिद्धि और बाधको का निराकरण पढिये ।]

[सर्वज्ञसद्भाववेदनम्-उत्तरपक्षः]

अत्र प्रतिविधीयते-यत्तावदुक्तम् 'ये देशकालस्वभावव्यवहिताः प्रमाणविषयतामनापन्ना न ते सद्व्यवहारगोचरचारिणः' इत्यादि-तदयुक्तम्, सर्वविदि प्रमाणविषयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वाद् असिद्धो हेतुस्तदविषयत्वलक्षणः। यदप्यन्यधायि-'न तावदक्षसभवज्ञानसंवेद्यस्तद्भावः, अक्षाणां प्रतिनियतविषयत्वेन तत्साक्षात्करणव्यापाराऽसम्भवात्' तत् सिद्धमेव साधितम्। यदप्युक्तम्-'नाप्यनुमानस्य तत्र व्यापार., तद्धि प्रतिबन्धग्रहणे पक्षधर्मताग्रहणे च हेतोः प्रवर्त्तते; न च प्रतिबन्धग्रहणं प्रत्यक्षतस्तत्र संभवति' इत्यादि...तद् धूमादेरग्न्यादिप्रभवत्वानुमानेऽपि समानम्। अथाग्न्यादेः प्रत्यक्षत्वात् तत एव तत्प्रभवत्व-कार्यविशेषत्वयोर्धूमादौ प्रतिबन्धसिद्धिः। ननु धूमस्य किमग्निस्वरूपग्राहकप्रत्यक्षेण पावकपूर्वकत्वमवगम्यते, उत धूमस्वभावग्राहिणेति कल्पनाद्वयम्।

तत्र न तावदाद्यः पक्षः, पावकरूपग्राहि प्रत्यक्षं तत्स्वभावमात्रग्रहणपर्यवसितमेव न धूमरूपप्रवेदनप्रवणम्, तदप्रवेदने च न तदपेक्षया तेन वह्नेः कारणत्वावगमः; न हि प्रतियोगिस्वरूपाऽग्रहणे तं प्रति कस्यचित् कारणत्वमन्यद्वा धर्मान्तरं ग्रहीतुं शक्यम्, अतिप्रसङ्गात्। अथ धूमस्वरूपप्रतिपत्तिमता प्रत्यक्षेण तस्य चित्रभानुं प्रति कार्यत्वस्वभावं तत्प्रभवत्वं गृह्यते। ननु तस्यापि पावकस्वरूपग्राहकत्वेनाऽप्रवृत्तेस्तदग्रहणे तदपेक्षं कार्यत्वं धूमस्य कथमवगमविषयः? अथाग्नि-धूमद्वयस्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तयोः कार्यकारणभावनिश्चयः। तदप्यसंगतम्-द्वयग्राहिण्यपि ज्ञाने तयोः स्वरूपमेव भाति न पुनरग्नेर्धूमं प्रति कारणत्वम् धूमस्य वा तं प्रति कार्यत्वम्। न हि पदार्थद्वयस्य स्वस्वरूपनिष्ठस्यैकज्ञानप्रतिभासमात्रेण कार्यकारणभावप्रतिभासः, अन्यथा घट-पटयोरपि स्वस्वरूपनिष्ठयोरेकज्ञानप्रतिभासः क्वचिदस्तीति तयोरपि कार्यकारणभावावगमप्रसङ्गः।

[सर्वज्ञसत्तासिद्धि निर्बाध है-उत्तरपक्षप्रारम्भ]

अब सर्वज्ञविरोधी युक्तिओ का प्रतिकार किया जाता है-पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि देश काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट होते हुये जो प्रमाण के विषय नही होते वे सद्व्यवहारविषयोचित नही होते-इत्यादि.. वह युक्तिसगत नही है, क्योकि 'सर्वज्ञ प्रमाण का विषय है' यह आगे दिखाया जायेगा, अत पूर्वपक्षी का प्रमाणाऽविषयत्व हेतु असिद्ध है। यह भी जो कहा था 'सर्वज्ञ का सद्भाव इन्द्रियजन्यज्ञानसवेद्य नही है क्योकि इन्द्रियो की विषयमर्यादा सकुचित होने से सर्वज्ञ को साक्षात् करने मे उसकी गु जाईश नही है' वह तो इष्ट होने से सिद्धसाधन ही है। और भी जो कहा था 'अनुमान भी सर्वज्ञ के विषय मे निष्क्रिय है, हेतु-साध्य की व्याप्ति और हेतु की पक्षधर्मता का ग्रहण होने पर अनुमान की प्रवृत्ति सभव है, व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से सभव नही है' इत्यादि .. वह सब धूम के अग्निजन्यत्व के अनुमान मे समानयुक्ति वाला है। यदि तर्क करे कि-'अग्नि आदि तो प्रत्यक्षसिद्ध होने से धूम मे अग्निजन्यत्व अथवा विशिष्ट कार्यत्व का अविनाभाव सिद्ध कर सकते है'-तो इस पर दो कल्पना सावकाश है —

१ अग्निस्वरूप का ग्राहक प्रत्यक्ष ही धूम मे अग्निपूर्वकत्व का बोधक है? या २-धूमस्वभाव का ग्राहक प्रत्यक्ष धूमगत अग्निपूर्वकत्व का ग्राहक है?

[प्रसिद्ध अनुमान में व्याप्तिग्रह अशक्यता का समान दोष]

प्रथम पक्ष युक्त नही है-अग्निस्वरूप का ग्राहक प्रत्यक्ष तो अग्नि के स्वभावमात्र के ग्रहण

अथ यस्य प्रतिभासानन्तरं यत्प्रतिभास एकज्ञाननिबन्धन. तयोः तदवगम इति नायं दोषः। तदपि घटप्रतिभासानन्तरं पटप्रतिभासे क्वचिद् ज्ञाने समानम्। न च क्रमभाविपदार्थद्वयप्रतिभासमन्व-य्येकं ज्ञानमिति शक्यं वक्तुम्, प्रतिभासभेदस्य भेदनिबन्धनत्वात्, अन्यत्रापि तद्भेदव्यवस्थापित्वाद् भेदस्य, स च क्रमभाविप्रतिभासद्वयाध्यासितज्ञाने समस्तीति कथं न तस्य भेदः? न चैकमेव ज्ञानं जन्मा-नन्तरक्षणादिकालमास्त इति भवतामभ्युपगमः। तदुक्तं-"क्षणिका हि सा, न कालान्तरमास्ते" इति।

मे तत्पर रहने से ही धूमस्वरूप के संवेदन मे तत्पर हो नही सकता। जब धूम के संवेदन का अभाव है तब धूमनिरूपित अग्नि की कारणता का भी बोध अशक्य है। प्रतियोगी (=संबंधी) के स्वरूप का भान न रहने पर उसके प्रति किसी की कारणता का या तत्संबंधी किसी अन्य धर्म का ग्रहण शक्य नही है। कारण, अतिप्रसग की संभावना है, अर्थात् किसी एक वस्तु का ज्ञान हो जाने पर बिना सबंध ही सारे जगत् का बोध हो जाने की अनिष्ट आपत्ति को यहाँ आमन्त्रण है।

द्वितीय पक्ष मे, धूम के स्वरूप का ग्राहक प्रत्यक्ष धूम में अग्निसापेक्ष यानी अग्निनिरूपित कार्यत्वस्वभाव का या अग्निजन्यत्वस्वभाव का ग्राहक है-यह यदि माना जाय तो यहाँ यह सोचिये कि जब धूमग्राहक प्रत्यक्ष अग्निस्वरूप के ग्रहण मे प्रवृत्त ही नही हुआ है तो अग्नि गृहीत न होने पर अग्निनिरूपित धूमनिष्ठ कार्यता का बोध कैसे शक्य है ?

यदि यह कहा जाय कि-हम नया ही पक्ष मानते है कि धूम और अग्नि दोनो के स्वरूप को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष उन दोनो के कार्य-कारण भाव का निश्चायक होगा-तो यह भी असगत ही है क्योंकि दोनो का ग्राहक प्रत्यक्ष केवल उनके स्वरूप को ही प्रकाशित करता है, किन्तु धूम के प्रति अग्नि की कारणता अथवा अग्नि के प्रति धूम की कार्यता को प्रकाशित नही करता। अपने अपने स्वरूप मे अवस्थित पदार्थयुगल एक साथ एक ज्ञान के विषय बन जाने मात्र से उनके बीच कार्य-कारण भाव प्रकाशित नही हो जाता है। अन्यथा घट पट का भी एक ज्ञान मे प्रतिभास होने से उन दोनो के बीच कार्य-कारणभावग्रह हो जायेगा।

[एक ज्ञान का प्रतिभासद्वय में अन्वय असिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि-"जिस ज्ञान मे एक बार एक वस्तु का प्रतिभास हुआ और उसी ज्ञान से तत्पश्चाद् दूसरी वस्तु का प्रतिभास होता है उन दो वस्तु के बीच उसी ज्ञान से कार्य-कारणभाव का भी बोध होता है, अत. कार्यकारणभाव का बोध न होने का कोई दोष नही है।"-तो यह घट-पट के प्रतिभास मे भी समान है, अर्थात् जब कोई एक ज्ञान मे घट प्रतिभास के बाद पट का प्रतिभास होगा तो वहाँ घट और पट के बीच मे भी कार्यकारणभाव अवगत हो जाने की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि कार्य और कारण क्रमभावि वस्तु है, क्रमभावि वस्तु द्वय का प्रतिभास एक ही अन्वयी ज्ञान मे होता है यह नही कहा जा सकता क्योकि प्रतिभास का भेद वस्तुत. भेद का कारण होता है। यह व्यवस्था अन्य स्थान मे भी कही गयी है कि सर्वत्र वस्तुभेद प्रतिभासभेदमूलक ही होता है। यहाँ जिस एक ज्ञान मे आप भिन्न भिन्न वस्तु का प्रतिभासद्वय मानते है वह ज्ञान भी क्रमशः होने वाले दो प्रतिभास से आक्रान्त ही है तो उस ज्ञान का भी भेद क्यो न माना जाय ? तात्पर्य, उसको एक ज्ञान नही मान सकते। आप यह मानते भी नही है कि एक ही ज्ञान जन्मक्षण के बाद दूसरी-तीसरी आदि क्षणो के काल मे टीकता है। जैसे कि आपने कहा है कि-संविद् क्षणस्थायी होती है,

अथ वह्नि-धूमस्वरूपद्वयग्राहिज्ञानद्वयानन्तरभाविस्मरणसहकारि इन्द्रियं सविकल्पज्ञानं जनयति तत्र तद्द्वयस्य पूर्वापरकालभाविन. प्रतिभासात् कार्यकारणभावनिश्चयो भविष्यति । तदप्यसंगतम्, पूर्वप्रवृत्तप्रत्यक्षद्वयस्य तत्राऽव्यापारात् तदुत्तरस्मरणस्य च पदार्थमात्रग्रहणेऽप्यसामर्थ्याच्चक्षुरादीनां च तदवगमज्ञानजननेऽशक्तेः । शक्तौ वा प्रथमाक्षसंनिपातवेलायामेव तदवगमज्ञानोत्पत्तिप्रसगाद् अकिंचित्करस्य स्मरणादेरनपेक्षणीयत्वात् । परिमलस्मरणसव्यपेक्षस्य लोचनस्य 'सुरभि चंदनम्' इत्यविषये गन्धादौ ज्ञानजनकत्वस्येव तत्रापि तज्जनकत्वविरोधाद् अथ तत्स्मरणसव्यपेक्षलोचनव्यापारानन्तरं 'कार्यकारणभूते एते वस्तुनी' इत्येतदाकारज्ञानसंवेदनात् कार्यकारणभावावगमः सविकल्पकप्रत्यक्षनिबन्धनो व्यवस्थाप्यते–नन्वेवं परिमलस्मरणसहकारिचक्षुर्व्यापारानन्तरभावी सुरभि मलयजम्' इति प्रत्ययः समनुभूयते इति परिमलस्यापि चक्षुर्जप्रत्ययविषयत्वं स्यात् ।

अन्यसवित् काल मे वह टीकती नही है । [शाबर भाष्य मे ऐसा पाठ उपलब्ध होता है–"क्षणिका हि सा, न बुद्धयन्तरकालमवस्थास्यते इति" पृ० ७ प २४]

[सविकल्पज्ञान से कार्यकारणभाव का अवगम अशक्य]

अब यदि ऐसा कहा जाय कि–"प्रारम्भ मे अग्नि और धूम का स्वरूपग्राही दो ज्ञान हो जाने के बाद उन दोनो का एक स्मृतिज्ञान होता है और इस स्मृतिज्ञान के सहकार से इन्द्रिय एक सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करती है–इस ज्ञान मे 'अग्नि के बाद धूम उत्पन्न हुआ' इस प्रकार से अग्नि धूम का पूर्वापरकालभावित्व का प्रतिभास होता है और इस पौर्वापर्य के ज्ञान से अग्नि-धूम का कारण-कार्य भाव निश्चित होता है ।"–किंतु यह भी असगत है । कारण, उपरोक्त रीति से फलित किये गये कारण-कार्य भाव के निश्चय मे, प्रारम्भिक अग्नि और धूम का प्रत्यक्षद्वय का कुछ भी व्यापार सभव नही है, तथा उसके बाद उत्पन्न होने वाला स्मरण तो उक्त प्रत्यक्ष या उसके विषय के ग्रहण मे ही समर्थ होता है अत. अन्य किसी भी पदार्थ के ग्रहण मे वह स्मरण असमर्थ है तो कार्यकारणभाव निश्चय मे तो सुतरा असमर्थ होगा । तथा चक्षु आदि इन्द्रिय भी तथोक्त निश्चय कराने वाले ज्ञान के उत्पादन मे असमर्थ है । यदि कारणकार्यभाव निश्चायक ज्ञान मे उसका सामर्थ्य माना जाय तब तो प्रथम वेला मे ही इन्द्रिय के साथ अर्थ का सनिकर्ष होने पर उसके निश्चायक ज्ञान की उत्पत्ति होने का प्रसग होगा । तो फिर स्मरण तो बिचारा अकिंचित्कर हो जाने से आवश्यक नही रहेगा । यह इस प्रकार कि–जैसे सुगन्धिपरिमल के स्मरण से सहकृत लोचन के सनिकर्ष के बाद, गन्धादि यह नेत्र का विषय न होने से 'यह चदन सुगन्धि है' इस ज्ञान का जनकत्व अर्थात् स्मरणसहकृतनेत्रादि मे गन्धादिज्ञानजनकत्व मानने मे विरोध है,–उसी प्रकार पूर्वोक्त स्मरण सहकृत इन्द्रिय मे कार्यकारणभावनिश्चयजनकत्व मानने मे भी विरोध ही है। यदि यह कहे कि–"अग्नि-धूम के स्मरण से सहकृत नेत्र के सनिकर्ष के बाद 'ये दोनो कारणभूत और कार्यभूत वस्तु है' इस आकार से ज्ञानरूप सवेदन होता है अतः हम यह व्यवस्था करते हैं कि 'कार्यकारणभाव का निर्णय सविकल्पप्रत्यक्षमूलक है ।"–तो यह ठीक नही है क्योकि परिमलस्मरण से सहकृत लोचन सनिकर्ष के बाद 'यह चदन सुरभि है' इस प्रकार का ज्ञान अनुभव सिद्ध है, अत सुगन्धि परिमल को भी नेत्रजन्य बोध का विषय मानना होगा । तात्पर्य यह है कि. अग्नि-धूमस्मरण सहकृत इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को कार्यकारणभावविषयक माना जाय तो यह आपत्ति है कि सुगन्धिपरिमलस्मरणसहकृतलोचनइन्द्रियसनिकर्ष के बाद सुरभि चदनम्' इस ज्ञान को भी लोचन जन्य ही मानना होगा ।

अथ परिमलस्य लोचनाऽविषयत्वाद् नायं प्रत्ययः तज्जः, किन्तु गन्धसहचरितरूपदर्शन-प्रभवानुमानस्वभावः । तदेतत् प्रकृतेऽपि कार्यकारणभावे लोचनाऽविषयत्वं समानम् , प्रत्ययस्य तु तद-ध्यवसायिनोऽपरं निमित्तं कल्पनीयम् । तन्न प्रत्यक्षतः सविकल्पकादपि धूम-पावकयोः कार्यकारणत्वाव-गमः । मानसप्रत्यक्षं तु तदवगमनिमित्तं भवता नाभ्युपगम्यते ।

अपि च कार्य-कारणभावः सर्वदेशकालावस्थिताखिलधूमपावकव्यक्तिक्रोडीकरणेन अवगतोऽनु-माननिमित्ततामुपगच्छति; न च प्रत्यक्षस्येयति वस्तुनि सविकल्पकस्य निर्विकल्पकस्य वा व्यापारः संभवतीत्यसकृत् प्रतिपादितम् ।

किंच, न कारणस्य प्राग्भावित्वमात्रमेव बौद्धानामिव कारणत्वम् ,-येन तस्य कारणस्वरूपा-भेदात् तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावस्य कारणत्वस्याऽप्यवगमः, केवलं कार्यदर्शनादुत्तर-कालं तन्निश्चीयते,-किन्तु कारणस्य कार्यजननशक्तिः कारणत्वम् ; सा च शक्तिर्न प्रत्यक्षावसेया अपि तु कार्यदर्शनसमवगम्या भवता परिकल्पिता । तदुक्तम् –

"शक्तयः सर्वभावानां कार्याऽर्थापत्तिगोचराः" [श्लो० वा० सू० ५ शून्य०-२५४]

ततः कथं प्रत्यक्षात् कारणस्य कारणत्वावगमः ?

[कार्यकारणभावग्रह में प्रत्यक्षान्यनिमित्त की आवश्यकता]

यदि यह कहा जाय कि "परिमल(सुगन्ध) नेत्र का विषय नही है अतः 'यह चदन सुगन्धि है' इस प्रतीति को नेत्रजन्य हम नही कहते है किन्तु गन्ध(स्मरण) से सकलित रूप का दर्शन होने पर उक्त 'यह चन्दन सुरभि है' इस प्रकार का अनुमान उत्पन्न होता है । तात्पर्य, यह बोध अनुमानस्व-भावरूप है, प्रत्यक्षरूप नही है ।"–तो यह ठीक नही है, क्योकि ऐसा तो कार्यकारणभाव में भी समान है–यहाँ भी कह सकते हैं कि कार्यकारणभाव नेत्र का विषय नही है । अत. अग्नि-धूम की प्रतीति मे कारण-कार्यभाव का अध्यवसायी किसी अन्य निमित्त की कल्पना करनी होगी । अतः इतना तो सिद्ध हो गया कि प्रत्यक्ष से, चाहे वह सविकल्प भी क्यो न हो–धूम और अग्नि के कार्य-कारणभाव का अवगम शक्य नही है । यह तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की बात हुयी, 'मानस प्रत्यक्ष कार्यकारणभाव ग्रहण का निमित्त है' यह तो आप भी नही मानते है ।

यह भी विचार किया जाय कि–सर्वदेशकालवर्त्ती सकल धूम और अग्नि व्यक्तियो का प्रत्यक्षादि से क्रोडीकरण यानी सग्रहण द्वारा कार्य-कारणभाव को यदि जान लिया हो तभी वह अनुमान का निमित्त यानी विषयतापन्न हो सकता है, किन्तु सविकल्प या निर्विकल्प प्रत्यक्ष की यह शक्ति ही नही है कि इतने बडे धूम-अग्नि समुदाय वस्तु को क्रमश या एक साथ वह ग्रहण करे । यह बात बार बार पहले भी कह दी गयी है ।

[कारणता पूर्वक्षणवृत्तितारूप नहीं किन्तु शक्तिरूप है]

दूसरी बात यह है कि-बौद्धो की भाँति कारण की पूर्वक्षणवृत्तिता को ही कारणता नही कही जाती, यदि कारणता पूर्वक्षणवृत्तिता रूप ही होती तो कारणस्वरूप से वह अभिन्न होने के कारण, कारण-स्वभावग्राहक निर्विकल्प प्रत्यक्ष से कारणाभिन्नस्वभाव कारणता का भी बोध मान लिया जाता, सिर्फ उसका निश्चयात्मक विकल्प कारण से कार्योत्पत्ति के दर्शन के उत्तरकाल मे ही होता, कारणदर्शन

अथ कार्यादेव कारणस्य कारणत्वावगमोऽस्तु, किं नश्छिन्नम् ? ननु कार्यात् कारणस्य कारणत्वावगमेऽनुमानाच्छक्त्यवगमः, तत्र च तदपि कार्यं लिंगभूतं यदि कारणशक्तिमवगमयति तदा शक्ति-कार्ययोः प्रतिबन्धग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्, स च प्रतिबन्धावगमो न प्रत्यक्षादिति प्रतिपादितम् । अनुमाना-त्तदवगमे इतरेतराश्रयानवस्थादोषावतारोऽत्रापि समानः । अर्थापत्तेस्त्वनुमानेऽन्तर्भावः प्रतिपादितः । इति न प्रसिद्धानुमानस्यापि प्रवृत्तिर्भवदभिप्रायेण ।

अथ वह्निगतधर्मानुविधानाद् धूमस्य तत्पूर्वकत्वं कुतश्चित् प्रमाणात् प्रसिद्धमिति धूमत्वस्य तत्पूर्वकत्वव्याप्तिसिद्धिः । अन्यथा धूमादग्न्यसिद्धेः सकललोकप्रसिद्धव्यवहाराभावः, अनुमानाऽभावे प्रत्यक्षतोऽपि व्यवहाराऽसंभवात् । तर्हि वचनविशेषस्यापि यदि विशिष्टकारणपूर्वकत्वं तत एव प्रमाणात् प्रसिद्धं विवादाध्यासिते वचने वचनविशेषत्वात् साध्येत तदा कोऽपराध. ? !

के साथ नही होता । किंतु स्वमत में कारणता यह कारणस्वरूपाभिन्न कार्यपूर्वक्षणवृत्तितारूप ही नही किन्तु कार्यजन्मानुकुल कारणगत शक्ति रूप है । अब आपकी तो यह चिरपरिकल्पित मान्यता है कि कोई भी शक्ति प्रत्यक्षग्राह्य नही है किन्तु कार्यदर्शन से ही जानी जाती है । जैसे कि श्लोकवार्त्तिक मे कहा है-"सर्वपदार्थो की शक्ति यह कार्य से प्रयुक्त अर्थापत्ति से जानी जाती है ।"

[अनुमान में कार्यकारणभाव ग्रह की अशक्ति]

शंकाः-आपने जो कहा कि कार्यदर्शन के उत्तर काल मे कार्यकारणभाव का निश्चय होता है तो ऐसा सही, हम यह मान लेते है कि कार्य से ही कारण की कारणता अवगत होती है-इसमे हमारा क्या विगडा ?

उत्तरः-अरे, आप इतना भी नही समझ पाये कि कार्य से कारणता का बोध मानने मे तो शक्तिरूप कारणता कार्यलिंगक अनुमान गम्य हुयी-अब आपको यह मानना होगा कि यदि वह लिंग भूत कार्य से शक्तिस्वरूप कारणता का अनुमान होता है तो इसमे शक्ति और कार्य के बीच व्याप्ति पूर्वगृहीत अवश्य होनी चाहीये और यह व्याप्तिग्रह प्रत्यक्ष से नही हो सकता यह तो हमने चिरपूर्व मे कह दिया है । यदि अनुमान से व्याप्तिग्रह को मानेंगे तो व्याप्तिग्राहक अनुमान मे भी व्याप्तिग्रह आवश्यक होने से नये अनुमान मानने जायेंगे तो अनवस्था होगी और पूर्वानुमान से उत्तरानुमानजनक व्याप्ति का ग्रह यदि मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा-यह सब बात धूम और अग्नि के व्याप्तिग्रह मे समान है । तथा यहाँ अर्थापत्ति से व्याप्तिग्रह की संभावना व्यर्थ है क्योंकि अर्थापत्ति का अनुमान मे ही अन्तर्भाव हो जाता है यह तो विस्तार से कह दिया है ।

उपरोक्त चर्चा का सार यह है कि पूर्वपक्षी यदि व्याप्तिग्रह की असभावना से सर्वज्ञ साधक अनुमान प्रवृत्ति का असभव कहने जायेगा तो धूमहेतुक अग्नि का प्रसिद्ध अनुमान भी उसके मतानु-सार उच्छेदाभिमुख हो जायेगा ।

[प्रसिद्धानुमानवत् सर्वज्ञानुमान में भी व्याप्तिग्रह का संभव]

शंकाः-धूम अग्निअन्तर्गत धर्म का अनुसरण करता हुआ दिखाई देता है अत. ऐसे किसी प्रमाण से धूम मे अग्निपूर्वकत्व निश्चित किया गया है, इस प्रकार धूमत्व और अग्निपूर्वकत्व दोनों की व्याप्ति सिद्ध हो जायेगी । यदि यह नही मानेंगे तो धूम से अग्नि के अनुमान का भग हो जाने

यदप्युक्तम् 'पक्षधर्मत्वनिश्चये सति हेतोरनुमानं प्रवर्त्तते, न च सर्वविद् कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धः' इत्यादि ..तदप्ययुक्तम्, यतो यदि सर्वविदो धर्मित्वं क्रियेत तदा तस्याऽसिद्धत्वात् स्यादप्यपक्षधर्मत्वलक्षणं दूषणम्, यदा तु वचनविशेषस्य धर्मित्वं तस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वं साध्यत्वेनोपक्षिप्तं तदा तत्र तद्विशेषत्वादिलक्षणो हेतुरुपादीयमानः कथमपक्षधर्मः स्यात् ? न चाऽपक्षधर्मादपि हेतोरुपजायमानमनुमानं प्रमाणं भवताऽभ्युपगच्छता पक्षधर्मत्वाभावलक्षणं दूषणमासञ्जयितुं युक्तम्। अन्यथा,

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणताऽनुमा। सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥" [ ]

इत्याद्यपक्षधर्महेतुसमुत्थानुमानप्रामाण्यप्रतिपादनं भवतोऽप्ययुक्तं स्यात्।

यदप्यभ्यधायि-'सर्वज्ञसत्तायां साध्यायां त्रयीं दोषजातिं हेतुर्नातिवर्त्तते' इत्यादि... तत्र स्यादप्ययं दोषः यदि तत्सत्ता साध्यत्वेनाभ्युपगम्यते, यावता पूर्वोक्तप्रकारेण वचनविशेषस्य विशिष्टकारण-

से सर्वजनसाधारण मे प्रसिद्ध जो यह व्यवहार है कि 'धूम जहाँ होता है वहाँ अग्नि प्राप्त होता है' उसका उच्छेद हो जायेगा। क्योकि जब अनुमान सभवित नही रहा तो प्रत्यक्ष से भी उक्त व्यवहार की संभावना सुतरा नही की जा सकती।

उत्तरः-ठीक है आपकी बात, किन्तु इसी प्रकार हम भी सवज्ञसिद्धि के विषय मे कहेंगे कि विशिष्ट प्रकार का सत्यवचन विशिष्ट प्रकार के रागरहितपुरुषादि कारणपूर्वक सुना जाता है यह भी किसी प्रमाण से निश्चित किया गया है तो उसी प्रमाण से प्रसिद्ध विशिष्टकारणपूर्वकत्वरूप साध्य, वचनविशेषत्वरूप हेतु से हम विवादापन्न वचनो में भी सिद्ध करेंगे तो यहाँ क्या दोष है ? ! कुछ नही। तात्पर्य, वचनविशेषत्वरूप हेतु से आगम मे सर्वज्ञरूप विशिष्टकारणपूर्वकत्व की सिद्धि होने पर सर्वज्ञसिद्धि निष्कटक है।

[पक्षधर्मताविरहदोष का निराकरण]

आपने जो यह कहा था कि-'हेतु मे पक्षधर्मता का निश्चय हो जाने पर अनुमान का उद्भव होता है किन्तु सर्वज्ञरूप पक्ष किसी प्रमाण से सिद्ध नही है' इत्यादि.. यह ठीक नही है। कारण, यदि हम सर्वज्ञ का ही पक्षतया निर्देश करे तब तो अद्यावधि वह असिद्ध होने से हेतु मे पक्षधर्मता का अभाव रूप दूषण सावकाश है, किन्तु, जब हम प्रसिद्ध ही वचनविशेष को (हमारे आगमिक वचन को) पक्ष करे, और उसमे विशिष्ट (यानी सर्वज्ञात्मक) कारणपूर्वकत्व साध्य करना चाहे तो अब वचनविशेषत्वरूप हेतु के उपन्यास मे पक्षधर्मता का अभाव कैसे होगा ? दूसरी बात यह है कि आप मीमासक तो पक्षधर्मतारहित हेतु से उत्पन्न होने वाले अनुमान को प्रमाण मानते हो (जैसे कि अभी आगे दिखाया जायेगा) तो फिर हमारे अनुमान मे पक्षधर्मताविरह का दूषणरूप से उद्भावन करना युक्तिपूर्ण नही है। यदि पक्षधर्मताविरह को दोष माना जायेगा तो –

"माता-पिता के ब्राह्मणत्वरूप हेतु से पुत्र मे ब्राह्मणत्व का अनुमान होता है यह सर्वजन सिद्ध है, जहाँ पक्षधर्मता की कुछ अपेक्षा नही है" इस प्रकार के पक्षधर्मतारहित हेतु से उत्पन्न अनुमान के प्रामाण्य का जो आप प्रतिपादन समर्थन करते है वह युक्तिविकल हो जायेगा। [क्योकि हेतुभूत ब्राह्मणत्व माता-पिता अन्तर्गत है और पक्ष है पुत्र जिसमे ब्राह्मणत्व सिद्ध करना है, किन्तु मातापितृगत-ब्राह्मणत्व धर्म पक्ष मे नही है, वह तो माता-पिता मे है]।

पूर्वकत्वं साध्यमित्युक्तं, तत्र चास्य दोषस्योपक्षेपोऽयुक्त एव। यदप्यभ्यधायि-'यद्यनियतः कश्चित् सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेत' इत्यादि....तदप्यसंगतमेव, यतो नास्माभि प्रतिनियत एव कश्चित् सर्वज्ञोऽनुमानात् साध्यते किन्तु विशिष्टकारणपूर्वकत्व विशिष्टशब्दस्य, तच्च स्वसाध्यव्याप्तहेतुबलात् साध्यधर्मिणि सिद्धिमासादयद् हेतुपक्षधर्मत्वबलात् प्रतिनियतसर्वज्ञपूर्वकत्वेनैव सिद्धिमासादयति। न च 'तत एव हेतोरन्यस्यापि सर्वज्ञस्य सिद्धेरन्यागमाश्रयणमपि भवतां प्रसज्यते' इति दूषणम्, अन्यागमानां दृष्टविषय एव प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेनाप्रामाण्यस्य व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात् कथं तत्प्रणेतॄणामपि सर्वज्ञत्वसिद्धिः ?।

यच्चान्यदभिहितम्-'न कश्चित् सर्वज्ञप्रतिपादकः सम्यग् हेतुः संभवति'-तदप्यसंगतम्, तत्प्रतिपादकस्य सम्यग्धेतोर्वचनविशेषत्वादेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। यच्चान्यदभिहितम्-'सर्वे पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्' इत्यत्र 'यदि सकलपदार्थग्राहिप्रत्यक्षत्वं साध्यम्' इत्यादि.... तदप्यसंगतम्; एवं साध्यविकल्पनेऽग्न्यादेरप्यनुमानान्न सिद्धिः स्यात्। तथाहि-अत्राप्येवं वक्तुं शक्यते, यदि प्रतिनियतसाध्यधर्मिधर्मो वह्निः साध्यत्वेनाऽभिप्रेतस्तदा तद्विरुद्धेन दृष्टान्तधर्मिणि तद्धर्मिधर्मेण पावकेन व्याप्तस्य धूमलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वाद् विरुद्धो हेतुः स्यात् साध्यविकलश्च दृष्टान्तः। अथ दृष्टान्तधर्मिधर्मः साध्यधर्मिणि साध्यते तदा प्रत्यक्षादिविरोधः। अथोभयगत वह्निसामान्यं तदा सिद्धसाध्यतादोषः।

[असिद्धि आदि तीन दोष का निराकरण]

यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि-'सर्वज्ञसत्ता को सिद्ध करने मे हेतु को तीन दोष लग जाते है, असिद्ध-विरुद्ध और अनैकान्तिक'-इत्यादि... यह भी असगत है क्योकि इन दोषो को तब अवकाश था यदि हम सर्वज्ञ की सत्ता को ही सीधा साध्य बना दें। जब कि हम तो वचन विशेष मे विशिष्टकारणपूर्वकत्व को सिद्ध करना चाहते है यह कह दिया है।

और भी जो आपने कहा है-अनियतरूप से ही यदि सर्वपदार्थज्ञाता साध्यरूप से अभिमत हो तब उसके बनाये हुये किसी अमुक ही आगम का स्वीकार अनुचित है.. इत्यादि. यह भी सब असगत है क्योकि हम किसी अमुक ही व्यक्ति को सर्वज्ञ सिद्ध करने मे नही लगे है किन्तु विशिष्टशब्द मे विशिष्टकारणपूर्वकत्व हमारा इष्ट साध्य है। यदि अपने साध्य के साथ अविनाभावी हेतु के बल से विशिष्टशब्द मे वह सिद्ध होता है तो पक्षधर्मता के बल से ही वह साध्य अमुक ही श्री महावीर आदि सर्वज्ञपूर्वकत्वरूप से सिद्ध होने वाला है-क्योकि विशिष्टशब्द से हम हमारे आगमवचन को पक्ष बनाते है तो विशेषशब्दत्व हेतु से विशिष्टकारणरूप मे उस आगम के उपदेशकरूप मे प्रसिद्ध महावीर भगवान आदि ही सर्वज्ञरूप मे अर्थतः सिद्ध होने वाले है। इस समाधान के ऊपर यह दूषण नही लगा सकते कि विशेषशब्दत्व हेतु से अन्यदीयागम प्रणेता भी सर्वज्ञरूप से सिद्ध होने के कारण आपको अन्य आगम भी प्रमाणरूप से स्वीकारना होगा।'-यह दूषण तो तब लगता यदि अन्यदीय आगम विरुद्धार्थप्रतिपादक न होते। दृष्ट विषय मे ही अन्य वेदादि आगम प्रमाणविरुद्धार्थ प्रतिपादक होने से अप्रमाण है यह आगे सिद्ध किया जायेगा। फिर कैसे अन्य आगमप्रणेताओ मे सर्वज्ञता की सिद्धि होगी ?

[प्रमेयत्वहेतुक अनुमान में साध्यविकल्प अयुक्त है]

यह जो आपने कहा था-सर्वज्ञ का साधक कोई निर्दोष यथार्थ हेतु नही है-यह असगत है

तथा 'प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानम्'.. इत्यादि...यदुक्तं तद् धूमलक्षणेऽपि हेतौ समानम्। तथाहि-अत्रापि किं साध्यधर्मिधर्मो हेतुत्वेनोपात्तः, उत दृष्टान्तधर्मिधर्मः, अथोभयगतं सामान्यं ? तत्र यदि साध्यधर्मिधर्मो हेतुः स दृष्टान्तधर्मिणि नान्वेतीत्यनन्वयो हेतुदोषः। अथ दृष्टान्तधर्मिधर्मः, स साध्यधर्मिण्यसिद्ध. इत्यसिद्धता हेतुदोष:। अथोभयगत सामान्यं, तदपि प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्ष-महानसपर्वतप्रदेशविलक्षणव्यक्तिद्वयाश्रितं न संभवतीति हेतोरसिद्धता तदवस्थिता।

क्योकि वचनविशेषत्वरूप निर्दोष हेतु सर्वज्ञ का साधक है, यह आगे दिखाया जाने वाला है। और भी जो आपने कहा है-"सभी पदार्थ किसी पुरुष को प्रत्यक्ष है क्योकि वे सब प्रमेयरूप है, जैसे अग्नि आदि-इस सर्वज्ञ साधक अनुमान मे अगर सकलपदार्थग्राहकप्रत्यक्षत्व साध्यरूप से अभिमत है या तद् तद् विषय का ग्राहक अनेक ज्ञान प्रत्यक्षशब्द से अभिमत है ?"....इत्यादि, और इनमे से आद्यविकल्प का जो बाद मे खण्डन किया गया है कि "यदि सकलपदार्थग्राहक प्रत्यक्ष साध्य करेंगे तो हेतु मे विरोध और दृष्टान्त मे साध्य की असिद्धि ये दोष लगेंगे" इत्यादि ...यह सब असगत है, क्योकि साध्य के ऊपर इस प्रकार के विकल्प करते रहने पर तो धूम हेतुक अनुमान से अग्नि भी सिद्ध नही हो सकेगा। जैसे देखिये, अग्नि के अनुमान मे भी यह कहा जा सकता है-यदि किसी अमुक ही पर्वतान्तर्गत अग्नि का साध्यधर्मी पर्वत मे साध्यधर्मरूप से उपन्यास किया जाय तो दृष्टान्तरूप पाकशाला धर्मी मे पर्वतीय-अग्नि का विरोधी जो पाकशालीय अग्निरूप दृष्टान्तधर्मी का धर्म, उसके साथ ही जिसकी व्याप्ति प्रसिद्ध है ऐसा पाकशालान्तर्गत धूम, पर्वत मे असिद्ध है इतना ही नही विरुद्ध भी है और पाकशाला मे पर्वतीय अग्निरूप साध्य का अभाव होने से दृष्टान्त भी साध्यशून्य है ये दोष समानरूप से आयेंगे। आशय यह है कि जब प्रतिनियत पर्वतीय अग्नि को ही साध्य किया जाता है तब पाकशालादि दृष्टान्तधर्मी मे उसका सद्भाव नही होता। तथा पर्वतीय अग्नि के साथ धूमव्याप्ति सिद्ध भी नही रहती, किन्तु उसके विरोधी पाकशालान्तर्गत अग्नि की ही पाकशालीय धूम मे व्याप्ति सिद्ध रहती है अतः पाकशालीय धूम का यदि हेतुरूप से उपन्यास हो तो वह पर्वतरूप साध्यधर्मी मे पर्वतीयाग्निविरोधी पाकशालीयाग्नि का साधक होने से विरोध दोष अनिवार्य होगा।

यदि दृष्टान्त धर्मी पाकशालादि अन्तर्गत अग्नि को पर्वत मे सिद्ध करने की चेष्टा की जाय तो प्रत्यक्षादि से उसका सीधा ही बाध यानी विरोध होगा। तथा यदि साध्यधर्मी और दृष्टान्तधर्मी उभय साधारण अग्निसामान्य को साध्य किया जाय तो सिद्धसाधन दोष होगा क्योकि वह प्रतिवादी को इष्ट ही है।

इस प्रकार अग्नि के अनुमान मे भी सब दोष समान है।

[प्रमेयत्वहेतुवत् धूमहेतु में भी समान विकल्प]

तदुपरात प्रमेयत्वहेतुक अनुमान मे आपने जो ये तीन विकल्प किये थे-हेतुरूप मे उपन्यास किये जाने वाला प्रमेयत्व क्या सकलज्ञेयव्यापकप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिरूप लेते हैं.. इत्यादि...वह सब धूमहेतु मे भी समान है, जैसे देखिये-अग्नि के अनुमान मे क्या आप साध्यधर्मी पर्वत के धर्मभूत धूम को हेतु करते है ? या पाकशालारूप दृष्टान्तधर्मी के धर्मभूत धूम को ? अथवा उभयसाधारण धूमसामान्य को ? यदि प्रथम विकल्प मे, पर्वतीयधूम को हेतु करेंगे तो दृष्टान्तधर्मी पाकशाला में उसका अन्वय न होने से अनन्वय नाम का हेतु दोष प्रसक्त होगा। यदि पाकशाला के धूम को हेतु

अथ पर्वतप्रदेशाश्रिताग्नितद्धूमव्यक्तेरुत्तरकालभाविप्रत्यक्षप्रतीयमानत्वेन न महानसोपलब्धधूमव्यक्त्याऽत्यन्तवैलक्षण्यमिति नोभयगतसामान्याभावः। ननु उभयगतसामान्यप्रतिपत्तौ ततोऽनुमानप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तौ च तदर्थक्रियार्थिनः तत्र प्रवर्त्तमानस्य प्रत्यक्षप्रवृत्तिः, तस्यां च सत्यामत्यन्तवैलक्ष्ण्याभावस्तद्व्यक्तेः, तत्सद्भावे चोभयगतसामान्यसिद्धितः तदनुमानप्रवृत्तिरिति चक्रकदूषणावकाशः। अथ कण्ठक्षीणतादिलक्षणधर्मकलापसाधर्म्यान्न महानस-पर्वतप्रदेशसगतधूमव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्यमित्युभयगतसामान्यसिद्धौ न धूमानुमाने हेत्वसिद्धतादिदोषः, तर्हि वाच्याविसंवादादिधर्मकलापसाधर्म्यस्य वचनविशेषव्यक्तिद्वयेऽप्यत्यन्तवैलक्षण्यनिवर्त्तकस्य सद्भावेन कथं न तद्विशेषत्वसामान्यसंभवः? प्रमेयत्वं तु यथा प्रकृतसाध्ये हेतुर्भवति तथा प्रतिपादयिष्यामः, आस्तां तावत्।

करेंगे तो वह पक्ष मे न रहने से असिद्धता नाम का हेतु दोष होगा। अब यदि उभयसाधारण धूम सामान्य को हेतु करेंगे तो उसकी कल्पना निम्नोक्त हेतु से असभवग्रस्त होने से हेतु की अप्रसिद्धि का दोष तदवस्थ ही रहेगा। तथाविध धूम सामान्य की कल्पना इस लिये सभव नही है कि-गोत्व जैसे गो और अश्व जैसे विलक्षण व्यक्तिद्वय का आश्रित नही होने से तदुभय का सामान्य नही हो सकता, उसी प्रकार-पाकशालीय अग्निप्रदेश प्रत्यक्ष होता है और पर्वत का अग्निप्रदेश अप्रत्यक्ष होता है तो इस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ऐसे विलक्षण व्यक्ति द्वय मे कोई सामान्य धूम की कल्पना भी अनुचित है।

[धूम सामान्य की कल्पना में चक्रक दूषण प्राप्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'पर्वत मे अग्निप्रदेश अनुमान के पहले भले अप्रत्यक्ष है किन्तु अनुमान के उत्तरकाल मे जब अग्नि का अर्थी वहाँ जाता है तो उसे वह अग्निप्रदेश और धूमव्यक्ति की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है अतः पाकशालान्तर्गत धूमव्यक्ति और पर्वतीय धूम व्यक्ति मे कोई वैलक्षण्य न रहने से पर्वत-पाकशाला उभय साधारण धूम सामान्य की कल्पना का असभव नही है'-तो यहाँ चक्रक दूषण का अवतार होगा, जैसे देखिये-यह तो निश्चित है कि उभयगतधूमसामान्य का अवगम होने पर ही उससे अग्नि का अनुमान प्रवृत्त होगा, अब अनुमान प्रवृत्त होने पर अग्नि साध्य अर्थक्रिया का अर्थी वहाँ जायेगा और उसके अग्निप्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होगी। यह प्रत्यक्ष होने पर दोनों धूम व्यक्ति अत्यन्तविलक्षण नही है यह पता चलेगा, वैलक्षण्य का अभाव सिद्ध होने पर उभय साधारण धूमसामान्य की सिद्धि होगी। तब अत मे अनुमान की प्रवृत्ति होगी। यह एक चक्रभ्रमण हुआ, इस प्रकार फिर से चक्रभ्रमण चालु होगा।

यदि इस प्रकार धूम सामान्य की सिद्धि की जाय कि पाकशाला और पर्वत उभयान्तर्गत जो धूमद्वय है उनमे, कट यानी अग्रभाग मे क्षीणता यानी क्रमश मूल से लेकर ऊर्ध्व ऊर्ध्वभाग मे क्षीण होते जाना इत्यादि समानधर्मसमूह उभयसाधारण होने से अत्यन्त विभिन्नता नही है, अत. समान धर्मसमूह से उभयगत सामान्य सिद्ध हो जाने पर धूमहेतुक अनुमान मे हेतु की असिद्धता आदि कोई दोष नही है-तो वचनविशेषत्व को भी सामान्य रूप से हेतु किया जा सकता है-अर्थात् यह कहा जा सकता है कि दृष्टान्त मे और साध्यधर्मी मे जो वचन विशेष है, उनमे अपने प्रतिपाद्य अर्थ के साथ अविसवाद आदि समान धर्मसमूह जो अत्यन्त विभिन्नता का निवर्त्तक है-वह विद्यमान है तो वचनविशेषत्व रूप सामान्य को हेतु क्यो न किया जाय? (प्रस्तुत मे तो प्रमेयत्व हेतु की बात चलती है तो इसके लिये कहते है कि) सकलज्ञेयपदार्थ मे प्रत्यक्षत्व की सिद्धि के लिये प्रमेयत्व सामान्य को हेतु किया जा सकता है यह बात अग्रिम ग्रन्थ मे दिखायेंगे। यहाँ कुछ धीरज रखीये।

यत्तु 'नापि शब्दात् तत्सिद्धिः' इत्यादि प्रतिपादितं, तद् सिद्धसाध्यतादोषाघ्रातत्वान्निरस्तम् । यदप्युक्तम् 'ये देश-काल-इत्यादिप्रयोगे नाऽसिद्धो हेतुः' इति, एतदप्ययुक्तम् , अनुमानस्य तदुपलम्भस्वभावस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वेनाऽनुपलम्भलक्षणस्य हेतोः परप्रयुक्तस्याऽसिद्धत्वात् । अत एव 'सद्व्यवहारनिषेधश्चानुपलम्भनिमित्तोऽनेन' इत्याद्यसारतया स्थितम् ।

'अथ यथाऽस्माकं तत्सद्भावाऽऽवेदकं प्रमाणं नास्ति तथा भवतां तदभावाऽऽवेदकमपि नास्ति' इत्यादि यावत् 'प्रसंगसाधनाभिप्रायेण सर्वमेव सर्वज्ञप्रतिक्षेपप्रतिपादकं युक्तिजालमभिहितम्' इति यदुक्तं तदप्यचारु । यतः 'सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीम्'.... [श्लो० सू० २-११७] इत्यादिना तत्सद्भावोपलम्भकप्रमाणपंचकनिवृत्तिप्रतिपादनद्वारेण यद् अभावाख्यप्रमाणप्रवृत्तिप्रतिपादनं तद् तदभावावेदकस्वतन्त्राभावाख्यप्रमाणाभ्युपगमव्यतिरेकेणाऽसम्भवद् भवतां मिथ्यावादितां सूचयति ।

यदप्यवादि 'तथा च प्रसंगसाधनाभिप्रायेण भगवतो जैमिनेः सूत्रम्' इत्यादि, तदप्यसंगतम् , यतः प्रसंगसाधनस्य तत्पूर्वकस्य च विपर्ययस्य व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ यत्र व्याप्याभ्युपगमो व्यापका-

---

'शब्द से सर्वज्ञ की सिद्धि नही हो सकती' इत्यादि जो आपने कहा है वह तो हमारे लिये इष्ट होने से आपके लिये सिद्धसाध्यता दोषाक्रान्त होने से ही विध्वस्त हो जाता है । "जो देशकालस्वभाव से दूरतमवर्त्ती होते हुए सद् वस्तु के उपलम्भक प्रमाण के विषयभाव को प्राप्त नही होते है वे सद्व्यवहार मार्ग के राही नही हो सकते" इस अनुमानप्रयोग के समर्थन के उपसहार मे आपने जो कहा था कि हेतु असिद्ध नही है-यह बात भी अयुक्त है क्योकि हम आगे यह दिखाने वाले है कि सर्वज्ञोपलम्भकस्वभाव अनुमान का सद्भाव है । अत. आपका प्रतिपादित अनुपलम्भस्वरूप हेतु असिद्ध ही है । अत एव आपने जो कहा है कि-'अनुपलम्भमात्रनिमित्त के बल से अनेक स्थान मे सद्व्यवहार का निषेध किया जाता है'-इत्यादि वह सब प्रस्तुत मे उपयोगी न होने से सारहीन है ।

[प्रसंगसाधन में प्रतिपादित युक्तियों का परिहार]

सर्वज्ञवादी की ओर से आशका को व्यक्त करते हुये-'जैसे हमारे पास सर्वज्ञ का सद्भाव प्रदर्शक प्रमाण नही है वैसे उसका अभाव प्रदर्शक प्रमाण भी नही है'....इत्यादि....जो आपने कहा था और उसके खण्डन मे फिर 'सर्वज्ञ के खण्डन मे जो युक्तिवृंद कहा गया है वह सब प्रसंगसाधन के अभिप्राय से कहा गया है" इत्यादि कहा गया था, वह भी अचारु=अशोभन है । कारण, आपने श्लो० वा० के 'सर्वज्ञ अभी तो देखा नही जाता'.. इत्यादि मीमांसक मत का अवलम्बन करते हुये सर्वज्ञ के विषय मे उसके सद्भाव के प्रतिपादक प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाण की निवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा जो अभावनामक प्रमाण की प्रवृत्ति का सर्वज्ञ के विषय मे प्रदर्शन किया है वह सर्वज्ञाभावप्रदर्शक स्वतन्त्र अभावनामक प्रमाण को माने विना सभव ही नही है, जब कि आप नास्तिक प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाण ही नही मानते है फिर अभावप्रमाण का आलम्बन करके सर्वज्ञ का प्रतिवाद करना यह आपकी मिथ्यावादिता का ही प्रदर्शन है ।

[प्रत्यक्षत्व और सत्संप्रयोगजत्व की व्याप्ति असिद्ध]

यह जो आपने कहा था-'भगवान् जैमिनि का जो यह सूत्र है, सत्सम्प्रयोगे....इत्यादि, वह भी प्रसगसाधन के अभिप्राय से ही है' इत्यादि....वह भी असंगत है, क्योकि सर्वज्ञ के विषय मे प्रसग और विपर्यय की प्रवृत्ति ही आप नही दिखा सके है-जैसे, प्रसंगसाधन की प्रवृत्ति तब होती है जब किसी दो

भ्युपगमनान्तरीयकः व्यापकनिवृत्तितो व्याप्यनिवृत्तिरवश्यंभाविनी च प्रदर्श्यते तत्र यथाक्रमं प्रवृत्तिः, अत्र तु प्रत्यक्षत्वस्य सत्संप्रयोगजत्वेन, तस्य च विद्यमानोपलम्भनत्वेन, तस्यापि धर्मादिकं प्रत्यनिमित्तत्वेन क्व व्याप्यव्यापकभावावगमो येन प्रसंग-तद्विपर्यययोः प्रवृत्तिः स्यात् ?

ननूक्तमेवैतत् 'स्वात्मन्येव'..., सत्यम् उक्तं न तु युक्तमुक्तम्, अयुक्तता च सर्वं चक्षुरादिकरणग्रामप्रभवं प्रत्यक्षं संनिहितदेशकालपदार्थान्तरस्वभावाऽविप्रकृष्टप्रतिनियतरूपादिग्राहकं सर्वत्र सर्वदा चेति न व्याप्यव्यापकभावग्राहकं प्रमाणमस्ति, विपर्ययश्चोपलभ्यते-योजनशतविप्रकृष्टस्यार्थस्य ग्राहकं संपातिगृध्रराजप्रत्यक्षं रामायण-भारतादौ भवत्प्रमाणत्वेनाऽभ्युपगते श्रूयते, तथेदानीमपि गृध-वराह-पिपीलिकादीनां चक्षुः-श्रोत्र-घ्राणजस्य प्रत्यक्षस्य यथाक्रमं रूप-शब्द-गन्धादिषु देशविप्रकृष्टेषु प्रवृत्तिरुपलभ्यते, तथा कालविप्रकृष्टस्याप्यतीतकालसंबन्धित्वस्य पूर्वदर्शनसम्बन्धित्वस्य च स्मरणसव्यपेक्षलोचनादिजन्यप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षग्राह्यत्वं पुरोव्यवस्थितेऽर्थे भवताऽभ्युपगम्यते। अन्यथा, [श्लो० वा०सू० ४। २३३-३४] 'देशकालादिभेदेन तदास्त्यवसरो मितेः'।। 'इदानींतनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम्।' इत्यादिवचनसंदर्भेण प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्याऽगृहीतार्थाधिगन्तृत्वं पूर्वापरकालसंबन्धित्वलक्षणनित्यत्वग्राहकत्वं च प्रतिपाद्यमानमसंगतं स्यात्।

भाव के बीच व्यापक-व्याप्यभावरूप सबध सिद्ध हो तब यह दिखाया जाता है कि 'व्याप्य का स्वीकार व्यापक के स्वीकार विना नही हो सकता'। और प्रसगसाधन के बाद विपर्यय की प्रवृत्ति तब होती है जब 'व्यापक यदि निवृत्त होगा तो व्याप्य अवश्य निवृत्त होगा' यह दिखाया जाय। प्रस्तुत मे-आपने प्रत्यक्षत्व और 'सत् वस्तु के साथ सन्निकर्ष से जन्यत्व' इन दोनो मे, तथा सत्सप्रयोगजन्यत्व और विद्यमानोपलम्भनत्व इन दोनो मे, और 'विद्यमानोपलम्भनत्व' तथा 'धर्मादि के प्रति अनिमित्तत्व' इन दोनो मे व्याप्य-व्यापक भाव का ज्ञान ही कहाँ दिखाया है जिस से प्रसग और विपर्यय की प्रवृत्ति को अवकाश प्राप्त हो!

[किंचिज्ज्ञता और वक्तृत्व की व्याप्ति असिद्ध]

यदि कहे कि-'किंचिज्ज्ञता यानी अल्पज्ञता अथवा रागादिमत्ता के साथ वक्तृत्व का व्याप्य-व्यापकभाव हमारे ही आत्मा मे दृष्ट है इत्यादि कथन द्वारा व्याप्यव्यापकभाव तो हमने प्रदर्शित किया ही है' इत्यादि....वह आपने कहा तो है, उसका हम इनकार नही करते, किंतु युक्तियुक्त नही कहा है। वह इस प्रकार-इस बात मे कोई प्रमाण नही है कि "नेत्रादि इन्द्रियसमूह से उत्पन्न होने वाला सभी प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वत्र सर्वकाल मे, ऐसे ही रूप-रसादि प्रतिनियत विषय को ग्रहण करते है जो विषय सनिहितदेश से विप्रकृष्ट यानी दूरवर्त्ती न हो, सनिहितकाल से विप्रकृष्ट यानी दूरवर्त्ती न हो तथा सनिहित पदार्थान्तर से उस विषय का स्वभाव विप्रकृष्ट यानी आवृत न हो गया हो।"-तात्पर्य, 'प्रत्यक्षज्ञान केवल निकटदेशकालवर्त्ती एव अनावृत पदार्थ को ही ग्रहण करे' इस बात मे कोई प्रमाण नही है। बल्कि इससे विपरीत भी जानने मे आया है जैसे, कि-आपके लिये प्रमाणभूत रामायण और महाभारत मे 'सपाति-जटायु को सेकडो योजन दूर रहे हुए अर्थ का प्रत्यक्ष होता था'-ऐसा सुना जाता है। तथा इस युग मे भी गीध आदि पक्षी के नेत्र की दूरदेशवर्त्ती रूप प्रत्यक्ष मे प्रवृत्ति, डुक्कर के श्रोत्र की दूरदेशवर्त्ती शब्द के प्रत्यक्ष मे प्रवृत्ति और चिटीयो के घ्राणेन्द्रिय की दूरदेशवर्त्ती गन्ध के प्रत्यक्ष मे प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। यह देश की बात हुयी। अब काल की बात–

अथातीतातीन्द्रियकालसबन्धित्वं पूर्वदर्शनसम्बन्धित्वं वा वर्त्तमानकालसम्बन्धिनः पुरोव्यवस्थितस्यार्थस्य यदि चक्षुरादिप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन गृह्यते तदा-"संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" [श्लो० वा० ४-८४] इति वचनं विरुद्धार्थं स्यात्; तथा-अतीन्द्रियकालदर्शनादेर्वर्त्तमानार्थविशेषणत्वेन ग्रहणेऽतीन्द्रियधर्मादेरपि ग्रहणप्रसंगात् प्रसंगसाधन-तद्विपर्यययोरप्रवृत्तिः स्वयमेव प्रतिपादिता स्यात्। नन्वयमेवात्र दोषः कालविप्रकृष्टार्थग्राहकत्वेन इन्द्रियजप्रत्यक्षस्य प्रतिपादयितुमस्माभिरभिप्रेत इति कस्याऽत्रोपालम्भः ?।

अथ वर्त्तमानकालसंबद्धे विशेष्ये पुरोवर्त्तिनि व्यापारवच्चक्षुस्तद्विशेषणभूतेऽतीन्द्रियेऽपि पूर्वकालदर्शनादौ प्रवर्त्तते, अन्यथा चक्षुर्व्यापारानन्तरं 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति विशेष्यालम्बनं प्रत्यभिज्ञानं नोपपद्येत, नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुपजायते दण्डाऽग्रहणे इव दण्डिबुद्धिः।, न च धर्मादावयं न्यायः सम्भवतीति चेत् ? ननु धर्मादे. किमतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिनाऽग्रहणम् उत अविद्यमानत्वात् आहोस्वित् अविशेषणत्वात् ?

अतीतकालसबधिता यह अतीतकाल से घटित होने के कारण कालविप्रकृष्ट है, तथा पूर्वदर्शनसबधिता यह भी पूर्वकालघटित होने से कालविप्रकृष्ट है, फिर भी समीपवर्त्ती पूर्वानुभूत वस्तु मे स्मरणसहकृत-नेत्रादिजन्य प्रत्यभिज्ञास्वरूप प्रत्यक्ष से आप उसका ग्रहण मानते ही है। यदि यह न माना जाय तो-आप मीमासको के श्लोकवार्त्तिक मे प्रत्यभिज्ञा की प्रामाण्य सिद्धि मे जो यह कहा गया है कि "देशभेद होने से और कालभेद होने से मिति यानी प्रामाण्य अवसरप्राप्त है" तथा "साम्प्रतकालीनास्तित्व यह पूर्वबुद्धि से गृहीत नही था (अत उस अर्थ मे अनधिगतअर्थग्राहकता रूप प्रामाण्य सुरक्षित है)" इत्यादि वचन का अवलम्बन लेकर आप प्रत्यभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष से अनधिगतार्थग्राहकता का और वस्तु मे पूर्वापरकालसम्बन्धस्वरूपनित्यता का प्रतिपादन करते आये है-वह असगत हो जायेगा।

अगर आप इस प्रकार उपालम्भ देना चाहे कि-"नेत्रादिइन्द्रियजन्य प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षज्ञान यदि अतीत, अत एव अतीन्द्रिय कालसम्बन्ध को तथा पूर्वदर्शनसबधिता को वर्त्तमानकालसबन्धी पुरोवर्त्तीपदार्थ मे ग्रहण कर लेता होगा तो 'नेत्रादि अपने से सबद्ध और वर्त्तमानकालीन अर्थ को ही ग्रहण करता है' ऐसा श्लोकवार्त्तिक का वचन विरोधग्रस्त हो जायेगा। तदुपरात, अतीन्द्रियकाल और पूर्वदर्शन का वर्त्तमानअर्थविशेषणतया ग्रहण मानेंगे तो अतीन्द्रियधर्मादि का भी ग्रहण शक्य हो जाने से (मीमासक को) सर्वज्ञवाद के विरुद्ध प्रसगसाधन और विपर्ययप्रतिपादन की प्रवृत्ति को अनवकाश स्वय ही घोषित होगा"-तो इस पर व्याख्याकार सर्वज्ञविरोधी को कहते है कि हम तो यह चाहते ही है कि मीमासक (या नास्तिक) को नेत्रादि इन्द्रिय को केवल विद्यमान के ग्राहक मानने मे यह दोष दिया जाय, क्योकि उसी के ग्रन्थ मे प्रत्यभिज्ञा प्रामाण्य के अवसर पर इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को कालविप्रकृष्टार्थग्राहक दिखाया गया है। फिर आप सोचिये तो सही कि यह उपालम्भ किस को दिया जाय ? हमे या मीमासक को ?

[धर्मादि के अप्रत्यक्ष में तीन विकल्प]

यदि यह कहा जाय-जब वर्त्तमानकालसम्बद्ध विशेष्यभूत पुरोवर्त्ती पदार्थ के साथ नेत्रसनिकर्ष होता है तब पूर्वकालदर्शन अतीन्द्रिय होने पर भी उपरोक्त विशेष्य का विशेषण होने के कारण गृहीत हो जाता है। ऐसा यदि न माना जाय तो नेत्रसनिकर्ष के बाद "मैं पूर्वदृष्ट को देखता हूँ" इस प्रकार पुरो-

तत्र नाद्यः पक्षः, अतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेर्ग्रहणाभ्युपगमात् । नाप्यविद्यमानत्वात्, भाविधर्मादेरिवातीतकालादेरविद्यमानत्वेऽपि प्रतिभासस्य भावात् । अथाऽविशेषणत्वाद्धर्मादेरप्रतिभासः, तदप्यसंगतम्-सर्वदापदार्थजनकत्वेन द्रव्य-गुण-कर्मजन्यत्वेन च धर्मादेः सर्वपदार्थविशेषणभावसंभवाद अतीतातीन्द्रियकालादेरिव तस्यापि विशेष्यग्रहणप्रवृत्तचक्षुरादिना ग्रहणसंभव इति कथं धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वप्रसंगसाधनस्य तद्विपर्ययस्य वा संभवः? तथा, प्रश्नादि-मन्त्रादिद्वारेण संस्कृतं चक्षुर्यथा कालविप्रकृष्टपदार्थग्राहकमुपलभ्यते तथा धर्मादेरपि यदि ग्राहकं स्यात् तदा न कश्चिद् दोषः ।

अपि च, अनालोकान्धकारव्यवहितस्य मूषिकादेर्नक्तंचरवृषदंशादेश्चक्षुर्यथा ग्राहकमुपलभ्यते तथा यद्यतीन्द्रियातीताऽनागतधर्मादिपदार्थसाक्षात्कारि कस्यचित् तदेव स्यात् तदाऽत्रापि को दोषः? न च जात्यन्तरस्यान्धकारव्यवहितरूपादिग्राहकं चक्षुर्दृष्टं न पुनर्मनुष्यधर्मण इति प्रतिसमाधानमत्राभिधातुं युक्तम्, मनुष्यधर्मणोऽपि निर्जीवकादेर्द्रव्यविशेषादिसंस्कृतं चक्षुः समुद्रजलादिव्यवहितपर्वतादि-

---

वर्त्ती पदार्थ को विशेष्यरूप मे और पूर्वदर्शन को विशेषणरूप मे ग्रहण करता हुआ प्रत्यभिज्ञान उदित होता है वह नही होगा, क्योंकि यह नियम है कि "विशेषण की अग्राहक बुद्धि किसी वस्तु को विशेष्यरूप मे ग्रहण नही करती-जैसे कि दंडरूप विशेषण की अग्राहक बुद्धि दडी को विशेष्यरूप मे ग्रहण नही करती । [तात्पर्य दंड का ग्रहण होने पर ही यह 'दडी पुरुष है' इस बुद्धि का जन्म होता है ।] अब प्रस्तुत मे विचार करे तो यह स्पष्ट है कि धर्मादि मे इस न्याय का संभव नही है, अर्थात् धर्मादि किसी वस्तु के विशेषणरूप में गृहीत नही होता है अतः किसी भी पदार्थ को नेत्रादि से देखते समय धर्मादि का विशेषणरूप मे ग्रहण शक्य नही है । [अत एव सर्वज्ञ की सभावना भी समाप्त हो जाती है] ।-

इस पर व्याख्याकार कहते है कि धर्मादि का नेत्रादि से क्यो ग्रहण नही होता ? क्या वह अतीन्द्रिय है इस लिये ? अथवा वे विद्यमान नही है इस लिये ? या फिर वे किसी का विशेषण नही है इसलिये ?

[तीनों विकल्पों की अयुक्तता]

तीन मे से पहला विकल्प अनुचित है क्योकि कालादि पदार्थ जो अतीन्द्रिय है उसका नेत्रादि से ग्रहण तो आप भी मानते ही है । दूसरा विकल्प, धर्मादि अविद्यमान होने से अग्राह्य है-यह भी ठीक नही है क्योकि जैसे अविद्यमान होने पर भी भूतकालादि का प्रतिभास होता है वैसे अविद्यमान भी भविष्यकालीन धर्मादि का प्रतिभास हो सकता है-उसमें कोई बाधक नही है । तीसरे विकल्प मे "धर्मादि यह किसी भी वस्तु के विशेषणभूत न होने से धर्मादि का प्रतिभास शक्य नही"-यह बात भी असगत है । कारण, सर्वपदार्थ का साधारण जनक होने से तथा द्रव्य गुण और कर्म से जन्य होने के कारण यह धर्मादि प्रत्येक पदार्थ का विशेषण बन सकता है इस मे कोई सदेह नही है । तथा अतीत अतीन्द्रिय कालआदि का जैसे अपने विशेष्य के विशेषणरूप मे ग्रहण होता है उसी प्रकार अपने विशेष्य को ग्रहण करने मे प्रवृत्त नेत्रादि द्वारा धर्मादि का विशेषणरूप मे ग्रहण का भी पूर्ण सभव है । तब फिर धर्मादि के प्रति अनिमित्तत्व के कथन द्वारा प्रसगसाधन और विपर्यय के प्रदर्शन का अवकाश ही कहाँ रहा? तदुपरात यह भी कहा जा सकता है कि प्रश्नादि (अजनविशेषया विद्यादि) तथा मन्त्रादि द्वारा नेत्र का सस्कार करने पर जैसे काल से विप्रकृष्ट पदार्थो का भी नेत्रादि से ग्रहण सभव है उसी प्रकार धर्मादि का भी नेत्रादि से ग्रहण सभव माना जाय तो कोई दोष नही है ।

ग्रहणे समर्थमुपलभ्यत इति धर्मादेरपि देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टस्य कस्यचित् पुरुषविशेषस्य पुण्यादिसंस्कृतं चक्षुरादि ग्राहकं भविष्यतीति न कश्चित् दृष्टस्वभावव्यतिक्रमः।

अथ चक्षुरादेः करणस्य प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेनान्यकरणविषयग्राहकत्वे स्वार्थातिक्रमो व्यवहारविलोपी स्यात्। ननु श्रूयत एव चक्षुषा शब्दश्रवणं प्राणिविशेषाणाम्–'चक्षुःश्रवसो भुजङ्गाः' इति लोकप्रवादात्। 'मिथ्या स प्रवाद' इति चेत्? नैतत्, प्रवादबाधकस्याभावात् कर्णच्छिद्रानुपलब्धेश्च। न च दन्दशूकश्चक्षुषो जात्यन्तरत्वात् इत्युत्तरमत्रोपयोगि, अन्यत्रापि प्रकृष्टपुण्यसंभारजनित-प्रत्यक्षस्याऽविरोधाद् न प्रत्यक्षत्व सत्संप्रयोगजत्वादेर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धिरिति न प्रसंग-विपर्ययोः प्रवृत्तिरिति न तदस्तत्प्रतिक्षेपः।

[नेत्र से अतीन्द्रियार्थदर्शन की सोदाहरण उपपत्ति]

तदुपरात यह भी देखा जाता है कि-स्वय आलोकरहित एवं अन्धकार से आवृत ऐसे मूषक आदि को रात मे घूमने वाले बिल्ली आदि की आँख देख लेती है–तो इसी प्रकार अतीन्द्रिय भूत-भावी धर्मादि पदार्थ को साक्षात् करने वाले किसी पुरुष की सभावना की जाय तो उसमे क्या दोष है? यदि यह तर्क किया जाय–'पशु आदि अन्य जाति के प्राणि मे ही अन्धकारावृत रूपादि पदार्थ को ग्रहण करने वाले नेत्र देखने मे आता है किन्तु मनुष्य जाति मे ऐसा नेत्र दृष्ट नही है अत. अतीन्द्रियद्रष्टा पुरुष की सभावना नही हो सकती' तो यह भ्रमपूर्ण है क्योकि निर्जीवकादि मनुष्य के द्रव्यविशेषादि से सस्कार किये गये नेत्र का यह सामर्थ्य देखा जाता है कि समुद्र जलादि से व्यवहित पर्वतादि भी उनके नेत्र से गृहीत होते है, तो अब हम सभावना व्यक्त करे कि देश, काल और स्वभाव से दूरवर्त्ती धर्मादि को किसी पुरुषविशेष के पुण्यादि से सस्कृत चक्षु ग्रहण कर लेगी तो इसमें कोई अदृष्ट कल्पना अथवा दृष्ट स्वभाव का उल्लघन जैसा कुछ नही है।

[विषयमर्यादाभंग की आपत्ति का प्रतीकार]

यदि यह तर्क किया जाय कि-"चक्षु आदि इन्द्रिय की रूपादि विषय ग्रहणशक्ति मर्यादित होने से यदि नेत्रादि इन्द्रिय घ्राणादि इन्द्रिय ग्राह्य अर्थ के ग्रहण का व्यवसाय करेगी तो उसकी अपनी विषय मर्यादा का भग हो जायेगा और उससे 'नेत्र से रूप और श्रोत्र से शब्द ही गृहीत होता है'– इत्यादि व्यवहारो का भी लोप हो जायेगा।"-यह भी तथ्यशून्य है क्योकि प्राणिविशेष को नेत्र मे शब्द का श्रवण होता है-यह सुनने मे आता है जैसे कि यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है–'सर्प नेत्रश्रावी है'। अगर कहे कि वह लोकोक्ति मिथ्या है तो यह अनुचित है क्योकि एक तो यह कि उस उक्ति में कोई बाधक नही है और दूसरी बात, सर्प मे कर्णछिद्र भी उपलब्ध नही होते। कदाचित् यहाँ ऐसा समाधान किया जाय कि 'सर्प के नेत्र तो एक विलक्षण ही जाति के है अत उसमे वह शब्दश्रवणशक्ति हो सकती है' तो यह समाधान यहाँ निरुपयोगी है क्योकि सर्वज्ञ के लिये भी हम कह सकते है कि उसका नेत्र उत्कृष्ट पुण्य सामग्री से उपार्जित होने के कारण सर्वज्ञ का नेत्र भी असाधारण जाति का अलौकिक है जिससे सर्ववस्तु का ग्रहण हो सकता है।

उपरोक्त चर्चा का सार यह है कि नेत्रादिजन्य प्रत्यक्ष को धर्मादिसमस्त वस्तु ग्राहक मानने मे कोई विरोध नही है, अत एव प्रत्यक्षत्व और सत्सप्रयोगजत्व इन दोनो के बीच व्याप्यव्यापकभाव

एतेन "यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः" [श्लो० २-११९] इत्यादि वार्त्तिककृत्प्रतिपादितं प्रसंगसाधनाभिप्रायेण युक्तिजालमखिलं निरस्तम्, व्याप्तिप्रतिषेधस्य पूर्वोक्तप्रकारेण विहितत्वात्। यच्च-"किं प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वात्...इत्यादि तद् धूमादग्न्यनुमानेऽपि समानम्। तथाहि-अत्रापि वक्तुं शक्यम्-'किं साध्यधर्मिसंबन्धी धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्त'" इत्यादि यावत् 'सिद्धः प्रतिबन्धोऽसर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोरग्नि-धूमयोरिव" इति पर्यन्तम् तदप्ययुक्तम्, यतोऽसर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोरिव नाग्निधूमयोः कार्यकारणत्वप्रतिबन्धस्य तद्ग्राहकप्रमाणस्य वाऽभावः। नहि वह्नि सद्भावे धूमो दृष्टः, तदभावे च न दृष्टः इत्येतावता धूमस्याग्निकार्यत्वमुच्यते किन्तु "कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः" [प्र० वा० ३-३४ पूर्वार्द्ध]

न चासौ दर्शनाऽदर्शनमात्रगम्यः किन्तु विशिष्टात् प्रत्यक्षाऽनुपलम्भाख्यात् प्रमाणात्। प्रत्यक्षमेव प्रमाणं प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दाभिधेयम्, तदेव कार्यकारणाभिमतपदार्थविषयं प्रत्यक्षम्, तद्विविक्तान्यवस्तुविषयमनुपलम्भशब्दाभिधेयम्। कदाचिदनुपलम्भपूर्वकं प्रत्यक्षं तद्भावसाधकम्, कदाचित् प्रत्यक्षपुरःसरोऽनुपलम्भः। तत्राद्येन येषां कारणाभिमतानां सन्निधानात् प्रागनुपलब्धं सद् धूमादि तत्सन्निधानादुपलभ्यते तस्य तत्कार्यता व्यवस्थाप्यते। तथाहि-एतावद्भिः प्रकारैर्धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्-१. यद्यग्नि-सन्निधानात् प्रागपि तत्र देशे स्यात्, २. अन्यतो वाऽऽगच्छेत्, ३ तदन्यहेतुको वा भवेत्-तदेतत् सर्वमनुपलम्भपुरस्सरेण प्रत्यक्षेण निरस्तम्।

भी असिद्ध है। अत. प्रसगसाधन और विपर्ययप्रदर्शन की प्रवृत्ति सर्वज्ञ के विषय मे असभव होने से सर्वज्ञ का विरोध भी मूलविहीन है।

[धूमहेतुकानुमानोच्छेद प्रतिबन्दी का प्रतिकार]

जब उक्त रीति से अलौकिक ज्ञान वाले नेत्र की सभावना निष्कटक है तब वार्त्तिककार ने जो यह 'छह प्रमाणो के समूह से कदाचित् कोई सर्वज्ञ हो सकता है' इत्यादि प्रसगसाधन के अभिप्राय से समस्तयुक्तिवृ द प्रस्तुत किया है वह धराशायी हो जाता है। कारण, सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व का व्याप्य-व्यापकभाव का पूर्वोक्त रीति से निराकरण कर दिया है। तदनतर जो आपने वक्तृत्व हेतु के खडन की धूमहेतुकअनुमानखडन मे समानता दिखाते हुए यह कहा था -"सर्वज्ञवादी यदि 'प्रमाणान्तर-सवादीअर्थवक्तृत्व यह हेतु है'-इत्यादि विकल्प ऊठा कर यदि वक्तृत्वहेतु का खडन करना चाहे तो वह धूमहेतुक अग्निअनुमान मे भी समान है, जैसे कि यहाँ कहा जा सकता है कि साध्यधर्मि का सम्बन्धीभूत धूम का हेतुरूप मे उपन्यास करते है? या इत्यादि से लगाकर असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व की व्याप्ति इस प्रकार अग्नि और धूम की व्याप्ति की तरह सिद्ध होती है...इत्यादि तक जो प्रतिवादी ने सर्वज्ञविरोध मे कहा था"—वह सब अयुक्त है। तात्पर्य यह है कि मीमासक असर्वज्ञत्व-वक्तृत्व की बात और अग्नि-धूम की वात, इन दो मे जो समानता दिखाना चाहते है वह इसलिये ठीक नही है कि असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व के कार्यकारणभाव सम्बन्ध और उसके ग्राहक प्रमाण का जैसे अभाव है वैसे अग्नि-धूम के कार्य-कारणभावसम्बन्ध और तद्ग्राहक प्रमाण का अभाव नही है। अग्नि होने पर धूम दिखाई देता है और न होने पर नही दिखाई देता इतने मात्र से कहाँ हम धूम को अग्नि का कार्य बताते हैं? हम तो धूम को अग्नि का कार्य इसलिये कहते है कि अग्निजन्य कार्य के जो धर्म होते हैं अन्वयव्यतिरेकानुविधायितादि, धूम उसका अनुवर्त्तन करता है।

एतेन 'प्रागनुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारसंनिधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तत्कार्यता स्या-दि'ति निरस्तम् । तथाहि-तत्रापि यदि रासभस्य तत्र प्रागसत्त्वम्, अन्यदेशादनागमनम्, अन्याऽकारणत्वं च निश्चेतुं शक्येत तदा स्यादेव कुम्भकारकार्यता, केवलं तदेव निश्चेतुमशक्यम् । एवं ताव-दनुपलम्भपुरस्सरस्य प्रत्यक्षस्य तत्साधनत्वमुक्तम् ।

तथा प्रत्यक्षपुरस्सरोऽनुपलम्भोऽपि तत्साधनः-येषां संनिधाने प्रवर्त्तमानं तद् कार्यं दृष्टं तेषु मध्ये यदैकस्याप्यभावो भवति तदा नोपलभ्यते, तद् तस्य कारणमितरद् कार्यम् । न चाग्नि-काष्ठादि-संनिधाने भवतो धूमस्यापनीते कुम्भकारादावनुपलम्भोऽस्ति, अग्न्यादौ त्वपनीते भवत्यनुपलम्भः । एवं परस्परसहितौ प्रत्यक्षानुपलम्भावभिमतेष्वेव कार्यकारणेषु निःसंदिग्धं कार्यकारणभावं साधयतः ।

[प्रत्यक्षानुपलम्भ से धूम में अग्निजन्यत्वसिद्धि]

'कार्य कारणभाव केवल दर्शनाऽदर्शन गम्य है' ऐसा जो आपने कहा था वह भी ठीक नही है क्योकि वह विशिष्ट प्रकार के प्रत्यक्षानुपलम्भ नामक प्रमाण से उपलभ्य है । [दर्शनादर्शन और प्रत्यक्षानुपलम्भ समानार्थक नही है] यही प्रमाण जब कार्य और कारणरूप से अभिमत पदार्थयुगल को विषय बनाता है तब 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है और जब दोनो से शून्य अन्य किसी वस्तु को विषय करता है तब 'अनुपलम्भ' शब्द से कहा जाता है । ऐसा होता है कि कभी कभी प्रथम अनुपलम्भ और बाद मे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है और उससे कार्यकारणभाव सिद्ध होता है, तो कभी कभी प्रथम प्रत्यक्ष और बाद मे अनुपलम्भ की प्रवृत्ति होने से कार्यकारणभाव सिद्ध होता है । जैसे-प्रथम कल्प द्वारा इस प्रकार व्यवस्था की जाती है-धूम के कारणरूप से अभिमत जो अग्नि आदि हैं उनका सनिधान होने के पूर्व वहाँ धूम उपलब्ध नही होता था यानी धूम का अनुपलम्भ था, किन्तु अग्नि आदि का सनिधान होने पर धूम का उपलम्भ (प्रत्यक्ष) होने लगता है-अत: धूम अग्नि आदि के कार्यरूप मे निश्चित किया जाता है । यह भी इस प्रकार-जो तीन प्रकार अभी बताये जा रहे हैं उनके बल पर ही यह कहना शक्य हो सकता है कि धूम अग्निजन्य नही है-१-अगर धूम अग्नि प्रज्वालन के पूर्व भी वहाँ उपस्थित होता, २ अथवा, अन्य स्थान से धूम अग्निदेश मे आ जाता, ३-अथवा, धूम का कोई अग्निभिन्न हेतु होता ।-किन्तु ये तीनो प्रकार अनुपलम्भ पूर्वक प्रत्यक्ष से विध्वस्त हो जाते है ।

[गधे में कुम्भकारनिरूपित कार्यता आपत्ति का निराकरण]

पूर्वोक्त तीन प्रकार का निराकरण होने से, यह जो किसी ने कहा है वह भी ध्वस्त हो जाता है कि-'पूर्व मे अनुपलब्ध गर्दभ कुभकारादि के सनिधान के बाद उपलब्ध होता है तो वह भी कुम्भकार का कार्य हो जायेगा'-यह इसलिये ध्वस्त हो जाता है कि-'गधा वहाँ पहले नही ही हो सकता, अथवा वह अन्य स्थान से यहाँ नही आया है, अथवा गर्दभ का अन्य कोई हेतु नही ही है' ऐसा निश्चय किसी प्रकार किया जा सकता तब तो गधा कुम्भकार का कार्य हो सकता था (किंतु यह निश्चय ही अशक्य है ।)-इस प्रकार अनुपलम्भपूर्वक प्रत्यक्ष से कार्यकारणभावसिद्धि की बात हुयी ।

तदुपरात, प्रत्यक्षपूर्वक अनुपलम्भ से भी कार्यकारण भाव की सिद्धि इस प्रकार है-जिन के सनिधान मे जिस वस्तु की उपस्थिति (उत्पत्ति) देखी जाती है उन पदार्थो (कारणो) मे से यदि किसी एक का भी अभाव हो जाय तब उस वस्तु की उपलब्धि यदि नही होती है ऐसे स्थल मे जिसका अभाव तद् वस्तु की अनुपलब्धि का प्रयोजक हुआ वही उसका कारण है और जिस वस्तु की अनुपलब्धि

सर्वकालं चाग्निसंनिधाने भवतो धूमस्यानग्निजन्यत्वं कदाचित् सदसतोरजन्यत्वेन, अहेतुकत्वेन, अदृश्यहेतुकत्वेन वा भवेत् ? तत्र न तावत् प्रथमः पक्षः, असतो जन्यत्वात्, "सदेव न जन्यते" इति त्वदभिप्रायात् सत एव जन्यमानत्वानुपपत्तेः, कार्यत्वस्य च कादाचित्कत्वेन सिद्धत्वात् । नाप्यहेतुकत्वम्, कादाचित्कत्वेनैव, अहेतुत्वे तदयोगात् । नाप्यदृश्यहेतुकत्वम्, धूमस्याग्न्यादिसामग्र्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात् ।

अथापि स्याद्-अदृश्यस्यायं स्वभावो यदग्न्यादिसंनिधान एव धूमम्, कर्पूरोर्णादिदाहकाले सुगन्धादियुक्तं च करोति नान्यदेति । तत् किमग्निमन्तरेण कदाचित् धूमोत्पत्तिर्दृष्टा येनैवमुच्यते ? नेति चेत् ? कथं नाग्निकार्यो धूमस्तद्भावे भावात् ? धूमोत्पत्तिकाले च सर्वदा प्रतीयमानोऽग्निः काकतालीयन्यायेन व्यवस्थित इत्यलौकिकम् । अथ स एवादृश्यस्य स्वभावो यदग्निसंनिधान एव धूमं करोति, ननु यद्यग्निना नासावुपक्रियते किमग्निसंनिधानाद् न पूर्वं पश्चाद् वा धूमं विदधाति ? न चाऽन्यदा करोतीति तस्य तज्जन्यस्वभावसव्यपेक्षस्य धूमजनने तदेव पारम्पर्येणाग्निजन्यत्वं धूमस्य ।

हुयी वह उस कारण का कार्य है । अग्नि-काष्ठादि सामग्री के सनिधान मे उपलब्ध धूम की कुम्भकारादि के हठ जाने पर अनुपलब्धि नही हो जाती किन्तु अग्नि आदि के हठ जाने पर अनुपलब्धि हो जाती है, अतः धूम अग्नि का कार्य है । इस प्रकार से अन्योन्य सहकृत प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से कार्य-कारणरूप मे सिषाधयिषित (सभावित) कार्य और कारण मे नि सदेह कार्यकारणभाव सिद्ध किया जाता है ।

[धूम में अनग्निजन्यता का तीन विकल्प से प्रतिकार]

हर कोई काल मे यह तो निःसदेह देखा गया है कि धूम अग्नि के सनिधान मे ही होता है । तथापि धूम को कभी कभी अग्निजन्य न मानने मे क्या कारण ? क्या सद् या असद् की उत्पत्ति अघटित होने से ? या धूम का कोई हेतु नही है इसलिये ? अथवा उसका हेतु अदृश्य है इसलिये ? प्रथम पक्ष ठीक नही है क्योकि असत् (अनुत्पन्न) की उत्पत्ति होती है । 'जो सत् होता है वही अजन्य होता है । ऐसे आपके अभिप्राय से सत् पदार्थ मे ही उत्पद्यमानत्व की अनुपपत्ति है, असत् मे नही । धूम यह अजन्य नही किन्तु कार्य होता है यह तो उसके कदाचित्कत्व यानी 'किसी अमुककाल मे ही रहना' इस हेतु से सर्वत्र प्रसिद्ध है । दूसरा पक्ष, धूमका कोई हेतु ही नही है-यह भी ठीक नही क्योकि धूम कदाचित होता है, यदि वह अहेतुक होता तो उसमे कदाचित्कत्व नही घट सकता । तीसरा पक्ष-उसका हेतु अदृश्य है-यह भी असगत है । कारण, अग्निआदि दृष्ट कारणसामग्री के साथ धूम का अन्वय-व्यतिरेकानुवर्त्तन देखा जाता है ।

[धूम में अदृश्यहेतुकत्व का निराकरण]

कदाचित् यह आशका व्यक्त करे कि-धूमोत्पादक अदृश्य वस्तु का स्वभाव ही है ऐसा, जो अग्निआदि के सनिधानकाल मे ही धूम उत्पन्न करता है एव कपूर और ऊन आदि के दहनकाल मे ही सुगन्धी धूम को उत्पन्न करता है । अन्य किसी काल मे नही करता ।-तो इस आशका करने वाले को यह पूछना चाहिये कि क्या तुमने अग्नि के विरह मे कही धूम की उत्पत्ति देखी है जिससे ऐसा कहते हो ? अगर नही, तो फिर धूम को अग्नि का कार्य क्यो न माना जाय जब कि अग्नि होते हुए ही धूम उत्पन्न होता है ! यह भी एक आपकी अद्भुत कल्पना है कि धूम की उत्पत्ति काल मे सदैव

किं च, यथा देश-कालादिकमन्तरेण धूमस्यानुत्पत्तेस्तदपेक्षा प्रतीयते तथाऽग्निमन्तरेणापि धूमस्यानुत्पत्तिदर्शनात् तदपेक्षा केन वार्यते ? तदपेक्षा च तत्कार्यतैव । यथा वाऽदृश्यभावे एव धूमस्य भावात् तज्जन्यत्वमिष्यते तथा सर्वदाऽग्निभावे एव धूमस्य भावदर्शनात् तज्जन्यता किं नेष्यते ? यावतां च सन्निधाने भावो दृश्यते तावतां हेतुत्वं सर्वेषामित्यग्न्यादिसामग्रीजन्यत्वात् धूमस्य कुतोऽग्निव्यभिचारः ? न चायं प्रकारोऽसर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोः संभवति, असर्वज्ञत्वधर्मानुविधानस्य वचनेऽदर्शनात् ।

तथाहि-यदि सर्वज्ञत्वादन्यत् पर्युदासवृत्त्या किंचिज्ज्ञत्वमसर्वज्ञत्वमुच्यते तदा तद्धर्मानुविधानाऽदर्शनान्न तज्जन्यता वचनस्य । न हि किंचिज्ज्ञत्वतरतमभावात् वचनस्य तरतमभाव उपलभ्यते । तथा हि-किंचिज्ज्ञत्वं प्रकृष्टमत्यल्पविज्ञानेषु कृम्यादिषु, न च तेषु वचनप्रवृत्तेरुत्कर्ष उपलभ्यते । अथ प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावोऽसर्वज्ञत्वं तत्कार्यं तु वचन, तदा ज्ञानरहिते मृतशरीरे तस्योपलम्भः स्यात्, न च कदाचनापि तत् तत्रोपलभ्यते ।

वहाँ प्रतीत होने वाला अग्नि बेचारा ऐसे ही काकतालीयन्याय से वहा आ बैठता है । अब यह तर्क किया जाय कि-"अदृश्य पदार्थ का स्वभाव ही ऐसा है कि अग्निसंनिधि मे ही धूम उत्पन्न करता है-हम उसमे क्या करे ?"-तो आपको यह दिखाना चाहिये कि जब अग्नि का उस अदृश्य पदार्थ पर कोई प्रभाव नही है तो अग्निसंनिधान के पहले या बाद मे भी धूम को वह क्यो उत्पन्न नही कर देता ? अन्य काल मे उत्पन्न नही करता है इससे अग्निजन्य जो धूमस्वभाव अर्थात् धूमस्वभावजनक जो अग्नि उसकी अपेक्षा से ही धूमोत्पादन करने पर तो परम्परा से भी आखिर यही फलित हुआ कि अग्नि धूम को उत्पन्न करता है ।

[धूम में अग्निजन्यत्व का समर्थन]

यह भी सोचिये कि जब देश-कालदि के विना धूम की उत्पत्ति न होने से देशकाल की अपेक्षा प्रतीत होती है यानी मान्य है, तो फिर अग्नि के विना धूम की उत्पत्ति न होने का देखा जाता है तो अग्नि की भी धूमोत्पत्ति मे अपेक्षा का निवारण कौन कर सकेगा ? जैसे अदृश्यभाव के होने पर ही धूम का सद्भाव होने से आपको धूम मे अदृश्यभावजन्यत्व इष्ट है तो सदैव अग्नि होने पर ही धूम के सद्भाव को देखने से धूम को अग्निजन्य भी क्यो नही मानते ? तथा कभी कभी अग्नि होने पर भी धूम नही होत है तो इतने मात्र से धूम को अग्निव्यभिचारी नही कहा जाता क्योंकि केवल अकेला अग्नि धूम का हेतु नही है किन्तु आर्द्र इन्धन आदि जितने कारण के होने पर धूमोत्पत्ति होती है वे सब धूम के हेतु है । तात्पर्य अग्निविशिष्ट सामग्री धूम का हेतु होने से अकेला अग्नि धूम उत्पन्न न करे तो कोई दोष नही है । जैसे धूम और अग्नि मे प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ से हमने कार्यकारणभाव सिद्ध किया उसी प्रकार असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व के बीच कारण-कार्य-भाव सिद्धि की आशा नही की जा सकती क्योंकि वचन मे असर्वज्ञत्वरूप कारण के जो कार्य दृष्ट है उनके धर्मोका अनुविधान नही दिखाई देता ।

[असर्वज्ञता का वक्तृत्व के साथ संबंध असिद्ध]

असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व के बीच कारणकार्यभाव सिद्धि शक्य नही है, वह इस प्रकार-असर्वज्ञत्व शब्द मे जो नञ् प्रयोग है वह पर्युदास अतिषेधवाचक मान कर असर्वज्ञत्व का किंचिज्ज्ञता यानी अल्पज्ञता अर्थ किया जाय तो अल्पज्ञता के धर्म का अनुविधान वचन मे न दिखाई देने से वचन को अल्पज्ञताजन्य नही कहा जा सकता । यदि यहाँ अनुविधान होता तब तो अल्पज्ञता मे जैसे तरतमभाव

ज्ञानातिशयवत्सु च सकलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनस्यातिशयभावो दृश्यते इति ज्ञानप्रकर्षतरतमा(मता)द्यनुविधानदर्शनात्तत्कार्यता तस्य धूमस्येवाग्न्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धाद्यनुविधायिनो यथोक्तप्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां व्यवस्थाप्यते । अत एव कारणगतधर्मानुविधानमेव कार्यस्य तत्कार्यतावगमनिमित्तं, न पुनरन्वयव्यतिरेकानुविधानमात्रम् । तदुक्तम्-कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः ॥
[प्र० वा० ३-३४]

यच्च यत्कार्यत्वेन निश्चितं तत् तदभावे न कदाचिदपि भवति, अन्यथा तद्धेतुकमेव तन्न स्यादिति सकृदपि ततो न भवेत् । भवति च यद् यत्र निश्चिताऽविसंवादं वचनं तत् तदविसंवादिज्ञानविशेषाद् इत्यात्मन्येवासकृन्निश्चितमिति नान्यतस्तस्य भावः । तेन (सिद्धमिदम्)
यद् यस्यैव गुण-दोषान् नियमेनानुवर्त्तते । तन्नान्तरीयकं तत् स्यादतो ज्ञानोद्भव वचः ॥ [ ]

अथ यदि नामाविसंवादिज्ञानधर्मानुकरणतोऽविसंवादि वचनमेकं तत्प्रभवं यथोक्तप्रत्यक्षानुपलम्भतोऽवगतं तदन्यतो न भवति, तथाप्यन्यवचनस्य तद्धर्मानुकरणतो न तत्कार्यत्वसिद्धिरिति तस्याऽन्यतोऽपि भावसंभवात् कुतो व्यभिचारः ? न, ईदृग्भूतं वचनमीदृक्षज्ञानतः सर्वत्र भवतीति सकृत्प्रवृत्तप्रत्यक्षतोऽवगमात् ।

यानी उत्कर्षापकर्ष दिखाई देता है उसी तरह वचन में भी उत्कर्षापकर्ष उपलब्ध होता-किन्तु वह उपलब्ध नही होता है, यह इस प्रकार-अत्यंत अल्पविज्ञानवाले कृमि-कीटादि मे अल्पज्ञता का प्रकर्ष उपलब्ध है किन्तु वे बिचारे एक हरफ भी नही निकाल सकते, अर्थात् वचन प्रवृत्ति का उत्कर्ष उनमे सदैव अनुपलब्ध है । मनुष्यादि मे उससे विपर्यय भी है । यदि असर्वज्ञत्व मे नञ् प्रयोग को प्रसज्यप्रतिषेधवाचक माना जाय तो असर्वज्ञत्व का अर्थ हुआ सर्वज्ञत्वाभाव, वचन को यदि उसका कार्य माना जाय तो मुर्दे मे सर्वज्ञत्व का अभाव होने से वचनोपलम्भ होना चाहिये, किन्तु अफसोस ! कभी भी उसमे वचनोपलम्भ नही होता ।

[वचन की संवादिता ज्ञानविशेष का कार्य है]

असर्वज्ञत्व यह वचन का हेतु नही है यह तो नि सदेह है, उपरांत, तथ्य तो उससे विपरीत यह है कि जो अतिशयित ज्ञानी पुरुष है वे सकल शास्त्र के व्याख्यान मे निपुण देखे जाते है और उनका वचन भी सातिशय दिखाई देता है, इस प्रकार ज्ञानप्रकर्ष के तरतमभाव के साथ वचन का तरतमभाव दृश्यमान होने से वचन मे ज्ञानकार्यता निष्कंटक सिद्ध होती है । यह ठीक उसी प्रकार जैसे कि अग्नि उत्पादक सामग्री मे अगर काष्ठादि सुगन्धयुक्त होता है तो उससे उत्पन्न धूम मे भी सौरभ का अनुविधान दिखाई देता है-इस प्रकार के प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से धूम को सुगन्धिकाष्ठ जन्य सिद्ध किया जाता है । इतनी चर्चा से यह सिद्ध होता है कि कारणगत धर्म का अनुविधान ही कार्य मे 'यह अमुक कारण से जन्य है' इस प्रकार के बोध का निमित्त है, यह नही कि केवल कारणरूप से अभिमत भाव का अन्वय-व्यतिरेक का ही अनुविधान । जैसे कि प्रमाणवार्त्तिक में कहा है-धूम अग्नि का कार्य है क्योंकि धूम कार्य मे (कारण अग्नि के) धर्मो का अनुविधान है ।

[संवादिज्ञान के विरह में संवादिवचन का असंभव]

यह तो निश्चित है कि जो जिसके कार्यरूप मे सिद्ध है वह कभी भी उसके अभाव में नहीं उत्पन्न होता । यदि वह उसके विना उत्पन्न हो जाय तो वह तज्जन्य ही नही होगा, और तब कभी भी

ननु सकलव्यक्त्यनुगततिर्यक्सामान्यानभ्युपगमे यावन्ति तथाभूतवचांसि तानि सर्वाणि प्रत्यक्षीकरणीयानि तथाभूतज्ञानकार्यतया, अन्यथैकस्यापि वचसस्तद्व्याप्ततयाऽप्रत्यक्षीकरणे तेनैव व्यभिचारी हेतु स्यात्, न चैतावत्प्रत्यक्षीकरणसमर्थं प्रत्यक्षम्, तस्य संनिहितविषयत्वात्, न चान्येषां स्वलक्षणानामनुमानात् साध्यधर्मेण व्याप्तिग्रहणम्, अनवस्थाप्रसंगात्। तदयुक्तम्, यतः प्रत्यक्षं तथाभूतज्ञानसंनिधान एव तथाभूतवचनभेदात्(दान्)प्रतिपद्य एषु 'अतथाभूतवचनव्यावृत्तं रूपमतथाभूतज्ञानव्यावृत्तज्ञानजन्यम्' इत्यवधारयति, अन्यथाऽत्रापि तथाभूतज्ञानजन्यतया न प्रत्यक्षेणावधार्येत। एवं हि तथाभूताऽतथाभूतज्ञानजन्यतया तथाभूतवचनस्य प्रतीतिः स्यात् न तथाभूतज्ञानजन्यतयैव, प्रतीयते च तथाभूतज्ञानजन्यतया तथाभूतं वचनम्। तस्मादन्यत्रान्यदा च तथाभूतज्ञानादेव तथाभूतवचनमिति कुतो व्यभिचारः? यश्च तद्रूपमन्यतोऽवधारयितुं शक्नोति तस्यैव तदनुमानम्, यथा बाष्पादिविलक्षणधूमावधारणेऽप्यनुमानम्।

उससे उत्पन्न नही हो सकेगा। यहाँ प्रस्तुत मे, जहाँ जो वचन अविसंवादिरूप मे निश्चित होता है वह अवश्य अविसंवादीज्ञानविशेष से ही उत्पन्न होता है यह तो अपने ही आत्मा मे बार बार अनुभव से निश्चित किया है। अत. अन्य किसी असर्वज्ञतादि से उसका संभव ही नही है। जैसे कि कहा है-"जो भाव जिस कारण के गुणदोष का अवश्यमेव अनुवर्त्तन करता है वह उसका अविनाभावी होता है-इस नियम से वचन भी ज्ञानजन्य है।"

यदि यह व्यभिचार शंका की जाय कि-"किसी एक अविसंवादिवचन मे अविसंवादी ज्ञानधर्म का अनुकरण देखने पर आपके द्वारा प्रदर्शित प्रत्यक्षानुपलम्भप्रमाण से उस एक वचन में ज्ञानजन्यता सिद्ध होने से वह वचन अन्य किसी से उत्पन्न नही हुआ है यह मान लेते है किन्तु जिस वचन मे प्रत्यक्षानुपलम्भप्रवृत्ति नही हुयी है उस वचन मे भी कारणधर्मानुवृत्ति द्वारा अविसंवादिज्ञानजन्यत्व की सिद्धि कैसे मानी जाय ? उस वचन को तो अन्य प्रकार से भी उत्पन्न होने की संभावना की जा सकती है, तो फिर ज्ञान और वचन के कारण कार्यभाव मे अव्यभिचार कैसे सिद्ध करोगे ?"-इस शंका का उत्तर यह है कि-एक बार जिस प्रत्यक्ष (अनुपलम्भ) की प्रवृत्ति होती है उससे केवल इतना ही नही जाना जाता कि यह असंवादि वचन इस अविसंवादिज्ञान से जन्य है, किंतु यह जाना जाता है कि जहाँ कही भी जो कोई ऐसा अविसंवादी वचन होता है वह सब इस प्रकार के अविसंवादीज्ञान से ही होता है।

[अनुगत एक सामान्य के अस्वीकार में आपत्तिशंका-समाधान]

यदि यह शंका की जाय कि-"आपने जो कहा है, अविसंवादिवचनमात्र अविसंवादीज्ञानजन्य है-यह तो समस्त व्यक्तिओ मे अनुगत एक सामान्य का स्वीकार किये विना शक्य नही है। और अनुगत सामान्य* को आप के जैन मत मे तो माना नही जाता अत: आपको जितने भी अविसंवादिवचन हैं उन सभी का अविसंवादिज्ञान के कार्यरूप मे प्रत्यक्ष करना होगा, यदि यह नही किया जायेगा तो जिस अविसंवादि वचन का अविसंवादिज्ञानव्याप्यरूप मे प्रत्यक्ष न होगा वही अविसंवादिवचन व्यभिचार स्थल बन जायेगा जहाँ अविसंवादिज्ञान जन्यता प्रत्यक्ष न की जायेगी। अब यह देखिये कि सकल

---

*जैन मत मे एक अनुगत सामान्य नही माना जाता किंतु सदृश परिणामरूप अनुगत सामान्य माना जाता है-यह अगले परिच्छेद मे ही स्पष्ट हो जायेगा।

किंच, तिर्यक्सामान्यवादिनोऽपि गोपालघुटिकादौ धूमसामान्यस्याग्निमन्तरेणापि दर्शनाद् व्यभिचाराशंकयाऽग्निनियतधूमसामान्यावधारणेनैव तदनुमानम् । अग्निनियतधूमसामान्यावधारणं चाग्निसंबद्धधूमव्यक्त्यवधारणपुरस्सरमेव । न च सर्वदेशादावग्निसंबद्धधूमव्यक्तिविशिष्टस्य धूमसामान्यस्य केनचिद् प्रमाणेनावधारणं संभवति । न च महानसादावग्निनियतधूमव्यक्तिविशिष्टं धूमसामान्यं प्रतिपन्नमन्यत्रानुयायि, व्यक्तेरनन्वयात् । यच्च धूमसामान्यमनुयायि तद् नाग्न्यव्यभिचारि, तस्मात् सामान्यव्याप्तिग्रहणवादिनामपि कथं विशिष्टधूमसामान्यं सर्वत्राग्निना व्याप्तं प्रतिपन्नमिति तुल्यं चोद्यम् । अथ विशिष्टधूमस्यान्यत्राग्निजन्यत्वे न किंचिद् बाधकमस्ति, 'तदेवेदम्' इति च प्रतीतेः तत्सामान्यं प्रतीतमिष्यते, अस्माकमपि 'तदेवेदं वचनम्' इतिप्रत्ययस्योत्पत्तेस्तत् प्रतिपन्नमिति सदृशपरिणामलक्षणसामान्यवादिनो जैनस्य भवतो वा को विशेषोऽत्र वस्तुनि ? इति यत्किंचिदेतद् । तेनाऽग्निगमकत्वेन धूमस्य यो न्यायः सोऽत्रापि समान इति विशिष्टज्ञानगमकत्वं विशिष्टशब्दस्याभ्युपगंतव्यम् ।

अविसवादीवचन मे अविसवादिज्ञानजन्यता को साक्षात् करने मे प्रत्यक्ष समर्थ है क्या ? नही है, क्योकि प्रत्यक्ष तो केवल सनिहितपदार्थग्राही होता है । यह शक्य नही है कि असनिहित अविसवादिवचन व्यक्तिरूप स्वलक्षणो मे अविसवादिज्ञानजन्यतारूप साध्यधर्म की व्याप्ति का ज्ञान अनुमान से किया जाय । क्योकि तब उस अनुमान मे भी पुनः सकलव्यक्तिसाक्षात्कार की पूर्ववत् अपेक्षा खडी होगी और वहाँ भी नया अनुमान खिच लायेगे तो इस प्रकार नये नये अनुमानो की अपेक्षा का अन्त न आने से अनवस्था दोष लगेगा ।"–यह शका भी युक्त नही है, क्योकि जब अविसवादिज्ञानवान् पुरुष की सनिधि मे ही अविसवादिवचनप्रकारो की उपलब्धि होगी तब उन अविसवादि वचनो मे "विसवादिवचन का वैलक्षण्यरूप धर्म विसवादिज्ञानविलक्षणज्ञानजन्य है" इस प्रकार का अवधारण भी प्रत्यक्ष से ही हो जायेगा । उसके ऊपर ऊहापोह से यह भी पता लग सकता है कि अन्य काल और अन्य देश मे भी जो कोई अविसवादी वचन होगा वह अविसवादीज्ञानजन्य ही होना चाहिये । यदि अविसवादिज्ञान के विरह मे भी अविसवादि वचन का सभव हो तो यहाँ जो अविसवादिवचन अविसवादिज्ञानजन्य होने का प्रत्यक्ष से दिखाई रहा है वह नही दिखाई देता । तात्पर्य यह है कि यदि अविसवादिवचन अविसवादिज्ञानजन्य होने की सभावना होती तब अविसवादिवचन मे उभय प्रकार की यानी अविसवादीज्ञानजन्यता और विसवादीज्ञानजन्यता की प्रतीति अवश्य होती, केवल अविसवादीज्ञानजन्यतारूप मे ही जो उसकी प्रतीति होती है वह नही होती । प्रतीति तो ऐसी ही होती है कि अविसवादिवचन अविसवादिज्ञानजन्य है, अत अन्य देश-काल मे भी अविसवादीवचन अविसवादीज्ञानजन्य ही होता है यह सुनिश्चित होता है फिर व्यभिचार की बात कहाँ ? हाँ, यह बात ठीक है कि प्रत्यक्ष प्रतीति मे "यह विसवादिज्ञानविलक्षणता अवश्य अविसवादिज्ञानजन्य है' इस प्रकार का अवधारण करने की शक्ति जिसमे होगी उसीको अन्य देश-कालवर्त्ती अविसवादीवचन मे अविसवादिज्ञानजन्यता का अनुमान हो सकेगा, दूसरे को नही । उदा० बाष्पादि से विलक्षणरूप में जिसको धूम का अवधारण -दर्शन होता है उसको अग्नि का अनुमान होता है दूसरे को नही ।

[तिर्यक् सामान्यवादी को विशिष्टधूमसामान्य अबोध की आपत्ति]

तिर्यक् सामान्यवादि को यह भी सोचना होगा कि यदि धूम सामान्य से आप अग्नि का अनुमान होना मानेंगे तो गोपालघुटिका (हुक्का) मे विना अग्नि भी धूमसामान्य का सद्भाव दिखाई देने से व्यभिचार की शका हो जायगी और उसके निवारणार्थं आप को धूमसामान्य मे

अथ ज्ञानविशेषग्रहणे प्रवृत्तं सविकल्पकं निर्विकल्पकं ततो भिन्नमभिन्नं वा ज्ञानं न वचनविशेषे प्रवर्त्तते, तस्य तदानीमनुत्पन्नत्वेनाऽसत्त्वात् । तदप्रवृत्तेन च ज्ञानविशेषस्वरूपमेव तेन गृह्यते न तदपेक्षया तस्य कारणत्वम् । वचनविशेषग्राहकेणाऽपि तत्स्वरूपमेव गृह्यते न पूर्वं प्रति कार्यत्वम्, कारणस्याऽतीतत्वेनाऽग्रहणात् । नाप्युभयग्राहिणा, भिन्नकालत्वेन तयोरेकज्ञाने प्रतिभासनाऽयोगात् । अत एव स्मरणमपि न तयोः कार्यकारणभावावेदकम्, अनुभवानुसारेण तस्य प्रवृत्त्युपपत्तेः, अनुभवस्य चात्र वस्तुनि निषिद्धत्वात् । असदेतत्—

संकोच करके केवल अग्निसंबद्धधूमसामान्य के अवधारण से ही अग्नि का अनुमान मानना होगा। अब यह देखिये कि अग्निसबद्ध धूम सामान्य का अवधारण कैसे होगा ? जब अग्निसंबद्धधूमव्यक्तिओ का अवधारण किया जाय तभी होगा। किंतु यह संभव ही नही है कि सर्वदेश-कालवर्त्ती अग्निसंबद्ध धूम व्यक्तिओ से विशेषित धूम सामान्य का किसी प्रमाण से अवधारण कर लिया जाय। परिस्थिति यह होगी कि महानसादिदेशवर्त्ती अग्निनियतधूमव्यक्तिविशिष्ट धूम सामान्य अवगत होने पर भी वह तो अन्यत्र अनुगत नही है क्योकि व्यक्ति का अन्यत्र अन्वय असभव है। दूसरी ओर जिस धूमसामान्य का अन्यत्र यानी सर्वत्र अनुगम है वह तो (गोपालघूटिका स्थल मे) पूर्वोक्तरीति से अग्नि का अव्यभिचारी नही है। तब अनुगत एक सामान्य के आधार पर व्याप्ति ग्रहण दिखाने वाले वादियो को यह प्रश्न समान रूप से कर सकते है कि विशिष्ट प्रकार के धूमसामान्य की (जिसका अग्नि के साथ व्यभिचार न हो) सर्वदेशकालवर्त्ती अग्नि के साथ व्याप्ति का ग्रहण आप कैसे करेंगे ?

यदि यह कहा जाय कि-"जो जो विशिष्ट (गोपालघुटिका से व्यावृत्त) धूम होगा वह अन्य देशकाल मे भी अग्नि जन्य ही होगा इस अभ्युपगम मे कोई बाधक नही है, और विशिष्टधूमसामान्य का अवगम तो 'तदेवेदम् वही यह है' इस प्रतीति मे होता ही है"-तो ऐसा हम वचनविशेष के सबंध में भी कह सकते हैं कि जो विशिष्ट वचनसामान्य है उसका अवगम 'तदेवेद वचनम्' इस प्रतीति मे होता ही है। हाँ, हम सदृश परिणामरूप सामान्य को उक्त प्रतीति का विषय मानते है आप तिर्यक् सामान्य को, दूसरी कौनसी आपके और हमारे मत मे विशेषता है ? कोई नही। अत. अनुगत एक सामान्य को न मानने पर आप जो आपत्ति देना चाहते है उसका तनिक भी मूल्य नही है। निष्कर्ष:- धूम जिस न्याय=युक्ति से अग्नि का बोधक होता है, वह न्याय हमारे मत का भी पक्षपाती ही है, अर्थात् उसी न्याय से विशिष्ट शब्द विशिष्ट ज्ञान का सूचक=अनुमापक है यह अवश्य मानना चाहिये।

[ज्ञानविशेष और वचनविशेष के कारणकार्यभावग्रहण में शंका]

ज्ञानविशेष और वचनविशेष के कार्यकारणभाव बोध मे यदि इस प्रकार असंभव की शका की जाय कि-"जो ज्ञान, चाहे वह सविकल्प हो या निर्विकल्प और ग्राह्यज्ञान से भिन्न हो या अभिन्न ऐसा जो ज्ञान ज्ञानविशेष को ग्रहण करने मे तत्पर है वह वचन विशेष को स्पर्श नही करता, क्योकि उस वक्त वह वचन विशेष अनुत्पन्न है। अत. वचन विशेष मे अप्रवृत्त उस ज्ञान से केवल ज्ञानविशेष का स्वरूप ही आवेदित होता है किन्तु तद्‌गत कारणता यानी वचन विशेष (की अपेक्षा यानी उस)के प्रति उसकी कारणता उससे आवेदित नही होती। वचन विशेष का ग्राहक जो ज्ञान है उससे भी उस वचन का स्वरूप ही आवेदित होता हैं, न कि ज्ञानविशेष की कार्यता। क्योकि कारणभूत ज्ञानविशेष उस वक्त अस्त हो गया होता है। अत: उसकी कारणता का ग्रह सभव नही है। अगर कहें कि

यतः कार्यस्य न तावदसावनुत्पन्नस्यैव कार्यत्व धर्मः, असत्त्वात् तदानीम् । नाप्युत्पन्नस्यात्यन्त-भिन्नं तत्, तद्धर्मत्वादेव । तथा, कारणस्यापि कारणत्वं कार्यनिष्पत्त्यनिष्पत्त्यवस्थायां न भिन्नमेव । नापि तयोः कार्यकारणभावः संबन्धोऽन्योऽस्ति, भिन्नकालत्वादेव, संबन्धस्य च द्विष्ठत्वाभ्युपगमात् ततस्तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावधर्मरूपं कारणत्वं कार्यत्वं च गृह्यते एव क्षयोपशमवशात् । यत्र तु स नास्ति तत्र कार्यदर्शनादपि न तन्निश्चीयते ।

यतो नाऽकार्य-कारणयोः कार्यकारणभावः संभवति । नाऽपि तेनाभिन्ना उत्तरकालं तयोः कार्यकारणता कर्त्तुं शक्या, विरोधात् । नाऽपि भिन्ना, तयोः स्वरूपेणाऽकार्यकारणताप्रसंगात् । नाऽपि स्वरूपेण कार्यकारणयोरर्थान्तरभूतकार्यकारणभावस्वरूपसंबन्धपरिकल्पनेन प्रयोजनम्, तद्व्यतिरेकेणापि स्वरूपेणैव कार्यकारणरूपत्वात् ।

उभयग्राहक ज्ञान से कार्य-कारणता का अवगम होगा तो यह भी संभव नही है क्योंकि उन दोनो का काल भिन्न भिन्न है अत एक ज्ञान मे उन दोनो का प्रतिभास अघटित है। यही कारण है कि स्मरण से भी उन दोनो के कारण-कार्यभाव का आवेदन नही हो सकता। क्योंकि स्मरण तो अनुभवमूलक ही प्रवृत्त होता है, यहाँ प्रस्तुत वस्तु मे तो अनुभव की शक्यता निषिद्ध हो चुकी है। तात्पर्य किसी भी रीति से उन दोनो के कार्यकरणभाव का अवगम शक्य नही है।"–व्याख्याकार इस शका को गलत बता रहे है। कारण निम्नोक्त है–

[क्षयोपशमविशेष से कारण-कार्यभावग्रहण]

उपरोक्त शका गलत होने का कारण इस प्रकार है कि-कार्यत्व यह अनुत्पन्न कार्य का धर्म तो नही हो सकता, क्योंकि उस स्थिति मे कार्य ही असत् होता है। तथा, उत्पन्न कार्य से कार्यत्व एकान्त भिन्न भी नही है क्योंकि वह उसका धर्म है, सर्वथा भिन्न पदार्थ (जैसे आकाश) किसी का धर्म नही होता है। तथा कारणत्व भी कारण से जब कार्य उत्पन्न हुआ है या नही भी हुआ है-उस अवस्था मे कारण से सर्वथा भिन्न नही होता क्योंकि वह कारण का धर्म है। कार्यत्व और कारणत्व इन दोनो से अतिरिक्त कोई कार्यकारणभावनामक सबध भी कार्यकारण का नही है। क्योंकि कारण और कार्य का काल भिन्न भिन्न होता है जब कि संबद्ध दो मे रहने वाला होने से दोनों के समान काल की अपेक्षा करेगा। जब कारणत्वादि उक्त रीति से अपने आश्रय से अभिन्न है, तो कारण और कार्य के स्वरूपग्राहक प्रत्यक्ष से कारण (या कार्य) से अभिन्नस्वभाव वाले धर्मभूत कारणत्व और कार्यत्व का भी ग्रहण क्षयोपशमविशेष से गृहीत होता ही है। क्षयोपशम उसे कहते है जहाँ उदयागत तत्तदशावच्छिन्न ज्ञानावरण कर्म क्षीण हो जाता है और अनुदित कर्म उपशान्त=सुषुप्त हो जाता है और तब जो ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है उसे क्षयोपशम कहा जाता है। ऐसा ज्ञानशक्तिविशेषरूप क्षयोपशम जहाँ नही होता वहा कार्य को देखने पर भी कार्यता का निर्णय नही हो पाता।

[कार्यकारणभाव दोनों से अतिरिक्त नहीं है]

व्याख्याकार कार्यकारणभाव को अतिरिक्त सबधरूप मे नही मानने का हेतु दिखाते है कि जो अकार्यरूप और अकारणरूप होता है उनके बीच तो कार्यकारणभाव सबध का सभव ही नही है। अत एव जो पूर्वकाल मे अकार्यरूप और अकारणरूप है उनकी उत्तरकाल मे कार्यकारणता की सभावना करनी होगी, किन्तु उस सम्बन्ध से कार्याभिन्न या कारणाभिन्न कार्य-कारणता को करना

न च भिन्नपदार्थग्राहि प्रत्यक्षद्वयं द्वितीयाऽग्रहणे तदपेक्षं कार्यत्वं कारणत्वं वा ग्रहीतुमशक्तमिति वक्तुं युक्तम्, क्षयोपशमवतां धूममात्रदर्शनेऽपि वह्निजन्यतावगमस्य भावात्, अन्यथा बाष्पादिवैलक्षण्येन तस्यानवधारणात् ततोऽनलावगमाभावेन सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसंगात्। कारणाभिमतपदार्थग्रहणपरिणामाऽपरित्यागवता कार्यस्वरूपग्राहिणा च प्रत्यक्षेण कार्यकारणभावावगमे न कश्चिद् दोष.। न च कारणस्वभावावभासं प्रत्यक्षं न कार्यस्वभावावभासयुक्तं प्रतिभासभेदेन भेदोपपत्तेरिति प्रेरणीयम्-चित्रप्रतिभासिज्ञानस्य नीलप्रतिभासाऽपरित्यागप्रवृत्तपीतादिप्रतिभास्यैकत्ववत प्रकृतज्ञानस्यापि तदविरोधात्। न च चित्रज्ञानस्याप्येकत्वमसिद्धमिति वक्तुं युक्तम्, तथाभ्युपगमे नीलप्रतिभासस्यापि प्रतिपरमाणुभिन्नप्रतिभासत्वेन भिन्नत्वात् एकपरमाण्ववभासस्य चाऽसंवेदनात् प्रतिभासमात्रस्याप्यभावप्रसंगात् सर्वव्यवहाराभावः स्यात्।

शक्य नही है, क्योकि स्वरूपत· जो अकार्य और अकारणरूप है उसमे, अभिन्नरूप से कार्य-कारणता का आपादन विरुद्ध है। भिन्नरूप से भी कार्य-कारणता का आपादन सम्बन्ध के द्वारा अशक्य है क्योंकि तब कार्य-कारण को स्वरूप से अकार्य और अकारणरूप मानने की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि जो स्वरूपत: कार्य और कारणरूप ही है उनके बीच अर्थान्तरभूत कार्यकारणभावनामक संबन्ध की कल्पना का कोई प्रयोजन भी नही है, क्योकि उसके विना भी वे अपने स्वरूप से ही कार्यरूप और कारणरूप है। अत· अतिरिक्त कार्यकारणभाव सबन्ध अप्रामाणिक है।

[क्षयोपशमविशेष से कार्यकारणभाव का ग्रहण]

यदि ऐसा आक्षेप किया जाय कि-कार्यग्राहक और कारणग्राहक प्रत्यक्ष भिन्न भिन्न है, जब कारण ग्राहक प्रत्यक्ष से कार्य का और कार्यग्राहक प्रत्यक्ष से कारण का ग्रहण ही नही होता तो कारणसापेक्ष कार्यत्व का और कार्यसापेक्ष कारणत्व का किसी एक या उभय प्रत्यक्ष से भी ग्रहण होना शक्य नही है।-तो यह आक्षेप अज्ञान मूलक है क्योकि जिसका तीव्र क्षयोपशम होता है उसको केवल धूम दर्शन से भी अग्निजन्यता का बोध हो जाता है, जिसको वह क्षयोपशम नही रहता उसको नही होता है क्षयोपशम के रहने पर धूम दर्शन से यदि अग्निजन्यता के बोध का अपलाप किया जायेगा तो फिर धूम का दर्शन होने पर भी बाष्पादि से भिन्नरूप मे सदैव धूम का दृढ निश्चय न होने के कारण अग्नि का बोध भी नही होगा और तब अग्नि के अर्थी का जो प्रवृत्ति आदि व्यवहार होता है उन सब का उच्छेद हो जायेगा। यह भी हम कह सकते है कि यदि एक ही प्रत्यक्ष कारणरूप से अभिमत पदार्थ के ग्रहणपरिणाम का त्याग न करता हुआ कार्यस्वरूप को भी ग्रहण कर लेता है और तब उससे दोनो का कार्यकारणभाव अवधारित कर लिया जाता है-तो इसमे भी कोई दोष नही है। इस पर यह मत कहना कि-जो प्रत्यक्ष कारणस्वभावावभासक है वह कार्यस्वभाव का अवभासक नही हो सकता क्योकि दोनो वस्तु का प्रतिभास यानी अवभास भिन्न भिन्न होने से कार्यावभासी और कारणावभासी प्रत्यक्ष भी भिन्न ही होना चाहिये।-इस कथन के निषेध का कारण यह है कि जैसे एक ही चित्ररूपप्रतिभासि ज्ञान नील प्रतिभास का परित्याग न करता हुआ पीतरूपप्रतिभासी भी होता है उसी प्रकार कारण और कार्य उभय प्रतिभासी प्रस्तुत ज्ञान भी एक हो सकता है। इसमें कोई विरोध सभव नही है। यह कहना कि-'चित्रज्ञान मे भी एकत्व असिद्ध ही है'-उचित नही है, कारण इस ज्ञान मे यदि आप एकत्व का अपलाप करेंगे तो नील प्रतिभास भी स्थूल वस्तु विषयक होने के कारण, उस स्थूल वस्तु अन्तर्गत प्रत्येक परमाणु के भिन्न भिन्न प्रतिभास से वह नील प्रतिभास भी आपको

अतः प्रत्यक्षमेव यथोक्तप्रकारेण सर्वोपसंहारेण प्रतिबन्धग्राहकमनुमानवादिनाऽभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा प्रसिद्धानुमानस्याप्यभावः स्यात् । अथैयतो व्यापारान् प्रत्यक्षं कर्तुमसमर्थं तस्य संनिहितविषयबलोत्पत्त्या तन्मात्रग्राहकत्वात् । तर्हि प्रत्यक्षेण प्रतिबन्धग्रहणाभावेऽनुमानेन तद्ग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषसद्भावादनुमानाऽप्रवृत्तिप्रसंगतो व्यवहारोच्छेदभयादवश्यमनुमानप्रवृत्तिनिबन्धनाविनाभावनिश्चायकमपरमस्पष्टसर्वपदार्थविषयमूहाख्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा 'सर्वमुभयात्मकं वस्तु' इति कुतोऽनुमानप्रवृत्तिर्मीमांसकस्य ? ततोऽसर्वज्ञत्व-रागादिमत्त्वसाधने वक्तृत्वलक्षणस्य हेतोः प्रतिबन्धस्य तत्साधकप्रमाणस्य च प्रसिद्धानुमाने इवाभावान्न प्रसंगसाधनानुमानप्रवृत्तितः सर्वज्ञाभावसिद्धिः । विपर्ययेण वचनविशेषस्य व्याप्तत्वदर्शनाद् विपर्ययसिद्धिरेव ततो युक्ता ।

यच्च 'सर्वज्ञज्ञानं किं चक्षुरादिजनितम्'....इत्यादि पक्षचतुष्टयमुत्थाप्य 'चक्षुरादिजन्यत्वेन चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन धर्मादिग्राहकत्वाऽयोगः तज्ज्ञानस्य' दूषणमभ्यधायि, तदप्य-

भिन्न भिन्न अनेक प्रतिभास समुदायरूप ही मानना होगा, किन्तु यह भी आप नही मान सकेंगे क्योकि एक परमाणु के प्रतिभास का सवेदन होता नही है । फलत प्रतिभासमात्र शून्य हो जाने से प्रतिभासमूलक समस्त व्यवहारो का भी अभाव हो जायेगा ।

[प्रत्यक्ष ही व्याप्तिसंबध का प्रकाशक है]

उपरोक्त चर्चा का सार यह है कि-उपरोक्त रीति से प्रत्यक्ष ही सर्व कारण व्यक्ति और सर्व-कार्य व्यक्ति को अन्तर्भाव करके उन के बीच व्याप्ति सबध को ग्रहण करता है और यह कोई भी अनुमानवादी को स्वीकारना पडे ऐसा है । अन्यथा धूम हेतु से जो अग्नि का प्रसिद्ध अनुमान है उसका भी विच्छेद हो जायेगा । यदि यह आशका की जाय कि-"प्रत्यक्ष तो निकटवर्त्ती विषय के सनिकर्षबल से उत्पन्न होता है अत. वह निकटवर्त्ती विषय का ही ग्राहक होता है । आपने जो कहा कि वह कारणता और कार्यता आदि को ग्रहण करेगा, किन्तु इतने व्यापार करने की उसमे गुंजाइश ही कहाँ है ?"-तो यह ठीक नही है । कारण, यदि प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नही मानेंगे तो अनुमान से आखिर उसका ग्रहण मानना होगा, किन्तु उसमे तो व्याप्तिग्रह का आवश्यकता मे नया नया अनुमान मानने पर अनवस्था होगी और प्रथम अनुमान से दूसरे अनुमान की व्याप्ति का ग्रहण मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा, इस प्रकार अनुमान से भी व्याप्तिग्रह का अप्रसग होने से सारा आनुमानिक व्यवहार विच्छिन्न हो जाने का भय खडा होगा । अत , अनुमान की प्रवृत्ति के आधारभूत अविनाभाव का निश्चायक, अस्पष्ट रूप से सभी पदार्थ को विषय करने वाला ऊह=तर्क नाम का एक अन्य प्रमाण अवश्य स्वीकारना ही पडेगा । यदि व्याप्तिग्राहक तर्क प्रमाण नही मानेंगे तो 'सभी वस्तु भावाभाव उभयात्मक होती है' इस विषय मे मीमासक की अनुमान प्रवृत्ति व्याप्तिग्रह के बिना कैसे होगी ? क्योकि सर्व वस्तु का प्रत्यक्ष तो असिद्ध है तो प्रत्यक्ष से तो व्याप्तिग्रह का सभव ही नही है ।

उपरोक्त चर्चा का तात्पर्य यह है कि अग्नि के प्रसिद्ध अनुमान मे व्याप्तिसवन्ध और उसका ग्राहक प्रमाण दोनो विद्यमान है जब कि असर्वज्ञत्व अथवा रागादिमत्ता की सिद्धि के लिये वक्तृत्वरूप हेतु मे न तो व्याप्ति सबन्ध है एव न तो कोई उसका ग्राहक प्रमाण है । अत एव प्रसग साधनरूप अनुमान प्रवृत्ति से मीमासक सर्वज्ञाभाव की सिद्धि की आशा नही कर सकता । दूसरी ओर वचन-विशेष और ज्ञानविशेष की व्याप्ति देखी जाती है-सिद्ध है, अत. मीमासकमत के वैपरीत्य की यानी सर्वज्ञ सद्भाव की ही सिद्धि किया जाना समुचित है ।

संगतम्, धर्मादिग्राहकत्वाऽविरोधस्य चक्षुरादिज्ञाने प्राक् प्रतिपादितत्वात्। अभ्यासपक्षे तु यद् दूषणमभ्यधायि 'न सकलपदार्थविषयः उपदेशः सम्भवति, नाऽपि समस्तविषयोऽभ्यासः' इति, तदपि न सम्यक्, "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वार्थ० ५-२९] इति सकलपदार्थविषयस्योपदेशस्य सामान्यतः सम्भवात्। न चाऽस्याऽप्रामाण्यम्, अनुमानादिप्रमाणसंवादतः प्रामाण्यसिद्धेः। अनुमानादिप्रवर्त्तनद्वारेण चैतदर्थाभ्यासे कथं न सकलविषयाभ्याससंभवः?

यदपि "न च समस्तपदार्थविषयमनुपदेशज्ञानं संभवति" इत्युक्तम्, तदप्यचारु, 'सर्वमनेकान्तात्मकम्, सत्त्वात्' इत्यनुमाननिबन्धनव्याप्तिप्रसाधकप्रमाणस्य सकलपदार्थविषयस्य संभवात्, अन्यथाऽनुमानाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। न च तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वाद् व्यर्थोऽभ्यासः, सामान्यविषयत्वेनाऽस्पष्टरूपसंवेदस्य ज्ञानस्य भावात्, अभ्यासजस्य च सकलतद्गतविशेषविषयत्वेन स्पष्टत्वान्न तदभ्यासो विफलः।

यदपि तदभ्यासप्रवर्त्तकं चक्षुरादिजनितं यद्यतीन्द्रियविषयम् इत्यवादि तदपि प्रतिक्षिप्तम्, अतीन्द्रियार्थग्राहकत्वस्यान्येन्द्रियविषयग्राहकत्वस्य च प्राक् प्रतिपादनाद् व्यवहारोच्छेदाभावस्य च दर्शि-

[नेत्रजन्यत्वादि चार विकल्प का निराकरण]

मीमासक की ओर से नास्तिको ने जो ये चार विकल्प किये थे [पृ २०९] 'सर्वज्ञज्ञान क्या चक्षुआदि इन्द्रियजन्य है? इत्यादि'....और इन मे जो यह दूषणाभिधान किया था कि-'नेत्रादि इन्द्रिय प्रतिनियत रूपादि विषय मर्यादित होने से नेत्रादिजन्य सर्वज्ञज्ञान में धर्मादिग्राहकता का अयोग यानी असमव है' यह भी सगत नही है। कारण, पहले यह कहा जा चुका है कि नेत्रादि इन्द्रियजन्य ज्ञान मे धर्मादिग्राहकता मानने मे कोई विरोध नही है। तदुपरात, उसके उपर द्वितीय विकल्प मे 'सर्वज्ञज्ञान अभ्यासजन्य' इस पक्ष मे जो दूषणाभिधान किया है कि-"सकलपदार्थविषयक उपदेश का सभव नही है और समस्त वस्तुविषयक अभ्यास भी असम्भव है"-यह दूषण मिथ्या है क्योकि "सकल सत् पदार्थ उत्पत्ति-स्थिति-विनाश धर्मत्रय सकलित होता है" इस प्रकार के सामान्यतया सर्वपदार्थवस्तुविषयक उपदेश सभवास्पद है। इस उपदेश को अप्रमाण नही कहा जा सकता, क्योकि इस उपदेश का अनुमानादि अन्य प्रमाण के साथ पूरा सवाद होने से प्रामाण्य सिद्ध ही है। इस उपदिष्ट विषय का अनुमानादि प्रवर्त्तन द्वारा पुन पुन परिशीलन यानी अभ्यास तो किया ही जाता है-फिर सर्ववस्तुविषयक अभ्यास का असभव भी कैसे हो सकता है?

[सर्ववस्तुविषयक उपदेशज्ञान का संभव]

यह जो आपने कहा था-'उपदेश के विना सर्ववस्तुविषयक ज्ञान का सभव नही है'-यह भी अच्छा नही है। कारण, 'सभी पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं क्योकि सत् है' इस अनुमान मे मूलभूत "जो सत् होते है वह सब अनेकान्तमय होते हैं" इस व्याप्ति का प्रसाधक जो तर्क प्रमाण होगा वही सकल-पदार्थ को विषय करने वाला होने का सम्भव है, क्योकि यदि उस तर्क प्रमाण को सर्ववस्तुविषयक नही मानेंगे तो अनुमान का ही अभाव प्रसक्त होगा यह तो कहा जा चुका है। यह शका भी नही कि जा सकती कि-'यदि उक्त तर्क प्रमाणज्ञान सर्वार्थविषयक होगा तो वैसे ज्ञानवाला पुरुष सर्वज्ञरूप से सिद्ध हो जाने के कारण अभ्यास से सर्वज्ञ होने की बात व्यर्थ हो जायेगी'-यह शका तभी की जा सकती यदि तर्क प्रमाण से स्पष्टरूप से पदार्थो का सवेदन होता। तर्क प्रमाणज्ञान तो सामान्यग्राही होने के

त्त्वात् । अतीन्द्रियेऽपि च कालादौ विशेषणभूते चक्षुरादेः प्रवृत्तिप्रतिपादनाच्च इतरेतराश्रयत्वदोषस्याप्यनवकाशः पूर्वपक्षप्रतिपादितस्य । शब्दज्ञानजनितज्ञानपक्षे तु इतरेतराश्रयदोषप्रसंगापादनमप्ययुक्तम्, कारणपक्षे तदसम्भवात्, अन्यसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वेन ज्ञानस्य कथमितरेतराश्रयत्वम् ? तदागमप्रणेतुरप्यन्यसर्वज्ञप्रणीतागमपूर्वकत्वेऽनवस्था स्यात् सा चेष्यत एव, अनादित्वादागम-सर्वज्ञपरम्परायाः ।

यदप्यवादि 'शब्दजनितं ज्ञानमस्पष्टाभम्, तज्ज्ञानवतः कथं सकलज्ञत्वम्' इति–तदप्यसंगतम्, नहि शब्दजनितेन ज्ञानेनाऽभ्यासानासादितवैशद्येन सकलज्ञोऽभ्युपगम्यते येनायं दोषः स्यात्, किं त्वभ्यासासादितसकलविशेषसाक्षात्कारित्वलक्षणनैर्मल्यवता । अत एव 'प्रेरणाजनितं ज्ञानमस्मदादीनामप्यतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थविषयमस्तीति सर्वज्ञत्वं स्यात्' इति यदुक्तं तदपि निरस्तम्, अभ्यासजस्य स्पष्टविज्ञानस्य सकलपदार्थविषयस्यास्मदादीनामभावात् । "लिंगजनितत्वेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियधर्मादिपदार्थसम्बन्धानवगमाद् लिंगस्यानवगतसाध्यसम्बन्धस्य च तस्य धर्मादिसाध्यानुमापकत्वाऽसंभवात्" ...... इत्यादि यद्, तदप्यसंगतम्, अवगतधर्माद्यतीन्द्रियसाध्यसंबन्धस्य हेतोः प्रसिद्धत्वात् । तथाहि–स्वविषयग्रहणक्षमस्य ज्ञानस्य तदग्राहकत्वं विशिष्टद्रव्यसम्बन्धपूर्वकं पीतहृत्पूरपुरुषज्ञानस्येव, 'सर्वमनेकान्तात्मकम्' इति सकलसामान्यविषयस्य च ज्ञानस्य तद्गताशेषविशेषाग्राहकत्वं सुप्रसिद्धमिति भवति पौद्गलिकाऽतीन्द्रियधर्मादिसिद्धिरतो हेतोः ।

कारण अस्पष्ट संवेदनरूप ही होता है । जब कि अभ्यास जन्य जो सर्ववस्तुज्ञान होता है वह सर्ववस्तु-अन्तर्गत सकल विशेष ग्राही होने से स्पष्ट संवेदन रूप होता है । साराश, अभ्यास निरर्थक होने को अब कोई आपत्ति नही है ।

[चक्षुजन्यज्ञान में अतीन्द्रियविषयता का समर्थन]

यह जो आपने कहा था-'अभ्यास का प्रवर्त्तक ज्ञान नेत्रादिजन्य होने पर भी अगर अतीन्द्रिय विषयग्राही होगा तो व्यवहारोच्छेद हो जायेगा ..इत्यादि वह सब उपरोक्त प्रतिपादन से दूरोत्क्षिप्त हो जाता है क्योकि पहले ही हमने यह बता दिया है कि इन्द्रिय से अतीन्द्रिय पदार्थ का ग्रहण हो सकता है एव अन्येन्द्रियग्राह्यविषय का भी ग्रहण शक्य है । एव व्यवहारोच्छेद होने की भी कोई आपत्ति नही है यह भी दिखाया है । प्रत्यभिज्ञादिप्रत्यक्ष मे, अतीन्द्रिय कालादि पदार्थ को विशेषणरूप मे ग्रहण करने मे नेत्रादि की प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है अत पूर्वपक्ष मे जो इस पर अन्योन्याश्रय दोषारोपण किया गया था वह भी निरवकाश है । शब्दज्ञान से उत्पन्न ज्ञान वाले तृतीय पक्ष मे जो अन्योन्याश्रयदोष का प्रसगापादन किया है वह भी अयुक्त है, क्योकि कारणभूत शब्द का प्रणेता वही सर्वज्ञ न हो कर अन्य है ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष की सभावना ही नही है । तात्पर्य यह है कि आगम के परिशीलन से जो परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न होगा उसके कारणभूत आगम का प्रणेता कोई अन्य ही पूर्वकालवर्त्ती सर्वज्ञ है, नूतन उत्पन्न परिपूर्ण ज्ञान वाला सर्वज्ञ उसका प्रणेता नही है तो फिर अन्योन्याश्रय कैसे ? यदि यह कहा जाय कि–'पूर्वकालीन सर्वज्ञ का ज्ञान उससे भी पूर्वकालीन सर्वज्ञप्रणीत आगम से जन्य मानेंगे तो अनवस्था आयेगी'–तो यह तो हमारी मनपसद बात है, क्योकि आगम और सर्वज्ञ की परम्परा अनादि काल से चली आती है ।

[अस्पष्टज्ञान से सर्वज्ञता नहीं मानी जाती]

यह भी जो आपने कहा है [पृ २११ प ९]-शब्द से उत्पन्न ज्ञान स्पष्ट आभा वाला नही होता,

यदप्युक्तम्-'अनुमानज्ञानेन सकलज्ञत्वाभ्युपगमेऽस्मदादीनामपि तत् स्यात्, भावनाबलात् तद्वैशद्ये तु कामादिविप्लुतविशदज्ञानवत इवाऽसर्वज्ञत्वम्, तज्ज्ञानस्य तद्वद् उपप्लुतत्वप्राप्तेः' इति, तदप्यचारु, यतो भावनाबलाज्ज्ञानं वैशद्यमनुभवतीत्येतावन्मात्रेण दृष्टान्तस्योपात्तत्वाद्। न सकलदृष्टान्तधर्माणां साध्यधर्मिण्यासञ्जनं युक्तम्, तथाऽभ्युपगमे सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तेः। न चानुमानगृहीतस्यार्थस्य भावनाबलाद् वैशद्यं तत्प्रतिभासिन्यभ्यासजे ज्ञानेऽनुभवतो वैपरीत्यसंभवो येन तदवभासिनो ज्ञानस्य कामाद्युपप्लुतज्ञानस्येवोपप्लुतत्वं स्यात्।

तो शब्दजन्यज्ञानवान् को सकलवस्तुज्ञाता कैसे माना जाय....इत्यादि,-वह असगत है। कारण, अभ्यास द्वारा वैशद्य यानी विशिष्टनिर्मलता जिस मे सपादित नही की गयी है ऐसे केवल शब्दोत्पन्न ज्ञान के द्वारा हम किसी को सर्वज्ञ नही मान लेते है, किन्तु अभ्यास के माध्यम से सकल विशेषताओ का साक्षात्कार किया जा सके इस प्रकार की निर्मलता के सपादन से अलकृत ज्ञान द्वारा ही हम किसी को सर्वज्ञ मानते है। जब हमारी सर्वज्ञज्ञान की मान्यता ही इस प्रकार निर्दोष है तो यह जो आपने कहा था-"शब्दजन्य ज्ञान से सर्वज्ञता मानने पर विधिवाक्य के द्वारा हम लोगो को भी अतीत, अनागत, सूक्ष्मादिपदार्थविषयक ज्ञान विद्यमान होने से हम लोग सर्वज्ञ बन जायेंगे।"-यह आपका कथन ध्वस्त हो जाता है क्योकि हम लोगो को अभ्यासजन्य सकलपदार्थविषयक स्पष्टज्ञान है ही नही। अनुमान के चौथे विकल्प के प्रतीकार मे यह जो आपने कहा था (पृ० २१२) "सर्वज्ञज्ञान यदि लिंगजन्य माना जायेगा तो उस लिंग ज्ञान मे लिंग के साथ अतीन्द्रिय धर्माधर्मादिसर्वपदार्थों का सम्बन्धबोध शक्य नही है, अत एव साध्य के साथ अज्ञात संबध वाले लिंग से धर्मादि साध्य का अनुमान बोध का उद्भव भी असभव है इत्यादि"... वह भी सगत नही है, क्योकि जिस हेतु का धर्मादि अतीन्द्रियपदार्थो के साथ सबन्ध ज्ञात है ऐसा हेतु प्रसिद्ध है। जैसे, जिस पुरुष ने हृत्पूर का पान कर लिया है उसकी कुक्षि मे अन्तर्गत वह हृत्पूर द्रव्य यद्यपि अतीन्द्रिय है फिर भी उसका ज्ञान स्व स्व विषय को ग्रहण करने मे समर्थ होता हुआ भी नशे मे अपने विषय को ग्रहण नही करता है, इस लिंग से उस पुरुष मे विशिष्ट द्रव्य (हृत्पूर) के सबन्ध का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार मनुष्य का ज्ञान सर्ववस्तु के ग्रहण मे समर्थ होता हुआ भी अनेक विशेष पदार्थरूप अपने विषय को ग्रहण करता नही है, कारण कोई विशिष्ट द्रव्य सबन्ध होना चाहिये। यह विशिष्ट द्रव्य ही जैन मत मे अदृष्ट है। जिसका लिंग से भान होता है। यहाँ हेतु अप्रसिद्ध नही है क्योकि 'सभी वस्तु अनेकान्तमय हैं' इस प्रकार सामान्यतः ज्ञान होने पर भी तत्तद् वस्तु गत सकल विशेषो की अग्राहकतारूप हेतु हम लोगो के ज्ञान मे अति प्रसिद्ध है जिससे विशिष्ट द्रव्यसबन्ध सिद्ध होता है। तो इस प्रकार हेतु के बल से पुद्गलमय (न कि गुणादिरूप) अतीन्द्रिय धर्माऽधर्मादि की सिद्धि निर्बाध है।

[भावनाबल से ज्ञानवैशद्य का समर्थन]

और भी जो आपने कहा था [पृ० २१२]-"अनुमानजन्य ज्ञान से यदि सर्वज्ञता का स्वीकार करोगे तो हम लोग आदि भी सर्वज्ञ बन जायेंगे। यदि भावना के बल से उस ज्ञान में स्पष्टता का आधान मानेगे तो कामविकारग्रस्त मनुष्य को कामवासना के बल से पत्नी आदि न होने पर भी जैसे उसका स्पष्ट सवेदन होता है किन्तु वह पूर्णतः भ्रान्त होता है उसी प्रकार भावना के बल से उत्पन्न ज्ञान भी उपप्लवग्रस्त होने के कारण भ्रान्त होने से सर्वज्ञता की सिद्धि नही हो सकेगी"-यह जो

यदप्यभ्यधायि-'रजोनीहाराद्यावरणापाये वृक्षादिदर्शनवद् रागाद्यावरणाभावे सर्वज्ञज्ञानं वैशद्यभाग् भविष्यति' 'न च रागादीनामावारकत्वं सिद्धम्'....इत्यादि तदप्यसंगतम् कुड्यादीनामप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यामावारकत्वाऽसिद्धेः। तथाहि-सत्यस्वप्नप्रतिभासस्यार्थग्रहणे न कुड्यादीनामावारकत्वम्, निश्छिद्रापवरकमध्यस्थितेनापि भाव्यतीन्द्रियाद्यर्थस्याऽन्तरावरणा(?ण)भावे प्रमाणान्तरसंवादिन उपलम्भात्, कुड्यादीनां त्वावरणत्वे तद्दर्शनमसम्भव्येव स्यात्, तथाप्रतिभासेनादृष्टार्थेऽपि कुड्यादीनां नावारकत्वम्।

यच्च प्रातिभं ज्ञानं जाग्रदवस्थायां शब्दलिंगाक्षव्यापाराभावेऽपि 'श्वो भ्राता मे आगन्ता' इत्याकारमुत्पद्यमानमुपलभ्यते तत्र कुड्यादीनां कथमावारकत्वम्? कथं वा विज्ञानस्य नातीन्द्रिय-विशेषणभूतश्वस्तनकालाद्यवभासकत्वम्, अनिन्द्रियजस्य च ज्ञानस्य बाह्य-सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारित्वं न सिद्धम् येन सर्वज्ञज्ञानस्यानक्षजत्वे बाह्यातीन्द्रियादिसकलपदार्थसाक्षात्करणं स्पष्टत्वं च न स्यात्' इत्यादि प्रेर्येत? अत एव सकलपदार्थग्रहणस्वभावस्य ज्ञानस्येन्द्रियादिजन्यत्वकृत एव प्रतिनियतरूपादि-ग्राहकत्वनियमोऽवसीयते; प्रातिभादौ तदजन्ये तस्याऽभावात्। सकलज्ञज्ञानं चातीन्द्रियमिति कथं "येऽपि सातिशया दृष्टाः" इत्यादि तथा "यत्राप्यतिशयो दृष्टः' [श्लो० वा० २-११४] इत्यादि च दूषणं तत्र क्रमते? न हि ज्ञानस्याशेषज्ञेयज्ञानस्वभावस्य कश्चित् प्रतिनियमो रूपादिकः स्वार्थः सम्भवति इत्यसकृदावेदितम्।

कहा था वह अरुचिकर है, कारण, यह दृष्टान्त सर्वांश मे उपादेय हम भी नही मानते है, केवल "भावना के बल से उत्पन्न ज्ञान स्पष्ट होता है" इतने ही अंश मे उक्त दृष्टान्त प्रस्तुत है, अत: साध्य-धर्मी मे दृष्टान्त अन्तर्गत सभी दृष्टा-निष्ट धर्मो का आपादन करना अनुचित है। क्योकि ऐसे आपादन को उचित मानने पर अनुमान मात्र का उच्छेद होकर रहेगा, कारण, हर कोई दृष्टान्त मे अनिष्ट धर्म सुलभ रहता है। अनुमानगृहीतार्थ की स्पष्टता का जब भावना के बल से स्पष्टताप्रतिभासक अभ्यासोत्पन्न ज्ञान मे अनुभव किया जाता है तो वहाँ तनिक भी उलटेपन का सभव नही है जिससे कामान्ध नर के सोपप्लवज्ञानवत् इस स्पष्टता भासक ज्ञान को उपप्लवग्रस्त कहा जा सके।

[भित्ति आदि की अवारकता की भंगापत्ति]

यह भी जो आपने कहा है [पृ० २१३] "सभव है कि रजकण और धुमस आदि आवरण हठ जाने पर वृक्षादि दिखाई देता है उसी तरह रागादि आवरण के हठ जाने पर स्पष्टतालकृत सर्वज्ञ-ज्ञान का आविर्भाव होगा, किंतु रागादि यह आवरणभूत है ऐसा सिद्ध ही कहाँ है?" इत्यादि.. वह भी असगत है, रागादि को अगर आप ज्ञानावारक नही मानते है तो भीत्ति आदि को भी क्यो मानते है? भित्ति आदि मे भी अन्वय-व्यतिरेक से आवरणत्व असिद्ध है। जैसे-जो स्वप्न प्रतिभास सत्य होता है, उस प्रतिभास से होने वाले दूरस्थ अर्थग्रहण मे भित्ति आदि आवारक=प्रतिबन्धक नही होते है। यह अनुभवसिद्ध है कि यदि स्वप्नदृष्टा छिद्ररहित कक्ष के मध्य भाग मे सो गया हो तब भी उसको भावि, अतीन्द्रिय आदि प्रमाणान्तरसवादि वस्तु का उपलम्भ बीच मे आवरण होने पर भी होता है, यदि भित्ति आदि आवारक होते तो यह सत्यस्वप्न दर्शन कभी नही होता। जब दृष्ट अर्थो के प्रतिभास मे यह बात है तो अदृष्ट अर्थ मे भी भित्ति आदि की आवारकता सिद्ध नही होती।

[सर्वज्ञज्ञान में अस्पष्टत्वापत्ति का निरसन]

यह भी सोचिये कि जागृति अवस्था मे शब्द, लिंग या इन्द्रिय के निश्चेष्ट होने पर भी

अथ रागादीनामावारकत्वेऽपि कथमात्यन्तिक क्षयः, कथं चाऽभ्यस्यमानमप्यविशदं ज्ञानं लंघनोदकतापादिवत् प्रकृष्टप्रकर्षावस्थां वैशद्यं चाऽवाप्नोतीति ?-नैतत् प्रेर्यम्, यतो यदि रागादीनामावारकत्वादिस्वरूपं न ज्ञायेत-नित्यत्वमाकस्मिकत्वं वा तेषां स्यात्, तद्धेतूनां वा स्वरूपाऽपरिज्ञानं नित्यत्वं वा सम्भाव्येत, तद्विपक्षस्य वा स्वरूपतोऽज्ञानं अनभ्यासश्च स्यात्, तदैतत् स्यादपि, यावता रागादीनां ज्ञानावरणहेतुत्वेनावरणस्वरूपत्वं सिद्धम्।

न च तेषां नित्यत्वम्, तत्सद्भावे सर्वज्ञज्ञानस्य प्रतिपादयिष्यमाणप्रमाणनिश्चितस्याभावप्रसंगात्। नाप्याकस्मिकत्वम्, अत एव। न चैषामुत्पादको हेतुर्नावगतः मिथ्याज्ञानस्य तज्जनकत्वेन सिद्धत्वात्। न च तस्यापि नित्यत्वम्, अन्यथाऽविकलकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य भावे प्रबन्धप्रवृत्तरागादि-

---

"कल मेरा भाई आयेगा" इस प्रकार का प्रातिभ सज्ञक जो ज्ञान उत्पन्न होता हुआ किसी किसी को दिखाई देता है वहाँ भित्ति आदि किस प्रकार आवारक हैं ? यह भी बताईये कि जब अतीन्द्रिय भावि काल का विशेषणरूप मे अवभास कराने वाला विज्ञान उपलब्ध होता है तो वह असिद्ध कैसे ? एव इन्द्रिय से अजन्य जो ज्ञान होता है वह सूक्ष्मादि बाह्यार्थ का साक्षात्कार कर लेता है यह भी उपलब्ध है तो वह असिद्ध कैसे ? फिर आपको यह कहने का अवकाश ही कहाँ है-कि 'सर्वज्ञ का ज्ञान अगर इन्द्रियजन्य न होगा तो वह बाह्य एव अतीन्द्रिय सकल अर्थो का साक्षात्कारी न होगा और स्पष्ट भी नही होगा।' हमने जो प्रातिभ आदि ज्ञान का उदाहरण दिखाया है उससे यह नियम फलित होता है कि ज्ञान मे सकलपदार्थो को ग्रहण करने का स्वभाव रहने पर भी जब वह इन्द्रियादि से उत्पन्न होता है तो मर्यादित ही रूपादिविषय का ग्राहक होता है, क्योकि इन्द्रियादि से अजन्य प्रातिभ ज्ञान मे मर्यादा का नियम नही होता। तदुपरात आपने जो सर्वज्ञज्ञान के सबध मे यह दोषोद्भावन किया है [पृ २०२] कि "जो अतिशय वाले देखे गये हैं" इत्यादि तथा 'जहाँ भी अतिशय देखा गया है" इत्यादि वह अतीन्द्रिय सर्वज्ञ ज्ञान के ऊपर किस प्रकार लगेगा जब कि वह ज्ञान ही अतीन्द्रिय हैं। यह तो हम बार बार कह चुके है कि अखिल ज्ञेय वस्तु को जानने मे समर्थ स्वभाववाला जो ज्ञान होता हे उसका अर्थक्षेत्र मर्यादित ही रूप-रसादि नही होता किन्तु सारा ब्रह्माड होता है।

[रागादि के निर्मूल क्षय की आशंका का उत्तर]

यदि यह प्रश्न किया जाय "रागादि को कदाचित् आवारक मान लिया जाय तब भी उसका आत्यन्तिक क्षय कैसे सभव है ? तथा, जो ज्ञान अस्पष्ट है, उसका चाहे कितना भी अभ्यास किया जाय किन्तु चरमप्रकर्षप्राप्त एव स्पष्ट कैसे बन सकता है ? किसी एक खड्डा का उल्लघन करने की शक्ति भी मर्यादित होती है, जल को कितना भी तपाया जाय तो भी वह आखिर ठडा बन जाता है, सदा के लिये गर्म नही रहता अर्थात् उसका अग्नि मे परिवर्तन नही हो जाता। इसी प्रकार अस्पष्ट स्वभाव वाला ज्ञान आखिर अस्पष्ट ही रहेगा, स्पष्ट कैसे हो सकेगा ?"-यह प्रश्न करना व्यर्थ है क्योकि रागादि का क्षय ऐसी स्थितियो मे न होने की सभावना है-१-रागादि का आवरणस्वरूप ज्ञात न हो, २-३ रागादि नित्य हो या आकस्मिक हो, ४-रागादि के हेतुओ का स्वरूप अज्ञात हो या ५-वे नित्य हो, ६-रागादि के प्रतिपक्ष का स्वरूप अज्ञात हो या ७-उसका अभ्यास अशक्य हो। ये सभी स्थितियाँ असिद्ध है। जैसे कि, १-रागादि ज्ञान का आवारक है अत उनकी आवारकरूपता प्रसिद्ध ही है।

दोषसद्भावात् तदावृतत्वेन सर्वविद्विज्ञानस्याभावः स्यादिति स एव दोषः। आकस्मिकत्वेऽपि मिथ्याज्ञानस्य हेतुव्यतिरेकेणापि प्रवृत्तेस्तत्कार्यभूतरागादीनामपि प्रवृत्तिरिति पुनरपि सर्वज्ञज्ञानाभावः। अहेतुकस्य च मिथ्याज्ञानस्य देशकाल-पुरुषप्रतिनियमाभावोऽपि स्यादिति न चेतनाऽचेतनविभागः।

न च तत्प्रतिपक्षभूतस्योपायस्याऽपरिज्ञानम्, मिथ्यात्वविपक्षत्वेन सम्यज्ज्ञानस्य निश्चितत्वात्। तदुत्कर्षे मिथ्याज्ञानस्यात्यन्तिकः क्षयः। तथाहि-यदुत्कर्षतारतम्याद् यस्यापचयतारतम्यं तस्य विपक्षप्रकर्षावस्थागमने भवत्यात्यन्तिकः क्षयः, यथोष्णस्पर्शस्य तथाभूतस्य प्रकर्षगमने शीतस्पर्शस्य तथाविधस्यैव। सम्यग्ज्ञानोपचयतारतम्यानुविधायी च मिथ्याज्ञानापचयतरतमादिभावः इति तदुत्कर्षेऽस्यात्यन्तिकक्षयसद्भावात् तत्कार्यभूतरागाद्यनुत्पत्तेरावरणभावः सिद्धः। रागादिविपक्षभूतवैराग्याभ्यासाद् वा रागादीनां निर्मूलतः क्षय इति कथं नावरणाभावः?

[रागादि नित्य और आकस्मिक नहीं है]

२-रागादि नित्य भी नही है, यदि वे नित्य होते तो सर्वज्ञज्ञान का ही अभाव हो जायेगा जब कि आगे दिखाये जाने वाले प्रमाण से सर्वज्ञज्ञान निश्चित है। ३-रागादि यह आकस्मिक भी नही है क्योकि फिर से वही सर्वज्ञज्ञान का अभाव हो जाने की आपत्ति होगी। ४-रागादि का उत्पादक हेतु अप्रसिद्ध है ऐसा भी नही है क्योकि-'रागादि का जनक मिथ्याज्ञान है' यह तो सर्वत्र प्रसिद्ध है। ५-यह मिथ्याज्ञान नित्य भी नही है। यदि वह नित्य होगा तो वही एकमात्र अविकल कारणरूप होने से मिथ्याज्ञान के सर्वदा रहने पर प्रवाह से उत्पन्न होने वाला रागादि दोषगण भी सदा अवस्थित रहने से ज्ञान उससे सदा ही आवृत्त रहेगा तो सर्वज्ञज्ञान के अभाव की वही पूर्वोक्त आपत्ति ध्रुव रहेगी। मिथ्याज्ञान को आकस्मिक कहेगे तो विना हेतु वह प्रवर्त्तमान रहेगा तो उसके कार्यभूत रागादि की भी प्रवृत्ति सतत रहेगी। इस प्रकार फिर से सर्वज्ञज्ञानाभाव की आपत्ति होगी। मिथ्याज्ञान यदि विना हेतु उत्पन्न होगा तो अमुक ही देश, अमुक ही काल, अमुक ही पुरुष मे उसके सद्भाव का नियम न रहने से सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त हो जायेगा तो कोई भी अचेतन नही रहेगा फिर जड-चेतन का विभाग भी गायब हो जायेगा।

[रागादि के प्रतिपक्षी उपाय का ज्ञान संभवित है]

६-रागादि के निवारणार्थ प्रतिपक्षी उपायभूत वस्तु का ज्ञान अशक्य भी नही है क्योकि यह सुनिश्चित है कि सम्यग्ज्ञान यह मिथ्याज्ञान का प्रबल विरोधी है। अत. सम्यग्ज्ञान का जितना उत्कर्ष होगा उतना ही मिथ्याज्ञान का अपकर्ष और अन्ततः क्षय भी होगा। यह इस प्रकार-जिसके उत्कर्ष की तरतमता पर जिसके अपचय की तरतमता अवलम्बित हो, उसका विपक्ष यदि प्रकर्षप्राप्त हो जायेगा तो वह अत्यन्त क्षीण हो जायेगा। उदा० शीतस्पर्श का विरोधी उष्णस्पर्श जब प्रकर्षप्राप्त हो जाता है तो उष्णस्पर्श का विरोधी शीत स्पर्श अत्यन्त क्षीण हो जाता है। प्रस्तुत मे, जब जब सम्यग् ज्ञान का बहु बहुतर आदि उपचय होता है उस वक्त मिथ्याज्ञान का अपचय बहु बहुतर अश मे होता हुआ दिखाई देता है अत. सम्यग्ज्ञान की चरमोत्कर्षावस्था मे मिथ्याज्ञान का आत्यन्तिक क्षय अवश्यभावी है और उसका क्षय होने पर उसके कार्यभूत रागादि की उत्पत्ति अवरुद्ध हो जाने से आवरण की निवृत्ति सिद्ध होती है। ७-अथवा यह भी अन्य उपाय है-रागादि का विरोधी वैराग्य है, अतः उसके तीव्र अभ्यास से रागादि का समूल क्षय हो जायेगा तो आवरण का अभाव क्यो सम्पन्न नही होगा?

न च 'लंघनोदकतापादिवदभ्यस्यमानस्यापि सम्यग्ज्ञानवैराग्यादेर्न परप्रकर्षप्राप्तिरिति कुतस्तद्विषये मिथ्याज्ञानाभावाद् रागादेरात्यन्तिकोऽनुत्पत्तिलक्षणः क्षयलक्षणो वाऽभावः ?' इति वक्तुं युक्तम् । यतो लंघनं हि पूर्वप्रयत्नसाध्यं यदि व्यवस्थितमेव स्यात् तदोत्तरप्रयत्नस्यापरापरलंघनातिशयोत्पत्तौ व्यापाराद् भवेल्लंघनस्याप्य(न ?)पेक्षितपूर्वातिशयसद्भावप्रयत्नान्तरस्य प्रकर्षावाप्तिः, न चैवं, अपरापरप्रयत्नस्य पूर्वपूर्वातिशयोत्पादने एवोपक्षीणशक्तित्वात् ।

अथैतत् स्याद्-यदि तत्रापि पूर्वप्रयत्नोत्पादितोऽतिशयो न व्यवस्थितः स्यात्, तत्किमिति प्रथममेव यावल्लंघयितव्यं तावन्न लघयति ? तत् लंघनाभ्यासापेक्षणात् पूर्वप्रयत्नाहितातिशयसद्भावेऽपि न लंघनप्रकर्षप्राप्तिरिति यथा तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता तथा ज्ञानस्यापि भविष्यति । न, यतः श्लेष्मादिना प्राक् शरीरस्य जाड्याद् यावल्लघयितव्यं न तावद् व्यायामाऽनपनीतश्लेष्माऽनासादितपटुभावः कायो लघयति, अभ्यासासादितश्लेष्मक्षयपटुभावस्तु यावल्लंघयितव्यं तावल्लंघयतीत्यभ्यास. तत्र सप्रयोजनः । ज्ञानस्य तु योऽभ्याससमासादितोऽतिशयः सोऽतिशयान्तरोत्पत्तौ पुनः प्राक्तनाभ्यासापेक्षो न भवतीत्युत्तरोत्तराभ्यासानामपरापरातिशयोत्पादने व्यापाराद् न व्यवस्थितोत्कर्षतेति भवति ज्ञानस्य परप्रकर्षकाष्ठा ।

[लंघनवत् सीमित ज्ञानशक्ति की आशंका का उत्तर]

यदि यह आशका की जाय-"चाहे कितना भी अभ्यास करो कि तु गर्त्तादि के उल्लघन मे अथवा जलताप आदि मे कभी भी प्रकर्षावस्था (यानी अग्निरूपता) प्राप्त नही होती। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान अथवा वैराग्य का कितना भी गहरा अभ्यास-आसेवन किया जाय किन्तु कभी वह चरमप्रकर्ष प्राप्त नही हो सकता, तो फिर इस विषय मे आप जो यह कहते है कि ज्ञानप्रकर्ष अथवा वैराग्योत्कर्ष से मिथ्याज्ञान का अभाव होगा और उसके अभाव से रागादि का, सर्वथा अनुत्पत्ति अथवा क्षय रूप आत्यन्तिक अभाव होगा यह कैसे घटेगा ?"-तो यह कहना अयुक्त है क्योकि प्रथम प्रयत्न करने पर जो लघन सिद्ध होता है वह अवस्थित नही रहता, यानी उस प्रयत्न से जो लघनशक्ति रूप अतिशयाधान किया जाता है वह लघन के बाद क्षीण हो जाती है। यदि वह क्षीण न होकर अवस्थित रहती तब तो अन्य अन्य लघनातिशय की उत्पत्ति मे नये नये प्रयत्न का व्यापार सभव हो जाने से पूर्वातिशय के सद्भाव से विशिष्ट अन्य अन्य प्रयत्न के अवलम्बन करने वाला लघन चरमप्रकर्ष प्राप्त हो सकता था। तात्पर्य यह है कि नये नये प्रयत्न से पूर्व पूर्व अतिशय उपचित होने के कारण प्रकर्ष की सभावना शक्यतारूढ थी। किन्तु पूर्व पूर्व प्रयत्न से उत्पन्न अतिशय चिरस्थायी नही होता, अत' नये नये प्रयत्न की शक्ति उसी पूर्व पूर्व अतिशय को पुन: पुन. उत्पन्न करने मे क्षीण हो जाती है-यही कारण है कि लघनातिशय प्रकर्ष प्राप्त नही होता।

[अतिशयितलंघन क्रिया में अभ्यास कैसे उपयोगी ?]

कदाचित् आप ऐसा कहेगे कि-"यदि यहाँ भी पूर्व पूर्व प्रयत्न से उत्पादित अतिशय चिरस्थायि न होकर अल्पजीवी होता तब तो वैसा समान अतिशय प्रथम प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण जितना अतिम प्रयत्न से लम्बा कूदा जा सकता है उतना प्रथम प्रयत्न से भी क्यो नही कूदा जा सकता ? इससे यही सार निकलता है कि लघनाभ्यास के अवलम्बन से पूर्व पूर्व प्रयत्न मे नये नये अतिशय का आधान शक्य होने पर भी लंघन कदापि प्रकर्षावस्था प्राप्त नही करता। (तात्पर्य, लघन का

उदकतापे त्वतिशयेन क्रियमाणे तदाश्रयस्यैव क्षयाद् नातिताप्यमानमप्युदकमग्निरूपतामासादयति। विज्ञानस्य त्वाश्रयोऽत्यभ्यस्यमानेऽपि तस्मिन् न क्षयमुपयातीति कथं तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता ? । न च 'विज्ञानमपि प्राक्तनाभ्यासादासादितातिशयं पूर्वमेव विनष्टम्, अपराभ्यासादन्यदतिशयवदुत्पन्नमिति कथं पूर्वाभ्याससमासादितोऽतिशयो नाभ्यासान्तरापेक्षो येन व्यवस्थितोत्कर्षता तस्यापि न स्यादिति' वक्तुं युक्तम्, तत्र पूर्वाभ्यासजनितसंस्कारस्योत्तरत्रानुवृत्तेः, अन्यथा शास्त्रपरावर्त्तनादिवैयर्थ्यप्रसंगात्।

नापि 'यदुपचयतारतम्यानुविधायी यदपचयतरतमभावः तस्य तद्विपक्षप्रकर्षगमनादात्यन्तिकः क्षयः' इत्यत्र प्रयोगे श्लेष्मणा व्यभिचार उद्भावयितुं शक्यः–'किल निम्बाद्यौषधोपयोगात् प्रकर्षतारतम्यानुभववतस्तरतमभावापचीयमानस्यापि श्लेष्मणो नात्यन्तिकः क्षय इति'–यतस्तत्र निम्बाद्यौषधोप-

---

प्रकर्ष जैसे सीमित है) इसी प्रकार ज्ञान मे भी सीमित ही होगा, तो ज्ञान मे चरमप्रकर्ष का सभव कैसे माना जाय ?"–किन्तु यह कथन विचारशून्य है, प्रथम प्रयत्न से लम्बा नही कूदा जा सकता उसका कारण यह नही है कि उस समय अतिशय अनुपचित है-किन्तु कारण इस प्रकार है-आद्य प्रयत्नकाल मे शरीर मे तमोगुणबहुलता के कारण जडता भरी रहती है, व्यायाम के द्वारा कफधातु का अपनयन और पटुता का संपादन जब तक नही किया जाता तब तक उस जडता के कारण उतना लम्बा नही कूदा जा सकता। व्यायामाभ्यास द्वारा जब कफ धातु के वैषम्य को दूर करके पटुता प्राप्त कर जडता को निकाल दी जाती है तब उतना लम्बा कूदा जा सकता है। साराश, अभ्यास का प्रयोजन अतिशय का उपचय नही किन्तु जडता का अपाकरण है। दूसरी ओर ज्ञान के लिये बार बार प्रयत्न करने द्वारा जिस अतिशय का संपादन किया जाता है वह नये नये अतिशय के सपादन मे पूर्व पूर्व अभ्यास की पुनः पुनः अपेक्षा नही करता है किन्तु नये नये अभ्यास द्वारा नया नया अतिशय उत्पन्न करने मे सक्रिय रहता है, अतः ज्ञान के उत्कर्ष की सीमा नही रहती। जैसे जैसे नया नया अभ्यास जारी रहता है वैसे वैसे नये नये प्रकृष्ट प्रकृष्टतर अतिशय उत्पन्न होता जाता है। यावद् प्रकृष्टतम अतिशय उत्पन्न होने पर रागादि का आवरण सर्वथा क्षीण हो जाने पर समस्त वस्तु के संपूर्ण ज्ञान का उदय होता है। यही ज्ञान की चरम प्रकृष्टावस्था है।

[जलतापवत् सीमित ज्ञान की शंका का उत्तर]

लघन की बात जैसे प्रस्तुत मे निरुपयोगी है उसी प्रकार जलताप की बात भी निरुपयोगी है। पानी को यदि बेहद तपाया जाय तो ताप के आश्रय पानी का विनाश ही हो जाता है, अत एव पानी को अत्यन्त तपाने पर वह अग्निस्वरूप धारण नही कर सकता। विज्ञान की बात इससे अलग है, विज्ञान का अधिक अधिक अभ्यास किया जाय तो उसका आश्रयभूत जीव विनष्ट नही हो जाता, तो जलताप के दृष्टान्त से विज्ञान का उत्कर्ष सीमित बताना कहाँ तक उचित है ? यदि यह शका करें कि–"प्राथमिक अभ्यास से अतिशय प्राप्त करने वाला पूर्व विज्ञान तो दूसरे क्षण मे नये अभ्यास के पूर्व ही नष्ट हो जाता है। नये अभ्यास से नया सातिशय विज्ञान उत्पन्न होता है। तो अब पूर्व अभ्यास से प्राप्त अतिशय, उत्कर्ष के लिये नूतनाभ्याससापेक्ष तो रहा नही फिर विज्ञान का उत्कर्ष भी सीमित क्यो नही होगा ?"–यह शका उचित नही है। कारण, पूर्वविज्ञान नष्ट हो जाने पर भी आत्मा मे पूर्वाभ्यासोत्पन्न सस्कार उत्तरकाल मे भी अनुवर्त्तमान रहता है अत उस सस्कार के उत्कर्ष की क्रमश. वृद्धि होती रहती है, यावत् चरमोत्कर्ष प्राप्त करने वाले सस्कार से उत्कृष्ट विज्ञान

योगस्यैव नोत्कर्षनिष्ठाऽऽपादयितुं शक्या, तदुपयोगेऽपि श्लेष्मपुष्टिकारणानामपि तदैवाऽऽसेवनात्, अन्यथौषधोपयोगाधारस्यैव विनाशः स्यात्। चिकित्साशास्त्रस्य च धातुदोषसाम्यापादनाभिप्रायेणैव प्रवृत्तेस्तत्प्रतिपादितौषधोपयोगस्योद्रिक्तधातुदोषसाम्यविधाने एव व्यापारो न पुनस्तस्य निर्मूलने, अन्यथा दोषान्तरस्यात्यन्तक्षये मरणावाप्तेरिति न श्लेष्मणा तथाभूतेनानैकान्तिको हेतुः।

न च सम्यग्ज्ञानसात्मीभावेऽपि पुनर्मिथ्याज्ञानस्यापि संभवो भविष्यति तदुत्कर्ष इव सम्यग्ज्ञानस्येति वक्तुं युक्तम्, यतो मिथ्याज्ञाने रागादौ वा दोषदर्शनात्, तद्विपक्षे च सम्यग्ज्ञान-वैराग्यलक्षणे गुणदर्शनात् तत्र पुनरभ्यासप्रवृत्तिसंभवात् प्रकृष्टेऽपि मिथ्याज्ञान-रागादावुत्पद्येते एव सम्यग्ज्ञान-वैराग्ये, नैवं तयोः प्रकर्षावस्थायां दोषदर्शनं तत्र तद्विपर्यये वा गुणदर्शनं येन पुनस्तत्सात्मीभावेऽपि मिथ्याज्ञानरागादेरुत्पत्तिः संभाव्येत।

उत्पन्न हो सकता है। यदि सस्कारवाली बात न मानी जाय तो सारे जगत् मे जो शास्त्रों के पुनरावर्त्तन का श्रम दिखाई देता है वह निरर्थक मानना होगा। सस्कार के दृढीकरण द्वारा ही पुनरावर्त्तन सार्थक बनता है।

[कफधातु के उदाहरण से नियमभंगशंका का उत्तर]

हमने जो यह नियम व्यक्त किया है-'जिसके उपचय की तरतमता का अनुकरण जिसके अपचय का तरतमभाव करता है, उसका विपक्ष प्रकर्षावस्था को प्राप्त हो जाने पर वह अत्यन्त क्षीण हो जाता है'-इस नियम प्रयोग मे कफधातु को प्रस्तुत करके इस प्रकार व्यभिचार का उद्भावन नही हो सकता कि-"निम्ब आदि औषध का सेवन करने वाला जब प्रकृष्ट मात्रा मे उसका अनुभव यानी सेवन करता है तब कफधातु का तारतम्य अत्यन्त अपचित हो जाता है फिर भी कफधातु का सर्वथा विनाश नही होता है"-इस प्रकार के व्यभिचार को तब अवकाश मीलता यदि निम्ब आदि औषध के सेवन मे उत्कर्षाधान शक्य होता, किन्तु वही अशक्य है। तात्पर्य, निम्बादि औषध का उत्कृष्टतम मात्रा मे उपयोग ही असभव है, कदाचित् अधिक मात्रा मे उसका उपयोग कर लिया जाय तो भी दूसरी और कफपोषक खाद्य पदार्थो का आसेवन उसी काल मे जारी रहता है, अत: कफ का आत्यन्तिक नाश नही होता है तो भी कोई दोष नही है। यदि कफपोषक खाद्यवस्तु का उपयोग न करके अकेला निम्बादि औषध का सेवन किया जायगा तो परिणाम मे औषधोपयोग करने वाला आधारभूत प्राणी ही मर जायेगा। चिकित्साशास्त्रो का उपदेश धातुदोष के साम्यापादन के अभिप्राय से ही प्रवृत्त है। तात्पर्य यह है कि कफ-पित्त आदि धातु विषमावस्थापन्न होने पर विकार का उद्भव होता है उसका शमन करने के लिये तीनो धातु मे साम्य स्थापित करने वाले औषधो के आसेवन की ओर चिकित्साशास्त्र निर्देश करता है। अत: चिकित्साशास्त्र उपदिष्ट औषधो का उपयोग, जिस धातुदोष का उद्रेक हुआ है उसको साम्यावस्था मे लाने के लिये ही होता है, उस धातुदोष को निर्मूल करने के लिये नही होता है। अन्यथा किसी एक धातुदोष का यदि आत्यन्तिक विनाश कर दिया जाय तो प्राणी को मरण प्राप्त होगा। निष्कर्ष, कफधातु के उदाहरण से उपरोक्त नियम मे हेतु अनैकान्तिक दिखाना अनुचित है।

[मिथ्याज्ञान के क्षयानंतर पुनरुद्गम का असंभव]

यदि यह कहा जाय मिथ्याज्ञान के उत्कर्ष में भी जैसे सम्यग्ज्ञान का उदयारम्भ होता है

न चानक्षजस्य ज्ञानस्य सर्वविरसंबन्धिनः कथं प्रत्यक्षशब्दवाच्यतेति वक्तुं युक्तम्, यतोऽक्षजत्वं प्रत्यक्षस्य शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तमेव न पुनः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, तन्निमित्तं हि तदेकार्थाश्रितमर्थसाक्षात्कारित्वम्। अन्यद्धि शब्दस्य व्युत्पत्तौ निमित्तमन्यच्च प्रवृत्तौ। यथा गोशब्दस्य गमनं व्युत्पत्तौ-गोपिण्डाश्रितगोत्वं प्रवृत्तौ निमित्तं, अन्यथा यदि यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावपि तदा गच्छन्त्यामेव गवि गोशब्दप्रवृत्तिः स्यात् न स्थितायाम्, महिष्यादौ च गमनपरिणामवति गोशब्दः प्रवर्त्तेत। तथाऽपि प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात् प्रत्यक्षव्यपदेशः संभवत्येव।

यद्वा, यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावप्यस्तु तथापि तच्छब्दवाच्यतायास्तत्र नाभावः। तथाहि-अश्नुते=सर्वपदार्थान् ज्ञानात्मना व्याप्नोतीति व्युत्पत्तिशब्दसमाश्रयणाद् अक्षः=आत्मा। तमा-

उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान आत्मसात् हो जाने पर फिर से मिथ्याज्ञान का उदय भी हो सकेगा। -यह कहना अयुक्त है। कारण, मिथ्याज्ञान और रागादिगण प्रकृष्ट होने पर भी, मिथ्याज्ञान और रागादि के अनेक दोष का बार बार दर्शन करने से, तथा उनके विपक्ष सम्यग्ज्ञान और वैराग्य के अनेक लाभ का चिन्तन करने से यहाँ इस प्रकार के अभ्यास का प्रवर्त्तन सभवित हो जाता है जिससे सम्यग्ज्ञान और वैराग्य का उदय होता है। सम्यग्ज्ञान और वैराग्य जब उत्कृष्ट बन जाते हैं उस काल मे न तो उन दोनो के दोष का चिन्तन किया जाता है, न तो उनके विपक्ष मे लाभ का चिन्तन किया जाता है, अत एव सम्यग्ज्ञान आत्मसात् हो जाने पर मिथ्याज्ञान या रागादि के उद्भव की सभावना ही नही रहती।

[सर्वज्ञज्ञान में प्रत्यक्षत्व कैसे ?-उत्तर]

यह शका नही करनी चाहिये कि-सर्वज्ञसबधी ज्ञान इन्द्रियजन्य तो नही है फिर 'प्रत्यक्ष' शब्द से उसका सबोधन कैसे ?-कारण, इन्द्रियजन्यत्व यह प्रत्यक्षशब्द का केवल व्युत्पत्तिनिमित्त है [अर्थात् अक्ष=इन्द्रिय का प्रतिगत यानी सबधी हो वह प्रत्यक्ष इस प्रकार की व्युत्पत्ति मे प्रत्यक्ष शब्द से आपातत यही अर्थ भासित होता है जो इन्द्रियजन्य हो वह प्रत्यक्ष किन्तु यह] प्रत्यक्षशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नही है। तात्पर्य, इन्द्रियजन्यत्व ही प्रत्यक्ष शब्द की प्रवृत्ति मे निमित्तभूत यानी प्रयोजक नही है। किन्तु इन्द्रियजन्यत्व के साथ एकार्थआश्रित यानी उसका समानाधिकरण धर्म अर्थसाक्षात्कार ही प्रत्यक्षशब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है। यह तो सुविदित है कि शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त [यानी जिस निमित्त से वह शब्द व्युत्पन्न=निष्पन्न होता है वह] अन्य ही होता है और शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त [जिसके आधार पर अर्थ मे उस शब्द की प्रवृत्ति होती है वह] अलग होता है। उदा०-गमन क्रिया रूप अर्थ मे गम् धातु से गो शब्द बनाया जाता है अतः गमन क्रिया गो शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त हुआ, धेनूरूप अर्थ मे आश्रित गोत्वसामान्य जिस अर्थ मे विद्यमान रहता है वहाँ गो शब्द की प्रवृत्ति होती है अत. गोत्व यह गोशब्द की प्रवृत्ति का निमित्त हुआ। ऐसा न मानकर यदि जो व्युत्पत्तिनिमित्त होता है उसी को प्रवृत्ति का भी निमित्त माना जाय तब तो गमनक्रियान्वित धेनु मे ही गोशब्द की प्रवृत्ति होगी, खडी रहेगी तब नही हो सकेगी, तथा गमनक्रिया के परिणाम से अन्वित महिषी (भैंस) मे भी गो शब्द की प्रवृत्ति होगी। साराश, जैसे व्युत्पत्तिशून्य धेनु मे भी प्रवृत्तिनिमित्त के बल से गोशब्दप्रवृत्ति होती है उसी प्रकार अर्थसाक्षात्कार-रूप प्रवृत्तिनिमित्त के बल पर सर्वज्ञ के ज्ञान मे 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रयोग का पूरा समव है।

श्रितं=उत्पाद्यत्वेन तं प्रतिगतं-इति प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तेः। अभ्युपगमवादेन चाभ्यासवशात् प्राप्तप्रकर्षेण ज्ञानेन सर्वज्ञ इति प्रतिपादितम्। न त्वस्माकमयमभ्युपगमः, किंतु ज्ञानाद्यावरकघातिकर्मचतुष्टयक्षयोद्भूताशेषज्ञेयव्याप्यनिन्द्रियशब्दलिंगसाक्षात्कारिज्ञानवतः सर्वज्ञत्वमभ्युपगम्यते।

यच्चोक्तम्-यद्यतीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानेन सर्वज्ञस्तदा क्रमेणातीतानागतपदार्थवेदने पदार्थानामानन्त्याद् न ज्ञानपरिसमाप्तिः इति-तदयुक्तम्, तथानभ्युपगमात्, शास्त्रार्थे क्रमेणानुभूतेऽप्यत्यन्ताभ्यासान्न क्रमेण संवेदनमनुभूयते तद्वदत्रापि स्यात्। यदप्यभ्यधायि-अथ युगपत्सर्वपदार्थवेदकं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा परस्परविरुद्धानां शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रतिभासाऽसंभवात् संभवेऽपि........इत्यादि-तदप्ययुक्तम्। यतः परस्परविरुद्धानां किमेकदाऽसंभवः, किंवा संभवेऽप्येकज्ञानेऽप्रतिभासनं भवता प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्? तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः, जलाऽनलादीनां छायाऽऽतपादीनां चैकदा विरुद्धानामपि संभवात्। अथैकत्र विरुद्धानामसंभवः तदाऽसंभवादेव नैकत्र ज्ञाने तेषां प्रतिभासो न पुनर्विरुद्धत्वात्। विरुद्धानामपि तेषामेकज्ञाने प्रतिभाससंवेदनात्।

[व्युत्पत्तिनिमित्त की सर्वज्ञ प्रत्यक्ष में उपपत्ति]

अथवा जो व्युत्पत्तिनिमित्त है-वही प्रत्यक्षशब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होने दो, फिर भी सर्वज्ञज्ञान में प्रत्यक्षशब्द के प्रयोग की योग्यता का अभाव होने की आपत्ति नही है। जैसे-'अक्ष' शब्द मे 'अश्' मूल धातु है जिसका अर्थ यह है-व्याप्त होना, 'सभी पदार्थों मे ज्ञानात्मकरूप से जो व्याप्त हो जाता है' इस व्युत्पत्तिवाले अक्ष शब्द का आश्रय करने पर 'अक्ष' शब्दार्थ हुआ आत्मा। अक्ष को आश्रित, यानी अक्ष से उत्पन्न होने के कारण अक्ष को प्रतिगत यानी सम्बद्ध हो उसी का नाम प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष। इस व्युत्पत्ति के आधार पर सर्वज्ञज्ञान भी प्रत्यक्षशब्द योग्य है क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान सर्वज्ञ आत्मा को प्रतिगत होता है, और सर्वज्ञ आत्मा अपने ज्ञान से सारे जगत् मे व्याप्त हो जाता है। यह अवश्य ध्यान देने योग्य है कि अभ्यास के माध्यम से प्रकर्षप्राप्त ज्ञान द्वारा सर्वज्ञ का जो प्रतिपादन किया है उसमे हमारा स्वरस नही है किन्तु केवल अभ्युपगमवाद यानी एक बार मान कर चलना इस नीति से किया है। हमारा ऐसा मत नही है किन्तु हमारा मत यह है-ज्ञानादिगुण के आवारक घाती कर्म (ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-अतराय ये चार कर्म) क्षीण हो जाने पर सकल ज्ञेय वस्तु का व्यापक तथा इन्द्रिय, लिंग एव शब्द से निरपेक्ष साक्षात्कार स्वरूप ज्ञान जिसको होता है वही सर्वज्ञ है।

[अनंतपदार्थ होने पर भी सर्वज्ञता की उपपत्ति]

यह जो कहा गया है-[पृ० २१३-९] अतीत-अनागत-वर्त्तमान सकल पदार्थ के साक्षात्कारी ज्ञान से अगर किसी को सर्वज्ञ माना जायेगा तो पदार्थ अनत होने के कारण क्रमशः एक एक अतीत-अनागत पदार्थ के वेदन मे ज्ञान सदा सलग्न रहेगा तो कभी अन्त ही नही आयेगा....इत्यादि-वह कथन अयुक्त है क्योंकि हम सकल पदार्थ का एक साथ ही सवेदन मानते है, क्रमश. एक एक पदार्थ का वेदन नही मानते है। जैसे अभ्यासकाल मे क्रमश शास्त्र के एक एक पदार्थ का अवधारण किया जाता है किन्तु जब अति अभ्यास हो जाता है तब उन सब शास्त्रार्थ का एक साथ ही स्मरण आदि होता है यह अनुभव सिद्ध है उसी प्रकार सर्वज्ञज्ञान मे भी एक साथ सकल पदार्थ का प्रतिभास संभव है।

एतेन-विरुद्धार्थग्राहकस्य च तज्ज्ञानस्य न प्रतिनियतार्थग्राहकत्वं स्याद्-इत्याद्यपि निरस्तम्, छायाऽऽतपादिविरुद्धार्थग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थग्राहकत्वसंवेदनात्। यच्चोक्तम्-यदि युगपत्सर्वपदार्थग्राहकं तज्ज्ञानं तदेकक्षणे एव सर्वपदार्थवेदनात् द्वितीयादिक्षणे किंचिज्ज्ञ एव स स्यात् इत्यादि-तदप्यत्यन्ताऽसबद्धम्, यतो यदि द्वितीयक्षणे पदार्थानां तज्ज्ञानस्य चाऽभावः स्यात् तदा स्यादप्येतत्, न चैतत्संभवति, तथाऽभ्युपगमे द्वितीयक्षणे सर्वपदार्थाभावात् सकलसंसारोच्छेदः स्यात्।

यदप्यभ्यधायि-अनाद्यनन्तपदार्थसंवेदने तत्संवेदनस्याऽपरिसमाप्तिः.... इत्यादि-तदप्ययुक्तम्, अत्यन्ताभ्यस्तशास्त्रार्थज्ञानस्येव युगपदनाद्यनन्तार्थग्राहिणस्तज्ज्ञानस्यापि परिसमाप्तिसंभवात्। अन्यथा भूत-भविष्यत्-सूक्ष्मादिपदार्थग्राहिण प्रेरणाजनितस्यापि कथं परिसमाप्तिः? तत्राप्यपरिसमाप्त्यभ्युपगमे "चोदना भूत भवन्तं भविष्यन्तम्"......इत्यादिवचनस्य नैरर्थक्यं स्यादिति।

यह जो आपने कहा है-[पृ० २१३] यदि ऐसा मानेंगे कि सर्वज्ञ का ज्ञान एक साथ ही सकल-पदार्थ का वेदक है तो अन्योन्यविरुद्ध शीत और उष्णादि पदार्थों का एकसाथ प्रतिभास सभव न हो सकेगा और कदाचित् सभव होगा तो भी......इत्यादि-वह सब अयुक्त कहा गया है, क्योंकि यह सोचना जरूरी है कि क्या परस्परविरुद्ध पदार्थो का एक काल मे अवस्थान ही असभव है? या अवस्थान होने पर भी एकज्ञान मे उसका प्रतिभास नही होता ऐसा आपका कहने का आशय है? इसमे अगर प्रथम का स्वीकार करे तो वह युक्त नही है। कारण, पानी और अग्नि तथा छाया और आतप ये पदार्थ परस्पर विरुद्ध होते हुए भी एक काल मे स्थानभेद से अवस्थित होते ही है। यदि यह अवस्थान असभव मानेंगे तो उसका अर्थ यह निकलेगा कि परस्पर विरुद्ध होने से वे पदार्थ एक ज्ञान में नही भासते ऐसा नही किन्तु एक काल मे न होने से ही एक सर्वज्ञज्ञान मे उन विरुद्धपदार्थों का प्रतिभास नही होता है। इस लिये दूसरा विकल्प भी प्रतिहत हो जाता है। तथा विरुद्ध पदार्थो का भी एक ज्ञान मे प्रतिभास सवेदन होता है यह अनुभवसिद्ध होने से भी दूसरा विकल्प अयुक्त सिद्ध होता है।

[विरुद्धार्थग्राहकता में आपत्ति का अभाव]

परस्परविरुद्धार्थों का ग्रहण निर्बाध है अत एव आपने जो यह कहा है [पृ० २१३]-'विरुद्धार्थग्राहक सर्वज्ञज्ञान प्रतिनियत ही अर्थ का ग्राहक नही हो सकेगा. इत्यादि'-यह निर्मूल हो जाता है क्योंकि एक ही ज्ञान से स्थानभेद से छाया और आतप का असकीर्ण स्फुट अनुभव होता है अत प्रतिनियतार्थग्राहिता सवेदनसिद्ध ही है। और भी जो आपने कहा है-[पृ० २१४] सर्वज्ञ का ज्ञान यदि एक साथ सभी वस्तु को ग्रहण करने वाला होगा तो एक ही क्षण मे सभी पदार्थ को ग्रहण कर लेगा तो दूसरे क्षण मे वह किंचिद् ज्ञाता ही रहेगा . इत्यादि-वह तो अत्यन्त सबधविहीन है। क्योंकि यदि द्वितीय क्षण मे ज्ञेय पदार्थो का अथवा ज्ञान का अभाव हो जाता तब तो यह हो सकता था किन्तु वैसा कोई सभव ही नही है। यदि वैसा मान लिया जायेगा तो बडी आपत्ति यह आयेगी कि दूसरे क्षण सभी पदार्थो का शून्य मे परिवर्त्तन हो जाने से सारे ससार का उच्छेद हो जायेगा।

[संवेदन अपरिसमाप्ति दोष का निरसन]

यह जो आपने कहा [पृ० २१४]-पदार्थों का प्रवाह अनादि और अनन्त होने से उन सभी का सवेदन मानेंगे तो उस सवेदन का भी अन्त नही आयेगा.. इत्यादि-वह भी अयुक्त है, शास्त्रार्थों का जब अत्यन्त अभ्यास पड जाता है तब जैसे एक साथ वे सभी एक ही ज्ञान मे याद आ जाते है उसी

यदपि-'परस्थरागादिसंवेदने सरागः स्यात्' इत्यादि-तदप्यसंगतम् । न हि परस्थरागादिसंवेदनात् रागादिमान् भवति, अन्यथा श्रोत्रियद्विजस्यापि स्वप्नज्ञानेन मद्यपानादिसंवेदनाद् मद्यपानदोषः स्यात् । अथाप्यरसनेन्द्रियजं तज्ज्ञानमिति नाऽयं दोषस्तर्हि सर्वज्ञज्ञानमपि नेन्द्रियजमिति कथमशुचिरसास्वाददोषस्तत्रासज्येत ? न च रागादिसंवेदनाद्रागीति लोकव्यवहारः, किन्त्वंगनाकामनाद्यभिलाषस्वसंविदितस्याशिष्टव्यवहारकारिणः स्वात्मस्वभावस्योत्पत्तेः । न चासौ तत्रेति कथं स रागादिमान् ?

यदपि-अथ शक्तियुक्तत्वेन सर्वपदार्थवेदनम्...... इत्यादि-तदप्यचारु । यथा उपलब्धिलक्षणप्राप्ते संनिहितदेशादावनुपलब्धेः 'अपरमत्र नास्ति' इति इदानीतननानामियत्तानिश्चयः तथा सर्वज्ञस्यापि स्वशक्तिपरिच्छेदात्, अन्यथा घटादीनामपि क्वचित् प्रदेशेऽभावनिश्चयेऽपरप्रकारासंभवात् सकलव्यवहारविलोपः स्यात् । 'अथ यावदुपयोगिप्रधानपदार्थज्ञातम्' इत्याद्यपि अयुक्तम्, सकलपदार्थज्ञत्वप्रतिपादनात् ।

प्रकार सर्वज्ञज्ञान भी एक साथ अनादि-अनन्त पदार्थो को ग्रहण कर सकता है, अत उसका अन्त नही आने की कोई आपत्ति नही है। यदि ऐसा नही मानेगे तो आप भूत-भावि-वर्त्तमान-सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों को ग्रहण करने वाले वैदिक विधिवाक्यजन्य ज्ञान की परिसमाप्ति कहाँ से मानेंगे । अगर कहेगे कि हम उस को अपरिसमाप्त (यानी अपूर्ण) ही मानते हैं-तब तो "प्रेरणावाक्य भूत-भावि-भविष्य सभी पदार्थो का बोधक है" इत्यादि जो आप का सिद्धान्तवचन है वह अर्थशून्य प्रलाप हो जायगा ।

[परकीयरागसंवेदन से सरागता नहीं आपन्न होती]

यह जो कहा है-अन्य की आत्मा मे अन्तर्गत रागादि का सवेदन मानने पर सर्वज्ञ मे सरागिता आपन्न होगी-वह तो असगत है। कोई भी पुरुष अन्यव्यक्ति अन्तर्गत रागादि के सवेदन से सरागी नही माना जाता। यदि उसे भी सरागी माना जायेगा तो श्रोत्रिय ब्राह्मण को स्वप्नावस्था मे अपने ज्ञान से जब मद्यपान का सवेदन कदाचित् होगा तो उसे मद्यपान का दोष अवश्य लगेगा। यहाँ बचाव करें कि-वह मद्यपानसवेदन रसनेन्द्रियजन्य न होने से कोई दोष नही है, तो सर्वज्ञ का भी परकीयरागादिसवेदन इन्द्रियजन्य नही है तो कसे आप सर्वज्ञज्ञान मे अशुचिरस के आस्वाद की आपत्ति दे रहे है ? लोक मे रागादि के सवेदन मात्र से 'यह सरागी हैं' ऐसा व्यवहार नही होता, किन्तु स्त्री की कामना आदि अभिलाषा से जो स्वानुभवसिद्ध है तथा जिसके कारण अशिष्ट व्यवहार मे प्रवृत्ति हो जाती है ऐसा जो अपना (कुत्सित) आत्मीय स्वभाव है वही सभी पुरुष मे 'सरागिता' व्यवहार प्रयोजक है। सर्वज्ञ पुरुष का ऐसा कुत्सित स्वभाव न होने के कारण वह कैसे सरागी होगा ?

[पदार्थ-इयत्ता का अवधारण सुलभ है]

यह जो कहा है [पृ० २१४]-यदि सर्वज्ञ सकलज्ञानशक्ति युक्त होने से सभी पदार्थ को जान लेता है........इत्यादि-वह भी सुन्दर नही है। जैसे निकटवर्त्ती देश आदि मे उपलब्धि के योग्य होते हुये भी जो पदार्थ उपलब्ध नही होते तब "यहाँ और कुछ नही है (इतना ही है)" ऐसा इयत्तासूचक निश्चय वर्त्तमान युग के मानवो को भी होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भी अपनी शक्ति का निर्णय कर सकता है। यदि आप इस प्रकार नही मानेंगे तो घटाभाव आदि सर्वव्यवहार सर्वथा विलुप्त हो जायेंगे। कारण, किसी भी प्रदेश मे घटाभाव के निर्णय मे एक मात्र योग्यानुपलब्धि ही उपाय है, -[-जिसका आप तो अपलाप कर रहे है] और तो कोई उपाय घटाभाव का निर्णायक है नही। यह भी जो आपने कहा है [पृ० २१५]-सर्वज्ञ अगर जितने उपयुक्त पदार्थसमूह है उतने को जानेगा....

अत एव-*ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धरि।
सत्येव दाह्ये न ह्यग्निः क्वचिद् दृष्टो न दाहकः ॥ [ ]

इत्यत्र यदुक्त-"किं सर्वज्ञत्वाद् अथ किंचिज्ज्ञत्वाद् इति, नोभयथापि हेतुः। यदि तावत् सर्वज्ञत्वादिति हेत्वर्थः परिकल्प्यते तदा प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुरसिद्ध एव, कथं हि तदेव साध्यं तदेव हेतुः ? अथ ज्ञत्वमात्रं हेतुस्तदाऽनैकान्तिकः, ज्ञत्वमात्रस्य किंचिज्ज्ञत्वेनाऽप्यविरोधात्" इति-तदपि निरस्तम्, 'सामान्येन सर्वज्ञत्वात्' इत्यस्य हेतुत्वात् 'विशेषेण तज्ज्ञत्व'स्य साध्यत्वात्। सामान्य-विशेषयोश्च भेदस्य कथंचित् प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् सामान्येन सर्वज्ञत्वस्य चानुमानव्यवहारिणं प्रति साधितत्वात्।

एतेन 'सूक्ष्माऽन्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्' इत्यत्र प्रयोगे प्रमेयत्वहेतोर्यद् दूषणमुपन्यस्तं पूर्वपक्षवादिना, तदपि निरस्तम् सर्वसूक्ष्मान्तरितपदार्थानां व्याप्तिप्रसाधकेनानुमानप्रमाणेन वैकेन सामान्यतः प्रमेयत्वस्य प्रसाधितत्वात्। यच्च 'प्रधानपदार्थपरिज्ञानं न सकलपदार्थज्ञानमन्तरेण संभवति' इति-तत् सर्वज्ञवचनामृतलवास्वादसंभवो भवतोऽपि कथंचित् संपन्न इति लक्ष्यते। तथाहि तद्वचः—"जे एगं जाणइ"...[आचारांग-१-३-४-१२२] इत्यादि।

इत्यादि-वह भी अयुक्त है, क्योंकि हम सर्वज्ञ को कुछ एक पदार्थसमूह के ज्ञाता नहीं किन्तु सर्वपदार्थों का ज्ञाता मानते है।

[सर्वज्ञत्वादि हेत्वर्थपरिकल्पनाओं का निरसन]

सर्वज्ञसाधकयुक्तिप्रदिपादक एक प्राचीन उक्ति है जिसमे कहना यह है कि-जो ज्ञस्वभाव है वह प्रतिबन्धक न होने पर सर्वज्ञेय के विषय मे अज्ञ कैसे रहेगा ? अग्नि है और उसका कोई दाह्य पदार्थ भी है तो अग्नि उसका दाह न करे ऐसा कही भी नही देखा गया।-इस उक्ति के उपर जो किसी ने चापल्य प्रदर्शित किया है वह भी पूर्वोक्त निवेदन से निरस्त हो जाता है। पूर्वपक्षी उस उक्ति पर यह कहना चाहता है कि-"प्रतिबन्ध के अभाव मे सकलज्ञेय के ज्ञाता की सिद्धि मे क्या हेतु है-सर्वज्ञत्व अथवा अल्पज्ञता ? दोनो मे से एक भी हेतु नही हो सकता। जैसे यदि सर्वज्ञत्व को हेतु करेंगे तो वही प्रतिज्ञात अर्थ का एक देश होने से हेतु ही असिद्ध हो जायेगा। जो साध्य है उसी को हेतु भी किया जाय यह कैसा ? यदि केवल ज्ञत्व को हेतु किया जाय तो किंचिज्ज्ञत्व के साथ उसका विरोध न होने से ज्ञत्व हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा।"-यह पूर्वपक्षी का निवेदन इसलिये निरस्त हो जाता है कि साध्य और हेतु मे कोई ऐक्य है नही-हेतु 'सामान्यत सर्वज्ञता'रूप है और साध्य 'विशेषत सर्वज्ञता' रूप है। यह भी आगे दिखाया जायेगा कि सामान्य और विशेष मे कथंचित् भेद भी होता है। हेतु 'सामान्यतः सर्वज्ञत्व' असिद्ध नही है क्योंकि 'सर्वमनेकान्तरूपम्' इत्यादि रूप से पहले सामान्यत सर्वज्ञता को अनुमान से व्यवहार करने वालो के प्रति सिद्ध किया गया है।

[सर्वज्ञतासाधक प्रमेयत्व हेतु में उपन्यस्त दोष का निरसन]

पूर्वपक्षवादी ने-'सूक्ष्म, व्यवहित एव दूरस्थ पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष का विषय है क्योंकि प्रमेय है'-इस [पृ० १८३] प्रयोग मे जो प्रमेयत्व हेतु के ऊपर तीन विकल्पो से [पृ० १८४] दोषारोपण किया है-वह भी उपरोक्त चर्चा से निरस्त हो जाता है। कारण, सकल सूक्ष्मव्यवहित पदार्थ व्याप्ति-

---

* "दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धक" ॥ ४६२ ॥ इति किंचिद्भिन्नोत्तरार्धं योगबिन्दौ।

तन्मतानुसारिभिः पूर्वाचार्यैरप्ययमर्थो न्यगादि-

एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः ॥ [ ]

अस्यायमर्थः-न ह्यसर्ववित्ता कश्चिदेकोऽपि पदार्थस्तत्त्वतो द्रष्टुं शक्यः, एकस्यापि पदार्थस्यानुगतव्यावृत्तधर्मद्वारेण साक्षात् पारंपर्येण वा सर्वपदार्थसम्बन्धिस्वभावत्वात् । तत्स्वभावाऽवेदने च तस्याऽवेदनमेव परमार्थतः, ततस्तज्ज्ञानं स्वप्रतिभासमेव वेत्तीति नार्थो विदितः स्यात्, केवलं तत्राभिमानमात्रमेव लोकस्य ।

अथ संबन्धिस्वभावता पदार्थस्य स्वरूपमेव न भवति, यद् केवलं प्रत्यक्षप्रतीतं संनिहितमात्रं स एव वस्तुस्वभावः, संबंधिता तु तत्र परिकल्पितैव पदार्थान्तरदर्शनसंभवतया । तथा चोक्तम्-

निष्पत्तेरपराधीनमपि कार्यं स्वहेतुना । संबध्यते कल्पनया किमकार्यं कथंचन ॥ [प्र. वा. १-२६]

साधक तर्क सज्ञक प्रमाण के विषयभूत होने से अथवा 'सर्वमनेकान्तात्मकम्' इत्यादि कोई एक अनुमान प्रमाण के विषयभूत होने से सकल पदार्थो मे प्रमाणविषयत्वरूप प्रमेयत्व सामान्यत· सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब तर्क प्रमाण से सकल पदार्थ की किसी एक वाच्यत्वादि धर्म के साथ व्याप्ति सिद्ध की जाती है अथवा अनुमान प्रमाण से सकल पदार्थ मे किसी एक धर्म का साधन किया जाता है तब सकलपदार्थ उस तर्क प्रमाण या अनुमान प्रमाण के विषय तो बन ही जाते है, इस प्रकार उनमे सामान्यत. प्रमाणविषयत्वरूप प्रमेयत्व की सिद्धि निर्बाध हो जाती है।

यह जो आपने कहा है [पृ० २१५]-सकल पदार्थों को जाने विना मुख्य-मुख्य पदार्थो का ज्ञान समव नही है-इससे तो ऐसा लगता है कि आप को भी सर्वज्ञ के वचनामृत का आंशिक रसास्वाद किसी प्रकार उपलब्ध हो गया है। तात्पर्य, हमारे इष्ट का ही आप अनुवाद कर बैठे हैं। जैसे कि यह एक सर्वज्ञवचन आचारागसूत्र मे उपलब्ध है-"जो एक को जान लेता है वह सभी को जान लेता है"। अर्थात् परिपूर्ण अशो से जो एक पदार्थ जानता है वही परिपूर्ण अशो से सर्व पदार्थ को भी जान पाता है।

[एक भाव के पूर्णदर्शन से सर्वज्ञता]

केवल सर्वज्ञ का वचन ही उक्त विषय मे उपलब्ध नही है किन्तु सर्वज्ञमतानुयायी पूर्वाचार्यो ने भी इस अर्थ का प्रतिपादन करते हुए कहा है-"जिसने किसी एक ही भाव को तत्त्वत. जान लिया है, वही सकल भाव को सर्वथा=सर्वांश मे देखने वाला है। जिसने सर्वांश मे सकल भाव को देख लिया है वही तत्त्वत एक भाव को देखने वाला है।"-इसका तात्पर्यार्थ यह है कि जो असर्वज्ञ है वह किसी एक भी पदार्थ को तत्त्वत· देखने मे समर्थ नही है। कारण, अनुगत और व्यावृत्त धर्म द्वारा साक्षात् अथवा परम्परा से एक पदार्थ भी सर्व पदार्थो के साथ सम्बन्ध रखने के स्वभाव वाला होता है। जब तक इस स्वभाव का सवेदन न हो तब तक परमार्थ से देखा जाय तो उस पदार्थ का सवेदन ही नही हुआ है। तो फलित यह हुआ कि उस पदार्थ का ज्ञान केवल अपना प्रतिभासमात्ररूप ही है, वास्तविक सर्वांश मे पदार्थ का वेदन उसमें नही है। फिर भी लोगो को यह जो अनुभव होता है कि "मैने इस वस्तु को जान लिया है" वह केवल उनका अभिमान ही है।

इति-तदयुक्तम्, एवं हि परिकल्प्यमाने स्वरूपमात्रसंवेदनात् अद्वैतमेव प्राप्तम्, ततः सर्वपदार्थाभावे व्यवहाराभावः। अथ व्यवहारोच्छेदभयात् पदार्थसद्भावोऽभ्युपगम्यते तर्हि सर्वपदार्थसंबन्धिताऽपि साक्षात् पारम्पर्येण च पदार्थस्वभावोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा साक्षात् पारंपर्येण वाऽन्यपदार्थजन्य-जनकतालक्षणसंबन्धिताऽनभ्युपगमे तद्व्यावृत्त्यनुगतिसंबन्धिताऽनभ्युपगमे च पदार्थस्वरूपस्याप्यभावः। तत्पदार्थपरिज्ञाने च तद्विशेषणभूता तत्संबंधिताऽपि ज्ञातैव, अन्यथा तस्य तत्परिज्ञानमेव न स्यात्। तत्परिज्ञाने च सकलपदार्थपरिज्ञानमस्मदादीनामनुमानतः, सर्वज्ञस्य य साक्षात् तज्ज्ञानेन सकलपदार्थज्ञानम्।

लोकस्तु प्रत्यक्षेण कथंचित् कस्यचित् प्रतिपत्ता। तथाहि-धूमस्याप्यग्निजन्यतया प्रतिपत्तौ बाष्पादिव्यावृत्तधूमस्वरूपप्रतिपत्तिः, अन्यथा व्यवहाराभावः। तथा नीलादिप्रतिभासस्य बाह्यार्थसंबंधितयाऽप्रतिपत्तौ बाह्यार्थाऽप्रतिपत्तिरेव स्यात्। तस्मात् संबंधितयैव पदार्थस्वरूपप्रतिपत्तिः, तच्च संबंधित्वं प्रमेयमनुमानेन प्रतीयतेऽभ्यासदशायामस्मदादिभिः, यत्र क्षयोपशमलक्षणोऽभ्यासस्तत्र तस्य प्रत्यक्षतोऽपि प्रतिपत्तिरिति कथं न प्रधानभूतपदार्थवेदने सकलपदार्थवेदनम्, एकवेदनेऽपि सकलवेद-नस्य प्रतिपादितत्वात्?

[पदार्थों में अन्योन्यसंबंधिता परिकल्पित नहीं है]

यदि यह शका की जाय-सर्वपदार्थसवन्धितारूप स्वभाव यह पदार्थ का तात्त्विक स्वरूप ही नही है, जो केवल सनिहित हो और प्रत्यक्ष से प्रतीत हो वही वस्तु का स्वभाव होता है। सबधिता तो काल्पनिक है, जब अन्य कोई वस्तु का दर्शन होता है तो उसके साथ संबन्ध की सभावना मात्र से संबधिता की कल्पना की जाती है। जैसे कि कहा गया है-"कार्य अपनी उत्पत्ति के बाद स्वतन्त्र होता है। फिर भी उस कार्य का अपने कारण के साथ साथ किसी प्रकार कल्पना के द्वारा सबध जोड दिया जाता है। किन्तु जो अकार्य है उसका किसी भी प्रकार से अन्य के साथ सबध नही होता।" [प्रमाणवार्त्तिक २-२६] इस उक्ति से यह फलित होता है कि कार्य-कारण सम्बन्ध भी काल्पनिक है।-यह शंका ठीक नही है। क्योकि ऐसा मानने पर ज्ञान का अर्थ के साथ भी सबधाभाव हो जाने पर ज्ञान मे केवल अपने स्वरूपमात्र का सवेदन ही शेष रह जायेगा तो विज्ञानाद्वैतवाद का साम्राज्य फैल जायेगा और उससे सकल पदार्थ का अभाव सिद्ध होने से उन पदार्थो का सभी व्यवहार विलुप्त हो जायगा। यदि व्यवहार के उच्छेद भय से पदार्थो का अस्तित्व मानेंगे तो सभी पदार्थो का साक्षात् अथवा परम्परा से अन्योन्य सबध भी सिद्ध होने से उसको भी साक्षात् अथवा परम्परा से वस्तुस्व-भावरूप ही मानना होगा। यदि आप साक्षात् अथवा परम्परा से अन्यपदार्थों के साथ जन्यजनकभाव-स्वरूप संबध का अस्वीकार करेंगे, तथा अन्यपदार्थो के साथ अनुवृत्ति और व्यावृत्ति रूप सबध का भी अस्वीकार करेंगे तो पदार्थ का उस सबध को छोड कर अन्य कोई स्वरूप ही न होने से वस्तु मे स्वरूप का अभाव ही प्रसक्त होगा। यदि पदार्थ का परिज्ञान मानना ही है तो पदार्थस्वरूप मे विशेषणरूप से अन्तर्भूत अन्यपदार्थसबधिता का भान मानना ही होगा, उसके बिना पदार्थ का ही भान नही हो सकेगा। जब सकलपदार्थसबंधिता का उक्त रीति से भान स्वीकारना है तो अब यह कहा जा सकता है कि हम लोगो को सकलपदार्थो का ज्ञान अनुमान से हो सकता है और सर्वज्ञ को साक्षात् सकलपदार्थसबधिता का ज्ञान होने से सर्वपदार्थ का ज्ञान सिद्ध होता है। --

विकल्पाभावेऽपि मन्त्राविष्टकुमारिकादिवचनवत् नित्यसमाहितस्यापि वचनसंभवाद् 'विकल्पाभावे कथं वचनं'.......इत्यादि निरस्तम् । दृश्यते चात्यन्ताभ्यस्ते विषये व्यवहारिणां विकल्पनमन्तरेणापि वचनप्रवृत्तिरिति कथं ततः सर्वज्ञस्य छाद्मस्थिकज्ञानाऽऽसञ्जनं युक्तम् ? यदप्युक्तम् अतीतादेरसत्त्वात् कथं तज्ज्ञानेन ग्रहणम् , ग्रहणे वाऽसदर्थग्राहित्वात् तज्ज्ञानवान् भ्रान्तः स्याद्'........इत्यादि-तदप्ययुक्तत् । यतः किमतीतादेरतीतादिकालसंबन्धित्वेनाऽसत्त्वम् ? उत तज्ज्ञानकालसंबन्धित्वेन ? यद्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनेति पक्ष , स न युक्तः, वर्त्तमानकालसंबन्धित्वेन वर्त्तमानस्येव तत्कालसंबधित्वेनातीतादेरपि सत्त्वसंभवात् ।

अथातीतादेः कालस्याभावात् तत्संबंधिनोऽप्यभावः, तदसत्त्वं च प्रतिपादितं पूर्वपक्षवादिनाऽनवस्थेतरेतराश्रयादिदोषप्रतिपादनेन ।-सत्यम् , प्रतिपादितं न च सम्यक् । तथाहि-नास्माभिरपरातीता-

---

[लौकिक प्रत्यक्ष से कतिपय अर्थ ग्रहण]

सभी लोगो को प्रत्यक्ष से सर्वार्थग्रहण नही होता, फिर भी किसी प्रकार कुछ एक अर्थो का ग्रहण होता है । जैसे-'यह बाष्पपटल नही है किन्तु धूम ही है' ऐसा धूमस्वरूप का बोध तभी होता है जब अग्नि से उसकी उत्पत्ति का भान हो । ऐसा नही मानेंगे तो वाष्पभिन्नरूप से धूमस्वरूप का निर्णय न होने से धूमादि का नि शक व्यवहार नही हो सकेगा । नीलादिविषयक जो प्रतिभास होता है उसमे यदि बाह्यार्थनीलादि के सबध का ग्रहण नही होगा तो बाह्यार्थ की प्रतीति ही विलुप्त हो जायेगी । इससे यह फलित होता है कि पदार्थ के स्वरूप का बोध एक या दूसरे रूप से अन्यसबधितागर्भित ही होता है । यह सबधितारूप जो प्रमेय है उसकी प्रतीति अभ्यासकाल मे हम लोगो को अनुमान से होती है । जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है अर्थात् क्षयोपशम खुल जाता है तब प्रत्यक्ष से भी अन्यसबधिता की प्रतीति हो जाती है । इस स्थिति मे सर्वज्ञ को जब मुख्य मुख्य कुछ पदार्थो का वेदन मानने जायेंगे तो सर्वपदार्थ का तत्सबधितया वेदन क्यो नही सिद्ध होगा, जब कि पूर्वाचार्य की उक्ति द्वारा एक वस्तु के पूर्ण वेदन मे सर्ववस्तु के वेदन का प्रतिपादन हम कर चुके है ।[पृ० २५९]

[नित्यसमाधिदशा में भी वचनोच्चारसंभव]

यह जो आपने कहा था [पृ० २१५] समाधिदशा मे विकल्प होता नही तो विकल्पाभाव मे वचन प्रयोग कैसे होगा ?..इत्यादि वह भी निरस्त हो जाता है क्योकि मन्त्र के द्वारा सस्कृत बालिका आदि विकल्प के विरह मे भी जैसे बोल देती है, उसी प्रकार नित्य समाधिमग्न रहने पर भी वचन प्रयोग सभव है । यह भी देखा जाता है-जिस विषय मे परिपक्व अभ्यास हो जाता है, उस विषय मे बोलने के पहले कुछ भी विकल्प न करने पर भी व्यवहारी सज्जनो की वचनप्रवृत्ति हो जाती है । अतः विकल्प के द्वारा सर्वज्ञात्मा मे आवृतावस्थाकालीन ज्ञान का प्रसंजन कैसे उचित कहा जाय ? यह जो आपने कहा है [पृ० २१५]-"अतीतादि वस्तु (या काल) तो असत् हो गये, अब ज्ञान से उसका ग्रहण कैसे होगा ? यदि ग्रहण होगा तो वह ज्ञान, असत्पदार्थग्राही होने से तथाभूतज्ञानवान् आत्मा भ्रान्तिवाला हो जायेगा ।"... इत्यादि, वह भी अयुक्त है । कारण यह है कि आप अतीत पदार्थ को क्या अतीतकालसबन्धि होने से असत् कहते है ? या अतीत वस्तु का ज्ञान जिस काल मे किया जा रहा है उस (वर्त्तमान) काल का सबधी होने से ? यदि अतीतकालसबधी होने से अतीत वस्तु असत् होने का पक्ष माना जाय तो वह युक्त नही है । कारण, वर्त्तमान वस्तु जैसे वर्त्त-

·दिकालसम्बन्धित्वादस्यातीतादित्वमभ्युपगम्यते येनाऽनवस्था स्यात् । नापि पदार्थानामतीतादित्वेन कालस्यातीतादित्वम् येनेतरेतराश्रयदोषः । किन्तु स्वरूपत एवातीतादिसमयस्यातीतादित्वम् । तथाहि-अनुभूतवर्त्तमानत्वः समयोऽतीत इत्युच्यते, अनुभविष्यद्वर्त्तमानत्वश्चाऽनागतः, तत्सम्बन्धित्वात् पदार्थस्याप्यतीतानागतत्वेऽविरुद्धे ।

अथ यथातीतादेः समयस्य स्वरूपेणैवातीतादित्वं तथा पदार्थानामपि तद्भविष्यतीति व्यर्थस्तदभ्युपगम.-एतच्चात्यन्ताऽसगतम् , न ह्येकपदार्थधर्मस्तदन्यत्राप्यासञ्जयितुं युक्तः, अन्यथा निम्बादेस्तिक्तता गुडादावप्यासञ्जनीया स्यात् । न च साऽत्रैव प्रत्यक्ष सिद्धा इत्यन्यत्रासञ्जनेतद्विरोध इत्युत्तरम्, प्रकृतेऽप्यस्योत्तरस्य समानत्वात् । भवतु पदार्थधर्म एवातीतादित्वं तथापि नास्माकमभ्युपगमक्षतिः, विशिष्टपदार्थपरिणामस्यैवातीतादिकालत्वेनेष्टेः, "परिणाम-वर्त्तना-दिवि-(? विधि-)पराऽपरत्वे"-[प्रशमरति-२१८] इत्याद्यागमात् । तथाहि-स्मरणविषयत्वं पदार्थस्यातीतत्वमुच्यते, अनुभवविषयत्वं वर्त्तमानत्वम् , स्थिरावस्थादर्शनलिंगबलोत्पद्यमान-कालान्तरस्थाय्ययं पदार्थः-इत्यनुमानविषयत्वं धर्मोऽनागतकालत्वमिति ।

मानकालसबन्धितया सत् होती है-असत् नही होती, उसी प्रकार अतीत वस्तु अतीतकालसबधीतया सत् ही होने का सभव है, असत् क्यो ?

[अतीतकाल का असत्त्व असिद्ध है]

यदि यह कहा जाय-"अतीतादि काल वर्त्तमान में न होने से अतीतकालसंबंधी वस्तु भी वर्त्तमान मे नही है । अतीतकाल का असत्त्व तो पूर्वपक्षवादी ने अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष के प्रतिपादन [पृ. २१७] द्वारा पहले ही घोषित किया है ।"-तो यह ठीक है कि, पूर्वपक्षी ने अतीतकाल के असत्त्व की घोषणा की है किंतु वह सगत नही है । जैसे-हम लोग अन्य अन्य अतीतकाल के सबन्ध से काल को अतीत नही मानते है जिससे अनवस्था को अवकाश मीले, तथा पदार्थों के अतीतत्वादि धर्म के आधार पर काल को अतीत नही मानते है जिससे अन्योन्याश्रय दोष अवसरप्राप्त हो सके । अतीतादि समय को हम अपने स्वरूप से ही अतीत मानते है । जैसे-जिस समय को वर्त्तमानता पर्याय प्राप्त हो चुका है वह समय अतीत कहलाता है । जिस समय को वर्त्तमानता पर्याय प्राप्त नही हुआ वह समय अनागत कहलाएगा । स्वरूपतः अतीत और अनागत काल के सम्बन्ध से अन्य पदार्थ को अतीत एव अनागत मानने मे कोई विरोध नही है ।

[पदार्थों में कालवत् स्वरूपतः अतीतत्वादि का असंभव]

शंका-अतीतादि समय मे यदि स्वरूपत· अतीतत्वादि मानते है तो पदार्थों को भी स्वरूपतः अतीतादि मान लेने से अतीतकालादि की कल्पना व्यर्थ होगी ।

उत्तर-यह शका अत्यन्त असगत है, जो एकपदार्थ का प्रसिद्ध धर्म है उस का दूसरे पदार्थ में प्रसजन करना उचित नही है । नही तो नीम आदि की कटुता का गुडादि द्रव्य मे भी प्रसजन किया जा सकेगा । यह उत्तर भी ठीक नही है कि "कटुता धर्म नीम मे प्रत्यक्षसिद्ध होने से गुडादि में उसका प्रसजन अशक्य है" क्यो कि ऐसा उत्तर कालपक्ष मे भी समान ही है । काल मे अतीतत्वादि धर्म सर्वजनप्रसिद्ध है अतः अन्यत्र उस का प्रसंजन नही हो सकता ।

तेन यदुच्यते 'यदि स्वत एव कालस्यातीतादित्वं, पदार्थस्यापि तत् स्वत एव स्यात्' इति परेण, तत् सिद्धं साधितम् । तदतीतादिकालस्य सत्त्वान्न तत्कालसंबन्धित्वेनातीतादेः पदार्थस्याऽसत्त्वम्, वर्त्तमानकालसंबन्धित्वेन त्वतीतादेरसत्त्वप्रतिपादनेऽभिमतमेव प्रतिपादितं भवति, न ह्यतीतकालसंबन्धित्वसत्त्वमेवैतज्ज्ञानकालसंबंधित्वमस्माभिरभ्युपगम्यते । न चैतत्कालसंबन्धित्वेनाऽसत्त्वे स्वकालसंबंधित्वेनाऽप्यतीतादेरसत्त्वं भवति, अन्यथैतत्कालसंबन्धितयाप्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनाऽसत्त्वात् सर्वाभावः स्यादिति सकलव्यवहारोच्छेदः ।

अथापि स्यात्-भवत्वतीतादेः सत्त्वम् तथापि सर्वज्ञज्ञाने न तस्य प्रतिभासः तज्ज्ञानकाले तस्याऽसंनिहितत्वात्, संनिधाने वा तज्ज्ञानावभासिन इव वर्त्तमानकालसम्बन्धिनोऽतीतादेरपि वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वप्राप्तेः । न हि वर्त्तमानस्यापि संनिहितत्वेन तत्कालज्ञानप्रतिभासित्वं मुक्त्वाऽन्यद् वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वम्, एवमतीतादेस्तज्ज्ञानावभासित्वे वर्त्तमानत्वमेवेति वर्त्तमानमात्रपदार्थज्ञानवानस्मदादिवन्न सर्वज्ञः स्यात् । किं च, अतीतादेस्तज्ज्ञानकालेऽसंनिहितत्वेन तज्ज्ञानेऽप्रतिभासः, प्रतिभासे वा स्वज्ञानसबंधित्वेन तस्य ग्रहणात् तज्ज्ञानस्य विपरीतख्यातिरूपताप्रसक्तिः ।

दूसरी बात यह है कि यदि अतीतत्वादि को पदार्थ धर्म ही मान लिया जाय तो हमारे जैन मत मे कोई हानि नही है क्योकि हमारा इष्ट यही है कि अतीतादि काल यह एक प्रकार से पदार्थो का विशिष्ट परिणामरूप ही है । हमारे प्रशमरति शास्त्र मे कहा भी है-"परिणाम, वर्त्तना, विधि और परापरत्व ये सब वस्तु के धर्मरूप है जिस को काल कहा जाता है" यह इस प्रकार-पदार्थ मे 'स्मृतिविषयता' यही अतीतत्व है, 'अनुभवविषयता' यह वर्त्तमानत्व है, तथा पदार्थ मे जो स्थिर अवस्था का दर्शन होता है उस को लिंग बना कर 'यह पदार्थ कालान्तरस्थायी है' इस प्रकार जो अनुमान उत्पन्न किया जाता है, ऐसे अनुमान की विषयतारूप धर्म ही पदार्थगत अनागतकालता है ।

[पदार्थों में स्वतः अतीत्वादि का भी संभव]

परवादी ने यह जो कहा है--काल का अतीतत्वादि यदि स्वत हो सकता है तो पदार्थों का भी अतीतत्वादि स्वत हो सकता है [पृ० २१८]-यह तो जो हमारे मत मे चिर सिद्ध है उसी का साधन है । निष्कर्ष-अतीतादि काल का सत्त्व अबाधित होने से अतीतादिकालसबधितया अतीतादि पदार्थों का असत्त्व भी निर्बाध है । यदि अतीतादि वस्तु को वर्त्तमानकालसबधितया असत् कहा जाय तो यह भी हमारे इष्ट का ही प्रतिपादन है । अत. पूर्वोक्त दूसरा विकल्प इष्ट सिद्धि से ही निराकृत हो जाता है । क्योकि अतीतकालसबन्धित्वरूप से सत्त्व और उसका ज्ञान जिस काल मे हो रहा है तत्कालसबन्धित्व, इन दोनो को हम एकरूप नही मानते है । यहाँ अवश्य आप को ध्यान देना चाहिये कि वर्त्तमानकालसबधितया जो असत् है वह स्वकाल (अतीतादि) सबधितया भी असत् नही हो जाता । अन्यथा, वर्त्तमानकालसबधिता भी अतीतादिकालसबधितया असत् हो जायेगी तो वर्त्तमानकालसबधी सकल पदार्थ भी असत् हो जाने से सभी प्रकार के सत् व्यवहार का उच्छेद ही हो जायेगा । इस से यह भी फलित हो जाता है कि अतीतादिविषयक सर्वज्ञज्ञान असत् नही है ।

[सर्वज्ञज्ञान में अतीतादि का प्रतिभास अशक्य-शंका]

अगर आप शका करे--

अतीतादि काल की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध भले हो फिर भी सर्वज्ञ के ज्ञान मे उसका प्रति-

एतदसंबद्धम्-यतो यथाऽस्मदादीनामसंनिहितकालोऽप्यर्थः सत्यस्वप्नज्ञाने प्रतिभाति, न चाऽसंनिहितस्य तस्यातीतादिकालसंबन्धिनो वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वम्, नाऽपि स्वकालसंबन्धित्वेन सत्यस्वप्नज्ञाने तस्य प्रतिभासनात् तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वम्। यत्र ह्यन्यदेशकालोऽर्थोऽन्यदेशकालसंबंधित्वेन प्रतिभाति सा विपरीतख्यातिः। अत्र त्वतीतादिकालसंबन्धी अतीतादिकालसंबंधित्वेनैव प्रतिभातीति न तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य तत्कालसंबन्धित्वेन वर्त्तमानत्वम्, नापि तद्ग्राहिणो विज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वम्-तथा सर्वज्ञज्ञानेऽपि यदा यदातीतादिकालोऽर्थोऽतीतादिकालसंबन्धित्वेन प्रतिभाति तदा कथं तस्यार्थस्य वर्त्तमानकालसंबन्धित्वम्? कथं वा तज्ज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वमिति?

यथा वा विशिष्टमन्त्रसंस्कृतचक्षुषामंगुष्ठादिनिरीक्षणेनान्यदेशा अपि चौरादयो गृह्यमाणा न तद्देशा भवन्ति, नापि तज्ज्ञानं तद्देशादिसंबन्धित्वमनुभवति, तथा सर्वविद्विज्ञानमप्यसंनिहितकालं यथार्थ-

---

भास मानना अनुचित है। कारण, ज्ञान काल मे अतीतादि वस्तु सनिहित नही है। अथवा यदि उसे सनिहित मानेगे तो अन्य पदार्थ जैसे तत्कालज्ञानावभासि होने से वर्त्तमानकालसबधी होते है उसी प्रकार अतीतादि पदार्थ भी तत्कालज्ञानावभासी मानने पर वर्त्तमानकाल के सबधी भी मानने होंगे जो सिद्धान्तविरुद्ध है। वर्त्तमान पदार्थो मे जो वर्त्तमानकालसबधिता मानी जाती है उसका अर्थ यही है कि वे पदार्थ सनिहित होने के कारण वर्त्तमानकालीनज्ञान मे अवभासी है, इससे अन्य उसका कोई अर्थ सगत नही है। यदि अतीतादि पदार्थो को भी वर्त्तमानकालीनज्ञानावभासी मानेगे तो उन्हे वर्त्तमान ही मानना होगा। इस का सार यह निकलेगा कि सर्वज्ञ केवल वर्त्तमानकालीनपदार्थो को ही जानता है, फिर तो वह हम लोगो के तुल्य हो जाने से सर्वज्ञ ही नही रहेगा। दूसरा यह भी कह सकते है कि-अतीतादि के ज्ञान काल में अतीत पदार्थ सनिहित न हो सकने के कारण उस ज्ञान मे उसका प्रतिभास ही शक्य नही, अगर शक्य हो तो उस ज्ञान मे अन्यथाख्याति यानो भ्रमत्व दोष की आपत्ति होगी, कारण, स्वज्ञान यानी वर्त्तमानकालज्ञान के सबधिरूप मे अतीतादि का ग्रहण हो रहा है। तात्पर्य यह है कि अतीतादि का ग्रहण अतीतकालसबधिरूप मे होना चाहिए उसके बजाय वर्त्तमानकालसबधिरूप मे जब माना जाता है तो वह भ्रमज्ञान ही कहा जायेगा।

[अतीतादि काल के प्रतिभास की उपपत्ति]

उपरोक्त शका सबधशून्य है। कारण,

हम लोगो को जो अर्थ इस काल मे असनिहित है उसका भी सच्चे स्वप्नज्ञान मे प्रतिभास होता है। वह अर्थ तो अनागतादिकालसबधि होने के कारण असनिहित होने से वर्त्तमानकालसबधी किसी भी प्रकार नही होता, तथा स्वकीय अनागतादि काल के सम्बन्धीरूप से ही वह सच्चे स्वप्नज्ञान मे भासित होता है अत' उस अनागतार्थग्राही ज्ञान विपरीतख्याति(=भ्रम)रूप भी नही होता। भ्रमरूप ज्ञान वहाँ होता है जहाँ किसी एक देश-कालवर्त्ती अर्थ का अन्यदेश कालसबन्धीरूप से प्रतिभास होता है। यहाँ स्वप्न ज्ञान मे तो जो अतीतादिकालसबन्धि अर्थ है उसका अतीतादिकालसबन्धिरूप से ही ग्रहण होता है, अत. इस ज्ञान मे प्रतिभासमान अर्थ का ज्ञानकालसबधिता के द्वारा वर्त्तमानत्व आपन्न नही होता और इसी लिये अतीतार्थग्राही सच्चा स्वप्नज्ञान विपरीतख्यातिरूप भी नही हो सकता। ठीक उसी प्रकार सर्वज्ञज्ञान में भी जब अतीतादिकालसबन्धी अर्थ अतीतादिकालसबधितया भासित होता है तो उस अर्थ मे किस प्रकार वर्त्तमानकालसबधिता का आपादन किया जा सकता है? और उस ज्ञान को विपरीतख्यातिरूप भी कैसे कहा जाय?

मवभासयति स्वात्मना तत्कालसंबन्धित्वमननुभवदपि तदा को विरोधः ? कथं वा तस्यातीतादेरर्थस्य तज्ज्ञानकालत्वमिति ? न च सत्यस्वप्नज्ञानेऽप्यतीताद्यर्थप्रतिभासे समानमेव दूषणमिति न तद्दृष्टान्त-द्वारेण सर्वज्ञज्ञानमतीताद्यर्थग्राहकं व्यवस्थापयितुं युक्तम् इति वक्तुं युक्तम्, अविसंवादवतोऽपि ज्ञानस्य विसंवादविषये विप्रतिपत्त्यभ्युपगमे स्वसंवेदनमात्रेऽपि विप्रतिपत्तिसद्भावाद् अतिसूक्ष्मेक्षिकया तस्यापि तत्स्वरूपत्वाऽसंभवात् सर्वशून्यताप्रसंगात्, तन्निषेधस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अतो न युक्तमुक्तम् 'अथ प्रतिपाद्यापेक्षया' इत्यादि........'न भ्रान्तज्ञानवान् सर्वज्ञः कल्पयितुं युक्तः' इति पर्यन्तम्।

यदप्युक्तम्-'भवतु वा सर्वज्ञस्तथाप्यसौ तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं न शक्यते'....इत्यादि, तदप्य-संगतम्-यतो यथा सकलशास्त्रार्थाऽपरिज्ञानेऽपि व्यवहारिणा 'सकलशास्त्रज्ञः' इति कश्चित् पुरुषो निश्ची-यते तथा सकलपदार्थाऽपरिज्ञानेऽपि यदि केनचित् कश्चित् सर्वज्ञत्वेन निश्चीयते तदा को विरोधः ? युक्तं चैतद्, अन्यथा युष्माभिरपि सकलवेदार्थाऽपरिज्ञाने कथं जैमिनिरन्यो वा वेदार्थज्ञत्वेन निश्चीयते ? तदनिश्चये च कथं तद्व्याख्यातार्थानुसरणादग्निहोत्रादावनुष्ठाने प्रवृत्तिः ? इति यत्किञ्चिदेतत् "सर्वज्ञो-ऽयमिति ह्येतत्" इत्यादि।

[सर्वज्ञज्ञान में अतीतकालसंबंधिता की अनापत्ति]

सर्वज्ञज्ञान मे असनिहित अर्थ के प्रतिभास की निर्दोषता मे अन्य भी एक उदाहरण है-जैसे कितने ही मन्त्रवेत्ता मन्त्र से अपने नेत्र का परिष्कार करके अपने हस्त के अगूठे के नखो मे अन्य-देशगत चौरादि को साक्षात् देख लेते है, वे चौरादि उस मन्त्रवेत्ता के देश मे सनिहित नही होते, उस वक्त मन्त्रवेत्ता का ज्ञान भी चौरादि देश सबन्धी नही होता फिर भी चौरादि का ज्ञान होता है। ठीक उसी प्रकार, सर्वज्ञ का ज्ञान स्वय अतीतादि अर्थकाल का सबधी न होने पर भी असंनिहित अतीतादि अर्थ का अवभासक हो सकता है-इसमे कौनसा विरोध है ? एवं उस अतीतादि अर्थ का अन्य काल मे ज्ञान मे अवभास होने मात्र से अतीतादि अर्थ ज्ञानकालसवन्धी भी कैसे हो जायेगा ? यह कहना उचित नही है कि-"सत्यस्वप्न ज्ञान मे भी हम अतीत अर्थ का प्रतिभास ठीक नही मानते, अतः वहाँ भी अतीत अर्थ के प्रतिभास मे वे सब दूषण तुल्य हैं जो सर्वज्ञज्ञान मे हमने दिया है। अत सत्य-स्वप्नज्ञान के दृष्टान्त से सर्वज्ञज्ञान मे अतीतार्थावभासकत्व का समर्थन अनुचित है"-यह कहना इस-लिये अनुचित है कि जिस ज्ञान मे कोई विसवाद ही नही है उस ज्ञान मे विसवाद का आरोप करके उस विषय मे विवाद खडा करने पर अपने सभी सवेदनो मे वैसे विवाद की सभावना हो सकेगी। फिर उसका अति सूक्ष्म आलोचन करने द्वारा कहा जा सकेगा कि हम लोगो के भी सभी सवेदन मे तत्तद् अर्थग्रहण स्वरूपत्व का सभव नही है-परिणाम यह आयेगा कि किसी भी सवेदन से किसी भी अर्थ की निर्विवाद सिद्धि असभव हो जाने से किसी भी पदार्थ की निर्बाध सत्ता सिद्ध न होने पर शून्यवाद घुस जायेगा। शून्यवाद का स्वीकार नितान्त अनुचित है यह हम आगे दिखाने वाले है। इस पूरे कथन का आशय यह है कि आपने जो अतीतादि के सबध मे पहले ऐसा कहा था "प्रतिपाद्य की अपेक्षा अतीतत्वादि का अभाव मानना ठीक नही" [पृ० २१६]-........इत्यादि से लेकर "भ्रान्तज्ञान वाले सर्वज्ञ की कल्पना ठीक नही है" इत्यादि [पृ० २१८]...वह सब व्यर्थ प्रलाप है।

[सर्वज्ञरूप में सर्वज्ञ की प्रतीति अशक्य नहीं है]

यह जो आपने कहा था [पृ० २१८ प० ६]-"सर्वज्ञ का अस्तित्व भले हो, किन्तु "यह सर्वज्ञ है"

तदेवं सर्वज्ञसद्भावग्राहकस्य प्रमाणस्य ज्ञत्व-प्रमेयत्व-वचनविशेषत्वादेर्दशितत्वात् तदभाव-प्रसाधकस्य च निरस्तत्वात् "ये बाधकप्रमाणगोचरतामापन्नास्ते 'असत्' इति व्यवहर्त्तव्याः" इति प्रयोगे हेतोरसिद्धत्वात्, ये सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणत्वे सति सदुपलम्भकप्रमाणगोचरास्ते 'सत्' इति व्यवहर्त्तव्याः, यथोभयवाद्यप्रतिपत्तिविषया घटादयः, तथाभूतश्च सर्वविद् इति भवत्यतः प्रमाणात् सर्वज्ञव्यवहारप्रवृत्तिरिति।

अथापि स्यात्-स्वविषयाविसंवादिवचनविशेषस्य तद्विषयाविसंवादिज्ञानपूर्वकत्वमात्रमेव भवता प्रसाधितम्, न चैतावताऽनन्तार्थसाक्षात्कारिज्ञानवान् सर्वज्ञः सिद्धि मासादयति, सकलसूक्ष्मादिपदार्थ-सार्थसाक्षात्कारिज्ञानविशेषपूर्वकत्वे हि वचनविशेषस्य सिद्धे तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञत्वसिद्धिः स्यात्। न च तथाभूतज्ञानपूर्वकत्वं वचनविशेषस्य सिद्धम्, अनुमानादिज्ञानादपि स्वविषयाऽविसंवादिवचनविशेषस्य संभवात्, न च तथाभूतज्ञानवान् सर्वज्ञो भवद्भिरभ्युपगम्यत इत्येतद् हृदि कृत्वाऽऽह सूरिः 'कुसमयवि-सासणं' इति। सम्यक्=प्रमाणान्तराविसंवादित्वेन ईयन्ते=परिच्छिद्यन्ते-इति समयाः=नष्ट-मुष्टि-चिन्ता-लाभाऽलाभ-सुखाऽसुख-जीवित-मरण-ग्रहोपराग-मन्त्रौषधशक्त्यादयः पदार्थाः, तेषां विविधम्=अन्य-पदार्थकारणत्वेन कार्यत्वेन चानेकप्रकारं शासन=प्रतिपादकम् यतः शासनम् कुः=पृथ्वी तस्या इव।

ऐसा तो उस काल में भी असर्वज्ञजन नही पीछान सकते।" .इत्यादि, वह भी असगत है। कारण, व्यवहारी पुरुष स्वय सकलशास्त्रार्थ का परिज्ञाता न होने पर भी किसी पडितपुरुष को "यह सकल शास्त्र का ज्ञाता है" इस रूप मे पिछानता ही है। तो सर्व पदार्थ का ज्ञान न होने पर भी यदि कोई किसी के लिये 'यह सर्वज्ञ है' इस प्रकार निश्चय कर सकता है इसमे विरोध क्या है? विरोध की बात तो दूर, बल्कि यही युक्तियुक्त है। अन्यथा आप मीमासको को यह समस्या होगी कि जो स्वय सकल वेदार्थ का ज्ञाता नही है तो जैमिनि ऋषि या अन्य किसी को 'यह सर्ववेदार्थज्ञाता है' इसरूप मे आप कैसे निश्चय कर सकोगे? और इस निश्चय के अभाव मे, जैमिनि आदि के व्याख्या किये हुये वेदार्थ का अनुसरण करने द्वारा अग्निहोत्रादि अनुष्ठान मे कैसे प्रवृत्ति करोगे? इसलिये "सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत्" इत्यादि श्लोकवार्त्तिक [२-१३४/१३५] श्लोक [पृ० २१८] को प्रस्तुत कर आपने जो कुछ कहा है वह सब महत्त्वशून्य है।

[सर्वज्ञव्यवहारप्रवृत्ति प्रमाणभूत है]

उपरोक्त सपूर्ण चर्चा के द्वारा ज्ञत्व, प्रमेयत्व और वचनविशेषत्व हेतु प्रयुक्त अनुमान प्रमाण सर्वज्ञ सद्भाव साधक यह दिखाया है, तदुपरात सर्वज्ञअभाव के जो साधक प्रमाण पूर्वपक्षी ने उपन्यस्त किये थे वह भी सब निरस्त कर दिया है, तथा यह जो अनुमान प्रयोग किया था-'बाधक-प्रमाणगोचरता को प्राप्त जो पदार्थ है उनका 'असत्' रूप से व्यवहार करना'-इस प्रयोग मे बाधक-प्रमाणगोचरत्व हेतु असिद्ध है यह भी दिखाया है। अतः हम जो यह प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं-"जिन के बारे मे कोई सुनिश्चित बाधक प्रमाण का सभव नही है और जो सत् पदार्थ साधक प्रमाण के विषय विषय हैं उनका 'सत्' रूप से व्यवहार होना चाहिये, जैसे कि वादि-प्रतिवादी दोनो सम्मत पदार्थ घटादि। सर्वज्ञ भी 'सत्' पदार्थ साधक प्रमाण का विषय है और उसकी सत्ता मे कोइ सुनिश्चित बाधक प्रमाण का सभव नही है"-इस अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ के व्यवहार की प्रवृत्ति निर्बाध सम्पन्न होती है।

अयमभिप्राय:-ज्ञत्वप्रमेयत्वादेरनेकप्रकारस्य प्रतिपादितन्यायेन सर्वज्ञसत्त्वप्रतिपादकस्य हेतोः ्भावेऽपि तत्कृतत्वेन शासनप्रामाण्यप्रतिपादनार्थं सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते, तस्य चान्यतो हेतोः प्रतिपाद-ऽपि तदागमप्रणेतृत्वं हेत्वन्तरात् पुनः प्रतिपादनीयं स्यादिति हेत्वन्तरमुत्सृज्य प्रतिपादनगौरवपरिहा-र्थं वचनविशेषलक्षण एव हेतुस्तत्सद्भावावेदक उपन्यसनीयः, स चानेन गाथासूत्रावयवेन सूचितः। त एव सत्कृत्य हेतुः कर्त्तव्य । तथाहि-यो यद्विषयाऽविसंवाद्यलिंगानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वको वचन-शेष. स तत्साक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभवः, यथाऽस्मदादिप्रवर्त्तित: पृथ्वीकाठिन्यादिविषयस्तथाभूतो चनविशेषः, नष्ट-मुष्टिविशेषादिविषयाविसंवाद्यलिंगानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकवचनविशेषश्चायं सनलक्षणोऽर्थ इति ।

['कुसमयविसासणं' पद की सार्थकता]

अब व्याख्याकार आद्य मूल श्लोकान्तर्गत 'कुसमयविसासणं' इस पद की सार्थकता दिखाने के लेये भूमिका मे एक शका उपस्थित करते हैं यदि यह शका की जाय-"जिस विषय मे अविसंवादि-चन विशेष की उपलब्धि होती है केवल उन वचन के हेतु रूप मे उस विषय के अविसंवादिज्ञानवत्ता ी ही आप सिद्धि कर सके है, इतने मात्र से अनतार्थ के साक्षात्कारि ज्ञान वाला सर्वज्ञ सिद्ध नही हो सकता। ऐसे सर्वज्ञ की सिद्धि तो तभी शक्य है जब कोई एक वचनविशेष मे समस्त सूक्ष्मादि दार्थसमूहसाक्षात्कारिज्ञान की कार्यता सिद्ध की जाय। कुछ एक विषय के प्रतिपादक अविसवादि वचन विशेष तो अनुमानादि ज्ञान से भी जनित हो सकता है किन्तु वैसे अनुमानादि ज्ञान वाले पुरुष को आप सर्वज्ञ नही मानते है।" इस शका को मनोगत रख कर मूल ग्रन्थकार ने शासन के लिये कुसमयविसासण ऐसा विशेषणप्रयोग किया है। समय शब्द मे 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है सम्यक् यानी अन्य प्रमाणो के साथ विसंवाद न हो इस रीति से, ई-धातु का अर्थ है परिच्छेद यानी निर्णय का सपादन। सम् और ई धातु से कर्म अर्थ 'समय' शब्द निष्पन्न होने से उसका अर्थ यह हुआ कि जो इस प्रकार निर्णीत किये जाय जिससे अन्य प्रमाणो के साथ विसंवाद न हो ऐसे पदार्थ। ये पदार्थ अनेक प्रकार के हैं जैसे नष्ट वस्तु, मुष्टिगत वस्तु, मनोगत चिंता, लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, ग्रहो का उपराग, मन्त्रशक्ति, औषधशक्ति इत्यादि। 'विसासण' शब्द मे वि-उपसर्ग का अर्थ है विविध यानी अन्य पदार्थ के कारण रूप और कार्यरूप से इत्यादि अनेक प्रकार से, शासन यानी उन पदार्थो का उपरोक्त प्रकार से प्रतिपादन करने वाला, अतएव वह शासन कहा जाता है-जैसे कि कु यानी पृथ्वी का प्रतिपादक वचन विशेष। इस विशेषण का विशेष तात्पर्य व्याख्याकार ही दिखा रहे है—

[वचनविशेषरूप हेतु के उपन्यास का प्रयोजन]

'कुसमयविसासण' इसका विशेष अभिप्राय यह है पूर्व चर्चा मे जो युक्तियाँ दिखाई गयी हैं उनके अनुसार सर्वज्ञ सत्ता का प्रतिपादक यद्यपि ज्ञत्व-प्रमेयत्व आदि अनेक प्रकार के हेतु विद्यमान है, तथापि यहाँ वचनविशेष रूप हेतु का ही सर्वज्ञसत्ता साधक रूप मे उपन्यास करना उचित है। कारण, जैन प्रवचन स्वरूप आगम का प्रामाण्य वह सर्वज्ञप्रणीत होने के कारण ही संभव है अत एव सर्वज्ञसत्ता स्वीकार की जाती है। अब यदि वचनविशेषरूप हेतु को छोड कर अन्य ज्ञत्व आदि हेतु से उसकी सिद्धि की जायेगी तो 'सर्वज्ञ यह प्रस्तुत आगम का प्रणेता है' इसकी सिद्धि के लिये अन्य कोई हेतु ढूंढना पडेगा। इस प्रकार दोनो के अलग अलग प्रतिपादन मे गौरव होगा, इस दोष का

न चात्राऽविसंवादित्वं वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोर्विशेषणमसिद्धम् ,-नष्ट-मुष्टयादीनां वचनविशेषप्रतिपादितानां प्रमाणान्तरतस्तथैवोपलब्धेरविसंवादसिद्धेः। योऽपि क्वचिद् वचनविशेषस्य तत्र विसंवादो भवता परिकल्प्यते सोऽपि तदर्थस्य सम्यगपरिज्ञानात् सामग्रीवैकल्यात् , न पुनर्वचनविशेषस्याऽसत्यार्थत्वात् । न च सामग्रीवैकल्यादेकत्राऽसत्यार्थत्वे सर्वत्र तथात्वं परिकल्पयितुं युक्तम् अन्यथा प्रत्यक्षस्यापि द्विचन्द्रादिविषयस्य सामग्रीवैकल्येनोपजायमानस्याऽसत्यत्वसंभवात् समग्रसामग्रीप्रभवस्याप्यसत्यत्वं स्यात् ।

अथाऽविकलसामग्रीप्रभवं प्रत्यक्षं विकलसामग्रीप्रभवात् तस्माद् विलक्षणमिति नायं दोष', तदत्रापि समानम् । तथाहि-सम्यगज्ञाततदर्थाद् वचनाद् यद् नष्ट-मुष्टयादिविषयं विसंवादिज्ञान-

परिहार करने के लिये अन्य हेतु को छोड कर वचनविशेषरूप हेतु को पकडने से एक साथ दोनो की, सर्वज्ञ की और तत्प्रणीत होने के कारण वचनविशेषस्वरूप आगम के प्रामाण्य की सिद्धि एक साथ हो जाती है। अत: इस बात की सूचना सूत्रकार ने 'कुसमयविसासण' इस गाथावयव के द्वारा प्रदत्त की है। कुसमयविसासण का अर्थ है पृथ्वी की भाँति पदार्थों का शासक यानी प्रतिपादक वचन समूह। इससे सर्वज्ञसिद्धि मे यह परिष्कृत हेतु फलित किया जा सकता है किसी एक विषय का अविसवादी ऐसा वचनविशेष जो न तो लिंगज्ञानप्रयुक्त है, न उपदेशश्रवणप्रयुक्त है और न उसके साथ किसी पदार्थ के अन्वय-व्यतिरेक दर्शन से प्रयुक्त है-ऐसा जो वचनविशेष होता है [यह तो हेतु निर्देश हुआ,] वह उस विषय के साक्षात्कारी ज्ञानविशेष से उच्चारित होता है। [यह साध्य निर्देश हुआ] जैसे, उदा० हम लोग कहते हैं 'यह पृथ्वी कठीन है' इत्यादि, तो यह वचन पृथ्वी के काठिन्य का साक्षात्कार करके ही हम बोलते है न कि काठिन्य के किसी लिंग को देखकर, अथवा किसी के उपदेश को सुनकर या उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक वाले किसी अर्थ के दर्शन से। प्रस्तुत जो शासन यानी द्वादशागी प्रवचन है वह भी नष्ट और मुष्टिगत इत्यादि अनेकविध अर्थ का प्रतिपादक है किन्तु वह वचनविशेषरूप प्रवचन किसी लिंग दर्शन से, अथवा किसी के उपदेश सुनकर, या उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक वाले किसी अन्य अर्थ को देखकर प्रयुक्त नही है। अत: वह तत्तद् विषय के साक्षात्कारिज्ञान से प्रयुक्त है यह सिद्ध होता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सर्वज्ञ प्रतिपादित होने से यह आगम प्रमाणभूत है।

['अविसंवादि' विशेषण की सार्थकता]

हमने जो वचनविशेष को 'अविसवादी' ऐसा विशेषण लगाया है वह असिद्ध नही है। कारण, हमारे आगम मे जो नष्ट और मुष्टिगत आदि पदार्थो का प्रतिपादन है वे पदार्थ अन्य प्रमाण से भी उसी प्रकार उपलब्ध होते है अत. अविसवाद सिद्ध होता है। आपने जो कही कही हमारे आगम में विसवाद होने की कल्पना की है वह भी उसके सही अर्थ को समझने की सामग्री-उपलब्ध न होने के कारण उस वचन के वास्तविक अर्थज्ञान के अभावमूलक है, वचनविशेष असत्यार्थक होने के कारण नही। सामग्री के अभाव मे किसी एक दो वचन का अर्थ असत्य प्रतिभासित होने पर भी सभी वचनो मे असत्यार्थता की कल्पना उचित नही है। यदि ऐसी कल्पना उचित मानी जायेगी तो किसी एक प्रत्यक्ष मे चन्द्रयुगल का असत्य प्रत्यक्षदर्शन पूर्ण सामग्री के अभाव मे उत्पन्न होता है इस कारण संपूर्ण सामग्री होने पर जो प्रत्यक्षदर्शन होगा उसको भी असत्य ही मानना पड़ेगा।

मुत्पद्यते तत् सम्यगवगततदर्थवचनोद्भवाद् विलक्षणमेव। यथा च विशिष्टसामग्रीप्रभवस्य प्रत्यक्षस्य न क्वचिद् व्यभिचारः इति तस्याऽविसंवादित्वं तथावगतसम्यगर्थवचनोद्भवस्यापि नष्ट-मुष्ट्यादि-विषयविज्ञानस्येति सिद्धमत्राऽविसंवादित्वलक्षणं विशेषणं प्रकृतहेतोः।

नाप्यलिंगपूर्वकत्वं विशेषणमसिद्धम्, नष्ट-मुष्ट्यादीनामस्मदादीन्द्रियाऽविषयत्वेन तल्लिंगत्वेनाभिमतस्याप्यर्थस्यास्मदाद्यक्षाऽविषयत्वान्न तत्प्रतिपत्तिः, प्रतिपत्तौ वाऽस्मदादीनामपि तल्लिंगदर्शनाद् वचनविशेषमन्तरेणाऽपि ग्रहोपरागादिप्रतिपत्तिः स्यात्। न हि साध्यव्याप्तलिंगनिश्चयेऽग्न्यादिप्रतिपत्तौ वचनविशेषापेक्षा दृष्टा, न भवति चास्मदादीनां वचनविशेषमन्तरेण कदाचनाऽपि प्रतिनियतदिक्प्रमाण-फलाद्यविनाभूतग्रहोपरागादिप्रतिपत्तिरिति तथाभूतवचनप्रणेतुरतीन्द्रियार्थविषयं ज्ञानमलिंगमभ्युपगन्तव्यमित्यलिंगपूर्वकत्वमपि विशेषणं प्रकृतहेतोर्नासिद्धम्।

नाप्ययमुपदेशपरम्परयाऽतीन्द्रियार्थदर्शनाऽभावेऽपि प्रमाणभूतः प्रबन्धेनानुवर्त्तत इत्यनुपदेशपूर्वकत्वविशेषणाऽसिद्धिरिति वक्तुं युक्तम्, उपदेशपरम्पराप्रभवत्वे नष्ट-मुष्ट्यादिप्रतिपादकवचनविशेषस्य वक्तुरज्ञान-दुष्टाभिप्राय-वचनाकौशलदोषैः श्रोतुर्वा मन्दबुद्धित्व-विपर्यस्तबुद्धित्व-गृहीतविस्मरणैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यानादौ काले मूलतश्छिन्नोच्छेद एव स्यात्। तथाहि-इदानीमपि केचिद्

[प्रत्यक्ष और वचनविशेष में अविसंवाद का साम्य]

यदि यह कहा जाय-सपूर्णसामग्रीजन्य प्रत्यक्ष और अपूर्णसामग्रीजन्य प्रत्यक्ष दोनो अन्योन्य-विलक्षण ही है, अतः सभी प्रत्यक्ष को असत्य मानना नही पडेगा-तो यह बात वचनविशेष मे भी समान ही है, जैसे-जिस वचन का वास्तव अर्थ अज्ञात है उस वचन से जो नष्ट-मुष्टि आदि विषयक विसंवादी ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा जिसका वास्तव अर्थ ज्ञात है ऐसे वचन से जो नष्ट-मुष्टि आदि विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है ये दोनो अन्योन्य विलक्षण होने से सभी वचनविशेष मे असत्यता की आपत्ति नही है। जिस रीति से, विशिष्ट-परिपूर्णसामग्रीजन्य प्रत्यक्ष का कभी विषय के साथ व्यभिचार न होने से उसको अविसवादी माना जाता है, उसी प्रकार जिसका वास्तव अर्थ समझने मे आ गया है ऐसे वचन से उत्पन्न नष्ट-मुष्टि आदि विषयक विज्ञान भी व्यभिचार न होने से अविसवादी माने जायेंगे, तो इस प्रकार वचनविशेषहेतु का अविसवादिता विशेषण सार्थक सिद्ध होता है।

[अलिंगपूर्वकत्व विशेषण की सार्थकता]

वचन विशेष मे जो अलिगपूर्वकत्व विशेषण लगाया है वह असिद्ध नही है। नष्ट-मुष्टि आदि वस्तुएँ हम लोगो के लिये इन्द्रियगोचर नही है, अत एव कोई भी अर्थ उसका लिंग मान लिया जाय, वह भी हम लोगो के लिये इन्द्रियगोचर न होने से हम लोगो को उसका भान नही होगा। यदि भान होता तब तो उस लिंग को देख कर ही आगमवचन के विना भी हम लोगो को सूर्य-चन्द्र-ग्रहणादि का भान हो जाता जैसे कि, जब साध्य का अविनाभावि धूम लिंग का निर्णय होता है तो अग्नि आदि के बोध मे वचन विशेष की अपेक्षा नही रह जाती। किन्तु यह तो सुनिश्चित है-आगम वचन के विना हम लोगो को कभी भी अमुक सुनिश्चित दिशा मे, अमुक प्रमाण में, अमुक फल का अविनाभावि सूर्य-चन्द्रग्रहण होगा-ऐसा भान नही होता। अतः ऐसे आगमवचन के प्रणेता का अतीन्द्रिय अर्थ विषयक ज्ञान, विना लिंग के उत्पन्न होता है यह मानना पडेगा। अत. अलिगपूर्वकत्व ऐसा प्रकृत हेतु का विशेषण असिद्ध नही है।

ज्योतिःशास्त्रादिकमज्ञानदोषादन्यथोपदिशन्त उपलभ्यन्ते, अन्ये समवगच्छन्तोऽपि दुष्टाभिप्रायतया, अन्ये वचनदोषादव्यक्तमन्यथा चेति ।

तथा श्रोतारोऽपि केचिद् मन्दबुद्धित्वदोषादुक्तमपि यथावन्नावधारयति । अन्ये विपर्यस्तबुद्धयः सम्यगुपदिष्टमप्यन्यथाऽवधारयन्ति । केचित् पुनः सम्यक् परिज्ञातमपि विस्मरन्तीत्येवमादिभिः कारणैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यैतावन्तं कालं यावदागमनमेव न स्याच्चिरोच्छिन्नत्वेन, आगच्छति च, तस्मादन्तराऽन्तरा विच्छिन्नः सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानवता केनचिदभिव्यक्तः इयन्तं कालं यावदागच्छतीत्यभ्युपगमनीयमिति नानुपदेशपूर्वकत्वविशेषणाऽसिद्धिः ।

नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां नष्ट-मुष्ट्यादिकं ज्ञात्वा तद्विषयवचनविशेषप्रवर्त्तनं कस्यचित् संभवति येनाऽनन्वय-व्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणाऽसिद्धिः स्यात् । यतो नान्वय-व्यतिरेकाभ्यां ग्रहोपरागौषधशक्त्यादयो ज्ञातुं शक्यन्ते, प्रावृट्समये शिलीन्ध्रोद्भेदववद् ग्रहोपरागादीनां दिक्-प्रमाण फल-कालादिषु नियमाभावात् । द्रव्यशक्तिपरिज्ञानाभ्युपगमेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां यावन्ति जगति द्रव्याणि

[हेतु में अनुपदेशपूर्वकत्व विशेषण की उपपत्ति]

ऐसा कहना कि–"अतीन्द्रियार्थदर्शन न होने पर भी प्रमाणभूत वचन विशेष की उपदेश परम्परा चिरकाल से प्रवाहित होती रही है, अत आपने जो हेतु मे अनुपदेशपूर्वकत्व विशेषण लगाया है वह असिद्ध है"–उचित ही नही है । कारण, नष्ट–मुष्टि आदि पदार्थ के प्रतिपादक वचनविशेष को यदि उपदेश परम्परा जन्य मानेंगे तो काल अनादि होने से ऐसे वचन का मूलत. उच्छेद कब का हो चुका होता । क्योकि वक्ता (उपदेशको) का अज्ञान, अथवा उनकी प्रतारणबुद्धि एव वचनप्रयोग मे अकौशल इत्यादि दोषवृन्द, तथा श्रोताओ की मन्दबुद्धि अथवा विपरीतबुद्धि एवं ग्रहण करने के बाद विस्मरण हो जाना इत्यादि दोषो के कारण दिन प्रति दिन वचनो का ह्रास होता ही रहता है । जैसे कि–वर्त्तमानयुग मे कितने ही ऐसे उपलब्ध हो रहे हैं जो ज्योतिषशास्त्र के समीचीन ज्ञान न होने के दोष से विपरीत उपदेश कर रहे है । कई ऐसे भी है जो ठीक तरह से जानते तो है फिर भी दूसरे को ठगने की बुद्धि से विपरीत उपदेश करते है । तो कई ऐसे भी है जो वचन दोष के कारण समझ मे न आवे ऐसा अथवा तो विपरीत उपदेश करते है । यह तो वक्ता की बात हुयी, अब श्रोताओ मे भी देखिये—

[आगमार्थ के अभिव्यंजक सर्वज्ञ की सत्ता सप्रयोजन]

श्रोतावर्ग भी ऐसा होता है कि कितने तो बुद्धिमदता के दोष, से उपदिष्ट अर्थ का सम्यग् अवधारण ही नही करते । दूसरे कुछ ऐसे होते हैं–जो बुद्धि विपर्यास के कारण सच्चे उपदेश का भी विपरीत अवधारण कर बैठते है । कितने तो ठीक तरह से अवधारण करते है किन्तु कालान्तर मे भूल जाते है ।.. इत्यादि उक्त प्रकार के कारणो से दिन प्रतिदिन नयी नयी पिढी मे जिन वचनो का ह्रास होता जा रहा है ऐसे आगम का इतने काल तक अनुवर्त्तन ही कैसे संभव है जब कि वह चिर अतीत मे नष्ट हो जाने की पूरी सभावना है । देखा तो यह जाता है कि उपरोक्त स्थिति मे भी आगमवचन का प्रवाह चालु है । अत यह मानना चाहिये कि बीच बीच मे उसका विच्छेद तो हुआ होगा किन्तु पुनः पुनः पदार्थों को साक्षात् करने के ज्ञान वाले सत्पुरुषो ने उसकी अभिव्यक्ति की होगी जिससे कि वह इतने काल तक प्रवाहित होता आया है । इस प्रकार वचनविशेष मे अनुपदेशपूर्वकत्वरूप विशेषण की भी असिद्धि नही है ।

तान्येकत्र मीलयित्वैकस्य रस-कल्कादिभेदेन, कर्षादिमात्राभेदेन, बाल-मध्यमाद्यवस्थाभेदेन, मूल-पत्राद्यवयवभेदेन प्रक्षेपोद्धाराभ्यामेकोऽपि योगो युगसहस्रेणाऽपि न ज्ञातुं पार्यते किमुतानेक इति कुतस्ताभ्यामौषधशक्त्यवगमः ? तेन नानन्वय-व्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणस्याऽसिद्धिः।

नाऽपि नष्ट-मुष्ट्यादिविषयवचनविशेषस्याऽपौरुषेयत्वाद् विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वस्याऽसिद्धेरसिद्धः प्रकृतो हेतुः, अपौरुषेयस्य वचनस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्। नाप्यसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेऽपि प्रकृतवचनविशेषस्य संभवादनैकान्तिकः, सविशेषणस्य हेतोर्विपक्षे सत्त्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्। अत एव न विरुद्धः, विपक्ष एव वर्त्तमानो विरुद्धः, न चास्य पूर्वोक्तप्रकारेणावगतस्वसाध्यप्रतिबन्धस्य विपक्षे वृत्तिसंभवः।

अथ भवतु ग्रहोपरागाभिधायकस्य वचनस्य तत्पूर्वकत्वसिद्धिरतो हेतोः तत्र तस्य संवादात्, धर्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिस्तु कथं, तत्र तस्य संवादाभावात् ? न, तत्रापि तस्य संवादात्। तथाहि–ज्योतिःशास्त्रादेर्ग्रहोपरागादिकं विशिष्टवर्ण-प्रमाण-दिग्विभागादिविशिष्टं प्रतिपद्य-

---

[हेतु में अनन्वय-व्यतिरेकपूर्वकत्व विशेषण की उपपत्ति]

यह भी संभव नही है कि अन्वय और व्यतिरेक से कोई पुरुष नष्ट–मुष्टि आदि पदार्थ को जानकर वचनविशेष का प्रतिपादन करे। अत एव हेतु मे अनन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्व विशेषण लगाया है वह असिद्ध नही है। चन्द्र सूर्य का ग्रहण और औषधो की विचित्र शक्तियाँ अन्वय-व्यतिरेक से अवगत नही की जा सकती। यह तभी हो सकता अगर ग्रहण आदि मे अमुक ही दिशा मे, अमुक ही प्रमाण मे, अमुक ही काल मे और अमुक ही फलसपादन करने का नियम होता जैसे कि शिलीन्ध्र यानी वनस्पतिविशेष मे वर्षाकाल मे ही उत्पत्ति का नियम उपलब्ध है। औषधद्रव्यो कि शक्ति का ज्ञान अन्वय व्यतिरेक से मानने मे भी सफलता नही मिलेगी चूँकि विश्व मे जितने द्रव्य हैं वे सब एकत्रित किये जाय और उसका अन्योन्य मिश्रण और पृथक्करण किया जाय तो हजारो युग बीत जाने पर भी रस और कल्कादि भेद से, कर्षादि तोल-माप के भेद से, बालोचित-मध्यमोचित आदि अवस्थाभेद से तथा मूल-पत्रादि अवयवभेद से किसी एक योग (मिश्रण) का भी पूरी जानकारी पाना कठिनतम है-दुर्लभ है तो फिर अनेक योगो की तो बात ही कहाँ ? तब कैसे अन्वय-व्यतिरेक द्वारा औषधो की शक्ति जानी जा सकेगी ? इसका निष्कर्ष यही है कि अनन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्व यह हेतु का विशेषण असिद्ध नही है।

[हेतु में असिद्ध-अनैकान्तिकता-विरोध का परिहार]

हमारे हेतु को यह कह कर असिद्ध नही बताया जा सकता कि–नष्ट–मुष्टि आदि पदार्थ संबधी वचनविशेष अपौरुषेय है अत पुरुष के विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वरूप साध्य ही अप्रसिद्ध है–यह कथन अनुचित होने का कारण तो स्पष्ट ही है कि अपौरुषेय वचन की सभावना का हम पहले ही निषेध कर आये हैं। यह भी शका नही की जा सकती कि "प्रकृत वचन विशेष का उपदेश असाक्षात्कारि यानी परोक्षज्ञान से भी सभव होने से हेतु मे अनैकान्तिकता दोष होगा"-यह शका इसलिये व्यर्थ है कि हमने जो हेतु के विशेषण लगाये हैं उसी से हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है। अतः जब अनैकान्तिक दोष का गन्ध भी नही है तो विरुद्ध दोष सुतरा निषिद्ध हो जाता है क्योकि हेतु केवल विपक्ष मे ही रहे तभी विरुद्ध दोष की सभावना है, वचनविशेष हेतु का पूर्वोक्त रीति से स्वसाध्य के साथ अविनाभाव जब सुनिश्चित है तब विपक्ष मे उसकी वृत्तिता का कोई संभव ही नही है।

मानः प्रतिनियतानां प्रतिनियतदेशवर्त्तिनां प्राणिनां प्रतिनियतकाले प्रतिनियतकर्मफलसंसूचकत्वेन प्रतिपद्यते ।

उक्तं च तत्र—नक्षत्र-ग्रहपञ्जरमहर्निशं लोककर्मविक्षिप्तम् ।

भ्रमति शुभाशुभमखिलं प्रकाशयत् पूर्वजन्मकृतम् ॥ [ ]

अतो ज्योतिःशास्त्रं ग्रहोपरागादिकमिव धर्माधर्मावपि प्रमाणान्तरसंवादतोऽवगमयति तेन ग्रहोपरागादिवचनविशेषस्य धर्माऽधर्मसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धम् । तत्सिद्धौ सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धिमासादयति । न हि धर्माऽधर्मयोः सुख-दुःखकारणत्वसाक्षात्करणं सहकारिकारणाशेषपदार्थ-तदाधारभूतसमस्तप्राणिगणसाक्षात्करणमन्तरेण संभवति । सर्वपदार्थानां परस्परप्रतिबन्धादेकपदार्थसर्वधर्मप्रतिपत्तिश्च सकलपदार्थप्रतिपत्तिनान्तरीयका प्राक् प्रतिपादिता । अतो भवति सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिरतो हेतोर्वचनविशेषस्य, तत्सिद्धौ च तत्प्रणेतुः सूक्ष्मान्तरितदूरानन्तार्थसाक्षात्कार्यतीन्द्रियज्ञानसम्पत्समन्वितस्य कथं न सिद्धिः ?

[धर्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञान की सिद्धि]

यदि यह शका की जाय-ग्रहोपरागादि मे तत्प्रतिपादक वचनविशेष सवादी होने से उस वचन विशेष हेतु से अपने कारणीभूत साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्व की सिद्धि, मानी जा सकती है । किन्तु धर्मादि पदार्थ प्रतिपादक वचनविशेष मे सवाद की उपलब्धि न होने से धर्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्व की सिद्धि उसमे कैसे मानी जाय ?-यह शका अनुचित है क्योकि धर्मादिपदार्थप्रतिपादक वचनविशेष में भी सवाद उपलब्ध है, जैसे-ज्योतिषशास्त्र से चन्द्र-सूर्यग्रहणादि की अमुकविशिष्टवर्ण-अमुक-प्रमाण अमुक दिशाविभागादिविशिष्टरूप मे प्रतिपत्ति जिस विद्वान् को होती है उस विद्वान् को अमुक-देशनिवासी अमुक अमुक जीवगण को अमुक निश्चित काल मे अमुक ही प्रकार का कर्मफल मिलने की सूचना भी उसी ज्योतिषशास्त्र से प्राप्त होती है । जैसे कि कहा है —

"पूर्वजन्म मे किये हुए सकल शुभाशुभ कर्म को प्रकाशित करने वाला नक्षत्र और ग्रहो का समुदाय लोगो के कर्म से प्रेरित होकर दिन-रात भ्रमण करता है ।"

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्योतिष शास्त्र जैसे ग्रहोपरागादि को प्रकाशित करता है उसी प्रकार प्रमाणान्तर से सवादी ऐसे शुभाशुभ धर्माधर्मादि को भी प्रकाशित करता ही है । तो अब धर्माधर्मादिप्रकाशक ज्योतिषशास्त्रीय वचनविशेष मे भी पूर्वोक्त रीति से धर्माधर्मसाक्षात्कारिज्ञानजन्यत्व निर्बाध सिद्ध होता है । जब धर्माधर्मसाक्षात्कारिज्ञान सिद्ध होता है तो सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञान-पूर्वकत्व की सिद्धि भी सरलता से हो जाती है । कारण, 'धर्म सुख का कारण और अधर्म दु.ख का कारण है' इत्यादि का साक्षात्कार तभी सभव है जब उनके सहकारिकारणभूत सब पदार्थ एव धर्माधर्म के आश्रयभूत (यानी उसके फलभोग करने वाले) सकलजीवसमूह का भी साक्षात्कार किया जाय । पहले 'एको भाव'. इत्यादि से यह कहा जा चुका है कि सभी पदार्थ अन्योन्यसबद्ध होने के कारण किसी एक धर्मादि पदार्थ के सभी गुण-धर्मो की प्रतीति तभी हो सकेगी जब सर्व पदार्थ की साक्षात् प्रतीति की जाय । निष्कर्ष यह है कि अब वचनविशेषरूप हेतु मे सर्वपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानजन्यत्व की सिद्धि निर्बाध है । जब अतिशयित ज्ञान जन्य वचनविशेष सिद्ध हुआ तो उन वचनविशेष यानी आगमों के प्रणेतारूप मे सूक्ष्म, अन्तरित, दूरवर्ती अनन्तपदार्थों को साक्षात् करने वाली ज्ञानसपदा से अलंकृत सर्वज्ञ भगवान् की सिद्धि क्यों नही होगी ?

नाप्येतद् वक्तव्यम्-साध्योक्ति-तदावृत्तिवचनयोरनभिधानाद् न्यूनता नामात्र साधनदोषः, प्रतिज्ञावचनेन प्रयोजनाभावात् ।

अथ विषयनिर्देशार्थं प्रतिज्ञावचनम् ।

ननु स एव किमर्थः ?

साधर्म्यवत्प्रयोगादिप्रतिपत्त्यर्थं । तथाहि असति साध्यनिर्देशे 'यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः' इत्युक्ते किमयं *साधर्म्यवान् प्रयोग उत वैधर्म्यवानिति न ज्ञायेत । उभयं ह्यत्राशंक्येत--वचनविशेषत्वेन साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वे साध्ये साधर्म्यवान्, असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेन वचनाऽविशेषत्वे साध्ये वैधर्म्यवानिति । हेतु-विरुद्ध--अनैकान्तिकप्रतीतिश्च न स्यात् । प्रतिज्ञापूर्वके तु प्रयोगे शब्दविशेषः साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः, शब्दविशेषत्वाद् इति हेतुभाव प्रतीयते, असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वाद् इति विरुद्धता, अंकुरादिकरणजनितज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वादित्यनैकान्तिकत्वम् । हेतोश्च त्रैरूप्य न गम्येत, तस्य साध्यापेक्षया व्यवस्थितेः । सति प्रतिज्ञानिर्देशेऽवयवे समुदायोपचारात् साध्यधर्मी इति 'पक्षः' इति, तत्र प्रवृत्तस्य वचनविशेषत्वस्य पक्षधर्मत्वम्, साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्ष इति तत्र वर्त्तमानस्य सपक्षे सत्त्वम्, न सपक्षोऽसपक्ष इत्यसपक्षेऽप्यसत्त्वं प्रतीयते ।

[प्रतिज्ञा-निगमनवाक्य प्रयोग की आवश्यकता क्यों ?]

यह मत बोलना कि 'साध्यनिर्देश और तदावृत्ति यानी उसकी पुनरावृत्ति करने वाला निगमन का वचन, इन दोनो का प्रतिपादन आपने सर्वज्ञ साधक अनुमान मे किया नही है अत. न्यूनता यानी अपूर्णता दोष से आपका हेतु दूषित है ।'-ऐसा बोलने का निषेध इसलिये करते हैं कि प्रतिज्ञा वाक्य के प्रतिपादन का कोई प्रयोजन नही है ।

शंका.-विषय यानी साध्य के स्पष्ट निर्देश के लिये (अर्थात् प्रतिवादी को स्पष्टतया साध्य बोधनार्थ) प्रतिज्ञा वाक्य आवश्यक है ।

उत्तर-मे यह प्रति प्रश्न है कि साध्यनिर्देश की भी क्या जरूर है ? यदि यहाँ ऐसा कहा जाय- साधर्म्यवत् आदि के स्पष्ट भान के लिये उसकी जरूर है । तात्पर्य यह है कि साध्यनिर्देश पृथक् न करके केवल इतना ही कहा जाय "जो वचनविशेष होता है वह साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक होता है" तो यह प्रयोग साधर्म्यवान् यानी व्यापक की सिद्धि के लिये किया गया है, या वैधर्म्यवान् यानी व्याप्याभाव की सिद्धि के लिये किया गया है, इसका पता नही चलेगा । कारण, यहाँ दोनो की सभावना हो सकती है-वचनविशेषत्व रूप व्याप्य से साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्व रूप व्यापक को साध्य करने पर साधर्म्यवान् प्रयोग सभवित है और व्यापक के व्यतिरेक यानी साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्व के व्यतिरेक से वचनविशेषत्वरूप व्याप्य के अभाव को साध्य करने पर वैधर्म्यवान् प्रयोग सभवित है । प्रतिज्ञावाक्य के विना इन दोनो मे से कौन साध्य अभिप्रेत है यह नही जाना जा सकता । दूसरी बात, इसमे यह हेतु है, अथवा (संभवत) यह हेतु विरुद्ध है अथवा (संभवत.) यह हेतु अनैकान्तिक है-ऐसी प्रतीति नही होगी यदि प्रतिज्ञावचन नही कहा जायेगा । प्रतिज्ञावाक्य प्रयोग करने पर, यह प्रतीतियाँ हो सकेंगी-जैसे, यह

*परार्थानुमान के दो भेद धर्मकीर्तिकृत न्यायबिंदु मे उपलब्ध है यथा-'साधर्म्यवद् वैधर्म्यवच्चेति' [३-५]

तदिदमनालोचिताभिधानम् , तथाहि-'यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः' इत्येताव-न्मात्रमभिधाय नैव कश्चिदास्ते किन्तु हेतोर्धर्मिण्युपसंहारं करोति । तत्र यदि वचनविशेषश्चायं नष्ट-मुष्ट्यादिविषयो वचनसंदर्भ इति ब्रूयात् तदा साधर्म्यवत्प्रयोगप्रतीतिः, अथाऽसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकश्चे [श्चायमि]त्यभिदध्यात् तदा वैधर्म्यवत इति संबंधवचनपूर्वकात् पक्षधर्मत्ववचनात् प्रयोगद्वयाव-गतिः विवक्षितसाध्यावगतिश्च । हेतु-विरुद्ध-अनैकान्तिका अपि पक्षधर्मवचनमात्रेण न प्रतीयन्ते यदा तु संबंधवचनमपि क्रियते तदा कथमप्रतीतिः ? तथाहि यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते हेतुरवगम्यते. विधीयमानेनानूद्यमानस्य व्याप्तेः । यो वचनविशेषः सोऽसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते विरुद्धः, विपर्ययव्याप्तेः । यो वचनविशेषः स चक्षुरादिजनितज्ञानपूर्वक इति अनैकान्तिकाध्य-वसाय , व्यभिचारात् ।

शब्दविशेष साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक है क्योकि उसमे शब्दविशेषत्व है'- इस प्रयोग मे शब्दविशेषत्व हेतु की स्पष्ट प्रतीति होती है, तथा 'यह शब्दविशेष असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वक है क्योकि उसमे वचनविशेषत्व है' इस प्रकार (सभवत:) विरुद्ध दोष की प्रतीति भी शक्य है, तथा 'यह शब्दविशेष नेत्रादिइन्द्रियजन्य-ज्ञानपूर्वक है क्योकि उसमे वचनविशेषत्व है' इस प्रकार (सभवत:) हेतु विपक्षवृत्ति होने से अनैका-न्तिक दोष का भी स्पष्ट प्रतिभास हो सकता है। तीसरी बात, प्रतिज्ञा वाक्य के विना हेतु के जो तीनरूप होते हैं उनकी भी प्रतीति नही होगी, कारण, हेतु का त्रैरूप्य सपूर्णतया साध्य के ऊपर निर्भर है-पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष मे असत्त्व ये तीन हेतु के रूप कहे जाते है, पक्ष उसे कहते है जहाँ साध्यसिद्धि आकाक्षित है अत: प्रथमरूप साध्यावलम्बी हुआ, सपक्ष उसे कहते है जहाँ साध्य नि:सदेह सिद्ध हो, अत. द्वितीयरूप भी साध्यावलम्बी हुआ, तथा जहाँ साध्य का अभाव नि शक हो वह विपक्ष होता है अत: तृतीयरूप भी साध्यावलम्बी हुआ अत: साध्यनिर्देश विना हेतु के तीनरूप की प्रतीति नही होगी। प्रतिज्ञा का निर्देश करने पर उसमे जो साध्य का निर्देश किया जायेगा उससे साध्यवान् यानी पक्ष का निर्देश फलित होगा क्योकि अवयव मे समुदाय का उपचार किया जाता है। अत साध्यधर्मी अर्थात् पक्ष की स्पष्ट प्रतीति होगी। तथा उसमे प्रतिपादित वचनविशेषत्वरूप हेतु मे पक्षधर्मत्व की प्रतीति हो सकेगी। तदुपरात, साध्यधर्म का समानता से पक्ष का समान धर्मी सपक्ष होता है अत. उसमे हेतु विद्यमान होने पर सपक्षसत्त्व की प्रतीति होगी। तथा जो सपक्ष नही होता वह असपक्ष यानी विपक्ष होता है, उसमे हेतुसत्ता न होने पर विपक्ष-असत्त्व भी प्रतीत होगा। प्रतिज्ञा वाक्य के इतने लाभ है।

[उपसंहार वाक्य से प्रयोजन की सिद्धि]

पूर्वपक्षी ने जो विस्तृत प्रतिपादन किया है वह विना सोचे ही सब बोल दिया है, जैसे देखिये - 'जो वचनविशेष होता है वह साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक होता है' इतना ही बोलकर कोई रुक नही जाता किन्तु धर्मि में हेतु का उपसहार भी किया जाता है। अब इस उपसहार वाक्य मे अगर ऐसा कहे कि 'यह नष्ट-मुष्टि आदि विषयक वचनसदर्भ भी वचनविशेषरूप ही है' तो यहा साधर्म्यवान् प्रयोग (यानी व्यापक की सिद्धि का प्रयोग) ध्यान मे आ जाता है। उसके बदले 'यह वचन सदर्भ असाक्षा-त्कारिज्ञानपूर्वक है' ऐसा उपसहार वाक्य बोला जाय तो वैधर्म्यवान् प्रयोग ध्यान मे आ जाता है। इस प्रकार व्याप्तिसबधप्रतिपादकवाक्यसहित पक्षधर्मत्व के -वचन- से उक्त साधर्म्यवान् अथवा वैधर्म्यवान् दो प्रयोगो का तथा आकाक्षितसाध्य का स्पष्ट भान हो जाता है। अत: उसके लिये

तथा, त्रैरूप्यमपि हेतोर्गम्यत एव, यतो व्याप्तिदर्शनकाले व्यापको धर्मः साध्यतयाऽवगम्यते, यत्र तु व्याप्यो धर्मो विवादास्पदीभूते धर्मिण्युपसंह्रियते स समुदायैकदेशतया पक्ष इति तत्रोपसंहृतस्य व्याप्यधर्मस्य पक्षधर्मत्वावगतिः। सा च व्याप्तिर्यत्र धर्मिण्युपदर्श्यते स साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः प्रतीयत इति सपक्षे सत्त्वमप्यवगम्यते। सामर्थ्याच्च व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तिर्यत्रावसीयते सोऽसपक्ष इत्यसपक्षेऽप्यसत्त्वमपि निश्चीयत इति नार्थः प्रतिज्ञावचनेन। तदाह-धर्मकीर्त्तिः-"यदि प्रतीतिरन्यथा न स्यात् सर्वं शोभेत, दृष्टा च पक्षधर्मसम्बन्धवचनमात्रात् प्रतिज्ञावचनमन्तरेणाऽपि प्रतीतिरिति कस्तस्योपयोगः?" [ ]

यदा च प्रतिज्ञावचनं नैरर्थक्यमनुभवति तदा तदावृत्तिवचनस्य निगमनलक्षणस्य सुतरामनुपयोग' इति न प्रतिज्ञाद्यवचनमपि प्रकृतसाधनस्य न्यूनतादोषः। केवल तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य स्वसाध्या-

---

प्रतिज्ञावाक्य अनावश्यक है। हेतु की, विरुद्ध हेतु की तथा अनैकान्तिक हेतु की प्रतीति यदि केवल पक्षधर्मत्व का ही उल्लेख करे तब तो नही होगी किन्तु यदि व्याप्तिवाक्य का उल्लेख करे तब क्यों वह प्रतीति नही होगी ? जैसे देखिये-'जो वचनविशेष होता है वह साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक होता है' ऐसा कहने पर हेतु का स्पष्ट भान होता है क्योकि यहाँ साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्व का विधान किया जा रहा है, जिसका विधान होता है वही साध्य होता है, तथा वचनविशेष का अनुवाद किया जा रहा है, जिसका अनुवाद किया जाता है वह व्याप्य यानी हेतु होता है क्योकि साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति अवश्य होती है। तदुपरात यदि ऐसा कहा जाय कि 'जो वचनविशेष होता है वह असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वक होता है'-तो यहाँ विपरीत व्याप्तिप्रदर्शन होने से विरुद्ध हेतु की प्रतीति स्पष्ट होगी। तथा 'जो वचनविशेष होता है वह नेत्रादिजन्यज्ञानपूर्वक होता है' ऐसा कहने पर हेतु मे विपक्षवृत्तिता यानी व्यभिचार होने से अनैकान्तिकता भी प्रतीत हो जायेगी।

[हेतु की त्रिरूपता के बोध की भी उपपत्ति]

तीसरी बात, हेतु की त्रिरूपता प्रतिज्ञावाक्य के बिना ही ज्ञात की जा सकती है। क्योकि जब व्याप्ति का प्रदर्शन किया जाता है तो व्यापक धर्म का साध्यरूप मे बोध होता है। तथा विवादग्रस्त धर्मी मे जब व्याप्य धर्म का उपसहार दिखाया जाता है तो वह उपसहार मे समुदितरूप से व्याप्यधर्म और धर्मी का निर्देश होता है उसके एक देशभूत धर्मी का पक्षरूप भान से होता है और उसमे जिसका उपसहार किया जाता है उस व्याप्य धर्म की पक्षधर्मता भी अवबुद्ध हो जाती है। व्याप्ति का प्रदर्शन किसी दृष्टान्त मे ही किया जाता है, तो जिस दृष्टान्त धर्मी मे व्याप्ति दिखायी जाती है वह धर्मी साध्यधर्म की समानता से पक्षसदृश अर्थरूप से प्रतीत होता है यही सपक्ष की प्रतीति हुयी तथा यहाँ सपक्ष मे हेतु के सत्त्व की भी प्रतीति साथ साथ हो जाती है। क्षयोपशम के सामर्थ्य से यहाँ ऊहापोह द्वारा 'जिस धर्मी मे व्यापक यहा नही है तो व्याप्य भी नही है' ऐसा ज्ञान किया जाता है वही धर्मी असपक्ष यानी विपक्षरूप से प्रतीत होता है और यहाँ विपक्ष मे साध्य का असत्त्व भी साथ साथ प्रतीत हो जाता है। निष्कर्ष.-प्रतिज्ञावाक्य का कोई प्रयोजन नही है। जैसे कि धर्मकीर्त्ति आचार्य का कथन है-"अगर (प्रतिज्ञा वाक्य के बिना) प्रतीति न होती तब तो सब कुछ शोभायुक्त है, (किन्तु) प्रतिज्ञा वाक्य के बिना भी पक्षधर्म और सम्बन्ध के उल्लेख से ही प्रतीति देखी गयी है फिर उसका क्या उपयोग है ?"

विनाभूतस्य हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहारमात्रादेव सिद्धत्वादर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनरभिधानं निग्रहस्थानमिति प्रतिज्ञादिवचनं वादकथायां क्रियमाणं तद्वक्तुर्निग्रहमापादयति। उपनयवचनं तु हेतोः पक्षधर्मत्वप्रतिपादनादेव लब्धमिति तस्यापि ततः पृथक् प्रतिपादने पुनरुक्ततालक्षण एव दोष-इति इति न तदनभिधानेऽपि न्यूनं साधनवाक्यम्, ततः सर्वदोषरहितत्वात् साधनवाक्यस्य भवत्यतः प्रकृतसाध्यसिद्धिः।

स्वसाध्याऽविनाभूतश्च हेतुः साध्यधर्मिण्युपदर्शयितव्यो वादकथायामित्यभिप्रायवताचार्येण गाथासूत्रावयवेन तथाभूतहेतुप्रदर्शनं कृतमिति। तथाहि-'समयविशासनम्'-इत्यनेन गाथासूत्रावयववचनेन स्वसाध्यव्याप्तस्य हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहारः सूचितः। हेतोश्च स्वसाध्यव्याप्तिः प्रमाणतः सर्वोपसंहारेण प्रदर्शनीया। तच्च प्रमाणं व्याप्तिप्रसाधकं कदाचित् साध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तं तां तस्य साधयति, कदाचित् दृष्टान्तधर्मिणि।

यत्र हि सर्वमनेकान्तात्मकम्, सत्त्वात्' इत्यादौ प्रयोगे न दृष्टान्तधर्मिसद्भावः तत्र व्याप्तिप्रसाधकं प्रमाणं प्रवर्त्तमानं साध्यधर्मिण्येव सर्वोपसहारेण हेतोः स्वसाध्यव्याप्तिं प्रसाधयति। यत्र तु प्रकृतप्रयोगादौ दृष्टान्तधर्मिणोऽपि सत्त्वं तत्र दृष्टान्तधर्मिण्यपि प्रवृत्तं तद् प्रमाणं सर्वोपसंहारेणैव तस्याः प्रसाधकमभ्युपगंतव्यमन्यथा दृष्टान्तधर्मिणि हेतोः स्वसाध्यव्याप्तावपि साध्यधर्मिणि तस्य तदव्याप्तौ

पूर्वोक्त चर्चा से यह भी फलित होता है कि जब प्रतिज्ञावचन निरर्थक सिद्ध होता है तो साध्य का पुनरावर्त्तन करने वाला निगमनवचन तो सर्वथा निरुपयोगी हो गया, अतः प्रतिज्ञा आदि वाक्य प्रयोग न किया जाय तो हमारे कथित साधन को कोई दोष लागू नही होता। कारण यह है कि प्रतिज्ञादि वाक्य का प्रतिपाद्य जो अर्थ है वह तो अपने स्वसाध्य-अविनाभावि हेतु का पक्ष मे उपसहार दिखाने वाले वाक्य से ही सिद्ध हो जाता है तब जो अर्थतः सिद्ध हो उसकी स्ववाचक शब्द से पुनरुक्ति करना निग्रहस्थान यानी वाद मे पराजय हेतु होने से वादसज्ञक कथा मे यदि प्रतिज्ञादिवाक्य का प्रयोग किया जायेगा तो प्रयोक्ता निग्रहप्राप्त हो जायेगा। उपनयवाक्य भी निरुपयोगी है। हेतु की पक्षधर्मता दिखा देने से ही उपनयवाक्य का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, अत पृथक् रूप से उपनयवाक्य प्रयोग करने पर पुनरुक्ति दोष होने से उसके अकथन मे साधनवाक्य की कोई न्यूनता नही है। इस प्रकार सर्वदोषशून्य इस वचनविशेषस्वरूप साधनवाक्य से निराबाध प्रकृत साध्य साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्व की सिद्धि हो जाती है।

['समयविसासण' शब्द से व्याप्तिविशिष्ट हेतु का उपसंहार]

वादकथा मे साध्यधर्मि पक्ष मे स्वसाध्य का अविनाभावि हेतु दिखाना चाहिये-इस अभिप्राय से सूत्रकार सूरिजी ने गाथासूत्र के अवयव से तथाप्रकार के हेतु का उपदर्शन कराया है। जैसे देखिये-'समयविशासन' इस गाथासूत्र के अवयव वचन से साध्यधर्मि वचनविशेष मे साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वरूप साध्य का अविनाभावि वचनविशेषत्वरूप हेतु का उपसहार सूचित किया है। हेतु की अपने साध्य के साथ व्याप्ति यानी अविनाभाविता सकल हेतु और साध्य के उपसहार दिखाने वाले प्रमाण से प्रदर्शित करनी चाहिये। यह व्याप्ति प्रदर्शक प्रमाण की प्रवृत्ति दो स्थान मे होती है-१-कभी कभी साध्यधर्मी पक्ष मे ही व्याप्तिसाधक प्रमाण प्रवृत्त होता है, २-तो कभी दृष्टान्तभूत धर्मी मे वह प्रवृत्त होता है। यह अब दिखाया जाता है—

न ततस्तत्र तत्प्रतिपत्तिः स्यात्, दृष्टान्तधर्मिण्येव तेन तस्य व्याप्तत्वात्, बहिर्व्याप्तेर्विद्यमानाया अपि साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तावनुपयोगात् सादृश्यमात्रस्याऽकिंचित्करत्वात्, अन्यथा 'शुक्लं सुवर्णम्, सत्त्वात्-रजतवत्' इत्यत्रापि शुक्लत्वप्रतिपत्तिः स्यात्।

अथात्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनम्, प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन हेतो. कालात्ययापदिष्टत्वं वा दोषः। तदयुक्तम्-बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात्। तथाहि-सत्येव साध्यधर्मिणि साध्ये हेतुर्वर्त्तत इति तस्य तदविनाभाव', तत्प्रतिपादितसाध्यधर्माभावश्च प्रमाणतो बाधा, साध्यधर्मभावाऽभावयोश्चैकत्र धर्मिण्येकदा विरोध इति नैतद्दोषावस्य साधनस्य दुष्टत्वं किन्तु साध्यधर्मिणि साध्यधर्माऽविनाभूतत्वेनाऽनिश्चयः। अतो दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तेन प्रमाणेन व्याप्त्या हेतोः स्वसाध्याऽविनाभावो निश्चेयः। स च निश्चिताऽविनाभावो यत्र धर्मिण्युपलभ्यते तत्र स्वसाध्यमविद्यमानप्रमाणान्तरबाधनं निश्चाययति, यथात्रैव सर्वज्ञमात्रलक्षणे साध्ये वचनविशेषलक्षणे साध्यधर्मिणि तद्विशेषत्वलक्षणो हेतुः। प्रतिबन्धप्रसाधकं चास्य हेतोः प्रागेव दृष्टान्तधर्मिणि प्रमाण प्रदर्शितमित्यभिप्रायवतैवाचार्येणापि 'कुसमयविसासण' इति सूत्रे 'कुः' इत्यनेन दृष्टान्तसूचनं विहितम्, न च पक्षवचनाद्युपक्षेपः सूचितः।

[व्याप्ति का ग्रहण साध्यधर्मी और दृष्टान्तधर्मी में]

जहाँ किसी की दृष्टान्तरूप से संभावना ही नहीं है जैसे कि 'सभी वस्तु अनेकान्तमय है क्योंकि सत् है' इत्यादि प्रयोग मे, वहाँ जो व्याप्तिसाधक प्रमाण प्रवृत्त होता है वह तर्करूप होता है और वह साध्यधर्मी मे ही 'जो कुछ सत् होगा वह अनेकान्तरूप ही हो सकता है, अन्यथा वह 'सत्'रूप नही हो सकता' इस प्रकार सभी साध्य और हेतु के उल्लेख से प्रवृत्त हो कर सत्त्व की अनेकान्तात्मकत्व के साथ व्याप्ति सिद्ध कर देता है इसीको अन्तर्व्याप्ति कहा जाता है। जहाँ दृष्टान्तधर्मी की भी विद्यमानता है जैसे कि वचनविशेषत्व हेतु स्थल मे हम लोगो का पृथ्वी मे कठिनतादि प्रतिपादक वचन, वहाँ साध्य धर्मी एव दृष्टान्तधर्मि दोनो मे प्रवर्त्तमान तर्कादि प्रमाण सर्व हेतु-साध्य के उल्लेख से व्याप्ति का प्रसाधक होता है-यह मानना चाहिये। ऐसा न मानकर केवल दृष्टान्त मे ही उस प्रमाण की प्रवृत्ति मानेंगे तो दृष्टान्तधर्मी मे अभिमत साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध होने पर भी साध्यधर्मी मे हेतु की व्याप्ति सिद्ध न होने से पक्ष मे उस हेतु से साध्यसिद्धि न हो सकेगी। क्योंकि हेतु केवल दृष्टान्तधर्मी मे ही अपने साध्य के साथ व्याप्तिवाला सिद्ध हुआ है। केवल दृष्टान्त मे ही गृहीत होने वाली व्याप्ति बहिर्व्याप्तिरूप होने से दृष्टान्त मे वह विद्यमान होने पर भी साध्यधर्मी पक्ष मे साध्य ग्रहण के लिये उसका कोई उपयोग नही है। ऐसा नही है कि केवल दृष्टान्त की सदृशता से ही पक्ष मे साध्य सिद्धि हो जाय। केवल सादृश्य को अकिंचित्कर न मानेंगे तो "सुवर्ण सफेद है क्योकि सत् है जैसे कि रजत" इस परार्थानुमान प्रयोग से स्वर्ण मे भी सत्त्व के सादृश्यमात्र से सफेदाई का अनुमान प्रमाणभूत हो जायेगा।

[पक्षबाध और कालात्ययापदिष्टता का निरसन]

यदि ऐसा कहा जाय-सफेदाई का सुवर्णरूप पक्ष मे प्रत्यक्ष से बाध है अर्थात् पक्ष प्रत्यक्ष बाधित है। अथवा प्रत्यक्ष से बाधित साध्य के निर्देश करने के बाद सत्त्व हेतु का प्रयोग करने से हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष वाला है।-तो यह अयुक्त है। क्योकि साध्य का बाध और साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव परस्पर विरुद्ध है। जैसे देखिये-साध्य के साथ हेतु के अविनाभाव का अर्थ है 'साध्य के

ननु भवत्वस्माद्धेतोर्यथोक्तप्रकारेण सर्वज्ञमात्रसिद्धिर्न पुनस्तद्विशेषसिद्धिः। तथाहि-यथा नष्ट-मुष्टयादिविषयवचनविशेषस्यार्हत्सर्वज्ञप्रणीतत्वं वचनविशेषत्वात् सिद्धयति तथा बुद्धादिसर्वज्ञपूर्वकत्वमपि तत एव सेत्स्यतीति कुतस्तद्विशेषसिद्धिः ? न च नष्ट-मुष्ट्याद्यादिप्रतिपादको वचनविशेषोऽर्हच्छासन एवेति वक्तुं युक्तम्, बुद्धशासनादिष्वपि तस्योपलम्भादित्याशंक्याह सूरिः-'सिद्धत्थाणं' इति।

अस्यायमभिप्रायः-प्रत्यक्षाऽनुमानादिप्रमाणविषयत्वेन प्रतिपादिताः शासनेन ये ते तद्विषयत्वेनैव

होने पर ही हेतु की सत्ता का होना', और बाध का अर्थ है-पक्ष मे प्रतिपादित साध्यधर्म का अभाव होना। अविनाभाव मे 'साध्य के होने पर' इस प्रकार साध्य का सद्भाव सूचित होता है और बाध मे साध्याभाव सूचित होता है-अतः बाध और अविनाभाव परस्पर विरुद्ध है। अत साहचर्यमात्र मूलक अविनाभाव मानने पर बाध दोष अकिंचित्कर बन जाता है। अर्थात्, साध्यधर्म का सद्भाव और उसका अभाव एक धर्मी मे समान काल मे परस्पर विरुद्ध होने से बाध दोष से साहचर्यमूलक अविनाभाववाले प्रकृत साधन को दूषित नही माना जा सकता। केवल इतना होगा कि साध्यधर्मि मे सत्त्व हेतु का शुक्लत्व के साथ अविनाभावित्व का निर्णय प्रतिबद्ध हो जायेगा। अब यह सोचिये कि अगर केवल बहिर्व्याप्तिमात्र से ही हेतु को साध्य का साधक मान लिया जायेगा तो पर्वतस्थल मे धूम हेतु का अग्नि के साथ अविनाभावित्व का निर्णय भी प्रतिबद्ध हो जायेगा क्योंकि वहाँ भी प्रत्यक्ष से धूमाभाव दृष्ट है। अतः इस प्रकार कही भी केवल बहिर्व्याप्ति मानने पर अनुमान से साध्य का निश्चय न हो सकेगा। इससे इस निष्कर्ष पर पहुचना चाहिये कि दृष्टान्तधर्मि मे प्रवृत्त प्रमाण से भी व्यापकरूप से सकल हेतु-साध्य के उपसहार से हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होना चाहिये। व्यापकरूप से जिस हेतु मे अविनाभाव निश्चित किया गया है, वैसा हेतु किसी भी धर्मी मे उपलब्ध होगा वहा अन्य प्रमाण के बाध को हठाकर अपने साध्य का निर्णय करा देगा। जैसे कि यहाँ प्रस्तुत मे सर्वज्ञमात्र सिद्ध करना है तो वचनविशेषस्वरूप साध्यधर्मी मे वचनविशेषरूप हेतु प्रयुक्त है। वचनविशेषस्वरूप हेतु की साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वरूप साध्य के साथ व्याप्ति को सिद्ध करने वाला प्रमाण तो पहले ही हम लोगो के पृथ्वीकठीनताप्रतिपादकवचनरूप दृष्टान्तधर्मी मे दिखा दिया है-इस अभिप्राय रखने वाले आचार्य 'कुसमयविसासण' इस सूत्रावयव मे 'कु' शब्द से पृथ्वी का दृष्टान्तरूप से सूचन कर चुके है। पक्षादि के वचन प्रयोग का उपयोग न होने से उसका सूचन नही किया।

[अर्हत् भगवान् ही सर्वज्ञ कैसे ?-शंका]

यदि यह शका हो-'वचनविशेषत्व हेतु से पूर्वोक्त कथनानुसार सामान्यत सर्वज्ञ की सिद्धि तो हो सकती है किन्तु व्यक्तिगतरूप से आपके इष्टदेवस्वरूप अर्हत् भगवान् ही सर्वज्ञ है, दूसरे बुद्धादि नही-ऐसा सिद्ध नही होता। जैसे देखिये-आप जैसे वचनविशेषत्वरूप हेतु से नष्ट-मुष्टि आदि विषयक वचनविशेष मे अर्हत् सर्वज्ञ प्रतिपादितत्व सिद्ध करते है वैसे ही वचनविशेषत्व हेतु से बुद्धादि-सर्वज्ञपूर्वकत्व भी सिद्ध हो सकेगा, तो विशेषरूप से अमुक ही पुरुषविशेष सर्वज्ञतया आप सिद्ध करना चाहते है वह कैसे होगा ? यह नही कह सकते कि-यत. नष्ट-मुष्टि आदि ज्ञापक वचनविशेष अर्हत् शासन मे ही उपलब्ध होता है अत एव अर्हत् भगवान् की सर्वज्ञतया सिद्धि होगी-ऐसा इसलिये नही कह सकते कि बुद्धादिशासन मे भी नष्ट-मुष्टि आदि ज्ञापक वचन विशेष उपलब्ध होता है।'-तो इस आशका को दूर करने के लिये सूत्रकार सूरिदेव ने प्रथम गाथासूत्र मे 'सिद्धत्थाणं' ऐसा कहा है।

तैर्निश्चिता इति सिद्धाः, ते च 'अर्यन्ते' इति 'अर्था' उच्यन्ते। तेषां शासनं प्रतिपादकमर्हच्छासनमेव न बुद्धादिशासनम्। अतो वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोस्तेष्वसिद्धत्वात् कुतस्तेषामपि सर्वज्ञत्वं येन विशेष-सर्वज्ञत्वसिद्धिर्न स्यात् ? यथा चागमान्तरेण प्रत्यक्षादिविषयत्वेन प्रतिपादितानामर्थानां तद्विषयत्वं न संभवति तथाऽत्रैव यथास्थानं प्रतिपादयिष्यते।

अथवा 'सिद्धार्थानाम्' इत्यनेन हेतुसंसूचनं विहितमाचार्येण, सिद्धाः=प्रमाणान्तरसंवादतो निश्चिताः येऽर्था नष्ट-मुष्ट्यादयः तेषां शासनं=प्रतिपादकं यतो द्वादशांगं प्रवचनमतो जिनानां कार्यत्वेन संबंधि। तेनायं प्रयोगार्थः सूचितः, प्रयोगश्च प्रमाणान्तरसंवादियथोक्तनष्ट-मुष्ट्यादिसूक्ष्मान्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्जिनप्रणीतं शासनम्। अत्र च सूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकत्वाऽन्यथानुपपत्तिलक्षणस्य हेतोर्जिनप्रणीतत्वलक्षणेन स्वसाध्येन व्याप्तिः साध्यधर्मिण्येव निश्चितेति तन्निश्चायकप्रमाणविषयस्येह दृष्टान्तस्य प्रदर्शनमाचार्येण न विहितम्, तदर्थस्य तद्व्यतिरेकेणैव सिद्धत्वात्।

यथा चार्थापत्तेः साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयाद् दृष्टान्तव्यतिरेकेणाऽपि तदुत्थापकादर्थादुपजायमानायाः सर्वज्ञप्रतिक्षेपवादिभिर्मीमांसकैः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते. तथा प्रकृतावन्यथानुपपत्तिलक्षणाद्धेतोरुपजायमानस्याऽस्याऽनुमानस्य तत् किं नेष्यते ? प्रतिपादितश्चार्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावः प्रागिति भवत्यतो हेतोः प्रकृतसाध्यसिद्धिः। अत एव पूर्वाचार्यैर्हेतुलक्षणप्रणेतृभिरेकलक्षणो हेतुः,

---

'सिद्धार्थानाम्' इस का तात्पर्य यह है-सिद्ध यानी निश्चित, अर्थात् शासन के द्वारा जो प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाण के विषयरूप मे प्रतिपादित किये गये हैं, उन प्रमाण के विषयरूप मे ही वे निश्चित किये जाने से सिद्ध कहलाते है। अर्थ शब्द 'ऋ' धातु से कर्म मे थ प्रत्यय से बना है-'अर्यन्ते' यानी जो जाने जाते हैं वे 'अर्थ'। सिद्ध है ऐसे जो अर्थ, उन्हे (कर्मधारय समास होने से) सिद्धार्थ कहते है। ऐसे सिद्ध अर्थो का शासन और कोई बुद्धादि का नही नही है किन्तु अर्हत् भगवान् का ही है। कहने का उद्देश यह है कि वचनविशेषत्वरूप हेतु बुद्धादि वचन मे असिद्ध है तो फिर बुद्धादि सर्वज्ञ कैसे सिद्ध होगे जिस से आप कहते है कि अर्हत् भगवान् की विशेषत. सर्वज्ञतया सिद्धि नही हो सकती ? अन्य बुद्धादि आगम में प्रत्यक्षादिप्रमाण के विषयरूप मे प्रतिपादित जो पदार्थ है उनमे वस्तुतः प्रत्यक्षादिप्रमाण विषयता का संभव नही है यह इसी प्रकरण मे उचित अवसर पर दिखाया जायेगा।

[वचनविशेषत्व हेतु से सर्वज्ञविशेष की सिद्धि]

अथवा 'सिद्धार्थानाम्' इस अवयव से सूरिराज ने हेतु का सूचन किया है। सिद्ध यानी प्रमाणान्तर से सुनिश्चित जो अर्थ नष्ट-मुष्टि आदि, उनका शासन यानी उनका प्रतिपादन करने वाला बारह अगरूप प्रवचन, वह कार्यत्वरूप सबंध से जिनो का ही है। यह प्रयोग का अर्थकथन है-इससे यह प्रयोग निर्गलित होता है-"शासन यह जिनरचित है (यानी बुद्धादि रचित नही है,) क्योकि प्रमाणान्तरसवादि नष्ट-मुष्टि आदि पूर्वोक्त सूक्ष्म-अन्तरित-दूरवर्त्ती पदार्थों की ज्ञापकता अन्यथा अनुपपन्न है।" इस प्रयोग मे सूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकत्व की अन्यथाऽनुपपत्तिरूप हेतु को जिनप्रणीतत्वरूप साध्य के साथ व्याप्ति साध्यधर्मी यानी पक्ष मे ही सुनिश्चित है अत उसके निश्चायक प्रमाण के विषयरूप में दृष्टान्त का उपन्यास जरूरी नही है अत एव आचार्यजीने भी उसका प्रदर्शन नही किया है। कारण, दृष्टान्त का प्रयोजन उसके विना ही सिद्ध है।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्" ।।[ ] इत्यादिवचनसंदर्भेण प्रतिपादित इति मन्वानेन आचार्येणापि न दृष्टान्तसूचनं विहितमत्र प्रयोगे ।

'कुसमयविशासनं' इति चात्र व्याख्याने बुद्धादिशासनानामसर्वज्ञप्रणीतत्वप्रतिपादकत्वेन व्याख्येयम्-तथाहि कुत्सिताः प्रमाणबाधितैकान्तस्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेन, समयाः कपिलादिसिद्धान्ताः, तेषाम् "सन्ति पंच महब्भूया" [सूत्रकृ० १-१-१-७] इत्यादि वचनसंदर्भेण दृष्टेष्टविषये विरोधाद्युद्भावकत्वेन 'विशासनम्'=विध्वंसकं यतः अतो द्वादशांगमेव 'जिनानां शासनमि'ति भवत्यतो विशेषणात् सर्वज्ञविशेषसिद्धिरिति स्थितमेतत्--जिनशासनं तत्त्वादेव सिद्धं=निश्चितप्रामाण्यमिति ।

[ईश्वरे सहजरागादिविरहनिराकरणम्]

अत्र ईश्वरकृतजगद्वादिनः प्राहुः-युक्तमुक्तं 'सर्वज्ञप्रणीतं शासनम्, तत्प्रणीतत्वाच्च तद् प्रमाणम्' इति । इदं त्वयुक्तम्-'रागद्वेषादिकान् शत्रून जितवन्तः इति जिनाः' । सामान्ययोगिन एवेश्वर-

[दृष्टान्त के विना भी व्याप्ति का निश्चय]

दृष्टान्तोपन्यास विना व्याप्ति का निश्चय कैसे होगा यह शका निरर्थक है क्योंकि सर्वज्ञविरोधी मीमांसकवादिगण जैसे दृष्टान्त के विना भी साध्यधर्मी मे ही व्याप्ति का निश्चय मान कर अर्थापत्ति के उत्थापक उस व्याप्तिमान् अर्थ से उत्थित अर्थापत्ति को प्रमाण मानते है, उसी प्रकार प्रस्तुत मे भी दृष्टान्त के बिना ही अन्यथानुपपत्ति विशिष्ट हेतु से उत्पन्न हमारे उक्त अनुमान का प्रामाण्य क्यो नही मानते ? अर्थापत्ति का तो अनुमान मे ही अन्तर्भाव है यह पहले कह चुके है अत: अर्थापत्ति को प्रमाण-मानने वाले वादी के समक्ष हमारे उक्त सूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्ति हेतु से शासन मे जिन-प्रणीतत्व साध्य की सिद्धि अनिवार्य है । दृष्टान्त को अनावश्यक समझ कर ही पूर्वाचार्य ऋषिओ ने हेतु का लक्षण कहते समय अन्यथानु० इत्यादि कारिका के वचनसदर्भ से एक ही लक्षण हेतु का कहा है-जैसे, जिस भाव मे अन्यथानुपपत्ति है उसमे (पक्षसत्त्वादि) तीनरूप रहे या न रहे तो भी क्या और जिस भाव मे अन्यथानुपपत्ति नहा है वहाँ भी तीन रूप के रहने न रहने से क्या (लाभ) ?-इस पूर्वाचार्य के मत के साथ पूर्णतः सम्मत सूत्रकार आचार्यने भी उक्त अनुमान प्रयोग मे दृष्टान्त का सूचन नही किया है ।

['कुसमयविसासण' का दूसरा अर्थ]

'सिद्धार्थानाम्' इस विशेषण का जो अन्य अर्थ किया गया है, उस मे 'कुसमयविसासण' शब्द का अर्थ बहुत कुछ आ जाता है अंत 'कुसमयविसासण' का इस पक्ष मे दूसरा अर्थ लगाना जरूरी है वह अर्थ इस प्रकार है कि बुद्धादिशासन सर्वज्ञरचित नही है । जैसे देखिये 'कु' यानी कुत्सित अर्थात् गर्हणीय, गर्हणीय इसलिये कि प्रमाण से बाधित जो एकान्तगर्भित अर्थ उनका प्रतिपादक है । ऐसे कुत्सित 'समय' यानी कपिल (सांख्यदर्शन प्रणेता) आदि रचित सिद्धान्त 'कुसमय' है । द्वादशाग जैन प्रवचन उन कुसमयो का 'विसासण' यानी विध्वसन करने वाला है, क्योंकि-सूत्रकृताग मे "महाभूत पांच है"...इत्यादिवचनसमूह से कपिलादि के सिद्धान्तो मे दृष्टविरोध और इष्टहानि आदि दोषो का उद्भावन किया गया है । इससे यह फलित होता है कि द्वादशांग प्रवचन जिनोपदिष्ट ही है । अत. इस विशेषण से 'जिन ही सर्वज्ञ है' यह बात सिद्ध हो जाती है । तदुपरात, द्वादशागरूप जिनशासन जिनोक्त होने से ही सिद्ध यानी निश्चितप्रामाण्यवाला फलित होता है ।

व्यतिरिक्ता एतल्लक्षणयोगिनः, न पुन शासनाविसर्वजगत्स्रष्टा ईश्वरः । तथा च पतञ्जलिः-

' क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" । [यो० सू० १-२४]

अनेन सूत्रण रागादिलक्षणक्लेशशत्रुरहितत्वं सहजमीश्वरस्य प्रतिपादितम्, न पुनर्विपक्षभावनाद्यभ्यासव्यापाराद् क्लेशादिक्षयस्तस्य, येन 'रागादीन् स्वव्यापारेण जितवन्तः' इति वचः सार्थकं तद्विषयत्वेन स्यात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्—

' ज्ञानमप्रतिघं यस्य ऐश्वर्यं च जगत्पतेः । वैराग्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्" ।। [महाभा. वन./३०]

इत्याशंक्याह-'भवजिणाणं' इति । भवन्ति नारक-तिर्यग्-नराऽमरपर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः=संसार', तद्धेतुत्वाद् रागादयोऽत्र 'भव'शब्देनोपचाराद् विवक्षिताः तं जितवन्त इति जिनाः । उपचाराश्रयणे च प्रयोजनम्-न ह्यविकलकारणे रागादावध्वस्ते तत्कार्यस्य संसारस्य जयः शक्यो विधातुमिति प्रतिपादनम् । भवकारणभूतरागादिविजये चोपायः प्रतिपादितः प्राक्, तदुपायेन च विपक्षरागादिविजयद्वारेण तत्कार्यभूतस्य भवस्य जयः संभवति नान्यथेति । न ह्युपायव्यतिरेकेणोपेय-

[अनादि सहज सिद्ध ऐश्वर्यवादी की आशंका]

जगत् का रचयिता ईश्वर है-इसमे विश्वास करने वाले वादीयो यहाँ एक आशका व्यक्त करते हैं-आपने जो कहा--'शासन सर्वज्ञप्रतिपादित है और सर्वज्ञकथित होने के कारण ही वह प्रमाणभूत है'-- यह बात तो ठीक है: किन्तु यह जो आपने कहा-'राग-द्वेषादिशत्रुओ को जित लेने वाले जिन हैं' यह बात गलत है । कारण, यह सर्वज्ञ का लक्षण तो केवल सामान्य योगीवृ द, जो कि ईश्वर से भिन्न हैं उसी मे घट सकता है, शासन और तदितर समूचे जगत् का सर्जनहार जो ईश्वर है वह सर्वज्ञ होते हुए भी उसमे उपरोक्त लक्षण नही है [तात्पर्य यह है कि ईश्वरकर्तृत्व वादी ईश्वर को अनादिसिद्ध सर्वज्ञ मानते हैं न कि पहले कभी वह राग-द्वेपाक्रान्त था और बाद मे साधना से वीतराग-सर्वज्ञ बना हो ऐसा । अत अनादिकाल से रागमुक्त होने के कारण वह रागादिविजेता नही है, फिर भी सर्वज्ञ तो उसे मानना है ।] जैसे कि पातञ्जल योगसूत्र मे कहा है कि-"जो क्लेश, कर्म-उनके विपाक और विविध आशय=वासना से सर्वथा [सभी काल मे] अस्पृष्ट है ऐसा कोई विशिष्ट पुरुष ही ईश्वर है ।-" इस सूत्रकथन के अनुसार ईश्वर मे राग-द्वेषादिस्वरूप क्लेशात्मक शत्रु का सहज [त्रैकालिक] विरह सूचित होता है । इस मे ऐसा नही कहा है कि रागादि के विपक्ष नीरागता आदि शुभ भावनाओ के अभ्यास के प्रयोग से ईश्वर ने क्लेशादि का क्षय किया, अत आपका (ईश्वर के बारे मे) यह वचन सार्थक नही है कि रागादि को अपने पुरुषार्थ से जितने वाले जिन [सर्वज्ञ] है ।

अन्य विद्वानो ने भी ऐसा दिखाया है जैसे कि महाभारतकार ने कहा है-"जिस जगदीश का ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य और धर्म अप्रतिघ यानी अस्खलित है-[यानी] ये चारो सहज सिद्ध हैं" ।

[आशंका के उत्तर में 'भवजिणाणं' पद की व्याख्या]

ईश्वरवादीयो की इस आशका का निराकरण करने हेतु सम्मतिशास्त्रकार ने 'भवजिणाणं' यह विशेषण (प्रथम कारिका मे) प्रयुक्त किया है । भव शब्द का अर्थ है ससार, जहाँ प्राणिवर्ग नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चार प्रकार के पर्यायो को धारण करते हुए जन्म पा रहे है । यद्यपि यहाँ उपचार का आश्रय लेकर 'भव' शब्द से राग-द्वेपादि शत्रु विवक्षित किये गये हैं क्यो कि नारकादिभव

सिद्धिः, अन्यथोपेयस्य निर्हेतुकत्वेन देश–काल-स्वभावप्रतिनियमो न स्यादितिसर्वप्राणिनामीश्वरत्वम्, न वा कस्यचित् स्यात्। प्रतिपादितश्चायमर्थः–[प्र० वा० ३/३५]
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भव ॥–इत्यादिना ग्रन्थेन धर्मकीर्त्तिना। तन्न रागादिक्लेशविगमः स्वभावत एवेश्वरस्येति युक्तम्।

[चार्वाकेण सह परलोके विवादः]

अत्र बृहस्पतिमतानुसारिणः–स्वभावसंसिद्धज्ञानादिधर्मकलापाध्यासितस्य स्थाणोरभावप्रतिपादनं जैनेन कुर्वताऽस्माकं साहाय्यमनुष्ठितमिति मन्वानाः प्राहुः–युक्तमुक्तं यत् 'स्वभावसंसिद्धज्ञानादिसम्पत्समन्वितस्येश्वरस्याभावः'। 'नारक–तिर्यग्नराऽमररूपपरिणतिस्वभावतयोत्पद्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति' एतच्चाऽयुक्तमभिहितम्, परलोकसद्भावे प्रमाणाभावात्। तथाहि–परलोकसद्भाववेदकं प्रमाणं प्रत्यक्षम् अनुमानम् आगमो वा जैनेनाभ्युपगमनीयः, अन्यस्य प्रमाणत्वेन तेनाऽनिष्टेः।

के प्रधान हेतु ही रागादिगण है। इस शत्रुगण को जीत लेने वाले जिन कहे जाते हैं। उपचार का आश्रय यहाँ यह दिखाने के लिये किया है कि ससार के उग्र कारणभूत रागादि का ध्वस जब तक नही होता वहाँ तक उसके कार्यस्वरूप ससार यानी भव के ऊपर विजय पाना शक्य नहीं है। ससार के कारणीभूत रागादि के विजय का उपाय तो पहले दिखाया है, उस उपाय से प्रतिपक्षी रागादिगण का विजय करने द्वारा ही ससार को जिता जा सकता है, अन्यथा कभी उसका पराजय शक्य नही है। प्रसिद्ध ही बात है यह कि उपेय=प्राप्तव्य की सिद्धि कभी उपाय के विना नही होती। अगर विना उपाय भी उपेय सिद्ध हो जावे तब तो वह हेतुरहित हो जाने से, अमुक ही देश मे-अमुक ही काल मे-अमुक ही स्वभाव वाली वस्तु उत्पन्न हो यह जो दृढ नियम देखा जाता है वह तूट जायेगा। उसका नतीजा यह होगा कि सभी जीव विना हेतु ही ऐश्वर्यभाग् हो जायेगे, अथवा तो कोई भी जीव ऐश्वर्यशाली नही रहेगा क्योकि ऐश्वर्य को सहज सिद्ध मानने वाले उसको हेतुरहित मानते है। बौद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्त्ति का भी यही कहना है कि—

"हेतुरहित वस्तु को अन्य किसी की अपेक्षा न होने पर या तो उसका नित्य सत्त्व होगा या नित्य असत्त्व होगा। कारण, भावो की कादाचित्कता का सम्भव अपेक्षाधीन है।" निष्कर्ष –रागादि क्लेशो का विनाश यानी अभाव, ईश्वर को सहज ही होता है-यह बात अयुक्त है।

[सर्वज्ञवादः समाप्तः]

[परलोक के प्रतिक्षेप में चार्वाक का पूर्वपक्ष]

नास्तिक मत के प्रवर्त्तक बृहस्पतिनामक विद्वान के अनुगामीयो यहाँ-'स्वभाव से सिद्ध सहज ज्ञानादि चतुष्टय से अलकृत ऐसा कोई पुरुषविशेष ईश्वर है ही नही'-इस प्रकार निरूपण करने वाले जैनो ने हमारी सहायता की है ऐसा समझ कर अपनी बात कहते है कि 'स्वभाव से सिद्ध ज्ञानादि सम्पत्ति से युक्त कोई ईश्वर नही है'-यह ठीक ही कहा गया है। किन्तु यह जो आपने कहा–नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव के पर्यायो को धारण करते हुए यहाँ प्राणिसमूह जन्म लेते है... इत्यादि, वह नितान्त गलत कथन है चूँकि परलोक के अस्तित्व मे कोई भी प्रमाण मौजूद नही है। वह इस प्रकार-परलोक के अस्तित्व को दिखाने वाला अगर कोई प्रमाण जैन के पास होगा तो वह प्रत्यक्ष-अनुमान

न चात्रैतद् वक्तव्यम्-भवतोऽपि किं तत्प्रतिक्षेपकं प्रमाणम् ?-यतो नास्माभिस्तत्प्रतिक्षेपक-प्रमाणात् तदभावः प्रतिपाद्यते किंतु परोपन्यस्तप्रमाणपर्यनुयोगमात्रमेव क्रियते । अत एव 'सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः" [ ] इति चार्वाकैरभिहितम् । स च परोपन्यस्तप्रमाण-पर्यनुयोगः तदभ्युपगमस्य प्रश्नादिद्वारेण विचारणा न पुनः स्वसिद्धप्रमाणोपन्यासः येन 'अतीन्द्रियार्थ-प्रतिक्षेपकत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रमाणमाश्रयासिद्धत्वादिदोषदुष्टत्वेन कथं प्रवर्त्तते' इत्यस्मान् प्रति भवताऽपि पर्यनुयोगः क्रियेत ।

अत एव परलोकसाधकप्रमाणाभ्युपगमं परेण ग्राहयित्वा तदभ्युपगमस्यानेन प्रकारेण विचारः क्रियते-तत्र न तावद् परलोकप्रतिपादकत्वेन चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादितात्मलाभं सन्निहित-प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात् प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते । नाप्यतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षं तत्र प्रवर्त्तत इति वक्तुं शक्यम्,-परलोकादिवत् तस्याप्यसिद्धेः ।

या आगम ही होगा, क्योंकि स्वतन्त्र उपमानादि अन्य किसी को वे प्रमाण ही नही मानते है ।

[चार्वाकमत केवल दूसरे मत की कसौटी में तत्पर]

[यहाँजैन की ओर से बीच मे एक आशका को प्रस्तुत कर के नास्तिक उसका खडन प्रस्तुत करता है--]

'आपके पास भी परलोकनिषेध के लिये क्या प्रमाण है ?' ऐसा प्रश्न नास्तिक के प्रति करने की कोई आवश्यकता नही है-क्योकि हम परलोक के निषेधक प्रमाण को ढूँढ कर परलोक के अभाव का प्रतिपादन करने मे कटिबद्ध नही है किन्तु तटस्थ बनकर सीर्फ आपने परलोकसिद्धि मे जो प्रत्यक्षादि प्रमाण का उपन्यास किया है उसकी कसौटी ही हमे करनी है । इसीलिये तो चार्वाको ने कहा है कि "बृहस्पति के सभी सूत्रवचन दूसरो के सिद्धान्त मे पर्यनुयोगपरक ही है ।" दूसरे लोगो ने जिन प्रमाणो का उपन्यास किया है उनमे पर्यनुयोग करने का तात्पर्य भी यही है कि उनकी मान्यताओ के ऊपर प्रश्नादि करने द्वारा कुछ विचारणा की जाय, नही कि हमारे मत से जो कुछ सिद्ध यानी अभ्युपगत हो उसके लिये प्रमाणो का उपन्यास किया जाय । अत आप हमारे प्रति ऐसा पर्यनुयोग नही कर सकते कि "चार्वाक की ओर से अतीन्द्रिय परलोकादि अर्थ के निषेधमे जिस प्रमाण का प्रयोग किया जाता है उसमे आश्रयासिद्धि आदि दोष है क्योकि उसके मत से वे अतीन्द्रिय अर्थ सिद्ध ही नही है तो उसमे निषेधक प्रमाण की प्रवृत्ति यानी उपन्यास कैसे किया जा सकता है. ..." इत्यादि-ऐसा पर्यनुयोग तभी सावकाश होता अगर हम प्रमाणविन्यास मे तत्पर होते ।

[परलोक सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव]

चार्वाकवादी का अपनी ओर से किसी प्रमाण का विन्यास करने का कोई सकल्प न होने से ही हम नास्तिक लोग पहले दूसरे वादी की ओर से परलोकसाधक किसी प्रमाण का स्वीकार करवाने के बाद ही, अर्थात् दूसरे वादी वैसे प्रमाण का उपन्यास करे तभी हम इस प्रकार विचार करते है कि-जैन आदि लोगो ने जो तीन प्रमाण माने है उसमे से प्रत्यक्षप्रमाण की परलोक के प्रतिपादन मे कोई गुंजाईश नही है । कारण, उसका जन्म नेत्रादि बाह्य करण=इन्द्रिय की कुछ हिलचाल-सक्रियता या व्यापार से होता है, अतएव प्रत्यक्ष केवल सनिहित यानी अपने से सबद्ध अमुक अमुक रूप-रसादि विषय को ही स्पर्श करता है, परलोक को नही, क्योकि वह इन्द्रियो से सम्बद्ध नही है । कदा-

नाप्यनुमानं प्रत्यक्षपूर्वकं तत्र प्रवृत्तिमासादयति, प्रत्यक्षाऽप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्यानुमानस्यापि तत्राऽप्रवृत्तेः। अथ यद्यपि प्रत्यक्षावगतप्रतिबन्धलिंगप्रभवमनुमानं न तत्र प्रवर्त्तते तथापि सामान्यतोदृष्टं तत्र प्रवर्त्तिष्यति। तदपि न युक्तम्, यतस्तदपि सामान्यतोदृष्टमवगतप्रतिबन्धलिंगोद्भवम्, आहोस्वित् अनवगतप्रतिबन्धलिंगसमुत्थम्? यद्यनवगतप्रतिबन्धलिंगोद्भवमिति पक्षः, स न युक्तः, तथाभूतलिंगप्रभवस्य स्वविषयव्यभिचारेण अश्वदर्शनानन्तरोद्भूतराज्यावाप्तिविकल्पस्येवाऽप्रमाणत्वात्।

अथ प्रतिपन्नसम्बन्धलिंगप्रभवं तत् तत्र प्रवर्त्तते इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः, प्रतिबन्धावगमस्यैव तत्र लिंगस्याऽसम्भवात्। तथाहि-प्रत्यक्षस्य तत्र लिंगसम्बन्धावगमनिमित्तस्याभावेऽनुमानं लिंगसम्बन्धग्राहकमभ्युपगन्तव्यम्। तत्र यदि तदेव परलोकसद्भावावेदकमनुमानं स्वविषयाभिमतेनार्थे

चित् ऐसा कहो कि-'योगीओ का प्रत्यक्ष परलोक के विषय मे प्रवृत्त है'-तो यह कहना शक्य ही नही, क्योकि जैसे परलोक असिद्ध है वैसे ही अतीन्द्रिय पदार्थ को ग्रहण करने वाला योगिप्रत्यक्ष भी असिद्ध यानी अविश्वसनीय है।

[परलोक सिद्धि में अनुमान प्रमाण का अभाव]

परलोकसाधक कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही है अत एव अनुमान प्रमाण की भी उसमें प्रवृत्ति नही है क्योकि जिसका प्रत्यक्ष हो उसी का कभी अनुमान होता है। **परलोकवादीः**-जिस लिंग का अपने साध्य के साथ प्रतिबन्ध यानी व्याप्ति प्रत्यक्ष से गृहीत हो ऐसे लिंग से होने वाले अनुमान की परलोक के विषय मे प्रवृत्ति नही हो सकती यह बात ठीक है, किन्तु जहाँ प्रत्यक्ष की आवश्यकता नही है ऐसे 'सामान्यतोदृष्ट' नामक अनुमान की प्रवृत्ति परलोक के विषय मे हो सकती है। जैसे कि 'ऋषि-मुनिओ की तपश्चर्या सार्थक [=सफल] है क्योकि वह प्रवृत्ति है, जो प्रवृत्ति होती है उसका कुछ न कुछ फल अवश्य होता है जैसे राजसेवादि प्रवृत्ति।' इस अनुमान मे विशेष फलरूप से परलोक को साध्य नही बनाया है किन्तु सामान्यत फलवत्ता को ही साध्य बनाया है और प्रवृत्ति हेतु के साथ उसकी व्याप्ति प्रसिद्ध होने से कोई दोष नही है। जब तपश्चर्या मे सफलता सिद्ध हुयी और इहलोक मे उसका कोई फल देखा नही जाता तो यह कल्पना अवश्य करनी पडेगी कि उसका फल परलोक मे मिलेगा, क्योकि उस प्रवृत्ति को निष्फल तो मान नही सकते। इस प्रकार सामान्यधर्मपुरस्कारेण व्याप्ति का ग्रहण होने पर विशेष फलरूप मे परलोक की सिद्धि मे सामान्यतोदृष्ट अनुमान की प्रवृत्ति हो सकती है।

चार्वाकः यह बात भी अयुक्त है, यहाँ भी दो प्रश्न है कि वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान (A) साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति गृहीत है ऐसे लिंग से जन्म लेता है? (B) या व्याप्ति गृहीत न हो ऐसे भी लिंग से उत्पन्न होता है?

(B) यदि व्याप्तिग्रहणशून्य लिंग से सामान्यतोदृष्ट अनुमान की उत्पत्ति वाला दूसरा पक्ष माना जाय तो वह अयुक्त है, क्योकि वैसे लिंग से उत्पन्न होने वाले अनुमान का अपने विषय के साथ व्यभिचार यानी विसवाद होने से वह प्रमाण नही है, जैसे कि अश्व को स्वप्नादि मे देखने के बाद किसी को ऐसा विकल्प होता है कि मुझे राज्य प्राप्ति होगी, किन्तु उसे राज्यप्राप्ति नही होती है तो विसवाद के कारण उसका अश्वदर्शनजन्य राज्यप्राप्ति का विकल्प प्रमाण नही होता।

भात्मोत्पादकलिंगसम्बन्धग्राहकं तदेतरेतराश्रयत्वदोषः । अथानुमानान्तराद् गृहीतप्रतिबन्धाल्लिंगादुपजायमानं तद्विषयं तदभ्युपगम्यते तदाऽनवस्था ।

तथा, सर्वमप्यनुमानमस्मान् प्रत्यसिद्धम् । तथाहि बृहस्पतिसूत्रम्—"अनुमानमप्रमाणम्" [ ] इति । अनेन प्रतिज्ञाप्रतिपादनं कृतम्, अनिश्चितार्थप्रतिपादकत्वाद[त्]सिद्धप्रमाणाभासवदिति हेतुदृष्टान्तावभ्यूह्यौ ।

विषयविचारेण वाऽनुमानप्रामाण्यमयुक्तम्-धर्म-धर्म्युभयस्वतन्त्रसाधने सिद्धसाध्यता यतः अतो विशेषण-विशेष्यभावः साध्यः । प्रमेयविशेषविषयां प्रमां कुर्वत् प्रमाणं प्रमाणतामश्नुते । इतरेतरावच्छिन्नश्च समुदायोऽत्र प्रमेयः, तदपेक्षया च पक्षधर्मत्वादीनामन्यतमस्यापि रूपस्याऽप्रसिद्धिः । नहि समुदायधर्मता हेतोः, नापि समुदायेनाऽन्वयो व्यतिरेको वा, धर्मिमात्रापेक्षया पक्षधर्मत्वे साध्यधर्मापेक्षया च व्याप्तौ गौणतेति । उक्तं च, "प्रमाणस्याऽगौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः" [ ] इति । धर्मि-धर्मताग्रहणेऽपि न गौणतापरिहारः, प्रतीयमानापेक्षया गौण-मुख्यव्यवहारस्य चिन्त्यत्वात्, समुदायश्च प्रतीयते ।

[व्याप्तिग्रहण अशक्य होने से अनुमान का असम्भव]

(A) यदि यह कहा जाय कि–'जिस लिंग की अपने साध्य के साथ व्याप्ति गृहीत है वैसे लिंग से उत्पन्न अनुमान की परलोक सिद्धि मे प्रवृत्ति होगी'–तो यह पक्ष भी युक्त नही है । कारण, उस लिंग की अपने साध्य के साथ व्याप्ति गृहीत होने का सम्भव ही नही । वह इस प्रकार: लिंग की परलोकादिफलवत्तारूप अपने साध्य के साथ व्याप्ति के ग्रहण मे प्रत्यक्षरूप निमित्त तो है नही, अत. अनुमान को ही व्याप्ति का ग्राहक स्वीकारना पडेगा । अब यदि ऐसा कहे कि-जो परलोकसाधक मुख्य अनुमान है वही अपने साध्यरूप मे अभिमत परलोकस्वरूप अर्थ के साथ, अपने उत्पादक लिंग की व्याप्ति को ग्रहण करायेगा तो इसमे स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष लगेगा, क्योकि मुख्य अनुमान से व्याप्तिग्रहण का और व्याप्तिग्रह होने पर मुख्य अनुमान का उद्भव होगा । इसके परिहार के लिये यदि व्याप्तिग्रह का उद्भव दूसरे कोई अनुमान से मानेंगे तो उस दूसरे अनुमान की उद्भावक व्याप्ति का ग्रह तीसरे किसी अनुमान से मानना होगा, फिर चौथा .....पाँचवा इस प्रकार कही अन्त न आने से अनवस्था दोष लग जायेगा ।

[नास्तिक मत में अनुमान अप्रमाण है]

परलोक विषय मे अनुमान का असम्भव तो है, उपरात दूसरी बात यह है कि हमारे नास्तिकबिरादरी के प्रति कोई भी अनुमान ही असिद्ध यानी अविश्वास्य है । बृहस्पतिविरचित सूत्र में भी कहा गया है कि 'अनुमान प्रमाणभूत नही है' । सूत्र मे यह प्रतिज्ञा के तौर पर कहा गया है, अत: उसमे हेतु और दृष्टान्त स्वय जान लेना चाहिये जो क्रमश· इस प्रकार है–हेतु -'क्योकि अनुमान अनिश्चित अर्थ का प्रतिपादक है ।' दृष्टान्त.–जैसे कि प्रमाणाभासरूप मे प्रसिद्ध दीपकलिका मे ऐक्य का प्रतिभास ।

[विषय के न घटने से अनुमान अप्रमाण]

अनुमान के विषय का विचार करे तो भी यह प्रतीत होता है कि अनुमान का प्रामाण्य असंगत है । अनुमान का विषय होता है धर्मि और धर्म । अब यदि अनुमान से धर्मि और धर्म की स्वतन्त्ररूप से

एकदेशाश्रयणेनाऽपि त्रैरूप्यमयुक्तम्, व्याप्त्यसिद्धेः। नहि सत्तामात्रेणाऽविनाभावो गमक अपि त्ववगतः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। स च सकलसपक्ष-विपक्षाऽप्रत्यक्षीकरणे दुर्विज्ञानोऽसर्वविदा। न चात्र भूयोदर्शनं शरणम्, सहस्रशोऽपि दृष्टसाहचर्यस्य व्यभिचारात्। अत एव न दर्शनाऽदर्शनमपि।

पृथक् पृथक् सिद्धि अभिप्रेत हो तब तो स्पष्टरूप से सिद्धसाध्यता दोष लगेगा क्योकि धर्मि पर्वत और धर्म अग्नि दोनो प्रसिद्ध ही है, इसलिये धर्म और धर्मि के विशेषण-विशेष्यभाव घटित समुदायरूप प्रमेयविशेष को ही साध्य करना होगा [द्रष्टव्य न्यायबिंदु परि० २-सू० ६ की टीका] अन्यथा वह प्रमाण नही होगा क्योकि प्रमाण का प्रामाण्य प्रमेयविशेष को विषय करने वाली प्रमा को उत्पन्न करने पर ही निर्भर होता है। [तात्पर्य यह है कि 'सर्व ज्ञानं धर्मिणि प्रमाणम्' इस प्रवाद के अनुसार भ्रमज्ञानसहित सभी ज्ञान धर्मिमात्र मे तो प्रमाण ही होता है अतः धर्मविशेष को विषय करने पर ही वास्तव मे ज्ञान प्रमाण कहा जाता है।] यहाँ परस्पर सश्लिष्ट ऐसे पर्वत और अग्नि साध्य करते हैं, अर्थात् अग्निविशिष्ट पर्वत आपका साध्य है। इस साध्य की अपेक्षा धूम लिंग मे पक्षधर्मत्व आदि एक भी रूप नही घट सकेगा क्योकि धूम तो पर्वत मे वृत्ति है जो कि समुदायात्मक पक्ष का ही एक अंश है अतः वह पक्षभूत नही है। अग्नियुक्त पर्वतरूप साध्य का कोई सपक्ष भी प्रसिद्ध नही है। धूम यद्यपि पर्वत का धर्म है किन्तु अग्निविशिष्ट पर्वत रूप समुदाय जो कि पक्ष है उसका धर्म तो नही है क्योकि अग्निविशिष्ट पर्वत का निश्चय नही है। न उस समुदाय के साथ उसकी अन्वयव्याप्ति या व्यतिरेक व्याप्ति सिद्ध है। यदि हेतु मे पक्षधर्मता की प्रसिद्धि के लिये समुदाय मे रूढ पक्षशब्द का पक्षैकदेशरूप केवल धर्मि मे उपचार करके धूम हेतु मे पर्वतरूप धर्मी की अपेक्षा पक्षधर्मता का उपपादन किया जाय तो यह औपचारिक यानी गौण पक्षधर्मता हुयी, वास्तविक नही। एव व्याप्ति की प्रसिद्धि के लिये अग्निविशिष्टपर्वतरूप समुदाय के एक देशभूत अग्निरूप साध्य के साथ ही धूम की व्याप्ति मानी जाय तो यह भी औपचारिक यानी गौण व्याप्ति हुयी, वास्तविक न हुयी। अत औपचारिक पक्षधर्मता और व्याप्ति से होने वाला अनुमान भी गौण ही होगा, वास्तव नही होगा। कहा भी है "प्रमाण गौण-स्वरूप न होने के कारण अनुमान से अर्थ का निश्चय दुर्लभ है।" तात्पर्य यह है कि प्रमाणभूत अर्थ-निश्चय गौण नही वास्तव होता है, अनुमान वास्तव नही किन्तु उपरोक्त रीति से गौण है अतः उससे वास्तव अर्थनिश्चय अशक्य है।

यदि ऐसा कहे कि-'अनुमान से पर्वत और अग्नि मे धर्मि-धर्मभाव का ग्रहण किया जाता है'- तो यह कहने पर भी गौणता अटल रहती है क्योकि गौण-मुख्यता के व्यवहार की चिन्ता तो जैसी प्रतीति हो उसके आधार पर की जाती है। प्रस्तुत मे अग्निविशिष्ट पर्वत रूप समुदाय की प्रतीति होती है अत. वही मुख्य है, उसकी अपेक्षा धर्मि-धर्मभाव के ग्रहण को गौण ही मानना होगा।

[अविनाभाव का ग्रहण दुःशक्य]

यदि केवल एक देशरूप पर्वतादि धर्मी को ही वास्तव पक्ष मान कर के पक्षधर्मता आदि तीनरूपो की उसी से उपपत्ति करे तो भी वह युक्त नही है, क्योकि केवल साध्यधर्म के साथ हेतु की व्याप्ति अनुपपन्न है। तात्पर्य यह है कि व्याप्ति का अर्थ है हेतु मे साध्य का अविनाभाव। यह अविना-भाव साध्य मे अज्ञात पडा रहे इतने मात्र से तो कभी अनुमान होता नही, अतः ज्ञात अविनाभाव की आवश्यकता माननी होगी अन्यथा जिस को व्याप्तिग्रह कभी नही हुआ ऐसे पुरुष को भी धूम देखकर

तदुक्तम्—"गोमानित्येव मर्त्येन भाव्यमश्ववताऽपि किम्" [प्र० वा० ३/२५] इति। देश-कालावस्थाभेदेन च भावानां नानात्वावगमादनाश्वासः। तदुक्तम्-*"अवस्था-देश-कालानाम्" [वाक्य० १-३२] इत्यादि। आह च-"अविनाभावसम्बन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्" [ ]

यच्च-'सामान्यस्य तद्विषयस्याऽभावात्, स्वार्थ-परार्थयोवाऽसम्भवात्, विरुद्धानुमान-विरोधयोः सर्वत्र सम्भवात्, क्वचिच्च विरुद्धाऽव्यभिचारिणः' इत्यादि दूषणजालं-तदनुद्घोषणीयमेव, यतोऽनिश्चितार्थप्रतिपादकत्वात् "अनुमानमप्रमाणम्" इत्यनुमानाऽप्रमाणताप्रतिपादने कृते शेषदूषणजालस्य मृतमारणकल्पत्वात्। ततोऽनुमानस्याऽप्रमाणत्वादतीन्द्रियपरलोकसद्भावप्रतिपादने कुतस्तस्य प्रवृत्तिः?

अग्नि का अनुमान हो जायेगा। अब यह जो अविनाभाव है उसका ज्ञान कैसे होगा? अविनाभाव का मतलब यह है कि जहाँ जहाँ धूम हो उन सभी सपक्षो मे अग्नि का होना और अग्नि जहाँ न हो वैसे विपक्षो मे धूम का न रहना। ऐसे अविनाभाव के ज्ञान के लिये सभी सपक्षो का और विपक्षो का प्रत्यक्ष होना अनिवार्य वन गया, किन्तु असर्वज्ञ पुरुष के लिए वह सम्भव न होने से उसके लिये अविनाभाव दुर्ज्ञेय बन गया।

यदि ऐसा कहे कि-'सकल सपक्ष-विपक्षो का प्रत्यक्ष न होने पर भी अग्नि और धूम को वार वार एक स्थान मे देखने से अविनाभाव का ज्ञान हो जायेगा'-तो यह अनेकबार दर्शन शरण्य नहीं है, चूँकि हजारो वार देखा हो कि पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व एकत्र रहता है फिर भी वज्र मे लोहलेख्यत्व नही रहता है। [अथवा कही अग्नि के रहने पर भी धूम नही होता है]। यदि ऐसा कहा जाय कि-'अनेकशः दर्शन नही किन्तु, धूम को देखने पर अग्नि को भी देखना और अग्नि को न देखने पर धूम को नही देखना, इसप्रकार के दर्शन और अदर्शन से अविनाभाव का निश्चय करेंगे'-तो यह भी अयुक्त होने मे वही युक्ति है कि पार्थिवत्व होने पर लोहलेख्यत्व देखते है और लोहलेख्यत्व न देखने पर पार्थिवत्व नही देखते है फिर भी वज्र में उसका भग हो जाता है, अत. अविनाभावग्रह दुर्ज्ञेय है। जैसा कि प्रमाणवार्त्तिक मे कहा गया है कि-'क्या कोई पुरुष गो-स्वामी है इसलिये वह अश्व-स्वामी भी होना चाहिये? [ऐसा कोई नियम है?] इत्यादि।

दूसरी वात यह है कि जिन दो वस्तु के बीच अविनाभाव की कल्पना की जाती है उसमे पूर्ण आस्था रख नही सकते क्योकि भावो मे देशभेद से कालभेद से और अवस्थाभेद से वैचित्र्य का होना प्रसिद्ध है-जैसे' एक ही बीज इस देश मे उपजाऊ भूमि के कारण वहु फलप्रद होता है, वही वीज उपर देश मे कम फलप्रद होता है इत्यादि। वाक्यपदीय ग्रन्थ मे कहा गया है कि-"पदार्थो की शक्ति अवस्था, देश और काल के भेद से भिन्न भिन्न प्रकार की होती है, अत. अनुमान से उसका पता लगाना अति कठिन है।" यह भी कहा गया है कि-"अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण अशक्य होने से [अनुमान कठिन है।]"

[अनुमान में विरुद्धादि तीन दोषों की आशंका]

शंकाः-नास्तिक ने जो अनुमान दिखाया है कि "अनुमान अप्रमाण है क्योकि अनिश्चितार्थ-प्रतिपादक है" इत्यादि, यह अनुमान मिथ्या है क्योकि अनुमान मात्र के उच्छेद के लिये नास्तिक ने ऐसी प्रतिक्रिया दिखायी है कि-"अनुमान का विषय [अग्निविशेष को मानेगे तो उसके साथ व्याप्तिग्रह

*अवस्था देश-कालाना भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु। भावानामनुमानेन प्रतीतिरतिदुर्लभा॥ इति।

अथेदमेव जन्म पूर्वजन्मान्तरमन्तरेण न युक्तमिति जन्मान्तरलक्षणस्य परलोकस्य सिद्धिरिष्यते। तत् किमियमर्थापत्तिः, अथानुमानं वा ? न तावदर्थापत्ति तल्लक्षणाभावात्, 'दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते' [मीमांसा० १-१-५ भाष्य] इति हि तस्या लक्षणं विचक्षणैरिष्यते। न तु जन्मान्तरमन्तरेण नोपपत्तिमदिदं जन्मेति सिद्धम्, मातापितृसामग्रीमात्रकेण तस्योपपत्तेः, तन्मात्रहेतुकत्वे चान्यपरिकल्पनायामतिप्रसंगात्।

शक्य न होने से अनुमान का उत्थान नही होगा और] यदि सामान्य को मानेंगे तो वह असगत है क्योकि अग्नित्व की सिद्धि से अर्थी का कोई प्रयोजन सिद्ध नही होगा और अग्नित्व सर्वदिग्वर्त्ती होने से अर्थी की नियतदिगभिमुख प्रवृत्ति नही होगी। स्वार्थ और परार्थ ये भेद भी नही घट सकते क्योकि दोनो त्रैरूप्य से उत्पन्न होते है, और इसी लिये धूलिपटल से होने वाले अग्नि के मिथ्याज्ञानवत् अप्रमाण है। तदुपरात सभी अनुमान मे प्रायः विरुद्ध और अनुमानविरोध तथा विरुद्धाव्यभिचारी ये तीन दोष उभर आते है, विरुद्ध यानी अपने इप्ट साध्य का विघात करने वाला–जैसे:–नैयायिक शब्द मे कृतकत्व हेतु से अनित्यत्व को सिद्ध करना चाहता है किन्तु कृतकत्व हेतु शब्द मे अम्बरगुणत्व का निषेधक भी है अतः नैयायिक के इष्ट का विरोधी है। तथा सभी अनुमान मे अनुमानविरोध भी इसप्रकार होता है-विवक्षित साध्यधर्म धर्मी का विशेषण नही हो सकता क्योकि वह धर्मिधर्मसमुदाय के एकदेशरूप है जैसे कि धर्मी का स्वरूप। इस अनुमान से सभी अनुमान हत-प्रहत हो जाता है। तदुपरात किसी अनुमान मे विरुद्धाऽव्यभिचारी दोष भी इस प्रकार लगता है-विरुद्ध यानी प्रस्तुत साध्य का विरोधी और अव्यभिचारी यानी अपने साध्य का अविनाभावी ऐसे प्रतिपक्षी हेतु का प्रयोग करने से अनुमान सत्प्रतिपक्षित हो जाता है–जैसे शब्द में एक ओर कोई कृतकत्व हेतु से अनित्यत्व सिद्ध करना चाहे तो अनित्यत्वरूप प्रस्तुत साध्य का विरोधी नित्यत्व का अव्यभिचारी ऐसा श्रावणत्व हेतु प्रयुक्त करने से पहला अनुमान प्रतिबद्ध हो जाता है"। –नास्तिको की दिखायी हुई इस प्रतिक्रिया से 'अनुमानमप्रमाणम्' यह अनुमान भी प्रतिरुद्ध हो जायेगा।

समाधानः उपरोक्त शका से हमारे द्वारा आपादित जो दूषणवृंद है उसकी हमारे ही अनुमान मे उद्घोषण करना युक्त नही है, क्योकि अनिश्चितार्थप्रतिपादकत्व हेतु से सभी 'अनुमान अप्रमाण है' इस प्रकार अनुमान के प्रामाण्य का बहिष्कार कर देने से हमारा अनुमान भी तदन्तर्गत मृततुल्य ही हो गया, जो मृत हो गया उसके ऊपर हमारे ही मत का अवलम्बन करके दूषणप्रहार करना यह तो मृत का ही मारणतुल्य यानी निष्फल है।

सारांशः-अनुमान मात्र अप्रमाण है तो अतीन्द्रिय ऐसे परलोकादि के अस्तित्व की सिद्धि के लिये वह कैसे प्रवृत्त किया जा सकेगा ? नही किया जा सकता।

[जन्मान्तर विना इस जन्म की अनुपपत्ति यह कौनसा प्रमाण ?]

यदि जन्मान्तरस्वरूप परलोक की सिद्धि इस युक्ति से इप्ट हो कि यह वर्त्तमान जन्म पूर्व जन्मान्तर के विना अनुपपन्न है, तो यहाँ प्रश्न है कि यह अनुपपत्ति अर्थापत्तिप्रमाण है या अनुमान प्रमाण ?

अर्थापत्ति का लक्षण यहाँ सगत न होने से वह अर्थापत्ति प्रमाण नही हो सकता। मीमासक विद्वानो ने अर्थापत्ति का यह लक्षण किया है–'देखा हुआ या सुना हुआ अर्थ अन्यथा यानी साध्य

अथ प्रज्ञा-मेधादयो जन्मादावभ्यासपूर्वका दृष्टाः कथमतत्पूर्वका भवेयुः, न वह्निपूर्वको धूमस्तत्पूर्वकतामन्तरेण कदाचिदपि भवन्नुपलब्धः । तदप्यसत्-अविनाभावसम्बन्धस्य देश-कालव्याप्तिलक्षणस्य प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्तेः । संनिहितमात्रप्रतिपत्तिनिमित्तं हि प्रत्यक्षमुपलभ्यते, 'न हि सकलदेश-कालयोर्विना वह्निमसम्भव एव धूमस्य' इति प्रत्यक्षतः प्रतीतिर्युक्ता, अतो न धूमोऽपि वह्निपूर्वकः सर्वत्र प्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां सिद्धः, इति कुतस्तेन दृष्टान्तेन जन्मान्तरस्वरूपपरलोकसाधनम् ? तस्मात् केचित् प्रज्ञा-मेधादयस्तथाभूताभ्यासपूर्वकाः, केचिद् माता-पितृशरीरपूर्वका इति । न च प्रज्ञादयः शरीरतो व्यतिरिच्यमानस्वभावाः संवेदनविषयतामुपयान्ति, शरीरं च तदन्वयव्यतिरेकानुवृत्तिमदेव दृष्टमिति कथमन्यथा व्यवस्थामर्हति ? ।

अथ पूर्वोपात्तादृष्टमन्तरेण कथं मातापितृविलक्षणं शरीरम् ? नन्वेतेनैव व्यभिचारो दृश्यते, नहि सर्वदा कारणानुरूपमेव कार्यम्, तेन विलक्षणादपि माता-पितृशरीराद् यदि प्रज्ञा-मेधादिभिर्विलक्षणं तदपत्यस्य शरीरमुपजायेत, कदाचित् तदाकारानुकारि तत् क एवाऽत्र विरोधः ? यथा कश्चित् शालूकादेव शालूकः, कश्चिद् गोमयात्; तथा कश्चिदुपदेशाद् विकल्पः, कश्चित्तदाकारपदार्थदर्शनात् । अथ दर्शनादपि विकल्पः पूर्वविकल्पवासनामन्तरेण कथं भवेत् ? तर्हि गोमयादपि शालूकः कथं

पदार्थ के विना उपपन्न न हो सके' । प्रस्तुत मे, पूर्व जन्मान्तर के विना वर्त्तमान जन्म की अनुपपत्ति है यह असिद्ध है, क्योकि माता-पिता रूप सामग्री से ही वर्त्तमान जन्म की उपपत्ति हो जाती है, अतः माता पिता ही वर्त्तमान जन्म के हेतु बन जाते है, शेष जन्मान्तरादि की निरर्थक कल्पना यदि की जाय तो निरर्थक अश्वसीग आदि की भी कल्पना क्यो न की जाय ?

[प्रज्ञा-मेधादिगुण की जन्मान्तरपूर्वकता कैसे ?]

यदि यह शका करे कि-"प्रज्ञा और मेधा इत्यादि गुण हमेशा अभ्यास से ही सम्पन्न होते हुए दिखाई देते हैं, तो जन्म के प्रारम्भ मे नवजात शिशु मे जो दुग्धपानादि प्रयोजक प्रज्ञा दिखाई देती है वह पूर्वजन्म के अभ्यास के विना कैसे उपपन्न होगी ? धूम मे अग्निपूर्वकत्व प्रसिद्ध होने से अग्नि से उत्पन्न हुये विना ही धूम कही विद्यमान हो ऐसा कही देखा नही है ।"-यह शका भी अयुक्त है । कारण, धूम मे अग्नि का अविनाभावरूप सम्बन्ध का अर्थ है जिन देश काल मे धूम का अस्तित्व हो, उन सभी देश-काल मे अग्नि भी होना चाहिये । प्रत्यक्ष से ऐसा अविनाभाव सबध ज्ञात नही हो सकता, क्योकि प्रत्यक्ष तो केवल निकटवर्त्ती पदार्थ ज्ञान मे ही निमित्त बनता हुआ दिखाई देता है । प्रत्यक्ष से ऐसा ज्ञान शक्य नही है कि - सभी देश-काल मे अग्नि के विना धूमोत्पत्ति सभव ही नही है'-क्योकि दूरवर्त्ती देश काल का प्रत्यक्ष नही हो सकता । जब 'धूम अग्निपूर्वक ही होता है' ऐसा सभी जगह प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ यानी अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध नही है तो उसके दृष्टान्त से पूर्व जन्मरूप परलोकसिद्धि की तो बात ही कहाँ ?

इससे यही फलित होता है कि कभी कभी प्रज्ञा मेधा आदि गुण भूतपूर्व अभ्यास से जन्य होते हैं तो कभी [जन्म के प्रारम्भ मे] वे केवल माता-पिता के देह से उत्पन्न होते हैं । तदुपरात, प्रज्ञादि गुण शरीर से अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व के स्वभाव रूप मे सवेदन की विषयता से आश्लिष्ट भी नही है । दूसरी ओर शरीर के ही अन्वय-व्यतिरेक का अनुवर्त्तन करने वाले वे देखे गये हैं तो उनको शरीर के गुण न मान कर देह भिन्न तत्त्व के गुण कैसे प्रस्थापित किये जाय ? !

शालूकमन्तरेणेति एतदपि प्रष्टव्यम् । तस्मात् कार्य-कारणभावमात्रमेवैतत्, तत्र च नियमाभावाद-विज्ञानादपि माता-पितृशरीराद् विज्ञानमुपजायताम् । अथवा यथा विकल्पाद् व्यवहितादपि विकल्प उपजायते तथा व्यवहितादपि माता-पितृशरीरत एवेति न भेदं पश्याम' । यथा चैकमातापितृशरीरा-दनेकापत्योत्पत्तिस्तथैकस्मादेव ब्रह्मणः प्रजोत्पत्तिरिति न जात्यन्तरपरिग्रहः कस्यचिदिति न परलोक-सिद्धिः । न हि मातापितृसम्बन्धमात्रमेव परलोकः, तथेष्टावभ्युपगमविरोधात् ।

अथानाद्यनन्त आत्मा अस्ति, तमाश्रित्य परलोकः साध्यते । नह्येकानुभवितृव्यतिरेकेणा-ऽनुसंधानं संभवति, भिन्नानुभवितर्यनुसंधानादृष्टे. । तदयुक्तम्-"परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः" [बा० सू० १७] इति वचनात् ।

न ह्यनाद्यनन्त आत्मा प्रत्यक्षप्रमाणप्रसिद्धः । अनुमानेन चेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः-सिद्धे आत्मन्येकरूपेणानुसंधानविकल्पस्याऽविनाभूतत्वे आत्मसिद्धिः तत्सिद्धेश्चानुसंधानस्य तदविनाभूतत्व-सिद्धिरितीतरेतराश्रयसद्भावान्नैकस्यापि सिद्धिः । न चाऽसिद्धमसिद्धेन साध्यते ।

[विलक्षण शरीर से जन्मान्तर की सिद्धि दुःशक्य]

परलोकवादीः-पूर्वजन्म मे सगृहीत पुण्यकर्म के विना केवल माता-पिता के देह से ही पुत्रदेह उत्पन्न होता है तो वह माता-पिता के देह से भिन्न जाति का क्यो होता है ?

नास्तिकः-अरे ! इस स्थल मे ही तो 'कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति' के नियम मे व्यभिचार देखा जाता है, अर्थात् वह नियम जूठा है । सभी काल मे कारण के जैसा ही कार्य उत्पन्न होने का नियम नही है, अत भिन्नजातीय भी माता पिता के देह से प्रज्ञा-मेधादिकृत विलक्षणता वाला, उनके पुत्र का देह उत्पन्न हो सकता है, कभी कभी माता-पिता देह के तुल्य आकृतिवाला भी हो जाय तो इसमे ऐसा क्या विरोध है ? देखते तो हैं कि कोई मेढक अपनी जातिवाले मेढक से उत्पन्न होता है तो कोई गोमय आदि से भी होता है । तथा, कोई विकल्प उपदेश से उत्पन्न होता है तो कोई विकल्प तत्तद् आकारवाले पदार्थ के स्वय दर्शन से भी होता है । यदि कोई ऐसा पूछे कि पूर्व-पूर्व विकल्प की वासना के विना तदाकार विकल्प केवल दर्शनमात्र से किस तरह उत्पन्न होगा-तो यह भी पूछने का वह साहस करे कि मेढक के विना केवल गोमय से मेढक-उत्पत्ति कैसे होती है ? । अत. सच बात तो यह है कि मेढक मेढक के बीच केवल साधारण कार्य-कारणभाव ही है, किन्तु मेढक से ही मेढक-उत्पत्ति हो ऐसा कोई नियम नही है अत एव विज्ञानभिन्न माता-पिता शरीर से भी विज्ञान उत्पन्न हो, कोई दोष नही है ।

अथवा उस प्रश्न के उत्तर मे यह भी कह सकते हैं कि जैसे दूरवर्त्ती विकल्प से उत्तरकाल मे विकल्प उत्पन्न होता है, वैसे ही, वर्त्तमान बालक का जैसा रूप-रंग आकार है वैसे रूपादि वाले उस बालक के पूर्वजो मे जो माता-पिता हो गये, उन दूरवर्त्ती माता पिता से ही वर्त्तमान बालक देह का जन्म हुआ है, अत. माता पिता का देह और पुत्र का देह दोनो मे भेद यानी वैलक्षण्य का कोई प्रश्न नही रहता है । अथवा यह भी कह सकते हैं कि जैसे एक ही माता-पिता के देह से अनेक पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म तत्त्व से समग्र प्रजा की उत्पत्ति होती है, जब उसका नाश होता है तब उसी ब्रह्म तत्त्व में उसका विलय हो जाता है-ऐसा भी सम्भव है तो अब किसी के भी जात्यन्तर यानी जन्मान्तर के परिग्रह को मानने की कोई आवश्यकता नही है । जब

किं च, दर्शना-नुसंधानयोः पूर्वापरभाविनोः कार्य-कारणभावः प्रत्यक्षसिद्धः, तत् कुतोऽनुसंधानस्मरणादात्मसिद्धिः? अपि च, शरीरान्तर्गतस्य ज्ञानस्याऽमूर्त्तत्वेन कथं जन्मान्तरशरीरसंचारः? अथाऽन्तराभवशरीरसन्तत्या संचरणमुच्यते, तदपि परलोकवत्न विशिष्यते। सचारश्च न दृष्टो जीवत इह जन्मनि, मरणसमये भविष्यतीति दुरधिगममेतत्, न परलोकसिद्धिः। अथवा सिद्धेऽपि परलोके प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धाऽसिद्धेर्व्यर्थमेवानुमानेन परलोकास्तित्वसाधनम्।

जात्यन्तररूपता ही असिद्ध है तो परलोक सिद्धि दूर है। ऐसा तो नही है कि माता-पिता का केवल सम्बन्ध ही आपको परलोक रूप में मान्य हो, क्योंकि ऐसा मानने पर तो आप को जन्मान्तर सिद्ध करना है उसमे ही विरोध आयेगा।

[आत्मतत्त्व के आधार पर परलोकसिद्धि दुष्कर]

यदि यह कहा जाय-"आत्मतत्त्व अनादि-अनन्त है, उसके आधार पर परलोक सिद्ध होता है। समान दो अनुभव में जो यह अनुसधान होता है कि-'जो मैंने पहले देखा था उसी मन्दिर को मैं फिर से देख रहा हूँ'-यह अनुसधान पृथग् पृथग् दो अनुभव करने वाले एक अनुभवकर्त्ता के विना सगत नही होगा। भिन्न भिन्न व्यक्ति मदिर दर्शन का अनुभवकर्त्ता हो तब उपरोक्त प्रकार का अनुसधान नही होता है। कभी कभी पूर्वजन्म के अनुभव और इस वर्त्तमान जन्म के अनुभव का भी अनुसंधान होता है और वह एक अनुभवकर्त्ता आत्मा के विना संगत न होने से परलोक की सिद्धि अनायास हो जाती है।"-तो यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि यह प्रसिद्ध उक्ति है कि "परलोकिन् आत्मा का अस्तित्व न होने से परलोक भी नहीं है।" कारण यह है कि जिस आत्मा को आप अनादि-अनत मानते है वह प्रत्यक्षप्रमाण से तो प्रसिद्ध नही है। यदि पूर्वोक्त अनुमान से उसको सिद्ध करना चाहेगे तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा जैसे -आत्मा को होने वाले एक रूप से अनुभवो का अनुसधान करने वाला विकल्प आत्मा के अविनाभावी है ऐसा सिद्ध होने पर आत्मा की सिद्धि होगी, और आत्मा सिद्ध होने पर अनुसधान मे तदविनाभाव की सिद्धि होगी। इस अन्योन्याश्रय दोष के कारण एक की भी सिद्धि नही होगी क्योंकि किसी एक असिद्ध वस्तु से दूसरे असिद्ध पदार्थ की सिद्धि नही की जाती।

दूसरी बात यह है कि दर्शन पूर्वकाल मे होता है और उसका अनुसधान उत्तरकाल मे होता है, अत. उन दोनो का कारणकार्यभाव प्रत्यक्षसिद्ध है। तब अनुसधानात्मक स्मरण से पूर्वकालीन दर्शन की सिद्धि सम्भव है किंतु आत्मसिद्धि कैसे होगी?

और भी एक प्रश्न है-ज्ञान तो शरीरान्तर्गत और अमूर्त्त है तो वह भावि जन्मान्तर के शरीर मे कैसे चला जायेगा? यदि कहे कि-'इस जन्म और जन्मान्तर के दो शरीर के बीच शरीर [illegible]ी परम्परा चालु है, उसके माध्यम से ज्ञान का संचार होगा'-तो यह भी परलोकवत् ही असिद्ध है, [illegible]योंकि मध्यवर्त्ती शरीरपरम्परा कहाँ सिद्ध है? जब आदमी जिन्दा होता है तब तो उसके ज्ञान का [illegible]न्मान्तरीय शरीर मे सचार इस जन्म मे तो देखा नही गया, और मरण के समय उसके ज्ञान का [illegible]चार दूसरे शरीर मे होता है यह कौन जान सकता है? कैसे जान सकता है? निष्कर्ष:-परलोक [illegible]सिद्ध है।

कदाचित् किसी तरह परलोक सिद्ध हो जाय तो भी पूर्व जन्म मे किये गये अमुक शुभाशुभ

अथागमात् प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धसिद्धिः, तथा सति परलोकास्तित्वमप्यागमादेव सिद्धमिति किमनुमानप्रयासेन ?! न चागमादपि परलोकसिद्धिः, तस्य प्रामाण्याऽसिद्धेः । न चाप्रमाणसिद्धं परलोकादिकमभ्युपगंतुं युक्तम्, तदभावस्यापि तथाऽभ्युपगमप्रसंगात् । तन्न परलोकसाधकप्रमाणप्रतिपादनमकृत्वा 'भव'शब्दव्युत्पत्तिरर्थसंस्पर्शिन्यभिधातुं युक्ता । डित्थादिशब्दव्युत्पत्तितुल्या तु यदि क्रियेत तदा नास्माभिरपि तत्प्रतिपादकप्रमाणपर्यनुयोगे मनः प्रणिधीयते--इति पूर्वपक्षः ।

[परलोकसिद्धावुत्तरपक्षः]

अत्रोच्यते यदुक्तम् 'पर्यनुयोगमात्रमस्माभिः क्रियते' इति तत्र वक्तव्यम्-पर्यनुयोगोऽपि क्रियमाणः किं प्रमाणतः क्रियते, उताऽप्रमाणतः ? यदि प्रमाणतस्तदयुक्तम्, यतस्तत्कार्यपि प्रमाण किं प्रत्यक्षम् उतानुमानादि ? यदि प्रत्यक्षम्, तदयुक्तम्, प्रत्यक्षस्याऽविचारकत्वेन पर्यनुयोगस्वरूपविचाररचनाऽचतुरत्वात् ।

न च प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणत्वं युक्तम्, भवदभ्युपगमेन तल्लक्षणाऽसम्भवात् । तदसम्भवश्च स्वरूपव्यवस्थापकधर्मस्य लक्षणत्वात् । तत्र प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यस्वरूपव्यवस्थापको धर्मोऽविसंवादित्वलक्षणोऽभ्युपगन्तव्यः । तच्चाऽविसंवादित्वं प्रत्यक्षप्रामाण्येनाऽविनाभूतमभ्युपगम्यम्, अन्यथाभूताद् ततः

कर्म का इस जन्म मे यही शुभाशुभ फल है इस प्रकार के नियमगर्भित कर्म और फल का सम्बन्ध ही असिद्ध है, अत अनुमान से परलोक का अस्तित्व सिद्ध किया जाय तो भी वह निरर्थक है ।

[आगमप्रमाण से परलोकसिद्धि अशक्य]

यदि कहे कि-'नियम गर्भित कर्म-फल के सम्बन्ध की सिद्धि आगम से हो जायेगी'-तब तो परलोक का अस्तित्व भी आगम से ही सिद्ध कर लो ! क्यो अनुमान का व्यर्थ कष्ट करते हो ? ! तथा, आगम से भी परलोक सिद्धि की आशा नही है, क्योकि आगम का प्रामाण्य ही सिद्ध नही है । प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, किसी भी प्रमाण से जब परलोक आदि सिद्ध नही है तो उसका सैद्धान्तिक रूप मे स्वीकार करना अनुचित है, क्योकि उसके विपरीत, परलोक के अभाव आदि का भी तब तो स्वीकार करना उचित गिना जायेगा । इस प्रकार जब तक परलोक की सिद्धि के लिये ठोस प्रमाण पेश न किया जाय तब तक 'भव' शब्द की व्युत्पत्ति को सार्थक यानी अर्थस्पर्शी कह नही सकते । हाँ, यदि आप डित्थ-डवित्थ आदि शब्द जैसे व्युत्पत्तिविहीन यादृच्छिक यानी अर्थशून्य होते हैं उसी प्रकार 'भव' शब्द को भी अर्थशून्य मान ले तब तो हम भी भवशब्दार्थ परलोकादि की सिद्धि करने वाले प्रमाण के पर्यनुयोग मे हमारे चित्त को सावधान नही करेंगे । पूर्वपक्ष समाप्त ।

[परलोकसिद्धि-उत्तरपक्ष]

नास्तिक मत के प्रतिवाद मे अब कहते हैं—

नास्तिक ने जो यह कहा-हम तो केवल पर्यनुयोग मात्र कर रहे है-इसके ऊपर पूछना है कि वह प्रमाणभित्ति के अवलम्बन से करते हो या विना प्रमाण ही ? अगर कहे कि प्रमाण से करते हैं तो वह ठीक नही है, क्योकि दिखाईये, किस प्रमाण से पर्यनुयोग करते हो प्रत्यक्ष या अनुमानादि प्रमाण से ? यदि प्रत्यक्ष से, तो वह अयुक्त बात है, क्योंकि पर्यनुयोग यह विचारस्वरूप अर्थात् ऊहापोहात्मक है, उसके सूत्रण का कौशल प्रत्यक्ष मे नही है ।

प्रत्यक्षप्रामाण्याऽसिद्धेः, सिद्धौ वा यतः कुतश्चिद् यत्किञ्चिदनभिमतमपि सिध्येदित्यतिप्रसंगः । स चाविनाभावस्तस्य कुतश्चित् प्रमाणादवगन्तव्यः, अनवगतप्रतिबन्धादर्थान्तरप्रतिपत्तौ नालिकेरद्वीपवासिनोऽप्यनवगतप्रतिबन्धाद् धूमाद् धूमध्वजप्रतिपत्तिः स्यात् । अविनाभावावगमश्चाखिलदेश-कालव्याप्त्या प्रमाणतोऽभ्युपगमनीयः, अन्यथा यस्यामेव प्रत्यक्षव्यक्तौ संवादित्व प्रामाण्ययोरसाववगतस्तस्यामेवाऽविसंवादित्वात् तत् सिध्येत्, न व्यक्त्यन्तरे, तत्र तस्यानवगमात् । न चावगतलक्ष्यलक्षणसम्बन्धा व्यक्तिर्देश-कालान्तरमनुवर्त्तते, तस्याः प्रत्यक्षव्यक्तेस्तत्रैव ध्वंसाद् व्यक्त्यन्तरानुगमात् । अनुगमे वा व्यक्तिरूपताविरहादनुगतस्य सामान्यरूपत्वात्तस्य च भवताऽनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा न सामान्यलक्षणानुमानविषयाभावप्रतिपादनेन तत्प्रतिक्षेपो युक्तः ।

स च प्रमाणतः प्रत्यक्षं लक्ष्य-लक्षणयोर्व्याप्त्याऽविनाभावावगमो यदि प्रत्यक्षादभ्युपगम्यते, तदयुक्तम्-प्रत्यक्षस्य सन्निहितस्वविषयप्रतिभासमात्र एव भवता व्यापाराभ्युपगमात् । अथैकत्र व्यक्तौ, प्रत्यक्षेण तयोरविसंवादित्व-प्रामाण्ययोरविनाभावावगमादन्यत्रापि 'एवंभूतं प्रत्यक्षं प्रमाणम्' इति प्रत्यक्षेणापि लक्ष्य-लक्षणयोर्व्याप्त्या प्रतिबन्धावगमः, तर्ह्यन्यत्रापि 'एवंभूतं ज्ञानलक्षणं कार्यमेवम्भूत-

[नास्तिकमत में प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की अनुपपत्ति]

पर्यनुयोग मे प्रत्यक्ष अनावश्यक तो है ही, उपरात विचार कर तो प्रत्यक्ष का प्रमाण्य भी नास्तिक मत मे नही घटेगा । क्योकि आपके मतानुसार प्रमाण का लक्षण उसमे मेल नही खाता । वह इस रीति से कि-लक्षण यह स्वरूप का व्यवस्थापक यानी असाधारण धर्मरूप होता है । प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना हो तव प्रत्यक्ष मे प्रामाण्यस्वरूप का व्यवस्थापक असाधारण धर्म अविसंवादित्व ही मानना होगा । अविसवादित्व तभी स्वरूप व्यपस्थापक वनेगा जव उसको प्रत्यक्षगत प्रामाण्य का अविनाभावी माना जाय । यदि उसे प्रामाण्य का अविनाभावी नही मानेंगे तव तो अविसवादित्व के रहने पर भी प्रत्यक्ष मे प्रामाण्य सिद्ध नही होगा । अविनाभावी न होने पर भी यदि उससे सिद्धि मानेंगे तव तो उसका अनिष्ट यह होगा कि जिस किसी भी वस्तु से यत्किंचित् पदार्थ की सिद्धि इष्ट न होने पर भी होती रहेगी-यह अतिप्रसग होगा । अब नास्तिक को पूछिये कि इस अविनाभाव का पता किस प्रमाण से लगायेंगे ? यदि अविनाभाव[=व्याप्तिरूप]सवध, अज्ञात रहने पर भी अन्य किसी अर्थ का ज्ञान करायेगा, तब तो जिसको घूम मे अग्नि का अविनाभाव अज्ञात है उस नालिकेर द्वीप निवासी को भी घूम देखकर तदविनाभावी अग्नि का वोध हो जायगा । अत: अविनाभाव का ज्ञान रहना चाहिये । अब इस अविनाभाव का प्रमाणभूत ज्ञान सकल देश-काल गर्भित व्याप्ति से ही होगा अर्थात् व्यापकरूप से सकल देश-काल के समावेश से ही हो सकेगा । किसी एक दो देशखड और कालखड के समावेश से ही यदि अविनाभाव का ज्ञान मानेंगे तव तो जिस देश-काल मे जिस प्रत्यक्षव्यक्ति मे प्रामाण्य और सवादित्व का अविनाभाव ज्ञात किया होगा उसी व्यक्ति में, उस देश-काल मे ही अविसवादित्व हेतुक प्रामाण्य का वोध होगा, अन्य प्रत्यक्ष व्यक्ति मे नही होगा, क्योकि उस अन्य व्यक्ति मे अविनाभाव अज्ञात है, और जिस व्यक्ति मे लक्ष्य[=प्रामाण्य] और लक्षण[=अविसवादित्व] का अविनाभावसम्बन्ध ज्ञात है वह तो अन्य देश, अन्य काल में विद्यमान नही है, क्योकि वह प्रत्यक्षव्यक्ति तो उसी काल मे, उसी देश मे नष्ट हो गयी, अत. उसका अन्य देश-कालीन व्यक्ति मे अनुगमन असभवित है । फिर भी यदि उसका अनुगम मानेंगे तो उसकी व्यक्तिरूपता का भग होकर उसमे सामान्यरूपता की आपत्ति होगी, क्योकि जो अनुगत होता है वह व्यक्ति

ज्ञानकार्यप्रभवम्' इति तेनैव कथं न सर्वोपसंहारेण कार्यलक्षणहेतोः स्वसाध्याऽविनाभावावगमः, येन 'अनुमानमप्रमाणम्, अविनाभावसंबन्धस्य व्याप्त्या ग्रहीतुमशक्यत्वात्' इति दूषणमनुमानवादिनं प्रति भवताऽऽसज्यमानं शोभते ? !

किं च, अविसंवादित्वलक्षणो धर्मः प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्यव्यवस्थापकः प्रत्यक्षप्रतिबद्धत्वेन निश्चेयः अन्यथा तत्रैव ततः प्रामाण्यलक्षणलक्ष्यव्यवस्था न स्यात्, असंबद्धस्य केनचित् सह प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् तद्वदन्यत्रापि ततस्तद्व्यवस्थाप्रसंगः। तथाऽभ्युपगमे च यथा संवादित्वलक्षणो धर्मो लक्ष्यानवगमेऽपि प्रत्यक्षधर्मिसंबन्धित्वेनाऽवगम्यते तथा धूमोऽपि पर्वतैकदेशे अनलानवगतावपि प्रदेशसम्ब-

---

विशेषरूप न होकर सामान्यरूप होता है। नास्तिक मत मे इस सामान्य पदार्थ का स्वीकार तो है नही। यदि सामान्य का स्वीकार कर लिया जाय तब तो 'सामान्यरूप पदार्थ अघटित होने से वह अनुमान का विषय [=साध्य] नही बन सकता" इस प्रकार का जो नास्तिक की ओर से प्रतिपादन किया जाता है और सामान्यतोदृष्ट अनुमान का खण्डन किया गया है यह असगत ठहरता है।

[प्रत्यक्ष से अविनाभावबोध होने पर अनुमान के प्रामाण्य की सिद्धि]

जब ज्ञात अविनाभाव ही उपयोगी है तब यहाँ प्रत्यक्ष मे लक्ष्य [=प्रामाण्य] और लक्षण [=अविसवादित्व] का व्यापकरूप से यानी सकलदेश कालावगाही अविनाभाव का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही माना जाय तो वह नही घटेगा, क्योकि प्रत्यक्ष का काम तो केवल निकटवर्त्ती अपने विषय का प्रतिभास कराना-इतना ही आप मानते है, अतः सकलदेश-कालस्पर्शी अविनाभाव का ज्ञान उससे नही हो सकेगा। यदि नास्तिक कहेगा कि-"किसी एक निकटवर्त्ती अग्नि-धूम व्यक्ति के प्रत्यक्ष से प्रामाण्य और अविसंवादित्व का अविनाभाव ज्ञात कर लेने पर अन्य अन्य प्रत्यक्षव्यक्तिओ मे भी 'इस प्रकार का यानी अविसंवादी प्रत्यक्ष प्रमाणभूत होता है' इस प्रकार व्यापकरूप से लक्ष्य-लक्षण के अविनाभाव का-बोध प्रत्यक्ष से भी हो जायेगा तो कोई अनुपपत्ति नही है"-तो आस्तिक भी कहेगा कि प्रत्यक्षवत् अनुमान स्थल मे भी एक स्थान मे धूम देखने के बाद अग्नि के प्रत्यक्षज्ञान को देखकर ऐसा सकल-देशकालावगाही अविनाभाव का बोध हो सकता है कि-'इस प्रकार का अग्निज्ञानात्मक कार्य इस प्रकार के धूमज्ञानात्मक कार्य से उत्पन्न होता है'। तो इस प्रकार कार्य-स्वरूप हेतु से सर्वदेश-कालोपसहारी अपने साध्य के साथ अविनाभाव का बोध क्यो नही हो सकेगा ? । अत. आपने आनुमानवादी के सिर ऊपर जो यह दोषारोपण किया है कि 'अनुमान प्रमाण नही है चूँकि व्यापकरूप से अविनाभाव का ग्रहण शक्य नही है'-वह शोभास्पद नही है।

[अविसंवादिता प्रत्यक्षवत् अनुमानादि में भी प्रामाण्यप्रसंजिका है]

दूसरी बात, प्रत्यक्ष मे प्रामाण्यरूप लक्ष्य की व्यवस्था करना हो तो उसका व्यवस्थापक अविनाभावी अविसवादित्वरूप धर्म प्रत्यक्ष के साथ प्रतिबद्ध यानी प्रत्यक्ष वृत्ति है यह निश्चय करना होगा। यदि प्रत्यक्ष के साथ अप्रतिबद्ध होने पर भी वह प्रत्यक्ष मे प्रामाण्य व्यवस्था करेगा तब तो भ्रमादि व्यक्ति के साथ भी अप्रतिबद्ध रह कर उसमे भी प्रामाण्य स्थापित करेगा क्योकि उसमें भी प्रत्यासत्ति का विप्रकर्ष यानी सबन्ध की दूरी तो है नही। अत अविसवादित्व प्रत्यक्ष के साथ प्रतिबद्ध होने पर प्रामाण्यव्यवस्था करता है यही मानना पडेगा और ऐसा मानने पर, यह भी सोचिये कि जैसे प्रत्यक्ष स्थल मे सवादित्वरूप धर्म प्रामाण्य विशिष्ट प्रत्यक्षरूप समुदाय के साथ नही किन्तु

ण्वितयाऽवगम्यते इति कथं-"समुदायः साध्यः तदपेक्षया च पक्षधर्मत्वं हेतोरवगन्तव्यम्, न च पक्षधर्मत्वाऽप्रतिपत्तौ साध्यधर्मानलविशिष्टतत्प्रदेशप्रतिपत्तिः, प्रतिपत्तौ वा पक्षधर्मत्वाद्यनुसरणं व्यर्थम्, तत्प्रतिपत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तेः। समुदायस्य साध्यत्वेनोपचारात् तदेकदेशधर्मिधर्मत्वावगमेऽपि पक्षधर्मत्वावगमाददोषे उपचरितं पक्षधर्मत्वं हेतोः स्यादित्यनुमानस्य गौणत्वापत्तेः प्रमाणस्याऽगौणत्वादनुमानाद-र्थनिर्णयो दुर्लभः"-इति चोद्यावसरः ? प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणेऽपि क्रियमाणेऽस्य सर्वस्य समानत्वेन प्रतिपादितत्वात्।

यदा चाऽविसंवादित्वलक्षण-प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्ययोः सर्वोपसंहारेण व्याप्तिरभ्युपगम्यते, अवि-संवादित्वलक्षणश्च प्रामाण्यव्यवस्थापको धर्मस्तत्राङ्गीक्रियते पूर्वोक्तन्यायेन, तदा कथमनुमानं नाभ्युप-गम्यते प्रमाणतया ? तथाहि-'यत् किंचिद् दृष्टं तस्य यत्राऽविनाभावस्तद्विदस्तस्य तद् गमकं तत्र' इत्येतावन्मात्रमेवानुमानस्यापि लक्षणम्। तच्च प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणमभ्युपगच्छताऽभ्युपगम्यते देवा-

---

तदेकदेशभूत केवल प्रत्यक्षरूप धर्मि के सबन्धी के रूप मे जाना जाता है और उस वक्त प्रामाण्य अज्ञात रहता है, ठीक उसी प्रकार अनुमान स्थल मे धूम भी अग्निविशिष्ट पर्वत रूप समुदाय का नही किन्तु तदेकदेशभूत केवल पर्वत का ही सम्बन्धी रूप मे जाना जाय और अग्नि अज्ञात रहे तो भी उसकी पक्षधर्मता को कोई हानि नही होती। तब फिर आपने विना सोचे जो यह पर्यनुयोग किया था कि-"साध्य तो समुदाय है, उसकी अपेक्षा ही पक्षधर्मता हेतु मे अवगत करनी चाहिये। इस प्रकार की पक्षधर्मता अज्ञात रहने पर 'साध्यधर्मभूत अग्नि से विशिष्ठ पर्वतदेश' का ज्ञान नही हो सकता। यदि इस प्रकार का ज्ञान पहले ही हो जाय तब तो अग्नि की सिद्धि हो ही गयी फिर पक्ष-धर्मता आदि का अन्वेषण ही व्यर्थ हो जायेगा क्योकि हेतु मे पक्षधर्मता के ज्ञान से पर्वत मे जिस अग्नि का ज्ञान करना है वह तो पहले से ही उत्पन्न है। यदि समुदाय के एकदेशरूप धर्मि पर्वतादि मे समुदायसाध्यता का उपचार करके उस धर्मि के धर्मरूप मे धूम का ज्ञान करने पर इसी ज्ञान को ही पक्षधर्मता का ज्ञान कहा जाय और उसमे कोई दोष न माना जाय तब तो हेतु की ऐसी पक्षधर्मता उपचरित हुयी, वास्तव नही, अत उससे होने वाला अनुमान भी गौण यानी उपचरित होगा। जो प्रमाण होता है वह गौण नही होता अत. गौण अनुमान से अर्थ का निर्णय दुर्लभ है"— इत्यादि पर्यनुयोग को अब कहाँ अवसर है जब कि आपने भी प्रामाण्यविशिष्ट प्रत्यक्ष रूप समुदाय को छोडकर केवल प्रत्यक्ष के साथ सबद्ध अविसवादित्व को प्रामाण्य का व्यवस्थापक मान लिया है। अतः प्रत्यक्ष के प्रामाण्य के लक्षण की व्यवस्था करने मे भी उपरोक्त सब बात समानरूप से लागू की जा सकती है-यह दिखा दिया है।

[प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने पर बलात् अनुमानप्रामाण्यापत्ति]

हमने जो पहले युक्तियाँ दिखाई है उसके अनुसार यदि आप-अविसवादित्वरूप लक्षण और प्रत्यक्ष मे प्रामाण्यरूप लक्ष्य की सर्वदेश-कालगर्भित व्याप्ति को मानते हैं, तथा प्रामाण्य के लक्षण के व्यवस्थापकधर्म अविसवादित्व को प्रत्यक्ष मे अगीकार करते हैं तब आपको पूछना है कि अनुमान को क्यो प्रमाणरूप से नही मानते है ? देखिये-अनुमान का लक्षण यह है कि-"जो कुछ (धूमादि) दिखाई देता है, उसका जिस (अग्नि) के साथ अविनाभाव होता है, उस अविनाभाव के ज्ञाता को वह (धूमादि) उसका (अग्नि आदि) ज्ञापक होता है।"-इतना ही अनुमान का लक्षण है और जो प्रत्यक्ष-

नाऽप्रियेण । तथा, प्रामाण्यमप्यनुमानस्याभ्युपगतमेव, यतो यदेवाऽविसंवादित्वलक्षणं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं अनुमानस्यापि तदेव । तदुक्तम्-[ ]

अर्थस्याऽसंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता । प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ।। इति ।

अर्थाऽसंभवेऽभावः प्रत्यक्षस्य संवादस्वभावः प्रामाण्ये निमित्तम् । स च साध्यार्थाभावेऽभाविनो लिंगादुपजायमानस्यानुमानस्यापि समान इति कथं न तस्यापि प्रामाण्याभ्युपगमः ? ।

किं चाऽयं चार्वाकः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी यदि परेभ्यः प्रत्यक्षलक्षणमनवबुध्यमानेभ्यस्तत् प्रतिपादयति तदा तेषां ज्ञानसम्बन्धित्वं कुतः प्रमाणादवगच्छति ? न तावत् प्रत्यक्षात्, परचेतोवृत्तीनां प्रत्यक्षतो ज्ञातुमशक्यत्वात् । किं तर्हि ? स्वात्मनि ज्ञानपूर्वकौ व्यापार-व्याहारौ प्रमाणतो निश्चित्य परेष्वपि तथाभूततद्दर्शनात् तत्सम्बन्धित्वमवबुध्यते, ततस्तेभ्यस्तत् प्रतिपादयति । तथाऽभ्युपगमे च व्यापार-व्याहारादेर्लिंगस्य ज्ञानसम्बन्धित्वलक्षणस्वसाध्याऽव्यभिचारित्वं पक्षधर्मत्वं चाभ्युपगतं भवतीति कथमनुमानोत्थापकस्यार्थस्य त्रैरूप्यमसिद्धम्-येन 'नास्माभिरनुमानप्रतिक्षेपः क्रियते किंतु त्रिलक्षणं यदनुमानवादिभिर्लिंगमभ्युपगतं तन्न लक्षणभाग् भवतीति प्रतिपाद्यते" इति वचः शोभामनुभवति ? ।-प्रत्यक्षलक्षणप्रतिपादनार्थं परचेतोवृत्तिपरिज्ञानाभ्युपगमे त्रिलक्षणहेत्वभ्युपगमस्यावश्यंभावित्वप्रतिपादनात् ।

प्राम्गण्य के लक्षण को मानता है वह मूर्ख हो फिर भी अनुमान के लक्षण को मानेगा ही क्योंकि प्रत्यक्षप्रामाण्य के लक्षण को सगत करने के लिये जो अविसवादित्व के साथ प्रामाण्य के अविनाभाव को मानता है उसको प्रत्यक्ष मे अविसवादित्व प्रामाण्य का ज्ञापक बनता ही है । अनुमान के लक्षण को न मानने पर प्रत्यक्ष मे प्रामाण्य का ज्ञान कैसे वह करेगा ? तदुपरात, जो प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है उसे अनुमान भी प्रमाणरूप मे मानना ही पडेगा क्योंकि प्रत्यक्ष मे जो प्रामाण्य है अविसवादिता रूप, वही अनुमान मे भी वर्त्तमान है । अनुमानप्रामाण्य के समथन मे एक प्राचोन वचन भी है-

अर्थस्याऽसभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता । प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे सम द्वयम् ।।

इसका तात्पर्य यह है कि-अर्थ के विरह मे प्रत्यक्ष प्रमाण नही होता अत: अर्थाविसवादित्व यानी संवादीस्वभाव यही प्रत्यक्ष की प्रमाणता का निमित्त यानी प्रयोजक है । तो अपने साध्य के अभाव मे स्वय भी न रहना-ऐसे स्वभाव वाले अर्थात् प्रतिबन्धविशिष्टस्वभाववाले लिंग मे भी स्वसाध्यसवादिता रूप निमित्त सुरक्षित होने से तथाविध हेतु से प्रमाणभूत अनुमान की उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि निमित्त दोनो पक्ष मे समान है । अतः अनुमान के प्रामाण्य को क्यो न माना जाय ? !

[हेतु में त्रैरूप्य का स्वीकार आवश्यक]

और एक बात-यह चार्वाक [=नास्तिक] कि जो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण कहता है, वह जब प्रत्यक्ष के लक्षण न जानने वाले दूसरो के प्रति प्रत्यक्ष के लक्षण का निरूपण करता है तब जो उसे यह पता चलता है कि 'इन लोगो को (मेरे निरूपण से) ज्ञान हुआ' इस ज्ञानसबन्धिता का पता वह कैसे लगाता है ? प्रत्यक्ष से नही लगा सकता क्योकि अन्यव्यक्ति के चित्तवृत्तिओ को प्रत्यक्ष से जान लेना अशक्य है । तो कैसे पता लगेगा ? इस रीति से कि वह अपनी आत्मा मे 'चेष्टा और भाषण आदि ज्ञानपूर्वक ही है' यह निश्चय करता है और बाद मे अन्य लोगो मे भी उसी प्रकार के चेष्टा और भाषण को देखकर ये भी मेरे जैसे ज्ञानवाले हैं' ऐसा ज्ञानवत्ता का पता लगाता है । जब

अथ नाऽस्माभिः प्रत्यक्षमपि प्रमाणत्वेनाभ्युपगम्यते येन तल्लक्षणप्रणयनेऽवश्यंभावी अनुमान-प्रामाण्याभ्युपगमः' इत्यस्मान् प्रति भवद्भिः प्रतिपाद्येत । यत्तु 'प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्' इति वचनं तत् तान्त्रिकलक्षणालक्षितलोकसंव्यवहारिप्रत्यक्षापेक्षया । अत एव लक्षणलक्षितप्रत्यक्षपूर्वकानुमानस्य 'अनुमानमप्रमाणम्' इत्यादिग्रन्थसंदर्भेणाऽप्रामाण्यप्रतिपादनं विधीयते, न पुनर्गोपालाद्यज्ञलोकव्यवहार-रचनाचतुरस्य धूमदर्शनमात्राविर्भूतानलप्रतिपत्तिरूपस्य । नैतच्चारु-तस्यापि महानसादिदृष्टान्त-धर्मिप्रवृत्तप्रमाणावगतस्वसाध्यप्रतिबन्धनिश्चितसाध्यधर्मिधर्मधूमबलोद्भूतत्वेन तान्त्रिकलक्षणलक्षित-प्रत्यक्षपूर्वकत्वस्य वस्तुतः प्रदर्शितत्वात् । 'एतत् पक्षधर्मत्वम्-इयं चास्य धूमस्य व्याप्तिः' इति सांकेतिकव्यवहारस्य गोपालादिमूर्खलोकाऽसंभविनोऽकिञ्चित्करत्वात् । प्रत्यक्षस्य चाविसंवादित्वं प्रामाण्य-लक्षणम्, तद् यथा संभवति तथा परतः प्रामाण्यं व्यवस्थापयद्भिः 'सिद्ध' इत्येतत्पदव्याख्यायां दर्शितं न पुनरुच्यते । तत् स्थितमेतत् न प्रत्यक्षस्य भवदभिप्रायेण प्रामाण्यव्यवस्थापकलक्षणसम्भवः, तद्भावे वाऽनुमानस्यापि प्रामाण्यप्रसिद्धिः, इति न प्रत्यक्षं पर्यनुयोगविधायि ।

यह मान्य है तब निर्विवाद चेष्टा-भाषणादि लिंग मे अपने साध्यभूत ज्ञानसवन्धिता की अव्यभिचारिता का और पक्षधर्मता का भी स्वीकार हो ही गया । तो फिर अनुमान के उद्भावक लिंगभूत अर्थ मे पक्षसत्त्वादि तीन रूपो की असिद्धि कैसे ? नास्तिक के इस पूर्वोक्त वचन की शोभा भी कैसे रहेगी कि-"हमारी ओर से अनुमान का प्रतिक्षेप नही किया जाता किंतु अनुमानवादीओ ने जो तीन लक्षण वाले लिंग को माना है वह लक्षणयुक्त नही है यही हमारी ओर से कहा जाता है" इत्यादि, क्योंकि प्रत्यक्ष के लक्षण के निरूपणार्थ अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति का ज्ञान मानते है तो उसमें तीन लक्षण वाले हेतु का स्वीकार हो ही जाता है ।

[तान्त्रिकलक्षणानुसारी अनुमान का प्रतिक्षेप अशक्य]

यदि नास्तिक कहेगा कि-हम प्रत्यक्ष को प्रमाण ही नही मानते है फिर आपकी ओर से यह उपालम्भ कैसे दिया जा सकता है कि 'प्रत्यक्ष के लक्षण का निरूपण करने पर अनुमान का प्रामाण्य अवश्यमेव मानना पडेगा'-इत्यादि । 'प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है' ऐसा जो वचन है वह तर्कवादीओ द्वारा प्रतिपादित लक्षण से लक्षित प्रत्यक्ष की अपेक्षा नही है किंतु उससे भिन्न जो लोक प्रचलित व्यावहारिक प्रत्यक्ष है उसकी अपेक्षा कहा गया है । इसीलिये तो हम तर्कवादीओ के प्रतिपादित लक्षण से लक्षित प्रत्यक्ष के उत्तरभावी अनुमान का ही 'अनुमान प्रमाण नही है' इस प्रकार की ग्रन्थरचना द्वारा, अप्रामाण्य का प्रतिपादन करते है, किंतु जो ग्वाले आदि अज्ञानी लोक प्रचलित व्यवहार को चलाने मे उपयोगी, एव केवल धूम के दर्शन से उत्पन्न होने वाले अग्निवोध रूप अनुमान है उसको अप्रमाण नही कहते है ।-तो यह ठीक नही है, क्योंकि-

ग्वाले आदि को होने वाला अनुमान भी कोई ऐसे ही धूम से नही उत्पन्न हो जाता, किन्तु जब 'धूम साध्यधर्मि पर्वतादिरूप पक्ष का धर्म है' इस प्रकार पक्षधर्मता का धूम में निश्चय रहे, तथा पाकशाला आदि दृष्टान्तरूप धर्मि मे प्रवर्त्तमान प्रत्यक्ष प्रमाण से धूम का अपने साध्य भूत अग्नि के साथ जो अविनाभाव-उसका भी धूम मे निश्चय रहे तभी ग्वाले आदि को अग्नि का अनुमान होता है-। इस अनुमान मे तर्कवादिओ से रचित लक्षण से लक्षित प्रत्यक्ष पूर्वकता का स्पष्ट प्रदर्शन नही है तो क्या है ? ग्वाले आदि मूर्ख लोगो मे अगर 'यह पक्षधर्मता है और यह अग्नि के साथ धूम की

नाप्यनुमानादिकं पर्यनुयोगकारि, अनुमानादेः प्रमाणत्वेनाऽनभ्युपगमात् । अथाऽस्माभिर्य-द्यप्यनुमानादिकं न प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते, तथापि परेण तत् प्रमाणतयाऽभ्युपगतमिति तत्प्रसिद्धेन तेन परस्य पर्यनुयोगो विधीयते । ननु परस्य तत् प्रमाणतः प्रामाण्याभ्युपगमविषयः, अथाऽप्रमाणतः ? यदि प्रमाणतः तदा भवतोऽपि प्रमाणविषयस्तत् स्यात् । न हि प्रमाणतोऽभ्युपगमः कस्यचिद् भवति कस्य-चिन्नेति युक्तम् । अथाऽप्रमाणतोऽनुमानादिकं प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते परेण तदाऽप्रमाणेन न तेन पर्यनु-योगो युक्तः, अप्रमाणस्य परलोकसाधनवत् तत्साधकप्रमाणपर्यनुयोगेऽप्यसामर्थ्यात् । अथ तेन प्रमाणल-क्षणाऽपरिज्ञानात् तत्प्रामाण्यमभ्युपगतमिति तत्सिद्धेनैव तेन परलोकादिसाधनाभिमतप्रमाणपर्यनुयोगः क्रियते । नन्वज्ञानात् तत् परस्य प्रमाणत्वेनाभिमतम्, न चाज्ञानादन्यथात्वेनाभिमन्यमानं वस्तु तत्साध्यामर्थक्रियां निर्वर्त्तयति, अन्यथा विषत्वेनाज्ञैर्मन्यमानं महौषधादिकमपि तान् मारयितुकामेन दीयमानं स्वकार्यकरणक्षमं स्यात् ।

व्याप्ति है' ऐसा सांकेतिक यानी पारिभाषिक व्यवहार नही होता है-तो उससे कोई हानि नही है,-क्योंकि सांकेतिक व्यवहार न होने मात्र से वस्तुस्थिति नही बदल जाती । 'प्रत्यक्ष का लक्षण अविसवा-दित्व है' यह किस रीति से संभवित है-उसका प्रतिपादन हमने परतःप्रामाण्य की व्यवस्था करते हुए 'सिद्ध' इस पद की व्याख्या मे दिखा दिया है अतः उसकी पुनरावृत्ति नही करते है ।

निष्कर्ष यह निकला कि नास्तिक के मतानुसार तो प्रत्यक्ष मे प्रामाण्यव्यवस्थापक लक्षण की संगति नही है । यदि सगति है ऐसा कहे तो अनुमान मे भी उसकी सगति निर्बाध होने से उसकी भी प्रमाणरूप मे प्रसिद्धि हो जायेगी । फलित यह हुआ कि प्रत्यक्ष प्रमाण पर्यनुयोग करने वाला नही है ।

[अनुमान से पर्यनुयोग नास्तिक नहीं कर सकता]

प्रत्यक्षवत् ही अनुमान से भी नास्तिकमत से पर्यनुयोग सगत नही है, क्योंकि वह अनुमानादि को प्रमाण नही मानता है ।

नास्तिक - हालाँ कि हम अनुमानादि को प्रमाण नही मानते हैं, किन्तु दूसरे वादिओ ने तो उसे प्रमाण माना है । तो हम अन्यमत प्रसिद्ध अनुमानादि से दूसरे के प्रति पर्यनुयोग कर सकते हैं ।

आस्तिकः-दूसरे वादी ने जो अनुमान को प्रमाण माना है वह प्रमाण के आधार पर या अप्रमाण के आधार पर ? यदि प्रमाणभूत आधार से उसका प्रामाण्य माना हो तो वह आपके लिये भी प्रमाण का ही विषय हुआ । कारण, अन्य के लिये वह मान्यता प्रामाणिक और आपके लिये आप्रामाणिक हो-यह ठीक नही है । यदि दूसरे मत मे अप्रमाण के आधार से अनुमान को प्रमाण मान लिया गया हो तब तो वह अप्रमाण ही हुआ, फिर उसकी सहायता से पर्यनुयोग करना मुना-सिब नही है । कारण, अप्रमाणभूत अनुमान परलोक की सिद्धि मे जैसे असमर्थ है वैसे परलोक साधक प्रमाण, [चाहे जो कुछ हो उस] के ऊपर पर्यनुयोग करने मे भी असमर्थ ही है ।

नास्तिकः-परवादी को प्रमाण के लक्षण का ज्ञान न होने से उसने अनुमान को प्रमाण मान लिया है, अत एव परमतप्रसिद्ध उस प्रमाण से परलोकादि की सिद्धि मे प्रस्तुत किये गये प्रमाण के ऊपर पर्यनुयोग करते हैं ।

आस्तिकः-अरे ! अन्य वादी ने अज्ञान से उसको प्रमाण मान लिया है, किन्तु अज्ञान से, विपरीतरूप से मानी हुयी वस्तु अपने से साध्य अर्थक्रिया को सपन्न नही कर सकती । यदि वैसा

अथ नाऽस्माभि परलोकप्रसाधकप्रमाणपर्यनुयोगोऽनुमानादिना स्वतन्त्रप्रसिद्धप्रामाण्येन पराभ्युपगमावगतप्रामाण्येन वा क्रियते। किं तर्हि ? यदि परलोकादिकोऽतीन्द्रियोऽर्थः परेणाभ्युपगम्यते तदा तत्प्रतिपादकं प्रमाणं वक्तव्यम्। प्रमाणनिबन्धना हि प्रमेयव्यवस्थिति', तस्य च प्रमाणस्य तल्लक्षणाद्यसंभवेन तद्विषयस्याप्यभिमतस्याभावः-इत्येवं विचारणालक्षण पर्यनुयोगः क्रियते। इति न स्वतन्त्रानुमानोपन्यासपक्षधर्म्यसिद्ध्यादिलक्षणदोषावकाशो बृहस्पतिमतानुसारिणाम्। नन्वेवमप्यनया भंग्या भवता परलोकाद्यतीन्द्रियार्थप्रसाधकप्रमाणपर्यनुयोग प्रसगसाधनाख्यमनुमान तद्विपर्ययस्वरूपं च स्ववाचैव प्रतिपादितं भवति। तथाहि—

'प्रमाणनिबन्धना प्रमेयव्यवस्थितिः' इत्येवं वदता प्रमेयव्यवस्था प्रमाणनिमित्तैव प्रतिपादिता भवति। एतच्च प्रसगसाधनम्। तच्च 'व्याप्य-व्यापकभावे सिद्धे यत्र व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः प्रदर्श्यते' इत्येवं लक्षणम्। तेन प्रमेयव्यवस्था प्रमाणप्रवृत्त्या व्याप्ता प्रमाणतो भवता प्रदर्शनीया, अन्यथा प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेणापि प्रमेयव्यवस्था स्यात्। ततश्च कथं परलोकादिसाधकप्रमाणपर्यनुयोगेऽपि परलोकव्यवस्था न भवेत् ? व्याप्य-व्यापकभावग्राहकप्रमाणाभ्युपगमे च कथं कार्यहेतो. स्वभावहेतोर्वा परलोकादिप्रसाधकत्वेन प्रवर्त्तमानस्य प्रतिक्षेपः, व्याप्तिसाधकप्रमाणसद्भावेऽनुमानप्रवृत्तेरनायाससिद्धत्वात् ?

होता तब तो अज्ञानीओ ने गलती से जिस महान् औषधादि को जहर समझ कर मारने के लिये किसी को पिला दिया हो, ऐसा महान् औषध भी मारने का काम कर देने मे समर्थ हो जायेगा।

[पर्यनुयोग में प्रसंग और विपर्यय अनुमान समाविष्ट है]

नास्तिकः-हम जो परलोक साधक प्रमाण के लिये पर्यनुयोग करते हैं वह हमारे मत मे प्रसिद्ध प्रामाण्यवाले अनुमानादि से अथवा अन्यमत की मान्यता से जिसका प्रामाण्य ज्ञात किया है वैसे अनुमानादि से नहीं करते हैं।

आस्तिकः-तो किससे करते हो ?

नास्तिकः-जब परवादी परलोकादि अतीन्द्रिय अर्थ को मानते है तब उसका समर्थक प्रमाण कहना-दिखाना चाहिये। क्योंकि किसी भी प्रमेय की व्यवस्था प्रमाणाधीन है। अतीन्द्रिय अर्थ मे जिस प्रमाण को वे दिखाते हैं उस अनुमानादि मे प्रमाण के लक्षणादि का असभव दोष आता है, अतः उसके विषय रूप मे मान्य परलोकादि जैसा कुछ नहीं है-इस प्रकार की जो विचारणा करते हैं-यही पर्यनुयोग है। अतः बृहस्पतिमतानुयायियो के समक्ष अपने मत से अनुमान का प्रस्तुतीकरण, और उसमे पक्षधर्मि की असिद्धि आदि रूप किसी भी दोष का अवकाश नहीं है।

आस्तिकः-अरे! इस ढग से तो आप अपनी ही जबान से परलोकादि अतीन्द्रिय अर्थ के प्रसाधक प्रमाण का पर्यनुयोग करते हुए प्रसगसाधननामक अनुमान और उसके विपर्यय रूप अनुमान का प्रतिपादन कर बैठे है। वह कैसे यह देखिये—

[नास्तिक कृत प्रसंगसाधन की समीक्षा]

"प्रमेय की व्यवस्था प्रमाणाधीन है" यह जो कहा उससे यही प्रतिपादित हुआ कि प्रमेय की व्यवस्था प्रमाणनिमित्त ही है। इसीका नाम है प्रसगसाधन [जिस को अन्वयानुमान भी कह

'प्रमाणाभावे तन्निबन्धनायाः प्रमेयव्यवस्थाया अप्यभाव' इति प्रसंगविपर्ययः । स च 'व्यापकाभावे व्याप्यस्याप्यभाव.' इत्येवं भूतव्यापकानुपलब्धिसमुद्भूतानुमानस्वरूपः । एतदपि प्रसंगविपर्ययरूपमनुमानं प्रमाणतो व्याप्य-व्यापकभावसिद्धौ प्रवर्त्तत इति व्याप्तिप्रसाधकस्य प्रमाणस्य तत्प्रसादलभ्यस्य चानुमानस्य प्रामाण्ये स्ववाचैव भवता दत्तः, स्वहस्तः इति नानुमानादिप्रामाण्यप्रतिपादनेऽस्माभिः प्रयस्यते । अतो यदुक्तम्-'सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः' इति तदभिधेयशून्यमिव लक्ष्यते उक्तन्यायात् ।

यत्तूक्तम्–'प्रत्यक्षं सन्निहितविषयत्वेन चक्षुरादिप्रभव परलोकादिग्राहकत्वेन न प्रवर्त्तते'-तत्र सिद्धसाधनम् । यच्चोक्तम्-'नाप्यतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षं, परलोकवत्तस्याऽसिद्धेः' इति, तद् विस्मरणशीलस्य भवतो वचनम्, अतीन्द्रियार्थप्रवृत्तिप्रवणस्य योगिप्रत्यक्षस्यानन्तरमेव प्रतिपादितत्वात् । यत् पुनरिदमुच्यते 'नापि प्रत्यक्षपूर्वकमनुमान तदभावे प्रवर्त्तते' तदसंगतम्, प्रत्यक्षेण हि सम्बन्धग्रहणपूर्वं

सकते है] प्रसंग साधन का लक्षण यह है-दो वस्तु के बीच व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध होने पर कही पर भी व्याप्य की सत्ता व्यापक की सत्ता के विना नही होती-इस प्रकार दिखाया जाय । इस लिये आप की ओर से भी प्रमाण के आधार से यह दिखाना होगा कि प्रमेय की व्यवस्था प्रमाणप्रवृत्ति के साथ व्याप्त है । अर्थात् जहाँ भी प्रमेय की व्यवस्था होती है वह प्रमाणप्रवृत्तिपूर्वक ही होती है । ऐसी व्याप्ति यदि नही दिखायेंगे तो प्रमाणप्रवृत्ति के विना भी प्रमेयव्यवस्था की सम्भावना रह जायेगी । जब प्रमेयव्यवस्था प्रमाणाधीन मानी जायेगी तब परलोकादि के साधक प्रमाण के पर्यनुयोग में भी यदि प्रमाण होगा तो परलोकादि की व्यवस्था क्यों नही होगी ? तथा, जब आप प्रमेयव्यवस्था और प्रमाण की व्याप्ति दिखायेंगे तब तो व्याप्य-व्यापकभाव के ग्राहक प्रमाण को भी मानना होगा, फिर व्याप्य-व्यापकभाव के ग्राहक प्रमाण के आधार पर परलोक आदि के साधक रूप मे प्रवर्त्तमान कार्य हेतु या स्वभाव हेतु का निराकरण करना कैसे उचित होगा, जब कि व्याप्ति साधक प्रमाण को मानने पर अनायास ही अनुमान की प्रवृत्ति सिद्ध है ? प्रसगसाधन की भाँति विपर्यय प्रयोग भी देखिये-

[नास्तिक कृत विपर्यय प्रयोग की समीक्षा]

'प्रमाणप्रवृत्ति नही होगी तो प्रमेय की व्यवस्था भी न होगी' यह प्रसगविपर्यय [यानी व्यतिरेकानुमान] है । उसके स्वरूप का विश्लेपण करने पर 'व्यापक के न होने पर व्याप्य भी नही होता' –इस प्रकार व्यापकानुपलब्धिप्रयुक्त अनुमान ही फलित होगा । प्रसग और विपर्यय स्वरूप मे दोनों अनुमान, प्रमाण से व्याप्य-व्यापक भाव की सिद्धि होने पर ही प्रवृत्त हो सकते हैं, अत. व्याप्तिसाधक प्रमाण और उसकी कृपा से होने वाले अनुमान के प्रामाण्य को आपने अपनी जबान से ही टेका-हस्तावलम्ब दे दिया, अत अनुमानादि के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये हमे प्रयास कराने की जरूर नही रहती । अत एव, आपने जो यह कहा था कि 'बृहस्पति के सूत्र सर्वत्र पर्यनुयोग प्रवण ही है, वह उपरोक्त रीति से विचार करने पर निरर्थक प्रलाप सा लगता है ।

[कार्यहेतुक परलोकसाधक अनुमान]

नास्तिक ने जो यह कहा था-'प्रत्यक्ष केवल निकटवर्त्ती वस्तु को विषय करने वाला होने से नेत्रादि जन्य प्रत्यक्ष परलोकादि के ग्रहण मे प्रवृत्ति नही करता'-[पृ० २८३ पं० ८] वह हमारे मत

परोक्षे पावकादौ यथाऽनुमानं प्रवर्त्तमानमुपलभ्यते स एव न्यायः परलोकसाधनेऽप्यनुमानस्य किमित्यदृष्टो दुष्टो वा ? । तथाहि-'यत् कार्यं तत् कार्यान्तरोद्भूतम्, यथा पटादिलक्षणं कार्यं; कार्यं चेदं जन्म' इति-भवत्यतो हेतोः परलोकसिद्धिः। तथाहि [प्र० वा० ३-३५]

"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षा तो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः।"

न तावत् कार्यत्वमिहजन्मनो न सिद्धम्, अकार्यत्वे हेतुनिरपेक्षस्य नित्यं सत्त्वाऽसत्त्वप्रसंगात्। अथ स्वभावत एव कादाचित्कत्वं पदार्थानां भविष्यति नहि कार्यकारणभावपूर्वकत्वं प्रत्यक्षत उपलब्धं येन तदभावान्निवर्त्तेत, प्रत्यक्षतः कार्य-कारणभावस्यैवासिद्धेः। यद्येवं, बाह्येनाप्यर्थेन सह कार्यकारणभावस्याऽसिद्धेः स्वसंवेदनमात्रत्वे सति अद्वैतम्, विचारतस्तस्याप्यभावे सर्वशून्यत्वमिति सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। तस्माद्यथा प्रत्यक्षेण बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वमात्मनः प्रतीयते-अन्यथेहलोकस्याप्यप्रसिद्धेः, प्रत्यक्षतः तज्जन्यस्वभावत्वानवगमे तस्य तद्ग्राहकत्वाऽसम्भवात्, तथा चेहलोकसाधनार्थमङ्गीकर्त्तव्यं प्रत्यक्षं स्वार्थेनात्मनः प्रतिबन्धसाधकम् तथा परलोकसाधनार्थमपि तदेव साधनमिति सिद्धः परलोकोऽनुमानतः। यथा च बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वं प्रत्यक्षस्य कादाचित्कत्वेन साध्यते, धूमस्यापि वह्निप्रतिबद्धत्वं, तथेहजन्मनोऽपि कादाचित्कत्वेन जन्मान्तरप्रतिबद्धत्वमपि। ततोऽनल-बाह्यार्थवत् परलोकेऽपि सिद्धमनुमानम्।

का ही अनुवादमात्र है। यह जो कहा था कि-'योगीयो के अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से परलोक सिद्धि दुष्कर है चूं कि परलोक की तरह अतीन्द्रिय वस्तु को देखने वाले योगी भी असिद्ध हैं' इत्यादि, [पृ० २८३ प. ९] यह कथन आपके विस्मृतिस्वभाव का द्योतन है, क्योंकि अतीन्द्रियार्थ को ग्रहण करने में तत्पर योगिप्रत्यक्ष का अचिरपूर्व मे सर्वज्ञसिद्धि के प्रकरण मे ही प्रतिपादन कर दिया है।

यह जो नास्तिक ने कहा है कि-'परलोक का प्रत्यक्ष न होने से तत्पूर्वक होने वाला अनुमान भी परलोक ग्रहण मे प्रवृत्त नही है'-[पृ० २८४ पं० १] वह गलत है-क्योंकि प्रत्यक्ष से अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण करके, परोक्ष अग्नि आदि मे जैसे (पूर्वोक्त न्याय से) अनुमान की प्रवृत्ति होती है, उसी न्याय से परलोक को सिद्ध करने में भी अनुमान की प्रवृत्ति का होना 'न देखी गयी हो' ऐसी बात नही है और दुष्ट भी नही है। अनुमान की प्रवृत्ति इस प्रकार है-जो कुछ कार्य होता है वह कार्यान्तरजन्य होता है जैसे कि वस्त्रादि कार्य तन्तुस्वरूप कार्य से। यह जन्म भी कार्य होने से जन्मान्तर जन्य होना चाहिये-इस प्रकार कार्य हेतु से जन्मान्तर सिद्ध होता है। इसका विशेष समर्थन भी देखिये-

[परलोकसाधक अनुमान का दृढीकरण]

प्रमाणवार्त्तिक मे कहा है कि "जिसका कोई हेतु नही है ऐसे पदार्थ को अपनी स्थिति में किसी अन्य की अपेक्षा न होने से या तो उसकी सर्वकालीन सत्ता होगी या सदा-सर्वदा असत्ता होगी। अन्य किसी की अपेक्षा होने पर ही भावो मे कादाचित्कत्व [=कालिक मर्यादा] का सम्भव है"- वर्त्तमान जन्म मे कार्यत्व असिद्ध तो नही है, यदि वह अकार्य होगा तब तो उपरोक्त प्रमाणवार्त्तिक ग्रन्थ वचन के अनुसार वर्त्तमान जन्म की सत्ता सदा रहेगी या तो उसकी सदा असत्ता रहने का अतिप्रसग होगा।

नास्तिकः-पदार्थो मे कालिक मर्यादा [=अमुक ही काल मे होना] अपने स्वभाव से ही

अथेहजन्मादिभूतमातापितृसामग्रीमात्रादप्युत्पत्तेः कादाचित्कत्वं युक्तमेवेहजन्मन । नन्वेवं प्रदेशसमनन्तरप्रत्ययमात्रसामग्रीविशेषादेव धूम-प्रत्यक्षसवेदनयोः कादाचित्कत्वमिति न सिध्यति वह्निबाह्यार्थप्रतीतिरिति सकलव्यवहाराभावः। अथाकारविशेषादेवानन्यथात्वसंभविनोऽनल-बाह्यार्थ-सिद्धिः, तर्हीहजन्मनोऽपि प्रज्ञा-मेधाद्याकारविशेषत. एव मातापितृव्यतिरिक्तनिजजन्मान्तरसिद्धिः। तथा, यथाकारविशेष एवायं तैमिरिकादिज्ञानव्यावृत्तः प्रत्यक्षस्य बाह्यार्थमन्तरेण न भवतीति निश्वीयते-अन्यथा बाह्यार्थासिद्धेर्बौद्धाभिमतसंवेदनाऽद्वैतमेवेति पुनरपि व्यवहाराभावः-तथेहजन्मादिभूतप्रज्ञा-विशेषाद् इहजन्मविशेषाकारो निजजन्मान्तरप्रतिबद्ध इति निश्चीयतामनुमानतः।

सम्पन्न होती है। जहाँ 'कार्यकारणभाव हो वहाँ ही कालिक मर्यादा हो' ऐसा कार्यकारणभावपूर्वकत्व का, प्रत्यक्ष से कालिक मर्यादा मे उपलम्भ नही है जिससे यह कह सके कि इस जन्म और पूर्व जन्म का कार्य-कारणभाव नही होगा तो इस जन्म मे कादाचित्कत्व [=कालिक मर्यादा] भी नही होगा। क्योकि कार्यकारणभाव ही यहाँ प्रत्यक्ष से असिद्ध है।

आस्तिकः-यदि ऐसा मानेंगे तो सवेदन और बाह्यार्थ के बीच भी प्रत्यक्ष से कार्यकारणाभाव असिद्ध होने से बाह्यार्थ सिद्ध नही होगा तो विज्ञानाद्वैत का साम्राज्य हो जायेगा। विज्ञान के ऊपर विविध विकल्पो से विचार करने पर उसका भी अभाव ही प्रतीत होगा, तो 'सर्व शून्यम्'-शून्यवाद प्रसक्त होगा। फलतः सकल व्यवहारो का भी उच्छेद होने का अतिप्रसग आयेगा। इसलिये यह अवश्य मानना होगा कि सवेदन मे बाह्यार्थसवन्धिता प्रत्यक्ष से ही प्रतीत होती है। यदि ऐसा नही मानेंगे तो इहलोक भी सिद्ध न हो सकेगा, क्योकि प्रत्यक्ष ज्ञान मे इहलोक यानी बाह्यार्थ से जन्यता का प्रत्यक्ष नही मानेंगे तो प्रत्यक्षज्ञान मे बाह्यार्थ की ग्राहकता का भी असभव हो जायेगा। इस प्रकार जैसे इहलोक की सिद्धि के लिये 'प्रत्यक्ष ही बाह्यार्थ के साथ अपनी सम्बन्धिता का ग्राहक है' यह मानना पडेगा, तो परलोक की सिद्धि मे भी वही साधन मौजूद है अतः अनुमान से परलोक की सिद्धि दुष्कर नही है। तात्पर्य यह है कि जैसे 'प्रत्यक्ष मे बाह्यार्थप्रतिबद्धत्व प्रत्यक्षग्राह्य है' इस तथ्य की ऊपर दर्शित-इहलोक सिद्धि की अन्यथानुपपत्ति प्रयुक्त अनुमान से सिद्धि की जाती है उसी प्रकार कार्यहेतुक अनुमान से इस जन्म मे जन्मान्तरपूर्वकत्व भी सिद्ध किया जाता है। उपरात, कादाचित्कत्व हेतु से भी प्रत्यक्षज्ञान मे बाह्यार्थसबधिता की सिद्धि होती है, जैसे: प्रत्यक्ष-ज्ञान यदि बाह्यार्थ जन्य नही होगा तो दूसरा कोई उसका हेतु न होने से उसके सदा सत्त्व-असत्त्व की आपत्ति होगी इस से प्रत्यक्ष मे बाह्यार्थ जन्यत्व यानी बाह्यार्थसबधिता सिद्ध होती है। तथा, धूम मे भी ठीक कादाचित्कत्व हेतु से अग्निसबधिता उपरोक्त रीति से सिद्ध होती है। जैसे कादाचित्कत्व हेतु से उपरोक्त सिद्धि होती है, ठीक उसी प्रकार कादाचित्कत्व हेतु से उपरोक्त 'इस जन्म मे परलोक सबंधिता' की भी सिद्धि की जा सकती है। जैसे वर्त्तमान जन्म यदि जन्मान्तरजन्य न होगा तो अन्य कोई उसका जनक न होने से वह सदा सत् या सदा ही असत् रहेगा। तो इस रीति से अग्नि सबधिता और बाह्यार्थ सबधिता की तरह इहलोक मे परलोक सबधिता की भी अनुमान से सिद्धि हो जाती है।

[केवल मात-पिता से जन्म मानने पर अतिप्रसंग]

नास्तिकः-इस जन्म को उत्पत्ति उसके प्रारम्भ मे माता-पितारूप विद्यमान सामग्री मात्र से ही हुई है-इतना मान लेने पर कालिक मर्यादा [कादाचित्कत्व] की सगति बैठ जाती है-तो परलोक-सिद्धि कैसे होगी ?

अथ प्रत्यक्षमेव सविकल्पकं परमार्थतः प्रतिपत्तु "ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैः"......[श्लो० वा० सू० ४-१२०] इत्यादि मीमांसकादिप्रसिद्धं साधकं वह्नि-बाह्यार्थपूर्वकत्वस्य धूम-जाग्रत्पुरोवृत्तिस्तम्भादिप्रत्ययस्य,-अत्राभ्युपगमे परलोकवादिनः स्वपक्षमनाय ससिद्धमेव मन्यन्ते, 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नम्' इतिन्यायात् । यथैव हि निश्चयरूपा मातापितृ-जन्मप्रतिबद्धत्वसिद्धिस्तथैवेहजन्मसंस्कारव्यावृत्तादिहजन्मप्रज्ञाद्याकारविशेषान्निजजन्मान्तरप्रतिबद्धत्वसिद्धिरपि प्रत्यक्षनिश्चिता स्यादिति न परलोकक्षतिः । न च निश्चयप्रत्ययोऽनभ्यासदशायामनुमानतामतिक्रामति, 'पूर्वरूपसाधर्म्यात् तत् तथा प्रसाधितं नानुमेयतामतिपतति' इति न्यायादन्वय-व्यतिरेक पक्षधर्मताऽनुसरणस्यानभ्यासदशायामुपलब्धेः, अभ्याससदशायां च पक्षधर्मत्वाद्यनुसरणस्यान्यत्राप्यसवेदनात् सिद्धमनुमानप्रतीतत्वं परलोकस्य ।

परलोकवादी:-अरे ! ऐसे तो जिस प्रदेश मे धूम उत्पन्न हुआ है और जिस समनन्तर [=सजातीय पूर्ववर्त्ती] प्रत्यय से प्रत्यक्ष सवेदन की उत्पत्ति हुयी है उस प्रदेश और समनन्तर प्रत्यय को ही क्रमशः धूम और प्रत्यक्ष सवेदन की सामग्री समझ लेने से धूम और प्रत्यक्षसवेदन में कादाचित्कत्व की घटना हो जायेगी, तो अग्नि और बाह्यार्थ की प्रतीति कैसे सिद्ध होगी ? इस प्रकार अग्नि एवं सकल बाह्यार्थ सिद्ध न होने पर तत्साध्य कोई व्यवहार भी न हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि जैसे केवल प्रदेश और समनन्तरप्रत्यय ही सामग्री नही है किन्तु अग्नि आदि भी सामग्री है, उसी प्रकार केवल माता-पिता ही सामग्री नही है किन्तु जन्मान्तर भी सामग्री-अन्तर्गत है।

नास्तिकः-धूम मे जो विशेषाकार है उष्णत्वादि और प्रत्यक्षसवेदन मे जो विशेषाकार है नीलादि, यह विशेषाकार क्रमश अग्नि और बाह्यार्थ के विना सभवित न होने से अग्नि और बाह्य अर्थ की सिद्धि हो सकेगी।

परलोकवादी-तो उसी प्रकार वर्त्तमानजन्म मे जो प्रज्ञा मेधादि विशेषाकार है वह पूर्वजन्मान्तर के विना सभवित न होने से माता-पिता से अतिरिक्त अपने ही जन्मान्तर की सिद्धि निर्विवाद है। तदुपरात, प्रत्यक्षसवेदन का एक ऐसा आकार विशेष है जो तिमिररोगवाले के ज्ञान मे नही होता, इस से यह निश्चय होता है कि 'तैमिरिकज्ञान भले विना बाह्यार्थ उत्पन्न हो जाता हो किन्तु यह प्रत्यक्षसवेदन बाह्यार्थ के विना नही हो सकता' वरना, बाह्यार्थ सिद्ध न होने पर बौद्ध मत का विज्ञानाद्वैत ही सिद्ध होने से व्यवहाराभाव की पुन प्रसक्ति होगी। तो प्रस्तुत मे भी-इस जन्म का आदिभूत जो मात-पिता का प्रज्ञाविशेष था उससे इस जन्म के प्रज्ञाविशेष का आकार विलक्षण है इस लिये वह अपने पूर्वजन्मान्तर से जन्य यानी जन्मान्तरसम्बन्धी है यह निश्चय अनुमान से फलित हुआ, क्योकि अल्पप्रज्ञ माता-पिता से भी अतिशयित बुद्धि वाली सन्तानोत्पत्ति देखी जाती है।

[प्रज्ञादि आकारविशेष में जन्मान्तरप्रतिबद्धता का प्रत्यक्षनिश्चय]

नास्तिकः-मीमांसादर्शन के श्लोकवार्तिकग्रन्थ मे जो सविकल्प प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है कि-निर्विकल्पक ज्ञान के बाद तद्गृहीत वस्तु का जाति-नामादि धर्म से विशिष्टरूप मे जिस बुद्धि से ग्रहण होता है वह सविकल्पक प्रत्यक्ष भी प्रमाण रूप से सम्मत है। [पूरा श्लोक इस प्रकार है-ततः पर पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्धयाऽवसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ! ।] बोधकर्ता का यह सविकल्प प्रत्यक्ष ही परमार्थ से धूम मे अग्निपूर्वकत्व का साधक है और जागने पर जो सामने रहे हुए स्तम्भादि की

अथेतरेतराश्रयदोषादनुमान नास्त्येवैवंविधे विषय इत्युच्येत, नन्वेवं सति सर्वभेदाभावतो व्यवहारोच्छेद इति तदुच्छेदमनभ्युपगच्छता व्यवहारार्थिनाऽवश्यमनुमानमभ्युपगन्तव्यम् । एतेन प्रत्यक्ष-पूर्वकत्वाऽभावेऽप्यनुमानस्य प्रामाण्यं प्रतिपादितम् । न चानुमानपूर्वकत्वेऽपीतरेतराश्रयदोषानुषंगः, तस्यैवेतरेतराश्रयदोषस्य व्यवहारप्रवृत्तितो निराकरणात् ।

बुद्धि होती है उसमे बाह्यार्थपूर्वकत्व का साधक है। [तात्पर्य-वर्त्तमान जन्म मे जन्मान्तरपूर्वकत्व का साधक ऐसा प्रत्यक्ष नही होने से वह असिद्ध है।]

आस्तिकः-प्रत्यक्ष से धूमादि मे अग्निपूर्वकत्व की सिद्धि मान ली जाय तब तो परलोकवादीवृद विना आयास ही अपने पक्ष की सिद्धि मान सकते है क्योकि जो स्पष्ट-दिखाई-रहा हो-उसके ऊपर कोई अनुपपत्ति का विकल्प शेष नही रहता। जैसे ही इस जन्म मे माता-पितृप्रतिबद्धत्व की प्रत्यक्ष से सिद्धि निश्चयात्मक होती है सदहेरूप नही, उसी प्रकार, इस वर्त्तमान जन्म के सभी सस्कार से नितान्त विलक्षण ऐसा जो वर्त्तमानभवीय प्रज्ञा-मेघादि आकारविशेष है उस के प्रत्यक्ष से ही [अभ्यास दशा मे] अपने जन्मान्तर सबधिता की सिद्धि का प्रत्यक्षात्मक निश्चय सभवित है अत परलोक की सिद्धि में कोई त्रुटि नही है। इतना जरूर है कि यह निश्चयात्मक बोध अनभ्यास दशा मे अनुमानबहिर्भूत नही होता। कारण यह है कि 'पूर्वदृष्टस्वरूप के साधर्म्य से [अन्यत्र भी] उसी प्रकार वह सिद्ध किया जाय तो वह अनुमेय [अनुमान के विषय क्षेत्र से] बहिर्भूत नही होता' इस न्याय से अनभ्यास दशा मे अन्वय, व्यतिरेक, पक्षधर्मता का अनुसरण देखा जाता है अत परलोक को अनुमान का विषय दिखाया जाता है। तात्पर्य यह है कि अभ्यासदशा मे जिसका अनुमान किया जाता है वही वस्तु अभ्यास दशा में प्रत्यक्ष का विषय बन जाती है क्योकि अभ्यस्तदशा मे अन्यत्र अग्निज्ञान मे भी कभी पक्ष-धर्मता आदि के अनुसरण का सवेदन नही होता। उदा० प्रारम्भ मे अग्नि के अनुमान मे मदबुद्धि पुरुष को पक्षधर्मता आदि का अनुसधान करना पडता है किंतु इस विषय का बार बार पुनरावर्त्तन हो जाने पर धूम को देखकर सत्वर ही अग्नि का ज्ञान हो जाता है यहाँ व्याप्ति स्मरणादि की जरूर नही रहती अत यह ज्ञान अनुमान नही किन्तु प्रत्यक्षरूप ही होता है। केवल अनभ्यास दशा मे वह ज्ञान अनुमानात्मक होता है इस दृष्टि से परलोक अनुमान ज्ञान के विषयरूप मे भी सिद्ध होता है।

[परलोक साधक अनुमान में इतरेतराश्रयदोष का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि-"आपने जो परलोक सिद्धि मे अनुमान दिखाया है, वह प्रत्यक्ष पर अवलम्बित है क्योकि प्रत्यक्ष से जन्मान्तरप्रतिबद्धत्व का निश्चय करने पर ही अनुमान का उदय लब्धा-वकाश होगा। वह प्रत्यक्ष भी अनुमान पर अवलम्बित है क्योकि अनुमान के विना उसका प्रामाण्य असिद्ध रहेगा। इस प्रकार अन्योन्य परावलबी हो जाने से परलोक के विषय मे अनुमान की प्रवृत्ति नही मान सकते है"-तो यहाँ व्यवहारोच्छेद का प्रसग होगा क्योकि परलोकवत् सभी भेदो का [यानी विशेषपदार्थो का] प्रत्यक्ष और अनुमान पूर्वोक्त रीति से अन्योन्य परावलंबी होने से उनका अभाव ही सिद्ध होगा और तब उन पदार्थो के विषय मे कोई भी व्यवहार नही किया जा सकेगा। व्यवहारो-च्छेद न मान कर यदि आपको व्यवहार से प्रयोजन है तब अनुमान का स्वीकार अवश्यमेव करना होगा। व्यवहारोच्छेद की आपत्ति दिखाने से यह भी ध्वनित हो जाता है कि अनुमान मे कदाचित् प्रत्यक्षपूर्वकता न हो फिर भी उसे प्रमाण मानना चाहीये। तात्पर्य यह है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान

यदप्युक्तम्-'अनुमानपूर्वकत्वेऽनवस्थाप्रसंगान्नानुमानप्रवृत्तिः'-इति, तदप्यसंगतम्, एवं हि सति प्रत्यक्षगृहीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषये नानुमानप्रवृत्तिमन्तरेण तन्निरास इति बाह्येऽर्थे प्रत्यक्षस्याऽव्यापारात् पुनरप्यद्वैतापत्तेः शून्यतापत्तेर्वा व्यवहारोच्छेद इति व्यवहारबलात् सैवानवस्था परिह्रियते इति। अभ्युपगमवादेन चैतदुक्तम्, अन्यथा बाह्यार्थव्यवस्थापनाय प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते तथा प्रदर्शितहेतोर्व्याप्तिप्रसाधनार्थं केषांचिद् मतेन निर्विकल्पम्, अन्येषां तु सविकल्पकं चक्षुरादिकरणव्यापारजन्यम्, अपरेषां मानसम्, केषांचिद् व्यावृत्तिग्रहणोपयोगि ज्ञानम्, अन्येषां प्रत्यक्षानुपलम्भबलोद्भूताऽलिंगजोहाख्यं परोक्ष प्रमाणं तत्र व्याप्रियत इति कथमनुमानेन प्रतिबंधग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिः परलोकवादिनः प्रति भवता प्रेर्येत ?

से जब स्वर्गादि परलोक सिद्ध किया जाता है तब वहाँ प्रत्यक्ष निरुपयोगी होता है और सामान्यतः फलवत्ता की सिद्धि प्रथम अनुमान से करने के बाद द्वितीय परिशेषानुमान से फलरूप मे स्वर्गादि सिद्ध किया जाता है तो इस प्रकार अनुमान यह अनुमानपूर्वक भी होता है।

यहाँ ऐसा नही कह सकते कि-'प्रथम अनुमान की प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब द्वितीय अनुमान से स्वर्गादि प्रसिद्ध रहे [क्योकि उसके विना कौन प्रथम अनुमान मे उद्यम करेगा ?] और दूसरा अनुमान तभी प्रवृत्त होगा जब प्रथम अनुमान से सामान्यतः फलवत्ता सिद्ध हो। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष लगेगा।'-ऐसा नही कह सकने का कारण यह है कि अदृष्ट पदार्थों की सिद्धि के लिये अनुमान का व्यवहार मे भारी प्रचलन है अत एव व्यवहार प्रवृत्ति के बल से ही उस अन्योन्याश्रय दोष का निराकरण हो जाता है।

[व्याप्तिग्रहण में अनवस्था दोष का निवारण]

यह जो कहा था आपने-'परलोकग्राहक अनुमान की उद्भावक व्याप्ति का ग्रहण अन्य अनुमान से करेंगे तो उस अन्य अनुमानोद्भावक व्याप्ति के ग्रहण मे अन्य अनुमान करना होगा इस रीति से अनवस्था होने के कारण अनुमान की प्रवृत्ति शक्य नही'-वह गलत है, क्योकि प्रत्यक्ष से ज्ञात जिस अर्थ मे विवाद खडा होगा उसका निराकरण अनुमान प्रवृत्ति के विना शक्य नही है और अनुमान प्रवृत्ति के विना प्रत्यक्ष की बाह्यार्थ मे प्रवृत्ति सिद्ध न होने से बाह्यार्थ असिद्ध रहने पर फिर से विज्ञानाद्वैत की आपत्ति आयेगी और विज्ञान की सिद्धि भी दुर्लभ हो जाने पर शून्यवाद प्रसक्ति से सकल व्यवहार का भी उच्छेद प्रसक्त होगा जो इष्ट नही है, अत एव इस व्यवहार के बल से ही अनवस्थादोष का निवारण हो जाता है।

[व्याप्तिग्राहक प्रमाण के विषय में मत वैविध्य]

अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्ति का अनुमान से ग्रहण होने मे अनवस्था दोष का जो व्याख्याकार ने प्रत्याख्यान किया उसके बारे मे व्याख्याकार यह स्पष्टता करते है कि अनुमान से व्याप्तिग्रह होता है यह कुछ समय तक मान कर हमने इतरेतराश्रय-अनवस्था दोष का परिहार किया है। [वास्तव मे हम अनुमान से व्याप्तिग्रह मानते ही नही हैं] यदि हम अनुमान से व्याप्तिग्रह न माने तब तो कोई दोष नही हैं, क्योकि प्रत्यक्ष जैसे बाह्यार्थ की व्यवस्था करने में प्रवर्त्तमान है वैसे ही पूर्वप्रदर्शित हेतु की अपने साध्य के साथ अविनाभाव रूप व्याप्ति के ग्रहण मे, कितने वादीओ के मत मे निर्विकल्प प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति मानी गयी है, दूसरे कोई वादी नेत्रादि इन्द्रिय

यदप्युक्तम् सर्वमप्यनुमानमस्मान् प्रति प्रमाणत्वेनासिद्धम्-इत्यादि, तदप्यसंगतम् । यतः किमनुमानमात्रस्याऽप्रामाण्यं भवतः प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् 'अनुमानमप्रमाणम्' इत्यादिग्रन्थेन ? अथ तान्त्रिकलक्षणक्षेपः ? अतीन्द्रियार्थानुमानप्रतिक्षेपो वा ?

न तावदनुमानमात्रप्रतिषेधो युक्तः, लोकव्यवहारोच्छेदप्रसंगात् । यतः प्रतीयन्ति कोविदाः कस्यचिदर्थस्य दर्शने नियमतः किञ्चिदर्थान्तरं न तु सर्वस्मात् सर्वस्यावगमः । उक्तं चान्येन-'स्वगृहान्निर्गतो भूयो न तदाऽऽगन्तुमर्हति' [.] । अतः किंचिद् दृष्ट्वा कस्यचिदवगमे निमित्तं कल्पनीयम् ।

तच्च नियतसाहचर्यमविनाभावशब्दवाच्यं नैयायिकादिभिः परिकल्पितम् । तदवगमश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसहायमानसप्रत्यक्षतः प्रतीयते । सामान्यद्वारेण प्रतिबन्धावगमाद् देशादिव्यभिचारो न बाधकः, नाऽपि व्यक्त्यानन्त्यम्, उभयत्रापि सामान्यस्यैकत्वात् । सामान्याकृष्टाशेषव्यक्तिप्रतिभानं च मानसे प्रत्यक्षे यथा शतसंख्याऽवच्छेदेन 'शतम्' इति प्रत्यये विशेषणाकृष्टानां पूर्वगृहीतानां शतसंख्याविषयपदार्थानाम् । तथाहि-'एते शतम्' इति प्रत्ययो भवत्येव । सामान्यस्य च सत्त्वमनुगताऽबाधित-

व्यापार जन्य सविकल्प प्रत्यक्ष को व्याप्तिग्राहक मानते है, तो कोई अन्य (मीमासकादि) वादी सविकल्प मानसप्रत्यक्ष को व्याप्तिग्राहक मानते है, अन्य कोई वादी विपक्ष से व्यावृत्ति के ग्रहण मे उपयोगी जो ज्ञान होता है उसी ज्ञान को व्याप्ति का ग्राहक दिखाते है। एव अन्य वादी (जैन) के मत मे, प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ की सहायता से उत्पन्न 'तर्क'सज्ञक प्रमाण जो कि लिंगजन्य नही होता और परोक्ष होता है, वही व्याप्तिग्राहक माना जाता है। इस प्रकार जब हम अनुमान को व्याप्तिग्राहक मानते ही नही तब अनुमान से व्याप्तिग्रह मे इतरेतराश्रय-अनवस्था दोषयुगल का प्रसग परलोकवादी के प्रति कैसे आप (नास्तिक) कर सकते है ?

[अनुमान के अप्रामाण्य कथन के ऊपर तीन विकल्प]

यह जो नास्तिक ने कहा था-हमारे प्रति कोई भी अनुमान प्रमाणरूप से सिद्ध नही है.... इत्यादि, वह सबधशून्य है। कारण, यहा तीन प्रश्न लब्धावकाश है। (१) 'अनुमान अप्रमाण है' इस वचन से नास्तिक का अभिप्राय क्या प्रत्येक अनुमान को अप्रमाण ठहराने मे है ? (२) या तान्त्रिको ने जो उसका लक्षण दिखलाया है उस लक्षण का विरोध अभिप्रेत है ? (३)-या केवल जो अतीन्द्रिय अर्थ दिखाने वाले अनुमान है उनका विरोध अभिप्रेत है ?

(१) अनुमानमात्र का निषेध करना तो नितान्त अनुचित है चू कि लोक मे अधिकाश व्यवहार जो अनुमान पर आधारित है उनका उच्छेद प्रसक्त होगा। बुद्धिमान लोग किसी एक चीज को देखने पर अवश्यमेव दूसरी कोई चीज का पता लगाते हैं, किन्तु ऐसा नही है कि सब चीजो को यानी जिस किसी चीज को देखकर सब चीजो का यानी जिस किसी चीज का पता लगा लें। कहा भी है 'अपने घर से बाहर गया हुआ नास्तिक वापस बार बार अपने घर नही लौट सकेगा।'-ऐसा इसीलिये कहा गया है कि यदि किसी एक चीज को देखने पर तत्संबद्ध अन्य किसी चीज का बोध होता ही न हो तो घर के बाहर उद्यानादि मे गये हुए नास्तिक को न घर का बोध रहेगा, न वहाँ जाने के रास्ते का, चूँकि वह तभी प्रत्यक्ष का विषय नही है। तो इस प्रकार जो एक वस्तु को देखकर अन्य सभी वस्तु का नही किन्तु किसी अमुक ही वस्तु का बोध होता है उसका क्या निमित्त है यह ढूँढना पडेगा।

प्रत्ययविषयत्वेन व्यवस्थापितम् । तदेवं नियतसाहचर्यमर्थान्तरं प्रतिपादयदुपलब्धं सत् प्रतिपादयति । उपलम्भश्चावश्यं क्वचित् स्थितस्य, सैव पक्षधर्मता, ततः सम्बन्धानुस्मृतौ ततः साध्यावगमः ।

यस्तु प्रतिबन्धं नोपैति तस्यापि कथं न सर्वस्मात् सर्वप्रतिपत्तिः, अभ्युपगमे वाऽप्रतिपन्नेऽपि सम्बन्धे प्रतिपत्तिप्रसंगः ? 'प्रमातृसंस्कारकारकाणां पूर्वदर्शनानामभावात्' इत्यनुत्तरम्, सम्बन्धाऽप्रतिपत्तौ प्रमातृसंस्कारानुपपत्तेः । दर्शनजः संस्कारोऽप्यनभिव्यक्तः सत्तामात्रेण न प्रतिपत्त्युपयोगी, न च स्मृतिमन्तरेण तत्सद्भावोऽपि । न चानुभवप्रध्वंसनिबन्धना स्मृतिः क्वचिद्विषये, संस्कारमन्तरेण तदनुपपत्तेः प्रध्वंसस्य च निर्हेतुकत्वाऽसम्भवात् । यत्राप्यभ्यस्ते विषये वस्त्वन्तरदर्शनादव्यवधानेन वस्त्वन्तरप्रतिपत्तिस्तत्रापि प्राक्तनक्रमाश्रयणेन वस्त्वन्तरावगमः । इयांस्तु विशेषः-एकत्रानभ्यस्तत्वादन्तराले स्मृतिसंवेदनम्, अन्यत्राभ्यासाद् विद्यमानाया अप्यसंवित्तिः ।

[अर्थान्तरबोध का निमित्त नियतसाहचर्य है-नैयायिकादिमत]

किसी एक चीज को देखकर दूसरी चीज के ज्ञान का निमित्त नियमगर्भित साहचर्य है, जिस को 'अविनाभाव' शब्द से भी कहा जाता है-यह नैयायिकादि वादीओ की धारणा है। प्रत्यक्ष यानी अग्नि के होने पर धूम का दर्शन, तथा अनुपलम्भ, यानी अग्नि के न होने पर धूम का अदर्शन, इनकी सहाय से होने वाली प्रत्यक्ष प्रतीति से धूम मे अग्नि के अविनाभाव का बोध होता है। यद्यपि यहाँ, पाकशाला मे धूम के स.थ जैसा अग्नि देखा था वैसा ही अग्नि, पर्वत मे नही होता-इस प्रकार धूम का अग्नि के साथ देशादिकृत व्यभिचार कोई दिखा सकता है, तथा धूम और अग्नि व्यक्ति से अनन्त हैं अतः सभी धूम का सभी अग्नि के साथ साहचर्य प्रत्यक्ष नही हो सकता, अतः अविनाभाव का ग्रह शक्य नही-ऐसा भी कोई कह सकता है-किन्तु ये दोनो से कोई बाध नही है, क्योंकि अविनाभाव का ग्रहण सामान्यतत्त्वद्वारा किया जाता है और धूम व्यक्ति भले अनत हो, सकल धूमगत धूमत्व सामान्य एक ही है, तथा अग्नि सकल मे अग्नित्व सामान्य भी एक ही है तो यहाँ धूमत्ववान् का अग्नित्ववान् के साथ नियतसाहचर्यग्रह अविलबेन किया जा सकता है। पाकशाला मे जैसा अग्नि था वैसा पर्वत मे विशिष्ट अग्नि न होने पर भी सामान्यत वहाँ अग्नि का अभाव धूम होने पर नही होता, इतने से ही अनुमान सार्थक है। सकलधूम-सकल अग्नि का प्रत्यक्ष असभव होने पर भी धूमत्व-अग्नित्व के माध्यम से उन सभी का मानस बोध हो सकता है अत व्यक्ति-आनन्त्य भी बाधक नही है। सामान्यधर्म से आलिंगित सकलव्यक्ति का भान मानसप्रत्यक्ष मे ठीक उसी प्रकार हो सकता है जैसे 'शत' सख्या को पुरस्कृत करके 'सो' ऐसी बुद्धि होती है उसमे एक दो-तीन .. इस प्रकार के विशेषण से आलिंगित पूर्व-पूर्व गृहीत सो सख्या विशिष्ट पदार्थो का 'ये सभी मिल कर सो हैं' इस प्रकार मानस प्रत्यक्ष बोध होता है। क्योकि ठोस गिनती के बाद देखिये कि 'ये सौ है' यह बोध तो होता ही है। सामान्य पदार्थ का सद्भाव भी 'यह वस्त्र है . .वस्त्र है'.. .इस प्रकार के एकाकार [=अनुगत] निर्बाध बोध के विषयरूप मे प्रस्थापित ही है। तो इस प्रकार नियमगर्भित साहचर्य से अर्थान्तर सूचित होता ही है और वह भी ज्ञात होने पर, अज्ञात रहने पर कभी नही। साहचर्य वाले धूमादि का ज्ञान यानी उपलम्भ भी 'कही पर वह अवस्थित है'-इस रूप से ही होता है-इस प्रकार के उपलम्भविषय को ही पक्षधर्मता कहते हैं। जब उसका उपलम्भ होता है तब तद्गत अविनाभावसंबंध का हमे स्मरण हो आता है और उस स्मरण से अग्नि आदि साध्य का ज्ञान होता है।

केचित्तु योगिप्रत्यक्षं संबन्धग्राहकमाहुः, व्याप्तेः सकलाक्षेपेणावगमात् । तथा च 'यत्र यत्रे'ति देशकालविक्षिप्तानां व्यक्तीनामनवभासाऽनुपपत्तिः, [अत एकत्र क्षणे योगित्वं प्रतिबन्धग्राहिणः ?] । एतत् पूर्वस्मादविशिष्टम् । तद् लोके अर्थान्तरदर्शनादर्थान्तरसुदृढप्रतीतौ तार्किकाणां निमित्तचिन्तायां पक्षधर्मत्वाद्यभिधानम् । अतो न तान्त्रिकलक्षणप्रतिक्षेपोऽपि ।

[अविनाभाव को और उसके ज्ञान को मानना ही चाहिये]

जो लोग इस प्रकार के 'अविनाभाव' स्वरूप प्रतिबन्ध यानी सबध का इनकार करते हैं उनको यह प्रश्न है कि हर किसी चीज से सभी वस्तु का भान क्यों नही होता ? और जो लोग उसका इनकार तो नही करते, किन्तु अर्थान्तर के बोध मे उसके ज्ञान की आवश्यकता नही मानते-उनके मत मे सबंध अज्ञात रहने पर भी साध्य के बोध का अतिप्रसंग क्यो नही होगा ? यदि ऐसा-उत्तर दिया जाय कि-'अज्ञात सबध से साध्य के बोध मे बोधकर्त्ता को पूर्वकालीन संस्कार होना चाहिये और उन सस्कारो का आधान करने वाला साध्यदर्शन भी पूर्व मे हुआ रहना चाहीये-यह सब जिस को नही होता उसको अज्ञात सबध से साध्य बोध नही होता ।'-तो यह उत्तर जूठा है क्योकि सबध ग्रहण किये विना बोधकर्त्ता को तथाविध सस्कार ही नही हो सकेगा । दर्शन से कदाचित् सस्कार हो जाय तो भी उसके अनभिव्यक्त रहने पर केवल सत्ता मात्र से वह साध्यबोध मे उपयोगी नही हो सकेगा । अभिव्यक्ति भी तभी होगी जब उसका स्मरण हो जाय । यह नही कह सकते कि 'किसी विषय की अनुभूति का ध्वंस ही उस विषय की स्मृति का उद्भावक है', क्योकि ध्वस तो सदा रहता है फिर भी स्मृति कदाचित् होती है-यह संस्कार के विना नही घट सकेगा । दूसरी बात यह है कि निरन्वयनाश यानी निर्हेतुक ध्वस का सभव नही* । कही कही ऐसा देखा जाता है कि विषय का अति अभ्यास हो जाने पर विना विलब ही एक वस्तु के दर्शन से दूसरी वस्तु का बोध हो जाता है, किन्तु गहराई से सोचने पर वहाँ भी पूर्वोक्त क्रम से ही साध्य का बोध होता है, फर्क होता है तो इतना ही कि अभ्यास न होने पर बीच मे होने वाली सम्बन्धस्मृति का सवेदन भी होता है और अति अभ्यास रहने पर बीच मे स्मृति तो होती है किन्तु उसका सवेदन नही होता ।

[अविनाभावसंबधग्रह की योगिप्रत्यक्ष से शक्यता]

कितने विद्वान् यह कहते हैं कि अविनाभावसबन्ध का ग्राहक योगीओ का प्रत्यक्ष है । योगी के प्रत्यक्ष मे देश-काल की कोई सीमा न होने से सकल हेतु और साध्य व्यक्ति को विषय करते हुए उससे व्याप्तिरूप सम्बन्ध का बोध प्राप्त हो सकता है । इसलिये 'जहाँ जहाँ धूम हो ...' इस व्याप्ति के ग्रह मे, जिस जिस देश मे और जिस जिस काल मे जितनी धूम व्यक्तिओ का अवभास=बोध करना है वह अनुपपन्न नही है । [इसलिये एक क्षण मे प्रतिबन्धग्राही की योगिता है (?)]-यह जो मत है वह पूर्वकथित मत से कोई अन्तर नही रखता क्योकि सामान्य द्वारा जो व्याप्तिग्रह पूर्व मे कहा गया है वही यहाँ योगिवचन से होने वाला है ।

---

*तात्पर्य यह है कि बौद्धादि मत मे नाश को निर्हेतुक माना जाता है । किन्तु अन्य सभी वादीओ का कहना है कि ध्वस सहेतुक ही है अत प्रस्तुत मे अनुभूतिध्वस को स्मृतिजनक मानने वाले को उस ध्वस के हेतु को भी मानना ही होगा तो उससे अच्छा है कि स्मृति को सस्कार का ही कार्य माना जाय ।

'उत्पन्नप्रतीतीनामस्तु प्रामाण्यम्, उत्पाद्यप्रतीतीनां तु अतीन्द्रियाऽदृष्ट-परलोक-सर्वज्ञाद्यनुमानानां प्रतिक्षेप' इति चेत्? तदसत्, यद्यनवगतसम्बन्धान् प्रतिपत्तृनधिकृत्यैतदुच्यते तदा धूमादिष्वपि तुल्यम्। अथ गृहीताविनाभावानामप्यतीन्द्रियपरलोकादिप्रतिभासानुत्पत्तेरेवमुच्यते। तदसत्, ये हि कार्यविशेषस्य तद्विशेषेण गृहीताविनाभावास्ते तस्मात् परलोकाद्यवगच्छन्त्येव, अतो न ज्ञायते केन विशेषणातीन्द्रियार्थानुमानप्रतिक्षेपः? साहचर्याऽविशेषेऽपि व्याप्यगता नियतता प्रयोजिका न व्यापकगता, अतः समव्याप्तिकानामपि व्याप्यमुखेनैव प्रतिपत्तिः। नियतताऽवगमे चार्थान्तरप्रतिपत्तौ न बाधा. न प्रतिबन्धः, एकस्य रूपभेदानुपपत्तेः, ततो न विशेषविरुद्धसम्भवः, नाऽपि विरुद्धाऽव्यभिचारिण, इति यदुक्तम्–'विरुद्धानुमान-विरोधयोः सर्वत्र सम्भवात् क्वचिच्च विरुद्धाऽव्यभिचारिणः' इत्येतदप्यपास्तम्। अविनाभावसम्बन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अवस्था-देश-कालादिभेदात्' इत्यादेश्च पूर्वनीत्याऽनुमानप्रमाणत्वेऽनुपपत्तिः।

इस प्रकार तार्किक नैयायिको ने एक अर्थ के दर्शन से होने वाली अन्य अर्थ की प्रतीति में निमित्त क्या है–इसकी विचारणा मे पक्षधर्मत्वादि का प्रतिपादन किया है। अत. नास्तिक उस तान्त्रिक लक्षण का भी प्रतिकार नही कर सकता। तात्पर्य, दूसरा विकल्प–तान्त्रिकलक्षणलक्षित अनुमान का प्रतिक्षेप, यह विकल्प भी तुच्छ है।

[अतीन्द्रियार्थसाधकानुमान का प्रतिक्षेप–तीसरा विकल्प]

नास्तिकः–जो अनुमानात्मक प्रतीतियाँ लोक मे प्राचीनकाल से उत्पन्न हैं उनका प्रामाण्य भले मान्य हो, किन्तु जो अब नये सीरे से उत्पन्न करनी हैं, जैसे अतीन्द्रिय कर्म, परलोक, सर्वज्ञ के अनुमान,–इनके प्रामाण्य का ही हम विरोध करते है।

परलोकवादीः–यह अच्छा नही है, क्योंकि उत्पन्न और उत्पाद्य अनुमानो का ऐसा भेद करेंगे तो जिन बोधकर्त्ताओ को अभी तक अविनाभाव सम्बन्ध का बोध नही है उनको लक्ष्य मे रख कर आप वैसा कह रहे हो तो धूम मे अग्नि का अविनाभाव उन लोगो को गृहीत न होने से अग्नि का अनुमान तो उन लोगो के लिये अनुत्पन्न यानी उत्पाद्य ही रहा, तो उसको भी अप्रमाण मानने की आपत्ति होगी। यदि जिनको अविनाभाव गृहीत है ऐसे बोधकर्त्ताओ को ही लक्ष्य मे रख कर आप यह कहते हो कि– 'अविनाभाव जिनको ज्ञात है उनको भी अतीन्द्रिय परलोकादि का प्रतिभास कभी उत्पन्न नही होता, अत अतीन्द्रिय परलोकादि का अनुमान अप्रमाण मानते हैं"–तो यह भी जूठा है जिन लोगो को एक कार्यविशेष [वर्त्तमान जन्म] का अन्य कार्यविशेष [पूर्वजन्म] के साथ अविनाभाव गृहीत है उनको 'जो कार्य होता है वह [सजातीय] कार्यान्तर जन्य होता है जैसे पटादि, यह जन्म भी एक कार्य है अत जन्मान्तर जन्य होना चाहिये' ऐसा परलोकादि का अनुमान होता ही है। फिर यह कौनसी विशेषता है जिससे कि अतीन्द्रियार्थ के अनुमान का विरोध करना और लौकिक अनुमानो को सच्चा मान लेना ? !

[साध्य से हेतु के अनुमान की आपत्ति का निवारण]

ऐसी शका नही करनी चाहिये कि–हेतु-साध्य मे साहचर्य अन्योन्य होता है तो हेतु से साध्य का अनुमान माना जाता है उसी तरह साध्य से हेतु का भी अनुमान माना जाय, क्यों नही माना जाता ?'–कारण यह है कि साहचर्य अन्योन्य समान होने पर भी नियत साहचर्य केवल हेतु मे ही

परोक्षस्यार्थस्य "सामान्याकारेणाऽन्यतः प्रतिपत्तौ लौकप्रतीतायां बौद्धैस्तु कार्यकारणभावा-विलक्षणः प्रतिबन्धस्तन्निमित्तत्वेन कल्पित' । तदुक्तम्-

कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकाद् । अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनाद् ॥
तथा-अवश्यंभावनियम. कः परस्यान्यथा परैः । अर्थान्तरनिमित्ते वा धर्मे वाससि रागवत् ॥
[प्र० वा० ३३१-३२] इति च । तथाहि-

क्वचित् पर्वतादिदेशे धूम उपलभ्यमानो यद्यग्निमन्तरेणैव स्यात्तदा पावकधर्मानुवृत्तितस्तस्य तत्कार्यत्वं यन्निश्चितं विशिष्टप्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तदेव न स्यादित्यहेतोस्तस्याऽसत्त्वात् क्वचिद-प्युपलम्भो न स्यात्, सर्वदा सर्वत्र सर्वाकारेण वोपलम्भः स्यात्, अहेतोः सर्वदा सत्त्वात् ।

होता है अत एव हेतु गत साहचर्य का नैयत्य ही अनुमानप्रयोजक होता है, व्यापक [-साध्य] गत साहचर्य का नैयत्य वैसा नही होता । यही कारण है कि जहां साध्य और हेतु अन्योन्य समान व्याप्ति वाले होते हैं वहाँ भी व्याप्यरूप से जिसका ज्ञान या प्रतिपादन किया जाय उससे ही दूसरे अर्थान्तर का बोध होता है । इस प्रकार हेतु में साध्य का नैयत्य ज्ञात रहे तो अर्थान्तर के अनुमान मे न कोई बाध हो सकता है, न तो कोई प्रतिबन्ध यानी सत्प्रतिपक्षदोष हो सकता है । क्योकि जो हेतु साध्य-नियत है वह हेतु साध्य का बोध करावे और न भी करावे ऐसा स्वरूप भेद सगत नही है ।

[विरुद्ध आदि दोषों का निराकरण]

उपरोक्त रीति से जब परलोकानुमान निष्कण्टक है तब विशेषविरुद्ध दोष यानी हेतु इष्ट विघातक होना यह दोष अवसर प्राप्त नही है क्योकि इष्ट परलोक को कार्यत्व हेतु से निष्कण्टक सिद्धि होती है । उसी प्रकार, परलोक सिद्धि मे प्रतिबन्ध करने वाला अर्थात् उसके अभाव को सिद्ध करने वाला कोई प्रति हेतु सिद्ध न होने से सत्प्रतिपक्ष यानी विरुद्धाव्यभिचारी दोष का भी यहाँ संभव नही है । यह कहने का अभिप्राय यह है कि नास्तिक ने जो पहले अनुमान के खण्डन मे यह कहा था कि सभी अनुमानो मे विरुद्ध दोष, अनुमानविरोध दोष और विरुद्धाव्यभिचारी दोष सावकाश होने के कारण अनुमान प्रमाण नही है-यह नास्तिक का खण्डन स्वय खण्डित हो जाता है । दूसरी बात यह है कि, हमने पूर्वोक्त रीति से अनुमान के प्रामाण्य को और अनुमान से परलोक को सिद्ध कर दिखाया है अतः नास्तिक ने जो कहा था कि अविनाभावसबध का ग्रहण शक्य नही है, क्योकि हेतु और साध्य भिन्न भिन्न अवस्था मे, देश मे और काल मे भिन्न प्रकार के होते है"... इत्यादि, यह सब असगत ठहरता है ।

[अर्थान्तरबोध का निमित्त कार्यकारणभावादिसम्बन्ध-बौद्धमत]

लोक मे जो किसी एक अर्थ से अन्य परोक्ष अर्थ की सामान्याकार से प्रतीति का होना अनु-भव सिद्ध है, बौद्धो ने उनके निमित्तरूप मे कार्य-कारणभाव और स्वभाव, दो सम्बन्ध की कल्पना की है । जैसे कि प्रमाणवार्त्तिक मे कहा है-

"कार्यकारणभाव [अपरनाम तदुत्पत्ति] रूप नियामक अथवा स्वभावरूप नियामक के निमित्त से अविनाभावनियम होता है । केवल [विपक्ष में] अदर्शन और [सपक्ष मे] दर्शनमात्र से नही होता । वरना, इन दो को निमित्त न मानने पर, पर का पर के साथ [यानी साध्य का साधन

स्वभावश्च यदि भावव्यतिरेकेण स्यात्ततो भावस्य निःस्वभावत्वापत्तेः स्वभावस्याप्यभावापत्तिः ।

तत्प्रतिबन्धसाधकं च प्रमाणं कार्यहेतोर्विशिष्टप्रत्यक्षाऽनुपलम्भशब्दवाच्यं प्रत्यक्षमेव सर्वज्ञसाधकहेतुप्रतिबन्धनिश्चयप्रस्तावे प्रदर्शितम् । स्वभावहेतोस्तु कस्यचिद् विपर्यये बाधकं प्रमाण व्यापकानुपलब्धिस्वरूपम् , कस्यचित्तु विशिष्टं प्रत्यक्षमभ्युपगतम् । सर्वथा सामान्यद्वारेण व्यक्तीनामतद्रूपपरावृत्तव्यक्तिरूपेण वा तासां प्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथाऽप्रतिबद्धादन्यतोऽन्यप्रतिपत्तावतिप्रसंगात् ।

प्रतिबन्धप्रसाधकं च प्रमाणमवश्यमभ्युपगमनीयम् , अन्यथाऽगृहीतप्रतिबन्धत्वादन्यतोऽन्यप्रतिपत्तावपि प्रसंगस्तदवस्थ एव । यत्र गृहीतप्रतिबन्धोऽसावर्थं उपलभ्यमानः साध्यसिद्धिं विदधाति तद्धर्मता तस्य पक्षधर्मत्वस्वरूपा, तद्ग्राहकं च प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानं वा । तदुक्तं धर्मकीर्त्तिना–
"पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा" । [ ]

के साथ] कौन दूसरा अवश्यभाव नियम होगा ? अर्थान्तर [यानी तदुत्पत्ति से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ] मूलक अस्वभावभूत धर्म मानने पर भी कैसे अवश्यंभाव नियम होगा ? जैसे कि राग [DYES] वस्त्र का न तो कार्य है, न तो स्वभाव है तो अर्थान्तरमूलक राग से वस्त्र का कहाँ अवश्यभाव नियम है ?"

जैसे कि देखिये-कार्यकारणभाव प्रतिबन्ध इस प्रकार है–कही पर्वतादि प्रदेश मे दिखाई देता धूंवा यदि अग्नि के विना होगा तो उसमे वह अग्निजन्यत्व ही नही होगा जो कि विशेषरूप से प्रत्यक्ष [अन्वय] और अनुपलम्भ [व्यतिरेक] से धूंवे मे अग्निधर्म के अनुसरण को देखकर निश्चित किया गया है । इस प्रकार तो वह धूंवा अहेतुक हो जाने से शशसींगवत् असत् हो जायेगा तो, या तो कही भी उसका उपलम्भ नही होगा, अथवा सभी काल मे–सभी प्रदेश मे सर्व प्रकार से उस का उपलम्भ होगा क्योंकि अहेतुक वस्तु [आकाशादि] का सर्वकाल मे सत्त्व होता है ।

कार्य हेतु का प्रतिबन्ध दिखा कर अब स्वभाव हेतु का प्रतिबन्ध दिखाते हैं-शिंशपादि स्वभाव अगर वृक्षादिभाव के विना निराधार ही होता तब तो वृक्षादिभाव मे स्वभावशून्यत्व ही आ पडेगा । उपरांत, स्वभाव भी निराधार तो कही होता नही, अतः उसका भी अभाव प्रसक्त होगा–इससे शिंशपादि स्वभाव का वृक्षादिभाव के साथ अविनाभाव फलित होता है ।

[कार्य और स्वभाव हेतु में प्रतिबन्धसाधक प्रमाण]

कार्यहेतु के इस उपरोक्त प्रतिबन्ध का साधक प्रमाण प्रत्यक्ष ही है जिस के लिये 'विशिष्ट प्रकार के प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ ऐसा भी शब्द प्रयोग होता है यह बात सर्वज्ञसिद्धि करने वाले हेतु के सम्बन्ध के निश्चय-प्रकरण मे दिखायी गयी है [देखिये–पृ० ५७ प० १७] । स्वभाव हेतु के प्रतिबन्ध का साधक प्रमाण कही 'विपक्ष मे बाधक निरूपण' है जो व्यापकानुपलब्धिरूप होता है, तो कही विशिष्ट प्रकार का प्रत्यक्ष ही तदुपलम्भक माना गया है । कुछ भी हो, प्रतिबन्ध को तो अवश्य मानना ही चाहिये, वह चाहे धूमादि व्यक्तिओं का अग्नि आदि व्यक्ति के साथ धूमत्व-अग्नित्वादि सामान्यधर्मपुरस्कारेण माना जाय, या [जो लोग सामान्य को नही मानते हैं उनके मत मे] उन व्यक्तिओं के बीच अतद्रूपव्यावृत्तव्यक्तिरूप से यानी अतद्व्यावृत्तिपुरस्कारेण माना जाय [जैसे कि अधूमव्यावृत्तिरूप से धूम का, अनग्निव्यावृत्तिरूप से अग्नि के साथ ।] मानना तो पडेगा ही, अन्यथा प्रतिबन्धरहित एक

अतो लोकप्रसिद्धतान्त्रिकलक्षणलक्षितानुमानयोर्भेदाभावादतीन्द्रियपरलोकाद्यर्थसाधकत्वमपि तस्यैवेति तत्प्रामाण्यानभ्युपगमे इहलोकस्यापि अभ्युपगमाभावप्रसंगः। न च 'किमत्र निर्विकल्पकं, मानसं. योगिप्रत्यक्षमूहो वा प्रतिबन्धनिश्चायकं, प्रतिबन्धोऽपि नियतसाहचर्यलक्षणः कार्यकारणभावादिर्वा' इति चिन्तात्रोपयोगिनी, धूमादग्निप्रतिपत्तिवत् प्रज्ञा-मेधादिविज्ञानकार्यविशेषाभिजजन्मान्तरविज्ञान-स्वभावपरलोकप्रतिपत्तिसिद्धेः। अतोऽनुमानाऽप्रामाण्यप्रतिपादनाय पूर्वपक्षवादिना यद् युक्तिजालमुपन्यस्तं तन्निरस्तं द्रष्टव्यम्, प्रतिपदमुच्चार्य न दूष्यते ग्रन्थगौरवभयात्।

यदप्युक्तम् 'परलोके प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेरर्थापत्तिरेवेयम्, इहजन्मान्यथाऽनुपपत्त्या परलोकसद्भावः' इति, तदपि न सम्यक्, पूर्वानुसारेण सर्वस्य नियतप्रत्ययस्य प्रवृत्तेरनुमानत्वप्रतिपादनात। 'अविनाभावसम्बन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वान्नात्रानुमानम्' इति चेत्? नन्वेवं तदेवाऽद्वैतं शून्यत्व वा कस्य केन दोषाभिधानम्। तस्मात् संव्यवहारकारिणा प्रत्यक्षेण ऊहेन वा प्रतिबन्धसिद्धिरिति कथं नानुमानात् परलोकसिद्धिः?-

---

वस्तु से अन्य वस्तु के बोध का होना माना जायेगा तो सब वस्तु से सभी का बोध होता रहेगा यह अतिप्रसग होगा।

[अनुमान से निर्विघ्न परलोक सिद्धि-उपसंहार]

जैसे प्रतिबन्ध को मानना जरूरी है वैसे उसके साधक प्रमाण की सत्ता भी अवश्य माननी पड़ेगी। वरना, प्रतिबन्धग्रहण किये विना ही किसी भी एक वस्तु से किसी अन्य वस्तु के बोध को मान लेने पर जो सभी से सर्व के बोध का प्रसग दिया गया था वह तदवस्थ रहेगा क्योंकि सभी वस्तुएं प्रतिबन्ध के ग्रहण से शून्य ही है। पक्षधर्मता का स्वरूप यह है कि जिस का प्रतिबन्ध ज्ञात हो ऐसा अर्थ जिस देश मे उपलब्ध हो कर साध्य की सिद्धि करे उस देश को वहाँ पक्ष कहा जायेगा और उस अर्थ को उसका धर्म कहा जायेगा—इसी का नाम पक्षधर्मता है, [पक्ष मे धर्म हेतु का रहना]। इस पक्षधर्मता का भी ग्राहक प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान—दोनो मे से कोई भी हो सकता है। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है—पक्षधर्मता का निश्चय प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से होता है।

उपरोक्त समस्त चर्चा का सार यही है कि—लोकप्रसिद्ध अनुमान और शास्त्रकारो के बनाये हुए लक्षण वाला अनुमान, दोनो मे कुछ भी भेद नही है। अत अतीन्द्रिय परलोकादिरूप अर्थ का साधक भी अनुमान ही है यह निर्विवाद सिद्ध होता है। यदि परलोक सिद्धि मे अनुमान को प्रमाण नही मानेगे तो इहलोक के स्वीकार का भी अभाव प्रसक्त होगा।

यदि यहाँ ऐसी चिन्ता की जाय कि—"प्रतिबन्ध का निश्चायक क्या निर्विकल्प प्रत्यक्ष है, या मानस प्रत्यक्ष है, या योगीप्रत्यक्ष है अथवा तर्क ही प्रतिबन्ध का निश्चायक है? प्रतिबन्ध भी नियत साहचर्यरूप माना जाय या कार्यकारणभावादिरूप? क्योंकि आपने दो मत बताये किन्तु कौनसा उपादेय है यह नही कहा है।"—तो इसके ऊपर व्याख्याकार का कहना है कि ऐसी चिन्ता प्रकृत मे उपयोगी नही, निरर्थक है। प्रस्तुत मे तो इतना ही दिखाना है कि जैसे धूम से अग्नि का उपलम्भ होता है वैसे ही, प्रज्ञा-मेधादि आकार विशेष से अपने ही जन्मान्तरीयविज्ञानस्वरूप परलोक के उपलम्भ की सिद्धि सुसभवित है। इसलिये, अनुमान को अप्रमाणसिद्ध करने हेतु पूर्वपक्षी वादी ने जो

यदप्युक्तम्-'माता-पितृसामग्रीमात्रेणेहजन्मसम्भवान्न तज्जन्मव्यतिरिक्तभूतपरलोकसाधनं युक्तम्' इति-तदपि प्रतिविहितमेव, समनन्तरप्रत्ययमात्रेण प्रत्ययप्रत्यक्षस्य भावात् स्वप्नादिप्रत्ययवन्न प्रत्यक्षाद् बाह्यार्थसिद्धिरपीति बौद्धाभिमतपक्षसिद्धिप्रसंगाऽनस्तत्वात् । यदपि प्रत्यपादि 'न संनिहितमात्रविषयत्वात् प्रत्यक्षस्य देश-कालव्याप्त्या प्रतिबन्धग्रहणसामर्थ्यम्' इति, तदपि न किंचित् । एवं सति अतिसंनिहितविषयत्वेन प्रत्यक्षस्य स्वरूपमात्र एव प्रवृत्तिप्रसंग इति तदेव बौद्धाद्यभिमतं स्वसंवेदनमात्रं सर्वव्यवहारोच्छेदकारि प्रसक्तमिति प्रतिपादितत्वात् । तस्माल्लोकव्यवहारप्रवर्त्तनक्षमसविकल्पप्रत्यक्षबलाद् ऊहाख्यप्रमाणाद् वा देश-कालव्याप्त्या यथोक्तलक्षणस्य हेतोः प्रतिबन्धग्रहणे प्रवृत्तिरनुमानस्येति न व्याहृतिः प्रकृतस्येत्येतदपि निरस्तम् 'केचित् प्रज्ञादय ....' [पृ० २८९-पं० ६] इत्यादि ।

युक्तिसमूह का निरूपण किया है वह पूरा ध्वस्त हो जाता है, यह स्वयं समझा जा सकता है, ग्रन्थ गौरव के भय से उसके एक एक युक्तिवचन को लेकर उसके दोष दिखाने का प्रयत्न नही करते है ।

[अनुमान से परलोकसिद्धि सुशक्य]

नास्तिक ने जो यह कहा था-इस जन्म की अन्यथा अनुपपत्ति से परलोकसद्भाव की सिद्धि यह अर्थापत्तिरूप ही है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण की [और अनुमान की भी] परलोक मे प्रवृत्ति शक्य नही है-इत्यादि, वह भी संगत नही, क्योंकि अर्थापत्ति अनुमानप्रमाण से अतिरिक्त नही है इस पूर्वोक्त संदर्भ के अनुसार यह कहा ही है कि जो जो नियमगर्भित यानी अविनाभावज्ञानजनित बुद्धि का उदय होता है वह अनुमानस्वरूप ही है । यदि यह कहा जाय कि-परलोकात्मक वस्तु के साथ किसी हेतु में अविनाभावसबन्ध का ग्रहण शक्य नही है अत: अनुमान यहाँ प्रवृत्त नही हो सकता-तो इसके सामने यह भी कह सकते है कि ज्ञान मे बाह्यार्थ के अविनाभावसम्बन्ध का ग्रहण शक्य न होने से बाह्यार्थ असिद्ध है, तो इस प्रकार ज्ञानाद्वैतवाद की और आगे चलकर शून्यवाद की आपत्ति आयेगी । अत: अविनाभावसम्बन्ध के ग्रहण की अशक्यता का दोष कौन किस के ऊपर लगा रहा है यह सोचिये ! यदि शून्यवाद तक की आपत्ति से बचना हो तो यह स्वीकारना होगा कि उचित व्यवहार प्रत्यक्ष से अथवा तर्क से सम्बन्ध का ग्रह होता है । जब यह मानेंगे तो अनुमान से परलोक की सिद्धि क्यो न हो सकेगी ?

[केवल माता-पिता से इस जन्म की उत्पत्ति-अयुक्त]

नास्तिक ने जो यह कहा था कि [पृ० २८८-४] "माता-पिता रूप सामग्री से ही इस जन्म की उत्पत्ति शक्य होने से उसके हेतुरूप मे इस जन्म से भिन्न पूर्वजन्मरूप परलोक को सिद्ध कर दिखाना युक्त नही है"-इस का भी अब प्रतिकार हो जाता है क्योंकि बौद्ध का जो वांछित है-ज्ञान का प्रत्यक्ष, केवल भूतपूर्व जो समनन्तर प्रत्यय है उसीसे सम्पन्न हो जाने पर प्रत्यक्ष के आलम्बन से बाह्यार्थसिद्धि दुष्कर है जैसे स्वप्न के प्रत्यक्ष से किसी भी बाह्यार्थ की सिद्धि नही होती है-बौद्ध के इस पक्ष की सिद्धि का अस्त नास्तिक से नही होगा । तात्पर्य, जन्मान्तर के विना केवल-माता पिता से इस जन्म की उत्पत्ति मान ली जाय तो बाह्यार्थ के विना भी केवल समनन्तरप्रत्यय से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मान लेने को आपत्ति दुर्लंघ्य है ।

[सर्वदेश-काल के अन्तर्भाव से व्याप्तिग्रह की शक्यता]

यह जो कहा था कि-[पृ० २८९] प्रत्यक्ष केवल निकटवर्त्ती वस्तु को विषय कर सकता

न च 'प्रज्ञामेधादयः शरीरस्वभावान्तर्गताः' इत्यादि चोद्यं युक्तम् , तदन्तर्गतत्वेऽपि परिहार-सम्भवादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषां मातापित्रोः पितृशरीरजन्यत्वस्य पितृशरीरं तर्हि हेतुभेदान्न भेदो माता-पितृशरीरादपत्यप्रज्ञादीनाम्*। अयमपरो बृहस्पतिमतानुसारिण एव दोषोऽस्तु यः कार्यभेदेऽपि कारण-भेदं नेच्छति । अस्माकं तु हर्षविषादाद्यनेकविरुद्धधर्माक्रान्तस्य विज्ञानस्यान्तर्मुखतया वेद्यस्य रूपरस-गन्धस्पर्शादियुगपद्भावि-बालकुमारयौवनवृद्धावस्थाद्यनेकक्रमभाविविरुद्धधर्माध्यासिततच्छरीरादेर्बाह्ये-न्द्रियप्रभवविज्ञानसमधिगम्याद् भेदः सिद्ध एव । विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च पदार्थानां भेदकः स च जलानलयोरिव शरीरविज्ञानयोर्विद्यत एवेति कथं न तयोर्भेदः ? तद्भेदावप्यभेदे ब्रह्माद्वैतवादापत्तेस्त-दवस्थ एव पृथिव्यादितत्त्वचतुष्टयाभावापत्त्या व्यवहारोच्छेदः ।

है, अतः सर्व-देशकाल व्यापक रूप से प्रतिबन्ध के ग्रहण का सामर्थ्य उसमे नही है–यह तो कुछ नही है, तुच्छ है । यदि निकटवर्त्ती का ही ग्रहण मानेंगे तो कोई ऐसा कहेगा कि प्रत्यक्ष निकटवर्त्ती को नही किन्तु अतिनिकटवर्त्ती वस्तु को ही विषय करता है क्योकि निकटवर्त्ती वस्तु भी जब स्पष्ट नही दिखती तब हाथ मे लेकर नेत्र के समीप रखनी पडती है, तभी स्पष्टदर्शन होता है । यदि ऐसा मान लिया जायेगा तो प्रत्यक्ष का अति निकट केवल अपना स्वरूप ही शेष रहेगा, और तो सभी वस्तु उससे कुछ न कुछ दूर ही है, अतः केवल अपने स्वरूपमात्र का ग्राहक प्रत्यक्ष सिद्ध होगा तो फिर से एक बार सकलव्यवहार भंजक वह बौद्धादि का इष्ट मत 'ज्ञान का अपना सवेदन मात्र' सिद्ध होगा ।

इस आपत्ति से बचने के लिये यही मानना उचित है कि लोक व्यवहारो के प्रवर्त्तन में कुशल ऐसे सविकल्प प्रत्यक्ष के बल से अथवा तर्क-नामक प्रमाण से नियतसाहचर्यलक्षण वाले हेतु की सर्वदेश-कालव्यापकरूप से व्याप्ति का ग्रहण होता है, जिससे अनुमान की प्रवृत्ति होती है । ऐसा जब मानेंगे तो परलोक सिद्धि मे भी कोई व्याघात नही है, माता-पिता से अतिरिक्त जन्मान्तररूप सामग्री भी इस जन्म के हेतुरूप मे सिद्ध होती है । इसलिये नास्तिक ने यह जो कहा था कि–कुछ प्रज्ञादि विशेष अभ्यासजनित होते है और कुछ माता-पितृदेह पूर्वक होते है-यह निरस्त हो जाता है क्योकि जन्मान्तर सिद्ध हो जाने पर सभी प्रज्ञादिविशेष की अभ्यासपूर्वकता मे कोई सदेह नही रहता जिससे माता-पितृ-देहपूर्वकता की कल्पना करनी पडे ।

[विज्ञानधर्म और शरीरधर्मों में भेदसिद्धि]

'प्रज्ञा और मेधादि धर्म शरीरस्वभाव के ही अन्तर्गत हैं' यह आपादन भी असद् है, क्योंकि प्रज्ञा-मेधादि को शरीरस्वभावान्तर्भूत मानने पर भी, जन्मान्तरजन्यत्वविरोध का परिहार सम्भवित है । अन्वयव्यतिरेक से यदि प्रज्ञा–मेधादि मे मातापितृशरीरजन्यत्व सिद्ध करेंगे तो अन्वय-व्यतिरेक से ही पुत्र-पुत्री के प्रज्ञा-मेधादि मे अभ्यास जन्यत्व भी सिद्ध होने से मातापितृशरीर से जन्य पुत्र-पुत्री आदि के प्रज्ञा–मेधादि के प्रति हेतुभेद भी मानना होगा *। अर्थात् अभ्यास को भी हेतु मानना पडेगा । बृह-स्पति मत के अनुगामीयो पर यह एक अधिक आपत्ति खडी हुई क्योकि वे तो कार्य भिन्नजाति का होने पर भी कारणभेद नही मानते है ।

*यहाँ यथामुद्रित पाठ की सगति करना दुष्कर है । लिंबडी-भडार की प्रति मे 'तर्हि हेतुभेदो माता-पितृशरीरादपत्य-प्रज्ञादीनाम्' इस प्रकार का उपलब्ध पाठ कुछ सगत प्रतीत हुआ है, उसके ऊपर से हमने "तेषा मातापितृशरीर-जन्यत्वे तर्हि हेतुभेदो माता-पितृशरीरादपत्यप्रज्ञादीनाम्" ऐसे पाठ की सम्भावना कर के हिन्दी विवरण किया है ।

अथवा मातापितृपूर्वजन्मैकसामग्रीजन्यमेतत् कार्यम् एत[?अतो]न दोषोऽव्यतिरिक्तपक्षेऽपि विज्ञान-शरीरयोः । पूर्वमप्युक्तम्–'विलक्षणादप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां माता–पितृशरीराद्विज्ञानमुपजायताम्, न हि कारणाकारमेव सकलं कार्यम्' इति–तदप्यसत्, यतो न हि कारणविलक्षणं कार्यं न भवतीत्युच्यते, अपि तु तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तत्कार्यत्वम् । तथाहि–यद् यद्विकारान्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कार्यमिति व्यवस्थाप्यते, यथा अगुरुकर्पूरोर्णादिदाह्यदाहकपावकगतसुरभिगन्धाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी धूमः तत्कार्यतया व्यवस्थितः, एकसंतत्यनुपतितशास्त्रसंस्कारादिसंस्कृतप्राक्तनविज्ञानधर्मान्वयव्यतिरेकानुविधायि च प्रज्ञा–मेधाद्युत्तरविज्ञानमिति कथं न तत्कार्यमभ्युपगम्यते ? तदनभ्युपगमे धूमादेरपि प्रसिद्धवह्न्यादिकार्यस्य तत्कार्यत्वाऽप्रसिद्धिरिति पुनरपि सकलव्यवहारोच्छेदः ।

हमारे मत मे, विज्ञान और शरीर का भेद सिद्ध ही है क्योंकि विज्ञान शरीरधर्म से विरुद्ध ऐसे हर्ष-विषादादि अनेक धर्म से आश्लिष्ट है तथा विज्ञान का अनुभव अन्त करण से [मन से] अन्तर्मुखपदार्थ के रूप मे होता है, दूसरी ओर शरीर विज्ञानधर्म से विरुद्ध ऐसे सहभावि और क्रमभावि अनेक धर्मो से अध्यासित [=आश्लिष्ट] है, सहभावि यानी एक साथ रहने वाले धर्म रूप-रस स्पर्शादि है और शैशव, कुमार, यौवन और वृद्धत्व आदि अवस्था ये क्रमभावि धर्म है । तदुपरात शरीर का अनुभव अन्तर्मुखरूप से नही किंतु बाह्येन्द्रियजन्यज्ञान से बहिर्मुखरूप से होता है । जल और अग्नि इन दोनो मे जब विरुद्धधर्माध्यास के कारण और हेतुभेद के कारण भेद माना जाता है तो शरीर और विज्ञान का भी विरुद्धधर्माध्यास एव हेतुभेद उपरोक्त रीति से मौजूद है तो उन दोनो का भेद क्यों न माना जाय ? कारणभेदादि होने पर भी यदि वस्तुभेद न मानेंगे तब तो पूर्वोक्तरीति से ब्रह्माद्वैत वाद की आपत्ति प्रसक्त होने से पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय की वार्त्ता भी नामशेष हो जाने के कारण सकल व्यवहारोच्छेद का प्रसग तदवस्थ ही रहा ।

[विज्ञान विज्ञान का ही कार्य है]

विज्ञान और शरीर के भेदपक्ष का समर्थन करने के बाद अब व्याख्याकार अभेद मे भी कोई दोष नही है यह अथवा शब्द से दिखाते है कि यह जन्मरूप कार्य माता-पिता एव जन्मान्तररूप जो एक सामग्री, उससे जन्य है । यहाँ अगर विज्ञान और शरीर का अभेदपक्ष माना जाय तो भी दोष नही है क्योकि सामग्री मे पूर्वजन्म के अन्तर्भाव से अनायास जन्मान्तर सिद्ध हो जाता है ।

पहले जो यह कहा था कि-"विज्ञान का अन्वय और व्यतिरेक माता-पिता के देह के साथ दृष्ट है अतः माता-पिता का देह पुत्रशरीरगत विज्ञान से विलक्षणविज्ञान वाला होने पर भी माता–पितृ देह से ही पुत्र विज्ञान की उत्पत्ति माननी चाहिये, यह कोई नियम नही है कि कार्य सदा कारणानुरूप ही हो"–इत्यादि, [पृ०२८९] वह ठीक नही है । हम ऐसा नही कहते कि कार्य कभी कारण से विलक्षण नही होता, किंतु हम तो यह कहते हैं कि जो तदन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करे वह तत्कार्य है । जैसे देखिये-जिस वस्तु के विकार के अन्वय-व्यतिरेक का जो अनुसरण करे वह उस वस्तु का कार्य है ऐसा स्थापित किया गया है, जैसे: अगुरुद्रव्य, कपूर और ऊर्णादि द्रव्य इन दाह्ययोग्य द्रव्य को दग्ध कर देने वाले अग्नि मे जिस प्रकार की सुगध होती है, उसी प्रकार की सुगध के अन्वय-व्यतिरेक को अनुसरने वाला तज्जन्य धूम भी होता है, अत. धूम को तत्तद् अग्नि का कार्य माना जाता है । प्रस्तुत मे देखिये कि प्रज्ञा–मेधादिरूप जो उत्तरकालीन विज्ञान है वह भी एकसतानानुगत, शास्त्रीयसस्कारो से परिष्कृत पूर्वकालीन

तस्माद्यस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्त्तते । तन्नान्तरीयकं चित्तमतश्चित्तसमाश्रितम् ।' [ ]
प्रतिपादितश्च प्रमाणतः प्रतिनियतः कार्यकारणभावः सर्वज्ञसाधने 'कुसमयविसासण' इति पदव्याख्यां कुर्वद्भिर्न पुनरिहोच्यते ।

योऽपि शालूकदृष्टान्तेन व्यभिचारः 'यथा गोमयादपि शालूकः, कश्चित् समानजातीयादपि शालूकादेव, तथा केचित् प्रज्ञामेधादयस्तदभ्यासात्, केचित् तु रसायनोपयोगात्, अपरे माता-पितृशुक्र-शोणितविशेषादेव' इति; सोपि न सम्यक्, तत्रापि समानजातीयपूर्वाभ्याससम्भवात् अन्यथा समानेऽपि रसायनाद्युपयोगे यमलकयोः कस्यचित् क्वापि प्रज्ञा-मेधादिकमिति प्रतिनियमो न स्यात्, रसायनाद्युपयोगस्य साधारणत्वादिति ।

न च प्रज्ञादीनां जन्मादौ रसायनाभ्यासे च विशेषः, शालूक-गोमयजन्यस्य तु शालूकादेस्त-दन्यस्माद्विशेषो दृश्यते । क्वचिज्जातिस्मरणं च दर्शनमिति न युक्ता दृष्टकारणादेव मातापितृशरीरात् प्रज्ञा-मेधादिकार्यविशेषोत्पत्तिः । न च गोमय-शालूकादेर्व्याभिचारविषयत्वेन प्रतिपादितस्यात्यन्त-वैलक्षण्यम्, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्पुद्गलपरिणामत्वेन द्वयोरप्यवैलक्षण्यात् । विज्ञान शरीरयोश्चान्त-र्बहिर्मुखाकारविज्ञानग्राह्यतया स्वपरसवेद्यतया स्वसंवेदन बाह्यकरणादिजन्यप्रत्ययानुभूयमानतया च परस्परानन्वयाद्यनेकविरुद्धधर्माध्यासतोऽत्यन्तवैलक्षण्यस्य प्रतिपादितत्वाद् नोपादानोपादेयभावो युक्तः ।

विज्ञान के धर्मों के अन्वय व्यतिरेक का अनुसरण करता ही है तो विज्ञान को विज्ञान का कार्य क्यो न माना जाय ? फिर भी यदि नही मानना है तो धूम भी जो कि अग्नि के कार्यरूप मे सुप्रसिद्ध है, उस को 'अग्नि का कार्य' ऐसी प्रसिद्धि नही मिलेगी । फलत. एकबार फिर से कार्य कारण के व्यवहारो का उच्छेद प्रसक्त होगा । जैसे कि कहा है—

[शालूक के दृष्टान्त से व्यभिचारापादन असम्यक्]

"इसलिये जिसके ही सस्कार का चित्त नियमत अनुसरण करता है वह उसका नान्तरीयक [पूर्व] चित्त ही है अत चित्त [पूर्वापर भाव से] चित्त का ही समाश्रित है ।"

उपरात, प्रतिनियत ही कारण-कार्यभाव का प्रमाण से प्रतिपादन, हमने 'कुसमयविसासण' इस मूलकारिका के पद की व्याख्या करते समय सर्वज्ञसिद्धि के प्रस्ताव मे कर दिया है, अत' उसका पुनरावर्त्तन नही किया जाता ।

तथा नास्तिक ने जो पहले शालूक [=मेढक] के दृष्टान्त से व्यभिचारापादन करते हुए कहा था [पृ० २८९]-'कोई मेढक गोबर से उत्पन्न होता है और कोई समानजातिवाले मेढक से ही, इस प्रकार कोई प्रज्ञा-मेधादि उनके अभ्यास से निष्पन्न होते है तो कोई ब्राह्मी आदि रसायनो के उपयोग से, तथा कोई प्रज्ञामेधादि माता पिता की शुक्र-शोणित धातु से ही उत्पन्न होने का माना जा सकता है'-इत्यादि, वह सर्वथा असगत है, क्योकि रसायनोपयोगादि से प्रज्ञा-मेधादि की उत्पत्ति को जहाँ आप दिखा रहे है वहाँ भी पूर्वकालीन अभ्यास का पूरा सम्भव है, अत: व्यभिचार की शक्यता नही है । यदि कहे कि वहाँ पूर्वाभ्यास मे क्या प्रमाण ? तो उत्तर यह है कि पूर्वाभ्यास को नही मानेंगे तो दो सहोदर भाई रसायनादि का एक-सा उपयोग करते हैं फिर भी किसी एक को ही किसी विषय मे प्रज्ञा-मेधादि उत्पन्न होने का विशिष्ट नियम दिखाई देता है वह कैसे ? रसायनादि का उपयोग तो दोनो के प्रति साधारण तुल्य है, यदि पूर्वाभ्यास से वहाँ प्रज्ञादि भेद नही मानेंगे तो कैसे सगति होगी ?

यस्तु शरीरवृद्धयादेश्चैतन्यवृद्धयादिलक्षण उपादानोपादेयभावधर्मोपलम्भः प्रतिपाद्यतेऽसौ महाकायस्यापि मातंगाऽजगरादेश्चैतन्याल्पत्वेन व्यभिचारीति न तद्भावसाधकः। यस्तु शरीरविकाराच्चैतन्यविकारोपलम्भलक्षणस्तद्धर्मभावः प्रतिपाद्यतेऽसावपि सात्त्विकसत्त्वानामन्यगतचित्तानां वा छेदादिलक्षणशरीरविकारसद्भावेऽपि तच्चित्तविकारानुपलब्धेरसिद्धः। दृश्यते च सहकारिविशेषादपि जल-भूम्यादिलक्षणाद् बीजोपादानस्यांकुरादेर्विशेष इति सहकारिकारणत्वेऽपि शरीरादेर्विशिष्टाहाराद्युपयोगादौ यौवनावस्थायां वा शास्त्रादिसंस्कारोपात्तविशेषपूर्वज्ञानोपादानस्य विज्ञानस्य विवृद्धिलक्षणो विशेषो नाऽसंभवी।

[शरीर और विज्ञान में उपादान-उपादेयभाव अयुक्त]

दूसरी वात यह है जन्मादिकाल मे जो प्रज्ञादि होते है और रसायन के उपयोग से तथा अभ्यास से जो प्रज्ञादि होते है उनमे कोई जातिभेद नही होता, अत: प्रज्ञादि के विभिन्न कारण मानना अयुक्त है, जब कि मेढक जो मेढक से होता है और जो गोवर से होता है उनमे कुछ कुछ जातिभेद स्पष्ट ही दिखाई देता है, अत: उनके विभिन्न कारणो को मान सकते हैं। तदुपरात किसी किसी का दर्शन यानी बोध पूर्वजन्मस्मरणात्मक भी होता है, वहाँ तो जन्मान्तरीय अनुभव को हेतु मानना ही होगा, अत: किसी भी प्रज्ञा-मेघादि विशेष कार्य की उत्पत्ति केवल दृश्यमान माता-पिता के देह रूप कारण से ही होती है यह मानना सगत नही है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि व्यभिचार के स्थलरूप मे प्रतिपादित जो गोवरजन्य मेढक और मेढकजन्यमेढक है, उनमे भी अत्यन्त वैलक्षण्य नही है, चूँकि गोवर के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श का परिणाम और मेढक के रूपादि परिणाम ये दोनो ऐसा पुद्गलपरिणाम है जिनमे कोई विलक्षणता नही है, अत गोवरत्वेन या मेढकत्वेन विभिन्न कारणता को न मानकर जब हम वहाँ समानरूपादिपरिणामरूपेण एक ही कारणता गोवर और मेढक मे मानेंगे तो फिर कोई व्यभिचार ही नही है।

तदुपरात शरीर और विज्ञान मे उपादान-उपादेयभाव भी नही घट सकता, क्योंकि शरीर का सवेदन वहिर्मुख आकार से होता है, विज्ञान का अन्तर्मुखाकार से। तथा शरीर पररूपेण सवेदित होता है जब कि विज्ञान का सवेदन स्व रूप से होता है। विज्ञान स्वत प्रकाश है जब कि शरीर वैसा नहीं है। शरीर वाह्येन्द्रियजन्यप्रतीति का विषय होता है जब कि विज्ञान अन्त.करणजन्यप्रतीति का विषय होता है। इस प्रकार परस्पर का अनुगामी नही किंतु प्रतिगामी ऐसे अनेक विरुद्धधर्म के अध्यास से विज्ञान और शरीर मे अत्यन्त विलक्षणता का प्रतिपादन पहले किया हुआ है, [पृ० ३१४] अत: उन दोनो मे उपादानोपादेयभाव असगत है।

[शरीरवृद्धि से चैतन्यवृद्धि की वात मिथ्या]

यह जो शरीर और विज्ञान मे उपादान-उपादेयभावधर्म की उपलब्धि दिखायी जाती है कि- "शरीर का जैसे जैसे विकास-वर्धन होता है वैसे वैसे चैतन्य (ज्ञानादि) का भी विकास होता है, वाल शरीर लघुकाय होता है तो उसमे ज्ञानादि भी अल्प होते है, युवाशरीर मध्यमकाय होता है तो उसमे मध्यमप्रकार के ज्ञानादि होते है और प्रौढव्यक्ति का शरीर पूर्ण विकसित होता है तो उसका ज्ञानादि भी उत्कर्ष प्राप्त रहता है अत: शरीर ही ज्ञानादि का उपादान है"-इस प्रतिपादन मे व्यभिचार स्पष्ट है क्योकि मनुष्य का शरीर लघु होता है और हस्ती- अजगरादि महाकाय प्राणी हैं फिर भी हस्ती

यदप्युक्तम् 'अनादिमाता-पितृपरम्परायां तथाभूतस्यापि बोधस्य व्यवहितमातापितृगतस्य सद्भावात् ततो वासनाप्रबोधेन युक्त एव प्रज्ञा-मेधादिविशेषस्य सम्भव.' इति, तदप्ययुक्तम्, अनन्तरस्यापि माता-पितृपांडित्यस्य प्राय' प्रबोधसम्भवात्, ततश्चक्षुरादिकरणजनितस्य स्वरूपसंवेदनस्य चक्षुरादिज्ञानस्य वा युगपत् क्रमेण चोत्पत्तौ 'मयैवोपलब्धमेतत्' इति प्रत्यभिज्ञानं सन्तानान्तरतदपत्यज्ञानानामपि स्यात्, न च मातापितृज्ञानोपलब्धेस्तदपत्यादेः कस्यचित् प्रत्यभिज्ञानमुपलभ्यते। अनेन एकस्माद् ब्रह्मणः प्रजोत्पत्तिः' प्रत्युक्ता, एकप्रभवत्वे हि सर्वप्राणिनां परस्परं प्रत्यभिज्ञाप्रसंगः एकसन्तानोद्भूतदर्शन-स्पार्शनप्रत्यययोरिव।

आदि की अपेक्षा मनुष्य की बुद्धि अधिक विकसित है यह स्पष्ट दिखाई देता है। अतः शरीर विकास से चैतन्य का विकास उपादान-उपादेयभाव का साधक नही है।

यह जो कहा जाता है कि 'शरीर के विकार से चैतन्य मे विकार दिखता है जैसे कि देह दुर्बल हो जाने पर ज्ञानशक्ति-स्मरणशक्ति दुर्बल हो जाती है, अत. यही शरीर और विज्ञान का 'उपादान-उपादेयभाव हुआ'-यह भी असिद्ध है क्योकि जो सात्त्विक प्रकृति वाले उत्तम जीव होते है अथवा जिनका चित्त अन्य किसी विषय मे दृढ निमग्न हो गया होता है उसको शरीरविकार होने पर भी, यानी शरीर को गहरी चोट लगने पर भी चित्त-चैतन्य मे विकार की उपलब्धि नही होतो। वे स्वस्थ रहते है। अत. शरीरविकार से चैतन्य विकार होता है यह असिद्ध है।

तथा कार्यगत विशेषता केवल उपादानकारण की विशेषता पर भी निर्भर नही होती किन्तु सहकारीकरण की विशेषता पर भी निर्भर होती है। जैसे विशिष्ट प्रकार के जल और उपजाऊ भूमि के सहकार से बीजात्मकोपादान जन्य अकुर भी विशिष्ट प्रकार का उत्पन्न होता है। तो इसी प्रकार यौवनावस्था मे अथवा तो विशिष्ट प्रकार के सहकारीकारणरूप ब्राह्मीघृतादि के आहार के सेवन से उस विज्ञान मे वृद्धिस्वरूप विशेपता हो सकती है जिसका उपादान तो शास्त्रादिसस्कार से परिष्कृत पूर्वज्ञान ही होता है। इसमे कुछ भी असभव-सा नही है।

[चिर पूर्ववर्त्ती माता-पितृविज्ञान से वासना प्रबोध अमान्य]

नास्तिक ने जो यह कहा था कि-[पृ० २९०] "माता-पिता की परम्परा अनादिकालीन है, अत वर्त्तमानबालक मे जो विशेप प्रज्ञादि है वैसे विशेष प्रज्ञादि, परम्परागत किसी दूर के माता-पिता मे तो अवश्य रहा होगा, उसी माता-पिता के प्रज्ञादि से परम्परया वासना के प्रबोध से वर्त्तमान बालक के प्रज्ञामेघादि विशेप की उत्पत्ति हुयी है, वे माता-पिता चाहे कितने भी दूरवर्त्ती क्यो न हो?"-ऐसा कथन भी अयुक्त है, क्योकि जैसे दूरवर्त्ती माता-पिता के प्रज्ञादि का प्रबोध वर्त्तमान बालक मे होगा वैसे प्राय. साक्षात् माता-पिता के प्रज्ञादि का भी प्रबोध उसमे सभवित है। इस प्रकार अपने निकट के या दूर के पूर्ववर्त्ति माता पिताओ को जो नेत्रादिइन्द्रियजन्यज्ञान, अपने स्वरूप का सवेदन, तथा नेत्रादि का ज्ञान हुए थे वे सब वासना के प्रबोध से उनके पुत्रो को भी एक साथ अथवा क्रमश होने लगेगा, फलत दूर के पूर्ववर्त्ती किसी माता-पिता की अन्य परम्परा मे जो पुत्रादि उत्पन्न है उनको भी वासना के प्रबोध से ऐसी प्रत्यभिज्ञा होगी कि-'जो मुझे वर्त्तमान मे ज्ञान हो रहा है वैसा ही ज्ञान मुझे पहले भी हुआ था'। क्योकि एक अनुभविता मे वासना के प्रबोध से ऐसी प्रत्यभिज्ञा का होना प्रसिद्ध है। वास्तव मे कही भी माता-पिता के ज्ञानोपलम्भ की प्रत्यभिज्ञा उनकी सन्तानो को होती नही है। अतः

यत्तूक्तम् 'आत्मनोऽदृष्टेर्नात्मानमाश्रित्य परलोकः' इति, तदयुक्तम्, तददृष्टयसिद्धेः। तथाहि-देहेन्द्रियविषयादिव्यतिरिक्तोऽहंप्रत्ययप्रत्यक्षोपलभ्य एव आत्मा। न च चक्षुरादेः करणग्रामस्यातीन्द्रियात्मविषयत्वेन ज्ञानजननाऽव्यापाराद् कथं तज्जन्यप्रत्यक्षज्ञानविषयः इति वक्तुं युक्तम्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षग्राह्यत्वाभ्युपगमात्। तथाहि-उपसंहृतसकलेन्द्रियव्यापारस्यान्धकारस्थितस्य च 'अहम्' इति ज्ञानं सर्वप्राणिनामुपजायमानं स्वसंविदितमनुभूयते, तत्र च शरीराद्यनवभासेऽपि तद्व्यतिरिक्तमात्मस्वरूपं प्रतिभाति। न चैतज्ज्ञानमनुभूयमानमप्यपह्नोतुं शक्यम्, अनुभूयमानस्याप्यपलापे सर्वापलापप्रसंगात्। नाप्येतन्नोपपद्यते, कादाचित्कत्वविरोधात्। नापि बाह्येन्द्रियव्यापारप्रभवम्, तद्व्यापाराभावेऽप्युपजायमानत्वात्। नाऽपि शब्दलिंगादिनिमित्तोद्भूतम्, तदभावेऽप्युत्पत्तिदर्शनात्। न चेदं बाध्यत्वेनाऽप्रमाणम्, तत्र बाधकसद्भावस्यासिद्धेः। न चेदं सविकल्पकत्वेनाऽप्रमाणं, सविकल्पकस्यापि ज्ञानस्य प्रमाणत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। कदाचिच्च बाह्येन्द्रियव्यापारकालेऽपि यदा 'घटमहं जानामि' इत्येवं विषयमवगच्छति तदा स्वात्मानमपि। तथाहि-तत्र यथा विषयस्यावभासः कर्मतया तथाऽऽत्मनोऽप्यवभासः कर्तृतया।

वासना प्रबोध की बात मिथ्या है। इस प्रतिपादन के फलस्वरूप-'एक ही ब्रह्म से समग्र प्रजा की उत्पत्ति हुयी है'-यह मत भी धराशायी हो जाता है, क्योकि जहा एक ही सन्तान से अनेक विविध ज्ञान की उत्पत्ति होती है वहाँ ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती ही है कि 'जिसने पहले रूपानुभव किया था वही मैं स्पर्शानुभव कर रहा हूँ'-इस प्रकार अनुभवकर्त्ता मे एकत्व का अनुसधान होता है। यदि एक ही ब्रह्म से समग्र प्रजा उत्पन्न होगी तो सभी प्राणिओ को अन्योन्य के ज्ञान मे एक अनुभवकर्त्ता के अनुसंधानरूप प्रत्यभिज्ञा होने लगेगी।

[आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का विषय]

नास्तिक ने जो यह कहा था-[पृ० २९०] 'आत्मा दृष्टि-अगोचर होने से आत्मा के आधार पर परलोक सिद्ध नही हो सकता'-यह ठीक नही है, क्योकि 'आत्मा दृष्टि-अगोचर है' यह बात असिद्ध है। जैसे: देह, इन्द्रिय और घटादि विषय की जो प्रतीति होती है उससे भिन्न प्रकार की ही प्रत्यक्षप्रतीति 'अहम्=मैं' इस प्रकार की होती है इस प्रत्यक्षप्रतीति का उपलभ्य यानी जो विषय है वही आत्मा है। ऐसा नही पूछ सकते कि-'अतीन्द्रिय आत्मा को विषय करने वाले ज्ञान के उत्पादन मे नेत्रादि इन्द्रियवृन्द का कोई व्यापार सम्भव न होने से इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षप्रतीति का विषय आत्मा कैसे होगा?'-क्योकि हम आत्मा को इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का विषय नही मानते किन्तु स्वसवेदनप्रत्यक्षग्राह्य मानते है, अर्थात् इन्द्रिय निरपेक्ष केवल आत्ममात्र जन्य सवेदनरूप प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। जैसे: प्राणिमात्र को यह स्वानुभवसिद्ध है कि ज्ञाता स्वय गाढ अन्धकार मे खडा हो, सभी इन्द्रियों का व्यापार स्थगित-सा हो गया हो उस वक्त भी 'अहम्=मैं' इस प्रकार के स्वसवेदी ज्ञान का उदय होता है। उस वक्त शरीरादि का तो कुछ भी प्रतिभास न होने पर भी देहभिन्न आत्मस्वरूप का भास होता हैं। सभी को ऐसा ज्ञानोदय स्वानुभवसिद्ध होने से उसका अपलाप करना अशक्य है, क्योकि स्पष्टरूप से जिसका अनुभव होता है उसका अपलाप करने पर सभी वस्तु के अपलाप का अतिप्रसग होगा। उक्त ज्ञान उत्पन्न नही होता ऐसा भी नही कह सकते क्योकि वह सर्वदा नही होता रहता, कदाचित् होता है, उत्पत्ति के विना कादाचित्कत्व के होने में विरोध

न च शरीरादीनां ज्ञातृता, यथाहि शरीराद् व्यतिरिक्ता घटादयः प्रतीतिकर्मतया प्रतिभान्ति-'मम घटादयः, अहं घटादीनां ज्ञाता' एवं 'मम शरीरादयः अहं शरीरादीनां ज्ञाता' इत्येवं च प्रतीतिकर्मत्वेन घटादिभिस्तुल्यत्वान्न शरीरादिसंघातस्य ज्ञातृता। न च ज्ञात्रप्रतिभासः, तदप्रतिभासे हि 'ममैते भावाः प्रतिभान्ति नान्यस्य' इत्येवं प्रतिभासो न स्यात्। तदवभासापह्नवे च घटादेरपि कथं प्रतीतिः ? इयांस्तु विशेष:-एकस्य प्रतीतिकर्मता, अपरस्य तत्प्रतीतिकर्तृता, न त्वनवभासः। अतो लिंगाद्यनपेक्ष आत्माऽवभासोऽप्यस्तीति कथं तस्याऽदृष्टिः ? न चास्य प्रत्ययस्य बाधारहितस्याऽपूर्वार्थविषयस्याऽक्षजविषयावभासस्येवाऽसंदिग्धरूपस्य निश्चितरूपत्वेन प्रतिभासमानस्य स्मृतिरूपता अप्रामाण्यं वा प्रतिपादयितुं युक्तम्। अतोऽस्यामपि प्रतीताववभासमानस्याऽपरोक्षतैव युक्ता न प्रमाणान्तरगम्यता।

है। ऐसा भी नही कह सकते कि यह 'अहं' ज्ञान बहिरिन्द्रिय के व्यापार से जन्य है। [अतः अन्तर्गत आत्मविषयक नही हो सकता।], क्योकि अन्धकार मे किसी भी इन्द्रिय का व्यापार न होने पर भी 'अहं' प्रतीति का जन्म होता है।-"इन्द्रिय से नही, किन्तु शब्दश्रवण से या लिंगादि से 'अहं' प्रतीति होती है"-ऐसा भी नही कह सकते क्योकि बिना ही शब्द सुने और लिंगादि के दर्शन के बिना भी 'अहं' प्रतीति का जन्म होता है। यह भी नही कह सकते कि-"रज्जु मे सर्प प्रतीति के समान ही उत्तरकाल मे बाधित होने के कारण यह 'अहं'प्रतीति अप्रमाण है"-क्योकि 'अहं'प्रतीति होने के बाद उत्तरकाल मे उसके बाधक का अस्तित्व ही असिद्ध है। बौद्धमत के अवलम्बन से यदि ऐसा कहा जाय कि-यह 'अहं'प्रतीति सविकल्पक प्रत्यक्षरूप है अत एव अप्रमाण है-तो यह भी अयुक्त है क्योकि 'सविकल्पक ज्ञान प्रमाण होता है' इस तथ्य का प्रतिपादन आगे किया जाने वाला है। यह भी जान लिजीये कि आत्मा की प्रतीति जैसे स्वतन्त्र रूप मे होती है वैसे जब नेत्रादि बाह्येन्द्रिय भी व्यापाररत यानी कार्यरत होती है तब 'मै घट को जानता हूं' इस प्रकार बाह्यविषय के साथ सलग्नरूप मे भी आत्मा की प्रतीति होती है-यहा घट का जैसे विषयरूप में अनुभव होता है वैसे उसीवक्त अपनी आत्मा का भिन्नरूप से अनुभव होता ही है वह इस प्रकार कि विषय घटादि का कर्मरूप से और आत्मा का बोधकर्त्ता रूप से अनुभव होता है।

[शरीरादि में ज्ञातृत्व नहीं हो सकता]

नास्तिकः-बोधकर्ता शरीर या इन्द्रियादि को ही मान लिजीये।

आत्मवादी:-यह नही मान सकते। जैसे 'घटादि मेरे है' अथवा "मैं घटादि का ज्ञाता हूँ" इन प्रतीतियों मे घटादि देह से भिन्न एवं कर्मरूप से प्रतिभासित होते है, उसी प्रकार 'शरीरादि मेरा है' अथवा "मैं शरीरादि का ज्ञाता हूँ" इन प्रतीतियों में शरीरादि भी घटादिवत् ज्ञाता से भिन्न और कर्मरूप से प्रतिभासित होते हैं, अत पुद्गलसंघात स्वरूप देह मे बोधकर्तृत्व नही मान सकते। ऐसा नही कह सकते कि-'ज्ञाता के रूप मे किसी का भान ही नही होता'-क्योकि यदि ज्ञाता का भास न होता हो तो "मुझे इन वस्तुओ का प्रतिभास हो रहा है, दूसरे को नही" इस प्रकार का प्रतिभास, जिसमें दूसरे से भिन्नरूप मे अपना भान होता है, वह नही होगा। यदि इतना स्पष्ट ज्ञाता का भास होने पर भी उसका अपलाप करेगे तो ज्ञाता के साथ कर्मरूप मे जो घटादि भासित होते है उनका भास भी कैसे सगत होगा ? इतना अंतर जरूर है कि घटादि का प्रतिभास ज्ञानकर्मरूप मे होता है और

यदप्यत्राहुः-

'अस्त्ययमवभासः किन्त्वस्य प्रत्यक्षता चिन्त्या । प्रत्यक्षं हीन्द्रियव्यापारजं ज्ञानम् । तथा चोक्तं भवद्भिः "इन्द्रियाणां सत्संप्रयोगे बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्" [जैमि० अ० १-१-४] प्रत्यक्षविषयत्वात् तदर्थस्य प्रत्यक्षता न तु साक्षादनिन्द्रियजत्वेन । तत्र घटादेर्बाह्येन्द्रियज्ञानविषयत्वेन सर्वलोकप्रतीताऽध्यक्षता, नत्वेवमात्मनः ।

अथैवमुच्येत-नात्मनो घटादितुल्या प्रत्यक्षता, घटादेर्हि इन्द्रियजज्ञानविषयत्वेन सा व्यवस्थाप्यते. न त्वात्मा कस्यचित् प्रमाणस्य विषयः । कथं तर्हि प्रत्यक्षः ? न ज्ञानविषयत्वात् प्रत्यक्षः, अपि त्वपरोक्षत्वेन प्रतिभासनात् प्रत्यक्ष उच्यते, तच्च केवलस्य घटादिप्रतीत्यन्तर्गतस्य वाऽपरसाधनं प्राक् प्रतिपादितम् । एतदप्यसत् , यतः अपरसाधनमिति कोऽर्थः ?-किं चिद्रूपस्य सत्ता, आहोस्वित् स्वप्रतीतौ व्यापारः ? यदि चिद्रूपस्य सत्तैवात्मप्रकाशनमुच्यते तदा दृष्टान्तो वक्तव्यः । न चात्राऽऽशङ्कनीयं 'अपरोक्षे दृष्टान्तान्वेषणं न कर्त्तव्यम्'-यतस्तथाविधे विवादविषये सुप्रसिद्धं दृष्टान्तान्वेषणं दृश्यते ।

ज्ञाता का ज्ञानकर्त्ता के रूप मे, किन्तु दोनो मे से किसी का भास ही नही होता यह बात नही है। सारांश, लिंगादि की अपेक्षा के विना भी बोधकर्तृरूप मे आत्मा का स्पष्ट प्रतिभास जब होता है तो आत्मा दृष्टि-अगोचर कैसे हुआ ? इस प्रतीति को स्मृतिरूप नही बता सकते, [अर्थात् पूर्व-पूर्व अनादि वासना के प्रबोध से आत्मा का यह प्रतिभास स्मृतिरूप मे होता रहता है, वास्तव में वह निर्विषयक ही है ऐसा नही कह सकते,] क्योंकि स्मृतिज्ञान गृहीतविषय का पुन. ग्राहक होता है जब कि यहा जब जब आत्मा का भास होता है तब तब अपूर्व अर्थ को ही विषय करता हो ऐसा अनुभव मे आता है अत यह आत्मप्रतीति स्मृतिरूप नही है । तथा, यह प्रतीति अप्रमाण भी नही है क्योकि इस प्रतीति के बाद कोई 'नास्ति आत्मा' ऐसा बाधज्ञान का उदय न होने से यह प्रतीति बाधमुक्त है। 'सशयरूप होने से अप्रमाण है' ऐसा भी नही कह सकते क्योकि घटादि विषय का इन्द्रियजन्य प्रतिभास जैसे असदिग्ध एव निश्चयस्वरूप होता है, वैसे आत्मप्रतिभास भी सदिग्ध एव निश्चयस्वरूप होता है। निष्कर्ष -'अहम्' प्रतीति मे भासित होने वाले आत्मा को अपरोक्ष मानना ही युक्त है, किंतु 'अहमाकार प्रतीति को अनुमानादिरूप मानकर आत्मा को अनुमानादि प्रमाणान्तर का विषय बताना' ठीक नही है ।

[अहमाकार प्रतीति में प्रत्यक्षत्व विरोधी पूर्वपक्ष]

[सदर्भ 'यदप्यत्राहु' इस पद का, दीर्घ पूर्वपक्ष के बाद 'तदप्यसगत' [पृ. ३२७] इस पद के साथ अन्वय होगा] यह जो कहा है-

पूर्वपक्षी:-अहमाकार भास तो होता है किंतु वह प्रत्यक्ष है या नही यह विचारना पडेगा । प्रत्यक्ष तो इन्द्रियव्यापारजन्य ज्ञान को ही कहा जाता है-जैसे कि आपके जैमिनीसूत्र मे कहा है- 'इन्द्रियो के सबध से प्रत्यक्षबुद्धि का जन्म होता है ।' तात्पर्य यह है कि इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का विषय होने से ही कोई भी अर्थ प्रत्यक्ष कहा जाता है, साक्षात् यानी स्वत. अर्थात् इन्द्रिय से अजन्यज्ञान का विषय होने से कोई अर्थ प्रत्यक्ष नही कहा जाता । अब देखिये कि बाह्य नेत्रादि इन्द्रिय से जन्यज्ञान का विषय होने से घटादि की प्रत्यक्षता सर्वलोक मे सिद्ध है, किंतु आत्मा मे ऐसी प्रत्यक्षता सर्वजनसिद्ध नही है ।

न च दीपादि दृष्टान्तः, तत्र हि सजातीयालोकानपेक्षत्वेन स्वप्रतीतौ स्वप्रकाशकत्वं व्यवस्थापितं कैश्चित् न त्विन्द्रियाऽग्राह्यत्वम्, तदग्राह्यत्वे 'स्वप्रकाशाः प्रदीपादयः' इति चक्षुष्मतामिवान्धानामपि तत्प्रतीतिप्रसंगः, तस्माश्च स्वप्रकाशाः प्रदीपादयः। यत्तु आलोकान्तरनिरपेक्षत्वं तत् कस्यचिद्विषयस्य काचित् सामग्री प्रकाशिकेति नैकत्र दृष्टत्वेनाऽन्यत्रापि प्रसक्तिश्चोद्यते। अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽप्ययुक्तः, अदर्शनादेव। नहि कश्चित् पदार्थः कर्तृरूपः करणरूपो वा स्वात्मनि कर्मणीव सव्यापारो दृष्टः। कथं तर्ह्यनुमेयत्वेऽप्यात्मप्रतीतिः प्रमात्रन्तराभावात्? एकस्यैव लिंगादिकरणमपेक्ष्य(?)वस्थाभेदे सति अदोष'।✽

[आत्मा में अपरोक्षप्रतिभासविषयता की मीमांसा]

यदि यह कहा जाय-"घटादि मे जो प्रत्यक्षता है और आत्मा मे जो प्रत्यक्षता है-दोनो तुल्य नही है, घटादि मे प्रत्यक्षत्व की व्यवस्था इन्द्रियजन्यज्ञानविषयता के आधार पर की जाती है। जिन प्रमाणो से केवल बाह्यार्थ का ही बोध होता है ऐसे किसी भी प्रमाण का विषय आत्मा नही है। तो फिर वह प्रत्यक्ष कैसे? ऐसा प्रश्न होगा, उसका उत्तर यह है कि आत्मा बाह्यविषयो के ग्राहक ज्ञान का विषय होने से प्रत्यक्ष नही है किंतु उसका अपरोक्षरूप से प्रतिभास होता है, अत एव उसको प्रत्यक्ष कहा जाता है। आत्मा का यह अपरोक्षरूप से प्रकाशन शुद्ध अहमाकार प्रतीति मे भी होता है और 'घट को मै जानता हूँ' इस प्रकार घटादि की प्रतीति मे अन्तर्गत अहमाकार अपरोक्षप्रतीति मे भी होता है, यह आत्मप्रकाशन अपरसाधन यानी इन्द्रियादि साधन के विना ही होने वाला है, यह बात पहले भी हो गयी है।"-तो यह भी ठीक नही है, क्योकि,

आपने जो कहा-आत्मप्रकाशन अपरसाधन है, उसके ऊपर दो प्रश्न हैं, (१) चित्स्वरूप आत्मा की सत्ता यही अपरसाधन यानी इन्द्रियादि साधन के विना होने वाला आत्मप्रकाशन है? या (२) अन्य की नही किन्तु अपनी ही प्रतीति मे व्यापार का होना, इसे आप अपरसाधन कहते है? प्रथम प्रश्न के उत्तर मे आप ऐसा कहे कि चित्स्वरूप यानी ज्ञानात्मक प्रकाशमय आत्मा की सत्ता यही आत्म प्रकाशन है, तो ऐसे पदार्थ की सभावना मे दूसरा कौन सा दृष्टान्त है? 'जो स्वयं अपरोक्ष है उसमे दृष्टान्त को ढूंढने की क्या जरूर' ऐसी शका नही करनी चाहिये, क्योकि लोक मे ऐसा देखा जाता है कि जब वैसा कोई पदार्थ विवादास्पद बन जाय तब प्रसिद्ध दृष्टान्त को ढूंढना पडता है। प्रदीपादि को दृष्टान्त नही बना सकते, क्योकि जो विद्वान् उसे स्वप्रकाश मानते है उन्होने, दीपक को देखने के लिये नये किसी समानजातीय दीपकादि के प्रकाश की अपेक्षा नही होती-इसी के आधार पर दीपक को स्वप्रकाश कहा है, इन्द्रियजन्यज्ञान का अविषय होने से दीपक को कही भी स्वप्रकाश नही माना है, क्योकि दीपक इन्द्रिजन्यज्ञान का विषय ही है। यदि प्रदीपादि को इन्द्रिय-अग्राह्य बताकर स्वप्रकाश मानेगे तब तो सनेत्र पुरुषवत् अन्ध पुरुष के लिये भी प्रदीपादि स्वप्रकाश होने से अन्धे को भी दीपकादि की प्रतीति हो जाने का अनिष्ट प्रसग खडा होगा। अत प्रदीपादि को स्वप्रकाश नही कह सकते। यद्यपि 'अन्य प्रकाश की अनावश्यकता'रूप स्वप्रकाशत्व हो सकता है, किन्तु यही तो पदार्थों की विचित्रता है की भिन्न भिन्न किसी पदार्थों की प्रकाश सामग्री कुछ भिन्न-

✽ 'वस्थाभेदेन भेदे सति अदोष' इति पूर्वमुद्रिते पाठ, लिंबडीज्ञानकोशीयप्रत्यनुसारेणात्र सशोधित।

किं च प्रमाणविषयत्वेऽप्यपरोक्षतेत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः ? 'ज्ञातृतया स्वरूपेणावभासनम्' इति चेत् ? घटादयोऽपि किं पररूपतया प्रतीतिविषयाः ? अतो यद् यस्य रूपं तत् प्रमाणविषयत्वेऽप्यवसीयते इति न ज्ञानाऽविषयता प्रमातुः। तथाहि-तस्य ज्ञातृता प्रमातृताऽऽत्मस्वरूपता, घटादेः प्रमेयता ज्ञेयता घटादिरूपता, अतो यथा तस्य स्वरूपेणावभासनान्नाऽप्रत्यक्षता, तद्वदात्मनोऽपि। अभ्युपगमनीयं चैतत्। अन्यथाऽऽत्मादिस्वसंवेदनस्य प्रत्यक्षस्यापि प्रत्यक्षादिलक्षणव्यतिरिक्तं लक्षणान्तरं वक्तव्यम्, तथा च प्रमाणेयत्ताव्याघातः, केनचित् प्रत्यक्षादिलक्षणेनात्मादिविषयस्य स्वसंवेदनस्याऽसंग्रहात्।

इतोऽप्ययुक्तं-प्रमातृवत् फलेऽपि संवेदनाभ्युपगमप्रसंगात्। 'तथाऽभ्युपगमाददोषः' इति चेत् ? तथा चोक्तम्-"संवित्तिः संवित्तितयैव संवेद्या न सवेद्यतया" [ ] इति।-एतद् प्राक् प्रति-

भिन्न प्रकार की होती है, इससे यह आपादन शक्य नहीं है कि जैसे प्रदीपादि को अन्य प्रकाश की अनावश्यकता है, वैसे आत्मा को किसी भी इन्द्रियादि की आवश्यकता नहीं है। बिना साधन किसी का भी प्रत्यक्ष हो ही नही सकता।

दूसरा पक्ष 'अपनी ही प्रतीति मे व्यापार का होना'-यह भी युक्त नही है, क्योंकि आत्मा की प्रतीति मे आत्मा के किसी भी प्रकार के व्यापार का दर्शन यानी उपलम्भ नही होता। कर्मभूत घटादि के निर्माण मे जैसे कुलालादि कर्त्ता सक्रिय देखा जाता है, अथवा कर्मभूत काष्ठादि के छेदन मे जैसे कुठारादि करण सक्रिय देखा जाता है वैसे आत्मा के प्रकाशनार्थ आत्मा मे कोई भी पदार्थ सक्रिय नही दिखता। यदि ऐसा पूछा जाय कि-जब आत्मा मे कोई अन्य बोधकर्त्ता सक्रिय नही दिखता है तो 'आत्मा प्रत्यक्ष नही किन्तु अनुमेय है' इस पक्ष मे भी आत्मा की प्रतीति अन्य किसी सक्रिय कर्त्ता या करण के अभाव मे कैसे होगी ?-उत्तर यह है कि आत्मा की अनुमानात्मक प्रतीति मे चैतन्यादि लिंग ही सक्रिय करण बन कर आत्मा की अनुमिति करवाता है, एक ही आत्मा मे करण की अपेक्षा और कर्तृ आदि की अपेक्षा अवस्था भेद होने मे कोई दोप नही है।

[आत्मप्रत्यक्ष के लिये अलग प्रमाण की आपत्ति]

दूसरी बात, आपने जो कहा-आत्मा प्रमाण [ज्ञान] का विषय नही है, फिर भी अपरोक्ष है-इसका क्या अर्थ ? यदि ऐसा कहे कि 'आत्मा का जो ज्ञातृत्व स्व रूप है उस स्व रूप से उसका अवभास होना'-तो हम पूछते है कि क्या घटादि का जो अवभास होता है वह पर रूप से होता है ? नही, सभी वस्तु का अपने अपने स्व रूप से ही अवभास होता है, अत. जिस पदार्थ का जैसा स्व रूप है, वह प्रमाण के विषयरूप मे ही अवभासित होता है, यदि आत्मा का स्व रूप से अवभास मानते है तो वह भी प्रमाण के विषयरूप मे ही होना चाहिये, अत. प्रमाता-बोधकर्ता को ज्ञान का अविषय दिखाना ठीक नही है। जैसे: ज्ञातृत्व कहिये या प्रमातृत्व, अथवा आत्मस्वरूपता कहिये सब एक ही है, तथा घटादि मे प्रमेयत्व ज्ञेयत्व या घटादिरूपत्व कहिये, वह सब एक ही है, तो जैसे घटादि का स्वरूप से अवभास होने पर ही प्रत्यक्षता होती है उसी प्रकार आत्मा के भी स्वरूपावभास से ही उसमे प्रत्यक्षता आयेगी, इसका तात्पर्य यह नही हो सकता कि वह ज्ञान का अविषय है। आत्मा को प्रमाणविषय अवश्य मानना चाहिये, वरना आत्मा का स्वसंवेदन-रूप जो प्रत्यक्ष है वह प्रत्यक्ष होने पर भी उसमे प्रसिद्ध प्रत्यक्ष का लक्षण न घटने से, प्रसिद्ध प्रत्यक्षलक्षण से भिन्न जाति का लक्षण आप

क्षिप्तम्, न स्वरूपावभासे प्रमाणाऽविषयता। किंच, एवं कल्प्यमाने बोधद्वयमान्तरं स्वसंविद्रूपं च कल्पितं स्यात्। तथा चाऽयुक्तम्, एकस्मादेव विषयावभाससिद्धेः किं द्वयकल्पनया ? अथोच्यते- कल्पना ह्यनवभासमानस्य, बोधद्वये तु घटादिवदवभासोऽस्तीति न कल्पना। यद्यीदृशाः प्रतिभासाः प्रमाणत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते तदा 'घटमहं चक्षुषा पश्यामि' इति करणप्रतीतिरपि प्रमातृफलप्रतीतिवत् कल्पनीया।

याऽपि कैश्चित् करणप्रतीतिः प्रत्यक्षत्वेनोक्ता साऽपि नातीव संगच्छते। तथाहि-'घटमहं चक्षुषा पश्यामि' इत्यस्यामवगतौ किं गोलकस्य चक्षुष्ट्वम्, आहोस्वित् तद्व्यतिरिक्तस्य ? गोलकस्य चक्षुष्ट्वे न कश्चिदन्धः स्यात्। तद्व्यतिरिक्तस्य च रश्मेरनभ्युपगमः, अभ्युपगमे वा न प्रतीतिविषयः, केवलं शब्दमात्रमुच्चारयति घटप्रतीतिकाले। एवं च प्रमातृफलविषयं शब्दोच्चारणमात्रमवसीयते, न च तयोः प्रतीतिगोचरता करणस्येव। तथाहि-इन्द्रियव्यापारे सति शरीराद् व्यवच्छिन्नस्य विषयस्यैव केवलस्यावभासनमिति न्यायविदः प्रतिपन्नाः। 'किं तस्यावभासनमि'ति पर्यनुयोगे मूकत्वं परिहारमाहुः, व्यपदेष्टुमशक्यत्वात्। अतः प्रमात्रवभासानुपपत्तिः।

को बनाना होगा। उस लक्षणवाला प्रत्यक्ष भी एक अलग ही प्रमाण बन जाने से प्रमाण सख्या जो कि मर्यादित [२, ३, ४, ५ या ६] है उसका व्याघात होगा, क्योंकि प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण के किसी भी लक्षण से आत्मादिविषयक स्वसवेदनात्मक प्रत्यक्ष का सग्रह शक्य नही है।

[संवेदन की संवेद्यता का अस्वीकार दुष्कर]

बोधकर्त्ता मे प्रमाण का अविषयत्व इष्ट नही है इसीलिये यह अनिष्टप्रसजन किया जाता है कि प्रमाता को यदि प्रमाण का अविषय और प्रत्यक्ष मानेंगे तो प्रमितिरूप फल [यानी सवेदन] को भी प्रमाण का अविषय और प्रत्यक्ष मानना पडेगा, क्योंकि उसकी प्रतीति भी इन्द्रियनिरपेक्ष ही होती है। यदि ऐसा कहा जाय-'हम सवेदन को भी वैसा ही मानते है तो क्या दोष है ? कहा भी है कि-सवेदन भी सवेदनरूप से ही संविदित होता है, सवेद्य (यानी ज्ञान विषय) रूप में सविदित नही होता।'-तो इसका निराकरण पहले ही कर दिया है, कि वस्तु के स्वरूप का यदि अवभास होता है तो उसे प्रमाण का अविषय नही कह सकते। दूसरी बात यह है कि प्रमाता और प्रमिति को यदि प्रमाणविषय नही मानेंगे तो प्रमाता और प्रमिति के दो अभ्यन्तर बोध की स्वतन्त्र कल्पना करनी होगी और उन बोध के स्वसविदितत्व की कल्पना भी की जायेगी। ऐसी कल्पना युक्त नही है क्योंकि जब उन दोनो को प्रमाण का विपय मानेंगे तो एक ही ज्ञान से विषय रूप मे घटादि, प्रमाता और प्रमिति सभी की सिद्धि हो सकती है [वह ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो या अनुमिति, यह बात अलग है] फिर बोधद्वय की कल्पना से क्या लाभ ? यदि ऐसा कहे कि-'कल्पना उसी की करनी पडती है जिसका अवभास न हो, बोधद्वय का तो स्पष्ट अवभास होता है, अत: वे वास्तव ही है, कल्पित कहा हुए ??'-तो यह कहना अयुक्त है। कारण, यदि ऐसे सभी अवभासो को प्रमाणरूप मे मान लेंगे तो 'मै आँखो से घट को देखता हूँ' इस प्रतीति मे आप जैसे बोधकर्त्ता और सवेदन की प्रतीति मानते है वैसे नेत्रेन्द्रिय की भी अपरोक्ष प्रतीति कल्पनारूढ हो जायेगी।

[चक्षु आदि करण की वास्तविक प्रतीति नहीं है]

कुछ लोगो ने जो नेत्रादि इन्द्रिय की प्रतीति मे प्रत्यक्षत्व का निरूपण किया है वह इतना

नन्वहमितिप्रत्ययः सर्वलोकसाक्षिको नैवाऽपह्नोतुं शक्यः, अनपह्नवे सविषयः निर्विषयो वा? निर्विषयता प्रत्ययानामबाधितरूपाणां कथम्? सविषयत्वेऽपि प्रमातृप्रतिभासे किंविषयोऽयं प्रत्ययः?-'न प्रत्ययापह्नवः न चाऽस्य निर्विषयता किंतु देहादिव्यतिरिक्तो(क्त)विषयत्वेनावभासमान आत्माऽस्य न विषय, न च ज्ञातृत्वेनावभासमानं' इत्युच्यते। कस्तर्हि विषयः? शरीरमिति ब्रूमः। तथाहि 'कृशोऽहं-स्थूलोऽहं-गौरोऽहम्' इति शरीराद्यालम्बने. प्रत्ययैरस्य समानाधिकरणताऽवसीयते।

नन्वेवं सुखादिप्रत्ययैरप्यहंकारस्य समानाधिकरणता-सुख्यहं-दुःख्यहम् इति वा, अतो न देहविषयता। यच्चोच्यते 'गौरोऽहमित्यादिसामानाधिकरण्यदर्शनाच्छरीरालम्बनत्वम्' इति, तत्राप्येतद्विचार्यम्-गौरादीनां शरीरादिव्यतिरिक्तात्मनहंकारास्पदत्वं दृष्टं तद्वच्छरीरादिगतानामपि युक्तं व्यवस्थापयितुम्। तथा च वार्त्तिककृतोक्तम्-"न ह्यस्य द्रष्टुर्यदेतद् मम गौरं रूपं 'सोऽहम्' इति भवति प्रत्ययः, केवलं मतुब्लोपं कृत्वैव निर्दिशति" [न्यायवा० पृ० ३४१ पं० २३]

संगत नही है। जैसे: 'मैं नेत्र से घट को देखता हूँ' इस बुद्धि मे गोलक का नेत्ररूप से भास होता है? या दूसरे किसी का? यह प्रश्न है। यदि गोलक को ही नेत्र कहा जाय तो कोई भी अन्धा नही कहलायेगा चूंकि बहुत से अन्धे को नेत्रस्थान मे गोलक तो होता ही है। गोलक भिन्न नेत्ररश्मि को आप नेत्रेन्द्रिय कहते हो तो वह हमे विना कोई प्रमाण स्वीकार्य नही हो सकता। कदाचित् नेत्र के रश्मि होते हैं यह मान लें तो भी उनकी प्रतीति किसी को नही होती। अतः नेत्र की प्रतीति मानने वाले तो घटदर्शनकाल मे केवल अर्थशून्य शब्द ही बोल देते है-'मै नेत्र से घट को देखता हूँ'। वास्तव मे वहां नेत्रेन्द्रिय प्रतीति का विषय नही है। जैसे नेत्रेन्द्रिय के लिये केवल शब्दोच्चार ही होता है उसी तरह 'प्रमाता और फलभूत प्रमिति का अपरोक्ष अवभास होता है' ये भी केवल अर्थहीन शब्दोच्चार ही प्रतीत होता है। वास्तव मे वे प्रमाता आदि नेत्रेन्द्रियवत् प्रतीति का विषय नही होते। जैसे कि न्यायवेत्ता भी यही मानते है कि इन्द्रिय सक्रिय होने पर शरीर से व्यवच्छिन्न यानी भिन्नरूप मे एकमात्र विषय का ही अवभास होता है, आत्मा या सवेदन का नही। इसीलिये तो 'आत्मा का अपरोक्ष अवभास क्या है' ऐसा पूछने पर वे न्यायवेत्ता भी मौन रहकर ही उसका उत्तर देते हैं, क्योंकि आत्मा के अवभास का स्पष्ट व्यपदेश=प्रतिपादन शक्य ही नही है। तात्पर्य, बोधकर्त्ता का अवभास मानना युक्तिविहीन है।

[अहमाकारप्रतीति की आत्मविषयकता की स्थापना]

आत्मवादीः-'अहम्' आकार प्रतीति मे सभी लोग साक्षि है अत उसका निषेध अशक्य है। जब निषेध अशक्य है तो इस प्रतीति को सविषय मानेंगे या निर्विषय? जो प्रतीतियां अबाधित हैं उनको निर्विषयक कैसे मानी जाय? यदि सविषय मानी जाय तो यह प्रश्न है कि प्रमाता=बोधकर्त्ता का प्रतिभास अहमाकार प्रतीति मे नही मानते तो इस प्रतीति का विषय क्या है?

नास्तिकः-हम इस प्रतीति का न तो निषेध ही करते है, न तो उसे निर्विषय कहते हैं, इतना ही कहना है देहादि से भिन्नतया विषयरूप मे भासमान आत्मा इस प्रतीति का विषय नही है, बोधकर्त्ता के रूप मे भी आत्मा यहाँ भासित नही होता है।

आत्मवादीः-तो इस अहमाकार प्रतीति का विषय कौन?

एतदेव कथम् ? 'ममेदं शरीरम्' इतिप्रत्ययोपादानात् 'ममायमात्मा' इति प्रत्ययाभावाच्च। ननु 'ममायमात्मा' इति किं न भवति प्रत्ययः ? न भवतीति ब्रूमः। कथं तर्ह्येवमुच्यते ? केवलं शब्द उच्चार्यते, न तु प्रत्ययस्य सम्भवः।

अत्रापि ममप्रत्ययप्रतिभासस्याऽदर्शनाद् शब्दोच्चारणमात्रं केन वार्यते ? किमिदानीं सुखादियोगः शरीरस्येष्यते ? नैवम्, सुखादियोगाभावात् मिथ्याप्रत्ययोऽयं 'सुख्यहम्' इति, न त्वेतदालम्बन। अतो व्यवस्थितम्-ज्ञातृप्रतिभासाऽदर्शनात्, प्रतिभासे वा शरीरस्य ज्ञातृत्वेनावभासनान्न देहादिव्यतिरिक्तस्याहंप्रत्ययविषयता, शरीरस्य च ज्ञातृत्वेनावभासमानस्यापि प्रमाणसिद्धा बुद्धियोगनिषेधान्मिथ्याप्रत्ययालम्बनता, न तु तस्याऽचैतन्येऽन्यः कश्चिद् ज्ञाता प्रत्यक्षप्रमाणविषयः सिध्यति-इत्यादि.।

नास्तिकः-शरीर को ही हम इसका विषय कहते हैं। जैसे: 'मैं पतला हूं' 'मैं स्थूल हूं' 'मैं गौरवर्ण का हूँ' ये सभी प्रतीतियाँ शरीर को ही विषय करती है, अत. इन प्रतीतियो मे आत्मा का सामानाधिकरण्य शारीरिक पतलेपन आदि के साथ ही प्रतीत होने से शरीर ही आत्मा हुआ।

आत्मवादीः-स्थूलत्वादि बुद्धियो के साथ जैसे अहकार की समानाधिकरणता प्रतीत होती है वैसे सुखादि बुद्धियो की समानाधिकरणता भी प्रतीत होती है-'मै सुखी हूँ' 'मै दुखी हूँ' इत्यादि, तो सुख-दुःखादि देहधर्म न होने से अहमाकारप्रतीति मे देहविषयता नही घट सकती। जो आप लोग ऐसा कहते है कि-'मै गौरवर्ण का हूं' ऐसी देहधर्म समानाधिकरणतया अहमाकारप्रतीति के दर्शन से अहमाकार बुद्धि का विषय देह निश्चित होता है-यहाँ भी सोचिये कि देहभिन्न वस्तु मे जो गौरादिवर्ण है वहाँ तो अहकारविषयता नही देखी जाती तो देहादिगत गौरादिवर्ण को भी अहमाकार प्रतीति के विषय रूप मे स्थापित करना अयुक्त है। जैसा कि न्यायवार्त्तिककार ने कहा है कि-इस द्रष्टा को 'जो यह मेरा गौर रूप है वही मै हूँ' ऐसी बुद्धि नही होती है, केवल मतुप् प्रत्यय का लोप करके ही उक्त रीति से निर्देश किया जाता है। [अर्थात् 'गौरदेह वाला मै हूं' ऐसा न कह कर 'मै गौर हूँ' इतना सक्षिप्त निर्देश ही किया जाता है]।

इस चर्चा का तात्पर्य यह है कि शरीर मे जो अहबुद्धि होती है वह उपचार से होती है, तात्त्विकरूप से नही। जैसे देहभिन्न अतिनिकट रहने वाली 'कोई व्यक्ति हो और अपना प्रयोजन भी उससे सिद्ध होता हो तो वहाँ ऐसी गौण=औपचारिक प्रतीति होती है 'जो यह है वही मैं हूं'-तो इसी प्रकार देह भी अतिनिकटवर्त्ती एव स्वप्रयोजन साधक होने से उसमे भी 'यह देह ही मैं हूं' इत्यादि औपचारिक बुद्धि होती है। निकटवर्त्ती किसी अन्य व्यक्ति मे 'यह मैं ही हूँ' ऐसी प्रतीति होती है यह तो दोनो को मान्य है-तो जो आत्मरूप नही है तथा 'अय=यह' इस प्रकार प्रतीति का विषय है ऐसी अन्य व्यक्ति मे 'मै' इस प्रकार की प्रतीति जिस निमित्त से होती है, देह मे भी उसी निमित्त से अहकार बुद्धि होती है। आत्मा के विषय मे जो अहकारबुद्धि होती है उसको औपचारिक नही कह सकते क्योकि 'मै' इस प्रकार जो आत्मबुद्धि होती है उसमे 'अयम्=यह' इस प्रकार की बुद्धि का मिश्रण प्रतिभासित नही होता। अत यह सिद्ध हुआ कि बोधकर्त्ता देहादि से भिन्न है।

[आत्मा और देह में ममत्व की समान प्रतीति-नास्तिक]

प्रश्नः-आत्मा के बारे मे 'अयम्=यह' इस प्रकार प्रतिभास नही होता ऐसा क्यो कहते है ?

तदप्यसंगतम्—

यतो भवतु जैमिनीयानां "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्" [जैमि० अ० १-१-४] इतिलक्षणलक्षितेन्द्रियप्रत्यक्षवादिनाम् 'अहम्' इत्यवभासप्रत्ययस्यानिन्द्रियजत्वेनात्राऽप्रत्यक्षत्वदोषो, नास्माकं जिनमतानुसारिणाम् । न ह्यस्माकमिन्द्रियजमेव प्रत्यक्षं किन्तु यद् यत्र विशदं

उत्तर:-इसलिये कि 'मेरा यह शरीर' इस प्रकार शरीर में 'यह' बुद्धि होती है किंतु 'मेरा यह आत्मा' ऐसी बुद्धि नही होती । अतः बोधकर्त्ता देह से भिन्न है ।

प्रश्नः-क्या 'मेरा यह आत्मा' ऐसी बुद्धि नही होती ?

उत्तरः-हम कहते हैं नही होती ।

प्रश्न -तो क्यो ऐसा कहा जाता है 'यह मेरा आत्मा' ?

उत्तरः-वह तो केवल अर्थशून्य (वासना जनित) शब्दोच्चार मात्र है, प्रतीति उस प्रकार की नही होती ।

'अहं' प्रतीति मे सर्व लोग साक्षि होने से उसका निषेध नहीं होता-यहाँ से आरम्भ कर नास्तिक ने आत्मवादी की ओर से आत्मा की सिद्धि करवायी, अब यहाँ आकर वह कहता है कि जैसे 'मेरा यह आत्मा' इस स्थल में आत्मवादी प्रतीति नही किंतु शब्दोच्चार मात्र मानते है, तो 'मेरा यह शरीर' इस स्थल मे भी 'मेरा' ऐसी बुद्धि का उपलम्भ नही होता केवल शब्दोच्चार मात्र होता है-ऐसा कहने वाले का मुंह कैसे बन्द किया जा सकता है । यदि यह पूछा जाय कि-'मै सुखी हूँ' ऐसी प्रतीति होती है, तो क्या आप शरीर मे सुखादि का योग मानते है ?-तो उत्तर यह है कि हम शरीर मे सुखादि का योग नही मानते हैं, अत एव 'मै सुखी हूँ' इस बुद्धि को मिथ्या (भ्रम) मानते है, सुखादि शरीरविषयक बुद्धि का विषय नही हो सकता ।

इतनी चर्चा से यह सिद्ध होता है कि-बोधकर्त्ता के रूप मे आत्मा का कोई प्रतिभास दृष्ट नही है, यदि बोधकर्त्ता के रूप मे किसी का प्रतिभास होता है तो वहाँ शरीर ही बोधकर्त्ता के रूप मे भासित होता है, अत. देह से अन्य कोई भी अहमाकार प्रतीति का विषय नही है । उपरांत, सुख-दुखादि का योग जैसे शरीर मे नही है वैसे बुद्धि का भी शरीर के साथ योग न होने से बोधकर्त्ता के रूप मे यद्यपि देह का प्रतिभास होता है किन्तु वह भी मिथ्या ही है । तात्पर्य, देह मे बोधकर्तृत्व मिथ्याप्रतीति का ही विषय है, यही प्रमाणसिद्ध है । निष्कर्ष.-चैतन्य यदि देहधर्म नही मानेंगे तो और कोई ज्ञाता प्रत्यक्ष-प्रमाण के विषय रूप मे सिद्ध नही है ।

[प्रत्यक्ष केवल इन्द्रिय जन्य ही नहीं होता-जैन मत]

'यदप्यत्राहुः अस्त्ययमवभासः'... इत्यादि से पूर्वपक्षी ने जो पूर्वपक्ष अद्यावधि स्थापित किया उसके खिलाफ व्याख्याकार कहते हैं कि-यह सब असबद्ध है । क्योकि 'सत्संप्रयोगे' ....अर्थात् 'पुरुष की इन्द्रियो के साथ सद् वस्तु का सनिकर्ष होने पर जन्म लेने वाली बुद्धि प्रत्यक्ष है' इस प्रकार के लक्षण से लक्षित ही इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष को मानने वाले जैमिनीमतानुयायी मीमासको के मत में अहमाकार प्रतीति मे प्रत्यक्षत्व की अनुपपत्ति का दोष लग सकता है, क्योकि सत्संप्रयोगे . यह हमारा जैन-

ज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तद् तत्र प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्, 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं' [तत्त्वार्थ० १-१४] इति वाचकमुख्यवचनात्। तेन यथा प्रत्यक्षविषयत्वेन घटादेः प्रत्यक्षता तथाऽऽत्मनोऽपि स्वसंवेदनाध्यक्षतायां को विरोधः ? अत एव यदुच्यते-' घटादेर्भिन्नज्ञानग्राह्यत्वेन प्रत्यक्षता व्यवस्थाप्यते, आत्मनस्त्वपरोक्षत्वेन प्रतिभासनात् प्रत्यक्षत्वम् तच्च केवलस्य घटादिप्रतीत्यन्तर्गतस्य वाऽपरसाधनं प्राक् प्रतिपादितमित्यत्र अपरसाधनमिति कोऽर्थः ? किं चिद्रूपस्य सत्ता, आहोस्विद् स्वप्रतीतौ व्यापारः ? इति पक्षद्वयमुत्थाप्य प्रथमपक्षे चिद्रूपस्य सत्तैवात्मप्रकाशनं यद्युच्यते तदा दृष्टान्तो वक्तव्यः"-इति तन्निरस्तम्, अध्यक्षप्रतीतेऽर्थे दृष्टान्तान्वेषणस्याऽयुक्तत्वात्।

अथ विवादगोचरेऽध्यक्षप्रतीतेऽपि दृष्टान्तान्वेषणं लोके सुप्रसिद्धमिति सोऽत्रापि वक्तव्यस्तदाऽस्त्येव प्रदीपादिलक्षणो दृष्टान्तोऽपि ज्ञानस्य प्रकाशं प्रति सजातीयापरानपेक्षणे साध्ये। तथाहि-यथा प्रदीपाद्यालोको न स्वप्रतिपत्तावालोकान्तरमपेक्षते तथा ज्ञानमपि स्वप्रतिपत्तौ न समानजातीयज्ञानापेक्षम्। एतावन्मात्रेणाऽऽलोकस्य दृष्टान्तत्वं न पुनस्तस्यापि ज्ञानत्वमासाद्यते येन 'इन्द्रियाऽग्राह्यत्वाच्चक्षुष्मतामिवान्धानामपि तत्प्रतीतिप्रसंगः' इति प्रेर्यते। न हि दृष्टान्ते साध्यधर्मि-धर्माः सर्वेऽप्यासञ्जयितुं युक्ताः, अन्यथा घटेऽपि शब्दधर्माः शब्दत्वादयः प्रसज्येरन्निति तस्यापि श्रोत्रग्राह्यत्वप्रसगः। न च साधर्म्यदृष्टान्तमन्तरेण प्रमाणप्रतीतस्याप्यर्थस्याऽप्रसिद्धिरिति शक्यं वक्तुम्, अन्यथा जीवच्छरीरस्यापि सात्मकत्वे साध्ये तोद्दन्तप्र(?तद्वत् तत्प्र)सिद्धदृष्टान्तस्याभावात् प्राणादिमत्वादेस्तत्सिद्धिर्न स्यात्।

मतानुयायीओ का नही, मीमासको का सूत्र है। हमारे श्री जैनमत मे प्रत्यक्ष केवल इन्द्रियजनित ही नही होता, किंतु इन्द्रिय या अनिन्द्रिय (अन्त करण) के निमित्त से जो ज्ञान जिस विषय का स्पष्ट ग्राहक होता है वह उस विषय का प्रत्यक्ष कहा जाता है। वाचकवर्य श्री उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र मे भी 'तद् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' इस सूत्र से प्रत्यक्ष ज्ञान को इन्द्रिय-अनिन्द्रियजन्य दिखाया गया है। इसलिये, प्रत्यक्ष का विषय होने से घटादि मे जैसे प्रत्यक्षता होती है वैसे आत्मा भी स्वसवेदनात्मक प्रत्यक्ष का विषय है तो उस मे प्रत्यक्षता मानने मे क्या विरोध है ? विरोध न होने से ही आपका वह पूर्व प्रतिपादन विध्वस्त हो जाता है जो इस प्रकार था-"घटादि अपने से भिन्न ज्ञान का विषय होने से उसमे प्रत्यक्षता मानी जाती है और आत्मा मे अपरोक्षरूप से प्रतिभास के कारण प्रत्यक्षता दिखायी जाती है और वह अहमाकार प्रत्यक्ष रूप आत्मप्रकाशन केवल यानी बाह्यविषय से असकीर्ण भी होता है और वाह्यविषय घटादि की प्रतीति से सकीर्ण भी होता है, किन्तु उसमे स्वभिन्न इन्द्रियादि कोई साधनभूत न होने से वह अपरसाधन कहा जाता है (ऐसा जो आत्मप्रत्यक्षवादी का कहना है) उस पर प्रश्न है कि अपर साधन शब्द का क्या अर्थ है ? चित्स्वरूप आत्मा की सत्ता या अपनी ही प्रतीति मे सक्रियता ? इस प्रकार पक्षद्वय का उत्थान करके (कहा था कि) पहले पक्ष मे यदि चित्स्वरूप की सत्ता को ही आत्मप्रकाशन कहते हो तब यहाँ कोई दृष्टान्त दिखाना चाहिये"-इत्यादि यह सब प्रतिपादन विध्वस्त हो जाता है। कारण, प्रत्यक्षसिद्ध यानी अनुभवसिद्ध वस्तु के लिये दृष्टान्त की खोज अनावश्यक है, अयुक्त है।

[आत्मा की स्वप्रकाशता में प्रदीपदृष्टान्त की यथार्थता]

यदि कहे कि-जहाँ प्रत्यक्षप्रतीति के होने पर भी विषय विवादास्पद बन जाय वहाँ दृष्टान्त की खोज की जाती है यह सर्वजनप्रसिद्ध तथ्य होने से, आत्मा की स्वप्रकाशता मे दृष्टान्त कहना

अथ साधर्म्यदृष्टान्ताभावेऽपि दृष्टवैधर्म्यदृष्टान्तस्य घटादेः सद्भावात् केवलव्यतिरेकिबलात् अत्र तत्सिद्धिस्तर्हि यत्र स्वप्रकाशकत्वं नास्ति तत्रार्थप्रकाशकत्वमपि नास्ति, यथा घटादाविति व्यतिरेकदृष्टान्तसद्भावादर्थप्रकाशकत्वलक्षणाद्धेतोः स्वप्रकाशकत्व विज्ञानस्य किमिति न सिद्धिमासादयति ? यत्तूक्तम्-'कस्यचिदर्थस्य काचित् सामग्री, तेन प्रकाशः प्रकाशान्तरनिरपेक्ष एव स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभाति'-तद् युक्तमेव, यथा हि स्वसामग्रीत उपजायमानाः प्रदीपालोकादयो न समानजातीयमालोकान्तरं स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमाना अपेक्षन्ते तथा स्वसामग्रीत उपजायमानं विज्ञानं स्वार्थप्रकाशस्वभावं स्वप्रतिपत्तौ न ज्ञानान्तरमपेक्षते, प्रतिनियतत्वात् स्वकारणायत्तजन्मनां भावशक्तीनाम् । यत्तु प्रदीपालोकादिकं सजातीयालोकान्तरनिरपेक्षमपि स्वप्रतिपत्तौ ज्ञानमपेक्षते तत् तस्याऽज्ञानरूपत्वात् ज्ञानस्य च तद्विपर्ययस्वभावत्वाद् युक्तियुक्तमिति 'नैकत्र दृष्टः स्वभावोऽन्यत्राऽऽसञ्जयितुं युक्तः' इति पूर्वपक्षवचो निःसारतया व्यवस्थितम् ।

पडेगा-तो आत्मवादी कहता है कि ज्ञान के अपने प्रकाश मे, 'सजातीय अपरज्ञान की अपेक्षा का अभाव' इस साध्य की सिद्धि के लिये दीपकादि स्वरूप दृष्टान्त दूर नही है । जैसे देखिये-प्रदीप का आलोक जैसे अपने बोध मे अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहो करता तथैव ज्ञान भी अपने प्रकाश मे सजातीय अनुव्यवसायादि ज्ञान की अपेक्षा नही करता । प्रदीप का दृष्टान्त केवल इतने ही अंश मे समझना चाहिये, किन्तु दृष्टान्त का ऐसा तात्पर्य नही लगाना है कि 'प्रदीप अन्यालोक से निरपेक्ष हो कर स्वय अपना प्रकाश यानी ज्ञान कर लेता है' क्यो कि ऐसा तात्पर्य है ही नही, प्रदीप मे ज्ञानत्व का आपादन इष्ट ही नही है, अत एव यह जो आपने कहा था-प्रदीप इन्द्रिय से अग्राह्य होने से स्वप्रकाश नही कहा जाता, यदि प्रदीप को इन्द्रिय से अग्राह्य मान कर स्वप्रकाश कहेगे तो नेत्र वाले पुरुष की तरह अन्धे को भी उस की प्रतीति होने लगेगी-इत्यादि, यह सब अस्थान प्रलाप है चूँकि हम प्रदीप को इन्द्रिया-ग्राह्य कहते ही नही । तथा, दृष्टान्त मे साध्यधर्मी के सभी धर्मो का आपादन करना उचित नही है । [ज्ञान की स्वप्रकाशता के लिये प्रदीप को दृष्टान्त करने मे, ज्ञानधर्म ज्ञानत्व का दृष्टान्तभूत दीपक मे आपादन नही हो सकता] वरना, शब्द की अनित्यता सिद्ध करने मे, घटरूप दृष्टान्त में शब्दगत शब्दत्वादि धर्मो के आपादन का प्रसग अवसरप्राप्त होने से घट भी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बन जायेगा । यह भी नही कह सकते कि-"जहाँ तक साधर्म्य दृष्टान्त (जैसे कि धूम से पर्वत मे अग्नि को सिद्ध करने मे पाकशाला) न उपलब्ध हो वहाँ तक किसी भी अर्थ की सिद्धि नही हो सकती चाहे वह अर्थ प्रमाण से प्रतीत भी क्यो न हो ?"-ऐसा इसलिये नही कह सकते कि-जिन्दे शरीर मे भी प्राणादिमत्ता के हेतु से आत्मा की सिद्धि नही हो सकेगी क्योकि आत्मसहितत्व रूप साध्य अन्यत्र कही भी प्रसिद्ध नही होने से किसी भी प्रसिद्ध दृष्टान्त का यहाँ सद्भाव नही है ।

[वैधर्म्यदृष्टान्त से ज्ञान में स्वप्रकाशत्वसिद्धि]

यदि ऐसा कहे-सात्मकत्व की सिद्धि के लिये कोई अन्वयी यानी साधर्म्यवाला दृष्टान्त न होने पर भी व्यतिरेकी यानी वैधर्म्यवाला दृष्टान्त घटादि इस प्रकार हो सकता है कि जहाँ सात्मकत्व नही है वहाँ प्राणादिमत्त्व भी नही होता जैसे कि घटादि, इस प्रकार केवल व्यतिरेकव्याप्ति के बल से भी जिन्दे शरीर मे सात्मकत्व सिद्ध हो सकता है तो प्रस्तुत में भी ज्ञान मे स्वप्रकाशत्व सिद्धि के लिये हम ऐसा कहेगे कि जहाँ स्वप्रकाशत्व नही होता वहाँ अर्थप्रकाशकत्व भी नही होता जैसे घटादि । तो इस

अथालोकस्य तदन्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिरुपलब्धेति न तद्दृष्टान्तबलाद् ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरनिरपेक्षा प्रतीतिः, अदृष्टत्वात्, स्वात्मनि क्रियाविरोधाच्च । नन्वेवमुपलभ्यमानेऽपि वस्तुनि यद्यदृष्टत्वं विरोधश्चोच्येत तदा स्वात्मवद् घटादेरपि बाह्यस्य न ग्राहकं ज्ञानम्, अदृष्टत्वात् जडस्य प्रकाशायोगाच्चेत्यपि वदतः सौगतस्य न वक्त्रवक्रता समुपजायते ।–

तथाहि–असावप्येवं वक्तुं समर्थः, जडं वस्तु न स्वतः प्रकाशते, विज्ञानवत् जडत्वहानिप्रसंगात् । नापि परतः प्रकाशमानम्, नील-सुखादिव्यतिरिक्तस्य विज्ञानस्याऽसंवेदनेनाऽसत्त्वात् ।

अथ 'नीलस्य प्रकाशः' इति प्रकाशमाननीलादिव्यतिरिक्तस्तत्प्रकाशः, अन्यथा भेदेनाऽस्याऽप्रतिपत्तौ संवेदनस्य तत्प्रतिभासो न स्यात् । ननु न नीलतद्वेदनयोः पृथगवभासः प्रत्यक्षसंभवी, प्रकाशविविक्तस्य नीलादेरननुभवात् तद्विवेकेन च बोधस्याऽप्रतिभासनात् । न चाऽध्यक्षतो विवेकेनाऽप्रतीयमानयोर्नील–तत्संविदोर्भेदो युक्तः, विवेकादर्शनस्य भेदविपर्ययाश्रयत्वात्, नील-तत्स्वरूपवत् । अथापि

व्यतिरेकी दृष्टान्त के बल से अर्थप्रकाशकत्व को हेतु कर के विज्ञान मे स्वप्रकाशकत्व की सिद्धि क्यो नही हो सकेगी ?

यह जो आपने कहा था भिन्न भिन्न अर्थ की सामग्री भिन्न भिन्न प्रकार की होती है, किसी की कुछ तो किसी की कुछ, अतः प्रकाशात्मक वस्तु अन्य प्रकाश के अभाव में भी अपने भासक ज्ञान का विषय होता है, इत्यादि........वह तो ठीक ही है । हम भी यही कहते है कि जैसे प्रदीप-आलोक आदि अपनी सामग्री से उत्पन्न होते हुए स्वविषयकज्ञान में दूसरे सजातीय आलोक–दीपक आदि की अपेक्षा किये विना ही प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार अपनी सामग्री से उत्पन्न होने वाला विज्ञान भी अपने आप ही अपने को प्रकाशित करने के स्वभाववाला होने से स्वविषयक ज्ञान मे अन्य ज्ञान की अपेक्षा नही करता । इतना अन्तर यहाँ जरूर है कि प्रदीप–आलोकादि अपने प्रकाशन मे सजातीय अन्य आलोक निरपेक्ष होने पर भी स्वविषयक प्रकाशन मे ज्ञान की अपेक्षा करते हैं, और ज्ञान अपने प्रकाशन में अन्य ज्ञान की अपेक्षा नही करता, किन्तु ऐसा इसलिये है कि प्रदीपादि स्वय जडात्मक है और ज्ञान जडात्मक न होकर चैतन्यस्वरूप है, इस लिये उतना अतर होना सयुक्तिक है । तात्पर्य यह है–पूर्वपक्षी ने जो ऐसा कहा था कि "प्रदीप मे सजातीयालोक निरपेक्षता स्वभाव दृष्ट होने पर भी ज्ञान मे सजातीय ज्ञान निरपेक्षता स्वभाव का प्रतिपादन युक्त नही है"–इत्यादि, यह पूर्वपक्षी का वचन सारहीन सिद्ध होता है ।

[स्वप्रकाशता में अदृष्टता और विरोध की बात अनुचित]

यदि यह कहा जाय कि–"आलोक का ज्ञान सजातीय अन्य आलोक निरपेक्ष होता है इस दृष्टान्त के बल से ज्ञान प्रतीति भी सजातीय अन्य ज्ञान निरपेक्ष होती है यह मानना ठीक नही क्योकि किसी भी वस्तु का ज्ञान स्वतः होता हुआ नही देखा गया, तदुपरांत किसी भी वस्तु मे स्वविषयक यानी अपने को ही लागू पडे ऐसी क्रिया नही होती जैसे कि कुठार से काष्ठादि की छेदन क्रिया देखी गयी है किन्तु कुठार अपना ही छेदन करे यह नही देखा गया"- तो यह अनुचित है क्योंकि जिस पदार्थ का स्पष्ट उपलम्भ होता है, उसमें 'ऐसा कही नही देखा गया और विरोध भी है' ऐसा कहते रहेगे तो, ज्ञान जैसे आप के मत में स्व का प्रकाशक नही है वैसे ही "हमारे (बौद्ध) मत में ज्ञान बाह्य घटादि विषय का भी प्रकाशक नही है" ऐसा कहने मे बौद्ध का मुँह कभी भी टेढा नही हो सकेगा, क्योकि

कल्पना नील-तत्संविदोर्भेदमुल्लिखति-'नीलस्यानुभवः' इति । ननु अभेदेऽपि भेदोल्लेखो दृष्टो यथा शिलापुत्रकस्य वपुः' 'नीलस्य वा स्वरूपम्' इति । अथ तत्र प्रत्यक्षारूढोऽभेदो बाधक इति न भेदोल्लेखः सत्यः, स तर्हि नीलसंविदोरपि प्रत्यक्षारूढोऽभेदोऽस्तीति न भेदकल्पना सत्या । तदेवं नीलादिकं सुखादिकं च स्वप्रकाशवपुः प्रतिभातीति स्थितम्, तद्व्यतिरिक्तस्य प्रकाशस्याऽप्रतिभासनेनाऽभावात् ।

भवतु वा व्यतिरिक्तो बोधस्तथापि न तद्ग्राह्या नीलादयो युक्ताः । तथाहि-तुल्यकालो वा बोधस्तेषां प्रकाशकः, भिन्नकालो वा ? तुल्यकालोऽपि परोक्षः, स्वसंविदितो वा ? न तावत् परोक्षः,

---

एक तो ज्ञानान्य घटादि मे अन्य वस्तु की प्रकाशता दृष्टिगोचर नही है और दूसरे, घटादि जड है अतः उसके साथ प्रकाश का कोई सबध नही बैठ सकता । [अब व्याख्याकार बौद्ध के मुँह से इस विषय का कि घटादि प्रकाशमान होने से जड नही किन्तु विज्ञानमय है-समर्थन प्रस्तुत करते है]

[नीलादि स्वप्रकाश विज्ञानमय है-बौद्धमत]

बौद्धवादी भी ऐसा कह सकता है-जड वस्तु स्वय प्रकाशित नही होती, जैसे विज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है वैसे जड वस्तु स्वय प्रकाशित रहेगी तो उसे कोई जड नही कहेगा । दूसरे की सहायता से भी जड वस्तु प्रकाशित नही हो सकती क्योंकि नीलपदार्थ अथवा सुखादि से अमिलितरूप मे विज्ञान का सवेदन कभी नही होता है, अत एव नीलादि यदि वस्तुभूत माने तो वे विज्ञान से भिन्न नही है, अतः विज्ञानभिन्न नील-सुखादि पदार्थ असत् है ।

बाह्यार्थवादीः-'नील का प्रकाश (=ज्ञान)' इस प्रकार भासमान नीलादि से भिन्नरूप में ही नीलादि का प्रकाश अनुभवारूढ है । यदि प्रकाशमय ज्ञान से नीलादि को भिन्नरूप मे नही स्वीकारेंगे तो सवेदन का, 'नील का प्रकाश' इस तरह नीलादिभिन्नरूप मे प्रतिभास ही नही होगा ।

बौद्ध.-नील और नीलसवेदन का पृथग् पृथग् प्रतिभास सभवित ही नही है, क्योंकि प्रकाश से भिन्नरूप मे नीलादि का अनुभव नही होता और नीलादि से भिन्नरूप मे प्रकाश का भी अनुभव नही होता । कहीं भी प्रत्यक्ष से नील और नीलसवेदन के भेद की प्रतीति नही होती, अत. उन दोनो का भेद युक्त नही है । कारण, 'भेददर्शन का न होना' यह भेदविरोधी यानी अभेद पर अवलम्बित है, जैसे कि नील और नील के स्वरूप का अभेद है तभी तो उन दोनो की भेदप्रतीति नही होती ।

बाह्यवादीः-'नील का अनुभव' इस प्रकार की कल्पना नील और उसके अनुभव के भेद का स्पष्ट उल्लेख करती है उस का क्या ?

बौद्धः-भेद का उल्लेख तो अभेद रहने पर भी जगह जगह देखा जाता है जैसे कि 'शिलापुत्रक का शरीर,' (बाटने के पत्थर को शिलापुत्रक कहते हैं) अथवा 'नील का स्वरूप' । यहाँ शिलापुत्रक और उसके शरीर के बीच तथा नील और उसके स्वरूप के बीच वास्तव भेद नही है ।

बाह्यवादीः-'शिलापुत्रक का देह' इत्यादि मे तो प्रत्यक्षसिद्ध अभेद ही भेद का बाधक होने से यहाँ भेद का जो उल्लेख होता है वह सत्य नही है ।

बौद्धः-तो फिर नील और संवेदन का भी अभेद प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अतः यहाँ भी भेदोल्लेखी कल्पना स य नही है । जो भी प्रत्यक्ष सवेदन होता है वह नीलादिमिलितरूप से ही होता है अतः

यतः 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति' [ ] इत्यादिना स्वसंविदितत्वं ज्ञानस्य प्रसाधयन्तः एतत्पक्षं निराकरिष्यामः। नापि ज्ञानान्तरवेद्यः, अनवस्थादिदूषणस्यात्र पक्षे प्रदर्शयिष्यमाणत्वात्। स्वसंवेदनपक्षे तु यथाऽन्तर्निलीनो बोधः स्वसंविदितः,प्रतिभाति तथा तत्काले स्वतन्त्रयोः प्रतिभासनात् सव्येतरगोविषाणयोरिव न वेद्य-वेदकभावः। समानकालस्यापि बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वे नीलस्यापि तं प्रति ग्राहकताप्रसंगः।

'समानकालप्रतिभासाऽविशेषेऽपि बुद्धिर्नीलादीनां ग्रहणमुपरचयतीति ग्राहिका, नीलादयस्तु ग्राह्याः'-नैतदपि युक्तम्, यतो नील-बोधव्यतिरिक्ता न ग्रहणक्रिया प्रतिभाति। तथाहि-बोध. सुखास्पदीभूतो हृदि, बहिः स्फुटमुद्भासमानतनुश्च नीलादिराभाति न त्वपरा ग्रहणक्रिया प्रतिभासविषयः। तदनवभासे च न तया व्याप्यमानतया नीलादेः कर्मता युक्ता। भवतु वा नील-बोधव्यतिरिक्ता क्रिया, तथापि किं तस्या अपि स्वतः प्रतीतिः, यद्वाऽन्यत.? तत्र यदि स्वतोग्रहणक्रिया प्रतिभाति तथा सति बोधः, नीलम्, ग्रहणक्रिया चेति त्रय स्वरूपनिमग्नमेककालं प्रतिभातीति न कर्तृ-कर्म-क्रियाव्यवहृतिः। अथाऽन्यतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति। ननु तत्राप्यपरा ग्रहणक्रियोपेया, अन्यथा तस्या ग्राह्यताऽसिद्धेः पुनस्तत्राप्यपरा कर्मतानिबन्धनं क्रियोपेयेत्यनवस्था। तन्न ग्रहणक्रियाऽपराऽस्ति, तत्स्वरूपानवभासनात्। ततश्चान्तःसंवेदनम् बहिर्नीलादिकं च स्वप्रकाशमेवेति।

नीलादि और सवेदन का अभेद प्रत्यक्षसिद्ध ही है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नीलादि और सुखादि सवेदनाभिन्न होने से स्वप्रकाशात्मक ही भासित होते है, क्योकि नीलादि सुखादि से भिन्नरूप मे भासित नही होता अत: सवेदनभिन्न नीलादि की सत्ता नही है।

[भेदपक्ष में नीलादि में ग्राह्यत्व की अनुपपत्ति]

अथवा, नीलादि से सवेदन का भेद मान लिया जाय तो भी नीलादि मे विज्ञानग्राह्यता संगत नही है। जैसे देखिये-विज्ञानग्राह्यता मानने पर दो प्रश्न उठते है (१) समानकालीन विज्ञान नीलादि का प्रकाशक है या (२) भिन्नकालीन ? पहले विकल्प के ऊपर भी दो प्रश्न है-(A) समानकालीन विज्ञान परोक्ष है या (B) स्वयप्रकाशी है ? (A) परोक्ष विज्ञान वाला विकल्प ठीक नही है क्योकि आगे चलकर "परोक्ष विज्ञान स्वत प्रत्यक्ष न होने पर उससे अर्थ के प्रकाश की सिद्धि शक्य नही है" इत्यादि प्रस्ताव से जब ज्ञान का स्वत प्रकाशत्व सिद्ध किया जायेगा तब विज्ञानपरोक्षता का निराकरण किया जाने वाला है। विज्ञान को परोक्ष भी न माने और स्वयसविदित भी न माने किन्तु अन्य ज्ञान से वेद्य यानी अन्य ज्ञान से उसका प्रत्यक्ष मानेगें तो वह भी अशक्य है क्योकि इस पक्ष मे अनवस्थादि दोषो का सपात दिखाया जाने वाला है। (B) यदि विज्ञान को स्वयसविदित मानेगे तो निलादि और विज्ञान का वेद्य-वेदक भाव ही नही घटेगा, क्योकि जैसे अन्तर्मुखरूप से स्वसविदित ज्ञान का जिस काल मे भास होता है, उसी तरह उसकाल मे नीलादि भी स्वत. प्रकाशस्वरूप और बाह्य देश के सबन्धीरूप मे भासित होते है-इस प्रकार जब दोनो प्रतिभास समानकालीन हुए ता समानकाल मे उत्पन्न दाये-बायें गोविषाण मे जैसे वेद्य-वेदक भाव नही होना उसी प्रकार समानकाल मे भासमान नीलादि और विज्ञान मे भी वेद्य वेदक भाव नही घट सकता। फिर भी यदि समानकालीन विज्ञान को भासमान निलादि का ग्राहक कहेगे तो दूसरे वादी समानकालीन भासमान नीलादि को ही विज्ञान का ग्राहक कह सकेंगे-जो आपको अनिष्ट है-यह अतिप्रसग होगा।

"स्वसंवित्तिमात्रवादः साधीयान् यदि तद्यन्तर्निलीनो बोधो नीलादेर्न बोधकः किन्तु स्व-प्रकाश एवासौ, तथा सति 'नीलमहं वेद्मि' इति कर्म-कर्तृभावाभिनिवेशी प्रत्ययो न भवेत्, विषयस्य कर्म-कर्तृभावस्याऽभावात्" । ननु विषयमन्तरेणापि प्रत्ययो दृष्ट एव यथा शुक्तिकायां रजतावगमः। अथ बाधकोदयात् पुनर्भ्रान्तिरसौ, नीलादौ तु कर्मतादेर्न बाधाऽस्तीति सत्यता। नन्वत्रापि बोध-नीलादेः स्वरूपाऽसंसक्तस्य द्वयस्य स्वातन्त्र्योपलम्भोऽस्ति बाधकः कर्म-कर्तृभावोल्लेखस्य । अथ किमस्या भ्रान्तेर्निबन्धनम् ? नहि भ्रान्तिरपि निर्बीजा भवति । ननु पूर्वभ्रान्तिरेवोत्तरकर्म-कर्तृभावा-वगतेर्निबन्धनम्, पूर्वभ्रान्तिकर्मतादेरपि अपरा पूर्वभ्रान्तिरित्यनादिर्भ्रान्तिपरम्परा, कर्मतादिर्न तत्त्वम्।

[ग्रहणक्रिया असिद्ध होने से नीलादि में कर्मता अघटित]

यदि यह कहा जाय-नीलादि और विज्ञान का प्रतिभास तुल्यकालीन होने पर भी विज्ञान से ही नीलादि की ग्रहणक्रिया का उपक्रम किया जाता है, अतः विज्ञान ही ग्राहक है, नीलादि ग्राह्य है। यह भी युक्तिसंगत नही है। कारण, नील एवं विज्ञान से व्यतिरिक्त किसी ग्रहणक्रिया का कभी अनुभव नही होता। जैसे देखिये, भीतर मे सुख के अधिष्ठान रूप मे विज्ञान का और बाहर स्पष्टरूप से भासमानस्वरूप वाले नीलादि का अवभास होता है किन्तु ग्रहणक्रिया का प्रतिभास न तो भीतर होता है न बाह्य में। जब ग्रहणक्रिया का अवभास ही नही होता तो क्रिया से व्याप्यमानरूप मे नीलादि की कर्मता भी अयुक्त है। किसी के उपर क्रिया का लागू होना-यही क्रिया की व्याप्यमानता है और जिसके ऊपर क्रिया व्याप्यमान हो वह उसका कर्म कहा जाता है। प्रस्तुत मे ग्रहणक्रिया सिद्ध न होने से नीलादि को उसका कर्म यानी ग्राह्य नही मान सकते।

[ग्रहणक्रिया के स्वीकार में बाधक]

नीलादि और विज्ञान से व्यतिरिक्त क्रिया का स्वीकार करने पर भी दो प्रश्न का समाधान नही है-(१) उसकी प्रतीति स्वतः होती है (२) या परतः ? (१) यदि ग्रहणक्रिया स्वतः प्रति-भासित होती है तो अब विज्ञान, नीलादि और क्रिया-तीनो का अपने अपने स्वरूप मे अवस्थितरूप से एक ही काल मे प्रतिभास होगा-तो कर्त्ता-कर्म और क्रिया इस रूप से किसी का भी व्यवहार कैसे होगा ? (२) यदि क्रिया की प्रतीति परत. मानते है-तो पर यानी अन्य ग्रहणक्रिया को मानना होगा, वरना, उस प्रथम क्रिया में परतः ग्राह्यता ही सिद्ध नही होगी। उपरांत, दूसरी क्रिया उसका ग्राहक हुई तो ग्राह्यक्रिया ग्राहकक्रिया का कर्म तभी बनेगी जब तीसरी ग्रहणक्रिया का स्वीकार करें, क्योंकि उसके विना प्रथम-द्वितीय क्रिया मे क्रमशः ग्राह्य-ग्राहकता नही हो सकेगी। इस प्रकार नयी नयी ग्रहणक्रिया की कल्पना का कहीं अन्त नही आयेगा। अतः विज्ञान और नील से व्यतिरिक्त कोई ग्रहणक्रिया है नही, क्योंकि उसका स्वरूप अवभासित नही होता। निष्कर्षः-अन्तर्मुखरूप से जो विज्ञान रूप संवेदन है और बहिर्मुखरूप से जो नीलादि है, दोनो स्वप्रकाश ही सिद्ध होते हैं। तात्पर्य, नीलादि जड नही किन्तु विज्ञानस्वरूप ही है।

[कर्मकर्तृभावप्रतीति भ्रान्त है]

बाह्यवादीः-यदि स्वसंवेदनमात्र का प्रतिपादन अच्छा हो तब फलित यह होगा कि अन्तर्वर्त्ती विज्ञान बहिर्वृत्ति नीलादि का बोधक नही है किन्तु नीलादि स्वयं ही प्रकाशित होते हैं। इस स्थिति

अथवा 'नीलम्' इति प्रतीतिस्तावन्मात्राध्यवसायिनी पृथक्, 'अहम्' इत्यपि मतिरन्तरुल्लेखमुद्वहन्ती भिन्ना, 'वेद्मि' इत्यपि प्रतीतिरपरैव ततश्च परस्पराऽसंसक्तप्रतीतित्रितय क्रमवत् प्रतिभाति न कर्म-कर्तृभावः, तुल्यकालयोस्तस्याऽयोगात् भिन्नकालयोरप्यनवभासनान्न कर्मतादिगतिः कथञ्चित् सम्भविनी।

अथापि दर्शनात् प्राक् सन्नपि नीलात्मा न भाति तदुदये च भातीति कर्मता तस्य। नैतदपि साधीयः, यतः प्राग् भावोऽर्थस्य न सिद्धः। दर्शनेन स्वकालावधेरर्थस्य ग्रहणाद् दर्शनकाले हि नीलमाभाति न तु ततः प्राक्, तत् कथं पूर्वभावोऽर्थस्य सिध्येत्, तस्य दर्शनस्य पूर्वकाले विरहात्? न च तत्काले दर्शनं प्रागर्थसन्निधिं व्यनक्ति, सर्वदा तत्प्रतिभासप्रसंगात्। अथाऽन्येन दर्शनेन प्रागर्थः प्रतीयते, ननु तद्दर्शनादपि प्राक् सद्भावोऽर्थस्यान्येनावसेय इत्यनवस्था। तस्मात् सर्वस्य नीलादेर्दर्शनकाले प्रतिभासनान्न तत्पूर्वं सत्ता सिध्यति।

में "मैं नील को जानता हूँ' इस प्रकार की कर्म-कर्तृभाव से अभिनिविष्ट यानी गर्भित प्रतीति न हो-सकेगी, कारण, कर्मकर्तृभाव किसी भी विषय का धर्म नही है।

विज्ञानवादीः-नीलादि और विज्ञान मे कर्म-कर्तृभाव प्रतीत होता है इतने मात्र से कर्मकर्तृभाव वास्तविक नही हो जाता क्योंकि विषय के विना भी कितनी प्रतीतियाँ उत्पन्न हो जाती है जैसे सीप में रजतबुद्धि रजत के विना भी होती है।

बाह्यवादी-वहाँ तो पीछे 'यह रजत नही है' इस प्रकार का बाधक ज्ञान होता है अत सीप में रजतबुद्धि भ्रान्तिस्वरूप है, किन्तु नीलादि में होने वाली कर्मत्वादि की बुद्धि तो सत्य ही है क्योंकि उसके पीछे कोई बाधक ज्ञान होता नही है।

विज्ञानवादीः-नीलादि और विज्ञान का, दोनो का अपना अपना स्वतन्त्र बोध एक दूसरे के स्वरूप से अनुपरक्तरूप से होता है, यह स्वतन्त्रबोध ही कर्म-कर्तृभाव के उल्लेख का बाधक होगा, क्योंकि कर्म-कर्तृभाव एक दूसरे पर अवलम्बित है।

बाह्यवादीः-कोई भी भ्रान्ति दोषमूलक ही होती है तो यहाँ कर्मकर्तृभाव का उल्लेख यदि भ्रान्त हो तो वहाँ कौन सा दोष भ्रमत्वापादक है?

विज्ञानवादीः-भ्रम का मूल पूर्वभ्रम ही होता है तो यहाँ भी पूर्वकालीन कर्म-कर्तृभाव की भ्रान्ति ही उत्तरकालीन कर्मकर्तृभाव की भ्रान्ति का कारण है। पूर्वकालीन भ्रान्ति मे कर्मतादि का कारण उससे भी पूर्वकालीन भ्रान्ति है, इस प्रकार यह भ्रान्तिपरम्परा अनादि काल से चली आ रही है। अतः कर्मता, कर्तृतादि वास्तव 'तत्त्व' नही है।

[कर्मकर्तृभाव की प्रतीति भी अनुपपन्न]

कर्म-कर्तृभाव वास्तव न होने मे दूसरा भी विकल्प है-'नीलम्' इस प्रकार केवल नीलमात्र की अवभासक एक अलग प्रतीति है। तथा, 'अहम्' इसप्रकार आन्तरिक उल्लेख को धारण करती हुई एक अलग प्रतीति है। और 'वेद्मि' इस प्रकार ज्ञान की एक अलग प्रतीति है। परस्पर अमिलितरूप मे ये तीनो प्रतीति क्रमश "मैं नील को जानता हूँ" इस प्रकार होती है, किन्तु कर्मकर्तृभाव तो कही भी प्रतीत नही होता, क्योंकि उन तीन प्रतीतियो को समानकालीन मानने पर कर्म-कर्तृभाव नही

अथापि 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति व्यवसायात् प्रागर्थः सिध्यति, प्रागर्थसत्तां विना दृश्यमानस्य पूर्वदृष्टेनैकत्वगतेरयोगात्। केन पुनरेकत्वं तयोर्गम्यते? किमिदानीन्तनदर्शनेन पूर्वदर्शनेन वा? न तावत् पूर्वदर्शनेन, तत्र तत्कालावधेरेवार्थस्य प्रतिभासनात्। न हि तेन स्वप्रतिभासिनोऽर्थस्य वर्त्तमानकालदर्शनव्याप्तिरवसीयते, तत्काले साम्प्रतिकदर्शनादेरभावात्। न चासत् प्रतिभाति, दर्शनस्य वितथत्वप्रसंगात्। नापीदानीन्तनदर्शनेन पूर्वदर्शनादिव्याप्तिर्नीलादेरवसीयते, तद्दर्शनकाले पूर्वदृक्कालस्यास्तमयात्। न चाऽस्तमितपूर्वदर्शनादिसंस्पर्शमवतरति प्रत्यक्षम्, वितथत्वप्रसंगादेव। तस्माद् अपास्ततत्पूर्वदृगादियोगं सर्वं वस्तु दृशा गृह्यते। 'पूर्वदृष्टतां तु स्मृतिरुल्लिखति' तदपास्तम्, दृष्टतोल्लेखाभावात्। न च 'स एवायम्' इति प्रतीतिरेका, 'सः' इति स्मृतिरूपम्, 'अयम्' इति तु दृशः स्वरूपम्, तत्परोक्षाऽपरोक्षाकारत्वान्नैकस्वभावौ प्रत्ययौ, तत् कुतस्तत्त्वसिद्धिः?

घट सकता, कर्म-कर्तृ भाव भिन्नकालीन वस्तु मे ही शक्य है। यदि तीनो को भिन्नकालीन माने तो भी तीनो का स्वतन्त्र प्रतिभास होता है, कर्म या कर्त्ता रूप से नही होता, अतः कर्मता आदि का किसी भी प्रकार उपलम्भ संभव नही है।

यदि ऐसा कहा जाय-दर्शन (निर्विकल्पक ज्ञान) के पूर्वकाल मे नीलादि की सत्ता होने पर भी उसका भान नही होता, और दर्शन का उदय होने पर ही उसका भान होता है, अतः नीलादि में दर्शननिरूपित कर्मता सिद्ध होती है।-तो यह ठीक नही है क्योकि दर्शन से पूर्वकाल मे अर्थसत्ता सिद्ध नही है। दर्शन से केवल अपने काल मे विद्यमान ही अर्थ का ग्रहण होता है, अतः नीलादि का भान भी दर्शन के समान काल मे ही होता है, उसके पूर्वकाल मे नही होता, तो जब अर्थसत्ताग्राहक दर्शन ही पूर्व काल मे नही है तो अर्थ की पूर्वकालीन सत्ता कैसे सिद्ध होगी? ऐसा नही है कि इस काल का दर्शन पूर्वकालीन अर्थ के सद्भाव को व्यक्त करे-यदि ऐसा होता तब तो एक ही अर्थ का प्रतिभास सतत ही उत्तरकालीन दर्शनों से होता ही रहेगा। यदि दूसरे पूर्वकालीन दर्शन से पूर्वकालीन अर्थ की प्रतीति मानेंगे तो पूर्वकालीन दर्शन के भी पूर्वकाल मे अर्थ के सद्भाव का साधक अन्य दर्शन मानना पडेगा, इस प्रकार पूर्व पूर्व अर्थसत्ता का साधक पूर्व-पूर्व दर्शन मानते रहेंगे तो कही भी उसका अन्त न आयेगा। इस अनवस्था दोष के कारण यही मानना पडेगा कि हर कोई नीलादि अपने दर्शन काल मे ही प्रतिभासित होते है। ऐसा मानेंगे तब तो दर्शन के पूर्वकाल मे अर्थ की सिद्ध नही हो सकती।

[विज्ञान के पूर्वकाल में अर्थसत्ता की असिद्धि]

बाह्यवादी -'पूर्वदृष्ट को देखता हूं' इस प्रकार के व्यवसाय (=दर्शन) से पूर्वकाल मे अर्थसत्ता सिद्ध होती है, यदि पूर्वकाल मे अर्थ न होता तो वर्तमान मे दृश्यमान और पूर्वदृष्ट वस्तु के ऐक्य की प्रतीति का उदय न होता।

विज्ञानवादीः-किस व्यवसाय से आप पूर्वदृष्ट और दृश्यमान के ऐक्य की बात करते हैं? (१) वर्त्तमानकालीन दर्शन से या (२) पूर्वकालीन दर्शन से? (२) पूर्वकालीन दर्शन से ऐक्य का भान शक्य नही है, क्योकि पूर्वकालीनदर्शन मे पूर्वकालावधिक अर्थ का ही प्रतिभास शक्य है। पूर्वकालीनदर्शन से 'अपने मे भासमान अर्थ वर्त्तमान काल तक रहने वाला है' इस प्रकार का अवगाहन शक्य नही है, क्योकि पूर्वकाल मे वर्तमानकालावगाहि दर्शन का ही अभाव है। यह भी नही कह सकते कि 'उत्तरकालीन दर्शन यद्यपि पूर्वकाल मे असत् है तो भी उसका प्रतिभास पूर्वकालीन दर्शन मे होता है।'

अथानुमानात् प्राग्भावोऽर्थस्य सिध्यति, प्राक् सत्तां विना पश्चाद्दर्शनाऽयोगादिति । तदप्यसत्, यतः पश्चाद्दर्शनस्य प्राक्सत्ताया: सम्बन्धो न सिद्धः, प्राक् सत्ताया. कथंचिदप्यसिद्धेः । न चाऽसिद्धया सत्तया व्याप्तं पश्चाद्दर्शनं सिध्यति, येन ततस्तत्सिद्धिः । अथ 'यदि प्रागर्थमन्तरेण दर्शनमुदयमासादयति तथा सति नियामकाभावात् सर्वत्र सर्वदा सर्वाकारं तद् भवेत्' । नायमपि दोषः, नियतवासनाप्रबोधेन संवेदननियमात् । तथाहि–स्वप्नावस्थायां वासनाबलाद्दर्शनस्य देशकालाकारनियमो दृष्ट इति जाग्रद्दशायामपि तत एवासौ युक्तः । अर्थस्य तु न सत्ता सिद्धा, नापि तद्भेदात् संवित्तिनियम इति, तन्न ततः संविद्वैचित्र्यम् तस्मान्न कथंचिदपि नीलादेः प्राक् सत्तासिद्धिः ।

कारण, पूर्वकालीन दर्शन असद्विषयक हो जाने पर जूठा यानी अप्रमाण हो जायेगा । (१) तथा, वर्त्तमानकालीन दर्शन से, 'वर्त्तमाननीलादि पूर्वकालीन दर्शन के भी विषय थे' इस प्रकार की व्याप्ति का अवगाहन भी अशक्य है, क्योकि वर्त्तमान दर्शन के काल मे पूर्वदर्शनकाल तो समाप्त हो चुका है। प्रत्यक्षदर्शन, अस्त हो जाने वाले पूर्वदर्शनादि को विषय नही कर सकता । यदि विषय करेगा भी तो अस्त हो जाने से वर्त्तमान मे असत् बने हुए पूर्वदर्शन को विषय करने से वह भी असद्विषयक यानी अप्रमाण माना जायेगा । निष्कर्ष यह आया कि दृग् (=दर्शन) से सभी वस्तु का पूर्वकालीनदर्शनादिसंबध से विनिर्मुक्तरूप से ही ग्रहण होता है । इस से 'दर्शन नही तो स्मृति पूर्वदृष्टता का उल्लेख करती है' इस कथन का भी निराकरण हो जाता है, क्योकि किसी भी ज्ञान से पूर्वोक्तरीति से पूर्वदृष्टता का उल्लेख होता नही है । प्रत्यभिज्ञा से भी पूर्वदृष्ट और दृश्यमान का ऐक्य भासित नही होता, क्योकि 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा वास्तव मे एक प्रतीतिरूप नही किन्तु स्मृति और दर्शन का मिश्रण है । "वह" इस प्रकार की प्रतीति स्मरणरूप है और "यह" इस प्रकार की प्रतीति दृग्(=दर्शन)स्वरूप है । इसमें स्मरण परोक्ष है और दर्शन अपरोक्ष है, परोक्ष और अपरोक्ष आकार परस्पर विरोधी होने से उन दो प्रतीतियो का ऐक्य=एकस्वभावत्व सभव नही है । तब दिखाईये, कैसे पूर्वकाल मे अर्थ की सत्ता सिद्ध होगी ?

[पूर्वकाल में अर्थसत्ता की अनुमान से सिद्धि दुष्कर]

यदि कहा जाय–अनुमान से पूर्वकालीन अर्थसत्ता सिद्ध है जैसे· 'अर्थ पूर्वकाल मे सत् था, [illegible]कि उत्तरकालीन दर्शन का विषय है' । उत्तरकाल मे अर्थ का दर्शन पूर्वकाल मे उसकी सत्ता के विना [illegible]ी घट सकता ।-तो यह भी ठीक नही है । क्योकि पश्चाद् (=उत्तरकालीन) दर्शन और पूर्वका-[illegible]न सत्ता इन दोनो के बीच व्याप्तिनामक सबध ही सिद्ध नही है–इस का भी कारण यही है कि किसी प्रमाण से अर्थ की प्राक् सत्ता सिद्ध नही है । पूर्वकालीन सत्ता ही जब असिद्ध है तब उसके साथ [illegible]चाद् दर्शन का व्याप्ति सबध कैसे सिद्ध होगा ? जब व्याप्ति असिद्ध है तब पश्चाद् दर्शन से पूर्वकालीन सत्ता भी कैसे सिद्ध होगी ? यदि कहे कि-'पूर्वकाल मे अर्थ की सत्ता के विना ही दर्शन का उदय हो जायेगा तो फिर दर्शन के आकार आदि का किसी भी नियामक न होने से सदा के लिये सर्वत्र सभी नील–पीतादि आकारवाला दर्शन उत्पन्न होता रहेगा'–यह कोई महत्त्वपूर्ण दोष नही है, क्योकि सवेदन मे काल–देश और आकार का नियामक नियत प्रकार की वासना का उद्बोध ही है । जैसे. स्वप्नदशा मे दर्शन के काल, देश और आकार का नियम वासना के ही प्रभाव से होता है तो जागृति दशा मे भी उसीसे वह नियम मानना अयुक्त नही है । आप अर्थ को नियामक दिखाना चाहते हैं किन्तु उसकी

अथ पूर्वसत्ताविरहे किं प्रमाणम् ? नन्वनुपलब्धिरेव प्रमाणम्-यदि नीलं पूर्वकालसम्बन्धि-स्वरूपं स्यात् तेनैव रूपेणोपलभ्येत, न च तथा, दर्शनकालभुवः सर्वदा प्रतिभासनात्। यच्च येनैव रूपेण प्रतिभाति तत् तेनैव रूपेणास्ति, यथा नीलं नीलरूपतयावभासमानं तथैव सत् न पीतादिरूपतया, सर्वं चोपलभ्यमानं रूपं वर्त्तमानकालतयैव प्रतिभाति न पूर्वादितया, तन्न पूर्वं सत्ताऽर्थस्य।

अथ नीलं तद्दर्शनविरतावपि परदृशि प्रतिभातीति साधारणतया ग्राह्यम्, विज्ञानं त्वसाधारणतया प्रकाशकम्। नैतदपि युक्तम्, यतो नीलस्य न साधारणतया सिद्धः प्रतिभासः, प्रत्यक्षेण स्वप्रतिभासितताया एवावगतेः। नहि नीलं परदृशि प्रतिभातीत्यत्र प्रमाणमस्ति, परदृशोऽनधिगमे नीलादेस्तद्वेद्यताऽनधिगतेः।

अथानुमानेन नीलादीनां साधारणता प्रतीयते-यथैव हि स्वसन्ताने नीलदर्शनात् तदादानार्था प्रवृत्तिस्तथाऽपरसन्तानेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् तद्विषयं दर्शनमनुमीयते। नैतदप्यस्ति, अनुमानेन स्वपर-दर्शनभृतो नीलादेरेकताऽसिद्धेः। तद्धि सदृशव्यवहारदर्शनादुपजायमानं स्वदृष्टसदृशतां परदृष्टस्य प्रतिपादयेत्, यथाऽपरधूमदर्शनात् पूर्वसदृशं दहनमधिगन्तुमीशो न तु तमेव पूर्वदृष्टम्, सामान्येनान्वयपरिच्छेदात्। तन्नानुमानतोऽपि ग्राह्याकारस्यैकता।

स्वतत्र सत्ता ही सिद्ध नही है तो उसके भेद से सवेदनो का कालादिभेदनियम नही बन सकता। अत: सवेदन की विचित्रता का आधार अर्थ है ही नही। साराश, किसी भी प्रकार से दर्शन के पूर्वकाल मे नीलादि अर्थ की सत्ता सिद्ध नही होती।

[पूर्वकाल में सत्ता न होने में अनुपलब्धि प्रमाण]

प्रश्न-पूर्वकालीन सत्ता मे कोई प्रमाण जैसे नही है वैसे पूर्वकाल मे सत्ता का अभाव मानने मे कौनसा प्रमाण है ?

उत्तर:-अनुपलब्धि ही यहाँ प्रमाण है-नीलादि का स्वरूप यदि पूर्वकालसवद्ध भी होता तो पूर्वकालसवन्धिरूप से उसकी उपलब्धि भी होती, किन्तु नही होती है, जब भी उसका प्रतिभास होता है, 'दर्शन का वह समानकालीन है' इस रूप मे ही होता है। जिस वस्तु का जिस रूप से प्रतिभास हो, उस रूप से ही उस वस्तु का सद्भाव मानना चाहिये, जैसे नील पदार्थ नीलरूप से अवभासित होता है, तो वह, नील-रूप से ही सत् माना जाता है, पीतादिरूप से नही। उपलब्ध होने वाली सभी वस्तु वर्त्तमानकालसवधिरूप से ही उपलब्ध होती है, पूर्वकालसवधीरूप से उपलब्ध नही होती, अतः पूर्वकाल मे अर्थ की सत्ता असत् है।

[नीलादि अन्यदर्शनसाधारण नहीं है]

यदि यह कहा जाय नीलपदार्थ एक व्यक्ति के दर्शन मे प्रतिभासित होने के बाद अन्य व्यक्ति के दर्शन मे भी प्रतिभासित होता है, इस प्रकार नीलादि अनेक दर्शन साधारण होने से उसे ग्राह्य मानना चाहिये, तथा दर्शन तो केवल एक ही व्यक्ति को भासित होने से असाधारण हुआ अत: उसको ग्राहक या प्रकाशक मानना चाहिये।-तो यह भी युक्त नही, कारण, 'नीलपदार्थ अनेकदर्शन साधारण है' इस प्रकार का प्रतिभास किसी को नही होता, अत. असिद्ध है। प्रत्यक्ष तो केवल इतना ही जान सकता है कि 'यह मेरे मे प्रतिभासित है' किन्तु यह नही जानता कि 'यह दूसरे सविद् मे भी भासता है'। इस

ननु भेदोऽप्यस्य न सिद्ध एव । प्रतिभासभेदे सति कथमसिद्धः परप्रतिभासपरिहारेण स्वप्रतिभासान् स्वप्रतिभासपरिहारेण च परप्रतिभासान् विवेकस्वभावान् व्यतिरेचयति, अन्यथा तस्याऽयोगात् ? ततः स्वपरदृष्टस्य नीलादेः प्रतिभासभेदात् व्यवहारे तुल्येऽपि भेद एव, इतरथा रोमाञ्चनिकरसदृशकार्यदर्शनात् सुखादेरपि स्व-परसन्तानभुवस्तत्त्वं भवेत् । अथापि सन्तानभेदात् सुखादेर्भेदः । ननु सन्तानभेदोऽपि किमन्यभेदात् ? तथा चेदनवस्था । अथ तस्य स्वरूपभेदाद् भेदः, सुखादेरपि तर्हि स एवास्तु, अन्यथा भेदाऽसिद्धेः । नह्यन्यभेदादन्यद् भिन्नम्, अतिप्रसंगात् । नीलादेरपि स्व-परप्रतिभासिनः प्रतिभासभेदोऽस्ति-इति नैकता ।

प्रकार 'नीलपदार्थ अन्य के दर्शन मे भी प्रतिभासित होता है' इसमे कोई प्रमाण नही है क्योंकि ऐसा ज्ञान करने के लिये अन्यदीय दर्शन का भी बोध होना चाहिये, उसके विना नीलादि अन्य के दर्शन का वेद्य=विषय है यह अज्ञात ही रहता है ।

[अनुमान से भी अन्यदर्शन साधारणता की सिद्धि दुष्कर]

यदि यह कहा जाय-नीलादि मे अनेकदर्शनसाधारणता अनुमान से व्यक्त होती है, वह इस प्रकार-एक व्यक्ति के सन्तान मे जैसे नीलदर्शन से नीलग्रहणार्थ प्रवृत्ति दिखायी देती है, वैसे अन्यव्यक्ति के संतान मे भी उसी नील के ग्रहणार्थ प्रवृत्ति दिखायी देती है, यह उसी नील की अन्यदर्शनग्राह्यता के विना नही हो सकता, अत अन्यसतानगतदर्शन की विषयता नीलादि मे सिद्ध होगी ।-तो यह भी ठीक नही है । कारण, स्वदर्शनविषयीभूत नीलादि और अन्यदर्शनविषयीभूत नीलादि मे अनुमान से ऐक्य सिद्धि दुष्कर है । अनुमान तो समानरूप से नीलग्रहण मे प्रवृत्ति को देखकर उत्पन्न होता है तो उससे केवल स्वदृष्ट नीलादि और परदृष्ट नीलादि मे सादृश्य का प्रकाशन हो सकता है, ऐक्य का नही । जैसे पाकशाला मे धूम-अग्नि का साहचर्य देखने के बाद पर्वतादि मे नये धूम को देख कर पूर्वदृष्ट दहन का अनुमान नही होता किन्तु तत्सदृश नये ही अग्नि का अनुमान होता है, क्योकि व्याप्ति का ग्रहण सामान्यधर्मपुरस्कारेण होता है । निष्कर्ष, ग्राह्याकारो मे अनुमान से भी ऐक्य सिद्ध नही ।

[प्रतिभास भेद से नीलादिभेद की सिद्धि]

बाह्यवादी: स्व-परदर्शनविषयीभूत नीलादि मे अभेद सिद्ध नही है तो भेद भी कहाँ सिद्ध है ?

विज्ञानवादी:-जब दोनो का स्व-पर प्रतिभास ही भिन्न है तो नीलादि का भेद क्यो सिद्ध नही होगा । नीलादि का भेद सिद्ध है तभी तो पर प्रतिभास को छोड कर भिन्न स्वभाववाले स्वकीय प्रतिभासो को अलग कर देता है और स्वप्रतिभास को छोड कर भिन्न स्वभाववाले पर प्रतिभासो को अलग कर देता है, यदि नीलादि मे भेद नही होता तो स्व-पर प्रतिभासो मे भेद ही नही हो सकेगा । इस से यह सिद्ध होता है कि स्वदृष्ट और परदृष्ट नीलादि मे तुल्य व्यवहार होने पर भी प्रतिभास के भेद से भेद ही है । वरना, स्वसन्तान और पर सन्तान मे रोमाच का उद्भेद आदि तुल्य कार्य के दर्शन से स्व-पर दोनो सन्तानो में होने वाले सुखादि भी अभिन्न हो जायेगे । यदि कहे कि यहाँ तो सुखादि के आधारभूत सन्तान भिन्न भिन्न होने से ऐक्यापत्ति नही है तो दूसरा प्रश्न यह होगा कि सन्तानो का भेद ही कैसे सिद्ध है ? यदि दूसरे किसी दो वस्तु के भेद से सन्तानभेद सिद्ध करेंगे तो उन दो वस्तु का भेद कैसे सिद्ध हुआ-इस प्रकार प्रश्न परम्परा का अन्त नही आयेगा । इस अनवस्था दोष से बचने के

अथ देशैकत्वादेकत्वम् । ननु देशस्यापि स्व-परदृष्टस्यानन्तरोक्तन्यायाद् नैकता युक्ता । तस्माद् ग्राहकाकारवत् प्रतिपुरुषमुद्भासमानं नीलादिकमपि भिन्नमेव । तच्चैककालोपलम्भाद् ग्राहकवत् स्वप्रकाशम् । अथ ग्राहकाकारश्चिद्रूपत्वाद् वेदको नीलाकारस्तु जडत्वाद् ग्राह्यः । अत्रोच्यते-किमिदं बोधस्य चिद्रूपत्वम् ? यद्यपरोक्ष स्वरूपं, नीलादेरपि तर्हि तदस्तीति न जडता । अथ नीलादेरपरोक्षस्वरूपमन्यस्माद् भवतीति ग्राह्यम् । ननु बोधस्यापि स्वस्वरूपमिन्द्रियादेर्भवतीति ग्राह्यं स्यात् । अथ यद् इन्द्रियादिकार्यं न तद् वेद्यम्, नीलादिकमपि तर्हि नयनादिकार्यमस्तु न तु ग्राह्यम् ।

अथ बोधो बोधस्वरूपतया नित्यो नीलादिकस्तु प्रकाश्यरूपतयाऽनित्य इति ग्राह्य. । तदप्यसत्, स्तम्भादेर्नयनादिबलादुदेति रूपमपरोक्षत्वम्, तदनित्यः स्तम्भादिर्भवतु, ग्राह्यस्तु कथम् ? न हि यद् यस्मादुत्पद्यते तत्तस्य वेद्यम्, अतिप्रसंगात् । तस्मादपरोक्षस्वरूपा स्तम्भादयः स्वप्रकाशाः बोधस्तु नित्योऽनित्यो वा तत्काले केवलमुद्भाति, न तु वेदक., द्वयोरपि परस्परं ग्राह्य-ग्राहकतापत्तेः ।

अथ नीलोन्मुखत्वाद् बोधो ग्राहकः । किमिदं तदुन्मुखत्वं नाम बोधस्य ? यदि नीलकाले सत्ता सा नीलस्यापि तत्काले समस्तीति नीलमपि बोधस्य वेदकं स्यात् । अथान्यदुन्मुखत्व तत्, तर्हि स्व-

---

लिये अगर सन्तानभेद को स्वत यानी अपने स्वरूप की भिन्नता से प्रयुक्त ही मान लेंगे तो सुखादिभेद को सन्तानभेद प्रयुक्त मानने की जरूर नही रहेगी, वह भी स्वत ही यानी स्वरूपभेद से ही माना जायेगा । यदि स्वरूपभेद से भेद नही मानेगे तो कही भी भेदसिद्धि न हो सकेगी । यह ठीक नही है कि अन्य दो वस्तु के भेद से अन्यत्र दो वस्तु का भेद माना जाय, क्योकि यहाँ ऐसा अतिप्रसग होगा कि घट-पट के भेद से शकट-लकुट का भेद होने लगेगा । उपरात, स्वदर्शन मे और परदर्शन मे भासमान नीलादि भी प्रतिभासभेद से अनायास भिन्न हो जायेगे तो स्वदृष्ट-परदृष्ट नीलादि मे ऐक्यसिद्धि दूर है ।

[स्व-पर दृष्ट नीलादि में ऐक्य की असिद्धि]

यदि, अपने को जहाँ नीलादि दिखता है वहाँ ही दूसरे को भी दिखता है इस प्रकार दोनो का देश एक ही होने से स्वदृष्ट परदृष्ट नीलादि मे एकत्व सिद्ध किया जाय तो यह भी ठीक नही है क्योकि पूर्वोक्तरीति से स्वदृष्ट देश और परदृष्ट देश का प्रतिभास भिन्न भिन्न होने से देशभेद ही सिद्ध होता है, तो देश की एकता मानना अयुक्त है । [अथवा सदृशदर्शन से ही वहाँ देश-ऐक्य की बुद्धि होती है, वास्तव मे वहाँ देश-ऐक्य असिद्ध है] इस से यही फलित होता है कि भिन्न भिन्न व्यक्तिओ का ग्राहक आकार यानी विज्ञान जैसे भिन्न भिन्न होता है वैसे ही ग्राह्य नीलादि भी भिन्न भिन्न ही है और यह नीलादि भी विज्ञानवत् स्वप्रकाश ही है क्योकि विज्ञान और नीलादि का एक ही काल मे उपलम्भ होता है ।

[नीलाकार में ग्राह्यता की अनुपपत्ति]

यदि ग्राहकाकार विज्ञान चित्स्वरूप होने से उसको वेदक माना जाय और नीलाकार की ग्राह्यता जडताप्रयुक्त मानी जाय तो यहाँ प्रश्न है कि विज्ञान चित्स्वरूप है' इस का क्या मतलब ? 'अपना स्वरूप अपरोक्ष होना यह चित्स्वरूपता' मानेगे तो नीलादि का भी स्वरूप अपरोक्ष ही है अतः उसकी जडता अयुक्तिक हुयी । यदि नीलादि की अपरोक्षता परावलम्वी (विज्ञान पर आधारित) होने से उसे ग्राह्य, केवल ग्राह्य ही माना जाय तो विज्ञान को भी ग्राह्य ही कहना होगा क्योकि विज्ञान का स्वरूप भी इन्द्रियादि पर ही अवलम्बित होता है । यदि-'जो इन्द्रिय का कार्य हो वह वेद्य (ग्राह्य)

रूपनिमग्नं चकासत् तृतीयं स्वरूपं भवेत् । तथाहि-तस्य तदु-मुखत्वं तद्व्यापार', स च व्यापारो यदि नीले व्याप्रियते तदा तत्राप्यपरो व्यापार इत्यनवस्था । अथ न व्याप्रियते, न तद्बलाद् बोधस्य ग्राहकत्वं नीलादेस्तु ग्राह्यत्वम् । अथ व्यापारस्यापरव्यापारव्यतिरेकेणापि नीलं प्रति व्यापृतिरूपता, तस्य तद्रूपत्वात् । ननु नीलस्यापि स्वं स्वरूपं विद्यते इति बोधं प्रति ग्रहणव्यापृतिः स्यात् ।

किंच, बोधेन यदि नीलं प्रति ग्रहणक्रिया जन्यते सा नीलाद् भिन्नाऽभिन्ना वा ? भिन्ना चेत् ? न तया तस्य ग्राह्यत्वम् , भिन्नत्वादेव । अथाभिन्ना तर्हि नीलादेर्ज्ञानरूपता, ज्ञानजन्यत्वादुत्तर-ज्ञानक्षणवत् । अथ ज्ञानस्यैवंभूता शक्तिर्येन तस्य नीलं प्रति ग्राहकता, नीलादेस्तु तं प्रति ग्राह्यता । ननु बोधस्य ग्राहकत्वे नीलादेस्तु ग्राह्यत्वे सिद्धे शक्तिपरिकल्पना युक्ता, शक्तेः कार्यानुमेयत्वात् ,

---

नही होता' इस व्याप्ति के आधार पर विज्ञान को अवेद्य कहेंगे तो इसमे हमे कोई आपत्ति नही है क्योंकि हम नीलादि को नेत्रादि का ही कार्य मान लेते है, अब तो वह ग्राह्य कैसे होगा ?

[नित्य-अनित्य भेद से ग्राह्यत्व की उपपत्ति अशक्य]

यदि ऐसा कहा जाय-विज्ञान बोधस्वरूप है और नीलादि प्रकाश्य यानी बोध्यस्वरूप है, बोध-स्वरूपता निरपेक्ष होने से बोध नित्य होता है और नीलादि की बोध्यस्वरूपता बोधाधीन होने से वह नीलादि अनित्य होता है, जो अनित्य है वही ग्राह्य है ।-तो यह बात ठीक नही है, स्तम्भादि पदार्थो का अपरोक्षतास्वरूप नेत्रादि इन्द्रियो से उत्पन्न होता है तो स्तम्भादि को भले ही अनित्य मानो किन्तु इतने मात्र से वह ग्राह्य कैसे हो गया ? 'जो जिस से उत्पन्न होता हो वह उसका ग्राह्य' ऐसा कोई नियम नही है । वरना, मिट्टी से उत्पन्न घट मिट्टी का ग्राह्य बन जाने का अतिप्रसग होगा । इस कारण, अपरोक्षस्वरूपवाले स्तम्भादि को स्वप्रकाश ही मानना ठीक है । बोध, जिस को आप नित्य बता रहे हो वह चाहे नित्य हो या अनित्य, (बौद्धमत मे तो अनित्य ही है) किन्तु वह भी उसी काल मे भासित होता है जिस काल मे स्तम्भादि भासित होते हैं, अत. बोध को वेदक (=ग्राहक) बताना अयुक्त है । कारण, समानकाल मे भासित होने वाले दो पदार्थो मे किस को ग्राहक कहे और किस को ग्राह्य-इसमे कोई विनिगमना न होने से यदि ग्राह्य-ग्राहकभाव मानना ही है तो दोनो को अन्योन्य ग्राह्य-ग्राहक मानने की आपत्ति होगी ।

[उन्मुखत्वस्वरूप ग्राहकत्व की अनुपपत्ति]

यदि बोध नीलादि-उन्मुख होने से ग्राहक माना जाय तो यहाँ प्रश्न है कि यह नीलादि-उन्मुखता क्या है ? 'नीलादि काल मे बोध की सत्ता' यही नीलादि-उन्मुखता हो तब तो 'बोध काल मे नीलादिसत्ता' रूप बोधोन्मुखता नीलादि मे भी युक्ति युक्त होने से नीलादि भी बोध का ग्राहक बन जायेगा । यदि कुछ अन्यस्वरूप (यानी नीलादिग्रहणव्यापाररूप) ही उन्मुखता मानी जाय तो वह उन्मुखता भी अपने स्वरूप मे अवस्थित होकर भासेगी और वह स्वप्रकाश वस्तु का तीसरा स्वरूप हुआ । [एक तो बोधस्वरूप विज्ञान दूसरा बोध्यस्वरूप नीलादि और तीसरा ग्रहणस्वरूप व्यापार] जैसे देखिये, बोध की नीलोन्मुखता यह नीलग्रहणव्यापार स्वरूप होगी, और यह व्यापार यदि नील के प्रति व्याप्रि-प्रमाण (यानी सक्रिय होगा) तो व्यापार का भी अन्य व्यापार मानना होगा क्योंकि उसके बिना वह व्याप्रियमाण नही हो सकेगा, इस प्रकार नये नये व्यापार को मानने मे अनवस्था दोष होगा । यदि वह व्याप्रियमाण न माना जाय (अर्थात् निष्क्रिय माना जाय) तो उ‹.के बल से बोध मे ग्राहकता

तदसिद्धौ तु तत्परिकल्पनमयुक्तम्, इतरेतराश्रयप्रसंगात् । तथाहि-बोधस्य शक्तिविशेषसिद्धेर्नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तच्छक्तिसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । तन्न बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः । तस्माद् व्यतिरिक्तेऽपि बोधेऽभ्युपगते सहोपलम्भनियमात् स्वसंवेदनमेव युक्तम् ।

परमार्थतस्तु सुखादयो नीलादयश्चापरोक्षा इत्येतावदेव भाति, निराकारस्तु बोधः स्वप्नेऽपि नोपलभ्यते इति न तस्य सद्भाव इति कथं तस्यार्थग्राहकत्वम् ? अत एव ते प्रमाणयन्ति-इह खलु यद् प्रतिभाति तदेव सद्व्यवहृतिपथमवतरति, यथा हृदि प्रकाशमानवपु सुखम्, न तत्काले पीडाऽनुद्भासमाना समस्ति, विज्ञप्तिरेव च नीलादिरूपतया सकलतनुभृतामाभातीति स्वभावहेतुः । तदेवमर्थग्राहकत्वस्याप्यसिद्धेः, जडस्य प्रकाशविरुद्धत्वाच्च नार्थग्राहकत्वमपि बौद्धदृष्ट्या युक्तम् ।

और नीलादि मे ग्राह्यता का होना नही मान सकेंगे । यदि ऐसा कहे कि-'व्यापार अपर व्यापार के विना ही नील के प्रति (स्वत.) व्याप्रियमाण है क्योकि वह (स्वत) व्यापार रूप ही है'-तो यह ठीक नही, क्योकि अपने स्वरूप मात्र से कोई अन्य के प्रति ग्रहणव्यापार रूप हो सकता है तो फिर नील का भी अपना कुछ स्वरूप है उस स्वरूप से नील भी बोध के प्रति ग्रहणव्यापार रूप मानने की आपत्ति आयेगी । तात्पर्य, नीलादि मे ग्राह्यता सिद्ध न हुयी ।

[बोधजन्य ग्रहणक्रिया नील से भिन्न है या अभिन्न ?]

यह भी विचारणीय है कि—विज्ञान से अगर नील के प्रति यानी नीलाभिमुख, ग्रहणक्रिया उत्पन्न होती है तो वह नील से भिन्न है या अभिन्न ? अगर भिन्न है तो उस ग्रहणक्रिया से 'नील' ग्राह्य नही बनेगा क्योकि भिन्न वस्तु का कोई ग्राह्य नही हो सकता । अगर ग्रहणक्रिया नीलाभिन्न है तब तो विज्ञानजन्यग्रहणक्रिया से अभिन्न नील भी विज्ञानजन्य हो जाने से अनायास नील मे ज्ञानात्मकता सिद्ध हुयी क्योकि विज्ञानजन्य उत्तरक्षण ज्ञानात्मक ही होती है । यदि विज्ञान मे ऐसी शक्ति मानी जाय जिससे विज्ञान मे ही नील के प्रति ग्राहकता की और नील मे ही विज्ञान से निरूपित ग्राह्यता की उपपत्ति हो सके, तो यह शक्ति की कल्पना तभी ही युक्त हो सकती है जब नील और विज्ञान मे क्रमश ग्राह्यता और ग्राहकता पहले से ही सिद्ध हो, क्योकि "शक्तय. सर्वभावाना कार्यार्थपत्तिगोचरा:" इस पूर्वोक्त न्याय से हर कोई शक्ति उसके परिणाम से ही ज्ञात होती है । जब तक ग्राह्यता-ग्राहकता-स्वरूप परिणाम ही असिद्ध है तब तब शक्ति की कल्पना पगु है, अर्थात् युक्त नही है । कारण, इतरेतराश्रय दोष प्रसग है जैसे: विज्ञान मे ग्राहकता की सिद्धि होने पर तत्प्रयोजक शक्ति की कल्पना की जायेगी और शक्ति की कल्पना करने पर ही नील और विज्ञान मे क्रमश: ग्राह्यता-ग्राहकता सिद्ध होगी, इस प्रकार इतरेतराश्रयता स्पष्ट है । निष्कर्ष, विज्ञान मे नील के प्रति ग्राहकता की असिद्धि अशक्य है । अत नील को चाहे विज्ञान से अतिरिक्त माने तो भी दोनो का उपलम्भ—सवेदन समकाल मे साथ साथ होने से विज्ञानवत् ही नीलादि भी स्वप्रकाश ही मानना युक्तियुक्त है । वास्तव में तो विज्ञान और नील मे भेद भी नही है यह अभी दिखाते हैं-

[बौद्धदृष्टि से विज्ञान में अर्थग्राहकता अघटित]

वास्तव मे (भेद तो भासित ही नही होता किन्तु) 'सुखादि या नीलादि अपरोक्ष हैं' इतना ही भासित होता है । कही भी (नीलादि का अलग प्रतिभास और स्वतन्त्र यानी) निराकार अर्थात् नीलादि आकार से असस्पृष्ट विज्ञान का प्रतिभास स्वप्न मे भी होता नही । अत: जब निराकार बोध

अथ बहिर्देशसंबद्धस्य जडस्यापि नीलादेरनुभवान्न नीलादिप्रकाशस्य तद्ग्राहकत्वमसिद्धम्, नाप्यनुभूयमाने स्तम्भादिके जडे प्रकाशविषयत्वविरोधोद्भावनं युक्तिसंगतम्, प्रत्यक्षसिद्धस्वभावे वस्तुनि तद्विरुद्धस्वभावावेदकस्यानुमानस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तकालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टहेतुप्रभवत्वेनानुमानाभासत्वात्। न च प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे विरोधः सिध्यति, अन्यथा ज्ञानस्यापि ज्ञानत्वविरोधप्राप्तिः। नन्वेवं नीलादिसंवेदनस्यापि हृदि स्वसंवेदनविषयतयाऽनुभवान्न स्वसंविदितत्वमसिद्धम्, नाऽपि स्वात्मनि क्रियाविरोधोद्भावनं युक्तियुक्तम्, अनुभूयमाने विरोधाऽसिद्धेः। अस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्य च हेतोः प्रत्यक्षनिराकृतपक्षविषयत्वेन न साध्यसाधकत्वमित्यपि समानम्।

यानी नीलादि से असंसृष्ट विज्ञान ही असिद्ध है तो (नीलादि उसका स्वरूप ही हुआ अतः) नीलादि अर्थ का वह ग्राहक कैसे होगा ? (अभिन्न वस्तु मे ग्राह्य-ग्राहकता नही हो सकती।) बौद्ध दार्शनिक इसी लिये तो प्रमाण निर्देश करते है कि-"यहाँ जो कुछ भी भासित होता है वही सत्‌रूप से व्यवहार योग्य होता है जैसे कि भीतर मे भासमान स्वरूपवाला सुख, उस काल मे पीडा का भास नही होता तो वह सुखानुभव काल में सत् नही होती, विज्ञान ही सकल देहधारीयो को नीलादिरूप से भासित होता है (निराकार रूप से नही), अतः विज्ञान नीलादि रूप से ही यानी नीलाभिन्नरूप से ही व्यवहार योग्य है।" यह अनुमान स्वभावहेतुक है। इस प्रकार एक ओर विज्ञान मे अर्थग्राहकता असिद्ध है, दूसरी ओर 'जड वस्तु का प्रकाश' यह परस्परविरुद्ध है-इसलिये बौद्ध विद्वानो की दृष्टि में विज्ञान मे अर्थग्राहकता भी अयुक्त=अघटित है।

[व्याख्याकार ने पहले जो कहा था कि विज्ञान यदि स्वप्रकाश नही मानेंगे तो-'विज्ञान घटादि बाह्यपदार्थ का ग्राहक नही है क्योकि वैसा दृष्ट नहीं है और 'जड का प्रकाश' यह विरुद्ध है'-ऐसा कहने वाले बौद्ध का मुह टेढा न हो सकेगा-फिर बौद्ध मत से विज्ञान का अर्थाऽग्राहकत्व कैसे हैं यह बौद्ध दृष्टि से दिखाना शुरु किया था-तो यहाँ आकर उसका उपसंहार किया है, अब कुछ अपनी ओर से भी कहते है।]

[जड में जडता और संवेदन में स्वसंविदितत्व अनुभवसिद्ध है]

यदि ज्ञानस्वप्रकाशताविरोधी, जड मे स्वप्रकाशत्व की आपत्ति के विरुद्ध ऐसा कहे कि-"नीलादि बाह्यदेश के साथ सम्बद्ध है और जड है यह सार्वजनिक अनुभव होने से नीलादि प्रकाश यानी नीलविषयक विज्ञान मे नीलादि की ग्राहकता असिद्ध नही, अनुभवसिद्ध है। जब नीलादि अथवा स्तम्भादि बाह्यपदार्थ मे जडत्व और प्रकाशविषयत्व दोनो अनुभवसिद्ध हैं तब जडत्व और प्रकाशविषयत्व के विरोध का उद्भावन (यानी अनुमान) युक्तिसंगत नही हो सकता। जिस वस्तु का [नीलादि का] स्वभाव [जडता और प्रकाशविषयता] प्रत्यक्षसिद्ध हो उस वस्तु मे विरुद्ध स्वभावता का आपादन करने वाला अनुमान वास्तव नही, अनुमानाभास है। कारण, वहाँ 'साध्य [विपरीतस्वभावता] रूप कर्म प्रत्यक्ष बाधित है' ऐसा निर्देश करने के बाद हेतु का प्रयोग किया जाता है, अत. वह हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाध) दोष से दुष्ट हो गया, ऐसे दुष्ट हेतु से जो अनुमान उत्पन्न होगा वह अनुमानाभास ही हुआ। जहाँ स्वभाव प्रत्यक्षसिद्ध हो वहाँ विरोध की सिद्धि ही नही होती, वरना ज्ञानत्वधर्म ज्ञान मे प्रत्यक्षानुभवसिद्ध होने पर भी वहाँ ज्ञानत्व का विरोध प्रसक्त होगा और ज्ञान मे जडता की प्रसक्ति होगी।"-

किंच, स्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे 'प्रतीयतेऽयमर्थो बहिर्देशसम्बन्धितया' इत्यत्र प्रतीतेर्व्यव-स्थापिकाया अप्रतीतत्वेनाऽव्यवस्थितौ व्यवस्थाप्यार्थस्य न व्यवस्थितिः स्यात्, नहि स्वयमव्यवस्थितं खरविषाणादि कस्यचिद् व्यवस्थापकमुपलब्धम। अथ प्रतीतेरसंविदितत्वेऽपि एकार्थसमवेतानन्तर-प्रतीतिव्यवस्थापितत्वेन नाऽव्यवस्थितत्वं, तर्हि तदेकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतेरप्यपरतथाभूतप्रतीत्य-व्यवस्थापितत्वेनार्थव्यवस्थापनप्रतीतिव्यवस्थापकत्वमिति पुनरपि तथाभूताऽपरा प्रतीतिः प्रतीति-व्यवस्थापिकाऽभ्युपगंतव्येत्यनवस्था। अथ प्रतीतिव्यवस्थापिका प्रतीतिः स्वसंविदितत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितेति नायं दोषः, तर्ह्यर्थव्यवस्थापिकाऽपि प्रतीतिस्तथा किं नाभ्युपगम्यते न्यायस्य समान-त्वात्? अथ प्रतीतिरप्रतीताऽपि प्रतीत्यन्तरव्यवस्थापिका, तर्हि प्रथमप्रतीतिरप्यव्यवस्थिताऽप्यर्थ-व्यवस्थापिका भविष्यतीति "नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इति वचः कथं न परिप्लवेत? 'प्रतीतोऽर्थः' इति विशेष्यप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणानवगमेऽपि विशेष्यप्रतिपत्त्यभ्युपगमात्।

ज्ञानस्वप्रकाशताविरोधी ने जड मे प्रकाशत्वापत्ति के विरुद्ध जैसे यह निवेदन किया, उसके समक्ष व्याख्याकार कहते हैं कि ऐसा निवेदन ज्ञान की स्वप्रकाशता मे भी शक्य है जैसे-नीलादिसवेदन का भीतर मे स्वसवेदनविषयत्वरूप से ही प्रत्क्षानुभव होता है, अतः ज्ञान मे स्वप्रकाशता असिद्ध नही है, जब यह प्रत्यक्ष सिद्ध है तब उसमे 'स्व मे क्रिया विरोध' का उद्भावन करना युक्तिसगत नही है, क्योंकि जो अनुभवसिद्ध होता है वहाँ विरोध असिद्ध है। तथा, ज्ञान स्वप्रकाश नही है-इस अनुमान की सिद्धि के लिये आप जो हेतु लगायेंगे वह भी प्रत्यक्षबाधित पक्ष विषयक हो जाने से अपने साध्य को सिद्ध नही कर पायेगा यह सब उभय पक्ष मे समान है।

[असंविदित प्रतीति से अर्थव्यवस्था अशक्य]

यह भी सोचिये कि-ज्ञान को यदि स्वप्रकाश नही मानेंगे तो 'यह अर्थ बाह्यदेश के सम्बन्धी-रूप मे प्रतीत होता है' ऐसी जो व्यवस्थाकारक प्रतीति है उससे व्यवस्थाप्य अर्थ की व्यवस्था ही नही हो सकेगी, क्योकि आपके मत से व्यवस्थापक प्रतीति (=स्वसविदित) न होने से स्वय ही अव्यवस्थित है। [जो वस्तु स्वय ही अव्यवस्थित है वह दूसरे की व्यवस्था कैसे करेगी?] खरसी-गादि जो स्वय ही अस्थित है उससे किसी वस्तु की व्यवस्था होती हो-ऐसा देखा नही है। यदि यह कहा जाय- 'प्रतीति स्वय भले स्वसविदित न हो किन्तु प्रतीति की एकार्थसमवेत अन्य प्रतीति, अर्थात् उस प्रतीति के आश्रय आत्मा मे ही अग्रिमक्षण मे जो दूसरी प्रतीति होगी (जिसको न्यायमत मे अनुव्यवसाय कहा जाता है) उसी से प्रथमजात प्रतीति की व्यवस्था हो जाने से प्रतीति मे अव्यव-स्थितत्व जैसी कोई बात ही नही है।"-तो इस कथन मे अनवस्था दोष लगेगा, वह इस प्रकार-एकार्थसमवेत द्वितीयक्षण वाली प्रतीति की यदि तृतीयक्षणवाली अन्य एकार्थसमवेत प्रतीति से व्यवस्था नही मानेगे तो उससे अर्थव्यवस्थाकारक प्रथमजात प्रतीति की व्यवस्था ही नही हो सकेगी। अत. द्वितीयक्षण की प्रतीति की व्यवस्था तृतीयक्षण की प्रतीति से, उसकी भी चतुर्थक्षण की प्रतीति से . . इस प्रकार कही भी अन्त नही आयेगा।

[प्रतीति गृहीत न होने पर अर्थ व्यवस्था अनुपपन्न]

यदि प्रथमजातप्रतीतिव्यवस्थापक द्वितीय प्रतीति की व्यवस्था स्वत. ही मान लेंगे, अर्थात् द्वितीयप्रतीति को स्वसविदित मानेंगे,-तो यद्यपि अनवस्था दोष तो नही होगा किन्तु प्रश्न यह है

अपि च, यदि तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरग्राह्यं ज्ञानमर्थग्राहकमभ्युपगम्यते तदा पूर्वपूर्वज्ञानोपलम्भनस्वभावानामुत्तरोत्तरज्ञानानामनवरतमुत्पत्तेविषयान्तरसंचारो ज्ञानानां न स्यात्, विषयान्तरसंनिधानेऽपि पूर्वज्ञानलक्षणस्य तदेकार्थसमवेतस्यान्तरंगत्वेनातिसनिहिततरस्य विषयस्य सद्भावात्। यस्त्वाह-'विषयोपलम्भनिमित्तमात्रप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणस्यार्थस्य सिद्धत्वाद् नानवस्था'-तदेतदेव न संगच्छते, स्वसंवेदनज्ञानानभ्युपगमात्, एतच्च प्रतिपादितम्।

अपि च, प्रमाणसंप्लववादिना नैयायिकेन प्रत्यक्ष-शाब्दज्ञानयोरेकविषयत्वमभ्युपगतम्, तथा चाध्यक्षज्ञानवत् शाब्देऽपि तस्यैवाऽन्यूनानतिरिक्तस्य विषयस्याधिगमे न प्रतिपत्तिभेदः, इत्यध्यक्षवच्छाब्दमपि स्पष्टप्रतिभासं स्यात्। अर्थैकविषयत्वे सत्यपीन्द्रियसम्बन्धाभावाच्छब्दविषये प्रतिपत्तिभेदः। नन्वक्षैरपि विषयस्वरूपमुद्भासनीयम्, तच्च यदि शाब्देनाऽपि प्रदर्श्यते तथा सतीन्द्रियसम्बन्धाभावेऽपि किमिति न स्पष्टावभासः शाब्दस्य ? न हि विषयभेदमन्तरेण ज्ञानावभासभेदो युक्तः, अन्यथा ज्ञाना-

---

कि अर्थव्यवस्थाकारक प्रथमप्रतीति को ही स्वसविदित मान लेने मे क्या दोष है जब कि उसको भी स्वसविदित मानने मे युक्ति तो द्वितीयप्रतीति के समान ही है-अर्थात् अनवस्था दोष का भय तो प्रथम प्रतीति को स्वसविदित मानने से भी टल जाता है। यदि ऐसा कहा जाय कि प्रतीति का ऐसा ही स्वभाव है कि वह स्वय अप्रतीत होने पर भी अन्य प्रतीति की व्यवस्था कर सकती है-तो इसके विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि प्रतीति का ऐसा स्वभाव है कि वह स्वय अव्यवस्थित होने पर भी अर्थव्यवस्था कर सकती है-तो ऐसी कल्पना मे भी कौन बाघ करेगा ? यदि यहाँ इष्टापत्ति दिखाकर उक्त कल्पना को मान लेगे तब तो 'विशेषण का ग्रहण न करने वाली बुद्धि विशेष्य का ग्रह नही कर सकती' यह सर्वसम्मत वचन डूब क्यो नही जायेगा ! क्योकि आप 'अर्थ प्रतीत हुआ' इस बुद्धि मे प्रतीतिरूप विशेषण का तो ग्रहण नही मानते और विशेष्यतया अर्थ का ही ग्रहण मान लेते है !!!

[ज्ञानान्तरवेद्यतापक्ष में विषयान्तरसंचार का असंभव]

ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानने मे यह भी एक आपत्ति आती है कि यदि अर्थग्राहक ज्ञान स्वप्रकाश न होकर एकार्थ यानी स्वाश्रय मे समवेत अन्य उत्तरकालीन ज्ञान से ग्राह्य होगा तो ज्ञान विषयान्तरसचारी न हो सकेगा, क्योकि एक अर्थग्राहक ज्ञान को ग्रहण करने वाले उत्तरोत्तर ज्ञान की उत्पत्ति रुकेगी ही नही तो वहा एक अर्थ का भी पूरा ग्रहण नही होगा तो दूसरे-तीसरे अर्थ के ग्रहण की तो बात ही कहाँ ? यह नही कह सकते कि-'दूसरे-तीसरे विषयो का यदि सनिघान होगा तो उत्तरोत्तरज्ञान से पूर्वपूर्वज्ञान गृहीत न होकर वे विषय ही गृहीत होगे' क्योकि बाह्य विषय तो बहिरग है और पूर्वपूर्वज्ञान तो अन्तरग होने से अत्यंत सनिहित है अत उत्तरोत्तरज्ञान पूर्वपूर्वज्ञान का ही ग्रहण करता रहेगा तो अन्य विषय ग्रहणक्रम मे ही नही आयेगे।

पूर्वपक्षीः-जब विषयोपलम्भ स्वरूप ज्ञान का जो निमित्तभूत विषय है तन्मात्र का ग्रहण होगा तो विशेषणात्मक प्रतीतिरूप अर्थ का ग्रहण सिद्ध हो ही जायेगा। अतः अनवस्था नही है।

उत्तरपक्षी -अरे ! यही बात तो सगत नही होती कि व्यवस्थापक प्रतीति जब तक अप्रतीत है वहा तक अर्थोपलम्भ ही कैसे सिद्ध होगा ? प्रतीति को स्वप्रकाश माने तभी तो वह घट सकता है, और आप को ज्ञान का स्वसवेदन मान्य नही है-यह बात कई बार कह चुके है।

वभासभेदाद् विषयभेदव्यवस्था न स्यात् । न हि बहिरपि तदवभासभेदसंवेदनव्यतिरेकेणान्यद् भेदव्यवस्थानिबन्धनमुत्पश्यामः । अन्यच्च, प्रत्यक्षेऽपि साक्षादिन्द्रियसम्बन्धोऽस्तीति न स्वरूपेण ज्ञातुं शक्यः-तस्यातीन्द्रियत्वात्-किंतु स्वरूपप्रतिभासात् कार्यात्; तच्चाविकलं यदि शाब्देऽपि वस्तुस्वरूपं प्रतिभाति तदा तत एवेन्द्रियसम्बन्धस्तत्रापि किं नाभ्युपगम्यते ? अथ तत्र स्पष्टप्रतिभासाभावान्नासावनुमीयते । ननु तदभावस्तवक्षसंगतिविरहात्, तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराश्रयदोषः । तस्माद् विषयभेदनिबन्धन एव ज्ञानप्रतिभासभेदावसायोऽभ्युपगन्तव्यः, स चैकविषयत्वे शाब्दाऽध्यक्षज्ञानयोर्न संगच्छते ।

संदर्भः-[अब व्याख्याकार 'अपि च' इत्यादि से ज्ञान-ज्ञानान्तरवेद्यवादी नैयायिक की एक मान्यता दिखाकर उसके ऊपर आपत्ति देंगे । नैयायिक जिस रीति से उसका प्रतिकार करेगा उसमें से ही व्याख्याकार ज्ञान की स्वप्रकाशता को फलित करेंगे-यह अगले ही फकरे मे 'तत्कालः स्पष्टत्वावभासो ज्ञानावभास'....[पृ. ३४६-४] इत्यादि से स्फुट हो जायेगा]

[प्रत्यक्षवत् शब्दज्ञान में स्पष्टप्रतिभास की आपत्ति]

दूसरी बात यह है कि-प्रमाणसम्प्लववादी नैयायिको ने प्रत्यक्ष-शाब्दबोध को समानविषयक माना है । तात्पर्य यह है कि एक एक प्रमेय मे अनेक प्रमाणो की प्रवृत्ति होती है या किसी एक की ही ? इसके उत्तर मे न्यायभाष्य मे कहा है कि दोनो प्रकार मान्य है । जैसे आत्मा के विषय मे आप्तोपदेश भी प्रमाण है, इच्छादिलिंगक अनुमान भी प्रमाण है और योगसमाधिजन्य प्रत्यक्ष प्रमाण भी है । दूसरी ओर योग की स्वर्गकारणतादि मे केवल आप्तोपदेश ही प्रमाण है-यहाँ अनेक प्रमाणो की प्रवृत्ति नही होती । एक प्रमेय मे अनेक प्रमाणो की प्रवृत्ति को सम्प्लव कहते है और किसी एक ही प्रमाण की प्रवृत्ति को व्यवस्था कहते हैं । नैयायिक केवल व्यवस्थावादी नही किन्तु प्रमाणसम्प्लववादी है अतः नैयायिक विद्वानो ने सर्वत्र शाब्दबोध मे प्रत्यक्ष की समानविषयता मान्य रखी है । अब 'तथा च' . करके व्याख्याकार कहते है कि जब प्रत्यक्षज्ञान की तरह शाब्दबोध मे भी न न्यून-न अधिक ऐसे विषय का बोध मानेंगे तो आपत्ति यह है कि प्रत्यक्ष और शाब्दबोध दोनो ज्ञान मे कोई भेद नही रहेगा, फलतः शाब्दबोध भी प्रत्यक्ष की तरह स्पष्टावभासरूप हो जायेगा ।

नैयायिकः-एकविषयत्व दोनो मे होने पर भी शब्दजन्यज्ञान के विषय मे जो अवभास होगा वह प्रत्यक्षभिन्न ही होगा क्योंकि वहाँ इन्द्रियसनिकर्ष नही है ।

जैनः-जब इन्द्रियो का यही काम है-विषय का उद्भासन, यह कार्य जब शाब्दबोध से भी सम्पन्न होता है तो इन्द्रिय का सम्बन्ध भले न हो, शाब्दबोध को स्पष्टावभासरूप मानने में क्या बाध है ? विषयभेद के विना कही भी स्पष्ट-अस्पष्ट इस प्रकार का अवभासभेद युक्त नही है । वरना, ज्ञानावभास के भेद से जो विषयभेद की व्यवस्था यानी अनुमानादि किया जाता है वह नहीं हो सकेगा । उस अवभासभेद के विना बाह्यक्षेत्र के विषयो मे भी भेदव्यवस्था करने के लिये कोई भी निमित्त नही दिखता है । तात्पर्य, प्रतीतिभेद से ही विषयभेद की व्यवथा सिद्ध होती है ।

यदि इन्द्रियसनिकर्ष को भेदक मानेंगे तो प्रत्यक्षस्थल मे 'यहा इन्द्रिय का सनिकर्ष है' ऐसा साक्षात् स्वरूप से तो कोई भी नही जान सकता क्योकि इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय होने से तत्सनिकर्ष भी अतीन्द्रिय है, अतः प्रत्यक्षस्थल मे विषय के स्वरूप का प्रतिभासरूप कार्य ही लिंगविधया इन्द्रियसनिकर्ष का भान करा सकता है । अब देखिये कि जब शाब्दबोध स्थल मे भी प्रत्यक्षवत् ही अविकल

अथ शाब्दे वस्तुस्वरूपावभासेऽपि न सकलतद्गतविशेषावभास इत्यस्पष्टप्रतिभासं तद्। नन्वेवं प्रत्यक्षावभासिनो विशेषस्यार्थक्रियाक्षमस्य तत्राऽप्रतिभासनात्तदेव भिन्नविषयत्वं शाब्दाऽध्यक्षयोः प्रसक्तम् । अथोभयत्रापि व्यक्तिस्वरूपमेकमेव नीलादित्वं प्रतिभाति, विशदाविशदौ चाकारौ ज्ञानात्मभूतौ । नन्वेवमक्षसंबद्धे विषये प्रतिभासमाने तत्कालः स्पष्टत्वावभासो ज्ञानावभास इति प्राप्तम्, विशिष्टसामग्रीजन्यस्य ज्ञानस्य विशदत्वात्, तदवभासव्यतिरेकेण तु अक्षसंबद्धनीलप्रतिभासकालेऽन्यस्य भवदभ्युपगमेन वैशद्यप्रतिभासनिमित्तस्याऽसम्भवात् ।

अथ च भवतु विशदज्ञानप्रतिभासनिमित्त एव तत्र वैशद्यप्रतिभासव्यवहारस्तथापि न स्वसंविदिततज्ज्ञानसिद्धिः, तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहारस्य सम्भवात्, एककालावभासव्यवहारस्तु लघुवृत्तित्वान्मनसः क्रमानुपलक्षणनिमित्त उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् । नन्वेव सत्यङ्गुलिपञ्चकस्यैकज्ञानावभासोऽपि क्रमावभासे सत्यपि तत एव क्रमप्रतिभासानुपलक्षणकृत इति 'सदसद्वर्गः सर्वः कस्यचिदकेज्ञानप्रत्यक्षः, प्रमेयत्वात्, पञ्चाङ्गुलीवत्' इति सर्वज्ञसाधकप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकल-

---

यानी परिपूर्ण विषयस्वरूप का भास होता है तो वहा भी स्वरूपप्रतिभासरूप काय से इन्द्रियसम्बन्ध का अनुमान क्यो नही हो सकेगा ?

नैयायिकः-वहा स्वरूपप्रतिभास होने पर भी स्पष्टावभास न होने से इन्द्रियसम्बन्ध का अनुमान नही हो सकता ।

जैनः-ऐसे तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा क्योकि यह प्रतिभास स्पष्टावभासरूप नही है यह निश्चय तो इन्द्रियसम्बन्ध का अभाव निश्चित होने पर ही होगा, और इन्द्रियसम्बन्ध का अभाव तब निश्चित होगा जब यह प्रतिभास स्पष्ट है ऐसा निश्चित होगा । अत. दो ज्ञानो मे अवभासभेद का निश्चय विषयभेदमूलक ही है यह तो स्वीकारना पडेगा । किन्तु इसकी सगति, प्रत्यक्ष और शाब्दज्ञान को समानविषयक मानने पर नैयायिक मत मे नही बैठ सकती ।

नैयायिकः-शाब्दबोध मे वस्तुस्वरूप का अवभास तो होता है किन्तु वस्तुगत सकल विशेषताओ का अवभास नही होता है अत शाब्दज्ञान स्पष्टप्रतिभासरूप नही होता ।

जैनः-तब तो शाब्दज्ञान और प्रत्यक्ष मे एकविषयता कहा रही ? भिन्नविषयता की ही सिद्धि हो गयी, क्योकि अर्थक्रिया मे समर्थ ऐसा विशेष, प्रत्यक्ष मे भासित होता है किन्तु शाब्दज्ञान मे भासित नही होता ।

नैयायिकः-नीलादि व्यक्ति का जो नीलत्वादि स्वरूप है वह तो एकरूप में ही दोनो स्थल मे भासित होता है अत विषयभेद नही है । हा, ज्ञान मे आकारभेद जरूर है कि प्रत्यक्ष विशदाकार यानी स्पष्टाकार होता है और शाब्दज्ञान अविशदाकार होता है ।

जैनः-ऐसे तो ज्ञानावभास सिद्ध ही हो गया, क्योकि आपके कथनानुसार इन्द्रियसबद्ध विषय के प्रतिभास काल मे ज्ञानगत स्पष्टाकारता भी भासित होती है और स्पष्टाकारता का प्रतिभास ही तो ज्ञानावभासरूप है । यदि ज्ञान भासित नही होगा तो विषय को देखकर 'स्पष्टाकार प्रत्यक्ष ज्ञान मुझे हो रहा है' यह कैसे कहा जा सकेगा ? जो ज्ञान इन्द्रियसनिकर्षादि विशिष्ट सामग्री से जन्य होता है वही विशदाकार होता है, अत' ज्ञानावभास के विना इन्द्रियसबद्ध नीलादि के प्रतिभासकाल मे आपकी मान्यता के अनुसार अन्य तो कोई विशदाकारताप्रतिभास का निमित्त सम्भव नही ।

ताप्रसक्तिः। तथा, समस्तसदसद्धर्मग्राहकेण सर्वविज्ञानेन ज्ञानात्मा गृह्यत उत नेति ? यदि न गृह्यते तदा तस्य प्रमेयत्वे सति तेनैव प्रमेयत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी अप्रमेयत्वे तस्य भागाऽसिद्धो हेतुः। अथ सर्वज्ञज्ञानेन सर्वपदार्थग्राहिणाऽऽत्मापि गृह्यत इति नानैकान्तिकः। नन्वेव सति यथेश्वरज्ञानं ज्ञानत्वेऽप्यात्मानं स्वयं गृह्णाति, न च तत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधः तथाऽस्मदादिज्ञानमप्येवं भविष्यतीति न कश्चिद् विरोधः। किंच, एवमभ्युपगमे 'ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम्, प्रमेयत्वात्, घटवत्' इत्यत्र प्रयोगे ईश्वरज्ञानस्य प्रमेयत्वे सत्यपि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वाभावात् तेनैवानैकान्तिकः 'प्रमेयत्वात्' इति हेतुः। तस्मात् ज्ञानस्य ज्ञानान्तरग्राह्यत्वेऽनेकदोषसम्भवात् स्वसंविदितं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्।

[वैशद्य प्रतिभासव्यवहार ज्ञानक्रमानुपलक्षणनिमित्त नहीं]

नैयायिकः-मान लो कि वहाँ विशदाकार प्रतिभास का व्यवहार विशदज्ञान प्रतिभास के निमित्त से ही होता है, किन्तु इतने मात्र से स्वयप्रकाशज्ञान सिद्ध नही होता। कारण, नीलादिविषयक विशदज्ञान को हम उत्तरक्षणवर्त्ती अन्य एकार्थसमवेत ज्ञान (अनुव्यवसाय) का ग्राह्य मानते हैं, तो इस दूसरे ज्ञान से प्रथम ज्ञान गृहीत होने के कारण तन्मूलक विशदाकारव्यवहार भी सिद्ध हो जायेगा। यदि कहे कि-'नीलादि विषय और तद्विषक ज्ञान, दोनो का अवभास एक ही काल मे होने का व्यवहार देखा जाता है तो इसका क्या कारण ?'-तो उत्तर यह है कि वस्तुत दोनो का अवभास क्रमिक होने पर भी मन की चपलवृत्ति के कारण दूसरा ज्ञान शीघ्र ही पैदा हो जाने से कालक्रम वहा लक्षित नही हो सकता, जैसे कि सैकडो कमलपत्रो की थप्पी लगा कर किसी नौकदार हथियार से उसका छेद किया जाय तो वहाँ हर एक पत्र का क्रमश छेदन होते हुये भी सभी पत्रो का छेदन एक साथ ही हो जाने का व्यवहार होता है, बोलनेवाला बोलता भी है कि 'मैंने एक ही प्रहार मे एक साथ सभी को काट डाला'।

जैनः-यदि ऐसा मानेंगे तो पाचो अगुली का भी एक साथ एक ज्ञान मे प्रतिभास आप नही मान सकेंगे, क्योकि वहा भी कह सकते हैं कि वास्तव मे वहा पांचो अगुली का क्रमिक अवभास होने पर भी शीघ्रोत्पत्ति के कारण ही क्रमिक प्रतिभास उपलक्षित नही होता इसीलिये एक ज्ञान का अवभास होता है। फलत, आपने जो सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये अनुमान प्रयोग किया है-'सदसत् धर्म वाले सभी पदार्थ किसी व्यक्ति के एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं, क्योकि प्रमेय है, जैसे कि (उदा०-) 'पाचो अगुली'।-तो इस अनुमान मे दृष्टान्तभूत पाच अगुली मे एकप्रत्यक्षज्ञानविषयता उपरोक्त रीति से होने के कारण साध्यवैकल्यदोष का अनिष्ट प्राप्त होगा।

[सर्वज्ञज्ञान में प्रमेयत्व हेतु व्यभिचारी होने की आपत्ति]

यह भी दिखाईये कि सकल सदसत् धर्मो के ग्राहक सर्वज्ञज्ञान से ज्ञान का स्वरूप गृहीत होता है या नही ? अगर गृहीत नही होता है तब तो एकज्ञान प्रत्यक्षतारूप साध्य का विपक्ष हो गया सर्वज्ञज्ञान और उसमे प्रमेयत्व हेतु रहता है तो हेतु व्यभिचारी बन जायेगा। यदि वहा प्रमेयत्व हेतु की वृत्तिता ही नही मानगे तो सदसत् धर्म वाले सभी पदार्थ रूप पक्ष का एक भाग जो सर्वज्ञज्ञान, उसमें हेतु की असिद्धि होने से भागासिद्धि दोष लगेगा।

नैयायिक-सर्वज्ञ का ज्ञान तो सकलपदार्थग्राहक है अतः उससे अपना ज्ञानस्वरूप भी गृहीत

ज्ञानस्वरूपश्चात्मा, अन्यथा भिन्नज्ञानसद्भावादाकाशस्येव तस्य ज्ञातृत्वं न स्यात् । न चाकाशव्यतिरेकेण ज्ञानमात्मन्येव समवेतमिति तस्यैव ज्ञातृत्व नाकाशादेरिति वक्तुं युक्तम्, समवायस्य निषेत्स्यमानत्वात् । ज्ञानस्य च स्वसंविदितत्वे सिद्धे आत्मनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य तत्सिद्धमिति कथं न स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वमात्मनः ? तन्न प्रथमपक्षस्य दुष्टत्वम् ।

द्वितीयपक्षेऽपि यदुक्तम्-'नहि कश्चित् पदार्थः' कर्तृरूपः करणरूपो वा स्वात्मनि कर्मणीव सव्यापारो दृष्टः'-इति तदप्यसंगतम्, भिन्नव्यापारव्यतिरेकेणाऽपि आत्मनः कर्तुः, प्रमाणस्य च ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वप्रतिपादनात् । एकस्यैव च लिंगादिकरणमपेक्ष्यावस्थाभेदेन यथा प्रमातृत्वं प्रमेयत्वं च भवद्भिरविरुद्धत्वेनाभ्युपगम्यते तथैकदाऽप्येकस्यात्मनोऽनेकधर्मसद्भावात् प्रमातृत्व-प्रमाणत्व-प्रमेयत्वा-

होता ही है, अर्थात् सर्वज्ञज्ञान में सकलपदार्थग्राहकता अखडित-अबाधित होने से प्रमेयत्व हेतु वहां रहे तो व्यभिचार दोष निरवकाश ही है ।

जैनः-इस स्थिति मे तो हम भी कहेगे कि जैसे ईश्वरज्ञान ज्ञानात्मक होने पर भी अपने आपको स्वय जान लेता है और यहा कोई 'स्वात्मा मे क्रियाविरोध' जैसा दोष नही है, ठीक उसी प्रकार हमारा-आपका ज्ञान भी स्वप्रकाश माना जाय तो कोई विरोध नही है । तदुपरांत, एक ओर आप ईश्वरज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं और दूसरी ओर आपने जो यह अनुमान प्रयोग किया है— "ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य है, क्योकि प्रमेय है जैसे घट"-इस प्रयोग मे ज्ञानान्तरग्राह्यत्वरूपसाध्य से शून्य ईश्वरज्ञान मे भी हेतु प्रमेयत्व रहता है तो प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिकदोषग्रस्त हुआ । निष्कर्ष यह फलित होता है कि ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानने के पक्ष मे अनेक दोषो का सम्भव होने से ज्ञान को स्वप्रकाश=स्वसविदित ही मान लेना चाहिये ।

[ज्ञानाभिन्न आत्मा भी स्वसंवेदनसिद्ध है]

'आत्मा स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है' इसकी सिद्धि के लिये ही व्याख्याकार ने यह सब उपक्रम किया था उसके उपसहार मे 'कहते है कि एक ओर इस प्रकार ज्ञान स्वप्रकाश सिद्ध हुआ । दूसरे, आत्मा भी ज्ञान स्वरूप ही है, ज्ञान उससे भिन्न नही है, यदि उसको आत्मा से भिन्न मानेंगे तो ज्ञान के निमित्त से आकाश मे जैसे ज्ञातृत्व सिद्ध नही है वैसे आत्मा मे भी ज्ञातृत्व सिद्ध नही होगा । यदि कहे कि—'ज्ञान आकाश मे नही किन्तु आत्मा मे ही समवाय सम्बन्ध से वृत्ति है अत आत्मा मे ही ज्ञातृत्व रह सकेगा, आकाश मे नही'-तो यह कहना ठीक नही है क्योकि अग्रिम ग्रन्थ मे समवाय का खण्डन किया जायेगा । जब पूर्वोक्त रीति से ज्ञान स्वसविदित सिद्ध है तो ज्ञानाभिन्न आत्मा भी स्वसविदित सिद्ध हो गया तो अब आत्मा को स्वसवेदन प्रत्यक्ष सिद्ध क्यो न कहा जाय ? तात्पर्य—पूर्वपक्षी ने जो 'आत्म-प्रकाशन अपरसाधन है' [द्र० पृ० ३२१] इसके ऊपर दो विकल्प किया था-अपरसाधन यानी क्या चित्स्वरूप की सत्ता मानते हो या अपनी प्रतीति मे व्यापार रूप मानते हो ? इन दो मे से प्रथमपक्ष को जो अयुक्त दिखाया था वह अयुक्त दिखाना ही अयुक्त ठहरने से प्रथमपक्ष अब तो अदुष्ट यानी युक्तियुक्त सिद्ध होता है ।

[विना व्यापार ही ज्ञान-आत्मा स्वसंविदित हैं]

'अपरसाधन' शब्दार्थ के ऊपर जो दूसरा विकल्प यह किया था कि 'अपनी प्रतीति मे व्यापार का होना'-इस दूसरे पक्ष की आलोचना मे जो यह कहा था कि—'कर्त्तारूप या कारणरूप कोई भी पदार्थ कर्म मे जैसे सव्यापार दिखता है वैसे स्वात्मा मे सव्यापार नही देखा है' [पृ०३२२-५]-वह भी

ष्यविरुद्धानि किं नाभ्युपगम्यन्ते तत्तद्धर्मयोगात् तत्तत्स्वभावत्वस्य प्रमाणनिश्चितत्वेनाऽविरोधात् ? !

यच्चोक्त-प्रमाणाऽविषयत्वेऽपरोक्षतेत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः-इत्यादि, तदप्यसारम्, ज्ञातृतया प्रमाणत्वेन च स्वरूपावभासनस्य प्रतिपादितत्वात्। न च घटादेः स्वरूपस्य भिन्नज्ञानग्राह्यत्वात् प्रमातुः प्रमाणस्य च स्वरूपं भिन्नज्ञानग्राह्यं, तयोश्चिद्रूपत्वेन घटादेस्तु तद्विपर्ययेण स्वरूपस्य सिद्धत्वात्। न च प्रमाण प्रमातृस्वरूपग्राहकस्य प्रत्यक्षस्य तल्लक्षणेनाऽसंग्रहः, तत्संग्राहकस्य लक्षणस्य प्रदर्शितत्वात्। यदपि-'घटमह चक्षुषा पश्यामि' इत्यनेनातिप्रसंगापादनं कृतम्-तदप्यसंगतम्, नहि चक्षुषो जडरूपस्याऽस्वविदितत्वे प्रमातृ-प्रमित्योरपि चिद्रूपयोरस्वसंविदितत्वं युक्तम्, अन्यस्वभावत्वानुपपत्तेः। यत्तूक्तम्. 'इन्द्रियव्यापारे सति शरीराद् व्यवच्छिन्नस्य विषयस्यैव केवलस्यावभासनम्' इति, तदत्यन्तमसंगतम्, विषयस्येव तदवभाससवेदनस्यापि व्यवस्थापितत्वात् तदभावे विषयावभास एव न स्यादित्यस्य च। अतः प्रमात्रवभास उपपन्न एव।

असगत है क्योकि अपने से भिन्न व्यापार के अभाव मे भी कर्त्तारूप आत्मा और प्रमाणरूप ज्ञान स्वयं-सविदित होने का प्रतिपादन इस तरह कर दिया है कि ज्ञान यदि स्वसविदित नही मानेंगे तो अर्थ की व्यवस्था नही होगी, और ज्ञान से आत्मा भिन्न न होने से वह भी स्वसविदित सिद्ध होता है।

तथा आत्मा को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमेय मानने पर आत्मप्रतीति मे, स्वात्मा मे क्रिया विरोध को हटाने के लिये आपने जैसे यह माना है कि लिगादि करण की अपेक्षा से अवस्थाभेद से एक ही व्यक्ति मे प्रमातृत्व और प्रमेयत्व अविरुद्ध है-वैसे ही एककाल मे भी आत्मा मे अनेक धर्मो का अस्तित्व होने से भिन्न भिन्न धर्म की अपेक्षा से प्रमातृत्व-प्रमाणत्व और प्रमेयत्व अविरुद्ध होने का क्यो नही मानते हैं ? वस्तु मे भिन्न भिन्न धर्म के योग से भिन्न भिन्न प्रकार का स्वभाव होना यह तो प्रमाण से सुनिश्चित है तो इसमे विरोध क्या ?

[आत्मा की अपरोक्षता-कथन का तात्पर्य]

और भी जो आपने पूछा है आत्मा प्रमाण का विषय न होने पर भी अपरोक्ष है. इस कथन का क्या अर्थ है ?-यह भी सारहीन प्रश्न है, क्योकि आत्मा ज्ञाता होने से प्रमाणस्वरूप से अपने स्वरूप का ही अवभास होना यह अपरोक्षता होने का वहाँ ही कहा है। उसके ऊपर जो घटादि मे समानता दिखायी है वह ठीक नही है क्योकि घटादि का स्वरूप घटादि से भिन्न ज्ञान से ग्राह्य है, प्रमाता और प्रमाण का स्वरूप स्वभिन्नज्ञान से ग्राह्य नही है। कारण, प्रमाण और प्रमाता का स्वरूप चैतन्यमय है जब कि घटादि का स्वरूप उससे विपरीत, जडात्मक होने का सिद्ध है। तथा, प्रमाण और प्रमाता का स्वरूपग्राहक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष के लक्षण से सगृहीत नही हो सकता ऐसा भी नही है क्योकि हमारा जो 'इन्द्रिय-अनिन्द्रियजन्य विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह लक्षण है उससे उसका सग्रह हो जाने का बता दिया गया है। [पृ० ३२८]

[नेत्रेन्द्रियप्रत्यक्षापत्ति का प्रतिकार]

यह जो अतिप्रसग आपने दिखाया था-'मैं घट को नेत्र से देखता हूँ' इस प्रतीति से नेत्रेन्द्रिय का भी प्रत्यक्ष सिद्ध होगा-यह भी नही है क्योकि नेत्रेन्द्रिय जडरूप होने से अस्वसविदित होने पर

नच 'कृशोऽहं' 'स्थूलोऽहं' इति शरीरसामानाधिकरण्येनाऽस्य प्रत्ययस्योपपत्तेस्तदालम्बनता, चक्षुरादिकरणव्यापाराभावे शरीरस्याऽग्रहणेऽपि 'अहम्' इति प्रत्ययस्य सुखादिसमानाधिकरणत्वेन परिस्फुटप्रतिभासविषयत्वेनोत्पत्तिदर्शनाद्, न शरीरालम्बनत्वमस्य व्यवस्थापयितुं युक्तम्। न च 'कृशोऽहं' इति प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वे 'ज्ञानवानहम्' इति ज्ञानसामानाधिकरण्येनोपजायमानस्यापि प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वं युक्तम्, अन्यथा 'अग्निर्माणवकः' इति माणवकेऽग्निप्रत्ययस्योपचरितविषयस्य भ्रान्तत्वेऽग्नावपि तत्प्रत्ययस्योपचरितत्वेन भ्रान्तत्वं स्यात्। अथ तत्र पाटव-पिंगलत्वादिलक्षणस्योपचारनिमित्तस्य सद्भावाद् भवति तत्रोपचरितः प्रत्ययः, न चात्रोपचारनिबन्धनं किंचिदस्ति। तदप्यसंगतम्, संसार्यात्मनः शरीराद्युपकृतत्वेन तदनुबद्धस्योपभोगाश्रयत्वेनोपभोगकर्तृत्वस्यात्राप्युपचारनिमित्तस्य सद्भावात्। दृष्टश्च शरीरादिव्यतिरिक्तेऽप्यत्यन्तोपकारके स्वभृत्यादावुपचरितस्तन्निमित्तः 'योऽयं भृत्यः सोऽहम्' इति प्रत्ययः।

चित्स्वरूप प्रमाता और प्रमाण को भी अस्वसंविदित मानना गलत है, क्योंकि जो चित्स्वरूप है उसमे स्वसंविदितत्व से अन्य और जो जड है उसमे परसंविदितत्व से अन्य स्वभाव घटित नही है। यह भी जो कहा था-इन्द्रिय जब सक्रिय बनती है तब देह से भिन्न केवल घटादि विषय का ही अवभास होता है [पृ० ३२४]-यह तो कतई ठीक नही, क्योंकि जैसे देहभिन्न विषय का अवभास होता है वैसे देह भिन्न प्रमाण-ज्ञान और आत्मा का भी अवभास पूर्व मे सिद्ध कर दिया है और यह भी बताया है कि प्रमाण के अवभास के विना अर्थ की व्यवस्था यानी विषयावभास भी उपपन्न नही हो सकता। निष्कर्ष -प्रमाता का अवभास युक्तिसंगत है।

['कृशोऽहं' इत्यादि शरीरसमानाधिकरण प्रतीति भ्रान्त है]

पूर्वपक्षी:-'अहम्' इत्याकारक प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय शरीर है, क्योंकि 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं पतला हूँ' इन प्रतीतियो मे देहस्थूलता और देहकृशता के साथ अहत्व का सामानाधिकरण्य स्पष्ट भासित हो रहा है।

उत्तरपक्षी:-यह ठीक नही, क्योंकि नेत्रादि इन्द्रिय निष्क्रिय होने पर देहज्ञान नही होता है तब भी 'मै सुखी हूँ' इत्यादि रूप से सुखादि के साथ समानाधिकरणरूप से 'अहं' इत्याकारक प्रतीति की उत्पत्ति देखी जाती है, जिसमे देह-भिन्नात्मविषयता स्पष्टरूप से उपलक्षित होती है। अत. 'अहं' बुद्धि को देहविषयक प्रस्थापित करना युक्त नही है। इससे यह भी सिद्ध है कि 'अहं स्थूल:' यह प्रतीति भ्रान्त है। किन्तु उसके समान ज्ञानसमानाधिकरणतया उत्पन्न होने वाली 'मैं ज्ञानवान् हूँ' इस प्रतीति को भी भ्रान्त मानना कतई उचित नही है। अन्यथा दूसरे स्थल मे 'माणवक अग्नि है' इस प्रकार माणवक मे उपचरित विषय वाली अग्नि की प्रतीति भ्रान्त है. तो शुद्ध अग्नि की प्रतीति मे भी औपचारिकता का आपादन करके भ्रमत्व की आपत्ति दी जा सकेगी।

[देह में अहमाकार बुद्धि औपचारिक है]

पूर्वपक्षी:-अग्नि मे जो पटुता (अग्रता) और पिंगलवर्णादि है तत्स्वरूप उपचार के निमित्तो का अस्तित्व माणवक मे भी होने से उसमे अग्नि की उपचरित बुद्धि भ्रान्त हो सकती है। सत्य अग्नि मे अग्नि की बुद्धि और देह मे अहमाकार बुद्धि भ्रान्त नही हो सकती, क्योंकि वहाँ कोई उपचार का मूलभूत निमित्त नही है।

न च सुखादिसामानाधिकरण्येनोपजायमानस्यैवाहंप्रत्ययस्योपचरितविषयतेति वक्तुं शक्यम्, अग्नावग्निप्रत्ययवदबाधितत्वेनास्खलद्रूपत्वेन चाऽस्याऽत्र मुख्यत्वात्, गौरत्वादेस्तु पुद्गलधर्मत्वेन बाह्येन्द्रियग्राह्यतयान्तर्मुखाकाराऽनिन्द्रियाहंप्रत्ययविषयत्वाऽसम्भवात्। न च गौरत्वादिरूपाश्रयभूतस्य प्रतिक्षणविशरारुत्वेनाभ्युपगमविषयस्य शरीरस्य 'य एवाऽहं प्राग् मित्रं दृष्टवान् स एवाहं वर्षपंचकादिव्यवधानेन स्पृशामि' इति स्थिरालम्बनत्वेनानुभूयमानप्रत्ययविषयत्वं युक्तम्, अन्यथा रूपविषयत्वेनानुभूयमानस्य तस्य रसाद्यालम्बनत्वं स्यात्। न च सुखादिविवर्त्तात्मकात्मालम्बनत्वे किंचिद् बाधकमुत्पश्यामः येन तद्विषयत्वेनास्य भ्रान्तत्वं स्यात्। नापि तत्र तस्य स्खलद्रूपता येन वाहीके गोप्रत्ययस्येवोपचरितत्वकल्पना युक्तिमती स्यात्। तस्मादबाधिताऽस्खलद्रूपाऽहंप्रत्ययग्राह्यत्वादात्मनो नाऽसिद्धिः। शेषस्तु पूर्वपक्षो निःसारतया न प्रतिसमाधानमर्हतीत्युपेक्षितः।

उत्तरपक्षीः-आपकी बात मे कोई सगति नही है। देह मे भी अहमाकार वुद्धि उपचार से ही होती है। कारण ससारी आत्मा को भोगादि के सम्पादन मे देह अत्यधिक उपकारी है, अतः आत्मा के साथ क्षीरनीरवत् सबद्ध एव भोगाश्रय (यानी भोग का अवच्छेदक विधया अधिकरण) देह मे भोगकर्तृत्व के उपचार का निमित्त आत्मोपकारकत्व विद्यमान है। जो देह से भी दूरस्थ नौकरादि अपने अत्यत उपकारक होते है उसमें भी स्वोपकारकत्व निमित्त से 'जो यह नौकर है वही मै हूँ' इस प्रकार की उपचरित वुद्धि देखी जाती है तो निकटवर्त्ती अत्यन्तोपकारक देह मे औपचारिक आत्म वुद्धि का होना युक्तियुक्त ही है।

[सुखादिसमानाधिकरणक अहं प्रतीति उपचरित क्यों नहीं ?]

पूर्वपक्षीः-स्थूलतादिसमानाधिकरणतया होने वाली अह प्रतीति को भ्रम मानने के वदले सुखसमानाधिकरणतया होने वाली अह-प्रतीति को ही भ्रम मान कर उसमें ही उपचरितविषयता क्यों न मानें ?

उत्तरपक्षी -उसको भ्रम नही मान सकते क्योकि अग्नि मे होने वाली अग्नि की प्रतीति जैसे अवाधित और अस्खलद्रूप होती है वैसे सुखसमानाधिकरणतया होने वाली अह प्रतीति भी अवाधित और अस्खलद्रूप होने से वह मुख्यरूप ही है। उपचरित नही है। अवाधित इसलिये कि सुखादि की प्रतीति के वाद 'मै सुखवाला नही हू' ऐसी कोई बाधक प्रतीति नही होती। अस्खलद्रूप इसलिये कि सुखादि की प्रतीति और अहप्रतीति मे सामानाधिकरण्य होने मे कोई अयोग्यता या बाध नही है, अर्थात् देह भिन्न आत्मा मे सुखादि का सद्भाव सुघटित है, जव कि गौरवर्णादि तो पुद्गल (पृथ्वी आदि) का धर्म है, बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य है, अतः वह गौरवर्णादि अन्तर्मुख एव इन्द्रियाजन्य अहमाकार प्रतीति का विषय नही हो सकता।

[अस्थिर देह स्थैर्यबुद्धि का विषय नहीं]

दूसरी बात यह है कि गौरवर्णादि रूप का आश्रय देह तो प्रतिक्षण नाशवंत होने का आप मानते हैं, तो अस्थिर देह स्थिरवस्तु के अवगाहकरूप मे अनुभवारूढ निम्नोक्त वुद्धि का विषय वने यह अयुक्त है, वह वुद्धि इस प्रकार है-'मैंने ही पहले मित्र को देखा था और वही मै आज पाँचवर्ष के वाद उसका स्पर्श करता हू'। यदि फिर भी देह को ही आप इस वुद्धि का विषय मानेगे तव जिस वुद्धि में रूपविषयता का अनुभव करते है उस वुद्धि को रसविषयक माना जा सकेगा। अहप्रतीति का विषय

न चात्र बौद्धमतानुसारिणैतद् वक्तुं युज्यते-'अहंप्रत्ययस्य सविकल्पकत्वेनाऽप्रत्यक्षत्वेन न तद्ग्राह्यत्वमात्मन' इति;-सविकल्पकस्यैव प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेन व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्। प्रत्यक्षविषयत्वेऽपि विप्रतिपत्तिसम्भवेऽनुमानस्यावतारः। न च 'सिद्धे ह्यात्मन एकत्वे तत्प्रतिबद्धोऽनुसंधानप्रत्ययः सिध्यति, तत्सिद्धौ च ततस्तस्यैकत्वम्' इतीतरेतराश्रयदोषावतारः, 'य एवाहं घटमद्राक्षं स एवेदानीं तं स्पृशामि' इतिप्रत्ययात् प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्वरूपादात्मनः एकत्वसिद्धेः।

न चात्रैतत् प्रेर्यम्-"द्रष्टृरूपमात्मनः स्प्रष्टृरूपानुप्रवेशेन प्रतिभासते आहोस्विदननुप्रवेशेन? यद्यनुप्रवेशेन तदा द्रष्टृरूपस्य स्प्रष्टृरूपेऽनुप्रवेशात् स्प्रष्टृरूपतैवेति न द्रष्टृरूपता, तथा च 'अहं द्रष्टा स्पृशामि' इति कुतः उभयावभासोल्लेख्येकं प्रत्यभिज्ञानं यतस्तदेकत्वसिद्धिः? अथाननुप्रवेशेन तदा दर्शनस्पर्शनावभासयोर्भेदात् कुत एकं प्रत्यभिज्ञानम्? नहि प्रतिभासभेदे सत्यप्येकत्वम्, अन्यथा घट-पटप्रतिभासयोरपि तत् स्यात्। अथ प्रतिभासस्यैवात्र भेदो न पुनस्तद्विषयस्यात्मनः। कुतः पुनस्तस्याभेदः? न तावत् प्रतिभासाऽभेदात् तस्य भिन्नत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। नापि स्वतः, स्वतोऽद्यापि विवादविषयत्वात्। अथ दर्शन-स्पर्शनावस्थाभेदेऽपि चिद्रूपस्य तदवस्थातुरभिन्नत्वान्नाय दोषः, तदप्य-

---

सुखादिपरिणामभिन्न आत्मा को माने तो कोई बाधक भी उपलब्ध नही है जिससे कि बाधज्ञान-विषयभूत हो जाने से उस प्रतीति को भ्रम कहा जा सके। वह प्रतीति स्खलद्रूप भी नही है, जैसे गोवाहक मे गोबुद्धि होने पर गोवाहक मे गोत्व का योग स्खलित होने से यह बुद्धि स्खलद्रूप वाली होती है, ऐसा 'अहं सुखी' इस बुद्धि मे नही है, अत गोवाहक मे गोबुद्धि उपचरितविषयक होने पर भी 'अहप्रतीति' को उपचरितविषयक नही कह सकते। इस रीति से अबाधित एव अस्खलद्रूपवाली अहं-प्रतीति का ग्राह्य आत्मा ही सिद्ध होता है, अत: आत्मा की असिद्धि नही है।

पूर्वपक्षी की अवशिष्ट बातें नि:सार होने से प्रतिकार योग्य नही है, अत उपेक्षणीय ही हैं।

[बौद्धमत से प्रत्यभिज्ञा में आपादित दोषों का प्रतिकार]

[बौद्धमत मे केवल निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाणभूत है, उसका विषय न होने से आत्मा प्रत्यक्ष नही है अत' बौद्धवादी अब उपस्थित हो रहा है]

यहा बौद्धमतानुयायीओ का यह कहना युक्त नही है कि "आत्मा की अहमाकार प्रतीति तो सविकल्पज्ञानरूप है और वह तो अप्रमाण है यानी प्रत्यक्षप्रमाणरूप नही है अत प्रत्यक्ष के ग्राह्यरूप मे आत्मसिद्धि नही हो सकती"-ऐसा न कह सकने का हेतु यह है कि अग्रिम व्याख्या ग्रन्थ मे 'सवि-कल्प ही प्रत्यक्ष का प्रमाणभूत है' इस पक्ष की स्थापना की जाने वाली है। यद्यपि सविकल्पज्ञान प्रत्यक्षरूप यानी स्वयसविदित ही है, यह भी प्रत्यक्ष का ही विषय है फिर भी उसके विषय मे विवाद सम्भव होने से वहा अनुमान का अवतार भी सावकाश है। स्थिर आत्मसिद्धि के विषय मे जो प्रत्य-भिज्ञा प्रमाणरूप से दिखायी गयी है उसके ऊपर बौद्ध जो यह अन्योन्याश्रय दोष का आरोपण करते हैं कि -'पूर्वप्रतीति का विषय और वर्त्तमान प्रतीति का विषय एक आत्मा सिद्ध हो तभी अनुसन्धानबुद्धि यानी प्रत्यभिज्ञा को एकत्वप्रतिबद्ध माना जा सकता है, और प्रत्यभिज्ञा मे एकत्वविषयकता सिद्ध होने पर प्रतीतिद्वय के विषयरूप मे एक आत्मा की सिद्धि होगी'-यह दोष मिथ्या है क्योंकि 'जो मैंने पहले घट को देखा था वही मैं अब उसको छू रहा हू' इस प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षरूप बुद्धि मे 'वही मैं' ऐसे उल्लेख से पूर्वोत्तरप्रतीति का विषयभूत एक ही आत्मा सिद्ध होता है।

संगतम्, यतो दर्शनावस्थाप्रतिभासेन तत्सम्बद्धमेवावस्थातृरूपं गृहीतं न स्पर्शनज्ञानसम्बन्धि, तत्र तदवस्थाया अनुत्पन्नत्वेनाऽप्रतिभासनात्, तदप्रतिभासने च तद्व्यापित्वेनावस्थातुरप्यप्रतिभासनात्। नापि स्पर्शनप्रतिभासेन दर्शनावस्थाव्याप्तिरवस्थातुरवगम्यते, स्पर्शनज्ञाने दर्शनस्य विनष्टत्वेनाऽप्रतिभासनात्, प्रतिभासने चाऽनाद्यवस्थापरम्पराप्रतिभासप्रसंगः। न च प्रागवस्थाऽप्रतिभासने तदवस्थाव्याप्तिरवस्थातुरवगन्तुं शक्या। यच्च येन रूपेण प्रतिभाति तत्तेनैव सदित्यभ्युपगन्तव्यम्, यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तेनैव रूपेणाभ्युपगम्यते। दर्शन-स्पर्शनज्ञानाभ्यां च स्वसंवन्धित्वेमेवावस्थातुर्गृह्यते इति तद्रूप एवासावभ्युपगन्तव्य इति कुतोऽवस्थातृसिद्धिः ?"

[दर्शन-स्पर्शनावभास भेद से प्रत्यभिज्ञाएकत्व पर आक्षेप]

इस संदर्भ मे बौद्धो की ओर से ऐसा प्रतिपक्ष नही किया जा सकता [अब यहाँ पूरे परिच्छेद मे बौद्ध का प्रतिपक्ष क्या है यही दिखाते है] कि—

'मैंने देखा था वही मैं अब छू रहा हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा मे आत्मा का दर्शनकर्तृत्व यह स्पर्शकर्तृत्व से अनुप्रविष्ट हो कर भास रहा है या विना अनुप्रवेश ही भास रहा है ? यदि अनुप्रविष्ट हो कर भास रहा हो तव तो द्रष्टारूप मे स्पर्शकर्तृत्वरूप के अनुप्रवेश से उसके द्रष्टापन का विलय हो कर वह स्पर्शकर्त्तारूप ही हो जायेगा, उसकी द्रष्टृरूपता नही रहेगी तो 'द्रष्टा मै स्पर्श करता हूँ' इस प्रकार की उभयरूपतावभासक प्रत्यभिज्ञा ही कैसे होगी जिस से द्रष्टा और स्पर्शकर्त्ता के एकत्व की सिद्धि हो सके ? यदि कहे कि स्पर्शकर्तृत्वरूप के अनुप्रवेश विना ही द्रष्टारूप भासित होता है, तो इस का अर्थ यही हुआ कि दर्शनावभास और स्पर्शावभास भिन्न है, तव प्रत्यभिज्ञा यह उभयस्वरूप एक ज्ञान नही किंतु दो भिन्न ज्ञान सावित हुए तो एक प्रत्यभिज्ञा कहाँ रही ? जव दोनो प्रतिभास ही भिन्न है तव प्रत्यभिज्ञा मे एकरूपता नही हो सकती, अन्यथा भिन्न भिन्न घटावभास और पटावभास भी एकरूप हो जायेंगे।

यदि कहे कि-यहाँ केवल प्रतिभास ही भिन्न भिन्न है किंतु दोनो का विषय द्रष्टा और स्पर्शकर्त्ता आत्मा तो अभिन्न एक ही है-तो यहाँ प्रश्न है कि यह अभेद किस से सिद्ध है ? 'प्रतिभास के अभेद से' ऐसा तो कह नही सकते चूँकि अभी तो भिन्न भिन्न प्रतिभास की स्थापना की गयी है। 'स्वत अभेद है' ऐसा भी नही कह सकते चूँकि स्वतः अभेद तो अब भी विवादास्पद है। यदि यह कहा जाय-'दर्शनावभास और स्पर्शावभास दोनो एक ही चिन्मय आत्मा की दो अवस्था है-जब ये दो अवस्थाएं है तो उसका अवस्थाता अभिन्न-एक आत्मा ही सिद्ध होगा अत. कोई भी दोष नहीं है'- तो यह भी असगत है क्योकि दर्शनावस्था के प्रतिभास से केवल अपने से सम्बद्ध ही अवस्थातारूप यानी द्रष्टा का ही ग्रहण हुआ है, स्पर्शनज्ञानसम्बन्धी अवस्थातारूप का यानी स्पर्शकर्त्ता का तो ग्रहण ही नही हुआ, क्योकि दर्शनावस्था के समय स्पर्शनावस्था का उदय न होने से वहाँ स्पर्शनावभास तो है नही, जव स्पर्शनावस्था ही नही है तो 'दर्शनावस्था का अवस्थाता स्पर्शनावस्था मे भी अनुगत यानी व्यापक है' यह भी भासित नही हो सकता।

यदि कहे कि-'स्पर्शावभास से ही दर्शनावस्था में अनुगत-व्यापक अवस्थाता का बोध हो जायेगा'-तो यह भी अशक्य है क्योकि स्पर्शनकाल मे दर्शन तो विनष्ट हो गया है तव उनमे अनुगत अवस्थाता का प्रतिभास कैसे होगा ? यदि स्पर्शनकाल मे विनष्ट दर्शन का भी अवभास माना जाय

यतो नीलप्रतिभासेऽप्येवं वक्तुं शक्यम्-a किमेकनीलज्ञानपरमाण्ववभासोऽपरतन्नीलज्ञानपरमाण्ववभासानुप्रवेशेन प्रतिभाति, b उतानानुप्रवेशेन ? a यद्यनुप्रवेशेन तदैकतन्नीलज्ञानपरमाण्ववभासानामनुप्रवेशान्नीलज्ञानसंवेदनस्यैकपरमाणुरूपत्वम्, तस्य चाननुभवात् कुतो नीलज्ञानसवेदनसिद्धिः ? b अथाननुप्रवेशेन, तदा नीलज्ञानपरमाण्ववभासानामयःशलाकाकल्पानां प्रतिभासनात् कुतः स्थूलमेकनीलज्ञानसवेदनम्, प्रतिनीलज्ञानपरमाण्ववभासं भिन्नत्वात् ? अथ स्वसवेदनावभासभेदे सत्यपि न तत्प्रतिभासस्य नीलज्ञानस्य भेदः । ननु कुतो नीलज्ञानस्याभेद ? किं तत्स्वसवेदनाभेदात्, स्वतो वा ? यदि स्वसवेदनाभेदात्, तदयुक्तम् तद्भेदस्य व्यवस्थापितत्वात् । अथ स्वत एव तदभेद, तदप्ययुक्तम्, तस्याद्यप्यसिद्धत्वात् ।

तब तो पूर्व विनष्ट अनादिकालीन समस्त अवस्थापरम्परा का प्रतिभास होने लगेगा, यह अतिप्रसग होगा। तदुपरात पूर्वावस्था का जब तक उत्तरावस्था के अवभास मे प्रतिभास न हो तब तक अवस्थाता पूर्वावस्था मे अनुगत-व्यापक है यह भी नही जाना जा सकता। यह तो मानना ही होगा कि जो जिस रूप से स्फुरित होता है वह उसी रूप से सत् होता है, अन्यरूप से नही, जैसे कि नीलवस्तु नीलरूपतया भासित होती है तो उसको नील रूप से ही सत् माना जाता है, पीतादिरूप से नही। जब ऐसा मानना ही पडता है तब दर्शन और स्पर्शन ज्ञान से अवस्थाता मे अपना सबध ही केवल स्फुरित होता है अत अवस्थाता को दर्शनसबधी और स्पर्शनसबन्धी ही मान सकते है किन्तु द्रष्टा और स्पर्शकर्त्ता दो अवस्थाता अभिन्नरूप से स्फुरित नही होता है तो एक अवस्थाता की सिद्धि ही कैसे होगी ? [बौद्ध का वक्तव्य समाप्त हुआ]

[नीलप्रतिभास में भी समग्रविकल्पों की समानता]

इस बौद्ध मत को अयुक्त दिखाने के लिये व्याख्याकार नीलप्रतिभास मे बौद्ध प्रतिपादित युक्तियो की समानता का आपादन करते हुए कहते है कि-जो कुछ आपने प्रत्यभिज्ञा के ऊपर दर्शनावभास और स्पर्शनावभास के बारे मे कहा वह सब नीलप्रतिभास मे भी कहा जा सकता है, जैसे देखिये- [विज्ञानवादी बौद्ध मत मे अर्थ ज्ञानभिन्न नही है, तथा बाह्यवादी बौद्ध एक स्थूल अवयवी द्रव्य को न मान कर परमाणुपुञ्ज को ही मानता है, उसके स्थान मे विज्ञानवादी ज्ञान को ही स्थूलाकार मान लेता है, तात्पर्य-वहाँ एक नीलज्ञानात्मक सवेदन मे भिन्न भिन्न नीलज्ञानात्मकपरमाणु अश ही मिलितरूप मे एक और स्थूलरूप मे भासित होता है, इस सदर्भ मे अब व्याख्याकार कहते हैं-]

क्या स्थूल नीलज्ञानपरमाणुओ (रूप अशो) के अवभास मे एक नीलज्ञानपरमाणुअवभास (स्वरूप अश) उसी नीलज्ञानसवेदन के अन्य नीलज्ञानपरमाणुअवभास (रूप अश) के a अनुप्रवेशवाला ही भासित होता है या b विना ही अनुप्रवेश भासित होता है ? यदि a अनुप्रवेशवाला ही भासित होता है तब तो वह एक नीलज्ञानसवेदनान्तर्गत विविध परमाणुअवभासो का एक दूसरे से अनुप्रवेश हो जाने से (उस नीलज्ञानसवेदन मे) केवल एक ही नीलज्ञानपरमाणुरूपता हो जायेगी। एक तो यह आपत्ति और दूसरी-नीलज्ञानसवेदन एकज्ञानपरमाणुरूप मे तो कही भी अनुभवारूढ नही है, तो अब तद्रूप नीलज्ञान सवेदन कैसे सिद्ध होगा ?

यदि कहे कि वहा-b अनुप्रवेश के बिना ही सब नीलज्ञान परमाणुओ का अवभास होता है तब तो जैसे पृथक् पृथक् पूर्वापरक्रम मे अवस्थित लोहशलाकाओ का भिन्न भिन्न प्रतिभास होता है,

यदि दर्शनावस्थायां स्पर्शनावस्था न प्रतिभातीति तदवस्थाव्याप्तिर्दर्शनज्ञानेनावस्थातुर्न
नन्वेवं तदप्रतिभासने तेन तदव्याप्तिरपि कथं ग्रहीतुं शक्या ? तदप्रतिभासने 'तत
पं व्यावृत्तम्' इत्येदतपि ग्रहीतुमशक्यमेव । न च तद्विविक्तप्रतिभासादेव तदव्याप्ति-
वतुं युक्तम्, तदप्रतिभासने तद्विविक्तस्यैवाऽग्रहणात् । न च 'तदव्याप्तिस्तस्य स्वरूपमेव'
ान तत्स्वरूपग्राहिणा तदभिन्नस्वरूपा तदव्याप्तिरपि गृहीतैवेति युक्तम्, तद्व्याप्तावप्यस्य
ात् । न चाऽबाधितैकप्रत्ययविषयस्यात्मन एकत्वमसिद्धम् । न चास्यैकत्वाध्यवसायस्य
स्ति, तद्बाधकत्वेन संभाव्यमानस्य प्रमाणस्य यथास्थानं निषेत्स्यमानत्वात् ।

ेर स्थूल' प्रतिभास नही होता उसी प्रकार पृथक् पृथक् नीलज्ञानपरमाणुओ का प्रतिभास
एक-स्थूल नीलज्ञानसवेदन' होता है वह कैसे अब घटेगा जब कि प्रत्येक नीलज्ञानपरमाणु-
भिन्न भिन्न ही है ? यदि कहे कि-उन परमाणुओ का स्वसवेदनरूप अवभास भिन्न भिन्न
अंशीभूत सकल प्रतिभासरूप नीलज्ञान तो एक ही है, उसमे भेद नही है-तो यहाँ प्रश्न है
ान एक और अभिन्न है' यही कैसे सिद्ध हुआ ? क्या अपने (अशभूत) सवेदनो के अभेद
आप ही ? अगर सवेदनो के अभेद से उसको एक माना जाय तो वह युक्त नही है, क्यों
) सवेदनो का भेद तो पूर्वस्थापित ही है यानी सिद्ध ही है अत: उनके अभेद से उसका
ही हो सकता । यदि अपने आप ही अभेद मानेंगे तो वह ठीक नही है क्योकि नीलज्ञान
है यह तो अब भी विवादास्पद होने से असिद्ध है ।

[अवस्थाद्वय में अवस्थाता की अव्यापिता का ग्रह कैसे ?]

भी सोचना चाहिये कि जब दर्शनावस्था मे स्पर्शनावस्था का प्रतिभास न होने से, दर्शन-
नावस्था के अवस्थाता की दर्शनावस्था मे व्याप्ति का ग्रह शक्य नही है-तो दर्शनावस्था
था का प्रतिभास न होने पर उस व्याप्ति का अभाव भी कैसे गृहीत हो सकता है ?
ा के ग्रह मे स्पर्शनावस्था का प्रतिभास आवश्यक है वैसे ही व्याप्ति-अभाव के ग्रह में
था का प्रतिभास आवश्यक है] स्पर्शनावस्था का प्रतिभास जब नही है तो 'इस दर्शना-
स्थाता स्पर्शावस्था के अवस्थाता से व्यावृत्त (भिन्न) है' यह भी जान लेना अशक्य ही
तद्भेदग्रह मे प्रतियोगिविधया तद् का भान आवश्यक है] यदि ऐसा कहे कि-'वहाँ
र्शावस्था से विविक्त=भिन्नरूप मे ही भासित होती है अत एव स्पर्शावस्था के अवस्थाता
प्ति भी अर्थत: गृहीत हो जाती है ।'-तो यह भी अयुक्त है, क्योकि जब तक स्पर्शावस्था
हीं मानेंगे तब तक दर्शनावस्था मे तद्विविक्तता भी अगृहीत ही रहेगी ।

ह कहा जाय-'स्पर्शावस्था के अवस्थाता की अव्याप्ति तो दर्शनावस्था के स्वरूप मे ही
र दर्शनावस्थाज्ञान अपने स्वरूप को ग्रहण करता है तो तदन्तर्गत उस अव्याप्ति को भी
ा है ।'-तो यह भी ठीक नही, क्योकि हम ऐसा भी कह सकते हैं कि दर्शनावस्था के
ावस्था के अवस्थाता की व्याप्ति अन्तर्गत ही है, अत. अपने स्वरूप को ग्रहण करने
ान तदन्तर्गत व्याप्ति को भी ग्रहण कर ही लेता है. .इत्यादि समानरूप से कहा जा

भवतु वाऽनुसन्धानप्रत्ययलक्षणाद्धेतोस्तदेकत्वसिद्धिस्तथापि नेतरेतराश्रयदोषः, यतो नैकत्वप्रतिबद्धमनुसंधानमन्वयिदृष्टान्तद्वारेण निश्चीयते, येनायं दोषः स्यात्, अपि त्वनेकत्वेऽनुसंधानस्याऽसम्भवात् ततो व्यावृत्तमनुसंधानं तदेकत्वेन व्याप्यत इत्येकसन्ताने स्मरणाद्यनुसंधानदर्शनादनुमानतोऽपि तत्सिद्धिः। न च भेदे दर्शन-स्मरणादिज्ञानानामनुसंधानं सम्भवति, अन्यथा देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तस्य स्मरणाद्यनुसंधानं स्यात्। अथ देवदत्त-यज्ञदत्तयोरेकसन्तानाभावान्नानुसंधानम्, यत्र त्वेकः सन्तानस्तत्र पूर्वाऽपरज्ञानयोरत्यन्तभेदेऽपि भवत्येवानुसंधानम्। ननु सन्तानस्य यदि सन्तानिभ्यो भेद एकत्वं च तदा शब्दान्तरेण स एवात्माऽभिहितो यत्प्रतिबद्धमनुसन्धानम्। अथ संतानिभ्योऽभिन्नः सन्तानस्तदा पूर्वोत्तरज्ञानक्षणानां सन्तानिशब्दवाच्यानां देवदत्त-यज्ञदत्तज्ञानवदत्यन्तभेदात् तदभिन्नस्य संतानस्यापि भेद इति कुतोऽनुसन्धाननिमित्तत्वम्?

अथैकसंततिपतितानां पूर्वोत्तरज्ञानसतानिनां कार्य-कारणभावाद् भेदेऽप्येकसन्तानत्वं तन्निबन्धनश्चानुसन्धानप्रत्ययो युक्तः, न पुनर्देवदत्त-यज्ञदत्तज्ञानयोः कार्यकारणभावः, अतस्तन्निबन्धनसन्तानाभावनिमित्तस्तत्रानुसंधानाभावः ननु। देवदत्तज्ञानं यज्ञदत्तेन यदा व्यापार-व्याहारादिलिंगबलादनुमीयते तदा तद् यज्ञदत्तानुमानजनकं भवतीति कार्यकारणभावनिमित्तैकसन्ताननिबन्धनानुसंधान-

---

वास्तविकता तो यह है कि दृष्टा और स्पर्शकर्त्ता की प्रत्यभिज्ञा मे एकत्व का अबाधितरूप से भान होता है अतः उस प्रत्यभिज्ञा के विषयभूत आत्मा का एकत्व असिद्ध नही है। प्रत्यभिज्ञा मे जो एकत्व का अध्यवसाय होता है उसका कोई भी बाधक प्रमाण नही है, तथा जिस जिस प्रमाण की आप उसके बाधकरूप मे सम्भावना करेंगे उन सभी का अग्रिम ग्रन्थ मे उचित अवसर पर निषेध भी किया जाने वाला है।

[अनुसंधानप्रतीति से एकत्वसिद्धि में अन्योन्याश्रय नहीं]

बौद्ध ने जो पहले यह कहा था कि आत्मा का एकत्व सिद्ध होने पर एकत्वाविनाभावि प्रत्यभिज्ञा–अनुसधानप्रतीति की सिद्धि होगी और अनुसधान की सिद्धि होने पर आत्मा के एकत्व की सिद्धि होगी–इसके ऊपर व्याख्याकार कहते हैं कि अनुसधानप्रतीति से आत्मा के एकत्व की सिद्धि मान लेने पर भी यहाँ इतरेतराश्रय दोष निरवकाश है क्योंकि हम अन्वयिदृष्टान्त से प्रत्यभिज्ञा में एकत्व का अविनाभाव सिद्ध करना नही चाहते है कि जिस से वह दोष हो, किन्तु अगर पूर्वापरज्ञान का आश्रय एक आत्मा न होकर अनेक आत्मा मानेंगे तो यह प्रत्यभिज्ञा ही नही होगी इस प्रकार अनेकत्व होने पर निवर्त्तमान अनुसधान का एकत्व के साथ अविनाभाव निश्चित किया जाता है। अत एक ही ज्ञानसतान मे स्मरणादिरूप अनुसधान के देखे जाने से अनुमान द्वारा भी एकात्मा सिद्ध होता है। यदि दृष्टा और स्मरणकर्त्ता भिन्न मानेंगे तो दर्शन और स्मृतिज्ञान मे एककर्तृत्व का अनुसधान ही नही हो सकेगा, यदि भेद मे भी अनुसधान मानेंगे तो, अनुभव देवदत्त करेगा तो यज्ञदत्त को-उसका स्मरणात्मक अनुसधान होने लगेगा।

[भिन्न सन्तान के स्वीकार में आत्मसिद्धि]

यदि यहाँ बचाव किया जाय कि-यज्ञदत्तज्ञानसन्तान और देवदत्तज्ञानसन्तान भिन्न होने से एक के अनुभव से दूसरे को अनुसधान होने की आपत्ति नही है, जहाँ पूर्वापरज्ञानों का सन्तान एक होता है वहाँ उन ज्ञानो मे अत्यत भेद होने पर भी अनुसधान हो सकता है तो यहाँ दो विकल्प है–वह सतान

प्रसक्तिः स्यात् । अथ स्वसन्ततावुपादानोपादेयभावेन ज्ञानानां जन्यजनकभावः, भिन्नसंततौ तु सहकारिभावेन तद्भाव इति नाऽयं दोष । ननु किं पुनरिदमुपादानत्वं यदभावाद् भिन्नसन्तानेऽनुसन्धानाभाव ? A यत् स्वसततिनिवृत्तौ कार्यं जनयति तदुपादानकारणम्, यथा मृत्पिण्डः स्वयं निवर्त्तमानो घटमुत्पादयतीति स घटोत्पत्तावुपादानकारणम्- B अथवाऽपरम्, अनेकस्मादुत्पद्यमाने कार्ये स्वगतविशेषाधायकं तत्, न त्वेवं निमित्तकारणम् ?

ननु प्रतिक्षणविशरारुष्वेकस्वभावपौर्वापर्यावस्थितज्ञानस्वभावेषु क्षणेषूपादानोपादेयभाव एव न व्यवस्थापयितुं शक्यः । तथाहि-उत्तरज्ञानं जनयत् पूर्वज्ञान a किं नष्टं जनयति b उताऽनष्टम्, c उभयरूपं, d अनुभयरूपं वा ? a न तावन्नष्टं, चिरतरनष्टस्येवानन्तरनष्टस्याप्यविद्यमानत्वेनो-

सतीनीयो से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न एक सन्तान मानेंगे तो यह शब्दान्तर से आत्मा का ही कथन हुआ, जिस के एकत्व के साथ अनुसधान गाढसलग्न है । अगर वह सतान सतानीयों से अभिन्न है तब पूर्वोत्तरअनेकक्षण ही सतानी शब्द के वाच्य हुए और उन सन्तानीयो में तो देवदत्तज्ञान-यज्ञदत्तज्ञान की तरह अत्यन्त भेद होने से उससे अभिन्न सन्तान भी भिन्न भिन्न हो गया, जब एक संतान ही नही रहा तो वह एकत्वअनुसधान का निमित्त भी कैसे बन सकेगा ?

[कार्यकारणभावमूलक एकसंतानता की समीक्षा]

पूर्वपक्षी'-एकसन्ततिपतित पूर्वोत्तरज्ञानरूप सन्तानीयो मे यद्यपि भेद है, तथापि उनमे कार्यकारणभाव होता है और तन्निमित्त एकसन्तानता भी मानी जाती है, अब तो एकसन्तानमूलक अनुसधानप्रतीति हो सकती है । यज्ञदत्त देवदत्त सन्तानो मे कार्यकारणभाव न होने से तन्मूलक एकसन्तानता के अभावअनुसधान की आपत्ति नही होगी ।

उत्तरपक्षीः-यज्ञदत्तज्ञान और देवदत्तज्ञान मे भी निम्नोक्त रीति से कार्य-कारणभाव संभव है-जब देवदत्त की चेष्टा और जल्पन रूप लिंग से यज्ञदत्त को देवदत्तसतानगत ज्ञान का अनुमान होता है तब यज्ञदत्त के अनुमानज्ञान मे विषयविधया देवदत्तज्ञान भी कारण बना, तो कार्य-कारणभाव यहाँ अक्षुण्ण होने से तन्मूलक एकसन्तानता के अभाव से अनुसधान का प्रसग तदवस्थ ही रहेगा ।

पूर्वपक्षी -देवदत्त के अपने सतान मे, पूर्वापरज्ञान मे जो कार्यकारणभाव होता है वह उपादान-उपादेय भाव रूप होता है । देवदत्त और यज्ञदत्त दोनो के भिन्न सन्तान मे जो आपने कार्यकारणभाव दिखाया, वहाँ तो देवदत्त का ज्ञान यज्ञदत्तज्ञान मे सहकारि भाव रूप से जनक है, अनुसधान तो वहाँ ही हो सकता है जहाँ उपादानोपादेयभावात्मक कार्यकारणभाव हो ।

[उपादान-उपादेयभाव में दो विकल्प]

उत्तरपक्षीः-जिस उपादानोपादेयभाव के अभाव से आप भिन्न सतान मे अनुसधानाभाव दिखाते हो, यहा उपादान किसको आप कहते हैं ? दो प्रकार के उपादान हो सकते हैं-(A) जो अपनी सन्तति की निवृत्ति होने पर कार्य की उत्पत्ति करे वह उपादान कारण कहा जाता है-जैसे: मृत्पिड का सन्तान चला आ रहा है, जब वह निवृत्त होता है तब घटोत्पत्ति होती है तो वहां मृत्पिड को घट का उपादान कारण कहा जाता है । अथवा दूसरा-(B) अनेक कारणो से कार्य उत्पन्न होता है वहाँ जो कारण अपनी विशेषताओ का आधान उसके कार्य मे करता हो वह उपादान कारण । जैसे

त्पादकत्वविरोधात् । b नाप्यनष्टम्, क्षणभंगभंगप्रसंगात् । c नाप्युभयरूपम्, एकस्वभावस्य विरुद्धोभयरूपाऽसम्भवात् । d नाप्यनुभयरूपम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्य तदपरविधाननान्तरीयकत्वेनानुभयरूपताया अयोगात् । अथ यदि व्यापारयोगात् कारणं कार्योत्पादकमभ्युपगम्येत तदा स्यादयं दोषः–यदुत नष्टस्य व्यापाराऽसम्भवात् कथं कार्योत्पादकत्वम्, यदा तु प्राग्भावमात्रमेव कारणस्य कार्योत्पादकत्वं तदा कुत एतद्दोषावसरः ? नन्वेतस्मिन्नभ्युपगमे प्राग्भाविनोऽनेकस्मादुपजायमाने कार्ये कुतोऽयं विभागः–इदमत्रोपादानकारणम्, इदं च सहकारिकारणमिति, द्वयोरपि कार्येणानुविहितान्वय-व्यतिरेकत्वात् ?

घट के कारण दण्डचक्रादि अनेक है किन्तु घट मे दण्डादि की विशेषताएँ नही होती किन्तु मृत्पिड की विशेषताएँ (समान वर्णादि) दिखती हैं अतः मृत्पिड घट का उपादान कारण है ।–निमित्त कारण दण्डादि, दो प्रकार मे से एक भी प्रकार की उपादानतावाला नही होता । [अब व्याख्याकार यह दिखाते है कि किसी भी प्रकार की उपादानता मानी जाय, बौद्धमत मे वह नही घट सकती । तदनन्तर क्रमशः B और A विकल्पो की आलोचना करेंगे]

[बौद्धमत में उपादान-उपादेयभाव में चार विकल्प]

व्याख्याकार कहते है कि जो एक ही स्वभाव वाले और पूर्वापरभाव से अवस्थित है वे सब ज्ञानात्मकक्षण अगर प्रतिक्षण नश्वरस्वभाववाले है तो उनमे उपादान–उपादेयभाव की स्थापना ही नही की जा सकती । वह इस प्रकार–(a) उत्तरक्षण को जन्म देने वाला पूर्वक्षण द्वितीयक्षण मे नष्ट हो कर उत्तरक्षण को उत्पन्न करता है या (b) नष्ट न हो कर [यानी जीवित रह कर], या (c) नष्टानष्ट उभयरूप से, अथवा (d) न नष्ट हो कर और न जीवित रहकर–अनुभयरूप से ? इनमे से (१) 'नष्ट होकर' यह नही बन सकता क्योकि जैसे चिर पूर्व मे नष्ट होने वाला क्षण उस कार्य का उत्पादक बने इसमे विरोध है, उसी प्रकार निरन्तर नष्ट होने वाला क्षण भी उस कार्य का उत्पादक बने इस मे विरोध आयेगा । (२) 'द्वतीयक्षण मे जीवित रहकर' यह भी नही मान सकते क्योकि तब अनेक क्षणवृत्ति उसको मानना होगा और क्षणभगवाद ही समाप्त हो जायेगा । (३) 'उभयरूप से' यह भी नही कह सकते क्योकि एक स्वभाव वाले एक क्षण मे दो विरुद्ध स्वरूपो का सम्भव नही है । (४) 'अनुभयरूप से' यह भी नही कह सकते-क्योकि जहाँ दो रूप मे परस्पर व्यवच्छेदकता होती है वहाँ एकरूप के निषेध से दूसरे का विधान अर्थात अविनाभावी यानी अवश्यभावी होने से अनुभयरूपता यहाँ घट ही नही सकती ।

पूर्वपक्षीः–अगर हम व्यापार के द्वारा नष्ट कारण को कार्योत्पादक माने तब विरोध दोष सावकाश है क्योकि जो उत्पन्न होने के बाद दूसरे ही क्षण मे नष्ट हो गया उसका उत्तरक्षणरूप कार्य के उत्पादन मे कोई व्यापार सम्भवित नही है । किन्तु, हम तो कारण की पूर्ववृत्तिता को ही कार्योत्पादकता मानते है तो यहाँ विरोधदोष को अवसर ही कहाँ है ?

उत्तरपक्षीः–इस मान्यता मे यह प्रश्न होगा कि जब एक कार्य अनेक कारणो से उत्पन्न होता है तो वहाँ 'यह उपादान कारण' और 'यह सहकारिकारण' ऐसा विभाग ही कैसे होगा जब कि दोनो प्रकार के कारणो मे पूर्ववृत्तिता अर्थात् कार्य का अनुविधान करने वाला अन्वय-व्यतिरेक तो तुल्य है ?

अथ सत्यप्यन्वय-व्यतिरेकानुविधाने एकस्योपादानत्वेन, जनकत्वमपरस्यान्यथेति । नन्वेतदेवोपादानभावेन जनकत्वं कस्यचिद् रूपस्याननुगमे प्राग्भावित्वमात्रेण दुरवसेयम् । अथाभिहितमेवोपादानकारणत्वस्य लक्षणं तदवगमात् कथं तद् दुरवसेयम् ? सत्यम्, उक्तम्, न तु कस्यचिद्रूपस्याननुगमे तत् सम्भवति, नाप्यवसातु शक्यम् । तथाहि–B यत् स्वगतविशेषाधायकत्वमुपादानत्वमुक्तं तत् किं–(१) स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वमाहोस्वित् (२) सकलविशेषाधायकत्वमिति ? तत्र यदि (१) प्रथम. पक्षः, स न युक्तः, सर्वज्ञज्ञाने स्वाकारार्पकस्यास्मदादिविज्ञानस्य तं प्रत्युपादानभावप्रसंगात् । तथा, रूपस्यापि रूपज्ञानं प्रत्युपादानभावप्रसक्तिः, तस्यापि स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वात्, अन्यथा निराकारस्य बोधस्य सर्वान् प्रत्यविशेषाद् 'रूपस्यैवाय ग्राहको न रसादेः'-इति ततः प्रतिकर्मं व्यवस्था न स्यात् । रूपोपादानत्वे च ज्ञानस्य, परलोकाय दत्तो जलाञ्जलि स्यात् । किं च, कतिपयविशेषाधायकत्वेनोपादानत्वे एकस्यैव ज्ञानक्षणस्य तत्कार्यानुगत-व्यावृत्तानेकधर्मसम्बन्धित्वाभ्युपगमे विरुद्धधर्माध्यासोऽभ्युपगतो भवति, तथा च यथा युगपद्भाव्यनेकविरुद्धधर्माध्यासेऽप्येकं विज्ञानं तथा क्रमभाव्यनेकसद्धर्मयोगे किमित्येकं नाऽभ्युपगम्येत ?

[उपादान–सहकारी कारण-विभाग कैसे ?]

पूर्वपक्षीः–दोनो प्रकार के कारणो मे कार्य के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान तुल्य होने पर भी एक उपादानरूप से उत्पादक होता है, दूसरा मात्र सहकारीभाव से–इतना स्पष्ट तो अन्तर है ।

उत्तरपक्षीः-अरे भाई ! यह 'उपादानरूप से उत्पादकत्व' जब तक उपादानत्वप्रयोजक रूपविशेष का अनुगम न हो तब तक केवल पूर्ववृत्तिता मात्र से तो दुर्गम है । तात्पर्य यह है कि जिस को आप उपादान कारण कहना चाहते हो उसमे वह कौनसी लाक्षणिकता है यह दिखाओ !

पूर्वपक्षः–उपादान कारण के दो लक्षण पूर्व मे बता तो चुके हैं, उस लक्षण से उपादानता सुबोध्य है तो दुर्गम कैसे ?

उत्तरपक्षीः-बात सही है, लक्षण तो कहा है किन्तु जब किसी स्वरूपविशेष को लक्षणरूप मे दिखाया जाय तब उसका स्पष्ट अनुगम भी होना चाहिये अन्यथा न तो वहाँ लक्षण का सम्भव हो सकता है न तो उसका ज्ञान । जब उस लक्षण की समीक्षा करते है तब उसका कोई स्वरूप ही निश्चित नही होता । जैसे देखिये–

[स्वगतविशेषाधानस्वरूप उपादान के दो विकल्प]

'अपने मे रही हुई विशेषताओ का कार्य मे आधान करना' यह उपादान का दूसरा लक्षण आपने दिखाया है, उसके ऊपर प्रश्न है–(१) क्या स्वगत कुछ ही विशेष का आधान कहते हो, या (२) स्वगत सकल विशेषो का आधान ?

प्रथम पक्ष को मानेगे तो वह अयुक्त है । कारण, हमारा-आप का जो ज्ञान है उसका ज्ञान सर्वज्ञ को होता है, वहाँ सर्वज्ञज्ञान को अपना ज्ञान भी कुछ आकारार्पण करता है इसलिये अपना ज्ञान सर्वज्ञज्ञान का उपादान कारण मानने का अतिप्रसग आयेगा । तदुपरात रूपज्ञान मे रूप भी अपने कुछ आकार का आधान करता है इसलिये रूपक्षण भी रूपज्ञानक्षण के प्रति उपादान भाव को प्राप्त हो जायेगा । यदि विषय को ज्ञान मे आकारार्पक नही मानेगे तो ज्ञान निराकार रहेगा, निराकार ज्ञान

(B२) अथ सकलविशेषाधायकत्वेन, न तर्हि निर्विकल्पकात् सविकल्पकोत्पत्तिः । न च निर्विकल्पकयोरप्युपादानोपादेयत्वेनाऽभ्युपगतयोस्तद्भावः स्यात्, तथा च कुतो रूपाकारात् समनन्तरप्रत्ययात् कदाचिद् रसाद्याकारस्याप्युपादेयत्वेनाभिमतस्योत्पत्तिः ? अथ विज्ञानसन्तानबहुत्वाभ्युपगमान्नायं दोषः तेन सर्वस्य स्वसदृशस्योत्पत्तिः, तर्ह्यस्मिन् दर्शने एकस्मिन्नपि सन्ताने प्रमातृनानात्वप्रसङ्गः, तथा च गवाश्वदर्शनयोर्भिन्नसन्तानवर्तिनोरेकेन दृष्टेऽर्थेऽपरस्यानुसन्धानं न स्यात्, देवदत्त-यज्ञदत्तसन्तानगतयोरिवान्येनानुभूतेऽन्यस्य । दृश्यते च-गामहं ज्ञातवान् पूर्वमश्वं जानाम्यहं पुनः ।
[श्लो० वा० ५-आत्म० १२२].

किं च, सकलस्वगतविशेषाधायकत्वे सर्वात्मनोपादेयज्ञानक्षणे तस्योपयोगादनुपयुक्तस्यापरस्वभावस्याभावाद्योगिविज्ञानं रूपादिकं चैकसामग्र्यन्तर्गतं प्रति न सहकारित्वं तस्येति सहकारिकारणाभावे नोपादेयक्षणव्यतिरिक्तकार्यान्तरोत्पादः ।

तो सभी विषयो के प्रति उदासीन रहेगा, अत आकार के आधार पर जो 'यह ज्ञान रूप का ही ग्राहक है, इसका नही, इस प्रकार प्रत्येक कर्म यानी विपय के सम्बन्ध मे तत् तत् ज्ञान की व्यवस्था होती है वह नही हो सकेगी । दूसरे, रूपज्ञान और रूप सर्वथा भिन्नस्वरूप होने पर भी रूप को रूपज्ञान का उपादान कारण मानेंगे तो ज्ञान के प्रति शरीर को उपादान कारण मानने वाले नास्तिक की इष्टसिद्धि होने से परलोक को जलाञ्जलि दे देने की आपत्ति आपको आयेगी । तथा यदि उपादान कारण को कुछ ही विशेषो का आधान करने वाला मानेंगे तो अपने कार्य के कुछ विशेष धर्म तो कारण मे भी अनुगत रहेगा और कारणगत अन्य विशेष धर्मो, जिन का आधान कार्य मे नही हुआ है, वे कार्य से व्यावृत्त रहेगे । फलतः एक ही कारणभूत ज्ञानक्षण मे कुछ तत्कार्यानुगत धर्म का सम्बन्ध रहेगा और कुछ तत्कार्यव्यावृत्तधर्म का सम्बन्ध रहेगा-इस प्रकार मानने पर तो विरुद्धधर्माध्यास भी स्वीकारना होगा इस स्थिति मे हम कह सकते है कि जब एक साथ ही रहने वाले अनेक विरुद्ध धर्मो का अध्यास होने पर भी वह ज्ञानक्षण एक ही है तो भिन्न भिन्न काल मे एक ही वस्तु मे अनेक विरुद्ध धर्मो का योग मान कर वस्तु को एक और अनेक क्षणस्थायी क्यो न मानी जाय ?

[सकलविशेषाधान द्वितीय विकल्प के तीन दोष]

(B२) यदि कार्य मे जो अपने सकलविशेषो का आधान करे उसको उपादान कहा जाय तो तीन दोष है-(१) निर्विकल्पक के सकल विशेषो का सविकल्प मे आधान न होने से निर्विकल्प से सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति न होगी । (२) जब पूर्वापर भाव से दो निर्विकल्पकज्ञान उत्पन्न होते है तो उन मे उपादान-उपादेयभाव सर्वमान्य है किन्तु वह अब नही घटेगा चूँकि निर्विकल्पकज्ञान विशेषाकारशून्य होने से सकलविशेष के आधान का सम्भव ही नही है । (३) पूर्वकालीन रूपाकार समनन्तर प्रत्ययरूप उपादान से उत्तरकाल मे कभी रसाद्याकार उपादेयज्ञान की उत्पत्ति आप को अभिमत है किन्तु वह भी नही घटेगी क्योकि रूपाकार ज्ञान अपने सकल विशेषो मे अन्तर्गत रूपाकार का ही आधान उपादेय मे करेगा ।

[एक काल में अनेक संतान मानने में आपत्ति]

यदि दोनो दोषो के निवारणार्थ यह कहा जाय-"सविकल्पज्ञान अपने पूर्वकालीन सदृशज्ञान से, निर्विकल्पज्ञान भी अपने पूर्वकालीन सदृशज्ञान से और रसाद्याकारज्ञान भी अपने पूर्वकालीनसदृश

अथ येषां कारणमेव कार्यतया परिणमति तेषां भवत्वयं दोषो, न त्वस्माकं प्रागभावमात्रं कारणत्वमभ्युपगच्छताम् । नन्वत्रापि मते a येन स्वरूपेण विज्ञानमुपादेयं विज्ञानान्तरं जनयति किं तेनैव रूपमेकसामग्र्यन्तर्गतम् ? b उत स्वभावान्तरेण ? तत्र a यदि तेनैव तदा रूपमपि ज्ञानमुपादेयभूतं

रसादिज्ञान से ही उत्पन्न होता है। 'सविकल्पज्ञान के पूर्व तो निर्विकल्पज्ञान होता है और रसाद्याकार-ज्ञान पूर्व तो वहाँ रूपाकारज्ञान था तो सदृशज्ञान कहाँ से आया ? ऐसी शका करने की जरूर नही क्योकि एक ही काल मे अनेक विज्ञान सतान मानते है अतः उपरोक्त कोई दोष नही है । अर्थात् अनेक विज्ञान सतान की मान्यता होने से सभी ज्ञान स्वसदृशज्ञान से ही उत्पन्न होता है, यह भी मान सकते हैं।"-तो ऐसा कहने वाले के दर्शन (=मत) मे एक ही देवदत्तादिसतान मे अनेक प्रमाता मानने का अतिप्रसग आयेगा, फलतः गोदर्शन के बाद अश्वदर्शन होगा तो उन दोनो का भिन्न सन्तान मानना पडेगा, इसका दुष्परिणाम यह आयेगा कि-गोदर्शन और अश्वदर्शन भी भिन्नसन्तानवर्त्ती हो जाने से एक सन्तान मे दर्शन होने पर दूसरे सन्तान को अनुसधान नही हो सकेगा, क्योकि देवदत्त ने देखा हो तो यज्ञदत्त को उसका अनुसधान नही होता उसी प्रकार अन्य सतान के अनुभव का अनुसधान दूसरे सन्तान को नही हो सकता । दिखता भी है- (श्लोकवार्त्तिक मे कहा है-) 'पहले मैंने गाय को जाना था और अब अश्व को जान रहा हूँ' ।

[सकलविशेषाधान पक्ष में सहकारिकथा विलोप]

दूसरी बात यह है कि कारणगत सकल विशेषो का कार्य मे आधान मानेंगे तो उपादेयज्ञान-क्षण की उत्पत्ति मे ही उपादानज्ञानक्षण सर्वांश उपयुक्त=व्यापृत हो जायेगा, उसका कोई अश ऐसा नही बचेगा जो वहाँ अनुपयुक्त हो, अर्थात् उपादानक्षण मे ऐसा कोई अन्य स्वभाव ही नही है जो वहाँ अनुपयुक्त रहा हो । इस स्थिति मे योगिज्ञान के प्रति, एव एक सामग्री अन्तर्गत रूपादि अन्य कारणो का वह उपादानज्ञानक्षण सहकारी नही बन सकेगा, क्योकि वहाँ सहकारी बनने के लिये कोई अवशिष्ट अनुपयुक्त स्वभाव ही नही है । जब वह किसी का भी सहकारी नही है तो फलित यह होगा कि किसी भी कारण से केवल उपादेयक्षणात्मक कार्य की ही उत्पत्ति होती है सहकार्यरूप कार्य की कभी नही । तात्पर्य, सहकारीकारण की कथा नामशेष हो जायेगी ।

[प्रागभावमात्रस्वरूप कारणता के ऊपर दो विकल्प]

पूर्वपक्षीः-आपने जो उपादेयक्षणभिन्न कार्य के अनुत्पाद का दोष दिखाया है वह तो उन परिणामवादियो के मत मे होगा जो मानते हैं कि कारण ही कार्यात्मक परिणाम मे परिणत हो जाता है, क्योकि कारण सर्वात्मना उपादेयकार्य मे परिणत हो जाने से उपादेयकार्य से भिन्न किसी भी कार्य का उत्पाद ही शक्य न होगा । हमारे मत मे ऐसा नही है, हम तो मानते है कि जो केवल पूर्ववर्त्ती हो वही कारण है । उपादेयक्षण का वह जैसे पूर्ववर्त्ती है वैसे सहकार्य रूपादि का भी पूर्ववर्त्ती होने से दोनो कार्य एक ही क्षण से उत्पन्न हो सकेंगे ।

उत्तरपक्षीः-अरे, इस पक्ष मे भी यह प्रश्न होगा कि a विज्ञान जिस स्वरूप से (स्वभाव से) उपादेयक्षणात्मक अन्य विज्ञान को उत्पन्न करता है, क्या उसी स्वभाव से एकसामग्री-अन्तर्गत रूपादि को उत्पन्न करेगा ? b या अन्य स्वभाव से ? a यदि उसी स्वभाव से, तब तो उत्पन्न होने वाले रूपादि

स्यात्, तत्स्वभावजन्यत्वात्, तदुत्तरज्ञानक्षणवत्। अथ b स्वभावान्तरेण तदोपादानाभिमतं ज्ञान द्विस्वभावमासज्यते। यथा चोपादान-सहकारिस्वभावरूपद्वययोगस्तथा त्रैलोक्यान्तर्गतान्यकार्यान्तरापेक्षया तस्याऽजनकत्वमपि स्वभाव, ततश्चैकत्वं ज्ञानक्षणस्य यथोपादान सहकार्यऽजनकत्वानेकविरुद्धधर्माध्यासितस्याभ्युपगम्यते तथा हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्त्तात्मनस्तत्सन्तानस्याप्यभ्युपगन्तव्यम्।

अथोपादान-सहकार्यऽजनकत्वादयो धर्मास्तत्र कल्पनाशिल्पिकल्पिता, एकत्वं तु तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धमिति न तैस्तदपनोयत इति मतिस्तर्ह्यात्मनोऽप्येकत्वं सन्तानशब्दाभिधेयतया प्रसिद्धस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धस्य क्रमवद्धर्ष विषादादिकार्यदर्शनाऽनुमीयमानतदपेक्षजनकत्वाऽजनकत्वधर्मापनेयं न स्यात्। तन्न स्वगतसकलधर्माधायकत्वमुपादानत्व भवदभ्युपगमेन संगतम्।

A नापि सन्ताननिवृत्त्या कार्योत्पादकत्वस्वभाव, तथाऽभ्युपगमे ज्ञानसन्ताननिवृत्तेः परलोकाभावप्रसंग।

भी उपादेयमात्मक विज्ञानमय ही हो जायेगा क्योकि रूपादि उसी स्वभाव से ही उत्पन्न है जिस स्वभाव से उत्तरज्ञानक्षण उत्पन्न होता है, अत समानस्वभाव से उत्पन्न उत्तरज्ञानक्षणवत् रूपादि भी समान यानी विज्ञानरूप ही होगा। b यदि अन्य स्वभाव से रूपादि की उत्पत्ति होती है, तो उपादानरूप से मान्य विज्ञानक्षण मे स्वभावद्वय प्रसक्त होगा। तदुपरात, जैसे एक ही क्षण उपादानस्वभाव और सहकारिस्वभाव ये दोनो से युक्त है, वैसे सकल भूमडल अन्तर्गत अन्य जो जन्य कार्य है उनकी अपेक्षा उसी क्षण मे अजनकत्व स्वभाव भी मानना होगा, क्योकि उन सभी कार्यो का वह एक क्षण अजनक भी है। [इससे क्या सिद्ध हुआ ? उ०] इससे यह फलित होगा कि जैसे एक ही ज्ञानक्षण उपादानस्वभाव, सहकारिस्वभाव और अजनकत्व आदि परस्परविरुद्ध धर्मो से अधिष्ठित होने पर भी उसका एकत्व अक्षुण्ण है वैसे ही हर्ष-खेद आदि अनेक विवर्त्तस्वरूप भिन्नकालीन परस्परविरुद्ध धर्मो से अधिष्ठित जो देवदत्तादि सन्तान है उसी का भी एकत्व मानना होगा। तात्पर्य, देवदत्तसतान मे एक अनुगत आत्मा सिद्ध हुआ।

[कल्पित धर्मों से एकत्व अखंडित रहने पर एकात्मसिद्धि]

पूर्वपक्षीः-एक ज्ञानक्षण मे जो उपादान-सहकारी अजनकत्वादि धर्म हैं वे सब कल्पना शिल्पी से कल्पित है, वास्तव नही है, उन कल्पित परस्परविरुद्ध धर्मो से उस क्षण का स्वसवेदनप्रत्यक्षसिद्ध वास्तव एकत्व खडित नही हो सकता।

उत्तरपक्षीः-अगर ऐसी आपकी मान्यता है तब तो यह भी मान लेना चाहिये कि पूर्वापर क्षणो मे आत्मा का जो वास्तविक एकत्व है वह भी, जनकत्व और अजनकत्वादि विरोधाभासी धर्मो के योग से खण्डित नही होगा,-क्रमिक हर्ष खेद आदि कार्यो के देखने से हर्षादि कार्यो की अपेक्षा जनकत्व का और शेष जन्य कार्यो की अपेक्षा अजनकत्व का तो एक आत्मा मे केवल अनुमान ही किया जाता है, यानी वे कल्पित ही है। उपरोक्त चर्चा का सार यही है कि 'स्वगत सकल धर्मो का आधायकत्व' यह उपादान का लक्षण आपकी ही अन्य मान्यता के अनुसार असगत सिद्ध होता है।

A उपादान का जो प्रथम लक्षण किया गया था-'सतान की निवृत्ति होकर कार्य की उत्पत्ति करने का स्वभाव' वह लक्षण भी असगत है क्योकि इस पक्ष मे ज्ञानसतान की निवृत्ति हो कर अन्य

अथ समनन्तरप्रत्ययत्वमुपादानत्वमुच्यते। तथाहि-सम=तुल्यः, अनन्तरः=अव्यवहितः प्रत्ययो जनकः। न चैतद् भिन्नसन्तानादिति न तत्रानुसन्धानसम्भवः। नन्वत्रापि समत्वं कार्येण यद्युपादानत्वं प्रत्ययस्य, तदा वक्तव्यम्-किं a सर्वथा समानत्वम् ? b उतैकदेशेन ? यदि a सर्वथा, तदसद्-कार्य-कारणयोः सर्वथा तुल्यत्वे यथा कारणस्य प्राग्भावित्वं तथा कार्यस्यापि स्यात्। तथा च कार्य-कारणयोरेककालत्वान्न कार्यकारणभावः। न ह्येककालयोः कार्यकारणभावः सव्येतरगोविषाणवत्। तथा, कारणाभिमतस्यापि स्वकारणकालता, तस्यापि स्वकारणकालतेति सकलसन्तानशून्यमिदानीं समस्तं जगत् स्यात्। b अथ कथंचित् समानता, तथा सति योगिज्ञानस्याप्यस्मदादिज्ञानालम्बनस्य तदाकारत्वेनैकसन्तानत्वं स्यात्' इत्यादि दूषणं पूर्वोक्तमेव। अथानन्तरत्वमुपादानत्वम्, ननु क्षणिकैकान्तपक्षे सर्वजगत्क्षणानन्तरं विवक्षितक्षणे जगद् जायत इति सर्वेषामुपादानत्वमित्येकसन्तानत्वं जगतः। देशानन्तर्यं तत्रानुपयोगि, देशव्यवहितस्यापीहजन्ममरणचित्तस्य भाविजन्मचित्तोपादानत्वाभ्युपगमात्। प्रत्ययत्वं तु नोपादानत्वं, सहकारित्वेऽपि प्रत्ययत्वस्य भावात्। तन्न समनन्तरप्रत्ययत्वमप्युपादानत्वम्। न च प्रतिक्षणविशरारुषु भावेषु कथञ्चिदेकान्वयमन्तरेण जनकत्वमपि संगच्छते किमुतोपादानादिविभागः-इति क्षणभंगभंगप्रतिपादनावसरेऽभिधास्यामः।

विसभागसततिरूप कार्य उत्पन्न होगा तो फिर परलोक किसका माना जायेगा ? परलोक का अभाव प्रसग आपतित होगा।

[समनन्तरप्रत्यय को उपादान नहीं कह सकते]

पूर्वपक्षीः—हम समनन्तर प्रत्यय को ही उपादान कहते है। जैसे देखिये, सम यानी तुल्य और अनन्तर यानी व्यवधान(=अतर)रहित, ऐसा जो प्रत्यय(=ज्ञान), वही जनक यानी उपादान है। ऐसे उपादान मे भिन्न सन्तान से तुल्यता न होने के कारण, भिन्न सन्तान का वह उपादान न होने से वहाँ भिन्न सन्तान मे अनुसन्धान होने की आपत्ति नही होगी।

उत्तरपक्षी'–अगर यहाँ प्रत्यय मे कार्य के साथ तुल्यता को ही उपादानता कहते है तव दो प्रश्न होगे –(a) वहाँ कार्य के साथ तुल्यता सर्वांश मे मानते है ? या (b) किसी एक अश से ? a सर्वांश से कारण और कार्य मे तुल्यता हो ही नही सकती, वरना कारण मे पूर्ववत्तिता है तो कार्य भी सर्वथा तुल्य होने से पूर्ववर्त्ती मानना होगा। जब कारण-कार्य दोनों पूर्ववर्त्ती याने एककालीन होगे तव उन दो मे कार्य कारणभाव ही नही घटेगा क्योकि समानकालीन दो वस्तु मे कभी कार्य-कारणभाव नही हो सकता, जैसे दाये-बायें गो सीग समानकालोत्पन्न और समकालवर्त्ती है तो उन दो मे वह नही होता है। तदुपरात, कारण भी अपने कारण का कार्य होने से, कारण और उसका कारण ये दोनो भी सर्वांश मे तुल्य होने से समकालीन वन जायेगे, उस कारण का कारण भी उसका समानकालीन बन जायेगा—इस प्रकार एक सतानवर्त्ती और कारण-कार्यरूप से अभिमत सकल क्षणो मे कालिक पूर्वापरभाव का उच्छेद हो जाने से सन्तानभाव भी न रहेगा तो समुचा जगत् सर्वसन्तान शून्य हो जायेगा।

[आंशिक समानता पक्ष में आपत्ति]

अगर सर्वांश से नही किन्तु कुछ अश मे ही समानता मानेंगे तो इस पक्ष में पहले ही दूषण दिखा दिया है कि, हमारे-आपके ज्ञान को विषय करने वाले योगिपुरुष के ज्ञान मे हमारा-आपका

अत्र केचित् तुल्येऽपि जनकत्वे स्वपरसन्तानगतयोरुपादानत्वे कारणमाहुः-"स्वसन्ततौ चेतितं *ज्ञानं ज्ञानान्तरजनकम्, न त्वेवं परसन्ततौ, अतोऽजनकत्वव्यतिरिक्तस्योपादानकारणत्व निमित्तस्य संभवादित्थंभूतात् हेतुफलभावाद् व्यवस्था।"–अत्रापि व्यवस्थानिमित्तत्वमयुक्तम्, नहि ज्ञानमसंवेदितं व्यवस्थां लभते। सवेदनं हि ज्ञानानां स्वत एवेष्यते, तच्च स्वसन्ततिपतिते इव परसततिपतितेऽपि तुल्यम्। ज्ञानान्तरवेद्यत्व तु न शाक्यैरभ्युपगम्यते ज्ञानस्य नियमत इति नायमप्यतिप्रसगपरिहारः।

न च स्वसन्ततावपि स्वसविदितज्ञानपूर्वकता ज्ञानस्य सिद्धा मूर्छाद्यवस्थोत्तरकालभाविज्ञानस्य तथात्वानवगमात्; यतो विज्ञानपूर्वकत्वेऽपि तत्र विप्रतिपन्ना वादिनः कुतः पुनः सविदितज्ञानपूर्वकत्वम्? तत्रैतत् स्यात्–विज्ञानपूर्वकत्वस्यानुमानेन निश्चयात् कथं विप्रतिपत्तिः? तच्च दर्शितम् 'तज्जातीयात् तज्जातीयोत्पत्तिः' इति। एतदसत्, अतज्जातीयादपि भावानामुत्पत्तिदर्शनाद् यथा धूमादेः।

ज्ञान विषयविधया कारण है और दोनो मे कुछ अश मे समानता भी है तो दोनो ज्ञान एकसन्तान के सभ्य बन जायेंगे। अगर केवल अनन्तरत्व को (यानी पूर्ववर्तिता को) ही उपादानत्व कहा जाय तब तो कोई एक विवक्षित क्षण मे पूर्वक्षणभावि समस्त जगत् के अनन्तर (उत्तरक्षण मे) पूरा जगत् उत्पन्न होता है अतः पूर्वक्षणवर्त्ती पूरा जगत्, उत्तरक्षणवर्त्ती पूरे जगत् का उपादान बन जाने से सारा जगत् केवल एकसन्तानरूप बन जायेगा।

[दैशिक आनन्तर्य उ. उ. भाव में अघटित]

यदि कहे कि–वहाँ कालिक आनन्तर्य होने पर भी दैशिक आनन्तर्य पूरे जगत् मे नही है अतः सारे जगत् मे उपादानताप्रसगमूलक एकसन्तानत्व की आपत्ति नही होगी–तो यह कथन भी उपयोगी नही, व्यर्थ है, क्योंकि दैशिक आनन्तर्य उपादान–उपादेय मे होने का नियम ही नही घट सकता। कारण, जिस देश मे भावि जन्म होगा, उस जन्म के चित्त के प्रति इस जन्म का चित्त जो कि भिन्न देश में है, उपादान बनता है–यह आप भी मानते है। केवल प्रत्ययत्व को भी उपादानत्व नही कहा जा सकता क्योंकि प्रत्ययत्व तो सहकारी कारण मे भी होता है। साराश, समनन्तरप्रत्ययत्व को उपादानत्व कहना युक्त नही है। तथा, क्षणिकवादखडन के प्रतिपादन के प्रसग मे यह भी दिखाया जायेगा कि प्रतिक्षण नश्वर स्वभाववाले पदार्थो मे जब तक किसी भी प्रकार से एक अन्वयी तत्त्व न मानेंगे तब तक कारणता भी सगत न हो सकेगी तो फिर उपादान-सहकारी आदि विभाग की तो बात ही कहाँ?।

[स्वसंतति में ज्ञानस्फुरण से उपादाननियम अशक्य]

इस सदर्भ मे कुछ विद्वान विज्ञानक्षण मे, स्व-परसन्तान अन्तर्गत कार्यक्षण के प्रति तुल्य जनकता होने पर भी स्वसन्तानवर्त्ती कार्य का ही वह उपादान है-इस मे कारण बता रहे हैं–

"ज्ञान मे ज्ञानान्तरजनकत्व का स्फुरण केवल अपनी सन्तति मे ही होता है परसतति मे ऐसा स्फुरण नही होता। इस प्रकार अजनकत्व से भिन्न यानी स्वसतति मे स्फुरित जनकत्व स्वरूप उपादानकारणता का निमित्त सम्भवित होने से, इस प्रकार के निमित्त पर अवलबित हेतु-फल भाव से उपादान ज्ञान की व्यवस्था हो सकती है।"–

---

* लिंबडी की प्रति मे 'चेतित ज्ञानान्तरजनकत्व' ऐसा पाठ है, पाठशुद्धि के लिये विशेष शुद्ध प्रति की यहा आवश्यकता है।

येऽप्यत्राहुः-"सदृश-तादृशभेदेन भावानां विजातीयोत्पत्त्यसम्भवादेतद्दूषणम्"-तेषामपि सदृश-तादृशविवेको नार्वाग्दृक्प्रमातृगोचरः, कार्यनिरूपणायामपि तयोर्विवेको दुर्लभस्तस्मादयमपरिहारः। यैः पुनरुच्यते-"सर्वस्य समानजातीयादुपादानादुत्पत्तिः, आद्यस्यापि धूमक्षणस्योपादनत्वेन व्यवस्थापिताः काष्ठान्तर्गता अणवः"-तत्रापि सजातीयत्वं न विद्मः। रूपादीनां हि रूपादिपूर्वकत्वेन वा सजातीयत्वम्, धूमत्वोपलक्षितावयवपूर्वकत्वेन वा ? प्राच्ये विकल्पे नेदानीं विजातीयादुत्पत्तिर्गोरण्यश्वादुपजायमानस्य। उत्तरविकल्पेऽपि काष्ठान्तर्गतानामवयवानां धूमत्वं लौकिकं पारिभाषिकं वा ? परिभाषायास्तावदयमविषयः। लोकेऽपि तदाकारव्यवस्थितानामवयवानां नैव धूमत्वव्यवहारः। तार्किकेणाऽपि लोकप्रसिद्धव्यवहारानुसरणं युक्तं कर्त्तुम्। तस्मान्न सजातीयादुत्पत्तिः।

व्याख्याकार कहते है कि स्फुरित ज्ञानान्तरजनकत्वरूप व्यवस्था का निमित्त युक्तिसगत नही है, क्योकि कोई भी ज्ञान असवेदित होने पर उसकी व्यवस्था का संभव नही है। अतः ज्ञान का सवेदन तो मानना होगा, वह भी आप को स्वत ही मान्य है, परतः नही, तो अब देखिये कि स्वसतति में जैसे ज्ञान स्वयस्फुरित होगा वैसे परसंतति मे भी वह स्वय स्फुरित ही होगा, तो ज्ञानान्तरजनकत्व का स्वय स्फुरण वहाँ भी समान है अत उपादानत्व की वहाँ भी अतिप्रसक्ति होगी, उसका वारण नही हो सकेगा, क्योकि परसतति में ज्ञान को स्वय स्फुरित न मान कर ज्ञानान्तर-वेद्य माना जाय तभी वहाँ अतिप्रसंग का वारण शक्य है किन्तु बौद्ध मत मे ज्ञान नियमतः स्वप्रकाश ही होने का सिद्धान्त है-उसका त्याग कैसे किया जा सकेगा अतः अतिप्रसंग अनिवारित ही रहेगा।

[ज्ञान में ज्ञानपूर्वकता का नियम नहीं-नास्तिक]

यहाँ नास्तिक यह पूर्वपक्ष करता है कि स्वसतति के ज्ञान मे ज्ञानान्तर जनकता तो 'ज्ञान मे स्वसविदितज्ञानपूर्वकता' का नियम माना जाय तभी हो सकती है किन्तु वह नियम ही सिद्ध नहीं है क्योंकि मूर्च्छा या सुषुप्ति दशा समाप्त होने के बाद जो आद्यविज्ञान होता है उसमे स्वसविदित ज्ञानपूर्वकता सिद्ध नही है। अरे ! वादीवृन्द मे तो वहाँ ज्ञानपूर्वकता मे भी विवाद है तो स्वसविदित ज्ञानपूर्वकता की तो बात ही कहाँ ?

शकाः-ज्ञान मे ज्ञानपूर्वकता का निश्चय तो अनुमान से सुलभ है फिर विवाद क्यो ? और अनुमान तो पहले भी [पृ. ३१६ प. ४] दिखाया है कि जिस जाति का कारण हो उसी जाति का कार्य उत्पन्न होता है अर्थात् कारण-कार्य का साजात्य ही ज्ञान मे ज्ञानजन्यता का साधक है।

समाधानः-आपकी शका असार है क्योकि भिन्नजातीय कारण से भी पदार्थो की उत्पत्ति देखी जाती है, उदा० अग्नि और धूम मे साजात्य न होने पर भी कारण-कार्यभाव सिद्ध है।

[सदृश-तादृश विवेक अल्पज्ञ नहीं कर सकता-नास्तिक]

जिन लोगो का कहना है कि-"जिस पदार्थ से अपर पदार्थ की उत्पत्ति होती है वह कारणभूत पदार्थ या तो कार्य से सदृश होता है जैसे कि बीज से बीज की उत्पत्ति, अथवा वह कार्य से तादृश होता है जैसे बीज से अकूर की उत्पत्ति। इस प्रकार कोई भी पदार्थ सदृश अथवा तादृश कारण से ही उत्पन्न होता है, विसदृश अथवा विजातीय से उत्पन्न नही होता। अतः पूर्वोक्त किसी भी दूषण को अवकाश नही। तात्पर्य, धूम की उत्पत्ति मे कारणभूत अग्नि धूम का 'तादृश' कारण होने से यहाँ

यच्चात्रोच्यते-"तस्यामवस्थायां विज्ञानाभावे तदवस्थातः प्रच्युतस्योत्तरकालमीदृशी संवित्तिर्न भवेद् 'न मया किंचिदपि चेतितम्' स्मृतिर्ह्ययमनुभवपूर्विका, अतो येनानुभवेन सता न किंचिच्चेत्यते तस्यामवस्थायां तस्यावश्यं सद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः"-एतत् सुव्याहृतम्, 'न किंचिच्चेतितं मया' इति ब्रुवता a वस्त्ववेदनं वोच्येत, b स्वरूपावेदनं वा ? a वस्त्ववेदने सकलप्रतिषेधो न युक्तः। b स्वरूपावेदनं तु स्वसंवेदनाभ्युपगमे दूरोत्सारितम्। तस्माविदानीमेव मनोव्यापाराद् तदवस्थाभावी सर्वानवगमः संवेद्यते।

विजातीय से उत्पत्ति जैसा कुछ भी नही है।"-इसके सामने नास्तिक कहता है कि उनके मत मे प्रथम बात तो यह है कि किस पदार्थ का कौन 'सदृश' भाव है और कौन 'तादृश' भाव है यह विवेक सामान्यदर्शी पुरुषो की ज्ञानशक्ति का अगोचर है। कदाचित् कार्य को देख कर कारण के सदृश-तादृश भेद का विवेक होने का कहा जाय तो यह भी सुलभ नही है क्योकि सदृश-तादृश भाव की कोई स्पष्ट व्याख्या ही नही है। अतः 'विजातीय से उत्पत्ति का कोई दोष नही है' यह परिहार असार है।

[समानजातीय से उत्पत्ति का नियम नहीं-नास्तिक]

किसी का जो यह कहना है कि-'प्रत्येक पदार्थ सजातीय उपादानकारण से ही उत्पन्न होता है, धूम का भी उपादान कारण अग्नि नही है किन्तु काष्ठ मे छिपे हुए सूक्ष्म धूमाणुसमुदाय ही है।'-किन्तु इस कथन मे सजातीयता का स्पष्टीकरण नही होता। अतः यह प्रश्न होगा कि a समानरूपादि वाले पदार्थ से रूपादि की उत्पत्ति को सजातीयोत्पत्ति कहते हैं ? या b धूमत्व जिसमे विद्यमान है ऐसे अवयवो से धूम की उत्पत्ति को सजातीयोत्पत्ति कहते हैं ? a पूर्व विकल्प में यह आपत्ति होगी कि अश्व से धेनु की उत्पत्ति कदाचित् हो जाय तो उसे विजातीयोत्पत्ति नही कह सकेंगे क्योकि धेनु की उत्पत्ति समानरूपादिवाले अश्व से ही हो रही है। b दूसरे विकल्प मे पुनः दो प्रश्न है-धूमत्व जो लोक प्रसिद्ध है उससे सजातीयता मानते है या आप जो कुछ धूमत्व की पारिभाषिक व्याख्या करे तदनुसार सजातीयता मानते है ? धूमत्व यह पारिभाषिकव्याख्या का तो विषय नही है क्योकि वह सर्वजन प्रसिद्ध वस्तु है, केवल शास्त्रप्रसिद्ध नही है। लोक मे जिसका धूमत्वरूप से व्यवहार होता है वैसा धूमत्व काष्ठादि अन्तर्गत धूमाणु समुदाय मे तो कभी व्यवहृत नही होता अतः लौकिक धूमत्व से भी सजातीयोत्पत्ति की बात असगत है। जो कोई सर्वलोक प्रसिद्ध व्यवहार होता है उसका अनुसरण तो तार्किको को भी करना ही चाहिये। निष्कर्ष -'सजातीय से ही उत्पत्ति' का सिद्धान्त असार है।

[उत्तरकालीन स्मृति से सुषुप्ति में विज्ञानसिद्धि अशक्य-नास्तिक]

यह जो कहा जाता है कि-यदि सुषुप्ति अवस्था मे विज्ञान का सर्वथा अभाव होगा तो सुषुप्तिदशा पूर्ण हो जाने के बाद यह जो सवेदन होता है 'मुझे कुछ पता ही नही चला' यह नही हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि यह जो सवेदन होता है वह स्मरणात्मक है, अनुभवरूप नही है [क्योकि सुषुप्तिकालीन विषय का वर्त्तमान सवेदनरूप है।] अतः यह स्मृति अवश्य सुषुप्ति अन्तर्गत अनुभव पूर्वक ही होनी चाहिये। इस लिये, जिस अनुभव की विद्यमानता मे बाह्य किसी भी पदार्थ का पता ही नही चलता उस अनुभव का [जिसको सौगतमत म आलयविज्ञान कहा जाता है-] सद्भाव सुषुप्ति अवस्था म अवश्य ही मानना चाहिये।-इस कथन के ऊपर कटाक्ष करता हुआ नास्तिक

अस्तु वा तस्यामवस्थायां विज्ञानं, तथापि जनकत्वातिरिक्तव्यापारविशेषाभावः। समनन्तर-प्रत्ययत्वे जनकत्वाऽतिरिक्तेऽभ्युपगम्यमाने तयोस्तात्त्विकभेदप्रसंगः, तथा च 'यदेवैकस्यां ज्ञानसन्ततौ समनन्तरप्रत्ययत्वं तदेव परसन्तताववलम्बनत्वेन जनकत्वम्' इत्येतन्न स्यात्। अथ जनकत्वसमनन्तर-त्वादयो धर्माः काल्पनिकाः, अकल्पित तु यत् स्वरूप तत्तात्त्विकं, तच्च बोधरूपम्। किमिदानीं सांवृताद् रूपाद् भावानामुत्पत्ति.? नेत्युच्यते, कथं वा काल्पनिकत्वम्? अथ जनकत्वातिरिक्तस्य समनन्तरप्रत्ययत्वस्यैवमुच्यते, कथं तन्निबन्धना व्यवस्था? तथाहि-एकस्यां सन्ततौ परसंततिगतेन विज्ञानेन तुल्येऽपि जनकत्वे समनन्तरप्रत्ययत्वेन जननविशेषमगीकृत्यैकसतानव्यवस्था क्रियते, यदा तु व्यवस्थानिबन्धनस्यापि सांवृतत्वं ततस्तत्कृताया व्यवस्थाया' परमार्थसत्त्वं दुर्भणमिति।

अयमपि सौगतानां दोषो न जैनानाम्, यतो 'ज्ञानपूर्वकत्वं ज्ञानस्य, स्वसंवेदनं च ज्ञानस्य स्वरूपम्' इत्येतत् प्राक् प्रसाधितम्।

कहता है-आपने यह बहुत ही अच्छा कहा, अर्थात् विना सोचे ही कह दिया है। अब यह सोचिये कि 'मुझे कुछ पता ही नही चला' ऐसा बोलने वाला क्या a सुषुप्ति अवस्था मे वस्तु (बाह्यवस्तु) का असवेदन ही बता रहा है या b विज्ञान के स्वरूप का असवेदन ही बता रहा है ? a केवल वस्तु का असवेदन कहेगे तो इससे सकल पदार्थ का निषेध नही हो सकता क्योकि ज्ञान का तो सवेदन होगा ही। b अगर कहे-ज्ञान के स्वरूप का भी सवेदन नही होता है-तो यह बात विसवाद के कारण दूर भाग जायेगी, क्योकि आप तो ज्ञान को स्वसविदित मानते है और यहाँ सुषुप्ति मे ज्ञान होने पर भी उसका सवेदन नही होता, ऐसा प्रतिपादन कर रहे है, अत. स्पष्ट विसवाद है। इस चर्चा से यही सार निकलता है कि सुषुप्तिकाल मे जो सर्वथा ज्ञानाभाव होता है उसका सुषुप्ति उत्तरकाल मे मन के व्यापार से अनुभव होता है, स्मरण नही।

[सुषुप्ति में विज्ञान मान लेने पर भी व्यापारविशेषाभाव]

[नास्तिकः-] अथवा सुषुप्ति अवस्था मे विज्ञान को मान लिया जाय तो भी उसमे उत्तर-क्षण के प्रति जनकत्व से अधिक कोई भी विशिष्ट व्यापार नही मानना चाहिये। [तात्पर्य-उपादान-त्वादिरूप कोई विशेष व्यापार न होने से सजातीयोत्पत्ति पक्ष असिद्ध है]। यदि उपादानत्व सिद्ध करने के लिये समनन्तरप्रत्ययत्व को जनकत्व से भिन्न मानेंगे तब तो जनकत्व और समनन्तरप्रत्ययत्व का वास्तविक भेद प्रसक्त होगा। इस स्थिति मे यह कहना व्यर्थ होगा कि-'स्वकीय एक सन्तान मे उत्पन्न होने वाले उत्तरक्षण के प्रति पूर्वक्षण मे जो समनन्तरप्रत्ययत्व है वही परसततिगतोत्तरक्षण के प्रति जनकत्व है'-क्योकि आप दोनो को भिन्न मानते है।

[जनकत्वादिधर्मों की काल्पनिकता कैसे ?-नास्तिक]

यदि यहाँ बौद्ध ऐसा कहे कि-'जनकत्व-समनन्तरप्रत्ययत्व आदि धर्म तो काल्पनिक है-उनमे भेद माने तो कोई हानि नही है। वस्तु का जो अकाल्पनिक स्वरूप होता है वही तात्त्विक होता है, और वह तो ज्ञानरूपता ही है।'-तो इसके उपर प्रश्न है कि क्या आप कल्पित जनकत्वादि रूप से भी भाव की उत्पत्ति मानने का साहस करते है ? यदि नही, तो फिर जनकत्वादि काल्पनिक कैसे माना जाय ? अगर कहे कि-'हम जनकत्व को वास्तविक मानते है किन्तु समनन्तरप्रत्ययत्वादि को ही का-ल्पनिक मानते हैं' तो फिर से यह प्रश्न होगा कि काल्पनिक समनन्तरप्रत्ययत्व से स्वसतति में उपादानत्व की तात्त्विक व्यवस्था कैसे की जा सकेगी ? जैसे देखिये-एक सतति में उत्तरक्षण के प्रति

यच्चोक्तम् 'अतज्जातीयादपि भावानामुत्पत्तिदर्शनात्, यथा धूमादेः' इत्यपि न सगतम्, यतो नास्माभिरतज्जातीयोत्पत्तिर्नाभ्युपगम्यते-विलक्षणादपि पावकात् धूमोत्पत्तिदर्शनात्-किन्तु कारणगत-धर्मानुविधान कार्यत्वाभ्युपगमनिबन्धनम्, तच्च ज्ञानस्य प्रदर्शितं प्राक्। न च काय-विज्ञानयोरिवानल-धूमयोः सर्वथा वैलक्षण्यम्, पुद्गलविकारत्वेन द्वयोरपि सादृश्यात्। सर्वथा सादृश्ये च कार्यकारण-भावाभावप्रसंगः एकत्वप्राप्तेः। यत्तु 'सदृशतादृशविवेकः कार्यनिरूपणायामपि दुर्लभः' तत्र य. कार्य-दर्शनादपि विवेकं नावधारयितुं क्षमस्तस्यानुमानव्यवहारेऽनधिकार एव। तदुक्तम्–"सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति, अतस्तदवधारणे यत्नो विधेयः।" [ ] अत एव 'रूपादीनां हि रूपादि-पूर्वकत्वेन वा' इत्यादि अनभिमतोपालम्भमात्रम्, कथञ्चित् सादृश्यस्य कार्यकारणयोर्दर्शितत्वात्, तस्य च प्रकृते प्रमाणसिद्धत्वात्।

जैसे जनकता होती है वैसे परसतति मे भी विज्ञान की जनकता समान ही है, अतः उपादान–उपादेय-क्षणो मे एक सतान की व्यवस्था करने के लिये आप पूर्वक्षण के विज्ञान मे 'समनन्तरप्रत्ययत्व' इस विशेषरूप से कारणता का अगीकार करते है, किंतु यदि वह व्यवस्था का निमित्तभूत धर्म ही काल्पनिक है तो उससे की गयी व्यवस्था को पारमार्थिक सत् कहना दुष्कर है।

[नास्तिक प्रयुक्त दूषण जैन मत में नहीं है–उत्तरपक्ष]

उपरोक्त नास्तिक के पूर्वपक्ष के प्रत्युत्तर मे व्याख्याकार कहते है कि आपका यह सब दोषारोपण है वह बौद्ध मत के ऊपर लागू हो सकता है किन्तु जैन मत मे वह निरवकाश है, क्योकि हमने जैन प्रक्रियानुसार 'ज्ञानमात्र ज्ञानपूर्वक ही होता है' और 'ज्ञान का स्वरूप स्वसविदित है' यह पहले सिद्ध किया हुआ है। [पृ ३२८ प. ८]

[कार्यत्वाभ्युपगम कारणधर्मानुविधानमूलक है]

यह जो पूर्वपक्षी उपालम्भ देता था-असमानजातीय कारण से भी कार्य की उत्पत्ति दिखती है, उदा० अग्नि से धूम की उत्पत्ति।-यह उपालम्भ असगत है, क्योकि असमानजातीय कारण से कार्योत्पत्ति का हम इनकार नही करते हैं, यत विलक्षण अग्नि से विलक्षण धूम की उत्पत्ति हम भी देखते है। किन्तु यह तो मानना ही होगा कि कार्यत्व की उपलब्धि कारणगतधर्मों के अनुसरणमूलक है। ज्ञान शरीरधर्मो का नही किन्तु आत्मधर्मो का अनुसरण करता है यह तो पहले दिखा दिया है [पृ ३१५/६] देह और विज्ञान मे तो कुछ भी सादृश्य नही है अपितु अत्यन्त वैलक्षण्य ही है जब कि अग्नि और धूम मे उतना वैलक्षण्य नही है, क्योकि दोनो ही पुद्गल के विकार (=परिणाम) ही है, अत इतना सादृश्य भी है। सम्पूर्णतया सादृश्य की अपेक्षा रखना बेकार है, क्योकि तब कार्य और कारण दोनो एक-अभिन्न हो जाने से कारण-कार्यभाव का ही विलोप हो जायेगा।

[विवेककौशल का अभाव अधिकाराभाव का सूचक]

यह जो पूर्वपक्षी ने कहा है कि-कारणो मे सादृश्य और तादृश्य का विवेक करना दुष्कर है-यहाँ कहना पडेगा कि जो कार्य देख कर भी वैसे विवेक के अवधारण मे असमर्थ है उस महाशय को अनुमानव्यवहार मे अधिकार ही प्राप्त नही है, क्योकि यह सुना जाता है कि-"अच्छी तरह निरीक्षित (परीक्षित) कारण, कार्य का व्यभिचारी नही होता, इसलिये कारण की यथार्थ परीक्षा में यत्न करना

यच्च सुप्त-मूर्छिताद्यवस्थासु विज्ञानाभावेन तत्पूर्वकत्वमुत्तरज्ञानस्य न सम्भवति' इत्यभ्यधायि, तदसत्; तदवस्थायां विज्ञानाभावग्राहकप्रमाणाऽसंभवात् । तथाहि-न तावत् सुप्त एव तदवस्थायां विज्ञानाभाव वेत्ति. तदा विज्ञानानभ्युपगमात्, तदवगमे च तस्यैव ज्ञानत्वाद् न तदवस्थायां तदभावः । नापि पार्श्वस्थितोऽन्यस्तदभावं वेत्ति, कारण-व्यापक स्वभावानुपलब्धीनां विरुद्धविधेर्वाऽत्र विषयेऽव्यापारात्, अन्यस्य तदभावावभासकत्वायोगात् । न चाभाववत्तद्भावस्यापि तस्यामवस्थायामप्रतिपत्तिः, स्वात्मनि स्वसंविदितविज्ञानाऽविनाभूतत्वेन निश्चितस्य प्राणाऽपानशरीरोष्णताकारविशेषादेस्तदवस्थायामुपलभ्यमानलिंगस्य सद्भावेनानुमानप्रतीत्युत्पत्तः । जाग्रदवस्थायामपि परसततिपतितचेतोवृत्तेरस्मदादिभिर्यथोक्तलिंगदर्शनोद्भूतानुमानमन्तरेणाऽप्रतिपत्तेः ।

...."न किंचित् चेतितं मया' इति स्मरणादुत्तरकालभाविनस्तदवस्थायामनुभवानुमाने किं वस्त्वसंवेदनम्, स्वरूपाऽसंवेदनं वा" ..इत्यादि यद् दूषणमभिहितं; तदप्यसारम्, जाग्रदवस्थाभाविस्वसंविदितगच्छत्तृणस्पर्शज्ञानाभ्वविकल्पसमयगोदर्शनादिषूत्तरकालभावि 'न मया किंचिदुपलक्षितम्'

चाहिये" । कारण का विवेक प्रयत्नसाध्य है इसीलिये, पूर्वपक्षी का यह उपालम्भ भी अस्वीकारपराकृत हो जाता है कि 'रूपादि मे रूपादिपूर्वकता यह साजात्य है या धूमत्वोपलक्षितावयवपूर्वकत्व'.. इत्यादि । कारण यह है कि हमने कारण आत्मा और कार्य ज्ञान का सादृश्य प्रदर्शित किया है और प्रस्तुत में उन दोनो का कारणकार्यभाव प्रमाणसिद्ध भी है ।

[सुषुप्ति में विज्ञानाभाव साधक प्रमाण नहीं है]

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक नही है कि-"सुषुप्ति और मूर्छादि दशा में विज्ञान न होने से सुषुप्तिआदि के उत्तरकाल मे होने वाले विज्ञान में ज्ञानपूर्वकता का सम्भव नही है" । ठीक न होने का कारण यह है कि मूर्छादि दशा मे विज्ञान के अभाव का साधक किसी भी प्रमाण का सम्भव नहीं है । देखिये, सोये हुए पुरुष को निद्रावस्था मे ऐसा तो अनुभव मान्य नही है कि 'अब मेरे मे विज्ञान नहीं है', यदि ऐसा अनुभव मान्य होगा तब तो उसी विज्ञान की सत्ता मान लेनी होगी, फलत निद्रावस्था मे ज्ञानाभाव नही सिद्ध होगा । निकटवर्ती अन्य किसी व्यक्ति को भी सोये हुये पुरुष मे विज्ञान के अभाव का पता नही चल सकता, क्योकि विज्ञान के कारण की अनुपलब्धि, व्यापक की अनुपलब्धि या स्वभावानुपलब्धि अथवा विज्ञान के विरोधी की विधि यानी उपलब्धि इन मे से किसी का भी विज्ञानाभावग्रहणरूप विषय मे कोई व्यापार उपलब्ध नही है और इन से अतिरिक्त भी विज्ञानाभावसाधक कोई प्रमाण नही है ।

[सुषुप्ति में विज्ञानसाधक प्रमाण]

यदि कहे कि-'जैसे उस दशा में विज्ञानाभावसाधक कोई नही है वैसे ही विज्ञान के सद्भाव की उपलब्धि भी नही है'-तो यह ठीक नही, क्योकि उस दशा मे विज्ञानसत्ता की साधक अनुमान प्रतीति की उत्पत्ति सुलभ है और उस अनुमान का प्रयोजक लिंग भी है । वह इस प्रकार-आत्मा में निद्रावस्था मे स्वसंविदित विज्ञान के अविनाभावरूप मे सुनिश्चित प्राण अपान वायु का संचार, तथा शरीरगत उष्णतादि ही विज्ञान के लिंगभूत है जो उस अवस्था मे स्पष्ट उपलब्ध होते है । जाग्रत् अवस्था मे भी उपरोक्त लिंग के दर्शन से जन्य अनुमानप्रतीति के विना परसंतानगत चित्तवृत्ति (विज्ञानादि) का उपलम्भ शक्य नही है ।

इति स्मरणलिंगबलोद्भूतानुमानविषयेष्वप्यस्य समानत्वात् । न च स्वसंविदितविज्ञानवादिनोऽत्रापि समानो दोष इति वक्तुं युक्तम् , "यस्य यावती मात्रा" [ ] इति स्वसंविदितज्ञानस्याभ्युपगमात् । यच्च 'समनन्तरसहकारित्वाद्यनेकधर्मयुक्तत्वमेकक्षणे ज्ञानस्यासज्यते' इति प्रतिपादितम् तदभ्युपगम्यमानत्वेनाऽदूषणम् । अतः पौर्वापर्यव्यवस्थित-हर्षविषादाद्यनेकपर्यायव्याप्येकात्मव्यतिरेकेण ज्ञानयोः स्वसन्तानेऽप्यनुसन्धाननिमित्तोपादानोपादेयभावाऽसम्भवाद् न परसन्तानवदनुसन्धानप्रत्ययः स्यात् । दृश्यते च, अतोऽनेकत्वव्यावृत्तादनुसन्धानप्रत्ययादपि लिंगादात्मसिद्धिः ।

अथापि स्याद् , गमकत्वं हि हेतोः स्वसाध्याऽविनाभावग्रहणपूर्वकं, तद्ग्रहणं च धर्म्यन्तरे, न चात्रैककर्तृकत्वेन साध्यधर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे प्रतिसन्धानस्य व्याप्तिः येन प्रतिसंधानादेकः कर्त्ताऽनुमीयेत । अथ ब्रूषे क्षणिकतासाधकस्य सत्ताख्यस्य हेतोर्यथा धर्म्यन्तरे व्याप्त्यग्रहणेऽपि गमकता

['मुझे कुछ पता नहीं चला' यह स्मरण अनुभवसाधक है]

पूर्वपक्षी ने जो यह दूषणोल्लेख किया था-'मुझे कुछ भी पता नही चला' इस प्रकार के उत्तरकालभावि स्मरण से निद्रावस्था मे जो अनुभव का अनुमान किया जाता है वहाँ क्या वस्तुमात्र का असवेदन है या अपने स्वरूप का असवेदन है ? इत्यादि....[पृ प. ३६६/३]-वह तो असार ही है क्योकि ऐसा दूषण तो अन्यत्र भी लगा सकते है, जैसे कि, जाग्रत् अवस्था मे चलते चलते होने वाला स्वसविदित तृणस्पर्शज्ञान, तथा अश्व के विकल्पज्ञान के समय ही होने वाला गोदर्शन, इन दोनो का उत्तरकालभावि 'मुझे कुछ पता ही नही चला' इस प्रकार के स्मरणात्मक लिंग के बल से जो अनुमान किया जाता है उस अनुमान का विषय वह तृणस्पर्शानुभव और गोदर्शनानुभव भी पूर्वोक्त रीति से ही विवाद का विषय बनाया जा सकता है कि उक्त अनुभव मे क्या वस्तु का ही असवेदन है या अपने स्वरूप का असवेदन ? इत्यादि । अत. निद्रावस्था के अनुभव मे आपादित दूषण यहाँ समान होने से अकिंचित्कर हो जाता है ।

यदि कहे कि-"आप तो स्वसविदितज्ञानवादी है अत. तृणस्पर्शज्ञान और गोदर्शन स्वसविदित ही होगा, तो आपने जो समान दोष यहाँ दिखाया वह तो आपके ही मत मे एक ओर दूषण प्रकट हुआ-तो उससे हमारा क्या बिगडा ?"-तो यह कहना युक्तिपूर्ण नही है क्योकि 'यस्य यावती मात्रा' अर्थात् जिसकी जितनी मात्रा सवेदनयोग्य हो उतने का ही सवेदन होता है, इस न्याय से स्वसविदितज्ञान को भी हम उतनी ही मात्रा मे स्वसविदित मानते हैं जिससे 'मुझे कुछ पता ही नही चला' ऐसा स्मरण उपपन्न हो सके ।

ऐसा जो आपने कहा था कि-'एक ही क्षण मे ज्ञान मे समनन्तरत्व-सहकारित्वादि अनेक धर्मों का मिश्रण प्रसक्त होता है' वह तो हम स्वीकारते ही है अतः वह कोई दूषण नही है ।

उपरोक्त रीति से यदि पूर्वापरभावव्यवस्थित हर्ष-शोक आदि पर्यायो मे व्यापक एक आत्मा को नही माना जायेगा तो स्वसतान के दो ज्ञान में भी अनुसधान प्रतीतिनिमित्तभूत उपादानोपादेयभाव न घट सकने से अनुसन्धानप्रतीति नही होगी, जैसे कि उपादानोपादेयभाव के विरह मे परसन्तानगतज्ञान के अनुसधान की प्रतीति नही होती है । किन्तु, स्वसन्तानगतज्ञान की तो अनुसधान प्रतीति होती है और यह अनुसधान प्रतीतिअनुसधाता के ऐक्यमूलक ही है अतः अनैक्यमूलकप्रतीति से भिन्न ऐसे अनुसधानप्रत्यय से आत्मसिद्धि निर्बाध है ।

तद्वदस्यापि । एतदचारु, तस्य हि क्षणिकतायां प्राक् प्रत्यक्षेण निश्चयात् निश्चयविषयेण च व्याप्तेर्दर्शनाद् विपक्षात् प्रच्यावितस्य बाधकप्रमाणेन साध्यधर्मिणि यदवस्थानं तदेव स्वसाध्येन व्याप्तिग्रहणम् । अत एवाऽस्य हेतो. साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयमिच्छन्ति ।

ननु व्याप्ति-साध्यनिश्चययोर्नियमेन पौर्वापर्यमभ्युपगन्तव्यम् , व्याप्तिनिश्चयस्य साध्यप्रतिपत्त्यङ्गत्वात् , अत्र तु साध्यधर्मिणि व्याप्तिनिश्चयाभ्युपगमे साध्यप्रतिपत्तिकालोऽन्योऽभ्युपगन्तव्यः, न चासावन्योऽनुभूयते, अस्त्येतत्कार्यहेतोः, कस्यचित् स्वभावहेतोरपि, अस्य तु बाधकात् प्रमाणाद्विपक्षात् प्रच्युतस्य यदेव साध्यधर्मिणि स्वसाध्यव्याप्ततया ग्रहणम् तदेव साध्यग्रहणम् । न चास्यैवं द्वैरूप्यम् , यतो विपक्षाद्व्यावृत्तिरेवान्वयमाक्षिपति ।

[अन्यधर्मी में प्रतिसंधान की व्याप्ति के अग्रहण की शंका]

बौद्धवादी.–प्रतिसधान हेतु से आप एककर्तृकत्व सिद्ध करना चाहते है। हेतु मे साध्यबोधकता अपने साध्य के साथ अविनाभाव यानी व्याप्ति गृहीत होने पर ही हो सकती है। व्याप्तिग्रह तो प्रसिद्ध किसी अन्य धर्मी मे ही होता है, नही कि साध्यधर्मी में । जब प्रतिसंधान हेतु की एकसन्तानीयप्रतिभासरूप साध्यधर्मी से अन्य धर्मी मे एककर्तृकत्व के साथ व्याप्ति ही दृष्ट नही है तो प्रतिसधान हेतु से एकसन्तानीयप्रतिभासद्वय मे एक कर्त्ता की अनुमिति कैसे हो सकेगी ?

यदि शका करे कि–'जैसे आपके मत मे प्रत्येक वस्तु मे क्षणिकत्व साध्य के साधक हेतु सत्त्व की व्याप्ति साध्यधर्मी से इतरधर्मी मे अगृहीत होने पर भी सत्त्व हेतु से क्षणिकत्व सिद्ध किया जाता है वैसे प्रस्तुत मे एकसन्तानीयप्रतिभासरूप साध्यधर्मी से अन्यत्र व्याप्ति गृहीत नही है तो भी साध्य सिद्ध हो सकता है ।'–तो यह ठीक नही है, क्योकि हमारे मत में, व्याप्तिग्रहण के पूर्वकाल मे ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से क्षणिकत्व का निश्चय हुआ रहता है और व्याप्ति तो निश्चयविषयभूत पदार्थ के साथ ही देखी जाती है तो यहा निश्चयविषयभूतपदार्थ क्षणिकत्व का जो विपक्ष है अक्षणिकपदार्थ उसमे सत्त्व के रहने मे बाधक प्रमाण विद्यमान होने से विपक्ष से निवर्त्तमान सत्त्वरूप हेतु केवल साध्यधर्मी क्षणिक मे ही रह सकता है यह निर्णय जो होता है यही अपने साध्य के साथ व्याप्तिग्रहणरूप है । यहाँ व्याप्तिग्रह अन्यधर्मी मे होना आवश्यक न होने से हमारे आचार्य सत्त्व हेतु की व्याप्ति का निश्चय साध्यधर्मी मे ही होने का मान्य करते है ।

[क्षणिकत्व व्याप्ति निश्चय की भी असिद्धि–समाधान]

जैनवादी:–व्याप्ति का निश्चय और साध्य की अनुमिति अवश्यमेव पूर्वापर भाव से होते है । यह तो किसी भी व्यक्ति को मानना पड़ेगा क्योकि साध्य निश्चय मे व्याप्ति का निश्चय अगभूत यानी कारणभूत है । क्षणिकत्व सिद्धि स्थल मे भी यदि आप साध्यधर्मी मे ही व्याप्ति का निश्चय मानेंगे तो साध्य के निश्चय का काल उससे अन्य ही मानना होगा, किन्तु वह 'साध्यनिश्चयकाल व्याप्ति के निश्चयकाल से अन्य है' ऐसा तो अनुभव होता नही है । हाँ, कार्यहेतुस्थल मे और कोई कोई स्वभावहेतुस्थल मे स्पष्टतया भिन्नकाल का अनुभव होता है इस लिये ऐसा नही कह सकते कि 'यहा भी व्याप्ति निश्चय है और साध्यनिश्चय भिन्नकाल में ही होता है केवल शीघ्रता के कारण ही अनुभव नही होता ।' यहाँ तो बाधक प्रमाण के द्वारा विपक्ष से व्यावृत्त

इयांस्तु विशेषः कस्यचिद्धेतोर्व्याप्तिविषयदर्शनाय धर्मिविशेषः प्रदर्श्यते, अस्य तु 'यद् सद् तद् क्षणिकं' इतिर्धर्मिविशेषाऽप्रदर्शनेऽपि धर्मिमात्राक्षेपेण व्याप्तिप्रदर्शनम् । तच्च सत्त्व क्वचिद् व्यवस्थितमुपलभ्यमानं क्षणिकताप्रतिपत्त्यगम् , अतः पक्षधर्मताऽप्यत्रास्ति, न चात्रैवम् ।

अत्राप्येनमेव न्यायं केचिदाहु. । कथम् ? तत्र हि व्यापकस्य क्रमयौगपद्यस्य निवृत्त्या विपक्षात् तन्निवृत्तिः अत्रापि प्रमातृनियतताया व्यापिकाया अभावाद् विपक्षात् प्रतिसंधानलक्षणस्य हेतोर्निवृत्ति· । अथ तत्र बाधकप्रमाणस्य व्याप्तिः प्रत्यक्षेण निश्चीयते क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकरणस्य प्रत्यक्षेण निश्चयात् , अत्र तु कथम् ? अत्रापि प्रमातृनियमपूर्वकत्वेन स्वसन्तान एव प्रतिसंधानस्य व्याप्तिनिश्चयात् कथं न तुल्यता ?

किये गये सत्त्व हेतु का जो साध्यधर्मी मे साध्यधर्म क्षणिकत्व के साथ व्याप्तत्वरूप से ग्रहण होता है उसीको आप साध्य क्षणिकत्व का ग्रहण दिखाते है। ऐसा कोई द्वैविध्य सिद्ध नही है कि कोई एक साध्य'का निश्चय व्याप्तिनिश्चय से भिन्नकालीन हो और दूसरा समानकालीन हो जिससे कि आप सत्त्वहेतु की विपक्ष से निवृत्ति को ही क्षणिकत्व अन्वय का आक्षेपक कह सके।

[सत्त्व और प्रतिसंधान हेतुद्वय में विशेषता]

सत्त्व हेतु और अनुसधान हेतु, इन मे इतना अन्तर जरूर है कि, किसी हेतु की व्याप्ति का विषय दिखाने के लिये धर्मीविशेष का प्रदर्शन किया जाता है, 'जो सत् है वह क्षणिक है' इस व्याप्ति का प्रदर्शन धर्मीविशेष का प्रदर्शन किये विना भी केवल धर्मीसामान्य के निर्देश मात्र से किया जाता है। इस स्थल मे सत्त्वहेतु किसी धर्मि मे उपलब्ध होकर क्षणिकत्व के अनुमान का अग वनता है, इसीलिये यहाँ पक्षधर्मता का सद्भाव भी है। अनुसधान हेतु स्थल मे ऐसा नही है क्योकि अनुसधान के आधारभूत एक धर्मी आत्मा की ही यहा सिद्धि की जा रही है अत. धर्मिविशेष में या सामान्यतः किसी धर्मी मे हेतु का निर्देश किये विना ही अर्थात् पक्षधर्मता के विना भी अनुसधान हेतु से आत्मा की सिद्धि की जाती है। किन्तु यह कोई ऐसा अन्तर नही है जो आत्मसिद्धि मे बाधक बने।

[सत्त्वहेतु और अनुसंधानहेतु में समानता-अन्यमत]

कुछ विद्वान् तो ऐसा कोई अन्तर माने विना ही सत्त्व हेतु मे जैसा न्याय है उसका यहा भी साम्य दिखाते हुये यह कहते है कि जैसे विपक्षभूत अक्षणिक वस्तु मे से क्रम से या युगपद् अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यापक की निवृत्ति से सत्त्व की निवृत्ति मानी जाती है, तो यहाँ भी विपक्षभूत भिन्न सन्तानीय प्रतिभास मे से प्रमातृनियतत्वरूप व्यापक की निवृत्ति से अनुसधानात्मक हेतु की निवृत्ति सिद्ध होती है। यदि शका हो कि-'स्थिर वस्तु में क्रम-यौगपद्य के बाधक प्रमाण की व्याप्ति (यानी सावकाशता) प्रत्यक्षसिद्ध है क्योकि क्षणिक मे ही क्रमयौगपद्य से अर्थक्रियाकरण का प्रत्यक्ष से निश्चय होता है। अनुसधान स्थल मे ऐसा कैसे कहोगे?'-तो इसका उत्तर यह है कि स्वसन्तान में ही प्रमातृ नियम पूर्वक ही प्रतिसधान होता है इस व्याप्ति का निश्चय भी स्वसन्तान में प्रत्यक्ष से सिद्ध है तो भिन्नकर्तृक सन्तान मे प्रमातृनियतत्व के बाधक प्रमाण की व्याप्ति प्रत्यक्षसिद्ध क्यो नही होगी? अर्थात् उभय स्थान मे तुल्यता है।

अथ ब्रूयात् 'प्रमातृनियतता' इत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः ? यदि परं भंग्यन्तरेणैककर्तृ कत्वं साध्य व्यपदिश्यते तस्य प्रत्यक्षेण निश्चयाभ्युपगमे कथ बाधकप्रमाणावसेयता व्याप्तेः ? नैतत् , प्रमातृनियततापहणं नैककर्तृ कत्वग्रहणं, सर्वे एव हि भावाः देशादिनियततयाऽवसीयमाना व्यवहारगोचरतामुपयान्ति, प्रमातुरप्यवसाय एवमेव दृश्यते-'इदानीमत्राहम्' । एवं देशाद्यससर्गवत् प्रमात्रन्तराऽससर्गोऽपि निश्चीयते । तथाहि-देशकालनिबन्धननियमवत् व्यतिरिक्तपदार्थाऽसंसर्गस्वभावनियतप्रतिभासोऽपि घटादेरिव अत्रैकत्वाऽनेकत्वनिश्चयाऽभावः । पूर्वपाक्षिकमते तस्य नानाकर्तृकेषु सन्तानान्तरेषु व्यापकस्याभावाद् विपक्षाद् प्रच्युतस्य प्रतिसंधानस्य क्वचिदुपलभ्यमानस्यैककर्तृ त्वेन व्याप्तिः । यथा क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकरणदर्शने नैव निश्चयः-'किं क्षणिकं. क्रम-यौगपद्याभ्यां सा क्रियते आहोस्विदन्यथा' इति, अथ च प्रत्यक्षेण बाधकस्य व्याप्त्यवसाये पश्चाद् व्यापकानुपलब्ध्या मूलहेतोर्व्याप्तिसिद्धिः; एवमेककर्तृ कत्वानवसायेऽपि प्रमातृनियततया प्रतिसन्धानस्य स्वसन्ततौ व्याप्तिनिश्चये सत्युत्तरकालं विपक्षे व्यापकस्य प्रमातृनियतत्वस्याभावादेककर्तृ कत्वेन प्रतिसन्धानस्य व्याप्तिसिद्धिः । एवमनभ्युपगमे 'अहम् अन्यो वा' इति प्रमात्रनिश्चये प्रमेयाऽनिश्चयादन्धमूकं जगत् स्यात् । औपचारिकस्य प्रमातृनियततया प्रतिभासविषयत्वेऽनात्मप्रत्यक्षत्वं दोषः ।

[प्रमातृनियतत्व और एककर्तृ कत्व एक नहीं है]

शंकाः-'प्रमातृनियतत्व' इस शब्द का क्या अर्थ अभिप्रेत है ? प्रकारान्तर से यदि एककर्तृ कत्वरूप साध्य का ही निर्देश करना है तो उसका निश्चय तो आप प्रत्यक्ष से ही दिखा रहे है फिर एककर्तृ कत्व की व्याप्ति का ज्ञान बाधक प्रमाण से दिखाना कैसे सगत होगा ?

समाधानः-शका ठीक नही है, प्रमातृनियतत्व का ज्ञान और एककर्तृ कत्व का ज्ञान अभिन्न नही है । प्रमातृनियतत्व का अर्थ यह है कि-जैसे सभी वस्तु देश-कालनियतरूप से ज्ञात होकर व्यवहारापन्न होती है उसी प्रकार प्रमाता भी देश-काल नियतरूप से ही ज्ञात हो कर व्यवहारपथ मे देखा जाता है, उदा०-"मै अब यहाँ हू" । जैसे सभी भाव मे नियतदेशकाल से अन्य देश-काल का अससर्ग निश्चयगोचर होता है उसी तरह प्रतिसधान मे अन्य प्रमाता का भी अससर्ग निश्चयगोचर होता है । जैसे देखिये-घटादि मे देश-कालमूलक नैयत्य की तरह भिन्न पदार्थासंसर्गस्वभावनैयत्य का जैसे प्रतिभास होता है वैसे प्रतिसधान मे भी अन्यप्रमातृ-अससर्गस्वभावनैयत्य का प्रत्यक्ष से ही प्रतिभास होता है । इस तरह प्रमातृनियतत्व यही एककर्तृ कत्वरूप नही है, क्योंकि यहाँ कर्त्ता के एकत्व या अनेकत्व के प्रत्यक्षनिश्चय की कोई बात नही है । अब हम कह सकते हैं कि पूर्वपक्षी के मत में भिन्नकर्तृ क अन्य सतान मे प्रमातृनियतत्वरूप व्यापक का अभाव होने से विपक्षभूत भिन्नकर्तृ क अन्य सतान से निवर्त्तमान प्रमातृनियतत्व का व्याप्य प्रतिसधान भी विपक्षनिवृत्त हो जाने से एककर्तृ कत्व के साथ क्वचिदुपलब्ध प्रतिसधान की व्याप्ति निर्विघ्न सिद्ध होती है ।

[एककर्तृ कत्व की प्रतिसंधान में व्याप्ति की सिद्धि]

तात्पर्य यह है कि (यथा क्रम-)-जैसे क्रम-यौगपद्य से अर्थक्रियाकरण का दर्शन होता है उस वक्त यह निश्चय नही होता है कि यह क्रम-यौगपद्य से की जाने वाली अर्थक्रिया क्षणिकभावो से की जाती है या अक्षणिक भावो से ? ऐसा निश्चय न होने पर भी प्रत्यक्ष से विपक्ष में बाधक की व्याप्ति (प्रवृत्ति) ज्ञात होने पर पीछे व्यापकनिवृत्तिमूलक मूलहेतु की व्याप्ति सिद्ध की जाती है-ठीक उसी

तत्रैतत् स्यात्-अस्त्ययं प्रमातृनियमनिश्चयः, स तु स्वसंततौ किमेककर्तृकत्वकृतः उतस्विन्निमित्तान्तरकृतो युक्तः ? तच्चैकस्यां सन्ततौ हेतुफलभावलक्षण प्राक् प्रदर्शितम् । सत्यम् , प्रदर्शितं न तु साधितम् । तथाहि-तत्कृत प्रमातृनियमो नान्यकृत इति नैतावत्प्रत्यक्षस्य विषयः, न च प्रमाणान्तरस्यापि । तद्धि अस्मिन् विषये उच्यमानम् अनुमानमुच्येत, तदपि प्रत्यक्षनिषेधान्निषिद्धम् । न च क्षणिकत्वव्यवस्थापने हेतु-फलभावकृतो नियम इत्यभ्युपगन्तुं युक्तम् , तस्योपरिष्टात् निषेत्स्यमानत्वात् । न चात एव दोषादेककर्तृकत्वकृतोऽपि न नियम इति वक्तु शक्यम् , स्वसवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वस्य तत्पूर्वकानुमानसिद्धत्वस्य चात्मान प्राग्व्यवस्थितत्वात् । अभ्युपगमवादेन तु क्षणिकत्वव्यवस्थापकसत्त्वहेतुतुल्यत्वमनुसन्धानप्रत्ययहेतोः प्रदर्शितम् , न तु क्षणिकत्ववदात्मैकत्वस्य प्रत्यक्षाऽसिद्धत्वम् येनानुमानात् तत्प्रसिद्धयभ्युपगमे इतरेतराश्रयदोषप्रसंगः प्रेर्येत । अतोऽध्यक्षानुमानप्रमाणसिद्धत्वात् परलोकिनः 'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव ' इति सूत्रं निःसारतया व्यवस्थितम् ।

प्रकार, पहले एककर्तृकत्व का निश्चय न होने पर भी स्वसतान मे प्रमातृनियतत्व के साथ प्रतिसधान की व्याप्ति का उक्त रीति से निश्चय हो जाने पर बाद मे विपक्ष भूत भिन्नकर्तृक अन्यसन्तान से प्रमातृनियतत्वरूप व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य प्रतिसन्धान की निवृत्ति को देखकर एककर्तृकत्व के साथ प्रतिसन्धान की व्याप्ति निष्कटक सिद्ध होती है ।

यदि उक्त प्रकार से व्याप्तिनिश्चय नही मानेंगे तो 'वही मैं हूँ या दूसरा कोई' इस प्रकार प्रमातृ का निर्णय न होने से किसी प्रमेय का भी निर्णय नही हो सकेगा, फलत· सारा जगत् अन्ध और मूक हो जायेगा । प्रमेय का निर्णय होने से सभी मे अन्धता सिद्ध होगी और निर्णयमूलक प्रतिपादन भी न हो सकने से मूकत्व प्रसक्त होगा । यदि कहे कि-'प्रमातृनियतत्वरूप से प्रतिभासमानविषय औपचारिक होता है, सत्य नही, अत. उससे किसी भी प्रकार की व्याप्ति का निश्चय फलित नही हो सकता'-तो यहाँ आत्मा के प्रत्यक्ष का ही उच्छेद हो जाने का दोष आयेगा क्योकि उस प्रत्यक्ष का विषय आप औपचारिक कहते है वास्तविक नही ।

[प्रमातृनियम एककर्तृकत्वमूलक ही सिद्ध होता है]

पूर्वपक्षीः-प्रमातृनियमपूर्वकत्व के निश्चय का हम इनकार नही करते है, किन्तु यह सोचना जरूरी है कि वह प्रमातृनियम स्वसतान मे एककर्तृकत्व के प्रभाव से है या अन्य किसी निमित्त के प्रभाव से ? पहले हम इस विषय मे दिखा चुके है कि एकसतति मे जो प्रमातृ का नियम है वह कारणकार्यभावप्रयुक्त है ।

उत्तरपक्षीः-ठीक बात है कि आप दिखा चुके है, किंतु उसकी सयुक्तिक सिद्धि तो नही की है । देखिये, प्रमातृनियम कारण-कार्यभावमूलक है अन्यमूलक नही है यह प्रत्यक्षप्रमाण का विषय तो है नही । अन्य प्रमाण का भी विषय नही हो सकता, क्योकि इस विषय मे अन्य प्रमाण यदि अनुमानरूप हो तो प्रत्यक्ष के निषेध से ही उसका भी निषेध हो जाता है, कारण, अनुमान प्रत्यक्ष के ऊपर आधारित है । यह नही कह सकते कि-'क्षणिकत्व की सिद्धि हो जाने से यह अर्थात् सिद्ध होता है कि प्रमातृनियम कारण-कार्यभावमूलक ही है'-क्योकि अग्रिमग्रन्थ मे क्षणिकत्व का ही विस्तार से खण्डन किया जाने वाला है ।

यदप्युच्यते-'शरीरान्तर्गतं संवेदनं कथं शरीरान्तरसंचारि, जीवतस्तावन्न शरीरान्तरसंचारो दृष्टः, परस्मिन् मरणसमये भविष्यतीति दूरन्वयमेतत्'-तदपि न युक्तम्, यतः कुमारशरीरान्तर्गताः पाण्डित्यादिविकल्पाः वृद्धावस्थाशरीरसंचारिणो दृश्यन्ते जीवत एव, चपलतादिशरीरावस्थाविशेषाः वाग्विकाराश्च तत् कथं न जीवतः शरीरान्तरसंचारः? अथैकमेवेदं शरीरं बाल-कुमारादिभेदभिन्नं, जन्मान्तरशरीरं तु मातापित्रन्तरशुक्रशोणितप्रभवम् शरीरान्तरप्रभवम्-एतदप्ययुक्तम्, बाल-कुमार-शरीरस्यापि भेदात्, यथा च बालकुमारशरीरचपलताभेदस्तरुणादिशरीरसंचारी उपलभ्यते तथा निजजन्मान्तरशरीरप्रभवश्चपलतादिभेदः परभवभाविजन्मशरीरसंचारी भविष्यतीति न मातापितृ-शुक्रशोणितान्वयि जन्मादिशरीरम् अपि तु स्वसन्तानशरीरान्वयमेव वृद्धादिशरीरवत्, अन्यथा मातापितृशरीरचपलतादिविलक्षणशरीरचेष्टावन्न स्यात्।

यह भी नहीं कह सकते कि-"प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो प्रमाणो का अविषय होने से-प्रमातृ-नियम एककर्तृकत्वमूलक है-यह सिद्ध नही हो सकता"-क्योंकि आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्ध है और प्रत्यक्षमूलकअनुमान से भी आत्मा सिद्ध है यह व्यवस्था पूर्व में प्रस्थापित की गयी है। अनुसंधानप्रतीति-हेतु मे जो हमने क्षणिकत्वसाधक सत्त्व हेतु की समानता दिखायी है वह तो 'कदाचित् मान लिया जाय' इस अभ्युपगमवाद से दिखायी है अत. क्षणिकत्व हमारे मत से भी सिद्ध है ऐसा मान लेने की जरूर नही है। क्षणिकत्व तो प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नही है जब कि प्रतिभासद्वयान्वयी एक आत्मा तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः कोई भी व्यक्ति ऐसा दोषारोपण कि-आत्म-एकत्व के अनुमान से प्रत्यक्ष की व्यवस्था होगी और आत्म-एकत्व का अनुमान प्रत्यक्षावलम्बी है अत. अन्योन्याश्रय दोष होगा-" नही कर सकता।

उपरोक्त चर्चा का सार यही है कि परलोकगामी चैतन्य प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो प्रमाण से सिद्ध होने पर चार्वाक के इस सूत्र की-'परलोकगामी के अभाव से परलोक का भी अभाव है'-असा-रता=तुच्छता सिद्ध होती है।

[परलोक के शरीर में विज्ञानसंचार की उपपत्ति]

यह जो पूर्वपक्षी चार्वाक ने कहा था कि [पृ० २९१/२]-"एकशरीरअन्तर्गत विज्ञान का पर-लोक मे अन्यशरीर मे संचार कैसे घटेगा? जब कि इस जीवन मे ही एकशरीर से अन्यशरीर मे चैतन्य का संचार नही देखा जाता और मृत्युकाल मे दूसरे शरीर मे चैतन्य का संचार होगा यह बात अन्व-यशून्य यानी असम्बद्ध है।"....इत्यादि, यह भी युक्तिशून्य है। कारण, इस जीवन मे चैतन्य का अन्य शरीर मे संचार असिद्ध नही है, देखते तो है कि इसी जीवन मे कुमारावस्था के देह मे जो पाडित्य, आदि विकल्प थे उनका वृद्धावस्था के देह मे भी संचार हो जाता है, कुमार शरीर की जो चपलतादि अवस्थाएँ थी और जिसप्रकार वाक्प्रयोग होता था वे सब वृद्धावस्था के देह मे भी दिखाई देते हैं। तो 'इस जीवन मे देहान्तर मे संचार नही होता'-ऐसा कैसे कहा जाय या मान लिया जाय ? !

शंका.-इस जन्म में बाल-कुमारादिअवस्थाभेद से, भिन्न रूप मे कल्पित जो देह है वह एक ही है, वास्तव में अवास्थाभेद होने पर भी देह भेद नही है। आप जो जन्मान्तर मानते हैं वहाँ तो दूसरे माता-पिता के शुक्र और शोणित से उत्पन्न शरीर अन्य ही है और वह अन्य शरीर से यानी माता के शरीर से अन्य है। अत. शरीरान्तर मे चैतन्य का संचार कौन से दृष्टान्त से माना जाय ?

अथेहजन्मबालकुमाराद्यवस्थाभेदेऽपि प्रत्यभिज्ञानादेकत्वं सिद्धम् शरीरस्य तदवस्थाव्यापकस्य, तेन न तद्दृष्टान्तबलादत्यन्तभिन्ने जन्मान्तरशरीरादौ ज्ञानसंचारो युक्त'। तदसत्, पूर्वोत्तरजन्मशरीरज्ञानसचारकारिण कार्मणशरीरस्यात एव कथचिदेकत्व(?स्य)सिद्धेः। तथाहि ज्ञान तावदिहजन्मादावन्यनिजजन्मज्ञानप्रभवं प्रसाधितम्, तस्य चेहजन्मबाल कुमाराद्यवस्थाभेदेषु 'तदेवेद शरीरम्' इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञाप्रत्ययावगतैकरूपान्वयिषु संचारदर्शनात् पूर्वोत्तरजन्मावस्थास्वपि तथाभूतानुगामिरूपसमन्वितासु तस्य संचारोऽनुमीयते। न चाऽस्मदादीन्द्रियसवेद्यरूपाद्याश्रयस्यौदारिकशरीरस्य जन्मान्तरशरीराद्यवस्थानुगमः सम्भवति, तस्य तदैव च दाहादिना ध्वसोपलब्धेः। अतो जन्मद्वयावस्थाव्यापकस्योष्मादिधर्मानुगतस्य कार्मणशरीरस्य विज्ञानान्तरसंचारकारिणः सद्भावः सिद्धः। पूर्वोत्तरजन्मावस्थाव्यापकस्यावस्थातुस्तदवस्थाभ्यः कथञ्चिदभेदाद् मातापितृशरीरविलक्षणनिजशरीरावस्थाचपलताद्यनुविधाने उत्तरावस्थायाः कथं नावस्थातृधर्मानुविधानम्?!

तस्माद्यस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्त्तते। शरीरं पूर्वदेहस्य तत्तदन्वयि युक्तिमत्॥[ ]

उत्तरः-यह प्रश्न भी अयुक्त है, बाल-कुमारादि अवस्थाभेद से शरीर का भी भेद सिद्ध ही है 'अब मेरा शरीर पूर्व का नही रहा' ऐसी प्रतीति सभी को होती है। बाल-कुमारादि अवस्थावाले शरीर के चपलतादि विशेष जैसे तरुणादिअवस्थावाले देह मे अनुगामी दिखाई देते है वैसे ही अपने एक जन्म के शरीर से उत्पन्न चपलतादिविशेष अन्यभव मे होने वाले जन्म के शरीर मे सचरण कर सकेगा, अत इस जन्म के आद्य शरीर को माता-पिता के शुक्र-शोणित का अन्वयी मानना अनावश्यक है, मानना तो यही चाहिये कि वह एक सन्तानान्तर्गत पूर्वजन्म के चरम शरीर का ही अन्वयी है, जैसे इस जन्म मे वृद्धावस्था का देह एक सन्तानान्तर्गत पूर्वकालीन युवाशरीर का अन्वयी होता है। यदि ऐसा न मान कर इस जन्म के शरीर को माता-पिता के शरीर का अन्वयी मानेंगे तो इस जन्म के शरीर मे माता-पिता के शरीर से जो विलक्षण चपलतादि देहचेष्टा देखी जाती है वह नही घट सकेगी।

[पूर्वोत्तरजन्म में एक अनुगत कार्मणशरीर की सिद्धि]

शंकाः-इस जन्म मे बाल-तरुणादि अवस्था भिन्न भिन्न होने पर भी उन अवस्थाओ मे व्यापक एक शरीर की सिद्धि, 'यह वही शरीर है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से होती है। अतः इस जन्म के शरीरभेद के दृष्टान्त से, अत्यन्त भिन्न ऐसे जन्मान्तर के शरीर मे ज्ञानादि का सचार बताना युक्तिसगत नही है।

उत्तरः-आपका कहना ठीक है कि प्रत्यभिज्ञा से इस जन्म का एक ही शरीर सिद्ध होता है, अत' अत्यन्त भिन्न जन्मान्तर के शरीर मे ज्ञानादि सचार नही घट सकता। किन्तु, अब तो इसी अनुपपत्ति से पूर्वजन्म-उत्तरजन्म के शरीरो मे ज्ञान का सचरण करने वाले, उन दोनो शरीर से कथचिद् अभिन्न, ऐसे 'कार्मण' नामक शरीर की सिद्धि होती है।

जैसे देखिये, इस जन्म के प्रारम्भ मे उत्पन्न ज्ञान वह अपने ही पूर्वजन्म के ज्ञान से उत्पन्न होता है इस तथ्य को हम पहले ही सिद्ध कर आये हैं अतः ज्ञान का शरीरान्तर सचार तो मानना ही पड़ेगा, और उसकी उपपत्ति के लिये माध्यम के रूप मे जैन प्रक्रिया के अनुसार माने गये कार्मण शरीर की अनायास सिद्धि होगी। [अन्य दार्शनिको ने इस स्थान मे सूक्ष्मशरीर या लिंग शरीर माना है।] वह इस प्रकार-'यह वही शरीर है' इस प्रत्यभिज्ञा प्रतीति से सिद्ध एक ही अनुगत रूप से यानी एक

अथ 'पूर्वापरयोः प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेर्न कार्यकारणभावः अनुमानसिद्धावितरेतराश्रयदोषः' इति, तदपि प्रतिविहितम् । एवं हि सर्वशून्यत्वमायातमिति कस्य दूषणं साधनं वा केन प्रमाणेन ? इहलोकस्याप्यभावप्रसक्तेरिति प्रतिपादितत्वात् ।

अथ कार्यविशेषस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वसिद्धौ यथोक्तप्रकारेण भवतु पूर्वजन्मसिद्धिः, भाविपरलोकसिद्धिः कथं, भाविनि प्रमाणाभावात् ?-तत्रापि कार्यविशेषादेवेति ब्रूमः । तथाहि-कार्यविशेषो विशिष्टं सत्त्वमेव । तच्च न सत्तासम्बन्धलक्षणम्, तस्य निषेत्स्यमानत्वात् । नाप्यर्थक्रियाकारित्वलक्षणम्, सन्ततिव्यवच्छेदे तस्याभावप्रसंगात् । तथाहि—

ही देह से अन्वयी अर्थात् परस्पर सम्वद्ध ऐसी वाल-कुमारादि भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे ज्ञान का सचार देखा जाता है, तो इसी रीति से एक शरीर से ही अनुगत यानी परस्पर सम्वद्ध पूर्वजन्मावस्था और वर्त्तमानजन्मावस्था मे भी ज्ञानसचार का अनुमान हो सकता है। अव वह कौनसा एक शरीर माना जाय यह सोचना होगा, इसमे हमारी नेत्रादि इन्द्रिय से अनुभूयमान और रूपरसादि का आश्रयभूत, वर्त्तमानजन्म का जो शरीर है [जिसको जैन परिभाषा मे 'औदारिक' शरीर कहते है-] उसका जन्मान्तर के देहादि अवस्थाओ मे अनुगम तो माना नही जा सकता, क्योकि मृत्यु के वाद उस शरीर का तो अग्नि आदि के दाह से ध्वस हो जाता है। अत' अनुमान से यह सिद्ध होगा कि पूर्वोत्तरजन्मद्वयावस्थाओ मे व्यापक तथा विज्ञान का सचरण करने वाला (यानी विज्ञानवाहक) कोई एक शरीर है जो उष्णतादि धर्म वाला है और जिसे जैन परिभाषा मे 'कार्मणशरीर' कहा जाता है।

जैसे आप (चार्वाक) पूर्वोत्तरावस्थाओ को एक अवस्थाता शरीर से अभिन्न मानकर ज्ञान का सचार मानते है तो उसी प्रकार पूर्वजन्मावस्था और उत्तरजन्मवस्थाओं को एक व्यापक अवस्थारूप कार्मणशरीर से हम भी कथचिद् अभिन्न मानेंगे, अतः माता-पिता के शरीर से विलक्षण ऐसे, अपने एक जन्म के शरीररूप अवस्था मे अन्तर्गत, चपलतादि धर्मो का अनुविधान जव उत्तरावस्था मे देखते हैं तो पूर्वजन्म और वर्त्तमान जन्म की अवस्थाओ मे एक ही अवस्थाता के धर्मो का अनुगमन क्यो सिद्ध नही होगा ? एक प्राचीन श्लोक मे भी कहा गया है कि-

'उक्त हेतु से, देह जिसके सस्कार का अवश्यमेव अनुसरण करता है उस पूर्वदेह का ही वह अन्वयी है यह मानना युक्तियुक्त है।'

[पूर्वापर भावों में कार्यकारणता न होने पर शून्यापत्ति]

पूर्वपक्षीः-पूर्वापर वस्तु मे कार्य कारणभाव के ग्रहण मे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही होती है। अनुमान प्रत्यक्षमूलक होने से, प्रत्यक्ष के अभाव मे अनुमान से भी कार्यकारणभाव सिद्ध नही हो सकता, यदि अनुमान से यह सिद्ध किया जाय कि कार्य-कारणभाव का प्रत्यक्ष ग्रहण होता है, तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष होगा, अर्थात् प्रत्यक्ष से कार्यकारणभाव का ग्रहण होने पर तन्मूलक अनुमानप्रवृत्ति होगी और अनुमानप्रवृत्ति होने पर प्रत्यक्ष से कार्यकारणभाव का ग्रहण सिद्ध होगा।

उत्तरपक्षीः-आपके इस कथन का प्रतिकार हो चुका है [दे० पृ०३०१-९] । वह इस प्रकार कि कार्यकारणभाव को प्रत्यक्षसिद्ध न मानने पर वाह्यार्थ के साथ ज्ञान का सम्वन्ध सिद्ध न होने से सकल वाह्यार्थ की असिद्धि होगी, विचार करने पर तव ज्ञान भी असिद्ध हो जायेगा इस प्रकार 'सर्व-

शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिसन्तानानां यद्युच्छेदोऽभ्युपगम्यते तदा तत्सन्ततिचरमक्षणस्यापरक्षणाऽजननादसत्त्वम्, तदसत्त्वे च पूर्वक्षणानामर्थक्रियाऽजननादसत्त्वमिति सकलसन्तत्यभावः। अथ सन्तत्यन्त्यक्षणः सजातीयक्षणान्तराऽजननेऽपि सर्वज्ञसन्ताने स्वग्राहिज्ञानजनकत्वेन सन्निति नायं दोषः। तदसत्, स्वसन्ततिपतितोपादेयक्षणाऽजनकत्वे परसन्तानवर्त्तिस्वग्राहिज्ञानजनकत्वस्याप्यसम्भवात्। ह्युपादानकारणत्वाभावे सहकारिकारणत्वं क्वचिदप्युपलब्धम्, तत्सद्भावे वा एकसामग्र्यधीनरूपादे रसतस्तत्समानकालभाविनोऽव्यभिचारिणी प्रतिपत्तिर्न स्यात्। रूपक्षणस्य स्वोपादेयक्षणान्तराऽजननेऽपि रससन्ततौ सहकारिकारणत्वेन रसक्षणजनकत्वाभ्युपगमात्, तत्सद्भावेऽपि तत्समानकालभाविनो रूपादेरभावात्। तन्नोपादानकारणत्वाभावे सहकारित्वस्यापि सम्भव इति स्वसन्तत्युच्छेदाभ्युपगमेऽर्थक्रियालक्षणस्य सत्त्वस्याऽसम्भवः इति 'उत्पादव्ययध्रौव्य'लक्षणमेव सत्त्वमभ्युपगन्तव्यमिति कार्यविशेषलक्षणाद्धेतोर्यथोक्तप्रकारेणातीतकालवदनागतकालसम्बन्धित्वमप्यात्मनः सिद्धम्।

शून्य' की प्रसक्ति होगी तो फिर किसके ऊपर दूषण लगायेंगे और किस की सिद्धि करेंगे ? इहलोक भी तब तो सिद्ध न होने से उसका भी अभाव प्रसक्त होगा। यह पहले भी कह चुके हैं।

[भविष्यकालीन जन्मान्तर में प्रमाण]

शंकाः-पूर्वोक्त रीति से कार्यविशेष मे कारणविशेषपूर्वकत्व सिद्ध होता है तो इहलौकिक जन्म पूर्वजन्ममूलक सिद्ध हो सकता है, अर्थात् पूर्वजन्म का सिद्धान्त तो ठीक है। किन्तु भविष्यत्कालीन परलोक की यानी उत्तरजन्म की सिद्धि कैसे होगी ? भावि भाव का ज्ञापक कोई प्रमाण तो है नही।

उत्तर –हम तो कार्यविशेष हेतु से ही भावि परलोक की भी सिद्धि होने का कहते है। वह इस प्रकार –कार्य-विशेष का अर्थ है विशिष्ट सत्त्व। विशिष्ट सत्त्व यानी क्या ? जैन मत मे विशिष्ट सत्त्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप ही है और वही ठीक है। नैयायिकादि दार्शनिक सत्ताजाति सम्बन्ध को ही विशिष्ट सत्त्व कहते है वह युक्त नही है क्योकि उसका प्रतिषेध अग्रिम ग्रन्थ मे किया जाने वाला है। बौद्ध दार्शनिक कहते है-अर्थक्रिया का कारित्व यही विशिष्ट सत्त्व है, किन्तु यह उस के मत से ही असगत है क्योकि सन्तान का अत्यन्त उच्छेद जब हो जाता है तब चरम सन्तानी में वह नही घटता है। वह इस प्रकार.-

[सत्त्व अर्थक्रियाकारित्वरूप नहीं है]

शब्द, ज्ञान और प्रदीपादि का सन्तान उत्तरोत्तर चलता रहता है। बौद्ध दार्शनिक यदि इन का अत्यन्त उच्छेद मानते है तो उन सतानो मे जो अतिमक्षण हैं उन मे उत्तरक्षणजनकतारूप अर्थक्रियाकारित्व न होने से उन अन्तिमक्षणो मे सत्त्व ही असिद्ध हो जायेगा। अन्तिम क्षण असत् बन जाने पर उसी न्याय से पूर्व पूर्व क्षण मे भी अर्थक्रियाकारित्व के अभाव से सत्त्व का अभाव ही प्रसक्त होगा। फलतः सपूर्ण सन्तान का उच्छेद प्रसक्त होगा।

पूर्वपक्षीः–सतानवर्त्ती अन्तिम क्षण सजातीय उत्तर क्षण का जनक भले न हो किन्तु सर्वज्ञ-सन्तान मे जो तद्विषयक (अन्तिमक्षणविषयक) ज्ञान उत्पन्न होगा उसमे वह अन्तिम क्षण विषय-विधया जनक बनेगा ही, अतः अर्थक्रियाकारित्व घट जाने से सन्तानोच्छेद की कोई आपत्ति नही है।

उत्तरपक्षीः–यह बात असद् है, क्योकि जो स्वसन्तानवर्त्ती उत्तरकालीन उपादेय क्षण का जनक नही होता वह परसन्तानगत स्वविषयकज्ञान का जनक बने यह सम्भव नही है। कही भी

यदप्युक्तम्-'यद्यागमसिद्धत्वमात्मनः, तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसम्बन्धस्तत्सिद्धोऽभ्युपगम्यते तदाऽनुमानवैयर्थ्यम्' इति तदपि मूर्खेश्वरचेष्टितम्, न हि व्यर्थमिति निजकारणसामग्रीवलायातं वस्तु प्रतिक्षेप्तुं युक्तम्, न हि आगमसिद्धाः पदार्था इति प्रत्यक्षस्यापि प्रतिक्षेपो युक्तः। यदपि प्रत्यक्षानुमानविषये चाऽर्थे आगमप्रामाण्यवादिभिस्तस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते-"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" [जैमि०१-२-१] इति, तदप्ययुक्तम्-यतो यथा प्रत्यक्षप्रतीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषयेऽनुमानमपि प्रवृत्तिमासादयतीति प्रतिपादितं तथा प्रत्यक्षानुमानप्रतिपन्नेऽप्यात्मलक्षणेऽर्थे तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसम्बन्धलक्षणे किमित्यागमस्य प्रवृत्तिर्नाभ्युपगम्य विषयः? न चाऽऽगमस्य तत्राऽप्रामाण्यमिति वक्तुं युक्तम्, सर्वज्ञप्रणीतत्वेन तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात्।

उपादानकारणता के बिना सहकारिकारणता उपलब्ध नही है। यदि ऐसा न मानेंगे तो जहाँ रूप और रस एकसामग्रीजन्य है वहाँ तथाविधरस से समानकालीन तथाविध रूपादि की जो व्यभिचार-दोष रहित शुद्ध बुद्धि (अनुमिति) होती है वह नही हो सकेगी। तात्पर्य यह है कि किसी एक आम्रादि फल मे जो रूप-रसादिक्षण सन्तति चली आती है उनकी सामग्री समान ही होने से रूपक्षण रूपक्षणोत्पत्ति मे उपादान कारण बनता है और रसक्षण के प्रति सहकारी कारण। अतएव रस से समानकालीन तथाविध रूप की अनुमिति होती है, किन्तु वह अब न हो सकेगी क्योकि रूपक्षण से सहकारिकारण विधया रसक्षण की उत्पत्ति हाने पर भी स्वसतति मे उपादानकारण विधया उपादेय भूत रूपक्षण को उत्पत्ति होने का नियम तो नही है, अत यह सभव है कि रूप से केवल रस उत्पन्न होगा, रूपोत्पत्ति नही होगी। इस स्थिति मे कोई व्यक्ति रसक्षण हेतु से समानकालीन रूपक्षण की अनुमिति करने जायेगा तो व्यभिचार दोष प्रसक्त होगा, अतः उस अनुमिति का उच्छेद हो जायेगा। अतः उपादान कारणता के विना अन्तिमक्षण मे सहकारिकारणता भी घट नही सकती। तब यदि बौद्धवादी सतानो का अत्यन्त उच्छेद मानते हैं तो सत्त्व का अर्थक्रियाकारित्वरूप लक्षण नही घट सकेगा। फलतः जैनमत के अनुसार उत्पत्ति-व्यय-ध्रौव्य तीन धर्मो का विशिष्ट समुदाय यही सत्त्व का लक्षण मानना होगा। इस विशिष्ट सत्त्व रूप कार्यविशेष से ही अर्थात् तदन्तर्गत ध्रौव्य के कारण ही आत्मा की मृत्यु के उत्तरकाल मे ही सत्ता सिद्ध होने से उसकी उत्तरावस्था के रूप मे भाविजन्म की सिद्धि भी हो जायेगी। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ, आत्मा अतीतकाल का जैसे सम्बन्धी है वैसे भविष्यकाल का भी सम्बन्धी है।

[आगमसिद्धता होने पर अनुमान व्यर्थ नहीं होता]

पूर्वपक्षी ने जो कहा था [पृ० २९२]-"आत्मा यदि आगम से ही सिद्ध है, अथवा सुकृत का शुभफल, दुष्कृत का अशुभफल इस प्रकार के प्रतिनियतकर्म-फल का आत्मा के साथ सम्बन्ध भी यदि आगमसिद्ध है तो आत्मा और कर्म-फल सम्बन्ध का अनुमान करना व्यर्थ है"-इत्यादि....वह तो मूर्खशिरोमणि की चेष्टा है। किसी वस्तु की उत्पत्ति अगर व्यर्थ=निष्प्रयोजन है इतने मात्र से ही उसकी सपूर्ण कारण सामग्री के बल से उत्पन्न होने वाली उस वस्तु का प्रतिक्षेप करना युक्तियुक्त नही है। सपूर्ण कारण सामग्री सम्पन्न होने पर कार्य की उत्पत्ति अवश्यंभावि है, वह कार्य चाहे किसी का कोई प्रयोजन सिद्ध करे या न करे-इसका कोई महत्त्व नही है। यदि आगम सिद्ध वस्तु के अनुमान को व्यर्थ कहेगे तो आगमसिद्ध पदार्थो मे प्रवृत्त होने वाले प्रत्यक्ष का भी 'व्यर्थ' कह कर प्रतिक्षेप किया जाना अयुक्त न होगा। प्रत्यक्ष और अनुमान का गोचर न हो ऐसे ही पदार्थो मे आगम (वेद)

प्रतिनियतकर्मफलसम्बन्धप्रतिपादकश्चागमः-"बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्य" [त० सू० ६-१६] इत्यादिना वाचकमुख्येन सूत्रीकृतोऽस्यैवानुमानविषयत्व प्रतिपादयितुकामेन। यथा च कर्मफलसंबन्धोऽप्यात्मनोऽनुमानादवसीयते तथा यथास्थानमिहैव प्रतिपादयिष्यामः। आत्मस्वरूपप्रतिपादकः प्रतिनियतकर्मफलसम्बन्धप्रतिपादकश्चागमः "एगे आया" [स्थाना० १-१] "पुव्वि दुच्चिण्णाण दुप्पडिकताण कडाण कम्माण" [*] इत्यादिकः सुप्रसिद्ध एव। तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणप्रसिद्धत्वाद् नारक-तिर्यग्-नरामरपर्यायानुभूतिस्वभावस्यात्मन, न भवशब्दव्युत्पत्तिरर्थाभावात् डित्थादिशब्दव्युत्पत्तितुल्या इति स्थितम् ॥

को प्रमाण मानने वाले मीमांसको ने जो आगम के प्रामाण्य को मान कर यह कहा है कि "वेदशास्त्र का प्रयोजन क्रिया मे प्रवृत्ति है अतः क्रियाप्रवर्त्तक न हो ऐसे अर्थवाद और मन्त्रविभाग का वेद उनके प्रतिपाद्यविषय मे प्रमाणभूत नही है"....इत्यादि, वह भी युक्त नही है। कारण यह है कि प्रत्यक्षप्रतीतिगोचर पदार्थ जब विवादास्पद बन जाता है तब उस विषय मे अनुमान प्रवृत्त होता है यह पहले [पृ० ३०५/४] कह दिया है। तो ठीक उसी प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान से आत्मपदार्थ सिद्ध होने पर अथवा उसके साथ प्रतिनियत कर्म-फल सम्बन्ध की सिद्धि होने पर भी उस विषय मे आगम की प्रवृत्ति स्वीकृत क्यो न की जाय ? । 'वहाँ आगम प्रमाण ही नही है' यह तो नही कहा जा सकता क्योकि उस विषय का प्रतिपादक आगम सर्वज्ञप्रणीत होने से प्रमाणभूत है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है।

[आत्मा और कर्मफलसम्बन्ध में आगम प्रमाण]

'प्रतिनियतकर्मफल सम्बन्ध अनुमान का विषय है' यह दिखाने की इच्छा वाले वाचकशिरोमणि आचार्य श्री उमास्वाति महाराज ने, प्रतिनियतकर्मफल सम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाले-'बाह्वारम्भपरिग्रहत्व च नारकस्य' [तत्त्वार्थ ६-१६] अर्थ-बहुत आरम्भ (हिंसादि) और परिग्रह नरक-आयुष का आश्रव है-इस आगम का सूत्रण-प्रणयन किया ही है। तदुपरात आत्मा के साथ कर्मफल का सम्बन्ध किस प्रकार अनुमान गोचर है वह इसी ग्रन्थ मे यथावसर कहेगे। आत्मस्वरूप का प्रतिपादक सुप्रसिद्ध आगम वाक्य स्थानांग सूत्र मे इस प्रकार है "एगे आया"। आया=आत्मा। तथा प्रतिनियत कर्म-फल सम्बन्ध का प्रतिपादक आगम सुप्रसिद्ध है-"पूव्वि दुच्चिण्णाण दुप्पडिक्कताणं कम्माण" इत्यादि... अर्थात्-"भूतकाल मे प्रतिक्रमण किये विना रह गये कुसचित कृत कर्मो का भोग के विना अथवा तप से निर्जीण किये विना मोक्ष नही है"....इत्यादि।

पूर्वोक्त चर्चा से, आत्मा प्रत्यक्ष-अनुमान और आगम प्रमाण से प्रसिद्ध है, अतः आत्मा का यह स्वभाव भी 'नारक-तिर्यच-देव-मनुष्यादि अवस्थाओ को अनुभव करना'-प्रमाण से सिद्ध होता है। भव शब्द का यह अर्थ भी प्रमाण से सिद्ध है अत. पूर्वपक्षी ने जो कहा था-'भवशब्द का कोई प्रमाण सिद्ध अर्थ न होने से भवशब्द की व्युत्पत्ति डित्थादि अर्थशून्य शब्दो की व्युत्पत्ति से तुल्य है'-यह निःसार सिद्ध होता है।

[परलोकवाद समाप्त]

---

* द्रष्टव्य ज्ञाताधर्मकथासूत्र-पृ० २०४/१ पं० १, तथा विपाकसूत्र पृ०३८/२-पं० १ मे "पुरा पोराणाण दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताण कडाण पावाण कम्माण"-इत्यादि।

[ईश्वरकर्तृत्ववादिपूर्वपक्षः]

अत्राहुर्नैयायिका -क्लेश-कर्म विपाकाशयाऽपरामृष्टपुरुषाभ्युपगमे नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा' इति दूषणमभ्यधायि तत्र तन्नित्यसत्त्वप्रतिपादने नाऽस्माकं काचित् क्षति प्रमाणतोनित्यज्ञानादिधर्म-कलापान्वितस्य तस्याऽभ्युपगमात् ।

ननु युक्तमेतद्यदि तथाभूतपुरुषसद्भावप्रतिपादकं किंचित् प्रमाणं स्यात्, तच्च नास्ति । तथाहि-न प्रत्यक्षं तथाविधपुरुषसद्भावावेदकमस्मदादीनाम् । 'अस्मद्विलक्षणयोगिभिस्तस्यावसाय' इत्यत्रापि न किंचित् प्रमाणमस्ति । यदा न तत्स्वरूपग्रहणे प्रत्यक्षप्रमाणप्रवृत्तिस्तदा तद्गतधर्माणां नित्यज्ञानादीनां सद्भाववार्त्तैव न सम्भवति ।

नानुमानमपि युक्तमेतत्स्वरूपावेदकम्, प्रत्यक्षनिषेधे तत्पूर्वकस्य तस्यापि निषेधात् । सामान्यतोदृष्टस्यापि नात्र विषये प्रवृत्ति., लिंगस्य कस्यचित् तत्प्रतिपादकस्याभावात्, कार्यत्वस्य पृथिव्याद्याश्रितस्य केषांचिन्मतेनाऽसिद्धेः । न च सस्थानवत्त्वस्य तत्साधकत्वम्,प्रासादादिसंस्थानेभ्य पृथिव्यादि-संस्थानस्यात्यन्तवैलक्षण्यात् संस्थानशब्दवाच्यत्वेन चातिप्रसक्तिर्दर्शिता- 'वस्तुभेदप्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः" [ ] इत्यादिना । तस्मान्नानुमानं तत्साधनायालम् ।

नाप्यागम', नित्यस्यात्र दर्शनेऽनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा कार्यार्थप्रतिपादकस्य सिद्धे वस्तुन्यव्यापृतेः । नापीश्वरपूर्वकस्य प्रामाण्यम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् । अनीश्वरपूर्वकस्यापि संभाव्यमान-दोषत्वेन प्रमाणताऽनुपपत्तेः । तस्यान्येश्वरपूर्वकत्वे, तस्यापि सिद्धिः कुत इति वक्तव्यम् । तदसिद्धौ न

[ईश्वर जगत् का कर्त्ता है-पूर्वपक्ष]

ईश्वर मे रागादिक्लेश का अभाव सहज नही है, इस प्रकार के ग्रन्थकारकृत प्रतिपादन के ऊपर जगत्कर्तृत्वादी नैयायिक लोग यहाँ 'ईश्वर ही जगत्कर्त्ता है' इस सिद्धान्त को स्थापित करने जा रहे है-

वे कहते हैं-परमपुरुष को क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अस्पृष्ट ही मानना चाहिये । जैनो ने जो उसके ऊपर यह दूषण लगाया था [पृ० २८२] कि 'रागादि का अभाव यदि निर्हेतुक होगा तो उसका या तो नित्य सत्त्व होगा या असत्त्व ही होगा किन्तु कदाचित् सत्त्व नही हो सकेगा'-इस मे से नित्यसत्त्व के आपादन मे हमारी कोई क्षति नही है । कारण, अनुमानादि प्रमाण से हम मानते है कि ईश्वर स्वय नित्य है और नित्यज्ञान-नित्यइच्छा आदि धर्मकलाप से आश्लिष्ट ही है ।

[नैयायिक के सामने कर्तृत्व प्रतिपक्षी युक्तियाँ]

अब यहा नैयायिक के सामने कोई दीर्घ आशका करता है-

शंका.-'ईश्वर नित्य है' इत्यादि कथन, यदि ऐसे किसी पुरुषविशेष के सद्भाव का साधक कोई प्रमाण हो तब तो युक्त हो सकता है-किन्तु ऐसा प्रमाण ही नही है । देखिये-नित्यज्ञानादि-समन्वित पुरुष के सद्भाव का आवेदक, अपने लोगो मे से किसी का भी प्रत्यक्ष नही है । अपने लोगो से विलक्षण कोई योगिपुरुष के अतीन्द्रिय ज्ञान से उसका पता चले-इस बात में भी कोई प्रमाण नही है । जब प्रत्यक्ष प्रमाण की ईश्वर रूप धर्मी के प्रतिपादन में भी प्रवृत्ति नही है तो उसके नित्यत्वादि धर्मो के सद्भाव की वार्त्ता का भी सम्भव नही है ।

तस्य प्रामाण्यम् . अनेकेश्वरप्रसंगदोषश्च । 'भवतु, को दोषः ! यत एकस्यापि साधने वयमतीवोत्सुकाः किं पुनर्बहूनामि'ति चेत् ? न कश्चित् प्रमाणाभाव मुक्त्वा । तन्नागमतोऽपि तत्प्रतिपत्तिः । एवं स्वरूपासिद्धौ कथं तस्य कारणता ?

अत्राहुः-यदुक्तम्- न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं' तदेवमेव । यदपि 'सर्वप्रकारस्यागमस्य न तत्स्वरूपावेदने व्यापृतिः' तत्रोच्यते-आगमाऽव्यापारेऽपि तत्स्वरूपसाधकमनुमानं विद्यते । आगमस्यापि सिद्धेऽर्थे लिंगदर्शनन्यायेन यथा व्यापृति तथा प्रतिपादयिष्यामः । प्रत्यक्षपूर्वकानुमाननिषेधे सिद्ध-

[अनुमान से ईश्वरसिद्धि अशक्य]

ईश्वररूप धर्मी का आवेदक अनुमान भी नही हो सकता क्योकि अनुमान की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष-पूर्वक ही हो सकती है, ईश्वरग्राहक कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न होने पर अनुमान की उसमे प्रवृत्ति अशक्य है। यदि कहे कि-'विशेषत ईश्वररूप व्यक्ति का साधक अनुमान न होने पर भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान की इस विषय मे प्रवृत्ति शक्य है'-तो यह भी अशक्य है क्योकि ईश्वर का प्रतिपादक कोई भी लिंग ही नही है । कार्यत्व हेतु से यदि उसकी सिद्धि करेंगे तो पृथ्वी आदि मे कितने वादी के मत से कार्यत्व ही असिद्ध होने से वह लिंग नही बन सकेगा। सस्थान(आकार)वत्ता के आधार पर भी वहा पृथ्वी आदि मे कार्यत्वसिद्धि नही हो सकती क्योकि कार्यभूत विशाल भवनादि में जैसा सस्थान दृष्ट है वैसा ही सस्थान पृथ्वी आदि मे नही है । किन्तु ऐसा अत्यन्त विलक्षण है कि उसके लिये संस्थान शब्द का प्रयोग ही अनुचित है । अत एव पृथ्वी के सस्थान मे वादीयो ने संस्थानशब्दवाच्यता की अतिप्रसक्ति यह कहकर दिखायी है कि-जिन वस्तुओ मे प्रसिद्ध भेद है उनमे भी केवल शब्द के साम्य से ही अभेद रहता है ।-तात्पर्य, राजभवनादि का सस्थान और पृथ्वी आदि का सस्थान अतिविलक्षण है, केवल सस्थानशब्द का ही साम्य है। अत सस्थानवत्ता के आधार पर पृथ्वी आदि मे कार्यत्व लिंग की सत्ता सिद्ध न हो सकने से कार्यत्वलिंगक अनुमान ईश्वरसिद्धि के लिये समर्थ नही है ।

[आगम से ईश्वर सिद्धि अशक्य]

आगम से भी ईश्वर सिद्धि अशक्य है । कारण, न्यायदर्शन मे आगम को नित्य नही माना जाता । यदि आगम को नित्य मान लिया जाय तो भी मीमासक मतानुसार जो साध्यभूत अर्थ का प्रतिपादक है वही प्रमाण होने से ईश्वरादि सिद्ध वस्तु को सिद्धि मे उसका कोई व्यापार नही हो सकता । यदि आगम को ईश्वरप्रोक्त होने से प्रमाण मानगे तो ईश्वर से आगम के प्रामाण्य की सिद्धि और सिद्धप्रामाण्यवाले आगम से ईश्वरसिद्धि-इस प्रकार अन्योन्य आश्रय दोष लगेगा । यदि आगम को ईश्वरप्रणीत नही मानते है तब तो उसमे दोष की सम्भावना होने से वह प्रमाणभूत नही हो सकता । यदि कहे कि-ईश्वरप्रतिपादक आगम वह अन्य ईश्वर से रचित हाने से अन्योन्याश्रय दोष नही है-तो वह अन्य ईश्वर से भी कौन से प्रमाण से सिद्ध है यह दिखाना पडेगा । उसकी सिद्धि न होने पर आगम प्रमाणभूत नही रहेगा, तदुपरात उस ईश्वर की सिद्धि के लिये अन्य ईश्वर से रचित आगम को प्रमाण कहेगे तो ऐसे अनेक ईश्वर की कल्पना का दोष प्रसग होगा । यदि ऐसा कहे-'अनेक ईश्वर को मानेंगे, क्या दोष है ? हम तो एक ईश्वर की सिद्धि मे भी अतीव उत्सुक है, यदि एक की सिद्धि करते हुये अनेक ईश्वरो की सिद्धि हो जाय तब तो कहना ही क्या ?'-तो यहाँ दोष प्रमाण-शून्यता को छोड कर और कोई नही है । एक ईश्वर मे भी प्रमाण नही दे सकते वे अनेक ईश्वर मे क्या

साधनम्, सामान्यतोदृष्टानुमानस्य तत्र व्यापाराभ्युपगमात्। नन्वनुमानप्रमाणतायामयं विचारो युक्तारम्भः, तस्यैव तु प्रामाण्यं नानुमन्यन्ते चार्वाका इति। एतच्चानुद्घोष्यम्, अनुमानप्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात्।

यत्तूक्तम् -पृथिव्यादिगतस्य कार्यत्वस्याऽप्रतिपत्तेर्न तस्मादीश्वरावगमः-तत्र पृथिव्यादीनां बौद्धैः कार्यत्वमभ्युपगतं ते कथमेवं वदेयु? येऽपि चार्वाकाद्याः पृथिव्यादीनां कार्यत्वं नेच्छन्ति तेषामपि विशिष्टसंस्थानयुक्तानां कथमकार्यता? सर्वं संस्थानवत् कार्यम्, तच्च पुरुषपूर्वकं दृष्टम्। येऽप्याहु-संस्थानशब्दवाच्यत्व केवल घटादिभिः समान पृथिव्यादीनाम्, न तत्त्वतोऽर्थः कश्चिद् द्वयोरनुगतः समानो विद्यते-तेषामपि न केवलमत्रानुगतार्थाभावः किन्तु धूमादावपि पूर्वापरव्यक्तिगतो नैव कश्चिदनुगतोऽर्थः समानोऽस्ति।

अथ तत्र वस्तुदर्शनायातकल्पनानिमित्तमुक्तम्, अत्र तथाभूतस्य प्रतिभासस्याभावान्नानुगतार्थकल्पना। तथाहि-कस्यचिद् घटादेः क्रियमाणस्य विशिष्टां रचनां कर्तृपूर्विकां दृष्ट्वाऽदृष्टकर्तृ कस्यापि

प्रमाण दिखायेगे? फलित यह हुआ कि आगम से ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती। जब प्रत्यक्ष-अनुमान और आगम से ईश्वर स्वरूप ही असिद्ध है तो वह सारे जगत् का कारण कैसे माना जाय? (शका समाप्त)

[पूर्वपक्षी की युक्तिओं का आलोचन]

इस शका के उत्तर मे नैयायिक कहते है-ईश्वर का साधक प्रत्यक्षप्रमाण नही है यह जो कहा है वह ठीक ही है। यह जो कहा कि नित्य या अनित्य (=ईश्वरकृत) किसी भी प्रकार के आगम का ईश्वरस्वरूपावेदन करने मे कोई व्यापार नही है-इस का उत्तर यह है कि आगम का व्यापार न होने पर भी उसके स्वरूप को सिद्ध करने वाला अनुमान मौजूद है। उपरात, सिद्ध अर्थो मे भी लिंगदर्शनन्याय से आगम का व्यापार सावकाश है इस बात को हम आगे दिखायेंगे। 'ईश्वरसिद्धि के लिये कोई प्रत्यक्षमूलक अनुमान नही है'-यह तो हमारे मत से जो सिद्ध है उसका ही अनुवाद हुआ। क्योकि, हम तो सामान्यतोदृष्ट अनुमान का ही ईश्वर सिद्धि मे व्यापार मानते है। यदि शका की जाय कि-सामान्यतोदृष्ट अनुमान की विचारणा का प्रारम्भ तो अनुमान प्रमाण होने पर करना ठीक है, चार्वाक (नास्तिक) लोग तो उसको प्रमाण ही नही मानते है-तो ऐसी शका उद्घोषणा करने योग्य नही है क्योकि आपने ही तो अनुमान को प्रमाणरूप से सिद्ध किया है। [द्र० पृ० २९३]

[पृथ्वी आदि में कार्यत्व असिद्ध नहीं]

शकाकार ने जो यह कहा-पृथ्वी आदि मे रहा हुआ कार्यत्व सिद्ध न होने से, उससे ईश्वर की अनुमान बुद्धि नही की जा सकती-यहाँ बौद्ध तो ऐसा नही कह सकते क्योकि वे लोग तो पृथ्वी आदि मे कार्यत्व को मानते ही है (चूँकि सब पृथ्वी आदि क्षण क्षण नये उत्पन्न होते हैं)। जो नास्तिक लोग पृथ्वी आदि मे कार्यत्व का स्वीकार नही करते हैं, उनके सामने प्रश्न है कि जब पृथ्वी आदि मे विशिष्टप्रकार का सस्थान विद्यमान है तो कार्यत्व कैसे नही है? जो कुछ भी सस्थानवाली वस्तुएँ हैं वे सभी कार्य ही है यह नियम है और कोई भी कार्य पुरुषजनित ही होता है यह तो सुप्रसिद्ध है। जो लोग कहते हैं कि-"पृथ्वी आदि मे घटादि के साथ केवल सस्थानशब्दवाच्यतारूप ही समानता है, वास्तव मे उन दोनो मे सस्थान जैसा कोई अनुगत समान धर्म नही है। घटादि मे संस्थान अवश्य है,

घट–प्रासादादेस्तस्य रचनाविशेषस्य कर्तृपूर्वकत्वप्रतिपत्तिः। पृथिव्यादेस्तु संस्थानं कदाचिदपि कर्तृ-पूर्वकं नावगतम्, नापि तादृशं धर्म्यन्तरे दृष्टकर्तृक इव पटादौ, तत् पृथिव्यादिगतस्य संस्थानस्य वैलक्षण्यात् ततो न ततः कर्तृपूर्वकत्वप्रतिपत्तिः, एवं हेतोरसिद्धत्वेन नैतत्साधनम्। अयुक्तमेतत्, यतो यद्यनवगतसम्बन्धान् प्रतिपत्तॄनधिकृत्य हेतोरसिद्धत्वमुच्यते तदा धूमादिष्वपि तुल्यम्। अथ गृहीता-ऽविनाभावानामपि कार्यत्वदर्शनात् तन्वादिषु ईश्वरादिकृतत्वप्रतिभासानुत्पत्तेरेवमुच्यते। तदसत्, ये हि कार्यत्वादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन गृहीताविनाभावास्ते तस्मादीश्वरादिपूर्वकत्वं तेषामवगच्छ-न्त्येव। तस्माद् व्युत्पन्नानामस्त्येव पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्व-कार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मताऽवगमः, अव्यु-त्पन्नानां तु प्रसिद्धानुमाने धूमादावपि नास्ति।

अपि च, भवतु प्रासादादिसंस्थानेभ्यः पृथिव्यादिसंस्थानस्य वैलक्षण्यं, तथापि कार्यत्वं शाक्यादिभिः पृथिव्यादीनामिष्यते, कार्यं च कर्तृ–करणादिपूर्वकं दृष्टम्, अतः कार्यत्वाद् बुद्धिमत्का-रणपूर्वकत्वानुमानम्। अथ कर्तृपूर्वकस्य कार्यत्वस्य सस्थानवत्त्वस्य च तद्वैलक्षण्यान्न ततः साध्या-वगमः। अत एवाधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमद् यत् सस्थान तद्दर्शनात् कर्त्रदर्शिनोऽपि तत्प्रतिपत्तिर्युक्ते-

---

पृथ्वी आदि मे नही है।"–उन लोगो के मत मे केवल सस्थानरूप अनुगत अर्थ का ही अभाव है, इतना ही नही, अपितु धूमादि मे भी पूर्वापरव्यक्ति अनुगत कोई भी समान धर्म नही होना चाहिये। तात्पर्य, सस्थान को अनुगत न मानने पर धूमत्वादि को भी अनुगतरूप से नही मानने की आपत्ति होगी।

[हेतु में असिद्धि दोष की शंका का समाधान]

शंका–धूमादि मे तो पूर्वापरव्यक्ति मे समानता के दर्शन बल से उत्थित कल्पना के निमित्त रूप मे धूमत्वादि अनुगत धर्म को कहा जाता है। यहाँ घटादि और पृथ्वी आदि मे ऐसी कोई समा-नता की प्रतीति नही होती जिसके बल से अनुगत अर्थ की कल्पना की जा सके। देखिये–वर्त्तमान मे उत्पन्न होने वाले किसी एक घट मे विशिष्ट रचना (यानी सस्थान) को साक्षात् कर्तृप्रेरित देख कर, जिस पूर्वोत्पन्न घट-भवन आदि मे पूर्वदृष्ट घटादितुल्य रचनाविशेष को देखते है किन्तु उसके कर्त्ता को नही देखते है वहाँ कर्तृप्रेरणा की अनुमिति की जाती है। कारण, पूर्वदृष्ट घट मे कर्तृपूर्वकत्व को साक्षात् देखा है। पृथ्वी आदि के सस्थान मे किसी ने भी कर्तृप्रेरणा को नही देखा है। दूसरी ओर, अन्य पटादि धर्मी, जिस का कर्त्ता दृष्ट है, उसमे पृथ्वी आदि के समान सस्थान नही है। फलत., पृथ्वी आदि का सस्थान सर्वथा विलक्षण होने से सस्थान के द्वारा कार्यत्व को सिद्ध कर के उससे कर्तृपूर्व-कता की सिद्धि को अवकाश नही है। हेतु ही जब उक्तरीति से असिद्ध है तो ईश्वर का साधन नही हो सकता।

समाधान.–यह शका अयुक्त है। जिन लोगो को हेतु-साध्य का सम्बन्ध अज्ञात है वैसे लोगो को लक्ष्य मे रख कर यदि हेतु को असिद्ध कहा जाय तब तो धूमादि मे भी यह बात समान है। जिन लोगो को धूम–अग्नि का सम्बन्ध अज्ञात है उन लोगो को धूम मे हेतुता भी अज्ञात होने से हेतु की असिद्धि ही भासेगी। यदि ऐसा कहे कि–जिन लोगो को कार्यत्व और कर्तृपूर्वकत्व का सम्बन्ध ज्ञात है उन लोगो को भी शरीरादि मे ईश्वरकृतत्व का प्रतिभास नही होता है अत हेतु व्याप्यत्वासिद्ध होना चाहिये–तो यह बात ठीक नही है, क्योकि जिन लोगो को कार्यत्व का बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व के साथ अविनाभाव ज्ञात है वे कार्यत्व हेतु से शरीरादि मे ईश्वरादिकृतत्व को जानते ही है। अतः यह

त्यस्य दूषणस्य कार्यत्वेऽपि समानत्वात् कथं गमकता ? यद्येवमनुमानोच्छेदप्रसंगः, धूमादिकमपि यथाविधमग्न्यादिसामग्रीभावाभावानुवृत्तिमत् तथाविधमेव यदि पर्वतोपरि भवेत्, स्यात्ततो वह्न्याद्यवगमः। अथाऽधूमव्यावृत्तं तथाविधमेव धूमादि, तर्हि कार्यत्वाद्यपि तथाविधं पृथिव्यादिगतं किं नेष्यते ? अथ पृथिव्यादिगतकार्यत्वादिदर्शनात् कर्त्रदर्शिनां तदप्रतिपत्तिः, एवं शिखर्यादिगतवह्न्याद्यदर्शिनां धूमादिभ्योऽपि तदप्रतिपत्तिरस्तु। न चाऽत्र शब्दसामान्यं, वस्त्वनुगमो नास्तीति वक्तुं युक्तम्, धूमादावपि शब्दसामान्यस्य वक्तुं शक्यत्वात्। तन्न शाक्यदृष्ट्या कार्यत्वादेरसिद्धता।

मानना ही होगा कि प्रबुद्ध लोगो को पृथ्वी आदि और सस्थानवत्त्व हेतु के वीच एव पृथ्वी आदि और कार्यत्व हेतु के वीच धर्मीधर्मभाव का उपलम्भ होता ही है। जो लोग प्रबुद्ध नही है उन को तो प्रसिद्ध अग्नि अनुमानस्थल मे धूमादि मे भी हेतुता आदि का अववोध नही होता।

[बौद्धों के मत से भी कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं]

दूसरी वात यह है कि, पृथिवी आदि का सस्थान प्रासादादि के सस्थान से विलक्षण भले हो, फिर भी बौद्धादि के मत मे पृथिवी आदि प्रत्येक वस्तु क्षणिक और सहेतुक होने से उसमे कार्यत्व तो माना ही जाता है। जब उसमे कार्यत्व सिद्ध है तो कार्यत्व हेतु से वुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व का अनुमान भी हो सकेगा, क्योकि जो भी कार्य होता है वह कर्तृपूर्वक और करणादिपूर्वक ही होता है यह सर्वत्र देखा जाता है।

शका:-जैसा जैसा कार्यत्व और सस्थान कर्तृजन्यवस्तु मे देखा जाता है उन से नितान्त विलक्षण ही कार्य और सस्थानवत्ता पृथ्वी आदि मे दिखते हैं, अत: विलक्षण कार्यत्व और सस्थान को हेतु बना कर सर्वत्र कर्तृपूर्वकत्व-साध्य की सिद्धि कैसे शक्य होगी ? [तात्पर्य, यज्जातीय हेतु दृष्टान्त मे है तज्जातीय हेतु पृथ्वी आदि पक्ष मे न होने से हेतु असिद्ध है] पृथ्वी आदिगत कार्यत्व और सस्थान विलक्षण होने से ही, जैसे सस्थान के अन्वय-व्यतिरेक, अधिष्ठाता यानी कर्त्ता के अन्वय-व्यतिरेक को अनुसरते हैं, वैसे सस्थान को देखने पर, कर्त्ता न दिखायी देने पर भी उसकी आनुमानिक प्रतीति का होना युक्तियुक्त है। (यानी अन्य प्रकार के सस्थान से कर्त्ता की अनुमिति युक्तयुक्त नही है)। यही दूषण कार्यत्वस्थल मे भी समान है तो फिर कार्यत्व और सस्थानवत्त्व हेतु सर्वत्र कर्तृपूर्वकत्व का बोधक कैसे होगा ?

समाधान:-अगर सस्थानादि मे ऐसी विलक्षणता को प्रस्तुत करेगे तव तो अनुमान मात्र के उच्छेद का दोष प्रसग होगा। कारण, धूमहेतुक अनुमान स्थल मे भी ऐसा कहा जा सकेगा कि जैसा धूम अग्निआदिरूप सामग्री के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधायी है वैसा ही धूम अगर पर्वत की चोटी पर दिखायी देगा तब तो अग्नि का अनुमान वोध होना युक्तियुक्त है, अन्यथा नही। यदि कहे कि 'पाकशाला मे दृष्ट धूम और पर्वतगत धूम, दोनो मे अधूमव्यावृत्ति समान होने से उनमे कोई विलक्षणता नही है'-तो फिर पृथ्वी आदि और घटादि मे रहे हुए कार्यत्वादि भी अकार्यव्यावृत्तिरूप से समान ही होने से कोई विलक्षणता नही है ऐसा क्यो नही मानते है ? यदि ऐसा कहे कि-'पृथ्वी आदि मे कार्यत्व को देखने पर भी वहाँ कर्त्ता के वोध का उदय नही होता है अत: वहाँ कार्यत्व विलक्षण है'-तो ऐसे तो जिन लोगो को पर्वत मे अग्नि का दर्शन नही होता है, उनको धूम देखने पर भी अग्नि का बोध मत मानीये। यदि यह कहा जाय कि-'पृथ्वीआदिगत कार्यत्वादि और घटादि-

नापि चार्वाक-मीमांसकदृष्ट्या, तेषामपि संस्थानवदवश्यं कार्यं घटादिवत् । 'पृथिव्यादि स्वावयवसयोगैरारब्धमवश्यंतया विश्लेषाद् विनाशमनुभविष्यति' एवं विनाशाद् वा सभावितात् कार्यत्वानुमानम् , रचनास्वभावत्वाद् वा । यथोक्त भाष्यकृता-"येषामप्यनवगतोत्पत्तीनां भावानां रूपमुपलभ्यते तेषां तन्तुव्यतिषंगजनितं रूपं दृष्ट्वा तद्व्यतिषंगविमोचनात् तद्विनाशाद्वा विनक्ष्यतीत्यनुमीयते" [ ] ।

अनेन संस्थानवतोऽनुपलभ्यमानोत्पत्तेः समवाय्यसमवायिकारणविनाशाद् विनाशमाह । तथा पृथिव्यादेः संस्थानवतोऽदृष्टजन्मनो रूपदर्शनाद् नाशसम्भावना भविष्यति, संभाविताच्च नाशात् कार्यत्वाऽनुमितौ कर्तृप्रतिपत्ति. । यथोक्तं न्यायविद्भिः-"तत्त्वदर्शन प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा" [ ] । कार्यत्व-विनाशित्वयोश्च समव्याप्तिकत्वादेकेनापरस्यानुमानमिष्टम् "तेन यत्राप्युभौ धर्मौ" [श्लो० वा० अनु०-९] इत्यत्र । अतो जैमिनीयानां न कार्यत्वादेरसिद्धता ।

गत कार्यत्वादि, इनमे केवल शब्द की ही समानता है, वस्तुत: दोनो एकजातीय यानी समान नही है'- तो यह कहना ठीक नही है, क्यो धूमादिस्थल मे भी ऐसा कहा जा सकता है कि पाकशालागत धूम और पर्वतगतधूम दोनो मे शब्द साम्य ही है, वस्तुसाम्य कतई नही है । साराश, बौद्ध मतानुसार पथ्वी आदि मे कार्यत्वादि हेतु की असिद्धि नही है ।

[मीमांसक के मत से भी हेतु असिद्ध नहीं]

चार्वाक और मीमासा दर्शन मे भी कार्यत्व हेतु की असिद्धि नही है । उनके मत मे भी जो सस्थान(आकारविशेष)वाला हो उसे अवश्य कार्य ही कहना होगा, जैसे घटादि कार्य । अथवा, सम्भावित विनाश से भी पृथ्वी आदि मे कार्यत्व का अनुमान हो सकता है, विनाश की सम्भावना इस प्रकार की जा सकती है कि जो पृथ्वी आदि अपने अवयवो के सयोग से आरब्ध है उनका विनाश अवश्यभावि है जैसे घटादि का । यद्वा रचनाविशेषरूप स्वभाव से यानी अवयवसनिवेश से भी कार्यत्व का अनुमान हो सकता है । जैसे कि भाष्यकार ने कहा है-उत्पत्ति अज्ञात होने पर भी जिन भावो का (वस्त्रादि का) रूप (यानी सत्ता) उपलब्ध है, उनके तन्तु व्यतिषग (यानी तन्तुओ के ग्रथन) से उत्पन्न स्वरूप (सत्ता) को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि या तो वह तन्तुओ का व्यतिषग छूट जाने से (यानी ग्रथन शून्य हो जाने से) नष्ट होगा अथवा तो तन्तुओ का नाश हो जाने पर नष्ट होगा ।" इस भाष्यकार वचन का तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति अज्ञात होने पर भी संस्थानवाली वस्तु या तो समवायिकारण के नाश से अथवा असमवायिकारण के नाश से अवश्य नष्ट होगी । साराश, उत्पत्ति दृष्ट न होने पर भी सस्थान वाले पृथ्वी आदि के स्वरूप को देखकर उनके नाश की सम्भावना की जा सकेगी, उस सम्भावित विनाश से उसमे कार्यत्व का अनुमान होगा और कार्यत्व हेतु से कर्त्ता का बोध भी फलित होगा । जैसे कि न्यायवेत्ताओ ने कहा है-'वस्तुस्वभाव का बोध प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से होता है' ।

कार्यत्व और विनाशित्व दोनों समव्यापक है, अर्थात् दोनो एक-दूसरे के व्याप्य और व्यापक है अत: जहाँ एक दृष्ट होगा वहाँ दूसरे का अनुमानबोधित होना इष्ट ही है, यह बात श्लोक वार्त्तिक के 'तेन यत्रा०' श्लोक इस [श्लो० वा० अनु०-९] मे कही गयी है—

"तेन यत्राप्युभौ धर्मौ व्याप्य-व्यापकसम्मतौ । तत्रापि व्याप्यतैव स्यादग न व्यापिता पुन: ।।"

नापि चार्वाकमतेऽसिद्धत्वम् , तेषां रचनावत्त्वेनावश्यंभाविनी कार्यताप्रतिपत्तिरदृष्टोत्पत्तीनामपि क्षित्यादीनाम् , अन्यथा वेदरचनाया अपि कर्तृदर्शनाभावाद् न कार्यता । यतस्तत्राप्येतावच्छक्यं वक्तुम् न रचनात्वेन वेदरचनायाः कार्यत्वानुमानम् । कर्तृभावभावानुविधायिनी तद्दर्शनाल्लौकिक्येव रचना तत्पूर्विकाऽस्तु, मा भूद् वैदिकी । अथ तयोर्विशेषानुपलम्भाद् लौकिकीव वैदिक्यपि कर्तृपूर्विका तर्हि प्रासादादिसंस्थानवत् पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्वस्यापि तद्रूपताऽस्तु विशेषानुपलक्षणात् । तन्न हेतोरसिद्धता ।

मा भूदसिद्धत्वं तथाप्यस्मात् साध्यसिद्धिर्न युक्ता, नहि केवलात् पक्षधर्मत्वाद् व्याप्तिशून्यात् साध्यावगमः । 'ननु किं घटादौ कर्तृ-कर्म-करणपूर्वकत्वेन कार्यत्वावेर्व्याप्त्यनवगमः ?' अस्त्येवं घटगते कार्यत्वे प्रतिपत्तिस्तथापि न व्याप्तिः, सा हि सकलाक्षेपेण गृह्यते, अत्र तु व्याप्तिग्रहणकाल एव

अर्थः-व्याप्यत्व ही साध्यबोध मे प्रयोजक होने से जहाँ दोनो धर्म (एक दूसरे के) व्याप्य और व्यापक रूप मे अभिमत है वहाँ भी व्याप्यता ही (साध्य के ज्ञान का) अंग (प्रयोजिका) है, भले ही उसमे (साध्य की) व्यापकता हो किन्तु वह साध्य बोध की प्रयोजिका नही है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि जैमिनी के मीमासादर्शन मे, पृथ्वी आदि मे कार्यत्व की असिद्धि नही है ।

[चार्वाक मत से भी हेतु असिद्ध नहीं]

चार्वाक दर्शन मे भी कार्यत्व हेतु असिद्ध नही है । उनको भी अज्ञात-उत्पत्तिवाले पृथ्वी आदि मे 'रचनावत्त्व' (रचना का तात्पर्य है पूर्वापरभाव से विन्यास) हेतु से अवश्यमेव कार्यता का स्वीकार करना होगा । जहा भी विशिष्ट प्रकार की रचना दिखायी देती है वहाँ कार्यत्व भी दिखता है । यदि इस बात को नही मानेंगे तो वेदशास्त्रो मे रचनावत्त्व को देखने पर भी कर्त्ता न दिखायी देने से वहा कार्यत्व नही मान सकेंगे । कारण, वहाँ भी ऐसा बता सकते है कि वेदो मे रचनात्व हेतु से कार्यत्व का अनुमान नही हो सकता । कारण, कर्त्ता के अन्वय-व्यतिरेक की अनुविधायी जो लौकिक (शास्त्रों की) रचना है उसी मे कर्तृपूर्वकत्व के देखे जाने से लौकिक रचना मे भले ही कर्तृपूर्वकत्व माना जाय, किन्तु वैदिक रचना मे कर्तृपूर्वकत्व मानने की जरूर नही है । यदि कहे कि-'लौकिक और वैदिक रचना (आनुपूर्वीविशेष का विन्यास) समान ही है, उन दोनो मे कोई विशेषता उपलब्ध नही होती अतः वैदिक रचना को भी कर्तृपूर्वक ही मानी जाय'-तो यहाँ भी कहा जा सकता है कि प्रासादादि का जैसा संस्थान है वैसा ही पृथ्वी आदि मे भी है, दोनो मे कोई विशेषता उपलब्ध न होने से पृथ्वी आदि का संस्थान भी कार्यत्वबोधक स्वीकार लो । इस प्रकार पृथ्वी आदि मे चार्वाकमत से भी कार्यत्वहेतु की असिद्धि नही है ।

[नैयायिक के सामने विस्तृत पूर्वपक्ष]

पूर्वपक्षी'-कार्यत्व हेतु की असिद्धि मत हो, फिर भी उससे आपके इष्ट साध्य की सिद्धि युक्तिसंगत नही है । पक्ष मे हेतु का सद्भाव सिद्ध हो जाय तो भी व्याप्तिशून्य हेतु से कभी साध्य की सिद्धि नही हो सकती ।

नैयायिकः-अरे ! क्या घटादि मे कर्तृ-कर्म करणपूर्वकत्व के साथ कार्यत्व की व्याप्ति आपको अज्ञात है ?

केषांचित् कार्याणामकर्तृपूर्वकाणां कार्यत्वदर्शनान्न सर्वं कार्यं कर्तृपूर्वकं यथा वनेषु वनस्पतीनाम्। 'अथ तत्र न कर्त्रभावनिश्चय किंतु कर्त्रग्रहणम् तच्च विद्यमानेऽपि कर्त्तरि भवतीति कथ साध्याभावे हेतोर्दर्शनम् ?' क्व पुनर्विद्यमानकर्तृकाणां तदप्रतिपत्ति ? 'यथा घटादीनामनवगतोत्पत्तीनाम्' । 'युक्ता तत्र कर्त्तुरप्रतिपत्तिः, उत्पादकालानवगमात्, तत्काले च तस्य तत्र सनिधानम्' अन्यदाऽस्य संनिधानाभावादग्रहणम्, वनगतेषु च स्थावरेषूपलभ्यमानजन्मसु कर्तृसद्भावे तदवगमोऽवश्यभावी, यथोपलभ्यमानजन्मनि घटादौ. अत उपलब्धिलक्षण प्राप्तस्य कर्तुस्तेष्वभावनिश्चयात् तत्र व्याप्ति-ग्रहणकाल एव कार्यत्वादेर्हेतोर्दर्शनाद् न कर्तृपूर्वकत्वेन व्याप्तिः ।

इतश्च. दृष्टहान्यदृष्टपरिकल्पनासम्भवात्-दृष्टानां क्षित्यादीनां कारणत्वत्यागोऽदृष्टस्य च कर्तुः कारणत्वकल्पना न युक्तिमती। अथ न क्षित्यादेः कारणत्वनिराकरण कर्तृकल्पनायामपि, तत्स-द्भावेऽपि तस्यापरकारणत्वक्लृप्तेः। तदसत्, यतो यद् यस्यान्वय-व्यतिरेकानुविधायी तत्तस्य कारणम्, इतरत् कार्यम्। क्षित्यादीनां त्वन्वय-व्यतिरेकावनुविधत्ते तत्राकृष्टजातं वनस्पत्यादि नापरस्य, कथमतो

पूर्वपक्षीः-घटनिष्ठ कार्यत्व मे कर्तृपूर्वकत्व दृष्ट होने पर भी उतने मात्र से व्याप्ति सिद्ध नही हो जाती। व्याप्ति का ग्रहण सभी देश-काल के अन्तर्भाव से किया जाता है। यहा तो आप जिस काल मे कर्तृपूर्वकत्व के साथ कार्यत्व की व्याप्ति को ग्रहण कर रहे है उसी काल मे पृथ्वी, अकूरादि कितने ही जन्य भावो मे कर्तृपूर्वकत्व के विना भी कार्यत्व दिखाई देता है, अत 'कार्यमात्र कर्तृपूर्वक ही होता है, यह नियम नही बन सकता। जैसे, जगलो मे बहुत सी वनस्पतियां कर्त्ता के विना ही ऊग निकलती है।

नैयायिकः-ऐसे स्थलो मे उनके कर्त्ता का ग्रहण नही होता यह बात ठीक है, किन्तु इतने मात्र से 'कर्त्ता ही नही है' ऐसा निश्चय फलित नही हो जाता, क्योकि कर्त्ता के होने पर भी उसके अग्रहण का पूरा सम्भव है। तो फिर साध्य के अभाव मे भी वहाँ हेतु कार्यत्व दिखाई देता है'-ऐसा कैसे कहा जा सकता है ?

पूर्वपक्षीः-'कर्त्ता होता है किन्तु उसका ग्रहण नही होता है' ऐसा कहाँ देखा ?

नैयायिकः-घटादि मे ही। पुरोवर्त्ती घटादि की उत्पत्ति किस कर्त्ता से कब हुयी यह हम नही जान सकते किन्तु उसका कर्त्ता होता तो जरूर है।

पूर्वपक्षीः-कर्त्ता होने पर उसकी उपलब्धि न हो ऐसा घटादि मे तो मान सकते है, क्योकि उसकी उत्पत्ति का काल हम नही जानते है। जिस काल मे उत्पत्ति हुई उस काल मे वहाँ कर्त्ता सन्निहित था, किन्तु उस काल की अपने को माहिती नही थी, और अन्य काल मे कर्त्ता का सन्निधान नही है अतः घटादि के कर्त्ता की अनुपलब्धि का सम्भव है। किंतु अरण्यगत वनस्पति के लिये ऐसा नही है। जगल की स्थावर वनस्पतियो का जन्मकाल तो उपलब्ध होता है, अत. यदि वहाँ कर्त्ता विद्यमान हो तो उसका उपलम्भ अवश्य हो सकता है। जैसे कि जिस घटादि की उत्पत्ति को हम देखते हैं उसके कर्त्ता को भी अवश्य देखते है। तात्पर्य, वनस्थ वनस्पत्ति का कर्त्ता भी यदि सम्भवित हो तो अवश्यमेव उपलब्धिलक्षण प्राप्त यानी उपलम्भयोग्य ही हो सकता है, अत एव ऐसे कर्त्ता का वहाँ अभाव सुनिश्चित होने से, व्याप्तिग्रहण काल मे ही साध्यशून्य वनस्पति आदि स्थल मे कार्यत्व हेतु के दर्शन होने से कर्तृपूर्वकत्व के साथ उसकी व्याप्ति सिद्ध नही हो सकती।

व्यतिरिक्तं कारणं भवेत् ? एवमपि कारणत्वकल्पनायां दोष उक्तः 'चैत्रस्य व्रणरोहणे' [ ] इत्यादिना। तस्मात् पक्षधर्मत्वेऽपि व्याप्त्यभावादगमकत्व हेतोः।

अथ तेषां पक्षेऽन्तर्भावाद् न तर्व्यभिचारः, तदसत्, तात्त्विकं विपक्षत्वं कथमिच्छाकल्पितेन पक्षत्वेनाऽपोद्येत ? व्याप्तौ सिद्धायां साध्य-तदभावयोरग्रहणे वादीच्छापरिकल्पितं पक्षत्वं कथ्यते। सपक्ष-विपक्षयोर्हेतो सदसत्त्वनिश्चयाद् व्याप्तिसिद्धिः। एवमपि साध्याभावे दृष्टस्य हेतोर्व्याप्तिग्रहणकाले व्यभिचाराऽऽशंकायां निश्चये वा व्यभिचारविषयस्य पक्षेऽन्तर्भावेन गमकत्वकल्पने न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी भवेत्। तस्मान्नेश्वरसिद्धौ कश्चिद् हेतुरव्यभिचार्यस्ति।

[नैयायिक मत में दृष्टहानि-अदृष्टकल्पना]

कर्तृपूर्वकत्व की कल्पना में यह भी एक दोष, दृष्ट की हानि और अदृष्ट की कल्पना यह दोष, सम्भव होने से पूर्वोक्त व्याप्ति अप्रसिद्ध हो जाती है। अरण्यजात वनस्पति आदि के पृथ्वी-जलादि की कारणता दृष्ट है उसका परिहार करके जो कर्त्ता अप्रसिद्ध है उसकी कल्पना कर लेना युक्तिसगत नही है।

नैयायिक -कर्त्ता की कल्पना करने पर भी हम पृथ्वी आदि की कारणता का अपलाप नही करते हैं, पृथ्वी आदि को कारण मानते ही है और अरण्यगत वनस्पति के पृथ्वी आदि से अतिरिक्त एक कर्त्ता की कल्पना करते है, तो इस मे दृष्ट हानि नही है।

पूर्वपक्षीः-यह ठीक नही, जो (क) जिस (ख) के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधायि हो वह (ख) उसका कारण कहा जायेगा और दूसरा (क) उसका कार्य होगा, यह सिद्धान्त है। तदनुसार अरण्य मे विना खेड किये ही उत्पन्न हो जाने वाले वनस्पति आदि पृथ्वी आदि के ही अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है, और किसी के भी नही, तब पृथ्वी आदि से अधिक कर्त्तादि कारण कैसे हो सकता है ?! ऐसा होने पर भी यदि कर्त्तादि कारण की कल्पना की जायेगी तो अदृष्ट कल्पना का दोष 'चैत्र के घाव का सरोहण. .' इत्यादि श्लोक से कहा ही है। इस कारण से, हेतु कार्यत्व मे पक्षधर्मता होने पर भी व्याप्ति न होने से वह कर्त्ता का बोधक नही बन सकता।

[पक्ष में अन्तर्भाव करके व्यभिचारनिवारण अशक्य]

नैयायिकः-वनस्पति आदि मे कार्यत्वहेतु का व्यभिचार दिखा कर हेतु को व्याप्तिशून्य दिखाना अच्छा नही है, क्योकि जहाँ जहाँ कर्त्ता नही दिखता उन सभी वनस्पति आदि का हम पक्ष मे अन्तर्भाव कर लेते है, और पक्ष मे तो साध्य को सिद्ध किया जाता है अत. पक्ष को ही व्यभिचारस्थलरूप मे नही दिखाया जा सकता, अन्यथा धूम हेतु को भी पर्वतादि पक्ष मे अग्निव्यभिचारी दिखा कर व्याप्ति शून्य कह देने पर प्रसिद्ध अनुमान का ही उच्छेद होगा।

पूर्वपक्षीः-यह बात मिथ्या है, क्योकि वनस्पति आदि स्थल में कभी किसी को कर्त्ता उपलब्ध न होने से वह तो तत्त्वभूत विपक्ष है, उसको आप अपनी इच्छानुसार कल्पना करके पक्षान्तर्भूत दिखा कर विपक्षत्व से रहित नही कर सकते। वादी की इच्छा से की गयी कल्पना के अनुसार पक्षता तब ही कही जा सकती है जब एक ओर हेतु मे साध्य की व्याप्ति प्रसिद्ध हो, दूसरी ओर पक्षत्वेन अभिप्रेत स्थल मे साध्य और उसका अभाव दोनो मे से कोई भी पूर्वगृहीत न हो। व्याप्ति की सिद्धि तो

अत्राहुः नाऽकृष्टजातैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारः, व्याप्त्यभावो वा, साध्याभावे वर्त्तमानो हेतुर्व्यभिचारी उच्यते तेषु तु कर्त्रग्रहणम्, न सकर्तृकत्वाभावनिश्चयः। ननूक्तम् 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे कर्तुरभावनिश्चयस्तत्र युक्त'- नैतद् युक्तम्, उपलब्धिलक्षणप्राप्ततया कर्तुस्तेऽनभ्युपगमात् यत्तूक्तम्-क्षित्याद्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानदर्शनात् तेषां तद्व्यतिरिक्तस्य कारणत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गदोष' इति, एतस्या कल्पनायां धर्माधर्मयोरपि न कारणता भवेत्। न च तयोरकारणतैव, तयोः कारणत्वप्रसाधनात्-नहि किञ्चिज्जगत्यस्ति यत् कस्यचिन्न सुखसाधनम् दुःखसाधनं वा। न च तत्साधनस्यादृष्टनिरपेक्षस्योत्पत्तिः। इयांस्तु विशेषः शरीरादे. प्रतिनियतादृष्टाक्षिप्तत्व प्रायेण, सर्वोपभोग्यानां तु साधारणाऽदृष्टाक्षिप्तत्वम्। एतत् सर्ववादिभिरभ्युपगमाद् अप्रत्याख्येयम्, युक्तिश्च प्रदर्शितैव। चार्वाकैरप्येतदभ्युपगन्तव्य, तान् प्रति पूर्वमेतत्सिद्धौ प्रमाणस्योक्तत्वात्। प्रमाणसिद्ध तु न कस्यचिन्न सिद्धम्।

तभी हो सकती है जब सपक्ष मे हेतु का सत्त्व और विपक्ष मे हेतु का असत्त्व दोनो ही निश्चित रहे। यदि इस बात को न माने, और जहाँ साध्य न होने पर भी हेतु दृष्ट है ऐसे हेतु मे जिस काल मे व्याप्तिग्रह किया जाता है उस वक्त किसी स्थल मे व्यभिचार की शका या निश्चय प्रस्तुत किया जाय, उस वक्त यदि उस व्यभिचार स्थल का भी पक्ष मे ही अन्तर्भाव करके हेतु को साध्यसाधक बताया जाय, तब तो व्यभिचारदोष का ही उच्छेद हो जाने से कोई भी हेतु व्यभिचारी नही कहा जा सकेगा। कारण, तप्तलोहगोलक मे अग्नि धूम का व्यभिचारी है यह दिखाने पर गोलक का भी पक्ष मे ही अन्तर्भाव कर लेने से अग्नि भी धूम का साधक बन जायेगा।

निष्कर्षः-ईश्वर की सिद्धि मे कोई भी व्यभिचारी हेतु प्रसिद्ध नही है। [नैयायिक के सामने पूर्वपक्ष समाप्त]

[पूर्वपक्षी को नैयायिक का प्रत्युत्तर]

ईश्वरवादी यहाँ कहते है-विना खेडे ही उत्पन्न स्थावरकाय वनस्पति आदि मे कोई व्यभिचार दोष नही है, एव व्याप्ति भी असिद्ध नही है। जहाँ साध्य का अभाव रहता हो वहाँ हेतु रहे तो व्यभिचारी कहा जाता है। वनस्पत्ति आदि मे यद्यपि कर्त्ता का ग्रहण नही होता फिर भी वहाँ सकर्तृकत्व के अभाव का निश्चय भी नही है।

पूर्वपक्षीः-कर्त्ता उपलब्धिलक्षण प्राप्त होने पर भी उसका वहाँ ग्रहण न होने से वहाँ कर्त्ता के अभाव का निश्चय सिद्ध ही है-यह हमने पहले कह तो दिया है।

नैयायिकः-यह बात युक्त नही है, वनस्पति आदि के कर्त्ता को हम उपलब्धिलक्षणप्राप्त मानते ही नही। यह भी जो कहा था-'वनस्पति आदि मे पृथ्वी आदि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान दिखता है अतः पृथ्वी आदि से अधिक ईश्वरादि मे कारणता की कल्पना करने पर अतिप्रसग दोष होगा'-यह भी ठीक नही क्योकि ऐसी दोषकल्पना करने पर तो धर्म-अधर्म (अर्थात् पुण्य-पाप) मे भी कारणता सिद्ध नही हो सकेगी। 'वे कारण ही नही' यह नही कह सकते, क्योकि उनमे सकल कार्यो के प्रति कारणता सिद्ध है। जैसे-जगत् मे ऐसी कोई वस्तु नही है जो किसी के सुख का या दु.ख का कारण न हो। जो भी सुख-दुःख के कारण है उनकी उत्पत्ति ही अदृष्ट (पुण्य-पाप) के विना शक्य नही है। हाँ, इतनी विशेषता जरूर है, देह-इन्द्रियादि की उत्पत्ति उसके किसी एक उपभोक्ता के अदृष्ट से ही होती है किन्तु जो सर्वसाधारण उपभोग की वस्तु है-चन्द्रप्रकाश,

अथ जगद्वैचित्र्यमदृष्टस्य कारणत्वं विना नोपपद्यते इति तत् कल्प्यते, सर्वान् उत्पत्तिमतः प्रति भूम्यादेः साधारणत्वात्ततोऽदृष्टाख्यविचित्रकारणकृतं कार्यवैचित्र्यम् । एवमदृष्टस्य कारणत्वकल्पनायामीश्वरस्यापि कारणत्वप्रतिक्षेपो न युक्तः, यथा कारणगतं वैचित्र्यं विना कार्यगतं वैचित्र्यं नोपपद्यते इति तत् परिकल्प्यते तथा चेतनं कर्त्तारं विना कार्यस्वरूपानुपपत्तिरिति किमिति तस्य नाभ्युपगमः ? न चाकृष्टजातेषु स्थावरादिषु तस्याऽग्रहणेन प्रतिक्षेप, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाददृष्टवत् । न च सर्वा कारणसामग्र्युपलब्धिलक्षणप्राप्ता । अत एव दृश्यमानेष्वपि कारणेषु कारणत्वमप्रत्यक्षम्, कार्येणैव तस्योपलम्भात् । सहकारिसत्ता दृश्यमानस्य कारणता, केषांचित् सहकारिणां दृश्यत्वेऽप्यदृष्टादेः सहकारिणः कार्येणैव प्रतिपत्तिः, एवमीश्वरस्य कारणत्वेऽपि न तत्स्वरूपग्रहणं प्रत्यक्षेणेति स्थितम् । ततोऽनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात् कर्तुरुपलभ्यमानजन्मसु स्थावरेषु हेतोर्वृत्तिदर्शनाद् न व्याप्त्यभावः यतो निश्चितविपक्षवृत्तिर्हेतुर्व्यभिचारी ।

सूर्यप्रकाशादि, उसकी उत्पत्ति सर्वसाधारण अदृष्ट से होती है । सभी आस्तिकवादीयो को अदृष्ट की कारणता मान्य ही है अत उसका प्रतिक्षेप दुःशक्य है । अदृष्ट की साधक युक्तियाँ तो बता दी गयी है । इसीलिये चार्वाक (नास्तिक)वादीयो को भी यह मानना ही चाहिये, क्योकि उनके सामने पहले ही अदृष्ट की सिद्धि मे प्रमाण कह दिया है [पृ. २४६-१३] । जो वस्तु प्रमाणसिद्ध हो वह किसी के लिये असिद्ध नही हो सकती ।

[अदृष्ट और ईश्वर की कल्पना में]

पूर्वपक्षीः–अदृष्ट की कारणता के विना जगत् का वैचित्र्य नही घट सकता, इस हेतु से अदृष्ट की कल्पना की जाती है । भूमि-जल इत्यादि कारण तो सभी उत्पन्न वस्तु के प्रति समान होने से कार्य का वैचित्र्य भिन्न भिन्न अदृष्टात्मक कारण से ही घट सकता है ।

नैयायिकः-उक्त रीति से अदृष्ट मे कारणत्व की कल्पना करने पर ईश्वर मे भी कारणता की कल्पना का प्रतिकार युक्त नही है । कार्यो का वैचित्र्य कारण के वैचित्र्य के विना नही घटता, इस हेतु से अदृष्ट की जैसे कल्पना की जाती है, उसी प्रकार, चेतन कर्त्ता के विना भी किसी कार्य का स्वरूप न घट सकने से ईश्वर का स्वीकार क्यो न किया जाय ? विना कृषि के ही उत्पन्न स्थावरकाय आदि मे कर्त्ता का उपलम्भ न होने मात्र से उसका अस्वीकार करना ठीक नही, जैसे अदृष्ट उपलब्धिलक्षणप्राप्त (उपलब्धियोग्य) न होने से असका उपलम्भ नही होता उसी प्रकार ईश्वर कर्त्ता भी उपलब्धि-अयोग्य होने से उसका अनुपलम्भ बुद्धिगम्य है । जो भी कारणसामग्री हो वह उपलब्धिलक्षणप्राप्त ही होनी चाहिये ऐसा नही कहा जा सकता, क्योकि तब अदृष्ट की मान्यता ही समाप्त हो जाती है । केवल कारण ही नही, कारणता भी उपलब्धिलक्षणप्राप्त नही है, इसी लिये तो कारणों को देखने पर भी तद्गत कारणता का प्रत्यक्ष नही होता है, धूमादि कार्य को देख कर ही अग्नि आदि मे कारणता का उपलम्भ होता है । कारणता क्या है, इतर सहकारियो की सत्ता यानी सानिध्य-यही कारणता है, जैसे, दड मे घट की कारणता है-इसका यही अर्थ है कि दण्ड को घटोत्पादक सभी सहकारीयो का सानिध्य प्राप्त है । (इसी को सहकरिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्व भी कहते है ।) जब कारणता सहकारीसांनिध्यस्वरूप है तो कुछ सहकारी दृश्य रूपवाले होने पर भी अदृष्टादि सहकारी दृश्य नही है, उनकी सत्ता तो कार्य से ही अनुमित होती है । तात्पर्य, अदृश्य सहकारिगत कारणता भी अदृश्य ही होती है ।

ननु निश्चितविपक्षवृत्तिर्यथा व्यभिचारी तथा सदिग्धव्यतिरेकोऽपि, उक्तेषु स्थावरेषु कर्त्रग्रहण किं कर्त्रभावात्, आहोस्विद् विद्यमानत्वेऽपि तस्याऽग्रहणमनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वेन ? एव संदिग्धव्यतिरेकत्वे न कश्चिद्धेतुर्गमकः, धूमादेरपि सकलव्यक्त्याक्षेपेण व्याप्त्युपलम्भकाले न सर्वा वह्निव्यक्तयो दृश्याः, तासु चादृश्यासु धूमव्यक्तीनां दृश्यत्वे सदिग्धव्यतिरेकाशका न निवर्त्तते–यत्र वह्नेरदर्शने धूमदर्शनं तत्र किं वह्नेरदर्शनमभावात्, आहोस्विदनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वादिति न निश्चयः। अतो धूमोऽपि संदिग्धव्यतिरेकत्वान्न गमकः।

अथ धूमः कार्यं हुतभुजः, तस्य तदभावे स्वरूपानुपपत्तेरदृष्टत्वेऽप्यनलस्य सद्भावकल्पना। ननु तद् कार्यमत्रोपलभ्यमान किमितिकारणमन्तरेण कल्प्यते ? 'अथ दृष्टशक्तेः कारणस्य कल्पनाऽस्तु, माभूद् बुद्धिमतः'। वह्न्यादेर्धूमादीन् प्रति कथं दृष्टशक्तिता ? 'प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामि'ति चेत् ?

इसी प्रकार ईश्वर की कारणता भी फलबोध्य होने से प्रत्यक्ष से ईश्वरनिष्ठ कारणतास्वरूप का ग्रहण शक्य नही हैं यह सिद्ध हुआ। जब यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर उपलब्धिलक्षण प्राप्त नही है, तब, जिन की उत्पत्ति को हम देख सकते है उन स्थावरो मे हेतु का अवस्थान देखने पर, कर्त्तारूप साध्य को न देखने मात्र से व्याप्ति का भग नही हो सकता जिससे कि स्थावरो को निश्चित विपक्षरूप मान कर उनमे रहने वाला कायत्व हेतु व्यभिचारी कहा जा सके।

[कार्यत्व हेतु में व्यतिरेकसंदेह से व्यभिचार शंका का उत्तर]

शंकाः–विपक्ष का स्वरूपनिश्चय हो जाने पर उसमे रहने वाला हेतु जैसे व्यभिचारी होता है, उसी तरह विपक्षरूप से जो सदिग्ध हो, उसमे हेतु के रहने पर विपक्षव्यावृत्ति का सदेह हो जाने से सदिग्धव्यतिरेकवाला हेतु भी व्यभिचारी ही बन जायेगा। सदेह इस प्रकार होगा–उन स्थावरो मे कर्त्ता का ग्रहण कर्त्ता न होने से नही होता है ? या कर्त्ता होने पर भी वह उपलब्धि लक्षण प्राप्त न होने से उसका ग्रहण नही होता ?

समाधानः-यदि इस प्रकार सदिग्धव्यतिरेक से व्यभिचार का आपादन किया जाय तो वह सर्वत्र सम्भवारूढ होने से कोई भी हेतु साध्यबोधक न हो सकेगा। देखिये–धूमादि मे सकल–देश–काल गत व्यक्ति के अन्तर्भाव से अग्नि की व्याप्ति के उपलम्भ काल मे भी सर्व अग्नि का साक्षाद् उपलम्भ तो शक्य ही नही है, अतः जहाँ भी अग्नि का अदर्शन और घूमव्यक्ति का दर्शन होगा वहाँ भी सदिग्धव्यतिरेक की शका निवृत्त नही होगी। शका इस प्रकार होगी, अग्नि न देखने पर भी जहाँ घूम दिखता है वहाँ क्या अग्नि नही होने से नही दिखता है ? या वह भी उपलब्धिलक्षणप्राप्त न होने से नही दिखता है ? कुछ भी निश्चय नही हो सकेगा। फलत. धूम हेतु भी सदिग्धव्यतिरेकवाला हो जाने से अग्निबोधक न हो सकेगा।

[अग्निवत् ईश्वर की कल्पना आवश्यक]

शंकाः–धूम से अग्नि का बोध शक्य है क्योकि वह अग्नि का कार्य है, अत. अग्नि के विना जीव इस शरीर का प्रवर्त्तन-निवर्त्तन कार्य अन्य किसी शरीर से नही करता, अतः कार्य शरीर का द्रोही है यह फलित होता है। यदि ऐसा कहे कि–अपने शरीर का प्रवचन-निवर्त्तन अन्य शरीर के विना भी प्रत्यक्षतः दृष्ट होने से मान लिया जाय, किन्तु शरीरभिन्न स्थावरादि की उत्पत्ति शरीर के विना कैसे मानी जा सकेगी ?–तो यह ठीक नही है–हमारा लक्ष्य यही सिद्ध करने मे है कि अशरीरी

बुद्धिमतोऽपि ताभ्यां कारणत्वक्लृप्तौ वह्न्यादिभिस्तुल्यता । यथा वह्न्यादिसामग्र्या धूमादिर्जन्यमानो दृष्टः स तामन्तरेण कदाचिदपि न भवति, स्वरूपहानिप्रसंगात्, तद्वत् सर्वमुत्पत्तिमद् कर्तृ-करण-कर्म-पूर्वकं दृष्टम्, तस्य सकृदपि तथादर्शनात् तज्जन्यतास्वभाव, तस्यैवस्वभावादनिश्चितावन्यतमाभावेऽपि कथं भावः ?

किं च, अनुपलभ्यमानकर्तृकेषु स्थावरेषु कर्तुरनुपलम्भः शरीराद्यभावात्, न त्वसत्त्वात् । यत्र शरीरस्य कर्तृता तत्र कुलालादेः प्रत्यक्षेणैवोपलम्भः, अत्र तु चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानात् कथं प्रत्यक्षव्यापृति ? । नाप्येतद् वक्तव्यम्-'शरीराद्यभावात्तर्हि कर्तृताऽपि न युक्ता'-कार्यस्य शरीरेण सह व्यभिचारदर्शनात्-यथा स्वशरीरस्य प्रवृत्ति-निवृत्ती सर्वश्चेतनः करोति, ते च कार्यभूते, न च शरीरा-न्तरेण शरीरप्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणं कार्यं चेतन करोति तेन तस्य व्यभिचारः । अथ शरीरे एव दृष्ट-त्वात् नान्यत्र । तन्न, यतः कार्यं शरीरेण विना करोतीति नः साध्यम्, तद् स्वशरीरगतमन्यशरीरगतं वेति नानेन किंचित् ।

धूमात्मक कार्य को स्वरूपलाभ ही अशक्य होने से, अग्नि न दिखाई देने पर भी धूम हेतु से उसके सद्भाव की कल्पना (अनुमान) कर सकते है। ईश्वरस्थल मे ऐसा नही है।

उत्तर -जब धूम की तरह पृथ्वी आदि मे भी कार्यत्व का स्पष्ट उपलम्भ होता है तो विना कारण (कर्त्ता) ही आप उसके सद्भाव को कैसे मान लेते है ?

शंका:-जिस का प्रभाव अन्यत्र दृष्ट है ऐसे कारण की कल्पना करना सगत है, पृथ्वी आदि के पीछे किसी वुद्धिमान् कर्त्ता का प्रभाव कही भी दृष्ट नही है तो उसकी कल्पना क्यो करे ?

उत्तर:-धूमादि के पीछे अग्नि का प्रभाव है यह कैसे जाना ? यदि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ (यानी अन्वय-व्यतिरेक) से, यह कहा जाय तो वुद्धिमान् कर्त्ता का प्रभाव भी अन्वय-व्यतिरेक से प्रासादादि कार्य के पीछे दृष्ट ही है, अत अग्नि आदि और पृथ्वी आदि कार्यो मे कोई अन्तर नही है। जैसे अग्नि आदि सामग्री से धूमादि की उत्पत्ति दिखाई देती है तो धूमादि अग्नि आदि के विना कभी उत्पन्न नही होता यह निश्चय किया जाता है, क्यो कि अग्नि के विना धूम को स्वरूपभ्रष्ट होने को आपत्ति है, ठीक उसी प्रकार, उत्पन्न होने वाली तमाम वस्तु कर्त्ता-कर्म-करणादिपूर्वक ही देखी जाती है। अत एक वार भी किसी कार्य की कर्त्ता-कर्म-करणादिपूर्वक उत्पत्ति को देखने पर कार्य मे कर्त्ता-दिजन्यतास्वभाव निश्चित होता है। जव यह कर्त्तादिजन्यतास्वभाव कार्य मे सुनिश्चित हुआ तो फिर कर्त्तादि मे से एक की भी अनुपस्थिति मे कैसे कार्योत्पत्ति होगी ?

[कर्त्ता का अनुपलम्भ शरीराभावकृत]

यह भी जानना जरूरी है कि अनुपलब्धकर्त्तावाले स्थावरो मे कर्त्ता की अनुपलब्धि शरीरादि के अभावप्रयुक्त है, किन्तु कर्त्ता के अभाव से नही है। जहाँ शरीरी कर्त्ता होता है वहाँ घटादिकार्य के कुम्भार आदि कर्त्ता की उपलब्धि प्रत्यक्ष से ही होती है। स्थावरादि स्थल मे जो कर्त्ता है वह केवल अपने चैतन्य से ही स्थावरादि के उपादान कारणो को अधिष्ठित कर लेता है, अतः वहाँ प्रत्यक्ष का क्या चल सकता है ? 'यदि स्थावरादि का कोई शरीरी कर्त्ता नही है तो कर्त्ता भी मानना कैसे युक्त होगा' ? ऐसा प्रश्न नही करना चाहिये, क्योकि कार्य शरीरद्रोही भी देखा जाता है। जैसे कि-सभी जीवात्मा अपने शरीर का प्रवर्त्तन-निवर्त्तन करते हैं और प्रवर्त्तन-निवर्त्तन कार्यभूत ही हैं। किन्तु यह

एतेनैतदपि पराकृतं यदाहुरेके-"अचेतन कथं भावस्तदिच्छामनुवर्त्तते ?" [ ]। अचेत-नस्य शरीरादेरात्मेच्छानुवर्त्तित्वदर्शनात् । न चाऽचेतनस्य तदिच्छाननुवर्त्तिनोऽपि प्रयत्नप्रेर्यत्वं परिहार इति वक्तव्यम्, यत ईश्वरस्यापि प्रयत्नसद्भावे न काचित् क्षतिः । न च 'शरीराभावात् कथ प्रयत्नः' इति वक्तुं युक्तम्, शरीरान्तराभावेऽपि शरीरस्य प्रयत्नप्रेर्यत्वदर्शनात् । तत् कर्त्तुः शरीराभावादकृष्टो-त्पत्तिषु स्थावरेष्वग्रहणम्, न तत्राऽदर्शनेन हेतोर्व्यभिचारः । येऽपि प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनं कार्य-कारण-भावम् आहुः तेषामपि कस्यचित् कार्यकारणभावस्य तत्साधनत्वे यथेन्द्रियाणामदृष्टस्य च तौ विना कारणत्वसिद्धिस्तथेश्वरस्यापि । अतो न व्याप्त्यभावः ।

अत एव न सत्प्रतिपक्षताऽपि, नैकस्मिन् साध्यान्विते हेतौ स्थिते द्वितीयस्य तथाविधस्य तत्रा-वकाशः, वस्तुनो द्वैरूप्याऽसम्भवात् । नापि बाधः, अबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य प्रमाणेनाऽग्रहणात्, साध्याभावे हेतोरभावः स्वसाध्यव्याप्तत्वादेव सिद्धः । नापि धर्म्यसिद्धता, कार्य-कारणसंघातस्य पृथिव्यादेर्मूर्त्तग्रामस्य च प्रमाणेन सिद्धत्वात् । तदाश्रयत्वेन हेतोर्यथा प्रमाणेनोपलम्भस्तथा पूर्वं प्रदर्शि-तम् । अतोऽस्मादीश्वरावगमे न तत्सिद्धौ प्रमाणाभावः ।

भी आत्मा कार्य कर सकता है, वह कार्य चाहे स्वशरीरवर्त्ती हो या परशरीरवर्त्ती, इससे कोई मतलब नही ।

[जडवस्तु में इच्छानुवर्त्तित्व की प्रसिद्धि]

अशरीरी कर्त्ता सम्भव है इस उक्ति से इस प्रश्न का भी निराकरण हो जाता है जो किसी ने कहा है—पाषाणादि जड वस्तु अशरीरी ईश्वर की इच्छा का अनुवर्त्तन कैसे कर सकता है ?-इसका निराकरण यह है कि शरीरादि भी जड ही है, फिर भी वह जीव की इच्छा का अनुवर्त्तन करता हुआ दिखाई देता है । यदि कहे कि-"शरीर जड होने पर भी वह जीव प्रयत्न से प्रेरित होकर जीव की इच्छा का अनुवर्त्तन कर सकता है"-तो यह कहने की कोई जरूर ही नही है क्योकि ईश्वरात्मा मे भी प्रयत्न का सद्भाव मान लेने मे हमारी कोई क्षति नही है । 'शरीर के विना ईश्वरात्मा मे प्रयत्न कैसे होगा ?' यह भी कहने जैसा नही है, क्योकि जीवात्मा का शरीर भी अन्य शरीर के विना ही जीव प्रयत्न से प्रेरित होता है यह देखा जाता है । निष्कर्ष.-विना कृषि से ही उत्पन्न होने वाले स्थावरों का कर्त्ता शरीराभाव के कारण ही नही दिखता है, अत. उसका वहाँ दर्शन नही होता इतने मात्र से वहाँ कर्त्ता का अभाव नही सिद्ध होता जिससे कि कार्यत्व हेतु को साध्यद्रोही कहा जा सके । जो लोग यह कहते है कि 'कार्य-कारण भाव की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से ही हो सकती है । ईश्वर मे यह सम्भव नही है अत. उससे कारणता कैसे सिद्ध होगी ?' उनसे यह प्रश्न है कि-यद्यपि कही कही प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ से कारणाभाव की सिद्धि होती है फिर भी इन्द्रिय और अदृष्ट ये दोनो अतीन्द्रिय है, अत वहाँ प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ का सभव नही है तो उन दोनो मे ज्ञानादि की कारणता कैसे सिद्ध होगी ? जैसे इन दोनो मे प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ के विना कारणता सिद्ध होगी वैसे ईश्वर मे भी हो सकेगी ? निष्कर्ष:-कार्यत्व और कर्त्ता की व्याप्ति असिद्ध नही है ।

[कार्यत्व हेतु में सत्प्रतिपक्षतादि का निराकरण]

जब हेतु मे व्याप्ति सिद्ध है तब प्रतिहेतु से यहाँ सत्प्रतिपक्षिता दोष होने की सम्भावना ही नही है । जब एक पक्ष में अपने साध्य के साथ व्याप्ति वाला हेतु सिद्ध हुआ तब उसी पक्ष मे साध्यविरोधी

नापि हेतोर्विशेषविरुद्धता, तद्विरुद्धत्वे हेतोर्विशे(?दू)षणेऽभ्युपगम्यमाने न कश्चिद्धेतुरविरुद्धो भवेद्, प्रसिद्धानुमानेऽपि विशेषविरुद्धानां सुलभत्वात्। यथाऽयं धूमो दहनं साधयति तथैतद्देशावच्छिन्न-वह्न्यभावमपि साधयति। नहि पूर्वधूमस्यैतद्देशावच्छिन्नेन वह्निना व्याप्तिः। एवं कालाद्यवच्छेदेन हेतोर्विरुद्धता वक्तव्या। अथ देश-कालादीन् विहाय वह्निमात्रेण हेतोर्व्याप्तेर्न विरुद्धता, तर्हि तद्वत् कार्यमात्रस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन व्याप्तेर्यद्यपि दृष्टान्तेऽनीश्वरोऽसर्वज्ञः कृत्रिमज्ञानसम्बन्धी सशरीरः क्षित्याद्युपविष्टः कर्त्ता तथापि पूर्वोक्तविशेषणानां धर्मिविशेषरूपाणां व्यभिचाराद् तद्विपर्ययसाधकत्वेऽपि न विरुद्धता। विरुद्धो हि हेतुः साध्यविपर्ययकारित्वाद् भवति। न चैतेषां साध्यता, बुद्धिमत्कारणपूर्व-कत्वमात्रस्यास्माद् हेतोः साध्यत्वेनेष्टत्वात्। यथा च विशेषविरुद्धादीनामदूषणत्वं तथा 'सिद्धान्तमभ्यु-पेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' [न्यायद० १-२-६] इत्यत्र सूत्रे निर्णीतम्।

दूसरे किसी हेतु की सत्ता सम्भव ही नही है। क्योकि एक ही पक्षभूत भाव साध्यवान् और साध्या-भाववान् उभयात्मक नही हो सकता। कार्यत्व हेतु बाधित भी नही हो सकता, क्योकि पक्ष मे साध्य का अभाव प्रमाणसिद्ध होने पर हेतु बाधित होगा, यहाँ पृथ्वी आदि मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व का अभाव किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही है और जहाँ साध्य का अभाव रहेगा वहाँ हेतु का अभाव तो अनायास सिद्ध होगा ही, क्योकि कार्यत्व हेतु बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वरूप स्वसाध्य का व्याप्य है यह सिद्ध हो चुका है। अत यदि पक्ष मे साध्य का बाध होगा तो हेतु का भी अभाव होने से हेतु बाधित होने की सम्भावना ही नही है। कर्तृत्वसाधक अनुमान मे पक्षाऽसिद्धि भी नही है, क्योकि कार्यत्व हेतु का अधिकरण पृथ्वी आदि प्रमाणप्रसिद्ध ही है और उसके कारणभूत जीवसमूह भी प्रमाणसिद्ध है। पृथ्वी आदि आश्रय मे हेतुभूत कार्यत्व का सद्भाव जिन प्रमाणो से उपलब्ध है वह सब पहले ही दिखा दिया है। जब इस रीति से कार्यत्व हेतु से ईश्वर का पता लगाया जा सकता है तो ईश्वरसिद्धि मे प्रमाण नही होने की बात मे तथ्य नही।

[विशेषविरुद्धता सद्धेतु का दूषण नहीं है]

कार्यत्वहेतु में विशेषविरुद्धता दोष भी नही है। विशेषविरुद्धता को हेतु का दूषण मानने पर कोई भी हेतु निर्विरोध सिद्ध नही होगा, क्योकि प्रसिद्ध धूमहेतुक अग्नि अनुमानस्थल मे भी विशेष-विरुद्धादि दूषण सुलभ है। जैसे देखिये-धूम से अग्नि की सिद्धि जैसे हो सकेगी वैसे एतद्देश(पर्वत) से अवच्छिन्न अग्नि का अभाव भी सिद्ध होगा। कारण, पूर्वदृष्ट पाकशालादिगत धूम में जैसे अग्नि की व्याप्ति है वैसे पर्वतीय अग्नि के अभाव की व्याप्ति है। इसी तरह कालावच्छिन्न विशेष विरुद्धता भी कह सकते हैं-अर्थात् पूर्वदृष्ट धूम मे एतत्कालावच्छिन्न अर्थात् एतत्कालीन अग्नि की व्याप्ति नही है, अत: एतत्कालीन अग्नि की सिद्धि मे विरोध होगा। यदि ऐसा कहे कि-'धूम हेतु मे अग्नि सामान्य की ही व्याप्ति है देशविशिष्ट या कालविशिष्ट अग्नि की नही, अत. पर्वतादि मे सामान्य अग्नि की सिद्धि मे तो कोई विरोध नही है'-तो उसी तरह प्रस्तुत मे कार्यमात्र की बुद्धिमत्पूर्वकत्व के साथ ही व्याप्ति है अत. सामान्यतः कर्त्ता की सिद्धि मे विरोध नही होगा। यद्यपि दृष्टान्त जो घटादि है उसका कर्त्ता अनी-श्वर, असर्वज्ञ, अनित्यज्ञानवान्, सशरीरी, पृथ्वी आदि के ऊपर बैठकर कार्य उत्पन्न करने वाला होता है, फिर भी ये सब जो पूर्वोक्त अनैश्वर्य असर्वज्ञत्वादि विशेषण है वे सामान्य कर्त्ता रूप धर्मी के विशेष धर्मरूप है और वे जगत्कर्त्ता ईश्वर मे व्यभिचारी हैं अतः उन विशेषणो से विरुद्ध ऐश्वर्यशाली, सर्वज्ञता

इतश्चैतददूषणम्-पूर्वस्माद्धेतोः स्वसाध्यसिद्धावुत्तरेण पूर्वसिद्धस्यैव साध्यस्य a किं विशेषः साध्यते ? b उत पूर्वहेतोः स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धः क्रियते ? a न तावत् पूर्वो विकल्पः, यदि नाम तत्रापरेण हेतुना विशेषाधानं कृतं किं तावता पूर्वस्य हेतोः साध्यसिद्धिविघातः ? यथा कृतकत्वेन शब्दस्यानित्यत्वसिद्धौ हेत्वन्तरेण गुणत्वसिद्धावपि न पूर्वस्य क्षतिस्तद्वदत्रापि । b अथोत्तरो विकल्पस्तथापि स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धो व्याप्त्यभावप्रदर्शनेन क्रियते व्याप्त्यभावश्च हेतुरूपाणामन्यतमाभावेन । न च धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन कस्यचिदपि रूपस्याभावः कथ्यते । न च हेतुरूपाभावाऽसिद्धावगमकत्वम् । तन्न विशेषविरुद्धता ।

विशेषास्तु धर्मिणः स्वरूपसिद्धावुत्तरकालं प्रमाणान्तरप्रतिपाद्या न तु पूर्वहेतुबलादभ्युपगम्यन्ते । तच्च प्रमाणान्तरमागमः पूर्वहेतोर्हेत्वन्तरं च । तच्च—

आदि स्वरूप वैपरीत्य की सिद्धि की जाय तो भी हेतु को साध्यविरोधी नही कहा जा सकता । साध्य के वैपरीत्य को सिद्ध करने वाला हेतु ही साध्यविरोधि हो सकता है । कार्यत्व हेतु से हमे केवल बुद्धिमत्कारणत्वरूप साध्य की सिद्धि ही अभिप्रेत है, उसकी असर्वज्ञता या सर्वज्ञता आदि की सिद्धि कार्यत्व हेतु से अभिप्रेत नही है । तदुपरात, विशेष विरुद्धादि किस रीति से दूषणरूप नही है इसका निर्णय भलीभाति "सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः" इस न्यायसूत्र की तात्पर्य टीका मे किया गया है। सूत्र का अर्थ यह है कि अभ्युपगत सिद्धान्त का यानी प्रतिज्ञात अर्थ का विरोधी हो वही हेतु विरुद्ध है । आशय यह है कि यहाँ प्रतिज्ञात अर्थ केवल बुद्धिमत्पूर्वकत्व ही है, कार्यत्व हेतु का विरोध नही होने से विशेषविरुद्ध दोष को अवसर नही है । जिस धर्मविशेष या धर्मिविशेष के साथ हेतु का विरोध दिखाया जाता है वह विशेष यहाँ प्रतिज्ञात अर्थरूप नही है, वह तो केवल प्रतिज्ञात अर्थ का आनुषगिक अर्थ है ।

[विशेषविरुद्धता दूषण क्यों नहीं ? उत्तर]

विशेषविरुद्धता दूषण नही यह बात विकल्पद्वय के विश्लेष से भी समझ सकते है । a पूर्वोक्त हेतु से साध्यसिद्धि दिखाने के बाद विशेषविरुद्धता साधक हेतु क्या पूर्वसिद्ध साध्य के अन्य विशेष को सिद्ध करेगा ? या पूर्व हेतु से होने वाली साध्यसिद्धि का प्रतिबन्ध करेगा ? a प्रथम विकल्प से कोई इष्टविघात नही है, क्योकि यदि दूसरे हेतु से पूर्वसिद्ध साध्य मे कोई विशेषाधान किया जाय तो इतने मात्र से पूर्वकथित हेतु से साध्यसिद्धि होने मे कोई विघ्न की उपस्थिति नही हो जाती । जैसे. शब्द मे कृतकत्व हेतु से अनित्यत्व सिद्ध होने के बाद अन्य किसी हेतु से शब्द मे गुणत्व की सिद्धि की जाय तो इससे कृतकत्वहेतुक अनित्यतासिद्धि मे कोई विघ्न नही आता । इसी तरह प्रस्तुत मे भी है ।

b दूसरा विकल्प पूर्वहेतु से की जाने वाली साध्य सिद्धि मे प्रतिबन्ध लगाना, यहाँ भी साध्यसिद्धि का प्रतिबन्ध तब तक नही हो सकता जब तक 'कार्यत्वहेतु मे कर्तृत्व के साथ व्याप्ति नही है' ऐसा न दिखाया जाय । व्याप्ति का अभाव भी, हेतु के पाच रूपो मे से किसी एक के अभाव को दिखाने से ही दिखाया जा सकता है । केवल पूर्वहेतु से सिद्ध किये जाने वाले कर्तृ धर्मी के, किसी एक विशेष अशरीरीत्व का विपर्यय दिखा देने मात्र से, कार्यत्व हेतु के पक्षवृत्तित्वादि किसी भी एकरूप का विरह फलित नही हो सकता । जब तक हेतु के किसी एक-दो रूपो का अभाव प्रदर्शित न किया जाय तब तक वह हेतु साध्य का अबोधक नही कहा जा सकता ।

इस रीति से विशेषविरुद्धता कहने पर भी कोई दोष नही है ।

"अन्वयव्यतिरेकिपूर्वककेवलव्यतिरेकिसंज्ञम् । यथा गन्धाद्युपलब्ध्या तत्साधनकरणमात्रप्रसिद्धौ प्रसक्तप्रतिषेधे करणविशेषसिद्धिः केवलव्यतिरेकिनिमित्ता, तथेहापि कार्यत्वात् बुद्धिमत्कारणमात्रप्रसिद्धौ प्रसक्तप्रतिषेधात् कारणविशेषसिद्धिः केवलव्यतिरेकिनिमित्ता । तथाहि-कार्यत्वाद् बुद्धिमत्कारणमात्रसिद्धौ प्रसक्तानां कृत्रिमज्ञान-शरीरसंबद्धत्वादीनां धर्माणां प्रमाणान्तरेण बाधोपपत्तौ विशिष्टबुद्धिमत्कारणसिद्धिर्व्यतिरेकिबलाद्" इति केचित् ।

अन्ये मन्यन्ते-"यत्रान्वयव्यतिरेकिणो हेतोर्न विशेषसिद्धिः तत्र तत्पूर्वकात् केवलव्यतिरेकिणो विशेषसिद्धिर्भवतु यथा घ्राणादिषु अत्र तु पूर्वस्माद्धेतोर्विशेषसिद्धौ न हेत्वन्तरपरिकल्पना । यथा धूमस्य वह्निनाऽन्वय-व्यतिरेकसिद्धौ 'अत्र देशे वह्निः' इति पक्षधर्मत्वबलात् प्रतिपत्तिः, नान्वयाद् व्यतिरेकाद्वा, तयोर्हि तद्देशावच्छिन्नेन वह्निनाऽसम्भवात्-यद्यपि व्याप्तिकाले सकलाक्षेपेण तद्देशस्याप्याक्षेपोऽन्यथात्र व्याप्तेरसम्भवात्-तथापि व्याप्तिग्रहणवेलायां सामान्यरूपतया तदाक्षेपः न विशेषरूपेण, इति विशेषावगमो नान्वय-व्यतिरेकनिमित्त अपि तु पक्षधर्मत्वकृतः । अत एव प्रत्युत्पन्नकारणजन्यां स्मृतिमनुमानमाहुः । प्रत्युत्पन्नं च कारणं पक्षधर्मत्वमेव-तथा कार्यत्वादेर्बुद्धिमत्कारणमात्रेण व्याप्तिसिद्धावपि कारणविशेषप्रतिपत्तिः पक्षधर्मत्वसामर्थ्यात् । य इत्थंभूतस्य पृथिव्यादेः कर्त्ता, नियमेनासावकृत्रिमज्ञानसम्बन्धी शरीररहितः सर्वज्ञः एकः-इति । एवं यदा पक्षधर्मबलाद् विशेषसिद्धिः तदा न विशेषविरुद्धादीनामवकाशः ।

[ईश्वर के देहाभावादि विशेषों की सिद्धि में प्रमाण]

धर्मी ईश्वर की कार्यत्वहेतु से सिद्धि होने के बाद उत्तरकाल मे उसके अशरीरीत्वादि विशेषो की सिद्धि अन्य प्रमाण से प्रदर्शित की जाती है, पूर्वकथित कार्यत्व हेतु के बल से ही हमे उनकी सिद्धि अभिप्रेत नही होती । वह अन्य प्रमाण आगम भी हो सकता है और धर्मीसाधक हेतु से भिन्न दूसरा हेतु भी हो सकता है । यहाँ दो-तीन पक्ष है वे क्रमशः दिखाये जाते है-

(१) दूसरे हेतुरूप उस अन्य प्रमाण की सज्ञा है-'अन्वयव्यतिरेकिपूर्वक केवलव्यतिरेकी' । उदा० गन्धादि-उपलब्धिरूप अन्वयव्यतिरेकी हेतु से पहले उसके साधनभूत करण (यानी सामान्यतः इन्द्रिय) की सिद्धि होती है । तदनन्तर पाचो नेत्रादि इन्द्रियो मे क्रमश. गन्धग्राहकत्व की सम्भावना की जाती है, जिस मे वह नही घट सकता उनमे तत्तद् हेतु से उस सम्भावना का निषेध किया जाता है और जिसमे (घ्राण मे) सम्भावना करने पर कोई निषेधक हेतु प्राप्त नहो होता उस कारणविशेष घ्राणेन्द्रिय की गन्धग्राहकत्व रूप से प्रतिष्ठा की जाती है, यहाँ हेतु केवल व्यतिरेकी ही होता है । प्रस्तुत मे भी, अन्वयव्यतिरेकी कार्यत्व हेतु से बुद्धिमत्कारणमात्र की सिद्धि हो जाने पर सम्भवित विशेषो का बाधादि से निराकरण करने पर कारणभूत सर्वज्ञादि कर्तृविशेष की सिद्धि केवलव्यतिरेकी हेतु से होती है । जैसे देखिये, कार्यत्व हेतु से तो पहले मात्र बुद्धिमत्कारण (कर्त्ता) ही सिद्ध होगा । तदनन्तर उस कर्त्ता मे अनित्यज्ञानवत्ता, शरीरसबन्धिता आदि धर्मो की सम्भावना प्रसक्त होगी, किन्तु तब अन्य प्रमाणो से वहाँ बाध भी उपस्थित होगा, अत केवलव्यतिरेको हेतु के बल से नित्यज्ञानादिविशिष्ट बुद्धिमत्कारण की सिद्धि फलित होगी ।-यह विद्वानो के एक वर्ग का अभिप्राय है ।

[पक्षधर्मता के बल से विशेष सिद्धि]

(२) दूसरे वर्ग का कहना है-जहाँ धर्मिगत विशेष की सिद्धि अन्वय-व्यतिरेकी हेतु से शक्य

अन्वयसामर्थ्यादपि विशेषसिद्धिम् अन्ये मन्यन्ते । यथा धूममात्रस्य वह्निमात्रेण व्याप्तिः एवं धूमविशेषस्य वह्निविशेषेण इति धूमविशेषप्रतिपत्तौ न वह्निमात्रेणान्वयानुस्मृति किन्तु वह्निविशेषेण, एवं विशिष्टकार्यत्वदर्शनाद् न कारणमात्रानुस्मृतिः किन्तु तथाविधकार्यविशेषजनककारणविशेषानुस्मृतिः । तदनुस्मृतावत्रान्वयसामर्थ्यादेव कारणविशेषप्रतिपत्तिरिति न विशेषविरुद्धावकाशः ।

एतेषां पक्षाणां युक्तायुक्तत्वं सूरयो विचारयिष्यन्तीति नास्माकमत्र निर्बन्धः, सर्वथा विशेषविरुद्धस्याऽदूषणत्वमस्माभिः प्रतिपाद्यते तद्विरुद्धलक्षणपर्यालोचनया । प्रसक्तानां च विशेषाणां प्रमाणान्तरबाधया, अन्वयव्यतिरेकिमूलकेवलव्यतिरेकि बलाद्वा, पक्षधर्मत्वसामर्थ्येन वा कार्यविशेषस्य कारणविशेषान्वितत्वेन वा, नात्र प्रयत्यते, सर्वथा प्रस्तुतहेतौ न व्याप्त्यसिद्धि. ।

न हो वहाँ तत्पूर्वक केवलव्यतिरेकी हेतु से विशेष की सिद्धि भले ही की जाय, जैसे कि घ्राणेन्द्रियादि स्थल मे । किन्तु प्रथमोक्त हेतु से ही यदि धर्मीगत विशेष की भी सिद्धि होती हो तब अन्य हेतु की कल्पना आवश्यक नही है । जैसे देखिये-धूमहेतु का अग्नि के साथ अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध हो जाने पर 'इस देश मे अग्नि है' इस प्रकार एतद्देशावच्छिन्न अग्नि की सिद्धि एतद्देश रूप पक्ष मे धूम हेतु की वृत्तिता के बल से ही-अर्थात् पक्षधर्मत्व बल से ही हो जाती है, धूम हेतु के एतद्देशावच्छिन्न अग्नि के साथ धूम के अन्वय-व्यतिरेक का सम्भव ही नही है । यद्यपि व्याप्तिग्रहकाल मे सर्वदेशकाल के अन्तर्भाव से व्याप्ति ग्रह होते समय एतद्देश का भी अन्तर्भाव हो ही जाता है अन्यथा वह व्याप्ति ही नही कही जा सकती । किन्तु वह व्याप्तिग्रह सर्वदेशान्तर्गत सामान्यरूप से हुआ रहता है, एतद्देशत्वरूपेण नही होता । अत' हेतु के अन्वय-व्यतिरेक से एतद्देशावच्छिन्नस्वरूप अग्निविशेष का ग्रहण शक्य नही है, केवल अग्निसामान्य का ही ग्रहण शक्य है । किन्तु पक्षधर्मता के प्रभाव से एतद्देशावच्छिन्न का ग्रहण होता है । इसीलिये, प्रत्युत्पन्नकारणजन्य स्मृति को अनुमान कहा गया है । यहाँ प्रत्युत्पन्न कारण पक्षधर्मता ही है । उक्त रीति से बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व के साथ कार्यत्व की व्याप्ति सिद्ध होने पर भी सर्वज्ञादिकर्त्तारूप कारणविशेष का बोध पक्षधर्मता के प्रभाव से ही फलित होता है कि जो इस प्रकार के पृथ्वी आदि का कर्त्ता होगा वह नियमत. नित्यज्ञानसवधी, शरीरविहीन एव एक और सर्वज्ञ ही होगा । जब पक्षधर्मता के बल से ही विशेष की सिद्धि की जाती है तब विशेषविरुद्ध अनुमानो को विरोध का अवकाश ही नही रहता ।

[विशेषव्याप्ति के बल से विशेषसाध्य की सिद्धि]

(३) तीसरे वर्ग का कहना है कि-अन्वय (अर्थात् विशेष व्याप्ति) के सामर्थ्य से ही धर्मीविशेष की सिद्धि होती है जैसे धूमसामान्य की अग्निसामान्य के साथ व्याप्ति होती है । वैसे धूमविशेष की अग्निविशेष के साथ भी व्याप्ति सिद्ध होती है क्योकि यह नियम है कि जिन सामान्यो का व्याप्यव्यापक भाव होता है वह उनके विशेषो मे भी होता है । अत इस नियम के अनुसार धूमविशेष यानी पर्वतीयधूम को देखने पर केवल अग्निसामान्य के साथ व्याप्ति का स्मरण नही होता, अपि तु अग्निविशेष यानी पर्वतीय अग्नि के साथ व्याप्ति का स्मरण होता है । ठीक इसी प्रकार, विशिष्ट कार्यत्व को देखने पर केवल कारण सामान्य की स्मृति नही होती किन्तु तथा प्रकार के कार्यविशेष के जनक कारणविशेष की यानी सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट कर्त्ता की ही स्मृति फलित होती है । उसका स्मरण होने पर अन्वय के सामर्थ्य से ही कारणविशेष के अनुमिति बोध का उदय होता है । अतः विशेषविरुद्ध अनुमानो को अवकाश ही नही ।

'प्रसक्तानां विशेषाणां प्रमाणान्तरबाधया विशेषविरुद्धताऽनवकाश' इत्युक्तं तत्र कतमस्य प्रसक्तस्य विशेषस्य केन प्रमाणेन निराकृतिः ? शरीरसम्बन्धस्य तावद् व्याप्त्यभावेन, शरीरान्तररहितस्याऽप्यात्मनः स्वशरीरधारण-प्रेरणक्रियासु यथा । अथात्मनः प्रयत्नवत्त्वाद् धारणादिक्रियासु शरीराद्याधारासु कर्तृत्वं युक्तम् नेश्वरस्य, तद्रहितत्वात् तथा च भवतां मुख्यं कर्तृलक्षणम्-"ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायः कर्तृता" [ ] इति । केनेश्वरस्य तद्रहितत्वात् (इति) प्रयत्नप्रतिषेधः कृतः ? 'आत्म-मनःसंयोगजन्यत्वात् प्रयत्नस्य ईश्वरस्य तदसम्भवात् कारणाभावात् तन्निषेधः' । बुद्धिस्तर्हीश्वरे कथं तस्या अपि मनःसंयोगजन्यतैव ? 'साऽपि मा भूत् का नः क्षतिः' ? ननु तदसत्तैव न त्वन्या काचित् । 'साऽपि भवतु' । तदभावे कस्य विशेषः शरीरादिसंयोगलक्षणः साध्यते ? अत एवान्यैरुक्तम्-

उक्त तीन पक्षो मे से कौन सा युक्तियुक्त है या नही यह विचार तो विशेषज्ञ सूरिवर्ग करेगा, हमारा इनमे से किसी मे भी कोई आग्रह नही है, हमे तो यही कहना है कि जब साध्यविरोधी हेतुओं या अनुमानो के ऊपर विशेष पर्यालोचन किया जायेगा तब किसी भी पक्ष को मानने पर इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि विशेषविरुद्ध किसी भी रीति से दूषणरूप नही है। विशेषविरुद्ध अनुमानो से प्रसक्त विशेषो का चाहे प्रमाणान्तरबाध से निराकरण माना जाय, या अन्वयव्यतिरेकीमूलक केवलव्यतिरेकीवल से निराकरण हो, अथवा तो पक्षधर्मता के प्रभाव से या कारणविशेष के साथ कार्यविशेष की व्याप्ति के बल से निराकरण हो-हम इस विषय मे प्रयत्न नही करते है। तात्पर्य यही फलित होता है कि कार्यत्वहेतु मे कर्त्ता की व्याप्ति किसी भी रीति से असिद्ध नही है।

[शरीररूप आपादितविशेष का निराकरण]

पूर्वपक्षीः-प्रसक्तविशेषो मे अन्य प्रमाण का बोध होने से विशेषविरुद्धता दोष निरवकाश है-यह जो कहा, तो कौन से प्रसक्त विशेष का किस प्रमाण से निराकरण हुआ, यह दिखाओ !

नैयायिकः-शरीरसम्बन्ध की प्रसक्ति की जाती है तो उसका विघटन व्याप्ति-अभावप्रदर्शन से किया जाता है। कार्यत्व को शरीरसम्बन्ध के साथ व्याप्ति ही नही है। जैसे देखिये-आत्मा अपने शरीर मे जो धारण-प्रेरणादि क्रिया को उत्पन्न करता है वह भी कार्य है किन्तु न तो वह उस शरीर सम्बन्ध से जन्य है, न तो अन्य शरीरसम्बन्ध से।

पूर्वपक्षीः-आत्मा तो प्रयत्नवान् है अतः शरीरादि सम्बन्धी धारणादिक्रिया का वह कर्त्ता बन सकता है, ईश्वर प्रयत्नहीन होने से कर्त्ता नही हो सकता। कर्त्ता का प्रमुख लक्षण ही आपने यह कहा है-"ज्ञान, चिकीर्षा (करने की इच्छा) और प्रयत्न का समवाय संबंध यही कर्तृत्व है।"

नैयायिकः-'ईश्वर प्रयत्नरहित है' ऐसा प्रयत्ननिषेध किसने दिखाया ?

पूर्वपक्षीः-प्रयत्न आत्मा और मन के सयोग से उत्पन्न होता है यह आपका सिद्धान्त है, ईश्वर मे मन न होने से, कारणभूत मन के अभाव से प्रयत्नरूप कार्य का निषेध स्वतः फलित होता है।

नैयायिकः-तब ज्ञान भी आत्मा और मन के सयोग से जन्य होने से ईश्वर मे ज्ञान भी कैसे घटेगा ?

पूर्वपक्षीः-मत मानीये, हमे क्या नुकसान है ?

नैयायिकः-ईश्वर का ही अभाव प्रसक्त होगा यही, और कोई नही।

"नातीन्द्रियार्थप्रतिषेधो विशेषस्य कस्यचित् साधनेन निराकरणेन वा कार्यः-तदभावे विशेषसाधनस्य तन्निराकरणहेतोर्वाऽऽश्रयासिद्धत्वात्-किन्त्वतीन्द्रियमर्थमभ्युपगच्छंस्तत्सिद्धौ प्रमाणं प्रष्टव्यः। स चेत् तत्सिद्धौ प्रयोजकं हेतुं दर्शयति 'ओम्' इति कृत्वाऽसौ प्रतिपत्तव्यः। अथ न दर्शयति, प्रमाणाभावादेवासौ नास्ति, न तु विशेषाभावात्" [ ]

तस्माद् ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायोऽस्तीश्वरे, ते तु ज्ञानादयोऽस्मदादिज्ञानादिभ्यो विलक्षणाः, वैलक्षण्यं च नित्यत्वादिधर्मयोगात्। तन्नेश्वरशरीरस्य कर्तृविशेषस्य व्याप्त्यभावात् सिद्धिः।

नाऽप्यसर्वज्ञत्वं विशेषः कुलालादिषु दृष्टस्तत्र साध्यते, तत्सिद्धावपि विशेषविरुद्धस्य व्याप्त्यभाव एव। न ह्यसर्वविदा कर्त्रा कुलालादिना किंचित् कार्यं क्रियते। ननु कुलालादेः सर्ववित्त्वे नेदानीं कश्चिदसर्ववित्। एवमेव, यद् यः करोति स तस्योपादानादिकारणकलापं प्रयोजनं च जानाति, अन्यथा तत्क्रियाऽयोगात्। सर्वज्ञत्वं च प्रकृतकार्यतन्निमित्तापेक्षम्, अतः कुलालादिर्यथा कर्त्ता स्वकार्यस्य सर्वं जानात्युपादानादि एवमीश्वरोऽपि सर्वकर्त्ता सर्वस्य करण-प्रयोजनं विवादविषयस्य सर्वस्योपादानकारणादि च कर्तृत्वादेव जानाति, अतः कथमसावसर्ववित् ?

पूर्वपक्षी:-वह भी हमे मान्य है।

नैयायिकः-जब आपके मत से ईश्वर ही नही है तब शरीरादिसंयोग को आप किस के विशेषरूप मे सिद्ध करेंगे ? यहाँ आश्रयासिद्धि दोष है इसीलिये दूसरे वादीओने भी यह कहा है—

[अतीन्द्रिय अर्थ के निषेध का वास्तव उपाय]

"अतीन्द्रिय अर्थ का निषेध उसके किसी अनिष्ट विशेषधर्म के साधन से या इष्ट किसी विशेष के निराकरण के द्वारा नही करना चाहिये, क्योंकि जब निराकरण करनेवाले के मत मे वह अर्थ ही असिद्ध है तो उसके विशेष का साधन या निराकरण करने वाला हेतु ही आश्रयासिद्धिदोष से दूषित हो जायेगा। तो क्या करना ? करना यह चाहिये कि अतीन्द्रिय अर्थ मानने वाले को उसकी सिद्धि मे 'क्या प्रमाण है' यह पूछना चाहिये। यदि वह उसकी सिद्धि में तर्कपुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करे तो 'हाँ' कह कर उसका स्वागत कर लेना चाहिये। यदि प्रमाण न दिखा सके तो प्रमाण के अभाव से ही उस अर्थ का निषेध सिद्ध होगा, विशेषो के न घटने से नही।"

अन्यवादीओ के उक्त कथन से फलित यह होता है कि ईश्वर सिद्धि में यदि प्रमाणभूत हेतु है तो उसका निषेध शक्य न होने से उसमे कर्तृत्व की उपपत्ति के लिये ज्ञान-चिकीर्षा और प्रयत्न का समवाय भी उसमे मानना ही पडेगा। हमारे ज्ञानादि से उनके ज्ञानादि को कुछ विलक्षण मानना पडे तो यह भी मानना होगा। वह वैलक्षण्य यही होगा कि हमारा ज्ञानादि आत्ममनः संयोगजन्य होने से अनित्य है और ईश्वर को मन न होने के कारण उसका ज्ञानादि नित्य, व्यापक इत्यादि है। इस प्रकार जब कर्त्ता के विशेषस्वरूप शरीर को कार्य के साथ व्याप्ति ही नही है तब ईश्वर में शरीरसिद्धि का आपादन अशक्य है।

[असर्वज्ञत्वरूप आपादितविशेष का निराकरण]

शरीररूप विशेष जैसे ईश्वर मे सिद्ध नही किया जा सकता उसी तरह असर्वज्ञत्वरूप विशेष कुम्भकारादि मे दिखता है उसका भी ईश्वर मे आपादन अशक्य है। ईश्वर मे कार्य हेतु से असर्वज्ञत्व

अन्ये त्वाहु:-क्षेत्रज्ञानां नियतार्थविषयग्रहणं सर्वविदधिष्ठितानां, यथा प्रतिनियतशब्दादिविषय-ग्राहकाणामिन्द्रियाणामनियतविषयसर्वविदधिष्ठितानां जीवच्छरीरे । तथा चेन्द्रियवृत्त्युच्छेदलक्षणं केचिद् मरणमाहुश्चेतनानधिष्ठितानाम् । अस्ति च क्षेत्रज्ञानां प्रतिनियतविषयग्रहणम् तेनाप्यनियत-विषयसर्वविदधिष्ठितेन भाव्यम् । योऽसौ क्षेत्रज्ञाधिष्ठायकोऽनियतविषय स सर्वविदीश्वरः । नन्वेवं तस्यैव सकलक्षेत्रेष्वधिष्ठायकत्वात् किमन्तर्गडुस्थानीयैः क्षेत्रज्ञैः कृत्यम् ? न किंचित् प्रमाणसिद्धतां मुक्त्वा । नन्वेवमनिष्ठा-यथेन्द्रियाधिष्ठायकः क्षेत्रज्ञस्तदधिष्ठायकश्चेश्वर एवमन्योऽपि तदधिष्ठायको-ऽस्तु । भवत्वनिष्ठा यदि तत्साधकं प्रमाणं किंचिदस्ति, न त्वनिष्ठासाधकं किंचित् प्रमाणमुत्पश्यामः तावत एवानुमानसिद्धत्वात् ।

की सिद्धि किये जाने मे भी विशेषविरुद्धानुमान मे व्याप्तिविरह ही दोष है । ईश्वर में जो सर्वज्ञत्वरूप विशेष अभिप्रेत है उसके विरुद्ध असर्वज्ञत्व को यदि कुम्भकार के दृष्टान्त से सिद्ध करने जायेंगे तो दृष्टान्त मे साध्य का अभाव होने से व्याप्ति ही न बन सकेगी क्योंकि असर्वज्ञ कर्त्ता कुम्भकार किसी भी कार्य को नही कर सकता ।

शंका -कुम्भकार को अगर सर्वज्ञ मानेंगे तो फिर असर्वज्ञ कोई रहेगा ही नही ।

उत्तर:-ऐसा ही है । आशय यह है कि कोई भी कर्त्ता जो कुछ भी कार्य उत्पन्न करता है वह उस कार्य के उपादानादिकारणसमूह को और उस कार्य की निष्पत्ति के प्रयोजन को जानता ही है, अन्यथा, उस कर्त्ता से तत्कार्य के उत्पादनार्थ कोई क्रिया ही नही हो सकेगी । [सर्वज्ञता का अर्थ हम यह नही कहना चाहते कि सारे विश्व का ज्ञाता हो किन्तु] प्रस्तुत घटादि कार्य के जितने निमित्त (कारणवर्ग) है उन सर्व को वह जानता है इस अपेक्षा से ही यहाँ कुम्भकार को सर्वज्ञ मानते है । इस से यह फलित होता है कि जैसे कुम्भकारादि कर्त्ता स्वकार्य मे उपयोगी उपादानादि सभी को जानता है, उसी तरह ईश्वर सर्वजगत् का कर्त्ता होने से सारे ही जगत् के करण यानी उत्पादन का प्रयोजन एव विवादविषयभूत सभी पृथ्वी आदि के उपादान कारणादि को, स्वय कर्त्ता होने से जानता ही होगा, तो फिर वह असर्वज्ञ कैसे होगा ?

[सचेतन देह में ईश्वर के अधिष्ठान की सिद्धि]

अन्य विद्वान् कहते हैं-परिमित ही पदार्थ यानी अमुक ही पदार्थ को विषय करनेवाला ज्ञान जिन को होता है वे क्षेत्रज्ञ यानी जीवात्मा सर्वज्ञ पुरुष से अधिष्ठित ही होते हैं । जैसे, जीते हुए (जिन्दे) शरीर मे परिमित-नियत शब्दादि विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ अनियतविषयवाले सर्वज्ञाता पुरुष से अधिष्ठित ही होती है । अत एव किसीने कहा है-चेतन से अनधिष्ठित-अर्थात् चेत-नाशून्य शरीर का इन्द्रियप्रवृत्तिविनाशरूप ही मरण है । तात्पर्य, इन्द्रिय चेतनाधिष्ठित होने पर ही नियतार्थग्रहण मे प्रवृत्ति करती हैं, इसी प्रकार आत्मा को भी नियतार्थविषयक ही ग्रहण होता है अत: वह भी अनियतार्थ विषय वाले सर्वज्ञाता पुरुष ईश्वर से अधिष्ठित होना चाहिये । जो यह अनियत-विषयवाला चेतनाधिष्ठाता होगा वही सर्वज्ञ ईश्वर है ।

प्रश्न:-ऐसे तो सकलक्षेत्रो का अधिष्ठाता ईश्वर ही हो गया, फिर इन्द्रियादि को अन्तर्गडु यानी देहगत निष्प्रयोजन ग्रन्थिरूप अग तुल्य क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा से अधिष्ठित मानने की जरूर ही क्या है ?

आगमोऽप्यस्मिन् वस्तुनि विद्यते-तथा च भगवान् व्यास:–
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
[गीता-१५/१६-१७]

इति। तथा श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका उपलभ्यते - [शुक्लयजुर्वेद १७-१९]
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो, विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमि जनयन् देव एक आस्ते॥ [श्वेताश्व० ३-३]

न च स्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्यम्, प्रमाणजनकत्वस्य सद्भावात्। तथाहि-प्रमाजनकत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यं न प्रवृत्तिजनकत्वेन, तच्चेहास्त्येव। प्रवृत्ति-निवृत्ती तु पुरुषस्य सुख-दुःखसाधनत्वाध्यवसाये समर्थस्यार्थित्वाद् भवत इति। अथ विधावङ्गत्वादमीषां प्रामाण्यं न स्वरूपार्थत्वादिति

उत्तरः–वह भी प्रमाणसिद्ध है इसीलिये उसको मानने की जरूर है, और तो कोई नही है।

शंकाः-यदि ऐसा मानेगे तो अनवस्था प्रसक्त होगी, जैसे इन्द्रियो का अधिष्ठाता हुआ क्षेत्रज्ञ, उसका भी अधिष्ठाता हुआ ईश्वर, तो उस ईश्वर का भी कोई अधिष्ठायक प्रसक्त क्यो नही होगा ?

उत्तरः–यदि ईश्वर के भी अधिष्ठाता का साधक कोई प्रमाण है तो अनवस्था होने दो, सच बात यह है कि ईश्वर के अधिष्ठाता का साधक कोई प्रमाण ही नही देखते है, केवल जीवात्मा के अधिष्ठाता ईश्वर तक ही अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है, फिर अनवस्था कैसे हो सकती है ? ।

[ईश्वर की सिद्धि में आगम प्रमाण]

इस विषय में आगम प्रमाण भी मौजूद है। जैसे की व्यास भगवान् ने गीता मे लिखा है—

लोक मे ये दो पुरुष है-एक क्षर, दूसरा अक्षर। सभी जीवात्मा क्षरपुरुष है और जो कूटस्थ है उसे अक्षर कहते है।

तथा–'(हे अर्जुन !) अन्य (=ससारी जीव से भिन्न) और उत्तम (=सर्वज्ञादि स्वरूपवाला) पुरुष ही परमात्मा कहा गया है, जो ऐश्वर्यशाली, अव्यय है और लोकत्रय मे आविष्ट हो कर उसका धारण और भरण करता है।

तदुपरात, ईश्वरस्वरूप का प्रतिपादक वेदवाक्य भी उपलब्ध है–'विश्वत' इत्यादि, इस वेद-वाक्य का अर्थ ऐसा है—

"जिसका नेत्र विश्वाभिमुख है [अर्थात् जो सर्वज्ञ है], तथा जिसका मुख विश्वाभिमुख है [अर्थात् जो सपूर्ण जगत् का प्रतिपादक है], जिसका बाहु विश्वाभिमुख है [अर्थात् जो सारे जगत् का सहकारी कारण है], जिसका पैर विश्वाभिमुख है [अर्थात् जो सारे जगत् मे व्यापक है] ऐसा एक ही देव (=ईश्वर) स्वर्ग और भूमि की रचना करता हुआ, जीवो के धर्म-अधर्मरूप दो बाहु के सहाय से पतत्रों अर्थात् परमाणुओ को प्रेरित करता है।"

[स्वरूपप्रतिपादक आगम भी प्रमाण है]

मीमांसक सकलवेदवाक्यो को प्रमाण नही मानते किन्तु विधि-निषेधपरक-प्रवर्त्तक-निवर्त्तक वाक्यों को ही प्रमाण मानते है, केवल वस्तुस्वरूपमात्रप्रतिपादक वाक्यो को प्रमाण नही मानते–किन्तु

चेत् ? तदसत्, स्वार्थप्रतिपादकत्वेन विध्यङ्गत्वात्। तथाहि-स्तुतेः स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्त्तकत्वम्, निन्दायास्तु निवर्त्तकत्वमिति। अन्यथा हि तदर्थाऽपरिज्ञाने विहित-प्रतिषिद्धेष्वविशेषेण प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यात्। तथा विधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपादनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्वं दृष्टम् एवं स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु स्यात्, वाक्यस्वरूपताया अविशेषात् विशेषहेतोश्चाभावादिति।

तथा, स्वरूपार्थानामप्रामाण्ये "मेध्या आपः, दर्भाः पवित्रम्, अमेध्यमशुचि" इत्येवंस्वरूपाऽपरिज्ञाने विध्यंगतायामप्यविशेषेण प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रसंगः। न चैतदस्ति, मेध्येष्वेव प्रवर्त्तत अमेध्येषु च निवर्त्तत इत्युपलम्भात्। तदेवं स्वरूपार्थेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थस्वरूपावबोधे सति, इष्टे प्रवृत्तिदर्शनादनिष्टे च निवृत्तेरिति ज्ञायते-स्वरूपार्थानां प्रमाजनकत्वेन प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा विधिसहकारित्वमिति, अपरिज्ञानात्तु प्रवृत्तावतिप्रसंगः।

अथ स्वरूपार्थानां प्रामाण्ये 'ग्रावाणः प्लवन्ते' इत्येवमादीनामपि यथार्थता स्यात्। न, मुख्ये बाधकोपपत्तेः। यत्र हि मुख्ये बाधकं प्रमाणमस्ति तत्रोपचारकल्पना, तदभावे तु प्रामाण्यमेव। न चेश्वर-

---

यह ठीक नही है, क्योकि उन वाक्यो मे भी प्रमाणजनकत्व अर्थात् प्रमात्मकबोधजनकत्व विद्यमान है। जैसे देखिये-कोई भी प्रमाण (=प्रमा का करण) प्रमात्मक ज्ञान का जनक होने से ही प्रमाण होता है, प्रवृत्तिजनक होने से नही। और प्रमाजनकत्व तो स्वरूपप्रतिपादक वेदवाक्यो मे भी अबाधित है ही। यदि कहे कि-स्वरूपप्रतिपादक वेदवाक्यो विधि के अगभूत यानी विध्यर्थ साधन मे उपयोगी होने से ही प्रमाण है, स्वरूपप्रतिपादक होने से नही-तो यह कथन मिथ्या है क्योंकि कोई भी वाक्य विधि का अगभूत तभी हो सकता है जब वह स्ववाच्यार्थ का सम्यक् प्रतिपादन करे। देखिये स्ववाच्यार्थ का प्रतिपादक होने से ही स्तुतिवाक्य प्रवृत्तिकारक बनता है और निन्दा वाक्य अनिष्ट के बोधक द्वारा निवर्त्तक बनता है। यदि वाक्य से उसके अर्थ का ही परिज्ञान न होगा तो विहित और निषिद्ध कार्यो में इष्टानिष्टसाधनता का बोध न होने के कारण किसी भी पक्षपात के बिना ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो होने लगेगी। तदुपरांत, विधिवाक्य भी अपने अर्थ के सम्यक् प्रतिबोधन के द्वारा ही अर्थी पुरुष की प्रवृत्ति मे प्रेरक बनता हुआ दिखता है, तो ऐसा स्वरूपमात्र प्रतिपादक वाक्यो में भी सम्भव है, क्योकि पदसमूहरूप वाक्य का स्वरूप दोनो स्थानो मे समान है, और ऐसी कोई विशेषता नही है जिसके सद्भाव और अभाव से एक को प्रमाण और अन्य को अप्रमाण कहा जा सके।

[स्वरूपार्थक आगम अप्रमाण मानने पर आपत्ति]

तदुपरात, यदि स्वरूपमात्रार्थ के वाचक वाक्य को प्रमाण नही मानेंगे तो 'मेध्या आप...' इत्यादि वाक्य से 'जल पवित्र है, दर्भ पवित्र है, अशुचि अपवित्र है' इस प्रकार का प्रमाणभूत स्वार्थपरिज्ञान नही होने से, विधि के अगभूत वस्तु मे भी समानरूप से प्रवृत्ति-निवृत्ति का अतिप्रसग होगा। किन्तु ऐसा तो है नही क्योकि सब लोग पवित्र वस्तु मे ही प्रवृत्ति और अपवित्र में निवृत्ति करते है, यही दिखाई देता है। अतः इस प्रकार स्वरूप अर्थ वाचक वाक्यों से अर्थ के स्वरूप का बोध होने पर ही इष्ट कार्य मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति के दर्शन से यह स्पष्टरूप मे ज्ञात होता है कि-स्वरूपार्थवाचक वाक्य प्रमाजनक होने पर ही प्रवृत्ति या निवृत्ति करने में विधिवाक्यों के सहकारी बनते है, अन्यथा नही। यदि उन से स्वार्थ का बोध न होने पर भी वे विधिवाक्य के सहकारी बनेंगे तो कोई भी वाक्य विधिवाक्य का सहकारी बन जाने की आपत्ति होगी।

सद्भावप्रतिपादनेषु किंचिदस्ति बाधकमिति स्वरूपे प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति–आगमादपि सिद्धप्रामाण्यात् तदवगमः।

ईश्वरस्य च सत्तामात्रेण स्वविषयग्रहणप्रवृत्तानां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठायकता यथा स्फटिकादीनामुपधानाकारग्रहणप्रवृत्तानां सवितृप्रकाश'। यथा तेषां सावित्रं प्रकाश विना नोपधानाकारग्रहणसामर्थ्यं तथेश्वरं विना क्षेत्रविदां न स्वविषयग्रहणसामर्थ्यमित्यस्ति भगवानीश्वर: सर्ववित्।

इतश्चासौ सर्ववित्–ज्ञानस्य सन्निहितसदर्थप्रकाशकत्वं नाम स्वभावः, तस्यान्यथाभावः कुतश्चिद्दोषसद्भावाद्, एतत्तावद् रूपं चक्षुराद्याश्रयाणां ज्ञानानाम्। यत् पुनश्चक्षुरनाश्रितं न च रागादिमलावृतं तस्य विषयप्रकाशनस्वभावस्य विषयेषु किमिति प्रकाशनसामर्थ्यविघातः यथा दीपादेरपवरकान्तर्गतस्य? ननु रागादेरावरणस्य कथं तत्राभावोऽवगतः? तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। 'प्रमाणस्याभावे संशयोऽस्तु रागादीनां न त्वभावः'। विपर्यासकारणा रागादयः, एषां कारणाभावे कथं तत्र भावः? विपर्यासश्चाधर्मनिमित्तः, न च भगवत्यधर्मः तत्सद्भावे वा इत्थविधस्यास्मदादिभिश्चिन्तयितुमप्यशक्यस्य कार्यस्य कथ तस्मादुत्पादः अनेकादृष्टकल्पनाप्रसंगात्? किंच रागादयः इष्टानिष्टसाधनेषु विषयेषूपजायमाना दृष्टाः। न च भगवतः कश्चिदिष्टानिष्टसाधनो विषयः, अवाप्तकामत्वात्।

['पत्थर तैरते हैं' इस प्रयोग के प्रामाण्य का निषेध]

शंकाः–स्वरूपार्थ मे वाक्यो को प्रमाण मानने पर तो 'पत्थर तैरते हैं' इत्यादि वाक्यो को भी यथार्थ मानना पडेगा।

उत्तरः–नही मानना पडेगा, क्योकि इसके मुख्यार्थ मे बाधक विद्यमान है। जहाँ मुख्यार्थ में बाधक प्रमाण की सत्ता हो वहाँ वह प्रयोग औपचारिक होने की कल्पना करना युक्त है और जहाँ बाधक प्रमाण न हो उस प्रयोग को यथार्थ ही मानना चाहिये।

ईश्वरसद्भाव के प्रतिपादन करने वाले वेदादिवाक्यो के मुख्यार्थ मे कोई बाधक प्रमाण नही है अतः उन वाक्यो का स्वरूप अर्थ मे प्रामाण्य स्वीकारना होगा। इस रीति से सिद्ध प्रामाण्य वाले आगम से भी ईश्वर का बोध किया जा सकता है।

अपने विषयो के ग्रहण मे प्रवृत्त क्षेत्रज्ञो मे ईश्वर स्वतः अपनी सत्तामात्र से ही [शरीर के विना भी] अधिष्ठित है। उदा० उपाधि (जपाकुसुमादि) के आकारग्रहण मे प्रवृत्त स्फटिकादि मे सूर्यप्रकाश जैसे स्वत' अधिष्ठित होता है। सूर्यप्रकाश के विना स्फटिकादि, उपाधि के आकारग्रहण मे समर्थ नही हो सकते, ऐसे ही ईश्वर के विना क्षेत्रज्ञ भी अपने विषयो के ग्रहण मे समर्थ नही हो सकते। इस प्रकार भगवान ईश्वर सर्वज्ञ है यह सिद्ध होता है।

[सर्वज्ञता की साधक युक्ति]

ईश्वर सर्वज्ञ इस रीति से भी है–नेत्रादि साधन से होने वाले ज्ञान का स्वरूप ऐसा है कि वह निकटवर्त्ती सद्भूतअर्थ का प्रकाशक होता है, कदाचित् कोई दोष भी ज्ञानसामग्रीअन्तर्भूत हो जाय तब वह दूरवर्त्ती असद्भूत अर्थ का भी प्रकाश कर देता है। नेत्रादिनिरपेक्ष जो ज्ञान है उसका स्वभाव तो विषय प्रकाशन का है ही, उपरात वह रागादिमल से अनावृत भी है तो अब यह सोचना होगा कि उसके विषयप्रकाशनसामर्थ्य में कौन विघात करेगा जिससे कि वह सन्निहित एव परिमित

या तु प्रवृत्तिः शरीरादिसर्गे सा कैश्चित् क्रीडार्थमुक्ता, सा चावाप्तप्रयोजनानामेव भवति न त्वन्येषाम्। अतो यदुक्तं वार्त्तिककृता-"क्रीडा ही रतिमविन्दताम्, न च रत्यर्थी भगवान्, दुःखाभावात्" [न्या०वा० ४-१-२१], तत् प्रतिक्षिप्तम्, न हि दुःखिताः क्रीडासु प्रवर्त्तन्ते, तस्मात् क्रीडार्था प्रवृत्तिः।

अन्ये मन्यन्ते-कारुण्याद् भगवतः प्रवृत्तिः। नन्वेवं केवलः सुखरूपः प्राणिसर्गोऽस्तु। नैवं, निरपेक्षस्य कर्तृत्वेऽयं दोषः, सापेक्षत्वे तु कथमेकरूप सर्गः ?! यस्य यथाविधः कर्माशयः पुण्यरूपोऽपुण्यरूपो वा तस्य तथाविधफलोपभोगाय तत्साधनान् शरीरादींस्तथाविधांस्तत्सापेक्षः सृजति इति।

न चेश्वरत्वव्याघातः सापेक्षत्वेऽपि, यथा सवितृप्रकाशस्य स्फटिकाद्यपेक्षस्य, यथा वा करणाधिष्ठायकस्य क्षेत्रज्ञस्य सापेक्षत्वेऽपि तेषु तस्येश्वरता (त)द्वदत्रापि नेश्वरताविघातः।-इति केचित्।

ही अर्थ का प्रकाशक हो ?! जब दीपक का वस्तुप्रकाशनस्वभाव है तब किसी कक्ष मे उसको रखा जाय तब तो अपरिमितार्थप्रकाशन मे चार दीवार ही अन्तरायभूत हैं किंतु ईश्वर के ज्ञान में तो कोई अन्तराय ही नही है, अतः वह सर्वार्थ प्रकाशक ही सिद्ध होता है।

शंकाः-ईश्वर मे रागादि आवरण का अभाव है यह कैसे जान लिया ?

उत्तरः-रागादि के सद्भाव का प्रतिपादक कोई प्रमाण नही है।

शंकाः-कोई प्रमाण नही है तो भी वहाँ सशय को अवकाश है, अत' रागादि का अभाव नही हो सकता।

उत्तरः-रागादि का कारण बुद्धिविपर्यास है, जब यह कारण ही ईश्वर में नही है तो यहाँ रागादिभाव कैसे होगे। विपर्यास इसलिये नही है कि उसका निमित्त अधर्म (अदृष्ट) है जो भगवान मे नही है। यदि भगवान मे अधर्ममूलक विपर्यास होता तो, जिसको हम बुद्धि से सोच भी नही सकते इतने बडे बडे ऐसे कार्य की उससे उत्पत्ति ही कैसे हो सकती ? ईश्वर को अधर्म वाला मान कर भी उससे बड़े बडे अचिन्त्य कार्यो की उत्पत्ति मानने पर अनेक प्रकार की अदृष्ट कल्पनाएँ करनी होगी क्योकि अधर्मवाले किसी भी जीव से नदी-समुद्रादि बडे कार्य की उत्पत्ति दृष्ट नही है। तदुपरात, रागादि की उत्पत्ति इष्ट-अनिष्ट विषयो मे ही होती है, भगवान तो कृतकृत्य होने से उनके लिये कोई विषय इष्ट-अनिष्ट ही नही रहा तो उनको रागादि कैसे हो सकते है ?! रागादि के अभाव मे सर्वज्ञता निर्बाध सिद्ध हो जायेगी।

[ईश्वर की क्रीडाहेतुक प्रवृत्ति भी निर्दोष !]

कोई विद्वान कहते है कि शरीरादि सृष्टि के उत्पादनार्थ जो ईश्वर की प्रवृत्ति है वह क्रीडा के हेतु है। क्रीडा वे लोग ही कर सकते है जो कृतकृत्य हो गये हो, जिनके सब प्रयोजन सिद्ध हो गये हो। असिद्ध प्रयोजनवाले कभी क्रीडा मे सलग्न नही हो सकते। अत एव, न्यायवार्त्तिककार उद्योतकरने जो यह कहा है-"जिनको चैन न पड़ता हो वे ही क्रीडा में प्रवृत्त होते हैं, भगवान को रति का कोई प्रयोजन नही, क्योकि प्रभु को कोई दु ख ही नही है। (जिसकी निवृत्ति हेतु क्रीडा करे)।"-यह बात परास्त हो जाती है। दीन-दुखिये लोग कभी क्रीडा मे संलग्न नही होते (वे तो अपने दुःखनिवारण की चिन्ता मे ही पड़े रहते है कृतकृत्य लोग ही क्रीडा कर सकते हैं)। अतः ईश्वर की प्रवृत्ति क्रीडानिमित्त है यह कहा जा सकता है।

अन्ये मन्यन्ते–यथा प्रभुः सेवाभेदानुरोधेन फलभेदप्रदो नाऽप्रभुस्तथेश्वरोऽपि कर्माशयापेक्षः फलं जनयतीति 'अनीश्वरः' इति न युज्यते वक्तुम् ।

भाष्यकारः कारुण्यप्रेरितस्य प्रवृत्तिमाह । तन्निमित्तायामपि प्रवृत्तौ न वार्त्तिककारीयं दूषणम्–'संसृजेत् शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः' [श्लो० वा० ५–स० प० श्लो० ५२] इत्येवमादि, यतः कर्माशयानां कुशलाऽकुशलरूपाणां फलोपभोग विना न क्षय इति भगवानवगच्छंस्तदुपभोगाय प्राणिसर्गं करोति । उपभोगः कर्मफलस्य शरीरादिकृत', कस्यचित्तु अशुभस्य कर्मण प्रायश्चित्तात् प्रक्षयः । तत्रापि स्वल्पेन दुःखोपभोगेन दीर्घकालदु खप्रदं कर्म क्षीयते, न तु फलमदत्त्वा कर्मक्षय. । येषामपि मतं सम्यग्ज्ञानाद् विपर्यासनिवृत्तौ तज्जन्यक्लेशक्षये कर्माशयानां सद्भावेऽपि सहकार्यभावान्न शरीराद्या-

[भगवान की प्रवृत्ति करुणामूलक !]

अन्य विद्वान कहते है–भगवान् की प्रवृत्ति करुणामूलक है । (निरुपाधिक परदु खभजन की इच्छा को करुणा कहते है) ।

प्रश्न.–करुणामूलक प्रवृत्ति से केवल सुखी प्राणियो की ही सृष्टि होगी, दु खसृष्टि क्यो ?

उत्तर –दु.खसृष्टि का दोप नही है, क्योकि कर्त्ता यदि निरपेक्ष (सर्वथा स्वतन्त्र) हो तव यह दोष सावकाश है, जव ईश्वर भी जीव के अदृष्ट को सापेक्ष (पराधीन) है तव एक प्रकार की सृष्टि का सम्भव कैसे होगा ? । जिस आत्मा का जैसा भी पुण्यात्मक या पापात्मक कर्मसचय होगा, उसको वैसे ही फलोपभोग सपन्न कराने के लिये उसके साधनभूत वैसे ही शरीरादि की रचना पुण्य-पाप को सापेक्ष् रह कर ईश्वर करता है ।

कुछ विद्वान् यहाँ कहते हैं कि–पुण्य पाप की सापेक्षता से ऐश्वर्य का कोई व्याघात नही है । जैसे स्फटिक को उपाधि के वर्ण से उपरक्त करने मे सूर्यप्रकाश को स्फटिक की अपेक्षा रहती ही है । अथवा इन्द्रिय के अधिष्ठाता को ज्ञानादि मे वाह्यान्तर करण (इन्द्रिय) की अपेक्षा रहती ही है, इन कार्यो मे सापेक्षता होने पर भी जैसे जीव व ऐश्कार्य रहता है उसी प्रकार अदृष्ट की सापेक्षता होने पर भी भगवान् के ऐश्वर्य मे व्याघात नही है ।

दूसरे विद्वान् कहते हैं जैसे नृपादि स्वामी भिन्न भिन्न प्रकार के सेवा कार्य को लक्ष्य मे रखकर अपने सेवको को भिन्न भिन्न फल प्रदान करता है. इससे उसके स्वामित्व मे कोई क्षति नही आती, उसी प्रकार ईश्वर भी कर्मसचय की अपेक्षा से फलोत्पत्ति करता हो तो इससे उसको अनीश्वर कहना योग्य नही है ।

[केवल सुखत्मक सर्गोत्पत्ति न करने में हेतु]

भाष्यकार ने भी करुणाप्रेरित हो कर ईश्वर की प्रवृत्ति होने का कहा है । प्रवृत्ति को करुणामूलक मानने पर भी तन्त्रवार्त्तिककर्त्ता कुमारील भट्ट ने जो यह दोष दिया है–'यदि करुणा से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करने का मानेंगे तो सभी को एकमात्र सुखी ही बनाता'–इस दूषण को अवकाश नही है। कारण, शुभाशुभ कर्मराशि का फलोपभोग के विना नाश अशक्य है । यद्यपि किसी अशुभ कर्म का प्रायश्चित से भी विनाश होता है, किन्तु वहां भी दीर्घकाल तक दुख देने की शक्तिवाला कर्म अत्यल्प दुःखोपभोग से क्षीण होता है यही माना गया है, अतः फल दिये विना किसी भी.कर्म का विनाश नही

क्षेपकता, तत्रापि कुशलं कर्म समाधि वाऽन्तरेण न तत्त्वज्ञानोत्पत्तिः, तयोस्तु संचये प्रवृत्तस्य यम-नियमानुष्ठानेऽनेकविधदुःखोत्पत्तिः अत कथं केवलसुखिरूपः प्राणिसर्गः ? नारक-तिर्यगादिसर्गोऽपि अकृतप्रायश्चित्तानां तत्रत्यदुःखानुभवे पुनर्विशिष्टस्थानावाप्तावभ्युदयहेतुरिति सिद्धं दुःखिप्राणिसृष्टावपि करुणया प्रवर्त्तनम्-तन्नाऽसर्वज्ञत्वं विशेषः ।

नापि कृत्रिमज्ञानसम्बन्धित्वम्, तज्ज्ञानस्य प्रत्यर्थनियमाऽभावात् । यद् ज्ञानमनित्यं तत् शरीरादिसापेक्षं प्रत्यर्थनियतम्, तज्ज्ञानस्य तु शरीराद्यभावे कुत. प्रत्यर्थनियतता ? भवतु तज्ज्ञानं प्रतिनियतविषयं, न तस्य प्रतिनियतविषयत्वेऽस्माकं पक्षक्षतिः । कथ न क्षतिः ? तस्य तथाविधत्वे युगपत् स्थावरानुत्पादप्रसंगः तदनुत्पादे च कर्तृत्वाऽसिद्धिः, तदसिद्धौ कस्य कृत्रिमज्ञानसम्बन्धिताविशेषः ? अथ युगपत्कार्यान्यथानुपपत्त्या प्रत्यर्थनियतामनेकां बुद्धिमीश्वरे प्रतिपद्येत तत्रापि संतानेन वा तथाभूता बुद्धयः, युगपद्वा भवेयुः ? प्राच्ये विकल्पे पुनरपि युगपत्कार्यानुत्पादप्रसंगः । युगपदुत्पत्तौ वा बुद्धीनां शरीरादियोगस्तस्यैषितव्यः, स च पूर्वं प्रतिक्षिप्तः ।

होता । जिन लोगो का ऐसा मत है कि-'सम्यग्ज्ञान से विपर्यास निवृत्त होने पर विपर्यासजन्य क्लेश भी निर्मूल हो जाते है अत: वहाँ कर्मसचय होने पर भी क्लेशात्मक सहकारी न होने से नूतनशरीर का जन्म नही होता'....उस मत मे भी सम्यग्ज्ञान यानी तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति, कुशल कर्म या समाधि के विना नही होती है, और कुशलकर्म का सचय या समाधि की साघना मे प्रवृत्ति करने वाले को यम-नियमो के पालन मे अनेक प्रकार के दु ख तो भुगतना ही होगा । अतः केवल सुखभोगी ही जीवसमूह की सृष्टि रचने का सभव ही कहाँ है ? ।

प्रश्नः-नारक और तिर्यंच को तो केवल दुखानुभव ही करना है तो उसमे करुणा कैसे ?

उत्तरः-वहाँ भी करुणा अस्खलित है, जैसे: जिन लोगो ने पाप का प्रायश्चित्त नही किया है उन को नारक-तिर्यंच भवो मे जन्म दे कर वहाँ दुखानुभव कर लेने के बाद फिर से आबादी के हेतुभूत विशिष्टस्थान को प्राप्त करायेगा । इस प्रकार, दुखी प्राणिसमूह के सृजन मे भी करुणा से ही ईश्वर प्रवृत्त होता है यह सिद्ध हुआ । निष्कर्ष:-असर्वज्ञत्वरूप विशेष का ईश्वर में आपादन अशक्य है ।

[ईश्वर का ज्ञान अनित्य नहीं हो सकता]

ईश्वर में कृत्रिम (अनित्य) ज्ञानसबन्धरूप विशेष का भी आपादन शक्य नही है । कारण, ईश्वरज्ञान मे प्रत्यर्थनियम नही है, अर्थात् परिमित और अमुक ही विषयो से ईश्वर ज्ञान प्रतिबद्ध नही है । जो अनित्य ज्ञान होता है वह तो शरीरादिसापेक्ष और प्रत्यर्थनियत ही होता है । जब ईश्वर को शरीर ही नही है तो प्रत्यर्थनियतता भी उस के ज्ञान मे कैसे होगी ।

शंका-प्रत्यर्थनियत न होने से आप ईश्वर ज्ञान को नित्य दिखा रहे है किन्तु ईश्वर ज्ञान को प्रतिनियतविषयक भी माना जाय तो क्या बाघ है ? प्रतिनियत विषयक ईश्वरज्ञान को मानने मे हमारे पक्ष की कोई क्षति नही है ।

उत्तरः-क्षति क्यो नही होगी ? यदि उसका ज्ञान प्रतिनियतार्थविषयक ही होगा तो एक साथ सकल स्थावर भावो की उत्पत्ति ही न हो सकेगी । उत्पत्ति न हो सकने पर उसमे कर्तृत्व ही असिद्ध हो जायेगा ।

अथ कार्यस्य बहुत्व-महत्त्वाभ्यां बहवो बुद्धिमन्तः कर्त्तारो भवन्तु, न त्वेकः सर्वज्ञः सर्वशक्ति-युक्तः। नन्वेतस्मिन्नपि पक्षे ईश्वरानेकत्वप्रसंगः। 'भवतु, को दोषः'? व्याहतकामानां स्वतन्त्राणामेकस्मिन्नर्थेऽप्रवृत्तिः। अथ तन्मध्येऽन्येषामेकायत्तता, तदा स एवेश्वरः, अन्ये पुनस्तदधीना अनीश्वरा। अथ स्थपत्यादीनां महाप्रासादादिकरणे यथैकमत्यं तद्वदत्रापि। नैतदेवम्, तत्र कस्यचिदभिप्रायेण नियमितानामैकमत्यम्, न त्वत्र बहूनां नियामकः कश्चिदस्ति, सद्भावे वा स एवेश्वरः।

एवं यस्य यस्य विशेषस्य साधनाय वा निराकृतये वा प्रमाणमुच्यते तस्य तस्य पूर्वोक्तेन न्यायेन निराकरणं कर्त्तव्यम्। तन्न विशेषविरुद्धता ईश्वरसाधकस्य।

शंकाः-हो जाने दो, हमारा क्या बिगडेंगा?

उत्तरः-तब तो ईश्वर ही सिद्ध नही होगा तो आप किस व्यक्ति मे कृत्रिमज्ञानसम्बन्ध विशेष की सिद्धि कर रहे हो?!

शंकाः-युगपत् (एक साथ) कार्यो की उत्पत्ति अन्यथा न घट सकने के कारण, ईश्वर मे प्रतिनियतार्थविषयक अनेक बुद्धि को ही क्यो नही मान लेते?

उत्तरः-यहाँ विकल्पद्वय का निराकरण नही हो सकेगा। जैसे, उन अनेक बुद्धियो का होना सन्तान से यानी क्रमिक मानेंगे या एक साथ ही? पहले विकल्प मे तो फिर से एक साथ कार्यो की अनुत्पत्ति का दोष प्रसग आयेगा। एक साथ सकल बुद्धि की उपत्ति मानेंगे तो उत्पत्ति के लिये शरीर-योग भी मानना पडेंगा और शरीरादियोग का तो पूर्वग्रन्थ मे निराकरण हो चुका है।

[अनेक बुद्धिमान् कर्त्ता मानने में आपत्ति]

शंकाः-यदि बडे बडे अनेक कार्यो की एक साथ उपत्ति करना है तो एक सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ की कल्पन क्यों करते हो, अनेक बुद्धिमान कर्त्ता को मान लो।

उत्तरः-ऐसा मानने मे तो अनेक ईश्वर मानने की आपत्ति है।

शंकाः-अनेक ईश्वर को मान लिजीये! क्या आपत्ति है?

उत्तरः-वे यदि स्वतन्त्र होगे तो परस्पर विरुद्ध इच्छा प्रगट होने पर एक बडे कार्य मे प्रवृत्ति ही नही करेंगे। यदि उनमे से कोई एक, दूसरों को स्वाधीन रखेगा तब तो वही ईश्वर हुआ, शेष सब तो उनके पराधीन होने से ईश्वर नही हुए।

शंकाः-जैसे शिल्पी आदि अनेक मिल कर बडे राजभवन के निर्माण मे एकमत हो कर कार्य करते है, वैसे यहाँ भी होगा।

उत्तरः-ऐसा नही है, वहाँ तो किसी एक नृपादि के अभिप्राय से वे सब नियन्त्रित हो कर एक अभिप्राय वाले होते है, यहाँ अनेक ईश्वर का कोई नियामक तो है नही, यदि 'है' ऐसा माना जाय तब तो वही मुख्य ईश्वर हुआ।

उपरोक्त रीति से, अनीश्वरवादी की ओर से जिस जिस विशेष का आपादन या निराकरण करने के लिये प्रमाण दिया जाय उन सभी का पूर्वोक्त युक्ति से ही निराकरण समझना चाहिये।

निष्कर्षः-ईश्वरसाधक किसी भी हेतु मे विशेषविरुद्धता दोष को अवकाश नही है।

प्रसंग-विपर्ययोरप्यनुत्पत्तिः। प्रसंगस्य व्याप्त्यभावात्, तन्मूलत्वात् तद्विपर्ययस्य, तथेष्ट-विघातकृतश्च। यच्च नित्यत्वादकर्तृत्वमुच्यते शाक्यैस्तदपि क्षणभंगभंगे प्रतिक्षिप्तम्। यदपि व्यापारं विना न कर्तृत्वं तदपि ज्ञान-चिकीर्षाप्रयत्नलक्षणस्य व्यापारस्योक्तत्वान्निराकृतम्।

वार्त्तिककारेणापरं प्रमाणद्वयमुपन्यस्तं तत्सिद्धये-(१) महाभूतादिव्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुख-दुःखनिमित्तम्, रूपादिमत्त्वात्, तुर्यादिवत्। तथा, (२) पृथिव्यादीनि महाभूतानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु धारणाद्यासु क्रियासु प्रवर्त्तन्ते, अनित्यत्वात्, वास्यादिवत्। [न्या० वा० ४-१-२१]

अविद्धकर्णस्तु तत्सिद्धये इदं प्रमाणद्वयमाह –

(१) द्वीन्द्रियग्राह्याऽग्राह्यं विमत्यधिकरणभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम् स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वात्, घटादिवत्, वैधर्म्येण परमाणवः इति। तत्र द्वाभ्यां=दर्शनस्पर्शनेन्द्रियाभ्यां ग्राह्यं महदनेकद्रव्यवत्त्वरूपाद्युपलब्धिकारणोपेतं पृथिव्युदकज्वलनसंज्ञकं त्रिविधं द्रव्यं द्वीन्द्रियग्राह्यम्। अग्राह्यं वाय्वादि, यस्माद् महत्त्वमनेकद्रव्यवत्त्वं रूपसमवायादिश्चोपलब्धिकारणमिष्यते, तच्च वाय्वादौ नास्ति। यथोक्तम् –

[ईश्वर में प्रसंग-विपर्यय भी बाधक नहीं]

ईश्वरकर्तृत्वसाधक अनुमान के सामने शरीरादि को लेकर * प्रसग-विपर्यय का प्रतिपादन भी शक्य नही। प्रसग-विपर्यय की सम्भावना इस तरह की जाय कि-जो कर्त्ता होता है वह शरीरी होता है, ईश्वर शरीरी नही है, अत एव वह कर्त्ता नही हो सकता।-तो यह ठीक नही, क्योकि प्रसग व्याप्ति-मूलक होता है, यहाँ कर्तृत्व मे शरीर की व्याप्ति ही असिद्ध है, यह पहले ही कह दिया है। विपर्यय भी प्रसगमूलक होने से यहाँ निरवकाश है। कार्यत्व हेतु की कर्तृत्व के साथ व्याप्ति दृढमूल होने से हेतु इष्टविघातकृत् भी नही है, क्योकि कार्यत्व हेतु से कर्तृत्वमात्र ही साध्य इष्ट है। बौद्धों की ओर से जो कहा जाता है कि-ईश्वर नित्य होगा तो वह कर्त्ता नही होगा। क्योकि नित्य पदार्थ मे अर्थक्रियाकारित्व घटता नही है'-यह भी, पूर्वग्रन्थ मे स्थायी आत्मसिद्धि के प्रकरण मे क्षणभंगवाद का भग किये जाने से ही परास्त हो जाता है। जो मीमासकादि यह कहते है कि-व्यापार के विना कर्तृत्व नही घट सकता और ईश्वर व्यापारहीन होने से कर्त्ता नही हो सकता-यह भी परास्त हो जाता है क्योकि ईश्वर मे ज्ञान-क्रिया-इच्छा और प्रयत्न स्वरूप व्यापार दिखा दिया है।

[वार्त्तिककार के दो अनुमान]

न्यायवार्त्तिककार उद्द्योतकर ने ईश्वर की सिद्धि मे और भी दो प्रमाण दिये है-

(१) महाभूतादि व्यक्त पदार्थ चेतनाधिष्ठित होने पर ही जीवों के सुख-दु ख मे निमित्त बन सकता है क्योकि महाभूतादि पदार्थ रूपादिमान् है जैसे वस्त्रोत्पादन मे निमित्तभूत तुरी (=जुलाहो का एक औजार) आदि। इस प्रकार अधिष्ठाता ईश्वर सिद्ध होता है।

(२) पृथ्वी आदि महाभूत, बुद्धिवाले कारण से अधिष्ठित हो कर ही अपनी धारणादि क्रिया मे सलग्न होते है, चूकि अनित्य है जैसे कुठारादि। यहां बुद्धिमान् अधिष्ठाता के रूप मे ईश्वर सिद्ध होता है।

* प्रसग-विपर्यय के परिचय के लिये देखिये पृ० ३००।

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः [वै० द० ४-१-६]
रूपसंस्काराभावाद् वायावनुपलब्धि. [वै० द० ४-१-७]
रूपसंस्कारो रूपसमवायः द्व्यणुकादीनां त्वनुपलब्धिरमहत्त्वाविति । अन्ये तु-वायोरपि स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्षग्राह्यत्वम् इच्छन्ति, द्वीन्द्रियग्राह्यत्वापेक्षया तु रूपसमवायाभावावनुपलब्धिरित्युक्तम् ।

तत्र सामान्येन द्वीन्द्रियग्राह्याऽग्राह्यस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधने सिद्धसाध्यतादोषः, घटादिषूभयसिद्धेर्विवादाभावात् । अभ्युपेतबाधा च, अण्वाकाशादीनां तथाऽनभ्युपगमात्, तेषां च नित्यत्वात् प्रत्यक्षादिबाधा । अतस्तदर्थं विमत्यधिकरणभावापन्नग्रहणम् । विविधा मतिर्विमतिः विप्रतिपत्तिरिति यावत्, तस्या अधिकरणभावापन्नं, विवादास्पदीभूतमित्यर्थ. । एवं च सति शरीरेन्द्रियभुवनादय एवात्र पक्षीकृता इति नाण्वादिप्रसंगः । कारणमात्रपूर्वकत्वेऽपि साध्ये सिद्धसाध्यता मा भूदिति बुद्धिमत्कारणग्रहणम् । सांख्यं प्रति मतुबर्थानुपपत्तेर्न सिद्धसाध्यता, अव्यतिरिक्ता हि बुद्धिः प्रधानाद् सांख्यैरुच्यते । न च तेनैव तदेव तद्वद् भवति । स्वारम्भकाणामवयवानां सन्निवेशः प्रचयात्मकः संयोगः, तेन विशिष्ट व्यवच्छिन्नं तद्भावस्तस्मात् । अवयवसंनिवेशविशिष्टत्वं गोत्वादिभिर्व्यभिचारीत्यत स्वारम्भकग्रहणम् । गोत्वादीनि तु द्रव्यारम्भकावयवसन्निवेशेन विशिष्यन्ते न तु स्वारम्भकावयवसन्निवेशेनेति । तेन योऽसौ बुद्धिमान् स ईश्वर -इत्येकम् ।

[अविद्धकर्ण का प्रथम अनुमान]

अविद्धकर्णसंज्ञक विद्वान् ईश्वर की सिद्धि मे ये दो प्रमाण दिखा रहा है—

(१) विमत्यधिकरणभावापन्न (=विवादास्पदीभूत) इन्द्रियद्वय से ग्राह्य और अग्राह्य वस्तु (-यह पक्ष निर्देश हुआ) बुद्धिमत्कारणपूर्वक होती है (-यह हुआ साध्य निर्देश, अब हेतु दिखाते है-) क्योकि स्व के आरम्भक अवयवो के सन्निवेश से विशिष्ट है । जैसे कि घटादि, (यह साधर्म्य दृष्टान्त हुआ) और वैधर्म्य से परमाणु आदि ।

यहाँ दर्शनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय दो इन्द्रियों से ग्राह्य, परमाणु और द्व्यणुक से भिन्न पृथ्वी-जल और तेज द्रव्य ये तीन ही है क्योकि उनमे ही महत्त्व, अनेक द्रव्य(अवयव)वत्ता और रूपादि ये तीनो उपलब्धि कारण विद्यमान हैं । परमाणु मे केवल रूप ही है शेषद्वय नही है और द्व्यणुक मे महत्त्व नही है शेष दोनो है, अत. उपलब्धि के उक्त तीन कारणो के न होने से उनकी उपलब्धि नही होती है । शेष रह गया वायु द्रव्य, उसको 'अग्राह्य' पद से पक्ष बनाया है, क्योकि महत्त्वादि तीन जो उपलब्धि कारण है उन मे से वायु मे रूपसमवाय उपलब्धिकारण न होने से द्वीन्द्रियग्राह्यपद से उसका सग्रह शक्य नही है । वैशेषिक दर्शन के सूत्र पाठ मे कहा भी है-"महत्त्ववाले मे अनेक द्रव्यवत्ता और रूप के कारण उपलब्धि होती है । और रूपसंस्कार न होने से वायु मे उपलब्धि नही होती" । यहाँ रूप सस्कार का अर्थ रूपसमवाय समझना । द्व्यणुकादि मे महत्त्व न होने से उपलब्धि नही होती ।

अन्य विद्वान तो वायु को भी स्पर्शनेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष से ग्राह्य मानते है । तब सूत्र पाठ मे जो उसकी अनुपलब्धि को कहा है वह इसलिये कि रूपसमवाय न होने से वह इन्द्रियद्वय से ग्राह्य नही बन सकता (केवल एक ही स्पर्शनेन्द्रिय से ही ग्राह्य बनता है) ।

(२) द्वितीयं तु तनुभुवनकरणोपादानानि (चेतनाऽचेतनानि)* चेतनाधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्त इति प्रतिजानीमहे, रूपादिमत्त्वात् । यद् यद् रूपादिमत् तत् तद् चेतनाधिष्ठितं स्वकार्यमारभते यथा तन्त्वादि, रूपादिमच्च तनु-भुवन-करणादिकारणम्, तस्माच्चेतनाधिष्ठितं स्वकार्यमारभते । योऽसौ चेतनस्तनु-भुवनकरणोपादानादेरधिष्ठाता स भगवानीश्वरः इति ।

उद्द्योतकरस्तु प्रमाणयति-भुवनहेतवः प्रधान-परमाण्वदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयबुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते, स्थित्वा प्रवृत्तेः, तन्तुतुर्यादिवत् । [न्या. वा. ४-१-२१] इति ।

[प्रथम अनुमान के पक्षादि का विश्लेषण]

यहाँ सामान्य रूप से इन्द्रियद्वयग्राह्य और अग्राह्य मे ही यदि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व सिद्ध किया जाय तो वहाँ सिद्धसाध्यता दोष प्रसक्त होगा क्योंकि घटादि मे वादी-प्रतिवादी दोनो के मत से साध्य सिद्ध होने से कोई विवाद ही नही रहेगा । तदुपरात, अपने ही सिद्धान्त का बाध भी होगा क्योंकि अग्राह्य जो अणु-आकाशादि हैं उनमे न्यायमत से बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व स्वीकृत ही नही है क्योंकि वे नित्य हैं, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधादि होगे । इन दोषो के निवारणार्थ यहाँ 'विमत्यधिकरणभावापन्न' विशेषण लगाया है । उसका अर्थ -विविध मति=विमति अर्थात् विप्रतिपत्ति । उसके अधिकरणभाव को प्राप्त हो, तात्पर्य कि जो विवादास्पदीभूत हो । अणु-आकाशादि मे कोई विवाद नही है अतः उक्त कोई दोष निरवकाश है, केवल देह-इन्द्रिय और भुवनादि पदार्थ ही यहाँ पक्षरूप से अभिप्रेत है-यह उक्त विशेषण का फल है ।

केवल कारणमात्रपूर्वकत्व को साध्य करे तो देहादि के दृष्ट कारण से ही सिद्धसाध्यता न हो इसलिये बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व साध्य किया है । यहाँ बुद्धिरूपकारणपूर्वक ऐसा न कहकर बुद्धिमत्कारण पूर्वक ऐसा मतुपप्रत्ययार्थ गर्भित साध्य किया है जो साख्यमत मे सिद्ध न होने से सिद्धसाध्यता दोष नही होने देता है । साख्यवादी प्रधान (=प्रकृति) को सारे कार्यो का कारण मानते है किन्तु वह प्रधानतत्त्व बुद्धिमत् पदार्थ नही है, क्योंकि बुद्धि उसके मत से प्रधान से अभिन्न कही जाती है, जो वस्तु जिससे अभिन्न हो वह उससे ही तद्वान् नही कही जाती । अपने आरम्भक अवयवो का प्रचयात्मक सयोग यही सनिवेश है, उससे विशिष्ट यानी व्यवच्छिन्न (अर्थात् तथाविधसनिवेश वाला), उसको भाव अर्थ मे त्वप्रत्यय लगा है । यह हेतु है । यदि 'स्वारम्भक' ऐसा न कहे तो सामानाधिकरण्य होने के कारण अवयवसनिवेशविशिष्टता गोत्वादि मे भी है और वहाँ साध्य नही है अत. हेतु व्यभिचारी बन जायेगा, इस व्यभिचार के निवारणार्थ 'स्वारम्भक' विशेषण लगाना होगा । गोत्वादि यद्यपि द्रव्यारम्भक अवयव सनिवेश से विशिष्ट है किन्तु नित्य होने से उसके अपने कोई आरम्भक अवयव ही नहीं है, अत स्वावयवारम्भक सनिवेशविशिष्टता हेतु वहाँ से निवृत्त हो जाने पर व्यभिचार निरवकाश है । इस प्रकार निर्दोष हेतु से जो बुद्धिमान् सिद्ध होगा वही ईश्वर है । यह एक प्रमाण हुआ ।

[अविद्धकर्ण का दूसरा अनुमान]

(२) दूसरा प्रमाण-"शरीर, भुवन और करण (इन्द्रियादि) के उपादानभूत परमाणु आदि

* 'चेतनाऽचेतनानि' इति पाठ तत्त्वसग्रह.श्लो० ४९ पञ्जिकाया प्रमेयकमलमार्त्तण्डे चोद्धृतपाठेऽपि नोपात्त, बहुपु चाऽऽदर्शेपु नास्ति, एकस्मिश्च सन्नपि छिन्न, ततश्चाधिक इव प्रतिभाति ।

प्रशस्तमतिस्त्वाह-'सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः, उत्तरकाल प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वात्, अप्रसिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा मात्राद्युपदेशपूर्वकः ।' इति । प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वादिति-प्रबुद्धानां सतां प्रत्यर्थं नियतत्वादित्यर्थः । यदुपदेशपूर्वकश्च स सर्गादौ व्यवहारः स ईश्वरः प्रलयकालेऽप्यलुप्तज्ञानातिशयः इति सिद्धम् ।

तथाऽपराण्यपि उद्योतकरेण तत्सिद्धये साधनान्युपन्यस्तानि-बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादिकं व्यक्तं सुख-दुःखनिमित्तं भवति, अचेतनत्वात्, कार्यत्वात्, विनाशित्वात्, रूपादिमत्त्वात्, वास्यादिवत् । [न्या० वा० ४-१-२१] इति ।

अथ भवत्वस्माद्धेतुकदम्बकादीश्वरस्य सर्वजगद्धेतुत्वसिद्धिः, सर्वज्ञत्वं तु कथं तस्य सिद्धम् येनासौ निःश्रेयसाभ्युदयकामानां भक्तिविषयतां यायात् ?

(चाहे वह चेतन हो या अचेतन), चेतनात्मा से अधिष्ठित होकर ही अपने कार्य को जन्म देते है-ऐसी हम प्रतिज्ञा करते है, क्योकि वे रूपादिवाले है । जो जो रूपादिवाले होते हैं वे सब चेतनाधिष्ठित होकर ही अपने कार्य को उत्पन्न करते हैं, जैसे तन्तु आदि । शरीर-भुवन-करणादि के उपादान कारण भी यतः रूपादिवाले ही है, अत चेतनाधिष्ठित होने पर ही अपने कार्य को उत्पन्न कर सकते हैं । शरीर-भुवन-करणादि के उपादान का जो भी चेतन अधिष्ठाता सिद्ध होगा वही भगवान् ईश्वर है ।"-यह अविद्धकर्ण कथित दूसरा प्रमाण हुआ ।

[उद्योतकर और प्रशस्त मति के अनुमान]

उद्द्योतकर भी एक प्रमाण देता है-भुवन के हेतुभूत प्रधान, परमाणु और अदृष्ट ये सभी अपने कार्य के उत्पादन मे सातिशयबुद्धिवाले अधिष्ठाता की आशा करते है, क्योकि मिलकर प्रवृत्ति करते हैं जैसे तन्तु-तुरी आदि ।

प्रशस्तमति कहता है--सृष्टि के प्रारम्भ मे पुरुषो का व्यवहार दूसरे किसी के उपदेशपूर्वक था क्योकि, तदनन्तर प्रबुद्ध होकर (जो व्यवहार करते है वह) प्रत्येक अर्थ के प्रति नियत होता है, जैसेः जिनको वाणीव्यवहार नही आता है उन कुमारो का धेनु आदि प्रत्येक अर्थ मे नियत वाणीव्यवहार उनकी माता के उपदेशपूर्वक होता है । यहा ग्रन्थ मे 'प्रबुद्धाना प्रत्यर्थनियतत्वात्' यह कहा है उसका अर्थ है जब प्रबुद्ध होते है तब उनका व्यवहार प्रत्येक अर्थ मे नियत होता है । प्रस्तुत मे सृष्टि के प्रारम्भ मे जिसके उपदेश से व्यवहार प्रयुक्त होगा वही ईश्वर है और सृष्टि के पूर्व प्रलय काल मे भी उसका ज्ञानातिशय अविलुप्त था यह सिद्ध होता है ।

उद्द्योतकर और भी ईश्वरसिद्धि मे चार प्रमाणो का उपन्यास करता है-महाभूतादि व्यक्त पदार्थ बुद्धिमत्कारण से पूर्वाधिष्ठित होकर ही सुख दु ख के निमित्त बनते है, क्योकि (१) वे स्वय अचेतन हैं, (२) कार्यरूप हैं, (३) विनाशी है (४) रूपादिवाले है । जैसे कुठारादि ।

[सर्वज्ञता के विना भक्ति का पात्र कैसे ?]

प्रश्न-आपने जो हेतु वृंद दिया, उन से ईश्वर मे समग्रजगत् की हेतुता सिद्ध होती है ऐसा मान ले तो भी उसमे सर्वज्ञत्व कैसे सिद्ध हुआ जिससे कि वह मुमुक्षुओ और आबादी इच्छनेवालो की भक्ति का पात्र बने ?

जगत्कर्तृत्वसिद्धेरेवेति ब्रूमः। तथा चाहुः प्रशस्तमतिप्रभृतयः-"कर्तुः कार्योपादानोपकरण-प्रयोजनसम्प्रदानपरिज्ञानात्"। इह हि यो यस्य कर्त्ता भवति स तस्योपादानानि जानीते, यथा कुलालः कुण्डादीनां कर्त्ता, तदुपादानं मृत्पिण्डम्, उपकरणानि चक्रादीनि, प्रयोजनमुदकाहरणादि, कुटुम्बिनं च सम्प्रदानं जानीत इत्येतत् सिद्धम्, तथेश्वरः सकलभुवनानां कर्त्ता, स तदुपादानानि परमाण्वादिलक्षणानि, तदुपकरणानि धर्म-दिक्-कालादीनि, व्यवहारोपकरणानि सामान्य-विशेष-समवायलक्षणानि, प्रयोजनमुपभोगं, सम्प्रदानसंज्ञकांश्च पुरुषान् जानीत इति, अतः सिद्धमस्य सर्वज्ञत्वमिति।

अत एव नात्रैतत् प्रेरणीयम्-सर्वज्ञपूर्वकत्वे क्षित्यादीनां साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः, हेतुश्च विरुद्धः, असर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्वेन कुम्भादे कार्यत्वस्य व्याप्तिदर्शनात्, किंचिज्ज्ञपूर्वकत्वे क्षित्यादिनां साध्येऽभ्युपेतबाधा, कारणमात्रपूर्वकत्वे साध्ये कर्मणा सिद्धसाधनमिति। यतः सामान्येन स्वकार्योपादानोपकरणसम्प्रदानाभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वं साध्यते, तत्र चास्त्यैव वस्त्रादिदृष्टान्तः। तस्य ह्युपादानोपकरणाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वं सकललोकप्रसिद्धं कथमन्यथाकर्त्तुं शक्यतेऽपह्नोतुं वा? न तु कर्मणा सिद्धसाध्यता, तस्य सकलजगल्लक्षणकार्योपादानाद्यनभिज्ञत्वात्, तदभिज्ञत्वे वा तस्यैव भगवत 'कर्म' इति नामान्तरं कृतं स्यात्। शेषं त्वत्र चिन्तितमेव।

तदेवं सकलदोषरहितादुक्तहेतुकलापाद् ज्ञानाद्यतिशयवद्गुणयुक्तस्य सिद्धेः तस्य च शासनप्रणेतृत्वं नान्येषां योगिनामिति 'भवजिनाना शासनम्' अयुक्तमुक्तमिति स्थितम्-इति पूर्वपक्षः॥

उत्तरः-जगत्कर्तृत्व की सिद्धि से ही हम सर्वज्ञता की सिद्धि कहते हैं। जैसे कि प्रशस्तमति आदि ने कहा है-'कर्त्ता को कार्य के उपादान, उपकरण, प्रयोजन, सम्प्रदान ये सब ज्ञात रहते हैं इस हेतु से सर्वज्ञता सिद्ध होती है। विश्व मे जो जिसका कर्त्ता होता है वह उसके उपादानादि को जानता होता है, जैसे: कुम्भकार कुण्डादि का कर्त्ता है तो कुण्ड के मृत्पिडरूप उपादान चक्र-चीवरादि, उपकरण, तत्साध्यकार्यभूत जलाहरणादि प्रयोजन तथा उसके उपयोग करने वाले कुटुम्बिजन रूप सम्प्रदान, इन सभी को वह जानता है, यह प्रसिद्ध है। ठीक उसी प्रकार, ईश्वर सकल भुवन का कर्त्ता है तो वह उसके उपादान परमाणु आदि रूप तथा उसके उपकरण धर्म (अदृष्ट)-दिशा-कालादि, तथा सामान्य-विशेष और समवाय रूप व्यवहार प्रयोजक उपकरण, जीवो के भोगोपयोगरूप प्रयोजन तथा सम्प्रदानभूत पुरुषादि सभी को जानता ही होगा, इसलिये वह सर्वज्ञ है यह सिद्ध होता है।

[नैयायिक के पूर्वपक्ष का उपसंहार]

उपादानादिज्ञातृत्वरूप से सर्वज्ञता सिद्ध है इसीलिये यहाँ ऐसे किसी भी विक्षेप को अवसर नही है कि...सर्वज्ञपूर्वकत्व यदि साध्य करेगे तो दृष्टान्त साध्यशून्य होगा और हेतु भी विरोधी बनेगा; क्योकि असर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्व के साथ कार्यत्व की व्याप्ति कुम्भादि मे दृष्ट है। यदि अल्पज्ञपूर्वकत्व साध्य करेगे तो साध्य ईश्वर मे स्वीकृत सर्वज्ञता का बाध होगा। यदि कारणमात्रपूर्वकत्व साध्य करेंगे तो कर्म (अदृष्ट) से ही सिद्धसाधन है। इत्यादि... ऐसे किसी भी विक्षेप को अब इसलिये अवसर नही है कि जब हम कार्यत्व हेतु से सामान्यतः स्वकार्य-उपकरण-(प्रयोजन)-सप्रदानाभिज्ञ-कर्तृपूर्वकत्व को साध्य करते है तो दृष्टान्तभूत वस्त्रादि साध्यशून्य नहो है। वस्त्रादि की उत्पत्ति उपादान-उपकरणादि को जानने वाले कर्त्ता से होती है वह तो सर्वलोक मे प्रसिद्ध है, इस स्थिति को कैसे पलटायी जा सकती है या उसका अपलाप भी कैसे हो सकता है? कर्म (अदृष्ट) से भी

अत्र प्रतिविधीयते। यत् तावदुक्तम्-'सामान्यतोदृष्टानुमानस्य तत्र व्यापाराभ्युपगमात् प्रत्यक्षपूर्वकानुमाननिषेधे सिद्धसाधनम्' इति, तदसगतम्-सामान्यतोदृष्टानुमानस्यापि तत्साधकत्वेनाऽप्रवृत्तेः। तथाहि, तनु-भवन-करणादिकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम् कार्यत्वात्, घटादिवत्-इत्यत्र धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धस्तावत् कार्यत्वलक्षणो हेतु'।

तथाहि-अवयविरूपं तावत् तन्वादि अवभासमानतनु न युक्तम्, देशादिभिन्नस्य तन्वादेः स्थूलस्यैकस्याऽनुपपत्तेः। न ह्यनेकदेशादिगतमेक भवितु' युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदलक्षणत्वात्, देशादिभेदस्य च विरुद्धधर्मरूपत्वात्। तथाप्यभेदे सर्वत्र भिन्नत्वेनाभ्युपगते घटपटादावपि भेदोपरतिप्रसंगात्। नहि भिन्नत्वेनाभ्युपगते तत्राप्यन्यद् भेदनिबन्धनमुत्पश्याम। 'प्रतिभासभेदात्तत्र भेद' इति चेत्? न, विरुद्धधर्माध्यासं भेदकमन्तरेण प्रतिभासस्यापि भेदानुपपत्तेः।

सिद्धसाध्यता दोष नही हो सकता, क्योकि उसमे समग्रजगत्स्वरूप कार्य के उपादानादि की अभिज्ञता सिद्ध नही है। यदि ऐसी अभिज्ञता उसमे मान ली जाय, तब तो आपने भगवान का ही 'कर्म' ऐसा नामान्तर कर दिया, तो ईश्वर सर्वज्ञ ही सिद्ध हुआ। प्रतिपक्षीयो की शेष युक्तियो का विचार तो हो चुका है।

इस प्रकार सर्वदोषशून्य पूर्वोक्त हेतुकलाप से ज्ञानादि सातिशयगुणवाला ईश्वर सिद्ध होने पर उसीको शासनप्रणेता मान लेना उचित है किन्तु अन्य किसी रागादिविजेता योगियो को नही। अतः आपने जो कहा है 'भवविजेताओ का शासन'-वह अयुक्त कहा है यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार ईश्वरकर्तृत्वपूर्वपक्ष पूरा हुआ।

[ईश्वरकर्तृत्वपूर्वपक्ष समाप्त]

[ईश्वरकर्तृत्ववादसमालोचना]

अब ईश्वर मे कर्तृत्व का प्रतिषेध किया जाता है–

पूर्वपक्षी ने जो कहा है–'ईश्वर सिद्धि मे हम सामान्यतोदृष्ट अनुमान का ही सामर्थ्य मानते है, अतः प्रतिवादी के 'प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान ईश्वरसाधक है नही'. ऐसे प्रतिपादन मे सिद्धसाधन' दोष है'- [पृ० ३८३ प० १] वह असगत है, क्योकि सामान्यतोदृष्ट अनुमान भी ईश्वर की सिद्धि के लिये नही प्रवर्त्त सकता। कारण, आपने जो यह अनुमान कहा है–'देह–भुवन–कारणादि बुद्धिमत्कारणमूलक है क्योकि कार्य है जैसे घटादि'- इस अनुमान मे कार्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध है, क्योकि अवयवी रूप देहादि ही असिद्ध है।

[संदर्भः–अब व्याख्याकार 'तथाहि'.. इत्यादि से लेकर अवयविनोऽसिद्धेराश्रयासिद्धो हेतु .. [पृ० ४२७ प० ७] यहा तक अवयवी का प्रतिषेध प्रस्तुत करते है]

[देहादि अवयवी असिद्ध होने से आश्रयासिद्धि]

जैसे देखिये–शरीरादि यदि अवयवीरूप है तो उसके स्वरूप का अवभास हो नही सकता। क्योकि शरीरादि वस्तु हस्त-पादादि देशभेद के कारण भिन्न भिन्न है, अत. एक और स्थूल ऐसा अवयवी मानने में कोइ युक्ति नही है। जो वस्तु अनेक देश को व्याप्त कर के रहती है वह एकात्मक नही हो सकती। (जैसे कोई महान् धान्यराशि)। भेद का लक्षण यानी ज्ञापक चिह्न विरुद्धधर्माध्यास

अथ 'अवयवी एको न भवति, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्' इत्येतत् किं 1 स्वतन्त्रसाधनम् 2 उत प्रसंगसाधनमिति ? न तावत् स्वतन्त्रसाधनं युक्तम् , अवयविनः प्रमाणाऽसिद्धत्वेन हेतोराश्रयासिद्धत्वदोषात् , प्रमाणसिद्धत्वे वा तत्प्रतिपादकप्रमाणबाधितपक्षनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन तस्य कालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टत्वात् । न च परस्यावयवी सिद्ध इति नाश्रयासिद्धत्वदोष इति वक्तुं युक्तम् , यतः परस्य किं a प्रमाणतोऽसौ सिद्ध. b उताऽप्रमाणतः ? a प्रमाणतश्चेत् तर्हि भवतोऽपि किं न सिद्धः, प्रमाणसिद्धस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात् ? तथा च तदेव कालात्ययापदिष्टत्वं हेतोः । b अथाऽप्रमाणतस्तदा न परस्यापि सिद्धं इति पुनरप्याश्रयासिद्धत्वम् । तन्न प्रथम पक्षः । नाऽपि द्वितीय , यतो व्याप्याभ्युपगमो यत्र व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः प्रदर्श्यते तत् प्रसंगसाधनम् । न च परस्य भेद-विरुद्धधर्माध्यासयोर्व्याप्यव्यापकभावः सिद्धः, देशादिभेदलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाऽभावेऽपि रूप-रसयोर्भेदाभ्युपगमात् । तद्भावेऽपि सामान्याद्यावभेदस्य प्रमाणसिद्धत्वाद् इति न वक्तव्यम् ,

---

है और यहाँ जो एकत्वेन अभिप्रेत अवयवी है उसमे देशादिभेद ही विरुद्धधर्मरूप है, अत अवयवी एक कैसे हो सकता है ? यदि विरुद्धधर्माध्यास होने पर भी अभेद मानेंगे तब तो जो घट-पटादि वस्तु भिन्न भिन्न ही मानी गयी है उनमे भी भेदकथा समाप्त हो जायेगी, अर्थात् घट-पटादि एक हो जायेंगे । भिन्न भिन्न माने गये घट पटादि मे देशादिभेद मूलक ही भेद प्रसिद्ध है, और तो कोई भेदसाधक वहा हम नही देखते हैं । यदि कहे कि-'घट और पट का प्रतिभास ही भिन्न भिन्न होता है अतः उसीसे वहाँ भेद सिद्ध होगा'-तो यह भी सगत नही, क्योंकि विरुद्धधर्माध्यासरूप भेदक के विना तो प्रतिभासो मे भी भेद नही हो सकता ।

[अवयवी का विरोध स्वतन्त्रसाधन या प्रसंगसाधन ?]

पूर्वपक्षीः-आपने जो कहा कि विरुद्धधर्माध्यास होने से अवयवी एक वस्तु नही है-इसके ऊपर प्रश्न है कि 1 यह आपका स्वतन्त्र साधन है या 2 प्रसगसाधन ? अर्थात् आप अवयवी मे स्वतन्त्ररूप से एकत्वाभाव सिद्ध करना चाहते है या केवल प्रतिवादी को अनिष्ट का आपादन ही करना चाहते है ? 1 स्वतन्त्रसाधन तो सम्भव नही है क्योंकि जब पक्षभूत अवयवी ही प्रमाण से असिद्ध है तो उसमे एकत्वाभावसाधक हेतु को आश्रयासिद्धि दोष लगेगा । यदि आप उसको प्रमाणसिद्ध मानते है, तब तो अवयवी साधक जो प्रमाण है उसीसे उसमे एकत्व भी सिद्ध है [क्योंकि अवयवो से अतिरिक्त एक अवयवी की ही प्रमाण से सिद्धि की जाती है] अत. उससे ही पक्ष मे एकत्वाभाव का निर्देश बाधित हो जाने के बाद प्रयुक्त होने वाला हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष से दुष्ट बन जायेगा ।

यदि ऐसा कहे कि-हमारे मत से पक्षभूत अवयवी असिद्ध होने पर भी दूसरे के मत मे तो सिद्ध है, अत' आश्रयासिद्धि दोष को अवकाश नही रहेगा-तो यह कहना उचित नही है, क्योंकि दूसरे के मत मे तो वह a प्रमाणसिद्ध है या b अप्रमाणसिद्ध है ? यदि a प्रमाणसिद्ध है तब तो वह आपके लिये भी सिद्ध ही हुआ । जो प्रमाणसिद्ध होता है वह सभी के लिये किसी भेदभाव के विना सिद्ध ही होता है । अत. हेतु मे कालात्ययापदिष्ट दोप तदवस्थ ही रहेगा । b यदि अवयवी अप्रमाणसिद्ध है, तब तो वह दूसरे के मत मे भी सिद्ध कैसे कहा जाय ? अत. फिर से वही आश्रयासिद्धि दोष को याद करो । तात्पर्य, प्रथम पक्ष तो युक्त नही है । 2 दूसरा पक्ष भी अयुक्त है । कारण, प्रसग साधन का अर्थ है कि जिसमे यह दिखाया जाय कि-व्याप्य के स्वीकार मे व्यापक का स्वीकार अनिवार्य है । किन्तु यहाँ प्रतिवादि के पक्ष मे भेद और विरुद्धधर्माध्यास मे व्याप्य-व्यापक भाव ही सिद्ध नही

यतः प्रथमः पक्षस्तावदनभ्युपगमादेव निरस्तः। प्रसंगसाधनपक्षे तु यद् दूषणमभिहितम्-देशभेदलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि रूप-रसयोर्भेद इति, तद् व्याप्यव्यापकभावाऽपरिज्ञानं सूचयति न पुनर्व्याप्यव्यापकभावाभावम्, यतो देशभेदे सति यद्यभेदः क्वचित् सिद्धः स्यात् तदा व्यापकाभावेऽपि विरुद्धधर्माध्यासस्य भावान्न तस्य तेन व्याप्तिः स्यात्। यदा तु देशाऽभेदेऽपि रूप-रसयोर्भेदस्तदा देशभेदो भेदव्यापको न स्यात्, न पुनरेतावता भेदो विरुद्धधर्माध्यासव्यापको न स्यात्। यदि हि भेदव्यावृत्तावपि देशादिभेदो न व्यावर्त्तेत तदा व्यापकव्यावृत्तावपि व्याप्यस्याऽव्यावृत्तेर्न भेदेन देशादिविरुद्धधर्माध्यासो व्याप्येत, न चैतत् क्वचिदपि सिद्धम्। यत्तु 'सामान्यादावभेदस्य प्रमाणत सिद्धेर्भेदव्यावृत्तावपि न देशादिभेदलक्षणविरुद्धधर्माध्यासस्य निवृत्तिः' इति, तदयुक्तम्-सामान्यादेः प्रमाणतोऽभिन्नरूपस्याऽसिद्धेः। उक्तं च-' यदि विरुद्धधर्माध्यासः पदार्थानां भेदको न स्यात् तदान्यस्य तद्भेदकस्याभावाद् विश्वमेकं स्यात्"। प्रतिभासभेदस्यापि तमन्तरेण भेदव्यवस्थापकस्याऽभावादिति व्याप्यव्यापकभावसिद्धेः कथं न प्रसंगसाधनस्यात्रावकाशः ? !

है। कारण, देशभेद, कालभेद आदि विरूद्धधर्माध्यास न होने पर भी रूप और रस का भेद प्रतिवादी मानता है। और देशादिभेद सिद्ध होने पर भी जाति आदि मे अभेद भी प्रमाणसिद्ध है। अतः प्रसग साधन भी युक्त नही है।

उत्तरपक्षीः-ऐसा नही कहना चाहिये। [कारण आगे कहते हैं]।

[अवयवी का विरोध प्रसंगसाधनात्मक है]

कारण यह है कि स्वतंत्रसाधन वाला प्रथम पक्ष तो हमे मान्य न होने से ही परास्त है। दूसरे प्रसंगसाधन पक्ष मे जो यह दूषण दिखाया-'देशभेदस्वरूप विरुद्धधर्माध्यास न होने पर भी रूप-रस में भेद है'-इसमे तो आपको व्याप्य-व्यापकभाव की जानकारी नही है यही सूचित होता है, व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव नही। क्योंकि, देशभेद होने पर भी कही यदि अभेद सिद्ध होता तब तो यह मानते कि व्यापक (भेद) न होने पर भी विरुद्धधर्माध्यास रहता है अतः भेद के साथ विरुद्धधर्माध्यास की व्याप्ति नही है। जब देशभेद न होने पर भी रूप-रस का भेद है तब तो इससे इतना ही फलित होगा कि देशभेद वस्तुभेद का व्यापक नही है, किन्तु इससे यह तो फलित नही हुआ कि वस्तुभेद विरुद्धधर्माध्यास का (यानी देशभेद का) व्यापक नही है! वह तो तब फलित होता यदि वस्तुभेद की निवृत्ति होने पर भी देशभेद निवृत्त न होता। हाँ ऐसा होता तब तो, व्यापक वस्तुभेद निवृत्त होने पर भी व्याप्यरूप से अभिमत देशभेद की निवृत्ति न होने से, वस्तुभेद के साथ देशभेदादि विरुद्धर्माध्यास की व्याप्ति सिद्ध न होती, किन्तु ऐसा तो कही सिद्ध नही है कि वस्तुभेद न होने पर भी देशादिभेद रहता हो।

पूर्वपक्षीः-ऐसा भी है-घटत्वादि सामान्य मे अभेद तो प्रमाणसिद्ध है अत वस्तुभेद न होने पर भी देशभेद स्वरूप विरुद्धधर्माध्यास तो वहाँ रहता है, उसकी निवृत्ति नही है यह पहले कहा है।

उत्तरपक्षी.-यह जो कहा है वह गलत है। 'सामान्यादि पदार्थ का अभेद प्रमाणसिद्ध है' यह बात असिद्ध है। कहा भी है—

"अगर विरुद्धधर्माध्यास पदार्थों का भेदक न होता तो दूसरा कोई भेदक न होने से सारा विश्व एक हो गया होता।"

अथैकत्वप्रतिभासाद् देशादिभेदेऽपि तन्वादेरेकता । न, देशभेदेन व्यवस्थितानामवयवानां प्रतिभासभेदेन भेदात् । न ह्येकरूपा भागा भासन्ते, पिण्डस्याणुमात्रताऽऽपत्तेः, तद्व्यतिरिक्तस्य चापरस्य तन्वाद्यवयविनो द्रव्यस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनाऽसत्त्वात् । न च तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तता परैर्नाभ्युपगम्यते । "महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः" [वै० द०-४-१ ६] इतिवचनात् । तत् सिद्धमनुपलब्धेः 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' इति विशेषणम् । न च मध्योर्ध्वादिभागव्यतिरिक्तवपुर्बहिर्ग्राह्याकारतां बिभ्राणस्तन्वादिर्द्रव्यात्मा दर्शने चकास्तीत्यनुपलब्धिरपि सिद्धा ।

न च समानदेशत्वादवयविनोऽवयवेभ्यः पृथगनुपलक्षणमिति वक्तु शक्यम्, समानदेशत्वादिति विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-समानदेशत्वमवयवाऽवयविनोः किं a पारिभाषिकम्, लौकिकं वा ? a यदि पारिभाषिकम्, तदनुद्घोष्यम्, परिभाषाया अत्रानधिकारात् । न च तत् तत्र भवदभिप्रायेण .

पूर्वपक्षीः-प्रतिभासभेद ही पदार्थों का भेदक है ।

- उत्तरपक्षीः-विरुद्धधर्माध्यास के विना वस्तुभेदव्यवस्थापक प्रतिभासभेद भी नही घट सकता, क्योकि प्रतिभासो का भेद भी विरुद्धधर्माध्याससूलक ही हो सकता है । अत विरुद्धधर्माध्यास और भेद मे व्याप्य-व्यापकभाव जब इस रीति से सिद्ध होता है तो तन्मूलक प्रसगसाधन यहाँ लब्धप्रसर क्यो नही होगा ?

[प्रतिभासभेद से भेदसिद्धि]

पूर्वपक्षीः हस्त-पादादि मे देशादिभेद होने पर भी शरीरादि मे एकत्व का भान होता है अतः शरीरादि मे एकत्व सिद्ध होगा ।

उत्तरपक्षी -यह बात ठीक नही है, क्योकि जो दिखते हैं वे तो अवयव ही हैं और देशभेद से अवस्थित हस्त-पादादि अवयवो का प्रतिभास भी भिन्न भिन्न होता है अतः वहाँ एकता नही किन्तु भेद ही सिद्ध होगा । हस्त-पदादि जो अश भासते है वे यदि एकरूप होकर भासेंगे तब तो पूरा पिण्ड केवल अणुमात्र ही प्रसक्त होगा, क्योकि अन्तिम अवयव तो अणु ही है ओर अवयवान्तर्गत सर्व -अणु यदि एकरूप भासेंगे तव तो एकाणु का ही भास होगा और जैसा भास हो वैसी वस्तु मानी जाय तब तो पिण्ड भी अणु रूप ही रह जायेगा । अवयवसमूह से भिन्न दूसरा कोई शरीरादि एक अवयवी द्रव्य तो है ही नही, क्योकि यदि उसकी सत्ता मानेंगे तब तो उसे उपलब्धिलक्षणप्राप्त भी मानना होगा और उस अवयवभिन्न अवयवी द्रव्य का उपलम्भ तो होता नही । 'अवयवी द्रव्य को प्रतिवादी उपलब्धिलक्षणप्राप्त नही मानते हैं' ऐसा तो है नही, क्योकि यह प्रतिपक्षी के शास्त्र का वचन है कि- "अनेक द्रव्यवत्ता और रूप होने के कारण महान् वस्तु की उपलब्धि होती है" । वैशेषिकसूत्र में ऐसा कहा गया है । अतः हमने जो कहा है कि-'उपलब्धिलक्षणप्राप्त है फिर भी उसका उपलम्भ नही है' इसमे 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त यह विशेषणांश उक्त सूत्रवचन से सिद्ध है । अनुपलब्धि भी इस प्रकार सिद्ध है कि-वस्तु के दर्शन मे, मध्य-उर्ध्व इत्यादि भागो से भिन्नस्वरूपवाला और बाह्यत्वेन ज्ञेयाकारता को धारण करने वाला, ऐसा कोई शरीरादि द्रव्यरूप अवयवी स्फुरता नही है ।

[अवयव-अवयवी की समानदेशता असिद्ध है]

पूर्वपक्षीः-अवयवो और अवयवी समानदेशवर्त्ती होने से ही अवयवी का स्वतंत्र उपलम्भ नही होता ।

सिद्धम् । तथाहि-अन्य एव पाण्यावय आरम्भका देशास्तन्वाद्यवयविनो भवद्भिः परिभाष्यन्ते, अन्ये च पाण्यादीनां तदवयवानामारम्भका देशाः,आरम्यारम्भकवादनिषेधात् । तन्न पारिभाषिकसमानदेशत्वम् । b नापि लौकिकं आकाशस्य लोकप्रसिद्धस्य समानदेशस्याऽस्मान् प्रत्यसिद्धत्वात् । प्रकाशादिरूपस्य च देशस्य तत्सिद्धस्य समानत्वेऽपि भिन्नानां वाताऽऽतपादीनां भेदेनोपलब्धेः । तथाहि-समानदेशा अपि भावा वाताऽऽतपादयो भिन्नतनवः पृथक् प्रथन्ते; न चैवमवयविनिर्भासः । तन्नावयवी तन्वादि-भिन्नोऽस्ति ।

अथ मन्दमन्दप्रकाशे अवयवप्रतिभासमन्तरेणाप्यवयविनि प्रतिभास उपलभ्यते तत्कथं प्रति-भासाभावात् तस्याभावः ? असदेतत् नहि, तथाभूतोऽस्पष्टप्रतिभासोऽवयविस्वरूपव्यवस्थापको युक्तः, तत्प्रतिभासस्याऽस्पष्टरूपस्य स्पष्टज्ञानावभासिततत्स्वरूपेण विरोधात् । अथ स्वरूपद्वयमेतदवयविनः-स्पष्टम् अस्पष्टं च । तत्राऽस्पष्टं मन्दालोकज्ञानविषयः, स्पष्टं तु सालोकज्ञानभूमिः। नन्वेतत् स्वरूपद्वयं केनावयविनो गृह्यते ? न तावद् मन्दालोकज्ञानेन, तत्र सालोकज्ञानविषयस्पष्टरूपानवभासनात्,

उत्तरपक्षीः-यह कहना शक्य नही, क्योंकि 'समान देशवर्त्ती होने से' इसकी विकल्पो से उपपत्ति नही होती। जैसे देखिये-अवयव अवयवी की समानदेशता a पारिभाषिक (अर्थात् स्वतत्र सकेत वाली) मानते हो या b लोकप्रसिद्ध ? a अगर पारिभाषिक मानते हो तो उसकी उद्घोषणा यहाँ करने की जरूर नहीं क्योंकि यहाँ स्वतत्र साकेतिक वस्तु के विचार का प्रकरण नही है। उपरात, पारिभाषिक समानदेशता भी आपके मत से यहा सिद्ध नही है। कारण, पारिभाषिक समानदेशता का अर्थ है दोनो का देश=अधिकरण एक होना, किन्तु न्यायवैशेषिकमत मे अवयव-अवयवी का अधिकरण एक नही है। हस्त-पादादि अवयवो ही शरीरादि अवयवी का आरम्भक देश है, ऐसी न्याय-वैशेषिको की परिभाषा है, और हस्तपादादि देहावयव के आरम्भक देश भी अलग ही है। ऐसा इसलिये है कि न्याय-वैशेषिक मत मे आरम्यारम्भकवाद का निषेध किया है। आशय यह है कि दो अणुवो से वे लोग द्व्यणुक की उत्पत्ति मानते है, किन्तु उसमे तीसरे अणु के मिलने पर त्र्यणुक की उत्पत्ति नही मानते है, अर्थात् पूर्व पूर्व कार्य द्रव्य मे एक-एक अणु के सयोग से नये नये द्रव्य की उत्पत्ति का निषेध करते है। अत. अवयवी के अवयवो को और अवयवो के स्वावयवो को अलग अलग ही मानते है। अत पारिभाषिक समान देशता घट नही सकती।

लौकिक समानदेशता भी नही घट सकती क्योकि आकाश ही लोक प्रसिद्ध समान-देश है, जिसको हम मानते ही नहीं हैं। [यह बौद्धमत के अनुसार कहा है]। प्रकाशादि लोकप्रसिद्ध समान-देश को लिया जाय तो भी वहाँ पवन और आतप आदि समानदेशवर्त्ती होने पर भी भिन्न भिन्न उपलब्ध होते ही है जैसे पवन और आतप धूमस इत्यादि भाव समान देशवाले होने पर भी स्वतन्त्र वस्तुरूप मे ही अलग प्रतीत होते है, किन्तु अवयवी का इस प्रकार अलग निर्भास नही होता। साराश, शरीरादि कोई स्वतत्र अवयवी नही है।

[अवयवी का स्वतन्त्रप्रतिभास विरोधग्रस्त है]

पूर्वपक्षी:-मन्द मन्द प्रकाश मे जब वस्तु के अवयवो का आकलन नही हो पाता तब भी 'यह कुछ है' ऐसा अवयवी का प्रतिभास दिखता है, तो क्यो ऐसा माने कि प्रतिभास न होने से अवयवी भी नही है ?

अस्पष्टतत्स्वरूपप्रतिभासं हि तदनुभूयते। नापि सालोकज्ञानेन स्पष्टतत्स्वरूपावभासिना, तत्र मन्दालोकज्ञानावभासिततत्स्वरूपानवभासनात्। न हि परिस्फुटप्रतिभासवेलायामविशदरूपाकारोऽवयव्यर्थः प्रतिभाति, तत् कथमसाववयविनः स्वरूपम्?

अथ 'मन्दालोकदृष्टमवयविनः स्वरूपं परिस्फुटमिदानीं पश्यामि' इति तयोरेकता। ननु a किमपरिस्फुटरूपतया परिस्फुटरूपमवगम्यते, b आहोस्वित् परिस्फुटतयाऽपरिस्फुटम्? a तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदाऽपरिस्फुटरूपसम्बन्धित्वमेवावयविन प्राप्नोति, परिस्फुटस्य रूपस्याऽस्फुटरूपताऽनुप्रवेशेन प्रतिभासनात्। b अथ द्वितीयः पक्षः, तथा सति स्पष्टस्वरूपसम्बन्धित्वमेव, अस्पष्टस्य विशदस्वरूपाऽनुप्रविष्टत्वेन प्रतिभासनात्। तन्न स्वरूपद्वयावगमोऽवयविनः। एकत्वप्रतिभासनं तु प्रतिभासरहितमभिमानमात्रं स्पष्टाऽस्पष्टरूपयोः, अन्यथा सालोकज्ञानवद् मन्दालोकज्ञानमपि परिस्फुटप्रतिभासं स्यात्।

उत्तरपक्षी.-यह प्रश्न गलत है, मन्द प्रकाश मे जो फीका अवभास होता है उसको अवयविस्वरूप का प्रतिष्ठापक मानना अयुक्त है। कारण, अस्पष्टरूप से होने वाले अवयविप्रतिभास को स्पष्टज्ञान मे भासित होने वाले अवयविस्वरूप के साथ विरोध होगा।

पूर्वपक्षीः-अवयवी के दो स्वरूप है-स्पष्ट और अस्पष्ट, इसमे जो अस्पष्ट है वह मन्दप्रकाश से होने वाले ज्ञान का विषय है और स्पष्टरूप है वह पर्याप्त(तीव्र)प्रकाश मे होने वाले ज्ञान की आधार भूमि है।

उत्तरपक्षीः-अवयवी के ये दो स्वरूप किससे गृहीत होते है? मन्दप्रकाशभाविज्ञान से तो नही हो सकते, क्योंकि उसमे तीव्रप्रकाशभाविज्ञान के विषयभूत स्पष्टरूप का अवभास नही हो सकता है, मन्दप्रकाशवाले ज्ञान मे तो केवल अवयवी के अस्पष्टस्वरूप का अवभास ही अनुभूत होता है। अवयवी के स्पष्टस्वरूप के अवभासक तीव्रप्रकाशवाले ज्ञान से भी अवयवी के दो स्वरूप का प्रतिभास अशक्य है, क्योंकि मन्दप्रकाश वाले ज्ञान मे भासित होने वाला अवयवी का अस्पष्ट स्वरूप तीव्रप्रकाशभावि ज्ञान मे अवभासित नही होता है। जब अवयवी का परिस्फुट स्वरूप भासित होता है उस वक्त अस्पष्टाकार वाला अवयवीभूत पदार्थ भासित नही होता है। तो फिर इस अस्पष्टाकार को अवयवी का स्वरूप कैसे माना जाय?

[स्पष्ट—अस्पष्ट स्वरूपद्वय में एकता असिद्ध]

पूर्वपक्षीः-अवयवी के स्वरूपद्वय का ग्राहक ऐसा अनुभव होता है कि-"मन्द प्रकाश मे देखे हुए अवयवी को अब मै स्पष्टरूप से देख रहा हूँ"। इस अनुभव से उन दोनो का एकत्व सिद्ध होता है।

उत्तरपक्षीः-यहाँ दो विकल्प है, a क्या अस्पष्टस्वरूप से स्पष्टरूप का अनुभव होता है? या b स्पष्टरूप से अस्पष्टस्वरूप का अनुभव होता है? a यदि प्रथम पक्ष अगीकार करे, तब तो 'जो जिसरूप से भासमान होता है वह तद्रूप होता है' इस नियमानुसार अस्पष्टरूप से भासमान स्पष्टरूपावयवी अस्पष्टरूपसम्बन्धि ही प्राप्त हुआ, क्योंकि परिस्फुट रूप यदि उसमे है तो भी वह अस्फुटरूप मे अनुप्रविष्ट होकर ही भासित होता है, स्वतत्र नही। b यदि दूसरे पक्ष का स्वीकार करें तो अवयवी स्फुटरूप का सबन्धी ही सिद्ध होगा, क्योंकि अस्फुटरूप तो स्फुटरूप मे अनुप्रविष्ट

अथालोकभावाऽभावकृतस्तत्र स्पष्टाऽस्पष्टप्रतिभासभेदः। नन्वालोकेनाऽप्यवयविस्वरूपमेवो-द्भासनीयम्, तच्चेदविकलं मन्दालोके प्रतिभाति, कथं न तत्र तदवभासकृतः स्पष्टावभासः ? अन्यथा विषयावभासव्यतिरेकेणाऽपि ज्ञानप्रतिभासभेदे न ज्ञानावभासभेदो रूप-रसयोरपि भेदव्यवस्थापकः स्यात्। अथावयविस्वरूपमेकमेवोभयत्र प्रतीयते, व्यक्ताव्यक्ताकारौ तु ज्ञानस्यात्मानावित्युच्येत; तदप्यसत्, यतो यदि ज्ञानाकारौ तौ कथमवयविरूपतया प्रतिभातः ? तद्रूपतया च प्रतिभासनाद-वयव्याकारौ तावभ्युपगन्तव्यौ। न हि व्यक्तरूपतामव्यक्तरूपतां च मुक्त्वाऽवयविस्वरूपमपरमा-भाति। तत् तस्यानवभासादभाव एव। व्यक्ताऽव्यक्तैकात्मनश्चावयविनो व्यक्ताऽव्यक्ताकारवद् भेदः। नहि प्रतिभासभेदेऽप्येकता, अतिप्रसंगात्। तत्र अस्पष्टप्रतिभासमन्धकारेऽवयविनो रूपमवयवाऽप्रति-भासेऽपि प्रतिभातीति वक्तुं युक्तम्, उक्तदोषप्रसंगाद्।

होकर ही भासित होगा। इस प्रकार दोनो पक्ष मे अवयवी का किसी एक रूप ही प्रमाणित होता है अत. अवयवी के दोनो स्वरूप का अनुभव असिद्ध है। आपने जो दोनो स्वरूप के एकत्व का अनुभव दिखाया वह प्रतिभासशून्य, (स्पष्ट और अस्पष्ट रूप का) केवल अभिमान ही है। यदि अभिमान न होकर वहाँ सच्चा अनुभव होता तब तो तीव्रप्रकाशभाविज्ञान के जैसे मन्दप्रकाशभाविज्ञान भी स्पष्टरूप के प्रतिभास वाला हो जाता। [अथवा मन्दप्रकाशभाविज्ञान के जैसे तीव्रप्रकाशभाविज्ञान भी अस्पष्टरूप के प्रतिभासवाला हो जाता।]

[प्रतिभासभेद विषयभेदमूलक ही होता है]

पूर्वपक्षीः-अवयवी एक होने पर भी आलोक के होने पर स्पष्ट, और आलोक के न होने पर अस्पष्ट, इस रीति से भिन्न भिन्न प्रतिभास हो सकता है।

उत्तरपक्षीः—जब अवयवी एक है और प्रकाश से उसके स्वरूप का ही उद्भासन करना है तो वही परिपूर्णस्वरूप मन्द आलोक मे भी स्फुरित होता है, तब मन्दालोकभाविज्ञान से उसका स्पष्ट प्रतिभास क्यो नही होगा ? यदि विषयावभास के विना भी ज्ञान मे अवभासभेद शक्य होगा तब तो ज्ञान मे अवभासभेद से जो रूप और रस का भेद स्थापित किया जाता है वह नही होगा।

पूर्वपक्षी -अवयवी तो दोनो (मन्द-तीव्रप्रकाशभावि) ज्ञानो मे एक ही स्वरूपवाला भासित होता है। तब जो व्यक्त अथवा अव्यक्त (=अस्पष्ट) आकार भासित होता है वह विषयगत नही है किन्तु ज्ञानात्मक ही है।

उत्तरपक्षी –यह भी जूठा है। कारण, यदि वे दोनो आकार ज्ञान के है तो फिर विषयभूत अवयवीरूप से क्यो भासते है ? जब कि वे अवयविरूप से भासते है तब तो अवयवी के ही वे आकार मानने पड़ेगे, क्योकि व्यक्तरूपता और अव्यक्तरूपता को छोडकर तीसरा तो कोई अवयवीस्वरूप भासित होने का आप मानते नही है। तात्पर्य यह हुआ कि दृश्यमान पदार्थ व्यक्त या अव्यक्त भासता है किन्तु अवयवीरूप से तो नही भासता है अतः अवयवी का अभाव ही प्रसक्त हुआ। यदि उस अवयवी को व्यक्ताव्यक्तउभयस्वरूप मान लेंगे तब तो जैसे व्यक्त अव्यक्त आकारो मे भेद प्रसिद्ध है वैसे तदाकार अवयवी मे भी भेद ही प्रसक्त होगा, तो एक अवयवी कैसे सिद्ध होगा ? प्रतिभास भिन्न भिन्न होने पर भी वस्तु को 'एक' मानेंगे तब तो रूप-रस के भेद की कथा समाप्त हो जायेगी।

किं च, a कतिपयावयवप्रतिभासे सति अवयवी प्रतिभातीत्यभ्युपगम्यते, b आहोस्वित् समस्तावयवप्रतिभासे ? a यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, जलमग्नमहाकायस्तम्भादेरुपरितनकतिपयावयवप्रतिभासेऽपि समस्तावयवव्यापिनः स्तम्भाद्यवयविनोऽप्रतिभासनात् । b अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽपि न युक्तः, मध्य-परभागवर्त्तिसमस्तावयवप्रतिभासाऽसम्भवेनावयविनोऽप्रतिभासप्रसंगात् । अथ भूयोऽवयवग्रहणे सत्यवयवी गृह्यते इत्यभ्युपगमः, सोऽपि न युक्तः, यतोऽर्वाग्भागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण परभागभाव्यवयवाऽग्रहणाद् न तेन तद्व्याप्तिरवयविनो ग्रहीतुं शक्या, व्याप्याऽग्रहणे तेन तद्व्यापकत्वस्यापि ग्रहीतुमशक्तेः, ग्रहणे वाऽतिप्रसंग । तथाहि यद् येन रूपेण अवभाति तत्तेनैव रूपेण सदिति व्यवहारविषय'-यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तेनैव रूपेण तद्विषय , अर्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धितया चाऽवयवी प्रतिभातीति स्वभावहेतु' ।

न च परभागभाविव्यवहितावयवाऽप्रतिभासनेऽप्यव्यवहितोऽवयवी प्रतिभातीति वक्तुं शक्यम् , तदप्रतिभासने तद्गतत्वेनाऽप्रतिभासनात् । यस्मिंश्च प्रतिभासमाने यद् रूपं न प्रतिभाति, तद् ततो भिन्नम्-यथा घटे भासमानेऽप्रतिभासमान पटस्वरूपम् । न प्रतिभाति चार्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवय-

---

निष्कर्षः-'अन्धकार मे अवयवो का प्रतिभास न होने पर भी अवयवी का अस्पष्टावभासवाला रूप भासता है'-ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि इसमे अनेक दोष आते है जो ऊपर कहे हैं ।

[अवयवी के प्रतिभास की दो विकल्प से अनुपपत्ति]

दूसरी बात यह है कि-a कुछ अवयवो का प्रतिभास होने पर अवयवी भासित होने का माना जाता है या b सभी अवयवो का प्रतिभास होने पर ? a यदि प्रथम पक्ष माना जाय तो वह अयुक्त है। कारण, जलान्तर्गत विशाल स्तम्भादि का जब कुछ ही ऊपर का भाग दिखता है, उस वक्त भी समस्तावयवो मे व्यापक एक स्तम्भादि अवयवी का अनुभव नही होता है । b यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो वह भी अयुक्त है क्योकि वस्तु के मध्यभागवर्त्ती एव पृष्ठभागवर्त्ती अवयवो का प्रतिभास सम्भव ही नही, तब अवयवी का प्रतिभास ही नही होगा ।

पूर्वपक्षीः-हम मानते है कि जब बहुत अवयवो का अनुभव होता है तब अवयवी भासित होता है, न तो अल्प और न तो सर्व ।

उत्तरपक्षी -यह भी ठीक नही है । कारण, सम्मुखभागवर्त्ती अवयवो के ग्राहक प्रत्यक्ष से पृष्ठभागवर्त्ती अवयवो का ग्रहण न होने से, उस प्रत्यक्ष से 'पृष्ठभागवर्त्ती अवयवों मे भी यह अवयवी व्याप्त है' ऐसी व्याप्ति का ग्रहण शक्य नही है । जब व्याप्यभूत अवयवो का ग्रहण नही है तब उनमे व्याप्त होकर रहने वाले अवयवी का व्यापकत्वरूप से ग्रहण हो नही सकता, यदि होगा तो फिर सर्वत्र अतिप्रसग होगा । वह इस प्रकार-जो जिसरूप से भासित होता है वह उसी रूप से सत् व्यवहार का विषय बन सकता है, जैसे नील वस्तु नीलरूप से भासित होती है तो नीलरूप से ही उसके सत् होने का व्यवहार होता है । यहाँ भी अवयवी सम्मुखभागवर्त्ती अवयवो के सम्बन्धीरूप से ही प्रतिभास का विषय बनता है । तथाविध प्रतिभासविषयत्व यह अवयवी का स्वभाव हेतु बनकर केवल अग्रभागवृत्तिरूप से ही सत्व्यवहारविषयत्व को सिद्ध करेगा । अन्यथा नील का भी नीलेतररूप से सत्व्यवहार होने का अतिप्रसग आ सकता है ।

विस्वरूपे प्रतिभासमाने परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपम्, इति कथं न तत् ततो भिन्नम् ? तथाऽप्यभेदेऽतिप्रसंगः प्रतिपादितः। नापि परभागभाव्यवयवाऽवयविग्राहिणा प्रत्यक्षेणार्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धित्वं तस्य गृह्यते, तत्र तदवयवानां प्रतिभासात् तत्सम्बन्ध्येवावयविस्वरूपं प्रतिभासेत नाऽर्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धि, तेषां तत्राऽप्रतिभासनात्। तदप्रतिभासने च तत्सम्बन्धिरूपस्याऽप्यप्रतिभासनात्, व्याप्याऽप्रतिपत्तौ तद्व्यापकत्वस्याप्यप्रतिपत्तेः। नापि स्मरणेन अर्वाक् परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपग्रहः, प्रत्यक्षानुसारेण स्मरणस्य प्रवृत्त्युपपत्तेः, प्रत्यक्षस्य च तद्ग्राहकत्वनिषेधात्। नाप्यात्मा अर्वाक्परभागावयवव्यापित्वमवयविनो ग्रहीतुं समर्थः-सत्तामात्रेण तस्य तद्ग्राहकत्वानुपपत्तेः, अन्यथा स्वाप-मद-मूर्छाद्यवस्थास्वपि तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्-किन्तु दर्शनसहायः, तच्च दर्शनं न अवयविनोऽवयवव्याप्तिग्राहकं प्रत्यक्षादिकं सम्भवतीति प्रतिपादितम्।

[अग्र-पृष्ठभागवर्त्ती अवयवी का प्रतिभास अशक्य]

पूर्वपक्षीः-पृष्ठभागवर्त्ती अर्थात् व्यवहित अवयवो का प्रतिभास न होने पर भी अवयवी अव्यवहित होने से भासता है।

उत्तरपक्षीः-ऐसा नही कह सकते, क्योकि जब पृष्ठभागवर्त्ती अवयवो का ही भास नही होता तो तद्गत अवयवी का अवभास भी कैसे होगा ? जिस रूप का, अन्य किसी के अवभास होने पर भी अनुभव नही होता वह उससे भिन्न होता है। जैसे. घट भासता है तब उससे भिन्न पट भासित नही होता। अग्रभागवर्त्ती अवयवो से सम्बद्ध अवयवी जब भासता है तब पृष्ठभागवर्त्ती अवयवो से सम्बद्ध अवयवी का स्वरूप नही भासता है, तो वह उससे भिन्न क्यो नही होगा ? उपरोक्त नियम को तोड कर आप यदि अभेद मानेगे तो घट भी पट से भिन्न नही होगा यह अतिप्रसग उक्तप्राय. ही है।

पृष्ठभागवर्त्ती अवयवो से सम्बद्ध अवयवी के ग्राहक प्रत्यक्ष से अग्रभागवर्त्ती अवयवो से सम्बद्ध अवयवी का ग्रहण भी नही हो सकता। कारण, उस प्रत्यक्ष मे पृष्ठभाग के अवयव ही भासते हैं अत. उनसे सम्बद्ध अवयवी का स्वरूप ही भास सकता है, किन्तु पृष्ठभागवाला अवयवी नही भास सकता क्योकि उसके अवयव उस प्रत्यक्ष मे भासित नही होते। जब वे पृष्ठभाग के अवयव ही भासित नही होते तो उनसे सम्बद्ध अवयवी का रूप भी भास नही सकता क्योकि अवयवी से व्याप्त अवयवो का भास न होने पर उन अवयवो मे व्यापकीभूत अवयवी का तद् व्यापकत्वरूप से भास शक्य नही है।

[स्मरण से अवयवी का ग्रहण अशक्य]

पूर्वपक्षी -प्रत्यक्ष को छोड दो, स्मरण से अग्र-पृष्ठभागवर्त्ती अवयवो से सम्बद्ध सपूर्ण अवयवी स्वरूप का ग्रहण होगा।

उत्तरपक्षी -यह भी अशक्य है, क्योकि स्मरण की प्रवृत्ति तो पूर्वानुभूत प्रत्यक्षानुसारी ही हो सकती है, प्रत्यक्ष से तो वैसे अवयवी स्वरूप गृहीत नही है यह तो अभी ही कह आये है।

पूर्वपक्षीः-स्मरण को छोड दो, आत्मा ही अग्र-पृष्ठभाग के अवयवो मे व्यापकीभूत अवयवी का ग्रहण कर सकेगा।

उत्तरपक्षीः-यह भी शक्य नही, क्योकि अपनी सत्ता के ही प्रभाव से आत्मा अवयवी का ग्राहक नही बन सकता, अन्यथा सुषुप्ति, नशा और मूर्च्छा इत्यादि दशा मे भी सत्ता अखण्डित होने

अथ अर्वाग्भागदर्शने सत्युत्तरकालं परभागदर्शनेऽनन्तरस्मरणसहकारीन्द्रियजनितं 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञाज्ञानमध्यक्षमवयविन -पूर्वापरावयवव्याप्तिग्राहकम्, तदयुक्तम्–प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैतद्विषयस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। अक्षानुसारि हि प्रत्यक्षम्, न चाक्षाणामर्वाक्-परभागभाव्यवयवग्रहणे व्यापारः सम्भवति, व्यवहिते तेषां व्यापाराऽसम्भवात्, सम्भवे वाऽतिव्यवहितेऽपि मेरुपृष्ठादौ व्यापारः स्यात्। तन्न तदनुसारिणोऽध्यक्षरूपस्य प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य तत्र व्यापारः। न च स्मरणसहायस्याप्यिन्द्रियस्याऽविषये व्यापारः सम्भवति। यद् यस्याऽविषय न तत्तत्र स्मरणसहायमपि प्रवर्त्तते यथा परिमलस्मरणसहायमपि लोचनं गन्धादौ। अविषयश्च व्यवहितोऽक्षाणां परभागभाव्यवयवसम्बन्धित्वलक्षणोऽवयविनः स्वभाव इति नाक्षजस्य प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यावयविस्वरूपग्राहकत्वम्।

न च स एवायम्' इति प्रतीतिरेका, 'सः' इति स्मृतेः रूपम् 'अयम्' इति तु दृशः स्वरूपम्। तद् परोक्षाऽपरोक्षाकारत्वाद् नैकस्वभावावेतौ प्रत्ययौ। अथ 'स एवायम्' इत्येकाधिकरणतया एतौ प्रतिभात इत्येकं प्रत्यभिज्ञाज्ञानम्। न, आकारभेदे सति दर्शन-स्मरणयोरिव सामानाधिकरण्याध्यवसायेऽप्येकत्वानुपपत्तेः। अन्यत्राप्याकारभेद एव भेदः, स चात्रापि विद्यत इति कथमेकत्वम्? किं च, 'सः' इत्याकारः 'अयम्' इत्याकारानुप्रवेशेन प्रतिभाति आहोस्विद् अननुप्रवेशेनेति? यदि अनुप्रवेशेन,

---

से आत्मा अवयवी का ग्राहक बन बैठेगा। दर्शन की सहायता से ही आत्मा किसी का भी ग्राहक बन सकता है, वह दर्शन यहाँ कोई भी प्रत्यक्षादि-प्रमाणरूप होने का सम्भव नहीं है जिससे कि अवयवो मे अवयवी की व्याप्ति का ग्रह हो-यह तो कह चुके हैं।

[प्रत्यभिज्ञा ज्ञान से अवयवी की सिद्धि अशक्य]

पूर्वपक्षः-अग्रभाग को देखने के बाद, उत्तरकाल में पृष्ठभाग का दर्शन होने पर तदनन्तरभाविस्मरणसहकृतइन्द्रिय से जन्य 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञासंज्ञक प्रत्यक्षज्ञान अवयवी की अग्र-पृष्ठभाग में व्याप्ति को ग्रहण करेगा।

उत्तरपक्षीः-यह कथन अयुक्त है, क्योकि व्याप्तिविषयक प्रत्यभिज्ञाज्ञान प्रत्यक्षरूप नहीं घट सकता। प्रत्यक्ष तो इन्द्रियानुसारी होता है, अग्र-पृष्ठभागवर्ती अवयवो के ग्रहण मे इन्द्रियो का व्यापार ही सम्भव नही है, क्योकि व्यवहित वस्तु के ग्रहण मे इन्द्रियों का व्यापार असम्भव है। यदि वैसा सम्भव होता तब तो अतिशय व्यवहित मेरु के पृष्ठ देशादि के ग्रहण मे भी इन्द्रियाँ सक्रिय बन जायेगी। तात्पर्य, इन्द्रियानुसारी प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का व्यवहित अवयवी के ग्रहण मे सामर्थ्य नही है।

जो अपना विषय नही है उसमे स्मरण की सहायता से भी इन्द्रियों का व्यापार संभव नही है। जो जिस का विषय ही नही उसमे वह स्मरण की सहायता से भी प्रवृत्ति नही कर सकता, जैसेः परिमल के स्मरण की सहायता से भी नेत्रेन्द्रिय गन्धादि के ग्रहण मे प्रवृत्त नही होती। पृष्ठभागवर्त्तीअवयवो से सम्बद्धता रूप अवयवि का स्वभाव व्यवहित होने से इन्द्रियो का विषय नहीं है, अतः स्मरणसहकृत इन्द्रियजन्य प्रत्यभिज्ञा ज्ञान अवयवी के स्वरूप का ग्राहक नहीं हो सकता।

['स एव अयम्' यह प्रतीति एक नहीं है]

दूसरी वात, 'स एवायम्=यह वही है' यह प्रत्यभिज्ञा कोई एकज्ञानरूप नही है, 'सः' ऐसा उल्लेख स्मृति का रूप है और 'अयम्' यह उल्लेख दर्शन का स्वरूप है। एक परोक्ष है और दूसरा

'सः' इत्याकारस्य 'अयम्' इत्याकारेऽनुप्रविष्टत्वादभाव इति 'अयम्' इत्याकार एव केवल प्राप्त इति कुतः 'सोऽयम्' इत्येका प्रत्यभिज्ञा ? अथ 'अयम्' इत्याकार. सः' इत्येतस्मिन्ननुप्रविष्टस्तदा 'स' इत्येव प्राप्तो न 'अयम्' -इत्यपि, इति कथमेका प्रत्यभिज्ञा ? अथ 'स एव'-'अयम्' इत्याकारौ परस्पराऽननुप्रविष्टौ प्रतिभातः तथापि भिन्नाकारौ भिन्नविषयौ च द्वौ प्रत्ययाविति कथमेकार्था एका प्रत्यभिज्ञा प्रतिभासभेदस्य विषयभेदव्यवस्थापकत्वात् ? न च प्रतिभासभेदेऽपि विषयाऽभेदः, प्रतिभासाऽभेदव्यतिरेकेण विषयाऽभेदव्यवस्थायां प्रमाणं विना प्रमेयाभ्युपगमः स्यात्, तथा च सर्वं सर्वस्य सिध्येत्। तन्न प्रत्यभिज्ञातोऽप्यवयव्येकत्वग्रहः। अनुमानस्य च अवयविस्वरूपग्राहकस्य प्रत्यक्षनिषेधे तत्पूर्वकस्य निषेध. कृत एव। सामान्यतोदृष्टस्य चावयविप्रतिषेधप्रस्तावे निषेधो विधास्यत इत्यास्तां तावत्।

अथ 'एको घटः' इति द्रव्यप्रतीतिरस्ति तदवयवव्यतिरेकिणी तत् कथमभावोऽवयविनः ? न, घटावसायेऽपि तदवयवाध्यवसायः नामोल्लेखश्चाध्यवसीयते नावयवि द्रव्यम्, वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यस्य तद्रूपस्य केनचिदप्यननुभवात्। वर्णाकृत्यक्षराकारशून्य चा(?ना)वयविस्वरूपमभ्युपगम्यते। न च

अपरोक्ष है, परोक्षापरोक्ष आकार परस्पर विरुद्ध होने से ये दो ज्ञान एकस्वभाववाले नही हो सकते। (यद्यपि एक प्रत्यभिज्ञाज्ञान का पहले समर्थन किया है, तथापि यहाँ एकान्तगर्भित एकत्व का निराकरण करने हेतु बौद्धमत का समर्थन किया जा रहा है)

पूर्वपक्षीः- 'स एवाऽयम्' इस प्रतीति में तदाकार (स.) और इदमाकार (अयम्) दोनो एक ही अधिकरण के धर्म हो ऐसा अवबोध होता है अतः ये एक ही प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान को सिद्ध करते है।

उत्तरपक्षी -एकाधिकरणता का अध्यवसाय होने पर भी दूसरी ओर आकारभेद स्पष्ट होने से प्रत्यभिज्ञा मे एकत्व नही घट सकता, जैसे कि पृथक् पृथक् होने वालि दर्शन और स्मरण ये दो ज्ञान एकरूप नही होते। दूसरी जगह भी आकारभेद से ही वस्तुभेद को माना जाता है, यदि वह आकारभेद प्रत्यभिज्ञा मे भी मौजूद है तो उसका एकत्व कैसे हो सकता है ?

तदुपरात, a 'स.' ऐसा आकार 'अयम्' ऐसे आकार मे अनुप्रविष्ट=सम्मिलित हो कर भासता है ? b या अनुप्रविष्ट हुए विना ही ? a यदि अनुप्रविष्ट हो कर भासता है तब तो 'सः' ऐसा आकार 'अयम्' आकार मे विलीन हो जाने से शून्य ही हो गया, शेष केवल 'अयम्' ऐसा ही आकार बचा तो फिर 'सोऽयम्' ऐसी प्रत्यभिज्ञा एक कैसे होगी ? अथवा, 'अयम्' ऐसा आकार 'स' ऐसे आकार मे विलीन हो गया तो केवल 'सः' ऐसा आकार ही शेष बचा, 'अयम्' आकार तो नही बचा, फिर प्रत्यभिज्ञा एक कैसे ? b यदि दूसरे पक्ष मे कहा जाय कि-'स एव' और 'अयम्' ये दोनो आकार अन्योन्य अमिलितरूप मे ही भासित होते है-तो भी यह प्रश्न तो रहेगा कि जब दो ज्ञान के भिन्न भिन्न ही आकार और विषय है तब प्रत्यभिज्ञा एक और समानविषयक कैसे हो सकती है, जब कि विषयभेद का व्यवस्थापक प्रतिभासभेद मौजूद है ? प्रतिभास भिन्न होने पर भी विषय का भेद न हो ऐसा नही हो सकता। यदि प्रतिभास का अभेद न होने पर भी विषयो के अभेद का अगीकार करेंगे तब तो उसका मतलब यह हुआ कि प्रमाण के अभाव मे भी प्रमेय माना जा सकता है, फिर तो सभी के लिये सब कुछ सिद्ध हो जायेगा। निष्कर्ष :- प्रत्यभिज्ञा स्वय एकज्ञानात्मक न होने से, उससे अवयवी के एकत्व का ग्रहण शक्य नही है।

तेन रूपेण कल्पनाज्ञानेऽपि तत् प्रतिभाति, न चान्याकारः प्रतिभासोऽन्याकारस्य वस्तुस्वरूपस्य व्यवस्थापकः, अन्यथा नीलप्रतिभासः पीतस्य व्यवस्थापकः स्यादिति न वस्तुव्यवस्था स्यात्। तस्माद् न कल्पनोल्लिख्यमानवपुरप्यवयवी बहिरस्ति, केवलमनादिरयमेकव्यवहारो मिथ्यार्थः। न च व्यवहारमात्राद् बहिरेकं वस्तु सिध्यति, 'नीलादीनां स्वभावः' इत्यत्रापि व्यवहाराभेदादेकताप्राप्तेः स्वभावस्य। अथ तत्र प्रतिनीलादिस्वभाव दर्शनभेदादेकत्वं बाध्यत इहापि तर्हि बहीरूपस्योर्ध्वाधोमध्यादिनिर्भासस्य भेदादेकता तन्वादीनां प्रतिदलतु। तन्नावयविरूपो बाह्योऽर्थोऽस्ति।

अथ "अवयविनोऽभावे तदवयवानामपि पाण्यादीनां दिग्भेदादिविरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः, तदवयवानामप्यङ्गुल्यादीनां तत एव भेदात् तावद् भेदो यावत् परमाणवः, तेषां च स्थूलप्रतिभासविषय-

---

जब एक अवयवी स्वरूप के ग्राहकरूप मे प्रत्यक्ष निषिद्ध हो गया तो प्रत्यक्षमूलक प्रवृत्त होने वाले अनुमान का तो निषेध हो ही जाता है। रह जाती है सामान्यतोदृष्ट अनुमान की बात, वह भी अवयवी के प्रतिषेध के प्रकरण मे निषिद्ध हो जायगा, यहाँ अब रहने दो।

['एको घटः' प्रतीति से स्थूल द्रव्य की सिद्धि अशक्य]

पूर्वपक्षी.-'एको घटः=एक घट है' ऐसी, उसके अवयवो से भिन्नता का उल्लेख करती हुयी घटादि द्रव्य की प्रतीति सभी को होती है फिर अवयवी का अभाव कैसे ?

उत्तरपक्षीः-घट विषयक बोध मे भी द्रव्य के अवयवो का अध्यवसाय और उसके नाम का ('घट' आदि का) उल्लेख ही अनुभव मे आता है, तद्भिन्न कोई अवयवी द्रव्य का स्वतन्त्रानुभव नही होता। जब भी घट-पटादि द्रव्य का बोध होता है तब उसका वर्णाकृति-अक्षराकार से शून्य द्रव्य के किसी भी रूप का किसी को भी अनुभव नही होता। आप अवयवी के स्वरूप को वर्णाकृति-अक्षराकार से शून्य मानते हो। उक्त आकारो से शून्य केवल अवयवित्वरूप से कल्पनात्मक ज्ञान में भी अवयवी स्फुरित नही होता। एक आकार वाला प्रतिभास किसी अन्य आकार वाली वस्तु के स्वरूप की व्यवस्था नही कर सकता। यदि ऐसा हो सकता तब तो नील प्रतिभास भी पीतवस्तु का व्यवस्थापक बन सकेगा। फिर कोई नियत रूप से वस्तु की व्यवस्था ही न हो सकेगी। निष्कर्ष यही आया कि कदाचित् कल्पना से अवयवी का उल्लेख किया भी जाय फिर भी वैसा अवयवी बाहर तो नही है। तब जो अनादि काल से 'एक घट है' ऐसा एकत्व का व्यवहार चला आता है, वह अर्थशून्य यानी मिथ्या है। केवल व्यवहार के बल से बाह्य लोक मे किसी वस्तु की सिद्धि नही हो जाती। व्यवहार तो 'नीलादि का स्वभाव' इस प्रकार भी होता है, यहाँ नील-पीतादि सभी का भिन्न भिन्न स्वभाव होने पर भी उन स्वभावो मे अभेद का व्यवहार उक्त रीति से लोक मे होता है, यदि व्यवहार से ही वस्तु सिद्ध मानी जाती तब तो उक्त व्यवहार से नील-पीतादि के स्वभावो मे भी एकता की आपत्ति हो जायेगी।

पूर्वपक्षीः-वहाँ तो प्रत्येक नील-पीतादि स्वभावो का भिन्न भिन्न दर्शन भी होता है, उनसे स्वभावो की एकता का व्यवहार बाधित हो जाता है, अतः एकता को प्रमाणसिद्ध नही मानेंगे।

उत्तरपक्षीः-तो यहाँ भी बाह्यलोक मे वस्तु के ऊर्ध्व, अधः, मध्यादि प्रत्येक भागो का भिन्न-भिन्न दर्शन होता है उनसे देहादि (अवयवी) की एकता बाधित हो जायेगी। फलतः यही सिद्ध होगा कि अवयवीस्वरूप कोई भी बाह्यपदार्थ प्रमाणसिद्ध नही है।

त्वानुपपत्तिः। स्थूलतनुश्च बहिर्नीलादिरूपः प्रतिभासः स्फुटमुद्भाति। न च स्थूलरूपं प्रत्येकं परमाणुषु सम्भवति, तथात्वे परमाणुत्वाऽयोगात्। नापि समुदितेषु स्थूलरूपसम्भवः, समुदितावस्थायामप्यणूनां स्वरूपेण सूक्ष्मत्वात्। न च तद्व्यतिरिक्तः समुदायोऽस्ति, तथात्वे द्रव्यवादप्रसंगात्, तत्र चोक्तो दोषः। तन्न स्थूलता परमाणुषु कथंचिदपि सम्भवति। न चान्यादृग् निर्भासोऽन्यादृक्षस्यार्थस्य प्रकाशकः, नीलदर्शनस्यापि पीतव्यवस्थापकत्वापत्तेः, तथा च नियतविषयव्यवस्थोच्छेदः। किं च परमाणोरपि नानादिक्सम्बन्धादेकता नोपपत्त्यैव। तथा चाह–'षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।'–[विज्ञप्ति० का० १२] इति। पुनस्तदंशानामपि नानादिक्सम्बन्धात् सांशताऽपत्तिः, तथा चानवस्था। तस्मान्न परमाणूनामपि सत्त्वम्–इत्यवयव्यग्रहणे सर्वाऽग्रहणप्रसंगः इति प्रतिभासाभावापत्तेर्न प्रसंगसाधनस्यावकाशः।"–असदेतद्;

अवयव्यभावेऽपि निरन्तरोत्पन्नानां घटाद्याकारेण परमाणूनां सद्भावात् तद्ग्राहकाणामपि ज्ञानपरमाणूनां तथोत्पन्नानां तद्ग्राहकत्वात् न बहिरर्थाभावः, नापि तत्प्रतिभासाभाव, इति कथं प्रसंग-

[अवयवी के विना स्थूलप्रतिभास अनुपपत्ति-पूर्वपक्ष]

पूर्वपक्षीः-अवयवी नही है तव तो उसके हस्त-पादादि अवयवो मे भी देशभेदादिस्वरूप विरुद्धधर्माध्यास से भेद प्रसक्त होगा। उसी प्रकार हस्तादि के अवयव अंगुली-नखादि का भी भेद होगा, यावत् त्र्यणुक-द्व्यणुक कोई भी अवयवी न होकर परमाणु ही शेष रहेगे। परमाणुवो मे स्थूलता के प्रतिभास की विषयता घट नही सकती। बाह्य लोक मे स्थूलता को विषय करने वाले नीलादिस्वरूपग्राहक प्रतिभास का उदय तो स्पष्ट ही होता है। एक एक परमाणु मे स्थूलता का तो सम्भव ही नही है, क्योकि उसमे स्थूलता मानने पर तो वह 'परमाणु ही कैसे कहा जायेगा? अन्योन्य मिलित परमाणुवो मे भी स्थूलता का सम्भव नही है क्योकि समुदित अवस्था मे भी उन अणुओ का स्वरूप तो सूक्ष्म यानी अणु ही रहता है, स्थूल नही। परमाणुसमूह से भिन्न तो कोई समुदाय माना नही जाता, यदि वैसे समुदाय को मानेंगे तव तो वही द्रव्यवाद यानी अवयवीवाद प्रसक्त होगा, जिसका खण्डन कर आये है। [पृ० ४१४ प ५]। इस कारण, परमाणुवो मे किसी भी रीति से स्थूलता का सम्भव नही है। किसी एक (स्थूलादि) प्रकार के प्रतिभास से अन्यप्रकार की वस्तु का प्रकाशन शक्य नही है, अन्यथा नील के अनुभव से पीत वस्तु की व्यवस्था होने लगेगी फिर तो 'ज्ञान से विषयों की नियत प्रकार की व्यवस्था' का ही उच्छेद हो जायेगा।

दूसरी बात, जैसे अवयवी असगत है वैसे परमाणु भी संगत नही होता, जैसे. परमाणु को भी भिन्न भिन्न दिशा का संपर्क रहता है अत. विरुद्धदिशाससर्ग के कारण परमाणु मे एकता नही घट सकेगी। जैसे कि विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि मे कहा गया है–'परमाणु एक साथ ही अन्य छ परमाणुओ से युक्त होता है, अतः उसके छ अश सिद्ध होते है।' उपरांत, उन अशो मे भी पुन. अन्य अन्य दिशा के साथ सपर्क होने के कारण साशता आपन्न होगी–इस प्रकार साशता का कही अन्त ही नहीं आने से परमाणु भी असिद्ध रहेगा, उसकी सत्ता ही सिद्ध नही होगी। इस प्रकार विरुद्ध धर्माध्यास दिखाकर (अवयवी को न मानने पर) सभी वस्तु का अग्रहण प्रसक्त होगा, फिर प्रतिभास भी स्वय असद् हो जायेगा तो प्रसगसाधन को भी अवकाश नही रहेगा. तो उसके भेद से अवयवी की एकता का खडन कैसे हो सकेगा?।

साधनस्य नावकाशः स्थूलैकरूपावयव्यभावेऽपि ? यदि चावयविनोऽभावे परमाणूनामप्यभावप्रसक्तेः प्रतिभासाभावेन प्रसंगसाधनानवकाशः प्रतिपाद्येत तदा सुतरां परमाणुरूपस्य ज्ञानरूपस्य चार्थस्याभावे कार्यत्वादिलक्षणस्य हेतोराश्रयासिद्धतादोषः ।

बाह्यार्थनयेन चास्माभिराश्रयासिद्धतादोषात् कार्यत्वलक्षणाद्धेतोर्नेश्वरसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्, यदि पुनर्विज्ञान-शून्यवादानुकूलं भवताऽभ्यनुष्ठीयते तदा साध्य-दृष्टान्तधर्मि-साध्य-साधनधर्मादीनामनुमित्यङ्गभूतानां सर्वेषामप्यसिद्धेः कुतः उपन्यस्तप्रयोगादीश्वरसिद्धि ?! तदेव तन्वादिलक्षणस्य कार्यत्वादिहेत्वाश्रयस्यावयविनोऽसिद्धेराश्रयाऽसिद्धो हेतुः।

तथा 'बुद्धिमत्कारणम्' इति साध्यनिर्देशे 'बुद्धिमत्' इति मतुबर्थस्य साध्यधर्मविशेषणस्यानुपपत्तिः, तज्ज्ञानस्य ततो व्यतिरेकेऽकार्यत्वे च 'तस्य' इति सम्बन्धानुपपत्तेः । 'तद्गुणत्वात् तत्तस्य' इति चेत् ? न, कार्यत्वे व्यतिरेके च 'तस्यैव तद्गुणो नाकाशादेः' इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः । 'समवायो व्यवस्थाकारी'ति चेत् ? न, तस्यापि ताभ्यामर्थान्तरत्वे स एव दोष –व्यतिरेके समवायस्यापि सर्वत्राऽविशेषाद् न ततोऽपि तद्व्यवस्था । अथ 'ईश्वरात्मकार्यत्वाद् ईश्वरात्मगुणस्तज्ज्ञानम्' ।

उत्तरपक्षी - यह सपूर्ण कथन तथ्यहीन है ।

[निरन्तर उत्पन्न परमाणुवों से स्थूलादि प्रतिभास की उपपत्ति]

अवयवी न होने पर भी निरन्तर उत्पन्न अर्थात् विना किसी व्यवधान से अवस्थित, एक-दूसरे से सलग्न, घटादि आकार मे परिणत ऐसे परमाणु तो विद्यमान है, उनके ग्राहकरूप मे ज्ञानपरमाणु भी उसी ढग से उत्पन्न होते है और वे उन परमाणुओ का ग्रहण करते है । इस रीति से न तो बाह्यार्थ के अभाव का प्रसग ही है, न तो उसके प्रतिभास के अभाव का प्रसग है, तो फिर तन्मूलक प्रसगसाधन को अवकाश क्यो नही होगा ?, स्थूल-एक स्वरूपवाला अवयवी भले न हो !। अगर आप कहते है कि– 'अवयवी न होने पर परमाणु का अभाव प्रसक्त होगा, उससे प्रतिभास का अभाव आ पडेगा, अत' प्रसगसाधन अवकाश नही रहेगा'-इत्यादि, तव तो हमारी इष्टसिद्धि अत्यत सम्भवारूढ वन जाती है क्योकि परमाणु और ज्ञानरूप अर्थ के अभाव मे ईश्वरकर्तृत्व साधक कार्यत्वरूप हेतु भी आश्रयासिद्धि स्वरूपादि आदि दोषो से ग्रस्त हो जायेगा ।

उपरात, हमने तो यहाँ बाह्यार्थ के अभ्युपगम से प्रतिपादन करने का अभिप्राय रखा है कि 'आश्रयासिद्धिदोषग्रस्त होने से कार्यत्वरूप हेतु से ईश्वर की सिद्धि अशक्य है' । किन्तु जब आप स्वय ही विज्ञानवाद और शून्यवाद को सहायक स्थिति पैदा कर रहे हैं, तब तो साध्यधर्मी, दृष्टान्तधर्मी, साध्य-हेतु आदि धर्म ये सब जो अनुमिति के अगभूत हैं उनकी भी असिद्धि अनायास आपन्न होती है, तब आपने जो ईश्वरसिद्धि के लिये अनुमान प्रयोग का उपन्यास किया है उससे वह कैसे हो सकेगी ?

इस प्रकार कार्यत्वादि हेतु का आश्रय देहादिरूप पक्षभूत अवयवी की असिद्धि के कारण कार्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध है ।

[समवाय की असिद्धि से बुद्धिमत् शब्दार्थ की अनुपपत्ति]

तदुपरात, ईश्वरसाधक अनुमान प्रयोग मे 'बुद्धिमत्कारण' ऐसा जो साध्य मे निर्देश किया है उसमे साध्यधर्म का मतुप् प्रत्ययार्थक जो बुद्धिमत् ऐसा विशेषण है वह नही घटता । कारण, ईश्वर

कुत एतत् ? तस्मिन् सति भावाद्' इति चेत् ? आकाशादावपि सति तस्य भावात् तत्कार्यता किं न स्यात् ? अथ 'तदभावेऽभावात् तत्कार्यत्वम्' । तन्न, नित्य-व्यापित्वाभ्यां तस्य तदयोगात् । 'तदात्मन्यु-त्कलितस्य तस्य दर्शनात् तत्कार्यते'ति । किमिदं तस्य तत्रोत्कलितत्वम् ? 'तत्र समवेतत्वं तस्य' इति चेत् ? नन्विदमेव पृष्टं-किमिदं समवेतत्वं नाम ? 'तत्र समवायेन वर्त्तनम्' इति चेत् ? ननु किं a व्याप्त्या समवायेन वर्त्तनम् b आहोस्विदव्याप्त्या ?

यदि a व्याप्त्या तदाऽस्मदादिज्ञानवैलक्षण्यं यथा तज्ज्ञानस्याऽदृष्टस्यापि कल्प्यते तथाऽकृष्टो-त्पत्तिषु वने वनस्पत्यादिषु घटादौ कर्म-कर्तृकरणनिर्वर्त्यं कार्यत्वमुपलब्धमपि चेतनकर्तृरहितमपि भविष्यतीति कार्यत्वलक्षणो हेतुर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे साध्ये स्थावरैर्व्यभिचारीति लाभमिच्छतो मूल-

---

का ज्ञान यदि उससे भिन्न (पृथक्) और अकार्यरूप है तो 'उस की' यहाँ जो छट्ठी विभक्ति से सम्बन्ध द्योतित होता है वह नही घटता । ['बुद्धि' शब्द को 'उस की (ईश्वर की) बुद्धि' इस अर्थ मे मत् (मतुप्) प्रत्यय लगाने से 'बुद्धिमत्' शब्द बनता है]

पूर्वपक्षी:-वह बुद्धि ईश्वर का गुण है अतः 'वह बुद्धि उस की है' ऐसा षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से कह सकते है ।

उत्तरपक्षी:-यह बात अयुक्त है, जब वह बुद्धि ईश्वर से भिन्न और अकार्यभूत है तो 'वह ईश्वर का ही गुण है, आकाशादि का नही' ऐसी व्यवस्था ही नही की जा सकती ।

पूर्वपक्षी:-समवायनामक सम्बन्ध से ऐसी व्यवस्था हो सकेगी ।

उत्तरपक्षी:-यह ठीक नही है, ईश्वर और उसके ज्ञान से वह समवाय भिन्न होगा तो वही दोष लगता है कि समवाय भिन्न होने पर वह व्यापक होने से सर्वत्र वर्त्तमान है अतः उससे यह व्यवस्था होना शक्य ही नही है कि ज्ञान केवल ईश्वर से ही सम्बन्ध रखे ।

पूर्वपक्षी:-वह ज्ञान ईश्वरात्मा का कार्य है अत. वह ईश्वरात्मा का ही गुण हो सकता है । यदि प्रश्न करे कि वह ईश्वरात्मा का ही कार्य कैसे ? तो उत्तर यह है कि ईश्वर के होने पर ही ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है ।

उत्तरपक्षी:-ईश्वर के समान ही, आकाशादि के होने पर ही होने वाला वह ज्ञान आकाश का ही कार्य क्यो न माना जाय ? 'आकाश के अभाव मे उस का अभाव होने से वह ज्ञान आकाश का कार्य नही है' ऐसा नही कह सकते, क्योकि आकाश नित्य एव व्यापक द्रव्य होने से उसका कही भी कभी अभाव नही होता ।

पूर्वपक्षी:-'ज्ञान ईश्वरात्मा मे ही उत्कलित है ऐसा देखने से वह ईश्वर का ही कार्य माना जायेगा ।

उत्तरपक्षी:-'ज्ञान ईश्वर मे ही उत्कलित है' इसमे उत्कलित का क्या अर्थ है ईश्वर मे ही समवेत है' ऐसा नही कह सकते क्योकि यही तो हमारा प्रश्न है कि 'ईश्वर मे ही समवेत है' इसका क्या अर्थ ?

पूर्वपक्षी:-समवाय सम्बन्ध से ईश्वर मे रहना ।

उत्तरपक्षी:-यहाँ दो प्रश्न हैं-a ईश्वर मे समवायसम्बन्ध से ज्ञान व्यापक होकर रहता है b या व्यापक न होकर ? (अर्थात् संपूर्ण ईश्वरात्मा मे रहता है या उसके किसी एक भाग मे ?)

क्षतिरायातेति । b अथ अव्याप्त्या तत्तत्र वर्त्तते तदा देशान्तरोत्पत्तिमत्सु तन्वादिषु तस्याऽसंनिधानेऽपि यथा व्यापारस्तथाऽदृष्टस्याप्यग्न्यादिदेशेष्वसनिहितस्यापि ऊर्ध्वज्वलनादिविषयो व्यापारो भविष्यति । इति "अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्माऽदृष्टकारितम्" [वैशे० द० ५-२-१३] इत्यनेन सूत्रेण सर्वगतात्मसाधकहेतुसूचनं यत् कृतं तदसंगतं स्यात्, ज्ञानादिविशेषगुणवददृष्टगुणस्य तत्राऽसंनिहितस्याप्यग्न्याद्यूर्ध्वज्वलनादिकार्येषु व्यापारसम्भवात् । न च सामान्यगुण-विशेषगुणत्वलक्षणोऽपि विशेषो गुण-गुणिनोर्भेदे सम्भवति ।

किंच समवायस्य सर्वत्राऽविशेषे 'तत्रैव तेन वर्त्तनं नान्यत्र' इति कुतोऽयं विभागः ? अथ तत्राऽऽधेयत्वं समवेतत्वं, तदा आत्मवद् गगनादेरपि सर्वगतत्वे 'तदात्मन्येव तदाधेयत्वं, नान्यत्र' इति दुर्लभोऽयं विभागः । ततस्तज्ज्ञानस्य तदात्मनो व्यतिरेके 'तस्यैव तज्ज्ञानम्' इति सम्बन्धानुपपत्तिः ।

[ज्ञान ईश्वर में व्यापकरूप से नहीं रह सकता]

a अगर व्यापकरूप से, तब तो अपने ज्ञान से विलक्षण अर्थात् भिन्न स्वरूप वाला वह ज्ञान हुआ (क्योंकि अपना ज्ञान तो शरीर सम्बद्ध भाग मे ही होता है अत॰) यह तो अदृष्ट कल्पना हुयी, जब आप ज्ञान के लिये ऐसी अदृष्ट कल्पना कर लेते है तो-ऐसी भी कल्पना कर सकते है कि यद्यपि घटादि मे कर्म-कर्त्ता-करणादि से प्रयुक्त कार्यत्व उपलब्ध होता है, फिर भी जगल की हरियाली आदि जो कि बिना खेडे ही उत्पन्न है, वह चेतनकर्त्ताशून्य भी हो सकेगी। अदृष्ट कल्पना तो दोनो मत मे तुल्य है। फलत: लाभ इच्छने वाले को नुकसान आ पडेगा क्योकि स्थावर वनस्पति आदि मे कार्यत्व हेतु बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व की सिद्धि करने मे व्यभिचारी है।

[अव्यापक ज्ञान मानने पर आत्मव्यापकता का भंग]

b यदि ज्ञान को ईश्वर मे व्यापक नही मानते है (दूसरा पक्ष), तब तो, देशान्तर मे उत्पन्न होने वाले देहादि के प्रति ईश्वरज्ञान असन्निहित होने पर भी आपको उसका व्यापार मानना पडेगा। जब असनिहित (=दूरवर्त्ती) का भी व्यापार मानेगे तब अग्नि आदि के प्रदेश मे जीवो का अदृष्ट असनिहित होने पर भी उर्ध्व ज्वलनादि क्रिया मे उसका व्यापार घट सकेगा। फिर जो आपके वैशेषिक दर्शन के सूत्र मे "अग्नि का उर्ध्व ज्वलन, वायु का तिरछा गमन, अणु और मन मे आद्य क्रिया अदृष्ट से उत्पादित है"-ऐसा कह कर सर्वत्र व्यापक आत्मा के साधक हेतु का सूचन किया है वह असगत हो जायेगा। क्योकि जैसे ज्ञानादि विशेष गुण अव्यापक होते हुये भी दूरवर्त्ती पदार्थ को विषय कर सकते है वैसे अग्नि आदि के उर्ध्व ज्वलनादि क्रियाओ के प्रति दूरवर्त्ती अदृष्ट गुण का भी व्यापार हो सकता है। यदि ऐसा कहे कि-'ज्ञानादि तो विशेष गुण है अत दूरवर्त्ती होने पर भी वह कार्य कर सकता है, जब कि अदृष्ट गुण तो सामान्यगुण है अत उससे वैसा नही हो सकता'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योकि जब गुणि से गुण सर्वथा भिन्न है तब यह विशेष गुण और यह सामान्यगुण' ऐसा विभाजन भी सगत नही हो सकता।

दूसरी बात यह है कि-जब समवाय सर्वत्र विद्यमान है तब ऐसा विभाग ही कैसे हो सकता है कि 'समवाय से ज्ञान ईश्वर मे ही रहता है, अन्य मे नहीं' ? यदि ईश्वर मे ज्ञान आधेय होने से ही वह उसमे समवेत माना जाय, तब तो आत्मा की तरह गगन भी सर्वत्र व्यापक है तो फिर 'वह ज्ञान

[प्रसंगतः समवायसमीक्षा]

अथ 'ततस्तज्ज्ञानस्य भेदेऽपि संबन्धस्य समवायरूपस्य भावान्नायं दोषः'। असदेतत्–समवायस्यानुपपत्तेः। तथाहि–A किं सतां समवायः ? B आहोस्विद् असताम् ? इति। तत्र यदि A असतामिति पक्षः, स न युक्तः, शशविषाण-व्योमोत्पलादीनामपि तत्प्रसंगात्। अथात्यन्तासत्त्वाद् तेषां न तत्प्रसंगः। ननु तदात्मतज्ज्ञानयोरत्यन्ताऽसत्त्वाभावः कुतः ? 'तत्समवायादी'ति चेत् ? इतरेतराश्रयत्वम्–सिद्धे तत्समवाये तयोरत्यन्ताऽसत्त्वाभाव, तदभावाच्च तत्समवाय इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अथ B सतां समवायः। ननु तेषां समवायाद् प्राक् कुतः सत्त्वम् ? यदि अपरसमवायात्, तदसत्, तस्यैकत्वाभ्युपगमात्। अनेकत्वेऽपि यद्यपरसमवायात्प्राक् तेषां सत्त्वम्, सम(तत्सम)वायादपि प्रागपरसमवायात् तेषां सत्त्वमभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्था। अथ समवायात् प्राक् तेषां स्वत एव सत्त्वमिति नानवस्था; तर्हि समवायव्यतिरेकेणाऽपि सत्त्वाभ्युपगमे व्यर्थं समवायपरिकल्पनमिति 'सत्तासम्बन्धाद् पदार्थानां सत्ता' इत्युच्यमान न शोभामावहति।

ईश्वर मे ही आधेय है, अन्य मे नहीं' यह विभाजन भी दुष्कर बन जाता है। साराश, ईश्वर का ज्ञान ईश्वरात्मा से भिन्न (पृथक्) होने पर 'वह ज्ञान उस का है' यहाँ षष्ठी विभक्ति से सम्बन्ध का निरूपण नही घट सकता।

[समवाय सत्पदार्थों का, असत्पदार्थों का ?]

पूर्वपक्षी:–ईश्वर और उसका ज्ञान भिन्न भिन्न होने पर भी दोनो के बीच समवाय सम्बन्ध होने से कोई दोष नहीं है।

उत्तरपक्षी –यह बात गलत है क्योकि विचार करने पर भी समवाय की उपपत्ति नही होती। जैसे देखिये–समवाय किनका माना जाय, A दो सत् वस्तु का या B दो असत् वस्तु का ? यदि B दूसरा पक्ष माना जाय, तो वह युक्त नही, क्योकि खरगोशसीग और गगनकमलादि असत् पदार्थो मे भी समवाय सम्बन्ध की आपत्ति होगी। यदि कहे कि 'ये दो अत्यन्त असत् होने से वह आपत्ति नही आयेगी-तो हम पूछेगे कि ईश्वरात्मा और उसका ज्ञान. इन दोनो मे, और उपरोक्त युगल मे (खरगोशसीग और गगनकमल मे) ऐसी क्या विलक्षणता है जिससे खरगोशसीग और गगनकमल मे अत्यन्त असत्त्व को माना जाय और ईश्वरात्मादि मे उसका अभाव माना जाय ? यदि सत्त्व के समवाय से उनमे अत्यन्त असत्त्व का अभाव मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा– सत्ता का समवाय सिद्ध होगा तभी उन दोनो मे अत्यन्तासत्त्व का अभाव माना जा सकेगा और ऐसा अभाव सिद्ध होने पर सत्ता के समवाय की सिद्धि होगी।

B यदि दूसरे पक्ष मे दो सत् वस्तु का ही समवाय मानते है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि समवाय सम्बन्ध होने के पूर्व भी वे दोनो वस्तु सत् है–तो यह प्रश्न है कि समवाय सम्बन्ध होने के पूर्व उनका सत्त्व किस तरह होगा ? यदि दूसरे समवाय से मानते है तो वह गलत है क्योकि-आपके दर्शन मे समवाय को एकव्यक्तिरूप ही माना है। कदाचित् उसे अनेकव्यक्तिरूप मानेंगे तो भी यहाँ निस्तार नही है क्योकि यदि वस्तु का पूर्व सत्त्व द्वितीय समवाय से मानेंगे तो द्वितीय समवाय के पूर्व मे भी वस्तु का सत्त्व तृतीय समवाय से मानना पडेगा, फिर तो तीसरा-चौथा. इस प्रकार कही अन्त ही नही होगा। यदि कहे कि–'समवायसम्बन्ध होने से पहले वस्तु की सत्ता स्वत होती

अथ समवायात् प्राक् पदार्थानां न सत्त्वम् नाप्यसत्त्वम्, सत्तासमवायः सत्त्वम्। असदेतत्-यतो यदि तत्समवायात् प्राक् पदार्थाः योगिज्ञानमपि न जनयन्ति तदा कथं तेषां नाऽसत्त्वम्? अथ तद् जनयन्ति तदा कथं तेषां न सत्त्वम्? किं च अन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्यापरसद्भावनान्तरीयकत्वात् कथमसत्त्वनिषेधे न सत्त्वविधानम्? तद्विधाने वा कथं नाऽसत्त्वनिषेधः? इत्ययुक्तमुक्तमुद्द्योतकरेण-'गोत्वसम्बन्धात् प्राग् न गौः, नाप्यगौ, गोत्वयोगाद् गौः' [न्या० वा०२-२-६५]। अपि च समवायाद् यदि पदार्थानां सत्त्वम् समवायस्य कुतः सत्त्वम्-इति वक्तव्यम्। यदि अपरसमवायात्, अनवस्था। अथ स्वत एव समवायस्य सत्त्वम्, पदार्थानामपि तत् स्वत एवास्तु, पुनरपि व्यर्थं सत्तासमवायकल्पनम्। अथ यदि नाम समवायस्य स्वतः सत्त्वमिति रूपम् कथमन्यपदार्थानामपि तदेव रूपम् इति सचेतसा वक्तुं युक्तम्? नहि लवणस्य स्वतो लवणत्वे सूपादेरपि तद्व्यतिरेकेण तद् भवति। असदेतद्-यतोऽध्यक्षतः सिद्धे पदार्थस्वभावे युज्येतैतद् वक्तुम्, न च समवायादेः स्वरूपतः सत्त्वम् अन्यपदार्थानां तु तत्सद्भावात् सत्त्वमित्यध्यक्षात् सिद्धम्।

है, अतः उसके लिये नये नये समवाय मानने की कल्पना का अन्त आ जायेगा।'-तब तो समवाय की परिकल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी, क्योंकि समवाय सम्बन्ध के विना भी आप वस्तु का सत्त्व मानते हैं। अत एव यह कथन भी शोभाविकल ही ठहरेगा कि-'सत्ता के समवाय से वस्तुओं की सत्ता होती है'।

[सत्तासमवाय से पदार्थसत्त्व की अनुपपत्ति]

पूर्वपक्षीः-समवाय के पहले पदार्थों न तो सत् है और न असत् हैं, जब सत्ता का समवाय से सम्बन्ध होता है तब सत् बनते है।

उत्तरपक्षीः-यह बात गलत है, कारण-यदि सत्ता समवाय के पूर्व मे पदार्थों से योगिओं को भी ज्ञान उत्पन्न नही होता तो वे अत्यन्त असत् क्यों नही होगे? अगर योगिज्ञान को उत्पन्न करते हैं तब वे सत् ही क्यो नही होगे? दूसरी बात यह कि दो पदार्थ यदि अन्योन्य के व्यवच्छेदकारी होते है, तो उनमे से एक का निषेध दूसरे के सद्भाव का अविनाभावी होता है (जैसे प्रकाश और अन्धकार), तब यदि आप असत्त्व का निषेध करेंगे तो सत्त्व का विधान क्यो फलित नही होगा? अथवा सत्त्व का विधान करेंगे तो असत्त्व का निषेध क्यो नही होगा? तब यह जो न्यायवार्त्तिक मे उद्द्योतकरने कहा है-गोत्वसम्बन्ध के पहले 'गो है' ऐसा भी नही है और 'गो नही है' ऐसा भी नही है, गोत्वसम्बन्ध होने पर वह गो होता है।-यह अयुक्त ही ठहरता है।

[नमक के उदाहरण से समवाय का स्वतः सत्त्व अनुपपन्न]

तदुपरांत, पदार्थों का सत्त्व यदि समवायप्रयुक्त है तो समवाय का सत्त्व किंप्रयुक्त है यह दिखाईये। यदि दूसरे समवाय से मानेंगे तो फिर तीसरे-चौथे...इत्यादि कल्पना का अन्त नही आयेगा। समवाय का यदि स्वतः सत्त्व होता है तब पदार्थो का सत्त्व भी स्वतः ही मान लो! ऐसा मान लेने से, फिर से सत्ता के समवाय की कल्पना निरर्थक है।

पूर्वपक्षीः यह कैसी बात करते हो कि समवाय का सत्त्वस्वरूप स्वतः है तो दूसरे पदार्थों का भी सत्त्व स्वतः ही मानना पडे-बुद्धिमान होकर ऐसा कहना ठीक नही है। अरे! नमक अपने आप लवणरसवाला है तो इस का मतलव यह नही कि सूप (दाल) आदि को भी अपने आप ही लवण स्वाद वाला मान लिया जाय! वे तो नमक पडने पर ही लवणस्वादवाले बन सकते हैं।

अपि चायं समवायः a किं समवायिनोः परिकल्प्यते b उताऽसमवायिनोरिति विकल्पद्वयम्। b तत्र यद्यसमवायिनोरिति पक्षः स न युक्तः, घट-पटयोरत्यन्तभिन्नयोस्तत्प्रसंगात्। न चाऽसमवायिनोभिन्नसमवायेन समवायित्वं तदभिन्नं विधातुं शक्यम्, विरुद्धधर्माध्यासेन ताभ्यां तस्य भेदप्रसंगात्। नापि भिन्नम्, तत्करणे तयोः तत्सम्बन्धित्वानुपपत्तेः, भिन्नस्योपकारमन्तरेण तदयोगात्। उपकारेऽपि तद्भिन्नसमवायित्वकरणे पुनरपि तयोरसमवायित्वम् अन्यान्योपकारकरणे त्वनवस्था। a स्वत एव तु समवायिनोः किं समवायेन तद्धेतुना परिकल्पितेन ? अथ समवायेन तयोस्तद्व्यवहारः क्रियते। ननु यदि समवायिनोः स्वरूपं प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरस्तदा तत एव तद्व्यवहारस्यापि सिद्धेर्व्यर्थमेव तदर्थं तत्परिकल्पनम्।

उत्तरपक्षीः-यह भी गलत है, क्योंकि पदार्थों का जो स्वभाव प्रत्यक्षसिद्ध है उसके लिये ऐसा कहा जा सकता है। समवायादि मे स्वत सत्त्व और अन्यपदार्थो मे सत्तासमवाय के योग से सत्त्व-ऐसा प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नही, फिर कैसे माना जाय ? (जब कल्पना ही करनी है तब समवाय के द्वारा पदार्थों की सत्ता मान लेने के बदले समवायवत् पदार्थों को ही स्वतः सत्स्वभाव क्यो न मान लिया जाय ?)

[समवाय दो समवायी का होगा या असमवायी का ?]

यह भी विचारना पडेगा कि-समवाय की कल्पना किस के सम्बन्धरूप मे की जाती है ? a दो समवायी वस्तु के सम्बन्धरूप मे या b दो असमवायी वस्तु के ? ये दो विकल्प हैं, उनमे से यदि (दूसरा पक्ष) b दो असमवायी वस्तु का समवाय मानेंगे तो वह अयुक्त है, क्योकि इसमे अत्यन्तभिन्न घट और पट के भी समवाय सम्बन्ध की आपत्ति है। दूसरी बात यह है कि समवाय से दो असमवायी वस्तु मे समवायित्व का अभेद सम्बन्ध से आधान करना शक्य नही है क्योकि तब तो असमवायित्व और समवायित्व ये दो विरुद्धधर्मो के अध्यास से उन दो असमवायी मे से प्रत्येक वस्तु का भी भेदप्रसग आ पडेगा। भेद सम्बन्ध से भी आधान करना शक्य नही है क्योकि तब तो वह समवायित्व असमवायि दो वस्तु से भिन्न ही रहेगा, ऐसे भिन्न समवायित्व के करने पर असमवायि दो वस्तु मे अन्योन्यसम्बन्धिता की उपपत्ति नही हो सकेगी। कारण, भिन्न पदार्थ कुछ उपकार के आधान विना दो वस्तु मे सम्बन्धिता का स्थापन नही कर सकता। यदि उपकार को मानेंगे तो भी यह प्रश्न तो खडा ही है कि उससे होने वाला समवायित्व उन दो असमवायिवस्तु से भिन्न होगा या अभिन्न ? यदि भिन्न मानेंगे तब तो उसमे असमवायित्व ही रहेगा, और उसके लिये फिर नया नया उपकार मानते रहेंगे तो अन्त कहाँ आयेगा ?

a यदि समवाय से दो समवायी का ही सम्बन्धित होना मानेंगे तो वह न मानना ही श्रेयस्कर हैं क्योकि जो विना समवाय भी स्वय ही समवायी हैं वहाँ अतिरिक्त समवाय को सम्बन्धकारक रूप मे कल्पना क्यो की जाय ?

पूर्वपक्षीः-इसलिये कि अतिरिक्त समवाय से उन दो समवायी का 'समवायी' ऐसा व्यवहार किया जा सके।

उत्तरपक्षीः-अरे भाई ! जब दोनो समवायी का स्वरूप प्रत्यक्षादिप्रमाण का विषय है तब उस प्रमाण से ही 'समवायी' रूप से उनका व्यवहार सिद्ध हो जायेगा, अतः व्यवहार के लिये समवाय की कल्पना व्यर्थ है। सर्वत्र यथार्थव्यवहार प्रमाणाधीन ही होता है।

अथ प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वात् समवायस्य एवं विकल्पनमयुक्तम् । तदसत्-यदि हि तत्सिद्धत्वं तस्य स्यात् तदाऽयुक्तमेतत् , न च प्रत्यक्षप्रमाणे तत्स्वरूपावभासः-न हि तदात्मा, ज्ञानम् , तत्समवायश्चेति त्रितयमिन्द्रियजाध्यक्षगोचर , नापि स्वसंवेदनाध्यक्षविषयः, तस्य भवताऽनभ्युपगमात् । नाऽप्येकार्थसमवेतानन्तरमनोऽध्यक्षविषयः, तस्य प्रागेव निषिद्धत्वात् । न च बाह्येष्वपि घट-रूपादिष्वर्थेषु 'अयं घट , एते च तत्समवेता रूपादयः, अय च तदन्तरालवर्त्ती भिन्नः समवायः' इति त्रितयमध्यक्षप्रतीतौ विभिन्नस्वरूप प्रतिभाति । तत्प्रतिभाने वा द्रव्य-गुण-समवायानामध्यक्षसिद्धत्वाद् विभिन्नस्वरूपतया न गुण-गुणिभावे समवाये वा कस्यचिद् विवादः स्यात् । नाप्येकत्वविभ्रमो घट-रूपादीनाम् , ततश्च तन्निराकरणार्थं शास्त्रप्रणयनमपार्थकं स्यात् ।

ननु यथा प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नेऽप्यनेकान्ते जैनेन, स्वलक्षणे वा बौद्धेन स्वदुरागमाहितवासनाबलाल्लोकस्य तेन तदप्रतिपन्नताविभ्रम तन्निराकरणार्थं च शास्त्रप्रणयनम् तथाऽत्रापि स्यादिति । तर्हि तथाविधशास्त्ररहितानामबला-बालादीनां न समवायप्रत्यक्षताविभ्रम इति तेषां 'शुक्लः पटः' इति प्रतीतिर्न स्यात् अपि तु 'अयं पटः, एते शुक्लादयो गुणाः, अयं च तदन्तरालवर्त्ती अपर समवायः' इति प्रतीतिः स्यात् । अथ समवायस्य सूक्ष्मत्वात् प्रत्यक्षत्वेऽप्यनुपलक्षणात् तत्रस्थत्वेन रूपादीनामुपचारात् 'शुक्लः

[समवाय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से अशक्य]

पूर्वपक्षीः-समवाय तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, अतः उसके ऊपर उपरोक्त विकल्प जाल फैलाना अयुक्त है।

उत्तरपक्षीः-यह बात गलत है, यदि वह प्रत्यक्ष से सिद्ध होता तब तो विकल्पजाल अवश्य अयुक्त होता, किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण मे तो कभी भी उसके स्वरूप का भास नही होता । 'ईश्वरात्मा, ज्ञान और उनका समवाय' ऐसी त्रिपुटी इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का तो विषय नही होती । स्वयप्रकाशी प्रत्यक्ष का विषय भी नही है, क्योकि आप ज्ञान को स्वप्रकाश नही मानते । उसी ज्ञान के अधिकरण मे समवेत अन्य मानसप्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) का भी वह विषय नही होता क्योकि ज्ञान की ज्ञानान्तरवेद्यता को पहले [पृ० ३४४ प० १] परास्त कर दिया है। बाह्यजगत् की बात करे तो घट और रूपादि पदार्थों मे "यह घट है, ये उसमे समवेत रूपादि है और उन दोनो का मध्यवर्त्ती यह अलग समवाय है" इस प्रकार विभिन्न स्वरूप वाली त्रिपुटी प्रत्यक्षज्ञान मे भासित नही होती है । यदि ऐसी प्रतीति वास्तव मे होती हो तब तो द्रव्य, गुण और समवाय तीनो ही प्रत्यक्ष से सिद्ध हो जाने के कारण विभन्नस्वरूप से गुणगुणीभाव और समवाय के बारे मे किसी को विवाद ही नही रहता, उपरात गुण-गुणी अर्थात् रूपादि और घट मे एकत्व का विभ्रम होना भी सम्भव नही है, तो फिर गुण-गुणी के एकत्व को तथा समवाय मे विवाद को परास्त करने के लिये शास्त्रो की रचना निरर्थक हो जायेगी ।

[आगमवासनाशून्य बालादि को भी समवाय प्रतीत नहीं होता]

पूर्वपक्षीः जैनों मानते हैं कि अनेकान्त प्रत्यक्षसिद्ध है, बौद्ध भी मानते है कि स्वलक्षण वस्तु प्रत्यक्षसिद्ध है, फिर भी अपने अपने मिथ्या आगम से उत्पन्न वासना के प्रभाव से जिन लोगों को अनेकान्त और स्वलक्षण प्रत्यक्षसिद्ध न होने का विभ्रम हुआ करता है उनके विभ्रम को तोडने के लिये जैन और बौद्धो की ओर से शास्त्रो की रचना की जाती है-आप उनको निरर्थक नही मानते है-तो वैसे ही हम भी समवाय की सिद्धि के लिये शास्त्रनिर्माण करते है । इस में क्या दोष हुआ ? ।

पटः' इति प्रतिपत्तिः स्यात् । नैतद् एवं, दण्डेऽपि 'पुरुषः' इति प्रतिपत्तिः स्यात् । उपचाराच्चेयं प्रतिपत्तिरुपजायमाना स्खलद्रूपा स्याद्, वाहीके गोबुद्धिवत् । न च समवेतमिदं वस्तु अत्र' इति प्रतिपत्तौ विशेषणभूतः समवायः प्रतिभाति इति वक्तुं युक्तम्, बहिष्प्रतिभासमानरूपादिव्यतिरेकेण अन्तश्चाभिजल्पमन्तरेणापरस्य वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यस्य ग्राह्याकारतां बिभ्राणस्य बहिः समवायस्वरूपस्याऽप्रतिभासनात् । वर्णाद्याकाररहितं च परैः समवायस्वरूपमभ्युपगम्यते । न च तत्कल्पनाबुद्धावपि प्रतिभाति । न चान्यादृशः प्रतिभासोऽन्यादृक्षस्यार्थस्य व्यवस्थापकः, अतिप्रसंगात् । तन्न समवायोऽध्यक्षप्रमाणगोचरः ।

यस्त्वाह–नित्यानुमेयत्वाद् समवायस्यानुमानगोचरता, तेनायमदोषः इति । तच्चानुमानम्–'इह तन्तुषु पटः' इति बुद्धिस्तन्तु-पटव्यतिरिक्तसम्बन्धपूर्विका, 'इह' इति बुद्धित्वात्, इह कंसपात्र्यां जलबुद्धिवत्–इत्येतत्; 'सोऽप्ययुक्तवादी, 'समवायस्यान्यस्य वा पदार्थस्य नित्यैकरूपस्य कारणत्वाऽसम्भवात् क्वचिदपि' इति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न च 'तन्तुषु पटः–शृङ्गे गौः-शाखायां वृक्षः' इति लौकिकी प्रतीतिरस्ति, 'पटे तन्तवः–गवि शृङ्गम्-वृक्षे शाखा' इत्याकारेण प्रतीत्युत्पत्तेः सवेदनात्, तस्याश्च समवायनिबन्धनत्वे तन्त्वादीनां पटाद्यारब्धत्वप्रसंगः ।

उत्तरपक्षी:–यदि ऐसा कहेगे तब तो बालक-अबला आदि जिन लोगो को तथाविध आगम से कोई वासना उत्पन्न नही हुयी है उन लोगो को तो समवाय की प्रत्यक्षता के बारे मे कोई विभ्रम नही हो सकता, अतः श्वेत वस्त्र को देख कर उन लोगो को 'शुक्ल वस्त्र' ऐसा प्रत्यक्ष न हो कर "यह वस्त्र, ये शुक्लादि गुण और यह उनका मध्यवर्त्ती अलग समवाय" ऐसा ही प्रत्यक्ष होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नही है, अतः पूर्वपक्ष का कथन व्यर्थ है ।

पूर्वपक्षी:-समवाय बहुत सूक्ष्म है, देखने पर भी वह स्फुट उपलक्षित नही होता, दूसरी ओर शुक्ल रूपादि गुण वस्त्र मे रहने वाले है अतः 'शुक्ल वस्त्र' ऐसी गुण-गुणी के अभेद भाव से प्रतीति होती है ।

उत्तरपक्षी:–यह ऐसा नही है, यदि उपचार से ऐसी प्रतीति होने का कहेगे तो दडवाले पुरुष को देख कर उपचार से दड मे भी 'यह पुरुष है' ऐसी बुद्धि हो जायेगी । और यदि 'शुक्ल वस्त्र' इस प्रतीति को उपचार से होने का मानेंगे तो वह स्खलद्रूप, यानी बैलवाहक मे बैल की बुद्धि की तरह अवास्तव हो जायेगी जो किसी को भी मान्य नही है ।

पूर्वपक्षी –'यह वस्तु इस मे समवेत है' इस प्रकार की प्रतीति मे समवाय ही वस्त्रादि के विशेषणरूप मे प्रतीत होता है ।

उत्तरपक्षी –ऐसा भी कहना अयुक्त है क्योकि उक्त प्रतीति मे, बाह्यजगत् के तो केवल रूपादि ही भासते हैं और समवाय को तो आप अपनी वासना से अन्तर्जल्प के द्वारा उसमे जोड कर वैसा बोलते हैं, वास्तव मे ग्राह्याकार को धारण करने वाले, वर्ण-आकृति और अक्षराकार से शून्य ऐसे समवाय का स्वरूप बाह्य जगत् मे किसी को भी नही भासता है । समवाय को तो आप वर्णादिआकार से शून्य स्वरूपवाला मानते हो, और वैसा समवाय कभी कल्पना में भी स्फुरित नही होता । एक प्रकार का प्रतिभास कभी अन्यप्रकार की वस्तु का व्यवस्थापक नही बन सकता, अन्यथा रूपआकार का प्रतिभास रस का स्थापक हो जायेगा । निष्कर्ष.-समवाय प्रत्यक्षप्रमाण का विषय नही हैं ।

किञ्च, समवायस्य समवायिभिरनभिसम्बन्धे तस्य तत्र 'संबद्धबुद्धिजननं तेषां सम्बन्ध एव च' [ ] इति च न युक्तम्, न हि दण्ड-पुरुषयोः संयोगः सह्य–विन्ध्याभ्यामनभिसम्बध्यमानस्तत्र संबद्धबुद्धिहेतुः तत्सम्बन्धो वा । तैस्तदभिसम्बन्धे वा स्वतः, द्रव्य-गुण-कर्मणां स्वाधारे स्वतः सम्बन्धः किं न स्यात् यतः समवायपरिकल्पनाऽऽनर्थक्यमश्नुवीत । 'इह समवायिषु समवायः' इति च बुद्धिरपरनिमित्तका प्रकृतस्य हेतोरनैकान्तिकत्वं कथं न साधयेत्, स्वतस्तत्सम्बन्धाभ्युपगमे ? समवायान्तरेण तस्य तदभिसम्बन्धेऽनवस्थालता गगनतलावलम्बिनी प्रसज्येत । विशेषण-विशेष्यभावलक्षणसम्बन्धबलात् तस्य तदभिसम्बन्धे तस्यापि तैः सम्बन्धोऽपरविशेषणविशेष्यभावलक्षणसम्बन्धबलाद् यदि सैवानवस्था । समवायबलात् तस्य तत्सम्बन्धे व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । स्वतस्तैस्तस्याभिसम्बन्धे बुद्धयादीनामपि स्वत एव स्वाधारैः सम्बन्धो भविष्यतीति व्यर्थं सम्बन्धपरिकल्पनम् । तन्न समवायः कस्यचित् प्रमाणस्य गोचरः पुनरपि चैन यथास्थानं निषेत्स्यामः, इत्यास्तां तावत् । तदेवं बुद्धेस्तदात्मनो व्यतिरेके सम्बन्धाऽसिद्धेर्मत्वर्थानुपपत्तिः ।

[समवायसाधक अनुमान निर्दोष नहीं है]

जिसने ऐसा कहा है कि–समवाय नित्य और हमेशा के लिये अनुमेय ही है, अत वह अनुमान का ही विषय है, प्रत्यक्ष का विषय न होने मे कोई दोष नही है। अनुमान इस प्रकार है.–'यहा तन्तुओ मे वस्त्र है' ऐसी बुद्धि तन्तु और वस्त्र दोनो से अतिरिक्त सम्बन्ध से उत्पन्न है, क्योकि यह बुद्धि 'यहाँ' इस तरह से होती है। उदा० 'यहाँ कसपात्री मे जल है' ऐसी बुद्धि।–ऐसा जिसने कहा है वह भी मिथ्यावादी है। कारण हम आगे दिखायेगे कि समवाय या अन्य कोई भी पदार्थ यदि नित्यैकस्वरूप होगा तो वह किसी भी कार्य के प्रति कारण नही बन सकेगा। "तन्तुओ मे वस्त्र है-सीग मे गाय है–शाखा मे वृक्ष है" ऐसी प्रतीतियाँ लोक मे किसी को नही होती है, सभी लोगो को 'वस्त्र में तन्तु है–गाय मे सीग है–वृक्ष मे शाखा है' ऐसे आकारवाली प्रतीति की उत्पत्ति का ही सवेदन होता है। यदि समवाय को इन प्रतीतिओ का विषय मानेगे तब तो वस्त्र, गाय और वृक्ष द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से क्रमश तन्तु, सीग और शाखा द्रव्य के आरम्भ की आपत्ति होगी।

[समवाय का समवायि के साथ सम्बन्ध है या नहीं ?]

तदुपरात, A समवाय का समवायी पदार्थों के साथ अभिसम्बन्ध है या B नही ये दो प्रश्न दुरुत्तर है। B यदि अभिसम्बन्ध नही है तो यह कहना व्यर्थ है कि–'समवाय उनका सम्बन्ध है और उससे 'सम्बद्ध' बुद्धि की उत्पत्ति होती है'। दण्ड और पुरुष का सयोग, सह्याद्रि और विन्ध्याद्रि के साथ सलग्न नही है तो वह दोनो के बीच सम्बन्ध भी नही बन सकता और उससे उन दोनो में 'सम्बद्ध' बुद्धि का भी जन्म होना शक्य नही है। A यदि समवायी पदार्थो के साथ समवाय का स्वतः ही अभिसम्बन्ध विद्यमान है, तब तो द्रव्य-गुण और कर्म का भी अपने आधार के साथ समवाय की कल्पना को निरर्थक सिद्ध करने वाला स्वतः ही सम्बन्ध क्यो नही हो सकता ?

तथा, आपने पहले 'इह'. इत्यादि बुद्धि मे अतिरिक्त सम्बन्धमूलकत्व को साध्य बना कर 'इह-इति बुद्धित्वात्' यह हेतु कहा था, किन्तु "इह समवायिपु समवाय" इस बुद्धि मे आपका अभिमत अतिरिक्त सम्बन्धरूप साध्य तो है नही (क्योकि आप समवायी और समवाय का अलग समवायसम्बन्ध नही मानते हैं) तो फिर इस बुद्धि से 'इह इति बुद्धित्वात्'–यह हेतु अनैकान्तिक क्यो नही सिद्ध होगा ?!

अथ अव्यतिरिक्ता तदात्मनस्तद्बुद्धिस्तथापि तदनुपपत्तिः, न हि तदेव तेनैव तद्वद् भवति।
किं च, तदात्मनस्तद्बुद्धेरव्यतिरेके यदि तदात्मनि तद्बुद्धेरनुप्रवेशस्तदा बुद्धेरभावाद् बुद्धिविकलो गगनादिवद् जडस्वरूपस्तदात्मा कथं जगत्स्रष्टा स्यात्? बुद्ध्यादिविशेषगुणगणवैकल्ये च तदाऽऽत्मनः, अस्मदाद्यात्मनोऽप्यात्मत्वेनैव तद्वैकल्याद् मुक्तात्मनः इव संसारित्वं न स्यात्, नवानां विशेषगुणानामात्यन्तिकक्षयोपेतस्यात्मनो मुक्तत्वाभ्युपगमात् तस्य चास्मदाद्यात्मस्वपि समानत्वात् भवदभ्युपगमेन।

अथ आत्मत्वाऽविशेषेऽपि तदात्मा अस्मदाद्यात्मभ्यो विशिष्टोऽभ्युपगम्यते तर्हि कार्यत्वाऽविशेषेऽपि घटादिकार्येभ्यः स्थावरादिकार्यमकर्तृकत्वेन विशिष्टं किं नाभ्युपगम्यते? तथा च न कार्यत्वादिलक्षणो हेतुरनुपलभ्यमानकर्तृकैः स्थावरादिभिरव्यभिचारी स्यात्।

जब कि आप वहा अतिरिक्त सम्वन्ध को न मान कर स्वत: ही समवाय और समवायी का सम्वन्ध मानते हो। यदि दूसरे समवाय से उनका अभिसम्वन्ध मानेंगे तो उस समवाय को सम्वन्ध करने के लिये नये नये समवाय की कल्पना लता (=अनवस्था) इतनी फैलेगी जो आकाशतल को जा मिलेगी। यदि 'समवायी विशेष्य और समवाय विशेषण' इस प्रकार विशेषणविशेष्यभावात्मक सम्बन्ध के वल से उनका अभिसम्वन्ध मानेंगे तो यहाँ विशेषण-विशेष्यभावात्मक सम्वन्ध के सम्वन्ध के लिये भी अन्य-अन्य विशेषण-विशेष्यभावात्मक सम्वन्ध की खोज करनी पड़ेगी—इस प्रकार उसी अनवस्था का पुनरवतार होता रहेगा। यदि विशेषण-विशेष्यभावात्मक सम्वन्ध का अभिसम्वन्ध पूर्वोक्त समवाय से मान लेंगे तो दोनो एक दूसरे के आधीन वन जाने से स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष लगेगा। यदि उसका सम्वन्ध स्वत: ही मान लेंगे तो पूर्ववत् वुद्धि आदि का भी अपने अपने आधार मे सम्वन्ध हो जायेगा, अत: समवाय की कल्पना निष्फल है। साराश, समवाय किसी भी प्रमाण का विषय नही है। अग्रिम ग्रन्थ मे उचित स्थान पर और भी उसके निषेध की युक्तिया दिखायेंगे अत. अव उसको रहने दो। कहना तो यही है कि उपरोक्त रीति से वुद्धि यदि ईश्वरात्मा से भिन्न (पृथक्) होगी तो सम्वन्ध की घटना न होने से मत् (मतुप्) प्रत्यय की सगति नही हो सकेगी।

[समवाय की प्रासंगिक चर्चा समाप्त]

[ईश्वरात्मा और वुद्धि का अभेद असंगत]

यदि ईश्वरात्मा से उसकी वुद्धि को अभिन्न (अपृथक्) माना जाय तो भी मतुप् प्रत्यय की सगति नही है क्योकि वह एक वस्तु अपने से ही कभी तद्वत् (यानी अपनेवाली) नही हो सकती। तदुपरात, ईश्वरात्मा से उसकी वुद्धि का भेद न होने पर a ईश्वर मे वुद्धि का अनुप्रवेश मानेंगे या b वुद्धि मे ईश्वर का अनुप्रवेश मानेंगे? a यदि वुद्धि का ईश्वर मे ही अनुप्रवेश मानेंगे तो वुद्धि जैसा कुछ भी नही रहेगा अत: आकाशादि की तरह ईश्वरात्मा भी वुद्धिशून्य जडस्वरूप हो जायेगा, फिर वह जगत् का निर्माता कैसे हो सकेगा? उपरात, ईश्वरात्मा यदि वुद्धि आदि विशेषगुण से शून्य होगा तो आत्मत्व दोनो जगह समान होने से अपने लोगो का आत्मा भी उससे शून्य ही होगा, फलत: जैसे मुक्तात्मा विशेषगुणो के उच्छेद के कारण ससारी नही माना जाता उसी तरह अपने लोगो में भी ससारीत्व नही घटेगा। वुद्धि-सुख-दुख-इच्छा-द्वेष प्रयत्न-भावना और धर्माधर्म ये नव.

अथ तद्बुद्धौ तदात्मनोऽनुप्रवेशस्तदा बुद्धिमात्रमाधारशून्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। तथा चास्मदादिबुद्धेरपि तद्वदाधारविकलत्वेन मतुबर्थाऽसम्भवाद् घटादावपि बुद्धिमत्कारणत्वस्याऽसिद्धत्वात् साध्यविकलो दृष्टान्तः। अथास्मदादिबुद्धिभ्यो बुद्धित्वे समानेऽपि तद्बुद्धेरेवानाश्रितत्वलक्षणो विशेषोऽभ्युपगम्यते तर्हि घटादिकार्येभ्यः पृथिव्यादिकार्यस्य कार्यत्वे समानेऽपि अकर्तृपूर्वकत्वलक्षणो विशेषोऽभ्युपगन्तव्यः इति पुनरपि कार्यत्वलक्षणो हेतुस्तैरेव व्यभिचारी।

किं चासौ तद्बुद्धिः aक्षणिकाऽbक्षणिका वेति वक्तव्यम्। यदि क्षणिकेति पक्षः तदात्मानं समवायिकारणम्, आत्ममन संयोगं चाऽसमवायिकारणम्, तच्छरीरादिकं च निमित्तकारणमन्तरेण कथं द्वितीयक्षणे तस्या उत्पत्तिः ? तदनुत्पत्तौ चाऽचेतनस्याण्वादेश्चेतनानधिष्ठितस्य कथं भूधरादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः वास्यादेरिवाऽचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यनभ्युपगमात्? ततश्चेदानीं भूरुहादीनामनुत्पत्तिप्रसगात् कार्यशून्यं जगत् स्यात्। अथ समवाय्यादिकारणमन्तरेणाऽपि तद्बुद्धेरस्मदादिबुद्धिवैलक्षण्यादुत्पत्तिरभ्युपगम्यते। नन्वेवं घटादिकार्यवैलक्षण्यं भूधरादिकार्यस्य किं नाभ्युपगम्यते इति तदेव

विशेषगुणो के अत्यन्त उच्छेद से ही आप आत्मा को मुक्त मानते है और आपके माने हुए बुद्धि के अव्यतिरेक पक्ष मे तो अपने लोगो के आत्मा मे भी वह (उच्छेद) समान ही है।

[घटादिकार्य और स्थावरादि में वैलक्षण्य]

पूर्वपक्षी:-आत्मत्व समान होने पर भी ईश्वरात्मा को अपने लोगो की आत्मा से विलक्षण मानते हैं। अत: ससारीत्व न होने की कोई आपत्ति नही होगी।

उत्तरपक्षी:-तो फिर घटादि और जंगलीवनस्पति आदि मे कार्यत्व समान होने पर भी घटादि से जंगली वनस्पति आदि स्थावर कार्यो मे अकर्तृकत्वरूप विलक्षणता का भी क्यो अस्वीकार करते है? यदि स्वीकार करे तब तो अनुपलब्धकर्त्ता वाले स्थावरादि मे आपका कार्यस्वरूप हेतु व्यभिचारी बनेगा।

b यदि ईश्वर के आत्मा मे बुद्धि के अनुप्रवेश के बदले बुद्धि मे ईश्वर के आत्मा का अनुप्रवेश मानेंगे तो आधारशून्य केवल बुद्धि मात्र का ही स्वीकार फलित होगा। जैसे ईश्वरबुद्धि आधारशून्य हो सकेगी वैसे ही बुद्धित्व को समानता के कारण अपने लोगों की बुद्धि भी आधारशून्य रह सकेगी, फलत 'बुद्धिमान्' इस प्रयोग मे 'मान्' प्रत्यय का असम्भव यानी निरर्थक हो जायेगा। आशय यह है कि घटादि कार्य का भी बुद्धिमान् कर्त्ता असिद्ध हो जाने से दृष्टान्त साध्यविरहित बन जायेगा।

पूर्वपक्षी:-ईश्वरबुद्धि और अपने लोगो की बुद्धि मे बुद्धित्व समान होने पर भी ईश्वरबुद्धि मे आधारशून्यतारूप विशेषता की कल्पना करते हैं, अपने लोगो की बुद्धि मे नही।

उत्तरपक्षी:-तब तो यह भी कहो कि घटादिकार्य और क्षिति आदि मे कार्यत्व समान होने पर भी अकर्तृपूर्वकत्वरूप विशेषता क्षिति आदि मे ही मानेंगे। जब ऐसा कहेंगे तब तो क्षिति आदि मे कार्यत्व हेतु फिर से एक बार साध्यद्रोही सिद्ध होगा।

[ईश्वरबुद्धि में क्षणिकत्व-का विकल्प असंगत]

तदुपरांत, यह बुद्धि A क्षणिक है या B अक्षणिक-यह दिखाईये। A यदि क्षणिकपक्ष को मानते है तो प्रश्न होगा कि उस बुद्धि के नष्ट हो जाने पर, द्वितीयक्षण मे समवायी कारण आत्मा,

चोद्यम् । किंच, यदीशबुद्धिः समवाय्यादिकारणनिरपेक्षैवोत्पत्तिमासादयति तर्हि मुक्तानामप्यानन्दादिकं शरीरादिनिमित्तकारणादिव्यतिरेकेणाप्युत्पत्स्यत इति न बुद्धि-सुखादिविकलं जडात्मस्वरूपं मुक्तिः स्यात् ।

bअथाऽक्षणिका तद्बुद्धिः । नन्वेवमस्मदादिबुद्धिरप्यक्षणिका किं नाभ्युपगम्यन्ते ? अथ प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद् नास्मदादिबुद्धिरक्षणिका, तर्हि तद्विरोधादेवाऽकृष्टोत्पत्तिषु स्थावरेषु कार्यत्वं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं नाभ्युपगन्तव्यम् । अथास्मदादिबुद्धेः क्षणिकत्वसाधकमनुमानमक्षणिकत्वाभ्युपगमबाधकं प्रवर्त्तते न पुनरकृष्टोत्पत्तिषु स्थावरेषु । किं पुनस्तदनुमानम् ? अथ 'क्षणिका बुद्धिः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्, शब्दवत्' इत्येतत् । ननु यथा अस्यानुमानस्यास्मदादिबुद्ध्यक्षणिकत्वाभ्युपगमबाधकस्य सम्भवस्तथाऽकृष्टोत्पत्तिषु स्थावरेषु कर्तृपूर्वकत्वाभ्युपगमबाधकस्य तस्य सम्भवः प्रतिपादयिष्यत इति नात्र वस्तुनि भवतौत्सुक्यमास्थेयम् । यथा च बुद्धिक्षणिकत्वानुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वं तथा शब्दस्य पौद्गलिकत्वविचारणायां प्रतिपादयिष्यत इत्येतदप्यास्तां तावत् ।

असमवायी कारण आत्म-मन का सयोग और निमित्त कारण शरीरादि, के विना नयी वुद्धि कैसे उत्पन्न होगी ? (यहाँ वुद्धि मे आत्मा का अनुप्रवेश होने से आत्मा तो रहा ही नही, उसका मन के साथ सयोग भी न रहा और तब शरीर भी नही हो सकता, फिर अनित्य वुद्धि की उत्पत्ति कैसे होगी ?) यदि कहे कि-द्वितीयक्षण मे वृद्धि ही उत्पन्न नही होती है,-तब तो चेतना के अभाव मे तदनधिष्ठित अणु आदि की भूधरादिकार्योत्पादन मे सक्रियता कैसे हो सकेगी ? कुठार की तरह जो अचेतन एव चेतन से अनधिष्ठत होते है उनसे किसी भी प्रवृत्ति का जन्म तो आप मानते नही है । इसका दुष्परिणाम यह योगा कि वृक्षादि-किसी भी कार्य की उत्पत्ति न होने से पूरा जगत् कार्यशून्य हो जायेगा ।

पूर्वपक्षीः-समवायी आदि कारण के विना भी ईश्वरवुद्धि की उत्पत्ति को हम मान लेगे, क्योकि ईश्वरवुद्धि अपने लोगो की वुद्धि से विलक्षण है ।

उत्तरपक्षीः-तब पर्वतादि कार्यो को भी घटादि कार्य से विलक्षण अर्थात् अकर्तृपूर्वक ही क्यो नही मान लेते है ? ! यही प्रश्न फिर से उठेगा । दूसरी बात यह है कि क्षणिक ईश्वरवुद्धि का यदि समवायी आदि कारण सामग्री से निरपेक्ष यानी उनके विना ही उत्पत्ति मानेंगे तो मुक्तात्माओ मे सुख-ज्ञानादि भी शरीरादिनिमित्तकारणो के विना ही उत्पन्न हो जायेंगे । अत मुक्ति का स्वरूप वुद्धि-सुखादि से शून्य जडमात्ररूप नही होगा ।

[ईश्वरवुद्धि में अक्षणिकत्व का विकल्प असंगत]

B यदि ईश्वरबुद्धि को अक्षणिक मानते हैं तो फिर अपने लोगो की वुद्धि को अक्षणिक क्यो नही मान लेते ?

पूर्वपक्षी-अपने लोगो की वुद्धि को अक्षणिक मानने मे प्रत्यक्षादि प्रमाणो का विरोध आता है अत. उसे अक्षणिक नही मानते है ।

उत्तरपक्षी -ऐसे तो कृषि के विना उत्पन्न स्थावरकार्यो मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व मानने मे भी प्रत्यक्षादि का विरोध है तो फिर उन कार्यो मे उसको नही मानना चाहिये ।

पूर्वपक्षीः-अपने लोगो की वुद्धि मे अक्षणिकत्व मानने जाय तो क्षणिकत्वसाधक अनुमान रूप बाधक बीच मे आता है, कृषि के विना उत्पन्न स्थावरकार्यो मे वह बीच मे नही आता । वह

यथा वा बुद्धित्वाविशेषेऽपीशास्मदादिबुद्ध्योरयमक्षणिकत्वक्षणिकत्वलक्षणो विशेषस्तथा भूरुह्-घटादिकार्ययोरप्यकर्तृ-कर्तृपूर्वकत्वलक्षणो विशेषः किं नाभ्युपगम्यते ? इति पुनरपि तदेव दूषणं कार्यत्वादेर्हेतोरनैकान्तिकत्वलक्षणं प्रकृतसाध्ये ।

तदेवं बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वलक्षणे साध्ये मतुबर्थाऽसम्भवात् तन्वादीनामनेकधा प्रमाणबाधा-सम्भवाच्च शास्त्रव्याख्यानादिलिंगानुमीयमानपाण्डित्यगुणस्य देवदत्तस्येव मूर्खत्वलक्षणे साध्येऽनुमान-बाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तस्य कार्यत्वादेर्हेतो. कालात्ययापदिष्टत्वेन तत्पुत्रत्वादेरिवाऽगमकत्वम् अनु-मानबाधितत्वं वा पक्षस्येति स्थितम् ।

तथा 'कार्यत्वात्' इति हेतुरप्यसिद्धः । तथाहि–किमिदं तन्वादीनां कार्यत्वम् ? 'प्रागसतः A स्वकारणसमवाय' B सत्तासमवायो वा' इति चेत् ? कुतः प्रागिति ? कारणसमवायादिति चेत् ?

कौनसा बाधक अनुमान है-इसका उत्तर यह रहा 'ज्ञान क्षणिक है' क्योकि वह अपने लोगो के प्रत्यक्ष का विषय और विभु आत्म द्रव्य का विशेषगुण है, उदा० शब्द । यह अनुमान बुद्धि के अक्षणिकत्व मे बाधा डाल रहा है ।

उत्तरपक्षी –अपने लोगो की बुद्धि को अक्षणिक मानने मे जैसे उपरोक्त बाधक अनुमान का सम्भव है, वैसे ही कृषि के विना उत्पन्न स्थावरकार्यो मे कर्तृपूर्वकत्व को मानने मे भी बाधक अनुमान का सम्भव कैसे है यह हम दिखाने वाले है अत. इस विषय मे अभी आप अधृति मत कीजिये । तथा, बुद्धि के क्षणिकत्व का अनुमान कितने दोषो से दुष्ट है यह भी हम शब्द की पुद्गलमयता के विचार प्रस्ताव मे दिखायेंगे, अत उसकी चर्चा को भी अब मौकूफ रखें ।

[कार्यत्व हेतुक अनुमान बाधित है]

यह भी हम पूछ सकते है कि जब बुद्धित्व समान होने पर भी ईश्वर और अपने लोगो की बुद्धि मे क्रमश अक्षणिकता और क्षणिकत्व की विशेषता मानी जाती है; तब घटादि और वृक्षादि कार्यों मे क्रमश कर्तृपूर्वकता और कर्तृविरह रूप विशेषता क्यो नही मानते है ? इस विशेषता के कारण फिर से एक बार बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व साध्य के साधक कार्यत्व हेतु मे अनैकान्तिकत्व का दूषण उभर आयेगा ।

ऊपर जो चर्चा की गयी उससे यह सार निर्गलित होता है कि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वरूप साध्य मे मतुप्(मत्)प्रत्यय का अर्थ सभव न होने से और शरीरादि अवयवी के विषय मे अनेक प्रकार के प्रमाणों की बाधा उपस्थित होने से, साध्यनिर्देश के बाधित हो जाने पर कहे गये कार्यत्वादि हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष से दूषित हो जायेगा । जैसे कि (उदाहरण)-देवदत्त मे 'शास्त्रो के सही व्याख्यान' आदि लिंग से उत्थित अनुमान द्वारा पाडित्य गुण की सिद्धि हो जाने पर कोई ऐसा अनुमान प्रयोग करे देवदत्त मूर्ख है क्योकि स्थूलकाय है-तो यहा मूर्खरूप साध्य पूर्वोक्त अनुमान से बाधित है अत. स्थूलकाय हेतु कालात्ययापदिष्ट हो जाता है । कालात्ययापदिष्टता के कारण, जैसे 'वह मूर्ख है क्योकि मूर्ख का पुत्र है' ऐसे अनुमान मे मूर्खपुत्रत्व और मूर्खत्व को व्याप्ति न होने से मूर्खतनयत्व हेतु मूर्खत्व रूप साध्य का साधक नही बन सकता वैसे यहाँ भी कार्यत्व हेतु साध्य का गमक नही बन सकेगा । अथवा कृषि के विना उत्पन्न स्थावर कार्यरूप पक्ष मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वविरह साधक अनुमान प्रवृत्त होने से पक्ष बाधित हो जायेगा ।

ननु तत्समवायसमये प्रागिव स्वरूपसत्त्ववैधुर्ये 'प्राक्' इति विशेषणमनर्थकम्, सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमुपादीयमानमर्थवद् भवति, अत्र तु व्यभिचार एव, न सम्भवः। तथाहि-यदि कारणसमवायसमये स्वरूपेणं सद् भवति तन्वादि, तदा तत्काल इव तस्य प्रागपि सत्त्वे कार्यत्वं न स्यादिति विशेषणमुपादीयते 'प्रागसतः' इति। यदा पुन. प्रागिव कारणसमवायवेलायामपि स्वरूपसत्त्वविकलता तदा 'प्राक्' इति विशेषणं न कंचिदर्थं पुष्णाति, 'असतः' इत्येवास्तु।

A न चाऽसतः कारणसमवायोऽपि युक्त, शशविषाणदेरपि तत्प्रसंगात्। 'तस्य कारणविरहान्न तत्प्रसंग' इति चेत्? कुत एतत्? असत्त्वात्, तनुकरणादेरपि तद्वदसत्त्वे कि कुतोऽय विभागः-अस्य कारणमस्ति न शशशृङ्गादेरिति? तन्वादेः कारणमुपलभ्यते नेतरस्येत्यपि नोत्तरम्, यत काय-कारणयोरुपलम्भे सत्येतत् स्यात् 'इदमस्य कारणं कार्यं चेदमस्य' इति। न च परस्य तदुपलम्भः प्रत्यक्षतः, उपलम्भकारणमुपलम्भविषय इति नैयायिकानां मतम्-'अर्थवत् प्रमाणम्' [वा. भा. प्रारम्भे] इत्यत्र भाष्ये प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामर्थान्तरमव्यपदेश्याऽव्यभिचारिव्यवसायात्मकज्ञाने कर्त्तव्येऽर्थ. सहकारी विद्यते यस्य तद् अर्थवत् प्रमाणम्' इति व्याख्यानात्।

[कार्यत्व हेतु की समालोचना का आरम्भ]

पक्ष मीमांसा और साध्यमीमासा के बाद अब कार्यत्व हेतु की परीक्षा की जाती है-'कार्यत्वात्' यह हेतु असिद्ध है। जैसे देखिये-

देहादि मे कार्यत्व क्या है? जो 'पहले' असत् था उसका अपने कारणो मे समवाय अथवा उसमे सत्ता का समवाय-इसे यदि कार्यत्व कहा जाय तो सर्वप्रथम यही प्रश्न है कि 'पहले' यानी किसके पहले? कारणसमवाय के पहले ऐसा यदि कहते है तो 'पहले' यह विशेषण व्यर्थ हो जायेगा क्योकि कारणसमवाय के पहले वस्तु जैसे स्वरूपसत्त्व से शून्य है वैसे उस के बाद भी शून्य है तो 'पहले' ऐसा कहने का क्या हेतु? विशेषण का प्रयोग तभी सार्थक होता है जब वह सभवित हो और व्यभिचारी भी हो। [जैसे 'नील कमल' प्रयोग मे नील विशेषण कमल मे सम्भवित भी है और श्वेतादि कमल मे व्यभिचारी भी है।] यहाँ तो जैसे पहले असत् है वैसे ही पीछे भी असत् ही है। जैसे देखिये-कारणसमवाय काल मे यदि देहादिकार्य स्वरूप से सत् होते हो और उस काल के जैसे पूर्वकाल में भी यदि वैसा सत्त्व रहता हो तब तो कार्यत्व न घट सकने से आप 'पहले असत्' ऐसा प्रयोग करते हो। किन्तु कारणसमवाय काल मे भी यदि कार्य स्वरूप सत्त्व से विधुर ही रहता हो तब 'प्राक् =पहले' यह विशेषण किसी विशेष प्रयोजन सिद्ध नही कर सकता। अत 'प्राक् असत =पहले असत्' ऐसा कहने के बजाय 'असत्' इतना ही कहना चाहिये।

[कारणों में असद् वस्तु का समवाय सम्भव नहीं]

A यह भी देखिये कि जो असत् है उसका कारणो मे समवाय होना अयुक्त है, क्योकि इस पक्ष मे शशसीगादि का भी कारणो मे समवाय हो जाने का अतिप्रसग है। यदि कहे कि-असत् शससीग का कोई कारण नही है अतः प्रसग नही है।-तो यहाँ प्रश्न होगा कि उसके कारण क्यो नही है? यदि असत् होने से उसके कारण न होने का कहा जाय तो देहेन्द्रियादि भी शशसीगवत् असत् ही तो हैं तो यह विभाग कैसे किया जा सकेगा कि 'देहादि के कारण है और शससीगादि के नही है?' 'देहादि के कारण का उपलम्भ होता है, शशसीग के कारणो का नही होता' ऐसा उत्तर ठीक नही है, क्योकि

न चाऽजनकं सहकारि, 'सह करोतीति सहकारि' इति व्युत्पत्तेः। न चाऽसत् शशविषाणसमं ज्ञानस्यान्यस्य वा कारणम्, विरोधात्। अपि च, इन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् प्रत्यक्षं ज्ञानमुत्पत्तिमत्, कार्य-कारणादिना चेन्द्रियसंनिकर्ष' सयोगः, सोऽपि कथं तेनाऽसता जन्यत इति चिन्त्यम्। संयोगाभावे च 'रूपादिनेन्द्रियस्य संयुक्तसमवाय, रूपत्वादिना तु संयुक्तसमवेतसमवायः' इति सर्वं दुर्घटम्। एतेन द्रव्यत्वादिसामान्यसम्बन्धोऽपि तस्य निरूपितः। तन्न तन्वादिविषयमध्यक्षम्। अत एव नानुमानमपि। तदेवं खरविषाणादिवत् कार्य-कारणादेरनुपलम्भान्न युक्तमेतत्-शरीरादेः कारणमस्ति, न शशशृङ्गा-देरिति।

यदि पुनस्तनुकरणादिः सन् वन्ध्यासुतादिपरिहारेणेति मतिः, तत्र कुतः स एव सन्? कारण-समवायात्, सोपि कुत? सत्त्वात्, अन्योन्यसंश्रय तत्समवायात् सत्त्वम् अतश्च तत्समवाय इति।

B 'प्रागसतः सत्तासमवायात् स एव सन्' इति चेत्? कुतः प्राक्? सत्तासमवायात्। ननु तत्समवायकाले प्रागिव स्वरूपसत्त्वविरहे 'प्राग्' इति विशेषणमनर्थकमित्यादि सर्वं वक्तव्यम्। असतश्च

कार्य और कारण उपलब्ध होने पर यह कहा जा सकता है कि-यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है, प्रतिवादी नैयायिकमत मे कार्य-कारण का उपलम्भ प्रत्यक्ष से तो होता नही। नैयायिकों का मत तो यह है कि जो उपलम्भ का कारण बने वही उपलम्भ का विषय होता है। न्यायसूत्र के वात्स्यायन कृत भाष्यग्रन्थ के प्रारम्भ के 'अर्थवत् प्रमाणम्' इस अश की व्याख्या मे ऐसा कहा गया है कि जो 'प्रमाता और प्रमेय' से भिन्न है एव अव्यपदेश्य-अव्यभिचारि-व्यवसायात्मक ज्ञान करने मे अर्थ जिस को सहकार देता है और जो सप्रयोजन है वही प्रमाण है।-इस प्रकार के व्याख्यान से यह फलित होता है कि उपलम्भ का कारण बने वही उपलम्भविषय हो सकता है, कार्य-कारण का प्रत्यक्ष तो नैयायिक मानते नही फिर उसका उपलम्भ कैसे होगा? जब कार्य-कारण का उपलम्भ ही अघ-टित है तो 'देहादि के कारण उपलब्ध होते है, शशसीग के नही' यह बात असद् उत्तररूप बन जाती है।

[असत् वस्तु किसी का कारण भी नहीं होता]

आशय यह है कि-कार्य और कारण उपलम्भ के जनक नही है अत एव वे 'सहकारि' भी नही कहे जा सकते, क्योकि 'सहकारि' पद की व्युत्पत्ति यानी पद के विभाजन से प्राप्त अर्थ ही ऐसा है कि जो 'साथ मे रहता हुआ करे'। जो स्वय ही असत् है वह शशविषाणतुल्य होने से ज्ञान (उपलम्भ) अथवा तदन्य किसी भी पदाथ का कारण ही नही बन सकता चूंकि इसमे विरोध आयेगा। असत्त्व और कार्यकारित्व का विरोध प्रसिद्ध ही है। दूसरी बात, प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय-अर्थ के सनिकर्ष से होती है। कार्य कारण के प्रत्यक्ष के लिये भी उन के साथ इन्द्रियसनिकर्षात्मक सयोग अपेक्षित होगा। जब कार्य असत् ही है तो उससे सयोग का जन्म ही कैसे होगा? यह विचारणीय प्रश्न है। जब कार्य के साथ सयोग असिद्ध हुआ तो कार्यगत रूपादि के साथ इन्द्रिय का सयुक्त समवाय सनिकर्ष घटाना मुश्किल है और रूपादिगत रूपत्वादि के साथ सयुक्तसमवेतसमवाय सनिकर्ष घटाना भी दुष्कर है। इस रीति से जब कारणो मे असत् कार्य का समवाय नही घट सकता तो इस से यह भी फलित हो जाता है कि असत् कार्य मे द्रव्यत्व-पृथ्वीत्वादि सामान्य का सम्बन्ध घटाना भी दुष्कर ही है। निष्कर्ष, देहादि (अवयवी) को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षप्रमाण कोई है नही इसीलिए अनुमान भी नही हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि शशसीगतुल्य कार्य-कारण आदि का उपलम्भ न होने, 'शरीरादि के कारण उपलब्ध हैं और शससीग का नही' यह बात अयुक्त है।

सत्तासमवाये खरशृङ्गादेरपि सम्भवेद् अविशेषात्। 'प्राग्' इति च विशेषणं शशशृङ्गादिव्यवच्छेदार्थं परेणोक्तम्, सत्तासम्बन्धसमये च तन्वादेः स्वरूपसत्त्वाभावे कस्ततो विशेषः ?

अयमस्ति विशेषः-कूर्मरोमादिकमत्यन्ताऽसत्, इतरत् पुनः स्वयं न सत्, नाऽप्यसत्, अत एव सत्तासम्बन्धात् तदेव 'सत्' इत्युच्यत इति-तदेतज्जडात्मनो भवतः कोऽन्यो भाषते ! तथाहि-'न सत्' इति वचनात् तस्य सत्तासम्बन्धात् प्रागभाव उक्तः सत्प्रतिषेधलक्षणत्वादस्य। 'नाप्यसत्' इत्यभिधानात् भाव', असत्त्वनिषेधरूपत्वाद् भावस्य रूपान्तराभावात्। तथैव वैयाकरणानां न्यायः-'द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयत' इति। कथमन्यथा 'नेद निरात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इत्यत्र नैरात्म्यनिषेधः सात्मकः सिध्येत् ?

[देहादि को सत् मानने में अन्योन्याश्रय]

कार्य देहेन्द्रियादि को असत् मानने पर आपत्ति आती है इसलिये यदि वन्ध्यापुत्रादि असत् को छोड कर देहादि को सत् मान लिये जाय-तो भी यह प्रश्न होगा कि क्यो वन्ध्यापुत्र सत् नही है और देहादि ही सत् हैं ? इसके उत्तर मे यह कहे कि कारणो मे देहादि का समवाय है अत. देहादि सत् हैं-तो यहाँ फिर से प्रश्न होगा कि कारण समवाय देहादि का ही क्यो है, वन्ध्यापुत्रादि का क्यो नही ? इसके उत्तर मे यदि कहेगे कि देहादि सत् है इसीलिये उनका ही कारणो मे समवाय होता है तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष लगेगा- कारणसमवाय से देहादि का सत्त्व और सत्त्व से कारणसमवाय।

[प्राक् असत् वस्तु सत्तासमवाय से सत नहीं हो सकती]

B यदि कहे कि प्राक् काल मे असत् होने पर भी सत्ता के समवाय से देहादि ही सत् होते हैं- तो प्राक् काल मे यानी किसके प्राक् काल मे ? 'सत्तासमवाय के प्राक् काल मे'-ऐसा कहेगे तो, यह सोचना होगा कि सत्तासमवाय होने पर पूर्वकालवत् उस काल मे देहादि यदि स्वरूपसत्त्व से विधुर होगें तव तो पूर्वोत्तर उभय काल में असत् होने से 'प्राक्' विशेषण निरर्थक है-इत्यादि जो पहले कारणसमवाय के विकल्प मे दूषण दिये हैं वे सब यहाँ भी कहे जा सकते है। [पृ० ४३६] फलित यह हुआ कि असत् का सत्तासमवाय होता है, अत. खरसीग का भी सत्तासमवाय सम्भवारूढ हो जायेगा क्योकि देहादि असत्-खरसीग असत्-इन दोनो मे कोई विशेषता तो है नहीं। बात यह है कि 'प्राग्' यह विशेषण तो शशसीगादि से देहादि का व्यवच्छेद करने हेतु नैयायिक लगाते है, किन्तु सत्ता के सम्बन्धकाल मे भी यदि देहादि मे स्वरूपतः सत्त्व नही है तो खरशृङ्ग और उसमे विशेषता क्या हुयी ?

[न सत् न असत् कहना परस्परव्याहत है]

नैयायिकः-विशेषता यह है-कुर्मरोम (कंचुए के रोगटे) अत्यन्त असत् होते हैं, देहादि अपने आप न तो सत् होते हैं और न असत् होते हैं, इसीलिये सत्ता के सम्बन्ध से देहादि 'सत्' कहे जाते है।

उत्तरपक्षी -आपके जैसे जडात्मा को छोडकर कौन दूसरा ऐसा कहेगा ? जब 'न सत्' ऐसा कहा तो सत्तासम्बन्ध के पहले उसके अभाव का प्रतिपादन हुआ, क्योकि इसमे सत् का आप प्रतिषेध करते हैं। 'नाऽपि असत्' इस कथन से भाव का विधान हुआ, क्योकि भाव असत्त्व के निषेधरूप होता है। तीसरी कोई राशि ही नही है। व्याकरणवेत्ताओ मे भी यह न्याय प्रचलित है कि 'दो निषेध

अत्र केचिद् ब्रुवते-नैवं प्रयोगः क्रियते, अपि तु-'सात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इति। तैरपि एवं प्रयोगं कुर्वद्भिः सात्मकत्वाभावो नियमेन प्राणादिमत्त्वाभावेन व्याप्तोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा व्यभिचाराशंका न निवर्त्तेत। तदभ्युपगमे चेदमवश्यं वक्तव्यम्-जीवच्छरीरे प्राणादिमत्त्वं प्रतीयमानं स्वाभावं निवर्त्तयति, स च निवर्त्तमानः स्वव्याप्यं सात्मकत्वाभावमादाय निवर्त्तते, इतरथा तेनाऽसौ व्याप्तो न स्यात्। यस्मिन्निवर्त्तमाने यन्न निवर्त्तते न तेन तद् व्याप्तम्, यथा निवर्त्तमानेऽपि प्रदीपेऽनिवर्त्तमानः पटादिर्न तेन व्याप्तः, न निवर्त्तते च प्राणादिमत्त्वाभावे निवर्त्तमानेऽपि सात्मकत्वाभाव इति। निवर्त्तत इति चेद् तन्निवृत्तावपि यदि सात्मकत्वं न सिध्यति न तर्हि तदभावो निवर्त्तते, सात्मकत्वाभावाभावेऽपि तदभावस्य तदवस्थत्वात्। सिध्यतीति चेत् आयातमिदम्-'द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः' इति। तथा चेदमपि युक्तं-'नेद निरात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इति।

अन्ये तु मन्यन्ते-अन्यत्र दृष्टो धर्मः क्वचिद्धर्मिणि विधीयते, निषिध्यते च-इति वचनात् केवलं घटादौ नैरात्म्यमप्राणादिमत्त्वेन व्याप्तं दृष्टम् तदेव निषिध्यते जीवच्छरीरे प्राणादिमत्त्वाभावेन, न पुनः सात्मकत्वं विधीयते, तस्याऽन्यत्राऽदर्शनात् इति। तेषा, घटादौ नैरात्म्यं प्रतिपन्नं

प्रस्तुत अर्थ के विधायक होते है।' यदि यह नही मानगे तो 'यह देह निरात्मक नही है क्योंकि प्राणादिवाला है' इस प्रयोग मे 'निर्' और 'न' दो पद से नैरात्म्य के निषेध से सात्मकत्व की सिद्धि कैसे करेंगे?!

[नञ्द्वय गर्भित प्रयोग से बचने के लिये व्यर्थ उपाय]

कितने लोग ऐसा प्रयोग कर दिखाते हैं जिसमे दो नञ् पद का प्रयोग न करना पडे। जैसे: वे कहते हैं कि दो नञ् का प्रयोग नही करना किन्तु-'जीवत देह आत्मसहित है क्योंकि प्राणवत है' ऐसा प्रयोग करना चाहिये। व्याख्याकार कहते है कि ऐसे प्रयोग करने वाले को भी सात्मकत्व का अभाव प्राणादिमत्त्व के अभाव से व्याप्त तो अवश्य मानना पडेगा। वरना, व्यभिचार की शंका -यदि सात्मकत्व के न रहने पर भी प्राणादिवत्ता रहे तो क्या बाध ?-यह शका निवृत्त नही होगी। जब उसको व्याप्त मानेंगे तब ऐसा जरूर कहना होगा-जीवत शरीर मे प्रतीत होने वाला प्राणादिमत्त्व अपने अभाव को दूर करता है, दूर होने वाला प्राणादिमत्त्वाभाव अपने व्याप्यभूत सात्मकत्व के अभाव को भी वहाँ से दूर करता है। वरना वह (सा० अ०) उस (प्रा० अ०) का व्याप्त ही नही कहा जा सकता। जिस के दूर होने पर भी जो दूर नही हो जाता वह उसका व्याप्त नही होता, जैसे दीपक दूर होने पर भी वस्त्रादि दूर नही होते अत वस्त्रादि दीपक के व्याप्त नही होते। आपके मत मे प्राणादिमत्त्व का अभाव दूर होने पर भी सात्मकत्व का अभाव दूर नही होता है। यदि कहे कि वह उसका व्याप्य होने से निवृत्त होगा-अर्थात् सात्मकत्वाभाव दूर होगा, तो भी सात्मकत्व की सिद्धि यदि नही मानेंगे तो उसका अभाव निवृत्त नही होगा क्योंकि सात्मकत्व के अभाव का अभाव होने पर भी सात्मकत्वाभाव को दूर होना नही मानते हैं (जैसे कि आप 'न असत्' कथन द्वारा सत्त्वाभाव का अभाव होने पर भी सत्त्वाभाव का दूर होना यानी सत्त्व का होना नही मानते है)। यदि सात्मकत्व की सिद्धि मानेंगे तव तो यह फलित हो ही गया कि 'दो नञ् पद से प्रस्तुत अर्थ का विधान होता है'। तव तो 'यह देह निरात्मक नही है क्योंकि प्राणादिवाला है' इस प्रयोग मे भी औचित्य मानना पडेगा।

प्रतिषिध्यते इति भवतु सूक्तम्, तथापि तन्निषेधसामर्थ्याद् यदि जीवच्छरीरे सात्मकत्वं न स्यात् न तर्हि तत्र तन्निषेधः-यदा हि नैरात्म्यनिषेधो न सात्मकः *किन्तु यथात्मनोऽभावो नैरात्म्य तथाऽस्याऽभावोऽपि तुच्छरूपः आत्मनोऽन्यत्वाद् भंग्यन्तरेण नैरात्म्यमेव, पुनस्तन्निषेद्धव्यम्, पुनरपि तन्निषेधः तुच्छरूपो नैरात्म्यमित्यपरस्तन्निषेधो मृग्यः, तथा च सति अनवस्थानान्न नैरात्म्यनिषेधः।

किं च यदि नाम घटादौ नैरात्म्यमुपलब्धं किमित्यन्यत्र निषिध्यते ? इतरथा देवदत्ते पाण्डित्यमुपलब्धं यज्ञदत्तादौ निषिध्येत। 'तत्र प्राणादिमत्त्वदर्शनादि'ति चेत्, युक्तमेतद् यदि प्राणादिमत्त्वं नैरात्म्यविरुद्धं स्यादग्निरिव शीतविरुद्धः, न चैवम्, अन्यथा सर्वमशेषविरुद्धं भवेत्। "प्राणादिमत्त्वेन स्वाभावो नैरात्म्यव्यापको विरुद्धः, तत प्राणादिमत्त्वभावात् तदभावो निवर्त्तते, वह्निभावादिव शीतम्, स च निवर्त्तमानः स्वव्याप्यं नैरात्म्यमादाय निवर्त्तते यथा धूमाभाव. पावकाभावमिति।" दत्तमत्रोत्तरम्-यदि नैरात्म्याभावः सात्मको न भवेत्, तदवस्थ नैरात्म्यमिति।

[अन्यमत में नैरात्म्य के निषेध की अनुपपत्ति]

दूसरे विद्वान् कहते हैं-'अन्य स्थान मे देखे गये धर्म का किसी एक धर्मि मे विधान या निषेध किया जाता है'-इस उक्ति के अनुसार मात्र घटादि मे अप्राणादिमत्त्व के साथ व्याप्तिवाला नैरात्म्य देखा जाता है तो जीवत देह मे अप्राणादिमत्त्व के अभाव से नैरात्म्य का ही निषेध करते हैं, सात्मकत्व का विधान नही करते है, क्योंकि [आत्मा दृष्टिअगोचर होने से] सात्मकत्व अन्य स्थान में दृष्टिगोचर नही है।

व्याख्याकार कहते हैं कि इन लोगो ने 'घटादि मे दृष्ट नैरात्म्य का देह मे प्रतिषेध करते हैं' यह तो ठीक ही कहा है, फिर भी नैरात्म्य के निषेध के बल से जीवत देह मे यदि सात्मकत्व को नही मानेंगे तो वहा नैरात्म्य का निषेध ही संगत नही होगा। क्योकि जब आप नैरात्म्य के निषेध को सात्मक नही मानते है, किन्तु आत्मा का अभाव जैसे तुच्छ होता है वैसे नैरात्म्य का अभाव भी तुच्छ ही मानते है तब तो प्रकारान्तर से यह नैरात्म्य का निषेध नैरात्म्यस्वरूप ही फलित हुआ क्योकि आत्मा से तो नैरात्म्य का अभाव भी अन्य ही है। अत. फिर से आपको एक बार जीवत देह मे अप्राणादिमत्त्व के अभाव से उस (नैरात्म्यनिषेधस्वरूप) नैरात्म्य का निषेध करना पडेगा। वह निषेध भी तुच्छस्वरूप होने से नैरात्म्यरूप होगा तो उस का फिर से नया निषेध ढूंढना पडेगा। इस प्रकार निषेध का अन्त ही नही आयेगा। फलत' नैरात्म्य का निषेध अशक्य बन जायेगा।

[नैरात्म्य का अभाव को सात्मकत्वरूप ही है]

यह भी एक प्रश्न है कि घटादि मे नैरात्म्य यदि उपलब्ध हुआ तो जीवत देह मे उसके निषेध की क्या जरूर ? यदि वैसे निषेध को मानेंगे तो देवदत्त मे पांडित्य उपलब्ध होगा और यज्ञदत्त मे उसका निषेध किया जा सकेगा। यदि कहे कि-जीवत देह मे प्राणादि का दर्शन होता है अतः नैरात्म्य का निषेध करते है-तो यह तभी युक्त होगा यदि प्राणादि नैरात्म्य का विरोधी हो, जैसे कि अग्नि शीत का विरोधी होता है। किन्तु वहाँ विरोध तो है नही, फिर भी यदि मानेंगे तो सब सभी का विरुद्ध बन जायेगा।

* किन्तु शब्द का अन्वय 'नैरात्म्यमेव' इसके साथ लगाना है।

'भवतु तर्हि नैरात्म्यनिषेधः सात्मकः'। तथा सति सत्तासम्बन्धात् प्राक् तन्वादिर्ना(दिना)-ऽसत्-इति वचनात्तदा तस्य सत्त्वमुक्तम्, 'न सत्' इत्यभिधानादसत्त्वमिति विरोधः। ततोऽसदेव तद-भ्युपगन्तव्यमिति न वन्ध्यासुतादेस्तनु-करणादेर्विशेषः। 'भवत्वेवं तथापि तन्वादेरेव सत्तासम्बन्धात् सत्त्वम् न खरशृंगादेः तथादर्शनादि'ति चेत्? उक्तमत्र तथादर्शनोपायाभावादिति।

[सत्तापदार्थसमीक्षा]

अपि च सत्ताऽपि यदि असती, कथं ततो वन्ध्यासुतादेरिवाऽपरस्य सत्त्वम्? सती चेद् यदि अन्यसत्तातः, अनवस्था, स्वतश्चेत्, पदार्थानामपि स्वत एव सत्त्वं स्यादिति व्यर्थं तत्परिकल्पनम्। किं च यदि स्वत एव सत्ता सती उपेयते तदा प्रमाणं वक्तव्यम्। अथ स्वत सत्ता सती, तत्सम्बन्धात् तन्वा-दीनां सत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः। तर्ह्यन्योन्याश्रय, तत्सम्बन्धात् तन्वादिसत्त्वे सिद्धे सत्तासत्त्वसिद्धिः, तत-स्तत्सम्बन्धात् तन्वादिसत्त्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अथ सत्ता स्वत. सती, सदभिधान-प्रत्ययविषयत्वात्, अवान्तरसामान्यादिवत्। न, द्रव्यादिना व्यभिचारः; द्रव्यादिरपि 'सद् द्रव्यम्, सन् गुण, सत् कर्म' इत्येवं सदभिधानप्रत्ययविषयो भवति, न चासौ परेण स्वतः सन्नभ्युपगतः, सत्ता-प्रकल्पनवैफल्यप्रसंगात्।

पूर्वपक्षीः-प्राणादिमत्त्व नैरात्म्य से इस प्रकार विरुद्ध है कि-नैरात्म्य का व्यापक प्राणादि-मत्त्वाभाव प्राणादि से विरुद्ध है यह तो सिद्ध ही है। अतः प्राणादि के सद्भाव से प्राणादिमत्त्व का अभाव दूर हो जायेगा जैसे कि अग्नि के सद्भाव से शीत दूर हो जाता है। जब प्राणादिमत्त्व का अभाव दूर होगा तो उसका व्याप्य नैरात्म्य भी दूर हो ही जायेगा, जैसे धूम का अभाव दूर होने पर अग्नि का अभाव भी दूर होता ही है। इस प्रकार जीवत देह मे नैरात्म्य का निषेध फलित क्यों नही होगा?

उत्तरपक्षीः-इसका उत्तर हमने पहले ही दे दिया है [पृ० ४४४ पं० २] कि नैरात्म्य का अभाव यदि सात्मक-रूप नही मानेंगे तो नैरात्म्य तदवस्थ ही रहेगा, उसका निषेध संगत नही हो सकेगा।

यदि नैरात्म्य के निषेध को सात्मक-रूप मान लेते हैं तो आप के पूर्वोक्त वचन मे ऐसा विरोध फलित होगा कि-'सत्ता के सम्बन्ध से पहले देहादि असत् नही होते' इस वचन से सत्त्व का प्रतिपादन फलित होगा, और 'सद् भी नही होता' इस वचन से असत्त्व का। इस प्रकार असत्त्व और सत्त्व दोनो के प्रतिपादन मे स्पष्ट विरोध होगा। सत्त्व तो आप मान ही नही सकेंगे, अतः सत्ता के सम्बन्ध से पहले असत् ही कहना होगा। निष्कर्षः-देह करणादि और वन्ध्यासुतादि असत् पदार्थो मे कोई विशेषता सिद्ध नही हुयी। यदि कहे कि-'विशेषता सिद्ध भले न हो फिर भी देहादि मे ही सत्ता के सम्बन्ध से सत्त्व आता है, खरसीग आदि मे नही, क्योंकि एक का सत्त्व और दूसरे का असत्त्व देखा जाता है।'-तो इसके प्रतिकार मे पहले ही यह कहा जा चुका है कि ऐसा देखने का कोई उपाय ही नही है। जो उपलम्भ का कारण नही होता वह उसका विषय नही होता, असत् देहादि उपलम्भ के कारण न होने से उसके साथ सत्ता का सम्बन्ध कभी उपलम्भ का विषय नही बन सकेगा।

[न्यायमत में सत्तापदार्थ की असंगति]

सत्-असत् की बात चलती है तो यह भी सोचना चाहिये कि सत्ता असत् है या सत्? यदि वह

न च 'द्रव्यादौ तद्विषयत्वं परापेक्षं, न सत्तायामि'ति वक्तुं युक्तम्, तस्यामपि तदपेक्षत्वसंभवात्। अथ तत्र तस्य तदपेक्षत्वे किं तदपरमिति वक्तव्यम्। नन्वेतद् द्रव्यादावपि समानम्। 'तत्र सत्ता' इति चेत्? 'अत्रापि द्रव्यादिकम्' इति तुल्यम् यथैव हि सत्तासम्बन्धात् द्रव्यादिकं सत् न स्वतः, तथा द्रव्यादिस्वरूपसत्त्वसम्बन्धात् सत्ता सती न स्वतः। 'द्रव्यादेः स्वरूपसत्त्वं नास्ति तेनाऽयमदोषः'-तदस्तित्वे को दोष इति वाच्यम्! ननु तस्या(स्य)स्वतः सत्त्वेऽवान्तरसामान्याभावप्रसंगो दोषः। ननु स्वतोऽसत्त्वे खरविषाणादेरिव सुतरां तदभावदोषः।

वन्ध्यापुत्रादितुल्य स्वय ही असत् है तो उस से दूसरा पदार्थ सत् कैसे हो सकेगा? यदि सत् है तो अन्य एक सत्ता से मानने पर, उस अन्य सत्ता को भी तृतीय सत्ता से सत् मानना होगा, फिर चतुर्थ पचम....सत्ता की कल्पना का अन्त ही नहीं आयेगा। यदि स्वत. ही सत्ता को सत् मान लेंगे तो पदार्थों ने क्या अपराध किया है? उनको भी स्वत सत् माना जा सकता है, सत्ता की व्यर्थ कल्पना क्यो करे?! दूसरा यह भी प्रश्न आयेगा कि सत्ता को स्वत सत् मानने मे प्रमाण क्या है?

पूर्वपक्षी:-'सत्ता स्वतः सत् है, क्योंकि अन्यथा उसके सम्बन्ध से देहादि के सत्त्व की उपपत्ति शक्य नही है'-यह अनुमान प्रमाण है।

उत्तरपक्षी:-यहाँ अन्योन्याश्रय दोष लगता है-देहादि का सत्त्व सत्ता के सम्बन्ध से है यह सिद्ध होने पर सत्ता का स्वतः सत्त्व सिद्ध होगा और सत्ता का स्वतः सत्त्व सिद्ध होने पर उसके सम्बन्ध से देहादि का सत्त्व सिद्ध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष प्रगट है।

पूर्वपक्षी:-'सत्ता स्वतः सत् है, क्योंकि 'सत्' इस प्रकार के अभिधान और प्रतीति का विषय है, जैसे द्रव्यत्वादि अवान्तरसामान्य।' [द्रव्यत्वादि 'द्रव्यत्व' इस प्रकार के अभिधान और प्रतीति के विषय होते हुए स्वतः ही द्रव्यत्वरूप होता है] इस अनुमान से सत्ता मे स्वत सत्त्व सिद्ध किया जायेगा।

उत्तरपक्षी-यह बात ठीक नही, द्रव्यादिस्थल मे व्यभिचार है। द्रव्यादि पदार्थ 'द्रव्य सत् है, गुण सत् है, क्रिया सत् है' इस प्रकार अभिधान और प्रतीति के विषय हैं किन्तु आप उन्हे स्वतः सत् नही मानते हैं। यदि उन्हे स्वत. सत् मानेंगे तव तो अतिरिक्त सत्ता की कल्पना ही वन्ध्य हो जायेगी।

[द्रव्यादिसम्बन्ध से सत्ता के सत्त्व की आपत्ति]

"द्रव्यादि मे सद्बुद्धिविषयता पराधीन यानी स्वान्य सत्ता को अधीन है, सत्ता मे ऐसा नही है। सत्ता अपने आप ही सत्-बुद्धिविषय बनती है।"-ऐसा भी कहना ठीक नही है, सत्ता मे भी सत्बुद्धिविषयता परापेक्ष होने का सम्भव है। 'सत्ता को परापेक्ष मानेंगे तो वह पर=अन्य कौन है जिसके प्रभाव से सत्ता 'सत्'बुद्धिविषय बनती है?' इस प्रश्न के सामने यह प्रश्न है कि द्रव्यादि मे भी वह पर=अन्य कौन है? यदि यहाँ द्रव्यादि मे सत्ता को पर मानेंगे तो तुल्य रीति से सत्ता मे भी द्रव्यादि को पर मान सकते है। जैसे आप द्रव्यादि को सत्ता के सम्बन्ध से स्वत सत् नही किन्तु सत् मानेंगे वैसे हम सत्ता को भी स्वत. सत् नही किन्तु द्रव्यादि के सम्बन्ध से सत् मानेंगे। यदि कहे कि-'द्रव्यादि मे स्वरूप सत्त्व है नही अतः उसके सम्ब ध से सत्ता को सत् मानने की आपत्ति ही नही है'-तो यह दिखाओ कि द्रव्यादि मे स्वरूप सत्त्व मानने मे दोष क्या है?

अपि च यो हि तत्र सत्तासम्बन्धं नेच्छति स कथमवान्तरसामान्यसम्बन्धमिच्छेत् ? न चात्र प्रमाणं स्वतोऽसन्तो द्रव्यादयो नाऽवान्तरसामान्यमिति । अथैतत्-द्रव्यादयो न स्वतः सन्तः, अवान्तर-सामान्यवत्त्वात्, यत् पुनः स्वत सत् न तदवान्तरसामान्यवद् यथा सामान्य-विशेष-समवाया इति व्यतिरेकी हेतुः । नैतद्-यदि हि द्रव्यादयो धर्मिणः, कुतश्चित् प्रतीति-*गोचरचारिणेत्सन्तो भवन्ति [स कथमवान्तरसामान्यसम्बन्धमिच्छेत् ? न चात्र प्रमाणं, स्वतोऽसन्तो द्रव्यादयो नाऽवान्तरसामा-न्यमिति । अथैतत्-द्रव्यादयो न स्वतः सन्तोऽवान्तरसामान्य]वद्यथा सामान्यप्रतीतिः सत्त्वं साधयन्ती स्वत इति प्रतिज्ञां तदसत्त्वविषयावाधने चेद *मत्रोत्तरम्-'न स्वतः सन्तस्ते प्रतीतिविषयाः किंतु सत्ता-सम्बन्धाद्'-इति, यतो 'न स्वयमसन्तस्तत्सम्बन्धात् तद्विषया भवन्ति' इत्युक्तम् ।

किं च द्रव्यादेरेकान्तेन यस्य भिन्नान्यवान्तरसामान्यानि कथं तस्य तानि स्युः, यतोऽवान्तर-सामान्यवत्त्वादिति हेतुः सिद्धः स्यात् ? अथ तथापि तस्या(स्ये)ति, न, परस्परमपि स्युरिति 'सामा-

---

पूर्वपक्षी:-द्रव्यादि को अपने आप ही सत् माना जायेगा तो द्रव्यत्वादि अवान्तर सामान्य को मानने की आवश्यकता ही मिट जायेगी क्योंकि सत्तायोग के बिना जैसे वह स्वतः सत् माना जायेगा । ऐसे द्रव्यत्वादियोग के बिना स्वतः द्रव्यादिरूप भी माना जा सकेगा । यही दोष है ।

उत्तरपक्षी:-यदि द्रव्यादि को स्वरूपत सद्रूप न मान कर असद्रूप मानते हैं तब तो गर्दभ-सींग आदि की भांति द्रव्यादि का नितान्त अभाव ही प्रसक्त होता है यह उससे भी बडा भारी दोष है ।

[द्रव्यादि स्वतः सत् नहीं है-इस अनुमान का भंग]

यह भी आप सोचिये कि जो अतिरिक्त सत्ता के सम्बन्ध को ही नहीं मानते वे अवान्तर-सामान्य के सम्बन्ध को भी क्यों मानेंगे ? 'द्रव्यादि स्वतः असत् हैं और अवान्तरसामान्य स्वतः असत् नहीं है' ऐसा भेद करने मे कोई प्रमाण नहीं है, जिससे कि अवान्तरसामान्य को मानने के लिये बाध्य होना पडे ।

पूर्वपक्षी:-द्रव्यादि स्वत· सत् नहीं क्योंकि द्रव्यत्वादि अवान्तरसामान्यवाले हैं । जो स्वतः सत् होता है वह अवान्तरसामान्यवाला नहीं होता जैसे सामान्य, विशेष और समवाय । यह व्यतिरेकी हेतु का प्रयोग है । इस अनुमान से द्रव्यादि के स्वत· सत्त्व का निषेध करेंगे ।

उत्तरपक्षी:-यह ठीक नहीं है, जब द्रव्यादि धर्मि पदार्थ किसी भी प्रकार से 'सत्' प्रतीति के विषय होते हैं तो वे अपने स्वत सत्त्व को सिद्ध करते हुए 'वे स्वत सत् नहीं हैं' इस प्रकार की उनके असत्त्व का प्रतिपादन करने वाली आपकी प्रतिज्ञा को बाध क्यों नहीं करेंगे ?

पूर्वपक्षी. द्रव्यादि स्वत सत् होकर प्रतीतिविषय नहीं बनते किन्तु सत्ता के सम्बन्ध से 'सत्' प्रतीति के विषय बनते हैं । अत बाध नहीं होगा ।

उत्तरपक्षी -यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि यदि वे स्वय असत् होंगे तो सत्ता के सम्बन्ध से भी 'सत्' ऐसी प्रतीति के विषय नहीं बन सकते-यह पहले दिखा दिया है ।

---

* पुष्पिकान्तर्गत पाठोऽशुद्ध इव, तत्रापि [ ] कोष्ठान्तर्गतस्तु पुनरावृत्त, अत. सम्यग्विचार्याऽस्य स्थाने-"प्रतीतिगोचरीभवन्ति, कथं स्वत सत्त्व साधयन्त 'न स्वत सन्तस्ते' इति प्रतिज्ञा तदसत्त्वविषया न बाधन्ते ? न चेद"-इति पाठ परामृष्ट । तदनुसारेण च व्याख्याऽवलोक्या ।

न्य-समवाया-त्परि(?यवि)शेषवत्' इति वैधर्म्यनिदर्शनमयुक्तम् । यदि मतम्-द्रव्यादौ तानि समवेतानि ततस्तस्य तानि न सामान्यादेर्विपर्ययादिति । तन्न सम्यक्, 'तत्र समवेतानि' इति समवायेन सम्बद्धानीति यद्यर्थः, स न युक्तः, समवायस्य निषिद्धत्वान्निषेत्स्यमानत्वाच्च । भवतु वा समवायः, तथापि यत्र द्रव्ये गुणे कर्मणि च द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं चाऽवान्तरसामान्यं तत्रैव पृथिवीत्वादीनि रूपत्वादीनि गमनत्वादीनि च तथाविधानि सामान्यानि, समवायोऽपि तत्रैव सामान्यवत्तस्य सर्वगतत्वाच्च द्रव्यादिवदन्योन्यसत्तानीति न द्रव्यादेः स्वतः सत्त्वबाधनमित्याशंका न निवर्त्तेत-किं द्रव्यादिसम्बन्धात् सत्ता सती, किं वा तया द्रव्यादिकं सत् ? इति । तन्न सत्तातः तन्वादेः सत्त्वम्, तस्या एवाऽसिद्धत्वात् ।

सत्ताप्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् सत्ताया, प्रत्यक्षबाधितविषयत्वेनैवमुपन्यस्यमानस्य प्रसंगसाधनस्यानवकाशः । न च द्रव्यप्रतिभासवेलायां प्रत्यक्षबुद्धौ परिस्फुटरूपेण व्यक्तिविवेकेन सत्ता न प्रतिभातीति शक्य वक्तुम्, अनुगताकारस्य व्यावृत्ताकारस्य च प्रत्यक्षानुभवस्य संवेदनात् । न चानुगत-

[एकान्तभेद पक्ष में वैपरीत्य की उपपत्ति]

यह भी सोचने लायक है कि-जब द्रव्यादि से अवान्तरसामान्य को एकान्त भिन्न मानते हो तब 'अवान्तरसामान्य का द्रव्यादि' ऐसा न होकर 'द्रव्यादि का अवान्तरसामान्य' ऐसा कैसे होगा ? तात्पर्य यह है कि द्रव्यादि को अवान्तरसामान्यवाले न मान कर अवान्तरसामान्य को ही द्रव्यादिवाला मान सकते हैं । तब 'अवान्तरसामान्य वाला होने से' यह पूर्वोक्त हेतु कैसे सिद्ध हो सकेगा ? यदि एकान्तभेद होने पर भी 'द्रव्यादि को ही अवान्तरसामान्यवाला' मानना चाहते हैं तो यह नही हो सकता क्योंकि परस्पर दोनों मे मानना पड़ेगा, अर्थात् एकान्त भिन्न अवान्तरसामान्य जैसे द्रव्यादि मे मानते हैं वैसे नियामकाभाव के कारण सामान्य-विशेष-समवाय में भी मानना पडेगा, अतः आपने जो व्यतिरेकि हेतु प्रयोग करके सामान्यविशेष और समवाय को वैधर्म्य दृष्टान्त बनाया है वह भी अयुक्त ही ठहरेगा ।

यदि ऐसा मानेंगे कि-अवान्तर सामान्य द्रव्यादि मे ही समवेत हैं अतः द्रव्यादि के ही अवान्तर सामान्य हो सकते हैं किन्तु विपरीतरूप से सामान्य-विशेष-समवाय के नही माने जा सकते !-तो यह भी ठीक नही है । कारण, 'उनमे समवेत हैं' इस का यदि ऐसा मतलब है कि 'द्रव्यादि में समवाय से सम्बद्ध है'-तो यह अयुक्त है क्योंकि समवाय का पहले प्रतिकार कर आये हैं और अग्रिम ग्रन्थ में किया भी जायेगा । अथवा मान लिजीये कि समवाय है, फिर भी सभी की सभी मे अन्योन्य सत्ता हो जाने की आपत्ति इस प्रकार आती है कि-जिन द्रव्य-गुण-कर्म में द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व अवान्तर-सामान्य रहता है उन्ही मे पृथ्वित्वादि-रूपत्वादि-गमनत्वादि अवान्तर सामान्य भी रहता है और उन्ही मे समवाय भी रहता है, तथा समवाय सामान्य की भाँति सर्वगत यानी व्यापक है अतः कौन सा अवान्तर सामान्य किस मे रहे और किस मे न रहे यहाँ कोई नियामक न होने से जैसे द्रव्यादि में द्रव्यत्वादि की सत्ता मानी जाती है वैसे ही सभी की सभी मे समवाय से सत्ता मानी जा सकेगी । इस आपत्ति के कारण व्यतिरेकि हेतु प्रयोग से द्रव्यादि के स्वतः सत्त्व को कोई बाध नही पहुँच सकेगा । फलतः यह आशंका तदवस्थ रहेगी कि 'द्रव्यादिसम्बन्ध से सत्ता को सत् मानें या सत्ता के सम्बन्ध से द्रव्यादि को सत् माने ?' निष्कर्ष, सत्ता के योग से देहादि का सत्व मानना अयुक्त है क्योंकि सत्ता का ही उपरोक्त रीति से कुछ ठीकाना नही है ।

व्यावृत्तवस्तुव्यतिरेकेण द्व्याकारा बुद्धिर्घटते । न हि विषयव्यतिरेकेण प्रतीतिरुत्पद्यते, नीलादिस्वलक्षणप्रतीतेरपि तथाभावप्रसगात् । अथ तैमिरिकस्य बाह्यार्थसन्निधिव्यतिरेकेणाऽपि केशोण्डुकादिप्रतीतिरुदेति तथैवानुगतरूपमन्तरेणापि भिन्नवस्तुष्वनुगताकारा बुद्धिरुदेष्यतीति न ततः सत्ताव्यवस्था । तदयुक्तम्-तैमिरिकप्रतीतौ हि प्रतिभासमानस्य केशोण्डुकादेर्बाधक-कारणदोषपरिज्ञानादसत्त्वम्, सत्तादर्शने तु न बाधकप्रत्ययोदयः नापि कारणदोषपरिज्ञानमिति न तद्ग्राहिणो विज्ञानस्य मिथ्यात्वम् ।

तथाहि-विभिन्नेष्वपि घट-पटादिष्वर्थेषु 'सत् सत्' इत्यभेदमुल्लिखन्ती प्रतीतिरुदयमासादयति, न चासौ कालान्तरादौ विपर्ययमुपगच्छन्ती लक्ष्यते, सर्वदा सर्वेषां घट-पटादिषु 'सत् सत्' इति व्याहृतेः । व्यवहारमुपरचयन्ती च प्रतीतिः परैरपि प्रमाणमभ्युपगम्यते । यथोक्तं तैः-'प्रामाण्यं व्यवहारेण' इति । तदेवमवस्थितम्-अनुगताकारा हि बुद्धिर्व्यावृत्तरूपप्रतीत्यनधिगतं साधारणरूपमुल्लिखन्ती

[सत्ताग्राही प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है-पूर्वपक्ष]

नैयायिक की ओर से यहाँ दीर्घ पूर्वपक्ष प्रस्तुत होता है-

नैयायिकः-सत्ताग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सत्ता प्रसिद्ध है। अत. सत्ता को असिद्ध करने के लिये आपने जो विस्तृत प्रसग साधन दिखाया है वह निरवकाश है।

प्रतिपक्षीः-द्रव्य को देखते है उस वक्त प्रत्यक्षबुद्धि मे द्रव्यभिन्न सत्ता का स्पष्टरूप से भास होता नही है।

नैयायिकः-यह नही कह सकते क्योकि द्रव्य को देखने पर द्रव्य का जो प्रत्यक्षानुभव होता है उसमे अनुगताकार का और व्यावृत्ताकार का सवेदन सभी को होता है। किसी अनुगत और व्यावृत्त वस्तु के विना बुद्धि मे तदुभयाकारता की सगति नही की जा सकती। विषय के अभाव मे कभी प्रत्यक्ष बुद्धि का जन्म नही हो पाता। विषय के अभाव मे यदि बुद्धि का जन्म मान्य करेंगे तो नीलादि स्वलक्षण के विना भी उसके निर्विकल्प प्रत्यक्ष की उत्पत्ति शक्य हो जाने से नीलादि स्वलक्षण भी असिद्ध हो जायेगा।

प्रतिपक्षीः-तिमिररोगवाले को बाह्यार्थ की सत्ता न होने पर भी केशोण्डुकादि की प्रतीति होती है [रोगी जब खुले आकाश मे देखता है तब उसको वहाँ बाल के विविध गुच्छ दिखाई देता है] उसी तरह अनुगत रूप के विना भी विविध वस्तु मे अनुगताकार प्रतीति का उदय हो जायेगा। अत. प्रतीति के वल पर सत्ता की व्यवस्था=सिद्धि अशक्य है।

नैयायिक यह बात अयुक्त है। तिमिररोगवाले की प्रतीति में दिखाई देने वाले केशोण्डुकादि का पीछे बाधकज्ञान होता है और नेत्ररूपकारण मे तिमिर दोष का भी ज्ञान होता है, अत: उस प्रतीति के विषयभूत केशोण्डुकादि को मिथ्या मान सकते हैं। सत्ता को देखने के बाद किसी बाधक ज्ञान का उदय नही होता है, नेत्र मे किसी दोष का भी उपलम्भ नही होता है, अत सत्ताग्राहक प्रत्यक्ष विज्ञान को मिथ्या यानी भ्रमात्मक नही मान सकते।

['सत्-सत्' अनुगताकारप्रतीति से सत्तासिद्धि]

सत्ताग्राहक विज्ञान मिथ्या नहो है यह इस प्रकार-घट पटादि विविध अर्थो मे सत्-सत्' ऐसी अभेदोल्लेखवाली प्रतीति का उदय हाता है, यह प्रतीति अन्य काल मे भी वैपरीत्य को प्राप्त होती

सुपरिनिश्चितरूपा बाधाऽयोगात् प्रमाणम्। सा च अक्षान्वय-व्यतिरेकानुसारितया प्रत्यक्षम्। तथाहि–विस्फारितलोचनस्य घट–पटादिषु (?स्व)रूपमारूढां सत्तामुल्लिखन्ती 'सत् सत्' इति प्रतीतिः, तदभावे च न भवतीति तदन्वय–व्यतिरेकानुविधायितया कथं न प्रत्यक्षम्? तस्माद् बहुषु व्यावृत्तेषु तुल्याकारा बुद्धिरेकतामवस्यति। यच्चात्र विभिन्नेषु घटादिषु प्रतिनियतमेकमनुगतस्वरूपं सैव जातिः।

अथ व्यक्तिव्यतिरिक्ता जातिरुपेयते, न च व्यक्तिदर्शनवेलायां तद्रूपसंस्पर्शविषयव्यतिरिक्तवपुरपरमनुगतिरूपं प्रतिभाति तत् कथं तत् सामान्यम्? नैतदस्ति, यस्मादगृहीतसंकेतस्यापि तनुभृतः प्रथममुद्भाति वस्तु, द्वितीये तुल्यरूपतामनुसरति बुद्धिः, क्वचिदेव न सर्वत्र। प्रतिपत्त्यन्यता च सर्वत्र भेदव्यवहारनिबन्धनं तुल्यदेश-कालेऽपि रूप–रसादौ च। प्रतिपत्त्यन्यता च जातावपि विद्यते इति कथं न सा भिन्नाऽस्ति? तथाहि–व्यक्त्याकारविवेकेन विशदमनुगतिरूपता भाति तद्विवेकेन च व्यावृत्तरूपतेति कथं व्यक्तिस्वरूपाद् भिन्नावभासिनी जातिर्भिन्ना नाभ्युपगमविषयः?

हुयी नही दिखाई देती, क्योकि सर्वकाल मे सभी लोग घट पटादि मे 'सत् सत्' इस रूप से व्यवहार करते आये है। जिस प्रतीति से व्यवहार सिद्ध होता है उसको तो प्रतिवादी भी प्रमाण मानते ही है। जैसे कि प्रतिवादिओ ने ही कहा है–'प्रतीति का प्रामाण्य व्यवहार को अधीन है।' इस से यह सिद्ध होता है कि व्यावृत्तरूपग्राहक प्रतीति से जिस का वेदन नही होता ऐसे साधारणरूप का उल्लेख करने वाली अत्यन्त निश्चयारूढ अनुगताकार प्रतीति प्रमाणभूत है क्योकि उसका कभी बाध नही होता। अब जो यह अनुगताकार प्रतीति है वह इन्द्रियो के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करती है अतः उसे प्रत्यक्षात्मक ही मानना होगा। जैसे देखिये-खुले नेत्रवाले को घटपटादिस्वरूप पर आरूढ सत्ता का उल्लेख करने वाली 'सत्-सत्' ऐसी प्रतीति होती है और आख मुद देने वाले को नही होती है, इस प्रकार जब यह अनुगताकार प्रतीति नेत्रेन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करती है तो उसे प्रत्यक्ष क्यो न माना जाय? अतः निष्कर्ष यह है कि भिन्न-भिन्न अनेक वस्तु मे तुल्याकारावगाही बुद्धि एकरूपता का निश्चय करती है। भिन्न भिन्न घटादि मे जो यह नियत रूप से एक अनुगतस्वरूप भासता है वही जाति कही जाती है।

[जाति की प्रतीति व्यक्ति से भिन्न होती है]

प्रतीपक्षीः–आप जाति को व्यक्ति से अलग मानते है, किन्तु व्यक्ति को जब देखते है तब व्यक्तिस्वरूप सस्पर्श यानी ज्ञान का जो विषय, उससे अलग स्वरूप वाला कोई भी अनुगतरूप भासमान नही होता तो फिर उस अनुगतरूप को अलग सामान्य रूप मे कैसे माना जाय?

नैयायिकः–ऐसा नही है, सामान्य मे 'यही सामान्य है' ऐसे सकेत का जिसे भान नही है ऐसे ज्ञाता को भी पहले तो वस्तु का स्वरूप भासित होता है और बाद मे वस्तु की तुल्यरूपता को बुद्धि ग्रहण करती है, हाँ ऐसा सर्वत्र नही किन्तु कभी कभी ही होता है यह बात अलग है। भेदव्यवहार का प्रयोजक सर्वत्र प्रतीतिभेद ही होता है जैसे कि समानकालीन एव समानदेशवर्त्ती रूप और रस मे प्रतीतिभेद के अलावा और कोई भेदप्रयोजक नही है। यदि व्यक्ति और सामान्य के विषय मे भी उक्त रीति से प्रतीतिभेद मौजूद है तो जाति को भिन्न ही क्यो न माना जाय? स्पष्ट ही बात है कि व्यक्तिस्वरूप से अतिरिक्तरूप मे अनुगतरूपता का स्पष्ट भान होता है और अनुगतरूपता से अति-

अथैकेन्द्रियावसेयत्वात् जातिव्यक्त्योरेकता रूप-रसादौ तु भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात् भेदः । तदप्यसंगतम्, यतः एकेन्द्रियग्राह्यमपि वाताऽऽतपादिकं समानदेशं च भिन्नं प्रतिभातीति भिन्नवपुरभ्युपेयते तथा प्रतिनियतेन्द्रियविषयमपि जाति-व्यक्तिद्वय भिन्नं, भिन्नप्रतिभासादेव । तथाहि-घटमन्तरेणापि पटग्रहणे 'सत्-सत्' इति पूर्वप्रतिपन्ना सत्ताऽवगतिर्दृष्टा, यदि तु व्यक्तिरेव सती न जातिः तत्सत्त्वेऽपि तदव्यतिरेका च, तथा सति व्यक्तिरूपवत् तदननुगतिरपि व्यक्त्यन्तरे प्रसज्येत । प्रतीयते च सद्रूपता युगपद् घट-पटादिषु परस्परविविक्ततनुष्वपि सर्वदा । तेनैकरूपैव जातिः, प्रत्यक्षे तथाभूताया एव तस्याः प्रतिभासनात्, शब्द-लिंगयोरपि तस्यामेव सम्बन्धग्रहणमिति ताभ्यामपि सा प्रतीयते । तदेवं प्रत्यक्षादिप्रमाणावसेयत्वात् सत्तायाः न तन्निराकरणाय प्रसंगसाधनानुमानप्रवृत्तिरिति ।

असदेतत्-यतो न व्यक्तिदर्शनवेलायां स्वरूपेण बहिर्ग्राह्याकारतया प्रतीतिमवतरन्ती जातिरुद्भाति । नहि घट-पटवस्तुद्वयप्रतिभाससमये तदैव तद्व्यवस्थितमूर्त्तिभिन्नाऽभिन्ना वा जातिराभाति,

---

रिक्तरूप मे व्यावृत्तरूपता का भान होता है तो फिर व्यक्तिस्वरूप से भिन्नरूप मे भासमान जाति को अलग रूप मे ही मान्यता प्रदान क्यो न की जाय ?

[समानेन्द्रियग्राह्य होने पर भी जाति-व्यक्ति भिन्न है]

प्रतिपक्षीः-जाति और व्यक्ति ये दोनो सामान इन्द्रिय से ग्राह्य है अत उनमे अभेद होता है, रूप और रसादि सामानदेश-कालवर्त्ती होने पर भी भिन्न भिन्न इन्द्रिय से ग्राह्य है अतः उसमे भेद होता है ।

नैयायिकः-यह भी असगत है क्योकि वात और आतप दोनो समानदेशवर्त्ती है इतना ही नही, समानेन्द्रिय (स्पर्शन) से ग्राह्य भी होते है, फिर भी उन का प्रतिभास भिन्न भिन्न होने से उन दोनो को भिन्नस्वरूप माना जाता है । तो इसी प्रकार प्रतिनियत (किसी अमुक ही) इन्द्रिय के विषय होते हुए भी भिन्न प्रतिभास के कारण जाति और व्यक्ति को अलग अलग ही मानना चाहिये । जैसे देखिये-घट न होने पर भी घट मे 'सत्-सत्' इस प्रकार पूर्वोपलब्ध सत्ता जाति का उपलम्भ पट के उपलम्भ मे होता हुआ देखा जाता है । यदि केवल व्यक्ति ही परमार्थरूप होतो, जाति नही, अथवा जाति पारमार्थिक होने पर भी व्यक्ति से अभिन्न ही होती तब तो पट के उपलम्भ मे जैसे व्यक्तिस्वरूप का अननुगम होता है तथैव जाति का भी अननुगम ही होता, दिखता तो अनुगम है । परस्पर भिन्न स्वरूपवाले घट-पटादि मे भी एक साथ ही अनुगत रूप से सद्रूपता का उपलम्भ सदा होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति भिन्न होने पर भी सत्ता आदि जाति एकरूप ही होती है । प्रत्यक्ष मे भी वह एकरूप ही भासित होती है । शब्द के सकेत का ग्रहण भी जाति मे ही होता है और लिंग मे भी जो लिंगी के अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण होता है वह भी जाति के साथ ही होता है व्यक्ति के साथ नही, अत एव समानजातीय भिन्न भिन्न शब्द से समान अर्थ भासित हो सकता है और समानजातीय लिंग से समानजातीय लिंगी का भान होता है उसमे जाति भी भासित हुए विना नही रहती ।

निष्कर्षः-सत्ता जाति प्रत्यक्षादि प्रमाणो से उपलब्ध होती है अत उसके खण्डन के लिये प्रसग साधनरूप अनुमान की प्रवृत्ति सार्थक नही है ।

[पूर्वपक्ष समाप्त]

तदाकारस्यापरस्य ग्राह्यतया बहिस्तत्राऽप्रतिभासनात् । बहिर्ग्राह्यावभासश्च बहिरर्थव्यवस्थाकारी, नान्तरावभासः । यदि तु सोऽपि तद्व्यवस्थाकारी स्यात् तथासति हृदि परिवर्त्तमानवपुषः सुखादेरपि प्रतिभासाद् बहिस्तद्व्यवस्था स्यात्, तथा च 'सुखाद्यात्मकाः शब्दादयः' इति सांख्यदर्शनमेव स्यात् । अथ सुखादिराकारो बाह्यरूपतया न प्रतिभातीति न बहिरसौ, जातिरपि तर्हि न बहीरूपतया प्रतिभातीति न बहीरूपाऽभ्युपगन्तव्या । यतः कल्पनामतिरपि दर्शनदृष्टमेव घटादिरूपं बहिरुल्लिखन्ती तद्गिरं चान्त. प्रतिभाति, न तु तद्व्यतिरिक्तवपुष जातिमुद्द्योतयति । तन्न तदवसेयापि बहिर्जातिरस्ति ।

तैमिरिकज्ञाने बहिष्प्रकाशमानवपुषोऽपि हि केशोण्डुकादयो न तथाऽभ्युपेयन्ते, बाध्यमानज्ञानविषयत्वात् । जातिस्तु न बहीरूपतया क्वचिदपि ज्ञाने प्रतिभातीति कथ सा सत्त्वाभ्युपगमविषय ? बुद्धिरेव केवलं घट-पटादिषु प्रतिभासमानेषु 'सत् सत्' इति तुल्यतनुराभाति । यदि तर्हि न बाह्या जातिरस्ति बुद्धिरपि कथमेकरूपा प्रतिभाति, न हि बहिर्निमित्तमन्तरेण तदाकारोत्पत्तिमती सा युक्ता ? ननु केनोच्यते बहिर्निमित्तनिरपेक्षा जातिमतिरिति, किन्तु बहिर्जातिर्न निमित्तमिति । बाह्यास्तु व्यक्तयः काश्चिदेव जातिबुद्धेर्निमित्तम् ।

[व्यक्ति को देखते समय जाति का भान नहीं होता-उत्तरपक्ष]

नैयायिक ने जो दीर्घ पूर्वपक्ष स्थापित किया है उसके सामने अब उत्तरपक्षी अपनी बात प्रस्तुत करते हुए कहता है कि नैयायिक का यह प्रतिपादान गलत है-कारण यह है कि,-

जब व्यक्ति को देखते है तब बाह्यरूप से ग्राह्याकारवाली जाति का अपने स्वतन्त्ररूप से प्रतीति मे अवतार देखा नही जाता । जिस समय मे घट और पट दो वस्तु का प्रतिभास होता है उसी वक्त घटादि से भिन्न या अभिन्न ऐसी किसी जाति का भास नही होता जो घटादि मे ही विद्यमानस्वरूपवाली हो । क्योकि, घटादि से अन्य कोई सामान्याकार वहाँ बाह्यदेश मे ग्राह्यरूप से लक्षित ही नही होता । और यह तो निर्विवाद है कि बाह्य अर्थो की व्यवस्था को बाह्यदेश मे ग्राह्यरूप से प्रतीत होने वाली वस्तु का अवभास ही कर सकता है, भीतरी अवभास नही । यदि भीतरी अवभास को भी बाह्यवस्तु की व्यवस्था का सपादक मानेंगे तब तो जिसका स्वरूप हृदय के भीतर मे भासित होता है वैसे सुखादि का प्रतिभास भी सुखादि को बाह्यपदार्थ के रूप मे ही स्थापित करेगा, परिणाम यह होगा कि साख्यदर्शन मे जो यह माना जाता है कि बाह्यरूप से भासमान शब्दादि से सुखादि भिन्न नही है-उसी का समर्थन हो जायेगा । आशय यह है कि शब्दादि को तो सब बाह्य मानते है, सुखादि को नही । किन्तु साख्यदर्शन मे सुखादि को आत्मा का नही, प्रकृति (बुद्धि) रूप बाह्यपदार्थ का ही गुण धर्म माना जाता है ।-इसका समर्थन हो जायेगा ।

यदि ऐसा कहे कि-सुखादि आकार बाह्यरूप से भासित नही होता अत एव बाह्य नही हो सकता ।-तो उसी तरह जाति भी घटादिवद् बाह्यरूप से भासित नही होती है अत. उसे बाह्यपदार्थ के रूप मे मानना असगत है । कारण, सविकल्पज्ञान (जिसको बौद्ध प्रमाण ही नही मानते वह) भी निर्विकल्पज्ञान मे दृष्ट घटादि पदार्थ को और उसकी प्रतिपादकवाणी को बाह्यरूप मे भासित करता हुआ स्वय भीतर मे अनुभूत होता है, किन्तु कही भी बाह्यरूप से जाति का उद्भासन नही करता है । साराश, बाह्यरूप मे जाति सविकल्पबोधगम्य भी नही है ।

ननु यदि व्यक्तिनिबन्धनाऽनुगताकारा मतिः, तथा सति यथा खण्ड-मुण्डव्यक्तिदर्शने 'गौर्गौः' इति प्रतिपत्तिरुदेति तथा गिरिशिखरादिदर्शनेऽपि 'गौर्गौः' इत्येतदाकारा प्रतिपत्तिर्भवेत् व्यक्तिभेदाऽविशेषात्। तदयुक्तम्-भेदाऽविशेषेऽपि खण्ड-मुण्डादिव्यक्तिषु 'गौर्गौः' इत्याकारा मतिरुदयमासादयन्ती समुपलभ्यत इति ता एव तामुपजनयितुं समर्था इत्यवसीयते, न पुनर्गिरिशिखरादिषु 'गौर्गौः' इति मतिर्हष्टेति न ते तन्निबन्धनम्। यथा च आमलकीफलादिषु यथाविधानमुपयुक्तेषु व्याधिविरतिलक्षणं फलमुपलभ्यत इति तान्येव तद्विधौ समर्थानीत्यवसीयते, भेदाऽविशेषेऽपि न पुनस्त्रपुष-दध्यादीनि।

अथ भिन्नेष्वपि भावेषु 'सत्-सत्' इति मतिरस्ति, विभिन्नेषु च भावेषु यदेकत्वं तदेव जातिः। तत्रोच्यते-तदेकत्वं घट-पटादिषु किमन्यत् उताऽनन्यत्? न तावदन्यत्, तस्याऽप्रतिभासनादित्युक्तेः। नाप्यनन्यत, एकरूपाऽप्रतिभासनात्, नहि घटस्य पटस्य चैकमेव रूपं प्रतिभाति, सर्वात्मना प्रतिद्रव्यं भिन्नरूपदर्शनात्। तस्मादप्रतीतेरभिन्नाऽपि जातिर्नास्ति, बुद्धिरेव तुल्याकारप्रतिभासा 'सत्-सत्' इति शब्दश्च दृश्यत इति तदन्वय एव युक्तः न जात्यन्वयः, तस्याऽदर्शनात्। न च बुद्धिस्वरूपमप्यपरबुद्धिस्वरूपमनुगच्छति इति न तदपि सामान्यमित्येकानुगतजातिवादो मिथ्यावादः।

[बाह्यार्थ के रूप में जाति का भान नहीं होता]

केशोण्डुकादि तिमिररोगी के ज्ञान मे बाह्यरूप से प्रकाशित होने पर भी उत्तरकालीन बाधक से उस ज्ञान का विषय बाधित होने के कारण केशोण्डुकादि को कोई वास्तव नही मानते। जाति की बात तो इससे भी निराली है, किसी भी ज्ञान मे बाह्यरूप से जाति भासित ही नही होती तो उसको सत्‌रूप से स्वीकृति का पात्र कैसे माना जाय? सच बात यह है कि घट-पट का जब प्रतिभास होता है तब 'सत्-सत्' इस तुल्य आकार से अपनी बुद्धि ही भासित होती है।

नैयायिकः-जब जाति जैसा कोई बाह्य पदार्थ ही नही है तब बुद्धि का एकरूप प्रतिभास भी कैसे होगा? बाह्यनिमित्त के विना ही एकरूपाकार बुद्धि की उत्पत्ति भी सगत नही है।

उत्तरपक्षीः-कौन कहता है कि जाति की बुद्धि बाह्य किसी निमित्त के विना ही होती है? निमित्त तो है ही किन्तु वह जातिरूप नही है। बाह्य घट-पटादि कुछ व्यक्तियाँ ही जाति की बुद्धि यानी एकाकार प्रतीति मे निमित्त बनती हैं।

[सर्वत्र समानाकार प्रतीति की आपत्ति मिथ्या है]

नैयायिकः-अनुगताकारवाली बुद्धि यदि केवल व्यक्तिमूलक ही होती है तो जैसे खंड और मुड गो-व्यक्ति को देखने पर गाय-गाय'-इस प्रकार अनुगताकार बुद्धि होती है, उसी तरह गिरि-शिखरादि को देखने पर भी 'गाय गाय' इस प्रकार अनुगत बुद्धि होनी चाहिये, क्योकि व्यक्तिभेद तो खड और मुड गो-व्यक्ति मे है वैसे ही गो और गिरि-शिखरादि मे भी है-उसमे कोई विशेषता नही है।

उत्तरपक्षी-यह बात गलत है। व्यक्तिभेद-तुल्य होने पर भी खड-मुडादि व्यक्ति ही 'गाय-गाय' ऐसी समानाकार प्रतीति के उत्पाद मे समर्थ प्रतीत होती है, गिरि-शिखरादि समर्थ प्रतीत नही होते, क्योकि खड-मुड व्यक्ति को देखने पर ही 'गाय गाय' इस प्रकार की बुद्धि का उदय देखा जाता है, गिरि-शिखरादि को देखने पर 'गाय-गाय' ऐसी बुद्धि का उदय नही देखा जाता है। उदा० आमला के फल और गडूची आदि मे परस्पर भेद होने पर भी विधि अनुसार उसका प्रयोग करने पर रोग-

अपि च, अनेकव्यक्तिव्यापि सामान्यं सद्वादिभिरभ्युपगम्यते। न च तद्व्यापित्वं तस्य केनचित् ज्ञानेन व्यवस्थापयितुं शक्यम्। तथाहि-संनिहितव्यक्तिप्रतिभासकाले जातिस्तद्व्यक्तिसंस्पर्शिनी स्फुटमवभाति न व्यक्त्यन्तरसम्बन्धितया, तस्यास्तथाऽसन्निधानेन प्रतिभासाऽयोगात्। तदप्रतिभासे च तन्मिश्रताऽपि नावगतेति कथमसन्निहितव्यक्त्यन्तरसम्बद्धशरीरा जातिरवभाति। यदेव हि परिस्फुटदर्शने प्रतिभाति रूपं तदेव तस्या युक्तम्, दर्शनाऽसंस्पर्शिनः स्वरूपस्याऽसंभवात्, सम्भवे वा तस्य दृश्यस्वभावाद् भेदप्रसंगात्, तदेकत्वे सर्वत्र भेदप्रतिहतेः अनानैकं जगत् स्यात्। दर्शनगोचरातीतं च व्यक्त्यन्तरसम्बद्धं जातिस्वरूपमप्रतिभासनादसत् प्रतिभासने वा तस्य तत्सम्बद्धाना व्यवहितव्यक्त्यन्तराणामपि प्रतिभासप्रसंग इति सकलजगत्प्रतिभासः स्यात्।

अथ मतम्-संनिहितव्यक्तिदर्शनकाले व्यक्त्यन्तरसम्बन्धिनी जातिर्न भाति, यदा तु व्यक्त्यन्तरं दृश्यते तदा तद्दर्शनवेलायां तद्गतत्वेन जातिराभातीति साधारणस्वरूपपरिच्छेदः पश्चात् सम्भवतीति, ततश्च पश्चादर्थान्वयदर्शने कथ न तस्यास्तद्व्यापिताग्रहः ? असदेतत्-यतो व्यक्त्यन्तरदर्शनकालेऽपि

विनाशरूप फल प्राप्त होता है अत आमला के फल आदि ही रोगविनाशकार्य मे समर्थ जाने जाते है, व्यक्तिभेद तो ककडी और दही आदि मे भी है किन्तु वे रोगविनाशक नही देखे जाते।

[भिन्नव्यक्ति में तुल्याकारप्रतीति का आलम्बन बुद्धि है]

नैयायिकः-भिन्न पदार्थों मे भी 'सत्-सत्' ऐसी बुद्धि तो होती ही है। अत. उनमे एकरूपता होनी ही चाहिये, भिन्न पदार्थों मे यह जो एकरूपता है वही जाति है।

उत्तरपक्षीः-इसमे यह कहना है कि घट-पटादि से वह एकत्व भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न नही मान सकते क्योकि व्यक्ति से भिन्न जाति का दर्शन ही नही होता यह पहले कह दिया है [पृ० ४५१-१०] अभिन्न भी नही कह सकते क्योकि वह एकाकार व्यक्ति से अलग ही भासित होने का आप मानते है। घट और पट का कही भी एक स्वरूप भासित नही होता, प्रत्येक द्रव्य सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न ही भासित होते है। इससे यह फलित होता है कि प्रतीत न होने के कारण, व्यक्ति से अभिन्न भी कोई जाति पदार्थ नही है। तब जो तुल्याकार प्रतिभास होता है वह बुद्धिस्वरूप हो है, जिसको दिखाने के लिये 'सत्-सत्' ऐसा शब्दप्रयोग किया जाता है। अतः भिन्न भिन्न व्यक्तिओ मे तुल्याकार बुद्धि का ही अन्वय मानना युक्त है, स्वतन्त्र एक जाति का नही, क्योकि वैसा दिखता नही है। एकबुद्धिस्वरूप दूसरे बुद्धिस्वरूप से कभी अनुगत प्रतीत नही होता इसलिये सामान्य को बुद्धिस्वरूप भी नही माना जा सकता। निष्कर्षः-एक अनुगत जाति का प्रतिपादन मिथ्या प्रतिपादन है।

[जाति में अनेक व्यक्तिव्यापकता की अनुपपत्ति]

दूसरी बात यह है कि नैयायिकवादि लोग सामान्य को अनेक व्यक्ति मे व्यापक एक तत्त्व मानते है। किंतु उसकी अनेकव्यक्तिव्यापकता किसी भी ज्ञान से स्थापित नही की जा सकती। देखिये-निकटवर्त्ती व्यक्ति के प्रतिभासकाल मे उस व्यक्ति से सम्बद्ध जाति का ही स्पष्ट भान हो सकता है, अन्य व्यक्ति के सम्बन्धीरूप मे उस जाति का उसी काल मे भान नही हो सकता, क्योकि अन्यव्यक्ति उस काल मे निकटवर्त्ती न होने से उसका बोध शक्य नही है। उस अन्य व्यक्ति का बोध न होने से उसमे मिश्रित रूप से अर्थात् तद्वृत्तित्वरूप से जाति का भी भान नही हो सकता, तब अनिकटवर्त्ती अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध स्वरूपवाली जाति का भान कैसे हो सकता है ? स्पष्ट दर्शन मे

तत्परिगतमेव जातेः स्वरूपं प्रतिभाति न पूर्वव्यक्तिसस्पर्शितया, तस्याः प्रत्यक्षगोचरातिक्रान्ततया तत्सम्बद्धस्यापि रूपस्य तदतिक्रान्तत्वात् । तत् कथं सन्निहिताऽसन्निहितव्यक्तिसम्बद्धजातिरूपावगमः ?

अथ प्रत्यभिज्ञानादनेकव्यक्तिसम्बन्धित्वेन जातिः प्रतीयते । ननु केयं प्रत्यभिज्ञा ? यदि प्रत्यक्षम्, कुतस्तदवसेया जातिरेकानेकव्यक्तिव्यापिनी प्रत्यक्षा ? अथ नयनव्यापारानन्तरं समुपजायमाना प्रत्यभिज्ञा कथं न प्रत्यक्षम्, निर्विकल्पकस्याप्यक्षान्वय-व्यतिरेकानुविधानात् प्रत्यक्षत्वं तदत्रापि तुल्यम् ? असदेतद्, यदि अक्षजा प्रत्यभिज्ञा, तथा सती प्रथमव्यक्तिदर्शनकाले एव समस्तव्यक्तिसम्बद्धजातिरूपपरिच्छेदोऽस्तु । अथ तदा स्मृतिसहकारिविरहान्न तत्त्वावगतिः, यदा तु द्वितीयव्यक्तिदर्शनं तदा पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधसमुपजातस्मृतिसहितमिन्द्रियं तत्त्वदर्शनं जनयति । तदप्यसत्-यतः स्मरणसचिवमपि लोचनं पुरःसंनिहितायामेव व्यक्तौ तत्स्थजातौ च प्रतिपत्तिं जनयितुमीशम्, न पूर्वव्यक्तौ, असनिधानात् । तन्न तत्स्थितां जातिं दर्शनं परिदृश्यमाने व्यक्त्यन्तरे संधत्ते ।

उसका जैसा स्वरूप भासित होता हो, उसीको उसका स्वरूप मानना युक्तियुक्त है, क्योंकि जो स्वरूप दर्शन मे नही भासता उसकी सम्भावना ही नही की जा सकती । यदि उस अदृश्य रूप की भी सम्भावना की जाय तो दृश्यस्वभाव वाली वस्तु से उसको भिन्न ही मानना होगा, यदि उनमे दृश्यत्व और अदृश्यत्व का विरोध होने पर भी एकत्व मानेंगे तो सर्वत्र भेद का विलोप हो जाने से जगत् मे वैविध्य न रह कर केवल एकरूपता ही प्रसक्त होगी । अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध माने जाने वाली जाति का स्वरूप दर्शन की विषयमर्यादा से बाह्य होने से असत् है क्योकि उसका प्रतिभास नही हो सकता । यदि उसका प्रतिभास होने का मानेंगे तो उससे सम्बद्ध अन्य अनेक दूरवर्त्ती व्यक्तियो का भी प्रतिभास होने लग जायेगा । फलतः एक सत्त्व जाति के द्वारा सारे जगत् का प्रतिभास प्रसक्त होगा ।

[पूर्वोत्तरव्यक्ति में जाति की साधारणता अनुभवबाह्य]

कदाचित् नैयायिको का मत ऐसा हो कि-निकट की व्यक्ति के दर्शन काल मे अन्यव्यक्तिसम्बन्धिरूप मे जाति का भान नही होता, किन्तु पीछे जब अन्य व्यक्ति को देखते हैं तब उसके दर्शनकाल मे तद्वृत्तित्वरूप से जाति भी दिखाई देती है, इस प्रकार वह जाति पूर्वदृष्ट और पश्चाद् दृष्ट व्यक्तिद्वय का साधारण तत्त्व है ऐसा बोध पीछे से हो जाता है । जब इस प्रकार जाति मे पीछे से भिन्न भिन्न व्यक्ति मे अन्वय का दर्शन सम्भव है तो जाति अनेक व्यक्ति मे व्यापक है ऐसा ज्ञान क्यो नही होगा ?

किन्तु ऐसा मत ठीक नही है, क्योकि अन्यव्यक्ति के दर्शनकाल मे भी तद्वृत्तित्वरूप से ही जाति का स्वरूप उपलब्ध होता है, 'पूर्वव्यक्ति मे भी यह जाति आश्रित है' ऐसा बोध उस वक्त शक्य नही है, क्योकि पूर्वव्यक्ति उस वक्त प्रत्यक्ष की विषयमर्यादा से बाहर है, अत तदाश्रित जाति भी प्रत्यक्षविषयमर्यादा से बाहर ही है । तो अब प्रश्न खडा रहता है कि जाति का स्वरूप निकटवर्त्ती एव दूरवर्त्ती व्यक्तिओ मे एक साथ आश्रित है यह कैसे जाना जाय ?

[प्रत्यभिज्ञा से अनेकव्यक्तिवृत्तित्व का बोध अशक्य]

नैयायिकः-जाति अनेकव्यक्तिओ मे सम्बद्ध है ऐसी प्रतीति प्रत्यभिज्ञा से हो सकती है ।

उत्तरपक्षी -प्रत्यभिज्ञा क्या है ? यदि प्रत्यक्षप्रमाणात्मक उसे मानते हैं तो उनसे अनेक व्यक्ति मे व्यापक प्रत्यक्ष जाति का अवबोध कैसे होगा ? अनेक व्यक्ति का प्रत्यक्ष तो होता नही ।

अथेन्द्रियवृत्तिर्न स्मरणसमवायिनी करणत्वादिति नासौ संधानकारिणी, पुरुषस्तु कर्तृतया स्मृतिसमवायीति चक्षुषा परिगतेऽर्थे तदुपदर्शितपूर्वव्यक्तिगतां जातिं संधास्यतीति । तदसत्-यतः सोऽपि न स्वतन्त्रतयाऽर्थग्राहकः किन्तु दर्शनसहायः । यदि पुनः स्वतन्त्र एवार्थग्राहक स्यात् तथा सति स्वाप-मद-मूर्छादिष्वपि सर्वव्यक्त्यनुगतजातिप्रतिपत्तिः स्यात् । तस्मादात्माऽपि दर्शनसहाय एवाऽर्थवेदी । दर्शन च पुरः संनिहितं व्यक्तिस्वरूपमनुसरति, न हि स्मृतिगोचरमपि पूर्वदृष्टव्यक्तिगतं जात्यादिक-मिति न दर्शनसहायोऽपि तदनुसन्धानसमर्थ आत्मा ।

अथ स्मरणोपनीतं जातिरूपमात्मा तत्र संधास्यति । नन्वत्रापि स्मृतिः परिहृतपुरोवर्त्तिव्यक्ति-दर्शनविषया पूर्वदृष्टमर्थमनुसरन्ती संलक्ष्यते, तत्कथं पुरोवर्त्तिन्यप्रवर्त्तमाना स्वविषयान् सामान्यादीन् तत्र संघटयितुं क्षमा ? तदस्मृतं च सघटनं कथमात्मापि कर्त्तुं क्षमः ? तथाहि-दर्शने सति द्रष्टरि

नैयायिकः-नेत्रव्यापार के बाद उत्पन्न होने वाली प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष क्यों नहीं ? निर्विकल्प ज्ञान इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है इसलिये तो उसे प्रत्यक्ष माना जाता है, प्रत्य-भिज्ञा मे भी यही बात तुल्य है ।

उत्तरपक्षीः-यह भी गलत है । यदि प्रत्यभिज्ञा इन्द्रियजनित है तब तो प्रथम व्यक्ति के दर्शन-काल मे ही 'जाति सकलव्यक्तिओ से सम्बद्ध है' ऐसा बोध हो जाना चाहिये ।

नैयायिकः-सकलव्यक्तिओ से सम्बद्धरूप में जाति के दर्शनात्मक प्रत्यभिज्ञा ज्ञान मे स्मृति सह-कारी कारण है अत एव उसके विरह मे प्रथमव्यक्ति को देखने से सकलव्यक्ति सम्बन्धितया जाति का भान नही होता । जब दूसरे व्यक्ति को देखते है तब पूर्वदर्शनजनित सस्कार के उद्बोध से उत्पन्न होने वाली स्मृति के सहकार से इन्द्रिय सकलव्यक्तिसम्बन्धितया जाति के दर्शन को उत्पन्न कर देती है ।

उत्तरपक्षीः-यह भी गलत है । क्योकि, नेत्रेन्द्रिय को स्मृति का सहकार मिलने पर भी सम्मुख-वर्त्ती व्यक्ति और तदाश्रित जाति का ही बोध उससे उत्पन्न होने की शक्यता है, पूर्वव्यक्ति का अथवा पूर्वव्यक्ति मे आश्रितरूप से जाति का बोध शक्य नही है, क्योकि उस वक्त उसका सनि-धान ही नही है । प्रत्यक्ष मे विषय का सनिधान प्रथम आवश्यक है । अत यह मानना होगा कि दर्शन पूर्वव्यक्ति मे आश्रित जाति का दृश्यमान व्यक्ति मे अनुसन्धान नही कर सकता ।

[कर्त्ता से जाति का अनुसन्धान अशक्य]

नैयायिकः-इन्द्रिय की वृत्ति से अनुसधान न होने की बात ठीक है । कारण, इन्द्रियवृत्ति मे समवाय से स्मृति नही रहती क्योकि इन्द्रिय तो करण है । किन्तु पुरुष तो कर्त्ता होने से स्मृति का समवायी भी है अत वह नेत्र से उपलब्ध द्वितीय व्यक्ति मे स्मृति से उपलब्ध पूर्वव्यक्तिगत जाति का अनुसंधान कर सकेगा ।

उत्तरपक्षीः-यह बात गलत है । कारण, आत्मा स्वतन्त्ररूप से अर्थ का ग्राहक नही होता किन्तु दर्शन की सहायता से होता है । यदि वह स्वतन्त्ररूप से ही अर्थ का ग्राहक होता तब तो निद्रा, उन्माद और बेहोश दशा मे भी सकल व्यक्ति अनुगत जाति का भान करते रहता । अतः आत्मा भी दर्शन की सहायता से ही अर्थवेदी होता है । यह तो प्रसिद्ध ही है कि दर्शन सम्मुखवर्त्ती व्यक्ति स्वरूप को ही भासित करता है । पूर्वदृष्ट व्यक्ति मे आश्रित जाति स्मृति का विषय होने पर भी दर्शन उसको प्रकाशित नही करता है अत. दर्शन की सहायता से भी आत्मा, जाति के अनुसन्धान मे सशक्त नही है ।

तस्य स्वरूपे जाते तन्निमग्न न स्मृतिकृतं स्मर्तृरूपं भाति। यदि तु भाति तथा सति द्रष्टृरूप एवासौ, न स्मर्त्ता। अथ स्मर्तृरूपे दृष्टृस्वरूपमनुप्रविष्टं प्रतिभाति, तथापि स्मर्त्तैवासौ न द्रष्टा। अथ द्रष्टृ-स्मर्तृस्वरूपे विविक्ते भातः, तथा सति तयोर्भेदो इति नैकत्वम्। तथाहि-द्रष्टृस्वरूपं दृग्विषयावभासि प्रतिभाति स्मर्तृस्वरूपमपि पुंसः स्मृतिविषयमवतीर्णमवभाति, तत् कुत पूर्वापरयोर्जातिरूपयो· सन्धानम्?

यत् पुनरुक्तम्-'स्मरत पूर्वदृष्टार्थानुसधानादुत्पद्यमाना मतिश्चक्षु'सम्बद्धत्वे प्रत्यक्षम्' इति-एतदप्यसत्, नेन्द्रियमति. स्मृतिगोचरपूर्वरूपग्राहिणी, तत् कथं सा तत्संधानमात्मसात्करोति? पूर्व-दृष्टसंधानं हि तत्प्रतिभासनम्, तत्प्रतिभाससम्बन्धे चेन्द्रियमतेः परोक्षार्थग्राहित्वात् परिस्फुटप्रति-भासनम् असंनिहितविषयग्रहणं च तत् कुतस्तयोरैक्यम्? अथ परोक्षग्रहणं स्वात्मना नेन्द्रियमतिः सस्पृशति. एव तर्हि तद्विविक्तेन्द्रियमतिरिति कथ तत्संधायिका सामग्री अभ्युपेयते? यदि च स्मृति-विषयस्वभावतया दृश्यमानोऽर्थः प्रत्यक्षबुद्धिभिरवगम्यते, तथा सति स्मृतिगोचर पूर्वस्वभावो वर्त्त-मानतया भातीति विपरीतख्यातिः सर्वं दर्शनं भवेत्।

[स्मृति की सहायता से अनुसंधान अशक्य]

नैयायिकः-दर्शन से भले ही जाति का अनुसन्धान न हो किन्तु आत्मा ही स्मृति मे प्रस्फुरित जातिस्वरूप का व्यक्ति मे अनुसन्धान कर लेगा।

उत्तरपक्षीः-अरे! स्मृति भी सम्मुखवर्त्ती व्यक्ति जो कि दर्शन का विषय है उसका त्याग करती हुयी केवल पूर्वदृष्ट व्यक्ति का ही अनुसरण करती दिखाई देती है, जब समुखवर्त्ती विषय मे उसकी प्रवृत्ति ही नही होती तव अपने विषयभूत सामान्यादि का सम्मुखस्थित व्यक्ति के साथ मिलान करने मे वह कैसे सशक्त होगी? पूर्वदृष्ट व्यक्ति मे आश्रित जाति का सम्मुखवर्त्ती व्यक्ति मे मिलान जब स्मृति से अछूत है तब आत्मा भी उस मिलान को कैसे कर सकेगा? इस बात को जरा स्पष्ट समझें कि-जब दर्शन का उदय होता है तब आत्मा मे दर्शकस्वरूप का जन्म होता है, उस वक्त स्मृतिप्रयुक्त स्मारकस्वरूप का आत्माश्रित रूप मे भास नही होता है। यदि वह भासेगा तो भी दर्शक-रूप मे ही विलीन हो जाने से केवल दर्शकस्वरूप ही शेष रहेगा, स्मारकस्वरूप नही। अगर स्मारक-स्वरूप मे विलीन हो कर दर्शकस्वरूप भासेगा तव वह केवल स्मारक ही रहेगा द्रष्टा नही रहेगा। यदि कहे कि स्मर्त्ता और द्रष्टा दोनो रूप अलग अलग भासित होता है, तव तो उन दोनो का भेद ही प्रसक्त हुआ, एक व तो गायब हो गया। जैसे दर्शकस्वरूप दर्शन के विषयरूप मे भासेगा, आत्मा का स्मारकस्वरूप स्मृति के विषयरूप मे अवतीर्ण हो कर भासेगा। फिर कैसे पूर्वापर जातिरूपो का अनुसधान सम्भव होगा?

[प्रत्यक्ष से पूर्वरूप का अनुसंधान अशक्य]

यह जो कहा जाता है कि-स्मरण करने वाले को पूर्वदृष्ट अर्थ के अनुसन्धान से, नेत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध रहने पर जो बुद्धि प्रकट होती है वह प्रत्यक्ष ही हो सकती है-यह बात भी गलत है, क्योकि इन्द्रिय से जन्य बुद्धि स्मृति के विषयभूत पूर्वस्वरूप का ग्रहण ही नही कर सकती तो पूर्वरूप के अनुसधान को वह बुद्धि आत्मसत् कैसे कर सकती है? अर्थात् वह बुद्धि अनुसधान मे परिणत कैसे हो सकती है? पूवदृष्ट वस्तु के सधान का मतलब है उसका तत्काल में प्रतिभास होना तथा इस

अथ यत्तदा तत्राऽविद्यमानमर्थमवैति ज्ञानं तत्र विपरीतख्यातिः, प्रत्यक्षप्रतीतिस्तु पूर्वसन्धाना-दप्युपजायमाना पुरः सदेव वस्तु गृह्णती कथं विपरीतख्यातिर्भवेत् ? ननु पूर्वरूपग्राहितया तस्याः सदर्थ-ग्रहणमेव न सम्भवति, स्मरणोपनेयं हि रूपं प्रतियती वर्त्तमानतया प्रत्यक्षबुद्धिर्न प्रतिभासमानवपुषः सत्तां साधयितुमलं प्रत्यस्तमितेऽपि रूपे स्मृतेरवतारात् । तदनुसारिणी चाक्षमतिरपि तदेवानुसरन्ती न सत्ताऽऽस्पदम् । तस्मादिन्द्रियमतिः सकला पूर्वरूपग्रहणं परिहरन्ती वर्त्तमाने परिस्फुटे वर्त्तत इति तदैव तद्गतां जतिमुद्भासयितुं प्रभूरिति न पूर्वापरव्यक्तिगता जाति समस्ति । यदेव हि द्वितीयव्यक्तिगतं रूपं भाति तदेव सत्, पूर्वव्यक्तिगतं तु रूपं न भातीति न तद् सत् । ततश्चानेकव्यक्तिव्यापिकाया जातेरसिद्धिरिति न तत्र लिंग-शब्दयोरपि प्रवृत्तिरिति न ताभ्यामपि तत्प्रतिपत्तिः । यथा च व्यक्ति-भिन्नाऽनुस्यूता जातिर्न सम्भवति तथा यथास्थानं प्रतिपादयिष्यत इत्यास्तां तावत् ।

प्रतिभास से सम्बन्ध होने पर ही इन्द्रियजन्य बुद्धि परोक्षअर्थग्रहणशील बनने से स्पष्ट प्रतिभास उत्पन्न होगा और अनिकटवर्त्ती पदार्थ का ग्रहण होगा, इस प्रकार अनुसधान और इन्द्रियजन्य बुद्धि दोनो का कार्यक्षेत्र ही अलग है तो उन दोनो का ऐक्य कैसे सम्भव है ?

नैयायिक.–परोक्षार्थग्रहण को इन्द्रियजन्य बुद्धि अपने आप आत्मसात् नही करती है ।

उत्तरपक्षीः–तब तो इन्द्रियबुद्धि उससे पृथग् ही हो गयी फिर इन्द्रियजन्य बुद्धि को अनु-सन्धानात्मक दिखाने के लिये अनुसधानकारक सामग्री को वहाँ क्यो दिखाते है ?

दूसरी बात यह है कि जिस वस्तु का स्वभाव स्मृति के विषयरूप मे दृश्यमान है वह यदि प्रत्यक्ष बुद्धियो से भी अवगत हो जायेगा तब तो स्मृति का विषयभूत वह पूर्वस्वभाव अतीत होने पर भी प्रत्यक्ष मे वर्त्तमानरूप मे भासने से वह प्रत्यक्ष विपरीतख्याति (अन्यथाख्याति) स्वरूप बन जायेगा । फलतः दर्शनरूप सभी प्रत्यक्ष अतीत वस्तु को वर्त्तमानरूप मे ग्रहण करने के कारण विपरीत-ख्याति यानी भ्रमात्मक हो जाने की आपत्ति होगी ।

[पूर्वरूपग्राही बुद्धि सत्पदार्थग्राही नहीं हो सकती]

नैयायिकः–ज्ञान जब स्वदेशकाल मे अविद्यमान अर्थ का ग्रहण करता है तब विपरीतख्याति मे परिणत होता है, प्रत्यक्षबुद्धि भले पूर्वसधान से उत्पन्न होती हो, फिर भी वह समुख देश में विद्यमान जात्यादि वस्तु को ग्रहण करती है. फिर विपरीतख्यातिरूप कैसे होगी ?

उत्तरपक्षीः–अरे, जब वह पूर्वदृष्टरूप का ग्रहण करती है तब वह सदर्थ की ग्राहिका ही कैसे हो सकती है ? स्मृति से उपस्थित रूप को वर्त्तमानरूप मे प्रतीत करनेवाली प्रत्यक्षबुद्धि भासमान-स्वरूपवाले पदार्थ की विद्यमानता को सिद्ध नही कर सकती है, क्योकि नष्टस्वरूपवाले पदार्थ के ग्रहण में स्मृति ही सक्रिय बनती है, प्रत्यक्षबुद्धि नही । स्मृति की अनुगामी प्रत्यक्षबुद्धि भी उस पूर्वरूप का ही ग्रहण करेगी तो वह सत्ताविषयक नही कही जा सकेगी । अर्थात् वह विद्यमानवस्तुग्राहक नही हो सकेगी । निष्कर्ष, सर्व इन्द्रियजन्यबुद्धि पूर्वदृष्टरूप का त्याग करती हुयी स्पष्ट एव वर्त्तमान रूप मे ही प्रवृत्त होती है अतः वर्त्तमानरूपान्तर्गत जाति के उद्भासन करने मे ही वह सशक्त बनेगी, किन्तु पूर्व-दृष्टपदार्थान्तर्गत जाति के ऐक्य का उद्भासन नही कर सकेगी । इस से यही फलित होगा कि पूर्वापर-व्यक्तियो में कोई अनुगत जाति नही है । द्वितीयव्यक्ति में आश्रित जिस रूप का भान होता है उसी को सत् मानना होगा और पूर्वव्यक्ति मे आश्रित रूप का भान नही होता, अत. उसको असत् मानना पडेगा ।

तदेवं सत्ता-समवाययोः परपरिकल्पितयोरसिद्धेः 'प्रागसतः कारणसमवायः सत्तासमवायो वा कार्यत्वम्' इति कार्यत्वस्याऽसिद्धत्वात् स्वरूपाऽसिद्धोऽपि कार्यत्वलक्षणो हेतुः।

अथ स्यादेष दोषो यदि यथोक्तलक्षणं कार्यत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तं स्यात्, यावताऽभूत्वाभवनलक्षणं कार्यत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तं तेनाऽयमदोषः। नन्वेवमपि भू भूधरादेः कथमेवंभूतं कार्यत्वं सिद्धम्? अथ यद्यत्र विप्रतिप्रत्तिविषयता तदानुमानतस्तेषु कार्यत्वं साध्यते। तच्चानुमानम्-भू-भूधरादयः कार्यम् रचनावत्त्वात् घटादिवत्-इति कथं न तेषु कार्यत्वलक्षणो हेतुः सिद्धः? असदेतत्-यतोऽत्रापि प्रयोगे भू-भूधरादेरवयविनोऽसिद्धेराश्रयासिद्धः 'रचनावत्त्वात्' इति हेतुः, तदसिद्धत्वं च प्राक् प्रतिपादितम्।

किं च, किमिदं रचनावत्त्वम्? यदि अवयवसंनिवेशो रचना तद्वत्त्वं च पृथिव्यादेस्तदुत्पाद्यत्वम् तदाऽवयवसनिवेशस्य संयोगापरनाम्नोऽसिद्धत्वादसिद्धविशेषणो रचनावत्त्वादिति हेतुः। तथा, पृथिव्यादिषु सयोगजन्यत्वस्य विशेष्यस्याऽसिद्धत्वादसिद्धविशेष्यश्च प्रकृतो हेतुः।

फलतः अनेक व्यक्ति मे व्यापक जाति की प्रत्यक्ष से सिद्धि न होने से उसके अनुमान के लिये लिंग की अथवा शाब्दबोध के लिये शब्द की प्रवृत्ति भी शक्य नही है, अत: लिंग और शब्द से भी जाति का ग्रहण शक्य नही। व्यक्तिओ मे अनुविद्ध व्यक्तिभिन्न जाति का कैसे सम्भव ही नही है यह बात आगे भी उचित अवसर पर कही जायेगी अत. यहाँ उसको अभी जाने दो।

[कार्यत्व रचनावत्त्व से भी सिद्ध नहीं है]

उपरोक्त रीति से नैयायिको का कल्पित सत्ता और समवाय असिद्ध बन जाता है, अत: 'पहले जो असत् है उसका कारणो मे समवाय अथवा उसमे सत्ता का समवाय यह कार्यत्व है' ऐसा कार्यत्व भी असिद्ध बन जाता है, अत. ईश्वरसिद्धि के लिए उपन्यस्त कार्यत्वरूपहेतु स्वरूपासिद्धि दोषग्रस्त होने से जगत्कर्तृत्व की सिद्धि दुष्कर है।

नैयायिकः-यदि हम कारणसमवाय अथवा सत्तासमवाय रूप कार्यत्व को हेतु करे तब यह दोष हो सकता है, किन्तु जब हम 'अभूत्वाभवन' अर्थात् 'पहले न होने के बाद होना' यही कार्यत्व का लक्षण मान कर उसे हेतु करेंगे तब तो कोई असिद्धि दोष नही है।

उत्तरपक्षी.-यहाँ प्रश्न है कि भूमि और पर्वतादि पक्ष मे ऐसे कार्यत्व हेतु को कैसे सिद्ध करोगे?

नैयायिकः-यदि आप ऐसे कार्यत्व मे असम्मति दिखायेंगे तो हम अनुमान से उसको सिद्ध कर बतायेंगे। यह रहा वह अनुमान.-भूमि-पर्वतादि कार्य हैं क्योंकि रचनावाले (अवयवो की विशिष्ट रचनावाले) हैं। इस अनुमान से कार्यत्वरूप हेतु भूमि-पर्वतादि मे क्यो सिद्ध न होगा?

उत्तरपक्षीः-आप की बात गलत है। कारण, इस अनुमान प्रयोग मे एक तो भूमि-पर्वतादि अवयवी सिद्ध न होने से 'रचनावत्त्व' जो हेतु है वह आश्रयासिद्धि दोष वाला है तथा आश्रय असिद्ध कैसे है यह पहले ही दिखाया है। [पृ० ४१४-५]

'रचनावत्त्व' क्या है यह भी सोचना होगा। यदि अवयवसंनिवेश ही रचना है और तद्वत्ता का मतलब यह हो कि पृथ्वी आदि का उससे उत्पन्न होना, तो अवयवसनिवेश जिस का अपरनाम संयोग है वह स्वयं असिद्ध होने से विशेषणांश रचना=अवयवसनिवेश असिद्ध होने से रचनावत्त्व हेतु भी असिद्ध

[संयोगपदार्थपरीक्षणम्]

कथ संयोगाऽसिद्धत्वम् येनोक्तदोषदुष्टः प्रकृतो हेतुः स्यात् ? उच्यते, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् बाधकप्रमाणोपपत्तेश्च । तथाहि-"संख्या-परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपि(द्रव्य)समवायात् चाक्षुषाणि"[वैशे०द० ४/१/११]इति-वचनात् दृश्यवस्तुसमवेतस्य संयोगस्य परेण प्रत्यक्षग्राह्यत्वमभ्युपगतम् । न च निरन्तरोत्पन्नवस्तुद्वयप्रतिभासकालेऽध्यक्षप्रतिपत्तौ तद्व्यतिरेकेणापरः संयोगो बहिर्ग्राह्यरूपतां बिभ्राणः प्रतिभाति । नापि कल्पनाबुद्धौ वस्तुद्वयं यथोक्तं विहाय शब्दोल्लेखं चान्तरम् अपर वर्णाकृत्यक्षराकाररहित संयोगस्वरूपमुद्भाति । तदेवमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य संयोगस्यानुपलब्धेरभावः, शशविषाणवत् ।

तेन यदाह उद्द्योतकरः-

यदि संयोगो नार्थान्तरं भवेत् तदा क्षेत्र-बीजोदकादयो निर्विशिष्टत्वात् सर्वदैवांकुरादिकार्यं कुर्युः, न चैवम्, तस्मात् सर्वदा कार्यानारम्भात् क्षेत्रादीन्यंकुरोत्पत्तौ कारणान्तरसापेक्षाणि, यथा मृत्पिंडादिसामग्री घटादिकरणे कुलालादिसापेक्षा, योऽसौ क्षेत्रादिभिरपेक्ष्यः स संयोग इति सिद्धम् । किं च, असौ संयोगो द्रव्ययोर्विशेषणभावेन प्रतीयमानत्वात् ततोऽर्थान्तरत्वेन प्रत्यक्षसिद्ध एव ।

बन जायेगा । तथा पृथ्वीआदि मे तद्वत्तारूप जो सयोगजन्यत्व विशेष्यअश है वह भी असिद्ध है इसलिये 'रचनावत्त्व' हेतु भी असिद्धविशेष्यवाला हो जाता है ।

[नैयायिकाभिमत संयोग पदार्थ की आलोचना]

नैयायिकः-सयोग कैसे असिद्ध है जिससे कि रचनावत्त्व हेतु उक्त असिद्धिदोष से दूषित बने ?

उत्तरपक्षी.-सयोग के अस्तित्व का कोई साधकप्रमाण नही है, दूसरी ओर बाधकप्रमाण सिर उठाता है । जैसे देखिये-

"सयोग, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्वापरत्व और कर्म (ये सब) रूपी द्रव्य मे समवेत होने से चक्षुग्राह्य है" ऐसे वैशेषिकदर्शन के वचनानुसार आपने दृश्य (यानी) रूपिवस्तु मे समवेत सयोग को ही प्रत्यक्षग्राह्य माना है । किन्तु जब बीच मे बिना किसी अन्तर से उत्पन्न दो द्रव्य का प्रतिभास होता है उस वक्त प्रत्यक्षप्रतीति मे दो द्रव्य से भिन्न और बाह्यपदार्थ के रूप मे ग्राह्यता को धारण करने वाला कोई नया सयोग दिखता नही है । कल्पना बुद्धि मे भी दो पदार्थ और आन्तरिक शब्दोल्लेख के अलावा और कोई वर्णाकृति-अक्षराकारशून्य सयोग का स्वरूप भासित नही होता है । इस तरह उपलब्धिलक्षणप्राप्त (यानी दृश्यस्वभाव) होने पर भी सयोग की उपलब्धि नही होती है अतः शशसीग के जैसे उस का भी अभाव सिद्ध होता है ।

[उद्योतकरकथित संयोगसाधक युक्तियाँ]

उद्द्योतकरने जो यह कहा है कि—

सयोग यदि स्वतन्त्रपदार्थ न होता तब क्षेत्र, बीज और जलादि कारण जो मिलकर ही कार्य करते है वे एकत्रित हुये बिना ही हमेशा अकुरादि को करते रहेगे । किंतु ऐसा देखा नही जाता, अतः हमेशा कार्योत्पादन न करने से क्षेत्रादि कारण, अंकुर की उत्पत्ति मे और भी एक कारण की अपेक्षा

तथाहि-कश्चित् केनचित् 'संयुक्ते द्रव्ये आहर' इत्युक्तो ययोरेव द्रव्ययो: संयोगमुपलभते ते एवाहरति न द्रव्यमात्रम्। किं च, दूरतरवर्त्तिनः पुंसः सान्तरेऽपि वने निरन्तररूपावसायिनी बुद्धिरुदयमासादयति, सेयं मिथ्याबुद्धिः मुख्यपदार्थानुभवमन्तरेण न क्वचिदुपजायते। न ह्यननुभूतगोदर्शनस्य गवये 'गौः' इति विभ्रमो भवति। तस्मादवश्यं संयोगो मुख्योऽभ्युपगन्तव्य.। तथा, 'न चैत्रः कुण्डली' इत्यनेन प्रतिषेधवाक्येन न कुण्डल प्रतिषिध्यते, नापि चैत्र, तयोरन्यत्र देशादौ सत्त्वात्। तस्मात् चैत्रस्य कुण्डलसंयोग: प्रतिषिध्यते। तथा, 'चैत्र. कुण्डली' इत्यनेनापि विधिवाक्येन न चैत्रकुण्डलयोरन्यतरविधानम्, तयो सिद्धत्वात्, पारिशेष्यात् सयोगविधानम्। तस्मादस्त्येव संयोग:।" [द्रष्टव्यं न्यायवार्त्तिके २/१/३३ सूत्रे पृ० २१९-२२२]

-तन्निरस्तं द्रष्टव्यम्, संयुक्तद्रव्यस्वरूपावभासव्यतिरेकेणापरस्य संयोगस्य प्रत्यक्षे निर्विकल्पे सविकल्पके वाऽप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात्।

न च संयुक्तप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या संयोगकल्पनोपपन्ना, निरन्तरावस्थयोरेव भावयोः संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वात्। यावच्च तस्यामवस्थायां संयोगजनकत्वेन संयुक्तप्रत्ययविषयौ ताविष्यते तावत् संयोगमन्तरेण संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वेन तद्विषयौ किं नेष्यते किं पारम्पर्येण? न सान्तरे वने निरन्तरावभासिनी

करते हैं, जैसे मिट्टीपिंडादि सामग्री घटादि के उत्पादन मे कुम्हार आदि की अपेक्षा करते हैं। तो क्षेत्रादि जिस कारण की अपेक्षा करते हैं वही सयोग है यह सिद्ध हुआ। दूसरी बात, यह सयोग दो द्रव्य के विशेषणरूप से प्रतीत होता है अत: दो द्रव्य से वह अलग रूप मे प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है। जैसे देखिये-कोई किसी को कहता है 'भाई! सयुक्त दो द्रव्य को ले आव!' तो वह आदमी जिन दो द्रव्य के सयोग को प्रत्यक्ष देखता है उन्ही दो द्रव्य को ले आता है, नही कि केवल सयोगरहित द्रव्यमात्र।

तीसरी बात, अरण्य से दूर रहे हुए पुरुष को अरण्य मे हर पेड के बीच अन्तर होने पर भी नैरन्तर्यस्पर्शी बुद्धि का उदय होता है। यह बुद्धि प्रमाणभूत नही है किन्तु भ्रमात्मक ही है। भ्रमबुद्धि मुख्यपदार्थ के पूर्वानुभव विना उत्पन्न नही होती। जिसने धेनुदर्शन का ही अनुभव नहीं किया है उसको अरण्य मे गवय को देखने पर कभी भी 'गो' का विभ्रम नही होता। अत सयोग रूप मुख्य पदार्थ को यहाँ अवश्य मानना होगा। तदुपरात, 'चैत्र कुडलवाला नही है' इस निषेधप्रयोग से कुडल का अथवा चैत्र का निषेध कोई नही करता है क्योंकि वे दोनो अन्यत्र अपने स्थान मे अवस्थित है, तब यही मानना होगा कि यहाँ कुडल और चैत्र के सयोग का ही निषेध किया जाता है। तदुपरात 'चैत्र कुडलीवाला है' इस विधिवाक्य प्रयोग से न तो चैत्र का विधान किया जाता है, न कुडल का, दोनो मे से किसी का भी नही, क्योंकि वे दोनो सिद्ध ही है, तब परिशेष से सयोग का विधान ही मानना होगा। निष्कर्ष -सयोग अबाधित रूप से सिद्ध है।

यह उद्योतकर का कथन भी पूर्वोक्त रीति से परास्त हो जाता है। पहले ही यह कह दिया है कि सयुक्त दो द्रव्य के स्वरूपावभास से अतिरिक्त कोई नया सयोग निर्विकल्पक या सविकल्पक प्रत्यक्ष मे भासित नही होता।

[उद्योतकर की संयोगसाधक युक्तियों का निरसन]

'ये दो सयुक्त है'-ऐसी बुद्धि अन्यथा उपपन्न न होने से सयोग की कल्पना करना सगत नही है, क्योंकि सयुक्त की प्रतीति मे निरन्तर अवस्थित भावद्वय ही हेतु हैं। निरन्तर अवस्थित दो द्रव्य से

बुद्धिर्मुख्यपदार्थानुभवपूर्विका, अस्खलत्प्रत्ययत्वेनानुपचरितत्वात् । 'न चैत्रः कुण्डली' इत्यादौ चैत्र-सम्बन्धिकुण्डलं निषिध्यते विधीयते वा न संयोग' । न च सम्बन्धव्यतिरेकेण चैत्रस्य कुण्डलसम्बन्धानुपपत्तिरिति वक्तुं शक्यम्, यतश्चैत्र-कुण्डलयोः किं सम्बन्धिनोः स सम्बन्धः, उताऽसम्बन्धिनो' ? नाऽसम्बन्धिनो', हिमवद्विन्ध्ययोरिवाऽसम्बन्धिनोः सम्बन्धानुपपत्तेः, न चाऽसम्बन्धिनोर्भिन्नसम्बन्धेन तदभिन्नं सम्बन्धित्वं शक्य विधातुम्, विरुद्धधर्माध्यासेन भेदात् । नापि भिन्नम्, तत्सद्भावेऽपि तयोः स्वरूपेणाऽसम्बन्धित्वप्रसंगात्, भिन्नस्य तत्कृतोपकारमन्तरेण तत्सम्बन्धित्वाऽयोगात्, ततोऽपरोपकार-कल्पनेऽनवस्थाप्रसगात् । सम्बन्धिनोस्तु सम्बन्धपरिकल्पन व्यर्थम्, सम्बन्धमन्तरेणापि तयोः स्वत एव सम्बन्धिस्वरूपत्वात् ।

यत्तूक्तम् 'विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण क्षिति-बीजोदकादीनां नांकुरजनकत्वम्, सा च विशिष्टा-वस्था तेषां संयोगरूपा शक्ति' तदसारम्, यतो यथा विशिष्टावस्थायुक्ताः क्षित्यादयः संयोगमुत्पादयन्ति तथा तदवस्थायुक्ता अंकुरादिकमपि कार्यं निष्पादयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेस्तदन्तरालवर्त्ति-न्याः परिकल्पनम् । अथ संयोगशक्तिव्यतिरेकेण न कार्योत्पादने कारणकलापः प्रवर्त्तते इति निर्बन्ध-

---

तृतीय संयोग की उत्पत्ति की कल्पना कर के 'सयुक्त' बुद्धि को सगत करना, उससे अच्छा तो यही है निरन्तर अवस्थित दो द्रव्य से ही 'सयुक्त' बुद्धि को सगत करना । तो आप ऐसा न मान कर परम्परया सयोग की बीच मे फिजुल उत्पत्ति मान कर उसके द्वारा सयुक्त बुद्धि होने की गुरुभूत कल्पना क्यो करते है ? अरण्य मे एक-दूसरे के बीच अन्तर होने पर भी जो नैरन्तर्य की भासक बुद्धि होती है वह मुख्य पदार्थ के अनुभव पूर्वक है यह जो उद्योतकर ने कहा है वह भी अयुक्त है, क्योकि यहाँ नैरन्तर्य की बुद्धि मिथ्या अर्थात् औपचारिक नही होती किन्तु वास्तव ही होती है । कारण, उस बुद्धि का विषय नैरन्तर्य वहाँ अस्खलित है, बाधित नही है । विषय अस्खलित होने पर बुद्धि भी अस्खलद् रूप से ही होती है अतः औपचारिक नही है । 'चैत्र कु डलवाला है अथवा नही है' यहाँ भी किसी नये सयोग का निषेध या विधान नही होता किन्तु चैत्रसम्बन्धि कु डल का ही निषेध या विधान किया जाता है ।

[चैत्र और कुण्डल के सम्बन्ध की समीक्षा]

नैयायिकः-सम्बन्ध के विना चैत्र मे कुडल के सम्बन्ध का विधान या निषेध कैसे सगत होगा ?

उत्तरपक्षीः-ऐसा प्रश्न नही कर सकते । कारण, चैत्र और कु डल का सम्बन्ध आप कैसे मानेगे ? (१) दोनो सम्बन्धी होने पर (२) या असम्बन्धि होगे तब भी ? दूसरा विकल्प अयुक्त है, हिमवत और विन्ध्य दोनो के जैसे असम्बन्धि का कभी सम्बन्ध नही होता । उपरात, जो स्वय अस-म्बन्धि है उनमे भिन्न सम्बन्ध से उन दोनो से अभिन्न सम्बन्धिता का आरोपण शक्य ही नही है, विरुद्धधर्माध्यास से, अर्थात् असम्बन्धित्व और सम्बन्धित्व दो विरुद्ध धर्मो के अध्यास से भिन्नता की आपत्ति आयेगी । भिन्न सम्बन्धिता का आरोपण भी व्यर्थ है क्योकि वैसा करने पर भी वे दोनो स्व-रूप से तो असम्बन्धि ही रह जायेगे । भिन्न पदार्थ जहाँ आरोपित किया जाता है वहाँ उसके कुछ उपकार के विना वह तत्सम्बद्ध नही हो सकता । यदि कुछ उपकार मानेंगे तो उसके ऊपर भी फिर से भिन्न-अभिन्न विकल्पो के लगने से अनवस्था चल पडगी । जब उन दोनो को स्वत. सम्बन्धी मान लेगे तब तो सम्बन्ध की कल्पना ही निरर्थक है । कारण, सम्बन्ध के विना भी वे स्वत. ही सम्बन्धि-स्वरूप लिये बैठे हैं ।

स्तर्हि संयोगशक्त्युत्पादनेऽप्यपरसंयोगशक्तिव्यतिरेकेण नासौ प्रवर्त्तते इत्यपरा संयोगशक्तिः परिकल्पनीया, तत्राप्यपरेत्यनवस्था । अथ तामन्तरेणाऽपि शक्तिमुत्पादयन्ति तर्हि कार्यमपि तामन्तरेणैवांकुरादिकं निर्वर्तयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेस्तदन्तरालवर्त्तिन्या कल्पनम् । न च विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण पृथिव्यादयः संयोगशक्तिमपि निर्वर्तयितुं क्षमाः, तथाऽभ्युपगमे सर्वदा तन्निर्वर्त्तनप्रसंगादकुरादेरप्यनवरतोत्पत्तिप्रसंगः । न चान्यतरकर्मादिसव्यपेक्षा सयोगमुत्पादयन्ति क्षित्यादयः इति नायं दोषः, कर्मोत्पत्तावपि सयोगपक्षोक्तदूषणस्य सर्वस्य तुल्यत्वात् । तस्मादेकसामग्र्यधीनविशिष्टोत्पत्तिमत्पदार्थव्यतिरेकेण नापरः संयोगः, तस्य बाधकप्रमाणविषयत्वात् साधकप्रमाणाभावाच्च ।

यस्तु 'सयुक्ते द्रव्ये एते' इति, 'अनयोर्वाऽयं संयोग.' इति व्यपदेशः स भेदान्तरप्रतिक्षेपाऽप्रतिक्षेपाभ्यां (?) तथाऽवस्थोत्पन्नवस्तुद्वयनिबन्धन एव नाऽतोऽपरस्य संयोगस्य सिद्धि. । न चाऽक्षणिकत्वे तयो. स सम्बन्धो युक्त । तत्सम्बन्धस्य समवायस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमाणत्वाच्च । न च तज्जन्य-

---

[विशिष्ट अवस्थावाले क्षिति-बीज-जलादि से अंकुर जन्म]

उद्योतकरने जो यह कहा था-'विशिष्टावस्था के विना पृथ्वी, बीज और जलादि अंकुरोत्पादन नही कर सकता । जो यह विशिष्टावस्था यहाँ आवश्यक है उसी शक्ति का नाम सयोग है'-यह बात भी असार है, सयोग कोई नित्य पदार्थ तो नही है अत: असकी उत्पत्ति के लिये भी सयोग से अतिरिक्त विशिष्टावस्थावाले पृथ्वी आदि को कारण मानना होगा, तब उचित यह है कि विशिष्टावस्थावाले पृथ्वी आदि को सीधे ही अकुरादि कार्योत्पत्ति के कारण माने जाय, बीच मे सयोगशक्ति की उत्पत्ति की कल्पना व्यथ क्यो की जाय ?

नैयायिक -सयोगशक्ति के विना कार्योत्पत्ति मे कारणसमूह प्रवृत्त नही हो सकता इसलिये सयोग का आग्रह है ।

उत्तरपक्षी'-तब तो संयोगशक्ति के उत्पादन मे भी वह कारणसमूह अन्यसयोगशक्ति के विना प्रवृत्त नही हो सकेगा, अत: अन्य सयोगशक्ति की कल्पना करनी पडेगी, फिर उस संयोग की उत्पत्ति के लिये भी अन्य अन्य सयोगशक्ति की कल्पना करते ही जाओ, कही अन्त नही आयेगा । यदि कहे कि कारणसमूह प्रथम सयोगशक्ति को द्वितीय शक्ति के विना ही उत्पन्न कर लेगा, तब तो यह भी कहो कि प्रथम सयोगशक्ति के विना ही कारणसमूह अकुरादि को भी उत्पन्न कर सकेगा, व्यर्थ ही बीच मे सयोगशक्ति की कल्पना क्यो करते हो ? यह भी तो सोचिये कि पृथ्वी आदि कारणसमूह विशिष्टावस्था के विना सयोग को भी उत्पन्न नही कर सकता है, यदि विशिष्टवस्था के विना ही सयोग की उत्पत्ति मान लेगे तब तो हमेशा सयोग की उत्पत्ति और तन्मूलक अकुरादि की उत्पत्ति होती ही रहेगी ।

नैयायिक:-हम तो मानते ही हैं कि पृथ्वी आदि किसी मे भी क्रिया उत्पन्न हो जाय तब उस क्रिया का सहकार रूप विशिष्टावस्थावाले पृथ्वी आदि से सयोग की उत्पत्ति होती है, अत: हमेशा सयोग की उत्पत्ति का दोष नही लग सकता ।

उत्तरपक्षी.-सयोगशक्ति की पृथ्वी आदि से उत्पत्ति मानने मे जो दोष दिखाये हैं वे सब समानरूप से कर्म की उत्पत्ति मे भी अब लागू होगे । अत: जिस सामग्री से आप कर्म की या सयोग की उत्पत्ति मानेंगे, उसी सामग्री से हम विशिष्ट पृथ्वी आदि की उत्पत्ति मान लेंगे अत: विशिष्टोत्पत्ति-

त्वादसौ तत्सम्बन्धी, अक्षणिकत्वे जनकत्वविरोधस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । क्षणिकत्वेऽपि तयोरेकसामग्र्यधीना नैरन्तर्योत्पत्तिरेव, नापरः संयोग इति 'रचनावत्त्वात्' इत्यत्र हेतोर्विशेषणस्य संयोगविशेषस्य रचनालक्षणस्याऽसिद्धेस्तद्वतो विशेष्यस्याप्यसिद्धिरिति स्वरूपाऽसिद्धत्वम् ।

अथ पृथिव्यादेः कार्यत्वं बौद्धैरभ्युपगम्यत एवेति नाऽसिद्धत्वं तैरस्य हेतोः प्रेरणीयम् । नन्वत्रापि यादृग्भूतं बुद्धिमत्पूर्वकत्वेन देवकुलादिष्वन्वय-व्यतिरेकाभ्यां व्याप्तं कार्यत्वमुपलब्धम् यदक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णदेवकुलादावुपलभ्यमानं लौकिक-परीक्षकादेस्तत्र कृतबुद्धिमुत्पादयति-तादृग्भूतस्य क्षित्यादिषु कार्यत्वस्याऽनुपलब्धेरसिद्ध. कार्यत्वलक्षणो हेतुः । उपलम्भे वा तत्र ततो जीर्णदेवकुलादिष्विवाऽक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिः स्यात् । न ह्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सुविवेचितं कार्यं कारणं व्यभिचरति, तस्याऽहेतुकत्वप्रसंगात् । अतः क्षित्यादिषु कार्यत्वदर्शनादक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्यनुपपत्तेर्यद् बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तं कार्यत्वं देवकुलादिषु निश्चितं तत् तत्र नास्तीत्यसिद्धो हेतुः, केवलं कार्यत्वमात्रं प्रसिद्धं तत्र ।

वाले पृथ्वी आदि पदार्थ से भिन्न कोई सयोग मानना सगत नही है क्योकि उसकी मान्यता उपरोक्त रीति से बाधक प्रमाण का विषय बन जाती है और साधक प्रमाण तो उद्योतकर आदि ने जितने बताये वे सब निरस्त हो जाने से कोई साधक प्रमाण भी अब नही बचा है ।

[संयोग का वचनप्रयोग वस्तुद्वयमूलक ही है]

ऐसा जो वचन प्रयोग होता है कि 'ये दो द्रव्य सयुक्त हैं' अथवा 'इन दोनो का यह सयोग है' इत्यादि वह भेदान्तर के प्रतिक्षेप और अप्रतिक्षेप से विशिष्ट अवस्था मे उत्पन्न वस्तुद्वय मूलक ही है, अतः उन से अतिरिक्त सयोग की सिद्धि शक्य नही है । दूसरी बात, वस्तुद्वय यदि क्षणिक नही है, तब तो चिर काल तक सयोग उन दोनो का सम्बन्धी नही हो सकता क्योकि उनके साथ सम्बद्ध रहने के लिये अपर सम्बन्ध की आवश्यकता रहेगी, वहाँ समवाय को सम्बन्ध नही मान सकते क्योकि उसका खण्डन किया गया है और आगे भी होने वाला है । यह भी नही कह सकते कि वस्तुद्वय से जन्य होने से उन वस्तुद्वय का वह सम्बन्धी हो सकेगा, क्योकि अक्षणिक वस्तु मे जनकता ही विरोधग्रस्त है यह आगे दिखाया जायेगा । यदि वस्तुद्वय को क्षणिक मान लेंगे तब तो जिस सामग्री से सयोग की उत्पत्ति आपको मान्य है उस सामग्री से वह वस्तुद्वय ही नैरन्तर्यविशिष्ट उत्पन्न हो जायेगी जो सयुक्तबुद्धि और सयुक्तव्यपदेश का निमित्त भी बनेगी, अत स्वतन्त्र सयोग पदार्थ सगतिमान् नही है । अत 'रचनावत्त्व' हेतु मे रचनारूप सयोगविशेष को विशेषण किया गया है वही असिद्ध होने से तद्वान् विशेष्य भी असिद्ध हो जाता है अर्थात् आपका 'रचनावत्त्व' हेतु असिद्ध है ।

[कृतबुद्धिजनक कार्यत्व पृथ्वी आदि में असिद्ध]

नैयायिकः-जब आप बौद्धमत का अवलम्बन करके 'रचनावत्त्व' का खण्डन करते हैं तब भी आप कार्यत्व हेतु को असिद्ध नही कह सकते । कारण, रचनावत्त्व हेतु तो हमने पृथ्वी आदि मे जिस को कार्यत्व असिद्ध है उसको सिद्ध कर दिखाने के लिये कहा है । बौद्ध मत मे 'अभूत्वाभवन' स्वरूप कार्यत्व तो पृथ्वी आदि मे प्रसिद्ध ही है अत आप कार्यत्व हेतु को असिद्धि नही दिखा सकते है ।

उत्तरपक्षीः-ठीक बात है, किन्तु जैसा कार्यत्व बुद्धिमत्कर्तृत्व का व्याप्य है वैसा कार्यत्व क्षिति आदि मे बौद्ध भी नही मानते है । देवकुलादि मे अन्वय-व्यतिरेक से बुद्धिमत्पूर्वकत्व से व्याप्त ऐसा

न च प्रकृतया परस्परमर्थान्तरत्वेन व्यवस्थितोऽपि धर्मः शब्दमात्रेणाऽभेदी हेतुत्वेनोपादीयमानोऽभिमतसाध्यसिद्धये पर्याप्तो भवति, साध्यविपर्ययेऽपि तस्य भावाऽविरोधात्, यथा वल्मीके धर्मिणि कुम्भकारकृतत्वसिद्धये मृद्विकारमात्रं हेतुत्वेनोपादीयमानमिति। यद् बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तं देवकुलादौ कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्ध, तच्च क्षित्यादावसिद्धं यच्च क्षित्यादौ कार्यत्वमात्रं हेतुत्वेनोपन्यस्यमान सिद्ध तत् साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् संदिग्धव्यतिरेकत्वेनानैकान्तिकम्, न ततोऽभिमतसाध्यसिद्धिः।

नन्वेतत् कार्यसमं नाम जात्युत्तरम्। तथाहि-'कृतकत्वादनित्यः शब्द' इत्युक्ते जातिवाद्यपि प्रेरयति-किमिदं घटादिगतं कृतकत्व हेतुत्वेनोपन्यस्तं किं वा शब्दगतम् अथोभयगतमिति? आद्ये पक्षे हेतोरसिद्धिः न ह्यन्यधर्मोऽन्यत्र वर्त्तते। द्वितीयेऽपि साधनविकलो दृष्टान्तः। तृतीयेऽप्येतावेव दोषाविति। एतच्च कार्यसमं नाम जात्युत्तरमिति प्रतिपादितम् यथोक्तम्, 'कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत् साध्याऽसिद्धिदर्शनं तत् *कार्यसमम्' [ ] इति। कार्यत्वसामान्यस्याऽनित्यत्वसाधकत्वेनोपन्यासेऽभ्युपगते धर्मिभेदेन विकल्पवद् बुद्धिमत्कारणत्वे क्षित्यादेः कार्यत्वमात्रेण साध्येऽभीष्टे धर्मिभेदेन कार्यत्वादेर्विकल्पनात्।

कार्यत्व उपलब्ध होता है कि जिन्होंने उत्पत्ति क्रिया को नहीं देखी है उन साधारण लोग और परीक्षक लोगों को भी जीर्ण देवकुलादि मे वैसे कार्यत्व को देख कर 'यह किसी का बनाया हुआ है'-ऐसी कर्तृजन्यत्व की बुद्धि उत्पन्न होती है। ऐसा कार्यत्व रूप हेतु क्षिति आदि मे उपलब्ध नहीं होने से असिद्ध है। यदि वहाँ वैसा कार्यत्व होता तब तो उत्पत्ति क्रिया न देखने पर भी जीर्णदेवल आदि को देखकर जैसे निर्विवाद सभी को कृतबुद्धि होती है वैसे क्षिति आदि मे भी सभी को होती। कार्य की यदि अन्वयव्यतिरेक से जाँच पडताल की गयी हो तो वह कार्य बाद मे कभी कारण का व्यभिचार नही दिखाता। नही तो उसमे अहेतुजन्यत्व की आपत्ति लगेगी। इस कारण से, क्षिति आदि में कार्यत्व को देखने पर उत्पत्तिक्रिया न देखने वाले को कृतबुद्धि उत्पन्न न होने से, यह सिद्ध होता है कि जैसा कार्यत्व देवकुलादि मे बुद्धिमत्पूर्वकत्व के व्याप्यरूप मे सुनिश्चित है वैसा कार्यत्व क्षिति आदि मे नहीं ही है। इस प्रकार आपका कार्यत्व हेतु असिद्ध ही है। केवल व्याप्तिशून्य कार्यत्व क्षिति आदि में प्रसिद्ध है इसका कोई इनकार नही करता।

[कार्यत्व हेतु की असिद्धि का समर्थन]

स्वभाव से जो धर्म परस्पर मे भिन्नरूप से अवस्थित होते हैं उनमे शब्दमात्र का अभेद हो इतने मात्र से उसको हेतु कर देने पर इष्ट साध्य की सिद्धि मे वह समर्थ नही बन जाता। क्योंकि साध्य का अभाव होने पर भी उस हेतु के वहाँ होने मे कोई विरोध नही है। उदा० वल्मीक (=दीमकों के द्वारा लगाये गये मिट्टी के ढेर) मे कुम्भकारकर्तृत्व साध्य सिद्ध करने के लिये मिट्टी के घट को दृष्टान्त बनाकर मृद्विकारत्व (मिट्टी के विकार) को हेतु किया जाय तो उतने मात्र से वल्मीक में कुम्भकारकर्तृत्व सिद्ध नही हो जाता। अत यह विवेक करना चाहिये कि बुद्धिमत्कारणत्व से व्याप्त जो कार्यत्व है वह देवलादि मे प्रमाणसिद्ध है किन्तु क्षिति आदि मे असिद्ध है, क्षिति आदि मे हेतुरूप से प्रयुज्यमान जैसा कार्यत्व सिद्ध है उसमे साध्याभावसामानाधिकरण्य की शका की जाय तो उसका

---

*न्याय दर्शन के ५-१-३७ सूत्र मे कार्यसम का अन्य ही उदाहरण प्रस्तुत है।

असदेतत्–यतः सामान्येन कार्यत्वाऽनित्यत्वयोर्विपर्यये बाधकप्रमाणबलात् व्याप्तिसिद्धौ कार्यत्वसामान्यं शब्दादौ धर्मिण्युपलभ्यमानमनित्यत्वं साधयतीति कार्यत्वमात्रस्यैव तत्र हेतुत्वेनोपन्यासे धर्मिविकल्पनं यत् तत्र क्रियेत तत् सर्वानुमानोच्छेदकत्वेन कार्यसमजात्युत्तरतामासादयति, न त्वेवं क्षित्यादेर्बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वसामान्यं हेतुत्वेन सम्भवति, तस्य विपर्यये बाधकप्रमाणाभावाद् संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनाऽनैकान्तिकत्वात् । यच्च बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन व्याप्तं देवकुलादौ कार्यत्वं प्रतिपन्नम्–यदक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णप्रासादादौ कृतबुद्धिमुत्पादयति–तत् तत्राऽसिद्धमिति प्रतिपादितम् ।

निवारक कोई बाधक प्रमाण न होने से वैसा सदिग्धव्यतिरेक वाला कार्यत्व हेतु अनैकान्तिक हो जाता है अतः उससे इष्ट साध्य की सिद्धि दुष्कर है ।

[कार्यसम जात्युत्तर की आशंका]

नैयायिक यहाँ कार्यसम नामक जाति-उत्तर की शका करता है-[असद् असमीचीन उत्तर को जाति-उत्तर कहते हैं] जैसे कि-

'शब्द अनित्य है क्योकि कृतक (प्रयत्नजन्य) है' यहाँ असद् उत्तर देने वाले ऐसे विकल्प करते हैं-घटादिआश्रित कृतकत्व को यहाँ हेतु करते हैं या शब्दाश्रित कृतकत्व को अथवा घट-शब्द उभयगत कृतकत्व को हेतु करते है ? यदि घट के कृतकत्व को हेतु करेगे तो वह पक्षभूत शब्द मे न होने से स्वरूपासिद्धि दोष लगेगा, क्योकि घट का ही जो धर्म है वह घटेतर शब्दादि मे नही रह सकता । यदि शब्दगत कृतकत्व को हेतु करेगे तो घटादि दृष्टान्त मे शब्दगत कृतकत्व न होने से दृष्टान्त साध्यशून्य बन जायेगा यह दोष होगा । शब्द-घट उभयगत कृतकत्व को हेतु करेंगे तो एक एक विकल्प मे कहे गये दोनो दोष आ पडेगे ।–इसी को कार्यसम नामक असद् उत्तर कहते है जैसे कि कहा गया है-कार्यत्व के अन्यत्वलेश (अर्थात् भेद विकल्प) से साध्य की असिद्धि का प्रदर्शन करना यह कार्यसम(जाति) है । आशय यह है कि सामान्य कार्यत्व को हेतु करके ही अनित्यत्व की सिद्धि अभिप्रेत है, कार्यत्वविशेष के दो-तीन विकल्प करके जो प्रत्युत्तर देता है (अर्थात् अनित्यत्व का खण्डन करता है) यही कार्यसम असद् उत्तर हो जाता है । नैयायिक कहता है कि प्रस्तुत हमारे, कार्यत्व हेतु को भी आप ऐसे ही तोड रहे हैं-अनित्यत्व के साधकरूप में सामान्यतः कार्यत्व हेतु के अभिप्राय होने पर कार्यत्व के धर्मी (घट-शब्दादि) का भेद करके जैसे विकल्प किये जाते हैं उसी तरह क्षिति आदि मे सामान्यतः कार्यत्व हेतु से बुद्धिमत्कारणत्व को सिद्ध करने का हमारा अभिप्राय होने पर आप कार्यत्व के धर्मीयो (देवकुल-क्षित्यादि) का भेद करके कार्यत्व हेतु के विकल्प करते है, अतः यह भी असद् उत्तर ही फलित हुआ ।

[कार्यसमत्व की आशंका का प्रत्युत्तर]

नैयायिको की यह बात ही गलत है । कार्यसमजाति के उदाहरण के साथ हमारे उत्तर मे जो साम्य दिखाया है वही असिद्ध है–उदाहरण मे तो नित्यत्व के साथ सामान्यत. कार्यत्व की व्यप्ति मे वैपरीत्य का उद्भावन करे तो वहाँ बाधक प्रमाण के बल से वैपरीत्य को हटाकर व्याप्ति सिद्ध की जा सकने से शब्दादि धर्मी मे उपलब्ध कार्यत्वसामान्य हेतु द्वारा अनित्यत्व की सिद्धि की जा सकती है । अतः यहाँ हेतुरूप से उपन्यस्त कार्यत्वमात्र के धर्मी का भेद करके यदि पूर्वोक्त रीति से

अपि च यद्यत्र व्यापकनित्यैकबुद्धिमत्कारणं क्षित्यादेः कारणत्वेनाऽभिप्रेतं कार्यत्वलक्षणाद्धेतोः, तथा सति घटादौ दृष्टान्तधर्मिणि तत्पूर्वकत्वेन कार्यत्वस्याऽनिश्चयात् साध्यविकलो दृष्टान्तः विरुद्धश्च हेतुः स्यात्, अनित्यबुद्ध्याधाराऽव्यापकाऽनेककर्तृपूर्वकत्वेन व्याप्तस्य कार्यत्वस्य घटादौ निश्चयात्। अथ बुद्धिमत्कारणत्वमात्रं साध्यत्वेनाऽभिप्रेत क्षित्यादौ तर्हि नित्यबुद्ध्याधार-व्यापकैककर्तृपूर्वकत्वलक्षणस्य विशेषस्य क्षित्यादावसिद्धिर्नेश्वरसिद्धिः। अथ बुद्धिमत्कारणत्वसामान्यमेव क्षित्यादौ साध्यते, तच्च पक्षधर्मताबलाद् विशिष्टविशेषाधारं सिध्यति निर्विशेषस्य सामान्यस्याऽसम्भवात्, अनित्यज्ञानवत शरीरिणः क्षित्यादिविनिर्माणसामर्थ्यरहितत्वेन घटादावुपलब्धस्य विशेषस्य बुद्धिमत्कारणत्वसामान्याधारस्य तत्राऽसम्भवात्। नन्वेद सामान्याश्रयत्वेन यद् घटादौ व्यक्तिस्वरूपं प्रतिपन्नं तस्य क्षित्यादावसम्भवात् अन्यस्य च व्यक्तिस्वरूपस्य, विवक्षितसामान्याश्रयत्वेनाऽप्रसिद्धत्वात्, निराधारस्य च सामान्यस्याऽसम्भवात्, बुद्धिमत्कारणत्वसामान्यस्यैव क्षित्यादौ न सिद्धिः स्यात्। न हि क्वचिद् गोत्वाधारस्य खण्डादिव्यक्तिविशेषस्याऽसम्भवेऽन्यरूपमहिष्यादिव्यक्तिसमाश्रितं गोत्वं कुतश्चिद् हेतोः सिद्धिमासादयति।

कार्यत्व का विकल्प किया जाय तो ऐसा सभी अनुमान में हो सकने से अनुमानमात्र के उच्छेद की आपत्ति का सम्भव है अत: उसे कार्यसम असद् उत्तर कहा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत मे क्षिति आदि मे बुद्धिमत्कारणत्व साध्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त कार्यत्वसामान्य, हेतु ही नही बन सकता है क्योंकि यहाँ व्याप्ति के वैपरीत्य का उद्भावन करने पर उसका निवारक कोई बाधक प्रमाण मौजूद नही अतः यहाँ कार्यत्वसामान्य हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति सदिग्ध हो जाने से हेतु मे अनैकान्तिकता दोष लगता है। जिस कार्यत्व को देख कर अदृश्योत्पत्तिवाले जीर्णकूप-प्रासादादि मे भी 'यह किसी का बनाया हुआ है' ऐसी कृतबुद्धि तुरन्त ही हो जाती है ऐसे कार्यत्व मे ही बुद्धिमत्कारणता के साथ देवकुलादि मे व्याप्ति गृहीत है, कार्यत्वसामान्य मे व्याप्ति गृहीत नही है। और कृतबुद्धिजनक कार्यत्व हेतु क्षिति आदि मे तो असिद्ध है यह कह ही दिया है।

[व्यापक, नित्यबुद्धिवाला, एक कर्त्ता असिद्ध]

दूसरी बात यह है कि आप क्षिति आदि के कारण रूप मे व्यापक, एक, एवं नित्य बुद्धिमान् कर्त्ता कार्यत्वरूप हेतु से सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु घटादि दृष्टान्तधर्मी का कार्यत्व व्यापकादिस्वरूपकर्तृमूलक है यह निश्चय ही अशक्य है, अत: घटादि दृष्टान्त साध्यशून्य ठहरा। हेतु भी अब विरुद्ध हुआ, क्योंकि घटादि मे व्यापकादि से विरुद्ध यानी अव्यापक अनित्य बुद्धिमत्अनेककर्तृपूर्वकत्व के साथ ही व्याप्ति वाले कार्यत्व का निश्चय होता है।

नैयायिकः-पृथ्वी आदि मे हमारा साध्य केवल बुद्धिमत्कारणत्व ही है।

उत्तरपक्षीः-तब तो क्षिति आदि मे नित्यबुद्धिवाले, व्यापक, एक कर्त्ता से जन्यत्व-यह विशेष सिद्ध नही होगा, फलतः वैसा ईश्वर भी सिद्ध नही होगा।

[पक्षधर्मता के बल से विशेष व्यक्ति की सिद्धि दुष्कर]

नैयायिकः-क्षिति आदि मे कार्यत्वहेतु से तो केवल सामान्यत. बुद्धिमत्कारणता ही सिद्ध की जाती है। तथापि ईश्वर-असिद्धि नही होगी क्योंकि पक्षधर्मता के बल से ही बुद्धिमत्कारणत्व, व्यापक-

अथ कार्यत्वस्य क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणत्वाभावेऽभावप्रसंगाद् विलक्षणव्यक्त्याश्रितस्यापि तत्सामान्यस्य तत्र सिद्धिर्भवत्येव, यथा महानसविलक्षणगिरिशिखराद्याधारस्याग्निसामान्यस्य धूमात् प्रसिद्धिः। स्यादेतत् यद्यधूमव्यावृत्तं धूममात्रमनग्निव्यावृत्तेनाऽग्निना व्याप्तं यथा प्रत्यक्षानुपलम्भलक्षणात् प्रमाणात् प्रसिद्धं तथाऽत्राप्यबुद्धिमत्कारणव्यावृत्तेन बुद्धिमत्कारणत्वमात्रेणाऽकार्यव्यावृत्तस्य कार्यमात्रस्य कुतश्चित् प्रमाणाद् व्याप्तिः सर्वोपसंहारेण निश्चिता स्यात्, यावता सैव न सिद्धा।

अथ यथा कार्यधर्मानुवृत्तेः कार्यं हुतभुजो धूमः, स तदभावेऽपि भवन् हेतुमत्तां विलघयेत् इति नाग्निव्यतिरेकेण धूमस्य सद्भाव इति सर्वोपसंहारेण व्याप्तिसिद्धिस्तथाऽत्रापि भूधरादि कार्यधर्मानुवृत्तितो बुद्धिमत्कारणकार्यम्, तदभावे तद् भवद् निर्हेतुकं स्यादिति सर्वोपसंहारेण व्याप्तिसिद्धिः। ननु घटादिलक्षणः कार्यविशेषो बुद्धिमदन्वय-व्यतिरेकानुविधायी य उपलभ्यमानस्तत्समानेषु पदार्थेष्व-

---

त्वादि विशिष्ट प्रकार के व्यक्तिविशेषरूप आधार ही सिद्ध होगा, क्योंकि विशेषविनिर्मुक्त केवल सामान्य का सम्भव ही नही है। जो अनित्यज्ञान वाला देहधारी है वह क्षिति आदि बडे-बडे पदार्थों के निर्माण मे समर्थ न होने से घटादि के कर्तारूप मे उपलब्ध जो अनित्यबुद्धिमत्ता आदि वाला व्यक्ति विशेष उसमे क्षिति आदि मे सिद्ध बुद्धिमत्कारणत्वरूप सामान्य की आश्रयता सम्भवारूढ नही है।

उत्तरपक्षी:–तब तो इसका मतलब यह हुआ कि घटादि मे जैसा सामान्याश्रित व्यक्तिस्वरूप (अनित्यबुद्धिमत्ता आदि) गृहीत किया है उसका क्षिति आदि मे सम्भव नही है और तद्भिन्न व्यक्तिस्वरूप (नित्यबुद्धिमत्ता आदि) तो उपरोक्त सामान्य के आश्रयरूप मे कही भी प्रसिद्ध नही है और निराश्रित सामान्य का तो सम्भव ही नही है–इस प्रकार तो क्षिति आदि मे किसी भी प्रकार के (सामान्यत:) बुद्धिमत्कारणत्व की सिद्धि नही होगी। ऐसा कही भी नही होता कि गोत्व-सामान्य के आधार रूप मे किसी भी खुण्डमुडादिव्यक्ति विशेष का कही सम्भव न लगता हो तब तद्भिन्नस्वरूप महिषीआदिव्यक्ति को ही गोत्व का आधार किसी हेतु से सिद्ध किया जाय !

[विलक्षणव्यक्ति-आश्रित बुद्धिमत्कारणत्वसामान्य की सिद्धि अशक्य]

नैयायिक:–यदि क्षिति आदि मे बुद्धिमत्कारणता का अभाव प्रसग दिखायेंगे तब तो कार्यत्व का भी अभाव प्रसक्त होगा, कार्यत्व तो वहा प्रसिद्ध ही है, अत: अव्यापकादि से विलक्षण अर्थात् व्यापकादिव्यक्ति मे आश्रित ही बुद्धिमत्कारणत्वसामान्य की सिद्धि माननी पडेगी। उदा० धूम से पर्वत मे जो अग्नि सामान्य सिद्ध होगा वह पाकशाला के अग्नि से विलक्षण पर्वतीय शिखर मे आश्रित रूप से ही सिद्ध होता है।

उत्तरपक्षी:-धूमादि के जैसे अगर यहाँ भी होता तब तो आपकी बात ठीक मानते, किन्तु ऐसा है नही। देखिये-'अधूम से विलक्षण धूमसामान्य यह अनग्नि से विलक्षण अग्नि से व्याप्त है' यह तो प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ यानी अन्वय-व्यतिरेकग्रहरूप प्रमाण से सिद्ध है। यदि ऐसे प्रस्तुत मे अबुद्धिमत्कारण से व्यावृत्त बुद्धिमत्कारणत्वसामान्य के साथ अकार्यविलक्षणकार्यत्वसामान्य की व्याप्ति किसी प्रमाण से सर्वदेश-कालात्मभाव से सिद्ध होती तब तो नैयायिक की बात ठीक थी, किन्तु वही अद्यापि असिद्ध है। जब बुद्धिमत्कारणत्वसामान्य और कार्यत्व के बीच व्याप्ति ही असिद्ध है तब कैसे बुद्धिमत्कारणत्वसामान्य की व्यापकादिव्यक्तिविशेष-आश्रित रूप मे सिद्धि मानी जाय ? !

क्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिमुत्पादयति, स एव बुद्धिमत्कारणकार्यत्वात् तदभावे भवन् निर्हेतुकः स्यादिति वक्तुं शक्यम्, न पुनः कार्यत्वमात्रं कारणमात्रहेतुकं बुद्धिमत्कारणाभावे भवन्निर्हेतुकमासज्यते, तद्धि कारणमात्राऽभावे भवद् निर्हेतुकं स्यात्।

न च कार्यविशेषः कर्त्तारमन्तरेण नोपलब्ध इति कार्यत्वमात्रमपि कर्तृविशेषानुमापकमिति न्यायविदा वक्तुं युक्तम्, अन्यथा धूमविशेषस्तत्कालवह्न्यव्यभिचरितो महानसादावुपलब्ध इति धूपघटिकादौ धूममात्रमपि तत्कालवह्न्यनुमापकं स्यात्। अथ तत्र तत्कालवह्न्यनुमाने ततः प्रत्यक्षविरोध। स तर्हि भूरुहादावप्यकृष्टजाते कर्त्रनुमाने कार्यत्वलक्षणाद्धेतोः समानः। 'अथ तत्कर्तुरतीन्द्रियत्वाभ्युपगमाद् न प्रत्यक्षविरोधः'। धूपघटिकादावपि वह्नेरतीन्द्रियत्वाभ्युपगमे को दोषो येन प्रत्यक्षविरोध उद्भाव्येत ?

[सहेतुकत्व के अतिक्रम की आपत्ति का प्रतिकार]

नैयायिकः-कार्य का जो लक्षण होता है-कारण के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान, वह धूम में अनुवर्त्तमान होने से धूम को अग्नि का कार्य माना जाता है, अत यदि अग्नि के अभाव में भी वह रह जायेगा तो सहेतुकत्व का अतिक्रमण कर देगा, अर्थात् निर्हेतुक हो जायेगा, (द्र. प्र०वा० ३-३४) इस कारण, अग्नि के बिना धूम का सद्भाव नही माना जाता, अतः सर्वोपसहार से व्याप्ति की सिद्धि धूम मे होती है-उसी तरह पर्वतादि मे भी कार्यधर्म यानी कारण के अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान सिद्ध होने से पर्वतादि को बुद्धिमत्कारणजन्य मानना ही होगा, यदि बुद्धिमत्कारण के बिना भी पर्वतादि कार्य निष्पन्न होगा तब निर्हेतुक ही बन जायेगा, इस प्रकार यहाँ भी सर्वोपसहार से व्याप्ति की सिद्धि निर्बाध होती है।

उत्तरपक्षीः-बुद्धिमत्कारण के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान जिस मे दृष्ट है वैसे घटादि रूप जो कार्यविशेष, अपने से समान पदार्थो मे उत्पत्तिक्रिया न देखने वाले को भी कृतबुद्धि उत्पन्न करता है, वही कार्यविशेष बुद्धिमत्कारणजन्य होने से उसके लिये यह कहा जा सकता है कि बुद्धिमत्कारण के अभाव मे भी यदि वैसा कार्यविशेष उत्पन्न होगा तो निर्हेतुक हो जायेगा। कार्यत्वसामान्य तो केवल कारणसामान्यहेतुक ही होता है, अत. वहाँ यह नही कह सकते कि 'यदि वह बुद्धिमत्कारणजन्य नही होगा तो निर्हेतुक हो जायेगा'। केवल इतना ही यहाँ कहा जा सकता है कि यदि कारणसामान्य के बिना कार्यसामान्य उत्पन्न होगा तो वह निर्हेतुक हो जायेगा।

[कार्यत्वसामान्य से कारणविशेष का अनुमान मिथ्या है]

न्यायवेत्ता कभी ऐसा नही कहेगा कि-'कर्त्तारूप विशेषकारण के बिना कोई एक कार्यविशेष उपलब्ध नही होता इतने मात्र से कार्यत्वमात्र से भी कर्तृविशेष का अनुमान किया जा सकता है।' यदि कार्यत्वमात्र से भी कर्तृविशेष का अनुमान किया जा सकता तब तो पाकशालादि में तत्कालीन अग्नि से अविनाभूत धूमविशेष की उपलब्धि होती है तो इतने मात्र से धूमघटिका में धूमसामान्य से तत्कालीन (पाकशालागत) अग्नि का अनुमान प्रसक्त होगा।

नैयायिकः-धूपघटिका मे पाकशालागत तत्कालीन अग्नि का अनुमान करने मे प्रत्यक्षविरोध है।

अथ 'यदि तत्र तत्कालसम्बन्ध्यनलो भवेत् तदा भास्वररूपसम्बन्धित्वात् प्रत्यक्षः स्यात्' इत्य-प्रत्यक्षत्वलक्षणो दोषः। ननु 'भास्वररूपसम्बन्धित्वादनलो यदि तत्कालं स्यात् प्रत्यक्ष एव भवेत्' इत्येतदेव कुतोऽवसितम्? 'महानसादौ तथाभूतस्यैव तस्य दर्शनात्' इति चेत्? नन्वेवं भूरुहादावपि यदि कर्त्ता स्यात् तदा शरीरवान् दृश्य एव स्यात्, घटादौ कर्तुस्तथाभूतस्यैव तग्योपलम्भात्-इति समानं पश्यामः।

अथ वृक्ष-शाखाभंगादिकार्यस्याऽदृश्य पिशाचादिः कर्त्ता यथाऽभ्युपगत, स्वशरीरावयवानां वाऽपरशरीरव्यतिरेकेणाऽपि यथावा प्रेरको देवदत्तादिः तथा भूरुहादिकार्यकर्त्ताऽदृश्यः शरीरादिरहितश्च यदि स्यात् को दोषः? न कश्चिद् दृष्टव्यतिक्रमव्यतिरेकेण। तथाहि-देवदत्तादेरपि स्वशरीरावयवप्रेरकत्वं विशिष्टशरीरसम्बन्धव्यतिरेकेण नोपलब्धमित्येतावन्मात्रमेव तत्र तस्य कर्तृत्वनिबन्धनम्, नापरशरीरसम्बन्धस्तत्र तस्योपयोगी-इति-भूरुहादिकर्तुरपि-शरीरसम्बद्धस्यैव कार्यकरणे-व्यापारो-युक्तः, नान्यथा। तत्सम्बन्धश्च तस्य यदि तत्कृतोऽभ्युपगम्यते तदा शरीरसम्बन्धरहितस्य तदकरणसामर्थ्यमित्यपरशरीरसम्बन्धोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा शरीरसम्बन्धरहितस्य कथं प्रस्तुतकार्यकरणम्? तथा, तदभ्युपगमे वाऽपरापरशरीरनिर्वर्त्तने क्षीणव्यापारत्वादीशस्य न भूरुहादिकार्यनिर्वर्त्तनम्।

उत्तरपक्षी:-तो अरण्य मे विना कृषि से उत्पन्न वृक्षादि मे कार्यत्व हेतु से कर्त्ता का अनुमान करने मे भी प्रत्यक्षविरोध तुल्य है।

नैयायिकः-उस वृक्षादि के कर्त्ता को हम अतीन्द्रिय मानते हैं अतः कोई प्रत्यक्षविरोध सम्भव नही है।

उत्तरपक्षी:-हम भी धूपघटिका मे अतीन्द्रिय तत्कालीन अग्नि को मान लेंगे तो क्या प्रत्यक्ष-विरोध होगा?

नैयायिकः-धूपघटिका मे यदि उस काल का सम्बन्धीभूत अग्नि हो सकता तब तो वह भास्वर-रूपवाला होने से अवश्य प्रत्यक्ष होता है, अतः अप्रत्यक्षत्वरूप दोष तदवस्थ ही है।

उत्तरपक्षी:-यह आपने कैसे जाना कि 'भास्वररूपवाला होने से अग्नि यदि उस काल मे धूप-घटिका मे होता तो अवश्य प्रत्यक्ष ही होता'?

नैयायिकः-पाकशाला मे उसी प्रकार के ही अग्नि को पहले देखा है।

उत्तरपक्षी:-वृक्षादि का भी यदि कर्त्ता होता तो वह शरीरी और दृश्य ही होता क्योंकि घटादि दृष्टान्त मे उसी प्रकार के कर्त्ता की उपलब्धि होती है-इस प्रकार दोनो जगह साम्य दिखता है।

[शरीर के विना कर्त्ता को मानने में दृष्टव्यतिक्रम]

नैयायिकः-यकायक जो वृक्षभग या शाखाभङ्ग आदि कार्य देखते हैं तब वहाँ जैसे अदृश्य पिशाचादि कर्त्ता को मान लेते हैं, अथवा देवदत्तादि पुरुष अन्यशरीर के विना ही अपने शरीर के अवयवों का जैसे संचालन करता है, उसी तरह वृक्षादि का शरीररहित अदृश्य कर्त्ता मान लेने में क्या हानि है?

उत्तरपक्षी:-दृष्ट का व्यतिक्रम होता है यही दोष है, और कोई नही। देखिये-देवदत्तादि पुरुष का जो स्वदेहावयवो का संचालन है वह विशिष्ट प्रकार के शरीरसंबध विना नही देखा जाता

अथ तदनिर्वर्तितं तच्छरीरं, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-किं तत् कार्यम्, उत नित्यमिति ? यद्याद्यः पक्षः, तदा तस्य कार्यत्वे सत्यपि न कर्तृपूर्वकत्वम्, ततस्तेनैव कार्यत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी। अथ नित्यम्, तदा यथा तच्छरीरस्य शरीरत्वे सत्यपि नित्यत्वलक्षणः स्वभावातिक्रमोऽभ्युपगम्यते तथा भूरुहादेः कार्यत्वे सत्यप्यकर्तृपूर्वकत्वमभ्युपगन्तव्यमिति पुनरपि तैर्हेतुर्व्यभिचारी प्रकृतः।

पिशाचादेस्तु शरीरसम्बन्धरहितस्य कार्यकर्तृत्वं मुक्तात्मन इवानुपपन्नम्। अथास्त्येव तस्य शरीरसम्बन्धः, किन्त्वदृश्यशरीरसम्बन्धादसावदृश्यः कर्त्ताऽभ्युपगम्यते। ननु कुलालादेरपि शरीरसम्बन्ध एव दृश्यत्वं नापरम्, स्वरूपेणात्मनोऽदृश्यत्वात्। अथ दृश्यशरीरसम्बन्धात् तस्य दृश्यत्वम्, ननु पिशाचादिशरीरस्य शरीरत्वे सत्यपि कथमदृश्यत्वम्? 'अस्मदादिचक्षुर्व्यापारेण तस्याऽनुपलम्भादि'ति चेत्? ननु यथा शरीरत्वे सत्यप्यस्मदादिशरीरविलक्षणं पिशाचादिलक्षणं शरीरमनुपलभ्यत्वेनाभ्युपगम्यते तथा घटादिविलक्षणं भूरुहादि कार्यत्वे सत्यप्यकर्तृकत्वेन किं नाभ्युपगम्यते? तथाऽभ्युपगमे च पुनरपि प्रकृतो हेतुर्व्यभिचारी। तदेवमसिद्धत्वाऽनैकान्तिकत्व-विरुद्धत्वदोषदुष्टत्वाद् नास्माद्धेतोः प्रस्तुतसाध्यसिद्धिः। तेन यदुक्तम्-'पृथिव्यादिगतस्य कार्यत्वस्याऽप्रतिपत्तेर्न तस्मादीश्वरावगम.' इति तद्युक्तमेवोक्तम्।

-इतना ही यहाँ कर्तृत्वप्रतिपादन का मूल है, अन्य शरीर का सम्बन्ध हो या न हो, किसी उपयोग का नही। (तात्पर्य यह है कि शरीर योग के विना स्वदेहावयवादि किसी का भी कोई सचालन नही कर सकता, वह सचालन उसी शरीर से चाहे करे या अन्य शरीर से यह कोई महत्त्व की बात नही है, निष्कर्ष:-कर्तृत्व के लिये शरीर योग चाहिये) अतः वृक्षादि कार्य उत्पादन मे किसी कर्त्ता का व्यापार मानना हो तो शरीरसंबद्ध ही उसे मानना होगा ईश्वर मे यह देहसबन्ध भी यदि ईश्वरकृत ही मानेंगे तो उसके उत्पादन मे देहसम्बन्धशून्य ईश्वर उपरोक्त रीति से समर्थ न बन सकने से अन्य देह-सम्बन्ध मानना पडेगा, वरना देहसम्बन्ध के विना वह देहसम्बन्धरूप कार्य को भी कैसे कर सकेगा? यदि प्रथम देहसम्बन्ध के लिये दूसरा देह सम्बन्ध मानेंगे तो दूसरे के लिये तीसरा, तीसरे के चौथा... इस प्रकार अपने शरीर के निर्माणकार्य मे ही ईश्वर का व्यापार क्षीण हो जायेगा तो वृक्षादि कार्य का निर्माण कब और कैसे करेगा ?

यदि यह कहे कि ईश्वरदेह ईश्वर निर्मित नही है तो यहाँ दो प्रश्न का उत्तर दीजिये-वह कार्य (जन्य) है ? या नित्य है ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय तो, ईश्वरदेह कार्यत्मक होने पर भी कर्तृमूलक नही है यह फलित होने से ईश्वरदेह मे ही आपका कार्यत्वरूप हेतु साध्यद्रोही हुआ। यदि उसके शरीर को नित्य मानेंगे तो यह निवेदन है कि जैसे उसके देह मे शरीरत्व होने पर भी अनित्यत्वस्वभाव का अतिक्रमण करने वाला नित्यत्व आप मानते है वैसे ही वृक्षादि मे कार्यत्व रहने पर भी अकर्तृमूलकता मान लेनी चाहिये, अर्थात् कार्यत्व हेतु फिर से एक बार वृक्षादि मे साध्यद्रोही सिद्ध होगा।

[शरीरसम्बन्ध के विना कर्तृत्व की अनुपपत्ति]

वृक्षादि भग की जो बात कही है वहाँ पिशाचादि मे भी शरीर के सम्बन्ध विना मुक्तात्मा की तरह कार्यकर्तृत्व नही घट सकता। (शरीर के अभाव मे मुक्तात्मा किसी भी कार्य का कर्त्ता नही होता)। यदि कहे कि-उसको भी देहसम्बन्ध है ही, किन्तु वह शरीरसम्बन्ध अदृश्य होने से अदृश्य

यत्तूक्तम्-'पृथिव्यादीनां बौद्धैः कार्यत्वमभ्युपगतम् ते कथमेव वदेयुः' इति तदसारम्, प्रकृतसाध्यसिद्धिनिबन्धनस्य कार्यत्वस्य तैरप्यसिद्धत्वप्रतिपादनात्। यच्चाभाषि 'येऽपि चार्वाकास्तेषां कार्यत्वं नेच्छन्ति तेषामपि विशिष्टसंस्थानयुक्तानां कथमकार्यता' इति, तदप्ययुक्तम्, संस्थानयुक्तत्वस्याऽसिद्धत्वादिदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात्। यच्च 'संस्थानशब्दवाच्यत्वं केवलं घटादिभिः सामान्यं पृथिव्यादीनाम्, न त्वर्थः कश्चिद् द्वयोरनुगतः समानो विद्यते' तदेवमेव। यत्तूक्तम् 'धूमादावपि पूर्वापरव्यक्तिगतो नैव कश्चिदनुगतोऽर्थः समानोऽस्ति' इत्यादि, तदसंगतम्, घटादिसंस्थानेभ्यः पृथिव्यादिसंस्थानस्य वैलक्षण्येन हेतोरसिद्धत्वप्रतिपादनात्।

यदप्युक्तम्-'व्युत्पन्नानामस्त्येव पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्वकार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मतावगम, अव्युत्पन्नानां तु प्रसिद्धानुमाने धूमादावपि नास्ति'-इति, तदप्यचारु, यतो यद्यनुमाननिमित्तहेतु-पक्षधर्मत्व-प्रतिबन्धलक्षणां व्युत्पत्तिमाश्रित्य व्युत्पन्ना अभिधीयन्ते तदा पृथिव्यादिगतसंस्थानकार्यत्वादौ घटादिसंस्थानवैलक्षण्ये प्रकृतसाध्यसाधके व्युत्पत्तिर्न केषाञ्चिदपि भवति, यथोक्तसाध्यव्याप्तस्य पृथिव्यादौ

पिशाचादि कर्त्ता माना जाता है।-तो यहाँ निवेदन है कि कुलालादि आत्मा स्वरूप से तो अदृश्य ही होता है केवल देहसम्बन्ध से ही वह दृश्य माना जाता है तो पिशाच और कुलाल मे वैलक्षण्य क्यो? यदि कहे कि-कुलालादि मे जो देहसम्बन्ध है वह दृश्य है इसलिये कुलाल को दृश्य मानते हैं-तो यहाँ यही तो प्रश्न है कि पिशाचादि का देह भी आखिर तो शरीर ही है तो उसे अदृश्य क्यो मानते हैं? हम लोगो के नेत्र व्यापार से पिशाच का उपलम्भ न होने से यदि वह अदृश्य माना जाता है तो यह अब सोचिये कि दोनो जगह शरीरत्व तुल्य होने पर भी पिशाचादि का शरीर उपलब्ध न होने से हम लोगो के शरीर से उनके शरीर को विलक्षण माना जाता है, उसी तरह घटादि से विलक्षण वृक्षादि मे कार्यत्व भले रहे, उसे कर्तृ रहित क्यो नही मानते है? यदि कर्तृ रहित मान लेगे तब तो कार्यत्व हेतु फिर से एक बार वृक्षादि मे साध्यद्रोही हो गया। इस प्रकार असिद्ध-अनैकान्तिक और विरुद्ध दोषो से दुष्ट कार्यत्व हेतु से ईश्वर सिद्धि की आशा नही की जा सकती। अतः प्रारम्भ मे जो हमने कहा था [पृ० ३८३-३] कि पृथ्वी आदि के कार्यत्व की उपलब्धि न होने से उससे ईश्वर की सिद्धि अशक्य है-यह सच्चा कहा है।

[पूर्वपक्षी कथित बातों का क्रमशः निराकरण]

यह जो कहा है-बौद्ध तो पृथिवी आदि मे कार्यत्व मानते है, वे कैसे यह कह सकेंगे कि पृथ्वी आदि मे कार्यत्व उपलब्ध नही होता? [पृ०३८३-३]-यह भी असार ही है, प्रस्तुतसाध्यसिद्धिकारक कार्यत्व को बौद्ध भी पृथ्वी आदि में असिद्ध ही मानते है। यह जो कहा था-जो चार्वाक पृथ्वी आदि में कार्यत्व को नही मानते है उनके मत से भी विशिष्टसस्थानवाले पृथ्वी आदि मे भी अकार्यता कैसे कही जाय?-[पृ० ३८३-४] वह भी अयुक्त है, पृथ्वी आदि मे सस्थानवत्ता हेतु असिद्धत्व आदि दोषग्रस्त होने का कह दिया है। यह जो कहा है-पृथ्वी आदि और घटादि मे सस्थानशब्द का प्रयोग होता है इतनी ही समानता है, दोनो मे अनुगत कोई समान अर्थ नही है-यह तो यथार्थ ही है। किन्तु यह जो कहा था-कि अनुगत सस्थान न मानने वाले के मत मे तो धूमादि पूर्वापर व्यक्ति में भी अनुगत कोई समान अर्थ नही है-इत्यादि [पृ० ३८३-८] यह जूठा है, क्योकि धूमादि पूर्वापरव्यक्ति मे अनुगत अर्थ उभय सम्मत है जब कि पृथ्वी आदि का सस्थान घटादिसस्थान से सर्वथा विलक्षण है, इस कारण से पृथ्वी आदि में सस्थानवत्त्व हेतु को असिद्ध कहा है।

संस्थानादेरभावात्। भावे वा , शरीरादिमतोऽस्मदादीन्द्रियग्राह्यस्यानित्यबुद्ध्यादिधर्मपेतस्य घटादौ संस्थानादिहेतुव्यापकत्वेन प्रतिपन्नस्य कर्तुः पृथिव्यादौ ततः प्रतिपत्तिः स्यात्, न हि हेतुव्यापकमपहायाऽव्यापकस्य विरुद्धधर्माक्रान्तस्याऽपरस्य साध्यधर्मस्य प्रतिपत्तिः साध्यधर्मिणि ,यथोक्तलक्षणलक्षितहेतुबलसमुत्थेत्यनुमानविदां व्यवहारः। कारणमात्रप्रतिपत्तौ, तु ततः तत्र न विप्रतिपत्तिरिति सिद्धसाध्यता।

अथ हेतुलक्षणव्युत्पत्तिव्यतिरिक्तां व्युत्पत्तिमाश्रित्य 'व्युत्पन्नानाम्' इत्युच्यते तदा 'केनचिदं स्रष्ट्रा जगत् सृष्टम्' इति निर्मूलदुरागमाहितवासनानामस्त्येव पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्वकार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मताऽवगमादिः, न च तथाभूतधर्मिधर्मताद्यवगमात् साध्यसिद्धिः, वेदे मीमांसकस्याऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वादेः धर्मिधर्मताऽवगमादेर्यथाऽपौरुषेयत्वस्य। 'अव्युत्पन्नानां तु प्रसिद्धानुमाने धूमादावपि नास्ति' इत्युक्तमेव, अस्माभिरप्यभ्युपगमात्।

[व्युत्पन्न को भी संस्थानादि से बुद्धिमत्कारणानुमान नहीं होता]

यह जो कहा है-व्युत्पन्न लोगो को पृथ्वी आदि और सस्थानवत्त्व मे तथा पृथ्वी आदि और कार्यत्व मे धर्मि-धर्मभाव का बोध होता ही है, जो लोग अव्युत्पन्न (बुद्धिहीन) है उन को तो प्रसिद्ध अनुमान स्थल मे धूम-अग्नि-पर्वतादि मे भी व्याप्ति आदि का ग्रह नही होता [पृ. ३८४ पं. ७]-यह बात भी अरुचिकर है ? कारण, अनुमानप्रयोजक हेतु, पक्षधर्मता, व्याप्ति आदि स्वरूप व्युत्पत्ति को लक्ष्य मे रखकर आप से व्युत्पन्न लोगो की बात की जाय तो यह कहना होगा कि घट आदिगत सस्थान और कार्यत्व से विलक्षण, पृथ्वी आदिगत सस्थान-कार्यत्व कर्त्तारूप साध्य का साधक है ऐसी व्युत्पत्ति किसी भी व्युत्पन्न को नही होती, क्योकि कर्त्तारूप साध्य से व्याप्त जो सस्थानादि है वह पृथ्वी आदि मे नही है। यदि पृथ्वी आदि मे घटादि जैसा ही सस्थानादि होगा तो, घटादि मे संस्थानादिहेतु का व्यापक जैसा कर्त्ता उपलब्ध है-देहधारी, अपने लोगो को इन्द्रिय से ग्राह्य, अनित्यबुद्धि इत्यादिधर्म समूह वाला-ऐसा ही कर्त्ता पृथ्वी आदि मे मानना होगा। कारण, अनुमानवेत्ताओं मे ऐसा व्यवहार नही है कि-हेतु के जो लक्षण कहे गये है ऐसे लक्षणो से अलकृत हेतु के बल से साध्यधर्मी(पक्ष) मे, हेतु के व्यापक साध्यधर्म की उपलब्धि न हो कर अव्यापक और विरुद्ध धर्मो से आक्रान्त किसी अन्य ही साध्य की उपलब्धि हो। यदि साधारण कार्यत्वहेतु के बल से पृथ्वी आदि मे मात्र सकारणकत्व ही सिद्ध करना हो तो वहाँ कोई विवाद नही अपितु सिद्धसाध्यता ही है।

[केवल धर्मिधर्म भाव से साध्यसिद्धि अशक्य]

अब यदि हेतु के लक्षणो की व्युत्पत्ति से भिन्न किसी प्रकार की व्युत्पत्ति को लक्ष्य मे रख कर व्युत्पन्न लोगो को धर्मिधर्मभाव के बोध होने का कहते हो तब निवेदन है कि जिन लोगो को निर्मूल अविश्वसनीय आगम से 'किसी निर्माता ने जगत्-का निर्माण किया है' ऐसी वासना हो गयी है उन लोगों को पृथ्वी आदि और सस्थान तथा पृथ्वी आदि और कार्यत्वादि मे धर्मि-धर्मभाव का अवबोध होने का हम भी मानते हैं-किन्तु-ऐसे निर्मूल धर्मिधर्मभावबोध से अभ्रान्त साध्यसिद्धि हो नही जाती, जैसे कि मीमासको को वेद और तद्विषयक कर्त्ता के अस्मरण मे धर्मि-धर्मभाव का बोध है किन्तु उससे नैयायिको के मतानुसार अपौरुषेयत्व की वेद मे सिद्धि नही हो जाती। यह जो अन्त मे

यत्तु 'प्रासादादिसंस्थानादेर्वैलक्षण्येऽपि पृथिव्यादिसंस्थानादे', कार्यत्वादि पृथिव्यादीनामिष्यते, कार्यं च कर्तृ-करणकर्मपूर्वकं दृष्टम्' इत्यादि, तदप्यसंगतम्, यतो नाम घटादेर्विशिष्टकार्यस्य कर्तृ-पूर्वकत्वमुपलब्धं नैतावताऽविशिष्टस्यापि भूरुहादिकार्यस्य कर्तृपूर्वकत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्, अन्यथा पृथिवीलक्षणस्य कार्यस्य रूप-रस गन्ध-स्पर्शगुणयोगित्वमुपलब्धं भूतत्वे सति, वायोरपि तद्योगित्व-मभ्युपगमनीयं स्यात्, तत्त्वादेव । अथात्र प्रत्यक्षाविबाधः स भूरुहादिकार्येष्वपि समान इति प्राक् प्रतिपादितम् ।

यत्तूक्तम्—'कर्तृपूर्वकस्य कार्यत्वादेस्तद्वैलक्षण्याद् न ततः साध्यावगमः' इत्यादि, तत् सत्यमेव, तद्वैलक्षण्यस्य प्रसाधितत्वात् । अत एव सिद्धम् 'यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत् सन्निवेशादि' इत्यादिग्रन्थप्रतिपादितस्य दूषणस्य कार्यत्वादौ सर्वस्मिन्नीश्वरसाधके हेतौ समानत्वाद् न कस्यचित् तत्साधकता । 'यद्येवमनुमानोच्छेदप्रसङ्गः', धूमादि यथाविधमग्न्यादिसामग्रीभावाभावानुवृत्तिमत् तथा-विधमेतद् यदि पर्वतोपरि भवेत् स्यात् ततो वह्न्याद्यवगमः' इत्यादिकस्तु पूर्वपक्षग्रन्थः पूर्वमेव विहितोत्तरः । यथा—

कहा है कि-'अव्युत्पन्न लोगो को धूमादि हेतुक प्रसिद्ध अनुमान मे भी आवश्यक व्युत्पत्ति नही होती है'-यह तो ठीक ही है, हम भी ऐसा मानते ही है ।

[साधर्म्य मात्र से कर्त्ता का अनुमान दुःशक्य]

यह जो कहा है - [पृ. ३८४ प. ९] प्रासादादि के सस्थान से पृथ्वी आदि का सस्थान विलक्षण होने पर भी उससे पृथ्वी आदि मे कार्यत्व की सिद्धि होती है और कार्य तो हमेशा कर्त्ता, करण और कर्म पूर्वक ही देखा जाता है ।-यह भी सगत नही है । कारण, विशिष्ट प्रकार के घटादि कार्य कर्तृपूर्वक दिखते है इतने मात्र से सामान्य कोटि के वृक्षादि कार्यों को कर्तृपूर्वक मान लेना युक्तियुक्त नही है, वरना भूतत्ववाले पृथ्वीरूप कार्य मे रूप-रस-गन्ध-स्पर्शगुण का योग दिखता है तो वायु मे भी भूतत्व के साधर्म्य से रूप-गन्धादि का अस्तित्व नैयायिक को मानना पडेगा । यदि कहे कि-उसमे तो प्रत्यक्षबाध है अत नही मानेंगे-तो यह बात वृक्षादिकार्यों के लिये भी समान है-यह पहले ही कह दिया है । [पृ ४३८ पं ५]

यह जो कहा है-[पृ ३८४ प. ११] पृथ्वी आदि के कार्यत्वादि, कर्तृपूर्वक जो कार्यत्व होता है उससे विलक्षण है अतः उससे कर्त्ता का अनुमान नही हो सकता यह तो ठीक ही है । वैलक्षण्य कैसे है वह तो हमने कह दिया है कि एक जगह कृतबुद्धिजनक कार्यत्व है और अन्यत्र वैसा नही है । इसी-लिये यह भी सिद्ध होता है-जैसा सनिवेशादि अधिष्ठाता के भावाभाव का अनुविधायी है वैसे ही उसे देखने पर कर्त्ता का अनुमान हो सकता है-इत्यादि पूर्वोक्त ग्रन्थ से कार्यत्वादि मे जो दूषण दिखाये हैं वे ईश्वरसाधक प्रत्येक हेतु मे समान रूप से सलग्न होने से कोई भी हेतु ईश्वर की सिद्धि करने मे समर्थ नही है । इसके विरुद्ध वहाँ ही पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था-[पृ. ३८५ प. १] कि ऐसा मानेंगे तब तो सभी अनुमानो के उच्छेद का प्रसग होगा, उदाहरण देखिये-जैसा धूमादि अग्निआदि सामग्री के भावाभाव का अनुविधायि है वैसा ही यदि पर्वत के ऊपर हो तभी अग्नि का अनुमान होगा । [किन्तु पर्वत के ऊपर पाकशाला के जैसा धूम तो नही होता अतः अनुमान नही हो सकेगा ।]-

यथाभूतोऽधूमव्यावृत्तो धूमोऽनग्निव्यावृत्तेनाऽग्निना व्याप्तो विपर्यये बाधकप्रमाणबलादवसितो गिरिशिखरादावुपलभ्यमानस्तद्देशमग्निसामान्यमनियततार्ण--पार्णाद्यग्निव्यक्तिसमाश्रितमनुमापयति; नैवं कार्यत्वमात्रं बुद्धिमत्कारणसामान्येन व्याप्तं विपर्यये बाधकप्रमाणबलाद् निश्चितं किंतु कारणत्वमा-(णमा)त्रेण व्याप्तं तत् तद्बलाद् निश्चितम्, तच्चोपलभ्यमानं क्षित्यादौ कारणमात्रमनुमापयति यथा गिरिशिखरादावुपलभ्यमानो धूमस्तत्सम्बद्धमग्निमात्रमनियतव्यक्तिनिष्ठम्, तेन 'पृथिव्यादिगतकार्य-दर्शनात् कर्त्रदर्शिनस्तदप्रतिपत्तिवत् शिखर्यादिगतवह्न्याद्यदर्शिनां धूमादपि तदप्रतिपत्तिरस्तु' इति कोऽन्योऽनुमानस्वरूपविदो भवतो वक्तुं क्षमः ? ।

यदि हि कार्यविशेषाद्धूमलक्षणादुपलभ्यमानाद् गृहीताऽविनाभावस्य पुंसोऽग्निलक्षणकारणविशेष-प्रतिपत्तिर्गिरिशिखरादौ भवति तदा कार्यमात्रात् पृथिव्यादावुपलभ्यमानाद(नाद्) बुद्धिमत्कारण-विशेषस्य तत्र प्रतिपत्तौ किमायातम् ? कारणमात्रप्रतिपत्तिस्तु ततस्तत्र भवत्येव, 'सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति' इतिन्यायात् । अत एवान्यस्य सम्बद्धस्यान्यतः प्रतिपत्तौ कार्य-कारणावगमादौ प्रयत्नः कार्यः, अन्यथा तदुत्थप्रमाणस्य प्रमाणाभासता स्यात् । यत्तु 'न चाऽत्र शब्दसामान्यं वस्त्वनुगमो नास्तीति युक्तं वक्तुम्, धूमादावपि शब्दसामान्यस्य वक्तुं शक्यत्वाद्' इति, तदप्यसंगतम्, धूमादि-वैलक्षण्येन पृथिव्यादौ कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कारणत्वाऽव्याप्ते शब्दसामान्यस्य साधितत्वात् ।

इस पूर्वपक्ष की आपत्ति का प्रतिकार पहले ही कर दिया है। [देखिये-पृ. ४६६] यहाँ भी दिखाते हैं-

[कार्यत्व केवल कारणत्व का ही व्याप्य है]

विपरीत शका बाधक प्रमाण के बल से, जिस प्रकार का अधूमभिन्न धूम अनग्निभिन्न अग्नि के साथ व्याप्तिवाला ज्ञात किया है उसी प्रकार का (अधूमव्यावृत्त) धूम यदि गिरि-शिखरादि के ऊपर ऊपलब्ध होता है तो वहाँ किसी भी प्रकार के तृणजन्य या पर्णजन्य अग्निव्यक्ति मे आश्रित अग्नि-सामान्य का अनुमान करा देता है। कार्यत्व स्थल मे ऐसा नही है, विपरीत शका मे बाधक प्रमाण के बल से कायत्व को बुद्धिमत्कारणसामान्य के साथ व्याप्ति होने का निश्चय ही नही है, यहाँ तो विपरीत शंका मे बाधक प्रमाण के बल पर कार्यत्व की केवल सकारणकत्व के साथ ही व्याप्ति निश्चित हो सकती है। अत: पृथ्वी आदि मे उपलब्ध कार्यत्व से केवल कारण सामान्य का ही अनु-मान हो सकता है जैसे कि गिरिशिखरादि ऊपर उपलब्ध धूम से केवल गिरिशिखरादिसम्बद्ध अनि-यत व्यक्ति आश्रित अग्नि सामान्य का ही अनुमान होता है। अत आपने जो यह कहा है-पृथ्वी आदि गत कार्य के दर्शन से कर्त्ता न देखने वाले को यदि कर्त्ता का अनुमान नही मानेंगे तो पर्वतादिगत अग्नि न देखने वाले को धूम देख कर भी अग्नि का बोध नही होगा-यह तो आप से अतिरिक्त और कौन कहने का साहस करेगा यदि अनुमानस्वरूप को वह जानता होगा ?

[बुद्धिमत्कारणविशेष की उपलब्धि निर्मूल है]

यह तो सोचिये कि-व्याप्तिज्ञानवाले पुरुष को धूमात्मक कार्यविशेष के उपलम्भ से यदि गिरिशिखरादि के ऊपर रहे हुए अग्निरूप कारण विशेष की अनुमिति होती है तो इतने मात्र से पृथ्वी आदि मे उपलब्ध कार्यत्वसामान्य से बुद्धिमान् कारणविशेष की उपलब्धि कहाँ से हो सकती है ? हाँ, कारणसामान्य की उपलब्धि कार्यत्व सामान्य से वहाँ होने की बात ठीक है, क्योंकि सुपरीक्षित

यच्च-घटादिवत् पृथिव्यादि स्वावयवसंयोगैरारब्धमवश्यं तद्विश्लेषाद् विनाशमनुभविष्यति, इत्यादि-तदप्यसंगतम् , अवयवसंयोगवत् तद्विश्लेषस्यापि विभागलक्षणस्य विनाशं प्रति हेतुत्वेनोपन्यस्तस्याऽसिद्धत्वात . तदसिद्धत्वं च संयोगवद् वक्तव्यम् । 'एवं विनाशाद् वा संभावितात् कार्यत्वानुमानं रचनास्वभावत्वाद्वा' इत्यादि सर्वं निरस्तं दृष्टव्यम् । यत्तु चार्वाकं प्रति कार्यत्वसाधनायोक्तम्-'यथा लौकिक-वैदिक्यो रचनयोरविशेषात् कर्तृपूर्वकत्व तथा प्रासादादि-पृथिव्यादिसंस्थानयोरपि तद्रूपताऽस्तु, अविशेषात्'-तदप्यचारु, तद्विशेषस्य प्रतिपादितत्वात् तत कार्यत्वादिलक्षणस्य हेतोरसिद्धतैव । यच्चाऽभाषि 'सिद्धत्वेऽपि नास्माद्धेतोः साध्यसिद्धिर्युक्ता, न हि केवलात् पक्षधर्माद् व्याप्तिशून्यात् साध्यावगमः' तत् सत्यमेव, व्याप्तिरहिताद्धेतोः साध्यसिद्धेरसम्भवात् ।

कार्य कभी कारणद्रोही नही होता-यह न्याय है । आशय यह है कि किसी एक वस्तु के माध्यम से यदि अन्य किसी सम्बद्ध वस्तु का ज्ञान करना हो तो उन दोनो मे कार्य-कारणभावादि सम्बन्ध है या नही यही खोजना चाहिये, वरना उस एक वस्तु के माध्यम से प्रयोजित अनुमान प्रमाण न होकर प्रमाणाभास हो जाने का सम्भव है ।

यह जो आपने कहा था— अनीश्वरवादी का ऐसा कहना उचित नही है कि-'घटादिगत कार्यत्व और पृथ्वी आदिगत कार्यत्व मे केवल शब्द का ही साम्य है, अनुगत यानी समान कार्यत्व दोनो मे नही है'-क्योकि पाकशाला और पर्वत के धूम के लिये भी ऐसा कहा जा सकेगा - यह भी ईश्वरवादी का कथन असंगत है क्योकि धूमादि स्थल मे वास्तव साम्य है और कार्यत्वस्थल मे केवल शब्दसाम्य ही है यह हमने इस युक्ति से दिखा दिया है कि पृथ्वी आदि गत कार्यत्व को बुद्धिमत्कारण के साथ व्याप्ति ही नही है ।

[संयोग की तरह विभाग भी असिद्ध है]

कार्यत्व की पृथ्वी आदि मे सिद्धि हेतु आपने यह जो कहा था-[पृ ३८६ पं. १] पृथ्वो घटादि की तरह अपने अवयवो के सयोग से जन्य है अत अवयवो के विश्लेष से घटादि की तरह पृथ्वी आदि का भी अवश्यमेव विनाश होगा-यह भी असगत है, क्योकि-सयोग जैसे कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है उसी प्रकार विभाग स्वरूप अवयव विश्लेष भी कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है अत: कार्यत्व की सिद्धि के लिये उपन्यस्त विश्लेष हेतु ही असिद्ध है। जैसे हमने सयोग को असिद्ध दिखाया है [पृ. ४६१ पं. १] उन युक्तियो से ही विभाग को भी असिद्ध समझ लेना चाहिये। अत: आपका तत्रोक्त यह कथन-'इस रीति से सम्भावित विनाश से अथवा रचनास्वभाव से पृथ्वी आदि मे कार्यत्व का अनुमान हो सकता है'-भी निरस्त हो जाता है । तथा, चार्वाक के प्रति पृथ्वी आदि मे कार्यत्वसिद्धि के लिये आपने जो यह कहा है-लौकिक और वैदिक वाक्य रचनाओ मे किसी भेदभाव के विना ही कर्तृपूर्वकता मानी जाती है वैसे प्रासादादि और पृथ्वी आदि के सस्थानो मे भी कर्तृपूर्वकता मानी जाय, क्योकि यहाँ भी समानता है [पृ. ३८७ प ४]-यह भी रुचिकर नही है क्योकि यहाँ समानता नही है किन्तु विशेषता है और वह कह दी गयी है। अत: बुद्धिमत्कारण से व्याप्त कार्यत्व तो पृथ्वी आदि में असिद्ध ही रहता है । हमारी ओर से आपने जो यह कहा था-पृथ्वी आदि मे कार्यत्व सिद्ध हो जाय तो भी उससे साध्यसिद्धि नही हो सकती, केवल पक्षधर्मता के बल पर व्याप्तिशून्य हेतु से साध्यसिद्धि का सम्भव नही है [पृ. ३८७ पं ७]-यह बात सत्य है, क्योकि व्याप्तिशून्य हेतु से साध्य की सिद्धि का असम्भव ही है ।

यच्च 'घटादौ कर्तृपूर्वकत्वेन कार्यत्वाऽवगमेऽपि केषाञ्चित् कार्याणामकर्तृपूर्वकाणां कार्यत्वदर्शनात् न सर्वं कार्यं कर्तृपूर्वकम् , यथा वनेषु वनस्पत्यादिनाम्' इति तदपि सत्यमेव 'तस्माद् नेश्वरसिद्धौ कश्चि-द्धेतुरव्यभिचार्यस्ति' इत्येतत्पर्यन्तम् । यदप्युक्तम् 'नाकृष्टजातैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारो व्याप्त्यभावो वा, साध्याभावे हेतुर्वर्तमानो व्यभिचारी उच्यते, तेषु कर्त्रग्रहणं न कर्त्रभावनिश्चय' इति तदप्यसारम् , सर्वप्रमाणाऽविषयत्वेऽपि यदि स्थावरादिषु कर्त्रभावनिश्चयो न भवति तथा सति आकाशादौ रूपाद्य-भावनिश्चयो मा भूत् । अथ तत्र रूपादिसद्भावबाधकप्रमाणसद्भावात् तदभावनिश्चय , सोऽत्रापि समानः । तच्च प्रमाणं प्रदर्शयिष्यामोऽनन्तरमेव ।

यत्तूक्तम्- क्षित्याद्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानदर्शनात् तेषाम तदतिरिक्तस्य कारणत्वकल्पनेऽति-प्रसंगदोष इति, एतस्यां कल्पनायां धर्माधर्मयोरपि न कारणता भवेत्'....इत्यादि, तदयुक्तम् , धर्मा-ऽधर्मादेः कारणत्वं जगद्वैचित्र्यान्यथाऽनुपपत्त्या व्यवस्थाप्यते । तथाहि-सर्वान्नुत्पत्तिमतः प्रति भूम्यादेः साधारणत्वात्तदन्याऽदृष्टाख्यविचित्रकारणकृतं कार्यवैचित्र्यम् । न चैवमीश्वरस्य कारणत्वपरिकल्पनायां किञ्चिन्निमित्तं संभवति, तद्व्यतिरेकेण कस्यचिदर्थस्यानुपपद्यमानस्याऽदृष्टेः । न च चेतनं कर्त्तारं विना कार्यस्वरूपानुपपत्तिरिति शक्यं वक्तुम् , दृष्टस्यैव सुगतसुतंरुचैतन्यस्य जगद्वैचित्र्यकर्तृत्वेनाभ्युप-गमात् , तदा तद्व्यतिरिक्तान्येश्वरस्य कल्पनायां निमित्ताभावात् ।

[सभी कार्य कर्तृपूर्वक नहीं होते यह ठीक कहा है]

यह जो आपने पूर्वपक्ष के रूप मे कहा था कि-घटादि मे कर्तृपूर्वकत्वरूप से कार्यत्व का बोध होता है फिर भी कई कार्यों मे अकर्तृपूर्वक भी कार्यत्व दिखता है अत. सभी कार्य कर्तृपूर्वक नही होते, जैसे वन मे उत्पन्न वनस्पति आदि कर्त्ता के विना ही होते है,....इत्यादि [३८८-१] वह तो बीलकुल ठीक ही कहा है, यावत्. 'इसलिये ईश्वरसिद्धि मे कोई अव्यभिचारी हेतु नही है' ...यहाँ तक [पृ. ३८९ पं. २७] ठीक ही कहा है ।

यह भी जो कहा था-"विना कृषि से उत्पन्न स्थावरादि से व्यभिचार नही है या व्याप्ति-शून्यता भी नही है, हेतु तो तब व्यभिचारी कहा जाय जब साध्य न रहने पर भी स्वय रहे, स्थाव-रादि में कर्त्तारूप साध्य का ग्रहण (प्रत्यक्ष) नही है यह बात ठीक है किन्तु उसके अभाव का निश्चय नही है ।". इत्यादि, [पृ. ३९०-१] वह असार है, स्थावरादि का कर्त्ता किसी भी प्रमाण का विषय न बनने पर भी यदि कर्त्ता के अभाव को निश्चित नही कहेगे तो फिर गगनादि मे रूपादि अभाव का भी निश्चय मत हो । यदि कहे कि-वहाँ रूपादि मानने मे बाधक प्रमाण मौजूद होने से रूपाभाव का निश्चय मान सकते है-तो यह बात यहाँ स्थावरादि मे कर्त्ता के विषय मे भी समान है । और उस प्रमाण को-अर्थात् स्थावरादि मे कर्तृबाधक प्रमाण को थोडे ही समय मे हम दिखायेंगे ।

[धर्माधर्म की कारणता सलामत है]

यह जो कहा था-अकृष्टजात स्थावरादि के उत्पादन मे सिर्फ भूमि आदि के ही अन्वय-व्यति-रेक दिखाई देने से भूमि आदि के अतिरिक्त कारण की कल्पना मे अतिप्रसग दोष होगा-(इस प्रकार के पूर्वपक्ष के सामने आपने जो कहा था कि)ऐसे दोष की कल्पना करने पर तो धर्माधर्म मे भी कारणता सिद्ध नही होगी....इत्यादि, [पृ ३९०-पं ४] वह तो अयुक्त है कारण, जगत् की विचित्रता अन्य प्रकार से न घट सकने से धर्माधर्म मे कारणता स्थापित की जाती है । देखिये-भूमि आदि तो सभी

नचा(च)दृष्टस्य चेतनेष्वपि सकलजगदुपादानोपकरणसम्प्रदानाद्यभिज्ञाता न सम्भवतीति तद्व्यतिरिक्तोऽपरो महेशस्तज्ज्ञः कल्पनीय इति वक्तुं युक्तम्, तज्ज्ञानवत्त्वेन तस्याऽप्यसिद्धेः। न च सकलजगत्कर्तृत्वादेव तज्ज्ञत्व तस्य सिद्धम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात्। तथाहि-सिद्धे सकलजगदुपादानाद्यभिज्ञत्वे सकलजगत्कर्तृत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तस्य तदभिज्ञत्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अथ यद्यत् कार्यं तत्तद् उपादानाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमुपलब्धं घटादिवत्, पृथिव्याद्यपि कार्यम्, तेन तदपि तदभिज्ञकर्तृपूर्वकं युक्तमिति नेतरेतराश्रयदोषः। ननु घटादिकार्यकर्त्तुरपि कुलालादेर्यदपि(? यदि) सर्वथा घटाद्युपादानाद्यभिज्ञत्वं सिद्धं स्यात् तदा युज्येताप्येतद् वक्तुम्, न च तस्यापि घटाद्युपादानोपकरणादेः परिमाणावयवसंख्येयत्वाद्यनेकधर्मसाक्षात्करणज्ञानमस्ति, तत्त्वं सिद्धम्(? तन्मात्रसिद्धयर्थं किं)चिन्मात्रपरिज्ञानं तु चेतनत्वेऽदृष्टस्यापि तदाधारस्य वा सत्त्वस्य तददृष्टनिर्वर्त्तितफलोपभोक्तुः प्रतिनियतशरीराधिष्ठायकस्य विद्यत इति व्यर्थं व्यतिरिक्तापरज्ञानवतो महेशस्य परिकल्पनम्। न चायमेकान्तः सर्वं कार्यं तदुपादानाद्यभिज्ञेनैव कर्त्रा निर्वर्त्त्यत इति, स्वापमदावस्थायां शरीराद्यवयवप्रेरणस्य कार्यस्य तदुपादानाभिज्ञानाऽभावेऽपि तत्कृतत्वेनोपलब्धेः।

उत्पन्न होने वाले कार्यों का साधारण कारण है, साधारण कारणो से होने वाला कार्य समान ही होना चाहिये किन्तु कार्यो मे वैचित्र्य प्रसिद्ध है, अत. कार्यवैचित्र्य से विचित्र (असाधारण) कारण की भी कल्पना करनी पडेगी, उस विचित्र कारण का ही नाम आपने 'अदृष्ट' किया है। अदृष्ट की स्थापना मे जैसे कार्यवैचित्र्य बडा निमित्त है ऐसा ईश्वर की स्थापना मे कोई भी निमित्त सम्भव नही है, क्योकि ईश्वर को कारण न माने तो अमुक अर्थ नही घटेगा'-ऐसा कही दिखता नही है। यह नही कह सकते कि-[द्र० पृ० ३९१-४] 'चेतन कर्त्ता के विना कार्य का स्वरूप ही उपपन्न नही होता-क्योकि बौद्धमत मे दृष्ट चैतन्य को जगत् की विचित्रता के कर्त्तारूप मे माना ही गया है। अत: दृष्ट चैतन्य से अतिरिक्त अन्य अदृष्ट ईश्वर चैतन्य की कल्पना का अब कोई निमित्त नही रहता।

[सकल उपादानादि के ज्ञातारूप में ईश्वर असिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि-दृष्ट जो चेतनवर्ग है उसमे कोई भी एक व्यक्ति समुचे जगत् के उपादान कारण (परमाणु आदि), उपकरण, सम्प्रदानादि कारणो का अभिज्ञाता हो यह सम्भव न होने से दृष्ट चेतनो से भिन्न महेश्वर की उपादानादिकारण के अभिज्ञाता के रूप मे कल्पना करनी ही पडेगी।-तो यह कहना शक्य नही है। कारण, सकल जगत् के अभिज्ञाता के रूप में ईश्वर भी सिद्ध नही है। यदि सकल जगत् का कर्त्ता होने से उसे सर्वज्ञ माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसग होगा-देखिये, सकल जगत् के उपादानादि कारणो की अभिज्ञता सिद्ध होने पर सकल जगत् का कर्तृत्व सिद्ध होगा, और इसकी सिद्धि होने पर उक्त अभिज्ञता सिद्ध होगी। अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है।

यदि यह कहे कि "जो जो कार्य उपलब्ध होता है वह घटादि की तरह उपादानादिज्ञान वाले कर्त्ता से जन्य ही होता है, यह व्याप्ति है, पृथ्वी आदि भी कार्य ही है अत: वह भी तज्ज्ञ कर्त्ता से जन्य होना युक्तियुक्त है। इस प्रकार सकलजगत्कर्तृत्व और तदभिज्ञत्व दोनो की सिद्धि एक ही अनुमान से करने पर अन्योन्याश्रय नही होगा"-तो यह ठीक नही है। ऐसा कहना तो तभी युक्तियुक्त होता अगर, घटादि कार्य के कर्त्ता कुम्हार आदि मे सम्पूर्णतया घटादि के उपादानादिकारणो की अभिज्ञता सिद्ध होती। अरे कुम्हार को भी घटादि के उपादान और उपकरणो का

यच्चोक्तं–'न चाकृष्टजातेषु स्थावरादिषु तस्याऽग्रहणेन प्रतिक्षेप', अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद-दृष्टवत्' इति, तदप्यचारु, यतो यदि तस्य शरीरसम्बन्धरहितस्य कर्तृत्वमभ्युपेयते तन्न युक्तिसंगतम्, तत्सम्बन्धरहितस्य मुक्तात्मन इव जगत्कर्तृत्वानुपपत्तेः। अथ ज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षा-समवायाभावाद् मुक्तात्मनोऽकर्तृत्वं न पुनः शरीरसम्बन्धाभावादिति विषमो दृष्टान्तः। तदयुक्तम्-ज्ञानादिसमवायस्य कर्तृत्वेनाभ्युपगतस्य तत्रापि निषिद्धत्वात्। तस्माच्छरीरसम्बन्धादेव तस्य जगत्कर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यं कुलालस्येव घटकर्तृत्वम्। तत्सम्बन्धश्चेदभ्युपगम्यते, कथ न तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वम्? कुलाला-देरपि शरीरसम्बन्धादेवोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वम् न पुनः तत्सम्बन्धरहितस्यात्मनो दृश्यत्वम्। तच्चे-श्वरेऽपि शरीरसम्बन्धित्वं कर्तृत्वादभ्युपगन्तव्यमित्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेस्तत्कर्तुः स्थावरा-दिष्वभावः सिद्ध इति कथं न तं. कार्यत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी?!

वास्तव परिमाण, उन के अवयव, उनकी सख्या आदि अनेक धर्मो को साक्षात् करने वाला ज्ञान नहीं है। [Note-चेतनत्वेऽदृष्टस्यापि तदाधारस्य वा सत्त्वस्य-इस पाठ की शुद्धि के लिये विशेष शुद्ध प्रति आवश्यक है।] सिर्फ घट को उत्पन्न करने के लिये कुछ मात्रा मे आवश्यक ज्ञान तो कुम्हारादि चेतन के अदृष्ट के प्रभाव से, अथवा उस अदृष्ट के आश्रय रूप सत्त्व (जीव) को, जो कि अपने अदृष्ट से जन्य फल का उपभोक्ता एव किसी एक नियत शरीर का अधिष्ठाता है, उसको, भी विद्यमान है, अतः दृष्ट चेतनो से अतिरिक्त अन्य कोई संपूर्णज्ञानवान् महेश्वर की कल्पना करना निरर्थक है।

यह कोई एकान्त नियम भी नही है कि सभी कार्य अपने उपादानादिकारणों को जानने वाले कर्त्ता से ही उत्पन्न होवे। सुषुप्ति और उन्मत्तावस्था मे शरीरादि के अवयवो का चालन आदि कार्य (सुषुप्ति आदि दशा मे) अपने उपादानादि को न जानने वाले कर्त्ता से भी होते हुए दिखाई देते हैं।

[शरीर के विना कर्तृत्व की अनुपपत्ति से हेतु साध्यद्रोही]

यह जो कहा था–विना कृषि से उत्पन्न स्थावरादि मे कर्त्ता के अग्रहणमात्र से उसका निषेध नही हो सकता क्योकि अदृष्ट की तरह कर्त्ता भी वहाँ उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्व से शून्य है [पृ ३९०]-वह भी ठीक नही है क्योकि शरीरसम्बन्ध के विना ही ईश्वर मे कर्तृत्व मान लेना युक्तिसगत नही है। देह सम्बन्ध के विना जैसे मुक्तात्मा कर्त्ता नही होता वैसे ईश्वर भी जगत्कर्त्ता नही घट सकता। यदि यह कहे कि-'आप मुक्तात्मा को दृष्टान्त करते हो वह विषम यानी साधर्म्यविहीन है। कारण, मुक्तात्मा मे तो ज्ञान, यत्न और उत्पादनेच्छा का समवाय न होने से हम उसको अकर्त्ता मानते हैं, शरीर नही है इसलिये नही'–तो यह भी अयुक्त है क्योकि आप जो ज्ञानादि के समवाय को ही कर्तृत्व मानते है उसका पहले ही निषेध कर दिया है (क्योकि समवाय ही अवास्तव है।) अतः देहयोग से ही ईश्वर मे जगत् कर्तृत्व मानना होगा, जैसे कि देह के योग से कुम्हार मे घटकर्तृत्व होता है। अब यदि ईश्वर मे देहसम्बन्ध मान लेते है तब तो वह उपलब्धिलक्षणप्राप्तिशून्य है यह कैसे कह सकेंगे? कुम्हार आदि मे भी शरीर के योग से ही उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्व होता हे, अन्यथा भी अर्थात् शरीर सम्बन्ध के विना भी उसकी आत्मा दृश्य कभी नही होती। यदि आप ईश्वर को कर्त्ता मानते है तो उसमे शरीरसम्बन्ध भी मानना होगा, तब तो वह यदि स्थावरादि का कर्त्ता होगा तो उपलब्धि-लक्षणप्राप्त होने से उसकी उपलब्धि अवश्य होती, किन्तु नही होती है, अतः स्थावरादि मे ईश्वरादि-कर्तृत्व का अभाव ही सिद्ध हुआ, तो फिर कार्यत्व हेतु स्थावरादि मे साध्यद्रोही क्यो नही होगा?!

अथाऽदृश्यं तच्छरीरमतस्तत्र सदपि नोपलभ्यते इत्ययमदोषः न भवेदेवमपि-'अस्मिन् सति इदं स्थावरादिकं जातम्' इति प्रतिपत्तिर्माभूत्, तथाऽन्य(ऽधन्य)कारणभावेऽपि यथातीन्द्रियस्येन्द्रियस्याभावे रूपादिज्ञानं नोपजायते तथा पृथिव्यादिकारणसाकल्येऽपि कदाचित् तच्छरीरविरहे तत्स्थावरादिकार्यं नोपजायत इति व्यतिरेकात् प्रतीतिः किं न स्यात् ? य(दा)त्र तच्छरीरं नियमेन सन्निहितमिति चा(?ना)यं दोषस्तर्हि युगपद्भाविषु त्रिलोकाधिकरणेषु भावेषु का वार्त्ता ? न ह्येकस्य मूर्त्तस्य सावयवस्य महेश्वरवपुषोऽपि युगपत्सकलव्याप्तिः सम्भवति । अमूर्त्तत्वे निरंशप्रसंगादाकाशमेव तच्छरीरम् , तस्य तच्छरीरत्वेनाद्याप्यसिद्धत्वात् ।

अथ यावन्ति (अ)क्रमभावीन्यङ्कुरादिकार्याणि तावन्ति तथाविधानि तच्छरीराणि कल्प्यन्ते तर्हि तच्छरीरैः सकलं जगदापूरितमिति नाङ्कुरादिकार्यैरुत्पत्तव्यम् तदुत्पत्तिदेशाभावात् । नापि माहेश्वरैः क्वचित्प्रवर्त्तितव्यम् कुतश्चिद्वा निवर्त्तितव्यम् तच्छरीराणां प्रादाद्यभिघातभयात् । अपि च, तान्यपि कार्याणि, सावयवत्वात् कुम्भवत् , ततस्तत्करणे तावन्त्येवाऽपराणि तस्य शरीराणि कल्पनीयानि, पुनस्तत्करणेऽपि नानवस्थातो मुक्तिः । तन्न शरीरव्यापारसहायोऽप्यसौ स्थवरादिकार्यं करोतीति कल्पयितुं युक्तम् , अनेकदोषप्रसंगात् ।

[ईश्वर का शरीर अदृश्य होने की बात असंगत]

यदि कहे-उसके शरीर को भी अदृश्य ही मान लेने से अनुपलब्धिमूलक कोई दोष नही होगा-तो यहाँ भी, 'इसके होने पर यह स्थावरादि उत्पन्न हुए' ऐसा अन्वयबोध यद्यपि नही होगा, किन्तु व्यतिरेकबोध क्यो नही होगा ? आशय यह है कि, जैसे नेत्रेन्द्रिय यद्यपि अतीन्द्रिय है फिर भी चाक्षुष प्रत्यक्ष के सभी कारण उपस्थित रहने पर भी नेत्रेन्द्रिय के अभाव मे रूपादिज्ञान उत्पन्न नही होता ऐसा व्यतिरेक बोध होता है उसी प्रकार ईश्वर शरीर अदृश्य होने पर भी 'पृथ्वी आदि सर्व कारण स्थित रहने पर ईश्वरदेह के अभाव मे यह स्थावरादि कार्य उत्पन्न नही हुआ' इस रीति से व्यतिरेक से उसका बोध क्यो नही होगा ? यदि ऐसा कहे कि-'यहाँ उसका शरीर नियमतः (अचूक) सनिहित रहता है, अतः व्यतिरेक से उसका बोध नही हो पाता ।'-तब तो तीन लोक के अधिकरण मे रहे हुए समानकालभावि अन्य पदार्थ का जन्म कैसे होगा ? जब कि ईश्वरदेह तो केवल उक्त स्थावरादिकार्यो के देश मे ही सनिहित है, सर्वत्र तो है नही । मूर्त्त, सावयव एव एक ही ईश्वरदेह एक साथ सभी देशो मे उपस्थित नही रह सकता । (मूर्त्त पदार्थ कभी व्यापक नही होता है ।) यदि उसके देह को अमूर्त्त मानेंगे तो सावयव नही किन्तु निरंश ही मानना होगा, तात्पर्य आकाश को ही उसके सर्व व्यापक देह के रूप मे मानना पडेगा, किन्तु अब तक किसी ने भी यह सिद्ध नहीं कर दिखाया कि आकाश ईश्वर का शरीर है ।

[ईश्वर के अनेक शरीर की कल्पना अयुक्त]

यदि कहे-'एक साथ होने वाले अकुरादि जितने कार्य है, उत्पत्ति के लिये उसके उतने ही शरीर मान लेंगे । अतः भिन्न भिन्न देश मे एक साथ सब कार्य उत्पन्न हो सकेंगे ।'-तो यह कल्पना मिथ्या है, क्योंकि विश्व के सभी देश मे कुछ न कुछ कार्य तो पल पल उत्पन्न होते ही रहते है अतः प्रत्येक पल मे सर्व देश मे ईश्वर का एक एक शरीर मानना होगा, इस प्रकार सारा जगत् उसके शरीरो से ही आक्रान्त हो जाने से अंकुरादि कार्यो को उत्पन्न होने के लिये रिक्त स्थान न रहने से

नापि सत्तामात्रेणासौ स्वकार्यं करोतीति कल्पयितुं युक्तं, शरीरकल्पनवैयर्थ्यप्रसंगात् । अथ सर्वोत्पत्तिमतामीश्वरो निमित्तकारणम्, तस्य तत्कारणत्वं सकलकार्यकारणपरिज्ञाने नान्यथा, *तत्प-रिज्ञान(स्य) चानित्यस्येन्द्रियशरीरमन्तरेणानुपपत्तेरतस्तदर्थं तत्परिकल्पनमिति चेत् ? न, सकलहेतु-फलविषयं *त(स्या)स्येन्द्रियशरीरजं ज्ञानं न सम्भवति, इन्द्रियाणां युगपत्सर्वार्थसंनिकर्षाभावात्; इन्द्रियार्थसंनिकर्षजं च नैयायिकैः प्रत्यक्षमभ्युपगम्यते । तदुक्तम् – [न्यायद० १-१-४]

' इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।"

सामग्री-फल स्वरूपविशेषणपक्षत्रयेऽपीन्द्रियार्थसंनिकर्षजस्य तस्य प्रामाण्याभ्युपगमात्, तथा "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १] इत्यत्र भाष्यम्- "प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमितिलक्षणे फले साधकतम(व?)त्वाद्, इति अर्थः सहकारि प्रमाणं" प्रतिपादितम् । सहकारित्वं चार्थस्य प्रमाणस्य फलजनने व्याप्रियमाणस्य फलजनकत्वेन तस्यापि सहायभावः, 'सह करोतीति सहकारि' इति व्युत्पत्तेः । न चाऽसंनिहितस्यार्थस्यातीतस्याऽनागतस्य वा प्रमितिलक्षणफलजननं प्रति व्यापारः सम्भवति । न च प्रमित्यजनकोऽर्थः, तदभ्युपगमे न प्रमाणविषय-तान्यतः(तेत्यत)सेन्द्रियशरीरजनितप्रत्यक्षज्ञानवत्त्वाभ्युपगमे महेशस्य न सकलकार्यकारणविषयज्ञान-सम्भव इति शरीरसम्बन्धात् तस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमे तदकर्तृत्वमेव प्रसक्तम्, इति न तस्याऽदृश्य-शरीरसम्बन्धोऽभ्युपगन्तुं युक्तः ।

उनकी उत्पत्ति ही नही हो सकेगी । दूसरी बात, माहेश्वरवृन्द (ईश्वरभक्त गण) कही भी एक कदम न तो आगे बढ सकेंगे, न पीछे हठ सकेंगे, कारण, सर्वत्र ईश्वरशरीर विद्यमान होने से उसको पादा-भिघात होने का भय रहता है । तदुपरात, वे शरीर भी सावयव होने के कारण घटादि की तरह कार्यरूप ही है अत उनके उत्पादन मे और भी नये शरीरो की कल्पना कीजिये, उन नये शरीरो के लिये भी नये नये शरीरों की कल्पना करते ही रहो, अन्त नही आयेगा । निष्कर्ष, 'शरीर व्यापार की सहायता से ईश्वर स्थावरादि कार्य उत्पन्न करता है' यह कल्पना अनेक दोष उपनिपात के कारण अयुक्त है ।

[इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान सम्पूर्ण नहीं हो सकता]

ईश्वर केवल अपनी सत्ता के प्रभाव से ही सब कार्य उत्पन्न करता है यह कल्पना अयुक्त है क्योकि शरीर की कल्पना निरर्थक हो जाने का दोष प्रसग आता है । यदि कहे कि-'हर कोई उत्पत्ति-शील कार्य का निमित्त कारण ईश्वर है, यदि उसे सभी काय-कारण का ज्ञान होगा तभी वह निमित्त कारण बन सकता है, अन्यथा नही । सकल कारण का ज्ञान अनित्य होने से शरीर और इन्द्रिय के विना सम्भव नही, अत उसके लिये उस की कल्पना व्यर्थ नही होगी ।'-यह बात ठीक नही है, इन्द्रिय-शरीर से उत्पन्न कोई भी ज्ञान सकल कार्य कारण विषयक हो यह कभी सम्भव नही है । कारण, सकल अर्थों के साथ इन्द्रियो का एक ही काल मे सनिकर्ष नही हो सकता । नैयायिक तो इन्द्रिय-अर्थ दोनों के सनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले को ही प्रत्यक्ष मानते हैं । जैसे कि न्यायसूत्र में कहा है—

* पाठद्वयमिद पूर्वमुद्रिते क्रमश 'तत्परिज्ञान(ज्ञान)वा(चा)नित्य(त्य)स्ये(से)न्द्रियशरीरमन्तरेणानुपपत्ते (पन्नम्)' इति तथा 'तस्या(तस्याऽनित्य)स्ये(से)न्द्रियशरीरज' इति च वर्त्तते, लिम्बडीहस्तप्रतानुसारेण चात्र शोधितम् ।

अपि च घटादिकार्यं दृश्यशरीरसम्बद्धपुरुषपूर्वकमुपलब्धम् इत्यंकुरादि कार्यमपि तथा कल्पनीयम् । अथ तत्परिकल्पने प्रत्यक्षबाधाऽनवस्थादिदोषादंकुरादिकार्यस्य कर्तृपूर्वकत्वं विशीर्यत इति न तथाकल्पनम् । ननु तद्वि(च?)शरणे को दोष ?* अथांकुरादेः कार्यतानेककरणमात्राभावे समुपजायमानस्य तस्याऽकार्यताप्रसक्तिः, न पुनः कर्तृभावे, अन्यथा गोपालघटिकादौ तत्कालाग्न्यभावे धूमस्याप्यभावप्रसक्तिः, न पुनः कर्तृभावेनानलपूर्वकत्वं व्याप्तिग्रहणकाले धूमस्य प्रतिपन्नम्, तेन ततस्तत्र तत्कारणमनलानुमानम्* । नन्वेवं कार्यमात्रं कारणमात्रपूर्वकत्वेन व्याप्तं व्याप्तिग्रहणकाले प्रतिपन्न-

[ऐन्द्रियक ज्ञान सर्वविषयक न होने में युक्ति]

"इन्द्रिय-अर्थ के सनिकर्ष से उत्पन्न अव्यपदेश्य अव्यभिचारी व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।"

यहाँ सामग्री, फल और स्वरूप विशेषण के तीनो पक्ष मे इन्द्रिय-अर्थ के सनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान में ही प्रत्यक्षप्रामाण्य का आपने स्वीकार किया है। तदुपरांत, 'प्रमाण से अर्थ गृहीत होने पर प्रमाण अर्थवत्=सार्थक होता है' इस वात्स्यायन भाष्य वाक्य का यह अर्थ प्रतिपादित किया गया है कि-'प्रमाता और प्रमेय भिन्न होता हुआ प्रमितिस्वरूप फल में साधकतम होने के कारण अर्थ सहकारिरूप प्रमाण है।'-अर्थ इस प्रकार सहकारी होता है कि फलोत्पादन मे प्रमाण जब सक्रिय होता है तब फलजनक होने से अर्थ भी उसको सहायताप्रदान करता है। क्योंकि-'साथ मे रह कर कार्य को करना' यह सहकारी शब्द की व्युत्पत्ति है। इससे यह फलित होता है कि अतीत और अनागत पदार्थ असनिहित होने से प्रमितिस्वरूपफलोत्पादन मे उसका कोई योगदान नही हो सकता। जो प्रमिति को उत्पन्न न करे वह अर्थ भी नही कहा जा सकता और 'प्रमिति को उत्पन्न नही करता है उसमे प्रमाणविषयता भी नही मान सकेंगे। इस लिये ईश्वर को इन्द्रियसहितशरीर से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञानवाला मानेंगे तो असनिहित अतीत-अनागत पदार्थों के ज्ञान के अभाव मे ईश्वर को सकल-कार्य-कारणसम्बन्धी ज्ञान होने का सम्भव नही रहता। फलत, ईश्वर मे जगत्कर्तृत्व मानने के लिये आप शरीरसबन्ध को मानने गये तो उल्टा उसमे अकर्तृत्व ही प्रसक्त हुआ। निष्कर्ष, अदृश्यशरीर का ईश्वर मे सम्बन्ध मानना भी अयुक्त है।

[अंकुरादि दृश्यशरीरसम्बद्ध पुरुष से ही होने की आपत्ति]

दूसरी बात यह है कि-घटादि कार्य सर्वत्र दृश्यशरीर से सम्बद्ध पुरुषमूलक ही दिखता है अतः अंकुरादिकार्य को भी दृश्यदेहमूलक ही मानना होगा। यदि कहे कि-वैसा मानने मे तो प्रत्यक्ष से बाध है और अनवस्थादि दोष है अत अकुरादिकार्य मे कर्तृमूलकता ही उच्छिन्न हो जाती है। इसलिये वैसा नही मानेंगे।-तो हम पूछते हैं कि कर्तृमूलकता के उच्छेद में क्या दोष है ? यदि अकुरादि मे कार्यता के भग को दोष कहा जाय तो वह ठीक नही, वहाँ कार्यताभग तो तभी कह

* पुष्पिकागतपाठशुद्धयेऽपेक्ष्यते शुद्धा प्रति । तदभावे सगत्यर्थ-त्वित्थ पाठानुमानम्-"अथाकुरादेरकार्यता, न, कारणमात्राभावे समुपजायमानस्य तस्याऽकार्यताप्रसक्ति-न पुन कर्त्रभावे, अन्यथा गोपालघटिकादौ तत्कालाग्न्यभावे धूमस्याप्यभावप्रसक्ति । न पुन तत्कालानलपूर्वकत्व व्याप्तिग्रहणकाले धूमस्य प्रतिपन्नम् तेन न ततस्तत्र तत्कालानलानुमानम्"-एतत्पाठानुसारेण व्याख्यातमत्रेति विभावनीय सुधीभि ।

मंकुरादावुपलभ्यमानं कारणमात्रमिदमनुमापयतु न पुनर्बुद्धिमत्कारणविशेषम्, तेन कार्यमात्रस्य व्याप्तेरनिश्चयात्। न च दृश्यशरीरसम्बद्धबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं कार्यविशेषस्योपलब्धमंकुरादौ तु कार्यत्वमुपलभ्यमानं तथाभूतकर्तृपूर्वकत्वानुमाने तत्र प्रत्यक्षविरोध इत्यदृश्यसम्बद्धशरीरकर्तृपूर्वकत्वमनुमापयतीति वक्तुं शक्यम्, तथाभ्युपगमे गोपालघटिकादावपि तत्कालादृश्याऽनलानुमापको धूमः किं न स्यात्? न च वह्निरदृश्यो न संभवतीति वक्तुं शक्यम्, नायनरश्मिष्वदृश्यस्य तस्य सद्भावाभ्युपगमात्।

अथाऽव्यवहितरूपोपलब्ध्यन्यथानुपपत्त्या तस्य तथाभूतस्य परिकल्पनम्। नन्वेवं धूमसद्भावान्यथाऽनुपपत्त्या तत्र तस्य तथाभूतस्य किं न परिकल्पनम्? अपि च, यथाऽनलस्य भास्वररूपसम्बन्धित्वे सत्यपि तस्योद्भूतत्वाऽनुद्भूतत्वाभ्या दृश्यत्वाऽदृश्यत्वे परिकल्प्येते तथा प्रासादांकुरादीनां कार्यत्वे किं न परिकल्प्येते न्यायस्य समानत्वात्? तन्नादृश्यशरीरसम्बन्धात् तस्यांकुरादिकार्योत्पादकत्वं युक्तम्। दृश्यशरीरसम्बन्धात् तत्कर्तृत्वे उपलम्भानुपलम्भात् कथं तस्य नाऽभावः? यत्तूक्तम्-'न च सर्वा कारणसामग्र्युपलब्धिलक्षणप्राप्ता' इत्यादि, तत् सत्यमेव, इदं त्वसत्यम्-ईश्वरस्य कारणत्वेऽपि न तत्स्वरूपग्रहणं प्रत्यक्षेण, अदृष्टवत् कार्यद्वारेण तत्प्रतिपत्तेः इति, अदृष्टप्रतिपत्ताविवेश्वरप्रतिपत्तौ कार्यत्वादेर्हेतोर्निर्दोषस्याऽसम्भवादिति प्रतिपादितत्वात्।

सकते है यदि अकुरादि को कारणमात्र के अभाव मे उत्पन्न होने का कहा जाय, केवल कर्त्ता के विरह मे वह दोष नही हो सकता। अन्यथा, गोपालघटिकादि मे तत्कालीन (व्याप्तिग्रहकालीन) वह्नि न होने पर धूमाभाव की प्रसक्ति होगी। यदि कहें कि-"व्याप्तिग्रह के समय धूम मे सिर्फ अग्नि का ही व्याप्तिरूप सम्बन्ध गृहीत किया है तत्कालीनाग्निसम्बन्ध नही गृहीत किया, अत: गोपालघटिका में धूम से तत्कालीन अग्नि के अनुमान का न होना कोई दोष नही है"-तो फिर यहाँ भी व्याप्तिग्रहकाल मे कार्यमात्र मे कारणपूर्वकत्व का ही ग्रहण किया है अत: कार्य केवल कारणपूर्वकत्व का ही अनुमान करायेगा, बुद्धिमत्कारणविशेष का नही करा सकता, क्योकि उसके साथ कार्यमात्र की व्याप्ति ही अनिश्चित है।

यह भी आप नही कह सकते कि- कार्यविशेष मे दृश्य शरीर-सम्बद्ध बुद्धिमान् कर्त्तारूप कारण उपलब्ध होता है, अत. अकुरादि कार्यविशेष मे कार्यत्व हेतु से, यद्यपि दृश्य शरीरी कर्त्ता प्रत्यक्षबाधित है, फिर भी अदृश्यशरीरसम्बद्ध बुद्धिमान कर्त्ता का अनुमान किया जा सकेगा।-यह इसलिये नही कह सकते कि, ऐसा मानने पर, गोपालघटिकादि मे भी यह कहा जा सकेगा कि धूम हेतु से वहां दृश्य तत्कालीन अग्नि बाधित होने से अदृश्य-तत्कालीन (व्याप्तिग्रहकालीन) अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। यह भी आप नही कह सकते कि 'अग्नि अदृश्य होना सम्भव नही है।'-क्योकि आप ही नेत्ररश्मि मे अदृश्य अग्नि (तेज) का सद्भाव मानते हैं।

[इन्द्रिय और अदृश्य तत्कालीन अग्नि की कल्पना में साम्य]

यदि कहे कि-व्यवधान के अभाव मे सम्मुखवस्तुगत रूप की उपलब्धि की अन्यथा (नेत्रेन्द्रिय के अभाव मे) उपलब्धि न घट सकने से, वहाँ दृश्य नही तो आखिर अदृश्य नयनरश्मि की कल्पना करनी पड़ती है-तो प्रस्तुत मे भी कह सकते है कि गोपालघटिका मे धूम का अस्तित्व अन्यथा न घट सकने से वहाँ दृश्य नही तो आखिर अदृश्य तत्कालीन अग्नि की कल्पना क्यो नही करते ? यह भी

यत्तूक्तम्-'स्थावरेषु कर्त्रग्रहणं कर्त्रभावात् आहोस्विद्विद्यमानत्वेऽपि तस्याऽग्रहणमनुपलम्भ्यस्व-भावत्वेन, एवं संदिग्धव्यतिरिक्तत्वे न कश्चिद्धेतुर्गमकः धूमादेरपि सकलव्यक्त्याक्षेपेण व्याप्त्युपलम्भकाले न सकला वह्निव्यक्तयो दृश्या'....इत्यादि यावत्....'सर्वमुत्पत्तिमत् कर्तृ-करणपूर्वकं दृष्टम्, तस्य सकृदपि तथादर्शनात् तज्जन्यतास्वभावः, तस्यैवं स्वभावनिश्चितावन्यतमाभावेऽपि कथं स्वभावः'....इति, तदप्यसंगतम्-यतो यादृग्भूतमेव घटादिकार्यं तत्पूर्वकमुपलब्धं तस्य सकृदपि तथादर्शनात् तज्जन्यः स्वभावो व्यवस्थित इति तदन्यतमाभावेऽपि तस्य भावे सकृदपि ततस्तद्भावो न स्यादिति युक्तं च वक्तुम्, न पुनस्तद्विलक्षणं भूरुहादिकं कर्तृकरणपूर्वकं कदाचनाप्युपलब्धम् किन्तु कारणमात्रपूर्वकम्, अतस्तद्भा (तदभा) वे तस्य भवतोऽहेतुकत्वप्राप्तेस्तदेव तद् गमयतीत्यसकृदावेदितम् ।

दिखाईये कि अग्नि भास्वर शुक्ल रूपवाला मान कर भी उसके रूप को उद्भूत और अनुद्भूत दो प्रकार का मानकर अग्नि मे दृश्यत्व और अदृश्यत्व की कल्पना कर लेते हो उसी प्रकार प्रासाद-अकुरादि कार्यो मे भी कर्तृजन्य और कर्तृ-अजन्य द्वैविध्य की कल्पना क्यों नही करते जब की युक्ति तो दोनो जगह-तुल्य ही है ? निष्कर्ष, अदृश्यशरीर के योग से ईश्वर मे अकुरादि कार्यजनकता को मानना अयुक्त है। यदि दृश्यशरीर के योग से ईश्वर मे कर्तृत्व घटाया जाय तब तो उपलब्धियोग्य होने पर भी उसकी उपलब्धि न होने से उसका अभाव क्यो नही सिद्ध होगा ? !

यह जो कहा था-[पृ. ३९१-६] सपूर्ण कारणसामग्री कभी उपलब्धिलक्षणप्राप्त नही होती इत्यादि....वह तो ठीक है, किन्तु यह जो कहा है-ईश्वर कारण होने पर भी प्रत्यक्ष से उसके स्वरूप का उपलम्भ नही होता किन्तु अदृष्ट की तरह उसके कार्य से ही उसका अवबोध होता है [पृ. ३९१-८] -यह तो गलत ही कहा है। कारण, अदृष्ट के अवबोध मे जैसे कार्यवैचित्र्यादि निर्दोष हेतु है वैसे ईश्वर के बोधनार्थ प्रयुक्त कार्यत्वादि हेतु निर्दोष नही है-इस बात को पहले हम दिखा चुके है।

[कर्तृ-करणपूर्वकत्व सभी कार्य में सिद्ध नहीं है]

यह जो आपने....(३९२-१) "स्थावरो मे कर्त्ता का अग्रहण कर्त्ता के न होने से है या कर्त्ता विद्यमान होने पर भी उसका स्वभाव उपलब्धियोग्य न होने से वह गृहीत नही होता-इस प्रकार यदि यहाँ सदिग्धव्यतिरेक (व्यभिचार) की शंका करेंगे तो कोई भी हेतु साध्य का गमक नही बचेगा क्योंकि सकल व्यक्ति का अन्तर्भाव कर के धूमादि मे अग्निनिरूपित व्याप्तिग्रहण करते समय वे सब अग्नि-व्यक्ति दृश्य तो नही है" इत्यादि से लेकर..."उत्पन्न होने वाला सब कुछ कर्तृ-करणपूर्वक ही दिखता है अत· एक बार भी उसकी उससे (कर्तृकरणादि से) उत्पत्ति को देखने पर उसमे तज्जन्यता स्वभाव आ गया, ऐसा स्वभाव निश्चित हो जाने पर कर्त्तादि मे से किसी एक के अभाव मे कार्य का सद्भाव कैसे हो सकेगा ?"....इत्यादि, (३९३-२) यहाँ तक जो कहा था वह सब गलत है। कारण, जिस प्रकार का (कृतबुद्धिउत्पादक) घटादि कार्य कर्तृ-करणादिपूर्वक उपलब्ध है वह कार्य एक बार भी कर्त्तादि से उत्पन्न दिखायी देने पर उसमे तज्जन्यतास्वभाव सिद्ध हो जाता है अतः कर्तृआदि एक के अभाव मे भी यदि वह उत्पन्न हो जाय तब तो उस प्रकार के कार्य मे तज्जन्यता स्वभाव भग होने की आपत्ति देना ठीक है। किन्तु, उस प्रकार के कार्य से विलक्षण अरण्य वृक्षादि कार्य कही भी कर्तृ-करणपूर्वक होता हुआ नही देखा गया, सिर्फ कारणपूर्वक ही देखा गया है, (कर्तृपूर्वक नही देखा गया) अतः यदि वृक्षादि कार्य, कारण के अभाव मे उत्पन्न होगा तो वह निर्हेतुक हो जाने की

यथा (यच्च) 'अनुपलभ्यमानकर्तृकेषु स्थावरेषु कर्तुरनुपलम्भः शरीराद्यभावात् न त्वसत्त्वात्' इत्यादि, तदपि प्रतिक्षिप्तम् उक्तोत्तरत्वात्। यदप्युक्तम् 'चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानात्, कथ प्रत्यक्षव्यापृतिः'? तदसंगतम्, तथोपादानाद्यधिष्ठायकत्वस्य क्वचिदप्यदर्शनात् अदृष्टस्यापि तस्य कल्पने बुद्धयनधिष्ठितस्यापि भूरुहाद्युपादानस्य तत्कर्तृत्वं किं न कल्प्यतेऽदर्शनाऽविशेषात्?

यच्चान्यथापि 'कार्यस्य शरीरेण सह व्यभिचारो दृश्यते, स्वशरीरावयवानां हि शरीरान्तरमन्तरेणापि प्रवृत्ति-निवृत्ती केवलो विदधाति' इति, तदप्ययुक्तम्, यतः शरीरसम्बन्धव्यतिरेकेण चेतनस्य स्वशरीरावयवेष्वन्यत्र वा कार्यनिर्वर्त्तकत्वं न दृष्टमित्यन्यत्रापि तत् तस्य न कल्पनीयमित्येतावन्मात्रमेव प्रतिपाद्यते न स्वपरशरीरसम्बन्धपरिकल्पनमत्रोपयोगि। यदि च शरीररहितस्यापि तस्य भूरुहादिकार्ये व्यापारः परिकल्प्यते तर्हि मुक्तस्यापि तदन्तरेण ज्ञानसमवायिकारणत्वपरिकल्पनं किं न क्रियते? तथाऽभ्युपगमे न ज्ञान सुखादिगुणरहितात्मस्वरूपावस्थितिर्मुक्तिः सम्भवतीति तदर्थमीश्वराऽऽराधनमसंगतमासज्येत।

आपत्ति होने से वृक्षादिगत कार्यत्व केवल अपने कारणो का ही अनुमान करा सकता है (कर्त्ता का नही) यह बात आपको कितनी बार कह चुके है।

[केवल चैतन्यमात्र से वस्तु का अधिष्ठान असंगत]

यह जो कहा था-कर्त्ता की अनुपलब्धि वाले स्थावरादि मे कर्त्ता उपलब्ध न होने का कारण शरीरादि का अभाव है किन्तु कर्त्ता का असत्त्व नही है।-इसका तो उत्तर हो गया है अतः वह निरस्त हो गया। और भी जो कहा था-वह केवल अपने चैतन्य से ही उपादानादि को अधिष्ठित कर देता है (अत. शरीर की जरूर नही रहती) तो फिर (शरीर के अभाव मे) प्रत्यक्ष का चलन वहाँ कैसे शक्य है?....यह भी असगत है, क्योकि केवल चैतन्यमात्र से ही कोई किसी को अधिष्ठित करता हुआ नही दिखाई देता। न दिखायी देने पर भी यदि उसकी कल्पना करते है तब वृक्षादि उपादानकारणो मे बुद्धि (चैतन्य) के अधिष्ठान विना ही ईश्वर को वृक्षादि का कर्त्ता क्यो नही मान लेते जब कि 'न दिखायी देना' यह बात तो दोनो मे समान है?

[कार्य शरीर का द्रोही नहीं है]

यह जो कहा है-कार्य का शरीर के साथ तो व्यभिचार दिखता है, उदा० अन्यशरीर के विना भी अपने शरीर के अगो का हलन-चलन केवल चेतन करता ही है।-यह भी अयुक्त है। कारण, हमारे प्रतिपादन का आशय इतना ही है कि शरीरसम्बन्ध के विना आत्मा अपने शरीरावयवो का या दूसरी चीज वस्तुओ का, किसी का भी हलन-चलनादि कार्य करता हो यह देखने मे नही आता, अत. अन्यत्र ईश्वर मे भी शरीरसम्बन्ध के विना यत्किंचित्कार्य कर्तृत्व की कल्पना नही करनी चाहिये। अपने शरीर के सचालन मे अन्य शरीर का योग है या नही यह विचार यहाँ उपयुक्त नही है। दूसरी बात यह है कि शरीर के विना भी ईश्वर मे वृक्षादिउत्पादन का व्यापार जब मानते हो तब अशरीरी मुक्तात्मा मे ज्ञानसमवायिकारणता की कल्पना क्यो नही करते हो? यदि यह भी कल्प लेंगे तब तो 'ज्ञान-सुखादिगुण रिक्त हो जाने पर आत्मस्वरूपमात्र की अवस्थिति' को 'मुक्ति' कहना सम्भव नही हो सकेगा। फलत. वैसी मुक्ति के लिये ईश्वराराधना भी असगत हो जायेगी।

यदपि 'कार्यं शरीरेण विना करोतीति नः साध्यम्, तत् स्वशरीरगतं अन्यगतं वेति नानेन किंचित्' इति, तदप्यसारम्, शरीरव्यतिरेकेण कार्यकरणाऽदर्शनात्, स्वशरीरप्रवृत्तिस्वरूपेऽपि कार्ये तच्छरीरसम्बद्धस्यैव व्यापारात्, अतः "अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुवर्त्तते" इति दूषणं व्यवस्थितमेव, अचेतनस्य शरीरादेः शरीराऽसम्बद्धेच्छामात्रानुवर्त्तनाऽदर्शनात्। तदसम्बद्धस्येच्छाया अप्यभावात् मुक्तस्येव कुतस्तदनुवर्त्तनमचेतनकार्येण? अथाऽदृष्टापीच्छाऽशरीरस्य स्थाणोः परिकल्प्यते, किमिति भूरुहादिकं कार्यं कर्तृविकलं दृष्टमपि न कल्प्यते? एतेन 'ईश्वरस्यापि प्रयत्नसद्भावे न काचित् क्षतिः' इति निरस्तम्, शरीराभावे मुक्तात्मन इव प्रयत्नाऽसम्भवात्। अपरशरीररहितस्वशरीरावयवप्रेरणप्रयत्नसद्भावोऽपि न शरीराभावे प्रयत्नसद्भावावेदकः, सर्वथा शरीररहितस्य तस्य क्वचिदप्यदर्शनात्; दृष्टानुसारिण्यश्च कल्पना भवन्ति। तत स्थावरेषु शरीराभावाद् न तत्कर्तुरनुपलब्धिः किन्तु कर्तुरभावादिति कथं न तैः कार्यत्वादेर्हेतोर्व्यभिचारः?

[शरीर के विरह में कार्योत्पादन का असम्भव]

यह जो आपने कहा था–हमारा तो इतना ही साध्य है कि जगत्कर्त्ता कार्य को शरीर के विना ही करता है, वह कार्य चाहे स्वशरीरगत हो या अन्यवस्तुगत इस से हमे कोई प्रयोजन नही है।–यह तो असार है, शरीर के विना कार्य का उत्पादन किसी भी कर्त्ता मे देखा नही जाता। अपने शरीर के प्रवर्त्तनरूप कार्य मे भी अपने शरीर से सम्बद्ध कर्त्ता का ही व्यापार सम्भव है। इस लिये आपने ही पूर्वपक्षी के मुख से जो यह दूषणोल्लेख किया था–"अचेतन पदार्थ (शरीर के विना) ईश्वर की इच्छा का अनुवर्त्तन कैसे कर सकता है?"–यह दूषण वास्तविक ठहरा। कारण, आपने जो अचेतन भी शरीर इच्छा का अनुवर्त्तन करता है यह कहा था उसके परिहार मे हम कहते हैं कि शरीर से असम्बद्ध कर्त्ता की इच्छा मात्र का अनुवर्त्तन तो अचेतन शरीर मे भी नही दिखता है। सच बात यह है कि शरीर सम्बन्ध के विना किसी भी व्यक्ति में इच्छा नही हो सकती, तो फिर शरीररहित मुक्तात्मा का जैसे अचेतनकार्य अनुवर्त्तन नही करता वैसे शरीरविहीन ईश्वर का भी अचेतनकार्य अनुवर्त्तन कैसे करेगा? यदि कहे कि–अशरीरी मे यद्यपि ईच्छा अदृष्ट है फिर भी हम ईश्वर मे इच्छा की कल्पना करते हैं–तो वृक्षादि कार्य मे दृष्ट कर्तृविरह को क्यो नही मानते है?

[शरीर के विरह में प्रयत्न का असंभव]

आपका यह कथन भी अब निरस्त हो जाता है कि 'ईश्वर मे प्रयत्न मान लेने मे कोई हानि नहीं'। कारण, शरीर के विरह मे मुक्तात्मा मे जैसे प्रयत्न नही होता वैसे ईश्वर मे भी नही हो सकता। अन्य शरीर के विना ही अपने शरीर के अगो के सचालन मे होनेवाले प्रयत्न को पकडकर आप ऐसा मत दिखाना कि शरीर के विना भी प्रयत्न होता है, क्योकि सर्वथा शरीरशून्य व्यक्ति अपने शरीर का या परायी किसी भी वस्तु का सचालन नही कर सकता। [अपने शरीर के अगो का सचालन भी अपने शरीर से सम्बद्ध रह कर ही हम कर सकते हैं।] अतः कोई भी कल्पना दृष्ट वस्तु के मुताबिक ही की जानी चाहिये। [जैसी तैसी बेबुनियाद कल्पना का कोई अर्थ नही है।] फलित यह हुआ कि स्थावरो मे शरीर के अभाव से कर्त्ता उपलब्ध नही होता ऐसा नही है किन्तु कर्त्ता स्वय न होने से ही उपलब्ध नही होता। अब आप ही कहिये कि स्थावरादि में कार्यत्वादिहेतु व्यभिचारी क्यो न कहा जाय?!

न च यथाऽदृष्टस्येन्द्रियस्य चाऽन्वय-व्यतिरेकयोः कार्यकारणभावव्यवस्थापकयोरभावेऽपि कारणत्वसिद्धिर्व्यतिरेकमात्रात् तथा महेश्वरस्यापि ततस्तत्सिद्धिः, तस्य नित्यव्यापकत्वाभ्युपगमेन व्यतिरेकाऽसम्भवात्। अतो न व्याप्तिसिद्धिः कार्यत्वादेस्तत्साधकत्वेनोपन्यस्तस्य हेतोः। "अत एव न सत्प्रतिपक्षताऽपि, नैकस्मिन् साध्यान्विते हेतौ स्थिते द्वितीयस्य तथाविधस्य तत्रावकाश" इति सत्यम्, किंतु स्थाणुसाधकस्य कार्यत्वादेः साध्यान्वितत्वमेव न सम्भवतीति प्रतिपादितम्। यच्चोक्तम्-'नाऽपि बाधा, अबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य प्रमाणेनाऽग्रहणात्' इति-तदसाम्प्रतम्, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वाभावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्यांकुरावावकृष्टोत्पत्तौ सद्भावात्।

अथांकुरादिवितु रतीन्द्रियत्वाद् न प्रत्यक्षात्तदभावसिद्धिः न, प्रत्यक्षात्तदभावाऽसिद्धावप्यनुमानस्य तत्र तदभावग्राहकस्य भावात्। तथाहि-यद् यस्याऽन्वय-व्यतिरेकौ नाऽनुविधत्ते न तत् तत्कारणम्, यथा न पटादयः कुलालकारणाः, नानुविदधति चांकुरादयो बुद्धिमत्कारणान्वयव्यतिरेकौ-इति

[व्यतिरेकबल से ईश्वर में कारणतासिद्धि अशक्य]

यदि कहे-कि अदृष्ट और इन्द्रिय ये दोनो अतीन्द्रिय होने से वहाँ कार्य-कारणभाव साधक अन्वय-व्यतिरेक दोनो के न होने पर भी 'इन्द्रिय के अभाव मे ज्ञान नही होता और अदृष्ट के अभाव मे इष्ट कार्य की सिद्धि नही होती' इसप्रकार के केवल व्यतिरेक से भी अदृष्टादि की सिद्धि होती है, ठीक वैसे ईश्वर की सिद्धि व्यतिरेक मात्र से हो सकेगी—तो यह ठीक नही है। कारण आपके मतानुसार ईश्वर नित्य होने से तथा व्यापक होने से किसी भी काल मे या देश मे उसका व्यतिरेक ही सम्भव नही है। इसलिये ईश्वरसिद्धि के लिये उपन्यस्त कार्यत्वादि हेतु मे अपने साध्य के साथ सपूर्णतया व्याप्त सिद्ध हो जाने पर विरुद्ध साध्य के साधक अपर हेतु को वहाँ अवकाश ही नही है, अत एव सत्प्रतिपक्षता जैसा कोई दोष नही है [पृ ३९४-८]-यह बात तो सत्य है किन्तु आपके लिये उपयुक्त नही, क्योकि ईश्वरसिद्धि के लिये उपन्यस्त कार्यत्वादि हेतु मे सपूर्णतया साध्य के साथ व्याप्ति ही उपरोक्त रीति से सम्भव नही है। यह भी जो कहा है-"कार्यत्व हेतु मे बाध भी नही है क्योकि अकुरादि मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्वरूप साध्य का अभाव प्रमाणसिद्ध नही है।"-[पृ ३९४-९] यह अवसरोचित नही कहा है, क्योकि विना कृषि से उत्पन्न अकुरादि मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वरूप साध्य के अभाव का साधक अनुपलब्धिरूप प्रमाण विद्यमान है जो अभी ही दिखायेंगे।

[अंकुरादि में कर्त्ता के अभाव की अनुमान से सिद्धि]

यदि कहें कि-अकुरादि का कर्त्ता तो अतीन्द्रिय है अत प्रत्यक्ष से उसके अभाव की सिद्धि नही होगी।-तो यह ठीक नही है। प्रत्यक्ष से उस के अभाव की सिद्धि न होने पर भी अनुमान से अकुरादि मे कर्त्ता के अभाव की सिद्धि होती है-देखिये, जो काय जिसके अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण नही करता, उस कार्य का वह कारण नही होता, जैसे पटादि कार्य का कुम्हार कारण नही है। अंकुरादि भी बुद्धिमान् कारण के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण नही करता है-इस प्रकार व्यापकीभूत अन्वय-व्यतिरेक के अनुसरण की अनुपलब्धि से अकुरादि मे बुद्धिमत्कारणरूप व्याप्य की भी निवृत्ति हो जाती है। जो जिस कार्य का कारण होता है वह कार्य उसके अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण अवश्य करता है जैसे घटादि कार्य कुम्हारादि का। प्रस्तुत मे ऐसा कोई भी उपलब्धिमत् (बुद्धिमत्) कारण उपलब्ध नही है जिस के सनिधान मे ही पूर्वानुपलब्ध अकुरादि का उपलम्भ हो और उसके व्यतिरेक मे इतर

व्यापकानुपलब्धिः । यच्च यत्कारणं तत्तस्यान्वयव्यतिरेकौ अनुविधत्ते यथा घटादयः कुलालस्य । न चोपलब्धिमत्कारणसंनिधाने प्रागनुपलब्धस्यांकुरादेरुपलम्भस्तदभावे चाऽपरकारणसाकल्येऽपि तस्यानुपलम्भ इत्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानमंकुरादिकार्याणाम् ।

अथांकुरादिकर्तुरुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वस्याऽभावाद् न प्रत्यक्षेण सद्भावाऽभावप्रतीतिरिति नांकुरादेस्तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्योपलब्धियुक्ता । ननु मा भूत् तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानोपलब्धिः, व्यतिरेकानुविधानानुपलब्धिस्तु युक्ता, यथा रूप-आलोक-मनस्कारसाकल्येऽपि कदाचिद् विज्ञानकार्यानुपपत्त्या कारणान्तरस्यापि तत्र सामर्थ्यमवसीयते, यच्च तत्कारणान्तरं सा इन्द्रियशक्तिः, तदभावाद् रूपज्ञानं न संजातमित्यनुपलभ्यस्वभावस्यापि कारणस्य व्यतिरेकः कार्येणाऽनुविधीयमान उपलभ्यते, न चेहोपलब्धिमत्कारणस्य व्यतिरेकोऽकुरादिकार्येणानुविधीयमान उपलभ्यते, बुद्धिमत्कारणव्यतिरिक्तपृथिव्यादिसामग्रीसकला(ग्रीसाकल्ये)ऽङ्कुरादेरवश्यं भावदर्शनात् । "इन्द्रियशक्तेरनित्यत्वाऽव्यापकत्वेन व्यतिरेकसम्भवात् तद्व्यतिरेकानुविधानस्योपलब्धियुक्ता, न बुद्धिमत्कारणव्यतिरेकानुविधानस्य, तस्य नित्यत्वव्यापकत्वेन व्यतिरेकानुविधानाभावादि"ति चेत् ? अस्तु नामैवम्, तथापीश्वरस्य ज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षासमवायोऽङ्कुरादिकार्यकरणे व्यापारः, तस्य सर्वदा सर्वत्राऽभावात् तदनुविधानं स्यात् ।

सकल कारण होते हुए भी अंकुरादि की उपलब्धि न हो । इस प्रकार, अकुरादि कार्य मे बुद्धिमत्कारण के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण नही है ।

[व्यतिरेकानुसरण की उपलब्धि की आवश्यकता]

यदि कहें-अकुरादि का कर्त्ता उपलब्धिलक्षणप्राप्त न होने से प्रत्यक्ष से उसके अस्तित्व के अभाव की प्रतीति शक्य नही है अत एव अकुरादि कार्य मे उसके अन्वय-व्यतिरेक के अनुसरण की उपलब्धि न होने मे कोई दोष नही है।-तो यहाँ निवदेन है कि अन्वयव्यतिरेक दोनो के अनुसरण की उपलब्धि भले न हो किंतु व्यतिरेक के अनुसरण की उपलब्धि तो होनी ही चाहिये । उदा० रूप, प्रकाश, मनोयोग आदि सकल कारण के रहते हुए भी कभी विज्ञान की अनुत्पत्ति दिखती है, अतः वहाँ अधिक एक कारण का सामर्थ्य मानना पडता है, जो यह अधिक कारण होगा वही इन्द्रियशक्तिरूप मे सिद्ध होता है । अत. इन्द्रिय के अभाव मे जब रूप ज्ञान नही होता तब उपलब्धिलक्षणप्राप्त न होने पर भी इन्द्रियरूप कारण के व्यतिरेक का अनुसरण कार्य मे उपलब्ध होता है । उसी तरह अकुरादि मे बुद्धिमत्कारण के व्यतिरेक का अनुसरण उपलब्ध नही होता, क्योकि बुद्धिमत्कारण के विरह मे भी पृथ्वी आदि दृष्ट सकल कारणो को उपस्थिति में अकुरादि की उत्पत्ति नियमतः दिखायी देती है ।

[व्यापार के व्यतिरेकानुसरण की अनुपलब्धि]

यदि कहें-इन्द्रियशक्ति और ईश्वररूप बुद्धिमत्कारण मे वैषम्य है, इन्द्रियशक्ति अनित्य और अव्यापक है जब कि ईश्वर तो नित्य एव व्यापक है । अतः इन्द्रिय का व्यतिरेक सम्भव होने से रूपज्ञान मे उसके व्यतिरेक का अनुसरण युक्तियुक्त है किंतु यहाँ ईश्वरात्मक बुद्धिमत्कारण के व्यतिरेक का अनुसरण उपलब्ध नही हो सकता क्योकि वह नित्य और व्यापक है । तात्पर्य, वहाँ कर्त्ता की अनुपलब्धि अभावमूलक नही है ।-तो यह भी ठीक नही है । कारण, ईश्वर को नित्य और व्यापक भले ही मानो, फिर भी ईश्वर का व्यापार तो उसमे ज्ञान-इच्छा और प्रयत्न का समवाय ही है, और यह

अथ तत्समवायस्यापि सर्वत्र सर्वदा भावाद् नायं दोषः। न, तस्य नित्यत्व-व्यापकत्वे सत्यपि तद्विशेषणानामीश्वरज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षादीनामनित्यत्वात् अव्यापकत्वाच्च व्यतिरेकानुविधानमुपलभ्येत। अथ 'तज्ज्ञानादेरपि नित्यत्वाद् नायं दोषः'। सर्वदा तदङ्कुरादिकार्योत्पत्तिः स्यात्। 'सर्वदा सहकारिणामसंनिधानाद् न' इति चेत् ? ननु तेऽपि तज्ज्ञानाद्यायत्तजन्मानः किं न सर्वदा सन्निधीयन्ते ? अथ 'नैव ते तदायत्तोत्पत्तयः'। तर्हि तैरेव कार्यत्वादिहेतुरनैकान्तिकः। 'तत्सहकारिणामपि सर्वदा स्वोत्पत्तिहेतूनां सकार्याणामसन्निधानाद् न सर्वदोत्पद्यन्ते' इति चेत् ? अनवस्था। तथा च अपरापरसहकारिप्रतीक्षायामेवोपक्षीणशक्तित्वात् तज्ज्ञानादेः प्रकृतकार्यकर्तृत्वं न कदाचिदपि स्यात्। अतः सुदूरमपि गत्वा क्वचिदवस्थामिच्छता नित्यत्वं सहकारिणाम् अतदायत्तोत्पत्तिकत्वं वाऽभ्युपगमनीयम्, तदायत्तोत्पत्तिकार्यस्यापि तज्ज्ञानादिव्यतिरेकेणाऽप्युत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या, इति वृथा तत्परिकल्पना। नित्यत्वे वा पुनरपि सहकारिणां तज्ज्ञानादीनां च नित्यत्वात् सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः।

व्यापार तो सर्वदा सर्वत्र नही होता, अत उसके व्यापार के व्यतिरेक का अनुसरण तो दिखाई देना चाहिये। [समवाय सर्वदा सर्वत्र नही होता इस विकल्प मे यह बात कही गयी है, वह सर्वत्र सर्वदा होता है इस विकल्प के ऊपर अब कहते हैं]

[समवाय सर्वदा-सर्वत्र होने पर भी अनुपपत्ति]

यदि कहे कि–समवाय भी सर्वत्र सर्वदा उपस्थित होने से व्यतिरेकाणुसरणाभाव का दोष नही होगा–तो यह ठीक नही, समवाय नित्य और व्यापक भले हो किन्तु ईश्वर का ज्ञान, प्रयत्न और ईच्छा तो अनित्य और अव्यापक होने से व्यतिरेकानुसरण के अभाव का दोष रहेगा ही। (यह अनित्य पक्ष मे दोष कहा, अब) यदि कहे कि–उसके ज्ञानादि भी नित्य (और व्यापक) है अतः कोई दोष नही होगा–तो भी यह आपत्ति होगी कि अकुरादि कार्य की भी हर हमेश उत्पत्ति होती रहेगी। यदि सहकारीयो का सनिधान सदा न होने से इस आपत्ति को टालना चाहे तो यह शक्य नही है, क्योंकि जब सहकारियों को भी ईश्वर के ज्ञानादि से ही जन्म लेना है तब ईश्वरज्ञानादि नित्य होने से अंकुरादि की उत्पत्ति मे सहकारी कारण भी ईश्वरज्ञानादि से उत्पन्न हो कर सदा सनिहित क्यों नही रहेगे ? यदि सहकारियो को ईश्वरज्ञानादि से उत्पन्न नही मानेंगे तो कार्यत्व हेतु उन सहकारियो मे ही साध्यद्रोही बन जायेगा।

यदि कहे-सहकारीवर्ग सदा सनिहित न होने का कारण यह है कि उसके अपने उत्पादक कारणो का कार्यसहित सदा सनिधान नही होता, अर्थात् सहकारीयो का कारण सदा संनिहित न होने से कार्यभूत (-अकुरादि के,) सहकारी भी सदा सनिहित नही रहते–तो यहाँ अनवस्था दोष होगा, क्योंकि सहकारीयो के हेतु को भी ईश्वरज्ञान से ही जन्म लेना है तो वे क्यो सदा उत्पन्न नही होंगे इस प्रश्न के उत्तर मे आपको फिर से यह कहना पडेगा कि सहकारियो के हेतुओ की उत्पत्ति मे भी उनके सहकारीकारण सदा सनिहित नही रहते है इसलिये। तो इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा, फलतः ईश्वरज्ञानादि तो अकुरादि के पूर्व पूर्व कारणो को उत्पन्न करने मे ही क्षीणशक्तिवाला हो जाने से कभी भी अकुरादि कार्य का कर्तृत्व तो ईश्वर मे आयेगा ही नही। इसलिये कितने भी दूर जा कर अनवस्थादोष का अन्त लाने के लिये (A) कही तो सहकारीयो को नित्य मान लेना ही पडेगा, अथवा (B) कुछ सहकारीयो को ईश्वर ज्ञान के बिना ही उत्पन्न मान लेना होगा। इस प्रकार जब दूसरे

तदेवं तज्ज्ञानादीनां च नित्यत्वात् सर्वदा कार्यस्योत्पत्तिरनुत्पत्तिर्वा स्यात् इत्यनित्यास्तज्ज्ञानादयोऽभ्युपगन्तव्याः। तथा च सति तदन्यसामग्रीसाकल्येऽप्यंकुराद्यनुत्पत्तिः कदाचित् स्यात्। 'सकलतदन्यसामग्रीसंनिधानानन्तरमेव तज्ज्ञानाद्युत्पत्तेर्न कार्यानुत्पत्तिः कदाचित् सामग्रीसाकल्येऽपि' इति चेत्? सहकारिकारणसंभवास्तर्हि तज्ज्ञानादयः प्राप्ता. अन्यथा तदनन्तरोत्पत्तिनियमाभावात् सहकारिषु सत्स्वपि कदाचिदंकुराद्यनुत्पत्तिः स्यात्। ते तु सहकारिणस्तज्ज्ञानाद्यप्रेरिता एव तज्ज्ञानादि जनयन्तोऽङ्कुरादि जनय(?यिष्य)न्ति किमन्तर्गडुतज्ज्ञानादिकल्पनया? तज्ज्ञानादिसहकृता एव तज्ज्ञानादिकं जनयन्तीत्यभ्युपगमे तज्ज्ञानाद्यन्तरं सहकारिकारणजन्यमजन्यात्वा (? मजात्वा) तदनन्तरमनुत्पद्यमानं कार्यमपि तज्ज्ञानादिकं तदनन्तर नोत्पादयति, इत्यायातः स एव कारणान्तरसाकल्येऽप्यंकुरादिकार्याद्यनुत्पत्तिप्रसंगः, सहकारिभ्यस्तज्ज्ञानाद्यन्तरोत्पत्तौ स एव प्रसग अनवस्था च। तस्यां चाऽपरापरज्ञानोत्पादन एव सहकारिणां सर्वदोपयोगान्न कार्ये कदाचिदप्युपयोगो भवेत्।

विकल्प मे कुछ सहकारीयो को ईश्वरज्ञानादि के विना उत्पन्न मान लेगे तब तो उन सहकारीयो को अधीन उत्पत्ति वाले अकुरादि को भी-ईश्वरज्ञानादि के विना ही उत्पन्न मान सकते है, फिर ईश्वरादि की कल्पना निरर्थक है। (A) यदि प्रथम विकल्प मे उन सहकारियो को, नित्य मान लेगे तब तो अकुरादि कार्य की सदा उत्पत्ति होने की आपत्ति वापस लौट आयेगी, क्योंकि ईश्वरज्ञानादि तो नित्य ही है, सहकारी भी नित्य होने से उपस्थित है, फिर क्या बाकी रहा जो अकुरादि पुनः पुनः उत्पन्न न हो।

[ईश्वरज्ञानादि को अनित्य मानने पर व्यतिरेकानुपलब्धि]

इस प्रकार ईश्वरज्ञानादि को नित्य मानने पर सर्वदा कार्य की उत्पत्ति का अथवा पूर्वोक्तरीति से क्षीणशक्तिवाले हो जाने से कभी भी उत्पत्ति न होने का जो प्रसग है, उसके कारण ईश्वरज्ञानादि को अनित्य ही मानना पडेगा। इस का अर्थ यह हुआ कि अन्य सपूर्ण सामग्री उपस्थित रहने पर भी ईश्वरज्ञानादि के व्यतिरेकसम्भव से कार्य की उत्पत्ति कभी कभी नही भी होगी। यदि ऐसा कहे कि-अन्य संपूर्ण सामग्री का सनिधान होने पर ईश्वरज्ञानादि भी नियमतः उत्पन्न होकर उपस्थित रहता ही है, अतः अन्य सपूर्णसामग्री की उपस्थिति मे कार्य की अनुत्पत्ति का दोष नही रहेगा-तो इस का मतलब यह हुआ कि ईश्वर का ज्ञानादि, अकुराद्युत्पादक सहकारीकारणो का जन्य हुआ। यदि ऐसा न माने तब तो सहकारिकारण सब एकत्रित होने पर ईश्वरज्ञान की उत्पत्ति होने का नियम नही बन सकेगा, फलतः सहकारीयो की उपस्थिति मे कभी कभी अकुरादि की अनुत्पत्ति के प्रसग का पुनरावर्त्तन होगा। जब नियमतः ईश्वरज्ञानादि की उत्पत्ति मानेंगे तब यह निवेदन है कि ईश्वरज्ञानादि से अप्रेरित भी सहकारिकारण ईश्वरज्ञानादि की उत्पत्ति कर सकते है तो सीधे ही अकुरादि की उत्पत्ति भी क्यो नही करेगे? 'तद्धेतोरस्तु किं तेन' इस न्याय से तब बीच मे ईश्वरज्ञानादि की उत्पत्ति को मानना अन्तर्गडु=निरर्थक देहग्रन्थिवत् निरर्थक है।

[सहकारिकारणजन्य ईश्वरज्ञान मानने पर आपत्ति]

यदि कहे-ईश्वरज्ञानादि के उत्पादक सहकारी भी ईश्वरज्ञानादि के सहकार से ही ईश्वरज्ञानादि को उत्पन्न करेंगे-तब तो बडी आपत्ति है, क्योंकि स्थिति अब ऐसी हुई कि सहकारीकारणो से प्रथम एक ज्ञानादि उत्पन्न होगा, फिर उसके सहकार से वे सहकारीकारण दूसरे (अकुरजनक) ज्ञानादि को उत्पन्न करेंगे, बाद मे अकुरोत्पत्ति होगी-इस स्थिति मे जब सहकारिकारण जन्य वह अन्य ज्ञानादि

'सहकारिभिः सह तज्ज्ञानादिकं नियमेनोत्पत्तिमदि'ति चेत् ? तर्हि सहकारिणां तज्ज्ञानादेश्चैकसामग्र्यधीनत्वमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽसहभावात् । तथैकसामग्रीलक्षणं कारणं तज्ज्ञानादिभिरन्यैर्जनितमजनितं वा तज्जनयति ? न चाजनितम्, तथैव कार्यत्वादेर्हेतोर्व्यभिचारित्वप्रसंगात् । ❀जनित तज्ज्ञानादिकमभ्युपगन्तव्यं, तच्च तेन जन्येन सह नियमेनोत्पद्यमानं तदेकसामग्र्यधीनत्वमभ्युपगन्तरं सामग्र्यधीन स्यात् । सा च सामग्री तज्ज्ञानान्तरेणोत्पादिता(न)चेति विकल्पद्वये पूर्वोक्तदोषद्वयप्रसङ्गः । प्रागनन्तरोत्पत्तिनियमाभ्युपगमे सहकारिहेतुभिरेकसामग्र्यधीनतया स्यात् तत्रापि सैकसामग्री तज्ज्ञानाद्यन्तरेण प्रेरिता जनयतीत्यभ्युपेयम्, अन्यथा('ऽचेतनस्या)चेतनानधिष्ठितस्य वास्यादेरिव जनकत्वाऽसम्भवात्, ज्ञानाद्यन्तरं च प्रेर्यात् सामग्रीविशेषात् प्राग(न)न्तरं नियमेनोत्पद्यमानं तद्धेतुभिरेकसामग्र्यधीनं स्यात्, अन्यथा प्रागनन्तर नियमेनोत्पत्तिर्न स्यात् । सामग्र्यन्तरं च प्रेरितमप्रेरितं वा जनयतीति विकल्पद्वये दोषद्वयप्रसङ्ग, तेनेमं दोषं परिजिहीर्षता न तज्ज्ञानाद्युत्पत्तिः तदनन्तर, सह, प्राग्वाऽनन्तरमभ्युपगन्तव्या ।❀ तदनन्तरं सह, प्राग्वानन्तरमुत्पत्तिनियमाभावे चांकुरादिकार्यस्य तद्व्यतिरेकानुविधानमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते, क्षित्युदक-बीजादिकारणसामग्रीसंनिधाने

(अर्थात् प्रथम ज्ञानादि) स्वय उत्पन्न न होगा तब तक स्वोत्तरकाल मे (अकुरजनक) दूसरे ज्ञानादि को उत्पन्न न कर सकेगा, अत वही पूर्वोक्त प्रसंग (व्यतिरेक प्रयुक्त) कदाचित् अनुत्पत्ति का और अनवस्था का पुन. प्राप्त हुआ। अनवस्था इस रीति से कि अकुरजनकज्ञानादि की उत्पत्ति के लिये तो आपने एक नये ज्ञानादि को मान लिया, फिर उस ज्ञानादि की उत्पत्ति के लिये नये ज्ञानादि को मानना पडेगा.. .इस प्रकार कही अन्त नही आयेगा। दूसरा यह होगा कि अन्य अन्य ज्ञान के उत्पादन मे ही उन सहकारीकारणो की शक्ति क्षीण हो जाने से अकुरोत्पादन मे तो वे कुछ भी उपयोगी नही रहेगे।

[सहकारीवर्ग और ईश्वरज्ञान की एक सामग्रीजन्यता में आपत्ति]

यदि कहे-ईश्वरज्ञानादि सहकारीयो से उत्पन्न नही होता किन्तु नियमत उनके साथ ही उत्पन्न होता है अत. व्यतिरेक वाला दोष नही होगा।-तो यहाँ निवेदन है कि आपको सहकारीवर्ग और ईश्वरज्ञानादि दोनो एकसामग्री से उत्पन्न मानना होगा अन्यथा भिन्न भिन्न सामग्री मानने पर एक साथ उत्पन्न होने की बात नही घटेगी। अब दो विकल्प खडे होगे-A वह एकसामग्रीस्वरूप कारण भी ईश्वरज्ञानादि से जन्य होगा, B या अजन्य ? यदि B अजन्य मानेंगे तो कार्यत्व हेतु यहाँ ही साध्यद्रोही हो जाने को आपत्ति आयेगी।

❀[यदि उसे A जन्य मानेंगे तो उसके जनक ईश्वरज्ञानादि के ऊपर दो विकल्प होंगे कि वह ज्ञानादि जन्य होगा या अजन्य, यदि अजन्य मानेंगे तब तो पूर्वोक्त आपत्ति परम्परया आयेगी, अर्थात् अकुरादि की उत्पत्ति सदा होगी।] यदि उस ज्ञानादि को जन्य मान कर चलेंगे तो भी पूर्वोक्त दोष आयेंगे, आखिर आप कहेंगे कि यह ज्ञानादि और उसके सहकारी भी एक साथ ही उत्पन्न होते हैं,

❀ पुष्पिकाद्वयमध्यगत सस्कृत पाठ कही कहीं खडित होने का पूर्व सम्पादक का अनुमान है। बात सत्य है, फिर भी हमने सदर्भ के अनुसार उसका जो हिन्दी विवेचन किया है उसको वाचकगण ध्यान से पढे और त्रुटि का यथासम्भव परिमार्जन करें।

१ लिंबडी ग्रन्थागारादर्शे कोष्ठगतपाठो नास्ति, न चावश्यक.।

प्रतिबन्धे चाऽसति अंकुरादिकार्यस्यावश्यंभावदर्शनात् । अतस्तज्ज्ञानाद्यनुविधानस्य तत्कारणत्वव्यापकस्यानुपलम्भात् तत्कारणत्वाभावोऽङ्कुरादिकार्यस्यानुमीयते । अतो बाधा व्यापकानुपलब्ध्या बुद्धिमत्कारणानुमानस्य ।

बुद्धिमत्कारणानुमानेनैव व्यापकानुपलब्धिः कस्मान्न बाध्यते ? लोहलेख्यं वज्रम्, पार्थिवत्वात् काष्ठवत्-इत्यनुमानेन प्रत्यक्षं तस्य तदलेख्यत्वग्राहकं किं न बाध्यते-इति समानम् । 'प्रत्यक्षेण तद्विषयस्य बाधितत्वाद् न तेन तद् बाध्यते' इति चेत् ? बुद्धिमत्कारणत्वानुमानस्यापि तर्हि व्यापकानुपलब्ध्या विषयस्य बाधितत्वात् कथं तद्बाधकत्वम् ? 'बुद्धिमत्कारणत्वानुमानेनैव व्यापकानुपलब्धेर्विषयस्य बाधितत्वात् न तद्बाधकत्वमिति' ति चेत् ? न, पार्थिवत्वानुमानेन तदलेख्यत्वग्राहकस्य प्रत्यक्षस्य बाधितविषयत्वाद् न तद्बाधकत्वमित्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । अथ तदनुमानस्य तदाभासत्वात् न

जब नियम से ऐसा ही मानेंगे तब तो फिर से वहाँ सहभाव बनाये रखने के लिये एक सामग्री जन्यता भी माननी पडेगी। फिर उस सामग्री के ऊपर ही दो विकल्प होगे कि वह भी ईश्वरज्ञानादि से जन्य है या अजन्य ? दोनो विकल्प मे पूर्वोक्त दोषप्रसग आयेगा।

[ईश्वरज्ञानादि को सहकारी हेतु सहोत्पन्न मानने में आपत्ति]

अब यदि ऐसा कहे कि-ईश्वरज्ञानादि सहकारीयो के साथ नही किन्तु प्रागनन्तर अर्थात् पूर्वकाल में उत्पन्न होता है'-तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वरज्ञानादि सहकारीयो के साथ नही किन्तु सहकारी के उत्पादक हेतुओ के साथ उत्पन्न होते हैं [क्योकि पूर्वक्षण मे दोनो की सत्ता नियमतः माननी पडेगी] फलतः ईश्वरज्ञानादि और सहकारि के हेतु वर्ग-दोनो को एकसामग्री जन्य ही मानना होगा। अब फिर से यह विकल्प होगे कि वह सामग्री भी ईश्वरज्ञानादि से जन्य है या अजन्य ? वहाँ जन्य नही मानना पडेगा अन्यथा चेतन से अनधिष्ठित कुठारादि की तरह वह सामग्री भी अपना कार्य नही कर सकेगी। उस ईश्वरज्ञानादि को भी सामग्री-उत्पादन के लिये सामग्री के प्रागनन्तर (अर्थात् पूर्वकाल मे) ही नियम से उत्पन्न मानना होगा। अत. उस सामग्री के हेतु और उस ईश्वरज्ञानादि को पुनः एक सामग्री-अधीन मानना पडेगा, क्योकि उसको माने विना नियमतः उस ईश्वरज्ञानादि की प्राक्काल मे उत्पत्ति नही होगी। अब फिर से उस एक सामग्री के ऊपर ईश्वरज्ञानादि से जन्य-अजन्य दो विकल्प और उन मे पूर्वोक्त दोषो का प्रसग परावर्तित होगा। तात्पर्य, इस दोष को हठाना हो तो आप ईश्वरज्ञानादि को न तो अकुर के सहकारीयो के उत्तरकाल मे उत्पन्न मान सकते है, न साथ मे उत्पन्न मान सकते हैं, न तो अव्यवहित पूर्वकाल मे उत्पन्न मान सकते है*।

जब उत्तरकाल मे, साथ मे और पूर्वकाल मे ईश्वरज्ञानादि की उत्पत्ति का कोई ठीकाना ही नही है तब तो कभी उसके अभाव मे अकुरादि कार्य का अभाव दिखायी देना आवश्यक बन गया। किन्तु वह तो नही दिखता है। कारण, प्रतिबन्ध न होने पर पृथ्वी-जल-बीजादिकारणसामग्री के सन्निधान मे अकुरादि कार्य की उत्पत्ति नियमतः देखी जाती है। अतः तत्कारणत्व का व्यापक तज्ज्ञानादि के व्यतिरेक का अनुसरण उपलब्ध न होने से तत्कारणत्वरूप व्याप्य के अभाव का अनुमान फलित होता है। निष्कर्षः-कार्यत्व हेतु से बुद्धिमत्कारण के अनुमान करने मे व्यापकानुपलब्धिरूप बडी बाधा होने से ईश्वर सिद्धि दुष्कर है।

प्रकृतप्रत्यक्षविषयबाधकत्वम् । नैतद्-इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-प्रत्यक्षबाधितविषयत्वात् तदनुमानस्य तदाभासत्वम्, तस्य तदाभासत्वात् प्रत्यक्षस्य तद्बा(दबा)धितविषयत्वेनाऽतदाभासत्वात् तद्विषयबाधकत्वम् इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अथानुमानाऽबाधितविषयत्वनिबन्धनं न तत्प्रत्यक्षस्याऽतदाभासत्वम्। किं तर्हि? स्वपरिच्छेद्याऽव्यभिचारनिबन्धनम्। नन्वेवमनुमानस्यापि स्वसाध्याऽव्यभिचारनिबन्धनं किं नाऽतदाभासत्वमभ्युपगमविषयः?

अथाऽबाधितविषयत्वे सति तस्य तदेव स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वं परिसमाप्यते। नन्वेवमबाधितविषयत्वस्य प्रतिपत्तुमशक्तेर्न क्वचिदपि स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वस्यानुमानेऽतदाभासत्वनिबन्धनस्य प्रसिद्धिः। न हि बाधाऽनुपलम्भाद् बाधाऽभावः, तस्य विद्यमानबाधकेष्वप्यनुत्पन्नबाधकप्रतिपत्तिषु भावात्।

[बुद्धिमत्कारणानुमान व्यापकानुपलब्धि का अबाधक]

यदि पूछे कि 'आप व्यापकानुपलब्धि से हमारे बुद्धिमत्कारण के अनुमान को बाधित कहते हो तो बुद्धिमत्कारणानुमान से व्यापकानुपलब्धि को ही बाधित क्यों नही कहते हो?'-इसके सामने तो यह प्रश्न भी समान है कि-'वज्र भी काष्ठ की तरह लोहलेख्य है क्योंकि पार्थिव है' इस अनुमान के द्वारा, वज्र मे लोहअलेख्यत्वग्राहक प्रत्यक्ष का ही बाध क्यो नही माना जाता है? यदि कहे कि यहाँ अनुमान का विषय प्रत्यक्षबाधित है अत वह बाधित अनुमान प्रत्यक्ष का बाधक कैसे बन सकता है?!-तो प्रस्तुत मे बुद्धिमत्कारणत्व के अनुमान का विषय भी व्यापकानुपलब्धि से बाधित है, अत: अनुमान व्यापकानुपलब्धि का बाधक कैसे होगा?। यदि इस से उलटा कहे कि व्यापकानुपलब्धि का विषय ही बुद्धिमत्कारण के अनुमान से बाधित है अत. व्यापकानुपलब्धि कैसे अनुमान की बाधक होगी?-तो यहाँ भी कह सकते है कि पार्थिवत्व के अनुमान से, लोहअलेख्यत्वसाधक प्रत्यक्ष का विषय ही बाधित है अत: वह प्रत्यक्ष अनुमान का बाधक नही बनेगा।

[लोहलेख्यत्वानुमान से प्रत्यक्ष का बाध क्यों नहीं?]

यदि कहें-लोहलेख्यत्व का अनुमान सच्चा नही किंतु तदाभासरूप है अत उससे लोहलेख्यत्वसाधक प्रत्यक्ष का बाधित होना असम्भव है-तो यह ठीक नही क्योकि इतरेतराश्रय दोष लगता है। देखिये, अनुमान क्यो तदाभासरूप है? प्रत्यक्ष से बाधितविषयवाला होने से। अनुमान, प्रत्यक्ष से बाधितविषयवाला क्यो है? अनुमान अनुमानाभासरूप होने से, प्रत्यक्ष का विषय अबाधित है अत. यह प्रत्यक्ष तदाभासरूप नही है, इसलिये उससे अनुमान का विषय बाधित है। स्पष्ट ही यहाँ अन्योन्याश्रय लग जाता है। यदि इस दोष से बचने के लिये ऐसा कहा जाय कि "प्रत्यक्ष मे प्रत्यक्षाभासरूपता का निषेध, अनुमान से उसका विषय अबाधित होने के आधार से नही करते है। 'तो किस आधार से करते हैं' इसका उत्तर यह है कि स्वग्राह्यविषय के अव्यभिचार के आधार से करते है, अर्थात् प्रत्यक्ष अपने विषय का व्यभिचारी=विसवादी नही है।"-तो यहाँ भी प्रश्न है कि स्वग्राह्यविषयाऽव्यभिचार के आधार पर अनुमान मे भी अनुमानाभासरूपता का निषेध क्यो नही करते हैं?

इसके उत्तर मे यदि कहे कि-"अपना विषय अबाधित होने पर ही अनुमान में उक्त स्वसाध्याऽव्यभिचारिता परिसमाप्त यानी पर्यवसित होती है, फलित होती है, अन्यथा नही।"-तब तो

अथ यत्र बाधकसद्भावस्तत्र प्रागबाधकानुपलम्भेऽप्युत्तरकालमवश्यंभाविनी बाधकोपलब्धि; यत्र तु न कदाचिद् बाधकोपलब्धिस्तत्र न तद्भावः। असदेतत्-न ह्यर्वाग्दृशा बाधकानुपलम्भमात्रेण 'न कदाचनाप्यत्र बाधकोपलब्धिर्भविष्यति' इति ज्ञातुं शक्यम्, स्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यानैकान्तिकत्वात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात्। न ह्यसर्ववित् 'सर्वेणाप्यत्र बाधकं नोपलभ्यते उपलप्स्यते वा' इत्यवसातु क्षमः। नाऽपि बाधकाभावोऽभावग्राहिप्रमाणावसेयः, तस्य निषिद्धत्वात्, निषेत्स्यमानत्वाच्च। न चाऽज्ञातो बाधकाभावोऽनुमानाङ्गं पक्षधर्मत्वादिवत्। न च स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वनिश्चयादेव बाधकाभावनिश्चयः, तन्निश्चयमन्तरेण त्वदभिप्रायेण स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वस्याऽपरिसमाप्तत्वेन निश्चयाऽयोगात्। तस्मात् पक्षधर्मत्वान्वय-व्यतिरेकनिश्चयलक्षणस्वसाध्याऽविनाभावित्वस्य प्रकृतानुमानेऽपि सद्भावात् प्रत्यक्षवद् न तस्यापि तदाभासत्वम्।

अथ विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् पार्थिवत्वानुमानस्य नान्तर्व्याप्तिरिति तदभासत्वम्, एवं तर्हि कार्यत्वानुमानेऽपि विपर्यये बाधकप्रमाणाऽभावाद् व्याप्त्यभावतस्तदभासत्वमिति न व्यापकानुपलब्धिविषयबाधकता। अथ प्रत्यक्षं नानुमानेन बाध्यते इति लोहलेख्यत्वानुमानस्य न तदलेख्यत्वग्राहकप्रत्यक्षबाधकता, कथं तर्हि देशान्तरप्राप्तिलिङ्गजनिताऽनुमानेन स्थिरचन्द्रार्कग्राहिप्रत्यक्षबाधा?

अनुमान मे तदाभासता का निषेधक स्वसाध्याऽव्यभिचारिता कभी सिद्ध ही नही हो सकेगी, क्योंकि अनुमान की अबाधितविषयता का ग्रहण ही दुष्कर हो जाता है। यदि प्रत्यक्ष से उसकी बाधितविषयता है या नही यह देखने जाय तो अन्योन्याश्रय दोष होता है।-'वहाँ बाध की अनुपलब्धि होने पर तो अबाधितविषयता हो सकेगी' यह नही कह सकते, क्योंकि केवल बाध की अनुपलब्धि से बाधाभाव सिद्ध नही हो जाता। कारण, जहाँ बाधक का ज्ञान नही है वहाँ बाधक विद्यमान होने पर भी उसकी अनुपलब्धि हो सकती है।

[भावी बाधकानुपलम्भ का निश्चय अशक्य]

पूर्वपक्षीः-जहाँ बाधक की सत्ता है वहाँ प्रारम्भ मे बाधक का उपलम्भ न होने पर भी उत्तरकाल मे कभी न कभी अवश्यमेव बाधक का उपलम्भ हो कर ही रहेगा। जहाँ, कभी भी बाधक का उपलम्भ न हो वहाँ समझ लेना कि बाधक है ही नही।

उत्तरपक्षीः-यह बात गलत है। जो वर्त्तमानमात्रदर्शी है उसके लिये यह निश्चय अशक्य है कि यहाँ भावि मे कभी भी बाधक उपलम्भ होने वाला नही। सिर्फ अपने को बाधक का उपलम्भ नही है इतने मात्र से तदभाव का निश्चय अनैकान्तिकदोषग्रस्त हो जायेगा और किसी को भी बाधक का उपलम्भ नही होगा यह जान लेना हमारे लिये अशक्य होने से असिद्ध है। जो असर्वज्ञ है वह ऐसा कभी नही जान सकता कि इस स्थल मे किसी को भी बाध का उपलम्भ नही है अथवा भावि मे भी नही होगा। अभावग्राहक प्रमाण से भी बाधक के अभाव का निश्चय शक्य नही, क्योंकि मीमासकसम्मत अभाव प्रमाण वास्तव मे कोई प्रमाण ही नही है यह पहले कह चुके है [पृ १०४], अगले ग्रन्थ मे भी कहा जायेगा। जब तक बाधाभाव का ज्ञान नही होगा तब तक वह अज्ञात बाधकाभाव अनुमान का अग भी नही बन सकता, जैसे कि अज्ञात पक्षधर्मता से कभी पक्ष मे साध्य का अनुमान नही होता। यह भी नही कह सकते कि-'अपने साध्य की अव्यभिचारिता के निश्चय से ही बाधकाभाव का निश्चय फलित होगा'-क्योंकि आपके पूर्वोक्त कथनानुसार बाधकाभाव का निश्चय हुए विना

अथ तस्य प्रत्यक्षाभासत्वादनुमानेन बाधा। ननु कुतस्तस्य तदाभासत्वम् ? 'अनुमानेन बाधितविषयत्वादि'ति चेत् ? ननु तदेवेतरेतराश्रयत्वम् - अनुमानेन बाधितविषयत्वात् तस्य तदाभासत्वम्, तस्य तदाभासत्वे च तेनाऽबाधितविषयत्वादनुमानस्याऽतदाभासत्वेन तद्विषयबाधकत्वम् इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। तस्मात् स्वग्राह्याऽव्यभिचार एव सर्वत्र प्रामाण्यनिबन्धनम्। स च व्यापकानुपलब्धौ पक्षधर्माऽन्वयव्यतिरेकस्वरूपः प्रमाणपरिनिश्चितो विद्यते इति तस्या एव स्वसाध्यप्रतिपादकत्वेन प्रामाण्यम् न पुनर्बुद्धिमत्कारणानुमानस्य, तत्र स्वसाध्याऽव्यभिचाराभावस्य प्रदर्शितत्वात्।

स्वसाध्याऽव्यभिचारिता ही परिसमाप्त नही हो सकेगी अत दोनो निश्चय दुष्कर ही है। इससे तो यही फलित होगा कि-(१) तज्ज्ञानादिअन्वय-व्यतिरेक के अनुविधानरूपव्यापक की अनुपलब्धि - यह हेतु अंकुरादि पक्ष मे वृत्ति होने से, तथा, (२) जहाँ तज्ज्ञानादिअन्वय अननुविधान होता है वहाँ बुद्धिमत्कारणाजन्यत्व होता है और जहाँ बुद्धिमत्कारणजन्यत्व नही होता वहाँ तज्ज्ञानादि० नही होता इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकस्वरूप स्वसाध्याऽविनाभावित्व भी इस अनुमान में विद्यमान होने से, अनुपलब्धि हेतुक बुद्धिमत्कारणाभाव का अनुमान भी अनुमानाभासरूप नही है-जैसे प्रत्यक्ष स्वग्राह्याऽव्यभिचारी होने पर तदाभासरूप नही होता है।

[बुद्धिमत्कारणानुमान में विपक्ष में बाधक का अभाव]

यदि ऐसा कहे-"पार्थिवत्वहेतुक अनुमानस्थल मे यदि कोई विपरीत शका करे कि पार्थिवत्व के होने पर भी लोहलेख्यत्व न माना जाय तो क्या बिगडा ? तो इस शका का बाधक प्रमाण कोई न होने से, वज्र मे लोहलेख्यत्व के साथ पार्थिवत्व की अन्तर्व्याप्ति नही है, अत एव यहाँ व्याप्तिशून्य अनुमान तदाभासरूप माना जाता है।"-तो इसी प्रकार हम भी यह कह सकते है कि कार्यत्वहेतुक अनुमान मे भी यदि विपरीत शका करे कि कार्यत्व के होने पर भी बुद्धिमत्कारण न माना जाय तो क्या बिगडा ? इस मे भी कोई बाधक प्रमाण न होने से कर्त्ता के साथ कार्यत्व की व्याप्ति सिद्ध न होगी, फलतः कर्तृत्व का अनुमान ही तदाभासरूप होगा, इसलिये उससे व्यापकानुपलब्धि के विषय का बाघ नही होगा।

यदि यह कहा जाय कि-'प्रत्यक्ष बलवत् होने से अनुमान उसका नही हो सकता, अतः लोहलेख्यता का अनुमान लोह-अलेख्यत्व के ग्राहक प्रत्यक्ष का बाधक नही हो सकता'-तो उत्तर किजीये कि देशान्तरप्राप्तिरूप लिंग से उत्पन्न गति-अनुमान को चन्द्र और सूर्य के स्थैर्यग्राही प्रत्यक्ष का बाधक क्यो माना जाता है ? यदि कहे यह प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभासात्मक होने से अनुमान उस का बाध कर सकता है।-तो वह प्रत्यक्षाभासात्मक है यह कैसे सिद्ध हुआ यह कहो। यदि अनुमान से उसका विषय बाधित होने से प्रत्यक्ष को आभास रूप कहेगे तो पूर्वोक्त इतरेतराश्रय दोष हटेगा नही। अनुमान से विषय बाधित होने के कारण प्रत्यक्ष आभासरूप सिद्ध होगा, और वह आभासरूप सिद्ध होने पर अनुमान से उसका विषय बाधित होगा-इस रीति से प्रगट ही अन्योन्याश्रय दोष लगता है।

[विषय का अविसंवाद प्रामाण्य का मूल]

साराश, अपने विषय का अविसवाद ही सब प्रतीतियो के प्रामाण्य का मूल है। अंकुरादिस्थल मे कर्तृत्वाभाव सिद्धि के लिये जो व्यापकानुपलब्धि हमने दिखायी है उसमे, अंकुरादि पक्ष मे बुद्धिमत् ज्ञानादि के अनुसरण का अभावरूप धर्म विद्यमान होने से, तथा जहाँ ज्ञानादि के अनुसरण का अभाव-

न च व्यापकानुपलब्धावपि पक्षधर्मत्वाऽन्वय-व्यतिरेकनिश्चयस्य स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वनिश्चयलक्षणस्याभाव इति वक्तुं युक्तम्, यतो व्यापकानुपलब्धेस्तावत् पक्षव्यापकत्वनिश्चयः प्रागेवोक्तः। विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावाद् अन्वयव्यतिरेकावपि तत्राऽवगम्येते, तत्कारणेषु हि कुम्भादिषु तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्योपलब्धिस्तदनुपलब्धेर्बाधकं प्रमाणम्। अथवा तत्कारणत्वं तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानेन व्याप्तम्, तदभावे तत्कारणत्वाऽसम्भवात्, तदभावेऽपि भवतस्तत्कारणत्वे सर्वं सर्वस्य कार्यं कारणं च स्यात्, न क्वचित् कार्यकारणभावव्यवस्था। अन्वय-व्यतिरेकानुविधानं हि कार्य-कारणभावव्यवस्थानिबन्धनम्, तदभावेऽपि कार्य-कारणभावं कल्पयतः किमन्यत्तद्व्यवस्थानिबन्धनं स्याद् इति? अतोऽतिव्याप्तिपरिहारेण क्वचिदेव कार्यं कारणभावव्यवस्थामिच्छता तदभावे कार्य-कारणभावो नाऽभ्युपगन्तव्य इत्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानेन कार्यकारणभावो व्याप्त, स यत्रोपलभ्यते तत्रान्वय-व्यतिरेकानुविधानसंनिधापनेन तदभावं बाधत इत्यनुमानसिद्धो व्यतिरेक, तत्सिद्धेश्चान्वयोऽपि सिद्धः।

रूप धर्म विद्यमान हो वहाँ बुद्धिमत्कारणत्व का अभाव होता है, इत्यादि अन्वय-व्यतिरेक भी पूर्वोक्त रीति से सिद्ध होने से प्रमाणनिश्चित पक्षधर्माऽन्वय-व्यतिरेकरूप स्वसाध्य का अविसवाद व्यापकानुपलब्धि प्रमाण मे प्रसिद्ध है, जब कि कार्यत्व हेतु मे वैसा नही है, अतः व्यापकानुपलब्धि अपने साध्य की सिद्धि मे ठोस प्रमाण है किंतु बुद्धिमत्कारण का अनुमान ठोस प्रमाणरूप नही है, क्योकि यहाँ अपने साध्य के साथ अविसंवाद का कार्यत्वहेतु मे अभाव है यह पहले दिखाया है। [द्र०पृ० ४३७-४]

[व्यापकानुपलब्धि में पक्षधर्मत्वादि का अभाव नहीं]

यह कहना उचित नही है कि-जिस व्यापकानुपलब्धि प्रमाण से आप अंकूरादि मे कर्त्ता का बाध सिद्ध करते है वह व्यापकानुपलब्धि पक्षधर्मत्व के निश्चय से और अन्वय-व्यतिरेकनिश्चय से शून्य है, अत एव स्वसाध्याऽव्यभिचारिता के निश्चय से भी शून्य होने से उसमे प्रामाण्य भी नही है, अतः उससे अकूरादि मे कर्त्ता का बाध नही हो सकता-यह इसलिये उचित नही है कि-यहाँ व्यापकानुपलब्धि मे पक्षव्यापकता का यानी पक्षधर्मता का निश्चय तो पहले दिखा चुके हैं [पृ० ४८६]। तथा अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय भी विपक्ष मे बाधक प्रमाण से सिद्ध होता है, विपक्ष मे बाधक प्रमाण इस प्रकार है—बुद्धिमत्कारणजन्य कुम्भादि विपक्ष है; उनमे ज्ञानादि के अन्वयव्यतिरेक के अनुविधान की अनुपलब्धि नही किन्तु उपलब्धि ही है। अतः अनुपलब्धिरूप हेतु विपक्ष मे अवृत्ति ही है।

[व्यापकानुपलब्धि हेतु में साध्य के अन्वयादि की सिद्धि]

अथवा अन्वय-व्यतिरेकानुविधानानुपलब्धिरूप हेतु मे अपने साध्यभूत तत्कारणत्वाभाव के अन्वय-व्यतिरेक इस प्रकार सिद्ध किये जा सकते हैं-जिस मे (घटादि मे) तत्कारणता (=यज्जन्यता) होती है उसमे तत् (कुम्हार) के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान होता है यह नियम है। अत तदन्वय व्यतिरेकानुविधान रूप व्यापक के न होने पर तत्कारणता रूप व्याप्य का भी सम्भव नही है। यदि आपको तदन्वय-व्यतिरेकानुविधान के अभाव मे भी तत्कारणता मान्य होगी तब तो प्रत्येक वस्तु अन्य सकल वस्तु का कारण और कार्य बन जायेगी क्योंकि अब कार्य-कारणभाव के ऊपर अन्वय-व्यतिरेक का नियन्त्रण नही है। फलतः मर्यादित (नियत) कार्य-कारणभावव्यवस्था टूट जायेगी। कार्यकारणभाव की नियत व्यवस्था करने वाला तो अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण ही है, उसके विना कार्य-कारणभाव की कल्पना कर लेने पर अन्य किस के आधार पर व्यवस्था होगी ? यदि सभी मे सभी की

तथाहि-य एव सर्वत्र साध्याभावे साधनाभावलक्षणो व्यतिरेकः स एव साधनसद्भावेऽवश्यंतया साध्यसद्भावस्वरूपोऽन्वयः, इति व्यापकानुपलब्धेः पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकलक्षणः साध्याऽव्यभिचारः प्रमाणतः सिद्धः । न चैवं कार्यत्वादेरयमविनाभावः सम्भवति, पक्षव्यापकत्वे सत्य(प्य)न्वय-व्यतिरेकयोरभावस्य विपर्यये बाधकप्रमाणाभावतः प्रतिपादितत्वात् ।

अपि च, बुद्धिमत्कारणत्वे तन्वादीनां साध्ये तद्विपर्ययोऽबुद्धिमत्कारणाः परमाण्वादयः, न च तेभ्यो बुद्धिमत्कारणसाध्यव्यावृत्तिनिमित्तकार्यत्वादिनिवृत्तिप्रतिपादकप्रमाणप्रवृत्तिः सिद्धा, घटादेरवयवित्वनिराकरणेन विशिष्टावस्थाप्राप्तपरमाणुरूपत्वात् । न च तेभ्यो बुद्धिमत्कारणव्यावृत्तिकृता कार्यत्वव्यावृत्तिः प्रत्यक्षतः सिद्धा, बुद्धिमत्कारणनिमित्तकार्यत्वग्राहकत्वेन प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दवाच्यस्य तत्र प्रवृत्तेः, परमाण्वन्तराऽसंसृष्ट-परमाणूनां च प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनाद् न ततः साध्यव्यावृत्तिप्रयुक्तसाधनव्यावृत्तिप्रतिपत्तिः । नाप्यबुद्धिमत्कारणेषु कार्यत्वादेरदर्शनात् साकल्येन ततो व्यतिरेकसिद्धिः स्वसम्बन्धिनोऽदर्शनस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनेकान्तिकत्वात् सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात् ; न ततो विपक्षाद्धेतोर्व्याप्त्या व्यतिरेकसिद्धिः ।

कारणता प्रसक्ति के अनिष्ट के निवारणार्थ मर्यादाबद्ध ही कार्यकारणभाव को आप चाहते है तब अन्वय-व्यतिरेक के अभाव मे कारणकार्यभाव को नही मानना चाहिये । इस प्रकार कार्यकारणभाव मे अन्वयव्यतिरेकानुविधान की व्याप्ति सिद्ध हुयी, अत. जहाँ कुम्भादि मे कार्यकारणभाव उपलब्ध हो वहाँ कर्त्ता के ज्ञानादि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान सिद्ध हो जाने से उसका अभाव बाधित हो जायेगा । अर्थात् विपक्ष (कुम्भादि) में अन्वय-व्यतिरेकानुविधान की अनुपलब्धिरूप हेतु का व्यतिरेक सिद्ध हो गया । व्यतिरेक सिद्ध होने पर अन्वय तो अनायास ही सिद्ध हो जायेगा । जैसे देखिये—

सभी जगह जहाँ साध्य (व्यापक) नही होता वहाँ साधन (व्याप्य) नही होता इस प्रकार का जो व्यतिरेक है-वही 'साधन के होने पर साध्य नियमत. होता है' इन दूसरे शब्दो मे अन्वयात्मक कहा जाता है । इस प्रकार व्यापकानुपलब्धि हेतु मे पक्षधर्मता और अन्वय-व्यतिरेक दोनो सिद्ध है अत: तद्रूप साध्याऽव्यभिचार भी प्रमाण से सिद्ध होता है । कार्यत्वादि हेतु मे इस प्रकार अपने साध्य का अव्यभिचार सम्भवित नही है । कारण, पक्षधर्मता होने पर भी, साध्य (बुद्धिमत्कारणत्व) न होने पर भी हेतु (कार्यत्व) का रह जाना-इस प्रकार के विपर्यय की सम्भावना मे कोई भी बाधक प्रमाण न होने से, कार्यत्व हेतु मे अपने साध्य के साथ अन्वय व्यतिरेक का सद्भाव नही है-यह पहले कहा गया है ।

[परमाणु आदि से कार्यत्व की निवृत्ति असिद्ध]

यह भी विचार कीजिये—जब आपको, देहादि मे बुद्धिमत्कारणता सिद्ध करना है तो आप के मत से उसका विपर्यय अर्थात् विपक्ष होगा परमाणु आदि । परमाणु आदि मे बुद्धिमत्कारणात्मक-साध्याभावमूलक 'कार्यत्वादि हेतु के अभाव' को सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की प्रवृत्ति होनी चाहिये किन्तु वही असिद्ध है । कारण, हमने पहले अवयवी का खण्डन कर दिया है अतः घटादि पदार्थ 'विशिष्टावस्था को प्राप्त परमाणु समूह' रूप ही हुआ और उसमे तो कार्यत्व सिद्ध ही है । आशय यह है कि घटादिअवस्थावाले परमाणुओ मे बुद्धिमत्कारणाभावमूलक कार्यत्वाभाव प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नही है, अपि तु प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ(अन्वय-व्यतिरेक) शब्दवाच्य प्रत्यक्ष की तो बुद्धिमत्कारणमूलक

नापि परमाण्वादीनामनुमानान्नित्यत्वसिद्धेरकार्यत्वस्य कार्यत्वविरुद्धस्य तेषु सद्भावात् ततो व्यावर्त्तमानः कार्यत्वलक्षणो हेतुर्बुद्धिमत्कारणत्वेनाऽन्वितः सिध्यति, कार्यत्वस्याऽबुद्धिमत्कारणत्वेन विरोधाऽसिद्धेरंकुरादिष्वबुद्धिमत्कारणनिष्पाद्येष्वपि तस्य सम्भवात्। अथ नित्येभ्योऽकृतत्वादेव कार्यत्वं व्यावृत्तम्, उत्पत्तिमतां चांकुरादीनां बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन पक्षीकृतत्वान्न तैर्हेतोर्व्यभिचार आशकनीय इति तेषु वर्त्तमान कार्यत्वलक्षणो हेतुर्बुद्धिमत्कारणत्वेनाऽन्वितः सिद्धः, स्यादेतत्–यदि पक्षीकरणमात्रेणैवाऽबुद्धिमत्कारणत्वाभावस्तेषु सिद्धः स्यात्, तथाऽभ्युपगमे वा पक्षीकरणादेव साध्यसिद्धेर्हेतूपादानं व्यर्थम्।

कार्यत्व के ग्राहकरूप प्रवृत्ति ही यहा प्रसिद्ध है। यदि विशिष्ट दशावाले परमाणु को छोडकर अन्य परमाणु से असंसृष्ट मुक्त परमाणु का विचार किया जाय तो ऐसे परमाणु प्रत्यक्ष मे भासित नही होते है अत. उनमें बुद्धिमत्कारणाभावमूलक कार्यत्वाभाव का ग्रहण शक्य ही नही है। कोई कोई बुद्धिमत्कारणशून्य पदार्थों मे कार्यत्वादि के न देखने मात्र से सकल बुद्धिमत्कारणशून्य पदार्थो मे कार्यत्वादि का अभाव सिद्ध नही हो जाता। कारण, अन्यव्यक्तिसम्बन्धी चित्तवृत्ति यानी ज्ञान मे स्वसम्बन्धी अदर्शन अनैकान्तिक है। तात्पर्य, बुद्धिमत्कारणशून्य वस्तु मे कार्यत्व का स्वसम्बन्धी अदर्शन होने पर भी दूसरे लोगो को उसमे कार्यत्व का दर्शन हो सकता है। तथा, सभी लोगो को वहा कार्यत्व का दर्शन नही होता–ऐसी बात अल्पज्ञ नही कर सकता, अर्थात् सर्वसम्बन्धी अदर्शन असिद्ध है, अत कही कही कार्यत्व के अदर्शन मात्र से विपक्षभूत परमाणु आदि मे व्यापक रूप से कार्यत्वहेतु के व्यतिरेक की सिद्धि अशक्य है।

[नित्य होने मात्र से कार्यत्व की निवृत्ति अशक्य]

यदि यह कहा जाय–परमाणु आदि मे धर्मीसाधक अनुमान से ही नित्यत्व सिद्ध है। नित्यत्व से उनमे अकार्यत्व सिद्ध होगा और वह कार्यत्व से विरुद्ध है। अतः परमाणु मे नित्यत्व के होने से कार्यत्वरूप हेतु उसमे नही रह सकेगा, इस प्रकार विपक्ष से कार्यत्वहेतु की व्यावृत्ति सिद्ध होने पर बुद्धिमत्कारणजन्यत्व के साथ उसकी अन्वयव्याप्ति सिद्ध हो जायेगी। तो यह ठीक नही है, क्योंकि कार्यत्व को अकार्यत्व के साथ विरोध होने के कारण खरविषाणादि मे से उसकी निवृत्ति मान लेने पर भी, अबुद्धिमत्कारणत्व के साथ कार्यत्व का विरोध सिद्ध न होने से अबुद्धिमत्कारणजन्य ऐसे नित्य परमाणु आदि मे तो वह है ही, और अकुरादि मे बुद्धिमत्कारणजन्यत्व न होने पर भी वह हो सकता है।

यदि ऐसा कहे–नित्य पदार्थ तो अजन्य होने से ही कार्यत्व की वहाँ से व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है, और अनित्य अर्थात् उत्पन्न होने वाले अकुरादि का हमने पक्ष मे अन्तर्भाव कर लिया है क्योकि उसमें बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व सिद्ध करने का हमारा उद्देश्य है। अत अकुरादि मे कार्यत्व हेतु का अबुद्धिमत्कारणत्व के साथ सहभाव दिखा कर व्यभिचार की शका करना ठीक नही है। इसलिये अकुरादि मे वर्त्तमान कार्यत्वरूप हेतु मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व के साथ अन्वयव्याप्ति सिद्ध हो जाती है।–तो यह ठीक नही, क्योकि ऐसा तब कह सकते थे यदि अकुरादि का पक्ष मे अन्तर्भाव कर देने मात्र से वहा अबुद्धिमत्कारणत्वाभाव सिद्ध हो जाता। यदि अकुरादि को पक्ष कर देने मात्र से ही अबुद्धिमत्कारणत्वाभाव सिद्ध हो जाता तब तो फलित ऐसा होगा कि किसी भी वस्तु को पक्ष कर देने मात्र से ही वहाँ साध्याभाव की निवृत्ति अथवा साध्य की सिद्धि हो जाती है। अत हेतु का प्रयोग निरर्थक हो जायेगा।

अथ तत्सहितात् साध्यनिर्देशात् तदभावसिद्धिः, कथं साकल्येनाऽनिश्चितव्यतिरेकात् कार्यत्वा-न्नित्यव्यतिरिक्तानां सर्वेषामंकुरादीनामबुद्धिमत्कारणत्वाभावसिद्धिः ? तदभावाऽसिद्धौ च न साकल्येन व्यतिरेकनिश्चय इति इतरेतराश्रयदोषः कथं न स्यात् ? तदेव व्याप्त्या व्यतिरेकाऽसिद्धौ न साकल्येना-न्वयसिद्धिः, तदसिद्धौ च न व्यतिरेकसिद्धिरिति न कार्यत्वादेर्हेतोः प्रकृतसाध्यसाधकत्वम् ।

न च सर्वानुमानेष्वेष दोषः समानः अन्यत्र विपर्यये बाधकप्रमाणबलादन्वय-व्यतिरेक-सिद्धेः । न च प्रकृते हेतौ तदस्तीत्यसकृदावेदितम् । तेन 'साध्याभावे हेतोरभाव स्वसाध्यव्याप्तत्वादेव सिद्ध' इति निरस्तम्, यथोक्तप्रकारेण स्वसाध्यव्याप्तत्वस्य प्रकृतहेतोरसंभवात् । 'नापि धर्म्यसिद्धता' इत्येतदपि निरस्तम्-धर्म्यसिद्धत्वस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात् । 'कार्यकारणसंघात' इत्यादिकस्तु ग्रन्थो-ऽयुक्तत्वेन प्रतिपादितः । अत एवेश्वरावगमे प्रमाणाभावः, तत्प्रतिपादकप्रमाणस्य समानदोषत्वेनान्य-स्याऽप्यचेतनोपादानत्वादेर्निराकृतत्वात् ।

[विपक्ष में हेतु के अभाव की सिद्धि में अन्योन्याश्रय]

यदि कहे केवल पक्ष मे अन्तर्भाव मात्र से साध्याभाव की निवृत्ति सिद्ध नही होगी किन्तु हेतुप्रयोग के साथ जिसका पक्षरूप से निर्देश करेंगे, उसमे साध्याभाव की निवृत्ति अथवा साध्य की सिद्धि अवश्य होगी—तो यहाँ प्रश्न है कि जब अबुद्धिमत्कारणजन्य सभी पदार्थ से कार्यत्व की निवृत्ति सिद्ध नही है सिर्फ नित्य अबुद्धिमत्कारणक पदार्थ से ही कार्यत्व की निवृत्ति सिद्ध है तो नित्यभिन्न अकुरादि सकल पदार्थों से अबुद्धिमत्कारणकत्व की निवृत्ति किस तरह सिद्ध होगी ? जब तक यही असिद्ध है तब तक सकल विपक्ष से हेतु की व्यावृत्ति भी कैसे सिद्ध होगी ? अर्थात् यहाँ इतरेतराश्रय दोष क्यो नही होगा ? इतरेतराश्रय इस प्रकार होगा-सर्व विपक्ष मे से हेतु की निवृत्ति सिद्ध होने पर ही अकुरादि मे कार्यत्व हेतु से अबुद्धिमत्कारणत्वाभाव सिद्ध होगा, और उसके सिद्ध होने पर अकुरादि विपक्ष न रहने से अन्य सकल विपक्ष मे से हेतु की निवृत्ति सिद्ध होगी, फलतः दोनो मे से एक भी सिद्ध नही होगा । इस प्रकार सकल विपक्ष से हेतु (कार्यत्व) का व्यतिरेक ही जब सिद्ध नहीं है तब सर्वत्र बुद्धिमत्कारणत्व के साथ उसकी अन्वयव्याप्ति भी कैसे सिद्ध होगी ? अन्वय असिद्ध होने पर उसके बल से भी व्यतिरेक की सिद्धि नही होगी । अतः कार्यत्व हेतु से बुद्धिमत्कारणत्व रूप साध्य की सिद्धि नही हो सकती ।

[प्रसिद्ध अनुमानों में विपक्ष में बाधक का सद्भाव]

'यह दोष सभी अनुमान मे प्रसक्त हो सकता है'-ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि विपक्ष मे धूमादि हेतु के रह जाने मे बाधक प्रमाण के बल से धूमादि हेतु मे अग्नि के अन्वय-व्यतिरेक की सिद्धि निर्बाध होती है । आपके कार्यत्व रूप हेतु मे विपक्षबाधक प्रमाण न होने से अन्वय-व्यतिरेक का अभाव कितनी बार दिखा चुके है । इससे यह कथन भी—हेतु अपने साध्य के साथ व्याप्तिवाला होने से ही, 'साध्य न होने पर हेतु का न होना' इस प्रकार का व्यतिरेक सिद्ध हो जाता है-यह कथन [पृ० ३९४-१०] भी परास्त हो जाता है पूर्वोक्त रीति से प्रकृत हेतु मे अपने साध्य की व्याप्ति ही सम्भव नही है । अत एव "धर्मी भी असिद्ध नही है" ऐसा जो आपने कहा है [पृ० ३९४-१०] वह भी परास्त हो जाता है, क्योकि धर्मी भी असिद्ध है यह पहले कह दिया है । [पृ० ४१-] 'इसलिये पृथ्वी आदि कार्य-कारण समूह प्रमाणसिद्ध है' यह कथन भी अयुक्त फलित हुआ । तात्पर्य,

यच्चोक्तं 'नाऽपि हेतोर्विशेषविरुद्धता' ...इत्यादि, तदप्यसंगतम्, यतो यदि कार्यमात्रात् कारणमात्रं तन्वादेः साध्यते तदा व्याप्तिसिद्धेर्न विरुद्धावकाशः। अथ बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं साध्यते, तदा तत्र व्याप्तेरसिद्धत्वं प्रतिपादितमेव। यदि पुनर्घटादौ कार्यत्वं बुद्धिमत्कारणसहचरितमुपलब्धमिति पृथिव्यादावपि तत् साध्यते, तथा सति दृष्टान्तेऽनीश्वराऽसर्वज्ञ-कृत्रिमज्ञानशरीरसम्बन्धिकर्तृपूर्वकत्व कार्यत्वस्योपलब्धमिति ततस्तादृग्भूतमेव क्षित्यादौ सिद्धिमासादयति,-न तु तत्सहचरितत्वेनाऽदृष्टमीश्वरत्वादिविरुद्धधर्मकलापोपेतबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वम्। न हि महानसप्रदेशेऽग्निसहचरितमुपलब्धं धूममात्रं गिरिशिखरादावुपलभ्यमानमग्निविरुद्धधर्माध्यासितोदकगमक युक्तम्, अतिप्रसंगात्।

यच्चोक्तम्-पूर्वोक्तविशेषणानां धर्मिविशेषरूपाणां व्यभिचारात्-इत्यादि, तदप्यसंगतम्, यादृग्भूतं हि कार्यत्वं घटादावनीश्वर(त्व)ादिधर्मोपेतबुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तमुपलब्धं तादृग्भूतं तदन्यत्राऽपि जीर्णप्रासादादावुपलभ्यमानमक्रियादर्शिनोऽपि तथाभूतकर्तृपूर्वकत्वप्रतिपत्तिं जनयति। न च तत्र केनचिदनीश्वरत्वादिधर्मेण व्यभिचारः कदाचित् केनाऽप्युपलभ्यते। तथाभूतसाध्यव्याप्तहेतूपलम्भ एव तत्र तदव्यभिचारः, स चेदस्ति कथमनीश्वरत्वादिधर्माणां व्यभिचारादसाध्यत्वं सचेतसा वक्तुं युक्तम्, अन्यथा धूमादग्निप्रतिपत्तावपि भास्वररूपसम्बन्धादिधर्माणां व्यभिचारात् तथाभूतस्याग्नेरसाध्यत्वं स्यात्।

ईश्वर की सिद्धि मे कोई प्रमाण नही है, तथा अचेतनोपादानत्वादिहेतुवाला ईश्वरसाधक अनुमान भी धर्मी-असिद्धि आदि समानदोषो से परास्त हो जाता है।

[हेतु में विशेषविरुद्धता का प्रबल समर्थन]

यह जो कहा था-कार्यत्व हेतु मे विशेषविरुद्धता यह कोई दोष नही ...इत्यादि [पृ. ३९५] -वह भी सगत नही है। कारण, यदि देहादि मे कार्यत्व हेतु से सिर्फ सकारणत्व ही सिद्ध करना हो तब तो ठीक है कि यहां विशेषविरुद्ध को अवकाश नही है, क्योकि सकारणत्व के साथ कार्यत्व की प्राप्ति असिद्ध है। यदि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व सिद्ध करना हो तब तो व्याप्ति ही असिद्ध है यह कहा हुआ है। तथा, घटादि मे बुद्धिमत्कारण के साथ कार्यत्व का सहचार दृष्ट है इतने मात्र से यदि पृथ्वी आदि मे भी उसको सिद्ध करना है, तो घटादि दृष्टान्त मे अनीश्वरत्व, असर्वज्ञत्व, अनित्यज्ञान, शरीरसम्बन्ध इत्यादि सहित ही कर्तृपूर्वकत्व कार्यत्व मे उपलब्ध है अत. पृथ्वी आदि मे भी अनीश्वरत्वादिधर्मविशिष्ट बुद्धिमत्पूर्वकत्व ही सिद्ध किया जा सकता है किन्तु कार्यत्व के सहचरितरूप मे अदृष्ट ऐसा ईश्वरत्वादि जो विरुद्ध धर्मसमूह, उससे युक्त बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व की सिद्धि नही की जा सकती। पाकशाला मे अग्नि से सहचरित देखा गया धूममात्र पर्वतादि मे यदि उपलब्ध हो तो उससे अग्निविरुद्ध शीतत्वादिधर्मविशिष्ट जलादि का बोध (अनुमान) नही हो सकता, अन्यथा सभी से सभी के बोध का अतिप्रसग होने लगेगा।

[अनीश्वरत्वादि के साथ कार्यत्व का व्यभिचार नहीं]

यह जो कहा था-धर्मिविशेषरूप पूर्वोक्तविशेषणो के साथ कार्यत्व का व्यभिचार होने से.... इत्यादि (पृ. ३९५ प. ६)-वह भी असगत है। कारण, अनीश्वरत्वादिधर्मविशिष्ट बुद्धिमत्कारणत्व के साथ जिस प्रकार के कार्यत्व की व्याप्ति है, वैसा ही कार्यत्व जब जीर्ण-शीर्ण राजभवनादि मे देखा जाता है, तब उसकी उत्पत्ति न देखने वाले को भी अनीश्वरत्वादिधर्मवाले कर्त्ता की ही प्रतीति

एतेन 'पूर्वस्माद्धेतोः स्वसाध्यसिद्धावुत्तरेण पूर्वसिद्धस्यैव साध्यस्य किं विशेषः साध्यते, आहोस्वित् पूर्वहेतोः स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धः क्रियते ?' इत्यादि सर्वं निरस्तम्, यतो यदि कार्यत्वमात्रं हेतुत्वेन क्षित्यादौ साध्यसाधकत्वेनोपादीयते तदा तस्य संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वाऽसाधकत्वम् । अथ घटादौ बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तं यत् कार्यत्वं तत् तत्र हेतुत्वेनोपादीयते तत् तत्राऽसिद्धमिति कथं तत् तत्र बुद्धिमत्कारणत्वस्यापि गमकम् ? इत्यविशिष्टस्य कार्यत्वस्य व्याप्त्यभावादेवापरविशेषसाधकहेतुव्यापारमन्तरेणाऽपि कार्यत्वस्य हेतोः स्वसाध्यसाधकत्वव्याघातः संभवत्येव, कार्यत्वविशेषस्य तु तत्राऽसिद्धत्वादेव साध्याऽसिद्धिलक्षणस्तद्विघातः ।

यत्तु-'शब्दस्य कृतकत्वादनित्यत्वसिद्धौ हेत्वन्तरेण गुणत्वसिद्धावपि न पूर्वस्य क्षति' इति-तदप्यचारु, गुणत्वं हि द्रव्याश्रितत्वादिधर्मयुक्तत्वमुच्यते, तच्चेच्छब्दे सिद्धिमासादयति तदा पूर्वहेतुसाधितमनित्यत्वं तत्र व्याहन्यत एव न a ह्यनुत्पन्नस्य तस्याऽसत्त्वादेव द्रव्याश्रितत्वम् गुणत्वसमवायो वा संभवति, b उत्पन्नस्याप्युत्पत्त्यनन्तरध्वंसित्वेन तन्न संभवति । न च तदाश्रितस्य उत्पत्त्यादिकमेव

(अनुमिति) उत्पन्न होती है। ऐसे स्थलो में कही भी किसी भी व्यक्ति को अनीश्वरत्वादि किसी भी धर्म का व्यभिचार कार्यत्व मे उपलब्ध नही हुआ। अनीश्वरत्वादिधर्म से व्याप्त हेतु का उपलम्भ यही तो यहाँ अव्यभिचार है और जब वह यहाँ अबाधितरूप से बैठा है तब कोई भी बुद्धिमान यदि यह कहेगा कि-अनीश्वरत्वादि धर्मों के साथ कार्यत्व का व्यभिचार होने से वे धर्म सिद्ध नही हो सकते-तो यह उचित नही होगा। इस तथ्य को यदि नही मानेंगे तो भास्वर रूपादि धर्मों के साथ भी धूम का व्यभिचार मान लिया जायेगा, फिर धूम हेतु से अग्नि का बोध होने पर भी भास्वररूपवाले अग्नि की सिद्धि नही होगी।

[कार्यत्व हेतु में संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति और असिद्धि दोष]

कार्यत्व हेतु अनीश्वरत्वादिधर्मों का भी व्याप्य है इसीलिये पूर्व-पक्षी का यह सब कहा हुआ परास्त हो जाता है कि-प्रथमोक्त हेतु से जब अपना साध्य सिद्ध है तब उत्तरकाल मे कथित हेतु से पूर्वसिद्ध साध्य की ही विशेषता सिद्ध करने का अभिप्राय है या पूर्वहेतु के साध्य की सिद्धि का प्रतिबन्ध करना है ?,-[पृ० ३९६] इत्यादि .. यह सब इसलिये निरस्त है कि-यदि क्षिति आदि पक्ष मे सिर्फ कार्यत्व मात्र का ही हेतुरूप मे साध्यसिद्धि के लिये प्रयोग करते है तब वह बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व को सिद्ध नही कर सकेगा क्योकि हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति ही संदिग्ध है। यदि घटादि मे जैसा कार्यत्व बुद्धिमत्कारण का व्याप्त है वैसे कार्यत्व का हेतुरूप मे प्रयोग करेंगे तो वैसा कार्यत्व क्षिति आदि मे तो असिद्ध है फिर वहा उससे बुद्धिमत्कारणत्व की सिद्धि कैसे होगी ? सारांश, सामान्य कार्यत्व को बुद्धिमत्कारणत्व के साथ व्याप्ति न होने से सामान्य कार्यत्व हेतु से अपने साध्य की सिद्धि करने जायेंगे तो व्याघात ही होगा, फिर वहाँ अन्य विशेष के साधक हेतु का प्रयोग भले ही न किया जाय। यदि विशिष्ट प्रकार के कार्यत्व को हेतु करेंगे तो वह क्षिति आदि मे असिद्ध होने से ही साध्यसिद्धि मे व्याघात प्राप्त होगा। अतः किसी भी रीते से क्षिति आदि मे बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व सिद्ध नही होता।

[गुणत्व की सिद्धि से अनित्यत्व का ध्रुव व्याघात]

यह जो कहा था-कृतकत्व हेतु से शब्द मे अनित्यत्व की सिद्धि होने पर अन्य हेतु से उसमें

तद्, खरविषाणादेरपि तत्त्वप्रसंगादित्यादि आश्रयाद्यसिद्धत्वं हेतोः प्रतिपादयद्भिर्निर्णीतमिति न पुनरुच्यते। सर्वथोत्पादककारणव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य क्षणमात्रस्थितेर्गुणत्वं न संभवति तत्संभवे च क्षणिकत्वं व्याहन्यते इति प्रतिपादयिष्यामः।

द्वितीये तु विकल्पे 'न च धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन कस्यचिदपि रूपस्याऽभावः कथ्यते' इति यदुक्तम्, तदप्यसंगतम्, यतो यद्यन्यादृशस्य धर्मिणः कुतश्चिद्धेतो क्षित्यादौ सिद्धिः स्याद् तदा युज्येताऽपि वक्तुम्-'धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन न कस्यचिद्धेतुरूपस्याभाव' इति, तथाभूतस्य तु धर्मिणो न प्रकृतसाधनादवगम इति प्रतिपादितम्। अत एवागमाद् हेत्वन्तराद्वा न तत्र विशेषसिद्धिः, बुद्धिमत्कारणस्यैव धर्मिणः क्षित्यादिकर्तृत्वेनाऽसिद्धत्वात्। तत. 'तच्चाऽन्वय व्यतिरेकिपूर्वं केवलव्यतिरेकिसंज्ञकं तदेव चाऽन्वयव्यतिरेकिलक्षणं पक्षधर्मताप्रसादाद् विशेषसाधनम्' इति प्रतिपादनं दूरापास्तम्, धर्म्यसिद्धौ तद्विशेषसिद्धेर्दूरोत्सारितत्वात्। अत एव 'य इत्थम्भूतस्य पृथिव्यादेः कर्त्ता नियमेनाऽसावकृत्रिमज्ञानसम्बन्धी शरीररहितः सर्वज्ञ एक इत्येवं यदा विशेषसिद्धिस्तदा न विशेषविरुद्धानामवकाशः इति निःसारतया व्यवस्थितम्।

गुणत्व की सिद्धि की जाय तो इससे कृतकत्व हेतु को कोई क्षति नही पहुचती [पृ. ३९६-३]-यह बात गलत है। कारण, गुणत्व का स्वरूप है द्रव्याश्रितत्वादिधर्मवत्त्व। यदि वह शब्द मे सिद्ध होगा तो कृतकत्व से साधित अनित्यत्व का व्याघात अवश्य होगा। वह इस रीति से-a अनुत्पन्न अनित्य गुण में तो उसके असत् होने के कारण ही वहाँ द्रव्याश्रितत्व या गुणत्व का समवाय होना शक्य नही है। b उत्पन्न पक्ष में शब्द अनित्य क्षणिक गुण रूप होने से उत्पत्ति के दूसरे क्षण मे ही स्त हो जाने से गुणत्वादि का समवाय सम्भव नही है। यदि द्रव्याश्रितरूप से उसकी उत्पत्ति को ही द्रव्याश्रितत्व कहा जाय तो यह भी ठीक नही है क्योकि गर्दभसीग आदि मे भी द्रव्याश्रितत्व रूप से उत्पत्ति की आपत्ति होगी, क्योकि उत्पत्ति के पूर्व अनुत्पन्न गुण और खरविषाण दोनो ही समान है.... इत्यादि यह बात, हेतु आश्रयादि मे असिद्ध है इस बात के अवसर मे निश्चित की गयी है अत पुनरुक्ति नही करते है। तदुपरात, उत्पादक कारण व्यक्ति से सर्वथा=एकान्ते भिन्न क्षणमात्रस्थायी पदार्थ मे गुणत्व ही नही घट सकता और गुणत्व मानने पर क्षणिकत्व का व्याघात कैसे होता है-यह बात आगे कहेंगे।

[विशेषविपर्ययोद्भावन सार्थक नहीं है]

द्वितीय विकल्प मे यह जो कहा था [पृ. ३९६-५]-धर्मिविशेष के विरुद्ध उद्भावन कर देने मात्र से हेतु के किसी आवश्यक रूपविशेष का अभाव प्रदर्शित नही हो जाता यह भी असगत है। कारण, प्रसिद्ध व्यक्ति से भिन्न प्रकार का धर्मी कर्त्तारूप मे यदि पृथ्वी आदि मे सिद्ध होता तब तो ऐसा कहना ठीक था कि-'धर्मिविशेष के विरुद्ध उद्भावन से हेतु के किसी रूप का अभाव फलित नही हो जाता।' किन्तु हमने यह दिखा दिया है कि सर्वज्ञत्वादिविशेष वाले धर्मी के बोध मे प्रकृत कार्यत्व हेतु असमर्थ है। इसीलिये अन्य किसी हेतु से या आगम से भी ईश्वर की या उसके सर्वज्ञत्वादि विशेष धर्मो की सिद्धि दूर है, क्योकि पृथ्वी आदि के कर्त्तारूप मे बुद्धिमत्कारणस्वरूप धर्मी ही अप्रसिद्ध होने से वे भी कार्यत्व की तरह ही असमर्थ है।

अब तो वह कथन भी-अन्वयव्यतिरेकिपूर्वक केवलव्यतिरेकीसज्ञक प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि और उसी अन्वयव्यतिरेकी प्रमाण से पक्षधर्मता के प्रभाव से सर्वज्ञत्वादिविशेषो की सिद्धि होगी

यत्तूक्तम्-शरीरसम्बन्धस्य तावद् व्याप्त्यभावेन तत्र निराकृतिः शरीरान्तररहितस्याऽप्यात्मनः शरीरधारण-प्रेरणक्रियासु यथा व्यापारस्तथेश्वरस्यापि क्षित्यादिकार्ये' इति तदप्ययुक्तम् , अपरशरीररहितत्वेऽप्यात्मनः शरीरसम्बद्धस्यैव तद्धारणादिकर्तृत्वोपलब्धेरीश्वरस्यापि शरीरसम्बद्धस्यैव कार्यकर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यमिति प्रतिपादितत्वात् । यदि च शरीरसम्बन्धाभावेऽपि तस्य क्षित्यादिकार्यकर्तृत्वं तदा वक्तव्यम्-किं पुनस्तस्य तत्र ? 'ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायः तत्त्रोक्तमेवे'ति चेत् ? न, समवायस्य निषिद्धत्वात् । न च कुम्भकारादौ शरीरसम्बन्धव्यतिरेकेणान्यत् कर्तृत्वमुपलब्धमितीश्वरेऽपि तदेव परिकल्पनीयम् , दृष्टानुसारित्वात् कल्पनायाः । न च शरीरव्यतिरेकेण ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानामपि सद्भावः क्वचिदुपलब्ध इति नेश्वरेऽपि तदभावेऽसावभ्युपगन्तव्यः । तथाहि-ज्ञानादीनामुत्पत्तावात्मा समवायिकारणम् , आत्म-मन.सयोगोऽसमवायिकारणम् , शरीरादि निमित्तकारणम् , न च कारणत्रयाभावे परेण कार्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते । न चाऽसमवायिकारणात्म-मनः-संयोगादिसद्भाव ईश्वरेऽभ्युपगत इति न ज्ञानादेरपि तत्र भावः ।

अथाऽसमवायिकारणादेरभावेऽपि तत्र ज्ञानाद्युत्पत्तिस्तर्हि निमित्तकारणेश्वरव्यतिरेकेणांकुरादेः किमिति नोत्पत्तिर्युक्ता ? अथ ज्ञानाद्यभावे तदनधिष्ठितानां कथमचेतनानां तदुपादानादीनां प्रवृत्तिः

[पृ. ३९७]-निरस्त हो जाता है, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से जब धर्मी भी असिद्ध है तो उसके विशेषो की सिद्धि की बात ही कहा ? इसीलिये यह जो आपने कहा था - इस प्रकार के पृथ्वी आदि का जो कर्त्ता होगा वह अवश्यमेव नित्यज्ञान का आश्रय, अशरीरी, सर्वज्ञ और एक ही होगा-इस रीति से विशेषो की सिद्धि होने पर विशेषविरुद्धानुमानो को अवकाश नही है [३९७-१३]-यह भी सारहीन सिद्ध होता है ।

[देहधारणादिक्रिया में देहयोग अविनाभावि है]

यह जो कहा था-ईश्वर में शरीर का योग-व्याप्ति न होने से ही व्याहृत हो जाता है, व्याप्ति इसलिये नही है कि अन्य शरीर न होने पर इस शरीर की धारण-प्रेरणादि क्रियाओ मे आत्मा की प्रवृत्ति दिखती है, तो ईश्वर भी पृथ्वीआदि के उत्पादन मे विना शरीर प्रवृत्त होगा [३९९-२] -यह भी अयुक्त ही है क्योंकि पहले ही हमने कह दिया है कि अन्य देह न होने पर भी सदेह आत्मा ही शरीर के धारणादि का कर्त्ता बनता हुआ उपलब्ध होता है अतः ईश्वर को सदेह मान कर ही कार्य का कर्त्ता माना जा सकता है, अन्यथा नही । यदि कहे कि शरीरसम्बन्ध के विना भी ईश्वर मे पृथ्वी आदि कार्य का कर्तृत्व है-तो यहाँ प्रश्न है कि उसमे कर्तृत्व क्या है ? यदि कहे कि ज्ञान-चिकीर्षा और प्रयत्न का समवाय ही ईश्वर का कर्तृत्व है-तो यह भी ठीक नही है क्योकि समवाय का पहले खण्डन किया जा चुका है [पृ. १२३] कुम्हार मे शरीरसबन्ध के विना कभी भी कर्तृत्व नही देखा गया, अत. ईश्वर में भी शरीरसम्बन्ध से ही कर्तृत्व मानना उचित है क्योकि कल्पना दृष्ट पदार्थ के अनुसार ही की जा सकती है, उच्छृङ्खलरूप से नही । शरीर के विना कहीं भी ज्ञान-इच्छा और प्रयत्न का सद्भाव मानना उचित नही है । देखिये-ज्ञानादि की उत्पत्ति मे आत्मा को समवायिकारण, आत्मा-मन के सयोग को असमवायिकारण और शरीर को निमित्तकारण आप भी मानते हैं । तीन कारणो के अभाव मे आप भी कार्य की उत्पत्ति नही मानते है । फिर भी ईश्वर मे आपने असमवायिकारणभूत आत्म-मन के सयोगादि का सद्भाव नही माना है तो ज्ञानादि भी वहाँ नही हो सकते यह स्पष्ट ही है ।

वास्याविवदचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यदर्शनात् ? प्रवृत्तावपि निरभिप्रायाणां देशकालाकार-नियमो न स्यात्, तदधिष्ठितस्यैव तस्य तन्नियतत्वदर्शनात्। नन्वेव चेतनस्यापि चेतनान्तरानधिष्ठितस्य कर्मकरादेरिव स्वाम्यनधिष्ठितस्य कथं प्रवृत्तिः ? अथ स्वामिन एवान्यानधिष्ठितस्य चेतनस्य प्रवृत्तिरुपलभ्यते, किमंकुरादेरकृष्टोत्पत्तेरुपादानस्य तदनधिष्ठितस्य सा नोपलभ्यते ? अथ घटादेरुपादानस्य तदनधिष्ठितस्य तत्करणे प्रवृत्तिर्नोपलभ्यत इत्यंकुराद्युपादानस्यापि तदधिष्ठितस्यैव सा प्रसाध्यते तर्हि कर्मकरादेरपि स्वाम्यनधिष्ठितस्य सा नोपलभ्यत इति स्वामिनोऽप्यपरचेतनान्तराधिष्ठितस्य सा साध्यताम्। यदि पुनः स्वामिनोऽप्यधिष्ठाता चेतनो महेशः परिकल्प्यते तर्हि तस्याप्यपर इत्यनवस्था।

न च चेतनस्याप्यपरचेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितम्' इति प्रयोगे 'अचेतनम्' इति धर्मिविशेषणस्य 'अचेतनत्वादेः' इति हेतोश्चाव्यर्थमुपादानम्, अचेतनवच्चेतनस्यापि चेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे व्यवच्छेद्याभावात्। न चाऽचेतनानामपि स्वहेतुसंनिधिसमासादितोत्पत्तीनां चेतनाधिष्ठातृव्यतिरेकेणाऽपि देश-कालाकारनियमोऽनुपपन्नः, तन्नियमस्य स्वहेतुबलायातत्वात्, अन्यथाऽधिष्ठातृज्ञानकृतोऽपि स न स्यात्। तज्ज्ञानस्य सर्वाऽचेतनाधिष्ठायकत्वे क्षणिकत्वे च तज्ज्ञेयत्व-

[अचेतनवत् चेतन में भी चेतनाधिष्ठान की आपत्ति]

यदि असमवायिकारणादि के अभाव मे भी वहाँ ज्ञानादि की उत्पत्ति को उचित मानेंगे तो निमित्तकारणभूत ईश्वर के विना अकुरादि की उत्पत्ति को उचित क्यो न कही जाय ? ! यदि यह कहा जाय–ज्ञानादि के अभाव मे ईश्वर से अनधिष्ठित अचेतन उपादनादिकारण क्रियान्वित कैसे होगे ? जो अचेतन होता है वह चेतन से अधिष्ठित हुए विना क्रियान्वित होते हुए नही दिखते है जैसे कुठारादि। यदि चेतनाधिष्ठान के विना भी उनमे क्रियान्वय मानेंगे तो किसी चेतन की इच्छा का नियन्त्रण न रहने से उनमे देशनियम, कालनियम और आकारनियम नही घटेगा। चेतनाधिष्ठित पदार्थो मे ही ये नियम देखे जाते है।–तो यहाँ प्रश्न है कि मालिक से अनधिष्टित यानी अप्रेरित कर्मचारी आदि की प्रवृत्ति जैसे नही होती वैसे चेतनानधिष्ठित चेतन की (=ईश्वर की) भी प्रवृत्ति कैसे होगी ? यदि कहे कि-जो मालिक होता है उसकी तो अन्य चेतन की प्रेरणा के विना भी प्रवृत्ति उपलब्ध होती ही है–तो फिर विना कृषि से उत्पन्न अकुरादि के उपादान मे भी चेतन की प्रेरणा विना क्रिया की उपलब्धि होने का क्यो नही मानते हैं ? यदि कहे–चेतन की प्रेरणा के विना घटादि के उपादान कारणों की घटादि कार्य करने की प्रवृत्ति नही देखी जाती, इसीलिये अकुरादि के उपादान मे भी चेतन की प्रेरणा से ही अकुरजनक प्रवृत्ति सिद्ध करना चाहते है।–तब तो हम भी कहेगे कि मालिक की प्रेरणा के विना चेतन कर्मचारी की प्रवृत्ति अनुपलब्ध है इसलिये मालिक की प्रवृत्ति भी उससे भिन्न अन्य चेतन की प्रेरणा से ही होती है ऐसा भी आप को सिद्ध मानना होगा। यदि कहे कि-मालिक को प्रेरणा करने वाले अन्य महेश्वर चेतन की सिद्धि हमे इष्ट ही है-तो उस ईश्वर के प्रेरक अन्य चेतन की कल्पना का कही अन्त ही नही आयेगा।

['अचेतन' विशेषण में नैरर्थक्य की आपत्ति]

दूसरी बात यह है कि यदि चेतन भी अन्य चेतन से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होने का मानेंगे तो आपने जो पहले [द्र० ४१२-६] यह प्रशस्तमतिके अनुमान का प्रयोग किया था–'अचेतन

मेव तदधिष्ठितत्वम् तेषां [इति] सर्वकालभाविकार्ये तदैव प्रवृत्तिरिति एकक्षण एवोत्तरकालभाविकार्योत्पत्तिप्रसंगः, अपरक्षणेऽपि तथाभूततज्ज्ञानसद्भावे पुनरप्यनन्तरकालकार्योत्पत्तिः सदैव, इति योऽयं क्रमेणांकुरादिकार्यसद्भावः स विशीर्येत। कतिपयाऽचेतनविषयत्वे च तज्ज्ञानादेः तदविषयाणां स्वकार्ये प्रवृत्तिर्न स्यात् इति तत्कार्यशून्यः सकलः संसारः प्रसक्तः, न हि तज्ज्ञानादिविषयत्वव्यतिरेकेणा परं तेषां तदधिष्ठितत्वं परेणाऽभ्युपगम्यते। अथ नित्यं तज्ज्ञानादि, तन्नैव 'क्षणिकं ज्ञानम्, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् शब्दवत्' इत्यत्र प्रयोगे महेशज्ञानेन हेतोर्व्यभिचारः।

अथ 'तज्ज्ञानादिव्यतिरेके सति' इति विशेषणान्नायं दोषः। न विपक्षविरुद्धविशेषणं हेतोस्ततो व्यावर्त्तकं भवति, अन्यथा तद्व्यावर्त्तकत्वायोगात्। न चाऽक्षणिकत्वेन तद्व्यतिरिक्तत्वं विरुद्धं, द्विविधस्यापि विरोधस्यानयोरसिद्धेः। न च विपक्षाऽविरुद्धविशेषणोपादानमात्रेण हेतोर्व्यभिचारपरिहारः, अन्यथा न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात्, सर्वत्र व्यभिचारविषये 'एतद्व्यतिरिक्तत्वे सति' इति विशेषणस्योपादातुं शक्यत्वात्। न च नैयायिकमतेनाऽक्षणिकं ज्ञानं सम्भवति, 'अर्थवत् प्रमाणम्' [वात्स्या०

(महाभूतादि) चेतनाधिष्ठित होकर ही प्रवृत्ति करते है क्योंकि वे अचेतन हैं'-इस प्रयोग मे अचेतन ऐसा जो धर्मि का विशेषण किया गया है, तथा 'अचेतनत्वादि' हेतु का प्रयोग किया गया है ये दोनो अन्यर्थ नही रहेंगे, अर्थात् व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि अब तो आप अचेतन की तरह चेतन को भी चेतनाधिष्ठित हो कर ही प्रवृत्त होने का मानते है, अतः 'अचेतन' पद मे नञ् पद से कोई व्यवच्छेद्य तो रहा नही। विशेषण तो तभी सार्थक होता है जब उसका कोई व्यवच्छेद्य हो। यह बात भी विचारणीय ही है कि अपने हेतुओ के सनिधान से उत्पन्न होने वाले अचेतन पदार्थो मे चेतन अधिष्ठाता के विना देशनियम, कालनियम और आकारनियम की उपपत्ति न हो सके ऐसा है ही नही, अपने हेतुओ के बल से ही वह नियम होने वाला है। यदि उन हेतुओ से वह नियम नही होगा तो अधिष्ठाता के ज्ञान से भी वह नियम कैसे होगा यह प्रश्न ही है।

[सकल कार्यों की एक साथ पुनः पुनः उत्पत्ति का प्रसंग]

तथा ज्ञान से अधिष्ठितत्व का अर्थ तो यही है कि ज्ञान की विषयता से अर्थात् ज्ञान निरूपित ज्ञेयता से आक्रान्त होना। अब यदि आप अचेतनो की प्रवृत्ति के लिए ईश्वरज्ञान को क्षणिक एव सभी अचेतन वस्तु मे अधिष्ठित मानेंगे तो उन अचेतनो की, भावि सकल कार्यों की उत्पत्ति के लिये उस क्षण मे ही प्रवृत्ति हो जायेगी जिस क्षण मे वे ईश्वरज्ञान से अधिष्ठित है, अर्थात् एक ही क्षण मे उत्तरोत्तरकाल भावि सकल कार्यो की उत्पत्ति का अतिप्रसग होगा। तथा, दूसरे क्षण मे भी यदि उन अचेतनो को क्षणिक ईश्वरज्ञान से अधिष्ठित होने का मानेंगे तो पुनः उत्तरक्षण मे भावि सकल कार्यो की (जो पूर्व क्षण मे एकबार तो उत्पन्न हो चुके हैं उनकी फिर से) उत्पत्ति होगी, अर्थात् प्रत्येक क्षण मे सकल कार्यों की वार वार उत्पत्ति होती रहेगी। फलतः, अंकुरादि की क्रमिक उत्पत्ति होने के सत्य का विलोप होगा। यदि ईश्वरज्ञान का विषय सर्व अचेतन नही किन्तु कुछ ही अचेतन पदार्थ मानेंगे तो, ईश्वरज्ञान के विषय जो नही होगे उन अचेतन पदार्थो की अपने कार्यो मे प्रवृत्ति ही न होने से सारा ससार उन कार्यो से विकल हो जायेगा। ईश्वरज्ञानविषयता को छोड कर किसी अन्य प्रकार के अधिष्ठितत्व को तो नैयायिक भी नही मानता है। यदि-ईश्वरज्ञान को नित्य मानेंगे-तो ज्ञान मे शब्द के दृष्टान्त से क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हेतु '(अपने लोगो के) प्रत्यक्ष

भा० पृष्ठ १] इति वचनात् अर्थकार्यं ज्ञानं तद्विषयमभ्युपगतम्, अर्थश्च क्रमभावी अतीतोऽनागतश्च। यच्च क्रमवज्ज्ञेयविषयं ज्ञानं तद् क्रमभावि, यथा देवदत्तविज्ञानं ज्वालादिगोचरम्, क्रमवद्विज्ञेयविषयं चेश्वरज्ञानमिति स्वभावहेतुः।

प्रसंगसाधनं चेदम्, तेनाश्रयासिद्धता हेतोर्नाशंकनीया। न च विपर्यये बाधकप्रमाणभावाद् व्याप्य-व्यापकभावाऽसिद्धेर्न प्रसंगसाधनावकाशोऽत्रेति वक्तव्यम्, तस्य भावात्। तथाहि-यदि क्रमवता विषयेण तद् ईश्वरज्ञानं स्वनिर्भासं जन्यते तदा सिद्धमेव क्रमित्वम्। अथ न जन्यते तदा प्रत्यासत्तिनिबन्धनाभावाद् न तद् जानीयात्, विषयमन्तरेणापि च भवतः प्रामाण्यमभ्युपगतं हीयेत, अतीतानागते विषये निर्विषयत्वप्रसंगादिति विपर्ययबाधकसद्भाव. सिद्ध ।

का विषय होते हुए वह विभुद्रव्य का विशेष गुण है'-यह हेतु ईश्वर के ज्ञान मे ही व्यभिचारी वन जायेगा क्योकि वहाँ क्षणिकत्व नही है।

[विपक्षविरोधी विशेषण के विना व्यभिचार अनिवार्य]

यदि यह कहा जाय-हेतु मे 'ईश्वरज्ञानभिन्नत्व' विशेषण लगा देने पर वह हेतु ईश्वरज्ञान मे नही रहेगा क्योकि स्व मे स्व का भेद नही रहता, अत व्यभिचार नही होगा।-तो यह ठीक नही, क्योकि हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति करने के लिये उसमे विशेषण ऐसा होना चाहिये जिसको विपक्ष के साथ विरोध हो, अन्यथा वह विशेषण विपक्ष से व्यावृत्ति नही करा सकता। तो वहाँ विपक्ष है अक्षणिक वस्तु, विशेषण है ईश्वरज्ञानभिन्नत्व, अक्षणिकत्व और ईश्वरज्ञानभिन्नत्व इनमे न तो सहानवस्थान रूप विरोध प्रसिद्ध है और न तो 'एक दूसरे को छोड कर रहना' ऐसा विरोध सिद्ध है। विपक्ष से अविरुद्ध विशेषण लगा देने मात्र से कभी हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति फलित नही हो जाती, वरना, जैसे तैसे विशेषण को लगा देने पर कोई भी हेतु व्यभिचारी नही रहेगा, क्योकि जहाँ जहाँ व्यभिचार की सम्भावना होगी वहाँ वहाँ 'तद्भिन्नत्व' रूप विशेषण लगा देना सरल है। उपरात, नैयायिक मत मे, ज्ञान मे अक्षणिकता का सम्भव ही नही है क्योकि वात्स्यायनभाष्य के 'अर्थवत् प्रमाणम्' इस वचन से तो ज्ञान जिस अर्थ का कार्य हो वही उसका विषय होता है-ऐसा माना गया है। अर्थ तो सभी समानकालीन नही होते किन्तु क्रमिक होते है, अत एव कुछ अतीत होते है, कुछ अनागत (भावि) होते है। क्रमिक ज्ञेय अर्थ को विषय करने वाला ज्ञान भी वात्स्यायन वचनानुसार क्रमिक ही हो सकता है, उदा० ज्वालादि वस्तु को विषय करने वाला देवदत्तादि का ज्ञान क्रमिक ही होता है। ईश्वरज्ञान का भी यही स्वभाव है क्रमिक अर्थ को विषय करना, अत इस स्वभावात्मक हेतु से उसमे भी क्रमवत्ता यानी क्षणिकता ही सिद्ध होगी।

[प्रसंगसाधन में आश्रयासिद्धि दोष नहीं होता]

उपरोक्त हेतु मे आश्रयासिद्धि की शका करना व्यर्थ है क्योकि हमे स्वतन्त्ररूप से ईश्वरज्ञान मे क्षणिकता की सिद्धि अभिप्रेत नही है किन्तु पर को मान्य ईश्वरज्ञान मे क्षणिकत्वरूप अनिष्ट का आपादन यानी प्रसगसाधन ही करना है। यदि कहे कि-'ईश्वरज्ञान मे क्रमिकज्ञेयविषयता मानने पर भी क्षणिकता के बदले अक्षणिकता को ही माने तो उसमे कोई बाधकप्रमाण न होने से, क्षणिकत्व और क्रमिकज्ञेयविषयता मे व्याप्य-व्यापक भाव ही असिद्ध होने से, उक्त प्रसंगसाधन निरवकाश है'-तो यह ठीक नही, क्योकि विपर्यय की शका मे बाधक प्रमाण विद्यमान है। वह इस प्रकार:-यदि क्रमिक

तज्ज्ञानादेश्च नित्यत्वे तद्विषयत्वमन्तरेणापरस्य चेतनाधिष्ठितत्वस्याभावादविकलकारणस्य जगतो युगपदुत्पत्तिप्रसंगः। तथाहि-यद् अविकलकारणं तद् भवत्येव, यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्तायाः सामग्र्याः अविकलकारणो भवन्नङ्कुरः, अविकलकारणं च सर्वदा सर्वमीश्वरज्ञानादिहेतुकं जगद् इति युगपद् भवेत्।

स्यादेतत्-नेश्वरबुद्धयादिकमेव केवलं कारणम् अपितु धर्माऽधर्मादिसहकारिकारणमपेक्ष्य तद् तद् करोति, निमित्तकारणत्वादीश्वरबुद्धयादेः। अतो धर्मादेः सहकारिकारणस्य वैकल्यादविकलकारणत्वमसिद्धम्। असदेतत्-यदि हि तस्य सहकारिभिः कश्चिदुपकारः क्रियेत तदा स्यात् सहकारिसव्यपेक्षता, यावता नित्यत्वात् परैरनाधेयातिशयस्य न किंचित् तस्य सहकारिभ्यः प्राप्तव्यमस्ति, किमिति तत् तथाभूतान् अनुपकारिणोऽपेक्षेत? किंच, तेऽपि सहकारिण किमिति सततं न संनिहिता भवन्ति यदि तज्जन्याः? 'अपरस्वसंनिधिहेतुसहकारिवैकल्याद्' इति नोत्तरम् तेषामपि तत्संनिधिसहकारिणां तदायत्तोत्पत्तीनां सदैव संनिधिप्रसक्तेः कथमसिद्धता हेतोः? अथ नित्यत्वे तद्बुद्धयादिकं सहकारिकारणमुत्पाद्य पश्चादङ्कुरादिकार्यमुपजनयतीत्यभ्युपगमस्तर्ह्यपरापरसहकारिजनने एवोपक्षीणशक्तित्वात् तस्य नाङ्कुरादिकार्यजननम्। अथाऽतज्जन्या एव धर्माऽधर्मादिसहकारिण अतोऽयमदोषः। नन्वेवं तैरेव 'अचेतनोपादानत्वात्' इति हेतुरनैकान्तिकः स्यात्, अतस्तदायत्तसंनिधयो धर्मादिसहकारिण इति नाऽविकलकारणत्वाख्यो हेतुरसिद्धः।

विषयो से स्वविषय ईश्वरज्ञान उत्पन्न होगा तो क्रमवत्ता यानी क्षणिकता उसमें अनायास ही सिद्ध होगी। यदि वह उत्पन्न नही होगा तो ईश्वरज्ञान और विषय मे कार्यकारणभाव से अतिरिक्त दूसरा कोई सम्बन्ध घटक न होने से ईश्वरीय ज्ञान वस्तु को नही जान सकेगा। विषय के विना भी यदि ईश्वरीय ज्ञान मानेंगे तो रज्जू मे सर्प के ज्ञान की भाति उसमे स्वीकृत प्रामाण्य की हानि होगी, क्योकि अतीत-अनागत विषयो का ज्ञान तो निर्विषयक ही होगा, सविषयक नही। इस प्रकार विपरीत शंका मे अर्थात् ईश्वरज्ञान मे क्षणिकत्व के विना भी क्रमिकज्ञेयविषयता मानने में बाधक प्रमाण की सत्ता सिद्ध है।

[नित्यज्ञान पक्ष में एक साथ जगत् उत्पत्ति का प्रसङ्ग]

यदि ईश्वरज्ञानादि नित्य ही है-तो सभी वस्तु मे तद्विषयता रहेगी, और तद्विषयता से अन्य कोई चेतनाधिष्ठितत्व नही है अतः सारा जगत् एक साथ चेतनाधिष्ठित हो जाने से सारे जगत् की उत्पत्ति एक साथ होने की आपत्ति होगी। देखिये, जिस वस्तु के कारण अविकल यानी संपूर्णतया उपस्थित रहते है वह वस्तु अवश्य उत्पन्न होती है। उदा० जब अकुर की सामग्री अन्त्यावस्था को प्राप्त हो जाती है तब अकुर अविकलकारणवाला हो जाने से उत्पन्न होता ही है। ईश्वरज्ञानादि हेतुक सारा जगत् भी अविकलकारणवाला ही होता है, अत एक साथ ही उसकी उत्पत्ति होनी चाहिये।

[अविकलकारणत्व हेतु में असिद्धिदोष की आशंका]

कदाचित् आप यह कहेगे कि जगत् का कारण सिर्फ ईश्वरज्ञानादि ही नही है, किन्तु धर्म-अधर्म आदि सहकारिकारण को सापेक्ष हो कर ही ईश्वरज्ञानादि जगत् को उत्पन्न करता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान अनेक निमित्त कारणो में से एक कारण है। अतः जब सहकारिकारणभूत धर्माधर्मादि उपस्थित नही रहते तब आपका हेतु अविकलकारणता असिद्ध बन जायेगा, अर्थात् जगत् की एक साथ

न चानैकान्तिकोऽपि अविकलकारणत्वहानिप्रसंगात्, अविकलकारणस्याप्युत्पत्तौ सर्वदैवाऽनुत्पत्तिप्रसंगाच्च विशेषाभावात्। एतेन यदप्युद्द्योतकरेणोक्तम् * "यद्यपि नित्यमीश्वराख्यं कारणमविकलं भावानां संनिहितं तथापि न युगपदुत्पत्तिः, ईश्वरस्य बुद्धिपूर्वकारित्वात्। यदि हीश्वरः सत्तामात्रेणैवाऽबुद्धिपूर्वं भावानामुत्पादकः स्यात्तदा स्यादेतच्चोद्यम्, यदा तु बुद्धिपूर्वं करोति तदा न दोषः, तस्य स्वेच्छया कार्येषु प्रवृत्तेः, अतोऽनैकान्तिकतैव हेतो" [*] इति, तदपि निरस्तम्। न हि कार्याणां कारणस्येच्छाभावाभावापेक्षया प्रवृत्ति-निवृत्ती भवतः येनाऽप्रतिबद्धसामर्थ्येऽपीश्वराख्ये कारणे सदा संनिहिते तदीयेच्छाऽभावाद् न प्रवर्त्तेरन्, किं तर्हि कारणगतसामर्थ्यभावाभावानुविधायिनो भावाः। तथाहि-इच्छावतोऽपि कर-चरणादिव्यापाराऽक्षमात् कुलालादेरसमर्थाद् नोत्पद्यन्ते घटादयो भावाः, समर्थाच्च बीजादेरनिच्छावतोऽपि समुत्पद्यमाना उपलभ्यन्तेऽङ्कुरादयः। तत्र यदीश्वराख्यं कारणं कार्योत्पादकालवदप्रतिहतशक्ति सदैवावस्थितं भावानां तत् कमिति तदीयामनुपकारिणीं तामिच्छामपेक्षन्ते येनोत्पादकालवद् युगपन्नैवोत्पद्यरन् ? एवं हि तैरविकलकारणत्वमात्मनो दर्शितं भवेत् यदि युगपद् भवेयुः। न चापीश्वरस्य परैरनुपकार्यस्य काचिदपेक्षाऽस्ति येनेच्छामपेक्षेत। न च बुद्धिविशेषव्यतिरेकेणापरा इच्छा तस्य सम्भवति।

उत्पत्ति की आपत्ति नही रहेगी।-किन्तु यह गलत है। यदि नित्यज्ञान के ऊपर सहकारियो को कोई उपकार करना होता तब तो उसे सहकारियो की अपेक्षा हो सकती, किन्तु ईश्वरज्ञान तो नित्य होने से अपरिवर्त्तनशील है अत. उसमे कुछ भी नये अतिशय (संस्कार) का आधान शक्य ही नही है फिर सहकारियो से उसको कुछ भी लेना देना नही है तो अनुपकारक सहकारियो की वह क्यो अपेक्षा रखेगा ? दूसरी बात यह है कि-वे सहकारि भी ईश्वरज्ञान से जन्य है या अजन्य ? A यदि जन्य मानेगे तो वे ईश्वरज्ञान रूप नित्यकारण से उत्पन्न होकर सारे जगत् की उत्पत्ति मे सदा सनिहित ही क्यो नही रहेगे ?

यदि कहे कि सहकारियो के सनिधान के हेतु भी अन्य सहकारी हैं-तो वे सहकारि भी ईश्वरज्ञान जन्य मानने पर सदा सनिहित रहेगे अतः तदधीन उत्पत्ति वाले सहकारी भी सदा सनिहित ही रहेगे। तात्पर्य, सहकारीयो को ईश्वरज्ञान जन्य मानने पर उनकी सनिधि सदा उपस्थित रहने से अविकलकारणत्व हेतु असिद्ध नही होगा। यदि कहे कि-ईश्वरज्ञान तो नित्य है किन्तु पहले उससे सहकारी कारण की उत्पत्ति होगी, बाद मे अकुरादि कार्य की उत्पत्ति होगी ऐसा हम मानते है, अतः एक साथ उत्पत्ति की आपत्ति नही है-तो यहा अकुरादि कार्य कभी उत्पन्न न होने की आपत्ति आयेगी। कारण, सहकारीयो की उत्पत्ति करने के लिये भी अन्य सहकारीयो की अपेक्षा होगी, उन को उत्पन्न करने मे अन्य अन्य सहकारीयो की अपेक्षा होगी,-इस प्रकार पूर्व पूर्व सहकारीयो को उत्पन्न करने मे ही ईश्वरज्ञानादि की शक्ति क्षीण हो जाने पर अकुरादि की उत्पत्ति का अवसर ही नही रहेगा। यदि दूसरा पक्ष धर्माधर्मादि सहकारीयो को ईश्वरज्ञान से अजन्य मानेगे तो प्रथम पक्ष मे प्रयुक्त कोई भी दोष नही होगा, किन्तु 'अचेतनोपादानत्वात्' यह हेतु यहाँ व्यभिचारी हो जायेगा क्योकि वहाँ हेतु रहेगा किन्तु चेतनाधिष्ठितत्वरूप साध्य तो नही रहेगा। इस कारण से धर्माधर्मादि सहकारि के सनिधान को अन्य सहकारी सापेक्ष न मान कर ईश्वरज्ञानाधीन ही मानना होगा और

---

* न्यायसूत्र ४-१-२१ न्यायवार्तिके 'तत्स्वाभाव्यात् सततप्रवृत्ति ... ' इत्यादि द्रष्टव्यम्।

बुद्धिश्चेश्वर यदि नित्या व्यापिकैका चाऽभ्युपगम्येत तदा सैवाऽचेतनपदार्थाधिष्ठात्री भविष्यतीति किमपरतदाधारेश्वरात्मपरिकल्पनया ? अथानाश्रितं तज्ज्ञानं न सम्भवतीति तदात्मपरिकल्पना। ननु तदात्माऽप्यनाश्रितो न संभवतीति अपरापराश्रयपरिकल्पनयाऽनन्तेश्वरप्रसङ्गः। अथ द्रव्यत्वात्तस्याऽनाश्रितस्यापि सद्भावः न बुद्धे.-गुणत्वात्-इति नायं दोषः। ननु कुतस्तस्या गुणत्वम् ? 'तत्र समवेतत्वादि'ति नोत्तरम्, तस्यैवाऽनिश्चयात्। 'तदाधेयत्वात्तस्याः तत्समवेतत्वमि'ति चेत् ? ननु केनैतत् प्रतीयते ? न तावदीश्वरेण, तेनात्मनो ज्ञानस्य चाऽग्रहणात् इदमत्र समवेतम्' इति तस्य प्रतीतेरयोगात्। 'तज्ज्ञानस्य तत्र समवेतत्वमेव तद्ग्रहणमि'त्यपि नोत्तरम्, अन्योन्यसंश्रयात्-सिद्धे हि 'इदमत्र' इति ग्रहणे तत्र तत्समवेतत्वसिद्धिः, अस्याश्च तद्ग्रहणसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः। तन्नेश्वरस्तज्ज्ञानमात्मनि समवेतमवैति, यश्चात्मीयमपि ज्ञानमात्मनि व्यवस्थितं न वेत्ति स सर्वजगदुपादानसहकारिकारणादिकमवगमयिष्यतीति कः श्रद्धातुमर्हति ?!

तब तो हमारा अविकलकारणत्व हेतु असिद्ध नही होगा। अत सारे जगत् की एक साथ उत्पत्ति की आपत्ति भी तदवस्थ रहेगी।

[अविकलकारणत्व हेतु में अनैकान्तिकतादोष नहीं]

अविकलकारणत्व हेतु को अनैकान्तिक भी नही दिखा सकते, क्योकि यदि कार्य अवश्य उत्पन्न नही होगा तो वहाँ अविकलकारणत्व ही नही रह सकेगा, (क्योकि दोनो समव्यापक है,)। यदि अविकलकारणत्व के रहने पर भी कार्योत्पत्ति नही मानेगे तब तो कभी भी कार्य की उत्पत्ति नही हो पायेगी, क्योकि कारण की उत्पत्ति के लिये अविकलकारणता से अधिक तो कोई विशेष है नही जिस की अनुपस्थिति से कदाचित् कार्य की अनुत्पत्ति कही जा सके। उद्योतकरने भी जो यह कहा है-हालाँ कि ईश्वरस्वरूप अविकल कारण नित्य होने से सदा सर्व भावो को सनिहित ही है, फिर भी सभी की एक साथ उत्पत्ति नही होती क्योकि ईश्वर बुद्धिपूर्वक कार्य करता है। यदि वह अपनी सत्तामात्र से अबुद्धिपूवक ही भाव का उत्पादक होता तब तो वह आपादन शक्य था किंतु जब वह बुद्धिपूर्वक करता है तब कोई दोष नही है, क्योकि वह अपनी इच्छा से ही कार्यो के लिये प्रवृत्त होगा। अत हेतु मे अनैकान्तिकता का दोष नही है।"-यह उद्योतकर का कथन भी परास्त हो जाता है। कारण, कार्यो की प्रवृत्ति और निवृत्ति कारण की इच्छा के भावाभाव को आधीन यदि होती तब तो अप्रतिहत सामर्थ्यवाले ईश्वरस्वरूप कारण सदा सनिहित होने पर भी उसकी इच्छा के अभाव मे कार्यो की अप्रवृत्ति मानना सगत है, किंतु वैसा नही है, सभी भाव कारणगत सामर्थ्य के ही भावाभाव का अनुसरण करते है।

जैसे देखिये, इच्छा के होने पर भी कर-चरणादि के सचालन मे अशक्त कुम्हारादि असमर्थ होने से घटादि भाव उत्पन्न नही होते। और किसी की इच्छा न होने पर भी सामर्थ्यवाले बीज से अकुरादि की उत्पत्ति दिखाई देती है अब यदि ईश्वरस्वरूप कारण कार्योत्पादक काल के जैसे अप्रतिहत शक्तिवाला सदैव भावो का सनिहित होगा तो फिर स्व की अनुपकारक ईश्वरेच्छा की अपेक्षा क्यो रहेगी ? जब अपेक्षा नही होगी तो उत्पादक काल की भाँति सदा सनिहित ईश्वरस्वरूप कारण से एक साथ सभी भावो की उत्पत्ति क्यो नही होगी ? यदि उनकी एक साथ उत्पत्ति होती तब तो यह दिखाई देता कि अपने कारण अविकल है। तथा, नित्य ईश्वर किसी का भी उपकार्य नही है जिससे कि उसको किसी की अपेक्षा रहे, फिर इच्छा की भी अपेक्षा क्यो मानी जाय ? तथा, इच्छा भी 'मैं ऐसा

नापि तज्ज्ञानमवैति 'स्थाणावहं समवेतम्' इति, तेनाऽऽत्मनोऽवेदनात् आधारस्य च। न च तदग्रहणे 'इदं मम रूपमत्र स्थितम्' इति प्रतीतिः संभवति। न च तत् आत्मानमप्यवैति, 'अस्वसंविदितत्वाभ्युपगमात्। न चापरं तद्ग्राहकं नित्यं ज्ञानं तस्येश्वरस्यापि संभवति-येनैवेन सकलं पदार्थजातमवगमयति अपरेण तु तज्ज्ञानम्-समानकालं यावद्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्यान्यत्रानुपलब्धेस्तत्रापि तत्कल्पनाऽसंभवात्। तत्कल्पने चाऽकर्तृकमंकुरादिकार्यं किं न कल्प्येत ?

करु' ऐसी एक प्रकार की बुद्धि के अलावा और कुछ नही है। और उसकी बुद्धि तो नित्य ही है अत' सदा कार्योत्पत्ति का प्रसङ्ग ज्यो का त्यो रहेगा।

[बुद्धि के आधाररूप में ईश्वरकल्पना निरर्थक]

दूसरी बात यह है-ईश्वर की बुद्धि को अगर नित्य, व्यापक और एक मानते है तो वही सकल अचेतन पदार्थों की अधिष्ठात्री भी बन जायेगी तो फिर इस बुद्धि के आधाररूप मे ईश्वरात्मा की कल्पना क्यो की जाय ? यदि कहे कि-आश्रय के विना निराधार ज्ञान सम्भव नही है अतः उसके आधाररूप मे ईश्वर की कल्पना करते है।-तो यहाँ अनन्त ईश्वर की कल्पना आ पडेगी क्योकि निराधार ईश्वर भी सम्भव नही है इसलिये एक ईश्वर के आधाररूप मे अन्य अन्य ईश्वर की कल्पना करनी होगी। यदि कहे कि-बुद्धि गुणात्मक होने से वह निराधार नही हो सकती किन्तु ईश्वर द्रव्यात्मक होने से वह निराधार भी हो सकता है, अत' उसके आधाररूप मे अनन्त ईश्वर की कल्पना का दोष नही होगा।-तो यहाँ प्रश्न है कि बुद्धि मे गुणात्मकता की सिद्धि कैसे होगी ?

[बुद्धि में गुणरूपता की सिद्धि कैसे ?]

ऐसा तो नही कहा जा सकता कि 'ईश्वरात्मा मे समवेत होने से बुद्धि गुणरूप है'-क्योकि बुद्धि उसमे समवेत है या नही यही निश्चय नही है। यदि कहे कि-ईश्वर मे आश्रेयरूप होने से बुद्धि उसमे समवेत होने का निश्चय होगा-तो यहाँ भी प्रश्न है कि ऐसा निश्चय कौन करेगा ? a ईश्वर या b उसका ज्ञान ? a ईश्वर तो ऐसा निश्चय नही कर सकता, क्योकि वह (स्वय ज्ञानात्मक न होने से) अपना और अपने ज्ञान का ग्रहण ही जब नही कर सकता तो 'यह ज्ञान ईश्वर मे समवेत है' ऐसा निश्चय होने की सम्भावना ही नही है। यदि कहे कि-'उसका ज्ञान उसमे समवेत होना' यही उसका ग्रहण है-तो यह उत्तर ठीक नही, क्योकि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष इस प्रकार है—'यह इस मे है' ऐसा ग्रहण सिद्ध होने पर उसमे ज्ञान का समवेतत्व सिद्ध होगा और उसमे ज्ञान का समवेतत्व सिद्ध होने पर ही उक्त ग्रहण की सिद्धि होगी। इस प्रकार अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। अत' ईश्वर यह नही जान सकता कि-'ज्ञान मेरे मे समवेत है'। जब वह इतना भी नही जान सकता कि मेरी आत्मा मे ज्ञान है' तब सारे जगत् के उपादान और सहकारी कारण आदि को वह जान पाता होगा-यह श्रद्धा कौन करेगा ?

[ज्ञान से समवेतत्व का निश्चय अशक्य]

b ईश्वर का ज्ञान भी यह नही जानता कि मै स्थाणु(शंभु) मे समवेत हू', क्योकि वह भी न अपने को जानता है और न अपने आधार को, और यह न जानने पर 'मेरा यह स्वरूप यहाँ अवस्थित है' ऐसी भी प्रतीति का सभव नही है। वह अपने को इसलिये नही जानता कि न्यायमत मे

अस्तु वा तत्र यथोक्तं ज्ञानद्वयम् तथापि तयोर्ज्ञानयोरन्यतरेण स्वग्रहणविधुरेण न स्वाधारस्य, न सहचरस्य ज्ञानस्य, नाप्यन्यस्य गोचरस्य ग्रहणम् । तथाहि यद् स्वग्रहणविधुरं तन्नान्यग्रहणम् , यथा घटादि, स्वग्रहणविधुरं च प्रकृतं ज्ञानम् , ततोऽनेन सहचरस्याऽग्रहणात् कथं तेनाऽस्य ग्रहणम् ? तेनापि ग्रहणविरहितेनाऽस्य वेदने तदेव वक्तव्यम् इति न कस्यचिद् ग्रहणम् इति न तत्समवेतत्वेन तद्बुद्धेर्गुणत्वम् , नापि तदाधारस्य द्रव्यत्वं सिद्धिमुपगच्छति । तस्मान्नित्यबुद्धिपूर्वकत्वेऽङ्कुरादीनां किमिति युगपदुत्पादो न भवेत् ईश्वरवत् तद्बुद्धेरपि सदा संनिहितत्वात् ? अनित्यबुद्धिसव्यपेक्षस्यापीश्वरस्याचेतनाधिष्ठायकत्वेन जगद्विधातृत्वे तस्य नित्यत्वेन तद्बुद्धेरपि सदा संनिहितत्वम् , अविकलकारणयोः सर्वदा संनिहितत्वाद्युगपदङ्कुरादिकार्योत्पत्तिप्रसंग । तस्मात् 'बुद्धिमत्त्वात्' इति विशेषणमकिंचित्करमेव इति नाऽनैकान्तिकता हेतोः ।

ज्ञान को स्वसंविदितत्व नही माना जाता । और अन्य कोई नित्य ज्ञान ईश्वर मे संभव नही है जिससे कि वह प्रथम ज्ञान का ग्रहण करें । यदि वैसा होता तब तो–एक ज्ञान से ईश्वर सकल पदार्थसमूह को जानता और दूसरे से पहले ज्ञान को जान लेता–ऐसा हो सकता था, किन्तु ऐसी कल्पना का सम्भव नही, क्योकि यावद्द्रव्य भावि दो सजातीय गुण एक साथ कही भी उपलब्ध नही है । यदि अन्यत्र अनुपलब्ध होने पर भी वैसी कल्पना की जाय तो फिर अकुरादि कार्य अकर्तृक होने की कल्पना भी हो सकेगी ।

[स्व के अग्राही ज्ञान से पर का ग्रहण अशक्य]

कदाचित् दो ज्ञान का एककाल मे सहास्तित्व मान लिया जाय तो भी उनमे से एक भी अपने आधार का, अपने सहचारि ज्ञान का अथवा अन्य किसी विषय का ग्रहण नही कर सकता क्योकि वह अपने ग्रहण से विकल है । देखिये, यह नियम है कि-जो स्वग्रहणशून्य होता है वह दूसरे किसी का ग्रहण नही करता, उदा० घटादि, प्रस्तुत ईश्वरीयज्ञान भी स्वग्रहणशून्य ही है । अत: उससे अपने सहचारि का ग्रहण शक्य नही है, तो फिर दूसरे ज्ञान से प्रथम ज्ञान का ग्रहण कैसे होगा ? प्रथम ज्ञान के लिये भी, स्वग्रहणशून्य होने से दूसरे ज्ञान को, वह ग्रहण नही कर सकता इत्यादि वही बात लागु होगी । फलत: किसी का भी ग्रहण ही जब सिद्ध नही होगा तो 'ज्ञान ईश्वर मे समवेत है' ऐसा भी ग्रहण नही हो सकेगा । तात्पर्य, तत्समवेतत्व के आधार पर बुद्धि मे गुणरूपता की, और उसके आधार मे द्रव्यत्व की, सिद्धि नही की जा सकती । अब फिर से वह प्रश्न आयेगा ही की, जब ईश्वर की तरह उसकी बुद्धि भी सदा उपस्थित है और अकुरादि नित्यबुद्धि पूर्वक ही उत्पन्न होते है तो अकुरादि सारे जगत् की एक साथ उत्पत्ति होने का दोष क्यो नही होगा ? यदि ईश्वर की बुद्धि को अनित्य मान कर, ईश्वर मे अनित्यबुद्धिसापेक्ष अचेतनाधिष्ठायकता मानी जाय और ऐसे ईश्वर को जगत् का कर्त्ता कहा जाय तो भी उपरोक्त आपत्ति-अकुरादि को एक साथ उत्पत्ति की आपत्ति तदवस्थ ही है, क्योकि–अनित्यबुद्धि का उत्पादक ईश्वररूप कारण नित्य होने से वह बुद्धि भी नयी नयी उत्पन्न हो कर सदा सनिहित ही रहेगी । अत: उद्योतकर ने जो यह कहा था कि 'ईश्वर बुद्धिवाला (अर्थात् बुद्धि पूर्वक कर्त्ता) होने से सकलभावो की एकसाथ उत्पत्ति की आपत्ति नही होगी'–यहाँ 'बुद्धिवाला होने से' ऐसा कथन उपरोक्त रीति से अकिंचित्कर सिद्ध हुआ । इस लिये हमने जो कहा था कि जो अविकलकारणवाला होता है वह उत्पन्न होता ही है–यहाँ हेतु मे कोई अनैकान्तिकता दोष नही रहता ।

न चापि विरुद्धता, सपक्षे भावात् । चैवं (?तदेवं) भवति तस्माद् विपर्ययप्रयोगः-यद् यद न भवति न तत् तदानीमविकलकारणम् यथा कुशूलावस्थितबीजावस्थायामनुपजायमानोऽङ्कुरः, न भवति चैकपदार्थोत्पत्तिकाले सर्वं विश्वम् इति व्यापकानुपलब्धिः । न च सिद्धसाध्यता, ईश्वरस्य तज्ज्ञानादेर्वा कारणत्वे विकलकारणत्वानुपपत्ते प्रसाधितत्वात् । तन्न नित्यज्ञान प्रयत्न-चिकीर्षाणां तत्समवायस्य वा नित्यस्य कर्तृत्वं युक्तम् ।

तस्मात् शरीरसम्बन्धस्यैव कुम्भकारादौ कर्तृत्वव्यापकत्वेन प्रतीतेस्तदभावे कर्तृत्वस्यापि व्याप्यस्याभावप्रसंगः । तच्च a क्वचित् करादिव्यापारेण कारकप्रयोक्तृत्वलक्षणम्-यथा कुम्भकारस्य दण्डादिकारणप्रयोक्तृत्वम्, b अपरं वाग्व्यापारेण-यथा स्वामिनः कर्मकरादिप्रयोक्तृत्वस्वरूपम्, c अन्यच्च प्रयत्नव्यापारेण-यथा जाग्रतः स्वशरीरावयवप्रेरकत्वस्वभावम्, d किंचिच्च निद्रा मद प्रमादविशेषेण ताल्वादि-करादिप्रेरकत्वम्, सर्वथा शरीरसम्बन्ध एव कर्तृत्वस्य व्यापकः, स चेदीश्वरान्निवर्त्तते स्वव्याप्यमपि कर्तृत्वमादाय निवर्त्तते इति न तस्य कर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यमिति प्रसंगः ।

अथ तस्य जगत्कर्तृत्वमभ्युपगम्यते तदा शरीरसम्बन्धः कर्तृत्वव्यापकोऽभ्युपगन्तव्य इति प्रसंगविपर्ययः । न च कारकशक्तिपरिज्ञानलक्षणं तस्य कर्तृत्वम्-येन प्रसंग-विपर्ययोर्व्याप्त्यसिद्धेरभावः स्यात्-कुम्भकारादौ मृद्दण्डादिकारकशक्तिपरिज्ञानेऽपि शरीरव्यापाराभावे घटादिकार्यकर्तृत्वाऽदर्शनात्

[प्रसंगसाधन के बाद विपर्ययप्रयोग]

अविकलकारणत्व हेतु विरुद्ध भी नही है, क्योंकि अंकुरादि सपक्ष मे विद्यमान है । अब तो प्रसंग साधन प्रयोग की तरह विपर्यय प्रयोग भी इस प्रकार किया जा सकता है जो जब नही उत्पन्न होता वह उस काल में अविकलकारणवाला नही होता । उदा० बीज की कुशूल (कोठार) गत अवस्था मे अंकुर उत्पन्न नही होता है । (प्रस्तुत मे,) किसी एक वस्तु की उत्पत्ति काल मे सारा जगत् उत्पन्न नही होता । इस विपर्यय प्रयोग मे व्यापक (उत्पत्ति) की अनुपलब्धि को हेतु किया गया है । यदि ऐसा कहे कि इसमे सिद्धसाध्यता दोष है क्योंकि हम भी अंकुरादि की उत्पत्ति के विरह में ईश्वरज्ञानादि के विरह को मानते ही है-तो यह बात गलत है क्योंकि जब विश्व का कारण ईश्वर और उसका ज्ञानादि है तब विकलकारणता की उपपत्ति करना ही कठीन है, यह बात विस्तार से कह दी गयी है । निष्कर्षः-नित्य ज्ञान, प्रयत्न और इच्छा अथवा तो उनके नित्य समवाय-से कर्तृत्व की बात युक्त नही है ।

[शरीरसम्बन्ध कर्तृत्व का व्यापक]

उपरोक्त चर्चा का सार यह है कि कुम्भकारादि मे कर्तृत्व के व्यापक रूप मे शरीर का सम्बन्ध दिखाई देता है, अतः ईश्वर मे यदि व्यापकभूतशरीरसम्बन्ध नही मानना है तो उसके व्याप्यभूत कर्तृत्व के अभाव की आपत्ति होगी । कर्तृत्व के भी विविध प्रकार हैं, a कही कही हस्तादि के व्यापार से शेष कारको को प्रेरित (सचालित) करना यही कर्तृत्व है, उदा० दण्डादि कारणो का सचालन करने वाला कुम्हार घट का कर्त्ता होता है । b कही, वाणी के व्यापार से भी कर्तृत्व होता है उदा० मालिक अपने मौखिक आदेशो से कर्मचारिगण को क्रियान्वित करता है । c कही सिर्फ प्रयत्न के व्यापार से ही कर्तृत्व होता है-उदा० जाग्रत् दशा मे अपने हस्त-पादादि के सचालन का कर्तृत्व सिर्फ प्रयत्न व्यापार से होता है । d कही, निद्रा-उन्माद-प्रमादादि विशेष अवस्था से ओष्ठ-तालु

सुप्त प्रमत्तादौ च ताल्वादिकारणपरिज्ञानाभावेऽपि तद्व्यापारे प्रयत्नलक्षणे सति तत्प्रेरणकार्यदर्शनात्। यदप्यभिधानमात्रेण विषापहारादिकार्यकर्तृत्वम् तदपि न ज्ञानमात्रनिबन्धनम् किंतु शरीरसम्बन्धाऽविनाभूतविशिष्टात्मप्रयत्नहेतुकमेव।

अपि च, विशिष्टधर्माऽधर्माद्युपदेशविधायीश्वरः सर्वज्ञत्वेन मुमुक्षुभिरुपास्यः, अन्यथा अज्ञोपदेशानुष्ठाने तेषां विप्रलम्भशकया तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्। तदुक्तम्-[प्रमाणवा० १-३२]

"ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये। अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशंकिभिः ॥"

तस्य च सर्वज्ञत्वे सत्यप्यशरीरिणो वक्त्राभावादुपदेष्टृत्वाऽसम्भव इति तत्कृतत्वेन तदुपदेशस्य प्रामाण्याऽसिद्धेर्न मुमुक्षूणां तत्र प्रवृत्तिः स्यादिति उपदेशकर्तृत्वे तस्य शरीरसम्बन्धोऽप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यः, व्याप्याभ्युपगमस्य व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकत्वात्। शरीरसम्बन्धाभावे तु व्याप्यस्याप्युपदेशविधातृत्वस्याभाव इति प्रसग-विपर्ययौ। व्याप्यव्यापकभावप्रसाधकं च प्रमाणं ताल्वादिव्यापाराभावेऽप्युपदेशस्य सद्भावे तस्य तद्धेतुकत्व न स्यादिति कार्यकारणभावप्रसाधकं प्रागेव प्रदर्शितमिति न पुनरुच्यते।

आदि और हस्त-पादादि के सचालन का कर्तृत्व होता है। ये सभी प्रकार के कर्तृत्व का व्यापकभूत है शरीरसम्वन्ध, क्योकि उसके विना उपरोक्त चार मे से एक भी प्रकार का कर्तृत्व नही होता। यदि ईश्वर मे शरीरसम्वन्ध नही रहेगा तो उसका व्याप्य कर्तृत्व भी निवृत्त होगा-फलतः ईश्वर में कर्तृत्व नही माना जा सकेगा-यह प्रसग साधन हुआ।

उसका विपर्यय भी इस प्रकार है कि-यदि ईश्वर मे जगत्कर्तृत्व मानते हैं तो उसका व्यापक शरीरसम्वन्ध भी मानना ही होगा।

[कारकशक्तिज्ञान स्वरूप कर्तृत्व अनुपपन्न]

यदि कहे कि-कर्तृत्व कारको की शक्ति का परिज्ञानरूप है और ऐसे कर्तृत्व के साथ देहसम्वन्ध का व्याप्य-व्यापक भाव नही, अर्थात् व्याप्ति के विरह मे प्रसग और विपर्यय दोनो का उत्थान भग्न हो जायेगा।-तो यह ठीक नही, क्योकि कुम्हारादि दृष्ट कर्त्ताओ मे मिट्टी-दण्डआदि कारको की शक्ति का ज्ञान होते हुए भी देह व्यापार के विना घटादि कार्य का कर्तृत्व नही देखा जाता। उपरांत, सुषुप्ति और प्रमत्तावस्था मे ओष्ठ-तालु आदि कारको का ज्ञान न रहने पर भी उसके सचालक प्रयत्न के होने पर उनका सचालनरूप कार्य दिखता है अत. कारकशक्तिज्ञान यह कर्तृत्वरूप नही माना जा सकता। तदुपरात, जहाँ किसी पवित्र पुरुष के नाम मात्र के उच्चारणादि से विष का उत्तारण आदि कार्य का कर्तृत्व दिखता है वहाँ केवल कारकज्ञान ही कर्तृत्व का मूल नही है किन्तु देहसम्वन्धाविनाभावि विशिष्ट प्रकार का आत्मप्रयत्न ही कर्तृत्व मे हेतुभूत होता है।

[मुखादि के अभाव में वक्तृत्व की अनुपपत्ति]

दूसरी बात यह है विशिष्ट धर्माधर्मादि पदार्थ का उपदेशक ईश्वर सर्वज्ञत्व के आधार पर ही मुमुक्षुओ के लिये उपास्य होता है। यदि वह सर्वज्ञ नही होगा तो अज्ञानी के उपदेश से अनुष्ठान करने पर फलविसंवाद की शकावाले मुमुक्षुओ की प्रवृत्ति ही रुक जायेगी। जैसे कि कहा है—

अज्ञानी के उपदेश से प्रवृत्ति करने में फलविसवाद की शकावाले (मुमुक्षुओ) शास्त्रोक्त अर्थो को जानने के लिये ज्ञानी का अन्वेषण करते है।

तद् स्थितमेतद्-न शरीराभावे महेशस्य कर्तृत्वमिति। तेन शरीरमनःसम्बन्धाभावे प्रयत्न-बुद्धयादेरभावादीश्वरसत्तैवाऽसिद्धा। अतः "तदभावे कस्य विशेषः शरीरादियोगलक्षणः साध्यते ?" इत्यादिपूर्वपक्षवचनं निःसारतया व्यवस्थितम्। प्रसंगविपर्ययोर्निमित्तभूतव्याप्तिप्रदर्शनस्य विहितत्वाद्। यदप्युक्तम 'ज्ञान चिकीर्षा-प्रयत्नाना समवायोऽस्तीश्वरे, ते तु ज्ञानादयस्तत्र नित्याः' तदप्ययुक्तत्वेन प्रतिपादितम्। यच्चोक्तम्-'तत्र शरीरसम्बन्धस्य व्याप्त्यभावादसिद्धिः' तदप्यसत्, शरीरसम्बन्धस्य कर्तृत्वव्यापकत्वप्रतिपादनात्।

यदप्युक्तम्-'नाप्यसर्वज्ञत्व विशेषः कुलालादिषु दृष्टस्तत्र साध्यते' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, कुलालादेर्घटादिकार्यस्योपादानाद्यभिज्ञत्वे कर्मादिनिमित्तकारणाभिज्ञत्वप्राप्तेः सर्वज्ञत्वप्रसक्तिः इति व्यर्थमपरेश्वरसर्वज्ञपरिकल्पनम्, तन्निर्वर्तकातीन्द्रियाऽदृष्टपरिज्ञानवत् तस्यापि सकलपदार्थपरिज्ञानप्रसक्तेः। अथाऽदृष्टाऽपरिज्ञानेऽपि कुलालो मृत्पिण्डदण्डादिकतिपयकारकशक्तिपरिज्ञानादेव घटादिलक्षणं स्वयकार्यं निर्वर्त्तयतीति। तर्हीश्वरोऽप्यतीन्द्रियाशेषपदार्थपरिज्ञानमन्तरेणाऽपि कतिपयकारकशक्तिपरिज्ञानादेव स्वकार्यं निर्वर्त्तयिष्यति इति न सकलकार्यकर्तृत्वान्यथाऽनुपपत्त्या तस्यातीन्द्रियाद्यशेषपदार्थज्ञत्वलक्षणसर्वज्ञत्वसिद्धिः।

यदि वह सर्वज्ञ होने पर भी अशरीरी होगा तो मुख के विरह मे उपदेश का सम्भव नही रहेगा, अतः सर्वज्ञकथितत्व के आधार पर उपदेश का प्रामाण्य सिद्ध नही हो सकेगा, फलत शास्त्र से मुमुक्षुओ की प्रवृत्ति रुक जायेगी। इस अनिष्ट के निवारणार्थ सर्वज्ञ ईश्वर मे उपदेश कर्तृत्व घटाने के लिये देहसम्बन्ध भी अवश्य मानना पडेगा, क्योकि व्याप्य का स्वीकार व्यापकस्वीकार का अविनाभावी होता है। तथा, देहसम्बन्ध को यदि नही मानेंगे तो उसका व्याप्य उपदेशकर्तृत्व भी नही मान सकते।-इस प्रकार प्रसग और विपर्यय से दोनो ओर नैयायिक को बन्धन प्राप्त है। उपदेशकर्तृत्व और देहसम्बन्ध के बीच व्याप्य-व्यापक भाव की सिद्धि के लिये पहले हमने कार्य-कारणभावगर्भित यह प्रमाण दिखाया ही है कि यदि तालु-ओष्ठादि की क्रिया के विना भी उपदेश की सम्भावना करेंगे तो उपदेश मे ओष्ठ-तालुक्रिया की कारणता का ही भग हो जायेगा, [पृ.   प.   ] अब फिर से इस का प्रदर्शन करना आवश्यक नही है।

[देहादि के विरह में ईश्वरसत्ता की असिद्धि]

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि शरीर के अभाव से ईश्वर मे कर्तृत्व भी नही है। फलत', देह और मन के सयोग विना प्रयत्न और बुद्धि न होने से ईश्वर की सत्ता ही सिद्ध नही हो सकती। इसलिये पूर्वपक्षी का यह वचन ईश्वर के अभाव मे आप किस व्यक्ति के विशेषरूप मे देहादिसम्बन्ध सिद्ध करेंगे ? [३९९-८] इत्यादि, यह सारहीन सिद्ध हुआ, क्योकि प्रसग और विपयय की प्रयोजक व्याप्ति(=कर्तृत्व मे देह की व्याप्ति) का प्रदर्शन हो चुका है। यह जो कहा था ईश्वर मे भी ज्ञान, उत्पादनेच्छा और प्रयत्न का समवाय है, और ईश्वर के ये ज्ञानादि नित्य हैं [४००-५] यह भी अयुक्त प्रतिपादन ही है क्योकि नित्यज्ञानादि किसी भी प्रकार नही घटते यह दिखा चुके हैं। यह जो कहा था-'कर्तृत्व मे शरीरसम्बन्ध की व्याप्ति ही न होने से शरीर असिद्ध है' [३९९-२] यह भी जूठा है क्योकि देहसम्बन्ध कर्तृत्व का कैसे व्यापक है यह हम दिखा चुके हैं।

यच्चोक्तम् क्षेत्रज्ञानां नियतार्थविषयग्रहणं सर्वविदधिष्ठितानाम्, यथा प्रतिनियतशब्दादिविषयग्राहकाणामनियतविषयसर्वविदधिष्ठितानां जीवच्छरीरे... इत्यादि-तदप्यसंगतम्, यतः शब्दादिविषयग्राहकाणामिति दृष्टान्तत्वेनोपन्यासो यदीन्द्रियाणां तदा तेषां करणत्वाद् वेदनलक्षणक्रियाऽनाश्रयत्वात् कथं नियतशब्दादिविषयग्रहणम् ? अथ ग्रहणाधारत्वेन न तेषां नियतशब्दादिविषयग्रहणम् किंतु करणत्वेन । नन्वेवं क्षेत्रज्ञानामपि विषयग्रहणे करणत्वम् न कर्तृत्वमिति घटादि कुलालकर्तृकं तत्कारणशक्तिपरिज्ञानेन न सिद्धमिति कुतस्तद्दृष्टान्तात् क्षित्यादेर्ज्ञानाधारकर्तृकत्वं सिद्धिमुपगच्छति ? ! यदि पुनर्ज्ञानसमवायेन चक्षुरादीनां नियतविषयाणां कर्तृत्वेऽप्यनियतविषयाऽपरक्षेत्रज्ञकर्त्रधिष्ठितत्वमंगीक्रियते तर्हि चेतनानामपि क्षेत्रज्ञानां नियतविषयाणां यथा परोऽनियतविषयश्चेतनोऽधिष्ठाताऽभ्युपगन्तव्यः, तस्याप्यपर इत्यनवस्थाप्रसक्ति । तथा, चेतनानामपि क्षेत्रज्ञानां यदा चेतनोऽधिष्ठाताऽभ्युपगम्यते तदा 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्त्तते, अचेतनत्वात्, वास्यादिवत्' इति प्रयोगेऽचेतनग्रहणं धर्मि-हेतुविशेषणं नोपादेयं स्यात्, व्यवच्छेद्याभावात् ।

[कुम्हारादि में सर्वज्ञत्व की प्रसक्ति]

यह जो कहा था-कुलालादि मे दृष्ट असर्वज्ञतारूप विशेष को ईश्वर मे सिद्ध नही किया जा सकता....इत्यादि-[४००-७] वह भी अयुक्त है। कारण, कुम्हार आदि को यदि घटादि कार्य के उपादानादि सभी कारणो का ज्ञान होगा तो कर्म आदि निमित्तकारणो का भी ज्ञान न्यायप्राप्त होने से कुम्हारादि मे ही सर्वज्ञता की प्रसक्ति होगी, फिर अन्य सर्वज्ञ-ईश्वर की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी। क्योंकि ईश्वर को घटादिनिर्वर्त्तक अतीन्द्रिय अदृष्ट का ज्ञान जैसे होगा वैसे ही कुम्हार को भी सकल पदार्थ का ज्ञान प्रसक्त है। यदि कहे कि-अदृष्ट के ज्ञान विना भी मिट्टीपिण्ड-दण्डादि कुछ कारकों की शक्ति के ज्ञान से ही कुम्हार घटादिरूप कार्य को उत्पन्न कर देगा-तो फिर ईश्वर भी अतीन्द्रियसकलपदार्थ के ज्ञान विना सिर्फ कुछ कुछ कारको की शक्ति के ज्ञान से ही अपने कार्य को कर देगा, अतः सकलकार्यनिष्पादकत्व की अन्यथा अनुपपत्ति के बल से ईश्वर मे अतीन्द्रिय सर्वपदार्थज्ञातृत्वरूप सर्वज्ञत्व की सिद्धि नही हो सकेगी।

[क्षेत्रज्ञ में सर्वज्ञ के अधिष्ठितत्व के अनुमान की परीक्षा]

यह जो कहा था क्षेत्रज्ञो (=आत्मा) का नियतार्थविषयग्रहण सर्वज्ञ से अधिष्ठित होने के कारण होता है, जैसे जिंदे शरीर मे प्रतिनियत शब्दादिविषय के ग्राहक, अनियतविषयवाले सर्वज्ञ से अधिष्ठित होते है इत्यादि [पृ० ४०१] वह भी असगत है। कारण, दृष्टान्तरूप में उपन्यस्त शब्दादिविषयो के ग्राहकरूप मे अगर आपको इन्द्रिय अभिप्रेत है तो वे सवेदनरूपक्रिया के आश्रय ही नही है फिर नियतशब्दादिविषय का ग्रहण कैसे सगत कहा जाय ? यदि कहे कि-ग्रहण (=वेदन) के आश्रयरूप मे उन्हे ग्राहक नही मानते किन्तु कारण होने से ग्राहक मानते हैं।-तो इस तरह के दृष्टान्त से क्षेत्रज्ञ मे भी विषयग्रहण मे कारणत्वरूप ही ग्राहकत्व मानना होगा, कर्तृत्वरूप नही। इस स्थिति मे कारकशक्तिपरिज्ञानमूलक घटादिकर्तृत्व कुम्हार मे ही सिद्ध नही होगा तो उसके दृष्टान्त से पृथ्वी आदि मे भी ज्ञानवान् कर्त्ता की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? तथा, यदि नियतविषयवाले नेत्रादि को ही ज्ञान के समवाय से कर्त्ता मान लेंगे और उनमे अनियतविषयवाले अन्य क्षेत्रज्ञ कर्त्ता से अधिष्ठितत्व का अगीकार करेंगे तब तो नियतविषयवाले चेतन क्षेत्रज्ञो को जैसे अनियतविषयवाले अन्य चेतन से

यत्तूक्तम् 'भवत्वनिष्ठा यदि तत्प्रसाधकं प्रमाणं किंचिदस्ति, तावत एवाऽनुमानसिद्धत्वात्' इति, तदप्यसंगतम् , यत प्रमाणमन्तरेण हेत्वाभासाद् यद्येकस्य सिद्धिरभ्युपगम्यते अपरस्यापि तत एव सा किं नाभ्युपगम्यते ? प्रमाणसिद्धत्वं तु तावतोऽपि नास्ति, अनिष्ठया तत्प्रसाधकस्य प्रमाणस्याऽप्रामाण्याऽऽसञ्जनाद् । यदप्युक्तम् 'आगमोऽप्यस्मिन् वस्तुनि विद्यते'. इत्यादि, तदप्ययुक्तम् , आगमस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्यं तत्प्रामाण्याच्च ततस्तत्सिद्धिरितीतरेतराश्रयप्रसक्तेः । नित्यस्य त्वागमस्य प्रामाण्यं वैशेषिकैर्नाभ्युपगतम् ; ईश्वरकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगात् । नाप्यन्येश्वरकृततदागमात्, तत्रापि तत्कृतत्वेन प्रामाण्ये इतरेतराश्रयदोषात् । अपरेश्वरप्रणीतापरागमकल्पनेऽपि तदेव वक्तव्यमित्यनिष्ठाप्रसक्तिः । तदेवं स्वरूपेऽर्थे आगमस्य प्रामाण्येऽपि न तत ईश्वरसिद्धिः ।

यत्तूक्तम् 'तस्य च सत्तामात्रेण स्वविषयग्रहणप्रवृत्तानां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठायकता यथा स्फटिकादीनामुपधानाकारग्रहणप्रवृत्तानां सवितृप्रकाश.' तदयुक्तम् , सत्तामात्रेण सवितृप्रकाशस्यापि स्फटिकाद्यधिष्ठायकत्वाऽसंभवात्-तदसंभवश्चाकाशादेरपि सत्तामात्रस्य सद्भावात् तदधिष्ठायकता स्यात्-किंतु सवितृप्रकाशस्य तद्विशिष्टावस्थाजनकत्वेन तदधिष्ठायकत्वम् , तच्चेत् क्षेत्रज्ञेष्वीश्वरस्य परि-

---

अधिष्ठित मानेंगे वैसे समान युक्ति से उस अनियतविषयवाले चेतन क्षेत्रज्ञ को भी अन्य अनियतविषयवाले चेतन से अधिष्ठित मानने की आपत्ति आयेगी। इस प्रकार अन्य अधिष्ठाता की कल्पना का अन्त ही नहीं आयेगा। तदुपरात, चेतन क्षेत्रज्ञो के यदि आप अन्य अधिष्ठाता चेतन को मानते ही हैं तब तो आपने जो यह प्रयोग किया था-'अचेतन वस्तु चेतन से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होती है क्योकि अचेतन है, उदा० कुठारादि'-इस प्रयोग में पक्ष और हेतु मे 'अचेतन' विशेषण व्यर्थ हो जायेगा क्योकि अचेतन पद के व्यवच्छेद्य चेतन को भी आप चेतनाधिष्ठित तो मानते ही है अतः वास्तव मे वह व्यवच्छेद्य ही नही रहा।

[अनवस्थादोष से पूर्वसिद्ध में अप्रामाण्य का ज्ञापन]

अधिष्ठाता के रूप मे ईश्वर की कल्पना करने पर जो अनवस्था दोष लगता है उसके सबन्ध मे पूर्वपक्ष मे जो कहा था .नये नये अधिष्ठाता की कल्पना मे यदि कोई प्रमाण विद्यमान हो तब तो अनवस्था को भी होने दो। किन्तु वैसा कोई प्रमाण नही है, क्योकि अनुमान प्रमाण से केवल एक ही अधिष्ठाता सिद्ध होता है [४०१-७] यह भी असगत हैं। क्योकि अनवस्था दोष के कारण अधिष्ठाता का प्रसाधक हेतु ही हेत्वाभासरूप हो जाता है। अत॰ अन्य प्रमाण के विना यदि इस हेत्वाभास से एक अधिष्ठाता की सिद्धि मानेगे तो उसीसे दूसरे की सिद्ध भी क्यो नही मानी जायेगी ? प्रथम अधिष्ठाता भी कही प्रमाणसिद्ध तो है नही क्योकि अधिष्ठाता का साधक जो प्रथम अनुमान है उसमे तो अनवस्था दोष से अप्रामाण्य प्रसक्त है।

[सर्वज्ञ की सिद्धि में आगम प्रमाण कैसे ?]

नैयायिक ने जो यह कहा है कि ईश्वरसिद्धि मे आगम भी प्रमाण है. [पृ० ४०२] यह भी ठीक नही क्योकि आगम तो ईश्वर रचित मानने पर ही प्रमाण माना जा सकेगा और तब उसके प्रामाण्य से ईश्वर सिद्ध हो सकेगा, किन्तु इस रीति से तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा। वैशेषिक और नैयायिक मत मे आगम प्रमाण को नित्य तो माना ही नही जाता जिससे कि इतरेतराश्रय दोष टाला जा सके। तथा आगम को यदि नित्य मानेंगे तो ईश्वर की कल्पना व्यर्थ हो पडेगी। इतरेतराश्रय दोष

कल्प्यते तदा तेषां तत्कार्यताप्रसक्तिः, तथा च यथा क्षेत्रज्ञानामात्मत्वेऽविशिष्टेऽपि कार्यता तथेश्वरस्यात्मत्वाऽविशेषाद् कार्यतेति तदधिष्ठायकोऽपरस्तत्कर्ताऽभ्युपगन्तव्यः, तत्राप्यपर इत्यनवस्था। अथ तस्य कार्यत्वे सत्यप्यनधिष्ठितस्यैव स्वकार्ये प्रवृत्तिस्तर्हि जगदुपादानादेरपि तदनधिष्ठितस्य प्रवृत्तिरिति व्यभिचारी अधिष्ठातृसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्तेनैव हेतुः।

अपि च, सत्तामात्रेण तस्य तदधिष्ठायकत्वे गगनस्येव न सर्वज्ञत्वम् इति सर्वज्ञत्वसाधकहेतोस्तद्विपर्ययसाधनाद् विरुद्धत्वम्। न च सर्वविषयज्ञानसमवायात् तत्र तस्यैव सर्वज्ञत्वं नाऽऽकाशादेरिति वक्तुं युक्तम्, समवायस्य निषिद्धत्वात्, सत्त्वेऽपि नित्यव्यापकत्वेनाकाशादावपि भावप्रसंगात्। न च समवायाऽविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेष इति वक्तुं शक्यम्, तद्विशेषस्यैवाऽसिद्धत्वात्, सिद्धत्वेऽपि समवायपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगादिति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न च सत्तामात्रेण तस्य तदधिष्ठायकत्वे ज्ञानमात्रमप्युपयोगि आस्तां सकलपदार्थसार्थकारकपरिज्ञानम्।

के भय से यदि यह कहे कि–ईश्वर की सिद्धि तत्कृत आगम से नही किन्तु अन्य ईश्वर रचित अन्य आगम से ही मानेंगे-तो वहा उस ईश्वर की सिद्धि और उसके आगम के प्रामाण्य की सिद्धि मे भी उपरोक्त वात की पुनरावृत्ति होने से वही इतरेतराश्रय दोष लौट आयेगा। यदि उस नये ईश्वर की सिद्धि के लिये भी अन्य ईश्वर रचित अन्य आगम को प्रमाण मानेंगे तो ऐसे नये नये ईश्वर और आगम की कल्पना का अन्त कहाँ होगा ? इस प्रकार, आगम से तो ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती, भले ही उसे स्वरूपार्थ मे प्रमाण माना जाय।

[सत्तामात्र से ईश्वराधिष्ठान की अनुपपत्ति]

यह जो कहा था-अपने विषय के ग्रहण मे प्रवृत्त क्षेत्रज्ञो का, ईश्वर केवल अपनी सत्तामात्र से ही अधिष्ठायक होता है। उदा०-उपाधि-आकार के ग्रहण मे प्रवृत्त स्फटिकादि का जैसे सूर्य-प्रकाश अधिष्ठायक होता है। [४०४-३]–यह बात गलत है, केवल सत्तामात्र से ईश्वर स्फटिकादि का अधिष्ठायक बने यह सभव नही है। असभव इस लिये कि ऐसे तो सत्तामात्र से आकाशादि भी स्फटिकादि के अधिष्ठायक होने की आपत्ति है। सूर्य प्रकाश तो इस लिये अधिष्ठायक कहा जा सकता है कि वह स्फटिक की अपने सपर्क से विशिष्ट अवस्था का जनक है। यदि क्षेत्रज्ञो मे ईश्वर का विशिष्टावस्थाजनकत्वरूप अधिष्ठायकत्व मान लिया जाय तब तो क्षेत्रज्ञो मे भी ईश्वर-जन्यत्व की आपत्ति होगी तब तो जैसे आत्मत्व समान होने पर भी क्षेत्रज्ञो मे कार्यत्व होगा वैसे आत्मत्व के समान होने से ईश्वर मे भी कार्यत्व होगा। अत. उसके भी जनकरूप मे अन्य ईश्वर-अधिष्ठायक को मानना पडेगा, फिर उसमे भी कार्यता की प्रसक्ति से अन्य ईश्वर की कल्पना का अन्त ही नही होगा। यदि कहे कि-उसमे कार्यत्व होने पर भी वह तो अन्य से अधिष्ठित हुये विना ही अपने कार्यो मे प्रवर्त्तेगा–तो फिर जगत् के उपादान कारणो की भी ईश्वर से अधिष्ठित हुये विना ही प्रवृत्ति मान लेने मे क्या कठिनाई है ? आपने जो अधिष्ठाता का साधक हेतु दिखाया है वह आप के ईश्वर मे ही व्यभिचारी बन जायेगा क्योकि वहा कार्यत्व तो आपने मान लिया और अन्य ईश्वर से अधिष्ठितत्व को नही माना।

[सत्तामात्र से अधिष्ठान में असर्वज्ञता]

तदुपरात, ईश्वर को केवल सत्तामात्र से ही अधिष्ठायक मान लेने पर गगन की तरह उसमे

यदप्युक्तम् 'ज्ञानस्य स्वविषयसदर्थप्रकाशत्वं नाम स्वभावः, तस्यान्यथाभावः कुतश्चिद्दोषसद्भावात्'-तत् सत्यमेव। यच्चोक्तम् 'यत् पुनश्चक्षुराद्यनाश्रितं न च रागादिमलावृतं तस्य विषयप्रकाशनस्वभावस्य'....इत्यादि, तदप्यसंगतम्, यतो न चक्षुराद्यनाश्रितं ज्ञानं परस्य सिद्धम्, तत्सिद्धौ चक्षुराद्यनाश्रितस्य ज्ञानस्येव सुखस्यापि सिद्धेरानन्दरूपता कथ मुक्तानां न सगच्छते येन 'सुखादिगुणरहितमात्मनः स्वरूपं मुक्तिः' इत्यभ्युपगमः शोभेत ? न च रागादेरावरणस्याभावो महेशे सिद्धः येन तज्ज्ञानमनावृतमशेषपदार्थविषयं तत्र सिद्धिमुपगच्छेत्, तत्स्वरूपस्यैवाऽसिद्धत्वात् तत्र रागाद्यभावप्रतिपादकस्याऽव्यभिचरितस्य हेतोस्त्वदभ्युपगमविचारणया दूरापास्तत्वाच्च।

यत्तूक्तम् विपर्यासकारणा रागादयः, विपर्यासश्चाऽधर्मनिमित्तः न च भगवत्यधर्मः. इति तदप्यसारम्, अधर्मवत् धर्मस्यापि तद्धेतोश्च सम्यग्ज्ञानादेस्तत्राऽसंभवस्य प्रतिपादितत्वात्। यच्चोक्तम्-रागादयः इष्टानिष्टसाधनेषु विषयेषूपजायमाना दृष्टा', न च भगवतः कश्चिदिष्टाऽनिष्टसाधनो विषयः, अवाप्तकामत्वात् इति तदप्यसारम्, यतो यदि इष्टानिष्टसाधनो न तस्य कश्चिद्विषय., कथ तर्हि असाविष्टाऽनिष्टोपादान-परिवर्जनार्थं प्रवर्त्तते, बुद्धिपूर्विकाया. प्रवृत्तेर्हेयोपादेयजिहासोपादित्सापूर्वकत्वेन

सर्वज्ञता भी नही रह सकेगी अत. सर्वज्ञ के अधिष्ठान का साधक हेतु उसके अभाव को ही सिद्ध करेगा इसलिये वह हेतु भी विरोधी हो गया। यह नही कह सकते कि-गगन और ईश्वर दोनो मे उक्त समानता होने पर भी सर्वविषयक ज्ञान का समवाय ईश्वर मे ही होता है अत एव ईश्वर मे ही सर्वज्ञता रहेगी, आकाशादि मे नही-ऐसा इस लिये नही कह सकते, कि समवाय का पहले ही निषेध किया जा चुका है। कदाचित् उसको मान लिया जाय तो भी वह नित्य और व्यापक होने से ईश्वरवत् गगन मे भी ज्ञान का समवाय अक्षुण्ण होने से सर्वज्ञता भी माननी होगी। यदि कहे कि-यद्यपि ईश्वर और आकाश दोनो में समवाय की समानता होने पर भी समवायिभूत ईश्वर और गगन ही अन्योन्य ऐसे विलक्षण है कि सर्वज्ञता केवल ईश्वर मे ही रहेगी-तो यह भी कहना शक्य नही। कारण, वह अन्योन्यविलक्षणता ही असिद्ध है। यदि उसको सिद्ध माने तो फिर समवाय की कल्पना ही निरर्थक हो जाने का आगे दिखाया जायेगा। तथा सत्तामात्र से ही अधिष्ठान मानने पर किसी भी ज्ञान की आवश्यकता ही नही रहती तो फिर सर्व पदार्थवृन्द के कारको के ज्ञान की भी क्या आवश्यकता रहेगी ? कुछ नही !

[इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानवत् मुक्ति में सुखादि की प्रसक्ति]

यह जो पूर्व पक्ष मे कहा था-अपने विषयभूत सदर्थ का प्रकाशत्व यह ज्ञान का स्वभाव है और किसी दोष के सद्भाव मे वह स्वभाव विपरीत हो जाता है [४०४-६]-यह तो ठीक ही है। किन्तु यह जा कहा है-जा नेत्रादि से निरपेक्ष एव रागादिमल से अनावृत ज्ञान होता है वह जब विषयप्रकाशनस्वभाववाला है तब विषयो के प्रकाशनसामर्थ्य मे कसे विघात हो सकता है ?-इत्यादि [४०४-७]-वह तो असगत ही है क्योकि आपके मत मे नेत्रादिनिरपेक्ष ज्ञान ही सिद्ध नही है। यदि नेत्रादिनिरपेक्ष ज्ञान को सिद्ध माना जाय तो फिर नेत्रादिइन्द्रियनिरपेक्ष सुख को भी सिद्ध मे मान लेने से मुक्तात्माओ में आनन्दरूपता क्यो सगत नही होगी ? फिर सुखादिगुणशून्य आत्मस्वरूप को मुक्ति मानना कैसे शोभास्पद कहा जायेगा ? तथा आपके ईश्वर मे रागादि आवरण का अभाव भी सिद्ध नही है जिससे कि उसमे अनावृत और सकलपदार्थविषयक ज्ञान की सिद्धि हो सके, क्योकि

व्याप्तत्वात् ? तदभावेऽपि प्रवृत्तावुन्मत्तकप्रवृत्तिवद् न बुद्धिपूर्वकेश्वरप्रवृत्ति स्यात्, हेयोपादेयजिहासोपादित्से अप्यनाप्तकामत्वेन व्याप्ते, अवाप्तकामस्य हेयोपादेयजिहासोपादित्साऽनुपपत्तेः।

अनाप्तकामत्वमप्यनीश्वरत्वेन व्याप्तम्, ईश्वरस्याऽनाप्तकामत्वाऽयोगात्, इति यत्र बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिरिष्यते तत्र हेयोपादेयजिहासोपादित्से अवश्यमंगीकर्त्तव्ये, यत्र च ते तत्रानाप्तकामत्वम्, यत्र च तत् तत्रानीश्वरत्वम् इति प्रसंगसाधनम्। ईश्वरत्वे चावाप्तकामत्वम्, अवाप्तकामत्वाच्च न हेयोपादेयविषये तद्धानोपादानेच्छा, तदभावे न बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिरिति प्रसंगविपर्यय। अत एव स्वतन्त्रसाधनपक्षे यदाश्रयासिद्धत्वादिहेतुदोषोद्भावनम् तदसंगतम्, व्याप्तिप्रसिद्धिमात्रस्यैवात्रोपयोगात्, सा च प्रतिपादिता। 'या तु प्रवृत्तिः शरीरादिसर्गे सा क्रीडार्था, अवाप्तकामानामेव च क्रीडा भवति' इति यदुक्तम् तदसंगतम्, "रतिमविन्दतामेव क्रीडा भवति, न च रत्यर्थी भगवान् दुःखाभावात्" इति [४-१ २१] वार्त्तिककृतैव प्रतिपादितत्वात्। यच्चोक्तम् न हि दुःखिताः क्रीडासु प्रवर्त्तन्ते इति- तत् प्रक्रमानपेक्षं वचनम् दुःखाभावेऽपि क्रीडावतां रागाद्यासक्तिनिमित्तेष्टसाधनविषयव्यतिरेकेण तस्याऽसम्भवात्।

एक तो ईश्वर का स्वरूप ही सिद्ध नहीं है और दूसरे, आप की मान्यता के ऊपर विचार करने पर तो उस में अव्यभिचरित रागादि-अभावसाधक हेतु भी कितना दूर भग जाता है।

[धर्म के विरह में सम्यग्ज्ञानादि का अभाव]

यह जो कहा था–रागादि का कारण विपर्यास है और विपर्यास का कारण अधर्म है। भगवान् मे अधर्म नही है [४०४-१०] इत्यादि वह भी असार है। कारण, अधर्म की तरह ईश्वर से धर्म भी न होने से तद्धेतुक सम्यग्ज्ञानादि का भी वहाँ असभव है यह पहले कहा है। तथा, यह जो कहा है–इष्ट और अनिष्ट के साधनभूत विषयो मे ही रागादि उत्पन्न होते हुए दिखते है। भगवान् को तो कोई इष्ट-अनिष्ट का साधनभूत विषय ही नही है क्योंकि वह कृतकृत्य है।...[४०४-१२] इत्यादि,–यह भी असार है, क्योंकि जब ईश्वर को कोई इष्टानिष्टसाधनभूत विषय ही नही है तो वह इष्ट के उपादान और अनिष्ट के वर्जन के लिये क्यो प्रवृत्ति करता है ? जो प्रवृत्ति बुद्धिपूर्वक की जाती है वह अवश्यमेव हेय की त्यागेच्छा से व्याप्त ही होती है यह नियम है। इसलिये यदि त्यागेच्छा और ग्रहणेच्छा के विना भी ईश्वर की प्रवृत्ति होगी तो वह बुद्धिपूर्वक नही किन्तु उन्मत्त लोगो की तरह उन्मादपूर्वक ही होगी। तदुपरात, हेय की त्यागेच्छा और उपादेय की ग्रहणेच्छा ये दोनो अनाप्तकामत्व–'अपूर्ण इच्छावत्त्व' से व्याप्त है, क्योंकि जिसकी सभी इच्छा समाप्त हो गयी है ऐसा समाप्तकाम जो होता है उसे हेय की त्यागेच्छा और उपादेय की ग्रहणेच्छा कभी शेष नही रहती।

[अनाप्तकामता से अनीश्वरत्व का आपादन]

तथा, अनाप्तकामता अनीश्वरत्व का व्याप्य है अर्थात् जहाँ अनाप्तकामता होगी वहाँ ऐश्वर्य नही होगा, क्योंकि जो ईश्वर होता है वह कभी अनाप्तकाम नही होता। इस प्रकार, ऐसा प्रसंगसाधन दिखाया जा सकता है कि जिसकी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति मानेंगे उसमे हेय की त्यागेच्छा और उपादेय की ग्रहणेच्छा अवश्य मानी होगी, ऐसी दो इच्छा मानेंगे उसमें अनैश्वर्य भी मानना होगा। इस प्रसंग का यह विपर्यय फलित होगा कि ईश्वर मे यदि अवाप्तकामता है तो उसमे हेयविषय की त्यागेच्छा और उपादेयविषय की ग्रहणेच्छा नही मान सकेंगे, और उक्त इच्छाद्वय के अभाव मे बुद्धि-

यच्च 'कारुण्यात् तस्य तत्र प्रवृत्तिः' इत्यादि, तदप्यनालोचिताभिधानम्, न हि करुणावतां यातनाशरीरोत्पादकत्वेन प्राणिगणदुःखोत्पादकत्वं युक्तम्। न च तथाभूतकर्मसव्यपेक्षस्तथा तेषां दुःखोत्पादकोऽसौ निमित्तकारणत्वात् तस्येति वक्तुं युक्तम्, तत्कर्मण ईश्वरानायत्तत्वे कार्यत्वे च तेनैव कार्यत्वलक्षणस्य हेतोर्व्यभिचारित्वप्रसगात्। तत्कृतत्वे वा कर्मणोऽभ्युपगम्यमाने प्रथमं कर्म प्राणिनां विधाय पुनस्तदुपभोगद्वारेण तस्यैव क्षयं विदधतो महेशस्याऽप्रेक्षाकारिताप्रसक्तिः, न हि प्रेक्षापूर्वकारिणो गोपालादयोऽपि प्रयोजनशून्यं विधाय वस्तु ध्वंसयन्ति। तन्न करुणाप्रवृत्तस्य कर्मसव्यपेक्षस्यापि प्राणिदुःखोत्पादकत्वं युक्तम्।

किंच प्राणिकर्मसव्यपेक्षो यद्यसौ प्राणिनां दुःखोत्पादक इति न कृपालुत्वव्याघातः-तर्हि कर्मपरतन्त्रस्य प्राणिशरीरोत्पादकत्वे तस्याभ्युपगम्यमाने वरं तत्फलोपभोक्तृमस्वस्य तत्सव्यपेक्षस्य तदुत्पादकत्वमभ्युपगन्तव्यम्, एवमदृष्टेश्वरपरिकल्पना परिहृता भवति।-'यथा प्रभुः सेवाभेदानुरोधात् फलप्रदो नाऽप्रभुः, तथा महेश्वरोऽपि कर्मापेक्षफलप्रदो नाऽप्रभुः'-इत्यप्ययुक्तम् यतो यथा राज्ञ सेवा-

---

पूर्वक प्रवृत्ति भी नही मानी जा सकेगी। इस प्रकार निर्दोष प्रसगसाधन और विपर्ययप्रदर्शन मे हमारा अभिप्राय होने से ही, स्वतन्त्रसाधन पक्ष मे जो आश्रयासिद्धि आदि हेतुदोषो का उद्भावन किया गया है वह असगत ठहरता है। क्योकि पक्षादि की आवश्यकता स्वतन्त्र साधन मे होती है किन्तु प्रसग-विपर्यय दिखाने मे नही होती। यहा तो केवल व्याप्ति प्रसिद्ध हो इतना ही उपयोगी है और वह तो दिखायी हुई है।

[क्रीड़ा के लिए ईश्वरप्रवृत्ति की बात अनुचित]

तथा यह जो कहा था-देहादि के सृजन मे ईश्वर की प्रवृत्ति क्रीडा के प्रयोजन से ही होती है और क्रीडा भी सपूर्ण अभिलषितवाले ही करते है...इत्यादि [पृ. ४०५] वह भी असगत ही है, क्योकि न्यायवार्त्तिककारने ही इस का यह कहते हुए खण्डन किया है "जिन को चैन नही पडता वे ही क्रीडा करते है, ईश्वर चैन-सुख का अर्थी नही क्योकि उसको कोई भी दुःख ही नही है।" तथा यह जो कहा है कि-दुखी लोग कभी क्रीडा मे सलग्न नही होते-यह तो प्रस्तावित अर्थ की उपेक्षा करके कहा है, क्योकि ईश्वर को दुःख भले न हो किंतु जो क्रीडा करने वाले हैं वे भी रागादि आसक्ति के निमित्तभूत जो इष्टसाधनभूत विषय है (जैसे बच्चो के लिये खिलौना आदि) उनके विना क्रीडा का सम्भव ही कहाँ है ? अतः ईश्वर को क्रीडार्थी मानने पर उसे इष्ट या अनिष्ट हो ऐसे विषयो को भी मानने की आपत्ति होगी।

[ईश्वर में करुणामूलक प्रवृत्ति असंगत]

यह भी जो कहा है-करुणा से देहादिसृजन मे ईश्वर की प्रवृत्ति होती है।-वह तो विना सोचे कह दिया है। जो करुणावन्त है वह यातनामय देह का सृजन करके प्राणिओं को दुःख उत्पन्न करे यह अघटित है। यदि कहे कि-जीवो के दुःखोत्पादक कर्मो की अधीनता से ईश्वर दुःख को उत्पन्न करता है, क्योकि वह तो केवल निमित्तकारण ही है-तो यह कहने लायक नही, यदि वे कर्म ईश्वर को आधीन यानी ईश्वरकृत नही है और कार्यभूत है तब तो कार्यत्व हेतु उन कर्मो मे ही अपने साध्य (सकर्तृकत्व) का द्रोही बन जाने का अतिप्रसग होगा। यदि इस के निवारणार्थ उन कर्मो को ईश्वर-कृत माना जाय तब तो ईश्वर मे प्रेक्षाकारित्व यानी बुद्धिमत्ता की हानि का प्रसंग होगा, क्योकि वह

ऽऽयत्तफलप्रदस्य रागादियोगः नैर्घृण्यम् सेवाऽऽयत्तता च प्रतीता तथेशस्याप्येतत् सर्वमभ्युपगमनीयम्, अन्यथाभूतस्यान्यपरिहारेण क्वचिदेव सेवके सुखादित्वानुपपत्तेः। तदेवं कर्मपरतन्त्रत्वे तस्यानीशत्वम्, करुणाप्रेरितस्य कर्तृत्वे "सृजेच्च शुभमेव सः" इति वार्त्तिककारीयदूषणस्य व्यवस्थितत्वम्।

यच्च 'नारक-तिर्यगादिसर्गोऽप्यकृतप्रायश्चित्तानां तत्रत्यदु खानुभवे पुनर्विशिष्टस्थानावाप्तावभ्युदयहेतुरिति सिद्धं दु खिप्राणिसृष्टावपि करुणया प्रवर्त्तनमीशस्य' इति, तदपि प्रतिविहितमेव, यतः कर्म प्राणिनां दुःखप्रदं विधाय तत्फलोपभोगविधानद्वारेण क्षयनिमित्तं प्राणिनामभ्युदय विदधतस्तस्याऽशुचिस्थानपतितगृहीतप्रक्षालितमोदकत्यागविधायिनो (?ना) (न?)समानबुद्धित्वप्रसक्तिः। अपि च, यदि प्राणिकर्मपरवशस्तेषां दुःखादिकं तत्क्षयनिमित्तप्रायश्चित्तकल्पमुपजनयतीत्यभ्युपगमस्तदा तत्कर्मकार्यत्वं तस्य प्रसक्तम्-तत्कृतोपकाराभावे तदपेक्षाया अयोगात्, उपकारस्य च तत्कृतस्य तद्भेदे तेन सम्बन्धायोगात्, अभिन्नस्य तत्करणे तस्यैव करणमिति कथं न तत्कार्यत्वम्?

पहले तो जीवो के कर्मों का सृजन करता है फिर उपभोग के द्वारा उनका ध्वस करवाता है, किंतु बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला गोप आदि कोई भी विना प्रयोजन वस्तुनिर्माण कर के उसका ध्वस नही करता है। इसलिये कर्मो की अधीनता से करुणापूर्वक ईश्वर प्राणिओ को दु.ख उत्पन्न करता है यह बात श्रद्धेय नही है।

[ईश्वर में कर्मपरतन्त्रता की आपत्ति]

तदुपरात, कर्मो की अधीनता से ईश्वर जीवो को दु.ख उत्पन्न करता है इसलिये कृपालुता खडित नही होती-इसका अर्थ तो यह हुआ कि आप जीवशरीर के उत्पादक ईश्वर को कर्मपरतन्त्र मानते है-इससे तो यह मानना अच्छा है कि कर्मफल के उपभोग करने वाले जीव ही कर्म की अधीनता से अपने अपने दु.खो के उत्पादक होते हैं, क्योंकि दु ख के कर्त्ता जीवसमूह प्रसिद्ध है, अत: अप्रसिद्ध ईश्वर की कल्पना नही करनी पडेगी। तथा यह जो आपने कहा है-मालिक जैसे भिन्न भिन्न प्रकार की सेवा को लक्ष्य मे रख कर भिन्न भिन्न फलदाता होता है, भिन्न फलदातृत्व से उसकी मालिकी मिट नही जाती, इसी तरह महेश्वर भी कर्म को लक्ष्य मे रखकर फलदाता माना जाय तो उसके प्रभुत्व की कोई हानि नही होती-[पृ. ४०६] यह भी अघटित है, क्योंकि सेवाधीन फल देने वाले राजादि मे जैसे रागादियोग, निर्दयता और सेवापरतन्त्रता अनिवार्य है। उसी तरह ईश्वर मे भी ये सब मानने होगे। यदि ईश्वर सेवापरतन्त्र नही होगा तो वह किसी एक सेवाकादि को ही सुख प्रदान करे और सेवा न करने वाले को सुख प्रदान न करे ऐसा पक्षपात घटेगा नही। निष्कर्ष, ईश्वर को कर्मसापेक्ष कर्त्ता मानने मे ऐश्वर्य खण्डित होगा और यदि करुणामूलक कर्तृत्व मानेगे तो श्लोकवार्त्तिककारने जो यह दूषण दिया था [द्र०पृ० ४०६] कि 'एकमात्र सुखात्मकसर्ग का ही वह सृजन करेगा' वह तदवस्थ ही रहेगा।

[दुखसृष्टि में करुणामूलकता की असंगति]

तथा यह जो कहा था [४०७/२]-नारक-तिर्यंचादि गति का उत्पादन भी प्रायश्चित्त न करने वालो को वहाँ दु खानुभव के पश्चात् विशिष्टस्थान की प्राप्ति द्वारा आबादी का ही परम्परया हेतु है-अत' यह सिद्ध हुआ कि दुखी जीवो की सृष्टि मे भी ईश्वर की प्रवृत्ति करुणामूलक ही है-इसका तो प्रतिकार हो ही चुका है। कारण, ईश्वर पहले जीवो के दु.खप्रद कर्म का सृजन करता है, बाद मे जीवो को

अथ यद् यदा यत्र कर्मादिकं सहकारिकारणमासादयति तेन सह संभूय तद् तदा तत्र सुखादिकं कार्यं जनयति, एककार्यकारित्वमेव सहकारित्वमिति न कार्यत्वलक्षणस्तस्य दोषः। ननु कर्मादिसहकारि-सव्यपेक्षः कार्यजननस्वभावस्तस्य कर्मसहकारिसंनिधानाद्यदि प्रागप्यस्ति तदा-सहकारिसंनिधानेऽपि स्वरूपेणैवाऽसौ कार्यं निर्वर्त्तयति पररूपेण जनकत्वे सर्वस्य स्वरूपेणाऽजनकत्वात् कार्यानुत्पादप्रसंगः, तस्य चाऽविकलस्य तज्जननस्वभावस्य भावादुत्तरकालभाविसमस्तकार्योत्पत्तिस्तदैव स्यात्। तथाहि-यद् यदा यज्जननसमर्थं तद् तदा तद् जनयत्येव यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्तं बीजमङ्कुरम्, अजनने वा तदा तस्य तद् जननस्वभावमेव न स्यात्, तज्जननस्वभावश्च कर्मादिसामग्र्यसंनिधानेऽप्येकस्वभावतयाऽभ्युपगम्यमानो महेश इति स्वभावहेतुः।

अथ कर्मादिसामग्र्यभावे तत्स्वभावोऽप्यसौ विवक्षितकार्यं न जनयति, न तर्हि तज्जनकस्वभावः-यो हि यदा यन्न जनयति स तज्जनकस्वभावो न भवति, यथा शालिबीजं यवांकुरस्य, अतज्जनकस्यापि तत्स्वभावत्वेऽतिप्रसंगः, न जनयति च कर्मादिसामग्र्यभावे विवक्षितं कार्यमीश इति व्यापकानुपलब्धिः। अथ कर्मादिसामग्र्यभावे स स्वभावस्तदपेक्षकार्यजनकत्वलक्षणो नास्ति तर्हि स्वभाव-

---

उसका फलोपभोग करवाता है जिससे कि उस कर्म का नाश हो जाय, फिर विशिष्टस्थान प्राप्ति द्वारा जीवो का अभ्युदय करता है-जैसे कि कोई व्यक्ति पहले मिष्ट लड्डु को अशुचि मे डालता है फिर उसको बाहर निकाल कर शुद्ध करता है फिर उसको छोड देता है, ऐसे व्यक्ति की बुद्धि और ईश्वर की बुद्धि मे क्या असमानता हुयी ? तथा, यदि वह प्राणिओं के कर्म को परवश बन कर प्राणिओ के दुख को उत्पन्न करता है अथवा दुःखजनक कर्म क्षयहेतु प्रायश्चित्तसहिता की रचना करता है तो ऐसे ईश्वर मे तथाविध कर्म की कार्यता भी प्रसक्त होगी। क्योकि कर्मो के ईश्वर के ऊपर कुछ न कुछ उपकार के विना ईश्वर मे कर्म की अपेक्षा नही घट सकती। तथा, उपकार के द्वारा कार्यता इस रीति से होगी यह कर्मकृत उपकार यदि ईश्वर से भिन्न ही होगा तो ईश्वर के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नही घटेगा, इसलिये यदि उपकार को अभिन्न मानेगे तो तदभिन्न ईश्वर भी कर्मकृत हो जाने से वह कर्म का कार्य क्यो नही होगा ?

[सहकारी संनिधान से सुखादिकर्तृत्व के ऊपर विकल्प]

यदि यह कहा जाय कि-जब जहाँ जो जो कर्मादि सहकारी कारण उपस्थित हो जाते हैं उनके साथ मिलकर ईश्वर वहाँ उस वक्त सुखादि कार्य को करता है। एक दूसरे से मिलकर किसी एक कार्य को करना यही सहकारित्व है, आपने जो उपकाररूप कार्यत्व यह सहकारित्व का अर्थ किया है वैसा नही है। अत ईश्वर मे कोई कार्यत्वापत्तिरूप दोष नही है।-तो इसके उपर प्रश्न है कि इस प्रकार का कर्मादिसहकारिसापेक्ष जो ईश्वर मे कार्योत्पादनस्वभाव है वह कर्मादिसहकारि की उपस्थिति के पूर्व भी था या नही ? यदि विद्यमान था, तब सहकारि के सनिधान मे भी ईश्वर अपरावृत्त स्वस्वभाव से ही कार्य का जनक सिद्ध हुआ, क्योकि यदि परस्वरूप से किसी को कार्यजनक मानगे तो सभी मे स्वस्वरूप से कार्य की अजनकता का प्रसग होने से कार्य की अनुत्पत्ति का प्रसग आयेगा। ईश्वर मे तो स्वस्वरूप से कार्यजननस्वभाव सहकारी-उपस्थिति के पहले भी जैसा था वैसा अक्षुण्ण ही है अतः उत्तरकाल मे होने वाले सभी कार्यो की एक साथ उसी वक्त उत्पत्ति हो जायेगी। जैसे देखिये-जो जब जिसके उत्पादन मे समर्थ होता है वह उस वक्त उसे उत्पन्न करता ही है, जैसे अन्त्यावस्था को प्राप्त अर्थात् चरमक्षणवर्त्ती बीज, अकुर के उत्पादन मे समर्थ होता है तो वह उसे उत्पन्न

भेदात् कथं न तस्य भेदः अपरस्य तन्निबन्धनस्याभावात् ? तथा च क्रमवत्यनेकमंकुरादिकार्यं नाऽक्रमैकेश्वरविहितमिति नैकत्वं तस्य सिद्धिमासादयति । तन्न सर्वज्ञत्वाऽशरीरित्वैकत्वादिधर्मयोगस्तस्य सिद्धिमुपढौकते । नापि कृत्रिमज्ञानसम्बन्धित्वं तज्ज्ञानस्य प्रत्यर्थनियमाभावात्' इत्यादि यदुक्तम् तदपि निरस्तम्, नित्यसर्वपदार्थविषयज्ञानसम्बन्धित्वस्य तत्र प्रतिषिद्धत्वात् ।

यच्च-'यथा स्थपत्यादीनां महाप्रासादादिकरणे एकाभिप्रायनियमितानामैकमत्यं तद्वदत्रापि यदि क्षित्याद्यनेककार्यकरणे बहूनां नियामकः कश्चिदेकोऽस्ति, स एवेश्वरः' इत्युक्तम्, तदप्यसंगतम्, यतो न ह्ययं नियमः-एकेनैव सर्वं कार्यं निर्वर्त्तनीयम् एकनियमितैर्वा बहुभिरिति, अनेकधा कार्यकर्तृत्वदर्शनात् । तथाहि-a क्वचिदेक एवैककार्यस्य विधाता उपलभ्यते यथा कुविन्दः कश्चिदेकस्य पटस्य, b क्वचिदेक एव बहूनां कार्याणाम् यथा घट-शरावोदञ्चनानामेकः कुलालः 'c क्वचिदनेकोऽप्यनेकस्य यथा घट-पट-शकटादीनां कुलालादिः, d क्वचिदनेकोऽप्येकस्य यथा शिबिकोद्वहनादेरनेकः पुरुषसंघातः । न च प्रासादादिलक्षणेऽप्यनेकस्थपत्यादिनिर्वर्त्येऽवश्यतयैकसूत्रधारनियमितानां तेषां तत्र व्यापार

करता ही है । यदि वह उसे उत्पन्न न करेगा तो उसमे उस वक्त तज्जननस्वभाव ही नही हो सकेगा । सर्वदा एक स्वभाववाला ईश्वर तो कर्मादिसामग्रीसंनिधान के पहले भी सर्वकार्यो के प्रति उत्पादक स्वभाववाला ही है अतः इस स्वभावात्मक हेतु से, ईश्वर से एक साथ सर्वकार्यो की उत्पत्ति की आपत्ति आयेगी ।

[ईश्वर में स्वभावभेदापत्ति]

अब यदि ऐसा कहे कि-ईश्वर मे वैसा स्वभाव होने पर भी कर्मादि सामग्री के अभाव में वह प्रस्तुत कार्य को उत्पन्न नही करता है-तब तो कहना होगा कि वह उस कार्य के जनकस्वभाववाला नही है । यह नियम है कि जब भी जो जिस कार्य को उत्पन्न नही करता उस समय वह तत्कार्य के जनकस्वभाववाला नही होता जैसे शालीबीज यव-अकुर के जनकस्वभाववाला नही होता । यदि तत्कार्य के अजनक को भी तत्कार्य के प्रति जनकस्वभाववाला मानेंगे तो यवांकुर का अजनक भी शालीबीज यवजनकस्वभाववाला माना जा सकेगा, यह अतिप्रसग होगा । (प्रस्तुत मे) कर्मादिसामग्री के अभाव में ईश्वर विवक्षित कार्य को नही उत्पन्न करता है अत इस व्यापक की अनुपलब्धिरूप हेतु से उस मे व्याप्यभूत तत्कार्यजनकस्वभाव का अभाव ही सिद्ध होगा ।

यदि कहे कि कर्मादिसामग्री के अभाव मे हम कर्मादिसापेक्ष जनकत्वस्वभाव का अभाव ही मानते है तब तो कर्मादि सहकारि के सनिधान मे उसका यह स्वभाव बदल जाने से, स्वभावभेद प्रयुक्त व्यक्तिभेद भी ईश्वर मे क्यो प्रसक्त नही होगा ? स्वभावभेद के बिना अन्य कोई व्यक्तिभेद का प्रयोजक नही है । व्यक्तिभेद सिद्ध होने पर यह कहा जा सकता है कि-क्रमिक अनेक अकुरादि कार्यो को अक्रमिक एक ईश्वर नही कर सकता, फलत अकुरादि कार्यो को करने वाले एक ईश्वर की सिद्धि नही हो सकेगी । सारांश, ईश्वर मे सर्वज्ञता, अशरीरित्व, एकत्व आदि धर्मो का योग सिद्धिपदारूढ नही है । अत. यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था-कृत्रिमज्ञान सम्बन्धिता रूप विशेष भी ईश्वर मे सिद्ध नही हो सकता क्योकि कृत्रिमज्ञान मे अमुक ही अर्थ की विषयता का नियम नही हो सकता-[४०७-५] यह भी निरस्त हो जाता है, क्योकि ईश्वर मे सकलपदार्थविषयक नित्यज्ञान का सम्बन्ध नही घट सकता यह पहले कह आये है ।

उपलब्धः, प्रतिनियताभिप्रायाणामप्येकसूत्रधाराऽनियमितानां तत्करणाऽविरोधात् इति नैकः कर्त्ता क्षित्यादीनां सिद्धिमासादयति। अत एव न तन्निबन्धना सर्वज्ञत्वसिद्धिरपि तस्य युक्ता।

तदेवं नित्यत्वादिविशेषसाकल्यसाधकानुमानाऽसंभवात् तद्विपर्ययसाधकस्य च प्रसंगसाधनस्य तत्र भावात् कथं न विशेषविरुद्धावकाश ? अथ शरीरादिमद्बुद्धिमत्कारणत्वव्याप्तं यदि क्षित्यादौ कार्यत्वमुपलभ्येत तदा ततस्तत्र तत् सिद्धिमासादयत् तथाभूतमेव सिध्येदिति भवेत् कार्यत्वादेर्विरुद्धत्वम्, साध्यविपर्ययसाधनात्, न च तथाभूत तत् तत्र विद्यत इति कथं विरुद्धता ? न, परप्रसिद्धपक्षधर्मत्वम् विपर्ययव्याप्तिं वाऽऽश्रित्य विरुद्धताभिधानात्। परमार्थतस्तु कार्यत्वविशेषस्य क्षित्याद्यावसिद्धत्वम् तत्सामान्यस्य त्वनैकान्तिकत्वम् इति प्रतिपादितम्। सर्वेषु चेश्वरसाधनायोपन्यस्तेष्वनुमानेष्वसिद्धत्वादिदोषः समान इति कार्यत्वदूषणेनैव तान्यपि दूषितानि इति न प्रत्युच्चार्य दूष्यन्ते। महेश्वरस्य च नित्यत्वं तद्वादिभिरभ्युपगम्यते, न चाऽक्षणिकस्य सत्त्वं संभवति इति प्रतिपादयिष्याम.।

[शिबिकावहनादि एक कार्य की अनेक से उपपत्ति]

यह जो कहा है-महान् राजभवन आदि के निर्माण मे लगे हुए अनेक शिल्पीयो मे किसी एक नियामक व्यक्ति के अभिप्राय से ही ऐकमत्य (तुल्याभिप्रायता) होता है, उसी तरह प्रस्तुत मे भी पृथ्वी आदि अनेककार्यो के निर्माण मे लगे हुए अनेक व्यक्तियो का भी कोई एक नियामक होना जरूरी है और वही ईश्वर है'-[४०८-४] वह भी असगत है। कारण, ऐसा नियम ही नही है कि सर्व कार्यो को करनेवाला कोई एक ही होना चाहिये अथवा अनेक करने वाले हो तो उसका कोई एक नियामक होना ही चाहिये। कार्यकर्त्ताओ मे अनेक प्रकार देखे जाते हैं, जैसे: a कभी तो एक कार्य का एक ही निर्माता होता है जैसे एक वस्त्र का एक जुलाही। b कभी अनेक कार्यो का एक निर्माता होता है जैसे घट-शराव-उदंचनादि कार्यो का एक कुम्हार। c कभी अनेक कार्यो के अनेक निर्माता होते है जैसे घट-वस्त्र और बैलगाडी आदि का कुम्हार, जुलाहा, सुथार। d कभी एक ही कार्य के अनेक कर्त्ता होते हैं जैसे एक ही शिबिका-वहन कार्य मे अनेक सेवक लगे होते है। तथा, राजभवनादि अनेक शिल्पी सपाद्य कार्य मे भी एक सूत्रधार से नियन्त्रित होकर ही वे सभी भवननिर्माण-के लिये उद्यम करते हो ऐसा नियम नही देखा गया। क्योकि एकसूत्रधार का नियन्त्रण न होने पर भी परस्पर मिलकर किसी एक निश्चित अभिप्रायवाले बनकर भवनादि का निर्माण वे कर सकते हैं-इस मे कोई विरोध नही है। अत. एक सूत्रधार की कल्पना के दृष्टान्त से पृथ्वी आदि के एक कर्त्ता की सिद्धि होना दुष्कर है। फलत, एककर्तृमूलक सर्वज्ञता की सिद्धि भी ईश्वर मे अयुक्त है।

[नित्यत्वादिविशेष के विरुद्ध अनुमानों का औचित्य]

उपरोक्त चर्चा से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर मे नित्यत्व सर्वज्ञत्वादि सकल विशेषो का साधक कोई बलिष्ठ अनुमान संभव नही है, दूसरी ओर असर्वज्ञत्वादि का साधक प्रसगसाधनादिरूप अनुमान प्रमाण विद्यमान है-अत. इस प्रश्न का कोई उत्तर नही है कि-विशेषविरुद्ध अनुमानो को क्यो अवकाश नही ? यदि कहे-"पृथ्वी यदि मे सशरीरिबुद्धिमत्कर्तृकत्व का व्याप्य ऐसा कर्तृत्व यदि उपलब्ध होता तब तो वहाँ कर्त्ता सिद्ध होने के साथ शरीरी कर्त्ता की ही सिद्धि हो जाती, फलतः अशरीरीकर्त्ता से विपरीत शरीरीकर्त्ता की सिद्धि करने वाला हेतु कार्यत्व, विरुद्ध नामक हेत्वाभास बन जाता, किन्तु बात यह है कि शरीरिबुद्धिमत्कर्तृकत्व का व्याप्यभूत कार्यत्व पृथ्वी आदि मे उपलब्ध

'यच्च पृथ्व्यादिमहाभूतानि स्वासु क्रियासु बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्त्तन्ते अनित्यत्वात्, वास्यादिवत्' इति, तत्र कुलालादिबुद्धावप्यनित्यत्वलक्षणस्य हेतोः सद्भावात्तत्राप्यपरबुद्धिमत्कारणाधिष्ठितत्वप्रसक्तिः, तथाऽभ्युपगमे महेशबुद्धेरप्यनित्यत्वस्य प्रसाधनात् तस्याप्यपरबुद्धिमदधिष्ठितत्वम्, तद्बुद्धावप्येवम् इत्यनवस्था। अथ बुद्धेरनित्यत्वे सत्यपि न बुद्धिमदधिष्ठितत्वं तदा व्यभिचारी हेतुः, अपरं चात्र प्रतिविहितत्वान्नाशंक्यते। यच्च कार्यत्वहेतोर्दूषणमसिद्धत्वादि तदत्रापि समानम्। तथाहि-यादृशमनित्यत्वं बुद्धिमदधिष्ठितं(त)वास्यादौ सिद्धं तादृशं तन्वादिष्वसिद्धम्। अनित्यत्वमात्रस्य प्रतिबन्धाऽसिद्धेर्व्यभिचारः। प्रतिबन्धाभ्युपगमे सतीष्टविपरीतसाधनाद् विरुद्धत्वम्। साधर्म्यदृष्टान्तस्य साध्यविकलता, नित्यैकबुद्धिमदधिष्ठितत्वेन साध्यधर्मेणान्वयासिद्धेः। सामान्येन साध्ये सिद्धसाध्यता, विशेषेण व्यभिचारः, घटादिष्वन्यथादर्शनादिति। एवं सर्वेषु प्रकृतसाध्यसाधनायोपन्यस्तेषु हेतुषु योज्यम्।

ही नही है, तो फिर उसे विरुद्ध कैसे कहा जाय ?"-तो यह ठीक नही है, क्योंकि प्रतिवादी ने जिस कार्यत्व हेतु का पृथ्वी आदि पक्ष मे उपन्यास किया है उसी हेतु में हम विरुद्धता का आपादन करते हैं, अथवा प्रतिवादी को कार्यत्व हेतु मे जिस प्रकार के साध्य की व्याप्ति अभिमत है उससे विपरीत साध्य की व्याप्ति का हेतु मे प्रसंजन दिखाकर हम कार्यत्व हेतु को विरुद्ध कह रहे है। वास्तव मे तो यही कहना है कि यदि घटादि मे प्रसिद्ध कृतबुद्धिजनक कार्यत्वविशेष को हेतु किया जाय तो वह पृथ्वी आदि में असिद्धदोषग्रस्त है और यदि सामान्यतः कार्यत्व को हेतु किया जाय तो वह विना कृषि के उत्पन्न वृक्षादि में अनैकान्तिकदोषग्रस्त है यह तो हमने पहले ही कह दिया है।

तथा ईश्वर की सिद्धि मे जो जो अनुमान दिखाया जाता है उन सभी में असिद्धत्वादि दोष तो समानरूप से प्रसक्त है अतः कार्यत्वहेतु के दोष दिखा देने से उन अनुमानो के दोष भी प्रदर्शित हो जाते है, अत एक को लेकर दोष दिखाने की आवश्यकता नही रहती। तदुपरात, ईश्वरवादीवृंद महेश्वर को नित्य मानते हैं, किन्तु जो क्षणिक(=अनित्य) नही है उसकी सत्ता भी दुर्घट है यह हम अग्रिम ग्रन्थ मे दिखाने वाले हैं।

[अनित्यत्वहेतु से बुद्धिमदधिष्ठितत्व की असिद्धि]

यह जो कहा है-पृथ्वी आदि महाभूत बुद्धिमत्कारण से अधिष्ठित होकर ही अपनी अपनी क्रियाओ मे सलग्न होते हैं क्योंकि अनित्य है, जैसे अनित्य कुठार बढई से अधिष्ठित होकर ही छेदन क्रिया मे सलग्न होते हैं। [पृ. ४०१-५]-इसके ऊपर यह आपत्ति है कि कुम्हार की बुद्धि में अनित्यत्व हेतु विद्यमान होने से उसमे भी एक अन्य बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितत्व की प्रसक्ति होगी। यहाँ सिद्धसाधन कर लेने पर ईश्वरबुद्धि मे भी पूर्वोक्त प्रकार से अनित्यत्व सिद्ध होने से अन्य बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितत्व की आपत्ति होगी, फिर उस नये कल्पित ईश्वर मे भी अन्य अन्य बुद्धिमत् अधिष्ठाता की कल्पना का अन्त नही आयेगा। यदि कहे कि-हम बुद्धि को अनित्य होने पर भी बुद्धिमान् से अधिष्ठित नही मानेंगे-तो अनवस्था दोष निकल जाने पर भी बुद्धिमत्कारणाधिष्ठानसाधक अनित्यत्व हेतु बुद्धि मे ही साध्यद्रोही बन जायेगा। यहा जो अन्य बचाव शक्य है उसका पहले ही प्रतिकार हो गया है अतः उसको पुन. पुनः आशका के रूप में प्रस्तुत कर उसके प्रतिविधान की आवश्यकता नही।

यच्च-'स्थित्वा प्रवृत्तेः' इति साधनमुक्तम्, तत्रान्यदपि दूषणं वाच्यं-सर्वभावानामुदयसमनन्तराऽपवर्गितया क्षणमात्रमपि न स्थितिरस्ति इति कुत स्थित्वा प्रवृत्तिः? तस्मात् प्रतिवाद्यसिद्धो हेतुः अनैकान्तिकश्चेश्वरेणैव। यतः सोऽपि क्रमवत्सु कार्येषु स्थित्वा प्रवर्त्तते अथ च नासौ चेतनावताऽधिष्ठित अनवस्थाप्रसंगात्। अथ 'अचेतनत्वे सति' इति सविशेषणो हेतुरुपादीयते यथा प्रशस्तमतिनोपन्यस्तस्तथापि संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकतयाऽनैकान्तिकत्वमनिवार्यम्-यदेव हि विशेषणं विपक्षाद्धेतुं निवर्त्तयति तदेव न्याय्यम्, यत् पुनर्विपक्षे सदेहं न व्यावर्त्तयति तदुपादानमप्यसत्कल्पम्, पूर्वोक्तश्चासिद्धतादिदोषः सविशेषणत्वेऽपि तदवस्थ एव। यच्चोक्तम् 'सर्गादौ व्यवहारश्च' इत्यादि, तत्रापि 'उत्तरकालं प्रबुद्धानाम्' इत्येतद् विशेषणमसिद्धम्। तथाहि-नास्मन्मते प्रलयकाले प्रलुप्तज्ञान-स्मृतयो वितनु-करणाः पुरुषाः संतिष्ठंते किन्त्वाभास्वरादिषु स्पष्टज्ञानातिशययोगिषु देवनिकायेषूत्पद्यन्ते, ये तु प्रतिनियतनिरयादिविपाकसंवर्तनीयकर्माणस्ते लोकधात्वन्तरेषुत्पद्यन्ते इति मतम्। विवर्त्तकालेऽपि तत एव आभास्वरादेश्च्युत्वा इहाऽलुप्तज्ञानस्मृतय एव संभवन्ति, तस्मात्-'उत्तरकालं प्रबुद्धानाम्' इति विशेषणमसिद्धम्। अनैकान्तिकश्च हेतुः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।

[अनित्यत्वहेतु में असिद्ध-विरुद्धादि दोष प्रसंग]

उपरात कार्यत्व हेतु मे जो असिद्धत्वादि दूषण लगाये है वे यथासम्भव यहाँ अनित्यत्व हेतु मे भी समानरूप से लग सकते है। जैसे देखिये-बुद्धिमत् से अधिष्ठित कुठारादि मे जैसा अनित्यत्व प्रसिद्ध है वैसा अनित्यत्व देहादि मे सिद्ध नही है। और सामान्यतः अनित्यत्व को हेतु माने तो उसमे बुद्धिमदधिष्ठितत्व की व्याप्ति ही सिद्ध नही है क्योकि विना कृषि के उत्पन्न अनित्य वनस्पति आदि मे हेतु व्यभिचारी है। कदाचित् व्याप्ति भी मान ली जाय तो भी सर्वज्ञतादि विशेषो के विपरीत असर्वज्ञतादि का साधक होने से अनित्यत्व हेतु विरुद्ध दोप से ग्रस्त है। तथा साधर्म्यदृष्टान्त के रूप मे उपन्यस्त कुठार मे तो अनित्यबुद्धिमदधिष्ठित्व होने से नित्यबुद्धिमदधिष्ठितत्वरूप साध्य का विरह ही रहेगा क्योकि कुठार मे जो अनित्यत्व है उसमे साध्यधर्मभूत नित्यैकबुद्धिमदधिष्ठितत्व के साथ अन्वयव्याप्ति ही असिद्ध है। यदि सामान्यतः बुद्धिमदधिष्टितत्व ही सिद्ध करना हो तो यह प्रतिवादी के मत मे सिद्ध होने से सिद्धसाधन दोप लगेगा। यदि विशेषरूप से (नित्यबुद्धिमत् रूप से) साध्य किया जाय तो घटादि मे व्यभिचार होगा क्योकि विशेषरूप से विपरीत अनित्यबुद्धिमत् का अधिष्ठान ही वहाँ दिखता है। इस प्रकार नित्यबुद्धिमत् साध्य की सिद्धि के लिये उपन्यस्त सभी हेतुओ मे विरुद्ध और व्यभिचार दोष की योजना की जा सकेगी।

उद्योतकर ने जो यह प्रमाण दिखाया था-भुवनहेतुभूत प्रधान परमाणु आदि बुद्धिमान् से अधिष्ठित होकर अपने कार्यो को उत्पन्न करते है क्योकि अवस्थित रह कर प्रवृत्ति करते है [४११-५] -इसमे अवस्थित रह कर-इस हेतु मे अन्य भी एक दूषण कह सकते हैं कि जब भावमात्र उत्पत्ति के दूसरे क्षण मे ही नाशाभिमुख है तब एक क्षण भी उसकी स्थिति असम्भव है तो फिर अवस्थित रह कर कार्य के लिये प्रवृत्ति की बात ही कहाँ? [उत्पत्तिक्षण और नाशक्षण के मध्य कोई स्थिति क्षण है नही इसलिये क्षणमात्र भी स्थिति न होने का कहा है]। अत. 'स्थित्वा प्रवृत्तेः' यह हेतु प्रतिवादी के प्रति असिद्ध है। इतना ही नही, ईश्वर मे वह अनैकान्तिक भी है क्योकि वह अवस्थित रह कर ही क्रमिक कार्यो मे प्रवृत्त होता है किन्तु वह कोई अन्य चेतनावन्त से अधिष्ठित नही है क्योकि वैसा माने तो नये नये अधिष्ठायक ईश्वर की कल्पना का अन्त नही आयेगा। यदि कहे कि-'अचेतन है

किं च, अन्योपदेशपूर्वकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता, अनादेर्व्यवहारस्य सर्वेषामेवान्योपदेशपूर्वकत्वस्येष्टत्वात्। अथेश्वरलक्षणपुरुषोपदेशपूर्वकत्वं साध्यते तदाऽनैकान्तिकता, अन्यथापि व्यवहारसंभवात्, दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता। एतच्चान्यहेतुसामान्यं दूषणं पूर्वमुक्तम्। विरुद्धश्च हेतुः अभ्युपेतबाधा च प्रतिज्ञायाः, निर्मुखस्योपदेष्टृत्वाऽसंभवात् यदि ईश्वरोपदेशपूर्वकत्वं व्यवहारस्य संभवेत् तदा स्यादविरुद्धता हेतोः यावताऽसौ विगतमुखत्वादुपदेष्टा न युक्तः, तच्च विमुखत्वं वितनुत्वेन तदपि धर्माधर्मविरहात्, तथा चोद्द्योतकरेणोक्तम्-"यथा बुद्धिमत्तायामीश्वरस्य प्रमाणसंभवः नैवं धर्मादिनित्यत्वे प्रमाणमस्ति" [न्या० वा. ४-१-२१] इति। तस्मादीश्वरस्योपदेष्टृत्वाऽसंभवात् तदुपदेशपूर्वकत्वं व्यवहारस्य न सिध्यति किन्त्वीश्वरव्यतिरिक्तान्यपुरुषोपदेशपूर्वकत्वम्, अत इष्टविघातकारित्वाद् विरुद्धो हेतुः।

और अवस्थित रह कर प्रवृत्ति करता है इसलिये' ऐसा विशेषणयुक्त हेतु करेंगे जैसे कि प्रशस्तमतिने किया है तो यह हेतु ईश्वर मे नही रहने से साध्यद्रोही नही बनेगा-तो यहाँ निवेदन है कि पूर्वोक्त साध्यद्रोह न रहने पर भी, इस प्रकार का हेतु विपक्ष मे से निवृत्त है या नही-ऐसा सदेह सावकाश होने से हेतु मे विपक्षव्यावृत्ति सदिग्ध होने से सदिग्धानैकान्तिकत्व दोष तो लगेगा ही। कारण, विना किसी प्रयत्न से उत्पन्न मेघादि मे हेतु के रहने पर भी वह बुद्धिमान् से अधिष्ठित है या नही इस सदेह का कोई निवर्त्तक पुष्ट तर्क न होने से मेघादि ही विपक्षरूप मे सदिग्ध हो जाता है और उसमे हेतु रहता है। तथा 'अचेतन है' ऐसा विशेषण लगा देने मात्र से हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति सिद्ध नही हो जाती। अत. जो विशेषण हेतु को विपक्ष से निवृत्त करे वैसा ही विशेषण न्याययुक्त है, जो विपक्ष मे संदेह की निवृत्ति न करे उसका प्रयोग करना मिथ्या है [यह पहले भी कहा है-] तदुपरात उक्त, विशेषण लगाने पर भी पूर्वोक्त रीति से असिद्ध-विरुद्धादि दोष तो यहाँ भी ज्यो के त्यो हैं।

['उत्तरकाल में प्रवुद्ध' होने की वात असिद्ध है]

तथा प्रशस्तमति ने जो यह अनुमान किया था-सृष्टि के प्रारम्भ मे होने वाला व्यवहार अन्य के उपदेश से होता है क्योकि उत्तरकाल मे प्रवुद्ध होने वालो का वह व्यवहार प्रति अर्थ नियत होता है [पृ०४१२]-यहाँ भी 'उत्तरकाल मे प्रवुद्ध' यह विशेषण प्रतिवादी के प्रति असिद्ध है। कारण, हमारे सिद्धान्त मे ऐसा नही है कि-प्रलयकाल मे जीववर्ग ज्ञान और स्मृति को खो देते ही हैं और शरीर-इन्द्रिय से विमुक्त रहते हैं' किन्तु हमारा सिद्धान्त तो यह है कि उस काल मे पुण्यशाली जीववर्ग अत्यन्तभास्वररूपवाले और स्पष्ट ज्ञानातिशय वाले देवनिकायो मे उत्पन्न होते हैं, अथवा नियत प्रकार के नरकादि फलो को देने वाले पाप कर्म जिन्होने किया है वे लोकवातु के (नरको के) मध्य मे उत्पन्न होते हैं। और वहाँ फलभोग काल समाप्त होने पर आभास्वरादि स्थान से वाहर निकल कर इस लोक मे ज्ञान और स्मृति सहित ही उत्पन्न होते है इस प्रकार प्रलयकाल मे वे मूच्छित थे और वाद मे प्रवुद्ध वने यह वात हमारे मत मे असिद्ध है। तथा इस हेतु मे भी हेतु की विपक्ष से निवृत्ति सदेहग्रस्त होने से हेतु मे अनैकान्तिकत्व दोष लगेगा।

[व्यवहार में ईश्वरोपदेशपूर्वकत्व की असिद्धि]

तदुपरांत, यदि व्यवहार मे सिर्फ अन्योपदेशपूर्वकत्व ही सिद्ध करना हो तो वह हमारे प्रति सिद्ध का ही साधन हुवा क्योकि अनादिकाल से चलता आया व्यवहार पूर्व पूर्व पुरुषों के उपदेश से ही

अथेश्वरस्योपदेष्टृत्वमंगीक्रियते तदा विमुखत्वमभ्युपेतं हीयत इत्यभ्युपेतबाधः। एवमन्येष्वपि सर्वज्ञत्वादितद्विशेषसाधकेषु हेतुष्वसिद्धत्वाऽनैकान्तिकत्व-विरुद्धत्वादिदोषजालं स्वमत्याऽभ्यूह्यं दिङ्मात्रदर्शनपरत्वात् प्रयासस्य। अत एव-"सप्त भुवनान्येकबुद्धिनिर्मितानि, एकवस्त्वन्तर्गतत्वात्, एकावसथान्तर्गतानेकापवरकवत्। यथैकावसथान्तर्गतानामपवरकाणां सूत्रधारैकबुद्धिनिर्मितत्वं दृष्टं तथैकस्मिन्नेव भुवनेऽन्तर्गतानि सप्त भुवनानि, तस्मात् तेषामप्येकबुद्धिनिर्मितत्वं निश्चीयते, यद्बुद्धिनिर्मितानि चैतानि स भगवान् महेश्वरः सकलभुवनैकसूत्रधारः" [ ] इत्यादिकाः प्रयोगाः प्रशस्तमतिप्रभृतिभिरुपन्यस्तास्तेष्वपि हेतुरसिद्ध, न ह्येकं भुवनम् आवसथादिर्वास्ति, व्यवहारलाघवार्थं बहुष्वियं संज्ञा कृता, अत एव दृष्टान्तोऽपि साधनविकलः, एकसौधाद्यन्तर्गतानामपवरकादीनामनेकसूत्रधारघटितत्वदर्शनाच्चानैकान्तिको हेतुः।

चलता है यह सभी को मान्य है। यदि ईश्वरात्मकपुरुषकृतउपदेशपूर्वकत्व को सिद्ध करना चाहते हो तब तो हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा क्योकि आधुनिक पुरुषोपदेश से प्रवृत्त नये व्यवहार मे आप का इष्ट साध्य नही है और प्रत्यर्थनियतत्वरूप हेतु वहाँ रहता है। तथा, कुमारादि के धेनुआदिसबधी वाणीप्रयोग को आपने दृष्टान्त किया है उसमे तो माताकृतउपदेशपूर्वकत्व है, ईश्वरोपदेशपूर्वकत्वरूप साध्य नही है अतः साध्यवैकल्य यह दृष्टान्तदोष हुआ। यह दूषण अन्य हेतुओ मे भी समान है यह पहले भी कह चुके है। तथा, मुख के विना उपदेश का सभव न होने से हेतु मे विरुद्धता दोष और स्वीकृत प्रतिज्ञा मे स्वाभ्युपगमबाध ये नये दो दोष है-(१) जो मुखविहीन है वह उपदेश नही कर सकता यह बात सर्वगम्य है। व्यवहार मे अगर ईश्वरोपदेशपूर्वकत्व का सभव होता तब तो विरुद्धता दोष न होता, किन्तु ईश्वर मुखरहित होने से वह उपदेश करे यह बात अनुचित है। मुखरहित इसलिये है कि वह देहधारी नही है। देह इसलिये नही है कि उसको धर्म और अधर्म का सपर्क नही है। जैसे कि उद्योतकर ने कहा है-"ईश्वर की ज्ञानवत्ता मे जैसे प्रमाण है वैसे उसमे नित्य धर्म होने मे कोई प्रमाण नही है।" [न्यायवार्त्तिक ४-१-२१]। अत. ईश्वर मे उपदेशकर्तृत्व सम्भव न होने से व्यवहार मे तदुपदेशमूलकता की सिद्धि का भी सभव नही किंतु अन्य किसी पुरुषकृतोपदेशमूलकता की ही सिद्धि होगी। इस प्रकार हेतु इष्ट का विघात करने वाला होने से विरुद्ध हुआ।

(२) अब यदि ईश्वर मे उपदेशकर्तृत्व मानना है तो देह और मुख भी मानना होगा, परिणामतः ईश्वर मे जो मुखहीनता मानी है उसकी हानि होगी यह अभ्युपगमबाध हुआ। इस प्रकार ईश्वर के सर्वज्ञतादि अन्य विशेषो के साधक हेतुओ मे भी असिद्धता-अनैकान्तिकता-विरुद्धतादि दोषवृंद बुद्धिमानो को अपनी अपनी बुद्धि से समझ लेना चाहिये, यह प्रयास तो केवल दिशासूचक ही है।

[सप्तभुवन में एकव्यक्तिकर्तृकत्व की अनुपपत्ति]

प्रशस्तमति आदि नैयायिको ने जो अन्य प्रयोग दिखलाये है जसे सात भुवन एक व्यक्ति की बुद्धि से निर्मित हैं चूँकि एक वस्तु (विश्व) के अन्तर्गत है। उदा० एक मकान के अन्तर्गत अनेक कक्ष। एक बडे राजभवनादि के अन्तर्गत अनेक कक्ष होते है वे सब एक ही सूत्रधार की बुद्धि से निर्मित होते हुए दिखते है, तो उसी तरह एक ही भुवन (विश्व) मे अन्तर्गत सात भुवन हैं अत. वे सब एक ही पुरुष की बुद्धि से निर्मित होने का निश्चय किया जा सकता है। जिस पुरुष की बुद्धि से ये निर्मित होगे वही एक सारे विश्व का निर्माता सूत्रधार भगवान् विश्वकर्मा सिद्ध हुए।

यच्च-'एकाधिष्ठाना ब्रह्मादय पिशाचान्ताः, परस्परातिशयवृत्तित्वात्, इह येषां परस्परातिशयवृत्तित्वं तेषामेकायत्तता दृष्टा यथेह लोके गृह-ग्राम-नगर-देशाऽधिपतीनामेकस्मिन् सार्वभौमनरपतौ; तथा च भुजग-रक्षो-यक्षप्रभृतीनां परस्परातिशयवृत्तित्वम्, तेन मन्यामहे तेषामप्येकस्मिन्नीश्वरे पारतन्त्र्यम्" इति-तदेतद् यदि 'ईश्वराख्येनाधिष्ठायकेनैकाधिष्ठानाः' इत्ययमर्थः साधयितुमिष्टस्तदानैकान्तिकता हेतोः, विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् प्रतिबन्धाऽसिद्धेः। दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता। अथ 'अधिष्ठायकमात्रेण साधिष्ठानाः' इति साध्यते तदा सिद्धसाध्यता, यत इष्यत एव सुगतसुतैर्भगवता संबुद्धेन सकललोकचूडामणिना सर्वमेव जगत् करुणावशादधिष्ठितम्, यत्प्रभावादाप्यभ्युदय-निःश्रेयससंपदमासादयन्ति साधुजनसार्थाः।

सर्वेष्वपि च सर्वज्ञसाधनेषु परोपन्यस्तेषु यदि सामान्येन 'कश्चित् सर्वज्ञः' इति साध्यमभिप्रेतं तदा नाऽस्मान् प्रति भवतामिद साधनं राजते, सिद्धसाध्यतादोषात्। किन्तु ये सर्वज्ञाऽपवादिनो जैमिनीयाश्चार्वाका वा तेष्वेव शोभते। अथेश्वराख्यः सर्वज्ञ. साध्येत तदोक्तप्रकारेण प्रतिबन्धासिद्धेर्हेतु-

---

प्रशस्तमति ने यह और इसके जैसे अन्य प्रयोग जो दिखाये है उनमे भी हेतु असिद्ध है, क्योकि सारा विश्व अथवा मकान भी कोई एक वस्तुरूप है ही नही, अनेकवस्तुसमूहात्मक ही यह विश्व है और मकान भी। उन सभी का भिन्न अनेक शब्दो से प्रयोग न करना पडे इसलिये लाघव के लिये समस्तवस्तु-समूह की 'विश्व' अथवा 'मकान' ऐसी एक सज्ञा की गयी है। इसलिये दृष्टान्तरूप मे उपन्यस्त राजभवनादि के अनेक कक्षो मे एक वस्तु अन्तर्गतत्वरूप हेतु ही नही है। तदुपरात, जिसको आप 'एक' मानते हैं उस राजभवनादि के अन्तर्गत अनेक कक्षो का कोई एक नही किन्तु अनेक सूत्रधार निर्माता होते हैं यह दिखता है इसलिए यहाँ हेतु रह जाय फिर भी साध्य न होने से हेतु साध्यद्रोही बनेगा।

[परस्परातिशयवृत्तित्व हेतुक अनुमान भी सदोष है]

यह भी एक ईश्वरसाधक प्रयोग किसी ने किया है-"ब्रह्मा से लेकर पिशाच तक सब एक व्यक्ति से अधिष्ठित है चूंकि एक दूसरे से अपकर्ष-उत्कर्ष रूप अतिशय यानी तरतमभाव से अवस्थित हैं। उदा० जो अन्योन्य तरतमभाववाले होते हैं वे किसी एक को अधीन होते है जैसे इस लोक मे तरतमभाव से अवस्थित गृहपति, ग्रामस्वामी, नगरपति, देशाधिपति ये सब एक सार्वभौम चक्रवर्ती राजा को आयत्त अधीन होते हैं। इसी प्रकार, सर्प राक्षस-यक्षादि भी तरतमभाव से अवस्थित है, अत मानते हैं कि वे भी किसी एक ईश्वर को परतन्त्र है।"—

किन्तु इस अनुमान प्रयोग में साध्यद्रोहितादि दोष हैं, जैसे देखिये-यदि आपको ईश्वरात्मक एकाधिष्ठायक का अधिष्ठान सिद्ध करना है तो 'ऐसा साध्य न होने पर भी हेतु रहे तो क्या बाध'-इस विपक्ष की शका का कोई बाधक प्रमाण न होने से व्याप्ति असिद्ध होने पर हेतु मे अनैकान्तिकता दोष लगेगा। तथा दृष्टान्त मे तो आपने एक सार्वभौम राजा का पारतन्त्र्य दिखाया है ईश्वर का नही, अतः दृष्टान्त साध्यशून्य हुआ। यदि 'किसी भी प्रकार से अधिष्ठायक का अधिष्ठान' सिद्ध करना चाहते हैं तब तो बौद्धमत के अनुसार सिद्धसाध्यता दोष होगा। कारण, बुद्ध का अनुयायी वर्ग यह मानता है कि सारा ही विश्व सकललोकशिरोमणितुल्य स्वयंबुद्ध भगवान से अपनी करुणा के द्वारा अधिष्ठित है, जिसके प्रभाव से ही साधुओ का समूह आबादी और मोक्षसपत्ति को प्राप्त करते हैं।

नामनैकान्तिकता, दृष्टान्तस्य च साध्यविकलतेति। शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थो निःसारतयोपेक्षितः। अतः ईश्वरसाधकस्य तन्नित्यत्वादिधर्मसाधकस्य च प्रमाणस्याभावात् "क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" [यो० द० १-२४] इत्यादि सर्वमयुक्ततया स्थितम्। अतो भवहेतुरागादिजयात् शासनप्रणेतारो जिनाः सिद्धाः। अतः सुव्यवस्थितमेतद 'भवजिनाना शासनम्' इति।

[ईश्वरकर्तृत्ववादः समाप्त]

ननु यदि तेषां भवनिबन्धनरागादिजेतृत्वं तदा शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, तज्जयानन्तरमेवापवर्गप्राप्तेः शरीराभावे वक्तृत्वाऽसम्भवात्। अथ रागादिक्षयानन्तरं नापवर्गप्राप्तिस्तर्हि रागादिजयो न भवक्षयलक्षणापवर्गप्राप्तिकारणम्, न हि यस्मिन् सत्यपि यन्न भवति तत् तदविकलकारणं व्यवस्थापयितुं शक्यम्, यवबीजमिव शाल्यकुरस्य। अथ निरवशेषरागाद्यजयाद् अपवर्गप्राप्ते प्रागेव तत्प्रणेतृत्वाददोषः, नन्वेवं तच्छासनस्य रागलेशाऽऽश्लिष्टपुरुषप्रणीतत्वेन नैकान्तिकं प्रामाण्यं, कपिलादिपुरुषप्रणीतस्येव इत्याशक्याह सूरिः-'ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' इति।

[भवविजेताओं का शासन-यह कथन सुस्थित है]

परवादी ने सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये जितने अनुमान प्रयोग किये है उन सभी मे यदि सामान्यतः 'कोई एक सर्वज्ञ' पुरुष की सिद्धि अभिप्रेत हो तब तो हमारे प्रति वैसा अनुमान प्रयोग करना शोभायुक्त नही क्योकि सर्वज्ञवादी हमारे प्रति उस मे सिद्धसाध्यता दोष है। उन लोगो के प्रति ही वह शोभास्पद होगा जो सर्वज्ञ का अपलाप करते है, उदा० मीमासक और नास्तिक। अब यदि ईश्वर को ही सर्वज्ञ सिद्ध करना चाहते है तब उक्त रीति से व्याप्ति की असिद्धि के कारण, सभी हेतु अनैकान्तिकदोष से दूषित हो जाते हैं और दृष्टान्त भी साध्यशून्य बन जाते है। इस प्रकार पूर्वपक्षोक्तग्रन्थ का बहु भाग निरस्त हुआ। जो शेष है वह इतना महत्त्वपूर्ण नही है, असार है इसलिये उसकी उपेक्षा ही उचित है।

उपसंहारः-ईश्वर का और उसके नित्यत्वादि धर्मो का साधक कोई भी प्रमाण न होने से, जो यह प्रारम्भ मे पूर्वपक्षी ने कहा था-क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अस्पृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है-इत्यादि, [पृ० २८१], यह सब अयुक्त सिद्ध हुआ। फलतः भगवान् जिनेन्द्र ससारहेतुभूत रागादि के विजय से ही शासन के प्रणेता है यह सिद्ध हुआ। इसलिये मूलकारिका मे ग्रन्थकार श्रीसिद्धसेनसूरिमहाराज ने जो यह कहा है 'भवजिनो का शासन' यह भलीभाँति ठीक ही सिद्ध हुआ।

[ईश्वर कर्तृत्ववाद समाप्त]

['ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' पदों की सार्थकता]

शंकाः-जिनेन्द्र भगवान यदि ससार के बीजभूत रागादि के विजेता है, तो उन मे शासन का प्रस्थापकत्व सगत नही है। कारण यह है कि भवबीजभूत रागादि का क्षय होने पर तुरन्त ही मोक्षलाभ हो जाने से शरीर के अभाव मे वक्तृत्व ही सभव नही है। यदि रागादिक्षय होने पर भी मोक्षलाभ नही हुआ, तब तो भवक्षयात्मक मोक्ष की प्राप्ति का वह कारण ही नही माना जा सकेगा। 'जिस के होते हुए भी जो उत्पन्न होता नही, वह उसका परिपूर्ण कारण है'-ऐसी व्यवस्था अशक्य है। उदा० जव के बीज मे चावल के अकुर की कारणता स्थापित नही हो सकती। यदि कहे-'रागादि का सपूर्ण-

अस्याभिप्राय:-यद्यपि सर्वज्ञताप्रतिबन्धिघातिकर्मचतुष्टयक्षयाविर्भूतकेवलज्ञानसम्पदो जिना-स्तथापि भवोपग्राहिशरीरनिबन्धनस्य कर्मणः सद्भावादल्पस्थितिकस्य न शरीराद्यभावात् शासनप्रणेतृत्वाऽनुपपत्तिः, नापि रागादिलेशसद्भावात् तत्प्रणीतस्यागमस्याऽप्रामाण्यम्, विपर्यासहेतोर्घातिकर्मणोऽत्यन्तक्षयात् न च कर्मक्षयादपरस्याऽप्रवृत्तिनिमित्तत्वम् भवोपग्राहिणोऽद्यापि सामस्त्येनाऽक्षयात् तत्क्षये चापवर्गस्यानन्तरभावित्वात् कर्मक्षयस्यैवापवर्गप्राप्तावविकलकारणत्वादिति।

अवयवार्थस्तु-तिष्ठन्ति सकलकर्मक्षयावाप्तानन्तज्ञानसुखरूपाध्यासिताः शुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानं लोकाग्रलक्षणं विशिष्टक्षेत्रम् न विद्यते उपमा स्वाभाविकात्यन्तिकत्वेन सकलव्याबाधा-रहितत्वेन च सर्वसुखातिशायित्वाद् यस्य तत् सुखमानन्दरूपं यस्मिन् तत् तथा, तत् 'उप' इति काल-सामीप्येन गतानां=प्राप्तानां, यद्वा 'उप' इत्युपसर्गः प्रकर्षेऽप्युपलभ्यते यथा "उपोढरागेण" इति। तेन स्थानमनुपमसुखं प्रकर्षेण गतानामिति। "परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि तमर्थं गमयन्ति" इति न्यायादनुभूयमानतीर्थकृन्नामकर्मलेशसद्भावेऽपि तद् गता इव गता इत्युक्तास्तेन शासन-प्रणेतृत्वं तस्यामवस्थायां तेषामुपपन्नमेव।

तया विजय नही किया है अतः मोक्षप्राप्ति के पूर्व में ही शासन की स्थापना करते है-इस मे कोई दोष नही है'-तो उस शासन मे ऐकान्तिक प्रामाण्य नही घटेगा चूँकि वह आंशिकरागलिप्त पुरुष से उप-दिष्ट है, जैसे कि कपिलादिऋषिपुरुषो का शासन।

समाधान: इस शका के समाधानार्थ सूरीश्वर श्री सिद्धसेनदिवाकरजी ने प्रथम मूलकारिका मे जिनेन्द्र के विशेषणरूप मे 'ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' ऐसा प्रयोग किया है।

[सावशेषअघातिकर्ममूलक शासनस्थापना की संगति]

अभिप्राय यह है कि-यद्यपि जिनेन्द्र भगवान के सर्वज्ञताप्रतिबन्धक घाति चार कर्म-ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय और अतराय कर्म, सपूर्ण क्षीण हो जाने से केवलज्ञान(=सर्वज्ञता) की सम्पत्ति प्राप्त हो चुकी है; फिर भी अल्पकालीन ससारस्थिति के तथा देहादिअवस्थान कारणभूत अघाति भवोपग्राही आयुषादि कर्म (क्षयाभिमुख होने पर भी) सपूर्णतया क्षीण न होने से शरीरादिअभावमूलक शासनस्थापना मे कोई असगति नही है। तथा मोहनीय के क्षय से रागादि सपूर्ण क्षीण हो गये हैं, अतः 'उसके आशिक रह जाने से उसका स्थापित आगम प्रमणाभूत न होने' की भी कोई आपत्ति नही है, क्योकि आगम मे वैपरीत्य(=अयथार्थत्व) के हेतु घाति कर्म ही हैं और वे तो सपूर्ण क्षीण हो गये हैं। किसी भी व्यक्ति की प्रवृत्ति सर्वथा बन्द हो जाने मे सपूर्ण कर्मक्षय ही निमित्तभूत है, दूसरा कोई नही। जिनेद्र भगवान जब शासनस्थापना करते हैं तब उनके सपूर्ण कर्म क्षीण हुए नही रहते है। और जब (शासन स्थापना के बाद) वे कर्म सपूर्ण क्षीण हो जाते है उसी वक्त जिनेन्द्र भगवान को मोक्षलाभ भी हो जाता है। तात्पर्य, सपूर्णकर्मक्षय ही मोक्षप्राप्ति का परिपूर्ण कारण है-ऐसा हमारा सिद्धान्त है।

[शासनस्थापना कार्य की उपपत्ति अबाधित]

ठाणमणोवम०-इसका शब्दार्थ इस प्रकार है-सकलकर्मो का क्षय कर के प्राप्त किये गये अनन्तज्ञान-अनन्तसुखस्वरूप से आश्लिष्ट शुद्धात्मा जहाँ जा कर रहते है वह 'स्थान' है, वह एक विशिष्ट क्षेत्र है जो लोक के उद्र्ध्व अग्रभागरूप है। तथा, ऐसा सुख जो स्वाभाविक, आत्यन्तिक

यद्वा-"मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति व्योमवत् तापवर्जिताः" इत्येतस्य दुर्नयस्य निरासार्थमाह सूरिः-'ठाणमणोवमसुहमुवगयाण'। अत्र च स्थानमनुपमसुखम् प्रकर्षेण अपुनरावृत्त्या गतानाम्-उपगतानामिति व्याख्येयम्। अथवा "बुद्ध्यादीनां नवानां विशेषगुणानामात्यन्तिकः क्षयः आत्मनो मुक्तिः" इति मतव्यवच्छेदार्थमाचार्येण 'ठाणमणोवमसुहमुमवगयाण' इति सूत्रमुपन्यस्तम्। अस्य चायमर्थः-स्थितिः=स्थानं स्वरूपप्राप्तिः, तद् अनुपमसुखम् 'उप' इति सकलकर्मक्षयानन्तरमव्यवधानेन गतानां=प्राप्तानाम्-शैलेश्यवस्थाचरमसमयोपादेयभूतमनन्तसुखस्वभावमात्मन कथंचिदनन्यभूतं स्वरूपं प्राप्तानामिति यावत्।

[आत्म-विभुत्वस्थापनपूर्वपक्षः]

अत्राहुः वैशेषिकाः-सर्वमेतदनुपपन्नम्, आत्मनो विभुत्वेन विशिष्टस्थानप्राप्तिनिमित्तगत्यसंभवात्, कर्मक्षये च शरीराद्यभावे मुक्तात्मनां सुखस्य तद्धेतुनिमित्ताऽसमवायिकारणाभावेनोत्पत्त्यसम्भवात्, नित्यस्य चानन्दस्याऽवैषयिकस्यानुपलम्भेनाऽसत्त्वात्।

न चाऽऽत्मनो विभुत्वमसिद्धम्, अनुमानात् तत्सिद्धेः। तथाहि-बुद्ध्यधिकरणं द्रव्यं विभु, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात् यद् यद् नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानं तत् तद् विभु यथाऽऽकाशम्, तथा च बुद्ध्यधिकरणं द्रव्य, तस्माद् विभुः। न च बुद्धेर्गुणत्वाऽसिद्धेर्हेतुविशेषणाऽसिद्ध्या हेतोरसिद्धिरभिधातुं शक्या, बुद्धिगुणत्वस्यानुमानात् सिद्धेः। तथाहि—

और सकल व्याघात शून्य एव अन्य सभी सुखो को टक्कर मारने वाला है, अत एव जिसको किसी की उपमा नही दी जा सकती, ऐसा सुख जहाँ है वैसा स्थान। 'उप' यानी काल वा समीप्य, अर्थात् निकट के काल मे ही जो वहाँ गये, अर्थात् जिन्होने वह स्थान प्राप्त किया है। (अर्थात् अल्पकाल मे जो वहाँ जाने वाले है) अथवा 'उप' इस उपसर्ग शब्द का 'प्रकर्ष' अर्थ भी उपलब्ध है जैसे 'उपोढराग' इस प्रयोग मे। इसलिये, अनुपमसुखवाले स्थान को प्रकृष्टरूप से जिन्होने प्राप्त किया है। यहाँ 'उपगतवताम्, ऐसा वत्प्रत्ययान्त प्रयोग न करके 'उपगतानां' ऐसा जो प्रयोग किया है वह इस न्याय के अनुसरण से कि 'वत् प्रत्यय के विना भी अन्यार्थ मे प्रयुक्त शब्द उसी अर्थ का बोधक होता है' [जो वत् प्रत्ययान्त से बोधित होता है]। इससे यह कहना है कि वर्त्तमान मे अनुभवारूढ तीर्थंकर नाम कर्म का अश विद्यमान होने पर भी मानो कि वे वहाँ पहुच गये न हो। तात्पर्य, 'अनुपम सुख के स्थान को प्राप्त' ऐसा कह देने पर भी (वास्तव मे जीवन्मुक्तावस्था पूर्ण नही हुई है इसलिये) इस अवस्था मे शासनस्थापना का कार्य सगतियुक्त ही है।

[आत्मविभुत्व, मुक्ति में सुखाभाव-मतद्वय का निरसन]

अथवा, जिन लोगों का मत ऐसा है कि "आकाश की तरह मुक्तात्मा भी तापरहित होकर सर्वत्र रहते है"-इस दुर्नय के निरसनार्थ सूरीश्वरजीने 'ठाणमणोवमसुहमुवगयाण' ऐसा सूत्र बनाया है। उस का अर्थ अब यह होगा कि अनुपम सुखवाले स्थान मे 'वापस न लौटना पडे' ऐसे प्रकर्ष से जो चले गये हैं अर्थात् अब यहा ससार मे नही रहे है। अथवा, जिन लोगो का (न्याय-वैशेपिको का) मत ऐसा है "सुखसहित बुद्धि आदि नव विशेषगुणो का अत्यन्त नाश हो जाना यही आत्मा को मुक्ति है" इस मत के उच्छेदार्थ आचार्य श्री ने 'ठाणमणोवमसुहमुवगयाण' ऐसा सूत्र बनाया है। उसका अर्थ यह है-स्थिति यही स्थान है, अर्थात् अपने ही स्वरूप मे स्थिति अथवा अपने स्वरूप की प्राप्ति।

गुणो बुद्धिः, प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासम्बन्धित्वात्, यो यः प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासम्बन्धी स स गुणः यथा रूपादिः, तथा च बुद्धिः, तस्माद् गुणः। न च प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वमसिद्धं बुद्धेः। तथाहि-बुद्धिर्द्रव्यं न भवति, एकद्रव्यत्वात्, यद् यदेकद्रव्य तत् तद् द्रव्यं न भवति यथा रूपादि, तथा च बुद्धि, तस्माद् न द्रव्यम्। न चाऽयमसिद्धो हेतुः। तथाहि एकद्रव्या बुद्धिः, सामान्यविशेषवत्त्वे सत्येकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, यद् यत् सामान्य-विशेषवत्त्वे सत्येकेन्द्रियप्रत्यक्षं तत् तद् एकद्रव्यम् यथा रूपादिः, तथा बुद्धि, तस्मादेकद्रव्या।

यह स्थान अनुपम सुख वाला है। 'उपगत' यहाँ 'उप' यानी सकल कर्मो का क्षय हो जाने पर किसी भी अन्तर के विना 'गत' यानी प्राप्त। 'प्राप्त' का तात्पर्य यह है कि शैलेशी अवस्था के अन्तिम समय मे उपादेयभूत अनन्तसुखमय स्वभाव जो आत्मा से कथञ्चित् अभिन्न ही है-ऐसे स्वरूप को प्राप्त करने वाले।

[आत्मा सर्वव्यापी है-वैशेषिकपूर्वपक्ष]

यहाँ वैशेषिक पडितो का कहना है कि-आपकी यह पूरी बात असगत है क्योंकि आत्मा विभु= सर्वव्यापी होने से किसी विशिष्टस्थान की ओर पहुंचाने वाली गति का सम्भव ही नही है। तथा कर्म क्षीण हो जाने के बाद देहादि के अभाव मे मुक्तात्माओ मे सुख के हेतुभूत असमवायिकारणात्मक निमित्त भी नही रहता अतः सुख की उत्पत्ति भी असभव है। विषय निरपेक्ष नित्य सुख अप्रसिद्ध होने से असत् ही है।

आत्मा की सर्वव्यापिता असिद्ध नही है-अनुमान से उसकी सिद्धि शक्य है। जैसे देखिये- "बुद्धि का अधिकरण द्रव्य विभु=सर्वव्यापी है क्योकि वह नित्य एव अपने लोगो को उपलभ्यमान (ज्ञायमान) गुणो का अधिष्ठान है। जो जो नित्य एव अपने लोगो को उपलभ्यमान गुणो का अधिष्ठान होता है वह विभु होता है, उदा० (शब्दगुण का अधिष्ठान) आकाश। बुद्धि का अधिकरण आत्मद्रव्य भी वैसा है, अत वह विभु है।" यदि कहे कि-बुद्धि मे गुणात्मकता असिद्ध है, अतः हेतु मे प्रयुक्त 'गुण' विशेषण की असिद्धि से आप का हेतु भी असिद्ध हो गया-ऐसा नहीं कह सकते, क्योकि बुद्धि मे अनुमान से गुणरूपता सिद्ध है। जैसे देखिये-

[बुद्धि में गुणात्मकता सिद्धि के लिये अनुमान]

"बुद्धि गुणात्मक है-क्योकि उसमे द्रव्यत्व और कर्मत्व निषिद्ध होने के साथ सत्ता का सम्बन्ध भी है। जिसमे द्रव्यत्व-कर्मत्व के निषेध के साथ सत्तासम्बन्ध होता है वह गुण होता है, उदा० रूप-रसादि। बुद्धि भी ऐसी ही है अतः गुणात्मक सिद्ध होती है।"-इस अनुमान में, बुद्धि मे हेतु का विशेषण प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मत्व असिद्ध नही है। वह इस प्रकार.-(१) 'बुद्धि द्रव्यरूप नही है, क्योकि वह एक द्रव्यवाली है-अर्थात् एक ही द्रव्य मे रहने वाली है। जो भी एकद्रव्यवाला होता है वह द्रव्यरूप नही होता, उदा० रूप-रसादि, [एक रूप या एक रस किसी एक ही द्रव्य में रहता है, अनेक द्रव्य मे नही]। बुद्धि भी एकद्रव्यवाली ही है। अत वह द्रव्यरूप नही है।" इस प्रयोग मे भी हेतु असिद्ध नही है। वह इस प्रकार -"बुद्धि एकद्रव्यवाली है, क्योकि सामान्यविशेष-वाली (=अवान्तर सामान्यवाली) होती हुयी एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष है। जो सामान्यविशेष वाले होते हुए एकइन्द्रिय से प्रत्यक्ष होते हैं वे एकद्रव्यवाले होते है जैसे रूप-रसादि, बुद्धि भी वैसी ही है अतः एकद्रव्य वाली सिद्ध होती है।"

न च 'एकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने आत्मना व्यभिचारः, तस्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वे विवादात् । नापि वायुना, तत्रापि तत्प्रत्यक्षत्वस्य विवादास्पदत्वात् । तथापि रूपत्वादिना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं 'सामान्यविशेषवत्त्वे सति' इति विशेषणोपादानम् । न च रूपस्यान्तःकरणग्राह्यतया द्वीन्द्रियग्राह्यता, चक्षुरिन्द्रियस्यैव 'चक्षुषा रूपं पश्यामि' इति व्यपदेशहेतोस्तत्र करणत्वसिद्धेः, मनसस्त्वान्तरार्थप्रतिपत्तावेवाऽसाधारणकरणत्वात् । अथवा, एकद्रव्या बुद्धिः सामान्य-विशेषवत्त्वे अगुणवत्त्वे च सत्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्, शब्दवत् ।

तथा, न कर्म बुद्धिः, संयोग-विभागकारणत्वात्, यद् यत् संयोगविभागाकारणं तत् तत् कर्म न भवति, यथा रूपादि, तथा च बुद्धिः, तस्माद् न कर्म । तस्मात् सिद्धः प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावो बुद्धेः । न च सत्तासम्बन्धित्वमसिद्धं बुद्धेः, तत्र 'सत्' इति प्रत्ययोत्पादात् । न च सत्ता भिन्ना न सिद्धा, तद्भेदप्रतिपादकप्रमाणसद्भावात् । तथाहि-यस्मिन् भिद्यमानेऽपि यन्न भिद्यते तत् ततोऽर्थान्तरम् यथा भिद्यमाने वस्त्रादावभिद्यमानो देहः, भिद्यमाने च बुद्ध्यादौ न भिद्यते सत्ता, द्रव्यादौ सर्वत्र 'सत् सत्' इति प्रत्ययाभिधानदर्शनात् अन्यथा तदयोगात् । सा च बुद्धिसम्बद्धा, ततस्तत्र विशिष्टप्रत्ययप्रतीतेः । तथाहि-यतो यत्र विशिष्टप्रत्ययः स तेन सम्बद्धः यथा दण्डो देवदत्तेन, भवति च बुद्ध्यादौ सत्तातस्तत्प्रत्ययः, ततस्तथा संबद्धेति ।

[सामान्यविशेषवत्त्व विशेषण की सार्थकता]

केवल 'एकेन्द्रियप्रत्यक्ष' इतना ही हेतु किया जाय तो आत्मा मे हेतु है और साध्य एकद्रव्यता तो नही है अतः हेतु साध्यद्रोही हुआ-ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि-'आत्मा एकइन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय है' इसीमे विवाद है । वायु मे भी हेतु साध्यद्रोही नही है क्योंकि उस मे भी आत्मा की तरह प्रत्यक्ष होने से विवाद है । हाँ रूपत्वादि में हेतु साध्यद्रोही हो सकता है क्योंकि वह एकमात्र नेत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष है किन्तु एक ही द्रव्य मे रहने वाला नही, अनेकद्रव्य मे रहता है-अतः इसके वारण के लिये विशेषण किया है 'सामान्यविशेषवाला' । इस विशेषण के लगाने से हेतु रूपत्वादि मे साध्यद्रोही नही बनेगा क्योंकि रूपत्वादि मे कोई अवान्तर सामान्य रहता ही नही । यह भी नही कह सकते कि-'रूपत्व मे तो नेत्रग्राह्यता की तरह मनोग्राह्यता भी रहती है अत एकेन्द्रियग्राह्यता हेतु वहाँ नही रहेगा तो उक्त विशेषण लगाने की क्या जरूरत ?'-जरूरत यह है कि 'मै नेत्र से रूप को देखता हूँ' इस व्यवहार के बीजभूत नेत्रेन्द्रिय मे ही चाक्षुषप्रत्यक्षकरणत्व की सिद्धि होती है अत, उसमे मन करणरूप न होने से रूप को इन्द्रियग्राह्य नही कहा जा सकता । मन भी असाधारण कारण होता है किन्तु वह केवल आन्तरिक सुखादि के बोध मे ही, बाह्य वस्तु के बोध मे नही ।

अथवा बुद्धि मे एकद्रव्यत्वसाधक यह भी एक अनुमान है बुद्धि एकद्रव्यवाली है, क्योंकि उसमें सामान्यविशेषवत्ता होने पर भी गुणवत्ता एव चाक्षुषप्रत्यक्षत्व नही है, उदा० शब्द ।

[बुद्धि में क्रियारूपता का निषेधक अनुमान]

बुद्धि मे गुणरूपता के निषेध की तरह कर्मरूपता का निषेध भी इस तरह हो सकता है "बुद्धि कर्मरूप नही है क्योंकि वह सयोग या विभाग मे कारण नही होती, जो जो सयोग-विभाग मे कारण नही बनते वे कर्मरूप नही होते, उदा० रूप-रसादि, बुद्धि भी सयोग विभाग की कारणभूत नही है

'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वात्' इत्युच्यमाने सामान्यादिना व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इति वचनम् । 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इत्युच्यमाने द्रव्य-कर्मभ्यामनेकान्तस्तन्निवृत्त्यर्थं 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति' इति विशेषणम् । तदेवं भवत्यतोऽनुमानाद् बुद्धेर्गुणत्वसिद्धिः । अस्मदाद्युपलभ्यमानत्वं च बुद्धेस्तदेकार्थसमवेतानन्तरज्ञानप्रत्यक्षत्वाद् नासिद्धम् । नित्यत्वं चात्मनः 'अकार्यत्वात्, आकाशवत्' इत्यनुमानप्रसिद्धम् । अतो 'नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्' इति हेतुर्नाऽसिद्धः । नाप्यनैकान्तिक, विपक्षेऽस्याऽप्रवृत्तेः । नापि विरुद्धः, विभुन्याकाशेऽस्य वृत्त्युपलम्भात् । नापि बाधितविषयः, प्रत्यक्षागमयोरात्मन्यविभुत्वप्रदर्शकयोरसम्भवात् । नापि प्रकरणसमः, प्रकरणचिन्ताप्रवर्त्तकस्य हेत्वन्तरस्याऽभावात् । इति भवति सकलदोषरहितादतो हेतो सर्वगताऽऽत्मसिद्धिः ।

अतः कर्मरूप भी नही है ।" इस प्रकार बुद्धि मे गुणरूपता की सिद्धि मे उपन्यस्त हेतु का आद्य अंश प्रतिषिध्यमान द्रव्य-कर्म भाव सिद्ध हुआ । दूसरा अंश सत्तासम्बन्धित्व यह भी बुद्धि में असिद्ध नही है, क्योकि बुद्धि के विषय मे 'सत्' ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है । 'सत्ता ही स्वतंत्ररूप से सिद्ध नही' ऐसा नही कह सकते, स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपाद्य प्रमाण मौजूद है जैसे-जिसके भिन्न भिन्न होते हुए भी जो अभिन्न रहता है वह उससे स्वतन्त्र होता है, उदा० वस्त्रादि के भिन्न भिन्न रहते हुए भी अभिन्न रहने वाला देह । इसी तरह बुद्धि भिन्न भिन्न होते हुए भी सत्ता भिन्न नही होती, क्योकि द्रव्य-गुणादि भिन्न भिन्न होते हुए भी 'सत्-सत्' ऐसा सत्ता का अनुगत अनुभव और सबोधन होता हुआ दिखता है । यदि सत्ता द्रव्यादि से भिन्न (स्वतन्त्र) न होती तो ऐसा अनुगत अनुभव नही होता । इस प्रकार स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हुयी, और उसके साथ बुद्धि का सम्बन्ध भी सिद्ध है, क्योकि सत्ता से बुद्धि मे वैशिष्ट्य का अनुभव प्रतीत होता है । जिससे जिसमे वैशिष्ट्य अनुभव होता है वह उसके साथ सम्बद्ध होता है जैसे दण्ड देवदत्त के साथ सम्बद्ध होने पर 'दण्डवाला देवदत्त' ऐसा वैशिष्ट्य अनुभूत होता है । बुद्धि मे भी सत्ता के द्वारा 'सत्' ऐसा विशिष्टानुभव होता है अतः सत्ता बुद्धि के साथ सम्बद्ध है यह सिद्ध हुआ ।

[हेतु में असिद्धि आदि का निरसन]

बुद्धि मे गुणरूपता की सिद्धि के लिये उपन्यस्त हेतु मे 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वात्' इतना ही यदि कहा जाय तो जातिओ मे हेतु रह जाता है अत वहाँ साध्यद्रोहिता दोष के निवारण के लिये 'सत्तासम्बन्धित्व' भी कहना आवश्यक है, जातिओ मे सत्तासम्बन्धित्व' नही है । सिर्फ 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इतना ही यदि कहा जाय तो द्रव्य और कर्म मे भी वह रह जाने से साध्यद्रोहिता फिर से सावकाश होगी, उसके निवारण के लिये 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मत्व' कहना आवश्यक है, द्रव्य में द्रव्यत्व का और कर्म मे कर्मत्व का प्रतिषेध शक्य नही है । इस प्रकार के अनुमान से बुद्धि मे गुणात्मकता सिद्ध हुई । अब जो बुद्धि के अधिकरण द्रव्य को व्यापक सिद्ध करने वाला मूल अनुमान है उसमे जो अस्मदाद्युपलभ्यमानत्व यह हेतु-अंश है उसकी भी चिन्ता की जाती है कि वह भी असिद्ध नही है क्योकि बुद्धि का प्रत्यक्ष, बुद्धि के ही अधिकरण मे समवेत उत्तरकाल मे उत्पन्न अनुव्यवसायनामक ज्ञान से होता है । नैयायिको के मत मे ज्ञान को उत्तरकालीन समानाधिकरण ज्ञान से प्रत्यक्ष, माना गया है । हेतु का दूसरा अंश है नित्यत्व, उसकी सिद्धि के लिये यह अनुमान प्रयोग है-आत्मा नित्य है क्योकि वह कार्यरूप नहीं है, उदा० आकाश । इस प्रकार 'नित्य होते हुए हम लोगो को

[आत्मविभुत्वनिरसनं–उत्तरपक्षः]

असदेतत्, बुद्धेर्गुणत्वासिद्धावात्मनस्तदधिष्ठानत्वासिद्धेरसिद्धो हेतुः । यच्च 'प्रतिषिध्यमान-द्रव्य-कर्मत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात्' इति गुणत्वं बुद्धेः प्रसाध्यते तत्र सत्तायाः तत्समवायस्य च निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च सत्तासम्बन्धित्वात्' इति तत्र हेतुरसिद्ध । समवायाभावे च बुद्धेरात्मनो व्यतिरेके तेन तस्याः सम्बन्धाभावात् 'आत्मनो द्रव्यत्वं गुणाश्रयत्वेन, तस्याश्च तदाश्रितत्वेन गुणत्वम्' इति दूरोत्सारितम् ।

भवतु वा समवायसम्बन्धस्तथापि आत्मगुण(त्व)वत् तस्या अन्यगुणत्वस्याप्यप्रतिषेधात् तस्यास्तद्गुणत्वस्यैवाऽसिद्धिः । व्यतिरेकाऽविशेषेऽपि 'आत्मन एव गुणो ज्ञानम् नाकाशादेः' इति किंकृतोऽयं विभागः ? न समवायकृतः, तस्यापि ताभ्यां व्यतिरेके तयोरेवासौ समवायः नाकाशादे.' इति विभागो दुर्लभः स्यात् . तस्य स्वरूपेण सर्वत्राऽविशेषात् । अथात्मकार्यत्वादात्मगुणो बुद्धिः,-कुत एतत् ? आत्मनि सति भावात्, आकाशादावपि सति भावात् तस्यास्तत्कार्यताप्रसक्तिः । नाप्यात्मनोऽभावेऽभावात् तस्याः तत्कार्यत्वम्, तन्नित्यत्व-व्यापित्वाभ्यां तत्र तस्याऽयोगात् । नापि तत्र तस्याः प्रतीतेः तत्कार्यतासौ नाकाशादिकार्या, तत्र तत्प्रतीतेरसिद्धेः ।

उपलभ्यमान गुणो का अधिष्ठान वाला है' ऐसा सपूर्ण हेतु असिद्ध नही किन्तु सिद्ध है । यह हेतु विपक्ष में न रहने से अनैकान्तिक दोष निरवकाश है । हेतु विभु द्रव्य आकाश मे वर्त्तमान है अतः उसे विरुद्ध नही कह सकते । हेतु बाधज्ञान का विषय भी नही है क्योकि आत्मा मे अव्यापकत्व का साधक न तो कोई प्रत्यक्ष है, न तो किसी आगम का सम्भव है । प्रकरणसम यानी हेतु सत्प्रतिपक्ष भी नही है क्योकि जिससे प्रकरण मे चिन्ता उपस्थित हो ऐसा विरोधी साध्य साधक अन्य कोई हेतु नही है ।

इस प्रकार सकल दोष से शून्य इस हेतु से आत्मा मे सर्वगतत्व सिद्ध होता है ।

[पूर्वपक्ष समाप्त]

[आत्मा व्यापक नहीं है-उत्तरपक्ष]

आत्मा के विभुत्व की बात गलत है । बुद्धि मे गुणत्व ही असिद्ध होने से आत्मा मे बुद्धि का अधिष्ठान भी असिद्ध हो जाने से आत्मविभुत्वसाधक हेतु ही असिद्ध हो जाता है । वह इस प्रकारः- सत्ता का और उसके समवायसबध का पहले हम प्रतिकार कर आये है और आगे भी किया जाने वाला है, अत बुद्धि मे गुणत्व सिद्धि के लिये प्रयुक्त 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात्' इस हेतु मे 'सत्तासम्बन्धित्व' अंश से हेतु असिद्ध है । समवाय के निषिद्ध हो जाने पर बुद्धि को यदि आत्मा से भिन्न मानेंगे तो आत्मा के साथ बुद्धि का सम्बन्ध न घटने पर गुण की आश्रयता से आत्मा मे द्रव्यत्व की और द्रव्य मे आश्रित होने से बुद्धि मे गुणत्व की सिद्धि भी दूर से ही प्रतिक्षिप्त हो जाती है ।

[बुद्धि आकाश का गुण क्यों नहीं ?]

अथवा समवायसम्बन्ध मान लिया जाय, तो भी बुद्धि मे आत्मगुणता की तरह अन्य द्रव्यगुणता की कल्पना भी संभावित होने से बुद्धि सिर्फ आत्मा का ही गुण होने की बात असिद्ध है । जब बुद्धि आत्मा से भिन्न ही है तब आत्मा और बुद्धि के बीच ही समवाय है और आकाश-बुद्धि

तथाहि--न तावद् आत्मात्मनि बुद्धि प्रत्येति, तस्य स्वसंविदितत्वानभ्युपगमात् । ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वेऽपि विवादात् । तत्र तेनाऽऽत्मस्वरूपमपि गृह्यते दूरत एव स्वात्मन्यवस्थितत्व बुद्धेः । नापि बुद्ध्या तद्व्यवस्थितत्व स्वात्मनो गृह्यते, तयात्मनः स्वकीयरूपस्य वाऽग्रहणात्, बुद्ध्यन्तरग्राह्यत्वाऽसम्भवात्, स्वसंविदितत्वस्य चाऽनिष्टेः, अज्ञातायाश्च घटादेरिवापरग्राहकत्वानुपपत्तेर्न तयाप्यात्मनि व्यवस्थितं स्वरूपं गृह्यते । न च तदुत्कलितत्वम्, तदाधेयत्वम्, तत्समवेतत्वं वा आकाशादिपरिहारेणात्मगुणत्वनिबन्धनम्, सर्वस्य निषिद्धत्वात् । न च कार्येणाननुकृतव्यतिरेकं नित्यमात्मलक्षणं वस्तु कस्यचित् कारणं सिध्यति अतिप्रसंगात् । यथा च नित्यस्यैकान्तत आत्मनोऽन्यस्य वा न कारणत्वं सम्भवति तथा प्रतिपादयिष्यते । तत्र बुद्धेरात्मनो व्यतिरेके 'तस्यैवासौ गुणो नाकाशादे' इति व्यवस्थापयितु शक्यम् ।

के बीच नही है-ऐसा विभाग दुष्कर है, क्योकि समवाय अपने स्वरूप से सभी के साथ बिना किसी भेदभाव के सलग्न है । यदि आत्मा का कार्य होने से बुद्धि को उसका गुण माना जाय तो यह प्रश्न होगा कि बुद्धि आत्मा का कार्य कैसे ? 'आत्मा के होने पर बुद्धि का होना' ऐसा अन्वय तो 'आकाश के होने पर बुद्धि का होना' यहाँ भी मौजूद है तो आकाश का कार्य भी बुद्धि को कहना होगा । 'आत्मा के न होने पर बुद्धि भी नही होती' ऐसा व्यतिरेक दुर्लभ है क्योकि आत्मा तो नित्य एव आपके मत मे व्यापक माना हुआ है, अत: आत्मा का व्यतिरेक ही असम्भव है । यह भी नही कह सकते कि-'बुद्धि की आत्मा में प्रतीति होती है इसलिये वह आत्मा का ही कार्य है'-क्योकि आत्मा मे उसकी प्रतीति की वात असिद्ध है ।

[बुद्धि और आत्मा को अन्योन्यप्रतीति का असंभव]

असिद्ध इस प्रकार -आत्मा अपने मे बुद्धि का अनुभव नही करता है क्योकि आप आत्मा को स्वसविदित नही मानते । अन्य ज्ञान से आत्मा अपने को प्रत्यक्ष होता है यह बात तो विवादग्रस्त है--इस प्रकार जब आत्मा अपने स्वरूप को भी नही जानता तो अपनी आत्मा मे बुद्धि की अवस्थिति को जानने की तो बात ही दूर रही । बुद्धि भी यह नही जान सकती कि 'मै आत्मा में अवस्थित हूँ' । क्योकि न तो वह आत्मा को जान सकती है, न तो अपने स्वरूप को । कारण, अन्य बुद्धि से आत्मा या बुद्धि ग्राह्य बने यह सम्भव नही है और बुद्धि मे स्वसविदितत्व तो आपको अनिष्ट है । जब वह स्वय अज्ञात है तब घटादि की तरह दूसरे का भी ग्रहण नही कर सकती । अत. बुद्धि से 'आत्मा मे अवस्थित अपने स्वरूप' का ग्रहण अशक्य है ।

"बुद्धि आत्मा मे उत्कलित होने से, अथवा (अर्थात्) आत्मा मे आधेय (वृत्ति) होने से अथवा समवेत होने से वह आत्मा का ही गुण है, अन्य किसी आकाशादि का नही"-ऐसा भी नही कह सकते क्योंकि ये तीनो पक्ष पूर्वोक्त ग्रन्थ मे ही निषिद्ध हो चुके हैं (४२८-३) । तथा जब तक स्वव्यतिरेक से कार्य का व्यतिरेक सिद्ध न हो तब तक आत्मादि किसी भी नित्य पदार्थ मे कारणता ही सिद्ध नहीं हो सकती-। व्यतिरेक अनुसरण के विना भी कारणता मानी जाय तो फिर आकाश मे भी माननी होगी । तथा एकान्त नित्य आत्मा या किसी भी अन्य वस्तु मे कारणता का सम्भव ही नही है यह बात आगे कही जायेगी । इस प्रकार, आत्मा से बुद्धि के भिन्नतापक्ष मे वह आत्मा का ही गुण है, आकाशादि का नही-यह व्यवस्था नही की जा सकती ।

अव्यतिरेके च ततस्तद्वदेव तस्या अपि द्रव्यत्वमिति 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणमसिद्धम् । अपि च बुद्धेर्गुणत्वसिद्धावनाधारस्य गुणस्याऽसंभवात् तदाधारभूतस्याऽऽत्मनो द्रव्यत्वसिद्धि, तत्सिद्धेश्च द्रव्यकर्मभावप्रतिषेधे सति तदाश्रितत्वेन तस्या गुणत्वसिद्धिरीतीतरेतराश्रयत्वम् ।

किंच, आत्मनोऽप्रत्यक्षत्वे बुद्धेस्तद्विशेषगुणत्वेऽस्मदाद्युपलभ्यमानत्वविरोधः । तथाहि-येऽत्यन्तपरोक्षगुणिगुणा न तेऽस्मदादिप्रत्यक्षा यथा परमाणुरूपादयः, तथा च परेणाभ्युपगम्यते बुद्धिः, तस्माद् नास्मदादिप्रत्यक्षा । न च वायुस्पर्शेन व्यभिचारः, वायो. कथञ्चिद् तदव्यतिरेकेण तद्वत् प्रत्यक्षत्वात्, स्पर्शविशेषस्यैव तत्त्वात् । अस्मदादिप्रत्यक्षे च बुद्धेरत्यन्तपरोक्षात्मविभुद्रव्यविशेषगुणत्वविरोधः । तथाहि-यद् अस्मदादिप्रत्यक्ष, न तद् अत्यन्तपरोक्षगुणिगुण', यथा घटरूपादि, तथा च बुद्धि । न च वायुस्पर्शेन व्यभिचार', पूर्वमेव परिहृतत्वात् । ततोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे बुद्धेर्नात्यन्तपरोक्षात्मविशेषगुणत्वम् । तत्त्वे वा नास्मदादिप्रत्यक्षत्वमित्यसिद्धोऽस्मदाद्युपलभ्यमानलक्षणविशेषणोऽपि हेतुः ।

अथात्मनः प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमाद् नायं दोषः, नन्वेवं तस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्त्तात्मकस्य देहमात्रव्यापकस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वाद् न युगपत् सर्वदेशावस्थिताशेषमूर्त्तद्रव्य-

---

बुद्धि यदि आत्मा से अव्यतिरिक्त ही मानी जाय तब तो आत्मा की तरह बुद्धि भी द्रव्यरूप सिद्ध होगी । फिर 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्व' यह विशेषण असिद्ध हो जायेगा । तथा इस प्रकार अन्योन्याश्रय भी है-बुद्धि मे गुणत्व सिद्ध होने पर, निराधार गुण असम्भव होने से उसके आधारभूत आत्मा मे द्रव्यत्व की सिद्धि होगी और आत्मा मे द्रव्यत्व सिद्ध होने पर, बुद्धि मे द्रव्यरूपता और कर्मरूपता का प्रतिषेध कर के, आत्मद्रव्याश्रित होने से बुद्धि मे गुणरूपता की सिद्धि होगी ।

[बुद्धि में परोक्षात्मगुणता असंगत]

दूसरी बात, आत्मा यदि अप्रत्यक्ष है और बुद्धि उसका विशेषगुण है तो 'हम लोगो से उपलभ्यमानत्व' का विरोध होगा । वह इस प्रकार.-अत्यन्तपरोक्षगुणी वस्तु के गुण हमलोगो के प्रत्यक्ष का विषय नही होते, उदा० परमाणु के रूपादि । बुद्धि को भी प्रतिवादी अत्यन्त परोक्ष आत्मा का गुण मानता है अत वह हमारे प्रत्यक्ष का विषय नही होगी । यदि कहे-वायु परोक्ष होने पर भी उसके स्पर्श का प्रत्यक्ष होने से हेतु साध्यद्रोही है-तो यह ठीक नही, क्योकि वायु और उसका स्पर्श कथचिद् अभिन्न है अतः स्पर्शवत् वायु भी प्रत्यक्ष ही है । तथा मतविशेष के अनुसार स्पर्शविशेष ही वायु है, वायु किसी द्रव्य का नाम नही है । तथा बुद्धि यदि हम लोगो को प्रत्यक्ष होगी तो उसमे अत्यन्त परोक्ष विभु आत्मद्रव्य के विशेषगुणत्व का विरोध होगा । देखिये,-जो हम लोगो को प्रत्यक्ष है वह अत्यन्तपरोक्ष गुणी का गुण नही होता, उदा० घट के रूपादि बुद्धि भी हम लोगो को प्रत्यक्ष है । यहाँ भी वायु के स्पर्श मे साध्यद्रोह का उद्भावन शक्य नही क्योकि पहले ही उसका परिहार हो चुका है । इस प्रकार बुद्धि को हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय मानने पर उसमे अत्यन्त परोक्षआत्मविशेषगुणत्व सिद्ध नही होगा । यदि उसे आत्मा का विशेषगुण मानना है तो वह हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकती । और तब आत्मा में विभुत्व का साधक अस्मदाद्युपलभ्यमानत्व विशेषणवाला हेतु असिद्ध हो जायेगा ।

[आत्मा को प्रत्यक्ष मानने में देहपरिमाण की सिद्धि]

यदि कहे कि-आत्मा को प्रत्यक्ष ही मानते है अत. कोई पूर्वोक्त दोष नही है-तो इस प्रकार

सम्बन्धलक्षणस्य विभुत्वस्य साधनमनुमानतो युक्तम्, अन्यथा घटादिभिर्मेर्वादिस्तैन च घटादीनां तथा संयोगः किं नेष्यते यतः सांख्यदर्शनं न स्यात्?' 'प्रत्यक्षबाधनाद् नैवम्' इति चेत्, किमत्र प्रत्यक्षबाधनं काकैर्भक्षितम्? अथात्र पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणयुक्तहेतुसद्भावात् तथाभ्युपगमः, अन्यत्र विपर्ययाद् नेति चेत्? तर्हि पक्वान्येतानि फलानि एकशाखाप्रभवत्वात् उपयुक्तफलवत्' इत्यत्र तथाविधहेतुसद्भावात्तथाभ्युपगमः किं न स्यात्? पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा हेतोर्वा कालात्ययापदिष्टत्वमन्यत्रापि समानम्।

न च स्वसंवेदनप्रत्यक्षमेवानुमानेन प्रकृतेन बाध्यत इति वक्तुं युक्तम्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वाभ्युपगमादनुमानस्य प्रत्यक्षाऽप्रामाण्ये तस्याऽप्रवृत्तिप्रसंगात्। न च तथाभूतात्मग्राहकस्य स्वसंवेदनाध्यक्षस्याऽप्रामाण्यनिबन्धनमपरमुत्पश्यामः। न चान्यादृक्षस्यात्मनो विभुत्वसाधनाय हेतूपन्यासः सफलः, तस्य प्रमाणाऽविषयत्वेनाऽसिद्धत्वाद् हेतोराश्रयासिद्धताप्रसंगात्। तदेवमस्मदाद्युपलभ्यत्वे बुद्धिलक्षणस्य गुणस्य हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वम्, अनुपलभ्यत्वे विशेषणाऽसिद्धत्वम्।

आत्मा को प्रत्यक्ष मानने पर, अनुमान से उसमे एक साथ सकल देश मे रहे हुए मूर्त्त द्रव्यो के सम्बन्धरूप विभुत्व की सिद्धि करना अयुक्त है क्योकि हर्ष-खेदादि अनेक विवर्त्तो से विशिष्ट देहमात्रव्यापी आत्मा ही स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष से देहमात्रव्यापिता सिद्ध होने पर भी यदि उस को आपके सिद्धान्तानुसार सर्वगत-व्यापक मानेंगे तो 'सर्वं सर्वत्र विद्यते' इस मत के अनुसार सांख्य दर्शन मे घटादि का मेरु आदि के साथ और मेरु आदि का घटादि के साथ जैसे सयोग माना जाता है वैसा आप भी क्यो नही मानते हैं? इस मत मे प्रत्यक्ष बाधक है इस लिये यदि वह अमान्य है तो फिर आत्मा के विभुत्व मे भी 'देहमात्रव्यापिता का प्रत्यक्ष' बाधक है उसे क्या कौवे खा गये है? यदि ऐसा कहे कि-पक्षधर्मता और साध्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक लक्षण से युक्त हेतु का आत्मविभुत्व की सिद्धि मे सद्भाव है, अत. आत्मा को विभु मानते हैं, घटादि और मेरु के सयोग का साधक कोई लक्षणयुक्त हेतु नही है, इस लिये उसे नही मानते हैं-तो यहाँ आपको ऐसी आपत्ति होगी कि 'ये फल पक्व है क्योकि एक शाखा मे उत्पन्न हुए है जैसे इसी शाखा मे उत्पन्न पूर्व भुक्त फल' इस अनुमान मे भी 'एकशाखाप्रभवत्व' हेतु पक्ष मे वृत्ति है और अपने साध्य के साथ अन्वय-व्यतिरेकवाला भी है तो आपको वे अपक्व फल भी पक्व मानना होगा। यदि कहे कि-यहाँ तो पक्षभूत फलो मे पक्वता का प्रत्यक्ष बाध है और उसके बाद हेतु का प्रयोग करने पर कालात्ययापदिष्टता का दोष है-तो यह कथन आत्मविभुत्वसिद्धि मे भी समान है, वहाँ भी कहेगे कि आत्मा मे विभुत्व का प्रत्यक्ष बाध है और उसके बाद प्रयुक्त हेतु मे कालात्ययापदिष्ट दोष भी है।

[अनुमान से प्रत्यक्ष बाध अयुक्त]

ऐसा भी-'हमारे विभुत्वसाधक अनुमान से आपका देहमात्रव्यापिता का प्रत्यक्ष ही बाधित है'-नही कह सकते, क्योकि अनुमान की प्रवृत्ति प्रत्यक्षमूलक होती है, यदि प्रत्यक्ष को अप्रमाण कह देगे तो अनुमान की प्रवृत्ति ही रुक जायेगी। और देहमात्रव्यापी आत्मा के ग्राहक स्वसवेदनप्रत्यक्ष को अप्रमाण मानने मे कोई भी निमित्त नही दीखता हैं। हर्षविषादादिविवर्त्तरहित आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिये यदि आप हेतु-उपन्यास करे तो वह असफल रहेगा, क्योकि हर्षविषादादिविवर्त्तरहित आत्मा प्रमाण का विषय न होने से असिद्ध है। अत हेतु भी आश्रयासिद्धता दोष दुष्ट हो जायेगा। इस प्रकार, बुद्धिरूप गुण को यदि हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय माने तब तो देहमात्रव्यापिता के

परमाणूनां च नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानपाकजगुणाधिष्ठानत्वे सत्यपि न विभुत्वमिति व्यभिचारः। परमाणुपाकजगुणानामस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे 'विवादास्पदं बुद्धिमत्कारणम्, कार्यत्वात् घटादिवत्' इत्यत्र प्रयोगे व्याप्तिग्रहणं दुर्लभमासज्येत। तथाहि-कार्यत्वेनाभिमतानां परमाणुपाकजरूपादीनां व्याप्तिज्ञानेनाऽविषयीकरणे बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तिसिद्धिर्न स्यात्, तथा चैतैरेव कार्यत्वहेतोर्व्यभिचाराशंका स्यात्। अथ 'नित्यत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियोपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्' इति हेतुरभिधीयते, तर्हि बाह्येन्द्रियोपलभ्यमानत्वस्य बुद्धावसिद्धेः पुनरपि विशेषणाऽसिद्धो हेतुः प्रसक्तः। साध्यसाधनधर्मविकलश्चाकाशलक्षणः साधर्म्यदृष्टान्तः, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वस्य साधनधर्मस्य, विभुत्वलक्षणसाध्यधर्मस्य तत्राऽसिद्धेः।

अथ 'शब्दाधिकरणं द्रव्यं विभु, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात् आत्मवत्' इत्यत्र हेतोस्तत्र विभुत्वस्य सिद्धेर्न साध्यविकलो दृष्टान्तः। नापि साधनविकलः, अस्मदादिप्रत्यक्षशब्दगुणाधिष्ठानत्वस्य तत्र सिद्धत्वात्। न च शब्दस्यास्मदादिप्रत्यक्षत्व गुणत्वं वाऽसिद्धम्, श्रोत्रव्यापारेणाध्यक्षबुद्धौ शब्दस्य परिस्फुटरूपतया प्रतिभासनात्, निषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात् पृथिव्यादिवृत्तिबाधकप्रमाणसद्भावे सति गुणस्याऽऽश्रितत्वेनाकाशाऽऽश्रितत्वसिद्धेश्च न साधनविकलताप्याकाशस्य।

प्रत्यक्ष से पक्षभूतआत्मद्रव्य मे व्यापकता का बाध होने पर प्रयुक्त 'अस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्व' हेतु कालात्ययापदिष्ट हो जायेगा। और यदि हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय बुद्धि को न माने तो हेतु मे वह विशेषण अश ही असिद्ध रहेगा।

[परमाणुपाकजगुणों में कार्यत्वव्यभिचार की आशंका]

तदुपरात 'नित्य होते हुए हमलोगो को उपलभ्यमान गुण का अधिष्ठान है' ऐसा हेतु परमाणु मे रह जाता है क्योकि पाकजन्य रूपादि गुण हम लोगो को उपलभ्यमान है और वह परमाणु में रहता है, परमाणु मे साध्य विभुत्व नही रहता, अंतः हेतु साध्यद्रोही हुआ। यदि परमाणु के पाकज गुणो का हमलोगो को प्रत्यक्ष नही है ऐसा कहेगे तो, यह जो प्रयोग है-'विवादास्पद वस्तु बुद्धिमत्कारणपूर्वक है क्योकि कार्य है, उदा० घटादि'-इसमे व्याप्ति का ग्रह दुष्कर बन जायेगा। जैसे देखिये-परमाणु के पाकजन्य रूपादि मे कार्यत्व इष्ट है किन्तु वे यदि व्याप्तिज्ञान के विषय नही होगे तो बुद्धिमत्कारणता के साथ व्याप्ति की सिद्धि नही होगी। फलत, यहाँ ही कार्यत्व हेतु मे साध्यद्रोही होने की आशका उठेगी। अब यदि हेतु मे ऐसा सस्कार किया जाय 'नित्य होते हुए हम लोगो को बाह्येन्द्रिय से उपलभ्यमान गुण का अधिष्ठान है'-तो बुद्धि मे बाह्येन्द्रिय-उपलभ्यमानत्व असिद्ध होने से हेतु भी विशेषणाश से असिद्ध बन गया।

तथा साधर्म्यदृष्टान्तरूप आकाश मे A साध्यधर्मशून्यता और B साधनधर्मशून्यत्व प्रसक्त है। चूँकि 'नित्य होते हुए हम लोगो को उपलभ्यमान गुण (शब्द) का अधिठानत्व रूप साधन धर्म, आकाश मे हमारे मत से असिद्ध है और विभुत्वरूप साध्य धर्म भी असिद्ध है।

[दृष्टान्त में साध्य-साधनविकलता न होने की शंका]

यदि यह कहा जाय-A शब्द का आश्रय द्रव्य व्यापक है, क्योकि नित्य होते हुए हम लोगो

असदेतत्-सिद्धे ह्यात्मनो विभुत्वे तन्निदर्शनादाकाशस्य विभुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धे चात्मनो विभुत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् नाप्याकाशस्य विभुत्वसिद्धिरिति साध्यविकलता तदवस्थैव। यच्च शब्दस्य गुणत्वसाधकमनुमानं, तत्र 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इति हेतौ सत्तायाः तत्संबन्धित्वहेतोः समवायस्य चासिद्धत्वादसिद्धता, 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वे सति' इति विशेषणस्य चाऽसिद्धता, शब्दस्य द्रव्यत्वात्।

[शब्दो द्रव्यं क्रियावत्त्वात्]

तथाहि-द्रव्यं शब्दः क्रियावत्त्वात्, यद्यत् क्रियावत् तत्तद् द्रव्यं यथा शरः, तथा च शब्दः तस्माद् द्रव्यम्। निष्क्रियत्वे श्रोत्रेणाऽग्रहणप्रसंगः, तेनाऽनभिसम्बन्धात्। तथापि ग्रहणे श्रोत्रस्याऽप्राप्यकारित्वप्रसक्तिः। तथा च, 'प्राप्यकारि चक्षुः बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्' इत्यस्य श्रोत्रेणानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः। सबन्धकल्पनायां वा, श्रोत्रं वा शब्ददेशं गत्वा शब्देनाभिसम्बध्येत शब्दो वा श्रोत्रदेशमागत्य तेनाऽभिसम्बध्येत ? न तावत् प्रथमः पक्षः, स्वधर्माऽधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धनभोदेशलक्षणश्रोत्रस्य शब्दोत्पत्तिदेशे निष्क्रियत्वेन तथाप्रतीत्यभावेन च गत्यसम्भवात्। गत्यभ्युपगमे वा विवक्षितशब्दापान्तरालवर्त्तिनामन्यान्यशब्दानामपि ग्रहणप्रसंगः, सम्बन्धाऽविशेषात्। अनुवातप्रतिवात-

---

को उपलभ्यमान गुण का अधिष्ठान है, उदा० आत्मा। इस हेतु से आकाश मे विभुत्व (=व्यापकत्व) सिद्ध होने से आत्मा मे विभुत्व की सिद्धि मे दृष्टान्त भूत आकाश मे साध्यशून्यता दोष नही है। B तथा साधनशून्यता भी नही है-हम लोगो को प्रत्यक्ष ऐसे शब्दगुण का अधिष्ठानत्व आकाश मे सिद्ध है। शब्द मे a हम लोगो के प्रत्यक्ष की विषयता अथवा b गुणत्व असिद्ध नही है। a श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापार से प्रत्यक्ष बुद्धि मे स्पष्टरूप से शब्द का प्रतिभास होता है। b तथा, 'शब्द गुण है क्योकि उसमे द्रव्यत्व या कर्मत्व प्रतिषिद्ध हैं और वह सत्ता का सबन्धि है' इस अनुमान से शब्द में गुणत्व की सिद्धि होने पर, पृथ्वी आदि का उसे गुण माने तो बाधक प्रमाण के होने से तथा निराश्रित गुण असिद्ध होने से आखिर उसे आकाश मे ही आश्रित मानना चाहिये-यह सिद्ध होगा, इस प्रकार आकाशरूप दृष्टान्त मे साधनशून्यता भी नहीं।-तो,

[दृष्टान्त में अन्योन्याश्रय दोषापत्ति]

यह बात गलत है-क्योकि यहाँ एक तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसग है-आत्मा विभु सिद्ध होने पर उसके दृष्टान्त से आकाश का विभुत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर आत्मा मे विभुत्व सिद्ध हो सकेगा, फलत आकाश मे भी विभुत्व की सिद्धि न होने से दृष्टान्त मे साध्यशून्यता दोष तदवस्थ रहा। तथा दूसरा, जो शब्द मे गुणत्व साधक अनुमान दिखाया उसमे सत्तासम्बन्धित्व यह हेतु अश असिद्ध है क्योकि सत्ता और तत्सम्बन्धिताकारक समवाय दोनो ही असिद्ध है। तथा शब्द मे 'द्रव्यत्व प्रतिषिद्ध होने से' यह हेतु का विशेषण अश भी असिद्ध है, क्योकि जैन मत से शब्द द्रव्यरूप है।

[शब्द में द्रव्यत्वसाधक चर्चा]

वह इस प्रकार-'शब्द द्रव्य है क्योकि क्रियाशील है, जो जो सक्रिय होता है वह द्रव्य होता है जैसे तीर, शब्द भी सक्रिय है अत द्रव्यरूप है।' यदि शब्द को निष्क्रिय मानेंगे तो दूरदेशोत्पन्न शब्द का श्रोत्र के साथ सम्बन्ध न होने से श्रोत्र से उसका ग्रहण नही होगा। तथापि यदि ग्रहण मानेंगे तो

तिर्यग्वातेषु च प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिभेदाभावप्रसंगश्च, श्रोत्रस्य गच्छतस्तत्कृतोपकाराद्ययोगात् । नापि शब्दस्य श्रोत्रदेशागमनसम्भवः, गुणत्वेन तस्य निष्क्रियत्वोपगमाद् आगमने वा सक्रियत्वाद् द्रव्यत्वमेव ।

अथापि स्याद्—न आद्य एवाकाशतद्वेणुमुखसंयोगात् समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणादुद्भूतः शब्दः श्रोत्रेणागत्य सम्बध्यते येनायं दोषः स्यात्, अपि तु जलतरंगन्यायेनापरापर एवाकाश-शब्दादिलक्षणात् समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणादुपजातस्तेनाभिसम्बध्यत इति । नन्वेवं बाणादयोऽपि पूर्व-पूर्वसमानजातीयक्षणप्रभवा अन्ये एव लक्ष्येणाभिसम्बध्यन्त इति किं नाभ्युपगम्यते ? तथा च क्रियायाः सर्वत्राभाव इति 'क्रियावद् द्रव्यम्' इति द्रव्यलक्षणं न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत । अथ प्रत्यभिज्ञानाद् बाणादौ नित्यत्वसिद्धेर्नेयं कल्पना । नन्वेवं शब्देऽपि मा भूदियम्, तत्राप्येकत्वग्राहिण प्रत्यभिज्ञानस्य 'देवदत्तोच्चारितं शब्दं शृणोमि' इत्येवमाकारेणोपजायमानस्याऽबाधितस्वरूपस्यानुभवात् । न च लूनपुनर्जातकेश-नखादिष्विव सदृशापरापरोत्पत्तिनिबन्धनमेतत्प्रत्यभिज्ञानमिति वक्तु शक्यम्, बाणादावपि तस्य तथात्वाऽविशेषात् ।

(नेत्रवत्) श्रोत्र मे भी अप्राप्यकारिता का प्रसग होगा । फलतः, नेत्र प्राप्यकारी है क्योकि बाह्येन्द्रिय है, उदा० त्वचाइन्द्रिय' इस अनुमान का हेतु श्रोत्र मे साध्य का द्रोही बन जायेगा । यदि श्रोत्र और शब्द मे सयोग सबध की कल्पना करेंगे तो उसमे सभवित दो प्रकार के प्रश्न होगे-A श्रोत्र शब्ददेश मे जाकर उससे सबद्ध होता है या B शब्द श्रोत्रदेश मे आकर श्रोत्र से सबद्ध होता है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नही है, क्योकि आपके मत मे श्रोत्रेन्द्रिय तो धर्माधर्म से सस्कृत कर्णशष्कुली से अभिव्याप्त आकाशभागरूप ही है जो निष्क्रिय होने से दूर देशोत्पन्न शब्द के पास जा नही सकता, न तो ऐसी प्रतीति किसी को होती है । फिर भी श्रोत्र की गति मानेगे तो दूर देशोत्पन्न शब्द और श्रोत्र के मध्य-वर्त्ती अन्य अन्य सभी शब्दो के साथ भी पक्षपात के विना श्रोत्र का सम्बन्ध होने से उन सभी शब्दो के ग्रहण का प्रसग होगा । किन्तु यह अनुभवविरुद्ध है । तथा कर्णदेशाभिमुख वात का सचार होने पर शब्द की स्पष्ट बुद्धि होती है, कर्णदेश विरुद्ध दिशा मे पवन का झपाटा होने पर शब्द सुनाई ही नही देता, और तिरछी दिशा मे (न अभिमुख और न प्रतिमुख किन्तु मध्यवर्त्ती दिशा मे) वातसचार होने पर शब्द अस्पष्ट सुन पडता है यह अनुभव सिद्ध है इसकी सगति आपके मत मे नही होगी क्योकि शब्द मे जाने वाले श्रोत्र को उन वातो से कोई उपकार-अपकार तो होने वाला है नही । B तथा आपके मत मे शब्द गुणात्मक होने से श्रोत्र देश मे उसके आगमन का असम्भव है, यदि फिर भी उसका आगमन मानेंगे तो सक्रियता से ही द्रव्यत्व की सिद्धि हो जायेगी ।

[जलतरंगन्याय से अनेक शब्दों की कल्पना सदोष]

यदि यह कहा जाय—शब्द की उत्पत्ति मे आकाश समवायी कारण, आकाश और वेणु का मुख से सयोग असमवायिकारण है और निमित्त कारण है वात, इन से जो प्रथम शब्द उत्पन्न होता है वही श्रोत्र के पास आ कर सम्बद्ध होता है ऐसा हम नही मानते जिससे कि द्रव्यत्व प्रसग हो । किन्तु जल मे जैसे एक से दूसरे तरग होते है उसी तरह एक से दूसरे दूसरे शब्द उत्पन्न होते हुए श्रोत्रदेश मे भी समवायीकारण आकाश, असमवायिकारण पूर्वशब्द और निमित्तकारण वात से नया शब्द उत्पन्न होता है और उसी का श्रोत्र से सम्बन्ध होता है ।–

अथ शब्दे बाधकसद्भावात् तथा तत्परिकल्पनम् न बाणादौ विपर्ययात् । ननु न शब्दैकत्वविषयं प्रत्यक्ष तावदस्य बाधकम्, समानविषयत्वेन तस्य तद्बाधकत्वाऽयोगात् । क्षणिकत्वविषयं तु शब्देऽन्यत्र वा विवादगोचरचारीति न तद्बाधकं युक्तम् । न चानुमानं प्रत्यभिज्ञानबाधकम्, प्रत्यभिज्ञानस्य मानसप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, तदेव ह्यनुमानस्यैकशाखाप्रभवत्वादेर्बाधकमुपलब्धम्, न पुनरनुमानं तस्य । अथ शब्दैकत्वग्राहकप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्य तदाभासत्वादनुमान स्थिरचन्द्रार्कादिग्राहकस्येव देशान्तरप्राप्तिलिंगजनितानुमानवद् बाधकं भविष्यति । कथ पुनरस्य प्रत्यक्षाभासत्वम् ? 'अनुमानेन बाधनाद्' इति चेत् ? अनेनाप्यनुमानस्य बाधनादनुमानाभासत्व किं न स्यात् ? अथानुमानबाधितविषयत्वाद् नैतदनुमानबाधकम् । अनुमानमप्येतद्बाधितविषयत्वाद् नास्य बाधकमिति प्रसक्तम् । अथ साध्याऽविनाभाविलिंगजनितत्वान्नानुमानमेतद्बाध्यम् । एकशाखा प्रभवत्वानुमानमपि तद्गामिताग्राहिप्रत्यक्षबाध्यं न स्यात् । अथ पक्षे एव व्यभिचाराद् न साध्याविनाभूतहेतुप्रभवत्वमेकशाखाप्रभवत्वानुमानस्य । तत् शब्दक्षणिकत्वानुमानेऽपि समानम् ।

किन्तु यह बात मान लेने पर यह आपत्ति है कि बाणादि भी पूर्वपूर्व से उत्तर उत्तर क्षण और देश में नये नये सजातीय उत्पन्न हो यावत् लक्ष्य के समीप मे उत्पन्न अन्तिम बाण लक्ष्य से सम्बद्ध होता है ऐसा भी क्यो न माना जाय ? और ऐसा तो सभी सक्रिय द्रव्य के लिये माना जा सकेगा, फलतः क्रिया ही नामशेष हो जाने से 'क्रियावाला हो वह द्रव्य' ऐसा द्रव्य का लक्षण भी सगत न हो सकेगा। यदि कहे कि-प्रत्यभिज्ञा से बाणादि में नित्यत्व (स्थायित्व) सिद्ध होने से नये नये की उत्पत्ति वाली कल्पना नही करेंगे-तो फिर शब्द मे ऐसी कल्पना मत कीजिये। वहाँ भी एकत्व ग्राहक 'देवदत्तभाषित शब्द सुनता हूँ' ऐसे आकार की प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति अबाधितरूप से अनुभवसिद्ध है। ऐसा नही कह सकते कि 'यह प्रत्यभिज्ञा तो 'काट देने पर नवजात केश-नखादि' के समान अपर अपर उत्पत्तिमूलक होने वाली एकत्वप्रत्यभिज्ञा से तुल्य है अतः वह प्रमाणभूत नहीं'-ऐसा कहेंगे तो बाणादि की प्रत्यभिज्ञा मे भी अप्रामाण्य की आपत्ति होगी।

[शब्द में एकत्व की प्रत्यभिज्ञा निर्बाध है]

पूर्वपक्षीः-शब्द मे एकत्वग्राहक प्रत्यभिज्ञा का बाधक विद्यमान होने से, जलतरंगन्याय से नये-नये शब्द के उत्पाद की कल्पना ठीक है, बाणादि स्थल मे कोई बाधक नही है तो नये नये की कल्पना क्यो करे ?-

उत्तरपक्षीः-शब्दस्थल मे कौन बाधक है ? शब्दैकत्वविषयक प्रत्यक्ष तो प्रत्यभिज्ञा का बाधक हो नही सकता क्योकि वह तो प्रत्यभिज्ञा का समान विषयक होने से उसका बाधक बन नही सकता। शब्द मे क्षणिकत्व का प्रत्यक्ष तो स्वय ही विवादग्रस्त है अतः उसे एकत्वप्रत्यभिज्ञा का बाधक मानना अयुक्त है। अनुमान भी उसका बाधक नही है, क्योकि प्रत्यभिज्ञा मानसप्रत्यक्षरूप होने से वही अनुमान का बाधक बनेगा जैसे कि फल मे अपक्वता का प्रत्यक्ष एकशाखाप्रभवत्वहेतुक पक्वता के अनुमान का बाधक होता है। वहाँ अनुमान को प्रत्यक्ष का बाधक नही माना जाता।

पूर्वपक्षीः-शब्द मे एकत्वबोधक प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षाभासरूप होने से अनुमान उसका बाधक हो सकेगा, जैसे कि देशान्तरप्राप्तिहेतुक गति अनुमान चन्द्र-सूर्यादि मे स्थिरताबोधकप्रत्यक्ष का बाधक होता है।

न च शब्दक्षणिकत्वप्रसाधकमनुमानं पराभ्युपगमे संभवति । यच्च 'क्षणिकः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्, यो योऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणः स स क्षणिकः, यथा ज्ञानादिः, तथा च शब्दः, तस्मात् क्षणिकः' इत्यनुमानम्, तदेकशाखाप्रभवत्वानुमानवद् मानसप्रत्यक्षाभिमतप्रत्यभिज्ञानबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वात् कालात्ययापदिष्टहेतुप्रभवत्वात् न साध्यसिद्धिनिबन्धनम् । किंच धर्मादिविभुद्रव्यविशेषगुणत्वेऽपि न क्षणिकत्वमिति हेतोर्व्यभिचारः। तस्यापि पक्षीकरणे सर्वत्र व्यभिचारविषये पक्षीकरणाद् न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात् 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति च विशेषणमनर्थकम्, व्यवच्छेद्याभावात् ।

धर्मादेः क्षणिकत्वे च स्वोत्पत्तिसमयानन्तरमेव ध्वस्तत्वाद् न ततो जन्मान्तरफलप्राप्तिः । शब्दात् शब्दोत्पत्तिवद् धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्तावभ्युपगमबाधा "परस्य अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनितोऽभिलाषोऽभिलषितुरर्थाभिमुखक्रियाकारणमात्मविशेषगुणमाराध्नोति, अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिला-

उत्तरपक्षीः-एकत्वबोधक प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षाभासरूप कैसे सिद्ध हुयी ? यदि अनुमान का बाध है इसलिये, तो फिर वह प्रत्यक्ष, अनुमान का भी बाधक होने से, अनुमान भी अनुमानाभासरूप क्यो नही होगा ? यदि कहे कि-प्रत्यक्ष को आप अनुमान का बाधक कहते है उसका ही विषय अनुमानबाधित है अतः वह प्रत्यक्ष अनुमान का बाधक नही हो सकता-तो इसके विरुद्ध यह भी कह सकते है कि बाधक अनुमान का ही विषय प्रत्यक्षबाधित होने से वह अनुमान प्रत्यक्ष का बाधक नही हो सकता । यदि कहे-शब्द मे एकत्वविरोधी अनुमान, साध्य के अविनाभावी हेतु के बल से उत्पन्न है अतः मानसप्रत्यक्ष से उसका बाध अशक्य है ।-तो एकशाखाप्रभवत्वहेतुक अनुमान भी वैसा ही होने से अपक्वताबोधकप्रत्यक्ष से बाधित नही होगा । यदि कहे कि-फल मे पक्वता का अभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है और हेतु एकशाखाप्रभवत्व वहाँ रहता है अतः पक्ष मे ही हेतु साध्यद्रोही होने से एकशाखाप्रभत्वहेतुक अनुमान साध्य के अविनाभावी हेतु से उत्पन्न नही माना जा सकता । तो शब्द के क्षणिकत्वानुमान के लिये भी यही बात कह सकते है कि शब्द मे प्रत्यक्ष से स्थायित्व (एकत्व) अर्थात् क्षणिकत्व का अभाव सिद्ध होने से उसमे क्षणिकत्व साधक हेतु रहेगा तो साध्यद्रोही बन जायेगा अत. क्षणिकत्व का अनुमान भी साध्याविनाभावि हेतुबल से उत्पन्न नही हो सकता ।

[शब्द में क्षणिकत्वसाधक अनुमान का असंभव]

तथा नैयायिकमत मे शब्द मे क्षणिकत्व का साधक अनुमान भी सम्भवारूढ नही है । यह जो अनुमान कहा जाता है-"शब्द क्षणिक है, क्योकि हमलोगो को प्रत्यक्ष होने के साथ विभुद्रव्य का विशेष गुण है । जो जो हमलोगो को प्रत्यक्ष और विभुद्रव्य का विशेष गुण होता है वह क्षणिक होता है, उदा० ज्ञानादि, शब्द भी ऐसा ही है अत क्षणिक सिद्ध होता है"-यह अनुमान साध्यसिद्धि मे समर्थ नही, क्योकि कालात्ययापदिष्ट हेतु से जन्य है । कारण, जैसे एकशाखाप्रभवत्वानुमान का साध्य प्रत्यक्ष से बाधित होता है उसी तरह मानसप्रत्यक्ष माने गये प्रत्यभिज्ञान से शब्दपक्षक अनुमान के कर्म (साध्य) का निर्देश भी बाधित होने के बाद आपने हेतु का प्रयोग किया है । तदुपरात धर्माऽधर्म भी विभुद्रव्य के ही विशेषगुण है अतः उसमें हेतु रहा और क्षणिकत्व नही है इसलिये वह साध्यद्रोही बना । (अस्मदादि० विशेषण से साध्यद्रोह का वारण निरर्थक है यह आगे कहा जायेगा ।) यदि उसका भी पक्ष मे अन्तर्भाव करेगे तो अन्यत्र सभी साध्यद्रोहस्थलो का पक्ष मे अन्तर्भाव कर लेने से कोई भी हेतु

त्त्वात् , आत्मनोऽनुकूलाभिमानजनिताभिलाषवत्" इत्यस्य च विरोधः, यतो योऽसौ परस्यानुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषोत्पादित आत्मविशेषगुणो नासावभिलषितुरर्थाभिमुखक्रियाकारणम् , तत्समानतत्कारणत्वात् , यश्च तत्क्रियाकारणम् नासौ यथोक्ताभिलाषेणारब्ध इति ।

तथा 'प्रवर्त्तक–निवर्त्तकाविच्छा-द्वेषनिमित्तौ धर्माऽधर्मौ, अव्यवधानेन हिताऽहितविषयप्राप्ति-परिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वात् , प्रवर्त्तकनिवर्त्तकप्रयत्नवत्' इत्यत्र हेतोर्व्यभिचारश्च, जन्मान्तरफलप्रदयोर्धर्माधर्मयोरव्यवधानेन हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वेऽपीच्छा-द्वेषजनितत्वाभावात् । किंच, धर्मादिवद् अपरापरतत्कार्योत्पत्तिप्रसंगश्च । ततो न शब्दात् शब्दोत्पत्तिवद् धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्तिः, तस्य क्षणिकत्वे न जन्मान्तरे ततः फलमित्यक्षणिकत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यमतस्तेन व्यभिचारी हेतुः ।

साध्यद्रोही नही बनेगा । तथा धर्माधर्म को क्षणिक मानने पर हेतु मे 'हम लोगों को प्रत्यक्ष होने के साथ' ऐसा जो विशेषण लगाया है वह व्यवच्छेद्य के अभाव से निरर्थक हो जायेगा, क्योंकि धर्मादि का ही उससे व्यवच्छेद शक्य था और आपको तो वह इष्ट नही है ।

[धर्मादि में क्षणिकत्व नहीं हो सकता]

तथा धर्मादि को भी यदि क्षणिक मान लेंगे तो अपनी उत्पत्ति के बाद त्वरित ही उसका ध्वंस हो जाने पर उससे जन्मान्तर मे फल प्राप्त न होगा । यदि उसके लिये सतत पूर्वपूर्व धर्मादि से अन्य अन्य धर्म की उत्पत्ति मानते रहेगे तो आपके सिद्धान्त का भग होगा । उपरात आपके ही निम्नोक्त धर्मसाधक अनुमान मे विरोध आयेगा—"पर व्यक्ति को अनुकूल पदार्थो के विषय मे अनुकूलता के अभिमान से उत्पन्न जो अभिलाष है वह अभिलाषकर्त्ता की अर्थाभिमुख क्रिया के कारणभूत आत्मा के विशेष गुण (धर्म) की आराधना=उत्पत्ति करता है क्योकि वह अनुकूल पदार्थविषयक अनुकूलताभिमानजन्याभिलाषात्मक है । जैसे कि अपना अनुकूल(भोग्य)पदार्थ विषयक अनुकूलत्वाभिमानजनित अभिलाष अपनी भोग्यपदार्थग्रहणाभिमुखक्रिया के जनक आत्मगुणविशेष (प्रयत्न) की आराधना करता है ।" इसमे विरोध इसलिये है कि अनुकूलवस्तुविषयक अनुकूलत्वाभिमानजन्याभिलाप से उत्पन्न जो आत्मविशेषगुण (धर्म) है वह अभिलाषकर्त्ता की अर्थाभिमुख क्रिया का साक्षात् कारण नही है किन्तु उस विशेषगुण से उत्तर उत्तर क्षणो मे उत्पन्न सजातीय धर्मादि ही उस क्रिया का साक्षात् कारण है । वह जो सजातीय धर्मादि उस क्रिया का कारण होता है वह तो पूर्वक्षण वाले धर्मादि से ही उत्पन्न हुआ है अत' वह पूर्वोक्त अभिलाष से उत्पन्न नही है । इस प्रकार प्रयत्न के दृष्टान्त से आत्मविशेषगुणरूप में धर्म की सिद्धि के लिये प्रयुक्त अनुमान मे विरोध आ पडेगा ।

[धर्माधर्म में इच्छा-द्वेषनिमित्तकत्व-अभाव की आपत्ति]

तदुपरांत, आपके निम्नोक्त अनुमान मे हेतु साध्यद्रोही सिद्ध होगा । अनुमान-'प्रवर्त्तक और निवर्त्तक धर्म-अधर्म (क्रमश) इच्छा एव द्वेष के निमित्त से जन्य होते हैं क्योकि व्यवधान (अतर) के विना हितप्राप्ति-अहितपरिहारसमर्थ कर्म (क्रिया) का कारण होते हुए वे आत्मविशेषगुणरूप होते हैं, उदा० प्रवर्त्तक–निवर्त्तक प्रयत्न ।' यहाँ हेतु साध्यद्रोही इस प्रकार है जन्मान्तर मे फलप्रद जो धर्माधर्म है (वे पूर्व क्षण के धर्माधर्म से उत्पन्न है) उनमें व्यवधान के विना हितप्राप्ति-अहित-परिहारसमर्थ क्रिया की उत्पादकता के साथ साथ आत्मविशेषगुणरूपता यह हेतु तो है, किन्तु उन

अथास्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्य धर्मादावसंभवाद् न व्यभिचारः। असदेतत्, विपक्षविरुद्धं हि विशेषणं ततो हेतुं निवर्त्तयति, यथा(सहेतुकत्वं) अहेतुकत्वविरुद्धं ततः कादाचित्कत्वं निवर्त्तयति। न चास्मदादिप्रत्यक्षत्वमक्षणिकत्वविरुद्धम्, अक्षणिकेष्वपि सामान्यादिषु भावात्, ततो यथाऽस्मदादिप्रत्यक्षा अपि केचित् क्षणिका प्रदीपादयः, अपरेऽक्षणिकाः सामान्यादयस्तथाऽस्मदादिप्रत्यक्षा अपि विभुद्रव्यविशेषगुणाः केचित् क्षणिका, अपरेऽक्षणिका भविष्यन्तीति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः। न चाऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्याक्षणिकेऽदर्शनात्ततो व्यावृत्तिसिद्धिः, अदर्शनस्यात्मसम्बन्धिनः परलोकादिनाऽनैकान्तिकत्वात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात्। न च कृतकत्वादावप्यय दोषः समानः, तत्र विपक्षे हेतो. सद्भावबाधकप्रमाणभावात् प्रकृतहेतोश्च तस्याभाव.त्।

धर्माधर्म मे इच्छा-द्वेषजन्यता-साध्य नही है। तदुपरात, धर्माधर्म को जैसे आप उत्तरोत्तरक्षण मे नये नये उत्पन्न मानते हो उसी प्रकार उससे उत्पन्न भोगादि कार्य भी उत्तरोत्तरक्षण मे नये नये उत्पन्न होते रहेंगे-यह अतिप्रसग होगा। फलत यही मानना उचित है कि शब्द से शब्द की उत्पत्ति की तरह धर्मादि से धर्मादि की उत्पत्ति नही होती। अतः यदि उसे क्षणिक मानेंगे तो जन्मान्तर मे उससे फलप्राप्ति न हो सकेगी। इसलिये धर्मादि को अक्षणिक ही मानना होगा, अतः उसके फलस्वरूप शब्द में क्षणिकत्व साधक विभुद्रव्यविशेषगुणत्वरूप हेतु धर्मादि मे साध्यद्रोही ठहरेगा।

[अस्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषण की निरर्थकता]

यदि यह कहा जाय-'हम लोगो को प्रत्यक्ष होने के साथ' ऐसे विशेषण से विशिष्ट विभुद्रव्यविशेषगुणत्व हेतु धर्मादि मे नही रहता है अतः वहाँ साध्यद्रोह निवृत्त हो जायेगा।-तो यह गलत है विभुद्रव्यविशेषगुणत्व को धर्मादि मे से निवृत्त करने के लिये आप अस्मदादिप्रत्यक्षत्व(=हम लोगो को प्रत्यक्ष होने के साथ) ऐसा विशेषण लगाते है किन्तु इससे विभुद्रव्यविशेषगुणत्व की धर्मादि मे से व्यावृत्ति तो नही हो जाती, वह तो वहाँ पडा ही रहता है। (विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नही होता-यह न्याय भी यहाँ स्मरणीय है)। जो विपक्षविरोधी विशेषण हो उसके लगाने से ही हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति हो सकती है जैसे कि किसी एक वस्तु मे अनित्यत्व की सिद्धि के लिये कादाचित्कत्व को हेतु किया जाय तो वह विपक्षभूत नित्य अहेतुक पदार्थो मे भी रह जाता है अतः सहेतुकत्व विशेषण लगा देने पर वह अहेतुकत्व का विरोधी होने से कादाचित्कत्व की अहेतुक विपक्ष से व्यावृत्ति कर देता है। यहाँ अक्षणिकत्व विपक्ष है, अस्मदादिप्रत्यक्षत्व उसका विरोधी नही है, क्योंकि अक्षणिक घटत्वादि सामान्य में वह रहता है। सच बात यह है कि जैसे हम लोगो को प्रत्यक्ष होने पर भी दीपादि कुछ पदार्थ क्षणिक होते हैं और घटत्वादि सामान्य अक्षणिक होते है। अतः शब्द हम लोगो को प्रत्यक्ष होने पर भी अक्षणिक होने का सदेह हो सकता है अत वही विपक्षरूप मे सदिग्ध हुआ और उसमे हेतु रहने से सदिग्धविपक्षव्यावृत्ति के कारण हेतु साध्यद्रोही बना रहेगा। यह नही कह सकते कि-अस्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्ट विभुद्रव्यविशेषगुणत्व हेतु अक्षणिक किसी भी पदार्थ मे अदृष्ट है अतः अक्षणिकवस्तु से उसकी व्यावृत्ति सिद्ध हो जायेगी क्योकि अपने अदर्शनमात्र से यदि किसी की निवृत्ति हो जाती हो तो परलोकादि भी निवृत्त हो जायेंगे किन्तु वे निवृत्त नही होते अत. अपना अदर्शन तो निवृत्ति का विद्रोही हुआ। यदि सर्वसम्बन्धी अदर्शन कहेगे तो वही असिद्ध है। यदि कहे

यदि पुनर्विपक्षे हेतोरदर्शनमात्रादेव ततो व्यावृत्तिस्तथा सति-[श्लो० वा० अ० ७-३६६]
बेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ।।
इत्यस्यापि विपक्षेऽदर्शनात् ततो व्यावृत्तिसिद्धिरित्यपौरुषेयत्वसिद्धेर्न तस्येश्वरप्रणीतत्वं स्यात् ।

धर्माऽधर्मादेश्चास्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टाः, देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्, यद् यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत् तत् तद् देवदत्तगुणाकृष्टं यथा ग्रासादिः, तथा च पश्वादयः, तस्माद् देवदत्तगुणाकृष्टाः' इत्यनुमानमसंगतं स्यात्, व्याप्तेरग्रहणात् । तथाप्यनुमाने यतः कुतश्चिद् यत्किंचिदवगम्येत । ग्रासादेर्देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य देवदत्तप्रयत्नगुणाकृष्टत्वेन व्याप्तिप्रदर्शनात् तस्यैव तत्पूर्वकत्वानुमानं स्यात्, तस्य च वैयर्थ्यम् ।

अथ पश्वादेरपि देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य देवदत्तप्रयत्नसमानगुणाकृष्टत्वेन व्याप्तिः प्रतीयते तर्हि प्रयत्नसमानगुणस्य पश्वादेर्देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य वाऽप्रतिपत्तौ कथं तदाकृष्टत्वेन व्याप्तिसिद्धिः ? नहि प्रयत्नाऽप्रतिपत्तौ तदाकृष्टत्वेन प्रतिपन्नस्य ग्रासादेर्देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य व्याप्तिप्रतिपत्तिः । तत्प्रतिपत्त्यभ्युपगमश्च यदि तेनैवानुमानेन, अन्योन्याश्रयदोष -व्याप्तिसिद्धावनुमानम् ततश्च व्याप्ति-

कि-शब्द मे नित्यत्व के सदेह से कृतकत्व हेतु मे भी ऐसे संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति दोष लगाया जा सकेगा।-तो यह अयुक्त है क्योंकि कृतकत्व को विपक्षभूत नित्य-गगनादि मे वृत्ति मानने मे बलवान बाधक प्रमाण की सत्ता है जब कि वह प्रस्तुत हेतु मे नही है ।

[अदर्शनमात्र से विपक्षनिवृत्ति असिद्ध]

विपक्ष मे अदर्शनमात्र से यदि हेतु की वहाँ से निवृत्ति हो जाती हो तब तो मीमांसको का जो यह अनुमान है-सकल वेदाध्ययन वेदाध्ययनपूर्वक ही होता है क्योंकि वह वेदाध्ययनपदवाच्य है जैसे कि आधुनिक वेदाध्ययन । तो इस अनुमान मे भी हेतु का अदर्शनमात्र विपक्ष मे सुलभ होने से विपक्ष से उसकी व्यावृत्ति सिद्ध होने पर अपौरुषेयत्वसिद्धि नैयायिक को भी हो जायेगी । फिर वेद ईश्वररचित नही माना जा सकेगा ।

तथा धर्माधर्मादि को यदि आप हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय नही मानते है तो निम्नोक्त अनुमान असगत हो जायेगा-देवदत्त के प्रति खिंचे जा रहे पशु आदि देवदत्त के गुण (धर्म) से आकृष्ट हैं, क्योंकि वे देवदत्त के प्रति ही खिंचे जा रहे है जो जो देवदत्त के प्रति खिंचे जाने वाले होते हैं वे देवदत्त के गुण से (चाहे प्रयत्न से या धर्म से) आकृष्ट होते हैं जैसे कवलादि । पशु आदि भी वैसे ही हैं अतः वे देवदत्त के ही गुण से आकृष्ट सिद्ध होते हैं" [पशु आदि के खिचाने मे प्रयत्न तो बाधित है इसलिये अदृष्ट धर्मगुण सिद्ध होगा]-किन्तु यह अनुमान सगत नही होगा क्योंकि यहाँ साध्य देवदत्तगुण धर्मादि है और उसके साथ व्याप्ति का ग्रहण किया नही है । व्याप्तिग्रहण के विना भी अनुमान करना हो तब तो किसी भी वस्तु से जिस किसी का अनुमान करते ही रहो । आपकी दिखायी हुई व्याप्ति मे तो देवदत्त के प्रति ग्रासादि के उपसर्पण मे देवदत्तप्रयत्नगुणाकृष्टत्व का सहचार ही दिखाया है अतः पक्ष मे भी देवदत्त के (अदृष्ट)प्रयत्नगुणाकृष्टत्व ही सिद्ध हो सकेगा, और वह तो आपके लिये व्यर्थ है ।

यदि कहे-देवदत्त के प्रति खिंचे जाने वाले पशु आदि में देवदत्त के 'प्रयत्न जैसे (अन्य किसी) गुण से आकृष्टत्व' की व्याप्ति प्रतीत होती है-तो यहाँ प्रश्न है कि प्रयत्न जैसा कोई गुण और देवदत्त के

सिद्धिरिति। अनुमानान्तरेण तत्प्रतिपत्तावनवस्था। प्रमाणान्तरेण च तत्प्रतिपत्तौ वैशेषिकस्य द्वे प्रमाणे, नैयायिकस्य चत्वारि प्रमाणानि इति प्रमाणसंख्याव्याघातः। ततो मानसप्रत्यक्षेण व्याप्ति-र्गृह्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तथा च प्रयत्नसमानगुणस्य समाकर्षकस्य, तत्समाकृष्यमाणस्य च पश्वा-देस्तत्प्रत्यक्षत्वमित्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वं धर्मादेरपि परैरभ्युपगन्तव्यम्।

यदि पुनः 'बाह्येन्द्रियप्रभवास्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति हेतुर्विशिष्यते तदा साधनविकलता दृष्टान्तस्य, सुखादेस्तथाऽप्रत्यक्षत्वात्। विभुद्रव्यं च यद्यत्राकाशमस्मदाद्यप्रत्यक्षं विवक्षितं तदा तद्वत् तद्गुणस्याप्यस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वमिति 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणाऽसिद्धिर्हेतोः, गुणिनो-ऽप्रत्यक्षत्वे तद्विशेषगुणस्याप्यप्रत्यक्षत्वेन प्रतिपादितत्वात्।

प्रति खिंचे जाने वाले पशु आदि को देखे विना 'प्रयत्न जैसे गुण द्वारा आकृष्टत्व' के साथ देवदत्त के प्रति उपसर्पण (=खिंचा जाना) की व्याप्ति सिद्ध कैसे होगी ? जैसे देखिये–प्रयत्न की प्रतीति न होने पर देवदत्तप्रयत्न से आकृष्ट माने जाने वाले कवलादि मे देवदत्त के प्रति उपसर्पण की व्याप्ति का बोध नही होता है। यदि 'प्रयत्न जैसे गुण से आकृष्टत्व' की व्याप्ति का ग्रहण उसी अनुमान से (जिससे आप धर्म की सिद्धि करना चाहते हो) मानेंगे तब तो इतरेतराश्रयदोष होगा–व्याप्ति सिद्ध होने पर अनुमान का उत्थान होगा और अनुमान होने पर व्याप्ति की सिद्धि होगी। यदि नये किसी अनुमान से व्याप्ति की सिद्धि मानेंगे तो उस अनुमान की हेतुभूत व्याप्ति की सिद्धि के लिये नये नये अनुमान करते ही जाओ, अन्त नही आयेगा। यदि कहे कि-जैनमत मे तर्क से व्याप्तिग्रह माना जाता है ऐसे हम भी किसी नये प्रमाण से व्याप्ति का ज्ञान मानेंगे–तो, वैशेषिको ने प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने है तथा नैयायिको ने तदुपरात उपमान और शब्द चार प्रमाण माने हैं उसमे प्रमाणसख्या का व्याघात होगा, क्योकि प्रमाणसख्या मे तर्क जैसे किसी नये प्रमाण की वृद्धि हुयी है। फलतः आपको मानसप्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ज्ञान मानना होगा। फिर तो पशु आदि का आकर्षक प्रयत्न जैसा गुण (धर्मादि) और उससे आकृष्ट होने वाले पशु आदि का भी मानसप्रत्यक्ष मानना होगा, इस प्रकार धर्मादि मे हम लोगो के प्रत्यक्ष की विषयता के रह जाने से धर्मादि को भी प्रत्यक्ष मानना ही होगा। अतः शब्द में क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये उपन्यस्त हेतु धर्मादि मे ही साध्यद्रोही सिद्ध होगा।

यदि हेतु के आद्य अश मे नया विशेषण जोड कर ऐसा हेतु करे कि 'बाह्येन्द्रियजन्य हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय होता हुआ विभुद्रव्यविशेषगुण है' तो दृष्टान्तभूत ज्ञान-सुखादि में बाह्येन्द्रिय-जन्यप्रत्यक्षग्राह्यता न होने से दृष्टान्त हेतुशून्य बन जायेगा। तथा हेतु का विशेष्य अश विभुद्रव्य-विशेषगुणत्व–इसमे यदि विभुद्रव्य आकाश विवक्षित हो और यदि उसे आप हम लोगो के प्रत्यक्ष का अविषय कहते हो तब तो धर्मी प्रत्यक्ष न होने से उसका गुण शब्द भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। फलतः 'हम लोगो को प्रत्यक्ष होता हुआ' इस विशेषण अश से हेतु ही असिद्ध बन जायेगा। गुणी(धर्मी) प्रत्यक्ष न होने पर उसके गुण का भी प्रत्यक्ष नही होता यह बात पहले कह दी गयी है [ ].

[शब्द में गुणत्व सिद्ध करने में चक्रक दोष]

तदुपरांत, शब्द 'गुण' है यह सिद्ध होने पर, आधार के विना गुण का अवस्थान न घटने से, उसके आधार की सिद्धि होगी। आधार सिद्ध होने पर 'नित्य होते हुए हम लोगो के प्रत्यक्ष के विषय-

किंच, सिद्धे हि शब्दे गुणे तदाधारसिद्धिः--गुणस्याधारमन्तरेणानवस्थानात्-तत्सिद्धौ च तदाधारस्य नित्यत्वे सत्यस्मदादिप्रत्यक्षशब्दगुणाधारत्वेन विभुद्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च शब्दस्य क्षणिकत्वसिद्धि क्रियावत्त्वप्रतिषेधेन द्रव्यत्वाभाव साधयेत् ततश्च गुणत्वम्, ततो विभुद्रव्याश्रितत्वम्, ततोऽपि क्षणिकत्वं इति चक्रकमासज्येत। साधनशून्यश्च साधर्म्यदृष्टान्तः, बुद्धेरपि विभ्वात्मविशेषगुणत्वाऽसिद्धे.। न च शब्दहृष्टान्तेन तत् साध्यते, तस्याद्याप्यसिद्धत्वात्, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगतः।

न च विभ्वात्मविशेषगुणो ज्ञानम् ,तत्कार्यत्वात्, शब्दवत्' इत्यतोऽनुमानात् तस्य तद्विशेषगुणत्वसिद्धिः, कार्यत्वस्येश्वरनिराकरणे परप्रसिद्धस्यासिद्धत्वेन प्रतिपादितत्वाद् इतरेतराश्रयस्य च तदवस्थत्वात्-सिद्धे हि शब्दस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वे दृष्टान्तत्वम्, ततो ज्ञानस्य तत्सिद्धि, ततश्च शब्दस्य तत् इति कथ नेतरेतराश्रयदोषः इति साधनविकलो दृष्टान्त । तथा साध्यविकलश्च, बुद्धेः क्षणिकत्वाऽसंभवात्, तथात्वे वा तस्याः न ततः संस्कार., तदभावाद् न स्मरणम्, तदभावाच्च न प्रत्यभिज्ञादिव्यवहारः। न हि विनष्टात् कारणात् कार्यम्, अन्यथा चिरतरविनष्टादपि ततस्तत्प्रसंगात्। अनन्तरस्य कारणत्वे सर्वमनन्तरं तत्कारणमासज्येत।

भूत(शब्द)गुण का आधार होने से' इस हेतु से आधारभूत द्रव्य मे विभुत्व की सिद्धि हो सकेगी। विभुत्व सिद्धि होने पर शब्द मे पूर्वोक्त हेतु से क्षणिकत्व की सिद्धि होगी। तथा क्षणिकत्व की सिद्धि से, शब्द मे आशंकित क्रियावत्ता का निषेध फलित होगा (क्योंकि क्षणिक पदार्थ मे क्रिया नही घट सकती)। क्रिया के निषेध से द्रव्यत्व का निषेध सिद्ध होगा। द्रव्यत्व निषिद्ध होने पर अन्तत शब्द मे गुणत्व की सिद्धि होगी, और ऐसे गुणत्व की सिद्धि होने पर विभुद्रव्यात्मक आधार की सिद्धि और उससे क्षणिकत्वादि की सिद्धि होगी. .इस प्रकार चक्रक दोष स्पष्ट लगेगा। तथा ज्ञानादि साधर्म्यदृष्टान्त मे हेतु असिद्ध है, क्योंकि बुद्धि मे भी अब तक विभुद्रव्यविशेषगुणत्व कहाँ सिद्ध है ? (वह तो आत्मा के विभुत्व की सिद्धि पर अवलम्बित है) शब्द को दृष्टान्त करके उक्त हेतु से बुद्धि मे विभुद्रव्यविशेषगुणत्व सिद्ध नही किया जा सकता क्योंकि शब्द मे ही अब तक वह असिद्ध है। यदि शब्द मे ज्ञान के दृष्टान्त से उसकी सिद्धि करने जायेंगे तो अन्योन्याश्रय व्यक्त होगा।

[ज्ञान में विभुद्रव्यविशेषगुणत्व की सिद्धि दुष्कर]

तथा, 'ज्ञान विभुआत्मा(विभुद्रव्य) का विशेषगुण है क्योंकि उसका कार्य है, उदा० शब्द' इस अनुमान से भी ज्ञान मे विभुआत्मविशेषगुणत्व सिद्ध नही हो सकता। क्योंकि ईश्वरनिराकरण-प्रसग मे प्रतिवादि को अभिमत कार्यत्व कैसे असिद्ध है यह कहा जा चुका है और पहले जो इतरेतराश्रय दृष्टान्त के साथ दिखाया है वह ज्यो का त्यो है। जैसे. शब्द मे विभुद्रव्यविशेषगुणत्व सिद्ध हो तभी वह दृष्टा त बनेगा और तब उसके दृष्टान्त से ज्ञान मे विभुद्रव्यविशेषगुणत्व सिद्ध होगा, तथा, ज्ञान मे वह सिद्ध होने पर उसके दृष्टान्त से शब्द मे विभुद्रव्यविशेषगुणत्व सिद्ध होगा-तो इतरेतराश्रय दोष क्यो नही होगा ? तात्पर्य, ज्ञानात्मक दृष्टान्त हेतुशून्य है। तथा साध्यशून्य भी है क्योंकि बुद्धि मे क्षणिकत्व का सम्भव ही नही है। यदि वह क्षणिक होगी तो उससे सस्कार का उद्भव ही अशक्य बन जायेगा। सस्कार का लोप होने पर स्मरण नही होगा और स्मरण के लोप होने से प्रत्यभिज्ञा आदि का व्यवहार भी नामशेष हो जायेगा। संस्कार का उद्भव इसलिये अशक्य है कि क्षणवार मे बुद्धि नष्ट हो जायेगी, फिर नष्ट कारण से कोई कार्य नही हो सकता, अन्यथा दीर्घकाल पहले नष्ट हुए

अथैकार्थसमवायिज्ञानमनन्तरं तत्कारणम्, न, ज्ञानस्यात्मनो भेदे समवायस्य सर्वत्राऽविशेषात् प्रतिषिद्धत्वाच्च 'एकार्थसमवायि' इत्यसिद्धम्। विनष्टाच्च कारणात् कथमनन्तर कार्यं येनानन्तर्यं कार्य-कारणभावनिबन्धनत्वेन कल्प्येत ? न हि तत् कारणम् नापि तत् तस्य कार्यम्, तदभाव एव भावात्। नहि यदभावेऽपि यद् भवति तत् तस्य कार्यमितरत् कारणमिति व्यवस्था, अतिप्रसंगात्। 'विनश्यदवस्थं कारणमि'ति चेत् ? न सापि विनश्यदवस्था यदि ततो भिन्ना तर्हि तया तदभिसम्बन्धाभावादनुपकाराद् 'विनश्यदवस्थम्' इति कुतो व्यपदेशः, अतिप्रसंगादेव ? उपकारे वा सोऽपि यदि ततो व्यतिरिक्तः, अतिप्रसगोऽनवस्थाकारी। अव्यतिरेके विनश्यदवस्थैव तेन कृता स्यात्। तामपि यद्यविनश्यदवस्थमेव कारणमुत्पादयेत् किं प्रकृतेऽपि विनश्यदवस्थाकल्पनेन ?

पदार्थ से भी अपने कार्यों की अभी उत्पत्ति हो जायेगी। यदि कालिक आनन्तर्य से (=पूर्वक्षणवृत्तित्व से) कारणता मानेंगे तो पूर्वक्षणवर्त्ती सभी पदार्थ उसके अनन्तर होने से वे सभी सस्कार के कारण बन जायेंगे।

[क्षणिकबुद्धि पक्ष में कारण-कार्यभाव की अनुपपत्ति]

यदि कहे-कि हम सिर्फ अनन्तरभाव को ही कारण नही कहते किंतु कार्य का एकार्थसमवायी हो ऐसा जो अनन्तर भाव वही सस्कार का कारण होगा अर्थात् (सस्कार का एकार्थसमवायी और अनन्तरपूर्ववर्त्ती ज्ञान ही है अतः) ज्ञान ही कारण बनेगा-तो यह ठीक नही, क्योंकि ज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न होगा तो समवाय सम्बन्ध एक होने से उससे वह सर्वत्र आकाशादि मे भी रह सकता है अतः ज्ञान को ही एकार्थसमवायी नही कहा जा सकता, तथा समवाय का भी पहले निषेध हो चुका है। अतः 'एकार्थसमवायी' ऐसा कहना अयुक्त है। तदुपरात, यह भी समस्या है कि जो कारण विनष्ट है उससे अनन्तर कार्य कैसे होगा ? जिससे कि आनन्तर्य को आप कारणकार्यभाव का बीज दिखा रहे हो ? जो विनष्ट है वह कारण ही नही है और इसीलिए कोई सस्कारादि उसका कार्य भी नही है, क्योंकि संस्कारादि तो उसके न होने पर भी होते है तो वे उसके कार्य कैसे माने जाय ? 'जिस वस्तु के अभाव मे भी जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह पदार्थ उस वस्तु का कार्य हो और वह वस्तु (जिसका अभाव कहा जाता है वह) उस पदार्थ का कारण हो' ऐसी व्यवस्था अतिप्रसग के कारण शक्य ही नही है।

'जो विनश्यदवस्था वाला (यानी जो नष्ट हो रहा है-नष्ट हुआ नही है ऐसा) हो उसको कारण मानेंगे तो नष्ट पक्ष मे जो दोष दिखाये है वे नही होगे' ऐसा यदि कहा जाय तो यह भी ठीक नही है। क्योंकि, वह विनश्यदवस्था उस व्यक्ति से A भिन्न है या B अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उस व्यक्ति का स्वकृत उपकार के विना उस अवस्था के साथ कोई सम्बन्ध न होने से उस व्यक्ति के लिए 'विनश्यदवस्थावाला' ऐसा व्यवहार कैसे किया जा सकेगा ? करने पर सभी के लिये वैसे व्यवहार का अतिप्रसग होगा। यदि कुछ उपकार माना जाय तो वह उपकार भी उस अवस्था से a भिन्न है या b अभिन्न ? a यदि भिन्न मानेंगे तो पूर्ववत् अतिप्रसग की अनवस्था चलेगी। b यदि अभिन्न मानेंगे तब तो उस व्यक्ति ने स्वभिन्न विनश्यदवस्था को ही उपकार के माध्यम से उत्पन्न किया इतना फलित हुआ-अब उसके ऊपर फिर से प्रश्न है कि उस विनश्यदवस्था को १ अविनश्यदवस्थावाले कारण ने उत्पन्न किया या २ विनश्यदवस्थावाले ? १. यदि अविनश्यदवस्थावाला कारण

विनश्यदवस्थं चेत् तां कुर्यात् . अन्या तर्हि ततोऽर्थान्तरभूता विनश्यदवस्था कल्पनीया, तया तदभिसम्बन्धाभावः अनुपकारात् । उपकारे वा तदवस्थः प्रसंगः अनवस्था च । तथा चापरापरविनश्यदवस्थोत्पादनेनोपक्षीणशक्तित्वाद् प्रकृतकार्योत्पादनमनवसरं प्रसक्तम् । 'विनश्यदवस्था'यास्तत्र समवायात् तद् विनश्यदवस्थम्' इत्यपि वार्त्तम्, विहितोत्तरत्वात् । अथाभिन्ना तर्हि विनश्यदवस्था कारणैकसमयसंगता, एवं च विनश्यदवस्थं कारणं कार्यं करोतीति कोऽर्थः ? स्वोत्पत्तिकाल एव करोतीत्यर्थः समायातः । तथा च कार्य-कारणयोः सव्येतरगोविषाणवदेककालत्वाद् न कार्य-कारणभावः । तथापि तद्भावे सकलकार्यप्रवाहस्यैकक्षणवर्त्तित्वम् ।

अथ न सौगतस्येवाणोरण्वन्तरव्यतिक्रमलक्षणेन क्षणेन क्षणिकत्वम् येनायं दोषः, किंतु षट्समयस्थित्यनन्तरनाशित्व तत् । ननु कालान्तरस्थायिनि तथा व्यवहारं कुर्वन् सहस्रक्षणस्थायिन्यपि तत्र तं किं न कुर्यात् ? अपि च, पूर्वपूर्वक्षणसत्तात उत्तरोत्तरक्षणसत्ताया भेदाभ्युपगमे तदेव सौगतप्रसिद्धं क्षणिकत्वमायातम् । अभेदाभ्युपगमे पूर्वक्षणसत्तायामेवोत्तरक्षणसत्तायाः प्रवेशादेकक्षणस्थायित्वमेव, न षट्क्षणस्थायित्वं बुद्धेः परपक्षे सम्भवति । भेदेतरपक्षाभ्युपगमे चानेकान्तसिद्धिः, षट्क्षणस्थानानन्तरं च निरन्वयविनाशे न ततः किंचित् कार्यं संभवतीत्युक्तम् ।

विनश्यदवस्था को उत्पन्न कर सकता है तो फिर प्रस्तुत कार्य को भी कर लेगा, बीच मे विनश्यदवस्था की कल्पना करने से क्या फायदा ?

[विनश्यदवस्थावाले कारण से कार्योत्पत्ति असंगत]

२. यदि विनश्यदवस्थावाला कारण प्रथम विनश्यदवस्था को उत्पन्न करता है तो वह द्वितीय विनश्यदवस्था भी उससे भिन्न ही मानेंगे, फिर स्वकृत उपकार के बिना उसके साथ कोई सबन्ध नही हो सकेगा, अतः उपकार को मानेंगे तो वही पूर्वोक्त अतिप्रसग होगा और उसकी भी परम्परा चलेगी। फलतः अन्य अन्य विनश्यदवस्था को उत्पन्न करने मे ही कारणशक्ति उपक्षीण हो जाने से प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति का तो अवसर ही दुर्लभ बना रहेगा। यदि कहे कि उपकार के बिना ही विनश्यदवस्था के समवाय से उस कारण मे 'विनश्यदवस्थावाला' ऐसा व्यवहार किया जा सकेगा-तो यह प्रलापमात्र है, समवाय ही असिद्ध है यह पहले बार बार तो कह दिया है।

B यदि कहे कि वह विनश्यदवस्था कारण से अभिन्न है-तब तो कारणसमान समयवाली ही विनश्यदवस्था हुई तो अब यह कहिये कि विनश्यदवस्थावाला कारण कार्य करता है इसका क्या अर्थ ? अपनी उत्पत्ति के काल मे करता है यही अर्थ कहना होगा। इस प्रकार उत्पत्ति काल मे ही कारण और उससे कार्य दोनो उत्पन्न होगे तो दायें-बायें गोश्रृङ्गो की तरह उनमे कारण-कार्य भाव ही नही घटेगा क्योकि समानकालीन भावो मे कारण-कार्य भाव नही हो सकता। यदि फिर भी आप समानकाल मे कारण-कार्य भाव मानते हैं तब तो वह कार्य भी जिसका कारण है उस कार्य को उसी काल मे (अपनी उत्पत्ति के काल मे) कर देगा, वह भी जिस का कारण होगा उस कार्य को उसी पल मे कर देगा, इस प्रकार तो सकल भावि कार्य सन्तान की उसी एक क्षण मे उत्पत्ति आपन्न होगी।

[ज्ञान में षट्क्षणस्थिति भी अनुपपन्न]

नैयायिकः-आपने जो क्षणिकत्व के ऊपर दोष दिये वे बौद्धमत मे लगते हैं हमारे मत मे नही, क्योकि उत्कृष्ट गति से एक अणु दूसरे निरन्तरवर्त्ती अणु के स्थान मे पहुँच जाय उतने काल को क्षण

न चैवं बुद्धिक्षणिकत्ववादिनः क्वचित् कालान्तरावस्थायित्वं सिध्यति, तद्ग्रहणाभावात्। तथाहि-पूर्वकालबुद्धेस्तदैव विनाशाद् नोत्तरकालेऽस्तित्वमिति न तेन तया सांगत्य कस्यचित् प्रतीयते, अतिप्रसंगात्। उत्तरबुद्धेश्च पूर्वमसभवाद् न पूर्वकालेन तत् तयापि प्रतीयते। 'उभयत्रात्मनः सद्भावात् ततस्तत्प्रतीतिरि'त्यपि नोत्तरम्, 'आकाशसद्भावात् तत्प्रतीतिरि'त्यस्यापि भावात्। 'तस्याऽचेतनत्वाद् ने'ति चेत् स्वयं चेतनत्वे आत्मनः, स येन स्वभावेन पूर्वं रूपं प्रतिपद्यते न तेनोत्तरम्, न हि नीलस्य ग्रहणमेव पीतग्रहणम्, तयोरभेदप्रसंगात्। अथान्येन स्वभावेन पूर्वमवगच्छति, अन्येनोत्तरमिति मतिस्तथा सत्यनेकान्तसिद्धिः। स्वयं चात्मनश्चेतनत्वे किमन्यया बुद्ध्या यस्याः क्षणिकत्वं साध्यते ?

मानने वाले बौद्ध है और ऐसी एक क्षण से ही सर्व वस्तु को वह क्षणिक कहता है। जब कि हम तो छह समय तक अवस्थान के बाद नष्ट हो जाना-इसको क्षणिकत्व कहते है।

जैन:-जब आप अन्य द्वितीयादि क्षणों मे रहने वाले पदार्थ मे भी क्षणिकत्व का व्यवहार करते हैं तो फिर हजारो क्षण तक जीने वाले पदार्थ मे भी क्षणिकत्व का व्यवहार क्यो नही करते ? । तथा, आप यदि वस्तु की पूर्वपूर्वक्षण की सत्ता को उत्तरोत्तरक्षणसत्ता से भिन्न मानगे तब तो सत्ताभेद मूलक वस्तुभेद प्रसक्त होने से बौद्ध का क्षणिकत्व ही स्वीकार लिया। यदि उन सत्ताओ का अभेद मानेंगे तब भी उत्तरक्षण की सत्ता अभिन्न होने के नाते पूर्वपूर्वक्षण की सत्ता मे समाहित हो जायेगी तो वस्तु की एकक्षणमात्र स्थिति ही प्रसिद्ध रहेगी-फिर बुद्धि मे षट्क्षणस्थायित्व का सभव नही रहेगा। यदि कहे कि-पूर्वपूर्व और उत्तरोत्तर सत्ता क्षणो मे भेदाभेद है-तब तो अनायास ही अनेकान्तमत की सिद्धि हो जायेगी। तदुपरात, षट् क्षण अवस्थिति के बाद यदि वस्तु का निरवशेष नाश मानेंगे तो (अंतिम क्षण मे अर्थक्रियाकारित्व के अभाव से सत्त्व असिद्ध हो जाने पर) फलित यह होगा कि क्षणिकवाद में किसी भी कार्य का उद्भव सभव नही है।

[बुद्धिक्षणिकत्वपक्ष में कालान्तरावस्थान की अप्रसिद्धि]

तथा, बुद्धि को क्षणिक माननेवाले के मत मे कही भी कालान्तरस्थायित्व सिद्ध नही हो सकता क्योकि बुद्धि कालान्तरस्थायी न होने से अन्य वस्तुगत कालान्तरस्थायिता का ग्रहण ही शक्य नही है। जैसे देखिये-जो पूर्वकालीन बुद्धि है वह तो नष्ट हो जाने से उत्तरकाल मे उसका अस्तित्व ही नही है, इस लिये उत्तरकाल के साथ किसी भी वस्तु की सगति=सम्बन्ध पूर्वकालीनबुद्धि से ज्ञात नही किया जा सकता। अन्यथा पूर्वकालबुद्धि मे भावि सकल पदार्थो के प्रतिभास का अतिप्रसग होगा। तथा, उत्तरकालीन बुद्धि का पूर्वकाल मे अस्तित्व न होने से पूर्वकाल के साथ किसी भी वस्तु के सम्बन्ध का उससे ग्रहण नही हो सकता। यदि कहे कि आत्मा उभयकाल मे है अतः वही पूर्वोत्तरकाल के साथ वस्तु के सम्बन्ध को जान पायेगा-तो यह भी गलत उत्तर है क्योकि वैसे तो आकाश भी उभयकाल मे है तो वह भी क्यो नही जान पायेगा ? 'आकाश अचेतन होने से नही जान सकता है' ऐसा कहे तो यहाँ निवेदन है कि वह जिस स्वभाव से पूर्वरूप को जानता है उसी स्वभाव से तो उत्तर रूप को नही जान सकता क्योकि नील का ग्रहण ही पीतग्रहणरूप तो नही हो सकता, अन्यथा उन दोनो का अभेद ही प्रसक्त होगा। यदि अन्य स्वभाव पूर्व रूप को जानता है और दूसरे ही स्वभाव से उत्तररूप को जानता है ऐसा मानेंगे तब तो अनायास ही अनेकान्तवाद सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि स्वभावभेद से कथंचित् वस्तुभेद को मानना यही अनेकान्तवाद है। यदि आत्मा स्वय चेतन

अथ स्वयं न चेतन आत्मा अपि तु बुद्धिसम्बन्धाच्चेतयत इति, अत्राप्यचेतनस्वभावपरित्यागेऽनित्यता आत्मनोऽन्यबुद्धिकल्पनावैफल्यं च, स्वयमपि तत्सम्बन्धात् प्रागपि तथाविधस्वभावाऽविरोधात्। तत्सम्बन्धेऽपि तत्स्वभावाऽपरित्यागे 'ज्ञानसम्बन्धादात्मा चेतयते' इत्यपि विरुद्धमेव। अथ तत्समवायिकारणत्वात् चेतयते न स्वयं चेतनस्वभावोपादानादिति, तर्हि येन स्वभावेन पूर्वज्ञानं प्रति समवायिकारणमात्मा तेनैव यद्युत्तरं प्रति, तथा सति पूर्वमेव तत्कार्यं ज्ञानं सकलं भवेत्, नह्यविकले कारणे सति कार्यानुत्पत्तिर्युक्ता, तस्याऽतत्कार्यप्रसंगात्। अथ पूर्वं सहकारिकारणाभावाद् न तत् कार्यम्। किं पुनः स्वयमसमर्थस्याऽकिंचित्करेण सहकारिणा? किंचित्करत्वेपि यदि तत् ततो भिन्नं क्रियते, प्रतिबन्धाऽसिद्धिः अनवस्था वा। अभिन्नस्य करणेऽप्यात्मनः एव करणमिति कार्यता। कथंचिद्भिन्नस्य करणे तद्बुद्धिरपि तत. कथंचिदभिन्नेति नैकान्तेन तस्याः क्षणिकता। तदेव पक्षहेतु-दृष्टान्तदोषदुष्टत्वाद् नातोऽनुमानात् शब्दस्य क्षणिकत्वमिति सक्रियत्व सिद्धम्, अतोऽपि द्रव्यत्वम्।

(ज्ञाता) है तब तो जिस का क्षणिकत्व आप सिद्ध करना चाहते हैं उस आत्मभिन्न बुद्धि को मानने की जरूर ही क्या है ?

[बुद्धि के सम्बन्ध से आत्मचैतन्य की कल्पना अयुक्त]

यदि कहे कि-आत्मा स्वय चेतन नही किन्तु बुद्धि के योग से उसमे चेतना आती है-तो पूर्वकालीन अचेतन स्वभाव त्याग कर बुद्धियोग से चेतनस्वभाव धारण करने मे आत्मा की अनित्यता प्रसक्त होगी, तथा आत्मा को भिन्न बुद्धि के योग से चेतनस्वभाव मानने के बदले बुद्धियोग के पूर्व स्वय चेतनस्वभाव मानने 'मे भी विरोध नही है अतः अन्य बुद्धि के योग की कल्पना भी व्यर्थ हो जायेगी। तथा, बुद्धि का योग होने पर यदि अचेतनस्वभाव का त्याग नही मानेंगे तो ज्ञान के सम्बन्ध से आत्मा मे चेतन स्वभाव आने की बात भी विरोधग्रस्त हो जायेगी। चेतनस्वभाव को अचेतनस्वभाव के साथ स्पष्ट ही विरोध है।

पूर्वपक्षीः-आत्मा बुद्धि के योग से स्वय चेतनस्वभाव को धारण कर लेता है ऐसा हम नही कहते, किन्तु वह ज्ञान का समवायि कारण होने से चेतनावत होता है यही कहना है।

उत्तरपक्षी -जिस स्वभाव से आत्मा पूर्वकालीन ज्ञान का समवायिकारण होता है, यदि उसी स्वभाव से वह उत्तरकालीन ज्ञान का भी समवायी कारण बनेगा तो, पूर्वकाल मे उत्तरकालीन ज्ञान की समवायी कारणता का प्रयोजक स्वभाव अक्षुण्ण होने से, सकल उत्तरकालीन ज्ञानो की उत्पत्ति पूर्वकाल मे ही प्रसक्त होगी। 'कारण यदि सपूर्ण हो तो कार्य उत्पन्न न होवे' यह बात नही घट सकती क्योकि तब उन दोनो मे एक दूसरे के प्रति कारण-कार्य भाव का ही भग हो जायेगा।

[सहकारियों से उपकार की बात असंगत]

पूर्वपक्षीः--पूर्वकाल मे उत्तरकालीन ज्ञानो के प्रति समवायिकारणता का स्वभाव तदवस्थ होने पर भी उन की उत्पत्ति न होने का कारण यह है कि उस वक्त उन ज्ञानो के सहकारिकारण उपस्थित नही रहते है।

उत्तरपक्षीः-यदि तथाविध स्वभाववाला आत्मा भी असमर्थ है तो फिर सहकारियो भी आ कर क्या करने वाले हैं ? यदि वे उपस्थित हो कर कुछ उपकार करते हैं (जिससे आत्मा समर्थ होता है) ऐसा कहेगे तो वह उपकार आत्मा से भिन्न होगा या अभिन्न, यदि भिन्न होगा तो वह

गुणवत्त्वाच्च द्रव्यं शब्दः--'गुणवान् ध्वनिः, स्पर्शवत्त्वात्, यो यः स्पर्शवान् स स गुणवान् यथा लोष्टादिः, तथा च ध्वनिः, तस्माद् गुणवान्' इति। स्पर्शवत्त्वाभावे कंसपात्र्यादिध्वानाभिसम्बन्धेन कर्णशष्कुल्याख्यस्य शरीरावयवस्याभिघातो न स्यात्, न ह्यस्पर्शवताऽऽकाशेनाभिसम्बन्धात् तदभिघातो दृष्टः, भवति च तच्छब्दाभिसम्बन्धे तदभिघात', तत्कार्यस्य बाधिर्यस्य प्रतीतेः। ननु स्पर्शवता शब्देन कर्णविवरं प्रविशता वायुनेव तद्द्वारलग्नतूलांशुकादेः प्रेरणं स्यात्। न, धूमेनानेकान्तात्--धूमो हि स्पर्शवान्, तदभिसम्बन्धे पांशुसम्बन्धवच्चक्षुषोऽस्वास्थ्योपलब्धे, न च तेन चक्षुःप्रदेशं प्रविशता तत्पक्ष्ममात्रस्यापि प्रेरणमुपलभ्यते। न च स्पर्शवत्त्वे शब्दस्य वायोरिव प्रदेशान्तरेण ग्रहणप्रसंग, धूमस्यापि चक्षुरादिप्रदेशव्यतिरिक्तशरीरप्रवेशेन ग्रहणप्रसक्तेः। 'धूमवत् चक्षुषा तस्य ग्रहणं स्यादि'ति चेत्? न, जलसंयुक्तेनानलेन व्यभिचारात् तस्योष्णस्पर्शोपलम्भेऽपि चक्षुषा भास्वररूपानुपलम्भात्। अनुद्भूतत्वमुभयत्र समानम्।

आत्मा- का सम्बन्धी- न हो सकेगा और सम्बन्धी बनने के लिये अन्य सबन्ध की कल्पना करेंगे तो अन्य अन्य सबन्ध की कल्पना अविरत रहेगी। यदि आत्मा से अभिन्न उपकार को सहकारीगण करेंगे तो इसका अर्थ हुआ कि आत्मा को ही वे करते है। फलतः आत्मा मे कार्यता और तन्मूलक अनित्यता प्रसक्त होगी। यदि सहकारिगण आत्मा से कथंचिद् अभिन्न उपकार को करते है ऐसा कहेगे तो उसके बदले यही कह दो कि कथचिद् अभिन्न बुद्धि को ही करते है। फलत. आत्मा से कथचिद् अभिन्न बुद्धि भी आत्मवत् नित्य होने से क्षणिक मानने की जरूर नही रहेगी। तो इस प्रकार शब्द मे क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये उपन्यस्त ज्ञान के दृष्टान्त मे साध्यशून्यता फलित हुयी। इसका नतीजा यह है कि-पक्षदोष, हेतुदोष और दृष्टान्तदोष से दुष्ट अनुमान से शब्द मे क्षणिकत्व की सिद्धि दुष्कर बन जाने से निष्क्रियता भी सिद्ध नही हो सकेगी। अतः सक्रियत्व हेतु सिद्ध होने से शब्द मे द्रव्यत्व की सिद्धि निर्बाध हो सकेगी।

[शब्द में गुणहेतुक द्रव्यत्व की सिद्धि]

गुणवान् होने से भी शब्द द्रव्यात्मक है उसका अनुमान इस प्रकार है-शब्द गुणवान् है क्योकि स्पर्शवाला है, जो भी स्पर्शवाला होता है वह गुणवान् होता ही है जैसे कि मिट्टी का लौदा। शब्द भी स्पर्शवाला ही है अतः वह गुणवान् सिद्ध होता है। शब्द को यदि स्पर्शवाला नही मानेंगे तो देहावयवभूत कर्णशष्कुली को कसपात्री आदि के प्रचण्ड ध्वनि के सम्बन्ध से जो अभिघात होता है वह नही होगा। स्पर्शरहित है आकाशद्रव्य, तो उस के सम्बन्ध से किसी भी अग को अभिघात होता हो ऐसा नही देखा जाता। जब कि शब्द के सम्बन्ध से तो अभिघात होने का स्पष्ट अनुभव है जिस के फलस्वरूप बधिरता महसूस होती है।

पूर्वपक्षीः-वायु जब किसी छिद्र मे प्रवेश करता है तो छिद्र के मुख मे सलग्न तूल-अशुकादि प्रेरित होकर वहाँ से हठ जाते हैं ऐसा दिखता है, यदि शब्द भी स्पर्शवान् द्रव्य है तो फिर वह जब कर्णछिद्र मे प्रवेश करेगा तब कर्णमुख मे रहे हुए तूलादि को भी प्रेरित करेगा ही, किन्तु वैसा कहाँ दिखता है?

[शब्द में स्पर्शवत्ता का समर्थन]

उत्तरपक्षीः-आपने कहा वैसा कोई नियम नही है क्योकि धूम मे ऐसा नही होता। धूम

'जलसहचरितेनाऽनलेनोष्णस्पर्शवता शरीरप्रदेशदाहवत् तथाविधेन शब्दसहचरितेन वायुना श्रवणाख्यशरीरावयवाभिघातः' इति चेत् ? न, शब्देन तदभिघाते को दोषो येनेयमदृष्टपरिकल्पना समाश्रीयते ? न च तस्य गुणत्वेन निर्गुणत्वात् स्पर्शाभावात् न तदभिघातहेतुत्वमिति वक्तुं युक्तम्, चक्रकदोषप्रसंगात् । तथाहि--गुणत्वमद्रव्यत्वे तदप्यस्पर्शत्वे, तदपि गुणत्वे, तदप्यद्रव्यत्वे, तदप्यस्पर्शत्वे, तदपि गुणत्वे -इति दुरुत्तरं चक्रकम् ।-शब्दाभिसम्बन्धान्वय व्यतिरेकानुविधाने तदभिघातस्यान्यहेतुत्व-कल्पनायां तत्रापि क समाश्वास ? शक्य हि वक्तुम् न वाय्वभिसम्बन्धात् तदभिघातः, किन्त्वन्यतः, न ततोऽपि अपि त्वन्यत इत्यनवस्थाप्रसक्तिर्हेतूनाम् । तस्मात् सिद्धं स्पर्शवत्त्वाच्छब्दस्य गुणवत्त्वम् ।

अल्प-महत्त्वाभिसम्बन्धाच्च, स च 'अल्पः शब्दः महान् शब्द' इति प्रतीतेः । न च शब्दे मन्द-तीव्रताग्रहणम् इयत्तानवधारणात्- यथा द्रव्येषु ।--'अणु शब्दोऽल्पो मन्द' इत्येतस्य धर्मस्य मन्दत्वस्य ग्रहणम् 'महान् शब्दः पटुस्तीव्र.' इत्येतस्य तीव्रत्वस्य धर्मस्य ग्रहण न पुन परिमाणस्य इयत्तानवधार-

---

स्पर्शवाला द्रव्य ही है, जैसे धूलो के रजकणो के सम्बन्ध से चक्षु अस्वस्थ हो जाती है वैसे धूम के सम्बन्ध से भी होती है । किन्तु धूम नेत्र मे प्रवेश करता है तब नेत्र के एक भी सूक्ष्म बाल को प्रेरित करता हुआ दिखता नही है । यदि ऐसा कहे कि शब्द यदि स्पर्शवाला होगा तो वायु का जैसे अन्य अन्य देहावयवो से भी अनुभव होता है वैसे शब्द का भी कर्मभिन्न देहावयवो से अनुभव होने लगेगा ।-- तो यह आपत्ति तो धूम मे भी आयेगी, धूम भी स्पर्शवान् द्रव्य है किन्तु नेत्रभिन्न देहावयव से उसका ग्रहण कहा होता है ? यदि कहे कि-स्पर्शवान् धूम का जैसे नेत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है वैसे स्पर्शवान् शब्द का भी हो जायेगा-तो यह भी अयुक्त है, जलसयुक्त अग्निकणो मे ऐसा नही होता है । उन मे उष्णस्पर्श उपलब्ध होने पर भी नेत्र से उसका भास्वर रूप गृहीत नही होता है । यदि वहाँ आप भास्वररूप को अनुद्भूत मानेंगे तो हम भी शब्द के रूप को अनुद्भूत ही मानेंगे अतः चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति नही होगी ।

[श्रोत्र का अभिघात शब्दकृत ही है]

यदि यह कहा जाय-जलसयुक्त (जलान्तर्गत) उष्णस्पर्श-वाले अग्नि से जैसे देहावयवो को दाह होता है, तथैव शब्दान्तर्गत स्पर्शवाले वायु द्रव्य से श्रोत्ररूप शरीर अवयव का अभिघात होता है किन्तु शब्द से नही ।-तो यह अयुक्त है, क्योकि शब्द से ही अभिघात होने का अनुभवसिद्ध है तो उसको मानने मे क्या दोष है जिससे कि तदन्तर्गत अदृष्ट वायु की कल्पना का सहारा लिया जाय । यदि कहे कि-शब्द गुण होने से निर्गुण होने के नाते उसमे स्पर्श नही हो सकता, अर्थात् स्पर्श के अभाव मे द्रव्यत्व असिद्ध होने से वह अभिघात का हेतु भी नही हो सकता--तो यहाँ चक्रकदोष होने से बोलने जैसा ही नही है । जैसे देखो -शब्द को गुण मान कर ही आप उसको अद्रव्य कहेंगे, अद्रव्यत्व के आधार पर स्पर्श का अभाव कहेंगे, स्पर्शाभाव से ही गुणत्व सिद्ध करेंगे, उससे फिर अद्रव्यत्व दिखायेंगे, अद्रव्यत्व से स्पर्शाभाव को और स्पर्शाभाव से गुणत्व को सिद्ध करेंगे, इस प्रकार चक्रकदोष का लघन अशक्य है । तदुपरात, शब्दसयोग के साथ ही अभिघात का अन्वय-व्यतिरेक प्रसिद्ध है फिर भी उसके प्रति आखें मुद कर अभिघात को अन्य हेतुक (वायुहेतुक) मानेंगे तो उस अन्य हेतु मे भी विश्वास कैसे होगा ? वहाँ भी कह सकेंगे कि वायु के योग से अभिघात नही होता किन्तु वायु के अन्तर्गत अन्य किसी द्रव्य से होता है, फिर उसमे भी कोई अविश्वास करे तो तदन्तर्गत अन्य अन्य द्रव्य को

णात्, न हि अयं 'महान् शब्दः' इत्यवस्यन् 'इयान्' इत्यवधारयति यथा द्रव्यान्तराणि बदराऽऽमलक-बिल्वादीनि--इति वक्तुं शक्यम्, यतो वक्तव्यमत्र का पुनरियं शब्दस्य मन्दता तीव्रता वा ? अवान्तर-जातिविशेषः, कथम् ? "गुणवृत्तित्वात् शब्दत्ववत्। एतदेवोक्तं भगवता परमर्षिणौलूक्येन "गुणे भावाद् गुणत्वमुक्तम्" [वैशे० १-२-१-१४]। अस्यायमर्थः--❀यो यो गुणे वर्त्तते स स जातिविशेषः यथा गुणत्वमिति।"--असदेतत्-यतः कथ शब्दस्य गुणत्वसिद्धिर्येन तत्र वर्त्तमानत्वाज्जातिविशषत्वं मन्दत्वादेः ? अद्रव्यत्वादिति चेत् ? तदपि कथम् अल्पमहत्त्वपरिमाणाऽसम्बन्धात् सोऽपि गुणत्वात्। ननु तदेव पूर्वोक्तं चक्रकमेतत्।

'न गुणत्वात्तस्याल्प महत्त्वपरिमाणाऽसम्बन्धं ब्रूमः येनायं दोषः स्यात्, अपि तु द्रव्यान्तरव-दियत्तानवधारणात्' इति चेत् ? न, वायोरियत्तानवधारणेऽप्यल्प-महत्त्वपरिमाणसम्बन्धसम्भवादने-

---

ही हेतु मानते रहने मे अन्त कहाँ होगा ? निष्कर्ष, अभिघात का हेतु स्पर्शवान् शब्द ही है और स्पर्शवत्त्व हेतु से ही शब्द मे गुणवत्त्व की सिद्धि भी निर्बाध है।

[परिमाण से शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि]

शब्द मे अल्पपरिणाम और महत्परिमाण के सम्बन्ध से भी द्रव्य सिद्ध हो सकता है। 'यह शब्द अल्प है, यह महान् है' (=अमुक व्यक्ति का घोष छोटा है अथवा मोटा है) ऐसी प्रतीति से अल्प और महत्परिमाण शब्द मे सिद्ध होता है। यदि कहे--'यह इतना है' इस प्रकार इयत्ता का अवधारण द्रव्यों में जैसे होता है वैसा शब्द मे नही होता है। अतः अल्प--महान् उल्लेख से सिर्फ शब्दगत मन्दता और तीव्रता का ही ग्रहण सिद्ध होता है, परिमाणगुण का नही। 'शब्द अणु है--अल्प है मन्द है' इस प्रकार शब्दगत मन्दत्वधर्म का ग्रहण होता है और 'शब्द बडा है, पटु है, तीव्र है' -इस प्रकार शब्दगत तीव्रता धर्म का ग्रहण होता है। अर्थात् परिमाण का ग्रहण नही होता, क्योंकि 'शब्द इतना है' ऐसा अनुभव नही होता है। 'शब्द बडा है' ऐसा अनुभव करने वाला 'इतना है' ऐसा नही दिखाता है, बेर-आमले-बिल्व आदि अन्य द्रव्यो के लिए तो 'यह इतना बडा है' ऐसा प्रयोग सब लोग करते है।--यह कथन भी न बोलने जैसा ही है। क्योकि शब्द मे मन्दता या तीव्रता परिमाणरूप नही है तो और क्या है यह तो कहिये। यदि अवान्तर जातिविशेषरूप है तो वह भी कैसे ? यदि यहाँ ऐसा उत्तर किया जाय कि--"मन्दता तीव्रता धर्म शब्दत्व की तरह गुण मे रहते है अतः शब्दत्व के जैसे अवान्तर सामान्यरूप है। भगवान् उलूक महर्षि ने भी ऐसा कहा है कि-'गुण मे रहता है इसलिये गुणत्व को (सामान्यात्मक) कहा।' [वैशे० १-२-१४]--इसका अर्थ ऐसा है--जो धर्म गुण मे रहता है वह जातिविशेषरूप है, 卐उदा० गुणत्व।"--किन्तु यह उत्तर गलत है, शब्द मे गुणत्व ही कहाँ सिद्ध है जिसके दृष्टान्त से उसमे वर्त्तमान मन्दतादि धर्म को जातिवशेषरूप कहा जाय ? यदि अल्प-महत्परिमाण का सम्बन्ध न होने से उसको गुण कहेगे तो उस परिणाम के सम्बन्ध को भी गुणत्व के आधार से ही सिद्ध करना होगा, फलत. वही पूर्वोक्त चक्रक दोष आवर्त्तित होगा।

❀चन्द्रानन्दवृत्तौ 'गुणेषु गुणानामवृत्ते गुणत्व च गुणेषु वर्त्तते, तस्मान्न गुण' इति व्याख्यातमिद सूत्रम्। उपस्कार-कर्तृकवृत्तौ च गुणेष्वेव भावात्=समवायात् गुणत्व द्रव्य गुण-कर्मभ्यो भिन्न सत्तावदेवोक्तमित्यर्थं' इति -व्याख्यातम्।

卐तात्पर्य यह है कि गुण या क्रिया मे जो अखण्ड भावात्मक धर्म होता है वह द्रव्यादिरूप न घट सकने से परिशेषात् जातिरूप माने जाते हैं यदि कोई बाध न हो।

कान्त' । न हि बिल्व बदरादेरिव वायोरियत्ताऽवधार्यते । 'वायोरप्रत्यक्षत्वात् इयत्ता सत्यपि नावधार्यते, न शब्दस्य विपर्ययात्' । न, उक्तमत्र 'स्पर्शविशेषस्य वायुत्वात्, तस्य च प्रत्यक्षत्वात् इति । इयत्ता चेय यदि परिमाणादन्या, कथमन्यस्यानवधारणेऽन्यस्याभावः ? न हि घटानवधारणे पटाभावो युक्तः । परिमाणं चेत् तर्हि 'इयत्तानवधारणात् परिमाणं नास्ति' इति किमुक्तम् ?, परिमाणं नास्ति परिमाणानवधारणात् । तस्मिन्नल्प-महत्त्वपरिमाणावधारणे कथं न तदवधारणम् ?, बिल्वादावपि तत्प्रसंगात् ।

मन्द-तीव्राभिसम्बन्धादल्प-महत्त्वप्रत्ययसंभवे मन्दवाहिनि गंगानीरे 'अल्पमेतत्' इति प्रत्ययोत्पत्तिः, स्यात्, तीव्रवाहिगिरिसरिन्नीरे महत् इति च प्रतीतिप्रसगः । न चैवम्, तस्मान्न मन्द-तीव्रतानिबन्धनोऽयं प्रत्यय अपि तु अल्पमहत्त्वपरिमाणनिमित्तः, अन्यथा घटादावपि तन्निबन्धनो न स्यात् । घटादीनां द्रव्यत्वेन तन्निबन्धनत्वे परिमाणसंभवात तत्प्रत्ययस्य, शब्दस्यापि तथाविधत्वेन स तथाविधोऽस्तु, विशेषाभावात् । कारणगतस्याल्पमहत्त्वपरिमाणस्य शब्दे उपचारात् तथा सप्रत्यय इत्यपि वैलक्ष्यभाषितम्, घटादावपि तथाप्रसगात् । अपरे मन्यन्ते-यथाऽश्वजवस्य पुरुष उपचारात् 'पुरुषो याति' इति प्रत्ययस्तथा व्यञ्जकगतस्याल्प महत्त्वादेः शब्द उपचारात् 'शब्दोऽल्पो महान्' इति च व्यपदेशः-तदप्यसारम्, शब्दाभिव्यक्तेरपौरुषेयत्वनिराकरणे प्रतिषिद्धत्वात् । ततो घटादाविवाल्प-महत्त्वपरिमाणसम्बन्ध. पारमार्थिकः शब्दे इति सिद्धं गुणवत्त्वम् ।

[इयत्ता के अनवबोध से परिमाण का निषेध अनुचित]

-"गुणत्व के आधार से हम अल्प-महत्त्वपरिमाण का अयोग नही दिखाते हैं जिससे कि आप का दिखाया चक्रक दोष लब्धप्रसर बने, किन्तु अन्य द्रव्यो मे जैसे इयत्ता का अवबोध प्रसिद्ध है वैसा शब्द मे न होने से कहते हैं।"-ऐसा कहना भी असगत है--वायु मे इयत्ता का अवधारण कहाँ होता है ? फिर भी उसमें अल्प--महत्परिमाण का योग माना जाता है अत आप की बात मे अनेकान्त दोष प्रसक्त है । बिल्व-बेर आदि मे जैसे इयत्ता का अवबोध होता है वैसे वायु मे कभी नही होता । यदि कहे कि-'वायु द्रव्य तो प्रत्यक्ष नही है अत उसमे इयत्ता का अनवबोध प्रत्यक्षाभावमूलक है, शब्द मे ऐसा नही कह सकते क्योकि वह प्रत्यक्ष है'- तो यह ठीक नही । पहले ही हम कह आये है कि 'वायु' किसी द्रव्य का नही किन्तु स्पर्शविशेष का ही नाम है और वह स्पर्शात्मक वायु प्रत्यक्ष ही है । तथा यह सोचिये कि इयत्ता परिमाण से भिन्न है या परिमाणरूप ही है ? यदि भिन्न है तो इयत्ता का अवबोध न होने पर इयत्ता का ही निषेध करना उचित है, परिमाण का निषेध कैसे ? घट का अवबोध न हो तो पट का निषेध करना उचित नही । यदि इयत्ता परिमाणरूप ही है तो 'इयत्ता का अवबोध न होने से परिमाण नही है' इस का अर्थ क्या होगा यही तो, कि 'परिमाण का अवबोध न होने से परिमाण का (शब्द मे) अभाव है', अब यह तो सोचिये कि जब अल्प-महत्परिमाण का शब्द मे अवबोध अनुभवसिद्ध है तो फिर 'उसका अवबोध न होने से परिमाण नही है' ऐसा कहना कहाँ तक उचित है ? बिल्वादि मे भी फिर तो ऐसा कह सकेंगे कि परिमाण का अवबोध न होने से उन मे भी परिमाण का अभाव है ।

[अल्प-महान् प्रतीति तीव्रमन्दतामूलक नहीं]

आप के पूर्वकथनानुसार मदत-तीव्रता के योग से 'अल्प है' 'महान् है' ऐसी प्रतीति का उपपादन किया जाय तो मदवेग से बहने वाले विपुल गंगा नदी के जल मे मदता के योग से 'यह

संयोगाश्रयत्वाच्च, तदपि वायुनाऽभिघातदर्शनात्-संयुक्ता एव हि पांश्वादयो वायुनाऽन्येन वाऽभिहन्यमाना दृष्टाः, तेन च तदभिघातः पांश्वादिवदेव देवदत्तं प्रत्यागच्छत. प्रतिकूलेन वायुना प्रतिनिवर्त्तनात्, तदन्यदिगवस्थितेन श्रवणात् । ननु गन्धादयो देवदत्तं प्रत्यागच्छन्तस्तेन निवर्त्यन्ते, न च तेषां तेन संयोगः निर्गुणत्वात् गुणत्वेन । न, तद्वतो द्रव्यस्यैव तेन निवर्त्तनम्, केवलानां तेषामागमन-प्रतिनिवर्त्तनाऽसम्भवात् निष्क्रियत्वेनोपगमात् । केवलागमन प्रतिनिवर्त्तनसंभवे वा द्रव्याश्रितत्वमेतेषां गुणलक्षण व्याहन्येत । न चात्रापि तद्वतो निवर्त्तनम्, आकाशस्यामूर्त्तत्व-सर्वगतत्वेन तदसंभवात् अन्यस्य चानभ्युपगमात् । तस्माच्छब्द एव तेन संयुज्यते साक्षादित्यभ्युपेयम् । गुणत्वेन चाऽसयोगे चक्रकमुक्तम् । न चाऽसयुक्तस्यैव तेन निवर्त्तनम्, सर्वस्य निवर्त्तनप्रसगात् । प्रतिक्षण शब्दाच्छब्दोत्पत्तिः पूर्वमेव निरस्ता ।

अल्प है' ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी, तथा तीव्रवेग से बहने वाले अल्पपरिणाम गिरिनदी के जल मे भी तीव्रता के योग से 'यह महान् है' ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी। वास्तव मे ऐसी प्रतीति होती नही है इससे फलित होता है कि अल्प-महान् प्रतीति मन्दता--तीव्रतामूलक नही है, किन्तु अल्प-महत्परिमाण मूलक है । ऐसा यदि नही मानेंगे तो घटादि मे भी अल्प-महत् की प्रतीति को परिमाण-मूलक नही मान सकेंगे । यदि कहे कि-'द्रव्यात्मक होने के कारण घटादि मे परिमाण का सभव निर्बाध होने से अल्पमहान्प्रतीति को परिमाणमूलक मान सकते है'-तो शब्द भी द्रव्यात्मक होने से उसमे होने वाली अल्पमहत्प्रतीति को भी परिमाणमूलक ही मानी जाय, दोनो स्थल मे और कोई विशेषता नही है । यदि कहे कि-शब्द मे अल्प-महान् प्रतीति उसके कारण मे रहे हुये अल्प-महत्परिमाण के उपचार से होती है अत वास्तव मे नही है-तो यह कथन उलझन की निपज है, घटादि के परिमाण मे भी औपचारिकता की आपत्ति दूर नही है ।

दूसरे वादी कहते हैं-अश्व के वेग का पुरुष मे उपचार करके 'पुरुष जा रहा है' ऐसी प्रतीति करते है उसी तरह व्यजकवायुगत अल्प महत्त्व का शब्द मे उपचार करने से शब्द मे भी अल्प-महान् शब्दप्रयोग किये जाते है ।-किन्तु यह भी असार है क्योकि अपौरुषेयतानिराकरणप्रकरण मे शब्द की अभिव्यक्ति का पक्ष भी निषिद्ध हो चुका है । निष्कर्ष:-घटादि की तरह शब्द मे भी अल्प-महत्परिमाण का योग पारमार्थिक सिद्ध होता है और उससे शब्द मे गुणवत्ता की भी सिद्धि निर्बाध है ।

[संयोग के आश्रयरूप में द्रव्यत्व की सिद्धि]

'शब्द द्रव्य है क्योकि सयोग का आश्रय है' इससे भी शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध है । वायु के झोके से शब्द का अभिघात देखा जाता है अत उसमे सयोगाश्रयता भी सिद्ध है । जैसे देखिये, वायु से या दूसरे किसी के सयोग से ही धूलिकण आदि का अभिघात होता हुआ दिखता है । धूलीकण के ही अभिघात की तरह वायु से शब्द का भी अभिघात होता है, यह इसलिये कि देवदत्त की ओर आने वाला शब्द भी प्रतिकूल वायु के वेग से दूसरी दिशा मे चला जाता है, और उस दिशा मे रहे हुए अन्य आदमी को वह सुनाई भी देता है ।

यदि यह कहा जाय कि-देवदत्त के प्रति आनेवाली पुष्पादि की सुगन्धि भी वायु के वेग से दूसरी दिशा मे बह जाती है, किन्तु इतने मात्र से गन्धादि के साथ वायु का सयोग नहीं सिद्ध हो सकता, गन्धादि तो गुण है और वे निर्गुण होते है तो यह ठीक नही है, वायु के वेग से गन्ध दूसरी

एकादिसंख्यासम्बन्धित्वाच्च गुणवत्त्वम्, तदपि 'एकः शब्दः द्वौ शब्दौ बहवः शब्दा.' इति प्रत्ययदर्शनात्। न चाधारसंख्यायास्तत्रोपचारात् तथा व्यपदेश इति वक्तु युक्तम्, आकाशस्याधारत्वाभ्युपगमात् तस्य चैकत्वात् 'एकः शब्दः' इति सर्वदा प्रत्ययप्रसगात्। कारणमात्रस्य संख्योपचारे 'बहवः' इति प्रत्ययो स्यात्, तस्य बहुत्वात्। विषयसंख्योपचारे गगनाऽऽकाशव्योमशब्दा बहुव्यपदेशभाजो न स्युः, गगनादिलक्षणस्य विषयस्यैकत्वात्, पश्वादिलक्षणविषयस्य बहुत्वात् 'एको गोशब्दः' इति स्वप्नेऽपि प्रत्यय व्यपदेशो वा न स्यात्। 'यथाऽविरोधं संख्योपचारः' इति बालजल्पितम्, स्वयं संख्यावत्त्वेनाऽविरोधात्। 'अत्रापि गुणत्व विरुध्यते' इति न वक्तव्यम्, इष्टत्वात्। ततः क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च शब्दो द्रव्यम्, इत्यसिद्धं 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यभावे' इति हेतुविशेषणम्।

दिशा मे बह जाती है इसी से सिद्ध है कि गन्ध के आश्रयभूत द्रव्य का ही अन्य दिशा मे प्रतिगमन होता है। गन्ध तो गुण है और गुण निष्क्रिय होता है अत स्वतन्त्ररूप से उसका आगमन या अन्य दिशा मे बहना सभव नही है। यदि स्वतत्ररूप से गुणभूत गन्धादि का आगमन-प्रतिगमन मानेंगे तब तो वे द्रव्याश्रित भी नही हो सकते, फलत गुण का जो लक्षण है द्रव्याश्रितत्व, उसका गन्धादि मे भग हो जायेगा।

[आश्रय की गति से शब्दगुण की गति अयुक्त]

यह नही कह सकते कि 'शब्दस्थल मे द्रव्य का आश्रित हो कर ही शब्दात्मक गुण गमनागमन करता है'। कारण, शब्द का आश्रय आपके मत मे आकाश है और वह तो अमूर्त्त एव सर्वगत है इस लिये उसका गमनागमन सभव नही है और आकाश से अन्य कोई शब्द का आश्रय आप मानते नही है। अतः यही मानना होगा कि द्रव्यात्मक शब्द ही स्वय वायु के साथ साक्षात् सयुक्त होता है। 'वह गुण है इसलिये उसमें सयोग का सभव नही है' ऐसा कहने मे स्पष्ट ही चक्रक दोष लगता है यह पहले कह दिया है। 'वायु से सयुक्त हुए विना ही शब्द दूसरी दिशा मे चला जाता है' ऐसा नही कह सकते क्योकि तब तो शब्दवत् अन्य अन्य द्रव्यो को भी वह सयोग के विना ही दूसरी दिशा मे ले जा सकेगा। पल पल एक शब्द से दूसरे दूसरे शब्द की उत्पत्ति का पक्ष तो तीर के दृष्टान्त से पहले ही निरस्त हो चुका है।

[संख्या के सम्बन्ध से शब्द में गुणवत्ता की सिद्धि]

शब्द गुणवान् है क्योकि एकत्व द्वित्वादि सख्या का सम्बन्धी है। 'शब्द एक है, दो हैं, बहुत है' ऐसी प्रतीति से उसमें एकत्वादिसख्या का भान होता है। ऐसा कहना कि 'अपने आश्रय की सख्या के उपचार से शब्द मे ऐसा व्यवहार होता है' उचित नही है क्योकि शब्दगुणत्व पक्ष मे उसका आधार एक ही आकाश है अतः द्वित्वादि के उपचार का तो सभव नही रहता, सदा के लिये 'शब्द एक है' ऐसा ही भान होता रहेगा। यदि कहे कि-'हम सिर्फ समवायिकारण का ही नही कारणमात्रगत सख्या का उपचार करेंगे'-तो फिर 'शब्द बहुत है' ऐसा ही भान हो सकेगा, 'एक है' ऐसा भान नही हो सकेगा चूंकि कारण अनेक है। यदि कहे-'हम शब्द के अर्थभूत विषय की सख्या का उपचार करेंगे'-तो आपत्ति यह है कि गगन, आकाश, व्योमादि शब्दो का बहुवचनान्तप्रयोग नही हो सकेगा क्योकि गगनादिशब्द का अर्थ एक ही व्यक्ति है, तथा दूसरा दोष यह होगा कि स्वप्न मे भी 'गोशब्द एक है' ऐसा भान या व्यवहार नही हो सकेगा क्योकि गोशब्द का विषय अनेक पशु है। यदि किसी भी रीति

ननूक्तम् शब्दो न द्रव्यम्, एकद्रव्यत्वात्, रूपादिवत्' इति । सत्यम् उक्तम् किन्तु नोक्तिमात्रेण तत् सिध्यति, अतिप्रसंगात् । 'एकद्रव्यत्वात्' इति च तत्र हेतुरसिद्धः । तथाहि-यदि 'एकं द्रव्यं संयोगि अस्येत्येकद्रव्यः शब्दः' इत्येकद्रव्यत्वं हेतुत्वेनोपादीयते तदा विरुद्धो हेतुः, सयोगित्वस्य द्रव्य एव भावात् । अथ 'एकं द्रव्यं समवायि अस्य इत्येकद्रव्यस्तद्भाव एकद्रव्यत्वम्' तदाऽसिद्धो हेतुः, समवायस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च अभावेन, एकद्रव्यसमवायित्वस्याऽसिद्धत्वात् । अपि च, गुणत्वे सिद्धे गगने एकत्र समवायेन तस्य वृत्तिः सिध्यति, तत्सिद्धेश्च द्रव्यत्वनिषेधे सति गुणत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम् ।

यत् पुनरुक्तम् 'एकद्रव्यः शब्दः, सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, रूपादिवत्' इति, तदपि प्रत्यनुमानेन बाधितम्-अनेकद्रव्यः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्त्वात्, घटादिवत् । स्पर्शवत्त्वं साधितत्वाद् नासिद्धम् । 'स्पर्शवत्त्वात्' इत्युच्यमाने परमाणुभिरनेकान्त इति तन्निरासार्थम् 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणोपादानम्, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचार इत्युभयमुक्तम् ।

से सख्या का उपचार इस तरह किया जाय कि जिस से कोई विरोध को अवकाश न रहे-तो यह केवल बालिशता ही होगी, क्योकि स्वय उसको ही वास्तव सख्या का आश्रय मान लेने मे भी कोई विरोध नही है फिर जैसे तैसे उपचार की कल्पना क्यो कि जाय ? ऐसा मत कहना कि-स्वय उसको सख्याश्रय मानने मे गुणत्व के साथ विरोध होगा-ऐसा विरोध तो हमे इष्ट ही है अतः उसमे गुणत्व को ही मत मानीये ।

निष्कर्ष-क्रिया और गुण की आधारता से सिद्ध है कि शब्द द्रव्य है । अतः उसमें गुणत्व की सिद्धि के लिये-'चूँकि उसमे द्रव्यत्व प्रतिषिद्ध है' यह हेतुविशेषण असिद्ध ठहरा ।

[एकद्रव्यत्वहेतु से द्रव्यत्व की सिद्धि अशक्य]

अरे ! आपको कहा तो है--शब्द द्रव्य नही है चूँकि एकद्रव्यवाला है जैसे रूपादि, फिर उसमे द्रव्यत्व का प्रतिषेध असिद्ध कैसे ?--ठीक है, कहा तो है किंतु कह देने मात्र से कोई सिद्ध नही हो जाता, अन्यथा सब कुछ सिद्ध हो जाने का अतिप्रसग होगा । 'एकद्रव्यत्व' यह आपका हेतु भी असिद्ध है । जैसे देखिये-'एक द्रव्य जिस शब्द का सयोगि है उस शब्द को एकद्रव्य' कहा जाय तो ऐसा एकद्रव्यत्व हेतु करने पर विरोध दोष आयेगा क्योकि आपके मत से शब्द गुण है उसमे सयोग तो रहता नही है, द्रव्य मे ही सयोग रहता है । यदि 'एकद्रव्य' शब्द का विग्रह ऐसा करे कि 'एक द्रव्य है समवायि जिस का वह एकद्रव्य' उसको भाव अर्थ मे त्वप्रत्यय लगा कर एकद्रव्यत्व शब्द बनाया जाय तो हेतु असिद्ध बन जायेगा चूँकि समवाय का तो निषेध हो चुका है और आगे किया भी जायेगा इस लिये समवाय तो है ही नही, अतः एकद्रव्यसमवायिता ही असिद्ध है । तदुपरांत यहाँ अन्योन्याश्रय दोष भी है- शब्द 'गुण' है यह सिद्ध होने पर वह समवाय सम्बन्ध से एक ही द्रव्य मे रहता है यह सिद्ध होगा और एकद्रव्यत्व सिद्ध होने पर द्रव्यत्व का निषेध फलित होने से शब्द मे गुणत्व की सिद्धि होगी ।

[शब्द में अनेकद्रव्यत्वसाधक प्रति-अनुमान]

यह जो कहा था--शब्द एकद्रव्यवाला है क्योकि सामान्यविशेषवाला होता हुआ बाह्य-एक-इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है जैसे रूपादि ।--यह अनुमान भी विपरीत अनुमान से बाधित हो जाता है,

तथा, सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वेऽपि वायुर्नैकद्रव्य इति व्यभिचारश्च, तस्य तदप्रत्यक्षत्वे न किंचिद् बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षं स्यात् । 'दर्शन-स्पर्शनग्राह्यं घटादिकं तदि'ति चेत् ? न, वायुना कोऽपराधः कृतो येन स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि प्रत्यक्षो न भवेत् ? 'स्पर्श एव तेन प्रतीयते' इति चेत् ? तर्हि दर्शन-स्पर्शनाभ्यामपि रूप-स्पर्शाविव प्रतीय(ये)ते इति न द्रव्यप्रत्यक्षता नाम । अथ यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामि इति प्रतीतेस्तत्प्रत्यक्षता–'खरो मृदुरुष्णः शीतो वायुर्मे लगति' इति प्रतीतेस्तत्प्रत्यक्षता कल्प्यताम्, अविशेषात् । चक्षुषैकेन चास्मदादिभिः प्रतीयमानाश्चन्द्रार्कादयः सामान्यविशेषवत्त्वेऽपि नैकद्रव्याः । अस्मदादिविलक्षणैर्बाह्येन्द्रियान्तरेण तत्प्रतीतौ शब्देऽपि तथा प्रतीतिः किं न स्यात् ? अत्र तथानुपलम्भोऽन्यत्रापि समानः । 'देशान्तरे कालान्तरे सत्त्वान्तरे च बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वे सति विशेषगुणत्वात्, रूपादिवत्' इति चेत् ? असदेतत्-शब्दस्य गुणत्वेन निषिद्धत्वात् 'विशेषगुणत्वात्' इति हेतुरसिद्ध. । चन्द्रादेरस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे प्रतीतिविरोधः इत्यास्तामेतत् ।

जैसे: 'शब्द अनेक द्रव्यवाला है क्योंकि हम लोगो को प्रत्यक्ष होता हुआ स्पर्शवाला है जैसे घटादि ।' शब्द मे कैसे स्पर्शवत्ता है यह पहले दिखाया है अत. वह असिद्ध नही है । सिर्फ 'स्पर्शवाला है' इतना कहे तो परमाणुओ मे साध्यद्रोह हो जाय क्योंकि परमाणु अनेक द्रव्यवाला नही है और स्पर्शवाला है, अत: उसको हटाने के लिए 'हम लोगो को प्रत्यक्ष होता हुआ' ऐसा विशेषण कहा है । और यदि हम लोगो को प्रत्यक्ष होता हुआ इतना ही कहे तो रूपादि मे साध्यद्रोह है क्योंकि रूपादि अनेकद्रव्यवाले नही है किन्तु हमे प्रत्यक्ष होते है, अतः विशेषण पद के साथ 'स्पर्शवाला' यह विशेष्य पद दोनो का प्रयोग किया है ।

[वायु का स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्ष प्रतीतिसिद्ध है]

तदुपरात, वायु एकद्रव्यवाला नही है, फिर भी उसमे सामान्यविशेष रहता है और वह बाह्य एक स्पर्शनेन्द्रिय से प्रत्यक्ष है इसलिये हेतु साध्यद्रोही बना । यदि आप वायु को स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्ष न मानेंगे तो बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष कोई होगा ही नही । यदि कहे कि-दर्शन और स्पर्शन उभय इन्द्रिय से ग्राह्य जो घटादि, वही बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष है-तो पूछना पड़ेगा कि वायु ने क्या आपका अपराध किया जो स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य होने पर भी प्रत्यक्ष न माना जाय ? ! 'उसका स्पर्श ही प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है, स्वय वायु द्रव्य नही' ऐसा यदि मानेगे तो दर्शन-स्पर्शनेन्द्रिय से भी द्रव्यो के रूप और स्पर्श ही प्रतीत होता है, स्वयं द्रव्य प्रत्यक्ष नही होता ऐसा भी क्यो न माना जाय ? यदि ऐसा कहे-'जिसको मैने देखा था उसी को छू रहा हूँ' ऐसी प्रतीति से द्रव्य को प्रत्यक्ष मानना ही पड़ेगा-तो फिर 'प्रखर अथवा कोमल, शीत अथवा उष्ण वायु मुझे स्पर्श कर रहा है' ऐसी प्रतीति से वायु का भी प्रत्यक्ष मानना ही पडेगा, दोनो ओर युक्ति की समानता है ।

[चन्द्रसूर्यादिस्थल में हेतु साध्यद्रोही]

तथा, चन्द्र-सूर्यादि को तो हम छू भी नही सकते, अत: वे केवल चक्षु इन्द्रिय से ही हम लोगो को प्रत्यक्ष हो सकते हैं, और चन्द्र-सूर्यादि सामान्यविशेषवाला भी है, इस प्रकार हेतु उसमे रह गया है, 'एकद्रव्यवाला' यह साध्य तो वहाँ नही रहता अत. हेतु वहाँ साध्यद्रोही ठहरा । यदि हम लोगो से भिन्न देवतादि को चन्द्र-सूर्यादि का चक्षुभिन्न स्पर्शनेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने का माना जाय तो फिर उन

'सत्तासम्बन्धित्वात्' इत्यत्र च यदि 'स्वरूपसत्तासम्बन्धित्वात्' इति हेतुस्तदाऽनैकान्तिकः सामान्य-समवायादिभिः, एषां प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति तथाभूतसत्तासम्बन्धित्वेऽपि गुणत्वाऽसिद्धेः। न च सामान्यादेः स्वरूपसत्ताऽभाव, खरविषाणादेरविशेषप्रसंगादिति प्रतिपादितत्वात्। अथ 'भिन्नसत्तासम्बन्धित्वात्' इति हेतुस्तदाऽसिद्धः, भिन्नसत्ताऽभावेन खरविषाणादेरिव शब्दस्यापि तत्सम्बन्धित्वाऽसिद्धेः। यत्तु भिन्नसत्तासद्भावे तत्सम्बन्धात् सत्प्रत्ययविषयत्वे च शब्दादे प्रयोगद्वयमुपन्यस्तम्, तत्र यदेव चेतनस्य सत्त्वं तदेव यद्यचेतनस्यापि स्यात् तदा चेतनाऽचेतनेषु सत्प्रत्ययविषयत्वात् स्याद् भिन्नसत्तासंबन्धित्वम्, न च यदेव चेतनस्य सत्त्वं तदेवाऽचेतनस्य तत्सदृशस्यापरस्यान्यत्र भावादिति सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं प्रतिपादयिष्यन्तो निर्णेष्यामः। तदेवं शब्दस्य गुणत्वाऽसिद्धेः नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाऽधिष्ठानत्वाऽसिद्धेरम्बरस्य, साधनविकलो दृष्टान्त इति स्थितम्।

लोगो को शब्द भी अन्य इन्द्रिय से प्रतीत होने का मान सकते है अतः हेतु ही शब्द मे असिद्ध बन गया। यदि कहे कि उन लोगो को शब्द का भले ही श्रवण भिन्न इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता हो किन्तु हम लोगों को तो नही ही होता है-तो इसी तरह चन्द्र-सूर्यादि के लिये भी कह सकते हैं कि देवताओ को भले ही दर्शनभिन्न इन्द्रिय से चन्द्र-सूर्य का ग्रहण होता हो, हम लोगो को तो नही ही होता। अब यदि ऐसा अनुमानप्रयोग करे कि-सभी देश मे सभी काल मे सभी लोगो को शब्द का सिर्फ एक ही बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह बाह्येन्द्रिय का विषय होता हुआ विशेषगुण है।-तो यह अनुमान भी असत् है। कारण, शब्द मे गुणत्व का निषेध किया जा चुका है अतः 'विशेषगुण' हेतु ही असिद्ध है। यदि कहे कि हम चन्द्र-सूर्यादि को हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय ही नही मानते हैं-तो इस में स्पष्ट ही अनुभवबाध है अतः इस अनुमान की बात ही जाने दो।

[सत्तासम्बन्धित्वघटित हेतु में अनेक दोष]

शब्द में गुणत्व की सिद्धि के लिये प्रयुक्त किये गये हेतु में जो 'सत्तासम्बन्धित्वात्' यह अश है वहाँ भी यदि 'सत्ता' शब्द से स्वरूप सत्ता को लेकर यह हेतु किया गया हो तब तो वह सामान्य और समवायादि मे साध्यद्रोही बन जायेगा, क्योंकि सामान्यादि मे द्रव्यत्व और कर्मत्व तो प्रतिषिद्ध ही है और स्वरूपसत्ता तो सामान्य-विशेष और समवाय में होती ही है, किन्तु वे गुणात्मक नही है। ऐसा मत कहना कि-'सामान्यादि मे स्वरूपसत्ता का अभाव है'-क्योंकि तब तो वे गर्दभसीग के जैसे ही असत् हो जाने का प्रसग होगा-यह तो पहले भी कह दिया है। [द्र. पृ ४४१-११] यदि हेतु के 'सत्ता' पद से द्रव्यादिभिन्न स्वतन्त्र सत्ता को लेकर 'भिन्नसत्तासम्बन्धिता' को हेतु किया जाय तो वैसी भिन्न सत्ता गर्दभसीग की तरह स्वय ही असत् होने से शब्द के साथ उसका सबन्ध ही असिद्ध होगा, अर्थात् अप्रसिद्धि दोष हो जायेगा।

तथा आपने भिन्न(=स्वतन्त्र) सत्ता सिद्ध करने के लिये तथा उसके सम्बन्ध से शब्द और बुद्धि आदि मे सत्-इत्याकार बुद्धिविषयता को सिद्ध करने के लिये जो प्रयोगयुगल इस तरह दिखाया था-जिनके भिन्न भिन्न होते हुए भी जो अभिन्न रहता है वह उससे पृथक् होता है, उदा० वस्त्रादि बदलते रहते है किन्तु अपना देह नही बदलता, तो देह वस्त्रादि से पृथक् होता है। बुद्धि आदि के भिन्न भिन्न होते हुए भी उन मे सत्ता तो अभिन्न ही प्रतीत होती है क्योंकि सर्वत्र द्रव्यादि मे 'यह सत् है-यह सत् है' इस प्रकार का भान और सबोधन एकरूप से होता आया है।....इत्यादि, उसके

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम् 'ज्ञानं परममहत्त्वोपेतद्रव्यसमवेतम्, विशेषगुणत्वे सति प्रदेशवृत्तित्वात्, शब्दवत्।' अत्रापि ज्ञानस्य परममहत्त्वोपेतद्रव्यसमवेतत्वे सति ततः शब्दस्य तत्सिद्धिः, तत्सिद्धेश्च ज्ञानस्य परममहत्त्वोपेतद्रव्यसमवेतत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषः। न च दृष्टान्तान्तरमस्ति यतोऽन्यतरप्रसिद्धेरयमदोष स्यात्। ज्ञानस्य चात्मनोऽव्यतिरेकित्वे तद्व्यापित्वम्, 'यद् यस्मादव्यतिरिक्तं तत् तत्स्वभावं यथाऽऽत्मस्वरूपम्, आत्माऽव्यतिरिक्तं चैतत्, ततस्तद्व्यापि' इति न प्रदेशवृत्तित्वम्। तथापि तद्वृत्तित्वे ज्ञानेतरस्वभावतयाऽऽत्मनोऽनेकान्तसिद्धिः। व्यतिरेके आत्मगुणत्ववदन्यगुणत्वस्याप्यप्रतिषेधाद् विशेषगुणत्वाऽसिद्धिः।

व्यतिरेकाऽविशेषेऽप्यात्मन एव गुणो ज्ञानं नाकाशादेरिति किंकृतोऽयं विशेषः? 'समवायकृत' इति चेत्? न, तस्यापि ताभ्यामर्थान्तरत्वे तदवस्थो दोषः, व्यतिरेके समवायस्य सर्वत्राऽविशेषाद् न ततोऽपि विशेषः। अव्यतिरेके तस्यैवाऽभाव इति न ततो विशेष.। न च समवायः संभवति इति प्रति-

---

ऊपर यह निवेदन है कि चेतन और अचेतनो मे सत्ता यदि एक ही होती तब तो चेतन-अचेतन पदार्थो मे एकरूप से होने वाली 'सत्' बुद्धि की विषयता से द्रव्यादि मे भिन्नसत्ता का सम्बन्ध सिद्ध किया जा सकता था, किन्तु हमे यह कहना है कि चेतन और अचेतनो मे रहने वाली सत्ता एक नही है किन्तु चेतनगत सत्ता के तुल्य अन्य सत्ता ही अचेतनो मे रहती है-इस बात का हम आगे निर्णय करायेंगे जब सामान्य सदृशपरिणामरूप ही है इस के प्रतिपादन का अवसर आयेगा। निष्कर्ष, शब्द मे गुणत्व ही सिद्ध नही है, फलतः आकाश रूप दृष्टान्त मे 'नित्य होते हुए हम लोगो को उपलब्ध होने वाले गुण (शब्द) का आश्रय होने से' ऐसा हेतु भी असिद्ध है, तो फिर हेतुशून्य आकाश के दृष्टान्त से आत्मा मे विभुपरिमाण की सिद्धि कैसे होगी?

[आत्मविभुत्वसाधक अन्य अनुमान का निरसन]

उपरोक्त चर्चा से अब यह भी निरस्त हो जायेगा जो नैयायिको ने कहा है कि-ज्ञान परममहत्परिमाणवाले द्रव्य मे समवेत है चूंकि वह विशेषगुण होते हुए प्रदेश वृत्ति वाला है [यानी अव्याप्यवृत्ति है], जैसे शब्द। यह अनुमान इस लिये निरस्त है कि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष लगा है-ज्ञान मे परममहत्परिमाणवद्द्रव्यसमवेतत्व की सिद्धि होने पर ज्ञान के दृष्टान्त से शब्द मे उसकी सिद्धि होगी और शब्द मे उसकी सिद्धि के आधार से ज्ञान मे परममहत्परिमाणवद्द्रव्यसमवेतत्व की सिद्धि हो सकेगी-स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय हो जाता है। शब्द से भिन्न तो कोई दृष्टान्त खोजा नही गया जिसके आधार पर ज्ञान या शब्द मे साध्य की सिद्धि करके अन्योन्याश्रय दोष को हठाया जा सके।

तदुपरांत, यह भी सोच सकते हैं कि ज्ञान आत्मा से अपृथक् है या पृथक् है? यदि अपृथक् होगा तब तो आत्मवत् वह भी व्यापक ही होगा, नियमः-जो जिससे अपृथक् होता है वह उसके स्वभावरूप यानी तद्रूप होता है जैसे आत्मा और उसका स्वरूप। ज्ञान भी आत्मा से अव्यतिरिक्त(=अपृथक्) है अत आत्मवत् व्यापक ही सिद्ध होगा। फलत, ज्ञान मे प्रदेशवृत्तित्व ही नही रहा फिर भी यदि उसे प्रदेशवृत्ति मानेगे तो आत्मा मे ज्ञान स्वभाव तो है ही और ज्ञान के प्रदेशवृत्तित्व के बल से ही उसमे ज्ञानेतरस्वभाव भी सिद्ध होने से अनेकान्तवाद की ही विजय होगी। यदि ज्ञान को आत्मा से पृथक् माना जाय तो इस पक्ष मे, वह जैसे आत्मा का गुण माना जाता है वैसे अन्य द्रव्य का भी माना जाय तो कौन निषेध कर सकेगा? फलतः वह सामान्य गुण बन जायेगा, विशेषगुण नही रहेगा।

पादितम् । न चात्मनो व्यापित्वे नित्यत्वे च ज्ञानादिकार्यकारित्वमपि संभवति । तत्र तत्कार्यत्वादपि तद्विशेषगुणो ज्ञानम् । न चात्मनः प्रदेशाः सन्ति येन प्रदेशवृत्तित्वं ज्ञानस्य सिद्धं स्यात् । कल्पितत-त्प्रदेशाभ्युपगमे च तद्वृत्तित्वमपि हेतुः कल्पित इति न कल्पितात् साधनात् साध्यसिद्धिर्युक्ता, सर्वत सर्वसिद्धिप्रसंगात् । संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं च हेतोः विपर्यये बाधकप्रमाणावृत्त्याऽत्रापि समानमिति ।

तथा स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्त्तात्मकस्य 'अहम्' इति स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-सिद्धत्वादात्मनो विभुत्वसाधकत्वेनोपन्यस्यमानः सर्व एव हेतुः प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः । सप्रतिपक्षश्चायं हेतुरित्यसत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य लक्षणमसिद्धम् । स्वदेहमात्रात्मप्र-साधकश्च प्रतिपक्षहेतुरत्रैव प्रदर्शयिष्यते । तन्नातोऽपि हेतोरात्मनो विभुत्वसिद्धिः ।

[ज्ञान आत्मा का विशेषगुण कैसे ?]

तात्पर्य इस प्रश्न मे है कि जब आत्मादि सभी द्रव्य से ज्ञान सर्वथा पृथक् ही है तब यह तफावत कैसे किया जाय कि ज्ञान आत्मा का ही गुण है और आकाशादि का नही है ? समवाय से यह तफावत नही किया जा सकता क्योकि समवाय उन दोनो से पृथक् पदार्थ होने पर वह उन दोनो के बीच ही हो और अन्य पदार्थ के बीच न हो यह तफावत कैसे होगा ? अर्थात् पूर्वोक्त दोष तदवस्थ ही रहेगा। तात्पर्य, पृथक् समवाय सर्वत्र समानरूप से होने से, उससे वह तफावत नही हो सकता । यदि समवाय दो समवायि से अपृथक् होगा तो वह समवायीरूप ही हो जाने से समवाय का नामोनिशा मिट जायेगा । अतः समवाय से कोई विशेष नही हो सकता । तथा समवाय सिद्ध भी नही किया जा सकता यह कह दिया है । तथा दूसरी बात यह है कि आत्मा को व्यापक एव कूटस्थ नित्य मानने पर वह ज्ञानादि कार्यो को कभी नही कर सकेगा । इसलिये आत्मा का कार्य होने से ज्ञान को आत्मा का विशेषगुण मानने का तर्क भी नही टिकेगा । तथा न्यायमत मे आत्मा अप्रदेशी है अतः ज्ञान की उसमे प्रदेशवृत्तिता भी सिद्ध होने का सभव नही है । यदि आत्मा के कल्पित प्रदेशो को मानेंगे तो प्रदेश-वृत्तिता भी कल्पित हो गयी, तो इस कल्पितप्रदेशवृत्तिता के साधन से साध्यसिद्धि का होना युक्तियुक्त नही है, अन्यथा जिस किसी भी वस्तु से जैसे तैसे पदार्थों की सिद्धि को जा सकेगी । तथा 'प्रदेश-वृत्तित्व' हेतु परममहत्परिमाणशून्यद्रव्य मे समवेत पदार्थ मे रह जाय तो कोई इसमे बाधक प्रमाण न दिखा सकने से हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति भी सदिग्ध हो जाने का दोष यहाँ भी समानरूप से लागू होगा।

[आत्मविभुत्वसाधक हेतुओं में बाध दोष]

दूसरी बात यह है कि आत्मा मे विभुपरिमाणसाधक हर कोई हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष-वाला हो जाता है । देखिये-आत्मा 'अहम्' इस प्रकार के स्वप्रकाशप्रत्यक्षसवेदन से सिद्ध है, इस सवेदन में आत्मा अपने देह मात्र मे व्याप्त और हर्षविषादादि अनेक विवर्त्तो के अधिष्ठानरूप मे सविदित होता है, इस प्रत्यक्ष सवेदन से विभुत्वरूप साध्य का निर्देश बाधित होने के बाद जो भी हेतु प्रयुक्त किया जायेगा वह कालात्ययापदिष्ट ही होगा । तथा उक्त सवेदन के आधार पर ही देहमात्रव्यापित्व-साधक प्रति अनुमान (हेतु) से आपका हेतु सत्प्रतिपक्ष दोषवाला हो जायेगा, अर्थात् उसमे 'असत्प्रति-पक्षितत्व' लक्षण ही असिद्ध हो जायेगा । वह प्रति-अनुमान, यानी देहमात्रव्यापिता का साधक प्रति-पक्षी हेतु इसी प्रस्ताव मे दिखाया भी जायेगा । तात्पर्य, आपके कथित हेतु से आत्मा मे विभुत्व की सिद्धि नही हो सकती ।

यदप्यात्मनो विभुत्वसाधनं कैश्चिदुपन्यस्तम्-"अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते, एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्, यो य एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणः स स स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म प्रारभते यथा वेगः, तथा चाऽदृष्टम्, तस्मात् तदपि स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म प्रारभते इति। न चाऽसिद्धं क्रियाहेतुगुणत्वम्, 'अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितम्, कार्यत्वे सति देवदत्तस्योपकारकत्वात्, पाण्यादिपरिस्पन्दवत्'। एकद्रव्यत्वं चैकस्यात्मनस्तदाश्रयत्वात्, 'एकद्रव्यमदृष्टम् विशेषगुणत्वात्, शब्दवत्'।

'एकद्रव्यत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युक्तम्। 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युच्यमाने मुशल हस्तसंयोगेन स्वाश्रयाऽसंयुक्तस्तम्भादिचलनहेतुना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'एकद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणम्। 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वाद्' इत्युच्यमाने स्वाश्रयाऽसंयुक्तलोहादिक्रियाहेतुनाऽयस्कान्तेन व्यभिचार, तन्निवृत्त्यर्थम् 'गुणत्वात्' इत्यभिधानम्।

[अदृष्ट का आश्रय व्यापक होने का अनुमान-पूर्वपक्ष]

कुछ विद्वानों ने आत्मा मे विभुपरिमाण की सिद्धि के लिये यह अनुमान दिखाया है-अदृष्ट अपने आश्रय से संयुक्त ही अन्य द्रव्य मे क्रिया को उत्पन्न करता है, क्योंकि वह एक द्रव्य मे समवेत होने के साथ क्रिया का हेतुभूत गुण है। (व्याप्तिः-) जो जो एक द्रव्य में समवेत और क्रिया के भूत गुणरूप होता है वह अपने आश्रय से सयुक्त ही अन्य द्रव्य में क्रिया को उत्पन्न करता है, उदा० वेग नाम का गुण। अदृष्ट भी वैसा ही है, अतः वह भी अपने आश्रय से सयुक्त ही अन्यद्रव्य मे क्रिया को उत्पन्न करेगा। इस अनुमान का आशय यह हुआ कि दूर रही हुयी चीज वस्तु यदि अदृष्ट के सहारे अपने को हस्तगत हो जाती है तो वहाँ आत्मा का विभुत्व इसलिये सिद्ध होता है कि अदृष्ट का आश्रय आत्मा व्यापक है तभी तो वह अन्य द्रव्य उस के साथ संयुक्त होगा और तभी उसमे अदृष्ट से क्रिया उत्पन्न होगी जिस के फलस्वरूप वह अपने हाथो में आ पडेगा।

इस अनुमान मे 'क्रियाहेतुगुणत्व' असिद्ध नही कहा जा सकता, क्योंकि उसकी भी अनुमान से सिद्धि शक्य है-देखिये, अग्नि का ज्वलन हमेशा उर्ध्व दिशा मे, वायु का सचरण हमेशा तिरछी दिशा मे होता है और अणु तथा मन मे आद्य क्रिया की उत्पत्ति जो होती है यह सब देवदत्तआदि के विशेषगुण का फल है, (हेतु.-) क्योकि ये सब कार्यरूप है और देवदत्तादि के उपकारक है, उदा० देवदत्त के हाथ-पैर का संचालन। [देवदत्त के हाथ-पैर का सचालन कार्यभूत है और देवदत्त को उपकारक है, तथा वह देवदत्त के ही विशेषगुण (प्रयत्न) से जन्य है। अग्नि के उर्ध्वज्वलन आदि मे देवदत्त का प्रयत्न तो नही होता, अतः उसके अदृष्ट गुण की सिद्धि होगी। तदुपरांत, अदृष्ट में एकद्रव्यत्व भी, उसका आश्रयभूत आत्मा एक होने से है। उसकी सिद्धि इस अनुमान से हो सकती है कि अदृष्ट एकद्रव्य में आश्रित है क्योंकि विशेषगुण है, उदा० शब्द।

[अदृष्ट में एकद्रव्यत्व के अनुमान का पृथक्करण]

यदि उक्त विभुत्वसाधक अनुमान मे सिर्फ 'एकद्रव्यत्वात्' इतना ही हेतु किया जाय तो रूपादि में साध्यद्रोह होगा क्योंकि रूपादि गुण भी एक द्रव्य में ही रहते है, संख्यादि की तरह अनेक द्रव्य मे नही रहते, और रूपादि में 'अपने आश्रय के साथ सयुक्त ही द्रव्य मे क्रिया को उत्पन्न करना' यह साध्य तो नहीं रहता। इस दोष को निवृत्ति के लिये 'कियाहेतुगुणत्वात्' ऐसा जोडा गया है। रूपादि

एतदपि प्रत्यक्षबाधितप्रतिज्ञासाधकत्वेन एकशाखाप्रभवत्वानुमानवदनुमानाभासम् । 'एकद्रव्यत्वे' इति च विशेषणं किमेकस्मिन् द्रव्ये संयुक्तत्वात्, उत तत्र समवायात् ? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, संयोगगुणेनादृष्टस्य गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वप्रसक्तेः 'क्रियाहेतुगुणत्वाद्' इत्येतस्य बाधाप्रसंगात् । अथ द्वितीयः तदा द्रव्येण सह कथंचिदेकत्वमदृष्टस्य प्राप्तम् नह्यन्यस्यान्यत्र समवायः, घट-रूपादिषु तस्य तथाभूतस्यैवोपलब्धेः । न हि घटाद् रूपादयः तेभ्यो वा घटः तदन्तरालवर्त्ती समवायश्च भिन्नः प्रतीतिगोचरः, अपि तु कथंचिद् रूपाद्यात्मकाश्च घटादय. तदात्मकाश्च रूपादयः प्रतीतिगोचरचारिणोऽनुभूयन्ते, अन्यथा गुण-गुणिभावेऽतिप्रसंगाद् घटस्यापि रूपादयः पटस्य स्युः । 'तेषां तत्राप्यप्रतीतेरितरेषां तु प्रतीतेः' इत्यादिकं प्रतिविहितत्वाद् नात्रोद्घोष्यम् । तेन समवायेनैकत्रात्मनि वर्त्तनादहष्टस्यैकद्रव्यत्वं वादि-प्रतिवादिनोरसिद्धम्, एकान्तभेदे समवायाभावेनैकद्रव्यत्वस्याऽसिद्धेः ।

क्रिया के हेतु ही नही है अतः उसमे हेतु निवृत्त हो जाने से साध्य न रहने पर भी दोष नही है। यदि 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इतना ही हेतु किया जाय तो भी मुशल-और हस्त के सयोगस्थल मे साध्यद्रोह होगा, क्योंकि वह भी *अपने आश्रय हस्त या मुशल से असयुक्त स्तम्भादि की चलनक्रिया का हेतु है किन्तु मुशल या हस्त के साथ स्तम्भादि का सयोग नही होता । इस साध्यद्रोह के निवारणार्थ 'एक ही द्रव्य मे आश्रित हो कर' यह विशेषण किया है । सयोग दो द्रव्य मे आश्रित है, अतः कोई दोष नही है । 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' ऐसा न कहे और सिर्फ 'क्रियाहेतुत्वात्' इतना ही कहेगे तो लोहचुबकस्थल मे साध्यद्रोह होगा, क्योंकि लोहचुबक अपने आश्रय से असयुक्त भी लोहादि मे आकर्षण क्रिया को उत्पन्न करता है, अत. वहाँ क्रियाहेतुत्व है किन्तु 'स्वाश्रयसयुक्त' यह साध्य अश नही है। इसके निवारणार्थ 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' ऐसा कहा है । लोहचुबक तो द्रव्यात्मक है, गुणरूप नही है, अतः कोई दोष नही है, [कुछ विद्वानो का कथित अनुमान पूर्ण] ।

[अदृष्ट के आश्रय की व्यापकता के अनुमान में आपत्तियाँ-उत्तरपक्ष]

कुछ विद्वानो की ओर से उक्त यह अनुमान भी प्रत्यक्ष से बाधित प्रतिज्ञावाला होने से अनुमानाभास है, जैसे कि पूर्व मे एकशाखाजन्य फल मे माधुर्य का अनुमानाभास दिखाया गया है । आत्मा देहमात्रव्यापी है यह तो प्रत्यक्ष सवेदन से सिद्ध होने का कुछ समय पहले ही कहा हुआ है । तदुपरात यह अनुमान विकल्पसह भी नही है, जैसे: 'एकद्रव्य मे आश्रित होकर, ऐसा कहा है उसका अर्थ (१) 'एकद्रव्य मे सयुक्त होकर' ऐसा करना है या (२) 'एक द्रव्य मे समवेत होकर' ऐसा ? प्रथम पक्ष अयुक्त है क्योंकि अदृष्ट मे यदि सयोग गुण रहेगा तो वह द्रव्यरूप सिद्ध होगा और 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' यहाँ गुणशब्दार्थ मे बाध आयेगा । यदि दूसरा अर्थ किया जायेगा तो द्रव्य के साथ अदृष्ट का कथञ्चिद् अभेद प्रसक्त होगा, क्योंकि अन्य वस्तु का अन्य किसी वस्तु मे समवाय घटित नही है । घट से कथचिद् अभिन्न रूपादि का ही घट मे समवाय दिखाई पडता है । आशय यह है कि घट से सर्वथा भिन्न रूपादि, रूपादि से अत्यन्त भिन्न घट, अथवा उनके बीच रहे हुए सर्वथा भिन्न समवाय कभी भी दृष्टिगोचर नही होता । बल्कि, कथचिद् रूपादिआत्मक घटादि, अथवा घटादिस्वरूप रूपादि ही दृष्टिगोचर होते हुए अनुभव मे आते है । यदि रूपादि और घटादि मे कथचिद् अभेद नही मानेगे तो रूपादि का सिर्फ घट के साथ ही नही, पट अथवा आकाशादि के साथ भी गुण-गुणिभाव प्रसक्त होने की आपत्ति

---

*मुशल के प्रहार से जहाँ स्तम्भादि को गिराया जाय वहाँ यह साध्यद्रोह हो सकता है ।

अथ गुणिनो गुणानामनर्थान्तरत्वे गुण-गुणिनोरन्यतर एव स्यात्, अर्थान्तरत्वे परपक्ष एव समर्थितः स्यादिति समवाय. सिद्धः। कथंचिद् वादोऽपि न युक्तः अनवस्थादिदोषप्रसंगात्। अयुक्तमेतत्, पक्षान्तरेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि-द्वित्वसंख्या-संयोगादिकमनेकेन द्रव्येणाभिसम्बध्यमानं यदि सर्वात्मनाऽभिसम्बध्यते द्वित्वसंख्यादिमात्रम् द्रव्यमात्रं वा स्यात्, एकेनैव वा द्रव्येण सर्वात्मनाऽभिसम्बन्धात् न द्रव्यान्तरेण प्रतीतिः। अथैकेन देशेनैकत्र वर्त्ततेऽन्येनाऽन्यत्र, तेऽपि देशा यदि ततो भिन्नास्तेष्वपि स तथैव वर्त्तते इत्यनवस्था। अभिन्नाश्चेत् उक्तो दोषः। कथंचित्पक्षे परवाद एव समर्थितः स्यादित्यात्मना सहादृष्टस्य कथंचिदनन्यभाव एव एकद्रव्यत्वमित्यविभुत्वात् गुणानां तदव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽप्यविभुत्वमिति विपक्षसाधकत्वादेकद्रव्यत्वलक्षणस्य हेतुविशेषणस्य विरुद्धत्वम्।

होगी और घट के रूपादि वस्त्र के भी हो जायेंगे। यहाँ ऐसा कहना कि-जिन लोगो को शास्त्रीयव्युत्पत्ति नही है उनको तो रूपादि के आश्रय मे भी उनके समवाय की प्रतीति नही होती और जिन को शास्त्रीयव्युत्पत्ति होती है उनको समवाय की प्रतीति होती ही है-यह उद्घोषणा करने लायक नही है क्योंकि इसका उत्तर पहले दे दिया है कि शास्त्रीय व्युत्पत्ति वालो को भी स्वरस से समवाय की प्रतीति नही होती निष्कर्ष यही है कि 'समवाय से एक द्रव्य मे रहना' ऐसा एकद्रव्यत्व अदृष्ट मे, वादी प्रतिवादि उभयसिद्ध नही है, क्योंकि एकान्तभेदपक्ष मे समवाय ही असिद्ध होने से एकद्रव्यत्व ही सिद्ध नही किया जा सकता।

[गुण-गुणी में कथंचिद् भेदाभेदवाद से आत्मव्यापकता असिद्ध]

यदि यह कहा जाय-"गुण गुणी से अर्थान्तर रूप है या नही ? यदि अर्थान्तर नही है तब तो दो मे से एक ही व्यवहारयोग्य हुआ, अर्थात् दूसरे का लोप हो जायेगा। यदि अर्थान्तररूप मानेंगे तब तो उन दोनो के बीच सम्बन्ध भी मानना ही पडेगा-इस प्रकार परपक्ष की यानी हमारे पक्ष की अनायास सिद्धि होने से समवाय असिद्ध नही है"-तो यह बात ठीक नही है। ऐसे विकल्प तो आपके पक्ष मे भी समानरूप से हो सकता है। जैसे देखिये-द्वित्वसंख्या और सयोगादि जब अनेक द्रव्य के साथ सम्बद्ध होते हैं तो क्या सपूर्णरूप से सम्बद्ध हो जाते है या एक अश से ? यदि सपूर्णरूप से कहेंगे तब तो द्वित्वसख्यादि मे से केवल एक ही व्यवहार योग्य रहेगा, दूसरे का विलोप होगा, अथवा घटपटगत द्वित्वादि सख्या सपूर्णरूप से एक घट के साथ सम्बद्ध हो जाने पर अन्य पटद्रव्य के साथ उसके सम्बन्ध की प्रतीति ही नही होगी। अगर कहे-एक देश से ही सम्बद्ध होते है, अर्थात् एक देश से घट के साथ और अन्य देश से पट द्रव्य के साथ सम्बद्ध होती है-तो यहाँ प्रश्न होगा कि वे देश द्वित्वादि से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न होगे तब तो उन देशो मे वह द्वित्वादि सख्या सम्पूर्णरूप से सम्बद्ध हैं या एक अश से ? ऐसे प्रश्नो की परम्परा का अन्त नही आयेगा। यदि उन अशो को द्वित्वादि से अभिन्न मान लेंगे तब तो पहले जो दोष कहा है वही वापस आयेगा। बचने के लिए अगर कथचिद् भिन्नाभिन्न पक्ष का स्वीकार करेंगे तब तो परकीय पक्ष ही पुष्ट हो जाने से अदृष्ट का भी आत्मा के साथ कथचिद् अभेदभाव मानने पर ही एकद्रव्यत्व यानी एक द्रव्य मे समवेतत्व का कथन सच्चा ठहरेगा। गुणभूत अदृष्ट को तो आप विभु नही मानते हैं अतः उससे कथचिद् अभिन्न आत्मा मे भी अविभुत्व ही मानना पडेगा। इस प्रकार एकद्रव्यत्व रूप हेतुविशेषण विभुत्व के बदले अविभुत्व का साधक होने से विरुद्ध साबित हुआ।

'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यत्रापि यदि देवदत्तसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्त्तमानमदृष्टं द्वीपान्तरवर्त्तिषु मुक्ताफलादिषु देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुः-तदयुक्तम्, अतिदूरत्वेन द्वीपान्तरवर्त्तिभिस्तैस्तस्याऽनभिसबन्धित्वेन तत्र क्रियाहेतुत्वाऽयोगात्, तथापि तद्धेतुत्वे सर्वत्र स्यात्, अविशेषात्। अथानभिसम्बन्धविशेषेऽपि यदेव योग्यं तदेव तेनाऽऽकृष्यते न सर्वमिति नातिप्रसंगः। न, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेऽपि यदेव योग्यं तदेव तद्ग्राह्यमिति। यदुक्तं परेण-"अप्राप्यकारित्वे चक्षुषो दूरव्यवस्थितस्यापि ग्रहणप्रसंग" [ ] इत्ययुक्तं स्यात्। अथ स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धसंभवात् 'अनभिसम्बन्धात्' इत्यसिद्धम्। तथाहि-यमात्मानमाश्रितमदृष्टं तेन संयुक्तानि देशान्तरवर्त्तिमुक्ताफलादीनि देवदत्तं प्रत्याकृष्यमाणानि। न, सर्वस्याऽऽकर्षणप्रसंगात् तेनाऽभिसम्बन्धाऽविशेषात्। न च यददृष्टेन यज्जन्यते तत् तेनाऽऽकृष्यते इति कल्पना युक्तिमती, देवदत्तशरीरारम्भकपरमाणूनां तददृष्टाऽजन्यत्वेनाऽनाकर्षणप्रसंगात्, तथाप्याकर्षणेऽतिप्रसंगः प्रतिपादित एव। यथा च कारणत्वाऽविशेषे घटदेशावौ सन्निहितमेव दण्डादिकं घटादिकार्यं जनयति अदृष्टं त्वन्यथेत्यभ्युपगमस्तथा बाह्येन्द्रियत्वाऽविशेषेऽपि 'त्वगिन्द्रियं प्राप्तमर्थमवभासयति, लोचनं त्वन्यथेत्यभ्युपगमः किं न युक्तः?।

[क्रियाहेतुगुणत्वात्-इस हेतु की परीक्षा]

'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इस हेतु मे भी, देवदत्त के आत्मप्रदेशो मे विद्यमान अदृष्ट को, देवदत्त के प्रति खिचे जाने वाले अन्यद्वीप वर्त्ती मोतीओं की क्रिया का हेतु यदि माना जाय तो यह युक्त नही। कारण, वे मोती अन्य द्वीप में अति दूर रहे हुए होने से उनके साथ अदृष्ट का कोई सम्बन्ध ही नही बन सकता, अतः उन की क्रिया मे वह हेतु भी नही हो सकता। फिर भी यदि अदृष्ट को उन मोतीयो की क्रिया का कारण मानेंगे तो हर कोई चीज की क्रिया मे कारण मानना होगा, क्योंकि सम्बन्ध का अभाव तो सर्वत्र समान है। यदि ऐसा कहा जाय कि-सम्बन्ध न होने की बात सर्वत्र समान होने पर भी जो आकर्षणयोग्य होते है उनका ही देवदत्त के अदृष्ट से आकर्षण होता है, सभी का नही होता, ऐसा मानने पर कोई अतिप्रसग दोष नही है।-तो यह भी ठीक नही है। कारण, चक्षुअप्राप्यकारिता वादी भी कह सकेगा कि चक्षु अप्राप्यकारी होने पर भी व्यवहित पदार्थो के ग्रहण का अतिप्रसग निरवकाश है क्योकि सम्बन्ध के विना भी जो योग्य होता है वही उसका ग्राह्य होता है, सभी नही। फिर आपके मत मे जो यह कहा गया है कि 'चक्षु यदि अप्राप्यकारि होगा तो दूर रहे हुए पदार्थ के ग्रहण का प्रसग होगा' [ ] यह अयुक्त ठहरेगा।

यदि ऐसा कहे कि-अन्य द्वीप के मोतीयो के साथ देवदत्त के अदृष्ट का स्वाश्रयसयोग सम्बन्ध बन सकता है। स्व यानी देवदत्त का अदृष्ट, उसका आश्रय देवदत्तात्मा, वह व्यापक होने से मोतीयो के साथ उसका सयोग सम्बन्ध है। इस लिये आपने कहा था कि सबन्ध नही है यह बात असिद्ध है। तात्पर्य यह है कि अदृष्ट जिस आत्मा मे आश्रित है उस आत्मा के साथ सयुक्त अन्यदेशवर्त्ती मोती आदि पदार्थ देवदत्त के प्रति आकृष्ट होते है।-तो यह बात भी व्यर्थ है क्योकि इस प्रकार का सम्बन्ध हर एक चीजो के साथ बन सकता है अतः सभी चीजो के आकर्षण की आपत्ति होगी*। यदि ऐसी कल्पना करे कि जिस के अदृष्ट से जो उत्पन्न हुआ हो वही उस व्यक्ति के अदृष्ट से आकृष्ट होगा अतः

*यह बात भी अभ्युपगमवाद से कही गयी है। अन्यथा, आत्मा का व्यापकत्व ही अब तक सिद्ध नही है तो स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध की बात ही कैसे बन सकती है?

नापि द्वीपान्तरवर्त्तिमुक्तादिसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्त्तमानं तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-यथा वायुः स्वयं देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवान् अन्येषां तृणादीनां तं प्रत्युपसर्पणहेतुस्तथा यद्यदृष्ट-मपि तं प्रत्युपसर्पत् स्वयमन्येषां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः तथा सति अदृष्टस्येव मुक्तादेरपि तथैव तं प्रत्यु-पसर्पणाऽविरोधाद् व्यर्थमदृष्टपरिकल्पनम्। तथाभ्युपगमे च 'यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पति तद् देवदत्तगुणा-कृष्टं त प्रत्युपसर्पणात्' इति हेतुरनैकान्तिकः अदृष्टेनैव। वायुवच्च सक्रियत्वमदृष्टस्य गुणत्वं बाधते। शब्दवच्चापरस्योत्पत्तावपरमदृष्टं निमित्तकारणं तदुत्पत्तौ प्रसक्तम्, तत्राप्यपरमित्यनवस्था, अन्यथा शब्देऽपि किमदृष्टलक्षणनिमित्तपरिकल्पनया? अदृष्टान्तरात् तस्य तं प्रत्युपसर्पणे तदप्यदृष्टान्तरं तं प्रत्युपसर्पत्यदृष्टान्तरात्, तदपि तदन्तरादित्यनवस्था।

सभी चिजो के आकर्षण की आपत्ति नही होगी-तो यह कल्पना भी अयुक्त है क्योंकि देवदत्त के शरीर के आरम्भक परमाणु (नित्य होने से) देवदत्तादृष्टजन्य नही है तो उनका देवदत्त के प्रति आकर्षण न होने की आपत्ति आ जायेगी। फिर भी यदि उन परमाणुओ का आकर्षण मानेंगे तो परमाणुवत् ही देवदत्त-अदृष्ट से अजन्य सभी चीजो के आकर्षण को पूर्वोक्त आपत्ति लगी ही रहेगी। जब आप मानते हैं कि दण्डादि और अदृष्ट मे घट के प्रति कारणता समान होने पर भी घटोत्पत्तिदेश मे विद्यमान रहकर ही दण्डादि घटादि कार्यो को उत्पन्न करता है जब कि दूरवर्त्ती अदृष्ट उस देश मे सन्निहित न रहने पर भी घटादि कार्य को उत्पन्न करता है-इसी तरह अन्य वादी भी नेत्र के लिये मान सकते हैं कि नेत्र और अन्य त्वचादि इन्द्रियो मे बाह्येन्द्रियत्व समान होने पर भी त्वचादि इन्द्रिय, सयुक्त अर्थ को ही प्रकाशित करता है जब कि नेत्रेन्द्रिय अपने से असयुक्त अर्थ को भी प्रकाशित करता है-ऐसा माने तो क्या अयुक्त है?!

[अन्यत्र वर्त्तमान अदृष्ट की हेतुता अनुपपन्न]

यदि ऐसा कहें कि-देवदत्तसयुक्तात्मप्रदेशो मे नही किन्तु अन्यद्वीपवर्त्ती मोतीयो से संयुक्त आत्मप्रदेशो मे विद्यमान अदृष्ट ही देवदत्त के प्रति मोतीयो के आकर्षण मे हेतु है-तो यह भी विकल्प-सह न होने से अयुक्त है। जैसे देखिये-(१) मोतीसमूहसयुक्त आत्मप्रदेशो मे विद्यमान अदृष्ट देवदत्त के प्रति स्वयं आकृष्ट होता हुआ मोतीयो को देवदत्त के प्रति खिच लाता है? (२) या वहाँ रहा हुआ ही मोतीयो को देवदत्त के प्रति धकेल देता है? पहले विकल्प मे यदि कहा जाय कि जैसे वायु स्वय देवदत्त के प्रति आता हुआ अन्य तृणादि को उसके प्रति खिच लाता है उसी तरह अदृष्ट भी स्वय देवदत्त के प्रति खिच ले जाता है-तो ऐसा कहने पर अदृष्ट की कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी, क्योंकि अदृष्ट मे यदि आप स्वत: आकर्षणक्रिया मान लेते है तो मोतीयो मे भी स्वतः आकर्षणक्रिया मानी जाय उसमे कोई विरोध नही है, फिर उनके आकर्षण के लिये अदृष्ट की कल्पना क्यो करें? तदुपरात, 'जो देवदत्त के प्रति खिचा जा रहा है वह देवदत्त के गुण से आकृष्ट है क्योंकि वह देवदत्त के प्रति ही आकृष्ट होता है' इस अनुमान का हेतु 'देवदत्त के प्रति खिचा जाना'-यह अदृष्टस्थल मे ही साध्यद्रोही बन जायेगा, क्योंकि अदृष्ट देवदत्त की ओर खिचा जाता है फिर भी वह देवदत्त के किसी भी गुण से आकृष्ट नही होता।

तदुपरांत, जब आप वायु की तरह अदृष्ट को स्वतः गमनक्रियाशील मानेंगे तो उसकी गुण-रूपता का भग हो जायेगा। यदि उस को गतिशील न मानना पडे इस लिये आप शब्द की तरह

अथ तत्रस्थमेव तत् तेषां तं प्रत्युपसर्पणे हेतुः। तदपि न युक्तम्, अन्यत्र प्रयत्नादावात्मगुणे तथाऽदर्शनात्, न हि प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव हस्तादिसंचलनहेतुर्ग्रासादिकं देवदत्तमुखं प्रति प्रापयन् दृष्टः, अन्तरालप्रयत्नवैफल्यप्रसंगात्। अथ प्रयत्नवैचित्र्यदृष्टेरदृष्टेऽप्यन्यथा कल्पनम्। तथाहि-कश्चित् प्रयत्नः स्वयमपरापरदेशवानपरत्र क्रियाहेतुर्यथाऽनन्तरोदितः, अपरश्चान्यथा यथा शरासनाऽध्यासपदसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव शरीरा(? शरा)दीनां लक्ष्यप्रदेशप्राप्तिक्रियाहेतुः। यद्येवम्, इयं चित्रता एकद्रव्याणां क्रियाहेतुगुणानां स्वाश्रयसयुक्ताऽसंयुक्तद्रव्यक्रियाहेतुत्वेन किं नेष्यते विचित्रशक्तित्वाद्भावानाम्? 'तथाऽदृष्टेः' इति नोत्तरम्, अयस्कान्तभ्रामकस्पर्शगुणस्यैकद्रव्यस्य स्वाश्रयाऽसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुत्वेऽप्याकर्षकाख्यद्रव्यविशेषव्यवस्थितस्य तथाविधस्यैव तस्य स्वाश्रयसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुत्वदर्शनात्।

अग्र अग्र भाग मे नये नये अदृष्ट की उत्पत्ति को मानेंगे तो प्रथम अदृष्ट की उत्पत्ति मे भी अन्य अदृष्ट की निमित्त कारण के रूप मे कल्पना करनी पडेगी। उसकी उत्पत्ति के लिये भी अन्य अन्य अदृष्ट की कल्पना करने पर अनवस्था दोष लगेगा। यदि अदृष्ट के लिये निमित्तकारणरूप मे अन्य अदृष्ट को नही मानेंगे तो फिर शब्द के निमित्त कारणरूप मे अन्य भी अदृष्ट को कारण मानने की आवश्यकता नही रहेगी। तथा यह भी सोचिये कि अदृष्ट की गति को यदि स्वतः प्रेरित न मानकर अन्य अदृष्ट प्रेरित मानेंगे तो उस अदृष्ट की भी देवदत्त के प्रति गमनक्रिया अन्य अदृष्ट प्रेरित ही माननी पड़ेगी। अन्य अदृष्ट की गमनक्रिया भी अन्य अदृष्ट प्रेरित ही माननी पडेगी। इस प्रकार अनवस्था चलेगी।

[अचल अदृष्ट से आकर्षण की अनुपपत्ति]

यदि दूसरा विकल्प ले कर यह कहे कि मोतीयो से संयुक्त आत्मप्रदेशो मे अवस्थित अदृष्ट वहाँ रहा हुआ ही मोतीयो को देवदत्त के प्रति धकेल देता है-तो यह भी युक्त नही है। कारण, प्रयत्न आदि अन्य आत्मगुणो में वैसा कही भी देखा नही जाता। आशय यह है कि जब आहार का केवल देवदत्त मुख के प्रति गति करता है तब उस कवलसयुक्त आत्मप्रदेशो मे अवस्थित प्रयत्न वहाँ रहा रहा ही हस्तसचालन करता हुआ कवल को देवदत्त के प्रति नही धकेल देता किन्तु जैसे जैसे हस्त की गति मुखाभिमुख बढ़ती है वैसे वैसे वह प्रयत्न भी हस्त मे रहा हुआ आगे बढता जाता ही है। यदि ऐसा नही मानेंगे तो मध्यवर्त्ती देश मे हस्तादिगत प्रयत्न निरर्थक हो जाने की आपत्ति आयेगी।

यदि यह कहा जाय कि-हम प्रयत्न वैचित्र्य के दर्शन से अदृष्ट मे भी वैचित्र्य की कल्पना करेंगे। आशय यह है कि कोई प्रयत्न ऐसा होता है कि वह अपने आश्रय के साथ अन्य अन्य देश मे गति करता हुआ ही अन्य किसी कवलादि वस्तु मे क्रिया का उत्पादक होता है जैसे कि अभी ही ऊपर आपने दिखाया है। दूसरा कोई प्रयत्न ऐसा होता है जैसा कि शरासन (यानी तीरो का भाथा) और अध्यासपद (यानी धनुष्य) से सयुक्त आत्मप्रदेशो मे अवस्थित प्रयत्न, जो उसी देश मे रहा हुआ प्रक्षिप्त तीर मे, लक्ष्यस्थानप्राप्ति मे हेतुभूत नयी नयी क्रिया को उत्पन्न करता रहता है। इसी तरह अदृष्ट मे भी वैचित्र्य मानेंगे तो मोतीयो से सयुक्त आत्मप्रदेशो मे अवस्थित प्रयत्न भी वहाँ रहा रहा ही मोतीयो की देवदत्ताभिमुख नयी नयी क्रिया का उत्पादक बन सकेगा।-यदि इस रीति से प्रयत्न मे वैचित्र्य मानने के लिये तय्यार है तो क्रिया के हेतुभूत गुणमात्र मे ही आप ऐसा वैचित्र्य क्यो नही मानते हैं कि एक द्रव्य मे आश्रित क्रिया के हेतुभूत कोई गुण अपने आश्रय से सयुक्त द्रव्य

अथ द्रव्यं क्रियाकारणम् न स्पर्शादिगुणः, द्रव्यरहितस्य, क्रियाहेतुत्वाऽदर्शनात् । न, वेगस्य क्रियाहेतुत्वम् क्रियायाश्च संयोगनिमित्तत्वम् तस्य च द्रव्यकारणत्वं तत एव न स्यात्, तथा च 'वेगवत्' इति दृष्टान्ताऽसिद्धिः । अथ द्रव्यस्य तत्कारणत्वे वेगादिरहितस्यापि तत्प्रसक्तिः, स्पर्शादिरहितस्याऽयस्कान्तस्यापि स्पर्शस्याऽकारणत्वेऽन्यत्र क्रियाहेतुत्वप्रसक्तिः । 'तद्रहितस्य तस्याऽदृष्टेर्नायं दोष'स्तर्हि लोहद्रव्यक्रियोत्पत्तावुभयं दृश्यत इत्युभयं तदस्तु, अविशेषात् । एवं सति एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्' इति व्यभिचारी हेतुः ।

एतेन यदुक्तं परेण-"अदृष्टमेवायस्कान्तेनाकृष्यमाणलोहदर्शने सुखवत्पुंसो निःशल्यत्वेन तत्क्रियाहेतुः" [ ] इति तन्निरस्तम्, सर्वत्र कार्यकारणभावेऽस्य न्यायस्य समानत्वात् अदृष्टमेव कारणं स्यात्, यस्य शरीरं सुखं दुःखं चोत्पादयति तददृष्टमेव तत्र हेतुरिति न तदारम्भ-

मे क्रिया को उत्पन्न करता है और कोई वैसा गुण अपने आश्रय से सयुक्त द्रव्य मे भी क्रिया को उत्पन्न कर सकता है। पदार्थो मे शक्ति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है अत॰ ऐसा वैचित्र्य क्रियाहेतु गुणमात्र मे मान सकते है। फलतः दूसरे प्रकार मे आत्मा व्यापक न होने पर भी तद्गत अदृष्ट से दूरस्थ वस्तु से क्रिया उत्पन्न हो सकती है।

यदि ऐसा कहे कि प्रयत्न के सिवा अन्य किसी गुण में ऐसा देखा नही गया, अतः अदृष्ट मे वसा वैचित्र्य नही माना जा सकता।-तो यह ठीक उत्तर नही है। अन्यत्र भी ऐसा देखा जाता है, उदा०-अयस्कान्त नामक द्रव्य का जो भ्रामकस्पर्श (एक विशेष प्रकार का स्पर्श) गुण होता है वह एक द्रव्य मे ही आश्रित होता है और अपने आश्रय से असयुक्त लोहद्रव्य मे आकर्षणक्रिया का हेतु होता है, जब कि आकर्षक द्रव्य विशेष मे अवस्थित स्पर्शगुण अपने आश्रय से सयुक्त ही लोहद्रव्य मे क्रिया को उत्पन्न करता है-इस प्रकार स्पर्शगुण मे ही प्रयत्न की तरह वैचित्र्य देखा जा सकता है।

[क्रिया का कारण अयस्कान्त का स्पर्शादि गुण ही है]

यदि यह कहा जाय-अयस्कान्तद्रव्य ही वहा आकर्षण क्रिया का कारण है, तदाश्रित स्पर्शादि-गुण नही, क्योकि द्रव्य से विनिर्मुक्त केवल स्पर्शादि गुण से क्रिया की उत्पत्ति देखी नही जाती।-तो यह ठीक नही। कारण, यदि वैसा माना जाय तब तो द्रव्यविनिर्मुक्त केवल वेग से क्रिया की उत्पत्ति न दिखने से वेग की क्रियाहेतुता का भग होगा, तथा द्रव्य-विनिर्मुक्त केवल क्रिया से सयोग की उत्पत्ति न दिखने से क्रिया में सयोगनिमित्तकत्व का भग होगा, और अवयवद्रव्य से से विनिर्मुक्त केवल संयोग से अवयविद्रव्य की उत्पत्ति न दिखने से सयोग मे द्रव्यकारणत्व का भंग होगा। तात्पर्य, सर्वत्र द्रव्य-कारणता की स्थापना होगी और गुण-क्रिया की कारणता का भग होगा। फलतः 'वेग' का जो आपने दृष्टान्त दिखाया है वह भी हेतुशून्य होने से असिद्ध हो जायेगा। यदि ऐसा कहे कि-द्रव्य को ही यदि क्रियादि का कारण मानेंगे तो वेगादिरहित द्रव्य से भी क्रियादि की उत्पत्ति हो जाने की आपत्ति आती है अतः इस आपत्ति के निवारणार्थ वेगादि को भी हेतु मानना ही पडेगा-तो इसी तरह हम भी अन्यत्र कह सकते हैं, कि स्पर्शगुण को कारण न मान कर केवल अयस्कान्त को कारण मानेंगे तो स्पर्शशून्य अयस्कान्त से भी क्रिया की उत्पत्ति हो जाने की आपत्ति आयेगी। यदि कहें कि-अयस्कान्त कभी स्पर्शशून्य देखा नही है इसलिये यह आपत्ति नही होगी-तो हमारा कहना यह है कि जब लोहद्रव्य की क्रिया के साथ दोनो (अयस्कान्त और स्पर्शगुण) का अन्वय दिखता है तो

कावयवक्रियासंयोगादयः । अपि च, तददृष्टस्य कथं तद्धेतुत्वम् ? 'तस्य भावे भावादभावेऽभावाद्' इति चेत् ? किं पुनरयस्कान्तस्पर्शाद्यभाव एव तत्क्रिया दृष्टा येनैषां तत्र कारणत्वाऽक्लृप्तिः ? । ततो न दृष्टानुसारेण तत्रस्थस्यैवाऽदृष्टस्य तं प्रति तत्क्रियाहेतुत्वम् । प्रयत्नवैचित्र्याभ्युपगमे च हेतोरनैकान्तिकत्वम् ।

अथ सर्वत्राऽदृष्टस्य वृत्तिस्तर्हि सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वम् । यददृष्टं यद् द्रव्यमुत्पादयति तद् तत्रैव क्रियामुपरचयतीत्यभ्युपगमे शरीरारम्भकेषु परमाणुषु ततः क्रिया न स्यादित्युक्तम् । न च गुणत्वमप्यदृष्टस्य सिद्धमिति 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः । अथ 'अदृष्टं गुणः प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्म-भावे सति सत्तासम्बन्धित्वात्, रूपादिवत्' । न च प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वमसिद्धम् । तथाहि- 'न द्रव्यमदृष्टम्, एकद्रव्यत्वात् रूपादिवत् इति । असदेतत्-एकद्रव्यत्वस्याऽसिद्धताप्रतिपादनात्, सत्तासम्बन्धित्वस्य चेति ।

दोनों में क्रियाहेतुत्व मानना होगा, कोई विशेष विनिगमक तो है नही । जब स्पर्शगुण मे भी इस प्रकार क्रिया की हेतुता सिद्ध हुयी तो 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्' यह हेतु उसमे रह गया किन्तु वहाँ साध्य नही है क्योंकि स्पर्शगुण तो अपने आश्रय अयस्कान्त से असयुक्त लोहद्रव्य मे क्रिया को उत्पन्न करता है । अतः हेतु साध्यद्रोही बन गया ।

[अयस्कान्त से लोहाकर्षण में अदृष्टहेतुता का निरसन]

अन्य किसी ने जो यह कहा है-पुरुष के देह मे से शल्य के निकल जाने पर जो सुखानुभव होता है वह शल्यनिःसरण से नही किन्तु अदृष्ट से ही उत्पन्न होता है, उसी तरह अयस्कान्त से खिंचे जाने वाले लोहे को जब देखते है तब भी लोहद्रव्य की क्रिया मे अदृष्ट ही हेतु होता है, अयस्कान्त नही ।-यह कथन भी परास्त हो जाता है, क्योकि शल्यनिःसरण से होने वाले अदृष्टजन्य सुख के दृष्टान्त को सर्वत्र लागू किया जा सकता है, फलतः हर कोई पदार्थ के कार्यकारणभाव के निर्धारण करते समय वहां अदृष्ट को ही कारण मान लिया जायेगा तो अदृष्टभिन्न पदार्थो मे कारणता का भग हो जायेगा । शरीर जिस आत्मा को सुख-दुख उत्पन्न करेगा, वहाँ भी शरीर के बदले अदृष्ट को ही हेतु मान लेने से देह की कल्पना करने की जरूर न रहने से देहारम्भक अवयवो मे क्रिया और संयोगादि की उत्पत्ति की कथा ही समाप्त हो जायेगी ।

तदुपरांत, यह भी एक प्रश्न है कि 'देवदत्तात्मा का अदृष्ट देवदत्त के सुखादि का हेतु है' ऐसा निर्णय कैसे होगा ? देवदत्तअदृष्ट के रहने पर देवदत्त को सुखादि होता है, न रहने पर नही होता है-ऐसे अन्वय व्यतिरेक से वैसा निर्णय यदि किया जाय तो क्या वहाँ ऐसा कभी देखा है कि अयस्कान्त के स्पर्शगुण के अभाव मे भी लोह का आकर्षण होता हो ? यदि नही, तो फिर उसके स्पर्शादि को कारण क्यो न माने जाय ?

निष्कर्ष यह है कि दूसरे विकल्प मे मोतीयो से सयुक्त आत्मप्रदेशो मे ही रहा हुआ अदृष्ट, वायु दृष्टान्त के अनुसार देवदत्त के प्रति मोतियो की गमनक्रिया का हेतु नही माना जा सकता । तथा धनुर्धर के दृष्टान्त से आपने जो कहा है कि प्रयत्न अपने स्थान मे रहकर ही अपने आश्रय शरीरादि से असंयुक्त ही बाण में क्रिया उत्पन्न करता रहता है-तो ऐसा कहने पर यहाँ क्रियाहेतुगुणत्व हेतु रह गया और साध्य नहीं रहा, अतः प्रयत्नवैचित्र्य मानने पर हेतु साध्यद्रोही हुआ ।

यदपि तद्गुणत्वसाधनमुक्तम् , देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तविशेषगुणाकृष्टाः, तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् , ग्रासादिवत्' इति तदप्ययुक्तम्-यतो यथा तद्विशेषगुणेन प्रयत्नाख्येन समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पन्तो ग्रासादयः समुपलभ्यन्ते तथा नयनाञ्जनादिद्रव्यविशेषेणाऽपि समाकृष्टाः स्त्र्यादयस्तं प्रत्युपसर्पन्तः समुपलभ्यन्ते एव, ततः किं प्रयत्नसधर्मणा केनचिदाकृष्टा पश्वादय उत नयनाञ्जनादि-सधर्मणा' इति संदेहः, शक्यते ह्येवमनुमानमारचयितुं परेणाऽपि-'नयनाञ्जनादिसधर्मणा विवाद-गोचरचारिणः पश्वादयः समाकृष्टाः देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्ति, तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् स्त्र्यादिवत्' । अथ तदभावेऽपि प्रयत्नादपि तद्दृष्टेरनैकान्तिकत्वम् । प्रयत्नसधर्मणो गुणस्याभावेऽप्यञ्जनादेरपि तद्दृष्टे-र्भवदीयहेतोरनैकान्तिकत्वम् । न चात्रानुमीयमानस्य प्रयत्नसधर्मणो हेतोः सद्भावादव्यभिचारः, अन्य-त्राप्यञ्जनादिसधर्मणोऽनुमीयमानस्य सद्भावेनाऽव्यभिचारप्रसंगात् । तत्र प्रयत्नसामर्थ्यादस्य वैफल्ये-ऽन्यत्राप्यञ्जनादिसामर्थ्याद् वैफल्यं समानम् ।

[अदृष्ट को पूरे आत्मा में मानने पर आपत्ति]

यदि अदृष्ट को समग्र आत्मा में व्याप्त मानेंगे तो आपके मत मे आत्मा व्यापक होने से उत्तसंयुक्त सकल द्रव्य में वह क्रिया का उत्पादक होगा । यदि ऐसा माना जाय कि जिस अदृष्ट से जो द्रव्य उत्पन्न होगा उसी द्रव्य में वह अदृष्ट क्रिया का उत्पादन करेगा-तो आपत्ति यह होगी कि शरीर के आरम्भक परमाणुओं मे अदृष्ट क्रिया को उत्पन्न नही कर सकेगा क्योकि परमाणु अदृष्टजन्य नही है-यह पहले भी कहा है । तथा अदृष्ट मे गुणत्व भी सिद्ध नही होने से 'क्रियाहेतुगुणत्व' हेतु भी असिद्ध हो जायेगा । यदि ऐसा अनुमान दिखाया जाय कि 'अदृष्ट गुण है क्योकि उसमे द्रव्यत्व और क्रियात्व निषिद्ध है और वह सत्ता का सम्बन्धी है, उदा० रूपरसादि' । 'द्रव्यत्व अदृष्ट मे निषिद्ध है' यह बात असिद्ध नही है क्योकि यह अनुमान है-'अदृष्ट द्रव्यरूप नही है, क्योकि वह एक द्रव्य मे आश्रित है, उदा० रूपादि' ।-तो ये दोनो अनुमान असत् है, क्योकि 'एकद्रव्यत्व असिद्ध है' ऐसा पहले कहा जा चुका है । तथा 'सत्तासबन्धित्व' भी असिद्ध होने का पहले कह दिया है ।

[अदृष्ट में गुणत्वसाधक हेतु में संदिग्धसाध्यद्रोह]

तदुपरांत, आपने अदृष्ट को गुण सिद्ध करने के लिये जो यह कहा है-देवदत्त के प्रति खिंचे जा रहे पशु आदि देवदत्त के विशेष गुणो से आकृष्ट हैं, क्योकि देवदत्त की ओर ही खिचे जा रहे है, उदा० उसकी ओर खिचे जा रहे आहार कवलादि । यह भी युक्त नही है । कारण, जैसे देवदत्त के विशेषगुण प्रयत्न से आहार का कवल देवदत्त के प्रति आकृष्ट होता हुआ दिखता है वैसे ही नयन मे लगाये गये अञ्जनादि द्रव्य विशेष से ही देवदत्त की ओर स्त्री आदि का आकर्षण उपलब्ध होता है । अत यह संदेह होना सहज है कि प्रयत्न के समान किसी गुण से पशु आदि का आकर्षण होता है ? या नयनाञ्जनादि के समान किसी द्रव्य से होता है ? आपने जैसे अनुमान दिखाया है वैसे हम भी अब तो दिखा सकते हैं-विवादास्पदीभूत पशुआदि नयनाञ्जन के तुल्य (द्रव्य) पदार्थ से आकृष्ट हो कर देवदत्त की ओर खिच आते हैं, क्योकि वे देवदत्त की ओर ही आते हैं, उदा० स्त्री आदि । यदि यह कहें कि देवदत्त की ओर कवलादि का आकर्षण अञ्जनादि से असमान प्रयत्न गुण से होने का दिखता है । अतः आपका हेतु यहां साध्यद्रोही होगा ।-तो ठीक इसी प्रकार अञ्जनादि द्रव्य से आकृष्ट

अथाऽञ्जनादेरेव तद्धेतुत्वे सर्वस्य तद्वतः स्त्र्याद्याकर्षणप्रसक्तिः, न चाञ्जनादौ सत्यप्यविशिष्टे तद्वतः सर्वान् प्रति तदागमनम्, ततोऽवसीयते 'तदविशेषेऽपि यद्वैकल्यात् तन्नेति तदपि कारणम् नाऽञ्जनादिमात्रम्' इति। तदेतत् प्रयत्नकारणेऽपि समानम्, न हि सर्वं प्रयत्नवन्तं प्रति ग्रासादय उपसर्पन्ति, तदपहारादि दर्शनात्। ततोऽत्राप्यन्यत् कारणमनुमीयताम्, अन्यथा न प्रकृतेऽपि, अविशेषात्। ततः प्रयत्नवदञ्जनादेरपि तं प्रति तदाकर्षणहेतुत्वात् कथं न संदेहः? अञ्जनादेः स्त्र्याद्याकर्षणं प्रत्यकारणत्वे गन्धादिवद् तदर्थिनां न तदुपादानम्। न च दृष्टसामर्थ्यस्याप्यञ्जनादे कारणत्ववल्रृप्तिपरिहारेणान्यकारणत्वकल्पने भवतोऽनवस्थामुक्तिः। अथाञ्जनादिकमदृष्टसहकारित्वाद् तत्कारणं न केवलमिति। नन्वेवं सिद्धमदृष्टवदञ्जनादेरपि तत्र कारणत्वम्, तत संदेह एव 'किं ग्रासादिवद् प्रयत्नसधर्मणाऽऽकृष्टाः पश्वादयः, किं वा स्त्र्यादिवदञ्जनादिसधर्मणा तत्संयुक्तेन द्रव्येण' इति संदिग्धं 'गुणत्वाद्' इत्येतद् साधनम्। सपरिस्पन्दात्मप्रदेशमन्तरेण ग्रासाद्याकर्षणहेतोः प्रयत्नस्यापि देवदत्तविशेषगुणस्य परं प्रत्यसिद्धत्वात्-साध्यविकलता चात्र दृष्टान्तस्य।

होने वाले स्त्री आदि स्थल मे प्रयत्न के समान किसी गुण के न रहने पर भी अञ्जनादि द्रव्य से आकर्षण दिखता है अतः आपके अनुमान का हेतु भी साध्यद्रोही बन जायेगा। यदि ऐसा कहें कि-हम स्त्री आदिस्थल मे भी कवलादि के दृष्टान्त से प्रयत्न समान (अदृष्ट) गुणात्मक हेतु (कारण) से ही आकर्षण होने का अनुमान करेंगे अतः वहाँ साध्य सिद्ध होने से हेतु साध्यद्रोही नही होगा-तो इसी तरह हम भी कहेंगे कि कवलादि स्थल में हम भी अञ्जनादि द्रव्य के समानधर्मी (द्रव्य) पदार्थ से ही आकर्षण होने का अनुमान, स्त्री आदि के दृष्टान्त से करेंगे, तो वहा भी हमारा साध्य सिद्ध होने से हेतु साध्यद्रोही नही बनेगा। यदि ऐसा कहे कि कवलादिस्थल में तो प्रयत्न का सामर्थ्य दृष्ट है अतः आकर्षणहेतुभूत द्रव्यविशेष की कल्पना व्यर्थ है-तो हम भी स्त्री आदि स्थल से कहेंगे कि वहा अञ्जनद्रव्य का सामर्थ्य दृष्ट है अत. वहाँ आकर्षणहेतुभूत गुणविशेष की कल्पना करना व्यर्थ है। कल्पना की व्यर्थता दोनो जगह समान है।

[अञ्जन और प्रयत्न दोनों स्थल में अन्य की कारणता समान]

यदि यह कहा जाय-अञ्जनादि ही यदि आकर्षण हेतु होता तो अञ्जनादि लगाने वाले सभी के प्रति स्त्री आदि का आकर्षण दिखाई देना चाहिये। किन्तु, समानरूप से अजनादि के सर्वत्र होते हुए भी सभी अञ्जन लगाने वालों की ओर स्त्री आदि का आगमन होता नही है, अतः मालूम होता है कि अञ्जनादि समानरूप से होने पर भी जिसके अभाव से सभी की ओर स्त्री आकर्षण नही होता वह भी उसका कारण है, सिर्फ अजनादि ही नही। इस प्रकार प्रयत्नसमानगुण अदृष्ट की गुणरूप मे सिद्धि हो सकती है।-तो यह बात प्रयत्नकारणता स्थल मे अर्थात् कवल के लिये भी समान है। देखिये, प्रयत्न वाले सभी के प्रति कवलादि का सचरण देखा नही जाता, कभी कभी प्रयत्न के रहने पर भी कवल का अपहरण दिखाई देता है। अतः कवलादि के देवदत्त की ओर सचरण मे अन्य भी कोई (द्रव्यभूत) कारण है यह अनुमान किया जा सकेगा। यदि यहाँ ऐसा अनुमान नही मानेंगे तो स्त्री आदि स्थल मे भी वह नही हो सकेगा, क्योंकि दोनो ओर अनुमान की उद्भावना समान है। जब इस प्रकार प्रयत्न की तरह अजनादि मे भी आकर्षणहेतुता अभग है तब पूर्वोक्त सदेह क्यो नही होगा? यदि अञ्जनादि को स्त्री-आकर्षण का कारण नही मानेंगे तो सुगन्ध के अभिलाषी जैसे

यच्च 'यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्ति' इत्युक्तम् तत्र कः पुनरसौ देवदत्तशब्दवाच्यः? यदि शरीरम्, तदा शरीरं प्रत्युपसर्पणाद् शरीरगुणाकृष्टाः पश्वादयः इत्यात्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणाकृष्टत्वस्य साधनाद् विरुद्धो हेतुः। अथात्मा, तस्य समाकृष्यमाणपदार्थदेश-कालाभ्यां सदाऽभिसम्बन्धाद् न तं प्रति कस्यचिदुपसर्पणम्, अन्यदेशं प्रत्यन्यदेशस्योपसर्पणदर्शनाद् अन्यकालं प्रत्यन्यकालस्य च, यथांकुरं प्रत्यपरापरशक्तिपरिणामप्राप्तेर्बीजादेः। न चैतदुभयं नित्यव्यापित्वाभ्यामात्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते संभवति अतो 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः' इति धर्मिविशेषणम्, 'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्' इति साधनधर्मः परस्य स्वरुचिरचितमेव। न च शरीरसंयुक्त आत्मा सः, तस्यापि नित्य व्यापित्वेन तत्र सन्निधानेनाऽनिवारणात्, :न हि घटयुक्तमाकाशं मेर्वादौ न संनिहितम्।

सुगन्धि द्रव्यों को ग्रहण करते है उसी तरह स्त्री-आकर्षण अभिलाषी अजनादि को ग्रहण करते है यह नही करेंगे। आकर्षण का सामर्थ्य अजन मे देखने पर भी उसमे कारणता की कल्पना का त्याग करके अन्य किसी मे कारणता की कल्पना करंगे तो फिर उस अन्य मे भी कारणता न मानकर अन्य ही किसी मे कारणता की कल्पना करते रहने मे अनवस्था दोष आयेगा, उससे आपका छूटकारा कैसे होगा ?

यदि ऐसा कहे कि-अंजनादि स्वतः आकर्षण का कारण नही है किन्तु अदृष्ट के सहकारीरूप में कारण है।-तो इस रीति से अदृष्ट की तरह अजन मे भी आकर्षण की कारणता सिद्ध हो गयी। फलतः इस संदेह को अब पूरी तरह अवकाश है कि प्रयत्नसमानधर्मी गुण से पशु आदि का देवदत्त की ओर आकर्षण होता है ? या स्त्री आदि स्थल के समान अजनादिसमानधर्मी आत्मसयुक्त द्रव्य से होता है ? निष्कर्ष, 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इस हेतु मे गुणत्व अदृष्ट मे संदिग्ध है। तथा, हमारे जैन मत मे, आत्मा में प्रयत्न का सद्भाव भी स्पन्दनशील आत्मप्रदेशो के विना सभव नही है अतः कवलादि-आकर्षणहेतुभूत देवदत्तविशेषगुणात्मक प्रयत्न भी हमारे मत में असिद्ध है इसलिये आपका दृष्टान्त साध्यविकल हो जाता है।

[न्यायमत में देवदत्त शब्द के वाच्यार्थ की अनुपपत्ति]

तदुपरात आपने देवदत्त की ओर जिसका सचार होता है'...इत्यादि जो कहा है उसमे देवदत्त शब्द से वाच्य कौन है ? A देवदत्त का शरीर या B आत्मा ? A यदि देवदत्त का शरीर 'देवदत्त' पद का अर्थ है तो आपके कथित अनुमान मे पशु आदि, 'देवदत्त की यानी शरीर की ओर खिचे जाते हैं' इस हेतु से शरीरगुणाकृष्ट हुए। इस प्रकार आत्मविशेषगुणाकृष्टत्व की सिद्धि मे प्रयुक्त हेतु से शरीरगुणाकृष्टत्व सिद्ध होने पर हेतु विरुद्ध साबित हुआ। B यदि 'देवदत्त' पद का अर्थ देवदत्त की आत्मा-ऐसा किया जाय तो (आत्मव्यापकत्वमत मे) आकृष्ट होने वाले पदार्थ से सर्वदेश सर्व काल मे सदा के लिये आत्मा तो सम्बद्ध है, अतः उसकी ओर किसी का भी सचरण शक्य नही है। भिन्न देश मे रहे हुए पदार्थ की ओर भिन्न देशवर्त्ती अन्य पदार्थ का सचरण शक्य है, 'तथा भिन्न कालवर्त्ती पदार्थ की ओर भिन्न कालवर्त्ती पदार्थ का सचरण हो सकता है जैसे कि अकुरावस्था की ओर अपर-अपर शक्ति परिणाम की प्राप्ति से आगे बढने वाला बीज। किन्तु आत्मा तो न्यायमत मे नित्य और व्यापक होने से सर्वत्र सर्वदा सनिहित है अत दैशिक या कालिक सचार किसी भी तरह संभवित नही है। तात्पर्य, 'देवदत्त की ओर 'खिचे जाने वाले' ऐसा धर्मिविशेषण, 'देवदत्तगुण से आकृष्ट' यह साध्य-

अथ शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशो देवदत्तः । स काल्पनिकः पारमार्थिको वा ? काल्पनिकत्वे 'काल्पनिकात्मप्रदेशगुणाकृष्टाः पश्वादयः, तथाभूतात्मप्रदेश प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्' इति तद्गुणानामपि काल्पनिकत्वं साधयेत् । तथा च सौगतस्येव तद्गुणकृतः प्रेत्यभावोऽपि न पारमार्थिक स्यात् । न हि कल्पितस्य पावकस्य रूपादयः तत्कार्यं वा दाहादिकं पारमार्थिकं दृष्टम् । पारमार्थिकाश्चेदात्मप्रदेशाः तेऽपि यदि ततोऽभिन्नास्तदात्मैव ते इति न पूर्वोक्तदोषपरिहार. । भिन्नाश्चेत् तर्हि तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादय इति तेषामेवात्मत्वप्रसक्तिरित्यन्यात्मपरिकल्पना व्यर्था । तेषां च न द्वीपान्तरवर्त्तिभिर्मुक्ताफलैः संयोग इति 'अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्तेऽन्यत्र क्रियाहेतुः' इति व्याहतम् । संयोगे वा आत्मवत् इत्यनिवृत्तो व्याघातः ।

अथ तेषामप्यपरे शरीरसंयुक्ताः प्रदेशाः देवदत्तशब्दवाच्याः, तत्राप्यनन्तरदूषणमनवस्थाकारि । अथात्मानमन्तरेण कस्य ते प्रदेशाः स्युरिति तत्प्रदेश्यपर आत्मेत्यभ्युपगमनीयम् । नन्वर्थान्तर-

---

धर्म, यह सब प्रतिवादी की स्वरुचि का विलासमात्र है । यदि यह कहे कि शरीरसयुक्त आत्मा यह 'देवदत्त' पद का अर्थ है-तो भी निस्तार नही है क्योकि आत्मा नित्य और व्यापि होने से उसके शाश्वत संनिधान को कोई हटा नही सकता । यह तो स्पष्ट है कि आकाश को घटसयुक्त कह देने मात्र से वह मेरुपर्वतादि का असनिहित नही हो जाता ।

[शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशों को 'देवदत्त' नहीं कह सकते]

यदि ऐसा कहे कि शरीर से सयुक्त आत्मा के जितने आत्मप्रदेश हैं वे ही 'देवदत्त' पदवाच्य है ।-तो यहाँ प्रश्न है कि वे आत्मप्रदेश काल्पनिक है या पारमार्थिक ? यदि काल्पनिक होगे तब तो 'पशु आदि देवदत्त के गुण से आकृष्ट है' इसका अर्थ हुआ 'पशु आदि काल्पनिक आत्मप्रदेशो के गुण से आकृष्ट है, क्योकि पशु आदि का आकर्षण काल्पनिक आत्मप्रदेश स्वरूप देवदत्त के प्रति होता है । तात्पर्य, कल्पित आत्मप्रदेशों के गुण भी काल्पनिक हो जायेंगे । फलतः बौद्ध के मत मे जैसे पारमार्थिक कुछ भी परलोक जैसा नही होता वैसे काल्पनिकगुणनिष्पन्न परलोक भी आपके मत मे पारमार्थिक नही होगा । कल्पित अग्नि के रूपादि अथवा कार्यभूत दाह पाकादि कभी पारमार्थिक दिखता नही । यदि आत्मप्रदेशो को वास्तविक मानेंगे तो आत्मा से वे भिन्न है या अभिन्न यह सोचना पडेगा । यदि अभिन्न मानेंगे तब तो आत्मा ही शरीर से सयुक्त आत्मप्रदेशरूप हुआ, और शरीर सयुक्त आत्मा को देवदत्तपदवाच्य मानने मे जो दोष है वह तो अभी कह आये हैं, उसका परिहार नही हो सकेगा । यदि उन्हे भिन्न मानेंगे तो आपके अनुमान से इतना ही सिद्ध होगा कि (आत्मा से भिन्न) आत्मप्रदेशो के विशेषगुण से, देवदत्त की ओर पशु आदि आकृष्ट होते है । तात्पर्य, आत्मप्रदेशो का ही अपर नाम आत्मा हुआ, फिर आत्मप्रदेशो से भिन्न स्वतंत्र आत्मा की कल्पना निरर्थक हो जायेगी । तदुपरात, शरीर सयुक्त उन (आत्मभिन्न) आत्मप्रदेशो का द्वीपान्तरवर्त्ती मोतीयो के साथ सयोग भी नही है, इसलिये आपने जो अनुमान में कहा है कि 'अदृष्ट अपने आश्रय से सयुक्त अन्य वस्तु मे क्रियाजनक होता है'-यह कथन खडित हो जायेगा । यदि उन आत्मप्रदेशो का दूरस्थ मोतीयो के साथ सयोग मानेंगे तो उनको व्यापक मानना पडेगा, फलत आत्मा की व्यापकता मानने मे पहले जैसे विरोध कहा है वही यहाँ भी प्रसक्त होगा ।

[अन्य अन्य आत्मप्रदेश मानने में अनवस्था दोष]

यदि ऐसा कहे कि-हम उन व्यापक आत्मप्रदेशो के भी नये आत्मप्रदेश देहसयुक्त मानेंगे,

भूतत्वे आत्मनः कथं 'तस्य ते' इति व्यपदेशः ? अथ तेषु तस्य वर्त्तनात् तथा व्यपदेशः, न सदेतत् ; तथाऽभ्युपगमेऽवयविपक्षभाविदूषणावकाशात् । यथा च तेषां सदूषणत्वं तथा प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते चेत्यास्तां तावत् । तन्न परस्य देवदत्तशब्दवाच्यः कश्चिदस्ति यं प्रत्युपसर्पणवन्तः पश्वादयः स्वक्रियाहेतोर्गुणत्वं साधयेयुः । अतो नैतदपि साधनमात्मनो विभुत्वप्रसाधकम् ।

यदपि 'सर्वगत आत्मा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्, आकाशवत्' इति साधनम्, तदप्यचारु, यतो यदि 'स्वशरीरे सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्' इति हेतुस्तथा सति तत्रैव ततस्तस्य सर्वगतत्वसिद्धेर्विरुद्धो हेत्वाभासः । अथ स्वशरीरवत् परशरीरे अन्यत्र चोपलभ्यमानगुणत्वं हेतुस्तदाऽसिद्धः, तथोपलम्भाभावात्-न हि बुद्ध्यादयः तद्गुणास्तथोपलभ्यन्ते, अन्यथा सर्वसर्वज्ञताप्रसंगः । अथैकनगरे उपलब्धा बुद्ध्यादयो नगरान्तरेऽप्युपलभ्यन्ते, मनुष्यजन्मवज्जन्मान्तरेऽपीति कथं न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम् ? न, वायोरपि स्पर्शविशेषगुण एकत्रैकदोपलब्धोऽन्यत्रान्यदोपलभ्यमानस्तस्यापि सर्वगतत्वं प्रसाधयेत्, अन्यथा तेनैव हेतोर्व्यभिचारः । अथ तांस्तान् देशान् क्रमेण गतस्य तस्य तद्गुण उपलभ्यते, आत्मनोऽपि तथैव तद्गुणस्योपलम्भ इति समानं पश्यामः । न च तद्वत् तस्यापि सक्रियत्वप्रसक्तेरयुक्तमेवं कल्पनमिति वाच्यम्, इष्टत्वात् ।

और उसीको 'देवदत्त' कहेंगे-तो फिर यहा भी काल्पनिकादिविकल्पो से पूर्ववत् दोष प्रसक्त होने से नये नये आत्मप्रदेशो की कल्पना करते रहने से अनवस्था दोष लगेगा । यदि फिर से ऐसा कहे कि-आत्मा के विना किसके वे प्रदेश माने जायेगे यह प्रश्न होने से प्रदेशवाले किसी अन्य आत्मा का स्वीकार करना पडेगा-तो यहाँ भी प्रश्न तो होगा ही कि प्रदेशवाला आत्मा यदि उन प्रदेशो से अर्थान्तरभूत होगा तो 'उसके ये प्रदेश' ऐसा व्यवहार कैसे हो सकेगा ? यदि उन प्रदेशो मे आत्मा के रहने के कारण 'उसके प्रदेश' ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नही है क्योकि ऐसा मानने पर आत्मा उन प्रदेशो मे अपने एक अश से रहता है या सर्वाश से ? ऐसे विकल्पो से वे दोष लागु हो जायेगे जो कि अवयवी वादी के मत मे लागु होते है । एक अश से या सर्वांश से वृत्ति मानने मे जो दोष आते हैं उनका कथन पहले किया है और आगे भी किया जायेगा, अत यहाँ इस बात को रहने दो । निष्कर्ष यह है कि नैयायिकादि के मत मे देवदत्तादि शब्द का वाच्य ही कोई घट नही सकता, जिसके प्रति खिंचे जाने वाले पशु आदि अपनी क्रिया के कारणभूत तत्त्व मे गुणत्व की सिद्धि कर सके। साराश, विभुत्व की आत्मा मे सिद्धि करने के लिये प्रयुक्त हेतु स्वसाध्यसिद्धि के लिये समर्थ नही है ।

[सर्वत्र उपलभ्यमानगुणत्व हेतु विरुद्ध या असिद्ध]

यह जो किसी ने अनुमान कहा है-आत्मा सर्वगत है, क्यो कि उसके गुण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं, जैसे आकाश ।-यह अनुमान भी बेकार है । कारण, 'आत्मा के गुण अपने शरीर मे सर्वत्र उपलब्ध होते हैं'-इस अर्थ मे यदि आपके हेतु का तात्पर्य हो, तब तो सिर्फ शरीर मे ही आत्मा के सर्वगतत्व की सिद्धि होगी, अर्थात् विश्वव्यापकता के विरुद्ध सिर्फ देहव्यापकता साधक हेतु हेत्वाभास बन जायेगा । यदि हेतु का अर्थ यह हो कि-'अपने शरीर मे जैसे आत्मा के गुण उपलब्ध होते हैं वैसे दूसरे के देह मे अथवा अन्य किसी स्थान मे भी उसके गुण उपलब्ध होते हैं'-तो यह बात असिद्ध है क्योकि अपने आत्मा के गुणो की दूसरे के शरीर मे उपलब्धि कभी नहीं होती । बुद्धि आदि आत्मा के गुण कभी भी अपने देह से अन्यत्र उपलब्ध होते हुए दिखाई नही देते, यदि सभी पदार्थो मे आत्मा के बुद्धिगुण की उपलब्धि मानेंगे तो सभी आत्मा मे सर्वज्ञता को भी मानना पड़ेगा ।

अथ लोष्टवत् ततो मूर्त्तत्वप्रसंगस्तस्य दोषः। ननु केयं मूर्त्ति.? 'असर्वगतद्रव्यपरिणाम सा' इति चेत्? नाऽयं दोष, असर्वगतात्मवादिनोऽभीष्टत्वात्। 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्वं से'ति चेत्? न तादृशीं मूर्त्तिमात्मनः सक्रियत्वं साधयति, व्याप्त्यभावात्, रूपादिमन्मूर्त्त्यभावे सक्रियत्वात्। 'यो यः सक्रियः स रूपादिमन्मूर्त्तिमान् यथा शर, तथा चात्मा, तस्माद् रूपादिमन्मूर्त्तिमान्' इति कथं न व्याप्तिसंभवः?-असदेतत्, मनसाऽपि व्यभिचारात्। न च तस्यापि पक्षीकरणम् 'रूपादिविशेषगुणानधिकरणं सद् मनोऽर्थं प्रकाशयति, शरीराद्यनर्थान्तरत्वे सति सर्वत्र ज्ञानकारणत्वात्, आत्मवत्' इत्यनुमानविरोधप्रसंगात्।

न च सक्रियत्वं रूपादिमन्मूर्त्त्यभावेन विरुद्धं यतस्ततस्तन्निवर्त्तमानमात्मनि तथाविधां मूर्त्ति साधयेत्। न च तथाविधमूर्त्तिरहितेऽम्बरादौ तददर्शनात् सिद्धो विरोधः, एकशाखाप्रभवत्वस्याप्यन्यत्र पक्षेऽदर्शनाद् विरोधसिद्धिप्रसक्तेः। 'पक्ष एव व्यभिचारदर्शनात् सा तत्र न' इति चेत्? न, सक्रियत्वस्यापि तथा व्यभिचारः समानः, पक्षीकृत एवात्मनि रूपादिमन्मूर्त्तिरहिते तद्दर्शनात्। 'अनेनैव

यदि ऐसा कहे कि-आत्मा के गुण जैसे एक नगर मे उपलब्ध होते है वैसे ही अन्य नगर मे भी उपलब्ध होते हैं, तथा इस जन्म की तरह जन्मान्तर मे. भी उपलब्ध होते है तो फिर आत्मा के गुणो की सर्वत्र उपलब्धि क्यो न मानी जाय?-तो यह भी ठीक नही है। वायु का स्पर्शविशेष गुण एक बार किसी एक स्थल मे उपलब्ध होता है, दूसरी बार दूसरे स्थल मे भी उपलब्ध होता है-इतने मात्र से यदि आप व्यापकता मानेंगे तो वायु मे भी व्यापकता की सिद्धि हो जायेगी। यदि आप उसमे व्यापकता नही मानेंगे तो आपका हेतु वहां उपरोक्त रीति से रहता है अतः साध्यद्रोही बन जायेगा। यदि ऐसा कहे कि-वायु तो क्रमशः एक स्थान से दूसरे स्थान मे गति करता है इसलिये उसका स्पर्श विशेष गुण अन्य अन्य स्थान मे उपलब्ध होता है, उसके व्यापक होने से नही-तो इसी तरह आत्मा भी देह के साथ अन्य अन्य स्थान मे जाता है इसलिये ही उसके गुण अन्यत्र उपलब्ध होते है, उसके व्यापक होने से नही-यह बात हमारे मत मे भी समान दिखाई देती है। यदि कहे कि-वायु की तरह मानेंगे तो आत्मा मे सक्रियत्व मानने की आपत्ति होगी।-तो यह हमारे लिये तो इष्टापत्ति ही है। जैनमत मे आत्मा में सक्रियता मान्य है।

[आत्मा में मूर्त्तत्व की आपत्ति का निरसन]

यदि यह कहे कि-आत्मा को सक्रिय मानेंगे तो पत्थर की तरह उसमे मूर्त्तता माननी होगी यही दोष है।-तो यहाँ प्रश्न है कि-मूर्त्ति यानी क्या? अव्यापकद्रव्यपरिमाण को मूर्त्ति कहा जाय तो कोई दोष नही है बल्कि इष्ट है क्योंकि हम आत्मा को अव्यापकपरिमाणवाला ही मानते हैं। रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्ता को मूर्त्ति कहा जाय तो सक्रियता से ऐसी मूर्त्तता की आत्मा में सिद्धि अशक्य है क्योंकि सक्रियता के साथ रूपादिमत्ता का कोई नियम नही है, रूपादिमत्तारूप मूर्त्तता के अभाव मे भी सक्रियता हो सकती है। अगर कहे कि-जो जो सक्रिय होता है वह रूपादिमूर्त्तिमान् होता है, उदा० बाण, आत्मा भी सक्रिय है अतः रूपादिमूर्त्तिमान् होना चाहिये-इस प्रकार नियम का संभव क्यो नही?-तो यह कथन गलत है क्योकि इस नियम का मन मे ही भंग हो जाता है। यदि मन का भी आप पक्ष मे अन्तर्भाव कर लेंगे तो उसमें निम्नोक्त अनुमान का विरोध होगा रूपादिगुण के अभाववाला ही मन अर्थ का प्रकाशन करता है, क्योकि वह शरीरादि से भिन्न होता हुआ सर्वत्र ज्ञान-

तत्साधनाद् न व्यभिचार' इत्येकशाखाप्रभवत्वानुमानेऽपि समानम् । प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तर-प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वमुभयत्र तुल्यम् । तन्न सक्रियत्वमात्मनो रूपादिमन्मूर्त्तत्वं साधयतीति व्यवस्थितम् ।

अथ सक्रियत्वे तस्याऽनित्यत्वम् । तथाहि-'यत् सक्रियं तदनित्यम् यथा लोष्टादि, तथा चात्मा, तस्मादनित्य' इति, एतदपि न सम्यक्, परमाणुभिरनैकान्तिकत्वात् कथंचिदनित्यत्वस्येष्टत्वात् सिद्ध-साधनं च । सर्वात्मनाऽनित्यत्वस्य लोष्टादावप्यसिद्धत्वात् साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । तन्न सर्वत्रोपल-भ्यमानगुणत्वमात्मनः सिद्धम् ।

अपरे सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनोऽतोऽनुमानात् साधयन्ति-"देवदत्तोपकरणभूतानि मणि-मुक्ताफलादीनि द्वीपान्तरसंभूतानि देवदत्तगुणकृतानि, कार्यत्वे सति देवदत्तोपकारकत्वात्, शक-टादिवत् । न च तद्देशेऽसन्निहिता एव तद्गुणास्तान् व्युत्पादयितुं क्षमा । आत्मगुणानां च तद्देश-सन्निधानं न तद्गुणिसन्निधिमन्तरेण सभवि, अगुणत्वप्राप्तेः, ततस्तस्यापि तद्देशत्वम्"-असदेतत् तत्कार्यत्वेऽपि तेषां न "अवश्यतया कार्यदेशसन्निधिमद् निमित्तकारणम्" इति नियम उपलब्धिगोचरः,

---

कारणभूत होता है जैसे आत्मा । आत्मा शरीरादि से भिन्न है और हर कोई ज्ञान में कारण है यह तो नैयायिक भी मानता है, मन भी ऐसा है अतः रूपादिशून्य होना चाहिये ।

[सक्रियता के द्वारा मूर्त्तत्व की सिद्धि दुष्कर]

यह भी सोचिये कि रूपादिमद्मूर्त्यभाव के साथ सक्रियता को क्या विरोध है ? कुछ नही, तो फिर सक्रियता की निवृत्ति से निवृत्त होने वाले रूपादिमत्मूर्त्ति-अभाव से आत्मा मे रूपादिमत्ता-स्वरूपमूर्त्तता की सिद्धि भी कैसे हो सकती है ? यह नही कह सकते कि-रूपादिमत्मूर्त्ति का अभाव जहाँ आकाश मे सिद्ध है वहाँ सक्रियता नही है इसलिये उन दोनो का विरोध सिद्ध हो जायेगा-क्योंकि यदि अन्यत्र विपक्ष मे हेतु के अदर्शनमात्र से विरोधसिद्धि मानेंगे तो एकशाखाप्रभवत्व हेतु भी अन्यत्र विपक्ष मे अर्थात् तथाविधरूपादिसाध्यशून्य (अन्यशाखाजन्य) फलादि मे नही रहता है, तो वहाँ भी तथाविधरूपादि अभाव के साथ एकशाखाप्रभवत्व हेतु का विरोध सिद्ध हो जायेगा । यदि ऐसा कहे कि-एकशाखाप्रभवत्व हेतु का तथाविधरूपादिशून्य उसी शाखा के फल मे व्यभिचार देखा जाता है अत. वहाँ विरोधसिद्धि नही होगी ।-तो उसी तरह सक्रियत्व के लिये व्यभिचार की बात यहाँ भी समान है । पक्षभूत आत्मा मे रूपादिमत्मूर्त्ति का अभाव है और वहाँ सक्रियत्व दिखता है । अर्थात् वह उसका विरोधी सिद्ध नही हुआ । यदि कहे कि-हम सक्रियता से ही वहाँ रूपादिमत्मूर्त्ति की सिद्धि करेंगे अतः व्यभिचार नही होगा-तो ऐसा एकशाखाप्रभवत्व हेतुक अनुमान मे भी समानरूप से कहा जा सकता है कि हम भी वहाँ तथाविधरूपादि की एकशाखाप्रभवत्व हेतु के बल से सिद्धि मानेंगे अत· व्यभिचार नही हो सकेगा । कदाचित् आप ऐसा कहे कि वहाँ पक्षभूत फल मे अन्यप्रकार के रूपादि दिखते है अतः तथाविधरूपादि की सिद्धि करने जायेंगे तो हेतु कालात्ययापदिष्ट=बाधित हो जायेगा-तो ऐसा प्रस्तुत मे भी कह सकते है कि आत्मा मे रूपादिमत् मूर्त्ति का अभाव सिद्ध होने से, यदि रूपादिमत्मूर्त्ति को सिद्ध करने जायेंगे तो हेतु बाधित हो जायेगा । निष्कर्ष यह फलित हुआ कि आत्मा मे सक्रियता मानने पर भी रूपादिमद्मूर्त्तता की सिद्धि नही की जा सकती है ।

अन्यदेशस्यापि ध्यानादेरन्यस्थितविषाद्यपनयनकार्यकर्तृत्वस्योपलब्धिविषयत्वात् । तन्नातोऽपि सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वसिद्धिरित्यसिद्धो हेतुः ।

एतेन 'विभुत्वाद् महानाकाशः तथा चात्मा' इति निरस्तम्, विभुत्वस्यात्मन्यसिद्धे.। तथाहि-सर्वमूर्त्तैर्युगपत्संयोगो विभुत्वम्। न च सर्वमूर्त्तिमद्भिर्युगपत्संयोगस्तस्य सिद्धः-। अथैकदेशवृत्तिविशेषगुणाधारत्वात्तस्य सर्वमूर्त्तैर्युगपत्संयोग आकाशस्येव सिद्धः। असदेतत्, एकदेशवृत्तिविशेषगुणाधिष्ठानत्वस्य साधनस्य सर्वमूर्त्तिमत्संयोगाधारत्वस्य च साध्यस्याकाशेऽप्यसिद्धेरुभयविकलो दृष्टान्तः। न चात्मदृष्टान्तादाकाशे साध्य-साधनोभयधर्मसम्बन्धित्वं सिद्धमिति शक्यं वक्तुम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् ।

[सक्रियता के द्वारा अनित्यत्व की आपत्ति का निरसन]

यदि यह कहा जाय–आत्मा को सक्रिय मानेंगे तो उसे अनित्य भी मानना पडेगा। देखिये-'जो सक्रिय होता है वह अनित्य होता है, उदा० पत्थर आदि, आत्मा भी वैसा ही सक्रिय है अत. वह अनित्य है'-इस अनुमान से आत्मा मे अनित्यत्व को मानना होगा।-तो यह भी ठीक नही है क्योंकि (१) परमाणु मे अनित्यत्व नही है फिर भी सक्रियत्व है अतः हेतु साध्यद्रोही ठहरा। (२) यदि कथचिद् अनित्यता को सिद्ध करना चाहते है तो वह हमारा इप्ट होने से सिद्धसाधन दोष लगेगा। अब आपको यदि सर्वांश से अनित्यत्व की सिद्धि करनी है तो दृष्टान्त भी साध्यशून्य हो जायेगा चूंकि पत्थर आदि में सर्वांश से अनित्यता असिद्ध है, (हम मानते ही नही है।) सारांश, 'आत्मा के गुण की सर्वत्र उपलब्धि होती है' यह बात असिद्ध होने से पूर्वोक्त अनुमान मे हेतु भी असिद्ध ठहरा।

अन्य वादी 'आत्मा के गुण की सर्वत्र उपलब्धि' को निम्नोक्त अनुमान से सिद्ध करने की कोशिश करते हैं–

'देवदत्त के उपकरणभूत मणि-मोती आदि जो अन्य द्वीप मे उत्पन्न हुए है वे देवदत्तगुण जन्य है, कार्य होते हुए देवदत्त के उपकारी हैं इसलिये। उदा० बैलगाडी आदि।' अब यह सोचना होगा कि अन्यद्वीप के मणि-मोती आदि से दूर रहे हुए देवदत्त के गुण उन मणि-मोती आदि का उत्पादन करने मे समर्थ नही बन सकते। जैसे, वस्त्रोत्पत्ति देश से दूर रहे हुए तंतु-तुरी-जुलाहा आदि दूर देश मे वस्त्र के उत्पादन मे समर्थ नही बनते है। अतः सोचिये कि देवदत्त की आत्मा के गुण, अपने गुणी=आत्मा की व्यापकता के विना मणि-मोती वाले देश मे कैसे सम्बद्ध हो सकेंगे? यदि वे स्वय क्रियाशील बन कर वहाँ जायेंगे तो सक्रिय होने से द्रव्यत्व आपन्न होगा और गुणत्व का भग हो जायेगा। अतः देवदत्त की आत्मा को विभु मानेंगे तभी देवदत्त के गुण भी उन मणि-मोती वाले देश से सम्बद्ध हो सकते है।

किन्तु यह अनुमान गलत है। देवदत्त के गुणो को दूरदेशवर्त्ती मणि-मोती के (निमित्त) कारण मान ले तो भी यह नियम दृष्टिगोचर नही है कि–'निमित्त कारण को कार्यदेश मे अवश्य हाजिर रहना चाहिये'–जिससे कि देवदत्त की आत्मा को विभु मानने के लिये बाध्य होना पडे। इस देश में कोई ध्यान लगाता है तो अन्य किसी देश मे किसी का जहर उत्तर जाता है इस प्रकार दूसरे-देशवर्त्ती कार्य का कर्तृत्व भी दृष्टिगोचर होता है। निष्कर्ष, उपरोक्त अनुमान से भी 'आत्मा के गुण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं' इस की सिद्धि नही होती है अतः हेतु असिद्ध ही रहा।

यदपि 'विभुरात्मा, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्, यद् यद् अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यं तत् तद् विभु यथाऽऽकाशम्, तथा चात्मा, तस्माद् विभुः' इति। तदप्यसारम्, तन्नित्यत्वाऽसिद्धेर्हेतोरसिद्धत्वात्, अणुपरिमाणानधिकरणत्वस्य च विशेषणस्यात्मनो द्रव्यत्वासिद्धेरसिद्धिः, तदसिद्धिश्च इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि-अणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वे सिद्धेऽनाधारस्य तस्याऽसम्भवादात्मनो गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदाश्रितत्वेनाणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। न चाकाशस्याप्यणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं विभुत्वं च सिद्धमिति साध्य-साधनविकलो दृष्टान्तः। न चात्मदृष्टान्तबलात् तस्य तदुभयधर्मयोगित्वं सिद्धमिति वक्तुं युक्तम्, अत्रापीतरेतराश्रयदोषप्रसगस्य व्यक्तत्वात्। अपि च, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं भविष्यति अविभुत्वं च, विपक्षे हेतोर्बाधकप्रमाणाऽसत्त्वेन ततो व्यावृत्त्यसिद्धेः संदिग्धानैकान्तिकश्च हेतुः। न च विपक्षे हेतोरदर्शनं बाधकं प्रमाणम्, सर्वात्मसम्बन्धिनस्तस्याऽसिद्धाऽनैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्।

[विभुत्व के द्वारा आत्मा में महत् परिमाण की सिद्धि दुष्कर]

जब आत्मा में विभुत्व ही असिद्ध है तब किसी ने जो यह कहा है कि–विभु होने से आकाश महान् है और आत्मा भी विभु ही है अतः महान् है-यह कथन निरस्त हो जाता है। देखिये-सर्वमूर्त्त पदार्थो के साथ एक साथ सयुक्त होना' यही विभुत्व का अर्थ है किन्तु आत्मा मे सकलमूर्त्त पदार्थों का एक साथ सयोग ही सिद्ध नही है। यदि कहे कि–आत्मा सकल मूर्त्तों के साथ सयुक्त है क्योकि एकदेश मे रहने वाले विशेषगुण (ज्ञानादि) का आधार है, उदा० आकाश, [तथाविध-विशेषगुण शब्द का आधार है] इस अनुमान से आत्मा का विभुत्व भी सिद्ध हो जायेगा।–तो यह भी गलत है क्योकि शब्द मे गुणत्व असिद्ध होने से एकदेशवृत्तिविशेषगुण की आधारता रूप साधन भी आकाश में असिद्ध है। तथा सर्वमूर्त्त पदार्थों के सयोग की आधारतारूप साध्य भी उसमें असिद्ध है। इस प्रकार दृष्टान्त साध्य-साधन उभयशून्य है। यह भी नही कह सकते–आत्मा के दृष्टान्त से आकाश मे साध्य-साधन उभयधर्मसम्बन्धिता को सिद्ध करेंगे–यदि ऐसा मानेंगे तो इतरेतराश्रय दोषप्रसग स्पष्ट ही लग जायेगा।

[आत्मविभुत्वसाधक पूर्वपक्षी के अनुमान की असारता]

यह जो अनुमान कहा जाता है–आत्मा विभु है क्योकि वह अणुपरिमाण का अनधिकरणीभूत नित्यद्रव्य है, उदा० आकाश, आत्मा भी वैसा ही है अतः विभु ही है।–यह अनुमान भी सारहीन है। कारण, आत्मा मे नित्यत्व असिद्ध होने से हेतु ही असिद्ध है। उपरात, अणुपरिमाणानधिकरणत्व विशेषण भी आत्मा मे द्रव्यत्व ही सिद्ध न होने से असिद्ध है, द्रव्यत्व इसलिये सिद्ध नही कि यहाँ इतरेतराश्रय दोष लगता है। जैसे देखिये-अणुपरिमाण से अन्य आत्म गुणो मे गुणत्व की सिद्धि की जाय तब निराधार गुणो की सभावना न होने से उनके आधारभूत आत्मा की गुणवान् होने से द्रव्यरूप मे सिद्धि होगी। आत्मा मे द्रव्यत्व की सिद्धि होने पर आत्मा मे आश्रितत्व के आधार पर अणुपरिमाणभिन्न गुणों मे गुणत्व की सिद्धि होगी–इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष होने से आत्मा मे अणुपरिमाणानधिकरणत्व विशेषण असिद्ध रहेगा। इसी प्रकार आकाश मे भी अणुपरिमाणानधिकरणत्व और नित्यद्रव्यत्व असिद्ध है एव विभुत्व भी असिद्ध है, अत दृष्टान्त भी साध्य-साधनशून्य हो गया। 'आत्मा के दृष्टान्त

अपि च, आत्मनः स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन सुख-दुःखादिपर्यायाक्रान्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् तद्विभुत्वसाधकस्य हेतोरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वम् । अन्यस्य च 'अहम्' इत्यध्यक्षसिद्धस्य प्रमाणाऽविषयत्वेनाऽसत्त्वादाश्रयाऽसिद्धो हेतुरिति । अनया दिशाऽन्येऽपि तद्विभुत्व-साधनायोपन्यस्यमाना हेतवो निराकर्त्तव्याः, अस्य निराकरणप्रकारस्य सर्वेषु तत्साधकहेतुषु समान-त्वात् । तन्नात्मनः कुतश्चिद्विभुत्वसिद्धिः ।

अथापि स्यात् यथाऽस्माकं तद्विभुत्वसाधकं प्रमाणं न संभवति तथा भवतामपि तदविभुत्व-साधकप्रमाणाभाव इति नानुपमसुखस्थानोपगतिस्तेषां सिद्धेति तदवस्थं चोद्यम्, न हि परपक्षे दोषो-द्भावनमात्रतः स्वपक्षाः सिद्धिमुपगच्छन्ति अन्यत्र स्वपक्षसाधकत्वलक्षणपरप्रयुक्तहेतुविरुद्धतोद्भावनात्, न चासौ भवता प्रदर्शितेति । न सम्यगेतत्, तदभावाऽसिद्धेः । तथाहि देवदत्तात्मा 'देवदत्तशरीरमात्र-व्यापकः, तत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणत्वात्, यो यत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुण. स तन्मात्रव्यापक., यथा देवदत्तस्य गृह एव व्याप्त्योपलभ्यमानभास्वरत्वादिगुणः प्रदीपः, देवदत्तशरीर एव व्याप्त्योपल-भ्यमानगुणस्तदात्मा' इति । तदात्मनो हि ज्ञानादयो गुणास्ते च तद्देहे एव व्याप्त्योपलभ्यन्ते, न परदेहे, नाप्यन्तराले ।

से आकाश मे साध्य-साधनशून्य की सिद्धि करेंगे' ऐसा तो बोल ही नही सकते क्योकि स्पष्ट ही यहा अन्योन्य पराधीनता हो जाने से इतरेतराश्रय दोष लगेगा । तदुपरांत हेतु मे निम्नोक्त रीति से सदिग्ध अनैकान्तिकता दोष भी है-देखिये, आत्मा मे अणुपरिमाणानधिकरणत्व विशिष्ट नित्यद्रव्यत्व रहेगा और अविभुत्व भी रहेगा तो क्या बाध है, इस प्रकार आत्मा की ही विपक्षरूप मे सम्भावना करेंगे तो उसमे हेतु तो रहेगा ही और विपक्षत्व की शका का निवारक कोई बाधक प्रमाण ही नही है, फलतः विपक्ष से हेतु की व्यावृत्ति मे सदेह हो जाने से विपक्षावृत्तित्व ही असिद्ध हो जाता है और हेतु सदिग्धव्यभिचारी हो जाता है । विपक्ष मे हेतु का अदर्शन यह कोई बाधक प्रमाणरूप नही है । क्योकि सभी को विपक्ष मे हेतु का अदर्शन होने की बात तो असिद्ध है, और अपने को विपक्ष मे हेतु का अदर्शन तो अनैकान्तिक भी हो सकता है यह पहले कहा ही है ।

[देहमात्रव्यापक आत्मा स्वसवेदनसिद्ध है]

तदुपरांत, सुखदुखादिविवर्त्तो से आक्रान्त स्वदेहमात्र मे व्यापक आत्मा स्वसवेदनप्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, इसलिये आत्मा मे विभुत्व की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हेतु, प्रत्यक्षबाधित पक्ष के बाद प्रयुक्त होने से कालात्ययापदिष्ट हो जायेगा । तथा अव्यापक से भिन्नप्रकार का (व्यापक) आत्मा 'अहम्' इस प्रकार के प्रत्यक्ष से सिद्ध हो यह बात प्रमाण की विषयभूत न होने से व्यापकात्मा असिद्ध है, अतः उसमें विभुत्वसाधक हेतु आश्रयासिद्धि दोष से दूषित हो जायेगा । विभुत्व की सिद्धि के लिये जितने भी हेतु कहे जाय उन सभी का उक्त दिशा से निराकरण हो सकता है, क्योकि स्वसवेदनप्रत्यक्षसिद्ध देहमात्रव्यापक आत्मा और तत्प्रयुक्त बाध और आश्रयासिद्धि दोषो का उक्त प्रकार, आत्मविभुत्व-साधक सभी हेतुओ मे समान है । निष्कर्ष, किसी भी प्रकार से आत्मा मे विभुत्व की सिद्धि अशक्य है ।

[अविभुत्वसाधक प्रमाण का अभाव नहीं]

यदि ऐसा कहे कि-"हमारे पास विभुत्व का साधक कोई प्रमाण नही है तो आपके पास अविभुत्व का साधक प्रमाण भी कहाँ है ? अविभुत्वसाधक प्रमाण के अभाव मे जिन भगवान् को

अत्र केचिद् हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्तः 'शरीरान्तरेऽपि तदंगनासम्बन्धिनि तद्गुणा उपलभ्यन्ते" इत्यभिदधति । तथाहि-देवदत्तांगनांगं देवदत्तगुणपूर्वकम्, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्, ग्रासादिवत् । कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं तज्जनने व्याप्रियतेऽन्यथातिप्रसंगादिति तदगनांगप्रादुर्भावदेशे तत्कारणतद्गुणसिद्धिः । तथा, तदन्तराले च प्रतीयन्ते । तथाहि-अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक् पवनं तद्गुणपूर्वकम्, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्, वस्त्रादिवत् । यत्र च तद्गुणास्तत्र, तद्गुण्यप्यनुमीयते इति 'स्वदेह एव देवदत्तात्मा' इति प्रतिज्ञा अनुमानबाधिता । ततोऽनुमानबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टो हेतुः ।

अनुपमसुखवाले स्थान में पहुँचे हुए नही कह सकते, अर्थात् वह पुराना प्रश्न तो तदवस्थ ही रहा । पराये मत मे दोषो का उद्भावन कर देने मात्रा से अपना मत सिद्ध नही हो जाता । वह तभी हो सकता यदि पराये मत के साधक हेतु मे विरोध का उद्भावन किया जाता, जिससे कि अपने मत की भी अनायास सिद्धि हो । [तात्पर्य यह है कि दूसरे के हेतु मे इस प्रकार विरोधी युक्ति को दिखाना चाहिये जिससे दूसरे के मत से विपरीत ही पक्ष की यानी अपने ही पक्ष की पुष्टि हो । आपने तो ऐसे कोई विरोध का प्रदर्शन किया नही है ।"]–

किन्तु यह बात अयुक्त है क्योकि आत्मा मे अविभुत्वसाधक प्रमाण का अभाव असिद्ध है । जैसे देखिये–देवदत्त की आत्मा देवदत्त के देहमात्र में ही व्यापक है, क्योकि देवदत्त देह में ही सपूर्णतया उसके गुण उपलब्ध होते है । जिसके गुण सपूर्णतया जिस देश मे उपलब्ध होते है वह उतने मे ही व्यापक होता है, उदा० देवदत्त के गृह मे सपूर्णतया उपलब्ध होने वाले भास्वरतादि गुणो वाला दीपक । देवदत्त की आत्मा के गुण भी सपूर्णतया देवदत्त के शरीर देश मे ही उपलब्ध होते हैं अत: वह देहमात्रव्यापक सिद्ध होता है । देवदत्त की आत्मा के ज्ञानादि गुणो की उपलब्धि देवदत्तदेहदेश मे ही होती है, यज्ञदत्तादि के देहदेश मे अथवा उन दोनो के मध्यवर्त्ती देश मे नही होती है ।–यही अनुमान प्रमाण आत्मा मे अविभुत्व को सिद्ध करता है ।

[हेतु में असिद्धता का उद्भवन–पूर्वपक्ष]

कुछ वादी लोक यहाँ हमारे अनुमान के हेतु मे असिद्धि की उद्भावना करते हुए कहते हैं–देवदत्त की पत्नी के देहदेश मे देवदत्त के गुणो की उपलब्धि होती है । यह अनुमान देखिये-देवदत्त की पत्नी का देह देवदत्तगुणमूलक है क्योकि वह कार्यभूत है और देवदत्त का उपकारी है, उदा० आहार का कवलादि । अब यह नियम है कि 'कार्यदेश मे सनिहित कारण ही कार्य के उत्पादन मे कुछ करता है', यदि इस नियम को नही मानेंगे तो पर्वतीय अग्नि से भी घर मे रसोईपाक हो जाने का अतिप्रसंग आयेगा । अत: इस नियम को मानना पडेगा । उससे यह सिद्ध होगा कि देवदत्त की पत्नी के जन्मदेश मे भी उसके कारणीभूत देवदत्त के गुण (अदृष्टादि) सनिहित हैं । गुण निराधार तो रह नहीं सकता अत: वहाँ देवदत्त के आत्मा का विस्तार भी मानना पडेगा ।

उपरात, मध्यवर्त्ती भाग मे भी देवदत्त के गुणो की उपलब्धि होती है । वह इस प्रकार:–अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन और वायु की तिरछी गति देवदत्तगुणमूलक है, क्योकि वह कार्य है और देवदत्त के उपकारी है, उदा० वस्त्रादि । जहाँ देवदत्त के गुण हो वहां उसके गुणी आत्मा की सत्ता भी अनुमानसिद्ध है । अत: 'देवदत्त की आत्मा सिर्फ उसके देह मे ही व्यापक है' यह प्रतिज्ञा उपरोक्त अनुमान

ननु केऽत्र देवदत्तात्मगुणा ये तदंगनांगे तदन्तराले च प्रतीयन्ते ? यदि ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-स्वभावा.- सहवर्त्तिनो गुणा.' इति वचनात्–इति पक्षः, स न युक्तः, ज्ञान-दर्शन-सुखानि सवेनदरूपाणि न तदंगनांगजन्मनि व्याप्रियमाणानि प्रतीयन्ते, नापि सत्तामात्रेण तद्देशे प्रतीतिगोचराणि। वीर्यं तु शक्तिः क्रियानुमेया, साऽपि तद्देह एवानुमीयते, तत्रैव तल्लिंगभूतपरिस्पन्ददर्शनात्। तस्याश्च तदंगना-देहनिष्पत्तौ देवदत्तस्य भार्या दुहिता स्यात्।. ततस्तज्ज्ञानादेस्तद्देह एव तत्कार्यजननविमुखस्य प्रतीतेः प्रत्यक्षतः तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति हेतुः।

अथ धर्माधर्मौ तदंगनादिकार्यनिमित्तं तद्गुणः। तदयुक्तम्, न धर्माधर्मौ तदात्मनो गुणौ, अचेतनत्वात् शब्दादिवत्। न सुखादिना व्यभिचार., तत्र हेतोरवर्त्तनात्–तद्विरुद्धेन स्वसंवेदनलक्षण-चैतन्येन तस्य व्याप्तत्वात् अभिमतपदार्थसम्बन्धसमय एव स्वसंवेदनरूपाह्लादस्वभावस्य तदात्मनोऽनु-भवात्, अन्यथा सुखादेः स्वयमननुभवात् अनवस्थादोषप्रसंगात् अन्यज्ञानेनाप्यनुभवे सुखस्य परलोक-प्रत्यताप्रसक्तिः। प्रसाधितं चैतत् प्राक्। न चाऽसिद्धता 'अचेतनत्वात्' इति हेतोः। तथाहि–अचेतनौ तौ अस्वसंविदितत्वात्, कुम्भवत्। न बुद्ध्याऽस्य व्यभिचारः अस्याः स्वसंवेदनसाधनात्। 'स्वग्रहणा-त्मिका बुद्धिः, अर्थग्रहणात्मकत्वात्, यत् स्वग्रहणात्मकं न भवति न तद् अर्थग्रहणात्मकम्, यथा घटः' इति व्यतिरेकी हेतुः।

से बाधित हो गयी। अनुमानबाधित साध्यनिर्देश के बाद मे प्रयुक्त हेतु–'देवदत्त के देहमात्र मे सपूर्ण-तया उसके आत्मा के गुणो की उपलब्धि होती है' यह हेतु कालात्ययापदिष्ट हो गया।

[देवदत्त के गुणों की अन्यत्र सत्ता असिद्ध–उत्तरपक्ष]

कुछ वादी लोक के उक्त अनुमान के समक्ष यह प्रश्न है कि ऐसे कौन से देवदत्तात्मा के गुण हैं जो उसकी पत्नी के अंग मे और मध्यवर्त्ती भाग मे आपको प्रतीत होते हैं ? "जो सहवर्त्ती धर्म हो वे गुण" इस उक्ति के आधार पर यदि आप ज्ञान दर्शन-सुख और वीर्य स्वभाव इत्यादि देवदत्त के गुणो की अन्यत्र उपलब्धि मानेंगे तो वह युक्त नही है। कारण, देवदत्त की पत्नी के देह की उत्पत्ति मे, देव-दत्त के ज्ञान-दर्शन-सुखस्वरूपसवेदनात्मकगुणो का कुछ भी व्यापार प्रतीत नही होता है। वहाँ उनका कुछ व्यापार भले न हो किन्तु वहाँ उनकी मूक सत्ता है ऐसा भी कही दृष्टिगोचर नही हुआ। वीर्य जो है वह सवेदनात्मक नही किन्तु शक्तिस्वरूप है, तज्जन्यक्रियारूप कार्यात्मक लिंग से उसका अनुमान होता है, यह परिस्पन्दात्मक लिंग भूत क्रिया का दर्शन सिर्फ देवदत्तात्मा मे ही होता है अत. तज्जनक शक्ति भी सिर्फ उसके देह मात्र में ही अनुमान से सिद्ध होती है। यदि देवदत्त को शक्ति से देवदत्त पत्नी के शरीर की उत्पत्ति मानेंगे तो वह देवदत्त पत्नी देवदत्तपुत्री बन जायेगी। क्योंकि उसके देह का जनक देवदत्त है। निष्कर्ष, देवदत्तपत्नी के देह के उत्पादन मे उदासीन देवदत्तात्मा के ज्ञानादि गुणो की सिर्फ देवदत्तदेहदेश मे ही प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है, इस प्रतीति से प्रतिवादी का साध्यनिर्देश बाधित हो जाने के बाद उनकी ओर से प्रतिपादित 'क्योकि कार्यभूत हैं और देवदत्त का उपकारी है' यह हेतु कालात्ययापदिष्ट सिद्ध हुआ।

[धर्माधर्म आत्मा के गुण नहीं है]

यदि देवदत्त के धर्म-अधर्म गुण को उसकी पत्नी के अग का निमित्त कारण मानते हो तो यह भी अयुक्त है, क्योकि धर्माधर्म (जैन मत के अनुसार द्रव्य रूप है अत.) वे देवदत्तात्मा के गुण नही

न च धर्माधर्मयोर्ज्ञानरूपत्वात् बौद्धदृष्ट्या ज्ञानस्य च स्वग्रहणात्मकत्वादसिद्धो हेतुरिति वक्तव्यम्, तयोः स्वरूपग्रहणात्मकत्वे सुखादाविव विवादाभावप्रसक्तेः। अस्ति चासौ अनुमानोपन्यासान्यथानुपपत्तेस्तत्र। न च लौकिक-परीक्षकयोः 'प्रत्यक्षं कर्म' इति व्यवहारसिद्धम्। न चाऽविकल्पबोधविषयत्वाद् स्वग्रहणात्मकत्वेऽपि तयोर्विवादः क्षणिकत्वादिवत्, तथाऽनिश्चयात् तद्विषयेऽतिप्रसंगात्। तथाहि-अविकल्पाध्यक्षविषयं जगत् जन्तुमात्रस्य तथाऽनिश्चयस्तु क्षणिकत्ववत् निर्विकल्पाध्यक्षविषयत्वात्। न च भूविकालर्कविषविकारवत् तदनन्तरं तत्फलाऽदर्शनात् न तद्दर्शनव्यवहारः इति, स्वसत्तासमये स्वकार्यजननसामर्थ्ये तस्य तदैव तत्कार्यमिति तदनन्तर तत्फलाऽदर्शनात्र तद्दर्शनव्यवहार इति। स्वसत्तासमये स्वकार्यजननसामर्थ्ये तस्य सदैव तत्कार्यमिति तदनन्तरं तद्दृष्टिप्रसक्तेः अन्यदा तु स एव नास्तीति कुतस्ततस्तस्य भावः ?!

है क्योकि अचेतन है, उदा० शब्द। यहाँ सुखादि मे साध्यद्रोह नही कहा जा सकता क्योकि सुख अचेतन न होने से हेतु ही वहाँ नही रहता है। अचेतनत्वविरुद्ध स्वसवेदनमयचैतन्य से ही सुख व्याप्त है। जब इप्ट वस्तु को प्राप्ति होती है उसी समय स्वसवेदनमय आह्लादस्वरूप सुख का अनुभव सभी को होता है। यदि सुख-दु ख को स्वत सवेदनमय नही मानेंगे तो सुखादि का अनुभव ही नही होगा, यदि अन्य सवेदन से उसका अनुभव मानेंगे तो उस अन्य सवेदन के लिये अन्य अन्य सवेदन की कल्पना करने का अन्त नही आयेगा, अर्थात् अनवस्था दोष लगेगा। उपरात, सुख का अनुभव यदि अन्य ज्ञान से मानेंगे तो उसमे परलोक तुल्यता यानी परोक्षता की आपत्ति भी आयेगी-यह तथ्य पहले ही सिद्ध किया गया है।

धर्माधर्म मे अचेतनत्व हेतु असिद्ध भी नही है, अनुमान से सिद्ध है। देखिये-धर्म-अधर्म अचेतन है क्योकि स्वसविदित नही है, उदा० कुम्भ। जो लोग बुद्धि को असविदित मानते है किन्तु चेतन मानते हैं वे बुद्धि मे हेतु को साध्यद्रोही दिखाना चाहे तो उसके सामने बुद्धि स्वसविदितत्व की सिद्धि इस प्रकार है-बुद्धि स्वग्रहणात्मक ही है क्योकि वह अर्थग्रहणस्वरूप है। हेतु यहाँ व्यतिरेकी है इसलिये घट दृष्टान्त है। व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार है-जो स्वग्रहणात्मक नही होता वह अर्थग्रहणस्वरूप भी नही होता जैसे घट।-इस प्रकार धर्म-अधर्म मे अचेतनत्व हेतु से आत्मगुणत्व का निषेध सिद्ध होता है।

[धर्माधर्म स्वसंविदित ज्ञानरूप नहीं है]

यदि यह कहा जाय-धर्म और अधर्म ज्ञानरूप ही है, तथा बौद्धदृष्टि से ज्ञान स्वग्रहणस्वरूप ही है अतः आपने उन मे अचेतनत्वसिद्धि के लिये जो अस्वसविदितत्व हेतु का प्रयोग किया वह असिद्ध हो गया-तो यह ठीक नही है क्योकि धर्म और अधर्म यदि स्वसविदित होता तो उसके होने-न होने में किसी को विवाद न होता जैसे कि सुख दु ख के अस्तित्व मे किसी को भी विवाद नही है। धर्म और अधर्म के बारे मे तो विवाद है ही, अन्यथा उसको सिद्धि के लिये नास्तिकादि के समक्ष अनुमान का उपन्यास नही करना पड़ता। 'कर्म (धर्म-अधर्म) प्रत्यक्ष है' यह बात न तो लोक व्यवहार मे सिद्ध है, न तो परीक्षक विद्वान् लोगो के व्यवहार मे सिद्ध है। यदि यह कहे कि धर्म-अधर्म स्वग्रहणात्म तो है ही, फिर भी उसमे विवाद होने का कारण यह है कि वे निर्विकल्प ज्ञान के विषय हैं। सविकल्पज्ञान के विषय होते तो विवाद न होता। जैसे: क्षणिकत्व बौद्धमत से निर्विकल्पज्ञान का विषय होता है अतः प्रत्यक्षसिद्ध ही है किन्तु क्षणिकत्व विषय का सविकल्प ज्ञान नही होता इसलिये यह विवाद होता है

अथ तयोरचेतनत्वेऽपि तदात्मगुणत्वे को विरोधः ? अचेतनस्य चेतनात्मगुणत्वमेव । चेतनश्च तदात्मा स्वपरप्रकाशकत्वात् अन्यथा तदयोगात् कुड्यादिवत् । न च धर्माऽधर्मयोरभावादाश्रयाऽसिद्धो हेतुः, अनुमानतस्तयोः सिद्धेः । तथाहि-चेतनस्य स्वपरज्ञस्य तदात्मनो हीनमातृगर्भस्थानप्रवेशः तत्सम्बद्धान्यनिमित्तः, अनन्यनेयत्वे सति तत्प्रवेशात्, मत्तस्याऽशुचिस्थानप्रवेशवत्, योऽसावन्यः स द्रव्यविशेषो धर्मादिरिति ।

न च कस्यचित् पूर्वशरीरत्यागेन शरीरान्तरगमनाभावात् तत्प्रवेशोऽसिद्ध., अनुमानात् तत्सिद्धे. । तथाहि-तदहर्जातस्य स्तनादौ प्रवृत्तिस्तदभिलाषपूर्विका, तत्त्वात्, मध्यदशावत् । यथा च परलोकाऽऽगाम्यात्मा अनुमानात् सिद्धिमुपगच्छति तथा प्राक् प्रतिपादितम् । सुखसाधनजलादिदर्शनानन्तरोद्भूतस्मरणसहायेन्द्रियप्रभवप्रत्यभिज्ञानक्रमोपजायमानाभिलाषादेर्व्यवहारस्यैककर्तृपूर्वकत्वेन प्राक् प्रसाधितत्वात् नात्र प्रयोगे व्याप्त्यसिद्धिः । अत एव स्तनादिप्रवृत्तेरभिलाषः सिद्धिमासादयन् संकलनाज्ञानं गमयति, तदपि स्मरणम्, तच्च सुखादिसाधनपदार्थदर्शनम् । 'कारणव्यतिरेकेण

कि वस्तु क्षणिक है या नही ?-तो यह भी ठीक नही है । कारण, धर्माधर्म का निश्चय (सविकल्पज्ञान) तो होता नही है, फिर भी आप यदि उन्हे प्रत्यक्ष (निर्विकल्पज्ञान) का विषय मानेगे तो अतिप्रसग दोष इस प्रकार होगा:-अर्थात् यह भी कहा जा सकेगा कि सारा ही जगत् जीवमात्र के निर्विकल्प प्रत्यक्षज्ञान का विषय है, हाँ, उसका निश्चय (सविकल्पक ज्ञान) नही होता, उसका कारण यह है कि वह सिर्फ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का ही विषय होता है जैसे क्षणिकत्व । मूषकविष और अलर्कविष यह स्लो पोइझन है, अत: तात्कालिक उसके फलरूप किसी विक्रिया का दर्शन नही होता, किन्तु इतने मात्र से उसका अपलाप नही किया जाता है । उसी तरह जगत् का जीवमात्र को निर्विकल्पज्ञान (=दर्शन) होता है, फिर भी उसके फलस्वरूप निश्चय का जन्म नही होता इतने मात्र से जगत् मात्र के दर्शन का व्यवहार न किया जाय ऐसा तो नही है । यदि अपने सत्ताकाल मे अपने कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य हो तब उसी समय उसको कर देना चाहिये, अत तुरन्त ही उसके दर्शन का प्रसग प्राप्त है और अन्यकाल मे तो वह है ही नही तो उससे उसकी उत्पत्ति की बात ही कहाँ ?

[अचेतन धर्माधर्म का साधक प्रमाण]

यदि यह प्रश्न किया जाय कि धर्माधर्म दोनो अचेतन भले हो, फिर भी उसे आत्मा के गुण मानने मे क्या विरोध है ? तो इसका उत्तर यह है कि अचेतन पदार्थ चेतनात्मा का गुण होने मे ही विरोध है । आत्मा स्वपरप्रकाशक होने के कारण चेतन है, स्वपरप्रकाशकत्व के अभाव मे चैतन्य भी नही हो सकता जैसे कि दिवार आदि मे वह नही होता है । नास्तिक यदि ऐसा कहे कि-धर्म और अधर्म जैसी कोई वस्तु ही नही है, अत: उनमे अचेतनत्व की सिद्धि के लिये प्रयुक्त 'अस्वसंविदितत्व' हेतु मे आश्रयासिद्धि दोष लगेगा-तो यह ठीक नही, क्योकि निम्नोक्त अनुमान से उसकी सिद्धि की जा सकती है । देखिये-स्वपरज्ञाता से अभिन्न चेतनात्मा का माता के निकृष्ट गर्भस्थान मे जो प्रवेश होता है वह उससे सम्बद्ध अन्य किसी वस्तु के प्रभाव से होता है, क्योकि और तो कोई उसे वहाँ ले नही जाता फिर भी वहाँ उसको जाना पडता है, उदा० कोई मदिरामत्त पुरुष अशुचि स्थान मे गिरता है तो वहाँ उस पुरुष से सम्बद्ध मद्य द्रव्य का प्रभाव होता है । इस अनुमान से चेतनात्मा से सयुक्त जो अन्य वस्तु की सिद्धि होगी वही धर्मादि द्रव्यविशेष है जिसे जैन परिभाषा मे कर्म पुद्गल कहते है ।

कार्योत्पत्तौ तस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्तिः' इति अत्र विपर्ययबाधकं प्रमाणं व्याप्तिनिश्चायकं प्रदर्शितम् । अपूर्वप्राणिप्रादुर्भावे च सर्वोऽप्ययं व्यवहारः प्रतिप्राणिप्रसिद्धः उत्सीदेत् , तज्जन्मनि सुखसाधनदर्शनादेरभावात् ; न हि मातुरुदर एव स्तनादेः सुखसाधनत्वेन दर्शनं यतः प्रत्यग्रजातस्य तत्र स्मरणादिव्यवहारः सम्भवेदिति पूर्वशरीरसम्बन्धोऽप्यात्मनः सिद्धः ।

न च मध्यावस्थायां सुखसाधनदर्शनादिक्रमेणोपजायमानोऽपि प्रवृत्त्यन्तो व्यवहारो जन्मादावन्यथा कल्पयितुं शक्यो विजातीयादपि गोमयादेः कारणाच्छालूकादेः कार्योत्पत्तिदर्शनादिति वक्तुं शक्यम् , जलपाननिमित्ततृड्विच्छेदादावप्यनलनिमित्तत्वसम्भावनया तदर्थिनः पावकादौ प्रवृत्तिप्रसंगात् सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः ।

अथ 'देहिनो देहाद् देहान्तरानुप्रवेशस्तदभिलाषपूर्वकः, गृहाद् गृहान्तरानुप्रवेशवत्' इत्यतोऽन्यथासिद्धो हेतुरिति न द्रव्यविशेषं साधयति । तदुक्तं सौगतै.-[ ]
"दुखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वाऽवन्ध्यकारणम् । जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति" ।। इति ।

[प्राग्भवीयशरीरसम्बन्ध की आत्मा में सिद्धि]

यदि यह कहा जाय कि-'गर्भ मे प्रवेश की बात ही असिद्ध है क्योकि पहले के शरीर को छोड़कर दूसरे देह मे जाने वाला कोई तत्त्व ही नही है'-तो यह ठीक नही, क्योकि अनुमान से उस तत्त्व की सिद्धि की जा सकती है। जैसे देखिये-'अभिनव जात बालक की स्तनपान मे प्रवृत्ति अभिलाष पूर्वक ही होती है क्योकि वह इष्ट प्रवृत्तिरूप है, उदा० जन्म के बाद मध्यकाल मे होने वाली स्तनपान की प्रवृत्ति ।' -इस अनुमान से अभिलाष की सिद्धि होने पर इष्टसाधनता के स्मरण को हेतु करके उस बालक के आत्मा की पूर्वकालसम्बन्धिता भी सिद्ध की जा सकती है। फलतः आत्मा के पूर्वदेह मे से वर्त्तमान देह मे प्रवेश की बात सिद्ध होती है। जिस अनुमान से आत्मा का परलोक से आगमन सिद्ध होता है उस अनुमान का पहले नास्तिकमतनिराकरण अवसर पर प्रतिपादन हो चुका है। अर्थात् पहले यह सिद्ध किया जा चुका है कि तृप्ति सुख के साधनभूत जलादि का दर्शन उसके बाद इष्टसाधनता का स्मरण, उसके बाद उस स्मरण की सहायता से दृश्यमान जलादि मे इष्टसाधनरूप से प्रत्यभिज्ञाज्ञान का उद्भव और उसके बाद उस जल को पीने का अभिलाष-यह पूरी व्यवहार प्रक्रिया एककर्तृक ही होती है, अत' एक कर्त्ता के रूप मे आत्मा की सिद्धि होने से हमारे पूर्वोक्त कर्मसाधक अन्तिम अनुमान प्रयोग मे व्याप्ति की असिद्धि को अवकाश ही नही। इस प्रकार के अनुमान में स्तनादि मे प्रवृत्ति के द्वारा सिद्ध होता हुआ अभिलाष अपने पूर्वगामी प्रत्यभिज्ञारूप सकलनाज्ञान की सिद्धि करेगा, उससे तत्पूर्वगामी स्मरण की सिद्धि होगी, उससे पूर्वकाल मे सुखादि के साधनभूत पदार्थ के दर्शन की सिद्धि होगी, अर्थात् यह सिद्ध होगा की उस बालक देहवर्त्ती आत्मा ने पहले भी ऐसा कही देखा है। यहाँ सर्वत्र यदि विपर्यय की शका की जाय कि-अभिलाष के बिना ही प्रवृत्ति को, अथवा प्रत्यभिज्ञा के बिना ही अभिलाष को .इत्यादि माना जाय तो क्या बाध ? तो इस शका का बाधक प्रमाण यही तर्क है कि अभिलाष और प्रवृत्ति इत्यादि मे सर्वत्र कारण-कार्यभाव प्रसिद्ध है अतः कारण के बिना यदि कार्य का उद्भव मानेगे तो कार्य मे निर्हेतुकत्व प्रसक्त होगा। यह तर्क पहले दिखाया जा चुका है। यदि अभिनवजात प्राणी को आप अपूर्व यानी सर्वथा नया ही उत्पन्न मानेंगे तो हर कोई जीव को अनुभव सिद्ध उक्त व्यवहार-इष्ट साधन वस्तु के दर्शन से स्मरण के द्वारा प्रत्य-

असदेतत्, इह जन्मनि प्राणिनां तदभिलाषस्य परलोकेऽभावान्न ततः स इति युक्तम्। नापि मनुष्यजन्मा हीनशुन्यादिगर्भसम्भवमभिलषति यतस्तत्र तत्सम्भवः स्यात्। तदेवं धर्माऽधर्मयोस्तदात्मगुणत्वनिषेधात् तन्निषेधानुमानबाधितमेतत् 'पावकाद्धूर्ध्वज्वलनादि देवदत्तगुणकारितम्' इति।

यत् पुनरुक्तम् 'गुणवद् गुणी अप्यनुमानतस्तद्देशेऽस्तीत्यनुमानबाधितस्वदेहमात्रव्यापकात्मकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनाद्यो हेतुः कालात्ययापदिष्टः' इति, तदपि निरस्तम्, तत्र तत्सद्भावाऽसिद्धेः। यच्चान्यत् 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति, तत्र किं तद्गुणपूर्वकत्वाभावेऽपि तदुपकारकत्वं दृष्टं येन 'कार्यत्वे सति' इति, विशेषणमुपादीयेत, सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणोपादानस्यार्थवत्त्वात्? 'कालेश्वरादौ दृष्टमि'ति चेत्? न, कालेश्वरादिकमतद्गुणपूर्वकमपि यदि तदुपकारकम्, कार्यमपि किञ्चिदन्यपूर्वकं तदुपकारकं स्यादिति सविपक्षविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः। सर्वज्ञ-

---

भिज्ञा इत्यादि व्यवहार– का अवसान ही हो जायेगा। अर्थात् स्तनपान की प्रवृत्ति का भी उच्छेद हो जायेगा क्योकि अभिनव जात शिशु को इस जन्म मे तो सुखसाधनता का ज्ञान तत्काल होता नही है। जब वह माता के उदर मे था तब तो उसे इष्टसाधनता के रूप मे स्तनादि का दर्शन हुआ ही नही है फिर नवजात शिशु को इष्टसाधनता के स्मरणादि की बात का सम्भव ही कहाँ रहेगा? यदि उसकी उपपत्ति करना हो तो पूर्वदेह का सम्बन्ध अनायास सिद्ध हो जायेगा।

[दर्शनादिव्यवहार से विपरीत कल्पना में बाधप्रसंग]

यदि यह कहा जाय-मध्यकाल मे इष्टसाधनता के दर्शन से स्मरण-प्रत्यभिज्ञा द्वारा अभिलाष, और उससे प्रवृत्ति पर्यन्त व्यवहार होता है, तथापि जन्म के आदिकाल में शिशु को प्रवृत्ति विना ही अभिलाष आदि से होती है इस कल्पना मे कोई बाधक नही है। अन्यत्र भी ऐसा दिखता है कि मेढक से जैसे मेढक की उत्पत्ति होती है वैसे मेढक से सर्वथा भिन्न गोबर आदि कारण से भी मेढक उत्पन्न होता है।–तो यह ठीक नही है क्योकि ऐसी भी सम्भावना की जा सकती है कि तृषा का विच्छेद अन्यत्र भले ही जलपान के निमित्त से होता हो किन्तु कही पर जलविजातीय अग्नि से भी हो सकेगा। यदि ऐसी सम्भावना को मान ली जाय तो फिर सभी कारण-कार्यव्यवहारो का उच्छेद प्रसक्त होगा।

यदि ऐसा कहे कि–गर्भ मे प्रवेश अन्य द्रव्यनिमित्तक होने की बात ठीक नही, क्योकि देहान्तर मे प्रवेश अन्यनिमित्तक भी कहा जा सकता है, जैसे यह अनुमान है कि–आत्मा का एक देह से अन्यदेह मे प्रवेश अभिलाषनिमित्तक होता है जैसे एक गृह से अन्य गृह मे प्रवेश। तो इस प्रकार अभिलाषहेतु से आपका उक्त अन्यद्रव्यससर्गरूप हेतु अन्यथासिद्ध हो जाने से उसकी सिद्धि नही हो सकेगी। बौद्धो ने भी कहा है कि–दु ख का अवन्ध्य कारण बुद्धिविपर्यास अथवा तृष्णा (अभिलाष) है। जिस आत्मा मे बुद्धिविपर्यास अथवा तृष्णा ये दो नही होते उसको जन्म नही लेना पडता।–तो यह बात भी गलत है। कारण, इस जन्म मे प्राणियो को होने वाला अभिलाष जन्मान्तर मे अनुवर्त्तमान नही होता, अत जन्मान्तर के देह मे प्रवेश इस जन्म के अभिलाष से होने की बात युक्त नही कही जा सकती। तदुपरांत, मनुष्यजन्मवाला प्राणी कदापि कुत्ती आदि के नीच गर्भस्थान मे उत्पन्न होने का अभिलाष करे यह सम्भव ही नही, अत. अभिलाष के निमित्त से जन्मान्तर के देह मे प्रवेश की बात अघटित है। निष्कर्ष यह है कि, धर्माधर्म आत्मा के गुण होने की बात का उक्त

त्वाभावसाधने यागादिवन्निर्विशेषणस्यैव तस्याभिधाने को दोष ? 'व्यभिचारः कालेश्वरादिना' इति चेत् ? न, नित्यैकस्वभावात् कस्यचिदुपकाराभावात् । अपि च, शत्रुशरीरप्रध्वंसाभावस्तद्विपक्षस्योपकारको भवति सोऽपि तद्गुणनिमित्तः स्यात् । तदभ्युपगमे वा तत्र कार्यत्वाऽसम्भवेन सविशेषणस्य हेतोरवर्त्तनाद् भागाऽसिद्धो हेतुः । अतद्गुणनिमित्तत्वे तस्यान्यदप्यतद्गुणपूर्वकं तदुपकारकं तद्वदेव स्यादिति न तद्गुणसिद्धिः ।

यत् पुन. 'प्रासादिवद्' इति निदर्शनम् , तत्र यदि तदात्मगुणो धर्मादिर्हेतुः, साध्यवत्प्रसंग । प्रयत्नश्चेत् ? न, तत्स्वरूपाऽसिद्धेः-शरीराद्यवयवप्रविष्टानामात्मप्रदेशानां परिस्पन्दस्य चलनलक्षणक्रियारूपत्वान्न गुणत्वम् , तत्त्वे वा गमनादेरपि तत्त्वात् न कर्मपदार्थसद्भावः क्वचिदपीति न युक्तं 'क्रियावत्' इति द्रव्यलक्षणम् । 'निष्क्रियस्यात्मनो न स' इति चेत् ? कुतस्तस्य निष्क्रियत्वम् ? अमूर्त्तत्वात् इति चेत् ? प्रत्यक्षनिराकृतमेतत्-प्रत्यक्षेण हि देशाद्देशान्तरं गच्छन्तमात्मानमनुभवति लोक. । तथा च व्यवहार -'अहमद्य योजनमात्र गतः' । न च मनः शरीरं वा तद्व्यवहारविषय , तस्याहंप्रत्ययवेद्यत्वात् । तदेवं परस्य साध्यविकलं निदर्शनमिति स्थितम् ।

रीति से निषेध सिद्ध होता है अत: इस निषेध साधक अनुमान से पूर्वपक्षी का यह अनुमान कि-अग्नि-आदि का ऊर्ध्वज्वलनादि देवदत्त के गुण से निष्पन्न है'-बाधित हो जाता है ।

[देहमात्रव्यापी आत्मसाधक अनुमान में बाध दोष का निरसन]

तथा, आपने जो यह कहा है कि-अग्नि आदि के उर्ध्वज्वलन से, अग्निदेश मे अनुमित होने वाले देवदत्त के गुण से गुणवान् आत्मा का भी अनुमान से उस देश मे अस्तित्व सिद्ध होता है अतः आपका स्वदेहमात्रव्यापक आत्मा रूप कर्म का निर्देश आत्मव्यापकता साधक अनुमान से बाधित हो जायेगा, उसके बाधित होने के बाद आपने जो पहले हेतु का प्रयोग किया है-'क्योकि देवदत्तदेह मे ही व्यापकरूप से उसकी आत्मा का उपलम्भ होता है'-यह हेतुप्रयोग कालात्ययापदिष्ट हो जायेगा [१४७-४]-यह सब अब निरस्त हो जाता है । क्योकि अग्निदेश मे देवदत्तात्मा का सद्भाव असिद्ध है ।

दूसरी बात, अग्निज्वलन मे देवदत्तगुणजन्यत्वसिद्धि के लिये "क्योकि कार्य होते हुए देवदत्त के प्रति उपकारक है" ऐसा जो हेतुप्रयोग किया है वहाँ प्रश्न है कि 'कार्य होते हुए' ऐसा विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता है ? विशेषण तो क्वचित् सम्भव और क्वचित् व्यभिचार इन दोनों के होने पर लगाया जाय तभी सार्थक होता है । तो क्या आपने देवदत्तगुणजन्यत्व के विरह मे कही भी देवदत्त के प्रति उपकारकत्व देखा है जिससे व्यभिचार की शका पडे और उसके वारण के लिये 'कार्यत्वे सति' ऐसा कहना पडे ? यदि कहे कि-काल और ईश्वरादि मे देवदत्त के प्रति उपकारकत्व दिखता है और देवदत्तगुणजन्यत्व कालादि मे नही है अत व्यभिचार होता है, उसके वारण के लिये 'कार्य होते हुए' ऐसा कहा है, कालादि कार्यात्मक नही है, अत' पूरा सविशेषण हेतु कालादि मे न रहने से व्यभिचार नही होगा ।-तो यह ठीक नही है क्योकि काल-ईश्वरादि देवदत्तगुणपूर्वक न होने पर भी यदि देवदत्त के उपकारी बनेगे तो यत्किचित् कार्य (अग्निज्वलनादि) भी देवदत्तगुणजन्य न होने पर भी देवदत्त के उपकारी बन सकते है । अर्थात् अग्निज्वलनादि मे हेतु के रहने पर भी साध्य न होने की शका होने पर हेतु मे विपक्षव्यावृत्ति सदिग्ध हो जाने से हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा । तथा

तेन यदुक्तम्-'यस्मात् तदात्मनो गुणा अपि दूरदेशभाविनि तदगनांगेऽन्तराले चोपलभ्यन्ते तस्मात् सिद्धं तस्य सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्, अतः 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् आकाशवत्' इत्यनुमानबाधिता तदात्मस्वशरीरमात्रप्रतिज्ञा' इति, तन्निरस्तम्, सर्वेषां सर्वगतात्मप्रसाधकहेतूनां पूर्वमेव निरस्तत्वात्। अतो न स्वदेहमात्रव्यापकात्मप्रसाधकहेतोरसिद्धिः। नाप्यनुमानेन तत्पक्षबाधा। न च तद्देहव्यापकत्वेनैवोपलभ्यमानगुणोऽपि तदात्मा सर्वगतो निजदेहैकदेशवृत्तिर्वा स्याद् अविरोधात् संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः इति युक्तम्; वाय्वादावपि तथाभावप्रसंगतः प्रतिनियतदेशसम्बद्धपदार्थव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः। तथाहि-यद्यथा प्रतिभाति तत्तथैव सद्व्यवहारपथमवतरति, यथा प्रतिनियतदेशकालाकारतया प्रतिभासमानो घटादिकोऽर्थः, अन्यथा प्रतिभासमाननियतदेशकालाकारस्पर्शविशेषगुणोऽपि वायु. सर्वगतः स्यात्। न चात्र प्रत्यक्षबाधः, परेण तस्य परोक्षत्वोपवर्णनात्।

यह भी प्रश्न है कि 'देवदत्त सर्वज्ञ नही है क्योकि वह वक्ता है' इस प्रकार विशेषणरहित ही वक्तृत्व हेतु का जैसे नास्तिक की ओर से प्रयोग किया जाता है -वैसे यहाँ भी आप विशेषण के विना ही हेतुप्रयोग करें तो दोष क्या है ?-'अरे! कहा तो है कि काल-ईश्वरादि मे व्यभिचार होगा'- हाँ कहा तो है किन्तु वह ठीक नही है क्योकि कालादि तो नित्यस्वभाववाले है अत. वे तो किसी के भी उपकारक नही हो सकते।

तदुपरात, शत्रुशरीर के प्रध्वस का अभाव उसके प्रतिपक्षीयो के लिये कुछ न कुछ उपकारक कर्त्ता होता है तो वह ध्वसाभाव भी प्रतिपक्षीयो के गुणनिमित्तक मानना पडेगा। यदि वैसा मानेंगे तो विशेषणयुक्त हेतु वहाँ रहता न होने से हेतु भागाऽसिद्ध हो जायेगा क्योकि अभावनित्य होने से वहाँ कार्यत्व(विशेषण) रहता नही है। यदि उक्त ध्वसाभाव को देवदत्तगुणनिमित्तक नही मानेंगे तो अग्निज्वलनादि को भी उसी तरह देवदत्तगुणपूर्वकत्व के विना ही देवदत्त के प्रति उपकारक मान लिया जायेगा। अतः अग्निज्वलनादि के बल से देवदत्त के गुण की सिद्धि निरवकाश हो जायेगी।

[आहार कवल के दृष्टान्त में साध्यशून्यता]

तथा, आपने जो आहारकवल का दृष्टान्त दिया है उसमे जो देवदत्तगुणपूर्वकत्व आप सिद्ध मानते है वहाँ देवदत्तात्मा के कौन से गुण को हेतु मानेगे ? यदि धर्मादि को, तो वह भी सिद्ध करना होगा क्योकि उसमें विवाद है। अगर, प्रयत्न को हेतु मानेंगे तो वह स्वरूपासिद्ध है इसलिये उसका सम्भव नही है। जैसे देखिये-शरीरादि अवयवो मे आविष्ट आत्मप्रदेशो के स्पन्दन को प्रयत्न रूप नही माना जा सकता क्योकि स्पन्दन तो चलनक्रियारूप होने से गुणरूप नही है। यदि चलनक्रिया को गुणरूप मानेंगे तो गमनादि क्रिया भी गुणरूप ही मानी जायेगी। फलत. कर्म(=क्रिया) जैसा कही भी कोई पदार्थ ही नही रहेगा। उसके फलस्वरूप, द्रव्य का जो 'क्रियावत्त्व' लक्षण किया गया है वह अयुक्त हो जायेगा। यदि कहे कि 'आत्मा निष्क्रिय होने से उसमे कर्म जैसे किसी भी पदार्थ का सद्भाव न हो इसमे इष्टापत्ति है'-तो यहा प्रश्न है कि आत्मा मे निष्क्रियत्व कैसे सिद्ध हुआ ? यदि अमूर्त्त होने से, तो यह बात प्रत्यक्षबाधित है, क्योकि सभी लोगो को प्रत्यक्ष से यह अनुभव होता है कि 'हम एक देश से दूसरे देश मे जाते-आते है'। देखिये, यह व्यवहार भी होता है कि 'मैं आज मीर्फ एक योजन ही गया हूँ'। ऐसा नही कह सकते कि 'यहाँ गमनक्रिया की प्रतीति का विषय आत्मा नही किन्तु

यदि च स्वदेहैकदेशस्थित., कथं तत्र सर्वत्र सुखादिगुणोपलब्धिः ? इतरथा सर्वत्रोपलभ्यमान-गुणोऽपि वायुरेकपरमाणुमात्रः स्यात् । न च क्रमेण सर्वदेहभ्रमणात् तस्य तथा तत्रोपलब्धिः, युगपत् तत्र सर्वत्र सुखादेर्गुणस्योपलम्भात् । न चाशुवृत्तेर्यौगपद्याभिमानः, अन्यत्रापि तथाप्रसक्तेः, शक्यं हि वक्तुं घटादिरप्येकावयववृत्तिः आशुवृत्तेर्युगपत् सर्वेष्ववयवेषु प्रतीयत इति । अत एव सौगतोऽपि तत्रैकं *निरंशं ज्ञानं कल्पयन्निरस्तः, प्रत्यवयवमनेकसुखादिकल्पने सन्तानान्तरवत् परस्परमसंक्रमात् अनुस्यूतैकप्रतीतिविलोपः 'सर्वत्र शरीरे मम सुखम्' इति । अथ युगपद्भाविभिरेकशरीरवर्त्तिभिरनेक-निरंशक्षणिकसुखसवेदनैरेकपरामर्शविकल्पजननादयमदोषः । असदेतत्, अनेकोपादानस्य परामर्शविक-ल्पस्यैकत्वसम्भवे चार्वाकाभिमतैकशरीरव्यपदेशभागनेकपरमाणूपादानानेकविज्ञानाभावेऽपि तद्विकल्प-सम्भवात् । ततो यदुक्तं धर्मकीर्त्तिना त प्रति-"अनेकपरमाणूपादानमनेकं चेद् विज्ञानं सन्तानान्त-रवदेकपरामर्शाभाव." [ ] इति, तत्तस्य न सुभाषितं स्यात् ।

मन या शरीर है' क्योकि मन या शरीर 'अहं' इस प्रतीति का विषय नही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आहार कवल के दृष्टान्त मे देवदत्तगुणपूर्वकत्व रूप साध्य गायब है।

[आत्मा के गुण देह से अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते]

उपरोक्त रीति से जब देवदत्तगुणपूर्वकत्व ही कही सिद्ध नही हो सकता तो आपने जो पहले यह कहा था कि-जब देवदत्तात्मा के गुण भी दूरदेशवर्त्ती उसकी पत्नी के अंगदेश मे और बीच में भी उपलब्ध होते हैं तो इससे यह सिद्ध होगा कि उसके गुण सर्वत्र उपलब्ध है। फलतः 'आत्मा सर्वगत (व्यापक) है क्योकि उसके गुण सर्वत्रोपलब्ध हैं, उदा० आकाश" इस अनुमान से, देवदत्तात्मा उसके देहमात्र मे व्यापक होने की प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है . इत्यादि, यह सब इसलिये निरस्त हो जाता है कि सर्वगत आत्मा के साधक सभी हेतुओ का पहले ही निरसन किया जा चुका है। इसलिये अब अपने देह मात्र मे आत्म-व्यापकता के साधक हेतु मे असिद्धि दोष नही हो सकता। अनुमान से भी देहव्यापकता वाले पक्ष मे कोई बाधा प्रसक्त नही है।

यदि यह कहा जाय कि-"देवदत्त आत्मा के गुण सीर्फ देवदत्त के देह मे ही व्यापक भाव से उपलब्ध भले होते हो, फिर भी 'वह सर्वगत हो सकता है अथवा देह के किसी एक अवयव मे ही सकुचित होकर रहने वाला हो सकता है' ऐसी शका को अवकाश है, क्योकि सीर्फ देह मे ही व्यापक-भाव से गुणो के उपलम्भ को सर्वगतत्व के साथ अथवा 'सकुचितवृत्तित्व' के साथ विरोध नही है। इस प्रकार विपक्षरूप से सदिग्ध आत्मा मे से हेतु की व्यावृत्ति भी सदिग्ध हो जाने से देहमात्र व्याप-कत्व साधक हेतु अनैकान्तिक हो जाता है"-तो यह ठीक नही है। कारण, वायु आदि अन्य पदार्थो मे भी इस प्रकार की शका के प्रसग से पदार्थो के विषय मे यह अमुकदेश से ही सम्बद्ध है' इत्यादि व्यवहारो का उच्छेद हो जायेगा। जैसे देखिये-जो जैसे प्रतीत होता है वह उसी रूप से सत् व्यवहार का विषय होता है। जैसे-अमुक ही देश-काल और आकार के रूप मे भासमान घटादि अर्थ का उसी देश-काल और आकार के रूप मे व्यवहार होता है। यदि ऐसा नही मानेंगे तो, वायु का स्पर्शविशेष गुण नियत देश-काल-आकार से भासमान होने पर भी उसको सर्वदेशव्यापक मानने की आपत्ति होगी।

---

*उपा० यशोविजयविरचिते न्यायालोके [पृ० ४७--२] 'निरंश' इत्यस्य स्थाने 'निरंतर' इति पाठ ।

यच्च 'सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशंस्तदात्मा सावयवः स्यात्, तथा, पटवत् समानजातीयारब्धत्वाच्च तद्वद् विनाशवांश्च स्यात्' इति, तदपि न सम्यक्, घटादिना व्यभिचारात्-घटादिर्हि सावयवोऽपि न तन्तुवत् प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वकः, मृत्पिण्डात् प्रथममेव सावयवत्वरूपाद्यात्मनः प्रादुर्भावादिति निरूपयिष्यमाणत्वात्। अपि च, यदि तदात्मनः कथंचिद्विनाशः प्रतिपादयितुमिष्टः समानजातीयावयवारब्धत्वात् तदा सिद्धसाधनम्, तदभिन्नसंसार्यवस्थाविनाशेन तद्रूपतया तस्यापि नष्टत्वात्। अथ सर्वात्मना सर्वथा नाशः, स घटादावप्यसिद्ध इति साध्यविकलो दृष्टान्तः। यदि च तदहर्जातबालात्मा प्रागेकान्तेनाऽसंस्तथाऽवयवैरारभ्येत तदा स्तनादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, तदभिलाष-प्रत्यभिज्ञान-स्मरण-दर्शनादेरभावात्। 'तदारम्भकावयवाना प्राक्सतां विषयदर्शनादिकम्' इति चेत्? तर्हि तेषामेव तदहर्जातवेलायां तन्वन्तराणामिव तत्र प्रवृत्तिः स्यान्नात्मन', स्मरणाद्यभावात्। कारणगमने तस्यापि सर्वत्र सा स्यात्, "कारणसयोगिना कार्यमवश्य संयुज्यते" [ ] इति वचनात् न तस्य विषयानुभवाभावः, भेदैकान्ते चास्याः प्रक्रियायाः समवायनिषेधेन निषेधात्।

यदि कहे कि-वायु तो प्रत्यक्ष से ही नियत देश-काल-आकार से उपलब्ध होता है अत. आपकी आपत्ति का विषय प्रत्यक्षबाधित है-तो यह ठीक नही क्योकि आप तो वायु परोक्ष होने का वर्णन करते आये है।

[देह में आत्मा की संकुचित वृत्ति मानने में बाधक]

तथा यह भी प्रश्न है कि आत्मा को यदि सकुचितरूप से देह के किसी एकभाग मे पर्याप्त मानेगे तो सारे देह मे सुखादि गुणो की उपलब्धि होती है वह कैसे होगी? गुणो की उपलब्धि विवक्षित देश मे सर्वत्र होने पर भी यदि गुणी को उसके एक भाग मे ही अवस्थित कहेगे तो विवक्षित देश मे सर्वत्र वायु के स्पर्शविशेष गुण की उपलब्धि होने पर भी उस देश के एक सूक्ष्म भाग मे परमाणुरूप से ही वायु की सत्ता मानने की आपत्ति होगी। यदि कहे कि-आत्मा देह के एक भाग मे होने पर भी सारे देह मे घुमता रहता है इसलिये उसके गुणो की सारे देह मे उपलब्धि होती है-तो यह भी ठीक नही, क्योकि देह के सभी भागो मे एक साथ ही सुखादि गुणो की उपलब्धि होती है। यदि कहे कि-एक साथ सुखादि गुणो की उपलब्धि यह वास्तव मे शीघ्रता के कारण एकसाथ उपलब्धि का अभिमान मात्र है-तो यह ठीक नही, क्योकि दूसरे स्थलो मे भी ऐसा तर्क प्रसक्त होगा। तात्पर्य यह है कि कोई ऐसा भी कहेगा कि घटादि अवयवी सर्व अवयवो मे नही रहता किन्तु एक ही अवयव मे रहता है, सीर्फ शीघ्रभ्रमण के कारण सभी अवयवो मे वह उपलब्ध होता है। इसी तर्क से बौद्ध भी कल्पना करता हुआ निरस्त हो जाता है। शरीर के एक एक अवयवो मे एक और निरंश ज्ञान होने की बौद्ध के कथनानुसार यदि प्रत्येक शरीर अवयवो मे अनेक ज्ञान-सुखादि की कल्पना करेंगे तो, जैसे एक सन्तान से अन्य सतान मे वासना का सक्रम नही होता उसी तरह एक अवयव मे से अन्य अवयवो मे सुखादि का सक्रम न हो सकेगा, फलतः 'मुझे सारे देह मे सुख हुआ' यह समग्र देह मे अनुगत एक सुखानुभव प्रतीनि का विलोप हो जायेगा। यदि कहे-कि-एक शरीर के भिन्न भिन्न अशों मे एक साथ होने वाले अनेक निरश सुखसवेदनो से एक परामर्शस्वरूपविकल्प के उत्पादन से उक्त प्रतीति के विलोप का दोष नही होगा तो यह ठीक नही क्योकि यदि इस प्रकार अनेक उपादानो से एक परामर्शविकल्प का उद्भव माना जाय तो चार्वाक के मत मे भी एकशरीररूप मे प्रसिद्धिवाले अनेक परमाणुओ के उपादानो से अनेक विज्ञान उत्पन्न होने पर भी एक परामर्शविकल्प का उद्भव

अथ कारणगुणप्रक्रमेण तत्र दर्शनादयो गुणा वर्ण्यन्ते, तेऽपि प्रागसन्त एव जायन्त इति, एवमपि न किंचित् परिहृतम्। एतेन "अवयवेषु क्रिया, क्रियातो विभाग, तत संयोगविनाशः, ततोऽपि द्रव्यविनाश" [ ] इति परस्याकूतं पूर्वभवान्ते तथा तद्विनाशे आविजन्मनि स्मरणाद्यभावप्रसंगान्निरस्तम्। न चायमेकान्तः-कटकस्य केयूरभावे कुतश्चिद् भागेषु क्रिया, विभागः, संयोगविनाशः, द्रव्यनाशः, पुनस्तदवयवाः केवला, तदनन्तरं कर्म-संयोगक्रमेण केयूरभावः प्रमाणगोचरचारी। केवलं सुवर्णकारव्यापारात् कटकस्य केयूरीभाव पश्यामः, अन्यथाकल्पने प्रत्यक्षविरोधः। नहि पूर्वं विभागः ततः संयोगविनाश इति, तद्रूदानुपलक्षणाच्चैतन्य-बुद्धिवत्। न चैकान्तेन तस्याऽक्षणिकत्वे सुखसाधनदर्शनादयः सम्भवन्तीत्यसकृदावेदितमावेदयिष्यते चेत्यास्तां तावत्। ततो नानैकान्तिको हेतु, विपक्षेऽसम्भवात्। अत एव न विरुद्धोऽपि इति भवत्यत सर्वदोषरहितात् केशनखादिरहितशरीरमात्रव्यापकस्य विवादाध्यासितस्यात्मनः सिद्धिरिति साधूक्तम्-'ठाणमणोवमसुहमुवगयाण' इति।

सम्भव हो सकेगा। फिर धर्मकीर्ति का जो यह कथन है कि अनेक परमाणु उपादानो से विज्ञान यदि अनेक उत्पन्न होने का मानेंगे तो अन्य सन्तान के साथ जैसे एक परामर्श नही होता वैसे उन विज्ञानों मे भी एक परामर्श नही हो सकेगा-यह कथन दुर्भाषित हो जायेगा, सुभाषित नही।

[आत्मा में नश्वरता की आपत्ति नहीं है]

यह जो कहा जाता है कि-शरीर सावयव होता है, आत्मा का अनुप्रवेश यदि प्रत्येक देहावयव मे मानेंगे तो आत्मा को भी देहवत् सावयव मानना पडेगा, आत्मा को सावयव मानने पर उसे समान जातीय अवयवो से जन्य भी मानना होगा जैसे कि वस्त्र। अत एव आत्मा को भी वस्त्र की तरह विनाशशील मानना होगा।-तो यह ठीक नही है। कारण, घटादि मे ही आपका नियम टूट जाता है। घटादि सावयव तो होता है किन्तु तन्तुरूप अवयवो के संयोग से उत्पन्न वस्त्र की तरह वह समानजातीय अवयवो से आरब्ध नही होता, अर्थात् पूर्व मे प्रसिद्ध समानजातीय कपालो के सयोग से घट उत्पन्न नहीं होता किन्तु मिट्टीपिंड मे से अपने अवयवो से अभिन्नरूप मे पहले ही घट की उत्पत्ति होती है इसका हम आगे निरूपण करेंगे। और यदि आप समानजातीय अवयवो से जन्यत्व हेतु से देवदत्तात्मा के कथंचिद् विनाश का प्रतिपादन करना चाहते है तो हमारे प्रति यह सिद्धसाधन होगा। कारण देवदत्तात्मा से अभिन्न ससारी अवस्था के विनाश से तद्रूप से देवदत्तात्मा का नाश भी हो ही जाता है [और मुक्तावस्था से उत्पत्ति भी होती है]। यदि आप सर्वात्मना सर्वरूप से आत्मा के विनाश की वात करेंगे तो ऐसा नाश दृष्टान्तभूत घटादि मे ही असिद्ध होने से दृष्टान्त साध्यशून्य फलित होगा। एकान्त नाश जैसे अघटित है वैसे एकान्त से उत्पत्ति भी अघटित है। कारण, उसी दिन पैदा हुए वालात्मा को पूर्वकाल मे यदि एकान्त से असत् होता हुआ अपने अवयवो से उत्पन्न होने वाला मानेंगे तो उस दिन उसको स्तन्यपान मे प्रवृत्ति नही होगी, क्योंकि उसके पूर्व-पूर्व कारणभूत अभिलाष, प्रत्यभिज्ञा, स्मरण, दर्शनादि का सद्भाव ही नही है। यदि कहे कि-पूर्वकाल मे सत्तावाले उसके जनक अवयवो को विषय का दर्शन-स्मरणादि सब हो गया है अत स्तन्यपान की प्रवृत्ति घटित होगी। -तो यह ठीक नही है, क्योकि अन्य शरीरो मे पूर्वप्रवृत्तविषयदर्शनादि से सीर्फ उन शरीरो मे ही प्रवृत्ति होती है न कि अन्य किसी मे, तो उसी तरह पूर्वतन सत्तावाले अवयवो के विषयदर्शनादि से नवजात वाल की जन्म वेला मे उन अवयवो की ही प्रवृत्ति हो सकती है, नवजात वालक आत्मा की नही, क्योंकि उसको पूर्व मे स्मरणादि कारण का अभाव है। यदि ऐसा कहा जाय कि-कारणभूत अव-

यवों के विषयदर्शनादि से हम कार्यभूत नवजात बालात्मा मे प्रवृत्ति होने का कारणकार्यभाव मानेंगे, तो इस तरह सर्वत्र प्रवृत्ति मानने की आपत्ति आयेगी क्योकि आपका ही यह वचन है कि 'कारण के साथ जिसका सयोग होता है उसका कार्य के साथ सयोग हो ही जाता है'। अतः किसी मे भी विषयानुभव का अभाव नही रहेगा।

तदुपरात, दर्शनादि को आत्मा से यदि एकान्त भिन्न मानेगे तो आत्मा के साथ उसका कोई सम्बन्ध न हो सकने से दर्शन-स्मरणादि प्रक्रिया का ही उच्छेद प्रसक्त होगा, क्योकि समवायसम्बन्ध का तो निराकरण हो चुका है।

[क्रियादि क्रम से द्रव्यनाश की प्रक्रिया का निरसन]

यदि नवजात शिशु मे दर्शनादि गुणो की उत्पत्ति कारणगतगुणो की परम्परा से (अर्थात् (कारणगत गुणो से कार्यगत गुणो की उत्पत्ति, इस प्रकार) मानेंगे, और यह उत्पत्ति भी यदि सर्वथा पूर्वकाल मे अविद्यमान ही गुणो की मानेंगे तो-इससे भी पूर्वोक्त दोष का परिहार नही होता, क्योकि इस प्रकार से भी स्मरणादि की उपपत्ति नही की जा सकती। किसी भी वस्तु का एकान्त विनाश और सर्वथा पूर्व मे असत् की उत्तरकाल मे उत्पत्ति मानने पर स्मरणादि अभाव का दोष प्रसक्त होता है इसी लिये वैशेषिक विद्वानो की जो यह प्रक्रिया है कि-प्रथम अवयवी द्रव्य के अवयवो मे क्रिया की उत्पत्ति, तदनन्तर उन अवयवो में विभागगुण का उद्भव, उसके बाद अवयवीद्रव्यजनक संयोग का विनाश और उससे द्रव्य का विनाश होता है-इस प्रक्रिया का अभिप्राय भी निरस्त हो जाता है। क्योकि अवयवजन्य आत्म पक्ष मे, पूर्वभव के अन्त मे तो अवयवी आत्मा का सर्वथा नाश हो जायेगा फिर इस जन्म के प्रारम्भ मे बालक आत्मा को स्मरणादि कैसे होगा ? नही हो सकेगा। तथा, वैशेषिको का दिखाया हुआ क्रम-कटक (अलकारविशेष) द्रव्य से केयूर की उत्पत्ति मे लक्षित भी नही होता, अर्थात् कटकद्रव्य के कुछ अवयवो मे क्रिया का उद्भव, उससे उन मे विभागगुण की उत्पत्ति, उससे आरम्भक सयोग का ध्वस, उससे कटकद्रव्य का विनाश और सीर्फ अवयवो की ही सत्ता, उसके बाद फिर से उनमे क्रिया-संयोगादि क्रम से केयूर की उत्पत्ति, ऐसा क्रम किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही है। सीर्फ सुवर्णकार के प्रयत्न से कटकद्रव्य से ही केयूर का उद्भव दिखाई देता है, अतः विपरीत कल्पना करने मे प्रत्यक्ष का विरोध मोल लेना होगा। तथा पहले विभाग गुण का उद्भव और उससे संयोगनाश-इन दोनो मे भी कोई अन्तर नही है सीर्फ शब्दभेद ही है, जैसे की चैतन्य और बुद्धि शब्द मे शब्दभेद के अलावा कुछ अन्तर नही है। तथा आत्मा को सांख्यमत की तरह एकान्त अक्षणिक मानने मे सुखसाधना और दर्शन-स्मरणादि का सम्भव भी नही रहता है-यह बात कई बार पहले कह दी गयी है और आगे भी कही जायेगी इस लिये अभी उसको जाने दो। प्रस्तुत बात यह है कि आत्मा के देहपरिणाम की सिद्धि के लिये उपन्यस्त हेतु विपक्ष मे न रहने से अनैकान्तिक दोष निरवकाश है। जब अनैकान्तिक दोष का संभव नही तो विरोध दोष का तो संभव सुतरां निषिद्ध हो जाता है क्योकि अनैकान्तिक दोष विरोध का व्यापकीभूत है। इस प्रकार सर्वदोषविनिर्मुक्त हेतु से विवादाध्यासित आत्मा केश और नखादि को छोडकर सारे देहमात्र मे ही व्यापक परिमाण वाला है-यह सिद्ध होता है। निष्कर्ष, मूल ग्रन्थकार ने जो 'जिनो' का विशेषण कहा है 'अनुपमसुखवाले स्थान मे पहुँचे हुए' यह देह व्यापक आत्म पक्ष मे अत्यन्त संगत ही कहा है इसमे कोई सदेह नही है। [आत्मविभुत्वनिराकरणवाद समाप्त]

[मुक्तिस्वरूपमीमांसा]

यदपि 'आत्यन्तिकबुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदविशिष्ट आत्मा मुक्ति.' इति तदप्यप्रमाणकम्।

अथ तथाभूतमुक्तिप्रतिपादकं प्रमाणं विद्यते। तथाहि-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, यथा प्रदीपसंतानः, तथा चायं सन्तानः, तस्मादत्यन्तमुच्छिद्यते इति। सन्तानत्वस्य च व्याप्त्या बुद्ध्यादिषु सम्भवात् पक्षधर्मतयाऽसिद्धताऽभावः। तत्समानधर्मिणि धर्मिणि प्रदीपादावुपलम्भादविरुद्धत्वम्। न च विपक्ष परमाण्वादावस्तोत्यनैकान्तिकत्वाभाव., विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षाऽऽगमयोरनुपलम्भात् न कालात्ययापदिष्ट., न चाय सत्प्रतिपक्ष इति पञ्चरूपत्वात् प्रमाणम्।

न च निर्हेतुकविनाशप्रतिषेधात् सन्तानोच्छेदे हेतुर्वाच्यः यतः समुच्छिद्यत इति, तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वेन प्रतिपादनात्। उपलब्धं च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामर्थ्यं शुक्तिकादौ-न च मिथ्याज्ञानेनाप्युत्तरकालभाविना सम्यग्ज्ञानस्य विरोधः सम्भवति, सन्तानोच्छित्तेर्विवक्षितत्वात्। यथा हि सम्यग्ज्ञानात् मिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदः नैवं मिथ्याज्ञानात् सम्यग्ज्ञानसन्तानस्य, तस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वात्-निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वात् रागादयो न भवन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादात्, रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिर्व्यावर्त्तते, तदभावे च धर्माऽधर्मयोरनुत्पत्तिः, आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात् प्रक्षय इति, सञ्चितयोश्च तयोः प्रक्षयस्तत्त्वज्ञानादेव। तदुक्तम्-[भ० गी० ४-३७] 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुते क्षणात्। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'' ॥

[आत्मा की मुक्तावस्था कैसी होती है !]

न्यायमत मे कहा जाता है कि आत्मा मे से बुद्धि आदि विशेषगुणो का सर्वथा उच्छेद हो जाय ऐसी अवस्था से विशिष्ट आत्मा ही मुक्ति है। व्याख्याकार कहते हैं कि यह बात प्रमाणशून्य है। अब नैयायिक विद्वान् अपने मत का समर्थन करते हुए कहते हैं-

[विशेषगुणोच्छेदस्वरूपमुक्ति-नैयायिक पूर्वपक्ष]

पूर्वोक्त स्वरूप वाली मुक्ति का समर्थक अनुमान प्रमाण मौजूद है। देखिये-"आत्मा के नव विशेषगुणो (बुद्धि-सुख-दुख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सस्कार-धर्म-अधर्म) की परम्परा का सर्वथा विनाश भी होता है क्योकि वह सन्तानात्मक है, जो जो सन्तानात्मक होता है उसका कभी सर्वथा ध्वस होता ही है जैसे दीप का सतान, विशेष गुणो की परम्परा भी सन्तानात्मक है अत: उसका भी सर्वथा विनाश होता है।"-इस अनुमान से मुक्तिदशावाले आत्मा मे बुद्धि आदि का सर्वथा ध्वस सिद्ध होता है। यहाँ हेतु मे असिद्धि दोष नही है क्योकि बुद्धि आदि विशेषगुणो मे व्यापकरूप से सन्तानात्मकता सम्भवित है और प्रसिद्ध भी है अत: हेतु सन्तानात्मकता बुद्धि आदि पक्ष मे विद्यमान धर्म रूप हैं। हेतु मे विरोध दोष भी नही है क्योकि बुद्धि आदि पक्ष का समान धर्मी (यानी सपक्ष) रूप प्रदीपादि धर्मी मे सन्तानात्मकता और सर्वथा ध्वस ये दोनो हेतु-साध्य का सामानाधिकरण्य प्रसिद्ध है। साध्य जहाँ नही है ऐसे विपक्षभूत परमाणु आदि मे सन्तानात्मकता भी नही होती अत: हेतु मे साध्यद्रोह का दोष भी नही है। बुद्धि आदि सन्तान मे साध्य से विपरीत अर्थ का प्रतिपादक कोई भी प्रत्यक्ष

अथोपभोगादपि प्रक्षये "नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [ ] इत्यागमोऽस्ति, तथा च विरुद्धार्थत्वादुभयोरेकत्रार्थे कथं प्रामाण्यम् ? उपभोगाच्च प्रक्षयेऽनुमानोपन्यासमपि कुर्वन्ति- 'पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मत्वात्, यद् यत् कर्म तत् तद् उपभोगादेव क्षीयते, यथाऽरब्धशरीरं कर्म, तथा चैतत् कर्म, तस्मादुपभोगादेव क्षीयते' इति । न चोपभोगात् प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यंभावात्

या आगम प्रमाण उपलब्ध नही है अतः हेतु मे कालात्ययापदिष्ट (बाध) दोष भी नही है। तथा विपरीतार्थ का साधक कोई प्रतिपक्षी हेतु भी नही है। इस प्रकार पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्ष मे अवृत्तित्व, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व ये पाँच हेतु के रूप प्रस्तुत हेतु मे विद्यमान होने से, यह अनुमान बुद्धिआदि विशेषगुण शून्य मुक्ति की सिद्धि मे ठोस प्रमाण है।

[मुक्ति का हेतु तत्त्वज्ञान]

ऐसा कहने की जरूर नही है कि-'नैयायिक विद्वानो ने नाश निर्हेतुक होने का निषेध किया है अतः जिस हेतु से उक्त सन्तान का उच्छेद होता हो ऐसे हेतु को दिखाना चाहिये।' जरूर न होने का कारण यह है कि हमने (नैयायिको ने) विपरीत ज्ञान के क्रमशः व्यवच्छेद से, प्रमाणादि सोलह तत्त्वों के ज्ञान को मोक्ष का हेतु कहा ही है। सीप आदि स्थल मे, रजत के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करने का सामर्थ्य सम्यग्ज्ञान मे ही होता है यह देखा हुआ है। पूर्वकालीन मिथ्याज्ञान से उत्तरकालीन सम्यग्ज्ञान का ही विरोध होने की तो सम्भावना ही नही है, क्योकि यहाँ विरोध का तात्पर्य सन्तानो-च्छेद की विवक्षा में है। अर्थात्, मिथ्याज्ञान के सन्तान का सम्यग्ज्ञान से उच्छेद होता है यह सुविदित है किन्तु मिथ्याज्ञान से सम्यग्ज्ञान के सन्तान का कभी उच्छेद नही होता है, क्योकि सम्यग्ज्ञान सत्य अर्थ पर अवलंबित होने से बलवान् होता है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर मिथ्याज्ञानमूलक रागादि का उद्भव भी रुक जाता है, क्योकि कारण न होने पर कार्योत्पत्ति नही होती। रागादि के न होने पर तन्मूलक प्रवृत्ति भी रुक जाती है। प्रवृत्ति के विरह मे धर्म और अधर्म का उद्भव रुक जाता है। ऐसे धर्म और अधर्म जिन के विपाक से उन का फलजनन शुरु हो गया है ऐसे धर्म-अधर्म का उपभोग से ही क्षय होता है। जब कि संचित (सुषुप्त) धर्माधर्म का क्षय तो तत्त्वज्ञान से ही हो जाता है। गीता शास्त्र में कहा भी है कि-

जैसे समृद्ध अग्नि पलमात्र में इन्धन को जला देता है वैसे ज्ञानरूप अग्नि भी सभी कर्मो को भस्मसात् कर देता है।

[उपभोग से ही कर्मविनाश की उपपत्ति]

संचित कर्म का विनाश तत्त्वज्ञान से होने का कहा उसमे यह विवेकपूर्ण मीमासा करना आवश्यक है कि उपभोग से भी कर्म क्षीण होते हैं इस तथ्य का प्रतिपादक यह आगम वचन है कि- 'अब्जो युग बीत जाने पर भी भोग के विना कर्म का क्षय नही होता है'। दूसरी ओर तत्त्वज्ञान से कर्मक्षय दिखाया जाता है। एक ही अर्थ के विषय मे परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक दोनो विधान में प्रामाण्य कैसे हो सकता है ? तथा उपभोग से ही कर्मक्षय होता है-इस तथ्य मे अनुमान प्रमाण भी दिखाया जाता है-पूर्व कर्म उपभोग से ही क्षीण होते है क्योकि वे कर्म हैं, जो जो कर्म होता है

संसारानुच्छेदः, समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावाप्ताशेष-भोगस्य कर्मान्तरोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनितानुसन्धानविकलस्य कर्मान्तरोत्पत्त्यनुपपत्तेः । न च मिथ्याज्ञानाभावेऽभिलाषस्यैवाऽसम्भवाद् भोगानुपपत्तिः, तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तेर्ज्ञानतोऽपि तदर्थितया प्रवृत्तेः वैद्योपदेशादातुरस्येवौषधाद्याहरणे, ज्ञानमप्येवमशेषशरीरोत्पत्तिद्वारेणोपभोगात् कर्मणां विनाशे व्यापारादग्निरिवोपचर्यते इति व्याख्येयम्, न तु साक्षात् । न चैतद् वाच्यम्-तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानात् इतरेषां तूपभोगादिति, ज्ञानेन कर्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात् । न च मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य सहकारिणोऽभावात् विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरशरीराण्यारभन्ते इत्यभ्युपगमः श्रेयान्, अनुत्पादितकार्यस्य कर्मलक्षणस्य कार्यवस्तुनोऽप्रक्षयान्नित्यत्वप्रसक्तेः ।

अथ अनागतयोर्धर्माधर्मयोरुत्पत्तिप्रतिषेधे तज्ज्ञानिनो नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं कथम् ? प्रत्यवायपरिहारार्थम् । तदुक्तम्-[ ]

नित्य-नैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत् ।।
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः । केवलं काम्ये निषिद्धे च प्रवृत्तिप्रतिषेधतः ।।
तदुक्तम्-नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया । मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्य-निषिद्धयोः ।।

अत एव विपर्ययज्ञानध्वंसादिक्रमेण विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्त्यभ्युपगमे न तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्, विशेषगुणोच्छेदस्य प्रध्वंसत्वात् तदुपलक्षितात्मनश्च नित्यत्वादिति, कार्यवस्तुनश्चाऽनित्यत्वम् । न च बुद्ध्यादिविनाशे गुणिनस्तथाभावः, तस्य तत्तादात्म्याभावात् ।

वह उपभोग से ही नष्ट होता है, उदा० शरीरजनक कर्म, पूर्व कर्म भी कर्मात्मक ही हैं इसलिये उपभोग से ही वे नष्ट हो सकते है। यदि शका हो कि-उपभोग से यदि कर्मक्षय मानेंगे तो उपभोग से अन्य कर्मो का बन्ध भी अवश्य होने से ससार की परम्परा चलती ही रहेगी-तो यह ठीक नही है, समाधिबल से जिसने तत्त्वज्ञान कर लिया है वह कर्म के सामर्थ्य को (यह कर्म कितना उपभोग कराने मे समर्थ है ऐसा) जानकर उसके अनुसार एक साथ उतने शरीरो को धारण कर लेता है और इस तरह कर्मफल का उपभोग कर लेता है फिर भी उसको नये कर्मो का बन्ध नही होता, क्योकि नये कर्म की उत्पत्ति का निमित्त मिथ्याज्ञानजन्य 'देह मे आत्मबुद्धि' स्वरूप अनुसन्धान है जो तत्त्वज्ञानी को नही होता है।

[तत्त्वज्ञानी की भी भोग में प्रवृत्ति युक्तियुक्त]

तत्त्वज्ञानी को भोगाभिलाषा होने का सम्भव ही नही है फिर वह भोग करेगा ही कैसे ? इस का उत्तर यह है कि तत्त्वज्ञानी यह जानता है कि उपभोग के विना कर्मक्षय होने वाला नही है, स्वय कर्मक्षयार्थी होने के कारण तत्त्वज्ञानी की उक्त ज्ञान से ही उपभोग मे प्रवृत्ति हो जाती है, उसके लिये भोगाभिलाषा की आवश्यकता नही है। जैसे दर्दी को कटु औषध पान की अभिलाषा न होने पर भी वैद्य के उपदेश से रोगनाश के लिये उसमे प्रवृत्ति होती है। तत्त्वज्ञान से मोक्ष होने का जो गीता मे कहा है उसकी भी यही व्याख्या है कि कर्मनाश के लिये आवश्यक सपूर्ण कर्मव्यूह के द्वारा उस कर्म का भोग कर के नाश करने मे तत्त्वज्ञान व्यापार रूप है इसीलिये उपचार से उसको अग्नि जैसा कहा है। वास्तव मे वह अग्नि की तरह साक्षात् कर्मविनाशक नही है। अतः 'तत्त्वज्ञानीओं को कर्मनाश तत्त्वज्ञान से होता है और दूसरो को उपभोग से होता है'-यह कहने लायक नही रहा, क्योकि ज्ञान से कर्म का नाश होने मे कोई भी प्रसिद्ध उदाहरण ही नही है। कर्म की सत्ता रहने पर तत्त्वज्ञानी का

अथ मोक्षावस्थायां चैतन्यस्याप्युच्छेदात्र कृतबुद्धयस्तत्र प्रवर्त्तन्त इत्यानन्दरूपात्मस्वरूप एव मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः। यथा तस्य चित्स्वभावता नित्या तथा परमानन्दस्वभावताऽपि। न चात्मनः सकाशाच्चित्स्वभावत्वमानन्दस्वभावत्व वाऽन्यत्, अनन्यत्वेन श्रुतौ श्रवणात् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृहदा० उ० अ० ३, ब्रा० ९ मं० २८] इति। तस्य तु परमानन्दस्वभावत्वस्य संसारावस्थायामविद्या-

पुनर्जन्म क्यो नही होता ऐसे प्रश्न का यह मानकर यदि समाधान किया जाय कि तत्त्वज्ञानी को मिथ्याज्ञानमूलक सस्कार रूप सहकारी कारण न होने से, पूर्व कर्मो के रहने पर भी नया जन्म नही लेना पडता है–तो यह समाधान ठीक नही है। क्योकि कर्म स्वय कार्यरूप है, जब तक उसका फल उत्पन्न नही होगा तब तक उसका विनाश भी नही होगा तो वे कर्म नित्य अवस्थित हो जाने की आपत्ति होगी। अर्थात् तत्त्वज्ञानी कभी कर्ममुक्त नही हो सकेगा।

[नित्यनैमित्तिक अनुष्ठान का प्रयोजन]

यदि पूछा जाय कि जब आप तत्त्वज्ञान के बाद भावि धर्म-अधर्म की उत्पत्ति रुक जाने का कहते है तो फिर तत्त्वज्ञानी को नित्य (सध्योपासनादि) और नैमित्तिक (ग्रहण के दिन दानादि) कृत्यों को करने की जरूर क्या ? तो उत्तर यह है कि नित्य और नैमित्तिक कृत्य न करने पर जो नुकसान होने वाला है यानी अशुभ कर्मबन्ध होता है उससे बचने के लिये नित्य-नैमित्तिक कृत्य ज्ञानी को भी करना होता है। कहा है—

"नित्य और नैमित्तिक कृत्यो से पापकर्म का क्षय करता हुआ (साधक आत्मा) ज्ञान को निर्मल करता हुआ, अभ्यास से ज्ञान को परिपक्व करे।" "अभ्यास से ज्ञान परिपक्व हो जाने पर मनुष्य कैवल्य को प्राप्त करता है, काम्य और निषिद्ध कार्यो मे प्रवृत्ति के रुक जाने से केवल होता है।" तथा कहा है कि–"नुकसान से बचने के लिये नित्य–नैमित्तिक कृत्य करते रहे, काम्य और निषिद्ध कृत्यो मे मुमुक्षु की प्रवृत्ति नही होती है।"

पूर्वोक्त अनुमान से इस प्रकार बुद्धि आदि विशेषगुणो के उच्छेद विशिष्ट आत्मस्वरूप मुक्ति का स्वीकार करने पर यदि कोई ऐसा कहे कि–विपर्ययज्ञान के क्रमशः नाश से तत्त्वज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाली मुक्ति तत्त्वज्ञान का कार्य होने से स्वय भी (अनित्य=) विनाशी होने की आपत्ति आयेगी–तो यह ठीक नही क्योकि विशेषगुणोच्छेद तो ध्वसात्मक है, इसलिये वह सदा स्थायी ही होता है और उससे उपलक्षित आत्मा स्वय ही नित्य होता है। अनित्य वही होता है जो कार्यभूत होते हुए वस्तु (भाव)स्वरूप हो। ध्वस कार्य होने पर भी भावात्मक नही है और आत्मा भावात्मक होने पर भी कार्यभूत नही है अतः अनित्यत्व की आपत्ति कहीं भी नही है। यह भी नहीं कह सकते कि–'बुद्धि आदि गुणो का नाश होने पर गुणवान् आत्मा भी नष्ट हो जायेगा'–क्योकि गुण और गुणी का न्यायमत मे तादात्म्य नही होता जिस से कि गुण के नाश से गुणी के नाश की आपत्ति हो।

[मुक्ति परमानन्दस्वरूप-वेदान्तपक्ष]

मोक्षावस्था मे सुख की सत्ता मानने वाले प्रतिवादि यहाँ नैयायिक के समक्ष वाद प्रस्तुत करते कहते है कि-मोक्षावस्था मे यदि चैतन्य का उच्छेद माना जाय तो फिर बुद्धिमान लोग मोक्ष के लिये प्रवृत्ति हो नही करेंगे, अतः आनन्दमय आत्मस्वरूप को ही मोक्ष मानना चाहिये। आत्मा में चैत-

संसर्गादप्रतिपत्तिरात्मनोऽव्यतिरिक्तस्यापि, यथा रज्ज्वादेर्द्रव्यस्य तत्त्वाऽग्रहणाऽन्यथाग्रहणाभ्यां स्वरूपं न प्रकाशते यदा त्वविद्यानिवृत्तिस्तदा तस्य स्वरूपेण प्रकाशनम्, एवं ब्रह्मणोऽपि तत्त्वाऽग्रहाऽन्यथा-ग्रहाभ्यां भेदप्रपञ्चसंसर्गाद्वानन्दादिस्वरूपं न प्रकाशते । मुमुक्षुयत्नेन तु यदाऽनाद्यविद्याव्यावृत्तिस्तदा स्वरूपप्रतिपत्तिः, सैव मोक्षः । अत एवोक्तम्—

"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" [ ] इति, 'ब्रह्मणः' इति च सुखस्य षष्ठ्या व्यतिरेकाभिधानेऽपि न भेदस्तन्महत्त्ववत्, संसारावस्थायां त्वप्रतिभासात् तथा तस्य व्यतिरे-काभिधानम् । यथाऽऽत्मनो महत्त्वं निजो गुणो न च ससारावस्थायामात्मग्रहणेऽपि प्रतिभाति तद्वन्नित्य सुखमविद्यासंसर्गात् मुक्ते पूर्वमात्माऽव्यतिरिक्त तद्धर्मो वा न प्रतिभाति । महत्त्ववत् सर्वेश्वरत्वं सदा प्रबुद्धत्वं सत्यसकल्पादित्वं च ब्रह्मस्वभावमपि न प्रकाशते अविद्यासंसर्गात् । अनाद्यविद्योच्छेदे तु स्व-रूपावस्थे ब्रह्मणि तेषां प्रतिभासस्तद्वत् परमानन्दस्वभावत्वस्यापीति ।

असदेतद्–अप्रमाणकत्वात् । तथाहि–न तावदेवंविधोऽभ्युपगमः प्रेक्षावताऽप्रमाणकोऽङ्गीकर्तुं युक्तः, अतिप्रसंगात् । प्रमाणवत्त्वे च प्रत्यक्षानुमानागमेभ्योऽन्यतमद् वक्तव्यम् । तत्र न तावत् प्रत्य-क्षमेतदर्थव्यवस्थापकम्, अस्मदादीन्द्रियजन्यप्रत्यक्षस्यात्र वस्तुनि व्यापारानुपलम्भात् । 'योगिप्रत्यक्षं त्वेव प्रवर्त्तते उतान्यथा' इत्यत्रापि विवादगोचरम् ।

न्यस्वभाव जैसे नित्य होता है वैसे परमानन्दस्वभाव भी नित्य ही होता है । तथा, आत्मा से चैतन्य-स्वभाव अथवा सुखस्वभाव भिन्न नही है, उपनिषद् मे उसे अभिन्न ही दिखाया गया है, जैसे कि बृहदा-रण्यक मे कहा है कि 'ब्रह्म विज्ञान(मय) और आनन्द(मय) है' ।

यदि कहे कि–आनन्दस्वभाव नित्य है तो उसका अनुभव क्यो नही होता ?–तो उत्तर यह है कि आत्मा परमानन्दस्वभाव होने पर भी सासारिक अवस्था मे अनादिकालीन अविद्या के कुसंग के कारण आत्मा से अभिन्न होते हुए भी सुखस्वभाव का अनुभव ससारदशा मे नही होता है । उदा०–कुछ तिमिर के ससर्ग से रज्जुद्रव्य के रज्जुत्व का ग्रहण नही होता है और सर्प के साथ सादृश्य के कारण उस से विपरीत सर्पत्व का ग्रहण होता है इसलिये रज्जु का स्वरूप विद्यमान होते हुए भी उसका प्रकाश नही होता है । जब अविद्या–तिमिर का विलय हो जाता है तब रज्जु के अपने यथार्थस्वभाव का प्रकाशन होता है । उसी तरह ब्रह्म का भी अपने स्वरूप से बोध न हो कर विपरीत स्वरूप से बोध जब होता है तब विविध वस्तुप्रपच के ससर्ग से आनन्दमय स्वरूप प्रकाशित नही होता किंतु जब मुमुक्षु उद्यम करता है तब अविद्या का विलय होने पर आनन्दमय स्वभाव की अनुभूति होती है-यही वास्तव मोक्ष है । इसी लिये कहा गया है–"आनन्द ब्रह्म का रूप है और उसकी अभिव्यक्ति मोक्ष में होती है ।" यहाँ 'ब्रह्म का आनन्द' इस प्रकार षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर के ब्रह्म और आनन्द का पृथक् पृथक् विधान होने पर भी वास्तव में उन दोनो मे कोई भेद नही है, जैसे महत्त्व(महत्परिमाण) और आत्मा पृथक् नही होते । भेद न होने पर भी षष्ठी विभक्ति से आनन्द का पृथक् विधान करने का प्रयोजन यह है कि ससारावस्था मे उसका प्रतिभास नही होता है ।

उदाहरणरूपमें देखिये कि महत्त्व आत्मा का अपना गुण है, संसारावस्था मे आत्मा का अनु-भव होने पर भी तद्गत महत्त्व का भान नही होता है, उसी तरह आत्मा से अभिन्न अथवा आत्मा के धर्मभूत नित्य सुख का भी अविद्या के प्रभाव से मोक्ष के पूर्व अनुभव नही होता है । महत्त्व का जैसे

किंच, नित्यस्य सुखस्य तस्यामवस्थायामभिव्यक्तिरवश्य संवेदनम्–अन्यथाऽभिव्यक्त्यभावात्–तत्र च विकल्पद्वयं–नित्यमनित्यं वा तद् भवेत् ? A नित्यत्वे तस्य मुक्ति–संसारावस्थयोरविशेषप्रसंगः, संसारावस्थस्यापि नित्यसुखसंवेदनस्य नित्यत्वात् मुक्तावस्थायामपि तत्संवेदनादेव मुक्तत्वम् , तच्च संसार्यवस्थायामप्यविशिष्टम् । अपि च, करणजन्येन सुखेन साहचर्यं ससार्यवस्थायां तस्य गृह्येत ततश्च सुखद्वयोपलम्भः, सर्वदा भवेत् ।

अथ धर्माधर्मफलेन सुखादिना नित्यसुखसंवेदनस्य संसारावस्थायां प्रतिबद्धत्वान्नानुभवः, शरीरादिना वा प्रतिबन्धात् तन्नानुभूयते तेन न द्वयोरवस्थयोरविशेषः । नाऽपि युगपत् सुखद्वयोपलम्भः । अयुक्तमेतत्–शरीरादेर्भोगार्थत्वान्न तदेव नित्यसुखानुभवप्रतिबन्धकारणम् , न हि यद् यदर्थं तत् तस्यैव प्रतिबन्धकं दृष्टम् । न च वैषयिकसुखानुभवेन नित्यसुखानुभवप्रतिबन्ध सम्भवति । तथाहि–न तावत् सुखस्य नापि तदनुभवस्य प्रतिबन्धोऽनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा युक्तः, द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि संसारावस्थायां बाह्यविषयव्यासंगाद् विद्यमानस्याप्यनुभवस्याऽसंवेदनम् तदभावात्तु मोक्षावस्थायां संवेदनमित्यप्यस्ति विशेषः, नित्यसुखे ह्यनुभवस्यापि नित्यत्वाद् व्यासंगानुपपत्तेः ।

भान नही होता उसी तरह सर्वैश्वर्य, प्रबुद्धत्व और सत्यसंकल्पता आदि भी ब्रह्म के स्वभावभूत ही है किन्तु अविद्या के प्रभाव से उन का अनुभव नही होता है । अनादिकालीन अविद्या का ध्वस होने पर ब्रह्म जब स्वस्वरूप मे अवस्थित हो जाता है तब सर्वैश्वर्य-प्रबुद्धत्व-सत्यसकल्पता का जैसा अनुभव होता है वैसे परमानन्दस्वभाव का भी अनुभव होता है ।

[मुक्तिसुखवादिवेदान्तीमत का निरसन]

नैयायिक कहते है कि मुक्ति सुखस्वभावमय होने की बात गलत है चूंकि उसमे कोई प्रमाण ही नही है । जैसे देखिये-मुक्ति मे सुख होने का मत प्रमाणशून्य होने से बुद्धिमानो के लिये स्वीकार पात्र नही है, प्रमाण के विना भी यदि कुछ भी मान लेंगे तो गर्दभसीग को भी मानने का अतिप्रसग होगा । यदि मुक्ति के सुख मे कोई प्रमाण है तो वह प्रत्यक्ष है, अनुमान है या आगमप्रमाण है यह कहना होगा । इनमे से प्रत्यक्षप्रमाण तो मुक्ति मे सुख का सद्भाव सिद्ध नही कर सकता है । कारण, हम लोगो का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थ के ग्रहण मे सक्रिय ही नही है । योगी का प्रत्यक्ष यद्यपि अतीन्द्रियार्थस्पर्शी होने पर भी वह 'मुक्ति मे सुख का ग्राहक है या सुखाभाव का' इस विषय मे अब भी विवाद जारी है ।

तदुपरात, मुक्तावस्था मे नित्य सुख की अभिव्यक्ति होने का जो कहा गया है उसमे अभिव्यक्ति का यही अर्थ करना होगा कि सुख का अवश्यमेव सवेदन=अनुभव करना, सवेदन से अन्य अथ को 'अभिव्यक्ति' ही नही कहा जा सकता । अब यहाँ दो विकल्प हैं–A नित्यसुख का सवेदन नित्य है या B अनित्य ? यदि वह नित्य होगा तो ससारावस्था मे और मुक्ति दशा मे कुछ भी फर्क नही रहेगा । कारण, नित्यसुख का सवेदन भी नित्य होने से ससारावस्था मे भी रहेगा, मुक्त दशा मे भी मुक्तत्व तो नित्यसुखसवेदनमय ही है और वह ससारावस्था मे भी नित्य होने से ज्यो का त्यो है । तथा, ससारावस्था मे हर हमेश दो प्रकार के सुख का एक साथ अनुभव प्रसक्त होगा नित्य सुख का सवेदन तो नित्य होने से है ही और दूसरा इन्द्रियजन्य सुख भी नित्यसुख के सहचारी रूप मे अनुभव मे आयेगा । जब कि दो सुखो का एक साथ उपलम्भ तो अनुभवविरुद्ध है ।

तथाहि-आत्मनो रूपादिविषयज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुपपत्तिर्व्यासङ्गः, एवमिन्द्रियस्याप्येकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरेज्ञानाऽजनकत्वं व्यासङ्गः। न चैवमात्मनोरूपादिविषयज्ञानोत्पत्तौ नित्यसुखे ज्ञानानुत्पत्तिः, तज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वात्। शरीरादेस्तु सुखप्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमे तदपहन्तुर्हिसाफलं न स्यात्। तथाहि-प्रतिबन्धविघातकृदुपकारक एवेति दृष्टान्तेन नित्यसुखसंवेदनप्रतिबन्धकस्य शरीरादेर्हन्तुर्हिसाफलस्याभावः।

B अथाऽनित्यं तत्संवेदनं तदा तदवस्थायां तस्योत्पत्तिकारणं वाच्यम्। अथ योगजधर्मापेक्षः पुरुषान्त.करणसंयोगोऽसमवायिकारणम्। न, योगजधर्मस्याप्यनित्यतया विनाशेऽपेक्षाकारणाभावात्। अथाद्य योगजधर्मानुपजात विज्ञानमपेक्ष्योत्तरं विज्ञानं तस्माच्चोत्तरमिति सन्तानत्वम्। तन्न, प्रमाणाभावात्। तथा च शरीरसम्बन्धानपेक्षं विज्ञानमेवात्मान्तःकरणसंयोगस्यापेक्षाकारणमिति न दृष्टम्, न च दृष्टविपरीत शक्यमनुज्ञातुम्। आकस्मिकं तु कार्यं न भवत्येव। अथ मतम्-शरीरादिरहितस्यापि तस्यामवस्थायां योगजधर्मानुग्रहात् सुखसंवेदनमुत्पद्यते। तथाहि-मुमुक्षुप्रवृत्तिरिष्टाधिगमार्था, प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तित्वात्, कृषिबलादिप्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तिवत्, एवं तेषां शास्त्रीय उपदेश इष्टाधिग-

[नित्यसुखसंवदेन में प्रतिबन्ध की अनुपपत्ति]

यदि ऐसा कहा जाय-"नित्य सुख का सवेदन ससारावस्था मे धर्माधर्मफलभूत सुख-दुःख से अथवा तो शरीर से ही प्रतिरुद्ध हो जाता है इसलिए नित्य सुख का अनुभव उस वक्त नही होता। इस स्थिति मे न तो ससारदशा-मुक्तदशा के तुल्यता की आपत्ति है, न तो एक साथ दो सुख (नित्य और धर्म जन्य) के उपलम्भ होने की आपत्ति है-" तो यह बात अयुक्त है क्योकि शरीरादि तो भोग के लिये ही उत्पन्न हुआ है (अर्थात् सुखादिसाक्षात्कार का हेतु है) अतः उनको नित्यसुखानुभव के प्रतिरोध का कारण नही कहा जा सकता, जो जिसके लिये (उत्पन्न) है वह उसका प्रतिरोधक बने ऐसा देखा नही है। तथा वैषयिक सुख का अनुभव भी नित्यसुख के अनुभव का विरोधी बने यह सभव नही। देखिये-प्रतिरोध का अर्थ है या तो वस्तु की उत्पत्ति को रोक देना, या उसका विनाश कर देना, यहा मुक्ति का सुख भी नित्य माना है, और उसका सवेदन भी नित्य माना है अतः दोनो मे से किसी का भी प्रतिरोध शक्य नही है।

यदि ऐसा कहे ससारावस्था मे बाह्यविषय के व्यासग से, विद्यमान भी सुखानुभव का सवेदन नही होता है जब कि मुक्तदशा मे व्यासग के न होने से नित्यसुखानुभव का सवेदन होता है यह ससारदशा और मुक्तदशा मे फर्क है।-तो यह ठीक नही, क्योकि नित्यसुख का अनुभव भी नित्य होने से व्यासग की बात ही अघटित है। देखिये-जब जीवो को एक रूपादिविषय का ज्ञान उत्पन्न होता है तब अन्य रसादिविषय का ज्ञान उत्पन्न नही होता-इसी का नाम व्यासग है। अथवा, एक घटरूपादि विषय के ग्रहण मे प्रवृत्त नेत्रेन्द्रिय का अन्य पटरूपादि विषय के ग्रहण मे आभिमुख्य न होना इसीको व्यासग कहते हैं। किन्तु यहाँ तो आत्मा के नित्यसुख का अनुभवज्ञान भी नित्य ही है, उसको उत्पन्न नही होना है, फिर रूपादिविषयक ज्ञान की उत्पत्ति के काल मे नित्यसुखविषयक ज्ञान की उत्पत्ति न होने की बात ही सगत नही है। तथा शरीरादि को यदि सुख का प्रतिबन्धक मानेंगे तो फिर सुख या सुखानुभव मे विघ्नभूत शरीर का घात करने वाले को हिंसा का पाप नही लगेगा अर्थात् उसका फलभोग भी नही करना पडेगा। तात्पर्य यह है कि विघ्न का नाश करने वाला तो उपकारक ही कहा

मार्थः, उपदेशत्वात्, तदन्योपदेशवत्, तदेतत् प्रतिपादितम्–"नोभयमनर्थकम्" [ ]इति, मोक्षसुखसंवेदनानभ्युपगमे प्रवृत्त्युपदेशयोर्न किंचित् फलं भवेत्। एतच्चाऽयुक्तम्–प्रवृत्त्युपदेशयोरन्यथासिद्धत्वात्। भवेत् साध्यसिद्धिर्यथोक्ताद्धेतुद्वयात् यद्येकान्तेनैव प्रवृत्तेरुपदेशस्य च इष्टाधिगमार्थत्वं भवेत्, तयोस्त्वन्यथापि दर्शनात् नाभिमतसाध्यसाधकत्वम्। तथाहि–आतुराणां चिकित्साशास्त्रार्थानुष्ठायिनामनिष्टप्रतिषेधार्थां प्रवृत्तिर्दृश्यते उपदेशश्च, अतः कथमिष्टप्राप्त्यर्थता प्रवृत्त्युपदेशयोः? !

किंच, इष्टाऽनिष्टयोः साहचर्यमवश्यम्भावि, अतो यदीष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिस्तदा बलात् तस्यामवस्थायामनिष्टसंवेदनमापतति, न हीष्टमनिष्टाननुषक्तं क्वचिदपि विद्यते। तस्मादनिष्टहानार्थायामपि प्रवृत्ताविष्टं हातव्यम्, तयोर्विवेकहानस्याऽशक्यत्वात्। किंच, दृष्टबाधश्च तुल्यः। तथाहि–यथा मुक्त्यवस्थायामनित्यं सुखमतिक्रम्य नित्यमुपेयते प्रमाणशून्यं तद्विरुद्धं च, तथा शरीरादिन्यपि नित्यसुखभोगसाधनानि वरं कल्पितानि, एवं मुक्तस्य नित्यसुखप्रतिपत्तिः साध्वी स्यात्। अथ

जाता है–इस न्याय से नित्यसुख के संवेदन में विघ्नभूत शरीरादि का ध्वस कर देने वाले को हिंसा -(पाप) का फल (दुःख) नही भुगतना पड़ेगा।

[अनित्य सुखसंवेदन की मुक्ति में अनुपपत्ति]

B अब यदि कहे कि–'नित्यमुख का संवेदन अनित्य है'–तो मुक्तावस्था मे उसका उत्पादक कौन है यह कहना होगा। यदि योगजनितधर्म से सापेक्ष आत्मा-अन्त.करण का सयोग असमवायिकारण उत्पादक बनेगा–ऐसा कहा जाय तो यह सगत नही है क्योकि योगजनित धर्म स्वय ही अनित्य होने से नाशवत है अत· उस अपेक्षाकारण के अभाव मे वह कैसे उत्पन्न होगा? यदि कहे कि–योगजधर्म भले ही नाशवंत हो किन्तु उससे जो आद्य सवेदन (विज्ञान) उत्पन्न होगा उस विज्ञान से ही अपर अपर विज्ञान सन्तानक्रम से उत्पन्न होता रहेगा–तो यह ठीक नही क्योकि इस बात मे कोई प्रमाण ही नही है। तात्पर्य यह है कि देहसम्बन्ध के अभाव मे आद्य विज्ञान ही उत्तर–विज्ञान की उत्पत्ति मे आत्मा-अन्त करणसंयोगरूप असमवायिकारण का (योगजधर्म के बदले) अपेक्षा कारण बन जाय ऐसा कही दृष्ट नही है और दृष्टविपरीत कल्पना मे सम्मति नही दी जा सकती। और कार्य की अकस्मात् (विना किसी हेतु से) उत्पत्ति हो जाय यह भी शक्य नही।

[मुमुक्षु की प्रवृत्ति इष्ट प्राप्ति के लिये या अनिष्टत्याग के लिये]

कदाचित् यह अभिप्राय हो कि–मोक्षावस्था मे शरीरादि के न होने पर भी योगजनित धर्म के प्रभाव से सुख का सवेदन हो सकता है। देखिये, मुमुक्षु की प्रवृति इष्ट की प्राप्ति के लिये ही होती है, क्योकि मुमुक्षु बुद्धिपूर्वक काम करता है। उदा० बुद्धिपूर्वक काम करने वाले किसान की प्रवृत्ति। तथा यह भी एक अनुमान है कि शास्त्रो का उपदेश इष्ट को प्राप्त कराने के लिये है क्योकि यह उपदेश है जैसे माता-पिता का उपदेश। इससे यह कहना है कि मुमुक्षु की प्रवृत्ति और शास्त्र का उपदेश दोनों निरर्थक नही (किन्तु सार्थक होते) है। अव यदि मुक्तिदशा मे सुख का सवेदन नही स्वीकारेगे तो मुक्ति के लिये उपदेश और तदर्थ प्रवृत्ति दोनो व्यर्थ हो जायेगे क्योकि सुख के सिवा उनका और तो कोई सभवित फल ही नही।–

किन्तु यह अभिप्राय युक्त नही है क्योकि उपदेश और प्रवृत्ति दोनो का सुख ही अन्तिम फल माना जाय और अन्य कुछ नही ऐसा कोई बन्धन नही है, अर्थात् अन्य (दुखाभावादि) फल से उप-

शरीरादीनां कार्यत्वात् कथं नित्यता ? प्रमाणबाधितत्वाच्छरीरादीनां नित्यत्वमशक्यं साधयितुम् । नन्वेतत् सुखेऽपि समानम्, दृष्टस्य सुखस्योपजननाऽपायधर्मकस्य तद्वैकल्यं प्रमाणबाधितत्वात् कथं परिकल्पयितुं शक्यम् ? अथ स्यादेव दोषः यदि दृष्टस्यैव सुखस्य नित्यत्वमस्माभिरुपेयेत यावता दृष्ट-सुखव्यतिरिक्तमात्मधर्मत्वेनाभिमतं नित्यं ततश्च कथं दृष्टविरोधः ? असदेतत्, तत्र प्रमाणाऽभावादि-त्युक्तत्वात् । यदप्यनुमानं तत्सिद्धये प्रदर्शितं तदपि प्रवृत्तेरनिष्टप्रतिषेधार्थत्वान्नैकान्तेनाऽभिमतसाध्य-साधकम् ।

मा भूदनुमानम्, आगमस्तु नित्यसुखसाधकस्तस्यामवस्थायां भविष्यति, तथा च पूर्वमुक्तम् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति, असदेतत्; तदागमस्यैतदर्थत्वाऽसिद्धेः । अथापि कथंचिद् नित्यसुख-प्रतिपादकत्वं तस्याभ्युपगम्यते तथाप्यात्यन्तिके संसारदुःखाभावे सुखशब्दो गौणः, न तु नित्यसुखप्रति-पादकत्वाद् मुख्यः । अथ कथं दुःखाभावे सुखशब्द उपेयते ? लोकव्यवहाराद्धि शब्दार्थसम्बन्धावगमः, सुखशब्दश्च दुःखाभावे लोकेऽनवगतसम्बन्ध: कथमागमे दुःखाभाव प्रतिपादयति ? नैषः दोषः, न हि लोके मुख्ये एवार्थे प्रयोगः शब्दानां किन्तु गौणेऽपि । तथाहि-दुःखाभावेऽपि सुखशब्दं प्रयुञ्जाना: लोका उपलभ्य ते, यथा ज्वरादिसन्तप्ता यदा ज्वरादिभिर्विमुक्ता भवन्ति तदाऽभिदधति 'सुखिनः संवृत्ता स्मः' इति । किंच, इष्टार्थाधिगमार्थायां च मुमुक्षो. प्रवृत्तौ रागनिबन्धना तस्य प्रवृत्तिर्भवेत्, ततश्च न मोक्षावाप्तिः, क्लेशानां बन्धहेतुत्वात् ।

देशादि की व्यर्थता दूर हो जाने से सुख के प्रति वे अन्यथासिद्ध है। उपरोक्त दो अनुमान से तो साध्यसिद्धि का तभी सभव था यदि प्रवृत्ति और उपदेश एकान्ततः इष्ट प्राप्ति के लिये ही होने का नियम होता। इष्टप्राप्ति का उद्देश न होने पर उपदेश और प्रवृत्ति देखी जाती है अत: पूर्वोक्त दोनो हेतु साध्यद्रोही होने से उनसे इष्ट साध्य की सिद्धि होना दूर है। देख लो, चिकित्साशास्त्रोक्त उपायो को आचरने वाले रुग्ण मानवो की प्रवृत्ति अनिष्टभूत रोग के प्रतिकार के लिये ही होती है, कुछ पाने के लिये नही। उपरात, चिकित्साशास्त्रो का उपदेश भी रोगनाश के लिये ही है। फिर कैसे कहा जाय कि उपदेश और मुमुक्षु की प्रवृत्ति इष्टप्राप्ति के लिये ही होती है और अन्य किसी के लिये नही ??!

[अनिष्टाननुषक्त इष्ट का सद्भाव नहीं होता]

तथा, यह भी अवश्य मानना पडेगा कि इष्ट और अनिष्ट दोनो एक-दूसरे के अवश्य सहचारी है, फलत: यदि इष्ट प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति करेंगे तो उस अवस्था मे अनिष्ट का सवेदन न इच्छने पर भी आ पडेगा, क्योकि अनिष्ट से सर्वथा असम्बद्ध ऐसा कोई इष्ट है ही नही। [इष्टमात्र अनिष्टा-नुषगी ही है।] अत. अनिष्ट से बचने के लिये प्रवृत्ति करने पर तदनुषगी इष्ट को भी छोडना ही होगा क्योकि इष्ट से अनिष्ट को अलग करके उसका त्याग करना शक्य नही है। तथा दृष्टबाध भी प्रसक्त है। अर्थात् मुक्ति मे अनित्यसुख से विपरीत नित्य सुख मानने में प्रत्यक्ष बाध भी है। यदि अनित्यसुख को न मान कर मुक्ति अवस्था मे नित्य सुख मानना है जिसमे न केवल प्रमाण अभाव ही है अपितु प्रमाणविरोध भी है, तो फिर नित्यसुखभोग के साधनभूत नित्यशरीरादि की कल्पना भी सुन्दर ही कही जायेगी, वाह ! कितनी सुन्दर है आपकी नित्यसुख की मान्यता !!! इस प्रकार नित्य शरीर और नित्य सुख की कल्पना मे दृष्टबाध तो समान ही है। यदि कहे कि-शरीरादि तो काय है वे कैसे नित्य हो सकते हैं ? शरीरादि की नित्यता प्रमाणबाधित होने से सिद्ध करना अशक्य है।

अथ वदेत्-यथा सुखरागनिबन्धनायां प्रवृत्तौ रागस्य बन्धनहेतुत्वात् मोक्षाभावस्तथा दुखाभावार्थायामपि, तत्रापि दुःखे तत्साधने वा दोषदर्शनाद् द्विष्टस्तदभावाय प्रवर्त्तते। यथा च रागक्लेशो बन्धनहेतुस्तथा द्वेषोऽपीत्यविशेषः। यच्चोक्तम् 'दुखाभावे सुखशब्दप्रयोगात्, तदभाव एव सुखम्'-तदयुक्तम्, युगपत् सुख-दुःखयोरनुभवात् यथा ग्रीष्मे सन्तापतप्तस्य क्वचिच्छीते ह्रदे निमग्नार्द्धकाय-

-तो फिर क्या यह बात सुख के लिये भी समान नहीं है ? जो दृष्ट सुख है वह तो उत्पत्तिविनाशधर्मक ही है, तो फिर सुख मे प्रमाण से बाधित उत्पत्तिविनाशशून्यता की कल्पना भी कैसे की जाय ? कदाचित् ऐसा कहे कि-यदि हम दृष्ट सुख मे ही नित्यत्व की कल्पना करे तब तो उक्त दोष का प्रसग ठीक है, किन्तु हम तो दृष्ट सुख से सर्वथा विजातीय आत्मधर्मरूप नित्य सुख को मान लेते है तो उसमे दृष्टविरोध कैसे ?-तो यह कथन भी ठीक नही है क्योकि पहले ही हमने कह दिया है कि नित्य सुख में कुछ प्रमाण नही है। तथा नित्य सुख की सिद्धि मे जो अनुमान आपने दिखाया है वह भी एकान्त से आपके इष्ट साध्य का साधक नहीं हो सकता क्योकि प्रवृत्ति सीर्फ इष्ट प्राप्ति के लिये ही नही, अनिष्ट के प्रतिकार के लिये भी होती है।

[आगम से नित्यसुख की सिद्धि अशक्य]

यदि कहे कि-अनुमान से सिद्धि न होने पर भी मुक्ति दशा मे नित्य सुख के साधक आगम का तो अभाव नही है, पहले कहा ही है-"ब्रह्म विज्ञानमय और आनन्दमय है" यह वेदवाक्य है।—तो यह गलत है, क्योकि इस आगम वाक्य का 'मुक्ति में नित्य सुख है' ऐसा अर्थ ही नही। कदाचित् आपका आग्रह हो कि उक्त आगम वाक्य का 'मुक्ति मे नित्य सुख है' ऐसा ही अर्थ है, तो फिर सुख शब्द को आत्यन्तिक दु.खाभावरूप अर्थ मे औपचारिक समझना होगा, नही कि नित्यसुख के अर्थ मे मुख्य। यदि कहे कि-सुखशब्द का दुःखाभाव अर्थ कैसे माना जाय ? शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अवबोध लोकव्यवहार से ही होता है। सुख शब्द का दुखाभाव अर्थ के साथ सम्बन्ध लोक मे प्रसिद्ध नही है तो फिर आगम मे प्रयुक्त सुख शब्द से दु.खाभावरूप अर्थ का प्रतिपादन कैसे होगा ?-तो यह कोई दोष जैसा नही है क्योकि लोक मे सीर्फ मुख्य अर्थ मे ही शब्दो का प्रयोग नही होता किन्तु गौण अर्थ मे भी होता है। जैसे देखिये कि लोक मे दुखाभाव अर्थ मे भी सुखशब्द का प्रयोग देखा जाता है। जब ज्वरादिरोगग्रस्त लोग ज्वरादि के पजे मे से छूटते है तब बोलते है कि 'अब हम सुखी हुए'। तदुपरात यह तो सोचिये कि यदि इष्ट प्राप्ति के लिये मुमुक्षु की प्रवृत्ति को मानेंगे तो वह प्रवृत्ति रागमूलक हो होगी, तो रागमूलक प्रवृत्ति से मोक्ष कैसे प्राप्त होगा ? राग तो क्लेश है और क्लेश तो बन्धहेतु है।

[दुःखाभावार्थक प्रवृत्ति मानने में मोक्षाभाव की आपत्ति]

मुक्तिसुखवादी यहा पूर्वपक्ष करते हैं—

-"सुखरागमूलक प्रवृत्ति मानने मे मुक्ति नही प्राप्त होगी क्योकि राग बन्धन का कारण है-ऐसा जो नैयायिकने कहा है उसके सामने यह भी कहा जा सकता है कि दु खाभाव के लिये प्रवृत्ति मानने में भी मुक्ति नही हो सकेगी, क्योकि दु ख या उसके साधन के दोषदर्शन से द्वेष जगने पर ही दुःखनाश के लिये प्रवृत्ति होगी, तो रागात्मक क्लेश जैसे कर्मबन्धकारक है वैसे द्वेष भी कर्मबन्धकारक ही है। यह भी जो कहा है कि सुखशब्द का प्रयोग दुःखाभाव अर्थ मे किया गया होने से दुःखाभाव ही सुख है।-यह ठीक नही है, क्योकि सुख और दु ख का एक साथ अनुभव होता है (दु ख

स्यादर्द्धे निमग्ने सुखमन्यत्र दुःखम् । अथ मतम्-यत् तदर्धे निमग्ने तद् दुःखाभावः सुखमन्यत्र दुःखम् इति, तर्हि नारकाणां सुखित्वप्रसंगः, क्वचिन्नरके दुःखानुभवादन्यनरकसम्बन्धिदुःखाभावाच्च । तथा, अनेकेन्द्रियद्वारस्य दुःखस्य केनचिदिन्द्रियेण दुःखोत्पादेऽन्येनाऽजनने सुखित्वप्रसङ्गः । अपि च, अदुःखितस्यापि विशिष्टविषयोपभोगात सुखं दृष्ट तत्र कथ दुःखाभावः सुखम् ? यत्रापि दुःखसंवेदनपूर्वं यथा क्षुद्दुःखे भोजनप्राप्तौ तृप्तस्य तद्विनिवृत्त., तत्राप्यन्नपानयोर्विशेषात् सुखविशेषो न भवेत्, दृश्यते च लौकिकानां तदर्थमन्नादिविशेषोपादानम्, अन्यथा येन केनचिदन्नमात्रेण च क्षुद्दुःखनिवृत्तौ नान्नपानविशेषं लौकिका उपाददीरन् । सुखस्य च भावरूपत्वात् सातिशयत्वे तत्साधनविशेषो युज्यते, दुःखाभावस्य तु सर्वोपाख्याविरहलक्षणत्वात् किं साधनविशेषेण ?

येऽप्येवमुपागमन् 'यदाऽपि पूर्वं दुःखं नास्ति तदाप्यभिलाषस्य दुःखस्वभावत्वात् तन्निबर्हणस्वभावं सुखम्" तेऽपि न सम्यक् प्रतिपन्नाः, यतोऽनभिलाषस्य विषयविशेषसंवित्तौ न सुखिता स्यात्, दृश्यते तस्यामप्यवस्थायां रमणीयविषयसम्पर्के ह्लादोत्पत्तिः ।

तत्रैतत् स्यात्-, "यत्रैवाभिलाषः स एव विषयोपभोगेन सुखी, नान्यः, तदभिलाषनिवृत्त्यैव विषयाः सुखयितारोऽन्यथा यदेकस्य सुखसाधन तदविशेषेण सर्वेषां स्यात् । यदा तु कामनिवृत्त्या सुखित्वं तदा यस्यैवाभिलाषो यत्र विषये स एव तस्य सुखसाधन नान्य', अतश्च यदुक्तम् 'अकामस्यापि क्वचिद्विषयोपभोगे सुखित्वदर्शनान्न कामाख्यदुःखनिवृत्तिरेव सुखम्' तदयुक्तम्, तत्राऽकामस्यापि विशिष्टविषयोपभोगात् कामाभिव्यक्तौ तन्निवृत्तेरेव सुखत्वादिति ।"-एतदप्ययुक्तम्, यतो नावश्यं विषयोपभोगोऽभिलाषनिबर्हणः । यथोक्तम्-[महाभा० आ० प० अ० ७९ श्लो० १२]

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

और दु.खाभाव का कभी एक साथ अनुभव नही हो सकता) । उदा० ग्रीष्मऋतु मे सन्ताप से उत्तप्त पुरुष किसी शितल जलकुड का अवगाहन करते हैं तब जल मे निमग्न अर्ध देह मे तो सुखानुभव होता है और बहार रहे अर्ध देह मे दुःखानुभव होता है । यदि ऐसा मानें कि-जलनिमग्न अर्धदेह मे जो सुख है वह दुःखाभावरूप ही है और बाहर के अर्धदेह मे तो दुःख ही है, सुख जैसा कुछ है नही"- तो फिर नारकी के जीवो को 'सुखी' मानने की आपत्ति होगी क्योकि किसी एक नरक मे जब जीव को दु.खानुभव हो रहा है उसी वक्त अन्य नरक के दुख के अभाव का अनुभव भी है अत: वे जैसे दु.खी कहे जाते है वैसे सुखी भी क्यो न कहे जाय ? उपरात, दुःख क्रमश. अनेक इन्द्रियो से होता है, किन्तु कभी एक इन्द्रिय से दुःख होने पर यदि अन्य इन्द्रियो से दु.खोत्पाद नही होगा तो दु.खाभाव अर्थात् सुखी होने की आपत्ति होगी ।

यह भी सोचिये कि जो तनिक भी दुःखी नही है उसे भी उत्कृष्ट विषयोपभोग से सुख होने का प्रसिद्ध ही है, अब वहा दुःखाभाव (यानी दुःखध्वंस) न होने पर यह सुख कैसे होगा ? तथा जहाँ दुःखसंवेदन के बाद विषयोपभोग से सुख होता है, जैसे कि भूख के दु.ख को कुछ देर तक सहन करने के बाद भोजन प्राप्ति होने पर तृप्ति होने से दु.ख संवेदन टल जाने पर सुख होता है, वहाँ यदि सिर्फ दुःखानुभव को ही मान्य किया जाय तो वहाँ विशिष्ट अन्न-पान से जो विशिष्ट-सुखानुभव होता है वह नही होगा । विशिष्ट सुखास्वाद के लिये लोक मे विशिष्ट अन्नादि का उपभोग देखते भी हैं । सिर्फ भूख के दुःख को टालने का ही प्रयोजन होता तब सामान्य कोटि के अन्नादि से भी

तथा तत्र भगवता पतञ्जलिनाऽप्युक्तम्-भोगाभ्यासमनुवर्धन्ते रागाः, कौशलानि चेन्द्रियाणाम् [पात० यो० पा० २ सू० १५ व्यासभाष्ये] इति । अपि च, अन्यथाप्यभिलाषनिवृत्तिर्दृष्टा यथा विषयदोषदर्शनात्, तत्रापि भवतां मते विषयोपभोगतुल्यं सुखं भवेद्, तुल्ये चाभिमतार्थलाभे सुखविशेषो न स्यात्, अभिलाषनिवृत्तेरविशेषात् ।

उसकी निवृत्ति शक्य होने पर भी विशिष्ट मिष्टान्नादि के लिये लोगो की प्रवृत्ति होती है वह न होती । तथा, सुख भावरूप होने से उसमें तर-तमभाव हो सकता है अतः विशिष्ट (सातिशय) सुख के लिये विशिष्ट प्रकार के साधनो की खोज करना युक्तियुक्त है किंतु दुःखाभाव तो सर्व उपाख्या (अवान्तर जातिभेद) से शून्य है, तो उसके लिये विशिष्टि साधनो की क्या आवश्यकता ?

[रमणीयविषयों से सुखविशेष की सिद्धि]

जिन लोगों ने ऐसा माना है कि-"पूर्व मे जब दुःख सवेदन नही होता और विषयोपभोग से सुखानुभव होता है वहाँ भी विषयोपभोग की इच्छा जो कि दुःखस्वरूप ही है उसका निवर्त्तन ही सुखस्वभावरूप मे सविदित होता है-" तो यह उनकी मान्यता गलत है, क्योकि जिसको विषयोपभोग की इच्छा तक नही है और विशिष्ट विषय का सवेदन होता है उसको सुखानुभव न होने की आपत्ति होगी क्योकि वहाँ इच्छानिवर्त्तन स्वरूप दु.खाभाव का सम्भव ही नही है । अभिलाष न होने की दशा में भी मनोहर विषय के सम्पर्क से सुखानुभव होता है यह तो प्रसिद्ध ही है ।

[अभिलाषनिवृत्ति द्वारा सुखानुभव की शंका]

अगर यहाँ शंका करे कि--

जहाँ विषयाभिलाष होता है वहाँ ही विषयोपभोग से सुखानुभव होता है, दूसरे को नही होता ऐसा नियम है । कारण, विषयभोग के अभिलाष की निवृत्ति के द्वारा ही विषयवृ द सुखानुभव कारक होता है । यदि ऐसा नही मानेगे तो एक व्यक्ति को जिस साधन से सुखानुभव होता है उस साधन से सभी को समानरूप से सुखानुभव होने की आपत्ति होगी (वास्तव मे यह देखा जाता है कि एक वस्तु से किसी को सुख होता है तो दूसरे को दु ख भी होता है) । इच्छा की निवृत्ति से ही सुखानुभव का नियम माना जाय तब यह उक्त आपत्ति नही होगी क्योकि जिस व्यक्ति को जिस विषय का अभिलाष होगा, उस व्यक्ति के लिये ही वह विषय सुख का साधन होगा अन्य के लिये नही । अतएव यह जो आप कहते हैं कि निष्काम व्यक्ति को भी कभी कभी विषयोपभोग से सुखानुभव होने का प्रसिद्ध होने से 'कामस्वरूप दु.ख की निवृत्ति' यही सुखरूप नही है ।-यह बात गलत है, क्योकि निष्काम व्यक्ति को भी विशिष्ट विषय के उपभोग से इच्छा उत्पन्न हो जाती है यह उक्त नियम के बल से मानना ही पडेगा अतः कामनिवृत्ति को ही सुखस्वरूप मानने मे कोई आपत्ति नही है ।-

[भोग से इच्छानिवृत्ति अशक्य]

किन्तु यह शका भी गलत है क्योकि विषयोपभोग से विषयभोगेच्छा की निवृत्ति होने का कोई सुदृढ नियम ही नही है । जैसे कि महाभारत मे कहा गया है-

'कमनीय विषयो के उपभोग से कामना कभी शान्त नही होती । जैसे कि इन्धन से कभी अग्नि शान्त नही होता, उलटे उसकी अत्यधिक वृद्धि होती है ।'-योगसूत्रकार भगवान् पतजली ने भी कहा है कि बार बार भोग करने से राग की वृद्धि होती है और इन्द्रियो के कौशल की भी ।

अथ वदेत्-अभिलाषातिरेके तन्निवृत्तौ सुखातिरेकाभिमानोऽन्यत्रान्यथेति। तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽभिलाषातिरेकात् प्रयस्यन्तं प्राप्तोऽर्थो न तथा प्रीणयति यथाऽप्रार्थितो विना प्रयासादुपनतः। एवमेव च लोकव्यवहारः-यत्नशतावाप्तेऽर्थे क्लेशप्राप्तोऽयमिति न तेन तथा सुखिनो भवन्ति यथाऽनाशसितप्राप्तेन। तन्न दुःखाभावमात्रं सुख किन्तु तद्व्यतिरेकेण स्वरूपतः सुखमस्तीति।

तदसमीचीनम्-न हि अस्माकं दुःखाभाव एव सुखम्, तथा च भाष्यकृता तत्र तत्राऽभिहितम्-"न सर्वलोकसाक्षिकं सुखं प्रत्याख्यातुं शक्यम्" [ ]। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्-"न प्रत्यात्मवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम्" [ ]। एवं चानभ्युपगतस्य पक्षस्योप(ा)लम्भः, प्रकृते तु सुखे प्रतिपाद्यते दु खाभावमात्रे सुखशब्दो न तु सुखे एव, तस्य प्रमाणतोऽनुपपत्तेः। तथा च मुक्तस्य नित्यसुखाभिव्यक्तौ प्रत्यक्षाऽनुमानयोर्निषेधे आगममात्रमवशिष्यते तस्य च गौणत्वेनाप्युपपत्तेर्न मुख्यस्य सुखस्य सम्भवः।

नित्यसुखाभ्युपगमे च विकल्पद्वयम्-A किं तद् आत्मस्वरूपं स्वप्रकाशम्, B उतस्वित् तद्व्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरप्रमेयम्? A पूर्वस्मिन् विकल्पे आत्मस्वरूपवत् स्वप्रकाशसुखसंवित्तिः सर्वदा भवेत्, ततश्च बद्ध-मुक्तयोरविशेषः। तत्रैतत् स्यात्-'अनाद्यविद्याच्छादितत्वात् स्वप्रकाशानन्दसंवित्तिः न संसारिणः, यदा तु यत्नादनादेरविद्यातत्त्वस्यापगमस्तदाच्छादकाभावात् स्वप्रकाशानन्दसंवेदनम्'।-एतदपेशलम् आच्छाद्यते ह्यप्रकाशस्वभावम्, यत्तु स्वप्रकाशरूपं तद् कथमन्येनाच्छाद्येत?

तदुपरात, विषयभोग के विना भी कामना की निवृत्ति प्रसिद्ध है जैसे कि विषयो के दोषो का चिन्तन करने से। आप तो कामना की निवृत्ति को ही सुख मानते हैं अत. आपके मत से तो विषयदोष चिन्तन से भी इच्छानिवृत्तिरूप सुख का अनुभव प्रसक्त होगा। तथा दो व्यक्ति को इष्ट वस्तु की प्राप्ति तुल्यरूप से होने पर, दोनो को जो तरतमभाव से सुखानुभव होता है वह नही होगा क्योकि कामना की निवृत्ति तो दोनो को समान है।

[अभिलाषतीव्रता से तीव्रसुखाभिमान की शंका गलत]

यदि कहे कि-"सुख मे जो न्यूनाधिकता का अनुभव होता है वह अभिमानमात्र है। तात्पर्य यह है कि जब विषयोपभोग की इच्छा तीव्र होती है और विषयभोग से उसकी निवृत्ति होती है तब सुख (दुखाभाव) मे अधिकता का अभिमान होता है और इच्छा मन्द रहने पर सुख मे न्यूनता का अभिमान होता है। अतः वास्तव मे न्यूनाधिकता के बल से सुख की दु खाभाव से अतिरिक्त रूप मे सिद्धि नही हो सकती।"-तो यह भी ठीक नही है, क्योकि तीव्र कामना से प्रयास करने के बाद जो अर्थप्राप्ति होती है उससे इतना आह्लाद नही होता जितना इच्छा न होने पर भी अनायास अर्थप्राप्ति सेहोता है। लौकिक व्यवहार भी ऐसा ही है कि सैकडो यत्न करने पर अगर अर्थप्राप्ति होती है तो कहते हैं कि महा कष्ट से यह प्राप्त हुआ, अर्थात् वहा मनुष्य इतना सुखी नही होता जितना इच्छा के विना ही प्राप्त हो जाने पर होता है। [मुक्तिसुखवादी का पूर्वपक्ष समाप्त]

[-दुःखाभाव अर्थ में भी सुखशब्दप्रयोग होता है-नैयायिक उत्तर पक्ष]

मुक्तिसुखवादी का यह पूर्वपक्षवक्तव्य असगत है। कारण हम सिर्फ दु खाभाव को ही सुख नही मानते है किन्तु तदतिरिक्त सुख भी मानते हैं जैसे कि भाष्यकार ने ही भिन्न भिन्न स्थल मे कहा है-सर्वलोक जहां साक्षि है वैसे सुख का निषेध शक्य नही। तथा और भी एक स्थान मे कहा है-प्रत्येक

येऽपि प्रतिपेदिरे "मेघादिना सवितृप्रकाशः, सविता वा स्वप्रकाश एवाऽऽच्छाद्यते" तेऽपि न सम्यक् संचक्षते। न स्वप्रकाशस्य मेघादिनाऽऽवरणम्, आवृतत्वे हि तेनाहोरात्रयोरविशेषो भवेत्, दृश्यते च विशेषः, तस्मान्न कस्यचित् स्वप्रकाशस्यावृतिः। अपि च, मेघादेस्ततोऽर्थान्तरत्वादावारकत्वं युक्तम्, अविद्यायास्तु तत्त्वाऽन्यत्वेनाऽनिर्वचनीयत्वेन तुच्छस्वभावत्वात् न स्वप्रकाशस्वभावे आनन्दे आवरणशक्तिः। तत् सर्वदा स्वप्रकाशानन्दानुभवप्राप्तिः धर्माऽधर्मजनिताभ्यां च सुख-दुःखाभ्यां सह युगपत् संवेदनं प्रसक्तम्, न चैतद् दृश्यते, तस्मान्न पूर्वो विकल्पः। B नाप्युत्तरः, प्रतिपादकस्य प्रत्यक्षादेर्निषिद्धत्वात् बाधकस्य च प्रदर्शितत्वात्। अतस्तत्प्रतिपादक आगमः प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाद् गौणत्वेन व्याख्यायते शास्त्रदृष्टविरुद्धान्यवाक्यवत्। एतच्चाभ्युपगम्योक्तम्, न तु सुखस्य बोधस्वभावताऽपि विद्यते, तत्स्वभावतानिराकरणात्।

जीव को अनुभव में आने वाले सुख का निषेध नही है। [द्रष्टव्य वात्स्या० भा० ४-१-५६ और न्यायवा० १-१-२१]। अतः पूर्व पक्षी ने प्रकृत सुख के प्रकरण मे जो दोषारोपण किया है। वह हमारी मान्यता के ऊपर नही किन्तु हमे अमान्य सिद्धान्त के ऊपर ही हुआ। हमारा मत तो यह है कि सुख शब्द का प्रतिपादन सिर्फ सुख के लिये ही नही समस्त दुःखाभाव के लिये (भी) होता है, क्योकि सीर्फ सुख मे ही सुखशब्द का प्रयोग प्रमाण से सिद्ध नही है। जब दु खाभाव के लिये भी सुख शब्द का प्रयोग होता है तो आगम मे जो सुख शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है वह औपचारिक यानी दु खाभाव विषयक भी माना जा सकता है, क्योकि मुक्तात्मा को नित्य सुख की अभिव्यक्ति मानने मे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण तो निषिद्ध ही है, सिर्फ आगमप्रमाण ही बचता है। निष्कर्ष, प्रत्यक्ष और अनुमान से स्वतंत्र (मुख्य) नित्य सुख की सिद्धि न होने से तथा आगम से गौण सुख का प्रतिपादन होने से अब नित्य सुख की सभावना नही रहती।

तथा नित्यसुख को मानने मे दो विकल्प है- A नित्यसुख क्या स्वयप्रकाशी आत्मस्वरूप है B या आत्मस्वरूप से भिन्न एव अन्यप्रमाण से बोध्य है ? A प्रथम विकल्प मे आत्मस्वरूप का जैसे सदा सवेदन होता है वैसे नित्य स्वप्रकाश सुख का भी सदा ही सवेदन होता रहेगा, फलतः ससार दशा मे भी नित्यसुख की अनुभूति होने पर बद्ध और मुक्त दशा मे कुछ भी फर्क नही रहेगा। कदाचित् ऐसा कहे कि–नित्यसुख स्वप्रकाश होने पर भी अनादिकालीन अविद्या से आच्छादित होने के कारण ससारी जीव को उसका सदा सवेदन नही होता है। जब उद्यम से अनादि अविद्यातत्त्व का विनाश होगा तब आवरण के न रहने से स्वप्रकाश आनद की अनुभूति मुक्त दशा मे होने लगेगी। किन्तु यह बात ठीक नही, जो अप्रकाशस्वरूप हो उसी का आच्छादन न्याययुक्त है किन्तु जो स्वप्रकाशमय है उसका दूसरे से आच्छादन कैसे होगा ?

[स्वप्रकाशवस्तु के आवरण की असंगति]

स्वयप्रकाशी नित्य सुख के आवरण के समर्थन मे जिन लोगो ने ऐसा कहा है कि मेघादि से सूर्यप्रकाश अच्छादित होता है अथवा स्वय प्रकाशी सूर्य आच्छादित होता है वे ठीक नही कहते क्योकि स्वप्रकाश वस्तु का मेघादि से आवरण होता ही नही है। यदि प्रकाश ही सूर्य का आवरण होगा तो दिवस और रात्रि मे कुछ फर्क ही नही रहेगा। फर्क तो दिखता ही है, अतः स्वप्रकाश किसी भी वस्तु का आवरण होना सगत नही है। कदाचित् आप मेघ को आवारक मानने का आग्रह करे तो

यच्चोक्तम्—'सुखरागेण प्रवृत्तस्य मुमुक्षोर्यथा बन्धप्रसंगः तथा द्वेषनिबन्धनायामपि प्रवृत्तावश्यम्भावी बन्धः' तदयुक्तम्-मुमुक्षोर्द्वेषाभावात्, स हि विषयाणां तत्त्वदर्शी तेष्वारोपितं सुखत्वं तत्साधनत्वं वा तत्त्वज्ञानाभ्यासादन्यथा प्रतिपद्यते। एवं च तस्याऽऽरोपिताकारमिथ्याज्ञानव्यावृत्तावुत्तरोत्तरकार्याभावादपवर्ग उच्यते, न तु तस्य दुःखसाधने द्वेषः, किन्त्वारोपिते सुखे तत्साधने वा तत्त्वज्ञानाभ्यासाद् रागाभावः। न च स एव द्वेषः, तस्य रागाभावस्य्यतिरेकेण प्रत्यक्षेण स्वरूपसंवित्तेः, अन्यथोपेक्षणीये वस्तुनि रागाभावे द्वेष स्यात्, न चैतद् दृष्टम्, तस्मान्न मुमुक्षोर्द्वेषनिबन्धना प्रवृत्तिः।

भवतु वा, तथापि न तस्य बन्धः, द्वेषो हि स बन्धहेतुर्य उत्पन्नः स्वविषये वाग्-मनः-कायलक्षणां शास्त्रविरुद्धां पुरुषस्य प्रवृत्तिं कारयति, तस्य शास्त्रविरुद्धार्थाचरणेऽधर्मोत्पत्तिद्वारेण शरीरादिग्रहणम् तन्निबन्धनं च दुःखम्। अयं तु मुमुक्षोर्विषयेषु द्वेष. सकलप्रवृत्तिप्रतिपन्थित्वाद्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ शरीराद्यभावान्न केवल न बन्धाय किंतु स्वात्मघाताय कल्पते। तदिदमुक्तम्-"प्रहाणे नित्यसुख-

वह युक्त हो सकता है क्योकि वह सूर्य से भिन्न वस्तु है जब कि अविद्या का तो आप आनन्दमय ब्रह्म से भिन्न या अभिन्न रूप मे निर्वचन ही नही कर सकते, अतः उस तुच्छस्वभाववाली अविद्या मे स्वप्रकाशस्वरूप आनद का आवरण करने की शक्ति को मानना असगत है। इस प्रकार यदि नित्य सुख स्वप्रकाश आत्मस्वरूप माना जाय तो सदा ही स्वप्रकाश सुख के अनुभव की आपत्ति लगी रहेगी और धर्माधर्म से जनित सुख-दुःख का उसके साथ सहसवेदन एक साथ होने की आपत्ति भी लगी रहेगी। सदा नित्यसुख की अनुभूति या नित्य सुख के साथ सांसारिक सुख या दुःख की सहानुभूति कही भी दृष्ट नही है, अत. पहला विकल्प युक्त नही।

दूसरा विकल्प (प्रमाणान्तरबोध्य आत्मभिन्न नित्य सुख-यह) भी अयुक्त है क्योकि उसको सिद्ध करने वाला कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण तो है नही और उसको मानने पर जो बाधक आपत्ति है (सह-अनुभूति आदि) वह दिखायी गयी है। इसीलिये, नित्य सुख का प्रतिपादक जो भी आगमवाक्य है वह प्रत्यक्षादिप्रमाण से विरुद्धार्थ का प्रतिपादक होने से, नित्यसुख बोधक आगमवाक्य का विवरण उपचरितार्थ परक (यानी दुःखाभावपरक) करना होगा। जैसे कि दृष्ट वस्तु से विरुद्ध अन्य आगम वाक्यो का अर्थविवरण उपचार से करना पड़ता है। ऊपर जो स्वप्रकाश सुख की बात हुयी है वह भी हमने अभ्युपगमवाद से की है वास्तव मे तो सुख में बोधस्वभावता भी नही है क्योकि हमारे मत मे तो सुख मे ज्ञानस्वभावता का निराकरण किया गया है।

[मुमुक्षुप्रवृत्ति द्वेषमूलक नहीं होती]

यह जो कहा है-नित्यसुख के राग से प्रवृत्ति करने वाले मुमुक्षु को जैसे बन्ध की आपत्ति दिखायी जाती है वैसे द्वेषमूलक प्रवृत्ति करने वाले को भी बन्ध अवश्यमेव होने की आपत्ति खड़ी है-वह अयुक्त है, क्योकि मुमुक्षु को द्वेष होता ही नही। मुमुक्षु मनुष्य तो विषयो के तत्त्व (हानिकरत्व) को जानता है, यह भी जानता है कि विषयो मे आरोपित सुखत्व या सुखसाधनत्व है, अत तत्त्वज्ञान के अभ्यास से उसे यह पता चल जाता है कि विषयसमूह वास्तव मे सुख से विपरीत यानी दुःखरूप अथवा दुःख का ही साधन है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से आरोपितआकारवाले मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उत्तरोत्तर मिथ्याज्ञान के कार्यो की परम्परा भी रुक जाने पर आखिर जीव का मोक्ष हुआ ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार मोक्षार्थी की प्रवृत्ति करने वाले को दु.ख के साधनो मे द्वेष होने

रागस्याऽप्रतिकूलत्वम् । नास्य नित्यसुखाभावः (नित्यसुखभावः) प्रतिकूल इत्यर्थः । यद्येवं मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति अथापि न भवति, नास्योभयोः पक्षयोर्मोक्षाधिगमाभावः" [वात्स्या० भा० १-१-२२] अनेन च भाष्यवाक्येन न मुक्तस्य नित्यसुखसंवित्तिरुपेयते-तस्याः प्रमाणबाधितत्वात्–किन्तु सर्वथा यदर्थं शास्त्रभारब्धं तस्योपपत्तिरनेन प्रतिपाद्यते, वाक्यस्वाभाव्यात् । तद्धि किञ्चिद्वस्त्वभिधानवृत्त्या प्रतिपादयदपि तात्पर्यशक्तेरन्यत्र भावान्न श्रूयमाणार्थपर परन्यायविद्भिः परिगृह्यते, विषभक्षणादिवाक्यवत् । तन्न परमानन्दप्राप्तिर्मोक्षः ।

नापि विशुद्धज्ञानोत्पत्तिः, रागादिमतो विज्ञानाद् तद्रहितस्य तस्योत्पत्तेरयोगात् । तथाहि-यथा बोधाद् बोधरूपता ज्ञानान्तरे तद्वद् रागादिरपि स्यात्, तादात्म्यात्, विपर्यये तदभावप्रसंगात् । न च विलक्षणादपि कारणाद् विलक्षणकार्यस्योत्पत्तिदर्शनात् बोधाद् बोधरूपतेति प्रमाणमस्ति । अत एव ज्ञानान्तरहेतुत्वे न पूर्वकालभावित्वं समानजातीयत्वमेकसन्तानत्वं वा हेतु, व्यभिचारात् । तथाहि-पूर्वकालत्वं तत्समानक्षणैः समानजातीयत्वं च सन्तानान्तरज्ञानैर्व्यभिचारीति । तेषां हि पूर्वकालत्वे तत्समानजातीयत्वेऽपि न विवक्षितज्ञानहेतुत्वमिति । एकसन्तानत्वं चान्त्यज्ञानेन व्यभिचरतीति ।

की बात ही नही है । सिर्फ इतना ही है कि आरोपित सुख मे या उसके साधन मे तत्त्वज्ञान के अभ्यास से राग नही होता । राग का न होना यही द्वेष के स्वरूप का सवेदन प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । यदि रागाभाव को ही द्वेष कहेगे तो अपेक्षणीय आकाशादि पदार्थों में किसी को राग न होने से द्वेष का सद्भाव मानना होगा, किन्तु ऐसा कोई कहता नही कि 'अमुक को आकाश मे द्वेष है' । अतः यह फलित होता है कि मुमुक्षु की प्रवृत्ति द्वेषमूलक नही होती ।

[मुमुक्षु में द्वेपसत्ता होने पर भी बन्धाभाव]

कदाचित् मुमुक्षु की प्रवृत्ति को द्वेषमूलक मान ले तो भी कोई बन्ध की आपत्ति नही है । कारण, वही द्वेष बन्धहेतु हो सकता है जो उत्पन्न हो कर शास्त्रविरुद्ध कायिक-वाचिक या मानसिक प्रवृत्ति करावे । यदि जीव शास्त्रनिषिद्ध अनुष्ठानो का आचरण करेगा तो उससे अधर्म की उत्पत्ति द्वारा शरीर का ग्रहण भी होगा, और तन्मूलक दु.ख भी भोगना होगा । जब कि यहाँ मुमुक्षु को सर्व विषयो मे द्वेष है वह तो प्रवृत्तिमात्र का विरोधी होने से धर्म की या अधर्म की उत्पत्ति को अवकाश न होने से शरीर ग्रहण का हेतु नही होगा । इसलिये विषयद्वेष सिर्फ बन्ध का हेतु ही नही होगा, इतना ही नही किन्तु अन्ततोगत्वा वह अपना भी नाशक ही होगा । जैसे कि भाष्यकार ने कहा है- "प्रहाण मे (मोक्ष मे) नित्यसुख का राग अप्रतिकूल है । इसका अर्थ यह है कि मुमुक्षु को नित्यसुख का (भाव या) अभाव प्रतिकूल नही है । (ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो उसके ऊपर भाष्यकार कहते है कि) तब मुक्तात्मा को नित्य सुख होवे या न होवे-दोनो पक्ष मे मोक्षप्राप्ति का अभाव ही प्रसक्त होगा ।"-इस भाष्यवाक्य से यह फलित नही होता कि भाष्यकार को मुक्तिमे नित्यसुखसवेदन का होना मान्य है, क्योकि मुक्ति मे नित्यसुखसवेदन प्रमाणबाधित है । इस भाष्यवाक्य से तो जिस के लिये शास्त्रप्रणयन किया जा रहा है उसकी उपपत्ति=सगति कैसे होती है यही दिखाना है, क्योकि वाक्यस्वभाव ही ऐसा है । वाक्य का स्वभाव ऐसा है कि अभिधानवृत्ति (नामक सम्बन्ध) से किसी एक अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ भी वह तात्पर्यशक्ति से अन्य ही किसी अर्थ का प्रतिपादन करता

अथ नेष्यत एवान्त्यज्ञानं सर्वदाऽऽरम्भात् । तथाहि-मरणशरीरज्ञानमपि ज्ञानान्तरहेतुः, जाग्रदवस्थाज्ञानं च सुषुप्तावस्थाज्ञानस्येति । नन्वेवं मरणशरीरज्ञानस्यान्तराभवशरीरज्ञानहेतुत्वे गर्भशरीरज्ञानहेतुत्वे वा सन्तानान्तरेऽपि ज्ञानजनकत्वप्रसंगः, नियमहेतोरभावात् । 'अथेष्यत एवोपाध्यायज्ञानं शिष्यज्ञानस्य,' अन्यस्य कस्मान्न भवतीति ? अथ 'कर्मवासना नियामिके'ति चेत् ? न, तस्या विज्ञानव्यतिरेकेणाऽसम्भवात् । तथाहि-तादात्म्ये सति विज्ञानं बोधरूपतयाऽविशिष्टं बोधाच्च बोधरूपतेरयविशेषेण विज्ञान विदध्यात् ।

है, अतः अच्छे न्यायवेत्ता उस वाक्य के यथाश्रुत अर्थ को ग्रहण नही करते हैं जैसे- कि विषभक्षणादि-प्रतिपादक वाक्य । साराश, मुक्ति परमानन्दस्वभावरूप नही है ।

[मुक्ति विशुद्धज्ञानोत्पत्तिस्वरूप भी नहीं है]

जो लोग मोक्ष मे विशुद्धज्ञान की उत्पत्ति को मानते हैं वे भी ठीक नही कहते क्योंकि विज्ञानोत्पत्ति रागादिग्रस्त व्यक्ति को ही होती दिखाई देती है अत. रागादिरहित व्यक्ति को उसकी उत्पत्ति का सम्भव ही नही है । जैसे देखिये, यदि आप उत्तरज्ञान की बोधरूपता बोधहेतुक ही मानते हैं तो फिर उसी तरह रागादिरूपता भी माननी पड़ेगी क्योकि ज्ञान और रागादि का आपके मत मे भेद नही है । इसलिये यदि बोध से रागोत्पत्ति नही मानेंगे तो फिर बोध की उत्पत्ति का भी अभाव प्रसक्त होगा । तथा दूसरी बात यह है कि ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञान से ही हो-इस मे कोई प्रमाण नही है, क्योंकि असमान जातीय कारण से विलक्षण कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है । इसी लिये यदि आपसे पूछा जाय कि ज्ञान को ही उत्तरज्ञान का हेतु मानने में क्या हेतु है तो आप यह नही कह सकते कि उत्तरज्ञान का वह पूर्वकालभावि है अथवा समानजातीय है अथवा एकसन्तानगत है इसलिये वह उत्तरज्ञान का हेतु है ।-ऐसा इसलिये नही कह सकते कि-उक्त तीनो विकल्प मे व्यभिचार दोष है । जैसे देखिये-यदि पूर्वकालभावि होने मात्र से उसको उत्तरज्ञान का हेतु माना जाय तो उत्तरज्ञान के समान क्षण मे उत्पन्न अन्यज्ञानो मे व्यभिचार होगा क्योकि पूर्वकालभावित्व उनके प्रति होने पर भी उन ज्ञानो की हेतुता नही है । समानजातीय होने से यदि पूर्वज्ञान को उत्तरज्ञान का हेतु मानेंगे तो उत्तरज्ञान के सन्तान से भिन्न संतान के ज्ञानों की भी समानजातीयता है किन्तु उनके प्रति हेतुत्व नही है, अतः यहा भी व्यभिचार हुआ । तथा, एक सन्तानगत होने से उत्तरज्ञान के प्रति पूर्वज्ञान को हेतु मानें तो उसी सन्तान के अन्त्यक्षण के प्रति उस ज्ञान मे एक सन्तानता है किन्तु अंत्यक्षण के प्रति हेतुता नही है, तो यहाँ भी व्यभिचार ही हुआ । निष्कर्ष-किसी भी रीति से, ज्ञान से ही ज्ञानोत्पत्ति का समर्थन नही हो सकता ।

[ज्ञानधारा अविच्छिन्न होने की शंका का निरसन]

यदि ऐसा कहे कि-अन्त्यज्ञान मे जो व्यभिचार दिखाया है वह अयुक्त है क्योकि हमे अन्त्यज्ञान ही मान्य नही है, हम तो ज्ञानधारा को निरन्तर ही मानते हैं । जैसे देखिये-मरणकालीन शरीर से जो ज्ञान होता है वह भी अन्यज्ञान का हेतु होता है और जाग्रत अवस्था मे जो अन्तिमज्ञान होता है वह भी सुषुप्तावस्था के आद्यज्ञान का हेतु होता है ।-नैयायिक इसके ऊपर कहते है कि यदि ऐसा मानेंगे तो, अर्थात् मरणशरीरज्ञान को मध्यकालीन शरीर मे ज्ञान का हेतु मानेंगे और गर्भकालीन-शरीर में ज्ञान का भी हेतु मानेंगे तो फिर चैत्रसन्तान का ज्ञान मैत्र के सन्तान मे भी ज्ञानोत्पत्ति कर

यच्चेदम् सुषुप्तावस्थायां हि ज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थाज्ञानं कारणम्' इति (अ)सवेतत्, सुषुप्तावस्थायां हि ज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्, उभयत्रापि स्वसंवेद्यज्ञानस्य सद्भावाऽविशेषात्। मिद्धेनाभिभूतत्वं विशेष' इति चेत्? असदेतत्, तस्यापि तद्धर्मतया तादात्म्येनाभिभावकत्वाऽयोगात्। व्यतिरेके तु रूपादिपदार्थानामेव सत्त्वात् तत्स्वरूपं निरूप्यम्, अभिभवश्च यदि विनाशः, न विज्ञानस्य सत्त्वं विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम्। अथ तिरोभावः, न, विज्ञानस्य सत्त्वेन 'तत्सत्त्वैव संवेदनम्' इत्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्तेः, अतः सुषुप्तावस्थायां विज्ञानाऽसत्त्वेनान्त्यज्ञानस्य सद्भावादेकज्ञानसन्तानत्वं व्यभिचारीति।

देगा। जब कोई नियम ही नही है तो अन्य सन्तान में ज्ञानोत्पत्ति की आपत्ति क्यों नही होगी? यदि कहे कि-हम तो उपाध्याय के ज्ञान से शिष्य सन्तान मे ज्ञान की उत्पत्ति को मानते ही है अत: जो आपत्ति आपने कही है वह अनिष्टरूप नही है।-तो इसके ऊपर भी प्रश्न है कि जैसे शिष्यों को ज्ञान उत्पन्न होगा वैसे दूसरे को भी क्यो उत्पन्न नही होगा, जब कोई नियामक ही नही है? यदि अन्य सन्तान मे ज्ञानोत्पत्ति का वारण करने के लिये कहा जाय कि कर्मवासना नियामक है—तात्पर्य यह है कि जिस सन्तान मे ज्ञानोत्पादअनुकुल कर्मवासना विद्यमान होगी उसी सन्तान मे नया विज्ञान उत्पन्न होगा, चैत्र सन्तान की कर्मवासना मैत्रसन्तान मे न होने से वहाँ ज्ञानोत्पत्ति की आपत्ति नही होगी-तो यह भी अयुक्त है क्योकि बौद्धमत से विज्ञान से विभिन्न कर्मवासना का स्वरूप ही कुछ नही है। देखिये-कर्मवासना का विज्ञान के साथ यदि तादात्म्य मानेंगे तो विज्ञान तो बोधरूपता से अतिरिक्त नही है अत: कर्मवासना यदि बोध से अभिन्न होगी तो उसमें भी बोधरूपता ही प्रसक्त है। अतः चैत्र सन्तान के ज्ञान से मैत्र में ज्ञानोत्पत्ति किसी भेदभाव के विना ही होने की आपत्ति लगी रहेगी।

[सुषुप्तावस्था में ज्ञान की सिद्धि अशक्य]

तथा यह जो आपने कहा-सुषुप्तावस्था के साथ में जाग्रत् अवस्था का ज्ञान कारण है-यह भी गलत ही कहा है। कारण, यदि सुषुप्ति मे भी ज्ञान मानेंगे तो फिर सुषुप्ति और जागृति मे कोई भेदभाव ही नही रहेगा, क्योकि दोनों अवस्था मे स्वयसवेदी ज्ञान का सद्भाव समानरूप से है फिर सुषुप्ति कैसे? यदि कहे कि वहाँ स्वसवेदीज्ञान मिद्धदशा (घेन) से अभिभूत (दबा हुआ) है यही सुषुप्ति मे विशेषता है-तो यह बात गलत है क्योकि मिद्धदशा भी बौद्धमत् मे ज्ञान का ही धर्म होने से ज्ञान से अभिन्न ही है। स्व से अभिन्न पदार्थ मे स्व की अभिभावकता मानना संगत नही है। यदि उसे ज्ञान से भिन्न मानेंगे तो वह बौद्ध मत मे प्रसिद्ध रूपस्कन्धादि में से ही कोई न कोई मानना होगा-तो अब यही खोजना पडेगा कि वह रूपात्मक है या रसात्मक है इत्यादि। तथा अभिभव का अर्थ यदि विनाश किया जाय तो एक बात यह होगी कि विज्ञान का सत्त्व ही उपपन्न नही होगा क्योकि विज्ञानोत्पादक सामग्रीकाल मे उसकी नाशक सामग्री भी विद्यमान है अत: उसकी उत्पत्ति ही नही होगी तो सत्त्व कैसे मानेंगे? दूसरे, मिद्धदशा यदि विज्ञान से भिन्न और विज्ञान की नाशक होगी तब तो नाश को सहेतुक-मानना पडेगा, अत: बौद्ध मत मे नाश की निर्हेतुकता का भंग होगा। अभिभव का अर्थ यदि तिरोभाव किया जाय (जैसे कि राजा होने पर भी भिखारी का वेष बना ले तो उसका राजत्व तिरोहित हो जाता है)-तो वह भी ठीक नही है क्योकि विज्ञान को आप सत् मानते हैं और उसका सत्त्व यही उसका सवेदन मानते है फिर उसका तिरोभाव

यच्चेदम्-'विशिष्टभावनावशाद् रागादिविनाशः' इति-असदेतत्, निर्हेतुकत्वात् विनाशस्या-भ्यासानुपपत्तेश्च। अभ्यासो ह्यवस्थिते ध्यातरि अतिशयाधायकत्वादुपपद्यते न क्षणिके ज्ञानमात्रे इति। अत एव न योगिनां सकलकल्पनाविकलं ज्ञानमुत्पद्यते। न च सन्तानापेक्षयाऽतिशयः, तस्यैवाऽसम्भवाद् अविशिष्टाद् विशिष्टोत्पत्तेरयोगाच्च। तथाहि-पूर्वस्मादविशिष्टादुत्तरोत्तरं सातिशयं कथमुपजायत इति चिन्त्यम्। यच्च 'सन्तानोच्छित्तिर्नि:श्रेयसम्' इति, तत्र निर्हेतुकतया विनाशस्योपायवैयर्थ्यम्, प्रयत्नसिद्धत्वादिति।

अन्ये तु "अनेकान्तभावनातो विशिष्टप्रदेशेऽक्षयशरीरादिलाभो निःश्रेयसम्" इति मन्यन्ते। तथा च नित्यभावनायां ग्रहः, अनित्यत्वे च द्वेष इत्युभयपरिहारार्थमनेकान्तभावना इति, एवं सदादि-ष्वपि योज्यम्। प्रत्यक्षं च स्वदेशकाल-कारणाधारतया सत्त्वम् परदेशादिष्वसत्त्वमित्युभयरूपता। तथा, घटादिर्मृदादिरूपतया नित्यः सर्वावस्थासूपलम्भात्, घटादिरूपतया चानित्यस्तदपायात्, एवमात्मा-प्यात्मादिरूपतया नित्यः सर्वदा सद्भावात्, सुखादिपर्यायरूपतया चानित्यस्तद्विनाशात्। एवं सर्वत्र स्वकार्येषु कर्तृत्वम् कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वमित्यूह्यम्, स्वशब्दाभिधेयत्वम् शब्दान्तरानभिधेयत्वं चेति।

कैसे सगत होगा ? साराश, सुषुप्ति अवस्था मे विज्ञान की सत्ता संगत न होने से उसका पूर्ववर्त्ती ज्ञान अन्त्यज्ञान रूप में सिद्ध हुआ और इसीलिये एक सन्तानत्व का उसमे व्यभिचार भी तदवस्थ ही रहा।

[अभ्यास से रागादिनाश की अनुपपत्ति]

यह जो कहते हैं कि विशिष्टभावना के अभाव से रागादि का विनाश होता है-यह भी गलत है क्योकि नाश तो बौद्धमत मे निर्हेतुक होने से विशिष्टभावनास्वरूप अभ्यास से उसके नाश की बात असगत है। तथा क्षणिकवाद में अभ्यास भी घट नही सकता। यदि ध्याता स्थायि हो तभी एक ही व्यक्ति में नये नये अतिशय के उत्तरोत्तर आधान द्वारा अभ्यास की बात संगत हो सकती है किन्तु क्षणिकविज्ञानवाद मे वह संगत नही है। जब अभ्यास क्षणिकवाद मे सगत नही, तब योगियो को सकलकल्पनाजालविनिर्मुक्त ज्ञान की उत्पत्ति भी संगत नही हो सकती। यदि कहे कि-एक स्थायि व्यक्ति को न मानने पर भी सन्तान के आधार से अतिशयाधान द्वारा अभ्यास की बात संगत है-तो यह भी ठीक नही है क्योकि सन्तान ही सत्पदार्थरूप में सम्भव नही है, तथा पूर्वकालीन साधारण विज्ञान से उत्तरकालीनविशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति भी संगत नही है। फिर से देखिये कि पूर्वकालीन साधारण विज्ञानक्षण से उत्तरोत्तर सातिशय विज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? यह विचारणीय है। तदुपरात, ऐसा जो बौद्धमत में कहा है कि-ज्ञानसन्तान का सर्वथा उच्छेद यही मोक्ष है-इस मत मे यह दोष होगा कि नाश निर्हेतुक होने की मान्यता के कारण सन्तानोच्छेद के लिये कोई भी उपाय दिखाया जाय वह व्यर्थ ही होगा क्योकि विनाश तो अनायास स्वयं ही सिद्ध होने वाला है।

[अनेकान्तभावना से मोक्षलाभ]

अन्य कुछ वादिलोग कहते हैं-अनेकान्त मत की भावना के बल से विशिष्ट स्थान मे होने वाला अक्षय देह का लाभ यही मुक्ति है। जैसे देखिये वस्तु को यदि नित्य मान लेते हैं तो ग्रह (=राग) हो जाता है और यदि अनित्य क्षणभगुर मानते है तो द्वेष होने का सम्भव है, किन्तु नित्यानित्योभयरूप अनेकान्तमत की भावना से भावित हो जाने पर न राग होता है न द्वेष, दोनों का परिहार हो जाता है। इसी तरह सादि, अनादि, सान्त और अनन्त की चर्चा में भी अनेकान्त ही मानना चाहिये।

तदेतदसाम्प्रतम्, मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वेन प्रतिषेधात्- अनेकान्तज्ञानं च मिथ्यैव, बाधकोपपत्तेः। तथाहि-नित्याऽनित्यत्वयोर्विधि प्रतिषेधरूपत्वादभिन्ने धर्मिणि अभावः। एवं सदसत्त्वादेरपीति। यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्यः' इति, असदेतत्, मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वात्। तथाहि-घटादर्थान्तरं मृद्रूपता मृत्त्वं सामान्यम्, तस्य तु नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात्, घटस्य तु कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव। यच्चेदम् 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वम्' तदिष्यते एव इतरेतराभावस्याभ्युपगमात्। तथाहि-इतरस्मिन् देशादावितरस्य घटस्याभावो नानुत्पत्तिः, न प्रध्वंसः, तत्र तस्य सर्वदाऽसत्त्वात्। द्वैरूप्ये तु स्वदेशादिष्वप्यनुपलम्भप्रसंगः।

एवमात्मनोऽपि नित्यत्वमेव, सुख-दुःखादेस्तद्गुणत्वेन ततोऽर्थान्तरस्य विनाशेऽप्यविनाशात्। कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वम् न प्रतिषिध्यते। तथाहि-यद् यस्यान्वय-व्यतिरेकाभ्यामुत्पत्तौ व्याप्रियते इत्युपलब्धं तत् तस्य कारणं नान्यस्येत्यभ्युपगम्यत एव। एवं शब्दानभिधेयत्वेऽपि 'न सर्वं सर्वशब्दाभिधेयम्' इत्यभ्युपगमात्। न चानेकान्तभावनातो विशिष्टशरीरादिलाभेऽस्ति प्रतिबन्धः। न चोत्पत्तिधर्मणां शरीरादीनामक्षयत्वं न्याय्यम्। तथा, मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्त्तते इति मुक्तो न मुक्तश्चेति स्यात्। एवं च सति स एव मुक्तः संसारी चेति प्रसक्तम्। एवमनेकान्तेऽप्यनेकान्ताभ्युपगमो दूषणम्, वस्तुनः सदसद्रूपताऽनेकान्तः, तस्यानेकान्ताभ्युपगमे रूपान्तरमपि प्रसक्तम्। एवं नित्यानित्यरूपताव्यतिरिक्तं च रूपान्तरमित्यादि वाच्यम्।

अनेकान्त मत अयुक्त नही है, क्योकि स्वदेश-स्वकाल-स्वकारण-स्वआधारादि की अपेक्षा से वस्तु का सत्त्व और पर देशादि की अपेक्षा असत्त्व इस प्रकार उभयरूपता प्रत्यक्ष से ही दिखती है। तथा, घटादि पदार्थ मिट्टी आदिरूप से नित्य है क्योकि घट की सभी अवस्था मे मिट्टीरूपता निरन्तर उपलब्ध होती है। घटादिरूप से वह अनित्य भी है क्योकि उसका नाश होता है। इसी तरह आत्मा भी आत्मादिरूप से सर्वदा विद्यमान होने से नित्य है, किन्तु सुखादिपर्यायरूप से उसका विनाश भी दिखता है अत: अनित्य भी है इस प्रकार सर्वत्र अपने कार्यों की अपेक्षा उस मे कर्तृत्व और तदन्य कार्यो के प्रति अकर्तृत्व भी सोच लेना चाहिये। तथा अपने वाचक शब्द की अपेक्षा से अभिधेयता और अन्य शब्दो की अपेक्षा से अनभिधेयत्व भी समझ लेना चाहिये।

[अनेकान्तभावना से मोक्ष की बात असंगत]

यह जो अनेकान्तमत है वह अनुचित है- मिथ्याज्ञान कभी मोक्ष का कारण नही होता, और यह अनेकान्त का ज्ञान तो बाधकग्रस्त होने से मिथ्या ही है। जैसे देखिये-नित्यत्व और अनित्यत्व क्रमश: विधि निषेध रूप होने से एक अभिन्न धर्मि में रह नही सकते। सत्त्व और असत्त्व भी उसी तरह नही रह सकते। तथा यह जो कहा कि-घटादि यह मृदादिरूप से नित्य है...इत्यादि, यह गलत है, क्योकि मृद्रूपता तो घटादि से अन्यपदार्थरूप ही है। वह इस प्रकार, घट से अन्यपदार्थरूप मृद्रूपता मृत्त्वसामान्यरूप है, वह यदि नित्य हो तो उससे घट का नित्यत्व नही हो जाता, क्योकि घट तो मृत्त्वसामान्य से अन्य ही है। घट का तो नाशक कारणो से नाश उपलब्ध होता है अत: वह अनित्य ही है। तथा स्व-देशादि मे सत्त्व और पर-देशादि मे असत्त्व की बात जो कही है वह तो इष्ट ही है, क्योकि हम भी इतरेतराभाव (यानी अत्यन्ताभाव) को मानते ही हैं। वह इस प्रकार:-इतर देशादि में इतर यानी घट का जो अभाव है वह अनुत्पत्ति (प्रागभाव) रूप या ध्वंसात्मक नही है

अन्ये तु "आत्मैकत्वज्ञानात् परमात्मनि लयः सम्पद्यते" इति ब्रुवते। तथाहि-आत्मैव परमार्थसन्, ततोऽन्येषां भेदे प्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षं हि पदार्थानां सद्भावग्राहकमेव न भेदस्य इत्यविद्यासमारोपित एवायं भेदः-इति मन्यन्ते। तदप्यसत्-आत्मैकत्वज्ञानस्य मिथ्यारूपतया निःश्रेयससाधकत्वानुपपत्तेः, मिथ्यात्वं चात्माधिकार एव वक्ष्यामः। एवं शब्दाद्वैतज्ञानमपि मिथ्यारूपतया न निःश्रेयससाधनमिति द्रष्टव्यम्। यथा चैतेषां मिथ्यारूपता तथा प्रतिपादयिष्यामः। तन्नानुपमसुखावस्थान्तरप्राप्तिलक्षणात्मस्वरूपं मुक्तिः, तत्सद्भावे बाधकप्रमाणप्रदर्शनात्, विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्तिसद्भावे च प्रदर्शितं प्रमाणमिति।

क्योकि प्रागभाव या ध्वस का सत्त्व सार्वदिक नही होता जब कि इतरदेश मे घटादि का अभाव तो सार्वदिक होता है। यदि घट का सत् और असत् उभयरूप मानेंगे तो असत् रूपता के कारण स्वदेशादि मे भी उसका उपलम्भ न हो सकेगा।

[आत्मा में नित्यत्वादि का एकान्त]

मृत्त्वसामान्य की तरह आत्मा भी नित्य ही है, सुख-दु खादि तो उसके गुण है और उससे अन्य पदार्थरूप हैं अतः उनके विनाश से भी आत्मा का विनाश नही हो जाता। अन्य कार्यो के प्रति उसके अकर्तृत्व का तो हम भी निषेध नही करते है। तथा अन्य शब्दो से अनभिधेयत्व का भी हम निषेध नही करते क्योकि हम सभी वस्तु को सभी शब्दो से अभिधेय नही मानते हैं। तथा यह जो कहा है कि अनेकान्त भावना से अविनाशी विशिष्ट शरीर का लाभ होता है इसमे कोई नियम नही है। अर्थात् विशिष्टशरीर के लाभ की बात असगत है। क्योकि उत्पत्तिशील देह आदि पदार्थ की अनश्वरता न्याययुक्त नही है। उत्पन्न भाव अवश्य विनाशी होता है। तदुपरात, यदि अनेकान्तवाद को मान लिया जाय तो मुक्ति मे भी अनेकान्त अनिवृत्त ही रहेगा, फलतः जो मुक्त है वही अमुक्त कहना होगा। अर्थात् ऐसा मानने पर जो मुक्त है उसीको ससारी मानने की आपत्ति होगी। तथा अनेकान्त मे भी आपको अनेकान्त ही मानना पडेगा, यह भी एक दोष होगा। वह इस प्रकार-वस्तु को सदसद् उभयरूप मानना यह अनेकान्त है। किन्तु इसमे भी अनेकान्त प्रसक्त होने पर सदसत्त्व रूप से इतर अन्य कोई रूप मानना पडेगा। उसी तरह वस्तु मे नित्यानित्यत्व और नित्यानित्यत्व से इतर अन्य किसी रूप को भी मानने की आपत्ति आयेगी।

[अद्वैतवादी अभिमत मोक्ष में असंगति]

अन्य वेदान्ती विद्वान कहते हैं-आत्मा एक ही है-ऐसा आत्मैकत्व का ज्ञान होने पर आत्मा का परमात्मा मे लय हो जाता है। वे कहते है कि एकमात्र आत्मा की ही पारमार्थिक सत्ता है। शेष पदार्थो का आत्मा से भेद होने मे कोई भी प्रमाण ही नही है, क्योकि, प्रत्यक्ष तो पदार्थों के सद्भाव का ही ग्राहक है, उनके भेद का नही। अतः भेद का समारोपण सर्वत्र अविद्या के प्रभाव से ही होना है।-किन्तु यह आत्माद्वैतवाद भी गलत है। आत्मा एक ही है-यह ज्ञान मिथ्याज्ञानरूप होने से उस ज्ञान मे मोक्षसाधकता को मानना असगत है। आत्मैकत्वज्ञान मिथ्या है यह आत्मा के प्रकरण मे इसी ग्रन्थ मे कहा जाने वाला है।

साराश, अनुपमसुखस्वरूप अवस्थान्तर की प्राप्ति वाले आत्मस्वरूप को मुक्ति मानना सगत नहीं है, क्योकि मुक्ति मे सुख मानने मे जो बाधक है उसका प्रदर्शन किया हुआ है। विशेषगुणो के उच्छेद स्वरूप मुक्ति की सिद्धि मे तो प्रमाण दिखाया हुआ है। [नैयायिकपूर्वपक्ष समाप्त]।

[मुक्तिमीमांसायामुत्तरपक्षः]

अत्र प्रतिविधीयते-यत् तावदुक्तम् 'नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्' इति, अत्र बुद्धयादिविशेषगुणानां प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् तत्सन्तानस्याभावादाश्रयाऽसिद्धो हेतुः। तथा, बुद्धयादीनां विशेषगुणानां परेण स्वसंविदितत्वेनानभ्युपगमाद् ज्ञानान्तरग्राह्यत्वे चाऽनवस्थादिदोषप्रसक्तेरवेद्यत्वमित्यज्ञानस्य सत्त्वाऽसिद्धेः पुनरप्याश्रयाऽसिद्धः 'सन्तानत्वात्' इति हेतुः। किंच, सन्तानत्वं हेतुत्वेनोपादीयमानं यदि सामान्यमभिप्रेतं तदा बुद्धयादिविशेषगुणेषु प्रदीपे च तेजोद्रव्ये सत्तासामान्यव्यतिरेकेणापरसामान्यस्याऽसम्भवात् स्वरूपासिद्ध'। सत्तासामान्यरूपत्वे वा सन्तानत्वस्य 'सत् सत्' इति प्रत्ययहेतुत्वमेव स्यात्, न पुनः सन्तानप्रत्ययहेतुत्वमेव, अन्यथा द्रव्य-गुण-कर्मस्वरूपादेव 'सत्-सत्' इति प्रत्ययसम्भवात् सत्तापरिकल्पनावैयर्थ्यम्। अथ विशेषगुणाश्रिता जातिः सन्तानत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तम्, तदा द्रव्यविशेषे प्रदीपलक्षणे साधर्म्यदृष्टान्ते तस्याऽसम्भवात् साधनविकलो दृष्टान्तः। न च सत्ताविलक्षणं सामान्यमेकं स्वाधारसर्वगतं वा प्रतिवादिनः प्रसिद्धमिति प्रतिवाद्यसिद्धो हेतुः।

[विशेषगुणोच्छेदरूपमुक्ति की मान्यता का निरसन–उत्तरपक्ष]

अब नैयायिक के सिद्धान्त का प्रतिकार किया जाता है-

नैयायिकों ने जो यह कहा है-"आत्मा के नव विशेषगुणो के सन्तान का अत्यन्त उच्छेद हो सकता है क्योकि वह सन्तानरूप है।" यहाँ सन्तानत्व हेतु आश्रयासिद्ध है क्योकि बुद्धि आदि नैयायिकसम्मत विशेषगुणों का आत्मविभुत्ववाद मे निराकरण कर दिया है अत' उनका सन्तान ही असिद्ध है, तो सन्तानत्व हेतु कहा रहेगा ? अन्य एक प्रकार से भी सन्तानत्व हेतु आश्रयासिद्ध है-नैयायिक बुद्धि आदि विशेषगुणो को स्वसविदित नही मानता है, यद्यपि ज्ञानन्तरवेद्य मानता है किन्तु उसमे अनवस्थादि दोष आता है [एक ज्ञान का ग्रहण करने के लिये दूसरा ज्ञान, दूसरे को ग्रहण करने के लिये तीसरा .. फिर चौथा.... इस प्रकार अनवस्था दोष होता है]। जब ज्ञान स्वसविदित नही है और ज्ञानान्तरवेद्य भी नही हो सकता तो वह अवेद्य ही मानना पडेगा। जो अवेद्य=अज्ञात होता है उसकी सत्ता ही सिद्ध नही होगी। फिर बुद्धि आदि गुणो की सिद्धि न होने पर सन्तान भी असिद्ध ही हो जायेगा तो सन्तानत्व हेतु किस आश्रय मे रहेगा ?

तथा, हेतुरूप से प्रयुक्त सन्तानत्व यदि जाति रूप माना जाय तो हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायेगा, क्योकि बुद्धि आदि विशेषगुणों मे तथा प्रदीपादि अग्निद्रव्य मे सत्ता जाति के अलावा और किसी भी उभय साधारण अपर जाति का सम्भव ही न होने से उक्त सन्तानत्व जाति भी वहाँ नही रह सकेगी। यदि वहाँ सन्तानत्व को सत्ता जातिरूप ही मान लिया जाय तो फिर वह 'यह सत् है यह सत् है' ऐसी बुद्धि मे हेतु होगी किन्तु 'यह सन्तान है' ऐसी बुद्धि के प्रति हेतु नही हो सकेगी। यदि सन्तानत्वजाति के विना भी आप वहाँ 'यह सन्तान है' ऐसी बुद्धि होने का मानेगे तो सत्ताजाति के विना ही द्रव्य-गुण-कर्म मे उनके स्वरूप से ही 'यह सत् है' ऐसी बुद्धि होने का मान लेने से सत्ता जाति को मानने की जरूर नही रहेगी अतः उसकी कल्पना व्यर्थ हो जायेगी।

यदि कहे कि-हम सिर्फ विशेषगुणों मे ही सन्तानत्व जाति को मान लेगे और उसका हेतुरूप

न च सन्तानत्वं सामान्यं व्याप्त्या बुद्ध्यादिषु वृत्तिमत् सिद्धम्, तद्वृत्तेः समवायस्य निषिद्धत्वात्, तत्सत्त्वेऽपि तद्बलात् सन्तानत्वस्य बुद्ध्यादिसम्बन्धित्वे तस्य सर्वत्राऽविशेषादाकाशादिष्वपि नित्येषु सन्तानत्वस्य वृत्तेरनैकान्तिकत्वम्। न च समवायस्याऽविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषात् सन्तानत्वं बुद्ध्यादिष्वेव वर्त्तते नाकाशादिष्विति वक्तुं युक्तम्, इतरेतराश्रयप्रसक्तेः-सिद्धे हि सन्तानत्वस्याकाशादिव्यवच्छेदेन बुद्ध्यादिवृत्तित्वे विशेषत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चान्यपरिहारेण तद्वृत्तित्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम्। अपि च, यदि समवायस्य सर्वत्राऽविशेषेऽपि बुद्ध्यादिविशेषगुण-सन्तानत्वयोः प्रतिनियताधाराधेयरूपता सिद्धिमासादयति तदा व्यर्थः समवायाभ्युपगमः, तद्व्यतिरेकेणापि तयोस्तद्रूपतासिद्धेः।

अथ प्रमाणपरिदृष्टत्वात् समवायस्याभ्युपगमः न पुनः समवायिविशेषरूपताऽन्यथाऽनुपपत्तेः। असदेतत्, तद्ग्राहकप्रमाणस्यैवाभावात्। तथाहि-स सर्वसमवाय्यनुगतैकस्वभावो वाऽभ्युपगम्येत, तद्व्यावृत्तस्वभावो वा? न तावत् तद्व्यावृत्तस्वभावः समवायः, सर्वतो व्यावृत्तस्वभावस्यान्याऽसम्ब-

---

मे प्रयोग करेंगे-तो प्रदीपरूप साधर्म्य दृष्टान्त मे हेतुविरह दोष हो जायेगा, क्योंकि द्रव्यविशेष (अग्नि)रूप प्रदीप मे तो विशेषगुणाश्रित सन्तानत्व जाति का सभव ही नही। उपरात, प्रतिवादी के मत मे, अपने सभी आधारो मे विद्यमान हो ऐसा नैयायिकसम्मत एक सत्तादिरूप सामान्य मान्य ही नही है, अत: प्रतिवादी के प्रति जातिरूप सन्तानत्व हेतु असिद्ध हुआ।

[सन्तानत्वसामान्य के संबन्ध की अनुपपत्ति]

दूसरी बात यह है कि बुद्धचादि गुणो मे व्यापकरूप से सन्तानत्व रूप सामान्य का सम्बन्ध भी सिद्ध नही है। समवाय का तो उसके सम्बन्धरूप मे पहले ही निषेध किया हुआ है। कदाचित् समवाय की सत्ता मान ले तो भी, समवाय के आधार पर सन्तानत्व को यदि बुद्धि आदि से सम्बद्ध माना जाय तो समवाय सर्वत्र समानरूप से विद्यमान होने से आकाशादि के साथ भी सन्तानत्व का समवाय सम्बन्ध मानना होगा। फलतः सन्तानत्व हेतु आकाशादि मे रह गया किन्तु वहाँ अत्यन्तोच्छेदरूप साध्य न होने से वह व्यभिचारी सिद्ध होगा। यदि ऐसा कहे कि-समवाय तो यद्यपि सर्वत्र समानरूप से विद्यमान है किन्तु समवायिओ मे विशेषता होती है और वह विशेषता ऐसी है कि जिससे सन्तानत्व बुद्धि आदि मे ही है और आकाशादि मे नही है।-तो यह ठीक नही है, क्योंकि इसमे अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त है, सन्तानत्व आकाशादि मे नही किन्तु बुद्धि आदि मे ही रहता है यह सिद्ध होने पर उक्त विशेषता सिद्ध होगी और विशेषता सिद्ध होने पर सन्तानत्व आकाशादि मे नही किन्तु बुद्धि आदि मे ही रहता है यह सिद्ध होगा। तथा, समवाय सर्वत्र समान होने पर भी यदि बुद्धि आदि विशेषगुणो के साथ ही सन्तानत्व का नित्यरूप से आधाराधेयभाव सिद्ध होता है तो फिर समवाय की मान्यता व्यर्थ हो गयी क्योंकि आधाराधेयभाव के लिये तो उसकी कल्पना करते है और उसके बिना भी आधाराधेयभाव तो सिद्ध होता है।

[समवाय के विषय में प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं है]

यदि ऐसा कहे कि-समवाय तो प्रमाण से सुनिश्चित होने से माना गया है, नही कि समवायिओ की विशेषरूपता को उपपन्न करने के लिये-तो यह ठीक नही है क्योंकि समवाय को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण ही नही है। यह देखिये-वस्तुमात्र के दो स्वभाव होते है a अनुवृत्तस्वभाव और

न्धित्वेन नीलस्वरूपवत् समवायत्वानुपपत्तेः। नापि तदनुगतैकस्वभाव, सामान्यवत् तत्समवायत्वाऽयोगात्–नित्यस्य सतोऽनेकत्र वृत्तेः सामान्यस्य परेण समवायत्वानभ्युपगमात्। न च समवायस्वरूपस्यापि ग्राहकत्वेन निर्विकल्पकं सविकल्पकं वाऽध्यक्षं प्रवर्त्तते, किमुत तस्यानेकसमवाय्यनुगतैकतद्विशेषरूपस्य, तदग्रहणे तदनुगतैकरूपस्यापि अप्रतिभासनादिति सामान्यप्रतिषेधप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात्। नापि तत्र प्रत्यक्षाऽप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्यानुमानस्यापि प्रवृत्तिः।

अथ सम्बन्धत्वेनासावध्यवसीयते तदयुक्तम्, यतः A किं 'सम्बन्धः' इति बुद्धयाऽध्यवसीयते, B आहोस्विद् 'इह' इति बुद्धया, C उत 'समवाय' इति प्रतीत्या ?

A तद् यदि सम्बन्धबुद्धया तदा वक्तव्यम्–कोऽयं सम्बन्धः ? किं a सम्बन्धत्वजातियुक्तः, b आहोस्विदनेकोपादानजनितः, c अनेकाश्रितो वा, d सम्बन्धबुद्धिविषयो वा, e सम्बन्धबुद्धयुत्पादको वा ? a तद् यदि सम्बन्धत्वजातियुक्तः स न युक्तः, समवायाऽसम्बन्धत्वप्रसंगात्। b अथानेकोपादानजनितस्तदा घटादेरपि सम्बन्धत्वप्रसंगः। c अथानेकाश्रितस्तदा घटजात्यादौ सम्बन्धत्वप्रसग। e अथ सम्बद्धबुद्धयुत्पादकस्तदा लोचनादेरपि सम्बन्धत्वप्रसक्तिः। d अथ सम्बद्धबुद्धयवसेयस्तदा घटादिष्वपि सम्बन्धशब्दव्युत्पादने सम्बन्धज्ञानविषयत्वे सम्बन्धत्वप्रसंगः, तथा सम्बन्धेतरयोरेकज्ञानविषयत्वे इतरस्य सम्बन्धरूपताप्रसक्ति.। अथ सम्बन्धाकारः सम्बन्धः, संयोगाभेदप्रसंगः, अत्रान्तराकारभेदश्च न भेदक, तस्याऽप्रसिद्धेः।

---

b व्यावृत्तस्वभाव। समवाय को आप कैसा मानगे ? a सकल समवायी पदार्थो मे अनुगत एक स्वभाववाला मानगे या b उन से व्यावृत्तस्वभाववाला मानेंगे ? b उनसे व्यावृत्तस्वभाववाला मान नही सकते क्योंकि जो सकल पदार्थो से व्यावृत्तस्वभाववाला होगा वह अन्य किसी का भी सम्बन्धी न होने से समवायरूप ही नही हो सकता, जैसे नील का स्वरूप नीलेतर सभी पदार्थो से व्यावृत्त होने से समवायरूप नही होता। a सभी पदार्थो मे अनुगत एक स्वभाव वाला भी उसे नही मान सकते क्योकि अनुगतस्वभाववाली वस्तु समवायरूप नही घट सकती जैसे जाति अनुगतस्वभाववाली होती है तो उस मे समवायत्व नही रहता है। तथा नित्य और एक होने पर जो अनेक मे रहता है वह तो नैयायिक मत मे जातिरूप माना जाता है, समवायरूप नही। उपरात, निर्विकल्प और सविकल्प कोई भी प्रत्यक्ष समवाय के स्वरूप को भी ग्रहण करके जब प्रवृत्त होता नही है, तब उसके अनेक समवायि मे अनुगत एक स्वभावरूप विशेषता को तो ग्रहण करने की बात ही कहाँ ? सामान्यतत्त्व के निराकरण के प्रसग मे यह कहा ही है कि जिसके स्वरूप का भी ग्रहण नही होता उसके अनुगत एक स्वभाव का प्रतिभास नही हो सकता। जब प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति समवाय के विषय मे नही है तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान की भी प्रवृत्ति नही हो सकती।

[संबन्धरूप से समवाय का अध्यवसाय विकल्पग्रस्त]

यदि ऐसा कहे कि–समवाय का सम्बन्धरूप से अध्यवसाय (=भान) होता है अतः वह असिद्ध नही है–तो यह ठीक नही है क्योकि यहाँ तीन विकल्प हैं–A क्या "सम्बन्ध"–इस आकार की बुद्धि से उसका भान होता है B या 'इह=यहाँ (वह है)' ऐसी बुद्धि से भान होता है C या 'समवाय' ऐसी प्रतीति से उसका भान होता है।

A अगर कहे कि–'सम्बन्ध' ऐसी बुद्धि से उसका भान होता है तो यहाँ पाँच प्रश्न हैं–a यह

B अथेहवुद्धयाऽवसेयः समवायः। न, इहबुद्धेरधिकरणाध्यवसायरूपत्वात्। न चान्यस्मिन्नाकारे प्रतीयमानेऽन्याकारोऽर्थः कल्पयितुं युक्तः, अतिप्रसगात्।

C अथ समवायबुद्धया समवाय' प्रतीयत इत्यभ्युपगमः, सोऽप्यनुपपन्नः, समवायबुद्धेरनुपपत्ते, न हि 'एते तन्तवः, अय पटः, अय समवाय' इति परस्परविविक्तं त्रितय बहिर्ग्राह्याकारतया कस्याश्चित् प्रतीतावुद्भाति, तथानुभवाभावात्। अथानुमानेन प्रतीयते। अयुक्तमेतत्, प्रत्यक्षाभावे तत्पूर्वकस्यानुमानस्याप्यप्रवृत्तेः। सामान्यतोदृष्टमपि नात्र वस्तुनि प्रवर्त्तते, तत्प्रभवकार्यानुपलब्धेः। न च इहबुद्धिरेव समवायज्ञापिका-"इह तन्तुषु पट. इति प्रत्ययः सम्बन्धनिमित्तः, अबाधितेहप्रत्ययत्वात्, 'इह कुण्डे दधि' इति प्रत्ययवत्" इति-विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-किं निमित्तमात्रमनेन प्रतीयते, उत सम्बन्धः? यदि निमित्तमात्रं तदा सिद्धसाध्यता। अथ सम्बन्ध, स सयोगः समवायो वा?

सम्बन्ध क्या सम्बन्धत्वजातिवाला है? b या अनेक उपादानो से जन्य है? c या अनेक मे आश्रित है? d या सम्बन्धाकार वुद्धि का विषय है? e या सम्बन्धाकारवुद्धि का उत्पादक है?

a अगर कहे कि वह सम्बन्धत्वजातिवाला है तो यह अयुक्त है क्योकि वह जातियुक्त होने से कभी समवायसम्बन्धरूप नही हो सकेगा। [समवाय तो मात्र एक व्यक्ति रूप ही आपने माना है।] b यदि कहे कि समवाय अनेक उपादानो से जन्य पदार्थ है तो वहाँ घटादि को भी समवाय सम्बन्ध रूप मानने की आपत्ति होगी क्योकि घटादि भी अनेक उपादनो से जन्य होता है। c यदि उसे अनेक मे आश्रित मानेंगे तो घट और जाति आदि मे भी सम्बन्धत्व की अतिप्रसक्ति होगी क्योकि घट और जात्यादि अनेक मे आश्रित होते हैं। e यदि उसे सम्बन्धाकार वुद्धि का उत्पादक कहा जाय तो लोचनादि भी सम्बन्धाकार वुद्धि के उत्पादक होने से लोचनादि को सम्बन्ध रूप मानना पडेगा। d यदि उसे सम्बन्धाकारवुद्धि ग्राह्य से मानेंगे तो घटादि मे सम्बन्धत्व मानने की आपत्ति होगी, क्योकि 'सम्बन्ध' शब्द का यदि घटादि अर्थ मे आधुनिक सकेत किया जाय तो सम्बन्ध शब्द से होने वाली सम्बन्धाकारवुद्धि को विपयता घटादि मे हो जायेगी। तदुपरात, यदि सम्बन्ध और सम्बन्धभिन्न पदार्थो का एक साथ (समूहालम्बन) ज्ञान होगा तव सम्बन्धभिन्न वस्तु भी सम्बन्धाकार ज्ञान का विपय वन जाने से उसमे सम्बन्धत्व की आपत्ति होगी। यदि कहे कि-अन्तरात्मा मे जो सम्बन्धाकार का अनुभव होता है वह सम्बन्धाकार ही सम्बन्धरूप है-तो समवाय और सयोग दोनो मे अभेद प्रसक्त होगा क्योकि सयोग का भी अन्तरात्मा मे सम्बन्धाकार ही अनुभव होता है। आन्तर आकारभेद को दोनो का भेदक नही कह सकते, क्योकि उन दोनो का अन्तरात्मा मे सम्बन्धाकाररूप से ही अनुभव होता है अत आन्तर आकारभेद ही असिद्ध है।

[इहबुद्धि और समवायबुद्धि से समवाय की प्रतीति अनुपपन्न]

B यदि समवाय को 'इह' इस आकार की बुद्धि से ग्राह्य दिखाया जाय तो उससे समवाय की सिद्धि नही हो सकती क्योकि 'इह' यह बुद्धि तो अधिकरण को विपय करती है, समवाय को नही। जिस आकार की प्रतीति होती है उससे भिन्न आकार वाले अर्थ को उस प्रतीति का विषय मानना युक्त नही है, अन्यथा घटाकार प्रतोति को पटविपयक मानने को आपत्ति होगी।

C 'समवाय' इस आकार की वुद्धि से समवाय की प्रतीति होने की बात भी अयुक्त है, क्योकि विचार करने पर 'समवाय' इस आकार की वुद्धि ही घट नही सकती। किसी भी प्रतीति मे 'ये तन्तु,

संयोगप्रतिपत्तावभ्युपगमबाधा। समवायानुमाने सम्बन्धव्यतिरेकः, न चान्यस्य सम्बन्धे सत्यन्यस्य गमकत्वम्, अतिप्रसंगात्। न हि देवदत्तेन्द्रियघटसम्बन्धे यज्ञदत्तेन्द्रियं रूपादिकमर्थं करणत्वात् प्रकाशयद् दृष्टम्। तन्न समवायः कस्यचित् प्रमाणस्य गोचरः।

न च तस्य समवायिभ्यामसम्बद्धस्य सम्बन्धरूपता। न च तत्सम्बन्धनिमित्तोऽपरः समवायोऽभ्युपगम्यते, अभ्युपगमे वाऽनवस्थाप्रसंगः। विशेषण-विशेष्यभावस्यापि तत्सम्बन्धनिमित्तस्य सम्बन्धाभ्युपगमेऽनवस्थादिदूषणं समानम्। न चाऽसम्बद्धस्याऽपि तस्य सम्बन्धरूपत्वादपरपदार्थसम्बन्धकत्वमिति वाच्यम्, विहितोत्तरत्वात्। न च समवायस्यान्यस्य वा एकान्तनित्यस्य कार्यजनकत्व सम्भवति, नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न च तदभावे पदार्थानां सत्त्वम्, सत्तासम्बन्धित्वेन तस्य निषिद्धत्वान्निषेत्स्यमानत्वाच्च। तदेव समवायस्याभावात् सन्तानत्वं बुद्ध्यादिसन्तानेषु न वृत्तिमत् सिद्धमिति सन्तानत्वलक्षणे हेतु. कथं नाऽसिद्धः ?

यह वस्त्र और यह समवाय' इस प्रकार परस्पर पृथक् रूप से बाह्यरूप मे ग्राह्यआकारवाला त्रिपुटी का भान नही होता क्योंकि वैसा अनुभव ही किसी को नही होता है।

अनुमानात्मक प्रतीति मे उक्त त्रिपुटी का भान मानने की बात भी अयुक्त है, क्योंकि त्रिपुटी का प्रत्यक्ष न होने पर प्रत्यक्षमूलक अनुमान की सभावना ही नही रहती। यदि कहे कि-प्रत्यक्षमूलक अनुमान भले न होता हो किन्तु 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान की समवाय के ग्रहण मे प्रवृत्ति शक्य है-तो यह भी अयुक्त है क्योंकि समवायजन्य कोई ऐसा कार्य उपलब्ध नही है जिस के बल से अप्रत्यक्ष भी समवाय की सिद्धि हो सके।

[इहबुद्धि से समवायसिद्धि अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि-'इह=यहाँ' इस आकार की बुद्धि ही समवाय की साधक है, जैसे देखिये-'यहा तन्तुओ मे वस्त्र है, ऐसी प्रतीति सम्बन्धनिमित्तक है क्योंकि वह बाधरहित 'यहाँ' ऐसी प्रतीतिरूप है जैसे कि 'यहाँ कुण्ड मे दही है' ऐसी बुद्धि (सयोग)सम्बन्धमूलक होती है।-तो यह भी ठीक नही है, क्योंकि इस अनुमान मे जो प्रतीत होता है उसके ऊपर एक भी विकल्प घटता नही है, जैसे देखिये-a निमित्तमात्र हा यहाँ प्रतीत होता है या b सम्बन्ध ही प्रतीत होता है ? a निमित्तमात्र की प्रतीति तो हम भी मानते है अत. पहले विकल्प मे सिद्धसाधन दोष हुआ। b यदि सम्बन्ध प्रतीत होता है तो वह सयोग या समवाय मे से कौनसा है ? सयोग की प्रतीति मानेंगे तो अपनी मान्यता के साथ विरोध होगा क्योंकि आप को वहाँ समवाय की प्रतीति इष्ट है। यदि समवाय की प्रतीति होने का मानेंगे तो सम्बन्ध की प्रतीति का अभाव प्रसक्त होगा। नियम है कि जिस का किसी के साथ सम्बन्ध हो वही उसका बोधक हो सकता है अन्य कोई नही। उदा० देवदत्त की इन्द्रिय का घट के साथ सम्बन्ध होने पर यज्ञदत्त की इन्द्रिय सिर्फ करण होने मात्र से ही घटरूपादि अर्थ का प्रकाश करती हुयी नही दिखती है। प्रस्तुत मे उक्त अनुमान (हेतु) को यदि समवाय के साथ सम्बन्ध है तो वह समवाय का ही बोधक होगा, सम्बन्ध का नही, क्योंकि सम्बन्ध के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है। साराश, समवाय किसी भी प्रमाण का विषय नही है।

[समवाय के अभाव में सन्तानत्व हेतु की असिद्धि]

तथा, समवाय जब तक दो समवायि से असम्बद्ध रहेगा तब तक वह स्वय सम्बन्धरूप नही हो सकता। दो समवायी के साथ उसे सम्बद्ध मानने के लिये सम्बन्धकारक एक नया सम्बन्ध मानना

अथोपादानोपादेयभूतबुद्धयाविलक्षणं*प्रवाहरूपमेव सन्तानत्व हेतुत्वेन विवक्षितम् । ननु एवं तस्य तथाभूतस्याऽन्यत्राननुवृत्तेरसाधारणानैकान्तिकत्वम् अभ्युपगमविरोधश्च । न हि परेण बुद्धिक्षणोपादानोऽपरः सर्व एव बुद्धिक्षणोऽभ्युपगम्यते एकसन्तानपतितः । तथाभ्युपगमे वा मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्धयुपादानक्षणादुत्तरोत्तरोपादेयबुद्धिक्षणस्य सम्भवान्न बुद्धिसन्तानस्यात्यन्तोच्छेद साध्यः सम्भवति, यथोक्त हेतु सद्भावबाधितत्वात् ।

अथ पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्रं सन्तानत्वं तेनाऽयमदोषः । ननु एवमपि हेतोरसाधारणत्वं तदवस्थम् । न ह्येकसन्तानरूपमन्यानुयायि, व्यक्तेर्व्यक्त्यन्तराननुगमात्, अनुगमे वा सामान्यपक्षभावी पूर्वोक्तो दोषस्तदवस्थः, अनैकान्तिकश्च पाकजपरमाणुरूपादिभिः तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात् । अपि च, सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्चेति विपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणाभावेन संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः । विपक्षेऽदर्शनं च हेतोर्बाधकं प्रमाण प्रागेव प्रतिक्षिप्तम् ।

पडेगा जो आप तो नही मानते हैं, यदि मानेंगे तो उस नये सम्बन्ध को भी सम्बद्ध करने के लिये फिर नया-नया सम्बन्ध मानने मे अनवस्था दूषण लगेगा । विशेषण-विशेष्य भाव को यदि समवाय का दो समवायी के साथ सम्बन्धकारक सम्बन्धरूप मानेंगे तो भी अनवस्था दूषण तो ज्यो का त्यो रहेगा ही । यदि ऐसा कहे कि-समवाय स्वयं असम्बद्ध होने पर भी सम्बन्धरूप है । इसीलिये दो समवायी पदार्थ के सम्बन्धकारकरूप मे उस को मान सकते है-तो यह ठीक नही है क्योकि ऐसे तो दो समवायी को ही परस्पर सम्बन्धकारकरूप से मान सकते है यह उत्तर पहले भी दे दिया है । तदुपरात, दो समवायी के बीच सम्बन्धकारकरूप मे मान्य समवाय अथवा तो कोई भी अन्य पदार्थ यदि नित्य होगा तो वह किसी भी कार्य को जन्म नही दे सकता, क्योकि नित्य पदार्थ विरोध के कारण क्रम से या एक साथ अर्थक्रियाकारक नही बन सकता यह हम आगे दिखायेंगे । जब पदार्थ मे अर्थक्रियाकारित्व नही घटेगा तो उसका सत्त्व भी अमान्य हो जायेगा । यदि कहे कि-हम अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व को नही किन्तु सत्ताजातिसम्बद्धत्वरूप सत्त्व को मानेंगे-तो यह भी ठीक नही क्योकि सत्ताजातिसम्बद्धत्वरूप सत्त्व का पहले निषेध किया है और आगे भी किया जायेगा । निष्कर्ष, समवाय असिद्ध होने से यही सिद्ध होता है कि सन्तानत्व किसी भी सम्बन्ध से बुद्धिसन्तान मे वृत्तिमत् नही है । अत आपने जो अनुमान कहा था कि "बुद्धि आदि के सन्तान का अत्यन्त विनाश होता है क्योकि उनमे सन्तानत्व है, जैसे प्रदीपसन्तान मे"-इस अनुमान में सन्तानत्व हेतु असिद्ध कैसे नही है ? ।

[उपादानोपादेयबुद्धिप्रवाह रूप सन्तानत्व हेतु में दोष]

यदि कहे कि-सन्तानत्व हेतु को जातिस्वरूप न मान कर उपादान-उपादेयभावविशिष्टबुद्धि आदि की क्षणपरम्परारूप माना जाय तो उक्त कोई दोष नही है-तो यह बात गलत है क्योकि यहाँ असाधारण अनैकान्तिक दोष सावकाश है । वह इस प्रकार:-जो हेतु सभी सपक्ष और विपक्ष से व्यावृत्त हो उसको असाधारणअनैकान्तिक कहा जाता है । प्रस्तुत मे बुद्धि आदि क्षणपरम्परारूप सन्तानत्व हेतु प्रतिवादी के मत से विपक्षव्यावृत्त तो है ही, और सपक्ष व्यावृत्त इसलिये है कि बुद्धि आदि क्षणपरम्परारूप सन्तानत्व सिर्फ बुद्धि आदि मे ही रहेगा, प्रदीपादि मे उसकी अनुवृत्ति नही रहती,

---

* बुद्धयादिक्षणप्रवाहरूपमेव-इति पाठशुद्धिरत्र गवेषणीया ।

विरुद्धश्चायं हेतुः, शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिष्वप्यत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव सन्तानत्वस्य भावात् । न ह्येकान्तनित्येष्विवाऽनित्येष्वप्यर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वं सम्भवतीति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न च प्रदीपादीनामुत्तरः परिणामो न प्रत्यक्षः इत्येतावता 'ते तथा न सन्ति' इति व्यवस्थापयितुं शक्यम्, अन्यथा परमाणूनामपि पारिमाण्डल्यगुणाधारतया प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तेस्तद्रूपतयाऽसत्त्वप्रसंगः। अथ तेषां तद्रूपताऽनुमानात् प्रतिपत्तेर्नायं दोषः । ननु साऽनुमानात् प्रतिपत्तिः प्रकृतेऽपि तुल्या । यथा हि स्थूलकार्यप्रतिपत्तिस्तदपरसूक्ष्मकारणमन्तरेणाऽसम्भविनी परमाणुसत्तामवबोधयति तथा मध्यस्थिति-दर्शनं पूर्वापरकोटिस्थितिमन्तरेणासम्भवि तां साधयतीति प्रतिपादयिष्यते ।

क्योंकि प्रदीपादि मे प्रदीपक्षणपरम्परा रहती है। तदुपरांत, यहाँ नैयायिक को अपनी मान्यता के साथ विरोध भी आयेगा । कारण, नैयायिक मत मे एकपरम्परागत सकल बुद्धिक्षणो का बुद्धिक्षण-रूप उपादान नही माना जाता । तात्पर्य, जागृति के आद्यबुद्धिक्षण का पूर्व बुद्धिक्षण उपादान नही होता है और अन्तिमबुद्धिक्षण का कोई उत्तरबुद्धिक्षणरूप उपादेय नही होता है । यदि नैयायिक बुद्धि क्षणो मे उपादान-उपादेयभाव आँख मुंद कर मान लेगा तो मुक्ति अवस्था मे भी पूर्वपूर्वबुद्धिक्षणरूप उपा-दान से उत्तरोत्तरबुद्धिक्षणरूप उपादेय के उत्पाद का सम्भव हो जाने से 'बुद्धिसन्तान के अत्यन्तो-च्छेदरूप' साध्य का ही असम्भव हो जायेगा । क्योकि अखण्डित पूर्वापरबुद्धिक्षणपरम्परारूप हेतु का पक्ष मे सद्भाव होने पर अत्यन्तोच्छेदरूप साध्य का बाधित होना सहज है।

[पूर्वापरभावापन्नक्षणप्रवाहरूप सन्तानत्व हेतु में दोष]

यदि कहे कि-उपादान-उपादेय भूत क्षणपरम्परा को हम हेतु नही करेंगे किन्तु पूर्वापर-भावापन्न समानजातीय क्षणपरम्परारूप सन्तानत्व को ही हेतु करेंगे। अत उपादानोपादेयभाव मूलक जो दोष होता है वह नही होगा-तो यह कुछ ठीक है किन्तु पहला जो असाधारण अनैकान्तिक दोष है वह तो ज्यो का त्यो ही रहेगा । कारण, बुद्धि आदि क्षणपरम्परा बुद्धि आदि से अन्यत्र प्रदीप आदि मे अनुवर्त्तमान नही है। कारण, नैयायिक मत मे जातिरूप पदार्थ का अन्य व्यक्तिओ मे अनुगम हो सकता है किन्तु व्यक्तिरूप पदार्थ का अन्य व्यक्तिओ मे अनुगम सम्भव ही नही है । यदि व्यक्ति का भी अन्य व्यक्तिओं मे अनुगम मानेंगे तो हमने पहले जो जाति के ऊपर दोषारोपण किया है वह यहाँ ज्यो का त्यो लागु हो जायेगा । तथा, हेतु मे अनैकान्तिक दोष का भी सम्भव है, वह इस प्रकार:-परमाणु के पाकजरूपादि मे पूर्वापरसमानजातीयरूपादिक्षणपरम्परारूप सन्तानत्व हेतु रहने पर भी उस परम्परा का अत्यन्त उच्छेद नही होता है । अनैकान्तिक दोष यहाँ दूसरे प्रकार से भी लागु होता है, वह इस प्रकार:-सन्तानत्व भले हो, अत्यन्तोच्छेद का अभाव भी रहे, तो क्या बाध है-ऐसी विप-रीत शंका करने पर कोई उसका बाधक प्रमाण नही है अतः बुद्धिआदि का सन्तान ही विपक्षरूप मे संदिग्ध हो गया और हेतु उसमे रहता है अत. संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति रूप अनैकान्तिक दोष प्रकट हुआ । विपक्ष में हेतु के अदर्शनमात्र को उक्त शका के बाधक प्रमाणरूप मे मान लेने की बात का तो पहले ही प्रतिकार हो चुका है।

[सन्तानत्व हेतु में विरोध दोष]

बुद्धि आदि मे अत्यन्तोच्छेद की सिद्धि के लिये प्रयुक्त सन्तानत्व हेतु मे पूर्वोक्त दोषो के उपरांत विरोध दोष भी है। कारण, सन्तानत्व उन्ही मे रहता है जिनका (किंचिद् अश से उच्छेद

न च ध्वस्तस्यापि प्रदीपस्य विकारान्तरेण स्थित्यभ्युपगमे प्रत्यक्षबाधा, वारिस्थे तेजसि भास्वररूपाभ्युपगमेऽपि तद्बाधोपपत्तेः। अथोष्णस्पर्शस्य भास्वररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसम्भवादनुद्भूतस्य तत्र परिकल्पनमनुमानतः, तर्हि प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तिवद् न सन्ततिविपत्त्यभावमन्तरेण विपत्तिः सम्भवतीत्यनुमानतः किं न कल्प्यते तत्सन्तत्यनुच्छेदः ? अन्यथा सन्तानचरमक्षणस्य क्षणान्तराऽजनकत्वेनाऽसत्त्वे पूर्वपूर्वक्षणानामपि तत्त्वान्न विवक्षितक्षणस्यापि सत्त्वमिति प्रदीपादेर्दृष्टान्तस्य बुद्ध्यादिसाध्यधर्मिणश्चाभाव इति नानुमानप्रवृत्तिः स्यात्। तस्मात् शब्द-बुद्धि-प्रदीपादीनामपि सत्त्वे नात्यन्तिको व्युच्छेदोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा विवक्षितक्षणेऽपि सत्त्वाभावः। इति सर्वत्रात्यन्तानुच्छेदवत्येव सन्तानत्वलक्षणो हेतुर्वर्त्तत इति कथं न विरुद्धः ?

विपरीतार्थोपस्थापकस्यानुमानान्तरस्य सद्भावादनुमानबाधित पक्षः, हेतोर्वा कालात्ययापदिष्टत्वम्। यथा चानुमानस्य पक्षबाधकत्वम् अनुमानबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन हेतोर्वा कालात्ययापदिष्टत्वं तथाऽसकृत् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते। अथ किं तदनुमानं प्रकृतप्रतिज्ञायाः बाधकं येनात्रायमुक्तदोषः स्यात् ? उच्यते–

होने पर भी) अत्यन्त (=सर्वथा) उच्छेद नहीं होता जैसे कि शब्द, बुद्धि और प्रदीप का सन्तान। यह हम आगे दिखाने वाले हैं कि अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व का लक्षण जैसे एकान्तनित्य पदार्थों मे नहीं घटता, वैसे एकान्त अनित्य पदार्थों मे भी नहीं घटता है। प्रदीपादि का उत्तरकालीन परिणाम प्रत्यक्ष नहीं दिखता है इतने मात्र से 'वे नहीं हैं' ऐसी स्थापना शक्य नहीं। अन्यथा यह आपत्ति होगी कि पारिमाण्डल्य (=अणुपरिमाण) गुण के आधाररूप मे परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता तो उन का भी असत्त्व ही मानना पडेगा। अगर कहें कि–अनुमान से अणुपरिमाण के आधाररूप मे परमाणु सिद्ध है अतः उनके असत्त्व की आपत्ति का दोष निरवकाश है–तो प्रस्तुत मे प्रदीपादि का भी उत्तरकालीन सत्त्व अनुमानसिद्ध होने से असत्त्वापत्ति दोष की निरवकाशता तुल्य है। दोनो जगह अनुमान से सिद्धि इस प्रकार हैं—अन्य सूक्ष्म अवयवात्मक कारणो के विना स्थूल अवयवी कार्य का भान होना सम्भव नहीं है अतः चरम सूक्ष्म अवयवात्मक कारण के रूप मे परमाणु स्थिति का दर्शन उसकी पूर्वापरकोटि मे स्थिति के विना सम्भव नहीं है, अत प्रदीपादि का भी अप्रकाशकाल मे पूर्वापर सत्त्व सिद्ध होता है–यह आगे दिखाया जायेगा।

[सन्तानत्व हेतु में विरोध दोष का समर्थन]

बुझे हुए प्रदीप का अन्य विकाररूप से (यानी अन्धकारद्रव्यात्मकपरिणामरूप से) अवस्थान मानने मे प्रत्यक्षबाध जैसा कुछ नहीं है। यदि यहाँ प्रत्यक्ष बाध मानेंगे तो उष्णजलान्तर्वर्त्ती अग्नि की भास्वररूपवत्ता मानने मे भी प्रत्यक्ष बाध मानना पडेगा। यदि कहें कि–'भास्वररूपाधिकरणभूत अग्निद्रव्य के अभाव मे, जल मे उष्ण स्पर्श का सम्भव नहीं है अत अनुमान से वहाँ अनुद्भूत भास्वररूप की कल्पना अनिवार्य है'–तो प्रस्तुत मे यह कह सकते है कि उपादान के विना जसे अग्नि की उत्पत्ति सम्भव न होने से उपादान की कल्पना की जाती है, उसी तरह सन्तान का नैरन्तर्य न रहने पर उसका ध्वस भी सम्भव नहीं है तो फिर अनुमान से प्रदीपादि के सन्तताभाव की कल्पना भी क्यो न की जाय ? ! यदि आप प्रदीप सन्तान के अन्तिम क्षण को ऐसे ही (नये विकार के जन्म के विना) ध्वस्त मान लेंगे तो उस मे क्षणान्तरजनकत्व (रूप अर्थक्रियाकारित्व) के न रहने से सत्त्व

पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणपरिणामवान् शब्द बुद्धि प्रदीपादिकोऽर्थः, सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा, यावान् कश्चित् भावस्वभावः स सर्वः तादृशभावस्वभावविवर्त्तमन्तरेण न सम्भवति, तथाहि–

न तावत् क्षणिकस्य निरन्वयविनाशिनः सत्त्वसम्भवोऽस्ति स्वाकारानुकारि ज्ञानमन्यद्वा कार्यान्तरमप्राप्याऽऽत्मानं संहरतः सकलशक्तिविरहितस्य व्योमकुसुमादेरिव सत्त्वानुपपत्तेः। तादृशस्य न हि कार्यकालप्राप्तिः, क्षणभंगभंगप्रसक्तेः। नापि फलसमयमात्मानमप्रापयतस्तज्जननसामर्थ्यं चिरतरविनष्टस्येव सम्भवति। न च समनन्तरभाविनः कार्यस्योत्पादने कारणं स्वसत्ताकाल एव सामर्थ्यमाप्नोति, कार्यकाले तस्य स्वभाव(वा)विशेषात् ततः प्रागपि कार्योत्पत्तिप्रसंगात्। तस्मिन् सत्यभवन्नसति स्वयमेव भवन्नयं भाव. तत्कार्यव्यपदेशमपि न लभते, न हि समर्थे कारणे प्रादुर्भावमप्राप्नुवत् कार्यम् इतरद्वा कारणम्, अतिप्रसंगात्। न च समनन्तरभावविशेषमात्रेण तत्कार्यत्वं युक्तम्, समनन्तरप्रभवत्वस्यैवाऽसम्भवात्–इतरेतराश्रयप्रसक्तेः इति प्रतिपादितत्वात्।

का अभाव प्रसक्त होगा। अन्तिम क्षण मे सत्त्व का अभाव प्रसक्त होने पर उपान्त्यादिक्षण परम्परा में भी असत्त्व प्रसक्त होगा, इस प्रकार तो जिस क्षण मे आपको प्रदीप का सत्त्व इष्ट है उस क्षण मे भी उसका असत्त्व प्रसक्त होगा। फलतः दृष्टान्तभूत प्रदीपादि और पक्षभूत बुद्धि आदि धर्मी का ही अभाव हो जायेगा, तो अनुमान की प्रवृत्ति भी कैसे होगी ?! यदि आपको इस दोष से बचना है अर्थात् शब्द, बुद्धि और प्रदीपादि का विवक्षित क्षण मे सत्त्व मानना है तो फिर उनका अत्यन्त विच्छेद मत मानीये, यदि मानेंगे तो विवक्षित क्षण मे भी असत्त्व की आपत्ति खडी है। साराश, प्रदीपादि सब अत्यन्तविच्छेदरहित ही है और उनमे ही सन्तानत्व हेतु रहता है तो वह विरुद्ध क्यो नही होगा ?

[सन्तानत्व हेतु में पक्षबाधा और कालात्ययापदिष्टता]

विरुद्ध दोष की तरह प्रतिपक्षी के अनुमान मे अनुमानबाधितपक्षरूप दोष भी है क्योंकि उक्त साध्य से विपरीत अर्थ का साधक अन्य अनुमान मौजूद है। अथवा अनुमानबाध के बदले हेतु मे कालात्ययापदिष्टता दोष भी कहा जा सकता है। अन्य अनुमान से पक्षबाधा कैसे है अथवा पक्ष के अनुमानबाधित होने का निर्देश करने के बाद हेतु प्रयोग किये जाने के कारण हेतु मे कालात्ययापदिष्ट दोष कैसे लगता है यह तो बार बार कह चुके है इसलिये फिर से नही कहते है। यदि यह पूछा जाय कि हमारी सन्तान के अत्यन्तोच्छेद की प्रतिज्ञा मे बाधक बनने वाला वह कौन सा अनुमान है जिस से पक्षबाधादि उक्त दोष होता है ? तो उत्तर मे यह अनुमान है कि—

"शब्द–बुद्धि और प्रदीपादि पदार्थ पूर्वस्वभावपरिहार-उत्तरस्वभावधारणस्वरूप परिणामवाले होते हैं क्योंकि वे सत् हैं अथवा कृतक है। जो कुछ भावस्वभाव पदार्थ है उन सभी का तथाविधभावस्वभावविवर्त्त (यानो पूवस्वभावत्याग-उत्तरस्वभावधारणरूप परिणामभाव) के विना सम्भव नही होता।" जैसे देखिये—

[शब्दादि में परिणामवाद की सिद्धि]

[शब्द मे परिणामित्व की सिद्धि के लिये कथित अनुमान के बाद जो व्याप्ति कही गया- उसका अब विस्तार से समर्थन किया जा रहा है] निरन्वयविनाशी क्षणिक वस्तु का सत्त्व सम्भवित नही है। कारण, अपने आकार से तुल्य ज्ञान को या अन्य किसी कार्य को उत्पन्न किये विना ही अपनी

उपचरितं चैवं तस्य कार्यत्वमितरस्य च कारणत्वं स्यात् अक्षणिकवत् । तत्कारणभावे सत्यभवन्तं प्रति पुन. कारणस्य भावाभावयोर्न कश्चिद्विशेष', ततोऽक्षणिकादिव क्षणिकादपि सत्त्वादिर्वस्तुस्वभावो व्यावर्तत एव । न ह्यक्षणिके एव क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोध:, किं तर्हि ? क्षणभंगेऽपि । तथाहि-न तावत् कार्य-कारणयोः क्रम. सम्भवति, कालभेदात् जन्य-जनकभावविरोधात्, चिरतरोपरतोत्पन्नपितापुत्रवत् । न हि तादृशस्यापेक्षाऽपि सम्भवति, अनाधेयाऽप्रहेयातिशयत्वाद् अक्षणिकवत्, न हि कश्चिदतिशयं ततोऽनासादयत् भावान्तरमपेक्षते यतः क्रमः स्यात्, जन्यजनकयोराधेयविशेषत्वेऽपि न क्रमसम्भव:, क्रमिणोः कालभेदात् तत्त्वानुपपत्तेः । यौगपद्यं तु तयोर्हेतुफलभावतयैवाऽसम्भवि, समानकालयोर्हि न हेतुफलभाव: सव्येतरगोविषाणवदपेक्षानुपपत्तेः ।

जात का सहरण करने वाले अतएव सकलशक्तिशून्य ऐसी वस्तु का सत्त्व सम्भवित नही है जैसे कि गगनकुसुमादि । (सत्त्व मानने के लिये उससे कुछ कार्य होने का मानना चाहिये किन्तु वह भी सगत नही होता, वह इस प्रकार:—) कार्योत्पत्ति काल के साथ क्षणिकभाव का योग सम्भव नही है, यदि सम्भव माने तो दूसरे क्षण मे उसका सद्भाव हो जाने से क्षणिकवाद का भग हो जायेगा । कार्यकाल के साथ जिसका योग न हो ऐसे पदार्थ मे कार्योत्पादन के लिये सामर्थ्य भी नही घट सकता जैसे कि चिर पूर्व मे विनष्ट पदार्थ वर्त्तमान मे कार्योत्पादन के लिये असमर्थ होता है । यदि ऐसा कहे कि–समनन्तरभावि (=स्वोत्तरकालभावि) कार्य के उत्पादन के लिये कारणक्षण अपने सत्ताकाल मे ही समर्थ होता है–तो यह भी ठीक नही है क्योकि कार्यकाल मे कार्योत्पत्ति करने के लिये अपेक्षित जो स्वभाव है वह कारणकाल मे भी समानरूप से विद्यमान है अत: कार्यकाल के पूर्वक्षण मे, अर्थात् कारणक्षण मे भी कार्योत्पत्ति हो जाने की आपत्ति आयेगी । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कारण की विद्यमानता मे जो नही उत्पन्न होता और कारण की अविद्यमानता मे (उत्तरक्षण में) जो स्वय उत्पन्न होता है ऐसे पदार्थ को 'कार्य' सज्ञा ही प्राप्त नही है । समर्थ कारण की विद्यमानता मे भी जो उत्पन्न नही होता वह कार्य ही कैसे कहा जाय ? और उसके कारण को कारण भी कैसे कहा जाय ? यदि कहेगे तो जिस किसी की भी कारण-कार्य सज्ञा की जा सकेगी । तथा तत् का समनन्तर भाव विशेष (स्वोत्तरक्षणवर्त्तित्व) मात्र होने से किसी को तत् पदार्थ का कार्य कहना युक्तियुक्त नही है, क्योकि यहाँ समनन्तरजन्यत्व (यानी तत् पदार्थ के उत्तरकाल मे उत्पत्ति) की सगति ही नही बैठ सकती । कारण, 'समनन्तरजन्यत्व' का पृथक्करण करने पर इतरेतराश्रय दोष होता है यह कहा जा चुका है । कार्यत्व का आधार कारणानन्तर्य और कारणत्व का आधार कार्यानन्तर्य हो जाने से अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है ।

[क्षणिकवाद में कारण-कार्यभाव की अनुपपत्ति]

तदुपरात, कारण की अविद्यमानता मे भी उत्पन्न होने वाले भाव को यदि आप 'कार्य' संज्ञा करेंगे तो वह वास्तव न होकर औपचारिक बन जायेगी, अत एव पूर्वभाव मे कारणत्व भी औपचारिक ही बन जायेगा, जैसे कि क्षणिकवादी अक्षणिक भाव मे कार्यत्व या कारणत्व को वास्तव नही किन्तु औपचारिक ही मानता है । तात्पर्य यह है कि, कारणत्वेन अभिमत भाव के होने पर भी कार्य यदि नही होता तो उसके प्रति कारण का सद्भाव हो या अभाव, कोई फर्क नही पड़ता । अतः अक्षणिक वस्तु मे जैसे सत्त्वादिरूप वस्तुस्वभाव सगतियुक्त नही है वैसे क्षणिक पदार्थ मे भी वह सगत नही है । ऐसा नही है कि सिर्फ अक्षणिक भाव को ही क्रमश: अथवा एकसाथ अर्थक्रियाकारित्व के साथ

अत एव कृतकत्वादयोऽपि हेतवो वस्तुस्वभावाः परिणामानभ्युपगमवादिनां न सम्भवन्ति। तथाहि-अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक उच्यते, सा च परापेक्षा एकान्तनित्यवदेकान्ताऽनित्येऽप्यसम्भविनी, तदपेक्षाकारणकृतस्वभावविशेषेण विवक्षितवस्तुनः सम्बन्धोऽपि नोपपद्येत, स्वभावभेदप्रसक्तेः। अभेदे वाऽपेक्ष्यमाणादपेक्षकस्य सर्वथाऽऽत्मनिष्पत्तिप्रसंगात्। अत स्वभावभिन्नयोः प्रत्यस्तमितोपकार्योपकारकस्वभावयोर्भावयोः सम्बन्धानुपपत्तेः 'अस्येदम्' इति व्यपदेशस्यानुपपत्तिः। यदि पुनरपेक्षमाणस्य तदपेक्ष्यमाणेन व्यतिरिक्तमुपकारान्तरं क्रियेत, तत्सम्बन्धव्यपदेशार्थं तत्राप्युपकारान्तरं कल्पनीयमित्यनवस्था सकलव्योमतलावलम्बिनी प्रसज्येत। तस्मान्नित्याऽनित्यपक्षयोरर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम् कृतकत्वं वा न सम्भवतीति यत् किञ्चित् सत् कृतकं वा तत् सर्वं परिणामि, इतरथाऽकिञ्चित्करस्याऽवस्तुत्वप्रसङ्गान्नभस्तलारविन्दिनीकुसुमवत्।

विरोध है, अरे, क्षणिक भाव का भी उसके साथ विरोध है ही। वह इस प्रकार - क्षणिकवाद मे कार्य और कारण मे क्रमिकत्व का ही सम्भव नही है क्योकि क्षणिकवाद मे कारण-कार्य का समानकाल तो हो नही सकता और पूर्वापर भाव मानने मे कालभेद हो जाता है, कालभेद से जन्य-जनकभाव क्षणिक पदार्थ मे विरुद्ध है। उदा० चिरपूर्व मे स्वर्गत पिता (रूप से अभिमत व्यक्ति) और चिर भविष्य मे उत्पन्न पुत्र (रूप से अभिमत व्यक्ति,) इन दोनो मे पिता-पुत्र भाव (अर्थात् जन्यजनकभाव) विरुद्ध है। तथा भावि मे उत्पन्न होने वाले पदार्थ को भूतकालीन भाव की अपेक्षा भी नही हो सकती क्योकि भविष्यत्कालीन मे भूतकालीन भाव न किसी अतिशय का आधान कर सकता है, न तो उसमे से किसी अतिशय का परिभ्रंश करा सकता है, जैसे नित्य पदार्थ मे किसी भी अतिशय का आधान या परिभ्रंश शक्य नही होता। जो पदार्थ अन्यभाव से किसी भी अतिशय को प्राप्त नही करता वह उस अन्य भाव की अपेक्षा भी नही रखता है अतः उन दोनो मे क्रम होने की सम्भावना भी नही रहती। यदि कहे कि उदासीन भाव से अतिशयाधान न होने पर भी जनक पदार्थ से जन्य पदार्थ मे अतिशयाधान हो सकता है अतः उन दोनो मे क्रम की सम्भावना हो सकेगी-तो यह ठीक नही, क्योकि क्रम मानने पर कालभेद मानना होगा और भिन्नकालीन दो पदार्थ मे तो जन्यजनकभाव ही नही घट सकता, यह भी अभी कह आये है। क्रम का जैसे सम्भव नही है वैसे ही कारण-कार्य मे समानकालता भी सभव नही है। समानकालीन दो वस्तु मे अन्योन्य अपेक्षाभाव न होने से हेतु-फल भाव ही घटता नही है जैसे दायें बायें गोशृंग मे।

[परिणामवादस्वीकार के विना कृतकत्वादि की अनुपपत्ति]

क्षणिकभावो मे अर्थक्रियाकारित्व का उपरोक्त रीति से सम्भव न होने से वस्तुस्वभावात्मक कृतकत्वादि हेतु भी परिणामवाद न मानने वाले क्षणिक वादीयो के मत मे नही घट सकते। वह इस प्रकार:-जिस पदार्थ को अपने स्वभाव की निष्पत्ति मे परकीय व्यापार की अपेक्षा रहे वह कृतक कहा जाता है। किन्तु एकान्तनित्यपदार्थ को परापेक्षा होना जैसे सम्भव नही है वैसे एकान्त अनित्य पदार्थ को भी वह सम्भव नही है। कदाचित् उसको परापेक्षा है यह मान ले फिर भी उसके अपेक्षाकारण से जिस स्वभाव विशेष का आधान किया जायेगा उस स्वभावविशेष के साथ विवक्षित अनित्य पदार्थ का सम्बन्ध भी घट नही सकता है, क्योकि स्वभावविशेष का सम्बन्ध मानने पर स्वभावभेदमूलक वस्तुभेद की आपत्ति होती है। अपेक्षा कारण से आधान किये जाने वाले स्वभावविशेष को यदि

सन् कृतको वा शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिरिति सिद्धः परिणामी। सत्त्वं चार्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यस्य निषिद्धत्वात्, तच्चात्यन्तोच्छेदवत्सु न सम्भवत्येव, ततो व्यावर्त्तमानो हेतुः अनत्यन्तोच्छेदवत्स्वेव संभवतीति कथं न प्रकृतहेतुपक्षबाधकत्वमाशंकनीय प्रकृतसाध्यसाधकस्य हेतोरनेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात्।

न चाऽसत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य। तथाहि–बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान् सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, यो हि सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदो न स तत्त्वेनोपेयः, यथा पार्थिवपरमाणुपाकजरूपादिसन्तानः, तथा च बुद्ध्यादिसन्तानः, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवान्, इति कथं न सत्प्रतिपक्षत्वं 'सन्तानत्वात्' इत्यनुमानस्य ? न च प्रस्तुतानुमानत एव सन्तानोच्छेदस्य प्रतीतौ सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वमसिद्धम्, सन्तानत्वसाधनस्य सत्प्रतिपक्षत्वात्। न चास्य प्रतिपक्षसाधनस्य प्रमाणत्वे सिद्धे सन्तानत्वसाधनस्य सत्प्रतिपक्षत्वम् अस्य च सत्प्रतिपक्षत्वे विवक्षितानुपलब्धेः प्रतिपक्षसाधनस्य प्रमाणत्वमिति वाच्यम्, भवदभिप्रायेण सत्प्रतिपक्षत्वदोषस्योद्भावनात्, परमार्थतस्तु यथाऽयं दोषो न भवति तथा प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते च। सन्तानत्वहेतोस्त्वसिद्धाऽनैकान्तिक–विरुद्धत्वान्यतमदोषदुष्टत्वेनाऽसाधनत्वम्, तच्च प्रतिपादितमित्यलमतिप्रसंगेन, दिङ्मात्रप्रदर्शनपरत्वात् प्रयासस्य।

उस विवक्षित पदार्थ से अभिन्न मान लेंगे तो उस पदार्थ की ही उत्पत्ति अपेक्षा कारण से हुई ऐसा मानना पडेगा, फलतः वस्तुभेद प्रसक्त होगा। इस का नतीजा यही होगा कि जिन मे कोई उपकार्य-उपकारक भाव ही घट नही सकता ऐसे दो भिन्न स्वभाव वाले पदार्थों मे कोई भी सम्बन्ध न घट सकने से "यह उसका है" ऐसे शब्द-व्यवहारों का उच्छेद प्रसक्त होगा। इस शब्दव्यवहार को घटाने के लिये यदि अपेक्षाकारण के द्वारा उस विवक्षित पदार्थ के ऊपर उससे भिन्न उपकार होने का मानेंगे तो उस उपकार का भी विवक्षित पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटाने के लिये नये उपकार की कल्पना से ऐसी अनवस्था होगी जो सपूर्ण गगनतल पर्यन्त जा पहुचेगी। साराश, एकान्त नित्य–अनित्य उभय पक्ष मे अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व अथवा अपेक्षाकारणाधीन-उत्पत्तिस्वरूप कृतकत्व का सम्भव ही नही है। इस लिये यही मानना चाहिये कि जो कुछ सत् या कृतक है वह सब परिणमनशील ही है, अन्यथा आकाशतलवर्त्तिकमलिनी पुष्प की तरह वह अकिञ्चित्कर बन जाने से अवस्तुरूप हो जाने की आपत्ति लगेगी। इस प्रकार शब्दादि मे परिणामित्व साधक अनुमान मे व्याप्ति का समर्थन हुआ, अब उपनय और निगमन दिखा रहे है—

शब्द-बुद्धि-प्रदीपादि अर्थ भी सत् रूप अथवा कृतक है अतः परिणमनशील सिद्ध होता है। सत्त्व भी यहाँ अर्थक्रियाकारित्वरूप ही लेना है क्योंकि क्षणिकवाद मे अन्य किसी सत्ताजातिसम्बन्धादिरूप सत्त्व का तो प्रतिषेध किया गया है। जिस वस्तु का अत्यन्तोच्छेद मानेंगे उसमे वह सत्त्व घटेगा नही (क्योंकि अन्तिमक्षण मे किसी नये क्षण के प्रति उत्पादकत्वरूप अर्थक्रियाकारित्व न घटने से सत्त्व भी नही घटेगा, अन्तिम क्षण मे असत्त्व प्रसक्त होने पर तो फिर सारे सन्तानक्षणो मे भी असत्त्व प्रसक्त होगा)। अतः अत्यन्तोच्छेदी वस्तु से निवर्त्तमान सत्त्व या कृतकत्व, अत्यन्तोच्छेदी न हो ऐसी ही वस्तु मे, घट सकता है। जब ऐसा है तब हमारा यह अनुमान, प्रतिपक्षी के सन्तानत्व हेतु और अत्यन्तोच्छेद साध्यवाले अनुमान के पक्ष का, बाधक होने की आशंका क्यो नही होगी, जब कि

यच्च 'निर्हेतुकविनाशप्रतिषेधात् सन्तानोच्छेदे हेतुर्वाच्य' इत्यादि, तदसंगतम् , सम्यग्ज्ञानाद् विपर्ययज्ञानव्यावृत्तिक्रमेण धर्माऽधर्मयोस्तत्कार्यस्य च शरीरादेरभावेऽपि सकलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञाना-नन्ताऽनिन्द्रियजप्रशमसुखादिसन्तानस्य निवृत्त्यसिद्धे.। न च शरीरादिनिमित्तकारणमात्ममनःसंयोगं

अत्यन्तोच्छेद साध्य के साधक आपके हेतु अनेक दोषो से दुष्टता के प्रतिपादन में हमने कोई कमी तो रखी नही है ?

[सन्तानत्वहेतुक अनुमान में सत्प्रतिपक्षता]

सन्तानत्वहेतु मे सत्प्रतिपक्ष दोष भी सावकाश है। प्रकृत साध्य वैपरीत्य के साधक अन्य किसी हेतु वाले अनुमान से प्रकृत हेतु सन्तानत्व सत्प्रतिपक्षित हो जाता है। अनुमान इस प्रकार है- बुद्धि आदि का सन्तान अत्यन्तोच्छेदवाला नही है क्योंकि अत्यन्तोच्छेद किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नही होता। जिस वस्तु का किसी भी प्रमाण से अत्यन्तोच्छेद नही होता उस वस्तु का अत्यन्तउच्छेद नही मानना चाहिये जैसे कि पार्थिव परमाणुओ के पाकजन्यरूपादि का सन्तान। बुद्धि आदि का सन्तान भी वैसा ही है अतः अत्यन्तोच्छेदवाला नही हो सकता। जब यह प्रतिपक्षी अनुमान जागरूक है तब सन्तानत्व हेतु वाला अनुमान सत्प्रतिपक्षित क्यो नही होगा? यदि कहे कि- सन्तानत्वहेतुवाले अनुमान प्रमाण से अत्यन्तोच्छेदरूप साध्य प्रतीयमान होने से किसी भी प्रमाण से उपलब्ध न होने की बात मिथ्या है-तो यह ठीक नही, क्योकि हमारे दिखाये हुए प्रति-अनुमान से आप का सन्तानत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष हो गया है अतः उससे अत्यन्तोच्छेदरूप साध्य की प्रतीति होने की बात ही मिथ्या है। यदि ऐसा कहे कि-'किसी भी प्रमाण से अनुपलब्धि' रूप हेतु से किये जाने वाला प्रति-अनुमान प्रमाणभूत है यह सिद्ध होने पर ही सन्तानत्व हेतु में सत्प्रतिपक्ष दोष लग सकता है, किन्तु प्रतिपक्षसाधनभूत विवक्षितानुपलब्धिहेतु वाला प्रति-अनुमान का प्रामाण्य तो तभी सिद्ध होगा जब सन्तानत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष से दूषित होने का सिद्ध हो। तात्पर्य, यहाँ सत्प्रतिपक्ष से दोष नही लग सकता।-किन्तु यह बात ठीक नही, क्योकि हम तो यहाँ आपकी मान्यता के अनुसार ही सत्प्रतिपक्ष दोष का आपादान करते हैं और आपके मत से तो साध्यवैपरीत्य साधक अन्य हेतु का प्रयोग करने पर हेतु सत्प्रतिपक्ष होता ही है इसलिये हमने सत्प्रतिपक्ष दोष का उद्भावन किया है। वास्तव में, हम तो उसे दोषरूप ही नही मानते हैं यह तथ्य पहले कहा है और आगे भी कहेंगे। अतः सन्तानत्व हेतु मे सत्प्रतिपक्ष दोष यहाँ लगे या न लगे, किन्तु असिद्ध, अनैकान्तिक, विरुद्धत्वादि किसी भी एक दोष के लगने पर हेतु तो दूषित हो ही जाता है और असिद्धादि दोष का प्रतिपादन तो हमने किया ही है इसलिये अब प्रासगिक बात को जाने दो, हमारा प्रयास तो सिर्फ दिशासूचनरूप ही है।

[तत्त्वज्ञान से सन्तानोच्छेद अशक्य]

आपने जो पहले (५९५-९) 'निर्हेतुक विनाश निषिद्ध (=अमान्य) होने से सन्तान के उच्छेद मे हेतु दिखाना चाहिये'... इत्यादि कह कर, तत्त्वज्ञान को सन्तानोच्छेद का हेतु दिखाया था- वह भी संगत नही है, अर्थात् तत्त्वज्ञान ज्ञानादिसतान के उच्छेद का हेतु नही बन सकता। सम्यग्ज्ञान से विपरीतज्ञान की निवृत्ति, उसके बाद धर्म-अधर्म का क्षय और धर्माधर्मकार्यभूत शरीर का वियोग, इतना तो हो सकता है, किन्तु सकलपदार्थसाक्षात्कारी सम्यग्ज्ञान के सन्तान की और इन्द्रिय से अजन्य अनन्त प्रशम सुखादि के सन्तान की निवृत्ति कथमपि सिद्ध नही है। यदि ऐसा कहे कि-मुक्तदशा मे

चाऽसमवायिकारणमन्तरेण न ज्ञानोत्पत्तिः, परलोकसाधनप्रस्तावे—

"तस्माद्यस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्त्तते । तन्नान्तरीयकं चित्तमतश्चित्तसमाश्रयम्"

इति न्यायेन ज्ञानस्य ज्ञानोपादानत्वप्रतिपादनात्, अन्यथा परलोकाभावप्रसंगात्, नित्यस्यात्मनः समवायिकारणत्वेन ज्ञानादिकं प्रति निषिद्धत्वात् आत्ममन.संयोगस्य चाऽसमवायिकारणस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात् निषिद्धत्वाच्च संयोगस्य निमित्तकारणस्य वा, प्रतिनियतत्वेन शरीराद्यभावेऽपि देशकालादेरात्मनो ज्ञानादिस्वभावस्योत्तरज्ञानाद्यवस्थारूपतया परिणमतः सहकारित्वसम्भवात्। ईश्वरज्ञानं च शरीरादिनिमित्तकारणविकलमप्यभ्युपगच्छति-तज्ज्ञानेऽपि नित्यत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्-न पुनर्मुक्त्यवस्थायामात्मनस्तत्स्वभावस्येति सुस्थितं नैयायिकत्वं परस्य ।

यत्तूक्तम् 'आरब्धकार्ययोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात् प्रक्षयः संचितयोश्च तत्त्वज्ञानात्' इत्यादि, तदपि न संगतम्, उपभोगात् कर्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमयेऽपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनो-वाक्-कायव्यापारस्वरूपस्य सम्भवादविकलकारणस्य च प्रचुरतरकर्मणः सद्भावात् कथमात्यन्तिक. कर्मक्षयः ? ! सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञाननिवृत्त्यादिक्रमेण पापक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितस्याऽऽगामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत् संचितकर्मक्षयेऽपि सामर्थ्यं सभाव्यत एव-यथोष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ समर्थस्य पूर्वप्रवृत्ततत्स्पर्शाविध्वंसेऽपि सामर्थ्यमुपलब्धम्-किन्तु परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानं न पुनरेकान्तनित्याऽनित्यात्मादिविषयम्, तस्य विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः । यथा चैकान्तवादिपरिकल्पित आत्माद्यर्थो न संभवति तथा यथास्थानं निवेदयिष्यते । मिथ्याज्ञानस्य च मुक्तिहेतुत्वं परेणापि नेष्यत एव । अतो यदुक्तं 'यथैधांसि' ' इत्यादि-तत् सर्वसवररूपचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषकर्मक्षये सामर्थ्यमभ्युपगम्यते-तत् सिद्धमेव साधितम् ।

ज्ञान के निमित्तकारणभूत शरीरादि तथा असमवायि कारणभूत आत्म-मन.संयोग का अभाव होने से ज्ञानोत्पत्ति अशक्य है - तो यह ठीक नही है, क्योंकि हमने परलोकसिद्धिप्रकरण मे (३१६-६) 'ज्ञान ही ज्ञान का उपादानकारण है' इस बात का समर्थन यह कहते हुए किया था कि-"चित्त जिसके सस्कार का नियमतः अनुसरण करता है, उसीका अविनाभावि मानना चाहिये, अतः चित्त, चित्त का आश्रित (अर्थात् उससे उत्पन्न होने वाला) सिद्ध होता है।" (३१७-१) यदि इस पूर्वोक्त कथन के अनुसार ज्ञान को ज्ञान का उपादान नही मानेंगे तो परलोक की सिद्धि आपद्ग्रस्त हो जायेगी। समवायिकारणभूत नित्य आत्मा को आप ज्ञानादि का उपादान नही कह सकते क्योंकि नित्य आत्मा मे उपादानकारणत्व की सम्भावना का निषेध हो चुका है। आत्म-मन सयोग की असमवायिकारणता का निषेध आगे किया जायेगा। अथवा सयोग का पहले निषेध किया जा चुका है अत. उसकी निमित्तकारणता का भी निषेध हो ही गया है। शरीरादि का मुक्तिदशा मे अभाव होने के कारण वे तो यद्यपि ज्ञानादि के सहकारीकारण नही हो सकते किन्तु देश-काल तो प्रतिनियत-ही है, अर्थात् मुक्तदशा में भी रहने वाले ही है, अत पूर्वज्ञानादिस्वभावरूप आत्मा का उत्तरज्ञानादिस्वभावरूप परिणाम होने मे देश-काल को सहकारी मान सकते हैं। तात्पर्य, मुक्तदशाकालीन ज्ञानोत्पत्ति मे कारणाभावरूप दोष भी नही है। दूसरी ओर, ईश्वरज्ञान मे हमने नित्यत्व का प्रतिषेध कर दिया है, फिर भी नैयायिकवर्ग शरीरादि के विरह मे भी ईश्वरज्ञान के अवस्थान को मानता है, किन्तु ज्ञानस्वभाववाले मुक्तात्मा मे मुक्तिदशा मे ज्ञानसद्भाव मानने मे इनकार करता है-कितना अच्छा है उसका नैयायिकत्व(=न्यायवेत्तृत्व) ? !

यच्चोपभोगादशेषकर्मक्षयेऽनुमानमुपन्यस्तम् , तत्र यदेवाऽऽगामिकर्मप्रतिबन्धे समर्थं सम्यग्ज्ञानादि तदेव सञ्चितक्षयेऽपि परिकल्पयितुं युक्तमिति प्रतिपादितं सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे। उपभोगात्तु प्रक्षये स्तोकमात्रस्य कर्मणः प्रचुरतरकर्मसंयोगसंचयोपपत्तेर्न तदशेषक्षयो युक्तिसंगतः। 'कर्मत्वात्' इति च हेतुः सन्तानत्ववदसिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वात् न प्रकृतसाध्यसाधकः। असिद्धत्वादिदोषोद्भावनं च सन्तानत्वहेतुदूषणानुसारेण स्वयमेव वाच्यं न पुनरुच्यते ग्रन्थगौरवभयात्।

यच्च 'समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; अभिलाषरूपरागाद्यभावे स्त्र्याद्युपभोगाऽसम्भवात्, सम्भवेऽपि चावश्यम्भावी ऋ(?गृ)द्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि प्रचुरतरधर्माऽधर्मसम्भवोऽतिभोगिन इव नृपत्यादेः। वैद्योपदेशप्रवर्त्तमानातुरदृष्टान्तोऽप्यसगतः, तस्यापि निरुग्भावाभिलाषेण प्रवर्त्तमानस्यौषधाद्याचरणे वीतरागत्वाऽसिद्धेः। न च मुमुक्षोरपि मुक्तिसुखाभिलाषेण

[उपभोग से सर्वकर्मक्षय अशक्य]

यह जो कहा था–'जिनके फलप्रदान का आरम्भ हो गया है ऐसे धर्म और अधर्म का क्षय फलोपभोग से होता है और सुषुप्तदशावाले सचित धर्माधर्म का क्षय होता है तत्त्वज्ञान से.'[५९५–१५] इत्यादि वह भी असंगत कहा है। कारण, उपभोग से यद्यपि उस कर्म का क्षय हो जायेगा, किन्तु उपभोग काल मे 'साभिलाष मन-वचन और काया की प्रवृत्ति' स्वरूप नूतनकर्मबन्ध का निमित्त विद्यमान होने से, समर्थकारणमूलक अतिप्रचुर कर्म का भी सद्भाव रहेगा ही, तब आत्यन्तिक यानी अपुनर्भावरूप से कर्मो का क्षय कैसे होगा? तात्पर्य, उपभोग से कर्मक्षय नही घट सकता। हमारे मत से, पापक्रियानिवृत्तिस्वरूप चारित्र से आश्लिष्ट सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान की क्रमशः निवृत्ति इत्यादि द्वारा पुनः नये कर्म की उत्पत्ति को रोकने मे जैसे समर्थ होता है वैसे पूर्व सचित कर्म के क्षय मे भी समर्थ होने की पूरी सम्भावना है। उदा० उष्णस्पर्श भाविशीतस्पर्श की उत्पत्ति को रोकने मे जैसे समर्थ होता है वैसे पूर्वोत्पन्नशीतस्पर्श के ध्वस मे भी समर्थ होता ही है। इतना विशेष ज्ञातव्य है कि परिणामिजीवाजीवादिवस्तुसबन्धिज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, एकान्तनित्यअनित्य आत्मादि सम्बन्धि ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप नही है, क्योकि विपरीतार्थग्राही होने से उस ज्ञान मे मिथ्यात्व ही ठीक बैठता है। एकान्तवादीकल्पित आत्मादि अर्थ किसी भी तरह घटता नही–इस तथ्य का हम आगे यथास्थान निवेदन करेंगे। नैयायिकादि विद्वान भी मिथ्याज्ञान को मुक्ति का हेतु नही मानते है। ऊपर जो हमने चारित्र से आश्लिष्टसम्यग्ज्ञान से कर्मक्षय होने का कहा है उससे यह समझना चाहिये कि चौदहवे गुणस्थानक मे होने वाले सर्वसवररूप चारित्र से आश्लिष्ट सम्यग्ज्ञान यह ऐसा अग्नि है जिसमे सकल कर्मों को दग्ध करने का सामर्थ्य होता है। तात्पर्य, "अग्नि जैसे इन्धन को भस्मसात् कर देता है वैसे हे अर्जुन! ज्ञानाग्नि भी सर्वकर्मो को भस्मसात् कर देता है" ऐसा जो आपने कहा था वह सिद्ध का ही साधन है। (उसमे नया कुछ नही है)।

[सम्यग्ज्ञान से संचितकर्मक्षय की युक्तता]

उपभोग से ही सकल कर्मनाश की सिद्धि मे आपने जो अनुमानोपन्यास किया है [५९६-३] उसके प्रति हमारा निवेदन यह है कि भावि कर्मबंध को रोकने मे समर्थ जो सम्यग्ज्ञान है उसी को सचितकर्मो के विनाश का हेतु मानना ठीक है, सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मे हमने इस बात का प्रतिपादन किया हुआ है। उपभोग से ही सकलकर्मो का क्षय मानना युक्तिसगत नही है क्योकि अल्पकर्म वाला भी

प्रवर्त्तमानस्य सरागत्वम्, सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरागविगमस्य सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्त्या प्राक् प्रसाधितत्वात्। भवोपग्राहिकर्मनिमित्तस्य तु वाग्-बुद्धि-शरीरारम्भप्रवृत्तिरूपस्य सातजनकस्य शैलेश्यवस्थायां मुमुक्षोरभावात् प्रवृत्तिकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य सुखाभिलाषस्याप्यसिद्धेर्न मुमुक्षो रागित्वम्। प्रसिद्धश्च भवतां प्रवृत्त्यभावो भाविधर्माऽधर्मप्रतिबन्धकः। यश्च भाविधर्माधर्माभ्यां विरुद्धो हेतुः स एव सञ्चिततत्क्षयेऽपि युक्त इति प्रतिपादितम्।

अत एव सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक एव हेतुर्भाविभूतकर्मसम्बन्धप्रतिघातकत्वाद् मुक्तिप्राप्त्यवन्ध्यकारणं नान्य इति। तेन यदुक्तम् 'तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानात्' इति तद्युक्तमेव। यत्तु 'इतरेषामुपभोगात्' इति तदयुक्तम्, उपभोगात् तत्क्षयानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्। यत्तु 'नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक् काम्य-निषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुत्वेन च प्रतिपादितम्' तदिष्टमेवाऽस्माकम्। केवलज्ञानलाभोत्तरकालं तु शैलेश्यवस्थायामशेषकर्मनिर्जरणरूपायां सर्वक्रियाप्रतिषेध एवाभ्युपगम्यत इति न तन्निमित्तो धर्माधर्म-

---

यदि उपभोग करने जायेगा तो अतिप्रचुर नये कर्मों के सयोग का सचय हो जाने की आपत्ति होगी, जिनका कभी क्षय ही सम्भव नही रहेगा। तदुपरात, उस अनुमान मे प्रयुक्त कर्मत्व हेतु सन्तानत्वहेतु की तरह असिद्धि आदि अनेक दोषो से दुष्ट होने से कर्मक्षय मे उपभोगजन्यत्व की सिद्धि नही कर सकता। असिद्धि आदि दोषो का उद्भावन सन्तानत्व हेतु के दूषणो के अनुसार अध्येता स्वय कर सकता है, यहाँ ग्रन्थगौरवभय से उनका पुनरावर्त्तन नही किया जाता है।

[रागादि के विना उपभोग का असंभव]

यह जो कहा था (५९७-१)-समाधि के बल से उत्पन्न तत्त्वज्ञानवाला मनुष्य अनेक शरीर द्वारा उपभोग कर लेता है. इत्यादि, वह ठीक नही है, क्योंकि स्त्रीआदि का उपभोग अभिलापात्मक रागादि के विना सम्भव ही नही है। यदि तत्त्वज्ञानी को भी अनेककायव्यूह द्वारा स्त्री आदि भोग का सम्भव मानेंगे तो उसे गृद्धि (=तीव्रमूर्च्छा) की अवश्यमेव उत्पत्ति होगी और योगी होने पर भी गृद्धिवाले को आपके मतानुसार अतिप्रचुरधर्माधर्म के बन्ध का भी सम्भव है जैसे कि अत्यन्तभोगमग्न राजादि को। इच्छा न होने पर भी वैद्य के परामर्श से रोगी की औषधग्रहण में प्रवृत्ति का आपने जो दृष्टान्त दिखाया है वह भी संगत नही होता क्योकि वहाँ औषधग्रहण की इच्छा न होने पर भी प्रवृत्ति रोग विनाश की इच्छा से तो होती ही है अत. सर्वथा वीतरागता वहाँ भी असिद्ध है। मुक्ति सुख के अभिलाष से प्रवृत्ति करने वाले मुमुक्षु मे आपने जो सरागता का आपादन किया है वह ठीक नही है, क्योकि सम्यग्ज्ञान को रोकने वाले राग का अभाव उसमें मानना ही पडेगा, अन्यथा किसी भी मुमुक्षु मे सर्वज्ञता का आविर्भाव ही नही घटेगा-यह तथ्य सर्वज्ञसिद्धिप्रकरण मे सिद्ध किया हुआ है। मुमुक्षु जब सर्वज्ञ हो जाता है उसके बाद जो भवोपग्राहि कर्म शेष रहते हैं उन से यद्यपि वाग्प्रवृत्ति, बुद्धिपूर्वक शरीर के आरम्भ (=संचालन) रूप प्रवृत्ति होती है किन्तु उससे सातावेदनीय के अलावा और किसी कर्म का बन्ध नही होता, जब भवोपग्राही कर्म भी अत्यन्तनाशाभिमुख हो जाते है तब शैलेशी (मुक्ति के निकट काल की एक) अवस्था मे सातावेदनीय कर्म का बन्ध भी रुक जाता है-और भवोपग्राहीकर्ममूलक वचनादि प्रवृत्ति भी रुक जाती है। जब प्रवृत्ति भी रुक गयी तब उसके कारणरूप से माने गये सुखाभिलाष भी वहाँ नही रहता तो फिर मुमुक्षु मे सरागता

फलप्रादुर्भावः, प्रवृत्तिनिवृत्तेरात्यन्तिक्यास्तत्क्षयहेतुत्वसिद्धेः । यच्चोक्तम् 'विपर्ययज्ञानध्वंसादिक्रमेण विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्त्यभ्युपगमे न तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, विशेषगुणच्छेदविशिष्टात्मनो मुक्तिरूपतया प्रतिषिद्धत्वात्, बुद्ध्यादेः विशेषगुणत्वस्यात्यन्तिकतत्क्षयस्य च प्रमाणबाधितत्वात् । गुणव्यतिरिक्तस्य गुणिन आत्मलक्षणस्यैकान्तनित्यस्य निषेत्स्यमानत्वात् तस्य बुद्ध्यादिविशेषगुणतादात्म्याभावोऽसिद्धः ।

यच्च 'मोक्षावस्थायां चैतन्यस्याप्युच्छेदान्न कृतबुद्धयस्तत्र प्रवर्त्तन्ते इत्यानन्दरूपात्मस्वरूप एव मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः' इति, एतत् सत्यमेव । यच्च 'यथा तस्य चित्स्वभावता नित्या तथा परमानन्दस्वभावताऽपि' इत्यादि, तदयुक्तम्, चित्स्वभावताया अप्येकान्तनित्यतानभ्युपगमात्, आत्मस्वरूपता तु चिद्रूपताया आनन्दरूपतायाश्च कथंचिदभ्युपगम्यत एव । यच्च अनन्यत्वेन श्रुतौ श्रवणम् 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति, तदपि नास्मदभ्युपगमबाधकम्, समस्तज्ञेयव्यापिनो ज्ञानस्याऽवैषयिकस्य चानन्दस्य स्वसंविदितस्य मुक्त्यवस्थायां सकलकर्मरहितात्मब्रह्मरूपाभेदेन कथंचिदभीष्टत्वात् ।

की आपत्ति कैसे रहेगी ? । आपके मत मे भी प्रवृत्ति के अभाव मे भावि मे धर्माधर्म की उत्पत्ति रुक जाने की बात प्रसिद्ध ही है । जो भावि धर्माधर्म की आपत्ति को रोक देता है वही संचित धर्माधर्म का भी नाशक मानना युक्त है यह तो पहले ही कह दिया है ।

[सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का हेतु है]

उपभोग से सर्वकर्मनाश की बात अयुक्त होने से ही हमारे मत मे तो सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यग्चारित्र इस त्रिपुटी को ही मुक्ति का अवन्ध्य कारण कहा गया है, अन्य किसी (उपभोगादि) को नही, क्योंकि उक्त त्रिपुटीरूप हेतु से ही भूत-भाविसकलकर्मसबन्ध का प्रतिघात होता है । यही कारण है कि आपने जो तत्त्वज्ञान से तत्त्वज्ञानीयो के कर्मो का विनाश कहा है वह कुछ ठीक है । किन्तु, दूसरे के कर्मों का विनाश उपभोग से होने का जो कहा है वह अयुक्त है क्योकि हमने यह बता दिया है कि उपभोग से सकल कर्मों का नाश अशक्य है । तथा, 'नित्यनैमित्तिकैरेव".. इत्यादि तीन कारिकाओ से यह जो आपने कहा है कि-केवलज्ञान की उत्पत्ति न हो तब तक नित्यकर्म और नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान काम्य कर्म और निषिद्ध कर्मों का त्याग कराने द्वारा ज्ञानावरणादि पाप कर्मो के क्षय का निमित्त बनता है और केवलज्ञान की उत्पत्ति मे हेतु बनता है-यह कथन हमारे लिये इष्ट ही है । केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तो सर्वकर्मविघटनक्रियास्वरूप शैलेशी अवस्था मे हम क्रिया(प्रवृत्ति) मात्र का अभाव ही मानते हैं इसलिये क्रियामूलक धर्माधर्म की फलोत्पत्ति रुक जाती है । 'प्रवृत्ति से आत्यन्तिक निवृत्ति' रूप हेतु से सकल कर्मो का क्षय होता है यह तो सिद्ध ही है ।

यह जो आपने कहा है-विपरीतज्ञानध्वसादि क्रम से आविर्भूत विशेषगुणोच्छेदविशिष्ट आत्मस्वरूप को मुक्तिरूप मानने मे, तत्त्वज्ञान का कार्य होने से अनित्यत्व की आपत्ति जो पहले विशेषगुणध्वसरूप मुक्ति मानने मे लग सकती थी वह नही लगेगी... इत्यादि, [५९७-१४] वह तो अयुक्त ही है क्योकि पहली बात तो यह है कि मुक्ति विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूप है ही नही, दूसरी बात यह है कि बुद्ध्यादि गुण मे विशेषगुणत्व प्रमाण से बाधित है, और तीसरी बात यह है कि बुद्ध्यादि गुणो का आत्यन्तिक ध्वस भी प्रमाण से बाधित है । तदुपरांत, गुणो से सर्वथा भिन्न और एकान्ततः नित्य ऐसा आत्मस्वरूप मान्य नही हो सकता-यह आगे कहा जायेगा, तदनुसार आत्मा

यदपि 'यदाऽविद्यानिवृत्तिः तदा स्वरूपप्रतिपत्तिः सैव मोक्षः'-इति तदपि युक्तमेव, अष्टविधपारमार्थिककर्मप्रवाहरूपानाद्यविद्यात्यन्तिकनिवृत्तेः स्वरूपप्रतिपत्तिलक्षणमोक्षावाप्तेरभीष्टत्वात् । अत एव 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते' इत्येतदपि नास्मत्पक्षक्षतिमुद्वहति, अभिव्यक्तेः स्वसंविदितानन्दस्वरूपतया तदवस्थायामात्मन उत्पत्तेरभ्युपगमात् । यच्च 'यथात्मनो महत्त्वं निजो गुण.' इत्यादि, तदसारम्, नित्यसुख-महत्त्वादेरात्माऽव्यतिरिक्तत्वेन तद्धर्मत्वेन वा प्रमाणबाधितत्वादनभ्युपगमार्हत्वात् । अत एव 'ससारावस्थायामपि नित्यसुखस्य तत्संवेदनस्य च सद्भावात् ससार-मुक्त्यवस्थयोरविशेषः' इत्यादि यद्दूषणमत्र पक्षे उपन्यस्तं तदनभ्युपगमादेव निरस्तम् ।

यच्चानित्यत्वपक्षेऽपि 'तस्यामवस्थायां सुखोत्पत्तावपेक्षाकारणं वक्तव्यम्, न ह्यपेक्षाकारणशून्यः आत्ममनःसंयोग. कारणत्वेनाभ्युपेयते' इत्यादि, तदप्यसगतम्, ज्ञान-सुखादेश्चैतन्योपादेयत्वेन तद्धर्मानुवृत्तित. प्राक् प्रतिपादितत्वात्, सेन्द्रियशरीरादेस्तु तदुत्पत्तावपेक्षाकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्याऽव्यापकत्वात् । तथाहि-सेन्द्रियशरीराद्यपेक्षाकारणव्यापाररहितं विज्ञानमुपलभ्यत एव समस्तज्ञेय-

---

मे बुद्धिआदि विशेषगुणो का तादात्म्य सिद्ध होने से उसका अभाव असिद्ध है। तात्पर्य, आत्मभिन्न बुद्धिआदि गुणो से शून्य आत्मस्वरूप को मुक्ति कहना असगत है।

[चिदानंदरूपता भी एकान्तनित्य नहीं है]

नैयायिक के सामने पूर्वपक्षी का जो यह कहना था कि-मुक्तिदशा मे चैतन्य का भी यदि उच्छेद मानेगे तो बुद्धिमान लोग मुक्तिप्राप्ति के लिये प्रयत्न ही नही करेगे, अत: आनन्दमयात्मस्वरूप को ही मोक्ष मानना चाहिये-यह पूर्वपक्षी का कथन नितान्त सत्य है। किन्तु उसने जो यह कहा था कि-आत्मा की चित्स्वभावता जैसे नित्य है वैसे उस की आनन्दस्वभावता भी नित्य है-यह बात गलत है क्योकि हम आत्मा की चित्स्वभावता को भी एकान्तनित्य नही मानते है फिर आनन्दस्वभावता को नित्य कैसे माने ? हाँ, चिद्रूपता और आनन्दरूपता को कथचिद् आत्मस्वरूप हम मानते हैं। यद्यपि वेद मे 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इस कथन से चिद्रूपता और आनन्दरूपता का आत्मा से अभेद कहा गया है, किन्तु वह हमारी मान्यता मे बाधक नही है क्योकि सकलज्ञेयव्यापि स्वसविदित ज्ञान और विषयनिरपेक्ष स्वसविदित आनन्द मुक्तिदशा मे सकलकर्मरहितब्रह्मात्मस्वरूप से कथचिद् अभिन्न होने का हमे मान्य ही है।

[कर्मसन्तानरूप अविद्या के ध्वंस से मोक्ष]

यह जो कहा है-अविद्या की निवृत्ति जब होती है तब स्वरूपप्राप्ति होती है और यही मोक्ष है-वह भी युक्तिसगत है, क्योकि अष्ट प्रकार का पारमार्थिक कर्मसन्तान ही अविद्या है और उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर स्वरूपप्राप्तिरूप मोक्ष का लाभ होता है-यह हम भी मानते हैं। इसीलिये यह जो वेदवाक्य है कि 'आनन्द यह ब्रह्म का स्वरूप है और मोक्ष मे उसकी अभिव्यक्ति होती है' यह वाक्य भी हमारे पक्ष मे क्षति-आपादक नही है, क्योकि उक्त स्वरूप की अभिव्यक्ति यानी स्वसंविदितानन्दस्वरूप से मुक्तावस्था मे आत्मा की कथचिद् उत्पत्ति को हम मानते ही हैं। तथा, यह जो कहा है कि "महत्त्व आत्मा से अव्यतिरिक्त, आत्मा का अपना गुण है फिर भी ससारदशा मे उसका जैसे ग्रहण नही होता वैसे नित्य सुख का भी नही होता"-वह भी अयुक्त है क्योकि आत्मा से एकान्ततः अव्यतिरिक्त अथवा आत्मधर्मरूप मे नित्यसुख अथवा महत्त्व को मानने मे प्रमाणबाध जागरूक है अत. वह

विषयत्वेनाऽनियतविषयम्, यथाऽव्यापृतचक्षुरादिकरणग्रामस्य 'सदसती तत्त्वम्' इति ज्ञानं, सकलाक्षेपेण व्याप्तिप्रसाधकं वा। न चात्राप्यात्ममाऽन्तःकरणसंयोगस्य शरीराद्यपेक्षाकारणसहकृतस्य व्यापार इति वक्तुं युक्तम्, अन्तःकरणस्याणुपरिमाणद्रव्यरूपस्य प्रमाणबाधितत्वेनानभ्युपगमार्हत्वात् संयोगस्य च निषिद्धत्वात्। शरीरादीनां तु ज्ञानोत्पत्तिवेलायां सन्निधानेऽपि तद्गुण-दोषाऽन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्य तज्ज्ञानेऽनुपलम्भान्नापेक्षाकारणत्वं कल्पयितुं युक्तम्, तथापि तत्कल्पनेऽतिप्रसंगः। देश-कालादिकं च विशुद्धज्ञानक्षणस्यान्वयिनो ज्ञानान्तरोत्पादने प्रवर्त्तमानस्यापेक्षाकारणं न प्रतिषिध्यते मुक्त्यवस्थायामपि शरीरादिकं तु तस्यामवस्थायां कारणाभावादेवानुत्पन्नं नापेक्षाकारणं भवितुमर्हति।

यदि च सेन्द्रियशरीरापेक्षाकारणमन्तरेण ज्ञानादेरुत्पत्तिर्नाभ्युपेयेत तदा तथाभूतापेक्षाकारण-जन्यज्ञानस्य चक्षुरादिविज्ञानस्येव प्रतिनियतविषयत्वं स्यादिति 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बन प्रमेयत्वात्, पंचांगुलिवत्' इत्यतोऽनुमानादनुमीयमानं सर्वज्ञज्ञानमपि प्रतिनियतविषयत्वान्न सर्वविषय स्यात्। यदि पुनस्तज्ज्ञानं सकलपदार्थविषयत्वात् तज्जन्यं "अर्थवत् प्रमाणम्" इति वचनात् सेन्द्रिय-शरीरापेक्षाकारणाऽजन्य वाऽभ्युपगम्यते अन्यथा सर्वविषयत्वं न स्यादिति तर्हि मुक्त्यवस्थायामपि देहा-

---

मानने योग्य नही है। आत्मा से अव्यतिरिक्त नित्यसुख को जब हम मानते हो नही है तब आपने जो उसके ऊपर यह दोषारोपण किया है कि-नित्यसुख और उसका सवेदन ससारावस्था मे भी रहने से मुक्ति और संसार अवस्था का भेदविच्छेद हो जायेगा-इस का नित्यसुख के अस्वोकार से ही तिरस्कार हो जाता है।

[मुक्ति में सुख की उत्पत्ति का हेतु]

अनित्य सुखसवेदन पक्ष मे आपने जो यह कहा था कि-[६०१-६] मुक्ति अवस्था मे अनित्यसुख की उत्पत्ति मे कौन सा आपेक्षाकारण है यह दिखाना चाहिये, (शरीरादि)अपेक्षा-कारणरहित सिर्फ आत्ममन सयोग को ज्ञानादि का कारण नही मान सकते....इत्यादि-वह भी असगत है। शरीर को या आत्ममनःसयोग को हम ज्ञान-सुखादि का कारण नही मानते किन्तु चैतन्यधर्म के अनुयायी होने के कारण ज्ञान-सुखादि को चैतन्य का उपादेय मानते है यह पहले 'तस्माद्यस्यैव०' इस कारिका से कहा हुआ है। तात्पर्य, चैतन्य ही ज्ञानादि का कारण है। इन्द्रियसहितदेहादि को ज्ञानोत्पत्ति का कारण आप मानते हैं किन्तु सकलज्ञान के प्रति व्यापकरूप से वह कारण नही है। जैसे देखिये-इन्द्रियसहितदेहादि अपेक्षाकारण व्यापार के विरह मे भी समस्तज्ञेयविषयक, अत एव अमर्यादितविषयवाले विज्ञान का उद्भव दिखता है, उदा० नेत्रादिइन्द्रियवृंद की अक्रियदशा मे भी 'सत् और असत् ये दो तत्त्व हैं' ऐसा ज्ञान, अथवा वस्तुमात्र का अन्तर्भाव करने वाला सत्त्व-प्रमेयत्व की व्याप्ति का साधक ज्ञान। यह नही कह सकते कि-'वहाँ भी शरीरादिअपेक्षाकारण सहकृत आत्म-मनः संयोग का व्यापार होना चाहिये'-क्योंकि अणुपरिमाणविशिष्ट मनोद्रव्य का स्वीकार प्रमाणबाधित होने से अनुचित्त है और सयोग पदार्थ का भी पहले निराकरण हो चुका है। यद्यपि ज्ञानोत्पत्तिकाल मे (ससारदशा मे) शरीरादि का सनिधान अवश्य है फिर भी उसको अपेक्षाकारण मानना सगत नही है क्योंकि शरीरादि के गुण-दोष के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण ज्ञान मे दिखता नही है। अन्वय-व्यतिरेक के विना भी यदि शरीरादि को ज्ञान का कारण मानेंगे तो सभी के प्रति सभी को कारण मानने की आपत्ति खडी है। हाँ, देशकालादि को मुक्तिदशा में भी आप अपेक्षाकारण माने तो

अपेक्षाकारणाऽजन्यं किं नाभ्युपगम्यते ? ! प्रसाधितं चानिन्द्रियजं सकलपदार्थविषयमध्यक्षं ज्ञानं सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे इति न सेन्द्रियशरीरापेक्षाकारणजन्यत्वाभावे तज्ज्ञानस्य प्रतिनियतविषयत्वाभावाद् भाव एवाभ्युपगन्तुं युक्तः।

अपि च, सकलपदार्थप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य स्वभावः स च सेन्द्रियदेहाद्यपेक्षाकारणस्वरूपावरणेनाच्छाद्यतेऽपवरकावस्थितप्रकाश्यपदार्थप्रकाशकस्वभावप्रदीप इव तदावारकशरावादिना, तदपगमे तु प्रदीपस्येव स्वप्रकाश्यप्रकाशकत्वं ज्ञानस्याऽयत्नसिद्धमिति कथमावरणभूतसेन्द्रियदेहाद्यभावे तदवस्थायां ज्ञानस्याप्यभावः प्रेर्येत ? अन्यथा प्रदीपावारकशरावाद्यभावे प्रदीपस्याप्यभावः प्रेरणीयः स्यात्। न च शरावादेरावारकस्य प्रदीपं प्रत्यजनकत्वमाशंकनीयम्, तथाभूतप्रदीपपरिणतिजनकत्वाच्छरावादेः, अन्यथा तं प्रत्यावारकत्वमेव तस्य न स्यात्, परिणामस्य च प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। उपलभ्यते च संसारावस्थायामपि वासीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षोः सर्वत्र समवृत्तेर्विशिष्टध्यानादिव्यवस्थितस्य सेन्द्रियशरीरव्यापाराऽजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयतः परमकाष्ठागतिरपि सम्भाव्यत एवेत्येतदपि सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते।

यह ठीक है क्योंकि एक विशुद्धज्ञानक्षण से अपने अन्वयी दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति मे अन्वयप्रयोजकविवया देश-काल कारण बनते हैं, जब कि मुक्तिदशा मे शरीरादि का कोइ उत्पादक कारण न होने से वह अनुत्पन्न ही रहेगा, फिर अपेक्षाकारण कैसे हो सकेगा ?

[ज्ञानोत्पत्ति में देह की कारणता अनिवार्य नहीं]

यदि आप इन्द्रियसहितदेहरूप अपेक्षाकारण के विना ज्ञानादि के उद्भव को नही मानते हैं तो यह भी मानना पडेगा कि शरीरादिअपेक्षाकारणजन्य ज्ञान मर्यादितविषयवाला ही होता है जैसे कि नेत्रादिइन्द्रियजन्यज्ञान। अब ऐसा मानने पर, "सपूर्ण सत्-असत् वस्तुवर्ग किसी एक ज्ञान का विषय है, क्योंकि प्रमेय हैं, उदा० अगुलिपचक" इस अनुमान से सिद्ध होने वाला सर्वज्ञज्ञान भी शरीरादिअपेक्षाकारणजन्य ही मानने से मर्यादितविषयवाला ही मानना पडेगा, साराश, वह सर्वविषयक नही माना जा सकेगा। यदि आप कहे कि-"अर्थवत् प्रमाणम्" इस भाष्यवचन का अवलम्बन कर के हम सर्वज्ञ के ज्ञान को सकलपदार्थविषयक होने से सकलपदार्थजन्य मानेंगे। अथवा सर्वज्ञज्ञान को इन्द्रियसहित शरीररूप अपेक्षाकारणजन्य नही मानेंगे, क्योंकि शरीरजन्य मानने पर सर्वविषयकता घटती नही है"-तो हम कहते है कि मुक्तिदशा मे भी देहादि अपेक्षा कारण से अजन्य ज्ञान क्यो नही मानते हैं ? सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मे यह तो दिखा दिया है कि सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य न होने पर भी सकलपदार्थविषयक होता है। इसलिये, इन्द्रियसहित शरीररूप अपेक्षाकारण से अजन्य सर्वज्ञज्ञान मर्यादितविषयवाला न होने मात्र से उसका सर्वथा अभाव ही मान लेना युक्तियुक्त नही है।

[ज्ञान का स्वभाव सकलवस्तु प्रकाशकत्व]

तदुपरात, यह विचारणीय है कि सर्वपदार्थप्रकाशकारिता यह ज्ञान का स्वभाव है, इन्द्रियसहित देहादिअपेक्षाकारण यह उसका आवरण है और उससे वह स्वभाव आच्छादित हो जाता है। जैसे, किसी एक कक्ष में रहे हुए प्रकाशयोग्य पदार्थो का प्रकाशन करना प्रदीप का स्वभाव है और शरावादि उसके लिये आवरणभूत है जिससे वह आच्छादित होता है। जब प्रदीप का आवरण शरा-

परमार्थतस्त्वानन्दरूपताऽऽत्मनः स्वरूपभूता तद्विबन्धककर्मक्षयात् तस्यामवस्थायामुत्पद्यते। एकान्तनित्यस्य त्वविचलितरूपस्याऽऽत्मनो वैषयिकसुख-दुःखोपभोगोऽप्यनुपपन्नः, एकस्वभावस्य तत्स्वभावाऽपरित्यागे भिन्नसुख दुःखसंवेदनोत्पादेऽप्याकाशस्येव तदनुभवाऽभावात्। तत्समवेत तदुत्पत्त्यादिकं तु प्रतिक्षिप्तत्वान्न वक्तव्यम्। 'ज्ञानं चोत्तरज्ञानोत्पादनस्वभावम्, यच्च यत्स्वभावम् न तत् तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम्, यथान्त्या बीजादिकारणसामग्री अंकुरोत्पादने, तत्स्वभावश्च पूर्वो ज्ञानक्षण उत्तरज्ञानक्षणोत्पादने' इति स्वभावहेतुः, अन्यथाऽसौ तत्स्वभाव एव न स्यात्। न च संसारावस्थाज्ञानान्त्यक्षणस्योत्तरज्ञानजननस्वभावत्वमसिद्धम्, तथाभ्युपगमे सत्तासम्बन्धादेः सत्त्वस्य निषिद्धत्वात् तदजनकत्वेन तस्यानर्थक्रियाकारित्वादवस्तुत्वापत्तेस्तज्जनकस्याप्यवस्तुत्वं ततस्तज्जनकस्येत्येवमशेषचित्तसन्तानस्याऽवस्तुत्वप्रसंगः।

वादि हठ जाता है तब जैसे वह उस कक्ष मे रहे हुए प्रकाशयोग्य पदार्थो का प्रकाश करता है उसी तरह देहादि आवरण के हठ जाने पर मुक्ति दशा मे, ज्ञान का सर्वार्थप्रकाशकत्व स्वभाव अनायास प्रगट होता है। इस स्थिति मे, मुक्ति अवस्था मे आवरणभूत इन्द्रियसहितदेहादि के अभाव से ज्ञानमात्र का अभाव दिखाना कैसे उचित कहा जाय? यदि मुक्ति मे आप ज्ञान का अभाव मानने पर ही डटे हुए हैं तब तो कक्ष मे शरावादि आवरण के हठ जाने पर प्रदीप का भी अभाव ही मानना पडेगा। यदि कहे कि–शरीर तो ज्ञान का कारण है, शराव प्रदीप का कारण नही है अतः शराव के हठ जाने पर प्रदीप का अभाव नही मानना पडेगा। तो यह भी अयुक्त है क्योंकि शरावादि प्रदीप के अल्पक्षेत्रप्रकाशकत्वस्वरूप परिणाम का जनक होने से, शरावादि मे प्रदीप की अजनकता की शका करना उचित नही है। यदि शराव को प्रदीप के प्रति उक्त रीति से जनक नही मानेगे तो वह प्रदीप का आवारक भी नही कहा जा सकेगा। परिणाम की सिद्धि आगे की जायेगी। मुक्ति अवस्था की बात जाने दो, ससारदशा मे भी वासीचन्दनकल्प समान सर्वत्र समभाववाले मुमुक्षु को विशिष्ट ध्यानादि मे आरूढ हो जाय तब ऐसा उत्तम आनदानुभव होता है जो इन्द्रियसहितशरीर व्यापार से अजन्य होता है। इस लिये यह भी सम्भावना की जा सकती है कि प्रबल भावना के प्रभाव से वही सुखानुभव उत्तरोत्तर सोत्कर्षावस्था को प्राप्त करता हुआ अन्तिम सीमा को भी लाँघ जाता है–सर्वज्ञसिद्धि के प्रकरण मे यह बात कह दी गयी है इसलिये यहाँ उसका पुनरावर्त्तन करना ठीक नही है, सिर्फ स्मरण कर लेना आवश्यक है।

[मुक्ति में आत्मस्वरूप आनन्द की उत्पत्ति]

परमार्थ दृष्टि से तो आनन्दरूपता आत्मा की स्वरूपभूत ही है जो उसके प्रतिबन्धक कर्म का क्षय होने पर मुक्तिदशा मे आविर्भूत होती है। जो लोग आत्मा को एकान्त नित्य अपरिवर्त्तनशीलस्वभाववाला मानते हैं उन के मत मे तो वैषयिक सुख-दुःख का भोग भी घट नही सकता, क्योकि एक स्वभाववाला आत्मा उस स्वभाव का त्याग जब तक न करेगा तब तक उसमे स्वभिन्न सुख दुखादि का उद्भव होने पर भी आकाश की तरह वह उसका अनुभव नही कर पायेगा। "आत्मा और आकाश दोनो से सुखादि भिन्न होने पर भी आत्मा मे ही सुखादि समवेत हो कर उत्पन्न होने से आत्मा को उसका अनुभव हो सकेगा"–ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि समवाय से उत्पत्ति आदि बात का पहले ही प्रतिषेध हो चुका है।

अथ स्वसन्तानवर्त्तिचित्तक्षणस्याऽजनकत्वेऽपि सन्तानान्तरवर्त्तियोगिज्ञानस्य जननान्नाशेषचित्त-क्षणाऽवस्तुत्वप्रसक्तिः। ननु एवं रसादेरेककालस्य रूपादेरव्यभिचार्यनुमानं साश्रवचित्तसन्ताननिरोधलक्षणमुक्तिवादिनो बौद्धस्य न स्यात्, रूपादेरन्त्यक्षणवद् विजातीयकार्यजनकत्वेऽपि सजातीयकार्यानारम्भसंभवात्। एकसामग्र्यधीनत्वेन रूप-रसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वेऽत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्वं किं न स्यात् योगिज्ञानान्त्यक्षणयोरपि समानकारणसामग्रीजन्यत्वात्? कथमेकत्रानुपयोगिनश्चान्यत्रोपयोगश्चरमक्षणस्य? उपयोगे वा ज्ञानान्तरप्रत्यक्षवादिनोऽपि नैयायिकस्य स्वविषयज्ञानजननाऽसमर्थस्यापि ज्ञानस्यार्थज्ञानजननसामर्थ्यं किं न स्यात्? तथा च नार्थचिन्तनमुत्सीदेत्। अथ स्वसन्तानवर्त्तिकार्यजननसामर्थ्यवद् भिन्नसन्तानवर्त्तिकार्यजननसामर्थ्यमपि नेष्यते, तर्हि सर्वथार्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेनान्त्यक्षणस्याऽवस्तुत्वप्रसक्तिः। तथाविधस्यापि वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्याऽक्षणिकस्यापि वस्तुत्वप्रसक्तिः। तथा च सत्त्वादय क्षणिकत्वं न साधयेयुः अनैकान्तिकत्वात्। तस्मात् साश्रवचित्तसन्ताननिरोधलक्षणाऽपि मुक्तिर्विशेषगुणरहितात्मस्वरूपेवाऽनुपपन्ना।

मुक्ति दशा मे ज्ञानोत्पत्ति की सिद्धि मे यह एक अनुमान प्रमाण है कि ज्ञान उत्तरज्ञान को उत्पन्न करने के स्वभाववाला है, जो जिसको उत्पन्न करने के स्वभाववाला होता है वह उसको उत्पन्न करने मे पराधीन नही होता उदा० बीजादि अन्तिमकारणसामग्री अंकुर को उत्पन्न करने के स्वभाववाली होती है तो वह अंकुर को उत्पन्न करने मे पराधीन नही होती, पूर्वज्ञानक्षण भी उत्तरज्ञान को उत्पन्न करने के स्वभाववाला होता है।-यह स्वभावहेतुक अनुमान प्रयोग है। यदि ज्ञान उत्तरक्षण मे ज्ञान को उत्पन्न न करेगा तो उसके उत्तरज्ञानोत्पादनस्वभाव का ही भंग हो जायेगा। "संसारदशा के अन्तिमक्षण के ज्ञान मे उत्तरज्ञानजनकता असिद्ध है" ऐसा नही माना जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर पूरे ज्ञानसन्तान मे अवस्तुत्व की आपत्ति होगी। वह इस प्रकार:-सत्त्व सत्ताजातिसम्बन्धरूप होने का प्रतिषेध किया गया है अत: अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व ही मानना होगा। यदि अन्तिमज्ञानक्षण को उत्तरज्ञानजनक नही मानेंगे तो उसमे अर्थक्रियाकारित्व न घटने से उसका असत्त्व फलित होगा। चरमज्ञानक्षण का असत्त्व होने पर उपान्त्य ज्ञानक्षण मे अर्थक्रियाकारित्व न घटने से उसके भी असत्त्व की प्रसक्ति होगी। इस प्रकार पूर्वपूर्वज्ञानक्षण मे असत्त्व प्रसक्त होने से पूरे ज्ञानसन्तान के असत्त्व की आपत्ति आयेगी।

[साश्रवचित्तसन्ताननिरोध मुक्ति का स्वरूप नहीं है]

यहाँ बौद्धवादी कहते है कि-अन्तिमज्ञानक्षण अपने सन्तान मे उत्तरज्ञान को उत्पन्न न करे तो भी उसमे असत्त्व की आपत्ति नही है क्योंकि अन्य योगी के सन्तान मे योगीज्ञानात्मक उत्तरज्ञान को उत्पन्न करने से ही वह सार्थक है-किन्तु यह ठीक नही। कारण, साश्रवचित्तसन्ततिनिरोधस्वरूप मुक्ति दिखाने वाले बौद्ध के मत मे भी समानकालीन रसादि से रूपादि का अभ्रान्त अनुमान होता है वह नही हो सकेगा। आशय यह है-रूप और रस दोनो अपने सन्तान मे क्रमश: रूप और रस के उत्पादक होते हैं और परसन्तान मे सहकारी रूप से क्रमश रस और रूप के जनक होते हैं। अर्थात् रूप का सजातीय कार्य रूप है और विजातीय कार्य रस है। इसलिये रस को हेतु कर के समानकालीनरूप का अनुमान किया जाता है। किन्तु बौद्धवादी के कथनानुसार अन्तिमज्ञानक्षण की तरह विजातीयकार्योत्पत्ति के होने पर भी यदि सजातीयकार्योत्पत्ति न मानी जाय तो यह सम्भव है कि रूप से रससन्तान मे रस

निराश्रवचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा त्वभ्युपगम्यत एव, केवलं सा चित्तसन्ततिः सान्वया युक्ता, बद्धो हि मुच्यते नाऽबद्धः। न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः सम्भवति, तत्र ह्यन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते। 'सन्तानैक्याद् बद्धस्यैव मुक्तिरत्रापी'ति चेत् ? यदि सन्तानार्थः परमार्थसंस्तदाऽऽत्मैव सन्तानशब्देनोक्तः स्यात्, अथ संवृतिसन् तदेकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वादन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यत इति बद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्तिः स्यात्। अथाऽत्यन्तनानात्वेऽपि दृढरूपतया क्षणानामेकत्वाध्यवसायात् 'बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धानवतः प्रवृत्तेर्नायं दोषः, तर्हि न नैरात्म्यदर्शनमिति कुतस्तन्निबन्धना मुक्तिः ? । अथाऽस्ति नैरात्म्यदर्शनं शास्त्रसंस्कारजम्, न तर्ह्येकत्वाध्यवसायोऽस्खलद्रूप इति कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात् ? तथा च-"मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि भोक्तरि"- इत्येतत् प्लवते। तस्मादसति विज्ञानक्षणान्वयिनि जीवे बन्ध-मोक्षयोस्तदर्थं वा प्रवृत्तेरनुपपत्तेः सान्वया चित्तसन्ततिरभ्युपगन्तव्या।

की (यानी विजातीय कार्य की) उत्पत्ति होने पर भी सजातीय रूप कार्य की उत्पत्ति न हो। तब रस से समानकालीन रूप का अनुमान करेंगे तो वह भ्रमरूप हो जायेगा। यदि ऐसा कहे कि रूप और रस दोनो की उत्पत्ति समानसामग्री से होने का नियम होने से रूप को सजातीय-विजातीय उभय कार्यजनक माने विना नही चल सकता-तो फिर प्रस्तुत मे भी अन्तिमज्ञानक्षण मे उभयकार्यजनकता क्यो नही होगी जब कि योगीज्ञान और अन्तिमज्ञानक्षण दोनों समान कारणसामग्री से जन्य है ?! यह प्रश्न है कि अन्तिमज्ञानक्षण उत्तरज्ञान की उत्पत्ति मे अनुपयोगी है तो योगीज्ञान की उत्पत्ति मे उपयोगी कैसे होगा ? यदि बौद्धवादी को यह मान्य हो कि एक ओर अनुपयोगी वस्तु दूसरी ओर उपयोगी बन सकती है, तब तो ज्ञान का अन्यज्ञान से प्रत्यक्ष माननेवाले नैयायिक के मत मे ज्ञान को स्वविषयकज्ञानोत्पादन मे असमर्थ मानने पर भी अर्थविषयकज्ञान के उत्पादन मे समर्थ माना जाता है उसमे क्या दोष रहेगा ? ज्ञान स्वविषयकज्ञान के उत्पादन मे भले ही असमर्थ हो, अर्थ का ज्ञान करा देगा, फिर अर्थचिन्ता का उच्छेद हो जाने की आपत्ति तो नही रहेगी। यदि ऐसा कहे कि-अन्तिमज्ञानक्षण से अपने सन्तान मे सजातीयज्ञान की उत्पत्ति को जैसे हम नही मानते वैसे भिन्नसन्तानवर्ती कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य भी नही मानते है-तो यह नितान्त गलत है क्योकि तब तो अन्त्यक्षण मे किसी भी प्रकार का अर्थक्रियासामर्थ्य न रहने से वह अत्यन्त असत् मानना होगा। यदि अर्थक्रिया के विरह मे भी आप उसको वस्तुभूत मानेगे तो अक्षणिक पदार्थ मे भी वस्तुत्व मानना होगा, भले ही उसमे अर्थक्रियासामर्थ्य न रहे ! फलतः आपका क्षणिकत्वसाधक सत्त्व हेतु अक्षणिक वस्तु मे ही साध्यद्रोही बन जायेगा। सारांश, जैसे विशेषगुणशून्यात्मस्वरूप मुक्ति की मान्यता असगत है वैसे साश्रवचित्तसन्तान के निरोधस्वरूप मुक्ति की मान्यता भी असगत है।

[चित्तसन्तान में अन्वयी आत्मा की उपपत्ति]

यदि साश्रवचित्तनिरोधपूर्वक निराश्रवचित्तसन्तान की उत्पत्ति को मुक्ति कहे तो उसे हम मानते ही है, सिर्फ उस चित्तसन्तान को सान्वय यानी एक अन्वयी से अनुविद्ध मानना आवश्यक है। कारण, बन्धवाले की मुक्ति होती है अबद्ध की नही। तात्पर्य यह है कि चित्तसन्तान को यदि सान्वय न मानकर निरन्वय मानेंगे तो 'बन्धवाले की ही मुक्ति होती है' यह सिद्धान्त नही घटेगा, क्योकि निरन्वय चित्तसन्तानपक्ष मे पूर्वकालीन क्षण को बन्ध होगा तो मुक्ति उत्तरक्षण को होगी-इस प्रकार

न च 'यस्मिन् व्यावर्त्तमाने यदनुवर्त्तते तत् तत एकान्ततो भिन्नम् यथा घटे व्यावर्त्तमानेऽनुवर्त्तमानः पटः, व्यावर्त्तमाने च ज्ञानक्षणेऽनुवर्त्तते चेज्जीवस्ततस्ततो भिन्न एव'-अन्यथा विरुद्धधर्माध्यासेऽपि यद्येकान्ततो भेदो न स्यादन्यस्य भेदलक्षणस्याऽभावादभिन्नं सकलं जगत् स्यात्-इत्यतोऽनुमानात् व्यावृत्ताऽनुवृत्तयोर्भेदसिद्धेर्न सान्वया निरास्रवचित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वक्तुं युक्तम्, असति तत्र पूर्वापरज्ञानक्षणव्यापके आत्मनि स्वसंविदितैकत्वप्रत्ययस्य प्रत्यक्षस्यानुपपत्तेः। अथात्मन्यसत्यप्यध्यारोपितैक(त्व)विषयः प्रत्ययः प्रादुर्भविष्यति। अयुक्तमेतत्, स्वात्मन्यनुमानात् क्षणिकत्वं निश्चिन्वतः समारोपितैकत्वविषयस्य विकल्पस्य निवृत्तिप्रसंगात् निश्चयाऽऽरोपमनसोर्विरोधात्, अविरोधे वा सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनोऽपि सर्वात्मना प्रत्यक्षेणार्थनिश्चयेऽपि समारोपविच्छेदाय प्रवर्त्तमानं न प्रमाणान्तरमनर्थकं स्यात्। "निवर्त्तत एवैकत्वविषयो विकल्पोऽनुमानात् क्षणिकत्वं निश्चिन्वत" इति चेत्? तर्हि सहजस्याऽऽभिसंस्कारिकस्य च सत्त्वदर्शनस्याभावात् तदैव तन्मूलरागादिनिवृत्तेर्मुक्तिः स्यात्।

बन्ध-मोक्ष का सामानाधिकरण्य नही घटेगा। यदि ऐसा कहे कि "क्षण भिन्न भिन्न होने पर भी उनका सन्तान एक होने से जो बन्धवाला (सन्तान) है उसी की मुक्ति होती है यह सिद्धान्त सगत हो जायेगा"-तो यह ठीक नही, क्योकि यदि सन्तानरूप अर्थ को आप वास्तव मानेंगे तो जिसको हम अन्वयि आत्मा कहते हैं उसी का 'सन्तान' शब्द से आपने अभिलाप किया-यानी अन्वयी आत्मा सिद्ध हो जायेगा। यदि सन्तान की काल्पनिक सत्ता मानेंगे तो वास्तविक तो एक सन्तान जैसा कुछ रहा ही नही, फलत: बन्धवाला कोई अन्य है और मुक्ति किसी अन्य की होती है यही सार निकला। इस का दुष्परिणाम यह होगा कि बन्धवाला क्षण कभी भी मुक्ति के लिये प्रयास नही करेगा, क्योकि वह प्रयास करेगा तो भी उसकी तो मुक्ति होने वाली नही है।

यदि ऐसा कहे कि यद्यपि सन्तानवर्त्ती सभी क्षण पृथक् पृथक् है फिर भी वे ऐसे निबिड है कि उसमें कोई अन्तर उपलक्षित नही होता, फलत: उनमे ऐक्य का ही अध्यवसाय होता है, इसीलिये "बँधे हुए मेरे आत्मा को मैं मुक्त करूँगा" ऐसा अभिप्रायवाला बद्ध क्षण मुक्ति के लिये प्रयास करता है, कोई दोष इसमे अब नही रहता है"-तो यह ठीक नही क्योकि मुक्ति तो बौद्धमतानुसार 'मैं ही नही हु' ऐसे नैरात्म्यदर्शन से होती है, किन्तु "आप तो मैं मुक्त हो जाऊं" इस प्रकार आत्मदर्शन की बात कहते हैं तो फिर नैरात्म्यदर्शन के विरह मे नैरात्म्यदर्शनमूलक मुक्ति कैसे होगी? यदि कहे कि-वहाँ शास्त्राभ्यास के सस्कार से नैरात्म्यदर्शन होगा-तो फिर एकत्व का अध्यवसाय भ्रान्त हुआ, अस्खलद्रूप नही हुआ, भ्रान्त प्रतीति से कभी भी अभ्रान्त प्रवृत्ति नही हो सकती तो फिर बद्ध आत्मा मुक्ति के लिये प्रवृत्ति कैसे करेगा? यह प्रश्न खडा ही रहा। उपरात, आपका यह जो वचन है-"आत्मा जैसे कोई मुक्त होने वाला तत्त्व न होने पर भी मिथ्या अध्यारोप (बुद्धि) से छूटने के लिये प्रवृत्ति होती है"-यह वचन भी असत्य ठहरेगा क्योकि उक्त रीति मे मुक्ति के लिये प्रवृत्ति ही अनुपपन्न है। साराश, विज्ञानक्षणो मे एक अन्वयि आत्मतत्त्व को न मानने पर न तो बन्ध-मोक्ष घटता है, न मोक्ष के लिये प्रवृत्ति घटती है, इसलिये चित्तसन्तान को सान्वय ही मानना चाहिये।

[ज्ञान-आत्मा का भेदसाधक अनुमान प्रत्यक्ष बाधित]

यदि यह कहा जाय-जिसके निवृत्त होने पर जो अनुवर्त्तमान होता है वह उससे एकान्तभि- होता है, उदा० घट के निवृत्त होने पर अनुवर्त्तमान पटादि घट से भिन्न ही होते है। ज्ञानक्षण की

न चायमेकत्वविषयः प्रत्ययः प्रतिसंख्यानेन निवर्त्तयितुमशक्यत्वान्मानसो विकल्पः। तथाहि–अनुमानबलात् क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽपि नैकत्वप्रत्ययो निवर्त्तते, शक्यन्ते तु प्रतिसंख्यानेन निवारयितुं कल्पनाः न पुनः प्रत्यक्षबुद्धयः। तस्माद् यथा अश्वं विकल्पयतोऽपि गोदर्शनान्न गोप्रत्ययो विकल्पस्तथा क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽप्येकत्वदर्शनान्नैकत्वप्रत्ययो विकल्पः। नाप्ययं भ्रान्तः, प्रत्यक्षस्याऽशेषस्यापि भ्रान्तत्वप्रसंगात्। बाह्याभ्यन्तरेषु भावेष्वेकत्वग्राहकत्वेनैवाऽशेषप्रत्यक्षेणानु(?क्षाणामु)त्पत्तिप्रतीतेः, तथा च प्रत्यक्षस्याऽभ्रान्तत्वविशेषणमसम्भव्येव स्यात्। तस्मादेकत्वग्राहिणः स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्याऽभ्रान्तस्य कथंचिदेकत्वमन्तरेणानुपपत्तेर्नानुगतरूपाभावः।

निवृत्ति होने पर भी जीव यदि अनुवर्त्तमान रहेगा तो ज्ञान और आत्मा का भेद प्रसक्त होगा। यदि विरुद्ध धर्माध्यास स्पष्ट होने पर भी आप उनमे एकान्त भेद नही मानगे तो भेद का अन्य कोई लक्षण न होने से भेद को कही भी अवकाश ही नही मिलेगा, फलतः सारे जगत् के पदार्थो मे अभेद ही अभेद प्रसक्त होगा। अतः उक्त अनुमान से जब व्यावृत्त और अनुवृत्त पदार्थ का (यानी ज्ञान और आत्मा का) सर्वथा भेद सिद्ध है तो फिर सान्वय निरास्रवचित्तसन्तान को मुक्ति नही मान सकते। कारण, चित्तसन्तान से सर्वथाभिन्न आत्मा का क्षणो मे अन्वय होना शक्य नही है।–तो यह ठीक नही है, क्योकि यदि आप सन्तान के पूर्वापरक्षणो मे अनुविद्ध एक आत्मा का स्वीकार नही करेंगे तो हमे जो यह ऐक्यविषयक प्रत्यक्ष स्वसंविदित प्रतीति होती है–"मैं एक हूं"–यह नही हो सकेगी। यदि कहे कि–आत्मा तो असत् है फिर भी जो उसमे एकत्व को प्रतीति होती है वह तो आरोपित है, वास्तविक नही–तो यह अयुक्त है, क्योकि आपके (बौद्ध) मत मे तो क्षणिकत्व का आत्मा मे अनुमान प्रसिद्ध है, उससे सन्तान मे अनेकत्व का निश्चय होते समय ही आरोपित एकत्वविषयक विकल्प की तो निवृत्ति हो जायेगी, फिर भी एकत्वविषयक विकल्प होता है वह कैसे होगा जब कि निश्चयात्मकचित्त और आरोपितविषयकचित्त इन दोनो मे प्रगट विरोध है। यदि इन मे विरोध नही मानेंगे तो सविकल्पप्रत्यक्षवादी के मत मे एक बार सभी प्रकार से एक अर्थ प्रत्यक्ष से निश्चित हो जाने के बाद भी समारोप निवृत्त न होने के कारण उसकी निवृत्ति के लिये अनुमानादि अन्य प्रमाण की प्रवृत्ति मानी जाती है–उसको आप निरर्थक नही मान सकेंगे किन्तु सार्थक मानना पड़ेगा। यदि कहे कि–"अनुमान से क्षणिकत्व का निश्चय होते समय एकत्व का विकल्प निवृत्त हो जाता है"–तब तो उसी समय मुक्तिलाभ होने की आपत्ति होगी, क्योकि उस वक्त न तो सहज सत्त्वदर्शन है न तो अविद्यादिसंस्कारजनित सत्त्वदर्शन है, सत्त्वदर्शन न होने से तन्मूलक रागादि उसी वक्त निवृत्त हो जायेंगे तो मुक्ति क्यो नही हो जायेगी ?!

[एकत्वविषयक प्रत्यक्ष मिथ्या नहीं है]

एकत्वविषयक प्रतीति वास्तविक नही किन्तु मानसिक विकल्परूप है ऐसा नही कह सकते क्योंकि प्रतिसख्यान (=विरोधी विकल्प) से उसकी निवृत्ति हो ऐसी शक्यता नही है। जैसे सोचिये–अनुमान के बल से क्षणिकत्व का विकल्प होते समय भी एकत्वप्रतीति का निवर्त्तन नही होता है, क्योकि प्रतिसख्यान से भी कल्पनाओ का ही निवर्त्तन शक्य है प्रत्यक्षात्मक बुद्धियो का नही। इसलिये अश्व के विकल्पकाल मे गो का दर्शन ही होता है, तो गोविषयक विकल्पज्ञान उत्पन्न नही होता है उसी तरह क्षणिकत्व के विकल्पकाल मे भी एकत्व का दर्शन ही होता है इसलिये एकत्वविषयक विकल्प की उत्पत्ति को अवकाश नही रहता। [तात्पर्य यह है कि यदि एकत्व की प्रतीति विकल्पात्मक

नाप्यनुगत-व्यावृत्तरूपयोरैकान्तिको भेदः, तद्भेदप्रतिपादकस्यानुमानस्य तदभेदग्राहकप्रत्ययबाधितत्वात् । न च प्रतीयमानस्य रूपस्य विरोधः, अन्यथा ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तिलक्षणविरुद्धरूपत्रयाध्यासितस्य ज्ञानस्याप्येकत्वविरोधः स्यात् । तथा, एकनीलक्षणस्याप्येकदा स्व-परकार्यजनकत्वाऽजनकत्वविरुद्धधर्मद्वयाध्यासितस्यैकत्वविरोधप्रसक्तिः । नैयायिकेनापि प्रतीयमाने वस्तुनि न विरोधोद्भावनं विधेयम्, अन्यथा 'स्थाणुरयं पुरुषो वा' इत्याकारद्वयसमुल्लेखिसंशयप्रत्ययस्याप्येकत्वं विरुद्धमासज्येत ।

यच्चोक्तम्-'यदि योगजो धर्म आत्ममनःसंयोगस्यापेक्षाकारणम्'... इत्यादि, तदपि निरस्तम्, सर्वस्यास्मान् प्रत्यनभ्युपगतोपालम्भमात्रत्वात् । यच्च 'मुमुक्षुप्रवृत्तिरिष्टाधिगमार्था, प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तित्वात्' इत्यनुमाने 'चिकित्साशास्त्रार्थानुष्ठायिनामातुराणामनिष्टप्रतिषेधार्था प्रवृत्तिर्दृश्यते' इत्यनैकान्तिकोद्भावनं तत्राऽनिष्टनिषेधेनाऽऽरोग्यसुखप्राप्तिलक्षणेष्टाधिगमार्थित्वेन तेषां तत्र प्रवृत्तेर्दर्शनान्नानैकान्तिकत्वम् । नचास्माकमयं पक्षः-मोक्षसुखरागेण मुमुक्षवो वीतरागाः सन्त प्रवर्त्तन्ते, "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इत्यभ्युपगमात् ।

होती तो उसकी निवृत्ति शक्य थी किन्तु वह दर्शनात्मक यानि निर्विकल्पप्रत्यक्षात्मक होने से उसकी निवृत्ति अशक्य है। एकत्व के प्रत्यक्ष को भ्रान्त भी नहीं कह सकते । यदि बिना किसी बाधक के भी प्रत्यक्ष को भ्रान्त कहेंगे तो सभी प्रत्यक्ष मे भ्रान्तता की आपत्ति होगी । बाह्य अथवा अभ्यन्तर सभी भावो का प्रत्यक्ष उनके एकत्व को ग्रहण करता हुआ ही उत्पन्न होता है यह अनुभवसिद्ध है, इसलिये एकत्वप्रत्यक्ष को भ्रान्त कहने पर उन सभी प्रत्यक्षो मे भ्रान्तता आपत्ति स्थिर रहेगी । फलतः 'अभ्रान्तं कल्पनापोढ प्रत्यक्षम्' ऐसा जो प्रत्यक्ष के लक्षण मे अभ्रान्तं यह विशेषण दिया गया है वह असम्भवग्रस्त हो जायेगा । साराश, एकत्वग्राहक प्रत्यक्ष स्वसवेदनसिद्ध है, अभ्रान्त है, इसीलिये सन्तानवर्त्तिक्षणो मे कथचिद् एकत्व को मान्य किये बिना उसकी उपपत्ति करना अशक्य है-इस से यह सिद्ध होता है कि उन क्षणों मे एक अनुगत आत्मारूप पदार्थ का अभाव नही है ।

[विरोधापादन का निवारण]

अनुगतरूप और व्यावृत्तरूप मे एकान्तभेद मानना भी अयुक्त है । आपने जो भेदसाधक अनुमान दिखाया है वह तो अभेदसाधक प्रत्यक्षप्रतीति से ही बाधित है । अनुगत रूप और व्यावृत्त रूप दोनो की एक अधिकरण मे प्रतीति होती है इसलिये उनमे विरोध मानना असगत है । प्रतीतिसिद्ध वस्तुद्वय मे भी यदि विरोध मानेंगे तो ग्राह्यता-ग्राहकता और सवेदनरूपता तीन रूप से अधिष्ठित ज्ञान को एक मानने मे विरोध प्रसक्त होगा । इतना ही नहीं, एक ही नीलक्षण एकसाथ स्वकार्यजनकत्व और पर (सन्तानवर्त्ती)कार्य का (सहकारीरूप से) जनकत्व दो विरुद्ध धर्म से अध्यासित होने के कारण उसके एकत्व मे भी बौद्ध को विरोध मानना होगा । प्रतीतिसिद्ध वस्तु मे विरोध का उद्भावन नैयायिक को भी नही करना चाहिये । अन्यथा, "यह स्थाणु है या पुरुष है" इस सशयात्मक प्रतीति में स्थाणु-आकार और पुरुषाकार दो विरुद्धाकार का उल्लेख होने से सशयज्ञान मे भी एकत्व मानने मे विरोध प्रसक्त होगा ।

यह जो उपालम्भ आपने दिया है कि-आत्ममन सयोग का अपेक्षाकारण योगज धर्म को यदि मानेंगे तो वह नही घटेगा क्योंकि वह अनित्य है...इत्यादि, यह सब निरस्त हो जाता है क्योंकि हम वैसा मानते ही नही है । यह जो अनुमान कहा था-मुमुक्षु की प्रवृत्ति इष्ट प्राप्ति के लिये होती है

यच्च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्याद्यागमस्य गौणार्थप्रतिपादनपरत्वम् अभ्यधायि, तदत्यन्तम-संगतम्, मुख्यार्थबाधकसद्भावे तदर्थकल्पनोपपत्ते.। न च तत्र किंचिद् बाधकमस्तीति प्रतिपादितम्। यच्च 'किंच, इष्टार्थाधिगमायां च' इत्याद्युक्तं तदपि सिद्धसाध्यतादोषाद् निःसारतया चोपेक्षितम्। यदपि 'नित्यसुखाभ्युपगमे च विकल्पद्वयम्' इत्याद्यभिहितं, तदप्यनभ्युपगमादेव निरस्तम्, नित्यस्य सुखस्यान्यस्य वा पदार्थस्यानभ्युपगमात्। यथाभूतं च स्वसंविदितं सुखं मोक्षावस्थायामात्मनस्तद्रूप-तया परिणामिनः कथंचिदभिन्नमभ्युपगम्यते तथाभूतं प्राक् प्रसाधितमिति। यच्च न रागादिमतो विज्ञानात् तद्रहितस्योत्पत्तिर्युक्ता' इत्यादि, तदप्यसारम्, रागादिरहितस्य सकलपदार्थविषयस्य ज्ञानो-पादानस्य ज्ञानस्य सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात्।

यच्च 'विलक्षणादपि कारणाद विलक्षणकार्योत्पत्तिदर्शनाद् बोधाद् बोधरूपतेति न प्रमा-णमस्ति' इत्यादि, तदपि प्रतिविहितम् अचेतनाच्चेतनोत्पत्त्यभ्युपगमे चार्वाकमतप्रसक्तेः परलोकाभाव-प्रसक्त्या। परलोकसद्भावश्च प्राक् प्रसाधितः। यच्च 'ज्ञानस्य ज्ञानान्तरहेतुत्वे न पूर्वकालभावित्वं

क्योकि वह प्रवृत्ति बुद्धिमानो की प्रवृत्ति है–इस अनुमान मे आपने जो अनैकान्तिक दोष का प्रति-पादन किया है कि चिकित्साशास्त्रविहितउपाय का अनुष्ठान करने वाले रोगीओ की औषधपानादि मे प्रवृत्ति अनिष्ट के निवारणार्थ होती है–यह अनैकान्तिक दोष वास्तव में यहाँ निरवकाश है क्योकि वहाँ अनिष्ट (रोग) के निवारण द्वारा आरोग्यसुख की प्राप्ति स्वरूप इष्टप्राप्ति के लिये ही प्रवृत्ति होती है। दूसरी वात,-हम ऐसा नही मानते है कि वीतराग मुमुक्षुओ की मोक्षार्थ प्रवृत्ति मोक्षसुख के राग से होती है, क्योकि हमारा सिद्धान्त है कि उत्तम साधक ससार या मुक्ति, सर्वत्र नि स्पृह होता है।

[बाधक के विना गौणार्थ कल्पना असंगत]

तदुपरांत, 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इस वेदवाक्य को आपने मुख्यार्थक न मानकर गौणार्थक होने का कहा है वह भी असंगत है, मुख्यार्थ मे बाधक प्रसिद्ध होने पर ही उसके गौणार्थक होने की कल्पना सगत हो सकती है, अन्यथा नही, उक्त वेदवाक्य को मुख्यार्थक मानने मे कोई ठोस बाधक नही है यह तो कहा जा चुका है। तथा यह जो आपने कहा है कि इष्टार्थप्राप्ति के लिये मुमुक्षु की प्रवृत्ति रागमूलक हो जाने से मोक्षप्राप्ति नही हो सकेगी–यह तो सिद्धसाधनदोष के कारण निःसार होने से उपेक्षणीय है। आशय यह है कि मुमुक्षु सर्वत्र निःस्पृह होता है, यदि वह इष्टप्राप्ति के लिये प्रवृत्ति करेगा तो मुक्त नही हो सकेगा, यह निःसदेह है। तथा, "नित्यसुख को मानने मे दो विकल्प है.... नित्यसुख स्वप्रकाश आत्मरूप है या उससे भिन्न है" इत्यादि.. जो आपने कहा था वह दोनो विकल्प नित्यसुख के अस्वीकार से ही निरस्त हो जाता है। हम सुख या किसी भी अन्य वस्तु को एकान्त नित्य मानते ही नही। मुक्तावस्था मे सुखरूप मे परिणामिआत्मा से कथचिद् अभिन्न ऐसे स्वसविदित सुख को हम मानते हैं और उसकी पहले सिद्धि की जा चुकी है। यह जो आपने कहा है-रागादिग्रस्त विज्ञान से रागरहित विज्ञान की उत्पत्ति युक्त नही है....इत्यादि, वह भी असार है, क्योकि ज्ञान ही रागादिशून्य और सकल वस्तु को विषय करने वाले ज्ञान का उपादान कारण है यह सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण में हमने सिद्ध किया है।

- यह जो कहा था–विलक्षण कारण से भी विलक्षण कार्य की उत्पत्ति दीखती है इसलिये बोध से ही उत्तरकार्य मे बोधरूपता होने की बात मे कोई प्रमाण नही है–इस कथन का प्रतिकार पहले हो

समानजातीयत्वम् एकसन्तानत्वं वा हेतुर्व्यभिचारात्' इत्यादि, तदपि प्रतिविहितमेव 'तस्माद्यस्यैव संस्कारं नियमेनाऽनुवर्त्तते' इत्यादिना। तेन 'मरणशरीरज्ञानस्य गर्भशरीरज्ञानहेतुत्वे सन्तानान्तरेऽपि ज्ञानजनकत्वप्रसंग, नियमहेतोरभावात्' इत्येतदपि स्वप्नायितमिव लक्ष्यते, नियमहेतोस्तत्संस्कारानुवर्त्तनस्य प्रदर्शितत्वात्।

यच्च 'सुषुप्तावस्थायां विज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्' इत्यादि, तदपि प्रतिविहितम् 'यस्य यावती मात्रा' इत्यादिना। तथाहि-मिद्धादिसामग्रीविशेषाद् विशिष्टं सुषुप्ताद्यवस्थायां गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानतुल्यं बाह्याध्यात्मिकपदार्थानेकधर्मग्रहणविमुखं ज्ञानमस्ति, अन्यथा जाग्रत् प्रबुद्धज्ञानप्रवाहयोरप्यभावप्रसक्तिरिति प्रतिपादितत्वात् परिणतिसमर्थनेन। यथा चाश्वविकल्पनकाले प्रवाहेणोपजायमानमपि गोदर्शनं ज्ञानान्तरवेद्यमपि भवदभिप्रायेणानुपलक्षितमास्ते-अन्यथा अश्वविकल्पप्रतिसंहारावस्थायाम् 'इयत्कालं यावन्मया गौर्दृष्टो न चोपलक्षित.' इति ज्ञानानुत्पत्तिप्रसक्तेः प्रसिद्धव्यवहारोच्छेदः स्यात्-तथा सुषुप्तावस्थायां स्वसंविदितज्ञानवादिनोऽप्यनुपलक्षितं ज्ञानं भविष्यतीति न तदवस्थायां विज्ञानाऽसत्त्वात् तत्सन्तत्युच्छेद.। न च युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेरश्वविकल्पकाले ज्ञानान्तरवे-

---

चुका है, क्योंकि अचेतन से यदि चैतन्य की उत्पत्ति मानेंगे तो परलोकमान्यता का उच्छेद हो जाने से नास्तिकमत की आपत्ति होगी। परलोक की सिद्धि पहले की गयी है। यह जो विकल्प किया था-ज्ञान को ही अन्य ज्ञान का कारण मानने मे क्या हेतु है-पूर्वकालभावित्व, समानजातीयता या एकसन्तानता? तीनो मे व्यभिचार होने से ज्ञान ही अन्य ज्ञान का हेतु नही है-इत्यादि, उसका भी प्रतिकार "जो जिसके सस्कार का नियमत अनुसरण करता है वह तत्समाश्रित है" इस कारिकार्थ से कर दिया गया है। इसी कारण से, आप का यह कथन-मरणशरीरवर्त्ती ज्ञान को अग्रिम जन्म के गर्भकालीनशरीरान्तर्गतज्ञान का हेतु मानेंगे तो फिर चैत्रसन्तानवर्त्ति ज्ञान से मैत्रसन्तान मे ज्ञानोत्पत्ति की आपत्ति होगी क्योकि कारण कार्य के सामानाधिकरण्यादि नियामक हेतु का तो अभाव है-यह कथन भी स्वप्नोक्तितुल्य' लगता है, क्योकि सस्कार के अनुवर्त्तन स्वरूप नियामक हेतु का सद्भाव तो हमने दिखा दिया है।

[सुषुप्ति में ज्ञान के सद्भाव की सिद्धि]

यह जो कहा था-सुषुप्तावस्था मे विज्ञान की सत्ता मानने पर जागृतिदशा से कुछ भेद नही रहेगा-....इत्यादि,-इस का भी-जिस की जितनी मात्रा .. इत्यादि [९०-२७] से परिहार हो चुका है। जैसे देखिये-निद्रावस्था मे एक ऐसा ज्ञान होता है जो बाह्याभ्यन्तर पदार्थो के अनेकधर्मो के ग्रहण से विमुख होता है, जो मिद्धता (=दर्शनावरणकर्मके उदय से प्रयुक्त जडता) आदि सामग्री विशेष से विशिष्ट यानी उत्पन्न होता है, जैसे कि चलते समय पैर के नीचे आनेवाले तृण का स्पर्शज्ञान। यदि इस ज्ञान को नही मानेंगे तो जागृतिदशा के अन्तिमज्ञान में अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व का अभाव प्रसक्त होने से सपूर्ण जागृतिदशाकालीन ज्ञानप्रवाह का और सुषुप्तिउत्तरकालीन ज्ञानप्रवाह का अभाव प्रसक्त होगा। परिणामवाद के समर्थन मे उक्त तथ्य का समर्थन किया जा चुका है। सुषुप्ति मे अनुपलक्षित भी ज्ञान होता है उसके लिये बौद्धमतमान्य गोदर्शन का दृष्टान्त भी है अश्व के विकल्पकाल मे प्रवाह से उत्पन्न होने वाला गोदर्शन उपलक्षित नही होता है किन्तु आपके मतानुसार वह ज्ञानान्तरवेद्य होता है-यदि ऐसा नही मानेंगे तो अश्वविकल्प के प्रवाह का अन्त हो जाने पर जो यह

श्वगोदर्शनाऽसम्भवः, सविकल्पाऽविकल्पयोर्ज्ञानयोर्युगपद्वृत्तेरनुभवात्, अन्यथा प्रतिनिवृत्ताश्वविकल्पस्य तावत्कालं यावद् गोदर्शनस्मरणाध्यवसायो न स्यात् । क्रमभावेऽपि च तयोर्विज्ञानयोर्विज्ञानं ज्ञानान्तर-विदितमप्यनुपलक्षितमवश्यं तस्यामवस्थायां परेणाभ्युपगमनीयम्, तदभ्युपगमे च यदि स्वापावस्थायां स्वसंविदितं यथोक्तं ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा न कश्चिद्विरोध. । शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थोऽनभ्युपगमान्निरस्त: ।

यदपि 'अनेकान्तभावनातः इत्याद्यभ्युपगमे तज्ज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वं प्रतिषिद्धम्, अनेकान्तज्ञानस्य बाधकसद्भावेन मिथ्यात्वोपपत्तेः' इत्यभिहितम्, तदप्यसम्यक्, अनेकान्तज्ञानस्यैवाऽबाधितत्वेन सम्यक्त्वेन प्रतिपादितत्वात् । यच्च 'नित्याऽनित्य(त्व)योर्विधि–प्रतिषेधरूपत्वादभिन्ने धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तदबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधाऽसिद्धेः । न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः येनैकत्र विरोध. स्यात् । किं तर्हि ? अनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः । न चान्यधर्मनिमित्तयोर्विधि–प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः अतिप्रसंगात् । न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूपतयाऽत्यन्तिको भेद', पूर्वोत्तरकालभावि-स्वपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्यात्मिकस्यार्थस्याऽबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात् ।

ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'इतने काल से गाय को देखने पर भी मुझे वह उपलक्षित नही हुआ' यह ज्ञान उत्पन्न ही नही होगा, तथा इसप्रकार के ज्ञान होने का जो सर्वजनसिद्ध व्यवहार है उसका भी विलोप हो जायेगा । तो जैसे अनुपलक्षित भी गोदर्शनरूप ज्ञान अश्वविकल्प काल मे होता है उसी तरह स्वसंविदित ज्ञानवादी के पक्ष में भी सुषुप्तिदशा में ज्ञान अनुपलक्षित हो सकता है, इसलिये सुषुप्तिदशा मे ज्ञानाभाव को मानने द्वारा सन्तान के उच्छेद की सिद्धि दुष्कर है ।

'एकसाथ (दो) ज्ञान उत्पन्न नही हो सकते, इसलिये अश्वविकल्पज्ञानकाल मे ज्ञानान्तर से वेद्य गोदर्शनरूप निर्विकल्पज्ञान के अस्तित्व का सम्भव नही है'–ऐसा कहना व्यर्थ है क्योकि सविकल्प और निर्विकल्प दो ज्ञान का एकसाथ अस्तित्व अनुभवसिद्ध है । यदि नही मानेगे तो अश्वविकल्प की निवृत्ति होने पर उतने काल तक गोदर्शन का स्मरणात्मक अध्यवसाय जो होता है 'इतने काल देखने पर भी मेरे ध्यान मे यह नही आया'–यह अध्यवसाय नही होगा । मान लो कि वहाँ दो ज्ञान एक साथ नही किन्तु शीघ्र क्रम से उत्पन्न होते हैं तो भी उन दो विज्ञानों को विषय करने वाला एक विज्ञान जो कि यद्यपि अन्यज्ञान से वेद्य होने पर भी उस अवस्था मे अनुपलक्षित रहता है, वह आप को अवश्य मानना पडेगा । क्योकि विज्ञान द्वयविषयकविज्ञान का अन्य ज्ञान से वेदन अनुभवसिद्ध है । जब आप को वह मान्य है तो हमे सुषुप्तिदशा मे स्वसंविदित किन्तु अनुपलक्षित ज्ञान मान्य होने मे कोई विरोध नही रहता । इस विषय मे अवशिष्ट पूर्वपक्षवचनो का भी उनके अस्वीकार से ही निरसन हो जाता है ।

[अनेकान्तभावनाजनित ज्ञान असम्यक् नहीं]

तदुपरांत, अनेकान्तभावना से मोक्षप्राप्ति की मान्यता के खंडन में अनेकान्तज्ञान की मोक्ष-कारणता का निराकरण करते हुए जो कहा है कि बाधक विद्यमान होन से अनेकान्त ज्ञान मे मिथ्यात्व ही घटता है–वह भी ठीक नही है, क्योकि अनेकान्तज्ञान ही अबाधित होने से वही सम्यक् है–इस तथ्य का प्रतिपादन हो चुका है । तथा यह जो बाधक कहा है–नित्यत्व और अनित्यत्व क्रमशः विधि–निषेधरूप होने से एक अभिन्न धर्मी मे दोनो नही हो सकते–यह कोइ ठोस बाधक नही है क्योकि एक

यच्चेदम् घटादिमृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र 'मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नित्यः, मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात्, घटस्य च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति-अयुक्तमेतत्, सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानुपपत्तेः समानाऽसमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः। तथा हि-न तावत् स्वाश्रयादर्थान्तरभूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः सम्बन्धाभावात्-स्वसम्बन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः सम्बन्धेऽतिप्रसंगात्, स्वत एव सद्भिः सत्तासम्बन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वाद् व्यक्त्यन्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरैरेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य सम्बन्धेऽतिप्रसंगपरिहारायाभ्युपगम्यमाना च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता वाऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्तस्य सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत्, शुक्लादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतो सामान्यात् सदादिप्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्?। सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययविषयत्वे द्रव्यादिषु कः प्रद्वेषः? परतश्चेदनवस्था। अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसंगः स्यात्। तद्रूपाध्यारोपेऽपि तत्प्रत्ययादिश्चान्यत्र भ्रान्त एव प्रसक्तः।

धर्मि मे वास्तव मे प्रतीत होने वाले दो धर्म मे, चाहे वे विधि-निषेधरूप हो या न हो विरोध असिद्ध है। जिस (द्रव्यत्वादि) रूप से हम नित्यत्व का विधान करते है उसी रूप से हम नित्यत्व का प्रतिषेध करते ही नही जिस से कि विरोध को अवकाश मिले। 'तो फिर आप के विधि-निषेध किस रूप से हैं'-इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तु का द्रव्यत्वादि जो अनुस्यूत (=अनुगत) आकार है उस रूप से नित्यत्व का विधान किया जाता है और जो कु डलत्वादि व्यावृत्ताकार है उस रूप से नित्यत्व का प्रतिषेध किया जाता है। एक स्थान मे भिन्न भिन्न धर्म निमित्तक विधि और प्रतिषेध को मानने मे विरोध नही है, अन्यथा एक शब्द से वाच्यत्व और अन्यशब्द से अवाच्यत्वादि मानने मे भी विरोध आ जायेगा। तथा, यह भी ज्ञातव्य है कि सामान्यात्मक अनुगताकार और विशेषरूप व्यावृत्ताकार इन दोनो मे अत्यन्त भेद नही है, कथञ्चिद् भेद है। कारण, अबाधित प्रत्यक्षप्रतीति मे बाह्याभ्यन्तर प्रत्येक अर्थ, पूर्वोत्तरकालभावि अपने पर्यायो से अभिन्नता धारण करने वाले अनुगताकार से उपश्लिष्ट होकर ही प्रतिभासित होता है।

मिट्टी आदि रूप से घटादि नित्य है-इस विषय मे यह जो आपने कहा है कि-मिट्टीरूपता घटादि से भिन्नपदार्थ रूप होने से मिट्टीरूपता के जरिये घट को नित्य नही मानना चाहिये, मिट्टीरूपता मृत्त्वसामान्यरूप यानी अन्यपदार्थरूप है, उसके नित्य होने पर भी घट मे नित्यता नही आ जाती क्योकि घट तो मृत्त्व सामान्य से अन्य है। विनाशक कारण से घट का नाश दिखता है इस लिये घट अनित्य ही है-यह सब अयुक्त है क्योकि घटादिविशेष से मृत्त्वादि सामान्य अन्यपदार्थरूप मानना सगत नही होता इस लिये समान-असमान उभयपरिणाम से अभिन्न ही घटादि पदार्थ मानना चाहिये। यह इस तरह -मृत्त्व जाति अथवा सत्ता, अपने आश्रय से अर्थान्तरभूत नही है। यदि उसे भिन्न मानेंगे तो आश्रय के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही घटेगा। सत्तादि जाति का सम्बन्ध होने के पहले जो असत् थे, उन आश्रयो के साथ बाद मे यदि सत्तादि का सम्बन्ध मानेंगे तो खरविषाणादि के साथ भी मानना पडेगा। यदि सत्ता सम्बन्ध के पहले भी घटादि आश्रय को सत् मानेंगे तो फिर सत्तादि सम्बन्ध की कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी।

नैयायिक मत मे समवाय भी सर्वगत(=व्यापक) है और घटत्वादि सामान्य भी सर्वगत है,

समवायमपि च ताद्रूप्यमेव समवायिनो. पश्यामः, अन्यथा तस्याप्याश्रितत्तया सम्बन्धान्तर-कल्पनाप्रसंगात् तत्र चानवस्थायाः प्रदर्शितत्वात् । विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्धेऽप्यपरतत्कल्पनेऽनवस्था । समवायात् तत्सम्बन्धकल्पने इतरेतराश्रयत्वम् । अनाश्रितस्य तत्सम्बन्धत्वेऽप्यतिप्रसंगः । तस्य स्वतः सम्बन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात् । सति च वस्तुद्वये सन्निहिते 'इदं सदिदं च सद्' इति समुच्चयात्मकः प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुनः 'इदमेवेदम्' इति, सम्भवद्विवक्षितैक(?तानेक)-व्यक्त्याधेयरूपस्य च सामान्यस्याशेषाश्रयग्रहणाऽसम्भवान्न कदाचनापि तस्य सम्पूर्णस्य ग्रहणं स्यात् । तद्व्यक्त्यनाधेयरूपाऽसम्भवे तद्गतरूपादिवत् तन्मात्रमेव स्यात् । स्वाश्रयसर्वगतसामान्यवादस्तु परिणामसामान्यवादान्न विशिष्यते, प्रत्याश्रयं परिसमाप्तत्वस्यान्यथानुपपत्त्या सामान्यसम्बन्धशून्येष्वपि द्रव्यादिषु पदार्थादिप्रत्ययाद्यन्वयदर्शनाच्च ।

इस स्थिति में घटत्वादि जाति पटादिव्यक्ति को छोडकर सिर्फ घटादि व्यक्तिओ के साथ ही सम्बन्ध रखे तो पटादि के साथ भी सम्बन्ध रखने का अतिप्रसंग सावकाश है, उसके निवारण के लिये यदि आप प्रत्येक व्यक्ति मे व्यापक और व्यक्ति से तादात्म्य रखने वाले सम्बन्ध की कल्पना करेंगे तो वह सम्बन्ध 'समानपरिणाम' से अन्य कौन होगा ? अर्थात् समानपरिणाम को जब मानना ही पडेगा तब उससे भिन्न सामान्य की कल्पना का उच्छेद क्यों न होगा ? और शुक्लादिवर्ण जैसे अपने आश्रय की स्वानुरूप प्रतीति अर्थात् 'शुक्ल वस्त्र' ऐसी प्रतीति का हेतु बनता है वैसे वह समानपरिणामरूप सत्तादि सामान्य 'घट सत् है' इत्यादि सत्त्वविषयकप्रतीतियो का हेतु भी क्यो न हो सकेगा ? तथा अतिरिक्त सामान्य पक्ष में, यदि आप सामान्य मे सत्तादिजाति के विना भी 'सामान्यं सत्' इस प्रकार सामान्य को स्वतः सत्त्वादिप्रतीति का विषय मानते है तो द्रव्यादि के ऊपर आप को द्वेष क्यो है जिस से सामान्य के विना 'द्रव्यं सत्' इस प्रकार द्रव्यादि को स्वतः सत्त्वादिप्रतीति का विषय नही मान लेते ? यदि सामान्य में अपर सामान्य से सत्त्वादिप्रतीति का उपपादन करेंगे तो उस अपर सामान्य मे भी नये नये सामान्य को मानकर तद्विषयक सत्त्वादिप्रतीति का उपपादन करना होगा जिस मे अनवस्था दोष लगेगा । जिस रूप का जहाँ अध्यारोप नही किया गया, उसको तद्विषयक प्रतीति का यदि हेतु मानेंगे तो सारे जगत् को उस प्रतीति के हेतु मानने का अतिप्रसंग होगा । यदि एकवस्तुगत सत्तादिरूप को अन्यत्र अध्यारोपित मान कर तद्विषयकप्रतीति का उपपादन करेंगे तो वह प्रतीति भ्रान्त मानने की आपत्ति खडी है ।

[समवायादिसम्बन्धकल्पना में अनवस्था]

समवाय भी दो समवायि का तादात्म्य ही दिखता है । यदि उसको भिन्न मानेंगे तो भी समवायियों मे आश्रित तो मानना ही होगा और आश्रित मानने के लिये अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पडेगी, फलतः यहाँ अनवस्था दोष होगा-यह पहले कह दिया है । समवाय के बदले यदि विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध मानेंगे तो उसको आश्रित मानने के लिये भी नये नये सम्बन्ध की कल्पना करने में अनवस्था दोष है । यदि विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध को समवायीयो के साथ सम्बन्ध करने के लिये समवाय की कल्पना करेंगे और समवाय का समवायि के साथ सम्बन्ध करने के लिये विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध को मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा । यदि कहे कि-समवाय को अनाश्रितरूप मे ही सम्बन्ध मानेंगे तो यह आपत्ति होगी कि रूपादि को भी अनाश्रित मान कर ही घट में रूपादिवत्ता की बुद्धि का निमित्त मानना होगा । यदि समवाय को आप स्वतः सम्बन्ध मानने

नाप्यन्यस्य व्यावृत्तिः, स्वलक्षणगतायाः प्रत्येकपरिसमाप्तायाः परिणामसामान्यादभिन्नत्वात् व्यावृत्तेः। तदाश्रयान्यानेकव्यक्तिसाधारणी बुद्धिपरिकल्पिता ऽतज्जातीयव्यावृत्तिः सामान्यमिष्यते, तस्मिंश्चाऽवस्तुभूते शब्दप्रतिपादिते तथाविधे सामान्येऽस्वलक्षणविवक्षितेऽर्थक्रियार्थिनां स्वलक्षणे वृत्तिरपरिकल्पितरूपे कथं स्यात् ? दृश्य-विकल्प(ल्प)योरेकीकरणेन प्रवृत्तौ गोबुद्ध्याऽप्यश्वे प्रवर्त्तेत । न च विकल्पितस्य सामान्यस्याऽवस्तुभूततया केनचिद् दृश्येन सारूप्यमस्ति, सद्भावे वा सारूप्यस्य किं दृश्य-विकल्पैकीकरणवाचोयुक्त्या ? तदेव दृश्यं सामान्यज्ञाने प्रतिभासते, तत्प्रतिभासाच्च तत्रैव वृत्तिरिति किं न स्फुटमेवाऽभिधीयते अवस्त्वाकारस्य वस्तुना सारूप्याऽसम्भवात् ?

के लिये सज्ज है (अर्थात् उसके लिये कोई अपर सम्बन्ध नही मानना है) तो फिर सामान्यादि को भी स्वत. सम्बद्ध मान लिजीये, दोनो स्थल मे क्या विशेष फर्क है ?

तथा, दो वस्तु के होने पर 'यह सत् है और यह सत् है, ऐसी समुच्चयात्मक प्रतीति अनुभव मे आती है, किन्तु 'यही यह है' ऐसी प्रतीति होने का अनुभव नही है। तथा सम्भवत. सामान्य जितनी अनेक व्यक्ति मे आधेय रूप से रहा है उन मे से किसी एक व्यक्ति में उसका ग्रहण होने पर भी उसके जितने आश्रय हैं उन सभी का ग्रहण न हो सकने से तत्तद्व्यक्तिनिष्ठसामान्य का ग्रहण न होने पर सामान्य का सपूर्ण ग्रहण तो कभी होगा ही नही। यदि सामान्य मे तत्तद्व्यक्ति-आधेयरूपता का ही सम्भव मानेंगे तो जैसे तत्तद्व्यक्तिगतरूपादि सिर्फ तत्तद् व्यक्ति के ही आधेय होने से तत्तद् व्यक्ति मे ही पर्याप्तरूप से रहते है उसी तरह सामान्य भी तन्मात्ररूप यानी तत्तद्व्यक्तिमात्रपर्याप्त हो जाने की आपत्ति होगी। इससे यह फलित होना है कि–सामान्य के जितने आश्रय है उन सभी मे सामान्य को व्यापक मानने वाला मत परिणामसामान्यवाद से अतिरिक्त नही हो सकता। तात्पर्य, वस्तुओं का समानपरिणाम यही सामान्य है ऐसा माने तभी सर्वगतत्व संगत हो सकता है, क्योकि समानाकार परिणामरूप सामान्य ही प्रत्येक आश्रयव्यक्ति मे पर्याप्त होकर रह सकता है। तथा यह दिखता है कि द्रव्यादि मे पदार्थत्वादि सामान्य का सम्बन्ध न होने पर भी 'यह पदार्थ है–यह पदार्थ है' ऐसी अनुगत प्रतीति होती है।

[व्यावृत्ति सर्वथा भिन्न या असत् नहीं है]

अन्य पदार्थ की व्यावृत्ति भी घटादिविशेष से सर्वथा भिन्न नही है, क्योकि प्रत्येक मे व्याप्त स्वलक्षणगत व्यावृत्ति यह परिणामसामान्यरूप ही है उससे भिन्न नही है। परिणामसामान्य के आश्रयभूत अन्य अन्य अनेक व्यक्तिओ मे साधारण और बुद्धि से कल्पित जो अतज्जातीयव्यावृत्ति (अघट-जातीयव्यावृत्ति=घटत्व) यही सामान्य कहा जाता है। बौद्धवादी सामान्य को वस्तुभूत नही मानते हैं (काल्पनिक मानते है) किन्तु यदि उसको वस्तुभूत नही मानेंगे तो अवस्तुभूत सामान्य का शब्द से प्रतिपादन किये जाने पर स्वलक्षण की तो विवक्षा ही नही है फिर अर्थक्रिया के चाहको की अकल्पित-रूपवाले (यानी वास्तविक) स्वलक्षण पदार्थ मे प्रवृत्ति होती है वह कैसे होगी ? आशय यह है कि शब्द का प्रतिपाद्य सामान्य तो बौद्धमत मे असत् है अत. उसमें तो प्रवृत्ति हो नही सकती। जो स्वलक्षणरूप वास्तविक पदार्थ है वह तो बौद्धमत मे शब्द का प्रतिपाद्य ही नही है तो उस मे भी प्रवृत्ति नही होगी–इसतरह प्रवृत्ति का ही उच्छेद हो जायेगा। यदि कहे कि दृश्य (स्वलक्षण पदार्थ) और विकल्प्य (शब्दजन्य विकल्प का विषयभूत सामान्य पदार्थ) दोनो के 'एकीकरण' के कारण यानी

किं च, दृश्य-विकल्प्ययोरेकीकरणं दृश्ये विकल्प्यस्याऽध्यारोपः, स च गृहीतयोरगृहीतयोर्वा ? यदि गृहीतयोस्तदा दृश्य-विकल्प्ययोर्भेदेन प्रतिपत्तेर्न दृश्ये विकल्प्याध्यारोपः, नहि घटपटयोर्भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकस्याऽपरत्रारोपः, अतिप्रसंगात् । नाप्यगृहीतयोः स सम्भवति, अतिप्रसंगादेव । न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्प्यबुद्धौ दृश्यम् । न चैकबुद्धावप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः । सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धः, वस्त्ववस्तुनोश्च नील-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम् । न च दृश्याध्यवसायिविकल्प्यबुद्ध्युत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वोपपत्तेरनन्तरमेव तस्या वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात् ।

तथा, अनुमानेनाऽपि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिष्प्रवृत्त्ययोग एव । 'नाऽतद्रूपव्यावृत्तिमात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादि'ति चेत् ? किं तद्

दृश्य में विकल्प्य के अध्यारोप से शब्द द्वारा स्वलक्षण मे प्रवृत्ति हो सकती है–तो यह ठीक नही है क्योंकि ऐसा मानने पर गाय की बुद्धि होने पर एकीकरण के द्वारा अश्वाभिमुख प्रवृत्ति होने की आपत्ति अचल है । तदुपरांत, एकीकरण की बात भी असंगत है क्योंकि विकल्पविषयीभूत सामान्य तो बौद्ध मत मे अवस्तुभूत है, अतः दृश्य के साथ उसका कुछ भी सारूप्य (समानत्व) हो नही सकता । यदि उन दोनों में आप कुछ सारूप्य होने का मान्य करते है तब तो 'दृश्य-विकल्प्य का एकीकरण' इत्यादि वाग्जाल का क्या प्रयोजन है ? साफ साफ ऐसा ही क्यो नही कहते हैं कि वही स्वलक्षणरूप दृश्य वस्तु सामान्यज्ञान में भासित होती है और प्रतिभास होने से ही तदभिमुख प्रवृत्ति होती है । क्योंकि, अवस्तुभूत पदार्थ के साथ वस्तु का सारूप्य तो सम्भव ही नही है ।

[दृश्य-विकल्प्य का एकीकरण अशक्य]

तथा, दृश्य में विकल्प्य का अध्यारोप यही दृश्य और विकल्प्य का एकीकरण कहते हो तो यहाँ दो विकल्प है–a दोनो के–दृश्य और विकल्प्य के गृहीत रहने पर यह अध्यारोप मानते हो या b अगृहीत रहने पर भी ? a गृहीत रहने पर तो दृश्य और विकल्प्य का भिन्न भिन्नरूप से ग्रहण हो चुका फिर दृश्य मे विकल्प्य के अध्यारोप की बात ही कहाँ रही ? भिन्न–भिन्नस्वरूप से भासते हुए घट-पट में, एक का दूसरे मे आरोप होता नही है, यदि भिन्न भिन्नरूप मे भासमान दो पदार्थ मे भी एक का दूसरे मे आरोप मानेंगे तो घट मे भी पट का आरोप मानने की आपत्ति आयेगी । b दृश्य और विकल्प्य अगृहीत रहने पर तो आरोप का नितान्त असभव है, अन्यथा अगृहीत घट का भी अगृहीत पट मे आरोप मानना पडेगा । दूसरी बात यह है कि दृश्य की बुद्धि मे विकल्प्य भासित नही होता और विकल्प्य की बुद्धि मे दृश्य का प्रतिभास नही होता तो फिर दोनो का एकीकरण कैसे करेंगे ? एक बुद्धि में जब तक रूप और रस का प्रतिभास न हो तब तक परस्पर के अध्यारोप की जैसे सम्भावना नही है इसी तरह दृश्य और विकल्प्य का भी परस्पर अध्यारोप सम्भव नही है । यह भी सुज्ञात है कि एक वस्तु का अन्यत्र आरोप सादृश्यमूलक होता है । किन्तु, वस्तु और अवस्तु मे कोई सादृश्य ही नही है जैसे नील पदार्थ और खरविषाण मे, इसलिये तन्मूलक अध्यारोप भी नही हो सकता है–यह पहले कहा जा चुका है । "दृश्य के अध्यवसायवाली विकल्प बुद्धि का उद्भव यही अध्यारोप है" ऐसा भी नही मान सकते, क्योंकि ऐसी बुद्धि से ही हम सदृशपरिणामात्मक सामान्य की सिद्धि करते हैं, तथा यह बुद्धि वस्तुस्वरूपस्पर्शी सविकल्पप्रत्यक्षरूप है यह हमने सिद्ध कर दिखाया है ।

वस्तुमात्रमन्यत्र समानपरिणामात् ? । अनुभूयते च सामान्यम्-अलिंगजत्वान्नानुमानेन-अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन, प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागपरिच्छिन्दताऽपि दवियसि देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम्, तन्निराकरणे चानुभवविरोधः । न च सादृश्यम्, समानपरिणामाभावे तदसम्भवात् । ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् विभक्ततयाऽन्यत्राऽनन्वयात् क्वचित् गृहीतसम्बन्धेन शब्देन लिंगेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति । नैष दोषः, विभक्तेऽपि वस्तुतस्तस्मिन्ननाश्रितदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य लिंगस्य वा तावन्मात्रस्यैव सकेतितत्वात् सम्बन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेदप्रतिपत्तेरजन्यत्वात् तत्तया प्रतिपत्त्यविरोधान्न दोषः । प्रतिपादयिष्यते च नित्याऽनित्याद्यनेकान्तरूपं वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम् ।

[सामान्य समानपरिणामरूप है]

यदि अवस्तुस्वरूप अर्थान्तरव्यावृत्तिभूत सामान्य को अनुमान से प्रसिद्ध होने का मानेंगे तो भी बाह्यवस्तु (स्वलक्षण) में प्रवृत्ति की अनुपपत्तिवाला दोष अचल ही रहेगा, क्योंकि जिस मे प्रवृत्ति होती है वह तो उस अनुमान का विषय ही नही हुआ। यदि ऐसा कहे कि-हम सिर्फ अतद्रूप की व्यावृत्ति को ही अनुमान का विषय नही मानते किन्तु अतद्रूप से व्यावृत्तिवाले पदार्थ को ही अनुमान का विषय मानते हैं, अतः वस्तुविषयक अनुमान से वस्तु मे प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जायेगी।-तो यहाँ प्रश्न है कि अतद्रूप से व्यावृत्त वह वस्तु समानपरिणामरूप सामान्य को छोड कर और कौनसी है ? दूसरी बात यह है कि आप प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण ही मानते हैं, इसमे से सामान्य का अनुभव अनुमान से होता नही है क्योकि वह अनुभव लिंगजन्य नही है, किन्तु अविसवादिप्रत्यक्षात्मक प्रमाण से ही उस सामान्य का अनुभव किया जाता है। वह इस प्रकार:-शाखाप्रशाखादि विभाग का अवलोकन करते समय दूर देश मे प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से सिर्फ वृक्षादिमात्र का बोध होता हुआ दिखता है यह अनुभव सिद्ध है-यदि यहाँ वृक्षसामान्य का बोध नही मानेंगे तो विरोध प्रसक्त होगा। ऐसा नही कह सकते कि-वहाँ केवल सादृश्य का बोध होता है, समानपरिणाम का नही-क्योकि समानपरिणाम के विना कही भी सादृश्य ही नही हो सकता फिर उस बोध को समानपरिणामविषयक मानने के बदले सादृश्यविषयक क्यो माने ?।

यदि एसा कहे कि-सामान्य को यदि सामान्यपरिणामरूप मानेंगे तो वह समानपरिणाम तो वस्तु के सजातीय परिणाम से भी विभक्त (=अतिरिक्त) होने से अन्य अन्य व्यक्तिओ मे उसका अन्वय तो होगा नही, इस स्थिति मे, एक व्यक्ति मे शब्द का सकेत गृहीत रहने पर अथवा एक अधिकरण मे लिंग का लिंगी के साथ सम्बन्ध गृहीत रहने पर, उस शब्द या लिंग से अन्य अन्य तज्जातीय व्यक्ति का प्रतिपादन शक्य न होगा-तो यह कोई दोष जैसा नही है। कारण, व्यक्ति व्यक्ति मे वह विभक्तरूप से रहने पर भी, वास्तव मे देशादिभेद का आश्रय न करके शब्द सामान्य और लिंग सामान्य का सिर्फ समानपरिणाममात्र के साथ ही सकेत यानी सम्बन्ध माना जाता है, वह समानपरिणाम चाहे एक व्यक्तिगत हो या अन्यव्यक्तिगत, यह बात अलग है। इस सबध का जिस को ग्रहण हुआ होगा उसको अन्य स्थान मे भी समानपरिणाममात्र से भेद यानी वस्तुविशेष का बोध उत्पन्न नही होगा किन्तु समानपरिणतिरूप से वस्तुमात्र का बोध हो जायेगा अतः कोई दोष नही है। अग्रिम ग्रन्थ में

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्युपगमात्' इत्यादि तदप्ययुक्तम् , इतरेतराभावस्य घटवस्त्वभेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसंगात् पटाद्यभावस्य विनष्टत्वात् । अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात् । यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात् , यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद्भिन्नत्वादेव । नाप्येषां परस्पराभिन्नानामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम् , तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिंचित्करत्वात् । न चाभिन्नानामन्योन्याभावः संभवति । नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तेः । नाऽपि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः, स च प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन 'वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता' [ ] इति निरस्तम् । किंच, भावाभावयोर्भेदो नाऽभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसंगात् । अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाऽभावेन भिन्नेन विकल्पितेन ? तन्नैकान्तभिन्नोऽभिन्नो वेतरेतराभावः संभवति ।

हम एकान्तवाद का प्रतिषेध करके यह दिखाने वाले है कि वस्तुमात्र नित्यानित्यादिअनेकान्तरूप ही है-इससे यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि अनेकान्तज्ञान मिथ्याज्ञानरूप नही है ।

[इतरेतराभाव की अनुपपत्ति]

यह जो कहा था-[६१४-५] इतरेतराभाव (एक वस्तु मे अन्यवस्तु के अभाव) को हम मानते ही है अतः 'वस्तु का स्वदेश-कालादि मे सत्त्व और पर-देश कालादि में असत्त्व' की बात को हम मानते ही है-यह बात भी गलत है । कारण, आपका माना हुआ इतरेतराभाव युक्तिशून्य है । जैसे देखिये, घटवस्तु से इतरेतराभाव को यदि अभिन्न मानेंगे तो घट का विनाश होने पर वहाँ पट-अन्योन्याभाव भी नष्ट हो जाने से पट की उत्पत्ति की आपत्ति आयेगी । यदि वह अभाव घट से भिन्न माना जाय तो घट-पटादि-का परस्परभेद मिट जायेगा । वह इसलिये कि पट अगर घटाभावरूप नही है तो इसका मतलब यही होगा कि पट घटरूप ही है । अथवा घटाभाव से भिन्न होने के कारण जैसे घट मे घटरूपता मानी जाती है वैसे पटादि मे भी घटरूपता माननी पड़ेगी क्योंकि पटादि भी घटाभाव से भिन्न ही है । तदुपरांत यहाँ दो विकल्प है-a अभाव द्वारा परस्परअभिन्न पदार्थ मे भेद किया जाता है या b परस्पर भिन्न पदार्थो का ? a प्रथम विकल्प शक्य नही है क्योंकि अभाव द्वारा जो भेद किया जायेगा वह यदि उन वस्तुओ से भिन्न होगा तो फिजुल हो जायेगा, और यदि अभिन्न होगा तो कोई काम का न रहेगा । तथा, जो पहले से ही परस्पर अभिन्न हैं उनमे अभावो के द्वारा भेदापादन शक्य भी नही है । b अभाव के द्वारा परस्पर भिन्न पदार्थो का भेद किया जाय-यह विकल्प भी असगत है क्योकि वे अपने हेतुओं से ही भिन्नरूप मे उत्पन्न हुए हैं । यदि कहे कि-भेद स्वत. होने पर भी उसका व्यवहार करने के लिये वह अभाव उपयोगी वनेगा-तो यह भी संगत नही है, क्योकि पदार्थो की अपने स्वरूप से उत्पत्ति-यही स्वतः भेद पदार्थ है और प्रत्यक्ष प्रतीति मे उसका अनुभव भी प्रसिद्ध है इसलिये स्वत. अपना व्यवहार भी करायेगा, तो अभाव की जरूर क्या है ? इससे यह भी जो किसी ने कहा है कि-अभाव की प्रामाणिकता के आधार पर वस्तु मे असांकर्य (अन्योन्य असंकीर्णरूपता=भिन्नरूपता) सिद्ध होता है-वह निरस्त हो जाता है । यह भी ज्ञातव्य है कि भाव और अभाव का भेद अभाव द्वारा नही हो सकता है क्योकि जिस अभाव के द्वारा यह भेद

न चाभाव एव अन्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसंगात् । तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश-कालाऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-कालाकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादित्ववत् परदेशादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वम् ? अथ परदेशादित्ववत् स्वदेशादित्वमपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः । अथ यदेव स्वसत्त्व तदेव पराऽसत्त्वम् । नन्वेवमपि यदि पराऽसत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशस्तदा सर्वथाऽसत्त्वम्, अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य, तदा पराऽसत्त्वाभावात् सर्वात्मकत्वम्-यथा हि स्वाऽसत्त्वासत्त्वात् स्वसत्त्वं तस्य तथा पराऽसत्त्वाऽसत्त्वात् परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा, अविशेषात् । न च पराऽसत्त्वं कल्पितरूपमिति न तन्निवृत्तिः परसत्त्वात्मिकेति वाच्यम्, स्वाऽसत्त्वेऽप्येवंप्रसगात् ।

अथ नाऽभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वहेतुसामग्रीत उपजायमानः स्वस्वभावनियत एवोपजायते, तथैवार्थसामर्थ्यभाविनाऽध्यक्षेण विषयीक्रियमाणो व्यवहारपथमवतार्यते किमितरेतराभावकल्पनया ? न किञ्चित्, केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियतोत्पत्तिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यते, स्वस्वरूपनियतप्रतिभासनं च पराभावात्मकत्वप्रतिभासनमेव । अत एव "स्वकीयरूपानुभवान्नान्यतोऽन्यनिराक्रिया"-इत्येतदपि सदसदात्मकवस्तुप्रतिभासमन्तरेणानु-

---

किया जायगा उस का भी अन्य भावो से (या अभावो से) भेद करने के लिये नये नये अभाव की कल्पना अनिवार्य होने से अनवस्था प्रसक्त होगी । यदि भाव और अभाव का भेद अपने अपने स्वरूप से ही मान लेगे तो भाव-भाव का भेद भी स्वरूप से माना जा सकता है फिर भेदकरूप मे अभाव की कल्पना क्यो करे ? साराश, एकान्त भेद पक्ष या एकान्त अभेदपक्ष मे इतरेतराभाव की कुछ भी सगति नही हो सकती ।

[भेद का अपलाप अशक्य]

अन्यापोह (=अन्यव्यावृत्ति) का सर्वथा अभाव मानना भी अयुक्त है, क्योकि एक पदार्थ अन्य पदार्थो से यदि व्यावृत्त नही होगा तो वह सर्वपदार्थात्मक बन जायेगा । जैसे देखिये-स्व-देश-कालादिरूप से घट जैसे सत् होता है वैसे यदि पर-देशकालादिरूप से भी सत् होगा तो घट मे स्वदेश-कालादिरूपता की तरह पर-देशकालादिरूपता भी अबाधित होने से घट सवदेश मे, सर्वकाल मे और सर्वभाव मे अनुगत हो जायेगा-यही सर्वात्मकत्व हुआ । तथा, पर-देशकालादि रूप से वह जैसे असत् है वैसे यदि स्व-देशकालादिरूप से भी असत् होगा तो घट का किसी भी रूप से सत्त्व न होने से खर-विषाणवत् उसका सर्वत्र सर्वदा अभाव प्रसक्त होगा । यदि कहे कि-स्वसत्त्व और पराऽसत्त्व एक ही बात है, उनमे कोई भेद नही तो यहाँ विकल्प होगा कि यदि स्वसत्त्व अभिन्न होने से परासत्त्व में विलीन हो जायेगा तो परासत्त्व ही रहेगा, स्वसत्त्व तो रहेगा नही, फलतः घट का अभाव ही प्रसक्त होगा । यदि अभिन्नता के कारण स्वसत्त्व मे परासत्त्व विलीन हो जायेगा तो स्वसत्त्व ही शेष रहेगा, परासत्त्व के न रहने से घट मे सकल पररूप को प्रसक्ति होने से सर्वात्मकता की प्रसक्ति होगी-वह इस प्रकार.-स्व का असत्त्व न होने से जैसे स्वसत्त्व होता है वैसे पर का असत्त्व न होने पर परसत्त्व की प्रसक्ति अनिवार्य है, दोनो मे कोई अन्तर नही है । यदि कहे कि-पराऽसत्त्व तो कल्पित है अतः उनके न होने से परसत्त्व की प्रसक्ति अशक्य है क्योकि परासत्त्वका असत्त्व भी असत् रूप ही है-तो यह ठीक नही, क्योकि तब तो स्वसत्त्व का असत्त्व भी कल्पित है अतः उसकी निवृत्ति स्वसत्त्वरूप नहीं हो सकेगी-ऐसा भी कोई कहेगा तो मानना पडेगा ।

पपन्नमेव । यदा हि पारमार्थिकपररूपव्यावृत्तिमद् तत्स्वरूपमध्यक्षे प्रतिभाति तदा स्वरूपमेव परतस्तस्य भेदः, तद्ग्रहणमेव चाध्यक्षतस्तद्भेदग्रहणम्, अन्यथा पारमार्थिकपराऽसत्त्वाभावे स्वसत्त्ववत् परसत्त्वात्मकत्वप्रसंगान्न तत्स्वरूपमेव भेदः, नापि स(त)त्प्रतिभासनमेव भेदप्रतिभासनं स्यात् ।

अत एवाऽन्यापोहस्य पदार्थात्मकत्वेऽपरापराभावकल्पनया नानवस्था । नापि परग्रहणमन्तरेण तद्भेदग्रहणाभावादितरेतराश्रयत्वाद् भेदाऽग्रहणम् । न चाऽभावस्य तुच्छतया सहकारिभिरनुपकार्यस्य ज्ञानाऽजनकत्वम्, नापि भावाऽभावयोरनुपकार्योपकारकतयाऽसम्बन्धः, भावाभावात्मकस्य पदार्थस्य स्वसामग्रीत उत्पन्नस्य प्रत्यक्षे तथैव प्रतिभासनात् । न चाऽसदाकारावभासस्य मिथ्यात्वम्, सदाकारावभासेऽपि तत्प्रसंगात् । न चाऽसदवभासस्याऽभावः, अन्यविविक्तावभासस्यानुभवसिद्धत्वात्, विविक्तता चास्याभावरूपत्वात्, तस्याश्च स्वसत्त्वात् कथंचिदभिन्नतया तद्वद् ज्ञानजनकत्वेनाध्यक्षे प्रतिभासमानाया अन्यपरिहारेण तत्रैव प्रवृत्त्यादिव्यवहारहेतुत्वाद् भेदाऽभेदैकान्तपक्षस्योक्तदोषत्वात् कथंचिद् भेदाभेदपक्षस्य परिहृतविरोधत्वान्न सदसद्रूपत्वे स्वदेशादावप्यनुपलब्धिप्रसंगादिदोषः ।

[परासत्त्व के विना स्वभावनैयत्य का अभाव]

यदि यह कहा जाय–अभाव की निवृत्ति की महीमा से पदार्थ भावरूप अथवा किसी नियतरूपवाला नही होता है, किन्तु अपनी कारणसामग्री से उत्पन्न होता हुआ वह अपने नियतप्रकार के स्वभाव से विशिष्ट ही उत्पन्न होता है । तथा उस पदार्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला तद्विषयक प्रत्यक्ष ही अपने विषयभूत पदार्थ को व्यवहारपथ मे ले आता है । जब ऐसा है तब पराऽसत्त्वरूप इतरेतराभाव की कल्पना से क्या लाभ ?–तो इसका उत्तर यह है कि यदि इतरेतराभाव की निःसार कल्पना ही की जाय तो कोई लाभ नही है, किन्तु हमारा आशय यह है कि अपनी अपनी कारणसामग्री से अपने अपने नियतस्वभाव से विशिष्ट पदार्थ की उत्पत्ति ही पराऽसत्त्व के विना संगत नही हो सकतो । तथा अपने अपने नियतस्वरूप का प्रतिभास भी परासत्त्व के प्रतिभास से अभिन्न ही होता है । इसलिये जो यह कहा जाता है कि-अपने स्व-रूप का अनुभव होता है तब अन्यरूप का अनुभव न होने से उसका निराकरण नही हो सकता–इस बात का भी उपपादन तभी हो सकता है जब सद्-असत् उभय स्वरूप ही वस्तु का प्रतिभास होता है यह माना जाय ।

जब वास्तविकपररूपव्यावृत्तिवाला वस्तुस्वरूप प्रत्यक्ष मे भासित होता है तो वह पररूपव्यावृत्ति भी अर्थात् पर की अपेक्षा से भेद, यह भी वस्तु का स्वरूप ही हुआ । इसलिये पररूपव्यावृत्ति का प्रत्यक्ष से ग्रहण यही पर के भेद का ग्रहण फलित हुआ । तात्पर्य, पररूपव्यावृत्ति भी वस्तु का पारमार्थिक स्वरूप है, कल्पित नही । यदि वस्तु मे वास्तविक पराऽसत्त्व नही रहेगा तो स्वसत्त्व जैसे वस्तु का स्व-रूप है वैसे परसत्त्व भी वस्तु का स्व-रूप हो जायेगा । तो फिर पराऽसत्त्वरूप भेद का उच्छेद हो जायेगा, और परसत्त्व का प्रतिभास ही भेदप्रतिभासरूप होता है वह नही रहेगा ।

[अन्यापोह को पदार्थरूप मानने में अनवस्थादि दोष नहीं]

उपरोक्त चर्चा से यह भी निश्चित हो जाता है कि अन्यापोह कथंचित् पदार्थरूप है (सर्वथा तुच्छ नही है) इसलिये भाव से उसका भेद करने के लिये नये नये अभाव की कल्पना रूप अनवस्था दोष को अब अवकाश नही है । तथा 'पर वस्तु के ग्रहण के विना भेद का अग्रह और भेदग्रह के विना परवस्तु का अग्रह'–इस तरह अन्योन्याश्रय के कारण भेदग्रह का उच्छेद हो जाने की जो आपत्ति है

यच्चोक्तम्-'एवमात्मनोऽपि नित्यत्वमेव सुख-दुःखादेः तद्गुणत्वेन ततोऽर्थान्तरस्य विनाशेऽप्यविनाशात्' इत्यादि, तत् प्राक् प्रतिक्षिप्तम्। यदपि 'कार्यान्तरेषु चाऽकर्तृत्वं न प्रतिषिध्यते' इत्यादि तदप्यसारम्, एकान्तपक्षे कार्यकर्तृत्वस्यैवाऽसम्भवात्। यच्च 'न चानेकान्तभावनातो विशिष्टशरीरलाभे प्रतिबन्धः' इत्यादि तत्र प्रतिसमाधानमर्हति अनभ्युपगतोपालम्भमात्रत्वात्। यच्च 'मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्त्तते' इति तदिष्यत एव, स्वसत्त्वादिना मुक्तत्वेऽप्यन्यसत्त्वादिनाऽमुक्तत्वस्येष्टत्वात्। अन्यथा तस्य मुक्तत्वमेव न स्यात् इति प्रतिपादितत्वात्।

वह भी अब नही रहतो क्योकि परासत्त्व वस्तु का स्व-रूप होने से, पर का ग्रहण न होने पर भी वस्तुस्वरूप के ग्रहण से उसका ग्रहण हो सकेगा। हमारे पक्ष मे अभाव सर्वथा अतिरिक्त पदार्थ नहीं है इसलिये-'अभाव तुच्छ होने से सहकारियो के द्वारा कुछ भी उपकार होने की सम्भावना न रहने से अभाव. मे ज्ञानजनकता नही हो सकेगी'-ऐसा दोष भी निवृत्त हो जाता है। तथा,-'भाव और अभाव मे परस्पर उपकारक-उपकार्य भाव न होने से उन दोनो का कोई सम्बन्ध नही घट सकता'-यह दोष भी निवृत्त हो जाता है, क्योकि हमारा मत यह है कि भाव और अभव सर्वथा भिन्न नही होते किन्तु भावाभावोभयस्वरूप ही पदार्थ अपनी कारणसामग्री से उत्पन्न होता है और वैसा ही प्रत्यक्ष मे भासित होता है।

असद् आकार के प्रतिभास को विना किसी अपराध ही मिथ्या कहना सगत नही, क्योकि सद्आकार प्रतिभास को भी मिथ्या कहने की आपत्ति आयेगी। 'असद् आकार कोई प्रतिभास ही नही होता' ऐसा भी नही कह सकते क्योकि अन्य से विविक्तरूप मे (=भिन्नरूप मे) अर्थात् पररूप से असत् स्वरूपवालीवस्तु का अवभास अनुभवसिद्ध है। अन्य से विविक्तता तो अभावरूप अर्थात् पराऽसत्त्वरूप ही है और वह वस्तु के स्व-सत्त्व से कथंचिद् अभिन्न ही है इसलिये स्वसत्त्व की तरह वह भी ज्ञानजनक बने यह सगत है। यह विविक्तता ज्ञानजनक होने से प्रत्यक्ष मे भासेगी। प्रत्यक्ष ज्ञान मे उसके भासित होने के कारण, ज्ञाता उस अन्यपदार्थ से निवृत्त हो कर अपनी इष्ट वस्तु मे प्रवृत्ति आदि व्यवहार करेगा। इस प्रकार एकान्तभेद या एकान्त अभेद पक्ष मे उक्त अनवस्थादि दोष लग सकते हैं किन्तु कथंचित् भेदाभेद पक्ष मे कोई विरोध नही है, आपाततः दिखने वाले विरोध का परिहार हो चुका है-इसलिये वस्तु को सद् असत् उभयस्वरूप मानने पर स्व-देशकालादि मे वस्तु की असत्त्वमूलक अनुपलब्धि आदि होने का कोई दोष यहाँ अवसरप्राप्त नही है।

यह जो आपने कहा था,-आत्मा नित्य है और सुख-दुख उसके गुण है, उससे भिन्न हैं, अतः सुखादि के नाश से आत्मा का नाश नही हो जाता-इस का तो पहले ही प्रतिक्षेप हो चुका है। तथा यह जो कहा था कि-जिन कार्यो को वह नही करता उन कार्यो के प्रति आत्मा मे अकर्तृत्व का हम प्रतिषेध नही करते हैं-यह भी असार है क्योकि आप के एकान्तनित्यता के मत मे तो आत्मा मे कार्यकर्तृत्व ही नही घट सकता है। यह जो कहा था-अनेकान्तभावना से विशिष्टशरीर का लाभ अवश्य हो ऐसा कोई नियम नही इत्यादि, वह समाधान की योग्यता भी नही रखता क्योकि जो हमे अमान्य है उसके ऊपर वे सब उपालम्भ हैं, हमारी वैसी मान्यता ही नही है कि विशिष्टशरीर का लाभ हो। तथा, यह जो कहा था-'मुक्ति भी अनेकान्तवर्जित नही रहेगी'-यह तो हमे मान्य ही है क्योकि वहाँ स्व सत्त्वादिरूप से मुक्तता होने पर भी परसत्त्वादिरूप से मुक्तता न होने

यदपि 'अनेकान्त' इत्यादि, तदप्यसंगतम् , अनन्तधर्माऽध्यासितवस्तुस्वरूपमनेकान्तः । न च स्वरूपमपरधर्मान्तरापेक्षमभ्युपगम्यते येन तत्र रूपान्तरोपक्षेपेणानवस्था प्रेर्येत तदपेक्षत्वे पदार्थस्वरूपव्यवस्थैवोत्सीदेत् अपरापरधर्मापेक्षत्वेन प्रतिनियतापेक्षधर्मस्वरूपस्यैवाऽव्यवस्थितेः । ततश्चैकान्तस्यापि कथं व्यवस्था ? तथाहि-सदादिरूपतैवैकान्तः तत्रैकान्ताभ्युपगमेऽपर सदादिरूपं प्रसक्तम् , तत्राप्यपरमिति परेणाऽपि वक्तुं शक्यम् । अथ पररूपानपेक्षं सत्त्वादित्वमेवैकान्तः, तर्ह्यनन्तधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपमप्यनेकान्तः किं न स्यात् ? न चापरतद्रूपाभावे वस्तुनः स्वरूपमन्यथा भवति, अन्यथा अपरसत्त्वाद्यभावे सत्त्वादेरप्यन्यथात्वप्रसक्तिरित्यलं दुर्मतिविस्पन्दितेषूत्तरप्रदानप्रयासेन । 'आत्मैकत्वज्ञानात्' इत्यादिग्रन्थस्तु सिद्धसाध्यतया न समाधानमर्हति । यथोक्तमुक्तिमार्गज्ञानादेरपरस्य तदुपायत्वेनाऽभ्युपगम्यमानस्य प्रमाणबाधितत्वेन मिथ्यारूपत्वान्न तत्साधकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

तत् स्थितमेतत्-'अनुपमसुखादिस्वभावामात्मन कथंचिदव्यतिरिक्तां स्थितिमुपगतानाम्' इति ।।

प्रथमखंडः समाप्तः

का हमे इष्ट ही है । यदि इस प्रकार नही मानेगे तो मुक्तता ही असगंत वन जायेगी, यह पहले कह दिया है ।

[अनेकान्तवाद में अनवस्थादि का परिहार]

यह जो कहा था कि-'अनेकान्त मे भी अनेकान्त को मानना पडेगा'-यह दोष भी असंगत है क्योंकि अनेकान्त का अर्थ है अनन्त धर्मो से अध्यासित वस्तुस्वरूप । वस्तु का स्वरूप अन्य धर्मान्तर को सापेक्ष हम नही मानते है जिस से उस अन्य धर्मान्तर मे अन्य अन्य धर्मान्तरसापेक्षता के आपादन से अनवस्था का आरोपण हो सके । यदि पदार्थ के धर्मो को अन्य अन्य धर्मो की अपेक्षा मानेगे तो पदार्थ के स्वरूप की व्यवस्था का ही उच्छेद हो जायेगा क्योंकि अन्य अन्य धर्म की अपेक्षा चालु रहने से किसी एक नियत आपेक्षिक धर्म की भी व्यवस्था नही हो सकेगी । यह भी प्रश्न है कि उत्तरोत्तर अपेक्षा का आपादन करते रहने पर एकान्त भी कैसे व्यवस्थित हो सकेगा ? देखिये- वस्तु एकान्त सत् है' इस एकान्त मे भी यदि एकान्तवादी एकान्त को मानेगा तो वहाँ एकान्त सत्त्व को अन्य एकान्तसत्त्व की अपेक्षा माननी पडेगी, फिर वहाँ भी नये नये एकान्तसत्त्व की अपेक्षा होती रहेगी-ऐसा अनेकान्तवादी एकान्तवादी को भलीभाँति कह सकता है । यदि यहाँ अनवस्था को निवृत्त करने के लिये कहा जाय कि-पररूप से निरपेक्ष सत्त्व यही एकान्त है तो अनेकान्तवादी भी क्यो नहीं कह सकता कि अनन्तधर्मो से आक्रान्त वस्तुस्वरूप ही अनेकान्त है ? ! अपर वस्तु का ताद्रूप्य किसी एक वस्तु मे न होने मात्र से वस्तु का अपना स्वरूप मिट नही जाता, बदल नही जाता । यदि ऐसा हो सकता तब तो अपर वस्तुगत सत्त्व के अभाव मे किसी एक वस्तु का अपना सत्त्व भी समाप्त हो जाने की आपत्ति अचल है । दुर्बुद्धि के विलास जैसे कुविकल्पो का (यानी पूर्वपक्षी के वचनो का) इस से अधिक उत्तर देने का प्रयास करने की अब हमे आवश्यकता नही है । तथा, 'आत्मा एक है' ऐसे ज्ञान से आत्मा का परमात्मा मे विलय हो जाय यह मुक्ति है इस मत का आपने जो प्रतिषेध किया है वह तो हमारे लिये सिद्धसाधन जैसा ही है इस लिये उसका नया समाधान देने की आवश्यकता नही । साराश, सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्ररूप पूर्वप्रतिपादित मोक्षमार्ग से भिन्न प्रकार का मोक्षमार्ग जो नैयायिक आदि ने माना है वह घटता नही है, प्रमाण से वाधित है, अत एव मिथ्यास्वरूप होने से, उससे मोक्षप्राप्ति का सम्भव नही है, इतना कहना पर्याप्त है, अधिक विस्तार क्यो करे ? !

उपरोक्त चर्चा से यह अब सिद्ध होता है कि मूल कारिका में "आत्मा से कथञ्चिद् अभिन्न अनुपमसुखादिस्वभाववाले स्थान को प्राप्त करने वाले" यह जिनो का विशेषण सर्वथा निर्दोष है।

प्रथम कारिका विवरण समाप्त

तर्कसम्राट्-आचार्यश्री सिद्धसेनदिवाकरसूरिजीविरचित श्री सम्मति प्रकरण की तर्कपञ्चानन आचार्यश्री अभयदेवसूरिजीविरचिततत्त्वबोधविधायिनीव्याख्या का मुनि जयसुंदरविजयकृतहिन्दीभाषा विवरण-प्रथमखंड समाप्त हुआ

-: प्रथमखंड संपूर्ण :-

परिशिष्ट १—व्याख्यायामन्यग्रन्थोद्धृतसाक्षिपाठांश—अकारादिक्रमः

॥ शुद्धिकरण ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१	धर्म	धर्म के
१४	३	भेदहेतु र्वा	भेदहेतुर्वा
	१५	अथार्थता	अयथार्थता
	१५	प्रयजन	प्रयोजक
१२	२२	अयर्थोप०	अयथार्थोप०
१८	१५	सापेक्ष	सापेक्ष न
२४	२१	जा गी	जायेगी
२७	९	पानावगहा	पानावगाहा
३०	१	कालममर्थं	कालमर्थं
	१९	B 2 e	B 2 E
	२१	B 2 e	B 2 B
३२	६	ग्रहणं	ग्रहणं
३३	१	प्रमाण्या	प्रामाण्य
३९	३	पृ० १-	पृ० १३-
४०	६	महात्म्या	माहात्म्या
४१	१९	होता है।'	होता है।'—तो
	२०	कारण	पारतंत्र्य के
४४	२५	है। अब प्रस्तुत]	है।] अब प्रस्तुत
४९	२४	मे सभी	सभी
६०	१५	किन्तु, इन्द्रिय	किन्तु, मीमांसको का कहना है कि इन्द्रिय
	१७	अब मीमांसको का कहना है कि इस	इस
६३	४	संवदा-	संवाद
	३३	है तो .	है तो क्या कारण-गुणो की अपेक्षा करते है....
६६	२४	और इस	और यह
६८	९	उसके	उस का
७१	१४	तब	अतः
७४	३२	है, नहीं	नहीं है,
७९	६	व्यक्तिनां	व्यक्तीनां
८२	२६	जिन मे	मे जिन
८४	१७	अतीतिन्द्रिय	अतीन्द्रिय
८६	३४	का होम	होम
९०	२०	नन्तरीकत्व	नन्तरीयकत्व
	३२	ऐसी	ऐसे
९१	२४	उसको	उसकी
९२	१३	मेघवृष्टि	मेघवृष्टि
	१७	आध्यो	साध्यो
९३	५	वह	उस
	१८	से निश्चय	के निश्चय
९४	२२	पक्षत् व	पक्षवत्
९५	२३	का चार	के चार
१०१	८	प्रदेक्ष	प्रदेश
१०५	१२	स्परण	स्मरण
१०७	६	ह्तीय	द्वितीयः
११६	२१	प्रकाता	प्रकाशता
१२२	१३	संबदेन	संवेदन
१२३	१३	कि जाती	की जाती
१२४	३	भासमानात्	भासनात्
१२७	१	हृष्ट	हृष्टं
१३०	५	स्नोऽपि	त्मनोऽपि
१३६	१६	वृत्ति	वार्त्तिक
१३७	९	मूघरादि	मूघरादि
	१०	कारपूर्वक	कारणपूर्वक
	१२	व्यक्ति	व्याप्ति
	१५	कारण	करण
	१८	भावी	भाव
	२१	अन्याथा मूत	अन्यथामूत
१३९	२८	करा-	क्यो नहीं करा-

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४३	१	व्यक्तिनाम्	व्यक्तीनाम्
१५२	३४	होने से	होने से वह
१५८	३	विषत्वं	विषयत्वं
१६२	१०	दौष	दोष
१६६	१	त्वनुमाना	त्वमनुमाना
१६८	१३	जाने के	जाने से
१७०	२०	तीक्ष्ण	तिक्ष्ण
१७२	२६	अप्रमाण प्रमाण है	अप्रमाण है
१७७	३१	अवश्यक	अवश्य
१७९	२२	तुल्परूप	तुल्यरूप
१८७	१५	मे अर्थ	और अर्थ
१९१	२९	सर्वज्ञा	सर्वज्ञा
१९९	२८	के तत्त्व	तत्त्व के
२०५	१	तवतृत्वं	वक्तृत्वं
२१७	५	तीतता	तीता
२३७	३२	अतिषेध	प्रतिषेध
२२४	२३	संबद्ध	सम्बन्ध
२४५	१५	प्रतिनियत	का प्रतिनियत
	२९	वह	वे
२६२	७	जनेतद्धि	जने तद्धि
२६६	२६	यह	है यह
	३१	विषय विषय	विषय
२६७	२०	'समय'	में 'समय'
२७१	३	शक्त-यव	शक्त्यव
	२१	का भी	की भी
	२२	औषधों को	औषधों की
२७५	२४	भान से	से भान
२७६	३	इति इति	इति
२७९	१९	नही नहीं	नहीं
२८५	२२	दूसरे कोई	दूसरे किसी
२८६	१५	सदाय	समुदाय
२८९	२५	ज्ञान मे	के ज्ञान में
२९५	३४	आदि)	आदि का)
२९६	६	लणम	लक्षणम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९७	२४	लोक	लोक में
२९९	६	योग	योगे
३००	२	इत्येवं भूत	इत्येवंभूत
३१०	२५	भिन्न	भिन्न भिन्न
३१२	५	पूर्वक्ष	पूर्वपक्ष
३१४	३	स्यः	यः
३२२	१०	प्रक्षत्व	प्रत्यक्षत्व
३४०	३२	प्रमाए	यमाण
३४१	२४	तब तब	तब तक
३४६	११	चिदके	चिदेक
३५६	१२	ननु ।	। ननु
३६१		ज्ञान पूर्व	ज्ञान के पूर्व
३७२	५	त्रवृत्त'	तन्निवृत्तिः
३७६	१३	पूर्व का	पूर्व जैसा
३८०	१	बह्वारम्भ	बह्वारम्भ
३८०	२४	कताणं	कंताणं कडाणं
३८१	१९	कर्तृत्वादी	कर्तृत्ववादी
३८६	१२	क्यो	क्योंकि
	३३	श्लोक इस	इस श्लोक
३९९	१६	मे	में वैचित्र्यसाम्य
	१८	तभी	सभी
३९२	३२	प्रवचन	प्रवर्त्तन

पृष्ठ ३९३ में अन्तिम पंक्ति में 'किन्तु यह' इसके बाद इतना जोड़ना होगा— [शरीर प्रवर्त्तन निवर्त्तनरूप कार्य अन्य शरीर से जीव करता हो ऐसा नहीं है, अतः यहां कार्य शरीरद्रोही हुआ। यदि कहे कि शरीर के विना भी कार्य का होना यह सिर्फ शरीर के लिये ही दिखाई देता है, अतः शरीर भिन्न पदार्थो का प्रवर्त्तन-निवर्त्तन शरीर के विना नहीं हो सकता-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि हमें तो इतना ही सिद्ध करना है कि शरीर के विना]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३९५	२६	व्याप्ति है	व्याप्ति भी है
४०३	२९	मे निवृत्ति	वस्तु से निवृत्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०६	२१	व ऐश्कार्यं	का ऐश्वर्यं
४१२	१८	मिल कर	स्थिर रह कर
४१६	३	क्कचित्	क्वचित्
४२७	२३	सिद्धिस्वरूपादि	सिद्धि
४३३	१	तद्सत्	तदसत्
	६	प्यकनेकान्ते	प्यनेकान्ते
४३६	१४	के सम्बन्ध के लिये	के लिये
४४१	२	सम्बधो	सम्बन्धो
४६१	२१	मुख्या	मुख्य
	२६	कुंडली	कुंडल
४७१	२१	तीसरे के	तीसरे के लिये
४७८	८	यत्वाद्य	यत्वाद्य
४८७	८	कुरादितुं	कुरादिकस्तुं
४८९	१५	काणुसरणा	कानुसरणा
४९२	१६	जन्य नहीं	जन्य ही
४९४	१०-११	तदभास	तदाभास
५००	२१	प्राप्ति प्रसिद्ध	व्याप्ति सिद्ध
५१४	११	स्वयकार्य	स्वकार्य
५१९	३२	मानी होगी	माननी होगी
५२४	१८	जुलाही	जुलाहा
	३१	यदि मे	मे यदि
५२५	२०	एक को	एक एक को
५२७	१७	अतः	यतः
५३१	२४	प्रमणाभूत	प्रमाणभूत
५३२	३	गुणानना	गुणाना
५३४	५	करण	कारण
	१६	होने से	होने में
५३५	१२	प्रतिपाद्य	प्रतिपादक
५४४	१३	कि–	कि–जिस
	२०	प्रमत्व	प्रमवत्व
५४६	६	नकान्तिको	नैकान्तिको
५४९	१	कं च	किं च
५६०	१५	कि जाय	की जाय
५७०	२०	केवल	कवल
५८३	२२	उद्भूवन	उद्भावन
५८४	१९	लोक के	लोक का
५८५	२०	बुद्धि	बुद्धि मे
५८६	२१	[१४७-४]	[५८३-५]
५९०	२३	है	है [५८३-२]
	१६	उपकारक	उपकार
५९२	२८	होने को	होने के
५९५	२८	सम्राता	सन्ताना
६०१	४-१३	सवदेन	संवेदन
६०६	८	विशिष्टि	विशिष्ट
६०८	३२	प्रकाश ही	मेघ ही
६१२	२०	साथ	ज्ञान
	२४	बौद्धमत्	बौद्धमत
६१९	१६	ग्राह्य से	से ग्राह्य
६२३	२२	परमाणुस्थिति	परमाणु की सत्ता का भान होता है। उसी तरह, वस्तु की मध्यकालीन स्थिति
६३२	३	गुणच्छेद	गुणोच्छेद

卐

ग्रन्थसंकेतस्पष्टता

अमृतविन्दु उ०	—	अमृतबिन्दु उपनिषद्
जैमि० सू०	—	जैमिनिसूत्र
तत्त्व०/तत्त्व० स०	—	तत्त्वसग्रह
तत्त्वार्थ०/त० सू०	—	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र
न्या०वा०/न्यायवा०	—	न्यायवार्त्तिक
न्यायद०	—	न्यायदर्शन (न्यायसूत्र)
पात० यो०	—	पातजल योगसूत्र
प्र०वा०/प्रमाण वा०	—	प्रमाणवार्त्तिक
बा०सू०	—	बादरायणसूत्र
बृह० उ०	—	बृहदारण्यक उपनिषद्
भ० गी०	—	भगवद्गीता
महाभा०	—	महाभारत
मीमा० शाबर० मीमांसा० भाष्य	—	मीमासा सूत्र-शाबरभाष्य
यो०दा/यो० सू०	—	योगदर्शन, योगसूत्र
वा०भा/वात्स्या०भा०	—	वात्स्यायनभाष्य
वाक्य०	—	वाक्यपदीय
विज्ञप्ति०	—	विज्ञप्तिद्वात्रिंशिका
वै०द०/वैशे	—	वैशेषिक दर्शन
शास्त्रवार्त्ता० स्त०	—	शास्त्रवार्त्तासमुच्चयस्तवक
श्लो० वा०	—	श्लोकवार्त्तिक
सूत्रकृ०	—	सूत्रकृतागसूत्र
स्थाना०	—	स्थानाङ्गसूत्र
श्वेताश्व०	—	श्वेताश्वतर उपनिषद्

*